प्राक्कथन

पश्चिम के राजनीतिक विचारको ने आज की सभ्यता के मूल्यो और राजनीतिक व्यवस्थाओ को जन्म दिया है। इन महान् चिन्तको की दार्शनिक उपलब्धियाँ आज के बुद्धि-जगत् को सुरक्षित रखनी हैं।

माध्यम की कठिनाई के कारण आज की युवा पीढ़ी इस ज्ञान-भण्डार का उपयोग करने मे अपने को अशक्त पा रही है। विश्वविद्यालयो के शिक्षको से यह अपेक्षा की जाती है कि वे द्विभाषी होने के कारण सक्रमण की इस समस्या को अच्छी स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों द्वारा पूरी करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी माध्यम से इसी दिशा मे एक अच्छा प्रयास है। लेखक का परिश्रम सफल रहा है। उसकी शैली पुस्तक को बोधगम्य बनाती है। आशा है डॉ. प्रभुदत्त शर्मा का यह प्रयास हिन्दी माध्यम के नए लेखको को प्रेरणा दे सकेगा।

Acc

कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय

ए. बी. लाल

पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

(प्लेटो से मार्क्स)

विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा

एम. ए. (राजनीति एवं इतिहास), पी-एच. डी. (अमेरिका)

एम. पी. ए. (अमेरिका), स्वर्ण-पदक-विजेता

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

प्रो. ए. बी. लाल

पूर्व कुलपति

[illegible] विश्वविद्यालय,

संशोधित संस्करण की भूमिका

'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास' (प्लेटो से मार्क्स) अपने सशोधित नए सस्करण मे आपके सामने प्रस्तुत है। गत दशक में इस पुस्तक का जो स्वागत हुआ है और इससे लाभान्वित होने वाले जिन विद्यार्थियो और शिक्षको ने हमें जो भी प्रतिक्रियाएँ और सुझाव दिए हैं, उन्हे सामने रखकर पुस्तक में कितने ही आमूलचूल परिवर्तन एव सशोधन किए गए है। कहना न होगा कि विचारो के इतिहास में मूल विचार तो नही वदलते, किन्तु उन पर चलता रहने वाला विचार-मन्थन और व्याख्याएँ युग और काल के साथ-साथ नए रूप ग्रहण करती रहती है। इस सस्करण मे हमारा यह प्रयास रहा है कि भारतीय विद्यार्थी को आज की समस्याओ पर सोचने और समझने के लिए एक आधुनिक विचारभूमि प्रदान की जाए। गत दशक मे जो नई शोध सामग्री इस क्षेत्र मे प्रकाशित हो सकी है उसे भी यत्रतत्र सर्वत्र छात्रोपयोगी ढग से इस नए सस्करण मे समाहित कर लिया गया है।

कागज के अभूतपूर्व अभाव और छपाई की आकस्मिक महँगाई की प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी हम अपने नए सस्करण को उसी कलेवर मे प्रकाशित कर सके है, इसके लिए हमारे प्रकाशक-बन्धु विशेष वधाई के पात्र हैं।

गतिशीलता एव निरन्तरता विचारो की दुनिया की एक सहज विशेषता है। अत' आगामी सस्करण के लिए आपके विचार एवं सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

प्रभुदत्त शर्मा

दो शब्द

'प्लेटो से मार्क्स' तक पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन का इतिहास एक लम्बी बुद्धिवादी कहानी है, जिसकी पृष्ठभूमि मे यूरोप की जनतान्त्रिक सभ्यता विकसित एवं वर्द्धित हुई है। प्लेटो और अरस्तू जैसे गम्भीर चिन्तक, अगस्तीन थॉमस और लूथर जैसे धर्मवादी तथा मैकियावली, बोदाँ, ग्रोशियस और हॉब्स जैसे नीति निरपेक्ष दार्शनिकों और विचारको ने पश्चिम के राजनीति-दर्शन मे उन सभी तत्त्वों का सन्निवेश किया है जो किसी भी दर्शन को गतिशील, व्यावहारिक एवं आदर्श बनाते हैं। लॉक, रूसो, मॉण्टेस्क्यू, ह्यूम, बर्क, बेन्थम, जैम्स मिल, ऑस्टिन, जार्ज ग्रोट, एलेक्जेण्डर बेन, जे. एस मिल, कॉण्ट, फिक्टे, हीगल, ग्रीन, ब्रैडले, वोसांके, काम्टे, हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले, बेजहॉट, वैलास, मेक्डूगल एव मार्क्स आदि इस इतिहास के इतिवृत केवल नायक मात्र नही हैं वरन् उनके विचारो की द्वन्द्वात्मकता ही मानव विचारो के बौद्धिक विकास की वह आत्मा है जिसमे समुचा युग अपनी समग्र परिस्थितियो के साथ प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित होता सुनाई पडता है। पश्चिम के राजनीतिक विचारो का यह इतिहास बुद्धिवादी इन्सान की एक बौद्धिक तीर्थ-यात्रा है और पश्चिम की सभ्यता, सस्कृति, राजनीतिक संस्थाएँ एवं राष्ट्रीय चरित्र इन्ही विचारो के परिप्रेक्ष्य मे जन्मे और मर-मर कर जीये हैं।

प्रस्तुत रचना इस दीर्घकालीन राजनीतिक विचारों के इतिहास को विद्यार्थियो के हित की दृष्टि से संक्षेप मे प्रस्तुत करने के लिए तैयार की गई है। बहुत थोडे मे स्पष्ट ढग से वे सभी मूल बातें कहने का प्रयास किया गया है जिनका आधार लेकर एक गम्भीर विद्यार्थी अपना अध्ययन अपने आप चला सकता है। भाषा, शैली एव विवेचना की दृष्टि से भी सरलता, स्पष्टता और बोधगम्यता की ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहा गया है।

आशा है विद्यार्थी-जगत् इसे उपयोगी पाएगा और इसके अनुशीलन से लाभान्वित हो सकेगा।

लेखक

अनुक्रमणिका

1 राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप और महत्त्व

(Nature and Importance of Political Thought)

मानव-सभ्यता की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि सभी संस्थाओं के स्वरूपों को समझना, उनसे सम्बन्धित समस्याओं का मनन और समाधान करना एक गम्भीर बौद्धिक चुनौती है। मनुष्य आदिकाल से ही इस चुनौती को झेलते हुए आगे बढ़ता रहा है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे, विश्व की हर सभ्यता ने अपने शैशवकाल से ही राज्य और विविध राजनीतिक संस्थाओं के विभिन्न पहलुओं पर न्यूनाधिक चिन्तन किया है। वर्तमान मे भी यह प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। राज्य सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श एवं मीमांसा करना ही राजनीतिक चिन्तन है और यह चिन्तन उतना ही पुराना है जितना स्वयं राज्य। वेपर के अनुसार—"राजनीतिक चिन्तन वह चिन्तन है जिसका सम्बन्ध राज्य के आकार, राज्य के स्वभाव तथा राज्य के लक्ष्य से है। इसका मुख्य कार्य 'समाज मे मानव का नैतिक पर्यवेक्षण' करना है। इसका उद्देश्य राज्य के अस्तित्व, स्थिरता तथा नित्यता के लिए विवरण प्रस्तुत करना ही नही है, वरन् राज्य क्या है और किसी को राज्याज्ञा का पालन क्यों करना चाहिए, राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या है और कोई राज्याज्ञा का उल्लघन कब कर सकता है, तथा राज्य के बिना अपूर्ण मानव की शक्ति क्या रह जाती है, आदि का उत्तर देने के लिए भी यह चिरकाल से प्रयत्नशील है।"[1]

वस्तुत राज्य, समाज और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक चिन्तन के विशेष अंग है। ये सुदूर, अज्ञात अतीत मे मानव-जीवन को प्रभावित करते रहे है। 'मनुष्य की प्रकृति और उसके कार्य, शेष विश्व से उसका सम्बन्ध जिसमे कि सम्पूर्ण जीवन का विवेचन अन्तर्निहित है और इन दोनो बातो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली मनुष्य की अपनी सह-जातियो से सम्बन्ध की समस्या ही राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय है और इसके अन्तर्गत राज्य का स्वरूप, प्रयोजन तथा उसके कार्यों का विवेचन—सभी समाविष्ट है।"[2]

राजनीतिक चिन्तन की विषय-सामग्री का स्पष्ट आभास मिलता है, लेकिन राज्य और उसके संस्थानो तथा उनके विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित प्रश्नो का कोई भी निश्चित अथवा सर्वसम्मत उत्तर प्राप्त नही होता क्योंकि राजनीतिक जीवन के उद्देश्य सामान्य जीवन के उद्देश्य से अलग नही है। "अतः राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक सिद्धान्त के प्रश्नोत्तर, अन्त मे, हमारे उचित और अनुचित की धारणाओं के धर्मकाँटे पर ही तोले जाते हैं। राजनीतिक चिन्तन नैतिक दर्शन (Ethical Theory) की एक शाखा है। इसके मौलिक सिद्धान्तो के विषय मे सदा मतभेद रहा है और सम्भवत सदा-सर्वदा रहेगा।"[3] राजनीतिक चिन्तन इतना विस्तृत और जटिल है कि युगो से इस पर चिन्तन चला आ रहा है और इसका कोई छोर नजर नही आता। विस्तार का आभास प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन विचारकों की रचनाओं मे प्राप्त होता है और प्रत्येक विचारक की मान्यताएँ उसकी अपनी दार्शनिक धारणाओं से प्रभावित हैं। इन कृतियो मे तत्कालीन युग और उसकी प्रमुख समस्याएँ मुखरित हुई हैं।

1 वेपर : राजदर्शन का स्वाध्ययन (हिन्दी) पृ 1.
2 *Phyllis Doyle* · A History of Political Thought, p 15
3 वेपर : उपरोक्त, पृ 1.

राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख समस्याएँ
(Major Problems of Political Thought)

राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श और मीमांसा करना ही राजनीतिक चिन्तन है। इन समस्याओं पर विभिन्न युगों में और एक ही युग में विभिन्न मत प्रकट किए हैं। ये प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित है—

(1) राज्य की उत्पत्ति की समस्या (Problem of The Origin of State)—राज्य की उत्पत्ति के विषय में इतिहास के पृष्ठों को उलटने पर हमें कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती अतः अनुमान और अन्वेषण का आश्रय लेकर ही हम इस मार्ग पर अब तक बढ़ पाए है। राज्य की उत्पत्ति के विषय मे आधुनिक युग के आरम्भ मे दो प्रमुख सिद्धान्तों—दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त और सामाजिक संविदा सिद्धान्त का विशेष प्रचलन था। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार राज्य ईश्वरकृत है और द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यकृत। 18वीं शताब्दी मे संविदा-सिद्धान्त यूरोप में निरंकुश दैवी राजसत्ता के नियन्त्रण के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ, किन्तु 19वीं शताब्दी मे ऐतिहासिक ज्ञान मे वृद्धि हुई। ऐतिहासिक अनुशीलन मे आलोचनात्मक पद्धति का विकास हुआ, और विकासवाद के सिद्धान्तों के प्रसार को बल मिला। फलस्वरूप संविदा सिद्धान्त को काल्पनिक और अमान्य समझा जाने लगा एवं विकासवादी सिद्धान्त को लोकप्रियता मिली। यह विकासवादी सिद्धान्त ही वर्तमान में राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक मान्य, उचित और तर्क-सम्मत सिद्धान्त है। गार्नर के अनुसार, "राज्य न तो ईश्वर की कृति है, न किसी दैवी शक्ति का परिणाम ही, न किसी प्रस्ताव अथवा संविदा की सृष्टि है और न ही परिवार का विस्तार मात्र कहा जा सकता है। यह विकास और उन्नति की एक धीमी सतत् प्रक्रिया है। यह अकस्मात् नहीं बना। अपनी प्रारम्भिक अवस्था से धीरे-धीरे विकसित होकर इसने अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया है।" राज्य का प्रादुर्भाव शनैः-शनैः मानव-समाज मे व्यवस्था और संरक्षण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ समझा जाता है।

(2) राज्य के स्वरूप और उसके आदेश के पालन की सीमा की समस्या (Problem of The Nature of State and Obedience to It)—राज्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न विचारकों मे मतैक्य का अभाव रहा है। उन्होंने विभिन्न युगों मे और यहाँ तक कि एक ही युग मे भी विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचार प्रकट किए हैं। प्लेटो के पूर्वगामी सोफिस्टों ने राज्य को कृत्रिम व्यवस्था की संज्ञा दी थी। उनके अनुसार मनुष्यों ने राज्य को एक ऐसे लक्ष्य की पूर्ति के लिए बनाया है जिसे हम प्राकृतिक व्यवस्था के अनुकूल नहीं मान सकते। कुछ उग्रवादी एवं क्रान्तिकारी विचारकों ने तो राज्य को प्रकृति के ही विरुद्ध बताया है। वे कहते थे कि अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों को अधीन बनाना तथा उनके ऊपर शासन करना प्रकृति का धर्म है। राज्य सबल का निर्बल पर शासन सम्भव बना देता है क्योंकि राज्य का लक्ष्य है बहुमत की सेवा तथा सुरक्षा और बहुमत सदैव निर्बल व्यक्तियों का रहा है। क्रान्तिकारी सोफिस्टों का यह तर्क एक आदर्श जनतन्त्री राज्य पर कुठाराघात करते हुए अत्याचारी राज्यों का समर्थन करता है और इसीलिए प्लेटो (Plato) ने सोफिस्ट-सिद्धान्तों पर करारा प्रहार करते हुए राज्य को एक स्वाभाविक संगठन माना है। प्लेटो और अरस्तु (Aristotle) का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य की सामाजिक भावना से ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। राज्य का विकास सर्वथा स्वाभाविक है और व्यक्ति राज्य मे रहते हुए ही अपने विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे अपना मत व्यक्त करते हुए अरस्तु ने कहा है—"राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और जीवन को श्रेष्ठ व सम्पन्न बनाने के लिए आज तक जीवित है।"

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे और भी अनेक धारणाएँ है। कुछ विचारकों के अनुसार राज्य दैविक सृष्टि होने के कारण स्तुत्य है, तो कुछ अन्य दार्शनिकों के मत में यह एक ऐसा शोषण-यन्त्र है जो धनिक और सम्पन्न वर्ग के हाथ में खेलते हुए आर्थिक रूप से निर्बल व्यक्तियों का शोषण करता है। समझौतावादियों के विचारानुसार राज्य मनुष्यों के आपसी समझौते का परिणाम है और

प्रहार करते हुए सर्वजनवासिनी लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने इस भाँति यह मान्यता प्रकट की कि प्रभुसत्ता राजा में नहीं अपितु राज्य की सम्पूर्ण जनता मे निहित है। 19वीं शताब्दी में लिखित संविधानों के प्रचलन के फलस्वरूप राज्य के विभिन्न अंगों मे शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को जब बल मिला तब विचारकों ने इस प्रश्न पर चिन्तन आरम्भ किया कि राज्य के किस अंग मे प्रभुसत्ता का निवास है। ऑस्टिन ने अविभाज्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो बहुलवादियों (Pluralists) ने उस पर कठोरतम आघात करते हुए राज्य की प्रभुसत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार्य बतलाया। लॉस्की ने तो यहाँ तक कह डाला कि "प्रभुत्व-कल्पना को त्याग देना राज्य विज्ञान के लिए स्थायी रूप से उपयोगी होगा।" क्रेब (Krabbe) ने भी लॉस्की के साथ सहमत होते हुए कहा है कि "राज्य प्रभुत्व का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र से समाप्त कर दिया जाना चाहिए।"

(6) सरकार सम्बन्धी समस्या (Problem of Government)—सरकार सम्बन्धी प्रश्न भी राजनीतिक चिन्तन का विशेष केन्द्र रहा है और आज भी है। सरकार राज्य के कार्यों की पूर्ति का यन्त्र है। यह वह मशीन है जो राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करती है। यह राज्य का क्रियात्मक रूप है और उसकी आत्मा मानी जा सकती है। ये प्रश्न विचारकों के मन-मानस को सदैव से मथते रहे हैं। सरकार का संगठन कैसा होना चाहिए ? सरकार के तीनों अंग—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका मे परस्पर कौन से सम्बन्ध वाँछनीय हैं ? सरकार की शक्ति का केन्द्रीकरण एक उपयुक्त स्थिति है अथवा उसका विकेन्द्रीकरण किया जाना लाभदायक होगा ? ये सभी प्रश्न आज पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए है।

(7) कानून के स्वरूप की समस्या (Problem of the Nature of Law)—राज्य-व्यवस्था को संचालित करने के लिए कानून का निर्माण किया जाता है। कानून राज्य की ध्येय-पूर्ति और उसके कार्य-पालन हेतु एक अनिवार्य संस्थान है। कानून के सम्बन्ध में उठने वाले विभिन्न प्रश्नों मे विशेष ये हैं कि कानून का स्वभाव क्या है ? कानून बनाने का अधिकार किसे होना चाहिए ? कानून शासक की इच्छा की अभिव्यक्ति है या जनता की सामान्य इच्छा की ? कानून का स्वतन्त्रता एवं व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है ? कानून को नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में किस प्रकार मूल्यांकित किया जाए ?

भारतीय विचारकों ने कानून के मूल स्रोत धर्मशास्त्रों की व्यवस्था एवं रीति-रिवाजों को माना है। रोमन विचारक भी रीति-रिवाज को कानून का प्रधान स्रोत मानते थे। 13वीं शताब्दी से वहाँ इस नवीन विचार का आरम्भ हुआ कि कानून राजा द्वारा प्रजा के प्रतिनिधियों के साथ परामर्श करके बनाई गई व्यवस्था है। वर्तमान काल की राजनीतिक व्यवस्थाएँ कानून को राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति मानती हैं जिसका निर्माण सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा होना चाहिए और जिसमे सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप समयानुकूल संशोधन होने की गुंजाइश आवश्यक हैं। स्पष्ट है कि यह विचार आधुनिक लोकतन्त्रात्मक विकास का फल है।

(8) नागरिकता के अधिकार एवं कर्त्तव्यों की समस्या (Problem of Citizens' Duties and Rights)—कानून से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित विषय है 'नागरिकता के अधिकार एवं कर्त्तव्य'; नागरिक के प्रमुख अधिकार कौन-कौन से हैं ? नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के श्रेष्ठ साधन क्या होने चाहिए ? आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्न राजनीतिक चिन्तन की विशेष सामग्रियाँ हैं।

(9) राज्य के विभिन्न प्रकारों की समस्या (Problem of Different types of States)—राजनीतिक चिन्तन का एक अन्य प्रमुख प्रश्न राज्य के विभिन्न प्रकारों का है। प्लेटो और अरस्तू के समय से ही पाश्चात्य विद्वान् राजतन्त्र, लोकतन्त्र आदि शासन के विविध प्रकारों की विवेचना करते रहे हैं। भारतीय ग्रन्थों में भी विविध प्रकार की शासन-प्रणालियों का उल्लेख मिलता है।

(10) विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध की समस्या (Problem of Relationship of Different States)—राजनीतिक चिन्तन की एक प्रमुख समस्या है—विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध।

संक्षेप में, राजनीतिक चिन्तन की समस्याएँ बहुमुखी और अगणित हैं। एक प्रमुख समस्या के साथ अनेक प्रमुख उप-समस्याएँ और फिर उनकी भी उप-समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त समस्याओं पर युग-विशेष के साथ चिन्तन का स्वरूप बदलता रहा है। मध्यकाल मे यदि राज्य और धर्म के बीच प्रभुत्व का विवाद प्रमुख था तो पिछली दो शताब्दियों मे राजतन्त्रीय और लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अधिक रुचि रही और अब राज्य का बढ़ता हुआ कार्यक्षेत्र विशेष महत्त्वपूर्ण बन गया है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ और राजनीतिक विचारक
(Political Conditions and Political Thinkers)

राजनीतिक चिन्तन के विकास पर सामाजिक वातावरण एव राजनीतिक परिस्थितियो तथा अनुभवों का गहरा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक विचारकों ने केवल बौद्धिक स्तर पर ही विचार नहीं किया है बल्कि अपनी समकालीन परिस्थितियों के निरीक्षण एव अनुभव के आधार पर भी गम्भीर चिन्तन करके कुछ परिणाम निकाले है। ये परिणाम परिवर्तनशील परिस्थितियो से निरन्तर रूप मे प्रभावित होते रहते हैं और साथ ही नवीन परिणामों को जन्म भी देते हैं। एथेन्स के लोकतन्त्र द्वारा सुकरात को विषपान का दण्ड दिए जाने की घटना ने प्लेटो को बड़ा मर्मान्तक आघात पहुँचाया था। इसलिए उसने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे तत्कालीन लोकतन्त्र की कटु आलोचना की और एक ऐसी आदर्श नगर-व्यवस्था प्रस्तुत की जिसमे शासकगण एक सुनियोजित एव निश्चित ढग से प्रशिक्षित दार्शनिको का कुलीन वर्ग होगा। इसी प्रकार कार्ल-मार्क्स की विचारधारा के अनेक सिद्धान्त उसके अपने व्यक्तिगत कटु अनुभवों से जन्मे हैं। उसने स्वय औद्योगिक युग मे पूंजीपतियो द्वारा निर्धन श्रमिको का असहनीय शोषण देखा था। यदि उसने यह सब कुछ न देखा होता अथवा उसका जन्म कुछ शताब्दियो पूर्व हुआ होता तो अनवरत वर्ग-सघर्ष के विवादपूर्ण सिद्धान्त पर सम्भवत: वह नही पहुँच पाता। अत: यह कहना सर्वथा युक्तिसगत् है कि राजदर्शन की रूपरेखा और उसके विकास पर बाह्य जगत् की गहरी छाप पडती रही है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि सामान्यत राजनीतिक विचारको के विचार अपनी समकालीन सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो के कारण सीमाबद्ध रहे है, किन्तु कुछ विचारको ने इन सीमाओ को तोडने का भी प्रशसनीय प्रयास किया है। उन्होने कुछ ऐसे सिद्धान्तो एव विचारो का प्रतिपादन किया है जिनका महत्त्व एव प्रभाव सार्वकालिक एव सार्वदेशिक है। गाँधी के सत्य एव अहिंसा के सिद्धान्त इसी श्रेणी मे आते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त सदैव परिस्थितियो की उपज ही नही होते अपितु ये नवीन राजनीतिक परिस्थितियो को भी जन्म देते है। रूसो ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति को उत्प्रेरित किया। उसने अपनी पुस्तक 'Social Contract' मे सामाजिक सविदा-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा फ्रांस की राजसत्ता के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष को वाणी दी जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति मे विस्फोटित हुई।

इस विचार-वैविध्य का एक प्रमुख कारण परिस्थितियाँ तो हैं ही, किन्तु एक अन्य प्रधान कारण भावात्मकता भी कहा जा सकता है। विचारको के बौद्धिक स्तर मे विभिन्नता होना एक स्वाभाविकता है। परिस्थितियो व वातावरण को समझकर सही परिणाम निकालने की क्षमता भी

अलग-अलग होती है। साथ ही व्यक्तिगत रुचि एव संस्कार भी एक से नही होते, अतः वस्तु-परक अन्तर न होते हुए भी विचारको मे भावात्मक अन्तर की विद्यमानता एक सहज अनिवार्यता है। परिणामस्वरूप एक ही वस्तु-स्थिति अलग-अलग व्यक्तियो मे अलग-अलग एव परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं के रूप मे प्रस्फुटित होती है।

उपर्युक्त कारणो के फलस्वरूप राजनीतिक चिन्तन कभी किन्ही प्रश्नो के अन्तिम उत्तर प्रस्तुत नही कर सकता। राजनीतिक चिन्तन अपने आप में सदैव सापेक्ष और अपूर्ण होता है। आज के समाधान अथवा निष्कर्ष कल की नवीन परिस्थितियो मे अपूर्ण एवं भ्रान्त सिद्ध हो सकते हैं। साथ ही समस्याओं के सापेक्षिक महत्त्व मे भी अन्तर आ जाता है। ऐसी अवस्था में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि फिर राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता क्या है।

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व
(Utility and Significance of Political Thought)

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता पर विचार करते समय सर्वप्रथम ऐसे विचारक सामने आते हैं जो इसे एकदम निरर्थक, अनावश्यक और हानिकारक मानते हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रमुख मत उल्लेखनीय माने जाते हैं—

(1) "राजनीतिक चिन्तन भगवान् को अर्पित की हुई कुमारी के समान बाँझ है।"[1]

—बेकन (Bacon)

(2) "वे देश सौभाग्यशाली है, जिनके पास कोई राजनीतिक दर्शन नही है। राजदर्शन या तो अभिनव क्रान्ति की सन्तान है या भावी क्रान्ति का द्योतक है।"

—लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen)

(3) "लोगो में राजनीतिक सिद्धान्त बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो यह कुशासित राज्य का एक निश्चित लक्षण है।"

—बर्क (Burke)

(4) "राजनीतिक तत्त्व-चिन्तन करने वाले दार्शनिक उन व्यक्तियो के समान हैं जो पहले तो पैरो से धूल उडाते हैं और फिर यह शिकायत करते हैं कि उन्हें कुछ दिखाई नही देता।"

—बर्कले (Berkley)

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के ये आलोचक अपने पक्ष मे अनेक युक्तियाँ देते हैं। इनका कहना है कि यह दर्शन कोरा विचारात्मक और काल्पनिक है। यह वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करता है। इसके द्वारा जटिल प्रश्नों के कोई अन्तिम और पूर्ण उत्तर नही दिए जा सकते। समाज की परिस्थितियो मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और इस कारण इन पुराने राजनीतिक विचारो की उपयोगिता घटती रहती है अतः कोई भी दर्शन हमारा सही मार्गदर्शक नही हो सकता। राजनीतिक चिन्तन की इस प्रकृति पर बार्कर ने इन शब्दो मे व्यंग किया है—"राजनीतिक विचार का प्रत्येक प्रोफेसर यह अनुभव करता है कि उसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रोफेसर कुछ सन्देहप्रद बातो को स्वय-सिद्ध तथ्य मानकर उनके आधार पर तर्क कर रहे हैं, उनके युक्तिक्रम की सत्यता सन्देहप्रद है—और उनके द्वारा इनसे निकाले जाने वाले परिणाम निश्चित रूप से गलत हैं।"

उपर्युक्त तर्कों मे सत्य का पर्याप्त अश विद्यमान होते हुए भी यह कहना सत्य से कतराना होगा कि राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व आधुनिक युग मे घट रहा है। पक्ष के तर्कों को सक्षेप मे निम्नलिखित सकेतो मे प्रकट किया जा सकता है—

(i) राजनीतिक विचार मानव-इतिहास पर गहरा प्रभाव डालते है। ये व्यक्ति को सामाजिक क्रान्तियाँ करने की प्रेरणा देते है। 18वी शताब्दी की फ्रेंच राज्य-क्रान्ति और 20वी सदी की बोल्शेविक क्रान्ति इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इस प्रकार की क्रान्तियाँ मानव-समाज को आगे बढ़ाने वाली सिद्ध हुई हैं। इनसे आधुनिक जीवन मे स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावनाओ को बल मिला है।

1 "Like a virgin consecrated to God, it is barren"—*Bacon*, Quoted from Wayper, op. cit., p 3.

(iv) राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन द्वारा दैनिक व्यवहार मे प्रयुक्त होने वाली राजनीतिक परिभाषाओं का ज्ञान मिलता है। साथ ही राजनीतिक शब्दों के यथार्थ स्वरूप का भी बोध होता है। हम लोकतन्त्र, साम्यवाद, राष्ट्रीयता, प्रभुता आदि शब्दों के सही अर्थों को जान पाते है। हमे पता चलता है कि इन विभिन्न परिभाषाओं एवं अवधारणाओं के पीछे कौन-कौनसी भावनाएँ रही हैं और इनमें कब, कैसे एवं किन अर्थों में कितने परिवर्तन होते रहे है तथा वर्तमान काल मे इनका क्या अर्थ लिया जा सकता है।

(v) राजनीतिक परिभाषाओं और शब्दों के यथार्थस्वरूप को जानने का एक और भी बडा लाभ है। इनके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र मे हमारा ज्ञान परिपक्व होता है। जनतन्त्र के युग मे यह ज्ञान राजनीतिक नेताओं के भ्रामक प्रचार से नागरिकों की रक्षा करता है।

(vi) राजदर्शन के अध्ययन से हम प्राचीन राजनीतिक दार्शनिकों की विचारधाराओं को जानने का प्रयास करते है। इनको जानकर चाहे हम अधिक विद्वान्, कुशल और दूरदर्शी न बन सकें, किन्तु इसमें कोई सन्देह नही कि ये हमे अनेक गलतियो से बचाने मे सहायक सिद्ध होती है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का यह ज्ञान हमे सचेत करता रहता है और नए ढग से समस्याओं को देखने, समझने एवं सुलझाने की प्रेरणा देता है।

(vii) इस दर्शन के अध्ययन से वर्तमान इतिहास की घटनाओं और समस्याओ के समझने मे भी पर्याप्त सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याएँ अतीत की परिस्थितियो से उत्पन्न होती हैं इसलिए अतीत के राजनीतिक सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त करके ही हम वर्तमान को भली प्रकार समझ सकते है। इन्हे ठीक प्रकार से न समझ पाने पर हमे आधुनिक समस्याओ का समुचित समाधान नही मिलता। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास द्वारा हमे विभिन्न देशो के विभिन्न मन्तव्यो और विचारो का बोध होता है। हम इनके अध्ययन द्वारा अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था मे कुशलता ला सकते है और अपने समाज के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का प्रयत्न कर सकते है। अन्य देशो के आदर्शों, विचारो और सिद्धान्तों को समझकर उन्हें अपने अनुरूप ढाल सकते हैं। उन्हें नवीन रूप से अपने सविधान मे स्थान देकर हम अपने उपयोग मे ला सकते है। उदाहरणार्थ, भारतीय सविधान के चौथे भाग की धारा 39-45 मे उन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है जिनके अनुसार भविष्य मे राज्य की नीति का सचालन किया जाएगा। इनमे से अधिकाँश सिद्धान्त पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा से अनुप्राणित हैं।

(viii) राज-दर्शन का ज्ञान हमारी राज्य सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने मे भी बहुत कुछ सहायक हो सकता है। राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, लक्ष्य और प्रयोजन आदि के प्रश्न हमे सदैव चिन्तनशील रहने के लिए चुनौती देते हैं। इनके उत्तर सोचना राजनीतिक जागरण का एक चिह्न है और यह चिन्तन हमारे बौद्धिक विकास एव आनन्द के लिए अनिवार्य है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को पढने से हमे राजनीतिक प्रश्नो को समझने और उनका समाधान करने की दिव्य दृष्टि मिलती है।

सार रूप मे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। मैक्सी ने ठीक ही कहा है कि—"राजनीतिक दर्शन मानव-व्यवहार के पीछे आज भी महत्त्वपूर्ण चालक शक्तियाँ है और अतीत मे सदैव रही हैं।"[1]

यूरोपीय एव अयूरोपीय विचार
(European and Non-European Thought)

विभिन्न देशो के समय-समय पर विविध राजनीतिक विचारधाराओं का उदय हुआ है, फिर भी राजदर्शन के अध्ययन का आरम्भ प्राचीन यूनानी विचारको से किया जाता है। यूरोप के अतिरिक्त प्राचीन भारत, मिस्र, चीन, बेबीलोन, ईरान, सीरिया आदि देशों मे भी राजनीतिक विचारो का किसी न किसी रूप मे अभ्युदय हुआ है। इन देशो की महान् और प्राचीन जातियाँ राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध थी। उदाहरणार्थ, भारतीय ग्रन्थो (रामायण, महाभारत, शुक्रनीति आदि) मे ऐसे कितने ही राजनीतिक विचार पाए जाते है जिनकी तुलना किसी भी श्रेष्ठतम यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन से की जा सकती है। यह ठीक ही कहा जाता है कि—"भारत मे भी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिनकी पैरीक्लीज, सीजर, जस्टीनियन, शार्लीमेन, फ्रेडरिक और बॅगेसा के साथ आसानी से तुलना की जा सकती है और जो अपने गुणो के बल पर अपने यूरोपीय समकालीनो एव समकक्षो को चुनौती दे सकते हैं।" वास्तव मे प्राचीन भारत मे राजदर्शन पर विचार करने वाले आचार्यों की सख्या कम नहीं है। महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि प्राचीनकाल मे इस विषय पर विशाल ग्रन्थो और महत्त्वपूर्ण शास्त्रो का निर्माण किया गया था। किन्तु यूरोपीय विद्वानो ने अन्य प्राचीन जातियो के राजनीतिक चिन्तन की अवहेलना की और यह विश्वास व्यक्त किया कि राजनीतिक दर्शन का प्रादुर्भाव प्राचीन यूनान मे हुआ और विकास केवल पश्चिमी जगत् में।

भारतीय एव अन्यान्य प्राचीन जातियो के राजनीतिक चिन्तन की जो अवहेलना यूरोपीय लेखको ने की है, उनके दो कारण हो सकते हैं—

(i) पूर्वी दार्शनिको के विचार यूनानी विचारो की भाँति यूरोपीय सभ्यता के अग नही बने।

(ii) पूर्व के देशो मे और वह भी विशेष रूप से भारत मे, राजनीतिक विचारधाराओं को यूनानियो की भाँति स्वतन्त्र रूप से लेखबद्ध नही किया गया। प्राचीन भारत मे इस तरह का जो महत्त्वपूर्ण साहित्य था उसका अधिकाँश भाग आज भी प्राप्त नहीं है।

राजनीतिक चिन्तन के वर्तमान अध्ययन की परम्परा पाश्चात्य अथवा यूरोपीय राजनीतिक विचार तक ही सीमित है जिसे तीन भागो मे विभाजित किया जाता है—

(1) प्राचीन राजनीतिक राजदर्शन (प्रारम्भ से 5वी शताब्दी तक)।

(2) मध्ययुगीन राजनीतिक राजदर्शन (5वी शताब्दी से 15वी शताब्दी तक)।

(3) अर्वाचीन (आधुनिक) राजनीतिक राजदर्शन (15वी शताब्दी से आज तक)।

इनमे से प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन राजदर्शन का केन्द्र बिन्दु नगर-राज्य था। इसे सामाजिक सगठन का सर्वोत्तम एवं पूर्ण रूप समझा जाता था। इस समय राजदर्शन का चरित्र आचार-प्रधान था। नगर-राज्यो के लोप होने पर इस युग का अन्त हुआ। बाद में रोमन-साम्राज्य एव ईसाई धर्म के अभ्युदय ने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया।

मध्य युग के दर्शन का आधार सार्वभौमवाद (Universalism) रहा। इस समय विश्व-राज्य की कल्पना की गई और राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु आचार न होकर धर्म बन गया। राज्य एव चर्च के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या इस युग के विचारको के मन-मानस का मन्थन करती रही।

मध्यकालीन युग को आधुनिक रूप देने का काम पुनर्जागरण (Renaissance) एव सुधार (Reformation) आन्दोलनो ने किया एव सार्वभौमवाद का स्थान शनै-शनैः राष्ट्रीय राज्य ने ग्रहण कर लिया जो आधुनिक चिन्तन का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु है।

---

1 *Maxey*. Political Philosophies, pp 1–2

2 यूनानी राजनीतिक चिन्तन : जीवन और राजनीति का यूनानी दृष्टिकोण, नगर-राज्य

(Greek Political Thought : Greek View of Life and Politics, City-States)

राजनीतिक चिन्तन की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्राय. दो मुख्य प्रश्न उठते है—क्या राजनीतिक चिन्तन की उत्पत्ति यूनान मे हुई थी ? यदि नही, तो यूनान को राजनीतिक चिन्तन का जनक क्यो माना जाता है ? यूनानी राजनीतिक चिन्तन और जीवन तथा राजनीति के प्रति यूनानी दृष्टिकोण पर विचार से पूर्व इस जिज्ञासा का समाधान आवश्यक है ।

यूनान में क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का उदय ?
(Origin of Systematic Ptolitical-Theory in Greece)

अधिकाँश पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि राजनीतिक चिन्तन को जन्म देने का श्रेय यूनानियो को है और उसे विकसित करने का कार्य यूरोपवासियो ने किया है, इन क्षेत्रो मे पूर्व के देशो का कोई विशेष योगदान नही है । बार्कर (Barker) ने लिखा है कि "राजनीतिक चिन्तन का श्रीगणेश यूनानियो से ही होता है । उसके जन्म का यूनानी मानव का शान्त तथा स्वच्छ तर्क बुद्धिवाद (Rationalism) के साथ सम्बन्ध है ।"[1] डनिंग (Dunning) के अनुसार "यूरोप के आर्य ही केवल ऐसे व्यक्ति है जिनके साथ 'राजनीतिक' (Political) शब्द का उचित रूप मे प्रयोग किया जा सकता है ।"[2]

बार्कर आदि विद्वानो के कथन से यदि यह अर्थ लिया जाए कि यूनानियो से पूर्व की अन्य सभी सभ्यताएँ राजनीतिक दृष्टि से बजर थी तो यह युक्ति-सगत् नही होगा । यह मानना सर्वथा अनुचित लगता है कि भारत, मिस्र, ईरान, चीन, बेबीलोन आदि देशो मे, जहाँ की सभ्यताएँ आज के लोगो के लिए भी ईर्ष्या का विषय लगती है वहाँ कोई राजनीतिक चेतना नही थी । इतिहासकारो और प्राचीन वस्तु-वेत्ताओ की शोधो के आधार पर यह प्रमाणित किया जा चुका है कि इन देशो मे भी राजनीतिक सस्थाओ का निर्माण हुआ और राजनीतिक समस्याओ पर काफी गहन तथा मौलिक चिन्तन भी किया गया । इन देशो के विचारको ने बहुत से महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निष्कर्ष निकाले और राजनीतिक अवधारणाएँ भी प्रस्तुत की । इन अवधारणाओ के विकसित रूप कालान्तर मे पश्चिमी ससार मे पुनर्स्थापित हुए । अब तो अनेक पाश्चात्य विचारक भी यह स्वीकार करते हैं कि केवल यूनानियो को ही राजनीतिक चिन्तन का जन्मदाता होने का श्रेय देना वास्तविकता को नकारना है । इतिहासकार

1 *Barker*. Greek Political Theory (Hindi Trans), p 1
2 *Dunning* : A History of Political Theories–Ancient & Medieval, p. xx.

गैटिल (Gettel) का अभिमत है कि "जिन प्राच्य जातियो के प्राचीन ग्रन्थों मे सबसे अधिक राजनीतिक चिन्तन के दर्शन होते हैं, वे हिन्दू, चीनी और यहूदी थे।"[1] मैक्सी (Maxey) के अनुसार भी "हजारो वर्ष पुरानी सभ्यताओ के ज्ञान से हमे यह ज्ञात होता है कि इन विलुप्त युगो की जातियो का राजनीतिक चिन्तन वस्तुत कितना सम्पन्न और विस्मयकारी था। विचार और व्यवहार—दोनो ही क्षेत्रो मे उन्होंने यूरोपीय विचारो की पूर्व-घोषणा की, उनके समकक्ष विचारो की सृष्टि की और एक सीमा तक तो कुछ ऐसे विचारो का शिलान्यास भी किया जो आगे चलकर यूरोपीय राजनीतिक चेतना मे प्रस्फुटित हुए।"[2]

लेकिन यदि बार्कर के कथन का यह आशय लिया जाए कि यूनानी सभ्यता से पूर्व की सभ्यताओ मे राजनीतिक चिन्तन का क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विश्लेषण नही हुआ था तो यह काफी सीमा तक सही है। क्रमिक एव शृंखलाबद्ध राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता यूनानी ही इसलिए माने जाते हैं कि यूनान मे ही इस राजनीतिक चिन्तन को सर्वप्रथम क्रमबद्धता प्राप्त होती है। मैकिलवेन के अनुसार—"राजनीतिक सम्बन्धो पर विचार-विमर्श की जो धारा यूरोपियन जगत् से तथा यूरोपियन सस्कृति से प्रभावित देशो मे बह रही है उसका आरम्भ यूनानियों से ही हुआ है।" इसका एक प्रमाण यह है कि राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द और परिभाषाएं आज भी यूनानी भाषा की ही है। लोकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अल्पतन्त्र, निरकुश राजतन्त्र आदि विभिन्न शासनो के स्वरूप का अन्वेषण और मूल्यांकन सर्वप्रथम यूनानियो ने ही किया था। उन्होने ही सर्वप्रथम यह विचार व्यक्त किया कि ऋतुओ के चक्र की भाँति ही राज्यो का भी परिवर्तन-चक्र चलता रहता है। राजतन्त्र क्रमश· निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), कुलीनतन्त्र (Aristocracy), अल्पतन्त्र (Oligarchy) तथा प्रजातन्त्र (Democracy)मे परिवर्तित होते रहते हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि "शासन-प्रणालियों मे परिवर्तनो का चक्राकार नियम यूनानियो की महान् खोज थी। उनके परिवर्तन के इस क्रम मे सत्यता चाहे न हो, किन्तु परिवर्तन का यह विचार नितान्त सत्य था।"

यूनानियो ने विवेक् द्वारा प्रत्येक बात का समाधान करने का प्रयत्न किया। वे चिन्तन के द्वारा निष्कर्षों पर पहुँचने की कोशिश मे अग्रणी थे। अपने अनुभव और विवेक् से वे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते थे। उन्होने राज्य की सभी समस्याओ का वैधानिक अध्ययन आरम्भ कर एक परिपाटी कायम की। इसीलिए जिमर्न ने लिखा है—"यूनानियो की सबसे बडी देन यह है कि उन्होने राजनीतिक चिन्तन का आविष्कार किया।"[3]

यूनानी राजनीतिक चिन्तन का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) की रचनाओ मे मिलता है। उन्होने अपने अध्ययन का विषय 'राज्यो एव समसामयिक प्रश्नों को बनाया और उनका क्रमबद्ध विश्लेषण भी किया। प्लेटो ने 'Republic' नामक अपनी अमर कृति में एक आदर्श राज्य की परिकल्पना की और उसके अपेक्षित स्वरूप का चित्रण किया। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने भी राज्य और उसकी समस्याओ के सम्बन्ध मे अपने विचार को अभिव्यक्त किया। इन विचारको ने अपने राजनीतिक विचारो को व्यवस्थित रूप मे सामने रखा। प्लेटो और अरस्तू से पूर्व की यूरोपीय जातियो के विचारको ने कोई ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नही लिखे जिनकी तुलना 'Republic Politics' से की जा सके और यदि उन्होने कोई ग्रन्थ सम्भवतः लिखे भी हो तो आज वे प्राप्य नही है। यूनानी चिन्तन से पूर्व कोई लिपिबद्ध एव क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन नही मिलता। आधुनिक विचारधारा का विकास यूनानी चिन्तन के आधार पर हुआ है क्योंकि "जीवन के प्रति यूरोप का जो दृष्टिकोण है, उसे समझने का जो प्रयास है, उसकी समस्त भूमिकाएँ आदिकाल से ही यूनानियो द्वारा स्थायी रूप से निर्मित हुई है। जब तक यूरोप ऐतिहासिक जगत् को जानने का प्रयत्न नही करेगा तब तक

1 *Gettel* · History of Political Thought, p 24.
2 *Maxey* : Political Philosophies, p 8.
3 *Livingstone* · The Legacy of Greece, p 331

यूनानी विचार और धारणाएँ आदि उसके लिए अपरिहार्य रहेंगे, क्योकि उनके बिना वह ज्ञान सम्भव ही नही है।"[1]

उपर्युक्त प्रसग मे एक प्रश्न यह उठता है कि अन्य प्राचीन जातियाँ क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन देने मे क्यो असफल रही ? इसके उत्तर मे यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्राचीन भारत, चीन, मिस्र आदि देशो के निवासी आध्यात्मिक समस्याओं की ओर अधिक रुचि और निष्ठा के साथ आकृष्ट हुए। उनका मन राजनीति जैसे साँसारिक विषय मे कम रमा। साथ ही इन देशो मे विशाल एव विस्तृत साम्राज्यो की स्थापना रही। इस कारण जनता राजनीतिक जीवन से कोई प्रत्यक्ष सम्वन्ध स्थापित न कर सकी। इसके विपरीत प्राचीन यूनानी प्रायद्वीप मे छोटे-छोटे नगर-राज्यो की स्थापना हुई। वहाँ विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियाँ कायम हुईं और उनमे तेजी से परिवर्तन आए अत: नागरिको का राजनीतिक जीवन से व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष सम्वन्ध वना रहा। साथ ही यूनानी जीवन-प्रवृत्ति भी अनुभव और विवेक के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने की ओर अभिमुख रही। धार्मिक तत्त्व उन्हे अधिक आकर्षक प्रतीत नही हुए। राजनीतिक विचार-सामग्री उन्हे अधिक उत्तेजक लगी। प्रोफेसर वाउले (Bowle) के शब्दो मे, "राजनीतिक चिन्तन के विकास मे यूनानी नगर-राज्य का प्रादुर्भाव एक आधारभूत महत्त्व रखता है। निकट पूर्वी साम्राज्य की भारी दिनचर्या, मिस्र और मेसोपोटामिया की नौकरशाही 'ओल्ड टेस्टामेट' के लौह युग के आततायियो का बुद्धिहीन अनुत्तरदायित्व नष्ट हुआ और एक नई वस्तु का उद्भव हुआ। कल्पनापूर्ण बुद्धि की स्वतन्त्र क्रीड़ा, सूक्ष्मतम भावो को व्यञ्जित करने वाले विचारो तथा शब्दो के निर्माण, यूनानी आदर्शों का एक उद्देश्य तारम्य ये सव बातें राजनीतिक चिन्तन के जगत् मे महानतम् प्रगति की सूचना देती हैं।"[2]

यूनान में राजनीतिक चिन्तन के उदय के कारण

(Reasons for the Origin of Political Thought in Greece)

क्रमिक एव शृंखलावद्ध राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता यूनान मे ही सर्वप्रथम राजनीतिक दर्शन अथवा चिन्तन का उदय क्यो हुआ ? इसके अनेक कारण है, जिनकी विवेचना यहाँ अपेक्षित होगी।

(1) भौगोलिक स्थिति—यूनान सभ्यता के दो भू-खण्डो के मध्य वसा था। इसके पूर्व मे असीरिया और दक्षिण मे मिस्र था। राजनीतिक महत्त्व की दृष्टि से नगण्य फोनीसिया के व्यापारियो ने उनको सभ्यता का सन्देश दिया और ऐसा करने मे उन्होने उनकी स्वतन्त्रता पर कोई कुठाराघात नही किया। परिणामस्वरूप यूनानियो को स्वतन्त्र रहते हुए अपनी सभ्यता के निरन्तर विकास की प्रेरणा मिलती रही और उन्होने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया। अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति एव उपरोक्त तथ्यो के कारण यूनान मे राजनीतिक चिन्तन के उदय को पर्याप्त वल मिला।

(2) जिज्ञासा-वृत्ति—राजनीतिक दर्शन के उदय के लिए यह स्वाभाविक है कि लोगो में विवेक-बुद्धि और उन्मुक्त जिज्ञासा-वृत्ति हो। अरस्तू के ये शब्द सर्वथा सत्य हैं कि—"सव मनुष्य जानना चाहते हैं। आश्चर्य की भावना उन्हें दार्शनिक वनाती है—दर्शन का एकमात्र स्रोत यही है।" यूनानियो मे यही भावना प्रवल रूप से विद्यमान थी। ईसा के जन्म से 500 वर्ष पूर्व तक यूनानी जातियो ने वालकान उपत्यका के उत्तर तथा कृष्णसागर से ईजियन सागर तक के विभिन्न प्रदेशो (वर्तमान यूनान, क्रीट और लघु एशिया) को जीत कर अनेक छोटे-छोटे नगर-राज्यो की स्थापना कर ली थी। ये आक्राँता किसी निश्चित धर्म-संस्कृति एव परम्परा के अनुयायी नहीं थे। इनके विचारों को नियन्त्रित करने वाली कोई प्राचीन धार्मिक अथवा राजनीतिक परम्परा भी नही थी। ये लोग मूलत: जिज्ञासु थे। क्रीट एवं मिस्र की प्राचीन और अत्यधिक उन्नत सभ्यताओं के सम्पर्क मे आने पर इनमें

1 *Mayor* : Political Thought—The European Tradition, p. 7.
2 *John Bowle* : Western Political Thought, p 42.

यह इच्छा बलवती हुई कि ये नई वस्तुओ को देखे, खोजें एव समझें। इसी जिज्ञासा-वृत्ति के कारण यूनानी विचारको ने विश्व की उत्पत्ति और राज्य सम्बन्धी मौलिक प्रश्नो पर चिन्तन आरम्भ किया।

(3) **विवेक-बुद्धि**—प्रबल जिज्ञासा-वृत्ति के साथ-साथ यूनानियो में विवेक-बुद्धि की भी कमी नही थी। वे विवेक द्वारा रहस्यों का उद्घाटन करना चाहते थे। वे चिन्तन के द्वारा निष्कर्षो पर पहुँचना चाहते थे। उनका ऐसे विचारो मे विश्वास नही था कि अमुक घटना अथवा अमुक तथ्य का मूल कारण ईश्वर अथवा प्रकृति है। धर्म मनुष्य की तर्कशीलता को कुण्ठित करता है और धार्मिक तत्त्व की रहस्यात्मकता के प्रति यूनानियो का कोई विशेष आकर्षण नही था। वे अनुभव और विवेक से अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने की इच्छा रखते थे। भारत, चीन, मिस्र आदि की प्राचीन सभ्यताएँ प्रकृति की उदारता का परिणाम थी। इन देशो के निवासियो को बिना अधिक व्यावहारिक चिन्तन और परिश्रम के आवश्यकता की सभी वस्तुएँ प्रकृति की कृपा से सहज उपलब्ध थीं। अत राजनीतिक चिन्तन के लिए आवश्यक व्यावहारिक बुद्धि का विकास उन देशों में इतना नहीं हो पाया जितनी कि यूनान मे यूनानियो को परिश्रम एवं विवेक-बुद्धि द्वारा अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करनी पडती थी। वे आलोचना एव सामूहिक वाद-विवाद मे आस्था रखते थे और किसी भी वस्तु को परखने और तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही उसे स्वीकारते थे। जीवन की विभिन्न समस्याओ के बारे मे मीमांसा करना उनका प्रिय विषय था। स्वतन्त्र वाद-विवाद मे उनकी गहन रुचि थी। सत्यान्वेषण का अनुराग, बुद्धिवाद, तर्क, विचारो की स्पष्टता, आलोचक वृत्ति आदि इन सभी बातो ने यूनानियों में उच्च-कोटि के चिन्तन की क्षमता उत्पन्न की। बुद्धि और तर्क-प्रधान जीवन के धनी होने के कारण वे राजनीतिक दर्शन के जन्मदाता के रूप मे प्रकट हुए।

(4) **व्यक्ति की महत्ता का ज्ञान**—राजनीतिक चिन्तन के उदय के लिए एक आवश्यक शर्त यह भी है कि व्यक्ति अपनी महत्ता से परिचित हो। जब तक व्यक्ति को स्वय की महत्ता का ज्ञान नही होगा तब तक वह जीवन को मूल्यवान नहीं मानेगा। वह सत्ता एव उससे सम्बन्धित जीवन की अनेकानेक समस्याओ पर भी विचार नही कर सकेगा। पूर्वकालीन सभ्यताओ मे मनुष्यो के जीवन की कुछ ऐसी ही स्थिति थी। उच्च और धनिक वर्गो की प्रसन्नता के लिए निम्नवर्ग के व्यक्तियो का बलिदान दिया जाता था। मानव-जीवन का यह मूल्य राजनीतिक चिन्तन के उदय के लिए उपयुक्त चुनौती नही था। दास-प्रथा के होते हुए भी यूनानी दार्शनिक जीवन के महत्त्व को समझते थे। उन्हे अपनी महत्ता का भान था। वे राजकीय कार्यों मे भाग लेते थे और अपने अधिकारो के प्रति सजग थे। इस तरह यूनान की दशा राजनीतिक दर्शन के उदय के अनुकूल थी और यूनानी विचारक राज दर्शन अथवा राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता बन सके।

(5) **मानव मूल्य**—व्यक्ति की महत्ता के साथ-साथ यूनानी मानवतावाद मे भी विश्वास रखते थे। इस प्रायद्वीप में राजनीतिक चिन्तन के विकास का एक बडा कारण यह था कि यूनानी देवताओ की कल्पना भी मनुष्यो के रूप मे की गई है। उनके चिन्तन का केन्द्रीय विषय मानता था। सुकरात की मान्यता थी कि—"सर्वश्रेष्ठ अनुसन्धान इस विषय का अध्ययन करना है कि मनुष्य को क्या बनना चाहिए और उसे किन बातो का अनुसरण करना चाहिए ?" चूंकि राज्य एक मानवीय सगठन है, अत यह स्वाभाविक था कि वह उनके अध्ययन का एक प्रमुख विषय बनता। परिणामस्वरूप वे राजनीतिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुए।

(6) **नगर-राज्यों का विकास और परिवर्तन-क्रम**—नगर-राज्यों के अस्तित्व ने राजनीतिक चिन्तन के लिए अनेक प्रकार से विभिन्न आधार प्रदान किए। प्राच्य ससार के राज्यो की भाँति यूनानी नगर राज्य जड अथवा गतिहीन नही थे। उनका एक विकास सिद्धान्त था और उन्होंने परिवर्तन के

किनने ही दौर देखे थे। यूनानी जगत् का स्पार्टा ही केवल एक ऐसा राज्य था जो अपने शासन मे अटूट अविच्छिन्नता की अडिग परम्परा बनाए रख सका, अन्य नगर-राज्यो मे समय-समय पर गम्भीर परिवर्तन हुए जिनका क्रम प्राय एकसा ही रहा—राजतन्त्र (Monarchy) से अभिजात-तंत्र (Aristocracy) अभिजात तंत्र से निरकुश-तन्त्र (Tyranny) और निरकुश-तन्त्र से लोकतन्त्र (Democracy)। इन परिवर्तनो ने राजनीतिक चिन्तन के विकास मे दो प्रकार से सहायता की। प्रथम तो यह है कि परिवर्तनकारी घटनाओ के कारण इतने तथ्य और आंकडे जमा हो गए कि उनके आधार पर शोध एव सिद्धान्त निर्माण सम्भव था। उनके इतिहास ने सविधानो की दुनिया मे प्रयोग के अनेक प्रकार के सविधान प्रस्तुत किए। अनेक प्रकार से सविधान बनते-बिगडते रहने के कारण यह स्वाभाविक था कि यूनानी चिन्तन मे तुलनात्मक विवेचन और विश्लेषण को स्थान मिला। यही स्थिति यूनान मे राजनीतिक चिन्तन के विकास के लिए उत्तरदायी बनी।[1] दूसरे यूनानी लोकतन्त्र के नागरिक राजनीतिक प्रश्नो पर लगातार चर्चा करते-करते उसके सिद्धान्तो की चर्चा के उस स्तर तक उसी प्रकार पहुँच गए, जिस प्रकार क्रामवैल की सेना के लोकतन्त्र-निष्ठ सिपाही अपने वेतन के प्रश्नो की चर्चा करते-करते राजनीतिक समाज के 'मूल तत्त्वो' की चर्चा तक पहुँच गए थे।

(7) विविधतापूर्ण सामग्री की उपलब्धि—राजनीतिक चिन्तन के उदय के लिए विभिन्नताओ से युक्त सामग्री की उपलब्धि भी एक सहायक स्थिति है, दार्शनिक इसका आधार लेकर विचार करते है और निष्कर्ष निकालते हैं। पूर्वकालीन सभ्यताओ मे मुख्यत एक ही प्रकार की जड राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था थी, अत वहाँ शास्त्रीय अध्ययन के लिए उपयोगी वैविध्यपूर्ण सामग्री की कमी अथवा अभाव मिलता है। इसके विपरीत यूनानी प्रायद्वीप मे एक ही समय मे अनेक प्रकार के अलग-अलग राज्य थे जिनके स्वरूपो मे भिन्नता थी, जिनमे विभिन्न शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थी। कुछ नगर-राज्यो ने परीक्षण के लिए मिश्रित सविधानो अथवा शासन-प्रणालियो को भी स्वीकार किया था। यूनान के दार्शनिको तथा जनसाधारण ने जब यह देखा कि उनके राज्यो मे विभिन्न व्यवस्थाएँ प्रचलित है, तो वे अपने पास से यह प्रश्न पूछने लगे कि राज्य का वास्तविक अर्थ क्या है ? जब एथेंस, थीब्स और स्पार्टा ने नागरिकता के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शर्तें लगा दी तो बरबस यह प्रश्न उठा कि वास्तव मे नागरिक कौन है ? यह प्रश्न सारे यूनानी प्रायद्वीप पर खास तौर से उठता था और इसके प्रति सभी यूनानियो मे एक विशेष आकर्षण भी था कि आखिर सर्वश्रेष्ठ राज्य कैसा होता है ? नगर-राज्यो के वर्तमान स्वरूपो मे से कौन-सा स्वरूप पूर्णता के सबसे अधिक निकट है और अन्य राज्य क्रमश किस सीमा तक उससे पीछे रह गए है। स्पष्टत ये सारे मौलिक प्रश्न यूनानी राजनीतिक जीवन की विभिन्नताओ से उद्गमित हुए जो राजनीतिक दर्शन के उदय एव विकास की पूर्व स्थिति कही जा सकती है। इन सब परिस्थितियो एव कारणो के फलस्वरूप यूनान मे जिस राजनीतिक चिन्तन का उदय हुआ अथवा यूनानी नगर राज्यो ने जिस राजनीतिक चिन्तन को जन्म दिया वह एक विशिष्ट प्रकार का चिन्तन था। इस परम्परा के दार्शनिक राज्य को एक नैतिक सस्था मानकर चलते है और इस कारण राजनीतिक सस्थाओ एव आचरण का विवेचन भी नैतिक दृष्टि से ही किया गया है। यद्यपि इस चिन्तन का राजनीति के व्यावहारिक पक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु इसकी प्रेरणा के मूल स्रोत बौद्धिक है।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे आदर्शवादी परम्पराओ को जन्म देने वाला यह यूनानी दर्शन राजनीतिक विचारो के इतिहास मे कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न उठाता है जो एक परम्परा का निर्माण कर एक गौरवशाली विरासत प्रदान करता है। विशिष्ट परिस्थितियो मे जन्मा यह विशिष्ट दर्शन यथार्थ से प्रेरणा ले आदर्श के प्रतिमान स्थापित करता है और चिन्तन के इतिहास मे एक ऐसी आदर्शवादी

1 *Barker* op cit, p 5-6

परम्परा की धारा जोडता है जिसकी अनवरतता आज भी उसकी सीमारेखा का निर्धारण करती दिखाई देती है।

यूनानी राजनीतिक चिन्तन का क्षेत्र
(Scope of Greek Political Thought)

यूनानी राजदर्शन अथवा राजनीतिक चिन्तन का क्षेत्र प्रधानत. राज्य की प्रकृति एव व्यक्ति है। यूनानी विचारको ने मनुष्य को एक राजनीतिक एव सामाजिक प्राणी माना है। यूनान के व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण लौकिक और धर्म-निरपेक्ष था। यूनानियो ने धर्म और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध, औद्योगिक-सगठनो आदि से कोई विशेष सम्बन्ध नही रखा। भावी राजशास्त्रियो ने इन विषयो को अपने अध्ययन मे केवल शामिल ही नही किया अपितु इन्हें केन्द्र मानकर इनकी विवेचना भी की। यूनान के दार्शनिको ने जहाँ भी इन विषयो का उल्लेख किया है वहाँ उन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखने का भी प्रयत्न किया है।

पश्चिम के इतिहास में मानव-स्वभाव का प्रथम अध्ययन यूनानियो द्वारा किया गया। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह स्थापित किया कि मनुष्य समाज में रहकर ही अपना विकास कर सकता है। उसकी विकास-अवस्थाओ मे समाज का बडा योगदान रहता है। समाज में ही उसका समाजीकरण होता है और समाज द्वारा ही उसे आदर्श मानवीय गुणों की शिक्षा अथवा अपराधी वृत्तियाँ मिलती हैं। मानव का समाज से पृथक् कोई अस्तित्व सम्भव नही है—इसे व्यक्त करते हुए अरस्तू ने यह प्रसिद्ध वाक्य कहा था कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" (Man is a social animal)। यूनानियो द्वारा प्रस्तुत इसी प्रकार की मूल उद्भावनाएँ आज भी राजदर्शन की प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं।

यूनानियो ने यह विचार भी प्रस्तुत किया था कि समाज के साथ-साथ मानव-जीवन के विकास मे राज्य एक अनिवार्य स्थिति है। इसी बात को ध्यान मे रखकर उन्होने राज्य के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। राज्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो पर उन्होने मनन किया तथा राज्य की उत्पत्ति, कार्य एव उद्देश्यो पर प्रकाश डाला। अरस्तू ने मानव-सुख को ही राज्य का परम एव चरम उद्देश्य बतलाया। प्लेटो ने आदर्श राज्य की अपनी कल्पना प्रस्तुत की। यूनानियो ने राज्य के विविध रूपों के नामाकरण किए और उनके पारस्परिक अन्तरो को स्पष्ट किया। एकतन्त्र (Monarchy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy), अष्टतन्त्र (Oligarchy), जनतन्त्र (Polity), भीडतन्त्र (Mobocracy) आदि नामकरण प्लेटो और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिको के ही योगदान हैं। इन दार्शनिको ने राज्य के मौलिक तत्वो पर ही विचार नही किया अपितु राज्य के विभिन्न स्वरूपो का भी विवेचन किया है।

यूनानियो ने राज्य-सत्ता एव व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो पर भी चिन्तन किया। राजसत्ता की आधारशिला क्या है और राज्य के आदेशो का पालन क्यो किया जाना चाहिए—इन प्रश्नो पर उन्होंने गम्भीरता से विचार-मन्थन किया। उन्होने यह बताया कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक वर्ग किन-किन आधारो का सहारा ले राजसत्ता पर अधिकार प्रदर्शित करते हैं। "सरकारें क्यो परिवर्तित होती है?"—परिवर्तन-क्रम के कारण, प्रभाव एव परिणाम को खोजते हुए उन्हें विश्लेषित करने का प्रयास भी यूनानी दर्शन की विशेषता है।

यूनानियों ने राज्य और शिक्षा के पारस्परिक सम्बन्धो पर भी अपनी विवेचना प्रस्तुत की। उन्होने राज्य को एक शैक्षणिक सस्था माना और राज्य का कर्तव्य प्रजा को शिक्षित करना बतलाया। उनका मत था कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए जिससे उनकी आन्तरिक शक्तियो का विकास हो सके। अपने विशाल और गहन अध्ययन के द्वारा यूनानियो ने राजनीति के अध्ययन को एक गौरवशाली परम्परा दी।

यूनानी राजदर्शन की विशेषताएँ
(Characteristics of Greek Political Thought)

अथवा

जीवन और राजनीति के प्रति यूनानी दृष्टिकोण
(Greek View of Life and Politics)

किसी भी युग के राजदर्शन की विशेषता उस युग के चिंतन की मौलिकता एव समस्या-मूलक दृष्टिकोण में ढूंढी जा सकती है। इस यूनानी राजदर्शन की प्रमुख विशेषताओ को निम्नलिखित रूप से वर्णित किया जा सकता है—

(1) राजनीतिक चिन्तन के विषय—यूनानी दार्शनिको को समाज मे चिन्तन और अन्वेषण की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, अत उन्होने राजनीतिक चिन्तन के अनेक विषयो को अपने अध्ययन-क्षेत्र मे लिया। कैटिलिन (Catlin) ने उन थोडे से विषयो की सूची प्रस्तुत की है जिन पर अधिक विवाद चला करता था। इस सूची के कुछ विषय ये हैं—"प्रजातन्त्र, लिखने और सोचने की स्वतन्त्रता, प्रावेक्षण (Censorship), प्रजातन्त्र और विशेषज्ञ का सम्बन्ध, अवकाश की समस्या, क्रान्ति और वर्ग-सघर्ष।"[1]

(2) सांसारिक चिन्तन अथवा चिन्तन का लौकिक आधार—यूनानी राजनीतिक चिन्तन प्रधानतः लौकिक (Worldly) था। बार्कर ने लिखा है—"यह तथ्य निर्विवाद है कि यूनानियो मे धार्मिक प्रेरणा के प्रति बहुत कम आकर्षण था।" (The religious motive appealed little to the Greek)।"[2] यूनानी दार्शनिको ने मध्यकालीन विचारको के समान धार्मिक एव आध्यात्मिक तथ्यो की ओर कम ध्यान दिया। यूनानी राजनीतिक चिन्तन न्यूनत समाज-प्रधान बना रहा। उन्होने इहलोक को प्रमुखता दी, परलोक को नही। इस समाज और इसमे रहकर सुखी समृद्ध एव नैतिक जीवन की खोज और उसकी उपलब्धि उनके चिन्तन का प्रमुख उत्प्रेरक तत्त्व बना। सिनक्लेयर (Sinclair) के अनुसार—जिन प्रश्नो ने उनको निरन्तर प्रेरित किया, ये थे—राज्य का सबसे अच्छा प्रकार क्या है? उसका सबसे अच्छा विस्तार और स्थान क्या है? कौन-सी शासन-व्यवस्था या सविधान सर्वश्रेष्ठ है? अधिकार किसके हाथ में होना चाहिए, और ऐसे व्यक्तियो की सख्या क्या होनी चाहिए? नागरिक कौन होगे, उनके आचरण-सम्बन्धी नियम क्या होगे, और नागरिको की श्रेणी मे प्रवेश करने के क्या नियम होगे? समाज का सगठन कैसा होना चाहिए, ताकि व्यक्ति अपना अधिकतम विकास कर सकें।"[3]

(3) नगर राज्य—यूनान के राजनीतिक जीवन की इकाई वहाँ का नगर (Polis) था अत नगर ही यूनानियो के चिन्तन का मुख्य केन्द्र बना। वहाँ मनुष्य राजनीतिक प्राणी इस अर्थ मे समझे जाते थे कि वे नगर-राज्य के सदस्य थे। यूनानियो को अपने नगरो के प्रति बडी निष्ठा थी। वह निष्ठा इतनी सकीर्ण और तीव्र थी कि यदि एक नगरवासी दूसरे नगर राज्य मे चला जाता था तो वह स्वय को विदेशी समझता था। कहने का तात्पर्य यह है कि यूनानियो में स्थानीयता की भावना तीव्र एव प्रखर थी।

यूनानी नगर राज्यो का निवासी एक-दूसरे के सामाजिक जीवन से परस्पर सम्बद्ध था। नगर-निवासियो मे आत्मीयता और सहयोग की भावना थी। बार्कर के शब्दो मे, "नगर एक सामान्य जीवन का स्थान था। यह विभिन्न वर्गों का सघ था जिसकी चाहर-दीवारी के भीतर मनुष्य एक सामान्य तथा स्वाभाविक जीवन मे गुँथे हुए थे। धन, कुल तथा सस्कृति के विशेष सम्मान को चाहे इसने समाप्त न किया हो किन्तु समस्त वर्गों मे परस्पर एक सरल व्यवहार की स्थापना अवश्य की थी।" नगर मे

1 *George Catlin*. The Story of the Political Philosophers, p 28
2 *Barker* op cit, pp. 1–2
3 टी ए. सिनक्लेयर : यूनानी राजनीतिक विचारधारा, पृ. 15.

अमीर सम्भ्रान्तों से लेकर छोटे दुकानदार तक सम्मिलित थे। इस प्रकार यद्यपि राज्य कहने को तो नगर था किन्तु बातें एक देश में पाई जाती हैं, वे सभी नगर-राज्य में विद्यमान थीं।

ईसा के जन्म से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व के यूनान में अनेक नगर-राज्य थे। नगर-राज्यों की जनसंख्या बहुत कम होती थी और कुछ नगर-राज्य तो आज के राष्ट्रीय राज्य के जिलों से भी छोटे होते थे।

यूनानी नगर-राज्यों की एक मुख्य विशेषता यह थी कि वे स्वावलम्बी थे और उनमें राज्य तथा व्यक्ति अन्योन्याश्रित थे। राज्य के कार्य राजनीतिक, शैक्षणिक एवं नैतिक—तीनों ही प्रकार के थे किन्तु इन कार्यों का कोई विधिवत् बँटवारा नहीं था।

(4) राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का अभाव—यूनानी राजदर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वहाँ के नगर-राज्यों में राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था अतः वहाँ के नगर-राज्यों का अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगा रहना स्वाभाविक था। एक नगर-राज्य दूसरे की कोई चिन्ता नहीं करता था। नगर-राज्यों में परस्पर संघर्ष और युद्ध होते रहते थे। समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्तों में यूनानी विचारकों का विश्वास नहीं के बराबर था। उनकी अपनी दृष्टि में यूनानियों के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति निम्न कोटि के थे और इसलिए इन्होंने दास-प्रथा को राजनीतिक जीवन और यूनानी सभ्यता के लिए आवश्यक माना।

(5) विवेकवादी चिन्तन—यूनानी राजनीतिक चिन्तन को विवेकवादी भी कहा जाता है। वे विवेक को महत्त्व देते थे और उन्होंने तर्क के आधार पर निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए आग्रह किया है। वे श्रद्धा एवं अन्धविश्वासों से दूर थे। प्लेटो ने कुछ मौलिक बुद्धिवादी मान्यताओं के आधार पर, अपने दर्शन का प्रतिपादन किया। अरस्तू की विचारधारा पूर्णतः वैज्ञानिक थी। यूनानी विचारक विवेक द्वारा समस्याओं का समाधान करना चाहते थे। उन्होंने चिन्तन के द्वारा निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयत्न किया तथा उन विचारों में कोई विश्वास प्रकट नहीं किया जिनके कारण ईश्वर अथवा मानवेत्तर किसी अमूर्त सत्ता की प्रस्थापना की जा सके।

(6) राज्य को नैतिक संस्था मानना—यूनानी विचारक राज्य को एक नैतिक संस्था (Ethical Instiution) मानते थे। उन्होंने राज्य को उच्चतम जीवन का श्रेष्ठतम साधन माना है। उनकी मान्यता थी कि राज्य के अभाव में आदर्श की स्थापना असम्भव है। राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति इतनी अधिक और गहरी थी कि वे आज जनतन्त्रवाद के विरोधी लगते हैं पर यूनान में कुछ ऐसे कट्टरपंथी व्यक्तिवादी भी हुए हैं जिन्होंने राज्य के नैतिक महत्त्व को स्वीकार न कर उसे एक मानव-कृत संस्था के रूप में ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में सोफिस्ट, एपीक्यूरियन एवं सिनिक सम्प्रदाय का उल्लेख विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

राज्य को नैतिक संस्था मानने का ही एक स्वाभाविक परिणाम था कि यूनानी राजनीतिक चिन्तन में यह माना गया कि राज्य और व्यक्ति के हित परस्पर विरोधी नहीं हैं, राज्य का अपना सजीव व्यक्तित्व है जिसमें वह नागरिकों के व्यक्तित्व को समेट लेता है। व्यक्ति के लिए राज्य के माध्यम से ही अपने आदर्शों को प्राप्त करना सम्भव है, अतः राज्य के कार्यों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है।[1]

(7) दास प्रथा—यूनानी राजनीतिक चिन्तन को तत्कालीन दास-प्रथा ने भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया था। यूनानी विचारकों ने समानता को अनुचित एवं अवांछनीय माना है और जन्म-जात असमानता के आधार पर दासों को नागरिकता के अधिकारों से वञ्चित रखा है।

1 *Gettel*. History of Political Thoguht, p 41

पेरीक्लीज (Pericles) ने स्पार्टा (Sparta) से होने वाले एक युद्ध के बाद अपने एक भाषण मे एथेन्स की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए कहा था—"हमारा सविधान पडौसी राज्यो के कानूनो का अनुसरण नही करता है । हमारे प्रशासन मे बहुसख्यको के हितो का ध्यान रखा जाता है । इसीलिए इसको प्रजातन्त्र कहते है । हमारे कानून ऐसे है कि निजी झगडो मे सभी के साथ समान न्याय होता है । हमारी सामाजिक व्यवस्था की विशेषता यह है कि सार्वजनिक जीवन मे उच्च पद उन्ही को मिलते हैं, जो अच्छी योग्यता के लिए प्रसिद्ध होते है । योग्यता के मामले मे वर्गगत स्वार्थों का ध्यान नही रखा जाता है, और न दरिद्रता किसी व्यक्ति के मार्ग मे बाधा ही डालती है । यदि कोई व्यक्ति राज्य की सेवा के योग्य होता है, तो उसकी निम्न स्थिति उसे नही रोक सकती है । सक्षेप मे मैं कहता हूँ कि हमारा नगर सम्पूर्ण यूनानी जगत् के लिए सर्वोत्तम पाठशाला है ।"[1]

उपर्युक्त विशेषताएँ यूनानी राज दर्शन को मध्यकालीन और आधुनिक राज-दर्शन से भिन्न बनाती हैं ।

यूनानी एव मध्यकालीन राजदर्शन
(Greek and Medieaval Political Thought)

1 यूनानी राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय नगर-राज्य था और इसी को उनके सामाजिक सगठन का आदर्श रूप भी माना जाता था । दूसरी ओर मध्यकालीन राजदर्शन सार्वभौमिकतावाद और विश्वासवाद पर आधारित था । मध्यकालीन चिन्तन विश्व-सरकार के समर्थक थे और सम्पूर्ण मानव-जाति को एक विशाल समाज के रूप मे मानते थे अत. उन्होने एक चर्च और एक साम्राज्य की स्थापना का समर्थन किया ।

2. यूनानी राजदर्शन मूलत. समाजमूलक था । यूनानी विचारक नैतिकतावादी होते हुए भी इहलोक को प्रमुखता देते थे । इसके विपरीत मध्यकालीन राजदर्शन को मूलत आध्यात्मिक कहा जा सकता है । उसमे ईसाई धर्म की प्रधानता थी । मध्यकालीन विचारक स्वर्ग और मोक्ष की समस्याओ मे उलझे हुए थे तथा जीवन के भौतिक एव आध्यात्मिक पक्षो पर पर्याप्त बल देते हुए वे धर्म और आध्यात्मिकता पर विशेष बल देते हैं ।

3 यूनानी विचारक राज्य को एक नैतिक सस्था और उच्चतम जीवन के साधन के रूप मे मानते थे । मध्यकालीन विचारो के लिए राज्य कोई नैतिक सस्था नही थी, वरन् उसकी उत्पत्ति मनुष्य के पाप-कर्मो से हुई थी । उन्होने राज्य को एक हिंसक सस्था के रूप मे चर्च के पुलिस विभाग की तरह माना है पर आगे चलकर जब उन पर अरस्तू का प्रभाव पडा तो उन्होने राज्य को नैतिक सस्था के रूप मे प्रतिस्थापित किया ।

4 यूनानी विचारक विवेकवादी थे । श्रद्धा और अन्धविश्वासो से परे रह कर उन्होने तर्क और विवेक के आधार पर अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया । मध्य-युग के राजनीतिक विचारको के लिए विवेक के स्थान पर ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण था और बाइबिल तथा सन्त ऑगस्टाइन के ग्रन्थो को उन्होने प्रामाणिक माना है । इस ज्ञान के बारे मे किसी भी बात का उत्तर देने का एकाधिकार उनके अनुसार केवल चर्च को ही था । 13वी सदी के मध्य मे अरस्तू के विचार का प्रसार होने पर उनमे भी विवेकवादी दार्शनिक दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसे 'स्कास्टिसिज्म' कहा जाता है ।

5 यूनानी राजदर्शन मे भ्रातृत्व और समानता के सिद्धान्त गौण प्रतीत होते है । यूनानी दार्शनिक गैर-यूनानियो को अपने से हीन और निम्न कोटि का प्राणी मानते हैं । इसके विपरीत मध्य-युग का राजदर्शन भ्रातृत्व एव समानता को स्वीकार कर सम्पूर्ण मानव जाति को एक समाज के रूप मे देखता है और सभी को ईश्वर की सन्तान के रूप मे स्वीकारता है ।

6 यूनानी राजदर्शन के कुछ विद्वान् ऐसे कट्टर व्यक्तिवादी भी थे जिन्होने व्यक्ति के सुख-दु ख से सम्बन्धित व्यक्तिगत प्रश्नो पर गम्भीर चिन्तन किया है । ये विचारक राज्य को मानव-निर्मित

1 *Thucydides* History of the Peloponnesian War, Vol II, p 46

सस्था के रूप मे देखते है और धर्म को महत्त्वहीन मानते हुए व्यक्ति को नैतिकता के क्षेत्र मे स्वतन्त्र बनाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। दूसरी ओर मध्ययुगीन राजदर्शन मे व्यक्ति के लिए कोई स्थान नही था। जीवन द्विमुखी था जिसके अनुसार व्यक्ति को राज्य और चर्च दोनो के आदेशो का पालन करना आवश्यक था।

7 यूनानी लोग दास-प्रथा को अपनी सभ्यता के अस्तित्व के लिए आवश्यक एव उपयोगी मानते थे जबकि मध्यकालीन राज-दर्शन दास-प्रथा को दैविक दण्ड के रूप मे देखता है। मध्यकालीन चिन्तको की दृष्टि मे दास-प्रथा प्राकृतिक नही मानी जा सकती।

यूनानी और मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन मे जो प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं, उनके मूल कारण उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ थी। यूनान मे विवेकवादी विचारधारा और सामाजिक दृष्टिकोण की प्रधानता दिखलाई देती है जबकि मध्ययुग का सारा बल आध्यात्मिक दृष्टि तथा ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान की महिमा पर है। जहाँ यूनानियो मे नगर-राज्य के प्रति एक गहन श्रद्धा है, वहाँ मध्ययुग के ईसाई लेखक सार्वभौमिकता और विश्ववाद के पक्षपाती हैं।

यूनानी और आधुनिक राजदर्शन
(Greek and Modern Political Thought)

1 यूनानी चिन्तन का विषय छोटे-छोटे नगर राज्य थे, जिनकी आन्तरिक और बाह्य समस्याएँ काफी कम थी, इसी कारण से इस चिन्तन की दृष्टि-वर्तमान की तुलना मे काफी संकीर्ण रही। वर्तमान राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र विशाल राष्ट्रीय राज्य हैं। ये राज्य विस्तारवादी भावना से अनुप्राणित हैं और इनकी आन्तरिक एव बाह्य समस्याएँ भी अत्यन्त जटिल हैं। यूनानी दर्शन के विपरीत वर्तमान राजदर्शन केवल राज्य को ही नही वरन् सम्पूर्ण समाज, राष्ट्रीय संस्थाओ एव अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओ को भी समन्वित करता है।

2 यूनानियो ने राज्य को एक नैतिक सस्था के रूप मे स्वीकार किया था जबकि आज के राज्य को एक नैतिक सस्था मात्र कहना युक्ति-सगत् नही लगता। अनेक वर्तमान राज्य तो वीसवी शताब्दी मे भी धर्म-राज्य (Theocracies) हैं और कुछ राज्य सभी धर्मो को मान्यता एव समानता देने के पक्षधर हैं।

3. यूनानी राजदर्शन विवेकवादी और समाजपरक था। वह लौकिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए इहलोक के सुख मे विश्वास करता था। वर्तमान राजदर्शन भी यद्यपि लौकिक एव सामाजिक है तथा इहलोक के सुख मे विश्वास करता है, तथापि इसमे राज्य को नैतिकता के क्षेत्र से अलग रखा गया है। आज आध्यात्मिक जीवन की समाप्ति के लिए व्यक्ति को राज्य के आश्रय पर रहना आवश्यक नही समझा जाता।

4. यूनानी राजदर्शन मे राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान नही था। आधुनिक राजदर्शन राष्ट्रीयता पर केन्द्रित है और शनै-शनै अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर झुकता जा रहा है।

5 यूनानी राजदर्शन मे भ्रातृत्व और समानता के आदर्श गौण थे तथा दास-प्रथा उनकी सभ्यता का एक आवश्यक अग थी। आधुनिक राजदर्शन असमानता को नकारता हुआ भ्रातृत्व तथा समानता के सिद्धान्तो का उद्घोष करता है।

6 यूनानी राजदर्शन मे राज्य के उद्देश्य सकारात्मक थे। राज्य द्वारा व्यक्ति के लिए राजनीतिक, नैतिक एव शैक्षणिक—तीनो ही प्रकार के कार्य किए जाते थे। आधुनिक राजदर्शन मे व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनो विचारधाराओं का प्रचलन है। प्रथम के अनुसार राज्य को कम से कम कार्य करने चाहिए, जबकि दूसरे के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य समाज के हितार्थ अधिकाधिक कार्य

करना है। इस तरह वर्तमान राजदर्शन राज्य के उद्देश्यो को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार के मानता है।

7. यूनानी दर्शन मे कानून पर विचार अवश्य किया गया है, लेकिन वर्तमान की तुलना मे उसकी दृष्टि नैतिक है, कानूनी नही। आज कानून राजदर्शन का एक आवश्यक अग है। उसे आधुनिक राज्य का आधार कहा जाता है।

8 यूनानी राजदर्शन मे नागरिकता का सिद्धान्त वडा सकुचित था। राज्य के कार्यों मे सक्रिय भाग लेने वालो को ही नागरिक माना जाता था। महिलाएं तथा दास नागरिकता के अधिकारो से वचित थे और विदेशियो को नागरिकता प्रदान नही की जाती थी। आधुनिक राजदर्शन मे नागरिकता के सिद्धान्त को अत्यन्त विस्तार एव उदारता से ग्रहण किया जाता है। राज्य मे जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता प्राप्त होती है और कुछ परिस्थितियो मे विदेशियो को भी नागरिक बनाया जा सकता है।

9 यूनानी राजदर्शन मे राज्य को सम्पूर्ण माना गया था, अत. व्यक्ति और राज्य का एक जैविक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध का सबसे बडा आधार नैतिक बन्धन था। आधुनिक राजदर्शन मे व्यक्ति के राज्य से सम्बन्ध को नैतिक अथवा पवित्र न माना जाकर कानूनी सम्बन्ध को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

10 न्याय यूनान के राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय था। प्लेटो ने न्याय को एक ऐसा तत्त्व बतलाया है जो राज्य को आदर्श बना सकता है। उसने न्याय का विभिन्न अर्थों मे प्रयोगात्मक उत्तर दिया है और यह माना है कि राज्य व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकता है। यूनानी राजदर्शन की तुलना मे वर्तमान राजदर्शन मे न्याय को महत्त्व तो प्रदान किया गया है किन्तु उसकी प्रकृति भिन्न है। न्याय के पालन हेतु न्यायपालिका नामक अलग सस्था है। कानून-विशेषज्ञो के हाथो मे न्याय की बागडोर सौंप दी जाती है और अपराधियो को बिना किसी भेदभाव के कानून द्वारा दण्डित किया जाता है।

यूनानी और आधुनिक राजनीतिक चिन्तन मे जो अन्तर पाए जाते हैं वे निश्चय ही परिवर्तित परिस्थितियो के सन्दर्भ के कारण उत्पन्न हुए फिर भी दोनो राजदर्शनो मे बहुत कुछ समानताएँ भी ढूंढी जा सकती हैं। समानताओ की दृष्टि से यह दिखाई देता है कि प्लेटो की निगमन-प्रणाली (Deduction) का प्रयोग आधुनिक युग मे व्यापक रूप से हुआ है। इस युग मे इस पद्धति के प्रमुख समर्थक ग्रोसस तथा लॉक आदि हैं। इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि अरस्तू की ऐतिहासिक और अनुभव-मूलक पद्धतियो का आज के व्यवहारवादी एव आचरणवादी (Behaviourists) विशेष रूप से प्रयोग कर रहे हैं।

यूनानी नगर-राज्यों की विशेषताएँ
(Characteristics of Greek States)

यूनानियो ने अनेक राजनीतिक प्रश्नो का जो हल किया है उसकी पृष्ठभूमि प्राचीन यूनान के नगर-राज्य हैं। इस नगर-राज्य के परिवेश की यूनानी-चिंतन पर गहरी छाप है। नगर-राज्य का अर्थ नगर और राज्य के आधुनिक अर्थ मे नही लिया जाना चाहिए। आजकल की शब्दावली मे प्राचीन नगर-राज्य न कोई नगर कहा जा सकता है और न राज्य ही। आजकल नगर से तात्पर्य सामान्यत 1 लाख या उससे अधिक आबादी का शहर समझा जाता है। वहाँ थोडे ही क्षेत्र मे बने हुए मकानो मे बहुत घनी आबादी बसी होती है। दूसरे शब्दो मे वर्तमान नगर की दो विशेषताएँ प्रमुख हैं–(1) जनसख्या की अधिकता एव (2) मकानो मे घनी आबादी का बसा होना। किन्तु यूनान के नगर-राज्यो मे इन दोनो ही विशेषताओ का अभाव था। सर्वाधिक आबादी वाले नगर-राज्यो की जनसख्या 2 से 3 लाख के बीच होने का अनुमान लगाया गया है। मकान भी घने बसे हुए न होकर खुले और कम आबाद

थे। नगर की लगभग आधी या कुछ कम बसी आबादी विस्तृत देहाती प्रदेश मे बसी हुई थी। न्यूयॉर्क, कलकत्ता अथवा टोकियो जैसे आधुनिक नगर उस समय सम्भवत कल्पना से परे थे। उस समय एथेन्स (Athens) एव स्पार्टा (Sparta) को छोडकर अन्य नगरो का क्षेत्रफल 2 वर्गमील से लेकर 400 वर्गमील के आसपास तक था। केवल एथेन्स का क्षेत्रफल 1 हजार वर्गमील और स्पार्टा का 3 हजार वर्गमील था। वर्तमान नगर हजारो वर्गमील क्षेत्र के होते हैं और आज के एक विशाल नगर मे अनेक एथेन्स व स्पार्टा सदृश नगर बसाए जा सकते है।

वर्तमान नगर एक विशाल नर-समूह है जो मुख्य रूप से आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सगठित हुआ है। इनके निवासियो का कोई सामान्य जीवन नही है, और न ही कोई उनका सामान्य उद्देश्य। वह एक भौगोलिक इकाई है, सामाजिक इकाई नही। प्राचीन यूनानी नगर-राज्य एक सामाजिक इकाई थी जिसका एक सामान्य लक्ष्य और एक सामान्य जीवन था। आधुनिक नगर के सर्वथा विपरीत यूनानी नगर-राज्य के निवासी एक-दूसरे के सामाजिक जीवन मे भागीदार थे। बार्कर (Barker) के शब्दो मे, "यह एक सामान्य जीवन का स्थान था। वह विभिन्न वर्गों का सघ था। इसकी चाहरदीवारी के अन्तर्गत मनुष्य एक सामान्य तथा स्वाभाविक जीवन मे गुँथे हुए थे। वन, कुल तथा सस्कृति के विशेष सम्मान को चाहे इसने समाप्त न किया हो, किन्तु समस्त वर्गों मे परस्पर एक सरल व्यवहार की इसने अवश्य स्थापना की।"[1]

(1) **सीमित क्षेत्रफल एवं जनसंख्या**—क्षेत्रफल और जनसख्या दोनो की दृष्टि से प्राचीन नगर-राज्य (City-states) आधुनिक राज्यो की तुलना मे बहुत ही छोटे थे। एटिका (Attica), रहोड आइलैण्ड (Rhode-Island), डेनवर (Denver), रोचेस्टर (Rochester), एथेंस (Athens) आदि यूनान के प्रमुख नगर-राज्य थे और ये आधुनिक काल के एक सामान्य नगर से भी छोटे थे। यूनानी नगर राज्यो मे सबसे अधिक आबादी एथेंस की थी और यह अनुमानत. 3 लाख से कुछ ही अधिक रही होगी। नवीनतम अनुसन्धानो के अनुसार जर्मन विद्वान् ए हरेनवर्ग ने 432 ई पूर्व मे इस नगरी की जनसख्या 2,15,000 से 3 लाख के बीच मे आँकी है। दस हजार की और इससे भी कम आबादी वाले नगर-राज्यो की संख्या काफी अधिक थी। सामान्यत एथेंस (1,000 वर्गमील) व स्पार्टा (3,000 वर्गमील) के अपवाद को छोड कर नगर-राज्यो का क्षेत्रफल 400 वर्गमील से अधिक नही था। वे 20 मील से ज्यादा लम्बे-चौडे थे। कुछ महत्त्वपूर्ण नगर-राज्य तो 40 वर्ग मील से अधिक नही थे। उदाहरण के लिए कुछ प्रसिद्ध नगर-राज्यो का क्षेत्रफल इस प्रकार था—

कोरिन्थ	—	340 वर्गमील
सभोस	—	180 वर्गमील
ईजिना	—	33 वर्गमील
डेलोस	—	2 वर्गमील
रेनिया	—	8½ वर्गमील

(2) **वर्ग-विभाजन**—यूनानी नगर-राज्यो की जनसख्या तीन मुख्य वर्गों मे बँटी हुई थी—

(क) **नागरिक वर्ग**—इस वर्ग मे वे नागरिक सम्मिलित थे जो नगर-राज्य के सदस्य होते थे एव जिन्हे उस नगर-राज्य के राजनीतिक जीवन मे भाग लेने का अधिकार था। यह विशेषाधिकार (Privilege) उन्हें जन्म द्वारा प्राप्त होता था।

(ख) **निवासी विदेशी वर्ग**—नगर-राज्यो का मुख्य वर्ग निवासी विदेशियो अर्थात् दूसरे राज्य के नागरिको का था। ऐसे व्यक्तियो की संख्या व्यापारिक नगरो मे अधिक होती थी। सम्भवत ये व्यक्ति किसी नगर-राज्य मे काफी लम्बे समय तक रहते भी थे, किन्तु इनका कानूनी रूप से देशीकरण

1 *Barker* Plato and his Predecessors, p 19.

(Naturalization) नही होता था। सामान्यत नगर के राजनीतिक जीवन मे यह कोई भाग नही लेते थे फिर भी इनके साथ सामाजिक जीवन मे कोई भेद-भाव नही किया जाता था।

(ग) दास-वर्ग—दासो का स्थान सामाजिक जीवन मे सबसे नीचा था और राजनीतिक जीवन मे उनका कोई विशेष महत्त्व नही था। जॉर्ज एच सेबाइन के अनुसार, "सभवत एथेंस की कुल जनसख्या मे दासो की सख्या एक-तिहाई थी। फलत नगर-राज्य की अर्थ-व्यवस्था (Economy) मे दासता का प्राय: वही महत्त्व था, जो आजकल की अर्थव्यवस्था मे मजदूरी (Wage earning) का है।" इसी लेखक के अनुसार, "यूनान की राजनीतिक विचारधारा मे दास का अस्तित्व उसी प्रकार स्वीकृत मान लिया गया था, जिस प्रकार कि मध्य युग (Middle Age) मे सामन्त वर्ग (Feudal Ranks) का था या आजकल मजदूर या मालिक का माना जाता है।"[1]

(3) राजनीतिक जीवन की इकाई—यूनानी नगर-राज्य लोगो के राजनीतिक जीवन की इकाई था। यह समस्त व्यक्तियो का घर था। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के कार्य करने वाले लोग सम्मिलित थे। एथेन्स मे सभी पुरुप नागरिक सभा (Assembly) और इक्लीजिया (Ecelesia) के सदस्य होते थे। एथेन्स का 21 वर्ष की आयु प्राप्त कोई भी पुरुप इस नागरिक सभा का सदस्य बन सकता था। यूनान के राजनीतिक जीवन मे कुछ ऐसी घनिष्ठता थी जो आधुनिक व्यक्ति को नही मिल सकती। यूनानी नगर-निवासियो के स्वार्थ कम विभाजित थे। वे सब नगर मे ही केन्द्रित थे। उनका धर्म नगर का धर्म था। उनके धार्मिक समारोह नागरिक समारोह थे। सभी वर्ग मिल-जुल कर रहते थे। यूनानी नगर-राज्य आधुनिक बम्बई या न्यूयॉर्क की भाँति नही थे जहाँ एक व्यक्ति अपने पडौसी को नही जानता। यूनानी राज्य कहने को तो नगर था, किन्तु उसमे एक देश मे पाई जाने वाली लगभग सभी विशेषताएँ विद्यमान थी। सेबाइन (Sabine) के शब्दो मे, "यूनानी के लिए नगर का जीवन सामूहिक जीवन था। फलत: यूनान के राजनीतिक दर्शन मे मूल विचार इस सामूहिक जीवन की समरसता का था। उसके विभिन्न पक्षो मे बहुत कम भेद-भाव किया जाता था। यूनानी के लिए नगर-सिद्धान्त के अन्तर्गत नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और आधुनिक सकुचित अर्थ मे राजनीति तक का समावेश था।"[2] यूनानी नगर-राज्यो के सामूहिक जीवन की व्यापकता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि एथेंस मे बारी-बारी से पद मिलते थे और एक साथ अनेक व्यक्तियो को विभिन्न पदो पर नियुक्त किया जाता था।

(4) स्वाशासित एव आत्म-निर्भर राज्य—यूनानी नगर-राज्य स्वाशासित (Self-governed) और आत्म-निर्भर (Self-sufficient थे)। स्पार्टा (Sparta) और एथेंस मे वही के लोग शासन चलाते थे। प्रत्येक नगर-राज्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति हर तरह से अपने क्षेत्र मे ही कर लेता था। दूसरे शब्दो मे नगर विविध प्रकार के व्यवसायो का केन्द्र था। प्लेटो और अरस्तू दोनो ने ही नगर-राज्यो की आत्म निर्भरता को स्वीकार किया है और उसे आदर्श राज्य का एक वाञ्छनीय तत्त्व बतलाया है।

(5) धार्मिक राज्य—यूनान के नगर-राज्य धर्म को भी महत्त्व देते थे, पर धर्म-राज्य नही थे। नगर-राज्य के देवताओ का सम्मान होता था। सभी निवासी सार्वजनिक व्यय पर नगर-राज्य के देवताओ का पूजन करते थे। नगर-राज्य अपने आप मे एक प्रकार का चर्च भी था। राज्य तथा धर्म के मध्य भेद नही था। धर्म और राजनीतिक मे इस प्रकार का सामञ्जस्य था कि वे एक-दूसरे के विरोधी नही थे। धार्मिक मामलो को अधिकांशत व्यक्तिगत समझा जाता था। वास्तव मे धर्म और राजनीति का समन्वय इन राज्यो की विशेषता थी।

1-2 जार्ज एच सेबाइन राजनीति दर्शन का इतिहास पृष्ठ 1-2

(6) विशेषीकरण का अभाव—यूनानी नगर-राज्य मे राज्य के विभिन्न कार्यो का बँटवारा नही था। आधुनिक काल की भाँति किसी नागरिक को केवल कोई विशिष्ट काम नही करना पड़ता था। कोई भी नागरिक आवश्यकता पडने पर युद्ध मे जाता था और वही नागरिक सामान्य अवस्था मे न्यायाधीश का भी कार्य करता था।

(7) राज्य व्यक्ति का वृहद् रूप—यूनान की विचारधारा मे व्यक्ति तथा राज्य के हितो को एक-दूसरे के विपरीत नही समझा जाता था। नगर-राज्य केवल एक सगठन न होकर एक नैतिक-प्राणी था और उसकी सेवा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य था। राज्य व्यक्ति का ही आकार था। राज्य और व्यक्ति एक-दूसरे के जीवन मे इतने घुले-मिले थे कि उनमे परस्पर विरोध का प्रश्न ही नही उठता था। व्यक्ति तथा राज्य मे परस्पर से सम्बन्धित कोई विरोधी समस्या नही थी। वे एक दूसरे के पूरक थे। यूनानियो ने (कुछ को छोडकर) व्यक्तिवादी धारणाओ को आश्रय नही दिया, यद्यपि व्यक्ति का महत्त्व यहाँ स्थापित था। यूनान मे व्यक्ति को राज्य मे विलीन नहीं किया गया। बार्कर (Barker) के शब्दो मे, "सैद्धान्तिक रूप से राजनीतिक विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि राज्य से स्वतन्त्र रह कर भी व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जाए। नगर-राज्य मे व्यावहारिक रूप से इस आवश्यकता की पूर्ति की जाती थी। एक यूनानी नागरिक पूर्ण रूप से अपने नगर से तद्रूप होते हुए भी काफी स्वतन्त्र था।" यूनानियो का नगर-राज्य केवल नागरिको का एक निर्जीव समूह न होकर एक वैधानिक एव नैतिक प्रकार की सस्था थी।

(8) राज्य के विविध कार्य—यूनानी नगर-राज्यो की एक बड़ी विशेषता यह थी कि राज्य राजनीतिक, नैतिक और शैक्षणिक तीनो प्रकार के कार्य करते थे। राज्य समस्त राजनीतिक गतिविधियो, नैतिक जीवन और शिक्षा की ओर ध्यान देता था। वह एक राजनीतिक सस्था होने के साथ-साथ एक शैक्षणिक और नैतिक सस्था भी थी।

(9) कानून और स्वतन्त्रता का सम्मान—प्राचीन यूनानी नगर-राज्यो मे नागरिको को विचार, भाषण और कार्य की स्वतन्त्रता थी। सभी नागरिक के सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करने के लिए स्वतन्त्र थे। वेपर के शब्दो मे, "अपने स्वय के विचारो पर सोचने का अधिकार, सार्वजनिक रूप से भाषण करने का अधिकार और दूसरो के कल्याण का ध्यान करते हुए अपने सद्विवेक के अनुसार कार्य करने का अधिकार यूनानियो के लिए समस्त अधिकारो में सर्वाधिक मूल्यवान थे।"[1] फिर भी गुलामो का एक बडा वर्ग इन अधिकारो से वचित था।

यूनानी लोग स्वतन्त्रता का उपभोग ही करना नही जानते थे वल्कि वे नगर-राज्य के कानूनो का वहुत सम्मान भी करते थे। उनका विश्वास था कि कानून किसी ईश्वरीय शक्ति द्वारा निर्मित होता है और उसे मानना मानवो का कर्त्तव्य है। प्लेटो जैसा आदर्शवादी भी नागरिको को कानून का दास समझता था। यूनानियो की यह धारणा थी कि कानून नागरिक के आदर का पात्र होना चाहिए चाहे वह उसे कभी-कभी नुकसान ही पहुँचाता हो। सेबाइन के शब्दो में, "स्वतन्त्रता और कानून का शासन श्रेष्ठ शासन के पूरक तत्त्व है—यूनानी विचार मे नगर-राज्य का यही रहस्य था। यूनानी इसे अपना एक ऐसा परमाधिकार मानता था जिससे शेष दुनिया के और लोग वंचित थे।" यूनानियो के कानून को इतना उच्च स्थान देने के दो कारण थे—एक तो वे कानून का स्रोत मानव-शक्ति के ऊपर समझते थे और दूसरे उनके यहाँ प्रत्येक कानून को पूर्ण तथा स्थाई समझा जाता था जिनमें जनता की इच्छा के अनुसार परिवर्तन नही हो सकता था। यूनानियो के अनुसार कानून नैतिकता पर आधारित था और कानून का मानना ही स्वतन्त्रता थी।

1 *Wayper, C. L* Political Thought

(10) **न्यायिक धारणा**—यूनानी नगर-राज्यो में न्याय के प्रति लोगो में पर्याप्त सम्मान था। वे नेक चरित्र को व्यवहार में प्रकट करने को न्याय समझते थे। प्लेटो उस राज्य को आदरणीय मानता है जिसमे न्याय प्रतिस्थापित हो। उसके अनुसार, "*आत्मा का नेक होना न्याय था तथा आत्मा का दूषित होना अन्याय।*"[1] यूनानी नगर-राज्य न्याय भावना से ओत-प्रोत थे।

(11) **अन्तर्राज्यीय संघर्ष**—यूनानी नगर-राज्य प्रायः अपनी हित-साधना में लीन रहते थे, साथ ही इन विभिन्न राज्यो के राजनीतिक आदर्श परस्पर विरोधी थे। उनमें परस्पर ताल-मेल बैठाना बडा कठिन कार्य था। कही एक स्वार्थपूर्ण वर्गशाही (Oligarchy) थी तो कही जनतन्त्रवाद। राजनीतिक आदर्शों के परस्पर विरोध के कारण राज्यो में एकता और मित्रता के बीज वहाँ जम नही पाते थे। उनमे समय पर युद्ध होते रहते थे।

(12) **आन्तरिक सघर्ष और वैषम्य**—यूनानी नगर राज्यो के भीतर भी जनतन्त्री और वर्गतन्त्री गुटो मे सघर्ष और विषमता ने अपना प्रभाव जमा रखा था। दूसरे राज्य मे मित्र गुटो की सहायता से शक्ति-सतुलन कभी एक गुट के पक्ष में हो जाता था तो कभी दूसरे के/परिणामस्वरूप यूनानी नगर-राज्य राजनीतिक अस्थिरता और अनिश्चितता के शिकार बने रहते थे।

---

1 "Justice was the virtue of soul and injustice its vice." —*Plato*

प्लेटो से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन : सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स तथा साइरेनेइक्स

(Political Thought Before Plato : Sophists, Socrates, Cynics and Cyranaics)

यूनान के आरम्भिक चिन्तन की सहज प्रवृत्ति यह थी कि वहाँ राज्य की व्यवस्था तथा उसके द्वारा लागू किया जाने वाले नियमो को बिना शका अथवा विवाद के स्वीकार कर लिया जाता था। लोग पुरानी प्रथाओ और परिपाटियो के उपासक थे। मानव-जीवन का सब कुछ नियति द्वारा परिचालित होता था और एक अटल व्यवस्था का भाव प्रबल या।[1] लेकिन इसके बावजूद भी इतिहास की गति धीरे-धीरे यूनानी व्यवस्था की स्थिरता को नष्ट करती जा रही थी। कालान्तर मे लोग प्रथाओ के पुराने परिधान से मुक्त होते जा रहे थे और नगर राज्यो की परम्परागत स्थिरता भग होती जा रही थी। पाँचवी शताब्दी ईसा से पूर्व के आते-आते इतिहास की यह गति और भी अधिक तीव्र हो गई। फारस के युद्धो के पश्चात् अपनी सफलताओ पर गर्व करते हुए वहाँ के लोग नए-नए क्षेत्रो मे आगे बढने लगे। वे सम्पूर्ण ज्ञान को अपना विषय-क्षेत्र समझने लगे और उनका अध्ययन व्यापक से व्यापकतर बनता गया। यूनानी प्रायद्वीप मे यह जागरण सबसे अधिक एन्थेन्स मे फैला। एन्थेन्स का यह जागरण एलिजाबेथ-कालीन इग्लैण्ड के जागरण के सदृश था और अन्य स्थानो की तुलना मे वह एथेन्स मे सबसे अधिक सजीव रूप से अभिव्यक्त हुआ। स्वातन्त्र्य-युद्ध के तुरन्त बाद राजनीतिक परिवर्तन हुए और सभा तथा न्यायालयो के रूप मे लोगो को परिचर्या के लिए खुला क्षेत्र मिला। ऐसी स्थिति मे सोचने-विचारने की योग्यता और विचारो को अभिव्यक्त करने की क्षमता का व्यावहारिक महत्त्व बढने लगा। इसके साथ ही ऐसे पुरुषो का सम्मान भी बढने लगा जो तर्कशक्ति, वाद-विवाद, निर्वाचन लडने और शासन-प्रबन्ध करने मे अधिक कुशल थे। राजनीतिक महत्त्वाकाँक्षाएँ रखने वाले धनिक लोग इन गुणो में दक्षता प्राप्त करने के लिए उत्सुकता से आगे आए। इस माँग को पूरा करना सोफिस्ट शिक्षको का काम था। ये लोग यूनान के अशान्त और चिन्तनोत्पादक वातावरण मे उन्हे समयानुकूल शिक्षा देने का दावा करते थे। इन्होने एथेन्स को अपना रंग-स्थल चुना।

वास्तव मे सोफिस्ट ही वे पहले विचारक थे जिन्होने एथेन्स मे राजनीतिक विचार तथा वाद-विवाद के युग का समारम्भ किया। सोफिस्टो से पूर्व भी थैल्स, एनैक्समीडर, एनैक्समिनीज, पायेनाइस, जीनो, हिरेक्लिटस, ल्यूसियस, एनैक्सेगोरस आदि कितने ही विचारक यूनान मे उत्पन्न हो चुके थे और इन्होने यूनानी चिन्तन को प्रभावित भी किया था। यद्यपि यूनान मे एक क्रमबद्ध और विधिवत् राजनीतिक चिन्तन की उद्भावना तो प्लेटो और अरस्तू के लेखन के साथ ही आरम्भ होती है, किन्तु उनके विचारों की पृष्ठभूमि सोफिस्टो द्वारा पहले से ही तैयार कर दी गई थी। यही कारण है कि प्लेटो और अरस्तू के विचारो को भली-भाँति समझने के लिए सोफिस्ट विचारधारा अथवा सोफिस्ट शिक्षको की शिक्षा का मर्म समझना एक अनिवार्यता है।

1 *Barker* op cit, p. 85

सेबाइन के अनुसार, "सोफिस्ट भ्रमणशील शिक्षक थे । ये पारिश्रमिक लेकर शिक्षा प्रदान करते थे । उनका जीवन इसी पारिश्रमिक के सहारे चलता था ।"[1] राजनीतिक दर्शन के इतिहासकारो के मतानुसार यूनान मे सोफिस्टो का प्रादुर्भाव ईसा से पाँचवी शताब्दी पूर्व हुआ था । सोफिस्ट यूनान के नगर निवासी नही बल्कि विदेशी नागरिक थे । इन्हे उस समय मेटिक्स (Matics) कहा जाता था । ये शिक्षको के रूप मे एथेन्स मे बाहर से आए । वहाँ कुछ समय के लिए ठहरे और उन्होने उन्ही लोगो को शिक्षित किया जिन्होने उनसे शिक्षा प्राप्त करनी चाही । सोफिस्ट्स एथेन्स मे क्यो आए और उन्होने यूनानियो को क्या शिक्षा दी, इन प्रश्नो का सारपूर्ण उत्तर हमे विल ड्यूरां (Will Durant) के इन शब्दो मे मिलता है—

"सभाओ मे होने वाले वाद-विवाद, जन-न्यायालयो मे चलने वाले मुकदमे, विचारो पर युक्ति का रंग चढ़ाने तथा एक स्पष्ट और विश्वासोत्पादक भाषा मे बोलने की शक्ति की बढती हुई आवश्यकता, एक साम्राज्यवादी समाज की उत्सुकता तथा धन इन सभी बातो ने एक ऐसी स्थिति की माँग को जन्म दिया जो एथेन्स ने पैरीक्लीज से पहले कभी नही देखी थी । यह माँग थी—औपचारिक उच्च शिक्षा, व्याख्यान शक्ति, विज्ञान दर्शन तथा राजनीतिज्ञता ।"

प्राचीन यूनान के ये सोफिस्ट विचारक वर्तमानकालीन विश्वविद्यालयो के प्रोफेसरो के समान थे । यूनान का जन-साधारण ज्ञान-प्राप्ति हेतु इनके पास जाता था । प्रोटेगोरस (Protagorus) नामक एक सोफिस्ट ने तो स्वय अपने आपको एक ज्ञान-शिक्षक (Sophistai) बतलाया भी है । सोफिस्टो का ध्येय बौद्धिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था । वे लोगो को अपने उद्देश्यो मे सफलता-प्राप्ति से लिए व्यावहारिक साधन अथवा तकनीके बतलाया करते थे । उद्देश्य के औचित्य अथवा अनौचित्य से उन्हे कोई लेना-देना नही था ।

सोफिस्टों के सामान्य लक्षण
(General Characteristics of the Sophists)

सोफिस्टो का कार्य व्यापक और सामान्य था । इन्होने पाँचवी शताब्दी के अन्तिम दौर मे एथेन्स मे शिक्षक बनने का प्रयास किया था । इनमे से कुछ वैयाकरण थे । उन्होने भाषा की उत्पत्ति क आधारभूत प्रश्न उठाया कि उसका निर्माण मनुष्य ने किया है या वह प्रकृति-जन्य है । कुछ तार्किक थे । वे 'अभिन्न' और 'भिन्न' जैसी सकल्पनाओ पर विचार करने के लिए अथवा प्रकथन (Predication) के स्वरूप पर तर्क-वितर्क करने के लिए उत्सुक थे । उनमे से अधिकाँश (विशेष रूप से गॉर्जियाज) भाषण-शास्त्री थे क्योकि तरुण राजनीति के लिए भाषण-कला मे पटु होना एक आवश्यकता थी । नीति तथा राजनीति के बारे मे इनमे से अधिकाँश के विचार थे क्योकि इन विषयो मे जनसाधारण की रुचि थी । इनके विचारो मे भी बडी विविधता थी । कुछ लोग सुखवाद (Hedonism) के समर्थक थे और कुछ परम्परागत नैतिकता के । कुछ सोफिस्टो ने अत्याचारी शासनतन्त्रो का समर्थन किया और कुछ ने विधि-शासन को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया । वास्तव मे सोफिस्ट बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । वे अपने समय के ऐतिहासिक कथाकार भी थे और थियोसोफिस्ट, सन्देहवादी और शरीर क्रियाविद् (Physiologists) भी ।[2] सोफिस्टो के विचार परस्पर मे विरोधी भी थे । वे सब स्वतन्त्र कार्यकर्त्ता थे, और उन्होने यूनानियो को आवश्यकतानुसार शिक्षित भी किया । व्यवसाय की दृष्टि से वे यूनान के पहले शिक्षक थे और उनकी शिक्षा का उद्देश्य राजनीति को व्यावहारिक सहायता देना था । सोफिस्टो के पास जाने का अर्थ था विश्वविद्यालय मे जाना । यह एक ऐसा विश्वविद्यालय था जो नागरिको को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करता था और चूँकि व्यावहारिक जीवन राजनीति का जीवन था, अत. वह उनके राजनीतिज्ञ बनने की तैयारियाँ करता था । सोफिस्टो को आधे पत्रकार और आधे

1 *Sabine* · A History of Political Theory (Hindi Trans), p 36
2 *Baker* op cit , p 89

आचार्य कहा गया है। वे आधे शिक्षक, आधे विचारक तथा आधे प्रचारक थे। वे कुछ ढोंगी थे और कुछ-कुछ तार्शकिक भी। सोफिस्टों के सामान्य लक्षणों को चित्रित करते हुए बार्कर ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

(1) सोफिस्टो का कोई एक सम्प्रदाय नही था और न ही उनके कोई निश्चित सिद्धान्त थे।

(2) सोफिस्टो की गतिविधियां किसी एक विषय तक सीमित न होकर अनेक विषयों में फैली हुई थी जिनके आचार्य और शिक्षक थे।

(3) सोफिस्ट न तो कुतर्की थे और न अच्छी बात को बुरी सिद्ध करने के ही फेर मे रहते थे। वे तो पेशेवर ज्ञान-व्यवसायी थे—ठीक वैसे ही जैसे कलाकार पेशेवर कला-व्यवसायी होता है परन्तु पेशेवर होने के बावजूद भी उन्हे वेतन मिलना आवश्यक नही था। प्लेटो और अरस्तू ने सोफिस्टो की आलोचना इसी कारण से की वे है कि वेतन भोगी थे, लेकिन यह निन्दा वास्तव मे चौथी शताब्दी के सोफिस्टो की है, पाँचवी शताब्दी के सोफिस्टो की नही। पाँचवी शताब्दी के सोफिस्ट वैसे तो वेतन-भोगी थे, पर वे अपने वेतन की राशि की सीमा निश्चित करने का कार्य बहुधा अपने शिष्यो पर छोड दिया करते थे। इसके अतिरिक्त यह भी सही है कि वे मानविकी विद्याओं (Humanities) की भी शिक्षा देते थे और यह कार्य (कम से कम मूलत) केवल वेतन के लिए ही करते थे।

(4) सोफिस्टो को सामान्य रूप से उग्र परिवर्तनवादी (Radicals) भी नहीं कहा जा सकता। उन्हे राजनीति मे भयकर समतावादी (Levellers) या नीतिशास्त्र मे नीत्शे के पूर्ववर्ती या धर्म मे वाल्टेयर की भाँति अनीश्वरवादी (Aquostics) कहना भी अनुचित होगा।

(5) सोफिस्टो ने आयोनियन दर्शन की निष्फलता को प्रमाणित करने का प्रयास किया। गॉर्जियाज और प्रोटेगोरस इस वर्ग का नेतृत्व करते थे। उन्होने भावात्मक रूप से मानवीय वस्तुओं के बारे मे जाँच-पडताल करने की कोशिश की। यूनान के समस्त विचारो की भाँति उनका उद्देश्य भी सही उद्देश्य–निष्ठ जीवन जीने मे व्यक्ति की व्यावहारिक सहायता करना था। वे व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की शिक्षा देते थे और राज्यो तथा परिवारों के सही प्रबन्ध की कला सिखाने का दावा करते थे। अन्याय (Lehre des Unrechts) और न्याय के आदर्शो (Lehre des Rechts) की विशद् विवेचन के लिए उनका साहित्य विशेष रूप से स्पष्ट है।

(6) सोफिस्टो मे अधिकांश विदेशी नागरिक थे जो मेटिको के रूप मे एथेन्स में रहा करते थे। उन्हे अन्याय मेटिको की भाँति काफी सीमा तक सामाजिक समानता तो मिल गई थी, लेकिन वे राजनीतिक विशेषाधिकारो से वचित थे। वे एथेन्स मे इसलिए आए थे कि वह उस युग में यूनान का बौद्धिक केन्द्र बन चुका था। एथेन्स मे जो शिष्य उन्हे मिले, वे अधिकतर धनाढ्य थे। एथेन्स की राजनीतिक परिस्थितियो तथा धनिको के प्रभाव ने इन सोफिस्टो की शिक्षा को विकृत कर दिया था। एथेन्स के धनिक वर्ग को लोकतन्त्रात्मक सस्थाओ से कोई विशेष सहानुभूति नही थी। ये धनी लोग ज्ञान तो प्राप्त करना चाहते थे पर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए। वे भाषण-कला इसीलिए सीखना चाहते थे कि लोक-न्यायालयो मे दोषारोपणो से अपने आपका बचाव कर सकें। वे व्यावहारिक योग्यता का अर्जन भी इसलिए करना चाहते थे जिससे कि चुनावो मे अपनी विजय सुनिश्चित कर सकें अत. स्वाभाविक था कि इन परिस्थितियो मे सोफिस्टो की शिक्षा उद्देश्य-भ्रष्ट हो गई। सोफिस्टो के शिष्यो मे से ही बहुत से अल्पतन्त्रो के नेता बने।

सोफिस्टों के सिद्धान्त और राजनीतिक विचार
(The Principles and Political Thought of the Sophists)

सोफिस्टो ने यूनान के राजनीतिक चिन्तन के विकास और वहाँ के इतिहास मे एक सक्रिय भूमिका अदा की। उन्होने उन प्रचलित सामाजिक एव नैतिक धारणाओं, परम्पराओ एव रूढियों की आलोचना तथा अवहेलना की जिन्हे तर्क-सम्मत नहीं ठहराया जा सकता था। जैसा कि विल-ड्यूरां

(Will Durant) ने लिखा है, "उन्होने यूरोप के लिए व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र का आविष्कार किया, उन्होने द्वन्दवाद (Dialectic) का विकास किया, विवाद अथवा बहस के बहुत से रूपो का विश्लेषण किया और लोगो को भ्रमात्मक बातो को पकडने और स्वय उनका प्रयोग करने की कला सिखलाई।" किन्तु यह सब होते हुए भी सोफिस्टो ने किसी क्रमबद्ध या सुशृंखलित विचारधारा को जन्म नही दिया। सेबाइन के अनुसार, "उनका अपना कोई दर्शन नही था। उन्होने वह शिक्षा दी जिसके लिए अमीर विद्यार्थी उन्हें पैसा देने के लिए तैयार थे।"[1] सोफिस्टो के अध्ययन के विषयो, सिद्धान्तो और उनकी अध्ययन विधियो मे भी परस्पर बडी भिन्नता थी पर इसके बावजूद उनमे कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियाँ भी थी जिनके आधार पर उनके प्रमुख सिद्धान्तो का निरूपण किया जा सकता है—

(1) मानवतावाद (Humanism)

सोफिस्टो का सबसे प्रमुख सिद्धान्त मानवतावाद था और यही उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन भी है। सभी सोफिस्ट मूलत. मानवतावादी थे। इस सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक गॉर्जियाज (Gorgias) था। उसने भौतिकवादी दार्शनिको के विचारो का खण्डन किया। भौतिकवादी दार्शनिक प्रकृति के अध्ययन पर बहुत बल देते थे और भौतिक जगत् को सचालित करने वाले नियमो एव उनके मूल तत्त्वो के अध्ययन मे सलग्न रहते थे। गॉर्जियाज ने प्रबल सन्देहवाद द्वारा भौतिकवादी दार्शनिको के सिद्धान्तो को चुनौती दी और कहा कि "इस विश्व मे किसी वस्तु की सत्ता नही है, यदि है तो इसे जाना नही जा सकता है और यदि जाना जा सकता है तो इसे दूसरे पर प्रकट नही किया जा सकता।" गॉर्जियाज ने भौतिकवादी दर्शन के अध्ययन को निरर्थक बतलाया और यह घोषणा की कि मनुष्य के अध्ययन के लिए सर्वोत्तम विषय स्वय मनुष्य ही है। उसने स्पष्ट किया कि मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रो और विषयो का चिन्तन किया जाना चाहिए। बार्कर ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "यदि उसने (गॉर्जियाज ने) अपने सन्देहवाद के कारण यह दावा किया कि इस जगत् मे कुछ भी सत्य नही है तो उसका तात्पर्य केवल यही था कि आयोनियन दार्शनिको द्वारा वर्णित सत्य की कोई सत्ता नही है। उनका यह अभिप्राय नही था कि किसी नैतिक सत्य का अस्तित्व नही है या केवल शक्ति ही जगत् मे एकमात्र न्यायोचित तत्त्व है।"

(2) सशयवादी दृष्टिकोण एव सत्य की सापेक्षता (Sceptical Attitude and Relativity of Truth)

सोफिस्टो का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त सत्य की सापेक्षता का सिद्धान्त है जो सत्य के प्रति सशयवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। उनका कहना था कि निरपेक्ष या परम सत्य (Absolute Truth) जैसी कोई चीज ससार मे नही है। सत्य का अन्तिम और पूर्ण रूप नही जाना जा सकता। ऐसे कोई सिद्धान्त, कोई धारणा, कोई विचार या कोई नियम इस विश्व मे नही हो सकते या बनाए जा सकते जो हर देश, काल और स्थिति मे सर्वमान्य हो। सोफिस्टो का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी दृष्टि मे सत्य का अन्वेषण करता है। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटेगोरस (Protagorus) ने इसी तथ्य को दूसरे रूप मे इस प्रकार प्रकट किया था कि "मनुष्य सभी वस्तुओ का मापदण्ड स्वय है—उन सभी वस्तुओ का जो विद्यमान है तथा जो विद्यमान नही है।" यह मत किसी भी सत्य को अन्तिम सत्य नही मानता।

सोफिस्टो के इस सशयवाद (Scepticism) ने प्रकृति के उस बौद्धिक चरित्र को चुनौती दी जो आरम्भिक यूनानी विचारधारा का आधार थे। गॉर्जियाज (Gorgias) जैसे कुछ सोफिस्टो ने तो इस संशयवाद को ऐसे सांगोपांग ढग से विकसित किया है कि उसने यूनानी जीवन के सभी परम्परागत विश्वासो और धारणाओ को हिला दिया। सोफिस्टो के इस सशयवाद ने राज्य के स्वरूप, कानून के

1 *Sabine* · op cit, p. 26.

स्रोत एव स्वरूप और उसकी मान्यता आदि के बारे मे प्रचलित प्राचीन परम्परागत धारणाओ मे उथल-पुथल मचा दी। सोफिस्टो से पहले यह एक सामान्य धारणा थी कि "राज्य एक कृत्रिम वस्तु है, इसे मनुष्य ने प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध एक लक्ष्य की पूर्ति हेतु बनाया है और इसीलिए भिन्न-भिन्न राज्यों के कानून भिन्न-भिन्न होते है। एक राज्य एक कार्य का निषेध करता है और दूसरा उसी को करने का आदेश देता है। ऐसे कानूनो को न तो देवाज्ञा माना जा सकता है और न ही किसी निरपेक्ष न्याय सिद्धान्त की अभिव्यजना। ऐसे कानून केवल वे रीति-रिवाज हैं जिन्हे अपनी विशिष्ट आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्यो द्वारा बनाया गया है।" "सोफिस्टो ने, नागरिको को राज्य के कानून और परम्परागत नैतिकता मे प्राकृतिक और सार्वदेशिक सत्य की अभिव्यजना देखने के स्थान पर उन प्रत्यादेशो को खोजना सिखलाया जिनका मूल उन व्यक्तियो की स्वार्थपरता थी जिन्होने उन्हे बनाया एव लागू किया।"

सोफिस्टो की उपर्युक्त विचारधारा मे व्यक्तिवाद (Individualism) के दर्शन होते हैं। प्रोटोगोरस के ये शब्द—"मनुष्य समस्त वस्तुओ का मापदण्ड स्वयं है" एक व्यक्तिवादी विचार का प्रतीक है। कुछ लोग यूनान मे व्यक्तिवादी विचारो की उत्पत्ति इन्ही सोफिस्ट दार्शनिको के प्रभाव मे मानते हैं। इन्ही विचारो ने आगे जाकर बैन्थम के उपयोगितावाद (Utilitarianism) को अनुप्राणित किया।

(3) कानून और न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त (Principles about Law and Justice)

सोफिस्टो का तीसरा सिद्धान्त कानून और न्याय के स्वरूप के सम्बन्ध मे था। उन्होने कानून और नैतिकता जैसे विषयो पर तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किए। वे कानून एव विधियो का जन्म-स्थान प्रकृति मे न मानकर राज्य की सत्ता मे मानते थे जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को अपनी बुद्धि के विरुद्ध कानून के साथ कार्य करना पडता है। अनेक सोफिस्टो ने तो 'राजा करे सो न्याय, पासा पडे सो दाव' के मत का प्रतिपादन किया और यह बतलाया कि सामर्थ्यवान् व्यक्ति और शक्तिवान व्यक्ति जो भी करे, वही उपयुक्त एव सही है। सोफिस्टो ने अपने सशक्त सशयवाद के कारण कानूनो के उद्गम और उनको मानने की पुरानी धारणाओ को झकझोर डाला। तथापि इस प्रश्न पर उनमे मतैक्य नही था कि राज्य-निर्मित कानूनो का प्रकृति द्वारा निर्मित नियमो के साथ क्या सम्बन्ध है और इस दृष्टि से किस कानून को न्यायोचित समझा जाना ठीक होगा।

कानूनो के सम्बन्ध मे प्रतिनिधि सोफिस्ट विद्वानो मे पाँच प्रकार के प्रमुख विचार पाए जाते थे—

1 **हिप्पियास (Hippias) का मत**—हिप्पियास ने जो कि दक्षिण यूनान के समुद्र तट पर स्थित एलिस नामक राज्य का एक धुरंधर विद्वान् था, बतलाया कि कानून दो प्रकार के होते है—(क) ईश्वरीय या देव निर्मित कानून तथा (ख) मनुष्य निर्मित कानून। ईश्वरीय कानून सार्वभौमिक, सार्वकालिक और स्वाभाविक होते हैं। इन्हे मनुष्यो ने मिलकर या सोच-समझ कर नही बनाया। ये ऐसे अलिखित कानून और ऐसी विधि स्वीकृत व्यवस्थाएँ है जिनका मानव-समाज मे आगमन देवताओ के माध्यम से हुआ। दूसरे प्रकार के कानूनो को समझाते हुए उसने कहा कि "ये कानून प्रत्येक राज्य मे मनुष्यो द्वारा बनाए जाते हैं और देव निर्मित कानूनो से निम्न-कोटि के होते है।" हिप्पियास ने राज्य के नियमो एवं प्रकृति के विरोध को बडे प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किया। उसका कहना था कि, "प्रकृति के अनुसार मैं तुमको अपना सगोत्रीय बन्धु, सम्बन्धी तथा सह-नागरिक मानता हूँ, परन्तु राज्य-नियमो के अनुसार नही। प्रकृति के अनुसार वस्तुएँ एक ही वश की होती हैं, किन्तु राज-नियम पाशविक बल के सहारे प्रकृति के विरुद्ध बलपूर्वक समस्त सज्ञाओ को एक-दूसरे से पृथक् करते है।"

(5) थ्रैसीमेकस (Thrasymachus) का मत–थ्रैसीमेकस ने वल को कानून और न्याय का आधार स्वीकार करते हुए बतलाया कि शक्ति ही सब अवस्थाओ मे न्यायोचित है। उसने प्राकृतिक अधिकारो (Natural Rights) के अस्तित्व को पूर्णत अस्वीकार किया। उसके अनुसार, वास्तविक अधिकार केवल वे ही हैं जिन्हे राज्य की सर्वोच्च शक्ति, अपने कल्याण हेतु क्रियान्वित करती है। सेवाइन के शब्दो मे, "थ्रैसीमेकस का यह कहना है कि न्याय शक्तिशाली का स्वार्थ है क्योंकि प्रत्येक राज्य मे शासक वर्ग केवल उन्ही कानूनो का निर्माण करता है जो उसके लिए सबसे अधिक हितकारी होते हैं।"

थ्रैसीमेकस अनुभववादी (Empiricist) था। सांसारिक अनुभव के आधार पर उसने यह मान्यता प्रकट की कि जो व्यवस्था शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा लागू करवा दी जाती है, वही आगे जाकर न्यायोचित अधिकार बन जाती है। उसका कहना था, "प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थो के अनुकूल कानून बनाती है। लोकतन्त्र लोकतन्त्रीय नियम बनाता है। निरकुश राजसत्ता निरंकुश कानून बनाती है। इस पद्धति से इन सरकारो द्वारा यह घोषित करवाया है कि जो बात उनके हितो के अनुकूल है, वह उनकी प्रजा के लिए न्यायोचित (Just) है। इस स्थिति से विपरीत जाने वाले को अवैधता का तथा अन्याय का दोषी होने के कारण दण्डित किया जाता है। मेरी कल्पना यह है कि उत्कृष्ट शक्ति सदैव सरकार के पक्ष मे होती है अत उचित तर्क से यही परिणाम निकलता है कि शक्तिशाली का हित ही न्यायोचित है।"[1]

सोफिस्टों का योगदान
(Contribution of the Sophists)

यह कहना कठिन है कि तत्कालीन यूनानी समाज ने सोफिस्टो के विचारो को कहाँ तक स्वीकार किया, किन्तु इतना सत्य अवश्य प्रतीत होता है कि उनके विचार पर्याप्त रूप से प्रभावशाली एव चिन्तन-योग्य थे। पाँचवी शताब्दी ई पू तक सोफिस्ट विचारको की इतनी धाक जम चुकी थी कि सामान्य जनता उससे सहमत होने लगी थी। मैकिलवैन ने इस सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण दिए है। उनके समकालीन इतिहासकार थ्यूसीडाइड्स ने अपने ग्रन्थ मे एथेन्स के राजदूतो के कथन को अग्रलिखित शब्दो मे प्रस्तुत किया है, "हमे और आपको वही करना चाहिए जो हम सोचते हैं और जो कुछ सम्भव हो उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि हम दोनो ही इन प्रश्नो को अच्छी तरह जानते है कि मानवीय विषय के विवाद मे न्याय का प्रश्न तभी उठता है जबकि आवश्यकता का दबाव बराबर बना रहता है। शक्तिशाली जो कुछ ले पाते है, ले लेते है और दुर्बल लोग वही देते हैं जो उन्हे बाध्य होकर देना पडता है।" इस प्रकार के विचार एकदम व्यावहारिक थे और इनके द्वारा सर्वसाधारण का प्रभावित होना बहुत स्वाभाविक भी था। मैकिलवैल ने इसके अतिरिक्त अरिस्टोफोनीज के क्लाउड्स (Clouds of Aristophanes) तथा जीनोफोन के मैमोरिविलिया (Xenophon of Memorevilea) मे इसी प्रकार के अनेक वाक्यांश उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए हैं। सोफिस्टों के सिद्धान्त इतिहास की परीक्षा मे भी काफी खरे सिद्ध हुए हैं। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का सार बहुत कुछ यही व्यक्तिवादी धारणा है।

सोफिस्टो ने अपने परवर्ती विचारको (सुकरात तथा प्लेटो) को चिन्तन का एक नया सन्दर्भ दिया। उनके प्रभाव के कारण ही यूनानी दर्शन वहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हुआ और उसने सांसारिक एव भौतिक समस्याओ से अपना ध्यान हटाकर उसे मानवीय समस्याओ की ओर अभिमुख कर दिया। मानवतावाद को प्रधानता देने के कारण ही सुकरात को सर्वश्रेष्ठ सोफिस्ट कहा जाता है। सुकरात समाज के रीति-रिवाजो और कानूनो की परवाह न करते हुए व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य का प्रबल पक्षपाती था और इस दृष्टि से वह भी सोफिस्ट था। प्लेटो भी सोफिस्टो का प्रशसक है। उसने अपने

[1] *Cornfield* · The Republic of Plato, p 18.

प्रोटेगोरस तथा जॉर्जियाज नामक दो सवाद विख्यात सोफिस्ट आचार्यों के नामो पर ही लिखे है, किन्तु सुकरात और प्लेटो ने स्वय को सोफिस्ट विचारधारा के प्रवाह मे आत्सात् होने से बचाया है। उन्होंने सोफिस्टो के अनेक विचारो का गम्भीर रूप से खण्डन किया है।

सोफिस्ट विचारको के योगदान को सक्षेप मे निम्नलिखित रूप से सकलित किया जा सकता है—

(1) सोफिस्ट विचारको ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओ को एक निश्चित रूप प्रदान किया और उन्हे अपनी सीमाओ के अन्तर्गत एक सुव्यवस्थित स्वरूप भी दिया।

(2) सोफिस्ट विचारको से पूर्व राजनीति का ज्ञान अत्यन्त अस्त-व्यस्त अवस्था मे था। उन्होने राजनीति शास्त्र का अध्ययन कर उसे व्यवस्था दी और साथ ही उसे व्यावहारिक शिक्षा का साधन भी बनाया। सिन क्लेयर (Sinclair) के शब्दो मे "सोफिस्ट शिक्षको मे से कुछ ने राजनीति-शास्त्र के विकास मे योग दिया।"[1]

(3) सोफिस्ट प्रथम विचारक थे जिन्होने व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को स्पष्टता एव सुनिश्चितता से प्रतिपादित किया। उन्होने कहा, "मनुष्य ही सब बातो का मापदण्ड है।" (Man is the measure of all things")

(4) सोफिस्ट विचारको की सबसे बडी देन उनका मानवतावादी (Humanism) सिद्धान्त है। "मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है" यूनान में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को जन्म देकर सोफिस्टो ने एक मूलक राजनीतिक विचार को चुनौती के रूप में प्रतिस्थापित किया।

(5) सोफिस्टो ने विचार जगत् का सशयवाद (Scepticism) की महत्त्वपूर्ण पद्धति प्रदान की। उनका कहना था कि पूर्ण सत्य जैसी कोई भी वस्तु इस ससार मे नही है। डैमलर के शब्दो मे—"वे अपने समय के ऐतिहासिक, रोमाँसकारी, आध्यात्मशास्त्री, सशयवादी तथा भाषाशास्त्री हैं।"

(6) सोफिस्ट पहले विचारक थे जिन्होने तर्क को प्रधानता दी। उनकी कसौटी तर्क थी। जो सिद्धान्त तर्क अथवा वाद-विवाद पर खरे उतरते थे, उन्हे ही वे मानते थे।

(7) सोफिस्ट पहले व्यक्ति थे जिन्होने एथेन्स मे नव-युवको को राजनीतिज्ञ बनाने का प्रशिक्षण (Training of Politicians) दिया। बार्कर के शब्दो मे—"महत्त्व इस बात का नही था कि सोफिस्टो ने क्या शिक्षा दी। महत्त्व इस बात का था कि उन्होने शिक्षा दी। उनके पास जाने का अर्थ था—विश्वविद्यालय मे जाना। यह विश्वविद्यालय ऐसा था, जो नवयुवको को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करता था, और क्योकि व्यावहारिक जीवन राजनीति का जीवन था, इसलिए वह उनके राजनीतिज्ञ बनने की तैयारी कराता था।"[2]

(8) गैटेल (Gettel) के मतानुसार, "सोफिस्टो ने न्याय तथा नैतिकता मे भेद (Difference between Law and Theory) किया। उन्होने बताया कि राजनीतिक सत्ता के स्वरूप के कारण कानून व्यक्तियो को प्राय ऐसे कार्यों को करने के लिए बाध्य करता है जो उनकी आत्मा के विरुद्ध होते है।"[3]

(9) सोफिस्टो ने प्रजातन्त्र (Democracy) के समर्थन मे जो विचार व्यक्त किए वे इतिहास की कसौटी पर खरे उतरते है। उन्होने 'व्यक्तिवाद' को मान्यता देते हुए प्रजातन्त्रीय सरकार को स्थाई रूप देने की चेष्टा की। गैटेल (Gettel) के शब्दो मे, "आधुनिक प्रजातन्त्रीय सरकार का सार (Essence of Democracy) सोफिस्टो की व्यक्तिवाद की धारणाओ मे मिलती है।"[4]

1 सिनक्लेयर वही, पृष्ठ 49.
2 *Barker* op cit, p 58.
3 *Gettle* History of Political Thought, p. 44.
4 Ibid, p. 44

(10) सोफिस्टो ने तीन आधुनिक समस्याओं का प्रमुख रूप से संकेत (Indication of Modern Problems) किया—(i) ज्ञान एव योग्यता के प्रसार से राज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (ii) विज्ञान का समाज से क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? एवं (iii) नवीन विशेषज्ञ वर्ग को समाज मे क्या स्थान मिलना चाहिए ? सोफिस्टो के इन प्रश्नो अथवा उनकी जिज्ञासाओ मे आधुनिक समस्याओं का संकेत मिलता है। सिनक्लेयर (Sinclair) के शब्दो मे "ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनसे आधुनिकता प्रतिनिधित्व होती है, और ये समस्याएँ आज के युग की समस्याएँ प्रतीत होती है।"[1]

सोफिस्टो ने यूनान को एक प्रबल बौद्धिक क्रान्ति दी। उनके संदेहवाद, बुद्धिवाद तथा सापेक्ष सत्यवाद ने प्रचलित धर्म, राज्य और नैतिकता के सिद्धान्तो की जड़ें हिला दी। जैलर (Zeller) के शब्दो मे, "इन्होने जितनी समस्याएँ सुलझाईं, उनसे अधिक समस्याएँ उत्पन्न भी की।" इस बौद्धिक मन्थन से यह आवश्यक हो गया था कि, "मानवीय सम्पत्तियो की अनिश्चितताओं से मुक्त ज्ञान के निश्चित प्रयोजन की सत्ता स्थापित की जाए तथा मनुष्य की अपनी प्रकृति मे ऐसे आदर्श ढूंढे जाएँ जो उसका पथ-प्रदर्शन कर सके।" आगे चलकर सुकरात और उसके शिष्यो ने यही महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया।

सुकरात
(Socrates, 470–399 B C.)

सोफिस्ट विचारक विदेशी थे और एथेन्स मे इसलिए बस गए थे कि एथेन्स उस समय के यूनान की राजधानी बन चुकी थी किन्तु सुकरात पूरी तरह से एथेन्स का जन्मजात नागरिक था। उसका जन्म 470 ईसा पूर्व के आसपास हुआ था और मृत्यु 399 ईसा पूर्व में। "इस प्रकार उसका यौवन तो पेरीक्लीज के महान् युग मे बीता और जीवन की सध्या पेलोपोनेशियाई युद्ध की छाया के बीच गुजरी।"[3] सुकरात ने अपने युग के साधारण नागरिक-कर्त्तव्यो को पूरी तरह निभाया। वह सशस्त्र पैदल सेना का सिपाही रहा और थ्रेस के युद्ध मे एथेन्स की ओर से भाग भी लिया। 424 ईसा पूर्व मे डेलियम की लडाई मे उसने पुन भाग लिया और वहाँ उसके धैर्य की प्रशसा हुई। लगभग 65 वर्ष की आयु मे वह एथेन्स की परिषद् अथवा कौंसिल का सदस्य बना। सुकरात ने नागरिक जीवन की मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नही किया। किन्तु अवैध आदेशो को मानने से वह कभी सहमत नही हुआ। बार्कर के शब्दो मे, "नागरिक कर्त्तव्यो का अडिग रूप से पालन और नागरिक विधि की सीमाएँ लाँघने की दृढतापूर्वक अस्वीकृति—ये दो ऐसी विशेषताएँ हैं जो एक एथेनी नागरिक के रूप मे सुकरात के जीवन मे विशेष रूप से दिखलाई देती है।" वास्तव मे सुकरात के व्यक्तित्व का रहस्य उसके दृढ आत्मविश्वास और चारित्रिक श्रेष्ठता मे था।

वह एक शिल्पी का पुत्र था, किन्तु उसने अपना सारा जीवन-दर्शन के अध्ययन मे लगाया। वह उन ऐतिहासिक महान् विभूतियो मे से एक है जिसके बारे मे भावी पीढियाँ बहुत कुछ जानते हुए भी प्रामाणिक रूप से बहुत कम ज्ञान रखती हैं। बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell) ने एक स्थान पर लिखा है कि "कुछ व्यक्तियो के विषय मे हम निश्चित रूप से बहुत अधिक जानते हैं किन्तु सुकरात के सम्बन्ध मे हमे यह निश्चय नही है कि हम अधिक जानते हैं या कम।"[4] इसका प्रमुख कारण यह है कि सुकरात के सम्बन्ध मे प्लेटो, जेनोफन तथा एरिस्टोफेन ने जो कुछ लिखा है अथवा जो शब्द-चित्र खींचे है, उनमे परस्पर तालमेल नहीं है। सभी शब्द-चित्र सुकरात के जीवन की कुछ निश्चित घटनाओं को एक क्रम मे बाँधने की विद्वानो ने बहुत कुछ सफल चेष्टा की है।

1 Ibid, p 44
2 सिनक्लेयर वही, पृष्ठ 49
3 *Barker* op cit, p 133.
4 *Bertrand Russell* History of Western Philosophy, p. 102.

सुकरात का व्यक्तित्व विलक्षण था और सरलता, प्रकृतिमत्ता तथा निरहंकारिता उसके महान् गुण थे । वह नम्रता, आत्मविश्वास और सहिष्णुता की साकार प्रतिमा था । कुशल व्यवहार बुद्धि के साथ-साथ उसमें विनोद की भी प्रवृत्ति थी । प्रारम्भ में अपने समय के भौतिक विज्ञान में उसकी दिलचस्पी रही, लेकिन आगे चलकर वह सत्यतर एवं गूढ़ जिज्ञासा के क्षेत्र में प्रवेश करता चला गया । सत्य ज्ञान की खोज में उसने अपना सम्पूर्ण जीवन एक साधक की तरह लगा दिया और जब कानून के विरुद्ध कार्य करने का अभियोग लगाकर एथेन्स ने उसे प्राणदण्ड की सजा दी तब भी वह अपने सत्य के सिद्धान्तों से विचलित नहीं हुआ । राजनीतिक शक्तियों का अनुशासन स्वीकार न करते हुए उसने विष-पान कर जीवन की बलि दे देना श्रेयस्कर समझा । जब उसके साथियों ने उसे कारागार से भागने के लिए कहा तो उसने गम्भीर शब्दों में उन्हें समझाया—"यह सच है कि कानून ने मुझे क्षति पहुँचाई है पर मैं केवल एक ही व्यक्ति हूँ और इसलिए अनुचित दण्ड का प्रभाव केवल मुझ पर ही पड रहा है यदि मैं कारागार से भागूँगा तो कानून और एथेन्स दोनों को क्षति पहुँचेगी । यह अक्षम्य अपराध होगा ।" सुकरात के आत्मत्याग और बलिदान ने यूनान के मस्तिष्क और हृदय पर एक गहरा असर डाला ।

सुकरात का जीवन-ध्येय और उसकी पद्धति
(Mission and Method of Socrates)

सुकरात जीवन भर सत्य, ज्ञान और न्याय का अन्वेषक बना रहा । वह एक असाधारण मानव था जिसे इस बात की चेतना थी कि उसे एक ईश्वरीय उद्देश्य की सिद्धि करनी है । अधिकारी विद्वानों के अनुसार सुकरात को इस उद्देश्य की चेतना 'डेल्फी की देववाणी' की उस घोषणा से मिली जिसमे कहा गया था कि वह यूनान का सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति है । डेल्फी की देववाणी[1] (Delpheoracle) के कारण सुकरात के जीवन और दृष्टिकोण में एक महान् परिवर्तन आया । वह नहीं समझ पाया कि वह यूनानियों में सर्वाधिक बुद्धिमान् किस प्रकार है अतः उसने उस देववाणी को परखने का प्रयास किया । "उसने लोगों से प्रश्न कर और प्रश्नों द्वारा उन्हें अपने से अधिक बुद्धिमान् सिद्ध कर देववाणी को मिथ्या प्रमाणित करना चाहा पर फल बिल्कुल उल्टा निकला । उसने देखा कि दूसरे लोग इतने नासमझ हैं कि किसी चीज के बारे में कुछ न जानने पर भी अपने को जानकार कहते हैं ।"[2] अतः सुकरात ने जीवन में सेवा व्रत ग्रहण कर लिया । उसके मन में यह विश्वास जम गया कि "डेल्फी के देवता ने मुझे इस संसार में किसी विशेष निमित्त के लिए भेजा है ।" उसने मिथ्या ज्ञान के विरुद्ध जिहाद बोल दिया और सच्चे ज्ञान के सचय एवं प्रचार में जुट गया ।

सुकरात के इस परिवर्तन को बार्कर ने सुकरात के 'धर्म-परिवर्तन' (Converson) की संज्ञा दी है । सत्य के अन्वेषण और अज्ञान का पर्दाफाश करने के अपने ध्येय की पूर्ति हेतु सुकरात ने एक विलक्षण पद्धति ग्रहण की । उसने न तो अपने विषय का गद्य या पद्य में विवेचन किया और न ही सोफिस्टों की तरह विषय-वस्तु की क्रमबद्ध वर्णनात्मकता स्वीकार की । इसके विपरीत उसने एक प्रश्नोत्तर की किसी संवाद-प्रणाली को अपनाया । वह किसी भी व्यक्ति से न्याय, सदाचार, भक्ति, साहस जैसे शब्दों का अर्थ पूछता था तब प्रश्नोत्तरों द्वारा वह उस व्यक्ति के विचारों की अस्पष्टताओं तथा असगतियों को ढूंढता था और अन्त में वह उस व्यक्ति को आश्वस्त कर देता था कि वह (व्यक्ति) अज्ञान को ज्ञान समझे हुए है । इस तरह के संवाद में पराजित और अपमानित होना लोगों को बड़ा अप्रिय लगता था । प्रश्नोत्तर और परिभाषाओं की उसकी यह पद्धति ज्ञान अर्जित करने की वास्तव में एक व्यावहारिक और नूतन पद्धति थी । उसने अपने श्रोताओं को कभी कुछ नवीन बातें सिखलाने का कोई दावा नहीं किया । इसके विपरीत वह तो यहाँ तक कहा करता था कि "वह एक बात जानता है कि वह

1 यूनानियों में यह रिवाज था कि किसी विख्यात मन्दिर की पुजारिन के माध्यम से अपने ऐच्छिक प्रश्न पूछते थे । इन प्रश्नों का उत्तर देववाणी (Oracle) कहलाता था ।

2 *Barker* : op. cit , p. 134

कुछ भी नही जानता ।" सुकरात का उद्देश्य तो नकारात्मक रूप से दूसरो के अज्ञान का भण्डाफोट करना और धनात्मक-रूप से उनके सत्य अनुसधान करने मे उनकी सहायता मात्र करना था । क्रासमैन के शब्दों में, "उसने अपने, श्रोताओं, को नवीन और रोचक विचार ही प्रदान नही किए बल्कि एक नर्स की भाँति उसने गर्भशील मस्तिष्क को नवीन सत्यो के प्रजनन मे भारी सहायता भी की ।"[1] सुकरात ने जो कुछ कहा उसे कभी लेखवद्ध नही किया । उसके ये विचार उसके समकालीनो मे एक परिसंवाद को जन्म देकर उसके शिष्यों के शब्दो मे ही सरक्षित रह सके ।

सुकरात का दर्शन
(Philosophy of Socrates)

ज्ञान सिद्धान्त (Principle of Knowledge)

यूयान मे व्याप्त असम्वद्ध विचारो को सुकरात ने एक सुनिश्चित दर्शन का स्वरूप दिया । दर्शन के अध्ययन मे उसने ज्ञान-प्राप्ति के सभी प्रचलित सिद्धान्तो को असन्तोषप्रद पाया । प्रचलित सिद्धान्तो द्वारा विविध विपयों का केवल वाह्य और यान्त्रिक ज्ञान ही मिलता था जवकि सुकरात मुख्य रूप से कारण और परिणामो के सम्वन्ध के ज्ञान का जिज्ञासु था । इसके लिए उसने जिस प्रकार प्रश्नोत्तर और परिभाषाओं की नई पद्धति अपनाई, उसी प्रकार एक नए सिद्धान्त को भी जन्म दिया । सुकरात का यह नया सिद्धान्त 'ज्ञान-द्वय का सिद्धान्त' (Doctrine of Two Knowledge) कहलाता है—पहला 'बाह्य ज्ञान' और दूसरा 'वास्तविक ज्ञान ।'

(1) बाह्य-ज्ञान (Apparent Knowledge)—बाह्य-ज्ञान दिखावटी तथा लोक-व्यवहार पर निर्भर करता है । इसकी अवधि अनिश्चित है । इस वाह्य ज्ञान को ही इन्द्रिय ज्ञान की भी सज्ञा दी जाती है । इन्द्रिय ज्ञान वह ज्ञान है जिसको मनुष्य इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करता है—जैसे कानो से सुनकर, आँखो से देखकर, नाक से सूँघकर तथा जिह्वा से चखकर इत्यादि । इन इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त किए हुए अनुभव के आधार पर मनुष्य जिस मत या विश्वास का निर्धारण करता है, वह ज्ञान प्रथम प्रकार के ज्ञान अर्थात् बाह्य ज्ञान अथवा अनुभव सिद्ध विश्वास के अन्तर्गत आता है । सुकरात का विचार था कि इस प्रकार के ज्ञान का कोई दृढ आधार नही है । उसमे परिवर्तन और अदल-वदल आते रहते हैं । यह ज्ञान नश्वर तथा परिवर्तनशील है क्योकि सभी भौतिक वस्तुएँ भी नश्वर एवं क्षण-भगुर हैं । वास्तव मे यह ज्ञान का एक आवरण मात्र है जो यथार्थ ज्ञान (Real Knowledge) नही हो सकता । सुकरात के इस विश्वास के विपरीत सोफ़िस्टो की दृष्टि केवल इन्द्रियो से अनुभूत होने वाले बाह्य जगत् तक ही सीमित थी और वे इसी को अन्तिम मानते थे ।

(2) वास्तविक-ज्ञान (True Knowledge)—वास्तविक ज्ञान कार्य-कारण के सम्बन्ध का ज्ञान है और इस पर मनुष्य का अधिकार स्थाई ज्ञान की सृष्टि करता है । सुकरात के अनुसार, "यह ज्ञान सार्वजनिक एवं सार्वकालिक है ।" सुकरात का मत था कि विश्व के समस्त भौतिक पदार्थों के पीछे एक और तत्त्व छिपा है । सभी भौतिक वस्तुएँ किसी न किसी ऐसे विचार या सत्ता का प्रतिनिधित्व करती हैं जो शाश्वत, अनश्वर तथा अटल है । इसी विचार या सत्ता का साक्षात्कार करना प्रत्येक मानव का चरम लक्ष्य हैं । इसी ज्ञान को सुकरात ने वास्तविक सत्य या यथार्थ ज्ञान के नाम से पुकारा है । यह ज्ञान अचल, अडिग एव अटल है । इसमे कोई परिवर्तन अथवा सशोधन नही हो सकता । यह एक निरपेक्ष तथा अमर सत्य है । वास्तविक अथवा सत्य ज्ञान सार्वभौम (Universal) तत्त्वो का ही होता है और इसलिए हमे केवल इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए । सुकरात की यह भी मान्यता थी कि एक व्यक्ति मे कितना ज्ञान है, यह इतने महत्त्व की वात नही है, जितने महत्त्व की वात

1 "He did not provide his bearers with new and interesting ideas, but like midwife assisted the pregnant mind to bring forth its own truths" —*Crossman* Plato Today, p 70

यह है कि उसने उस ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया है। वास्तव मे ज्ञान-प्राप्ति की कसौटी 'क्या' एवं 'कैसे' न होकर 'क्यो' का उत्तर ढूंढना है।

ज्ञान गुण है (Virtue is Knowledge)

सुकरात के दर्शन का दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह था कि ज्ञान और साधुता या गुण (Virtue) मे कोई अन्तर नही है। उसके अनुसार—"ज्ञान ही धर्म है और अज्ञान पाप।"[1] मनुष्य अज्ञानता के कारण ही अधर्म की ओर प्रवृत्त होता है। यदि उसे ज्ञान हो जाए तो वह पाप-कर्म नही करेगा। सुकरात ने सत्य ज्ञान को ही 'शिवम्' अथवा सद्गुण' ('Virtue' or 'Goodness') के नाम से पुकारा है। उसका कहना था कि केवल वही ज्ञान वास्तविक सत्य और चिरन्तन होगा जो सत्य की कसौटी पर खरा उतरे। जो सत्य इस प्रकार खरा उतरेगा, वह अवश्य ही कल्याणकारी होगा, क्योंकि सत्य कभी अकल्याणकारी हो ही नही सकता। इस प्रकार वास्तविक सत्य, वास्तविक गुणात्मकता का समानार्थी है, विपरीत-अर्थी नही। सुकरात कहा करता था कि सत्य बोलने का ज्ञान प्राप्त करते ही यदि हम उसे आचरण मे नही लाते तो हमे केवल भ्रान्ति है, वास्तविक ज्ञान नही। मनुष्य एक बुद्धिमान् प्राणी है। उसे बुद्धि से जो सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, उस पर उसे आचरण करना चाहिए। आचरण के बिना ज्ञान निरर्थक और निष्फल है। सुकरात के लिए ज्ञान एक बौद्धिक विश्वास-मात्र न होकर सम्पूर्ण हृदय और आत्मा की एक ऐसी अनुभूति थी जो आत्मा को आलोकित करता है। इस प्रकार एक मानववादी के रूप मे सुकरात ने नैतिकता के मार्ग को ज्ञान का विषय बनाया। नैतिक तत्त्व मनुष्य द्वारा खोजे जा सकते है और खोजे जाने चाहिए। सुकरात का जीवन और मौत स्वय इसके साक्षी है।

सुकरात के राजनीतिक विचार
(Political Views of Socrates)

सुकरात के राजनीतिक विचारो का जन्म उसके नैतिक तथा ज्ञान सम्बन्धी विचारो से हुआ। वह राजनीति को एक 'कला' मानता था। सोफिस्टो की भाँति कोई 'व्यवस्था' नही। उसका कहना था कि यह 'कला' इसलिए है कि इसमे एक ऐसी विशेष निपुणता की आवश्यकता पड़ती है जिसे प्रत्येक या साधारण व्यक्ति नही प्राप्त कर सकता। इस कला को केवल ज्ञानी व्यक्ति ही सीख सकता है और इसके आधार पर वही शासन कर सकता है। शासन करना इसलिए भी एक कला है चूँकि इसमे शासन करने वालो को राज्य मे स्थित सभी व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध रखना पडता है। उसे सबके साथ भलाई का व्यवहार करना पडता है जो सर्वसाधारण के लिए कठिन कार्य है। सुकरात के अनुसार राजनीति यदि कला है तो राजनीतिज्ञ एक कलाकार है और इसलिए वह राजनीतिक क्षेत्र मे क्षमता को प्राथमिकता प्रदान करता है। उसके अनुसार राजनीति विशेषज्ञो का क्षेत्र है जिसके निर्णय बहुसंख्यकों द्वारा करना एक भयानक भूल है।

सुकरात एथेन्स की राजनीति से बेहद क्षुब्ध था। उसे वहाँ की राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव था इसलिए उसने उस काल मे प्रचलित लोकतन्त्र (Democracy) की कटु आलोचना की है। सुकरात द्वारा एथीनियन जनतन्त्र की आलोचना निम्न प्रकार से की गई—

(i) तत्कालीन एथेन्स मे प्रशासनिक अधिकारियो, सेनापतियो तथा न्यायाधीशो के चुनाव लॉटरी या पर्ची डाल कर होते थे। इस व्यवस्था के फलस्वरूप अयोग्य और साधारण व्यक्ति भी राज्य के उच्चतम पदो पर पहुँच जाते थे। वे कभी भी राज्य के लिए सकट बन सकते थे अत सुकरात ने इस व्यवस्था अथवा प्रथा का विरोध करते हुए लोकतन्त्र की इस प्रणाली को सर्वथा अनुचित बतलाया।

(ii) तत्कालीन एथेन्स की असेम्बली मे जन-साधारण को भी वही स्थिति प्राप्त थी जो सार्वजनिक मामलो के विशेषज्ञ राजनीतिज्ञो को मिली हुई थी। दोनो को वोट डालने का समान

1 'Virtue is knowledge and ignorance is vice"

अधिकार था। गधे-घोडे को समानता का दर्जा देने की इस स्थिति को सुकरात अवाञ्छनीय और घातक मानता था। उसने इसका घोर विरोध किया।

(iii) सुकरात ने तत्कालीन लोकतन्त्र का इस दृष्टि से भी विरोध किया कि उसमे राजनीतिज्ञ न्याय सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा करते हुए सामान्य जनता को प्रसन्न करने के लिए सस्ते कामो मे लगे रहते थे जो आगे जाकर राज्य और समाज के पतन और विनाश का कारण बनता है।

(iv) सुकरात की यह मान्यता थी कि जब हम जूते की मरम्मत के लिए मोची और लकड़ी के सामान की मरम्मत के लिए बढई की आवश्यकता समझते हैं तो फिर राज्य का सचालन करने के लिए प्रशासनिक कला मे दक्ष व्यक्तियो को ही क्यो नही आमन्त्रित करते। सुकरात राजनीतिज्ञो के लिए दो गुण आवश्यक मानता था—(1) जन हितैषी होना, और (2) बुद्धिमान् होना। चूंकि तत्कालीन लोकतन्त्र मे इन दोनो गुणो की उपेक्षा थी, अत वह उस दलगत एव अज्ञानग्रस्त राजनीति का घोर विरोध करता था।

सुकरात वस्तुतः प्रजातन्त्र के स्थान पर बुद्धिमान्, कुलीन व्यक्तियो द्वारा राज्य को शासित करने वाली प्रणाली का समर्थक था। राजनीति को वह चिन्तन का विषय मानता था और शासन (Government or Administration) को केवल बुद्धिमान् व्यक्तियों का कार्य। साथ ही राज्य की सुरक्षा के लिए उसने लोकहित की अनिवार्यता पर भी पर्याप्त बल दिया।

सुकरात के कानून सम्बन्धी विचार

सुकरात ने कानूनो को अत्यधिक पवित्र एव महत्त्वपूर्ण माना। वह कानून को एक प्रकार का समझौता मानता था। उसका विचार था कि कानूनो में मानव-समाज की बौद्धिक अनुभूतियो की राशि सचित रहती है और उनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य होना चाहिए। कानून को तोडने वाला व्यक्ति उसके मत मे राज्य के विपरीत कार्य करने वाला व्यक्ति था। सुकरात से पहले यूनान मे जो सोफिस्ट विचारक थे, उनका कानूनो मे विश्वास नही था। वे कानूनो को काल्पनिक और अभौतिक मानते थे जो मानवीय आचरण के पथ-प्रदर्शन के लिए अधिक ठीक नही होते। सुकरात का निश्चित विचार था कि कानूनो की सचित राशि का अध्ययन करने के लिए कुछ ऐसे आचरण सम्बन्धी नियम बनाए जा सकते है जो सबके लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकें।

सुकरात ने राज्य के शासन के लिए कानूनो को प्रमुख स्थान दिया। वह कानूनो को ईश्वर के आदेश समझता था। उसकी दृष्टि मे कानून सर्वोच्च और सबके लिए मान्य थे। वह शासन एव शासित दोनो को कानूनो के अधीन मानता था। उसके मतानुसार दोनो के ही लिए कानूनो की परिधि मे कार्य करना आवश्यक था। उसका कहना था कि कानून नागरिको के कार्यो की सुविधा के लिए स्वीकृत समझौता है जिसके बाहर न तो वे कार्य ही कर सकते है और न उसके विपरीत जा सकते हैं। सुकरात को राज्य के तत्कालीन विधान के अनुसार जीवन-यापन करने मे अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पडे, किन्तु उसने एथेन्स के राजनियमो को भंग करने का कभी लेशमात्र भी विचार नही किया। सेबाइन (Sabine) ने लिखा है कि—"सुकरात का सारा जीवन राजनीतिक उद्देश्य तथा विधियो के अनुसार आचरण करने की एक सजीव कहानी है। उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य विधि-सम्मत आचरण और नागरिक कर्त्तव्यों का अक्षरशः पालन करना था।"

सुकरात सत्य की रक्षा के सभी कानूनो का प्रबल समर्थक था। जब एथेन्स मे तीस आतंकवादी राज्य कर रहे थे तो उसने उनकी आज्ञा का उल्लघन करते हुए एक नागरिक को बन्दी बनाने से से इसलिए इन्कार कर दिया चूंकि उसकी दृष्टि मे इस नागरिक की गिरफ्तारी अन्यायपूर्ण तथा अवैधानिक थी। सुकरात की राजभक्ति, न्यायप्रियता और कानून मे आस्था का उज्ज्वल प्रमाण उसके मृत्यु-दण्ड स्वीकार करने में मिलता है। उसकी इस प्रकार की मृत्यु के महत्त्व का वर्णन करते हुए,

जिसमे कानून के प्रति उसके विचारो और उसकी आस्था की स्पष्ट झलक मिलती है, बार्कर ने लिखा है—"वह मृत्यु-पर्यन्त एथेन्स का एक स्वामिभक्त पुत्र बना रहा। उसने उसकी सेना मे कार्य किया, कौंसिल का सदस्य रहा, उसके नियमो को ईश्वर के आदेशो की भाँति माना और सत्य के अतिरिक्त इन विचारो का कभी उल्लघन नहीं किया। उसने देश के नियमो को सम्मानित बनाए रखने के लिए बन्दी गृह से भागने मे इन्कार कर दिया, जबकि वह वहाँ से सरलता से भाग सकता था।"

कानून के अतिरिक्त अन्य किसी नियम को सुकरात ने प्राकृतिक नियम नही माना। सुकरात के राज्य एव कानून सम्बन्धी विचारो के सम्बन्ध मे हर्नशा (Hearnshaw) ने लिखा है, "अप्रत्यक्ष रूप से, और सोफिस्टो के सिद्धान्तो के विपरीत, उसने शिक्षा दी कि राज्य प्राकृतिक और अनिवार्य है। शक्ति शाश्वत् अविकार के अधीन है। समाज व्यक्ति के पहले है और सरकार अथवा शासन एक ऐसा उच्च सार्वजनिक कर्त्तव्य है जो राजनीतिक समाज मे सर्वाधिक बुद्धिमान् और सर्वोत्तम व्यक्ति की सेवाओं को निमन्त्रित करता है।"

सुकरात के मानव-प्रकृति सम्बन्धी विचार

मानव स्वभाव के विषय मे सुकरात का कहना था कि यह निश्चित है और इसके दो स्वरूप है—पहला स्वरूप कमजोर स्वरूप है और दूसरा शक्तिशाली। कमजोर पक्ष लोभी, स्वार्थी तथा कल्याणकारी होता है जो सकीर्ण प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इस पक्ष द्वारा मनुष्य का यह नैसर्गिक तथा अकृत्रिम रूप दिखाई देता है जो पशु की कोटि मे आ जाता है। यह पक्ष स्थायी नही होता। इसके अधीन मनुष्य अपनी दैहिक वासनाओं के वशीभूत होकर कार्य करता है। शक्तिशाली पक्ष या स्वरूप मनुष्य की कल्याणकारी प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करता है। यह पक्ष लोकहित या शिव (Goodness) का स्वरूप है जो स्थायी होता है। इसकी सहायता से ही मनुष्य सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मानव-प्रकृति सम्बन्धी इसी धारणा पर सुकरात के दार्शनिक विचार आधारित है। इसी को केन्द्र मानकर सुकरात ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बतलाया है।

सुकरात तथा सोफिस्ट : क्या सुकरात एक सोफिस्ट था ?
(Socrates and Sophists Was Socrates a Sophist ?)

सुकरात और जनतन्त्र

एथेन्सवासी सुकरात को भी एक सोफिस्ट ही समझते थे। 'सोफिस्ट' शब्द का जो आधुनिक एव शाब्दिक अर्थ प्रचलित है उसके अनुसार सुकरात को एक सोफिस्ट विचारक माना भी जा सकता है। उसमे लक्षण वाक्-चातुर्य था, अद्भुत तर्कनाशक्ति थी जिसमे एक प्रभावशाली शब्द-चमत्कार था। वह वाद-विवाद एव दृष्टान्त देने की कला मे पटु था तथा सोफिस्टो की भाँति ही मानव-प्रधान विषयो के अध्ययन मे रुचि रखता था। सोफिस्टो द्वारा प्रतिपादित मानवतावाद की नवीन विचारधारा सुकरात का बुद्धि-स्पर्श पाकर यूनान की दार्शनिक विचार-भूमि मे नए रूप से प्रस्फुटित हुई थी। मानवतावादी मूल्यो पर बल देने के कारण ही उसे सर्वश्रेष्ठ सोफिस्ट कहा गया है। वह समाज के रीति-रिवाजो और कानूनो की परवाह न करते हुए व्यक्ति को विचार-स्वतन्त्रता का अधिकार देने का प्रबल समर्थक था। वह नैतिकता को ही समाज का तत्त्व मानता था। उसने सामाजिक समस्याओं के अध्ययन एव प्रयोग मे स्वय तक को अर्पित कर दिया।

उपरोक्त सामान्य समानताओं के बावजूद सुकरात तथा सोफिस्टो के राजनीतिक विचारो मे आधारभूत और गम्भीर अन्तर मिलते है। सुकरात के चिन्तन का तो उद्देश्य ही सोफिस्ट विचार-पद्धति का खोखलापन सिद्ध करना था। उसे सोफिस्ट सिद्धान्तो का खण्डन करने मे एक बौद्धिक आनन्द मिलता था। सुकरात और सोफिस्ट विचारकों के चिन्तन मे पाए जाने वाले गम्भीर अन्तरो को सक्षेप मे निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सका है—

(1) सोफिस्टो ने प्रकृति एव परम्पराओं के आधार पर सामाजिक नियमो को महत्ता नही दी। उनके अनुसार मनुष्यकृत नियम, परिस्थिति और स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न होते है, किन्तु सुकरात उन्हे महत्त्वपूर्ण मानता है। उसने एथेन्स के कानूनो के प्रति पूर्ण निष्ठा बरती और उनके पालनार्थ मौत तक का भी सहर्ष आलिंगन किया।

सोफिस्टो की दृष्टि मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त तर्कपूर्ण एव उचित था किन्तु सुकरात को यह सिद्धान्त सर्वथा अबुद्धिवादी लगा। वह इस सिद्धान्त को नैतिक अराजकता उत्पन्न कराने वाला घातक सिद्धान्त मानता था।

(2) सुकरात एक वस्तु-प्रधान सद् (Good) और विश्व-व्यापी न्याय मे विश्वास रखता था जबकि सोफिस्ट इसे नकारते थे। सुकरात 'सत् और असत्' के निर्धारण की कसौटी को सामाजिक जीवन की स्थिरता के लिए एक आवश्यक तत्त्व मानता था। सोफिस्टो की तरह उसका यह विश्वास नही था कि सत्य के अन्तिम रूप को पहिचानना असम्भव है। सार्वभौम सत्य का अन्वेषण सुकरात के जीवन की सबसे बडी साध थी। उसने उग्रवादी सोफिस्टो के शून्यवादी आचार-शास्त्र को पूर्णत: निरस्त कर दिया। उसने शिक्षा दी कि सदाचार ज्ञान है और दुराचार अज्ञान। उसने सामान्य तथा वास्तविक ज्ञान मे भेद किया और इस तरह सोफिस्ट विचारकों मे अपने को एक पृथक् श्रेणी मे ला खडा किया।

(3) सोफिस्टो की भाँति सुकरात ने विश्व को यान्त्रिक नही बतलाया। उसने केवल इस तथ्य पर ही विचार नहीं किया कि ससार का मूल तत्त्व क्या है, बल्कि ससार मे उपलब्ध वस्तुओं के बनाने के कारणो पर तार्किक ढग से विचार किया। उसके चिन्तन का आधार वर्णनात्मक (Mechanical) न होकर लक्ष्यात्मक (Teleological) था। दर्शन के इतिहास मे सुकरात प्रथम चिन्तक था जिसने वस्तुओ के अन्तिम उद्देश्य और कारणो की खोज मे अपने को समर्पित किया।

(4) सोफिस्ट विचारक सुकरात की भाँति 'शुभ' (Goodness) को ज्ञान मानते हुए भी एक विशेष कला बतलाते थे, जिसे अन्य कलाओ की भाँति ही विशेष ज्ञान द्वारा सीखा जा सकता है। किन्तु सुकरात शुभ अथवा अच्छाई को एक सामान्य क्षमता मानता था जो विशिष्ट क्षमताओ के समुचित समन्वय एव सोद्देश्य सचालन मे परिलक्षित होती है।

(5) सोफिस्ट जो भी शिक्षा देते थे वह व्यावसायिक थी और प्राय अमीर लोग ही उससे शिक्षा प्राप्त करते थे। सुकरात गलियो और चौराहो का एक चलता-फिरता चिन्तक था जिसकी बात सुनने का इच्छुक हर अमीर व गरीब उससे मिलता और वाद-विवाद करता था।

(6) सोफिस्ट विचारक मूलत विदेशी थे। आधुनिक प्रोफेसरों की भाँति वे विभिन्न स्थानो से आकर एथेन्स मे बस गए थे किन्तु सुकरात एथेन्स का मूल निवासी था और वहाँ का एक नागरिक भी।

इस प्रकार सुकरात सोफिस्टो से भिन्न था। वह एथेन्स का एक ऐसा विद्वान् नागरिक था जिसने जनता के सामने सत्य के वास्तविक स्वरूपो को प्रकट करने की चेष्टा की। राज्य को प्रमुख स्थान देते हुए उसने सत्य की खोज मे अपने प्राणो की भी आहुति दी। विष के प्याले ने उसका अन्त नही किया, बल्कि उसके दर्शन को उसकी मृत्यु ने अमरता दी।

सिनिक्स तथा साइरेनेइक्स
(Cynics & Cyranaics)

सुकरात की शिक्षाओ, उसके जीवन और बलिदान से प्रभावित होकर यूनानी जीवन मे दो सम्प्रदायो का जन्म हुआ, जिनके नाम थे सिनिक्स (Cynics) तथा साइरेनेइक्स (Cyranaics)। सिनिक्स सम्प्रदाय का जन्मदाता एन्टीस्थेनीज (Antisthenes) और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय का प्रवर्तक एरिस्तिप्पस (Aristippus) था। ये दोनो ही सुकरात से अत्यधिक प्रभावित होने वाले अग्रणी विचारक थे।

यूनानी भाषा मे 'सिनिक' शब्द का अर्थ है 'कुत्ता'। यह नाम इस सम्प्रदाय के एक प्रमुख समर्थक डायोजीन्स को इसलिए दिया गया था चूंकि वह कुत्ते की भाँति सभी सामाजिक रूढियो तथा नियमो की घोर उपेक्षा किया करता था।[1] इस सम्प्रदाय के लगभग सभी समर्थक सामाजिक नियमो के विरोधी एव विद्रोही थे अत उनकी कुत्ते से तुलना की गई और यह पूरा सम्प्रदाय सिनिक्स के नाम से जाना जाने लगा। दूसरे सम्प्रदाय का जन्मदाता एरिस्तिप्पस अफ्रीका के उत्तरी समुद्र तट के पास स्थित साइरीनी (वर्तमान ट्रिपोली) नामक नगर का रहने वाला था। इस नगर के नाम के कारण उसके अनुयायियो को साइरेनेक्स कहा जाने लगा।

1 *Webb* A History of Political Philosophy, p 58–59.

सिनिक्स और साइरेनेइक्स, दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायी सुकरात के आत्मज्ञान के सिद्धान्त से बड़े प्रभावित थे। वे जीवन में आत्मा को ही सब-कुछ समझते थे। वे उग्र व्यक्तिवादी थे और किसी भी सामाजिक संस्था को उपयोगी नहीं मानते थे। वे राज्यसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे और न ही स्वयं को राज्य का नागरिक मानने में गौरवान्वित अनुभव करते थे। सारा विश्व उनका राज्य था और वे अपने को विश्व नागरिक बतलाते थे तथा परिवार, सम्पत्ति आदि संस्थाओं के भी विरोधी थे। उनका कहना था कि सारी बाह्य संस्थायें तथा सांसारिक वैभव ज्ञान की प्राप्ति में बाधक है। सद्गुण और ज्ञान दोनों आन्तरिक स्थितियाँ हैं, इन्हें प्राप्त करना व्यक्ति का जीवन-लक्ष्य होना चाहिए। सिनिक्स सम्प्रदाय का एक प्रबल समर्थक डायोजीन्स कहा करता था कि मुझे एन्टीस्थेन्स ने शिक्षा दी है कि, "इस विशाल संसार में केवल एक ही वस्तु मेरी है—और वह है मेरे अपने विचारों का स्वतन्त्र चिन्तन।"[1] सभी सिनिक दार्शनिक बड़ा सादा, कठोर और तपस्वी जीवन व्यतीत करते थे।

सिनिक दार्शनिकों ने राजनीतिक विचारों की दृष्टि से यूनानी जगत् में अनेक नए एवं क्रान्तिकारी विचारों को जन्म दिया, जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण इस प्रकार हैं—

(1) उन्होंने विश्व-नागरिकता (Cosmopolitanism) का विचार प्रतिपादित किया। इस सम्बन्ध में प्लूटार्क ने लिखा है, "सिकन्दर ने विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना करके राजनीतिक क्षेत्र में सिनिक लोगों के आदर्श को मूर्त रूप प्रदान करने की चेष्टा की थी।"

(2) उन्होंने सब मनुष्यों की समानता और बन्धुत्व में विश्वास प्रकट किया। जहाँ प्लेटो तथा अरस्तू और उनके पूर्वकालीन विचारक यूनानियों को अन्य जातियों से श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट मानते हैं वहाँ सिनिक लोगों का कहना था कि श्रेष्ठता का ठेका यूनानियों ने ही नहीं लिया है। सिनिकों की मानवतावादी समानता तथा विश्व-बन्धुत्व के इन विचारों ने आगे जाकर ईसाई धर्म एवं चर्च पर भारी प्रभाव डाला।

(3) इनका तीसरा प्रमुख विचार प्राकृतिक जीवन की ओर लौटने का था। वे 'सादा जीवन एवं पवित्र विचार' के पक्षपाती थे। बनावट एवं कृत्रिमता का विरोध करते हुए वे कहा करते थे कि मनुष्य पशुओं जैसा स्वाभाविक एवं अकृत्रिम जीवन जितना बिता सके उतना ही अच्छा है। 'प्रकृति की ओर लौटो (Back to Nature) यह उनका नारा था। अठारवीं शताब्दी में रूसो ने भी इसी प्राकृतिक दशा की ओर लौटने का संकेत देकर नैसर्गिक जीवन की दिव्यता एवं भव्यता को स्पृहणीय बतलाया।

(4) सिनिकों के विचार का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति था अतः उन्हें व्यक्तिवाद (Individualism) का प्रबल समर्थक कहा जा सकता है। वे व्यक्ति को अपने में पूर्ण मानते थे और मुक्ति के लिए आत्म-ज्ञान को महत्त्व देते थे। उनके अनुसार, "व्यक्ति की उन्नति के लिए राज्य की कोई आवश्यकता नहीं।"

(5) सिनिक विचारक विश्व-न्याय एवं विश्व-राज्य में विश्वास करते थे। डायोजीन्स विश्व-राज्य (World State) की महत्ता को मानता था। इसी कारण वह करता था कि, "राजा मर रहा है, मर चुका है, विश्व का नया राजा चिरजीवी हो (The king is dying, is dead, long live the new king of the world)।"

साइरेनिक्स का भी यह विचार था कि मनुष्य के उद्धार के लिए ज्ञान अपने-आप में पर्याप्त है। वे बौद्धिक आनन्दों की प्राप्ति पर विशेष बल देते थे। वे भी विश्व-नागरिकता के समर्थक थे और कृत्रिमता को दुःखों की जड़ मानते थे। कानून उनकी दृष्टि में प्राकृतिक न होकर परम्पराओं पर आधारित लोक नियम है जो कृत्रिम व्यवस्थाओं को जन्म देते है।

अन्त में सार रूप में यह कहा जा सकता है कि ये दोनों ही विचारधाराएँ व्यक्तिवादी थीं। दोनों के अनुसार सद्गुण ही ज्ञान है (Virtue is knowledge)। दोनों राज्यों को अनावश्यक मानते हुए विश्व-बन्धुत्व एवं मानव-धर्म की समानता को महत्त्व देते है और विश्व-नागरिकता को प्रबल बनाने के पक्ष में हैं।

---

1 *Barker* "That the only thing that was mine was the free exercise of my thoughts"

4 प्लेटो

(Plato 427-347 B C)

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र को विश्व की सभ्यताएँ हर युग में प्रभावित करती रही हैं। राज्य, समाज और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक चिन्तन के विशेष अंग हैं जो सुदूर अतीत से मानव-जीवन और उसके चिन्तन को प्रभावित करते रहे है। राज्य और विविध राजनीतिक संस्थानों के विभिन्न पक्षो तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों की मीमांसा राजनीतिक चिन्तन की अध्ययन-सामग्री है।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन को मोटे रूप में तीन युगों मे विभाजित किया जा सकता है— प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग। प्राचीन युग के अन्तर्गत 300 ईसा पूर्व तक के काल की गणना होती है। प्लेटो और अरस्तू इस युग के महान् यूनानी राजनीतिक चिन्तक थे। मध्य युग के अन्तर्गत 300 ईसा पूर्व से मोटे तौर पर 1500 ई का काल सम्मिलित किया जाता है। इस युग की सबसे प्रधान समस्या राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सम्बन्ध निर्धारण की थी। राजा और पोप का संघर्ष चला जिसमे अन्ततः पोप का पराभव हुआ। इस युग के प्रमुख विचारकों मे सन्त अम्ब्रोज, सन्त आगस्टाइन, सन्त टॉमस एक्वीनास, दाँते, मार्सिग्लियो ऑफ पेडुआ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्पश्चात् आधुनिक युग का सूत्रपात माना जाता है जिसका प्रथम विचारक मैकियावली था। उसे 'आधुनिक राजनीति का जनक' (Father of Modern Political Thought) कहा जाता है। मैकियावली ने अपनी कृतियो मे मध्ययुगीन विचारो पर तीक्ष्ण प्रहार किए तथा मध्ययुग की मान्यताओं और परम्पराओ का खण्डन कर राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि उसने राजनीति को धर्म और नैतिकता से पृथक् किया। मैकियावली के बाद बोदाँ, ग्रोशियस, हॉब्स, लॉक, रूसो, माण्टेस्क्यू, बर्क, बेंथम, जे. एस मिल, टी एच. ग्रीन, काँट, हीगल, कार्ल मार्क्स, लेनिन, गांधी, लॉस्की, कोल, रसेल आदि इस युग के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारक माने जाते हैं।

राजनीति के प्राचीन दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व हमे यूनानी राजनीतिक चिन्तन मे मिलता है। जिस प्रकार भारत मे वेदो को ज्ञान का मूल स्रोत माना गया है, उसी प्रकार पश्चिम मे यूनान को ज्ञान-विज्ञान का उद्गम-स्थल माना जाता है। जब बार्कर जैसा प्रकाण्ड विद्वान् यह लिखता है कि राजनीतिक चिन्तन का जन्म यूनान मे हुआ तो इसका अभिप्राय यही लिया जाना चाहिए कि यूनान मे ही क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का आविर्भाव हुआ, और यह सत्य भी है। अभी तक ज्ञात साहित्य मे यही प्रकट हुआ है कि यूनान मे पहले किसी भी देश मे राजनीतिक चिन्तन का क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विश्लेषण नही किया गया। इसके प्रमाण मे अनेक बातें कही जाती हैं, यथा राजनीति से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द और परिभाषाएँ यूनानी भाषा की है, यूनानियों ने कानून के स्वरूप पर नियमित चिन्तन आरम्भ किया, यूनानियों ने ही यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि व्यक्ति का अधिकतम विकास राज्य द्वारा ही सम्भव है, यूनानियो ने ही सर्वप्रथम शासन प्रणालियो का अन्वेषण और वर्गीकरण करके

मूल्यांकन किया, उन्होंने ही राज्य के स्वरूप, कार्यों और उद्देश्यों, अधिकारों आदि के बारे में मौलिक चिन्तन करके उनके वैज्ञानिक अध्ययन की शुरुआत की, महान् यूनानी विचारक प्लेटो ने अपने ग्रन्थों में राज्य के सम्बन्ध में अपने विचारों को लेखबद्ध करके संसार के समक्ष राजनीतिक चिन्तन का सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप उपस्थित किया, आदि।

यूनान में क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन के अभ्युदय के समर्थन में कतिपय प्रतिनिधि विद्वानों की उक्तियाँ पढ़ने योग्य है—

"यूरोपीय चिन्तन की विचारधाराओं और जीवन का ज्ञान प्राप्त करने की विधि को यूनानियों द्वारा आदि काल से ही स्थायी रूप में निर्मित किया गया है।"[1] (मेयर)

"राजनीतिक सम्बन्धों पर विचार-विमर्श की जो धारा यूरोपियन संसार और यूरोपियन संस्कृति से प्रभावित देशों में बह रही है, उसका आरम्भ यूनानियों से हुआ है।"[2] (मैक्लिवेन)

"यूनान ने ही राजनीतिक विचारों को सर्वप्रथम व्यवहार में लाने का प्रयास किया है और कुछ निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार राज्य की स्थापना करके उसके जीवन को उक्त सिद्धान्तों के अनुरूप व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया।"[3] (सिनक्लेयर)

"कभी-कभी यह कहा जाता है कि क्रमबद्ध एवं नियमित रूप में राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम ईसा के जन्म से पाँच शताब्दी पूर्व यूनानियों में हुआ। एक प्रकार से यह सत्य है। उस युग के पूर्व के जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, उनमें उन बातों का जिन्हें हम आज राजनीतिक सिद्धान्तों के महान् प्रश्न समझते हैं, स्पष्ट विवेचन नहीं है। अतः हम सामान्यतया यह मान लेते हैं कि प्राच्य लेखकों को राजनीतिक प्रश्नों पर व्यवस्थित ढंग से विचार करने की आदत नहीं थी।"[4] (कोकर)

प्लेटो : जीवन-परिचय
(*Plato : Life sketch*)

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् एवं मनीषी प्लेटो का जन्म ईसा से 427 वर्ष पूर्व एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था।[5] पाश्चात्य जगत् में सर्वप्रथम आदर्श राज्य (Utopia) की काल्पनिक योजना प्रस्तुत करने वाले इस विद्वान् दार्शनिक की माता का नाम परिक्टियनी और पिता का नाम एरिस्टोन था। उसके पिता एथेन्स के अन्तिम राजा कॉर्डस (Cordus) के वंशज थे जबकि उसकी माता सोलन (Solan) वंश में उत्पन्न हुई थी। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्लेटो सुकरात के चरणों में बैठकर आठ वर्ष तक उसका शिष्य रहा। बचपन से ही उसे संगीत एवं व्यायाम में रुचि थी। उसका पारिवारिक नाम अरिस्तोक्लीज (Aristoclese) था, किन्तु उसके सुडौल, सुन्दर और पुष्ट शरीर को देख कर उसके अध्यापक उसे 'Platon' कहा करते थे। युवावस्था में ही अरिस्तोक्लीज, जिसे उसके समकालीन उसके उपनाम प्लेटो से जानते है, क्रान्तिकारी विचारों से ओत-प्रोत था। वह समझता था कि उसका जन्म सक्रिय राजनीति के लिए ही हुआ है, किन्तु समय और परिस्थितियों ने उसे एक कुशल राजनीतिज्ञ के स्थान पर एक महान् राजनीतिक चिन्तक बना दिया।

एथेन्स की जनतन्त्रीय सरकार ने उसके शिक्षक सुकरात की हत्या की। इस दुर्घटना से प्लेटो को मार्मिक आघात पहुँचा। राजनीति-विज्ञान से प्रेम होने के कारण उसे सक्रिय राजनीति से घृणा हो गई। प्रजातन्त्र के तथाकथित प्रेमी एथेन्सवासियों ने सुकरात जैसी महान् आत्मा को केवल इसलिए विषपान के लिए बाध्य किया कि वह ज्ञान और न्याय के नए पथ ढूँढता रहता था। उस पर यह

1 *J P, Mayer* Political Thought—The Europeon Tradition, p 7
2 *H. C. McIlwain* · The Growth of Political Thought in the West, p 3.
3 टी. ए सिनक्लेयर · यूनानी राजनीतिक विचारधारा, पृ. 9
4 एफ डब्ल्यू. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 1
5 बार्कर आदि कुछ विद्वानों ने प्लेटो का जन्म 428 ई पू के लगभग माना है। देखिए बार्कर पूर्वोक्त, पृ. 167

427
81
346

अभियोग था कि उसने एथेन्स के नवयुवको को नया ज्ञान देकर उन्हे मार्गभ्रष्ट किया है। राजनीतिज्ञो के अपने क्षुद्र स्वार्थो के कारण इस देवतास्वरूप महान् विभूति की निर्मम हत्या को प्लेटो ने स्वय अपनी आँखो से देखा था। अत यह स्वाभाविक था कि प्रजातन्त्र एव सक्रिय राजनीति, दोनो से उसका विश्वास उठ गया।

सुकरात के प्राणदण्ड के बाद वह अपने कुछ मित्रो के साथ एथेन्स के निकटवर्ती नगर मेगरा (Megara) मे चला गया। इसके बाद उसके जीवन का बारह वर्ष का इतिहास अज्ञात-सा है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे एक अनुश्रुति है कि इस काल मे वह लगातार इटली, यूनान और मिस्र के विभिन्न नगरो मे घूमता रहा और यहाँ तक कि उसने गगा के तट तक भारत की यात्रा भी की।[1] इन बारह वर्षो मे प्लेटो ने देश-देशान्तरो मे विभिन्न मत-मतान्तरो का अध्ययन भी किया। एथेन्स वापस लौटने पर 386 ई पू. के लगभग उसने वहाँ अपना एक शिक्षणालय खोला। यही तो प्लेटो की वह सुप्रसिद्ध अकादमी (Academy) थी, जिसे यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त हुआ। अपनी आयु के चालीसवे वर्ष मे प्लेटो ने इस अकादमी की स्थापना की थी और उसकी आयु के अगले चालीस वर्ष यहाँ पर अध्ययन-अध्यापन कार्य मे व्यतीत हुए। यह विद्यापीठ 529ई में रोमन सम्राट् जस्टीनियम द्वारा बन्द कर दिए जाने तक लगभग 900 वर्ष तक ज्ञान के प्रसार का कार्य करता रहा। इसी के कारण एथेन्स समूचे यूनान का ही नही बल्कि सारे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन सका। इस अकादमी मे गणित-शास्त्र, खगोल-शास्त्र आदि भौतिक विज्ञानो की शिक्षा को विशेष प्रधानता दी जाती थी। कहा जाता है कि प्रवेश द्वार पर यह वाक्य अंकित था कि "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश पाने का अधिकार नही है।" किन्तु साथ ही यहाँ राजनीतिज्ञ, कानूनवेत्ता तथा दार्शनिक शासक बनने की शिक्षा भी दी जाती थी।

जब प्लेटो साठ से सत्तर वर्ष की अवस्था के बीच था तब वह अपने जीवन के आदर्शो को व्यवहार में लाने की दिशा में अग्रसर हुआ। उसने एक तीस वर्षीय तरुण शासक डायोनिसियस (Dionysius) द्वितीय के पथ-प्रदर्शन में अपने मित्र दियोन (Dion) की सहायता करने के लिए (Syracuse) की यात्रा की। दियोन की प्रेरणा से डायोनिसियस द्वितीय दार्शनिक शासक बनने के लिए तैयार हो गया। प्रारम्भ मे प्लेटो उक्त शासक को दार्शनिक बनाने की प्रक्रिया में कुछ सफल भी हुआ किन्तु अततः वह स्वेच्छाचारी शासक उसके परामर्श को स्वीकार करने तथा उचित रूप से अध्ययन कर राज-काज चलाने से मुकर गया। साथ ही कुछ चाटुकारो ने डायोनिसियस को दियोन के विरुद्ध भड़का दिया जिसका परिणाम यह निकला कि दियोन को निर्वासित कर दिया गया और उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। उसकी पत्नी का दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया गया। इन परिस्थितियो से निराश होकर प्लेटो ने एथेन्स लौटना ही श्रेयस्कर समझा। 361 ई. पू. डायोनिसियस ने प्लेटो को एक बार फिर सिराक्यूज आने का निमन्त्रण दिया और उसके उपदेशो पर चलने का आश्वासन भी। यद्यपि अपने पिछले कटु अनुभवो के कारण प्लेटो सिराक्यूज की तीसरी यात्रा करने को उत्सुक नहीं था, किन्तु तारेन्तम (Tarentum) के दार्शनिक शासक अर्खीतास (Archytas) की प्रेरणा से आखिर वह वहाँ चला ही गया। प्लेटो ने डायोनिसियस को दर्शन-शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयाँ बतलाई। साथ ही उसने उसे यह परामर्श भी दिया कि वह दियोन (Dion) के विरुद्ध किए गए अन्यायो का प्रतिकार करे। फलस्वरूप दोनो मे गम्भीर मतभेद एव व्यक्तिगत वैमनस्य उत्पन्न हो गया। प्लेटो की स्थिति एक प्रतिष्ठित वन्दी जैसी हो गई और अन्तत तारेन्तम के शासक की सहायता और सामयिक हस्तक्षेप के द्वारा वह किसी तरह सकुशल एथेन्स लौट सका। उक्त प्रयाग की असफलता ने प्लेटो की सम्पूर्ण आदर्शवादी विचार शृंखला को तोडकर रख दिया। वह व्यावहारिकता की ओर मुडा और अपने जीवन का शेष समय उसने अपने अन्तिम ग्रन्थ 'Laws' को लिखने मे व्यतीत किया।

1 *Will Durant* Story of Philosophy, p 20

81 वर्ष की आयु मे प्लेटो अपने किसी शिष्य के अनुरोध पर एक रात्रि विवाह-समारोह मे सम्मिलित हुआ। उसके शोरगुल से परेशान होकर वह विश्रामार्थ एक-दूसरे कमरे मे चला गया। प्रातःकाल जब वर ने गुरु से आशीर्वाद लेने के लिए उसके कमरे में प्रवेश किया तो प्लेटो चिर-निद्रा मे विलीन हो चुका था। वह "दार्शनिको का राजा और राजाओं को दार्शनिक बनाने वाला, मृत्यु की रिपब्लिक मे पहुँच चुका था।"

प्लेटो के ग्रन्थ
(Works of Plato)

प्लेटो के ग्रन्थो की सख्या 36 या 38 के आसपास मानी जाती है, किन्तु इनमे से प्रामाणिक ग्रन्थ केवल 28 हैं। उसके सभी प्रामाणिक ग्रन्थो का बर्नेट (Bernat) द्वारा सम्पादित एवं ऑक्सफोर्ड द्वारा प्रकाशित यूनानी संस्करण 2662 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इनमे से कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

1. The Republic (386 B C.)
2. The Statesman (360 B C).
3. The Laws (347 B. C.)
4. Apology.
5. Crito.
6. Charmides
7. Laches
8. Enthydemus
9. Protagoras.
10. Gorgias.

प्लेटो के सभी ग्रन्थ सम्वाद अथवा कथोपकथन (Dialogue) शैली मे हैं तथा सभी मे अन्तिम सिद्धान्त-पक्ष रखने वाला व्यक्ति सुकरात (Socrates) नामक एक पात्र है। प्लेटो ने इन गूढ़ दार्शनिक सम्वादो को इतने सजीव एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है कि इनके अनुशीलन में उपन्यासो जैसी रोचकता एव नाटको जैसी प्रभावशीलता अनुभव होती है।

प्लेटो ने अपने सम्वादो मे राजनीतिक-दर्शन से सम्बद्ध गूढ़ विषयो पर अपने विचार व्यक्त किए हैं लेकिन राज्यशास्त्र का विशद् विवेचन उसकी तीन कृतियो "रिपब्लिक, स्टेट्समैन और लॉज' मे अधिक गहन एव सुस्पष्ट है। उसके राजनीतिक सिद्धान्तो को इन तीन पुस्तको के आधार पर मूल्यांकित किया जा सकता है। इन तीनों ग्रन्थो के रचनाकाल की निश्चित तिथियो के बारे मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। जॉर्ज एच सेबाइन (G. H. Sabine) का अग्रलिखित उद्धरण इस सन्दर्भ मे दृष्टव्य है—

"प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक की रचना अपने विद्यालय की स्थापना के एक दशक की अवधि के अन्दर की थी। इस समय तक उसके विचार परिपक्व हो चुके थे, यद्यपि उसकी अवस्था परिपक्व नही थी। प्लेटो का विचार उसकी अपनी रिपब्लिक को एक समग्र-ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत करना था। रिपब्लिक के सर्वश्रेष्ठ आलोचको का भी यही विचार है, तथापि तथ्य यह है कि 'रिपब्लिक' की रचना कई चरणो मे हुई। शैलीगत आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम अध्यायो मे न्याय सम्बन्धी विवेचना प्रारम्भिक काल की रचना रही होगी। प्लेटो ने 'लॉज' (Laws) नामक ग्रन्थ की रचना वृद्धावस्था मे की थी। अनुश्रुति तो यहाँ तक कहती है कि जब 347 ई. पू मे प्लेटो की मृत्यु हुई, उस समय भी वह इसी ग्रन्थ के प्रणयन मे तल्लीन था। इस प्रकार, 'रिपब्लिक' और 'लॉज' के रचनाकाल मे तीस वर्ष या इससे भी अधिक समय का अन्तर लगता है। 'रिपब्लिक' मे हमें प्लेटो के अदम्य उत्साह के दर्शन होते हैं। इसी समय उसने अपने विद्यालय की स्थापना की थी और उसकी अवस्था भी अपेक्षाकृत कम रही होगी। 'लॉज' मे प्लेटो की निराशा अभिव्यक्त होती मिलती है। सिराक्यूज़ में मिली असफलता ने सम्भवत. उसे हतोत्साहित कर दिया था। 'स्टेट्समैन' की रचना उपर्युक्त दोनो के बीच में हुई है। सम्भवतः यह 'रिपब्लिक' की अपेक्षा 'लॉज' के रचनाकाल के अधिक निकट प्रणीत हुई होगी।"[1]

1 *Sabine, G H* · The History of Political Philosophy

प्लेटो की शैली तथा अध्ययन-पद्धति
(Plato's Style and Method)

प्लेटो की शैली सम्वाद अथवा वार्तालाप शैली है। वह घटनाओं के आधार पर सिद्धान्तो का नियमीकरण नही करता बल्कि किसी विचार-विशेष को लेकर उसका विश्लेषण एवं परीक्षण करता है और इस प्रकार के परीक्षण से प्राप्त विभिन्न विचारो की बार-बार परीक्षा करके अन्त मे सत्य की प्रतिस्थापना करता है। उसकी इस अध्ययन विधि को रचनात्मक पद्धति (Constructive Method) कहा जा सकता है जो बौद्धिक दृष्टि से सृजनात्मक थी। उसने पूर्णत. न तो आगमन-विधि (Inductive Method) या निगमन विधि (Deductive Method) को अपनाया और न ही अरस्तू की भाँति किसी वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) को कोई प्रश्रय दिया। प्लेटो की रचनाओं का स्पष्ट विधान आरम्भ से लेकर अन्त तक सम्वादो का है। व्याख्याता और शिक्षक होने के साथ ही प्लेटो एक महान् लेखक भी था अत: जब उसने कागज और कलम का सहारा लिया तो स्वभावतः उसने वही लेखन-शैली अपनायी जो अकादमी मे छात्रो के साथ वाद-प्रतिवाद की शैली के अनुरूप थी। एक सच्चे शिक्षक की भाँति प्लेटो की भी इच्छा थी कि लोग उसकी शिक्षा के आधार पर चिन्तन करना सीखे। लेखक होने के नाते प्लेटो का विचार था कि यदि पाठक लेखक के अपने मन की प्रक्रिया का अनुसरण करने लगें तो उनमे विचारो की ज्योति प्रखरता से जाग सकेगी।[1] प्लेटो के सम्वादो में सुकरात एक प्रमुख अधिवक्ता है जो स्वयं प्लेटो के विचारो को अभिव्यक्त करता है। अपने सम्वादो के पात्रो का चुनाव प्लेटो ने बहुत सोच-समझकर किया है। अपने पात्र विशेष के द्वारा वह केवल उन्ही विचारो की उद्घोषणा करता है जो वास्तव मे उस पात्र विशेष के माने जाते है। वस्तुत., प्लेटो ने अपना व्यक्तित्व अपने शिक्षक सुकरात मे इतना अधिक निमज्जित कर दिया है कि आज यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-कौन से विचार मूलत प्लेटो के हैं और कौन-कौन से सुकरात के।

प्लेटो ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि दृष्टान्तो से की है। उसने जिन दृष्टान्तो का प्रयोग किया उन्हे कहीं तो कलाओ से लिया है और कही प्रकृति से। उदाहरणार्थ राज-काल के मामलों मे ज्ञान और कौशल के महत्त्व को बतलाते हुए उसने डॉक्टरो और यान-सचालको की उपमाएँ दी है तो पुरुषो की भाँति स्त्रियो को भी सरक्षक के रूप मे कार्य करने के विचार के समर्थन मे वह कुत्तो का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। रखवाली करने वाले कुत्तो की तुलना कर प्लेटो इस निश्चय पर पहुँचता है कि पुरुषो की भाँति स्त्रियाँ भी सरक्षक होनी चाहिए। पशुओ मे जिस तरह प्रजनन होता है, उसी को अपनी युक्ति का आधार मानकर उसने विवाह के सम्बन्ध मे अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। प्लेटो की रचनाओ मे कलाओ के क्षेत्र के लिए वे उदाहरण प्रमुख रूप से मिलते है जिनका प्रयोग सुकरात किया करता था। जब सोफिस्टो ने चिकित्सा शास्त्र की भाँति राजनीति की शिक्षा को एक विषय बनाने का प्रयत्न किया, तब उन्होने राजनीति को एक कला माना था। सुकरात ने भी इसे ज्ञान के प्रति अपने आग्रह का आधार बनाया। प्लेटो ने भी इस विषय पर जो कुछ कहा है, उस सब पर राजनीति को कला मानने के विचार की छाप है। राजनीति को कला के रूप में ग्रहण करते हुए उसका आग्रह है कि अन्य कलाओ की भाँति इसमे भी ज्ञान की आवश्यकता है। प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की यह सम्भवतः सबसे बडी विशेषता है और 'रिपब्लिक' के मूल मे भी यही माँग निहित है कि अन्य सभी कलाकारो के समान राजमर्मज्ञ अथवा राजनेता को भी यह ज्ञान होना चाहिए कि वह जिस वस्तु की साधना कर रहा है वह क्या है? राजनीति की यह संकल्पना प्लेटो को और आगे ले जाती है। अपनी कला की साधना मे कलाकार को विधि-विधानो के बन्धनो से मुक्त होना

1 बार्कर: पूर्वोक्त, पृष्ठ 179

चाहिए—इस विचार को ग्रहण करते हुए प्लेटो की मान्यता है कि आदर्श स्थिति तो यह है कि राज-मर्मज्ञ विधि के नियन्त्रण से भी स्वतन्त्र हो। इसी आधार पर उसने निरपेक्ष शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और अन्त मे इसी सकल्पना के बल पर उसने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक शासक सामूहिक हित के निमित्त शासन करना चाहता है क्योकि प्रत्येक सच्चे कलाकार की यह कामना होती है कि अपनी कला की उन्नति के लिए वह अपने आपको समर्पित कर सके।

प्लेटो ने दृष्टान्त दिए हैं, पर चूँकि दृष्टान्तो का प्रयोग कठिन होता है और सामान्यत सतही दृष्टान्त देना सरल होता है, अत प्लेटो ने भी भूले की हैं। पशु-जगत् के जिन दृष्टान्तो का उपयोग उसने किया है उन्हे पूर्णत स्वीकार नही किया जा सकता। सच तो यह है कि इन दृष्टान्तो से कुछ अधिक सिद्ध नही होता। मनुष्य भावना-रूप है और एक भावनामय जीवन के लिए पशु-जगत् से ऐसे नियम ग्रहण नही किए जा सकते जो पाशविक हो। कलाओं के क्षेत्र से प्लेटो ने जो उपमायें और रूपक ग्रहण किए हैं उनके प्रयोग पर भी आक्षेप किए जा सकते है। आखिर एक राजनीतिज्ञ चिकित्सक की तरह नही होता। यदि कोई व्यक्ति अपना कार्य पाठ्य-पुस्तक के प्रतिबन्धो के बिना ही कर सकता है तो उसका यह अभिप्राय नही कि दूसरे को भी विधि-नियम के बिना ही कोई कार्य करना चाहिए। शरीर के उपचार मे जिन बातो की ओर ध्यान देना आवश्यक है, आत्मा के उपचार मे उनके अतिरिक्त और भी अनेक बातें देखनी पडती है।[1]

प्लेटो ने, जो एक उत्तम कवि, नाटककार और साहित्यकार भी था, अपने गूढ दार्शनिक सम्वादो को भी बहुत ही सजीव, रोचक, सरस और प्रभावशाली स्वरूप मे चित्रित किया है। प्लेटो की पद्धति के बारे मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वह कल्पनावादी दार्शनिक था। पाश्चात्य संसार के कल्पनावादियो मे उसका स्थान सम्भवत: प्रथम और सर्वोच्च है। इतिहास-सिद्ध वास्तविक राज्यों के वर्णन से उसका अधिक सम्बन्ध नही वरन् उसका अभीष्ठ तो एक 'आदर्श' की खोज है। प्लेटो का कल्पित आदर्श राज्य, राज्य का एक सम्पूर्ण और आदर्श चित्र है तथा तुलना और समालोचना के माध्यम से प्लेटो उसकी खोज करना चाहता हैं। 'रिपब्लिक', 'स्टेट्समैन' तथा 'लाज' के पात्र परस्पर में जो सम्वाद प्रस्तुत करते हैं उसका उद्देश्य है—आदर्श राज्य की खोज। प्लेटो एक ऐसे आदर्श नगर राज्य की वास्तविक प्रकृति का अन्वेषक है जिसका यथार्थ से बहुत कम सरोकार है। वह एक ऐसे ससार के चित्रण मे प्रयत्नशील लगता है जो मानव-जीवन के सच्चे एव स्थायी आदर्श सिद्धान्तो पर आधारित है। यह सब कुछ एक ऐसे कल्पनालोक का चित्र है जिसका इस दुनिया की यथार्थता से कोई निकट का सम्बन्ध नही है।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव
(Influence of Socrates on Plato)

प्लेटो पर अपने समकालीन विचारको का प्रभाव है जिनमे पाइथागोरस और सुकरात मुख्य है। प्लेटो सुकरात का तो वर्षों तक शिष्य रहा और शायद ही उसका कोई ऐसा विचार हो जिस पर उसके अपने शिक्षक का प्रभाव न हो। इसलिए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है, प्लेटो के दिल और दिमाग ने अपने शिक्षक के विचारो और भावो को पूर्ण रूप से आत्मसात् किया है। वास्तव मे प्लेटो की दृष्टि से अपने आचार्य की महती आकृति कभी ओझल नही हुई। सुकरात के जिन विचारो का उस पर अधिक गम्भीर रूप से प्रभाव पडा उनमे से कुछ का विवेचन यहाँ उपयुक्त होगा।

(i) सद्गुण और ज्ञान मे अभेदता—सुकरात सद्गुण (Virtue) एवं ज्ञान (Knowledge)—को अभिन्न मानता था। मेयर (Mayor) के शब्दो मे, "यदि हम ज्ञान तथा आचरण को एक ही मान सकें तो आचरण का एक स्थाई मापदण्ड बन सकता है। जिस ज्ञान का आचरण से कोई

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 181-82,

सम्बन्ध न हो और जो ज्ञान केवल ज्ञान के लिए ही अर्जित किया जाए, ऐसे ज्ञान का इस यूनानी दार्शनिक की दृष्टि मे कोई विशेष अर्थ नही था । ज्ञान केवल कुछ सूचनाओं का संकलन-मात्र नही है । व्यक्ति के चरित्र-निर्माण के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है । ज्ञान, बुद्धि के माध्यम से ही समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है । यह इच्छा-शक्ति और भावनाओ का निर्माण है । साहस, संयम, न्याय आदि सभी सद्गुणों (Virtues) की उत्पत्ति ज्ञान से ही होती है । साहसी व्यक्ति वही बन सकता है जो भय तथा निर्भीकता का ज्ञान रखता हो ।" प्लेटो ने सुकरात के इन्ही विचारों को स्वीकार किया ।

प्लेटो की 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय विचार यही है कि 'सद्गुण ही ज्ञान है' (Virtue is Knowledge) । इसका अभिप्राय यह है कि संसार मे कुछ सत्य वस्तु परक है और उनका ज्ञान प्राप्त हो सकता है । यह ज्ञान किसी आन्तरिक अनुभूति अथवा कल्पना मात्र से प्राप्त नही होता, प्रत्युत् बुद्धि-सगत् एव तर्क-संगत् अनुसन्धान से ही मिल सकता है । यही सत्य वास्तविक है चाहे इसके बारे में कोई व्यक्ति कुछ भी क्यो न सोचे । इसकी अनुभूति केवल इसलिए नही होनी चाहिए कि लोग इसे चाहते हैं बल्कि इसलिए कि वह एक अन्तिम एव ध्रुव सत्य है । दूसरे शब्दो मे यहाँ पर इच्छा गोण है । व्यक्ति क्या चाहते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे सत्य का कितना अंश देख पाते हैं लेकिन कोई वस्तु अथवा विचार केवल इसलिए ही सत्य नही हो सकता कि लोग उसे ऐसा चाहते या मानते हैं । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह आदमी जो ज्ञानी है, जिसका नाम दार्शनिक, विद्वान् या वैज्ञानिक कुछ भी हो सकता है उसे शासन में निर्णायक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए । उसका ज्ञान ही उसे इस शक्ति का अधिकारी बनाता है । 'रिपब्लिक' का यही मूल विचार है जो उसके प्रत्येक पक्ष पर छाया हुआ है ।

(ii) सद्गुण के स्वरूप—गुण या भलाई (Virtue) के स्वरूप के सम्बन्ध में भी प्लेटो सुकरात का ऋणी है । सद्गुण के लिए यूनानी शब्द 'अरेती' (Arete) है जिसका हिन्दी शब्दार्थ होगा—उत्कृष्टता । सुकरात की भाँति प्लेटो की भी यही मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु की भलाई या गुण इसी बात मे है कि उसमे वह गुण हो जिसकी सम्पूर्ति के लिए उसका जन्म हुआ है । चाकू का गुण काटना है । इसका अच्छा या बुरापन इस बात पर निर्भर करता है कि यह कितनी अच्छी या बुरी तरह काट सकता है । ठीक इसी प्रकार एक मनुष्य भी केवल अन्य मनुष्यो की तुलना में ही अच्छा या बुरा हो सकता है । उसकी यह अच्छाई अथवा बुराई दो प्रकार की होती है—एक अपनी वृत्ति तथा दूसरी उसके व्यवसाय सम्बन्धी । कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा चित्रकार, मूर्तिकार, डॉक्टर या वकील हो सकता है परन्तु वास्तव में मनुष्य वही अच्छा हो सकता है जिसमे दूसरे मनुष्य को अच्छा बनाने वाले गुण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हो । सुकरात की भाँति प्लेटो के मत मे भी अच्छे व्यक्ति मे अग्रलिखित चार गुणो का होना आवश्यक है—विवेक, साहस, संयम और न्याय । ये चारो ही गुण संयुक्त रूप से मानवीय गुण (Human Virtue) अथवा उत्कृष्टता (Goodness) का निर्माण करते हैं ।[1]

(iii) शासन-संचालन—प्लेटो ने सुकरात से यह विचार भी लिया कि शासन-संचालन डॉक्टरी अथवा नौका-संचालन की भाँति एक विशिष्ट कला है । शासन का ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञों को ही शासन-सचालन का अधिकार दिया जाना चाहिए । जैसे प्रत्येक व्यक्ति एक कुशल मूर्तिकार अथवा निपुण संगीतज्ञ नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति योग्य शासक भी नही बन सकता । शासक की उपमा डॉक्टर से देते हुए सुकरात ने कहा था, "जनता बीमार है, इसीलिए हमें अपने स्वामियों का इलाज कराना चाहिए ।"[2] प्लेटो ने भी यह स्वीकार किया है कि जनता बीमार रोगी के समान होती है और शासक एक सामाजिक डॉक्टर की तरह । जिस प्रकार डॉक्टर को मरीज ठीक करने के लिए

1 *E. M. Foster* · Masters of Political Thought, p 38.
2 *Barker* · Greek Political Theory, p. 140.

कड़वी दवाइयाँ देनी पड़ती हैं ठीक उसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर शासक को भी कठोर एवं निर्दयतापूर्ण कदम उठाने पड़ते है।

(iv) प्लेटो की दार्शनिक पद्धति का आधार सुकरात का सत्ता का सिद्धान्त है।[1] सुकरात के इस सिद्धान्त का अर्थ यह था कि यथार्थता (Reality) वस्तुओ के विचारो मे अन्तर्निहित होती है। वह पूर्ण स्थाई एव अपरिवर्तनशील-सत्ता है जो इन्द्रियो से अनुभव होने वाले पदार्थों के मूल मे निवास करती है। प्लेटो ने इस विचार को अपने राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र भी बनाया है।

इस तरह प्लेटो के दर्शन पर सुकरात का प्रभाव स्पष्ट है। सुकरात के विचारो को उसने बीज-रूप मे ग्रहण करते हुए अपने चिन्तन द्वारा उन्हे पुष्पित और पल्लवित करने की चेष्टा की है। बर्नेट के शब्दो में, "प्लेटो का दर्शन सुकरात के ज्ञान के जीवाणुओ का वह विकास है जो प्लेटोनिक निष्कर्षों के रूप मे 'रिपब्लिक' मे उद्भूत हुआ है।" दूसरे शब्दो मे मूल मान्यताएँ सुकराती हैं पर उनका तार्किक-निष्कर्ष प्लेटोवादी कहा जा सकता है। सुकरात को जनतन्त्र का विरोधी और शत्रु तक कहा जाता है चूँकि वह सत्य ज्ञान (True Knowledge) के शासन मे विश्वास करता था बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि यदि "सत्य ज्ञान के सिद्धान्त को तार्किक-दृष्टि से आगे ले जाते हुए व्यावहारिक राजनीति पर उसे लागू किया जाए तो उसका सहज परिणाम 'जाग्रत निरकुशता' (Enlightend Despotism) निकलेगा। प्लेटो ने यही प्रयास किया और फलत दार्शनिक राजा (Philosophic King) का जन्म हुआ और इस कारण प्लेटो को भी जनतन्त्र-विरोधी, अधिनायको का पितामह तथा पहला फासीवादी लेखक तक कहा जाता है।

रिपब्लिक : स्वरूप एव विषय-वस्तु
(The Republic : Nature and Subject-Matter)

विश्व के लगभग सभी विद्वान् 'रिपब्लिक' को प्लेटो की महानतम एव सर्वश्रेष्ठ कृति मानते है। इस ग्रन्थ मे प्लेटो का विचार एव व्यक्तित्व उसके अपने पूर्णतम एव सुन्दरतम स्वरूप मे प्रकट हुआ है। उसने लगभग चालीस वर्ष की अवस्था मे इस ग्रन्थ की रचना की थी। प्लेटो का यह ग्रन्थ विचारो की विचित्रता एव शैली की दृष्टि से भी अनुपम कृति है। प्लेटो की सम्पूर्ण रचनाओ का प्रामाणिक अग्रेजी अनुवाद करने वाले बैंजामिन जोवेट ने लिखा है कि "प्लेटो के अन्य ग्रन्थो मे अन्यत्र कही भी इससे अधिक तीखा व्यग, परिहास, परिकल्पनाएँ एवं नाटकीयता नही मिलती।" इस ग्रन्थ की सम्वादात्मक शैली मे जहाँ विचारो का स्थिर स्वरूप स्पष्ट हुआ है, वहाँ किस-किस प्रक्रिया के सहारे कौन-कौन से विचार उत्पन्न हुए है, इसकी भी अभिव्यजना देखी जा सकती है। सवाद-शैली के द्वारा प्लेटो ने अपने गूढ विचारो को शनै-शनै प्रकट करने मे एक विशेष सहजता एव कुशलता दिखलाई है।

रिपब्लिक मे प्लेटो के दार्शनिक विचारो की समग्रता के दर्शन होते है। इसमे अनेक विषयो का वर्णन है। "प्रारम्भिक और उच्च-शिक्षा का इसमे विशद विवेचन है। मानव के कर्मानुसार सामाजिक एव राजनीतिक स्थिति का भी इसमे उल्लेख है। इतिहास का दर्शन भी इसमे दिया गया है। राज्यो के उत्थान और पतन की चक्रात्मक व्याख्या द्वारा उनके पीछे वर्तमान आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणो की मीमासा भी मिलती है। इस ग्रन्थ मे शील की विशिष्टता बडी उत्कृष्ट शैली मे प्रतिपादित कर प्लेटो ने मानव-जीवन को एक उच्च धरातल पर ले जाने का प्रयास किया है। दार्शनिक तत्वो का पर्याप्त उहापोह भी इसमें दृष्टव्य है। इन सभी विषयो को एक सूत्र मे गठित एवं सयोजित करने वाली प्लेटो की 'रिपब्लिक' दर्शन की एक आध्यात्मिक कृति है।"

'रिपब्लिक' एक ऐसी पुस्तक है, जिसका वर्गीकरण नही किया जा सकता। वह आधुनिक सामाजिक-ज्ञान अथवा विज्ञान की किसी भी श्रेणी में नही आती। इस पुस्तक मे प्लेटो के दर्शन के

1. *Coker* Readings in Political Philosophy, p 1

विभिन्न पहलुओ पर विचार कर उन्हे विकसित किया गया है। इसकी विषय-वस्तु इतनी व्यापक है कि वह सम्पूर्ण मानव-जीवन का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करती है। 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय विषय अच्छे-मनुष्य और उसके अच्छे-जीवन की समस्याओ पर विचार करना है। प्लेटो की दृष्टि मे अच्छा-मनुष्य और अच्छा जीवन केवल अच्छे राज्य मे ही सम्भव है। 'रिपब्लिक' मे यह भी बतलाया गया है कि इन वस्तुओ को किस प्रकार जाना और पाया जा सकता है। यह समस्या अपने आप मे इतनी व्यापक है कि व्यक्ति तथा समाज के जीवन का कोई भी अग इससे अछूता नही बचता। इस प्रकार 'रिपब्लिक' किसी प्रकार की प्रबन्ध-पुस्तक (Treatise) विशेष नही है। वह राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान किसी एक विषय मात्र से सम्बन्ध नही रखती। उसमे इन सबका तो समावेश है ही बल्कि कला, शिक्षा और दर्शन के प्रश्न भी सन्निहित हैं। 'रिपब्लिक' मे जीवन की अनेक जटिल समस्याओ पर विचार-मन्थन है। विषय-वस्तु की विशदता के होते हुए भी 'रिपब्लिक' का राजनीतिक-दर्शन एकीकृत है और उसकी तर्क-पद्धति प्रखर और प्रभावशाली है।

'रिपब्लिक' का आरम्भ आचार-शास्त्र और नैतिक दर्शन की समस्याओ से होता है। इसके आरम्भ मे ही यह प्रश्न उठाया गया है कि न्याय क्या है ? "न्याय एवं मानव-आत्मा के नैतिक गुणो का विवेचन करने के कारण इसे आचार-शास्त्र का ग्रन्थ भी कहा गया है।" इस ग्रन्थ में बतलाया गया है कि नैतिक गुणो का विकास केवल शिक्षा द्वारा ही सम्भव है और उत्तम-शासन के लिए शासको की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य है। रिपब्लिक मे शिक्षा समस्याओ का विशद् एव सम्यक् विवेचन है। इसके शिक्षा अध्याय को पढकर ही फ्रेंच दार्शनिक रूसो (Rousseau) ने कहा था कि "रिपब्लिक राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ न होकर शिक्षा शास्त्र पर कभी भी लिखा गया एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" यह अध्यात्म-शास्त्र का भी एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे विचारो के सिद्धान्त तथा ज्ञान के यथार्थ-स्वरूप को प्रतिपादित किया गया है। इसे इतिहास के दर्शन का ग्रन्थ भी इसलिए कहा जा सकता है कि इसमे यह बतलाया गया है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया से किसी भी राज्य का पतन निरकुश या भ्रष्ट-शासन मे किस प्रकार होता है।

'रिपब्लिक' की विषय-वस्तु और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियो ने जो विभिन्न मत व्यक्त किए है, उनमे से कुछ को नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इनके प्रकाश मे 'रिपब्लिक' के बारे मे व्यक्त किए गए विभिन्न विचारो का मूल्यांकन किया जाना उपयुक्त होगा।

"यह मानव के समग्र जीवन-दर्शन (Complete Philosophy of Life) के प्रस्तुतीकरण का प्रयास है। क्रियाशील-मानव (Man-in-action) या मनुष्य के कार्य ही इसके विषय है अत. इसका सम्बन्ध नैतिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं से है। मानव एक समष्टि है, उसके कार्य उसके विचारो को जाने बिना समझे नही जा सकते अत 'रिपब्लिक' मनुष्य के विचारो एव उसके द्वारा निर्मित कानूनों की भी विवेचना करती है। इस दृष्टि से 'रिपब्लिक' मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का एक चूडान्त दर्शन है।"[1]

"रिपब्लिक मे मानव-आत्मा के उत्थान और पतन का आदर्श चित्र है। इसमें यह बतलाया गया है कि वह किस प्रकार के चरम-शिखर पर पहुँच कर भी पतन के सबसे गहरे गड्ढे मे भी गिर सकती है। ऐसा समझाते हुए इसमे मानव-आत्मा का और उसकी समूची प्रकृति का विश्लेषण किया गया है।"[2]

"इस ग्रन्थ मे उसके (प्लेटो के) अध्यात्म-शास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और कला-सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इसमे आधुनिक समस्याएँ विश्लेषित है, जैसे साम्यवाद, समाजवाद, नारी-स्वातन्त्र्य, गर्भ-निरोध, सुप्रजनन आदि। नीत्शे द्वारा बतलाई गई

1 *Barker's Greek* Political Theory, p. 145.
2 *Nettleship* : Lectures on the Republic of Plato, p. 5.

नैतिक और कुलीनतन्त्र की समस्याएँ तथा बर्गसां और फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के साथ इसमे सभी कुछ है।[1]

"रिपब्लिक केवल एक दार्शनिक-कृति मात्र न होकर सामाजिक और राजनीतिक सुधारो पर लिखा गया एक प्रबन्ध भी है। यह उस व्यक्ति की रचना है जो मानव-जीवन पर केवल चिन्तन ही नही करता बल्कि उसे क्रान्तिकारी ढंग से सुधारने को भी उतना ही उत्सुक है।"[2]

विषय-वस्तु की दृष्टि से 'रिपब्लिक' को पाँच खण्डो मे विभाजित किया जा सकता है—

(i) Book I—इसमे मानव-जीवन, न्याय की प्रकृति एव नैतिकता के अर्थ समझाए गए हैं।

(ii) Books II to IV—इसमे राज्य के संगठन तथा शिक्षा-पद्धति का वर्णन है। यहाँ प्लेटो तथा आदर्श मानव-समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। मानव-स्वभाव के तीनों तत्वो तथा मानव-समाज के तीनो वर्गो का समाज मे स्थान इस खण्ड में विवेचित किया गया है।

(iii) Books V to VII—इस भाग का प्रमुख विषय दर्शन है। इसमे राज्य के उस संगठन का पुनः वर्णन किया गया है जो साम्यवाद पर आधारित होकर दार्शनिक राजा द्वारा शासित होगा। यहाँ पर प्लेटो के दर्शन मे अच्छाई का आदर्श (The Idea of good) सामाजिक एव राजनीतिक गुणो का स्थान ले लेता है।

(iv) Books VIII and IX—यहाँ पर मनुष्यो तथा राज्य के विकृत हो जाने पर जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है, उस पर प्लेटो ने अपने विचार व्यक्त किए है। साथ ही निरंकुशता एव आनन्द की प्रवृत्ति का भी इन पृष्ठो मे वर्णन एव विवेचन है।

(v) Books X के दो भाग हैं। एक मे दर्शन से कला का सम्बन्ध बतलाया गया है और दूसरे भाग मे आत्मा की क्षमता पर विचार-विमर्श मिलता है।

'रिपब्लिक' का उद्देश्य

'रिपब्लिक' की रचना करते समय प्लेटो के कुछ उद्देश्य थे। वह इस महान् ग्रन्थ की रचना एक निश्चित एव व्यावहारिक उद्देश्य को सामने रख कर करना चाहता था। सोफिस्टो द्वारा प्रतिपादित आत्म-तृप्ति के सिद्धान्त को जिसे उस युग के भ्रष्टाचारी जनतन्त्री राज्यो ने अपना रखा था झुठलाने और खण्डित करने की उसकी दार्शनिक आकांक्षा थी। सोफिस्टो के उच्छृंखल व्यक्तिवाद का विरोध कर राज्य के जैविक-स्वरूप (Organic Nature) को प्रतिष्ठित करना प्लेटो का मन्तव्य था। वह यह बतलाना चाहता है कि राज्य और व्यक्ति के हितो मे कोई अन्तर्विरोध नही है तथा न्याय-प्रिय एव बुद्धिमान् शासक वही है जो जन-कल्याण के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने मे उच्चकोटि के आनन्द की अनुभूति करता हो। हिंसात्मक व्यक्तिवादी की प्रवृत्ति तथा अज्ञान मे उद्भूत गृहवाद के विरुद्ध प्लेटो इस ग्रन्थ द्वारा प्रबल विरोध को सगठित करना चाहता था। बार्कर के शब्दो मे, "प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का लक्ष्य एक ऐसे शासनाधिकार की स्थापना करना था जिसमे न तो अमीर गरीब पर और न गरीब अमीर पर शासन कर सकें बल्कि शासक ऐसे व्यक्ति हो जो दोनो से ऊपर हो अथवा कम से कम वे दोनो ही शासन मे भागीदार हो।"

प्लेटो पर सबसे गम्भीर प्रभाव सुकरात की मृत्यु का था जिसके कारण ही उसे अपने समाज और उसकी राजनीतिक स्थिति मे अन्तर्विरोधो का अहसास हुआ। जो समाज एक सत्य-भाषी दार्शनिक के साथ न्याय न कर सकता हो, जहाँ सद्गुण का ज्ञान न मानकर राज्य की दार्शनिक विभूति को तुच्छ समझा जाता हो, उस समाज के प्रति प्लेटो के हृदय में श्रद्धा नही रही। समाज की इन बुरी अवस्थाओ

1 *Will Durant* Story of Philosophy, p 22
2 *Nettleship* Lectures on the Republic of Plato

को दूर करने की दृष्टि से ही उसने अपनी अकादमी (Academy) खोली और एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसमे 'सद्गुण ही ज्ञान है' (Virtue is Knowledge) का आधार लेकर उन सब तथ्यो की पुष्टि की गई जिन्हे तत्कालीन यूनानी-राज्य और समाज हीनता तथा निरादर की भावना से देखता था।

इस ग्रन्थ की रचना मे प्लेटो का एक उद्देश्य यह भी था कि वह तत्कालीन ग्रीक-प्रजातन्त्र मे प्रचलित 'लॉटरी द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था' को उन्मूलित करना चाहता था। इस व्यवस्था के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक पद के लिए योग्य समझा जाता था तथा विभिन्न पदो पर नियुक्तियां लॉटरियो-द्वारा की जाती थीं।" क्षमता और कुशलता के लिए घातक इस प्रथा ने एथेंस के तत्कालीन जनतन्त्र को अयोग्य व्यक्तियो के हाथो मे कठपुतली बना दिया था। अत: प्लेटो ने एक ऐसे शासन-तंत्र का निर्माण करने की चेष्टा की, जिसमे 'स्वार्थपरता' के स्थान पर सर्वोदय का भाव हो, पारस्परिक फूट के स्थान पर एकता हो और अनुभवहीन शासको की अकुशलता की जगह ज्ञान आधारित क्षमता और योग्यता का शासन हो। इसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने अपनी 'रिपब्लिक' लिखी जिसमे दो साधनो का अनुमोदन किया गया—(1) विशेषीकरण (Specialisation) और (2) एकीकरण (Unification)। 'रिपब्लिक' के 'आदर्श राज्य' मे विशेषीकरण लाने की दृष्टि से प्लेटो ने राज्य की जनसख्या को तीन वर्गों मे विभाजित किया है—(i) आर्थिक वर्ग, (ii) सैनिक वर्ग और (iii) शासक वर्ग। इसमे से प्रत्येक-वर्ग को अपने-अपने निर्धारित कार्य मे तत्पर रहने की स्थिति को उसने न्याय बतलाया है। अर्नेस्ट बार्कर ने 'रिपब्लिक' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझाते हुए लिखा है कि प्लेटो के एथेन्स मे प्रत्यक्ष जनतन्त्र के दो आत्मघाती दुर्गुण अपनी चरमता पर पहुँच चुके थे। एक को उसने ऐसा अज्ञान बतलाया है जो झूठे ज्ञान के वेश मे सर्वव्यापी हो चुका था (Ignorance masquarading in the guise of knowledge)। दूसरी दुर्बलता वह गुटबन्दी की सकीर्णता थी जिसने नगर राज्यो का विभाजन कर उन्हे गृहयुद्ध की स्थिति मे ला दिया था (Factionalism dividing City States)। इन दोनो दुर्गुणो का निदान केवल दो ही हो सकते थे—पहला सच्चा ज्ञान का आगमन और दूसरे राज्य की जैविक एकता का विकास। राजनीतिक दर्शन की भाषा मे इन्हें प्लैटोनिक 'जस्टिस' और 'रिजीम ऑफ फिलॉसफी' कहा जाता है। न्याय के माध्यम से जिस त्रिकोणात्मक राज्य समाज का चित्र प्लेटो अंकित कर रहा है वह एक ऐसी स्थिति है जिसमे हर व्यक्ति अपने-अपने कार्य का विशेषज्ञ है, केवल एक ही कार्य पर अपने को केन्द्रित करता है और तीनों वर्गो को एकतापूर्ण समन्वय एवं एकता का उद्देश्य दार्शनिक राजा के सशक्त शासन से पूरा किया जाता है। राज्य मे जिसकी वैसी ही स्थिति है जैसी कि मस्तिष्क की शरीर मे। न्याय का दर्शन और फिलासफर किंग की अवतारणा तत्कालीन यूनान के अज्ञानी समाज और उसमे व्यक्त विघटनवाद के प्रभावी निदान के रूप मे प्रस्तुत किए गए है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्लेटो का अपनी 'रिपब्लिक' के प्रणयन मे सारभूत उद्देश्य यह था कि वह तत्कालीन राज-व्यवस्था एव समाज मे व्याप्त जगली स्वार्थपरता, वर्ग-सघर्ष तथा अज्ञान-जनित कुशासन जैसे रोगो का उपचार करना चाहता था। "प्लेटो को यह आशा थी कि राजनीतिक शक्ति को नि स्वार्थ एव जन-हित की भावना से पूर्ण ज्ञानी और त्यागी व्यक्तियो के हाथो में सौंपने से ही वर्ग-सघर्ष तथा राजनीतिक स्वार्थपरता के रोग दूर हो सकेंगे। उसका यही विचार उसकी दार्शनिक राजाओ के शासन की प्रसिद्ध अवधारणा मे अभिव्यक्त हुआ।"

'रिपब्लिक' मे न्याय सिद्धान्त

(Theory of Justice in 'Republic')

न्याय की व्याख्या और सम्प्राप्ति 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय प्रश्न है। 'रिपब्लिक' ग्रन्थ का मूल शीर्षक था Dikaiosune जिसे अनुवाद की दृष्टि से 'न्याय प्रबन्ध' अथवा 'न्याय से सम्बन्धित' (Concerning Justice) ग्रन्थ कहना 'रिपब्लिक' की भावना के अधिक समीप होगा।

प्लेटो के आदर्श 'रिपब्लिक' की स्थापना तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण समाज में सुव्यवस्था, संगठन और एकता हो। प्लेटो एक ऐसे मनोविज्ञान आधारित राजनीतिक सिद्धान्त की आवश्यकता अनुभव करता है जो मनुष्यों में कर्त्तव्य-परायणता की भावना भर सके, समाज को संगठित बनाए रख सके और जिसका अनुसरण कर सभी व्यक्ति अपने पृथक्-पृथक् कार्यों को करते हुए भी एकता के सूत्र में गुंथे रहें और दूसरों को हानि पहुँचाए बिना अपने-अपने व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण सुविधाएं प्राप्त कर सकें। प्लेटो के मत में ऐसा सिद्धान्त है 'न्याय'। उसके अनुसार न्याय-सिद्धान्त एक ऐसी औषधि है जो समाज में अशान्ति, अव्यवस्था, कर्त्तव्य-विमुखता तथा बुद्धिहीनता आदि व्याधियों को जो एक आदर्श समाज के स्वास्थ्य के लिए घातक हैं दूर कर सकती है। प्लेटो चाहता था कि हर व्यक्ति सन्तोषपूर्वक अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य करता रहे। उसकी दृष्टि में यही सामाजिक न्याय है जिसे दूसरे शब्दों में समाज-जीवन का सच्चा सिद्धान्त कह सकते हैं। प्लेटो की 'रिपब्लिक' का प्रयोजन न्याय के उन सभी झूठे विचारों को जिन्हें जन-साधारण के अज्ञान के कारण सोफिस्टों की पिछली शिक्षा ने कपटपूर्वक फैला रखा था तिरोहित कर सच्ची न्याय-धारणा को प्रतिष्ठित करना था। "प्लेटो चाहे सोफिस्टों के सिद्धान्त से लोहा ले रहा हो अथवा समाज की प्रचलित प्रथा के सुधार के लिए प्रयत्नशील हो, उसके चिन्तन की केवल एक ही धुरी है और उसके विवेचन का केवल एक ही मन्त्र है और वह है न्याय।"[1]

न्याय की परिभाषा देते हुए प्लेटो ने लिखा है कि—"समाज में प्रत्येक व्यक्ति को वह उपलब्ध होना चाहिए जो उसको प्राप्य है।" (Sabine) के शब्दों में, "व्यक्ति के लिए प्राप्य क्या है, इससे उसका अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को उसकी योग्यता, क्षमता एवं शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप व्यवहार या पात्र समझा जाए। इसमें यह भावना भी अन्तर्निहित है कि योग्यता के अनुसार व्यक्ति को जो भी कार्य सौंपे जाएँगे उन्हें वह पूरी ईमानदारी के साथ सम्पादित कर सकेगा।"[2] पाठक के लिए न्याय की यह परिभाषा विचित्र है, चूंकि किसी भी दृष्टि से यह एक न्यायाधीश अथवा वकील की परिभाषा से मेल नहीं खाती। "आधुनिक पाठक की समझ में इसमें वह भाव आता ही नहीं जो लेटिन (Latin) के मूल शब्द Jus या अंग्रेजी के पर्यायवाची Right से प्रतिध्वनित होता है। इन दोनों शब्दों के अर्थ उन ऐच्छिक कार्यों की क्षमताएँ हैं जिनके प्रयोग में कानून एक रक्षक का कार्य करता है और राज्य-सत्ता उसे सशक्त बनाती है। प्लेटो की न्याय संकल्पना में इस धारणा का अभाव स्पष्ट है। उसके विचार में न्याय का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखने मात्र से 'समुचित' या सही स्थिति की प्राप्ति ही सामाजिक न्याय है। समाज की बाह्य व्यवस्था तो उस समरसता का जिससे राज्य निर्मित होता है, एक बहुत छोटा-सा अंश मात्र है। राज्य नागरिकों के लिए केवल स्वतन्त्रता और जीवन-रक्षा की व्यवस्था मात्र ही नहीं करता वरन् उन्हें सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों के विकास के वे सभी अवसर प्रदान करता है जो सभ्य जीवन की आवश्यकताओं और सुविधाओं की उपलब्धि के लिए पूर्व-स्थितियाँ हैं। इस प्रकार के राज्य में अधिकार भी होते हैं और कर्त्तव्य भी। लेकिन वे किसी अर्थ-विशेष में व्यक्ति विशेषों को प्राप्त नहीं होते। उन्हें व्यक्तियों द्वारा निष्पादित कार्यों अथवा सेवाओं में ही निहित देखा जा सकता है। प्लेटो के इस विवेचन का आधार यह है कि राज्य पारस्परिक आवश्यकताओं और अन्तर्निर्भरताओं का आधार लेकर बना है। यह विश्लेषण सेवाओं पर अधिक बल देता है, शक्तियों पर नहीं। शासक भी इसके अपवाद नहीं है और उन्हें भी अपने ही आदेशानुसार विशेष प्रकार के कार्य करने चाहिए। बाद का रोमन दृष्टिकोण मजिस्ट्रेटों में सत्ता अथवा प्रभुत्व शक्ति निहित मानता है। प्लेटो या अन्य किसी भी यूनानी विचारक के राजदर्शन में ऐसा विचार नहीं मिलता। प्लेटो के राज्य सिद्धान्त की सामान्य रूपरेखा भी यहीं पूरी होती है। वह व्यवस्थित अध्ययन द्वारा 'अच्छाई' का ज्ञान प्राप्त करना एक वाञ्छनीयता मानता है और इसी एक सूत्र पर उसका समग्र राज-दर्शन पूर्णतः आधारित है।"

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 299.
2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 53.

रिपब्लिक का आरम्भ और अन्त न्याय के वास्तविक स्वरूप की मीमांसा से होता है—उसके सवादो मे भाग लेने वाले पात्र प्लेटो के दो बडे भाई ग्लाकाँ (Glaucon) और अदैमातस (Adeimantus) है। सेफेलस (Cephalus) और उसका बेटा पॉलीमार्कस् (Polymarchus), लिसियास, कैल्सीडोन (Chalchedon) अलंकारशास्त्री थ्रेसीमेक्स (Thrasymachus) तथा सुकरात राज्य-दर्शन के गूढ विषयो पर एक परिचर्चा कर रहे हैं। सेफेल्स ने अपने इन सभी साथियो को अपने घर पर वेंदीस देवी उत्सव की रात्रि पर सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया है। जब ये मित्र उसके घर पहुँचते हैं तो सेलेफ्स इनका स्वागत करता है। अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करते हुए वह महाकवि पिंडार के शब्दो को उद्धृत करते हुए कहता है कि—"जब कोई मनुष्य अपना जीवन न्याय और श्रद्धा के साथ व्यतीत करता है तो उसके हृदय को आह्लादित करने के लिए तथा वृद्धावस्था मे उसे सहारा देने के लिए 'आशा' एक सगिनी की भाँति नित्य उसके साथ रहना चाहती है।" इस पर सुकरात एक प्रश्न करता है कि क्या यह सब न्यायपूर्ण है ? और यही मौलिक प्रश्न 'रिपब्लिक' की विचार-भूमि बन, सत्य अन्वेषण के अभ्यास का आधार बनता है।

अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए अपने पात्रो के सम्वादो के माध्यम से प्लेटो ने पहले तो उन मतो का खण्डन किया है जिनका तत्कालीन यूनान मे युग-धर्म के रूप में प्रचलन था। इस तर्क-युद्ध मे प्लेटो अपनी समकालीन न्याय मान्यताओ का खण्डन करता है। उसने अपने समकालीन जिन न्याय-सिद्धान्तो की धज्जियाँ उडाई है, उनमे से तीन निम्नलिखित है—

1. न्याय का परम्परावादी अथवा सेफेल्स का सिद्धान्त
   (Traditional Theory of Justice)
2. न्याय का उग्रवादी अथवा थ्रेसीमेक्स का सिद्धान्त
   (Radical Theory of Justice)
3. न्याय का व्यवहारवादी अथवा ग्लाँका का सिद्धान्त
   (Pragmatist Theory of Justice)

(1) परम्परावादी सिद्धान्त (Traditional Theory of Justice)—'रिपब्लिक' के प्रथम अध्याय मे ही सेफेल्स एव उसका पुत्र पॉलीमार्कस न्याय के ऐतिहासिक तथा परम्परावादी सिद्धान्त का आशय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सेफेल्स का मत है कि "अपने वक्तव्यो और कार्यो मे सच्चा होना तथा देवताओ और मनुष्यों के प्रति अपने ऋण को चुकाना न्याय है।" इस युक्ति द्वारा विवाद की बात उठाते हुए सेफेल्स अपने धार्मिक कार्य करने के लिए बाहर चला जाता है और उसका पुत्र पॉलीमार्कस न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है। यूनानी परम्पराओ की पवित्रता को समझाते हुए वह कहता है, "मित्रो के साथ भलाई तथा शत्रुओ के साथ बुराई करना ही सच्चा न्याय है।" न्याय एक ऐसी कला है जो मित्रो का हित और शत्रुओं का अहित करने मे ही देखी और पहिचानी जा सकती है।

न्याय की इस परिभाषा को अपूर्ण एवं अशुद्ध सिद्ध करने के लिए सुकरात मच पर आता है। वह परम्परावादियो से पूछता है कि यदि एक अपराधी किसी शासक का मित्र हो और दूसरा अपराधी उसी शासक का शत्रु तो इस सिद्धान्त के अनुसार क्या उस शासक को दोनो अपराधियो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्ताव करना चाहिए ? यदि हाँ, तो यह न्याय न होकर अन्याय होगा। चूँकि यदि एक व्यक्ति के साथ एक व्यवहार न्याय-पूर्ण है तो दूसरे के साथ भी वही व्यवहार न्याय-पूर्ण होना चाहिए। न्याय की दृष्टि मे सभी समान होते है फिर शत्रु और मित्र मे यह भेदभाव क्यो ? प्लेटो के सुकरात ने (जो 'रिपब्लिक' मे प्लेटो के विचारो का प्रवक्ता है) परम्परावादी न्याय सिद्धान्त का खण्डन करते हुए इस सिद्धान्त के अग्रलिखित दोष बतलाए हैं—

(क) यदि न्याय भलाई और बुराई करने वाली एक कला है तो अन्य कलाओ की भांति यह भी दो विरोधी प्रकार के कार्य कर सकती है। डॉक्टर अपनी चिकित्सा-कला से रोगी को स्वस्थ तथा स्वस्थ व्यक्ति को रोगी बना सकता है। यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अपनी इस चिकित्सा-कला का प्रयोग भलाई के लिए करता है अथवा बुराई के लिए। यदि न्याय को भी इसी तरह कला के रूप मे लिया जाए तो उसके स्वरूप और आत्मा की हत्या हो जाएगी। ऐसा करना स्वेच्छाचार होगा, जिसे न्याय नही माना जा सकता।

(ख) फिर न्याय को कला मानना अनुचित है चूंकि यह अनुभव द्वारा अर्जित नही किया जा सकता। अनुभव द्वारा न्याय का अर्जन इसलिए भी सम्भव नही है कि न्याय अल्प ज्ञान (Lesser Knowledge) का विषय न होकर वृहत्तर ज्ञान (Greater Knowledge) का विषय है। न्याय इसलिए भी कला नहीं है कि इसे स्वेच्छा से दो विरोधी दिशाओं मे से किसी एक दिशा मे प्रयोग नही किया जा सकता। न्याय कोई प्रविधि अथवा तकनीक (Technique) भी नही है यह तो व्यक्ति की आत्मा का गुण है, जिसे उसके मन का स्वभाव भी कहा जा सकता है।

(ग) मित्रो के हित और शत्रुओ के अहित की बात करना तो सरल है, किन्तु किसी मित्र अथवा शत्रु की पहिचान करना एक कठिन कार्य है। अनेक व्यक्ति ऊपर से मित्रता का स्वाँग रचते रहते है किन्तु हृदय से वे शत्रु हो सकते हैं। क्या ऐसे व्यक्तियो के साथ भलाई का व्यवहार किया जाना उचित होगा? यदि हाँ, तो ऐसा करना भलाई करने वाले के लिए अहितकर होगा, और यदि नही, तो न्याय मित्रो के हित और शत्रुओ के अहित का सिद्धान्त नही हो सकता।

(घ) किसी भी व्यक्ति की बुराई करने से वह बुरा व्यक्ति और अधिक बुरा हो जाएगा और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति की स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक खराब करना सच्चे न्याय का उद्देश्य नही हो सकता।

(च) मित्रो के हित और शत्रुओ के अहित का विचार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। यह विचार दो व्यक्तियो के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करता है और व्यक्ति को केन्द्र मानते हुए उसके हित अथवा अहित का प्रश्न उठाता है, किन्तु सच्चा न्याय तो सदैव हितसाधक और कल्याणकारक ही होता है। न्याय तो एक सामाजिक विचार है जिसमे समष्टि का हित-चिन्तना ही सर्व-प्रधान है और होनी भी चाहिए।

(छ) परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार न्याय देश, काल, एव परिस्थितियो के अनुसार बदलता रहता है किन्तु सच्चे न्याय को तो सार्वदेशिक एव सार्वकालिक होना चाहिए। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार अपराध की मान्यताएँ बदल सकती है, दण्ड-विधान भी भिन्न-भिन्न हो सकते है, परन्तु न्याय सिद्धान्त को तो सदैव और सर्वत्र समान ही होना चाहिए।

उपरोक्त विरोधाभासो को दर्शाते हुए प्लेटो सुकरात के माध्यम से न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त को अमान्य ठहराता है। उसकी सारी तर्कना पॉलीमार्कस की अवधारणा की अबौद्धिकता प्रकट करती है। वार्तालाप द्वारा सुकरात यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है कि परम्परागत धारणाएँ "एक सीमा तक और आँशिक रूप से तो उपयोगी हो सकती है और यदि हम उनकी गहराइयो में जाएँ तो कठिनाइयाँ और परस्पर मे विरोधी तत्त्व उभरकर हमारे सामने स्पष्ट होते है।" प्लेटो यह कहकर अपनी तर्क-शृंखला का अन्त करता है कि न्याय की परम्परागत परिभाषा पेरियाँडर[1] जैसे किसी अत्याचारी शासक अथवा जेरेक्जस[2] जैसे किसी ऐसे निरकुश सम्राट् द्वारा दी गई होगी—'जिसे

1 पेरीयाडर यूनान का एक सन्त था जिसने 625 ई पू. से 585 ई पू तक कोरिन्थ पर प्रारम्भ मे उदारतापूर्ण और बाद मे निरकुश, अन्यायपूर्ण और बर्बर शासन किया।

2 जेरेक्ज 485 ई पू से 465 ई. पू तक फारस का एक शक्तिशाली सम्राट् था जिसने मिस्र आदि को अधीन करने के बाद यूनान पर भयकर हमला किया। प्रारम्भ मे उसे सफलता मिली किन्तु बाद मे वह पराजित हुआ।

अपनी शक्ति का बड़ा गर्व' रहा होगा।[1] प्लेटो की दृष्टि में न्याय कोई कला नहीं है अपितु एक ऐसी क्षमता अथवा अच्छाई है जो मानव की विशिष्ट क्षमताओं पर अंकुश लगा कर उसे ऐसे कार्य करने से रोकता है जिन्हें करने की उसमें इच्छा भी होती है और योग्यता भी।[2]

(2) उग्रवादी सिद्धान्त (Radical Theory of Justice)—जिस समय पॉलिमार्कस और सुकरात के मध्य न्याय पर संवाद चल रहा था, थ्रेसीमेकस नामक सोफिस्ट बीच में ही एक नया प्रश्न उठाता है। वह पाँचवी शताब्दी की एक नई आलोचनात्मक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। प्लेटो ने उसे एक उग्रवादी सोफिस्ट (Radical) के रूप में प्रस्तुत किया है। एक सोफिस्टवादी ढंग से थ्रेसीमेकस सुकरात पर केवल "शाब्दिक आडम्बर और वाक्-जाल का सहारा लेने का आरोप लगाता है और सुनिश्चित एवं स्पष्ट तर्क देने का आग्रह करता है।" उसकी न्याय सम्बन्धी धारणा उसी के शब्दों में इस प्रकार है—

"विभिन्न प्रकार की सरकारें जैसे जनतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा आततायीतन्त्री ऐसे कानून बनाती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य केवल उनकी अपनी स्वार्थ-सिद्धि होता है। इन कानूनों को जिनका पालन वे अपनी प्रजा द्वारा करवाती हैं, वे न्याय की संज्ञा देती हैं और जो व्यक्ति उनकी अवहेलना करते हैं उन्हें अन्यायी और कानून के शत्रु कह कर दण्डित किया जाता है। मेरे ऐसा कहने का अर्थ केवल यही है कि सभी राज्यों में न्याय का केवल एक ही सिद्धान्त है और वह है सरकार का हित। चूँकि सरकार के हाथ में शक्ति होती है इसलिए यह कहना उचित-अनुचित नहीं होगा कि न्याय सिद्धान्त सर्वत्र एक ही है और वह है सबल का हित और शक्तिशाली का स्वार्थ।"

अपनी उपरोक्त परिभाषा में थ्रेसीमेकस ने न्याय सिद्धान्त के बारे में दो प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं—

(i) उसने पहली बात यह रखी कि न्याय शक्तिशाली का लाभ अथवा स्वार्थ है (It is the interest of the stronger)। इस अवधारणा के अनुसार सत्य और शक्ति एक ही बात हुई। शक्तिशाली व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए जो भी कानून बनाता है वही न्याय है। दूसरे शब्दों में बाहुबल उचित है। थ्रेसीमेकस बतलाता है कि व्यवहार में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' और 'राजा करे सो न्याय' का सिद्धान्त सदैव चलता रहा है। सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ अपने-अपने कानून अपने शासकों के हित में बनाती रही हैं। शासक भी अपने स्वार्थों की रक्षा ही सबसे पहले और सदैव करते हैं। प्रजा को उनके द्वारा निर्मित कानूनों का अनुसरण करना पड़ता है। जो उनका उल्लंघन करते हैं वे अपराधी घोषित किए जाते हैं और दण्डित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राज्य में न्याय शक्तिशाली का हित ही लगता है। शासक-गण जो सबसे अधिक बलवान होते हैं, जो भी व्यवस्था देते हैं, उसे न्याय कहा जाता रहा है। थ्रेसीमेकस का यह सिद्धान्त कुछ अंशों में हॉब्स (Hobbes) और स्पिनोजा (Spinoza) द्वारा प्रकट की गई न्याय सम्बन्धी अवधारणाओं से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। एक सीमा तक कार्ल-मार्क्स भी इसे पूँजीवादी न्याय मानने को तैयार होगा।

(ii) थ्रेसीमेकस के कथन का दूसरा निहितार्थ यह है कि अन्याय करना न्याय करने से अधिक अच्छा है (Injustice is better than Justice)। प्रत्येक व्यक्ति अपना हित चाहता है अतः न्याय का अर्थ यदि केवल शक्तिशाली व्यक्ति की इच्छा या लाभ मात्र माना जाए तो व्यक्ति को सुख नहीं मिल सकेगा। इसके स्थान पर जो अन्यायी होगा वह अधिक सुखी रहेगा। इस स्थिति में अन्याय अधिक शक्ति तथा प्रसन्नता देने वाला बन जाता है। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने हित में कार्य करेगा दूसरों के हित में नहीं, इसलिए वह अन्यायी हो जाएगा। फलतः अन्यायी व्यक्ति न्यायी व्यक्ति से अधिक अच्छा हुआ। लौकिक अथवा व्यावहारिक उदाहरणों से अपने मत को पुष्ट करता हुआ थ्रेसीमेकस कहता है

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 231.
2 फोस्टर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 42

कि "पारस्परिक व्यवहार का ही उदाहरण ले लो। जब कभी न्यायी और अन्यायी व्यक्ति किसी व्यापार मे साझा करेंगे तो साझे की समाप्ति पर तुम कभी ऐसा नही देखोगे कि न्यायी मनुष्य को अन्यायी मनुष्य से अधिक धन मिला हो। बल्कि न्यायी व्यक्ति को सदा कम ही मिला है फिर राज्य से इन व्यक्तियों का जो सम्बन्ध है उसे देखो। जहाँ प्रत्यक्ष कर देने का प्रश्न आता है वहाँ उसी तरह सम्पत्ति पर न्यायी मनुष्य अधिक कर देता है और अन्यायी कम, जब राज्य की ओर से धन वितरण होता है तो अन्यायी आगे बढकर हाथ मारता है और न्यायी के पल्ले कुछ नही पडता।" सरकारी पदो पर आरूढ होने वाले अन्यायी (Unjust) व्यक्ति ही अधिक लाभ उठाते है और न्यायी (Just) व्यक्ति न केवल स्वयं ही लाभ नही उठाते, अपितु वे अपने मित्रो और परिचितो तक को हानि पहुँचाते है। अपने अन्यायपूर्ण आचरण द्वारा वे उन्हें लाभान्वित नही करते। छोटे-छोटे पैमाने पर चोरी, डकैती, तथा देव-मन्दिरो की लूट करने वाले चोर तथा डाकू कहलाते हैं। राज्य द्वारा पकडे जाने पर वे दण्डित होते है किन्तु जब कोई राजा किसी अन्य देश के नागरिकों की सम्पत्ति हरण कर उसे अपनी बना लेता है तो वह महान् विजेता और प्रतापी और पुण्यवान नरेश कहलाता है, उसके शौर्य की गाथाएँ गाई जाती है। "अतः हे सुकरात पर्याप्त रूप से बड़े पैमाने पर किया गया अन्याय, न्याय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, स्वच्छन्द तथा अधिक अधिकारपूर्ण कार्य है।"[1]

थ्रेसीमेक्स के इन दोनो मतो को खण्डिन कर, प्लेटो उन्हे निरस्त करता है। पहली प्रस्थापना का खण्डन करते हुए प्लेटो मानता है कि शासन यदि एक कला है तो किसी भी कला का उद्देश्य अपनी पदार्थ-वस्तु को सम्पूर्णता प्रदान करना होना चाहिए। कला पदार्थ के दोषो को दूर करती है न कि कलाकार की स्वार्थ-सिद्धि। सुकरात के मुख से इस सम्बन्ध मे प्लेटो ने अनेक उदाहरण दिलवाएँ है। डॉक्टर मरीज का इलाज अपने लिए नही बल्कि मरीज के रोगो को दूर कर उसे स्वस्थ बनाने के लिए करता है। सच्चा शिक्षक अपने विद्यार्थी के चरित्र के दोषो को दूर कर उसे विद्वान् और बुद्धिमान् बनाता है, जो उसका अपना हित-साधन नही कहा जा सकता। आदर्श डॉक्टर और आदर्श शिक्षक केवल वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जो रोगी एव शिष्य के कल्याण को ध्यान में रख सकें। इसी प्रकार कोई भी शासन, शासक की स्वार्थ-सिद्धि का साधन मात्र नही है। वह जनता के कल्याण-कार्य करने के लिए है। शासन एक उच्च कला है और शासक एक विशुद्ध कलाकार की भाँति अपने क्षुद्र-स्वार्थों के पोषण के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए जीता है। सच्चे शासक अपने स्वार्थ न देखकर जन-सेवा मे लीन रहते है। अत यह तर्क कि न्याय शक्तिशाली का लाभ या हित है, उनका मांस-भक्षण नही। इसी प्रकार एक शासक का धर्म शासित की भलाई मे लगे रहना है, न कि व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि द्वारा आत्म-तुष्टि करना।

थ्रेसीमेक्स की दूसरी प्रस्थापना का खण्डन करते हुए प्लेटो इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है कि अन्यायी व्यक्ति न्यायी व्यक्ति से अधिक अच्छा है। प्लेटो के अनुसार "प्रत्येक वस्तु का अपना एक निश्चित कार्य तथा गुण होता है। आँख का गुण है देखना, नाक का गुण है सूँघना तथा कान का गुण है सुनना। इसी प्रकार आत्मा का गुण है उत्तम जीवन का यापन। कोई-भी वस्तु अपने गुण को छोडकर अपना स्वभाव-सुलभ-कार्य नही सम्पन्न कर सकती। उदाहरणार्थ, अग्नि का काम जलाना है, यदि वह अपना गुण अर्थात् 'जलाने की शक्ति' से रहित हो जाए तो वह अन्य पदार्थों को भी नही जला सकेगी। इसी प्रकार यदि आत्मा अपने धर्म अर्थात् न्यायमय जीवन से विमुख हो जाए तो वह स्वस्थ-आत्मा नही रह सकेगी। आत्मा को आनन्द तभी तक मिलता है जब तक वह उत्तम जीवन बिताती है और न्याय-परायण रहती है। न्यायी आत्मा ही सुखी और स्वस्थ-आत्मा है अत, यह कहना कि अन्यायी व्यक्ति अच्छा है, ठीक नही हो सकता। एक न्यायपूर्ण व्यक्ति अधिक विवेकपूर्ण, शक्तिशाली तथा सुखी होता

1 *Conford* The Republic, p 24-25

है जबकि अन्यायी अपनी दुर्बलताएँ भली-भाँति जानता है। वस्तुतः न्याय दुर्बलों के हित में है न कि शक्तिशाली के हित में। सुकरात के इन तर्कों के सामने न्याय की उग्रवादी व्यवस्था करने वाला थ्रेसीमेक्स परास्त होता है। बार्कर ने लिखा है कि "प्लेटो सोफिस्टों के साथ उनकी शब्दावली में ही विनोद कर रहा है और उन्हें उनकी चाल से मात देता है तथापि उसके तर्क ध्वंसात्मक हैं, रचनात्मक नहीं। इनमें यह बतलाया गया है कि थ्रेसीमेक्स के न्याय-सिद्धान्त पर हमें विश्वास क्यों नहीं करना चाहिए किन्तु नहीं बतलाया गया है कि कौन-सी न्यायधारणा विश्वसनीय है।"

(3) व्यवहारवादी सिद्धान्त (Pragmatist Theory of Justice)—प्लेटो के तर्कों के सामने निरुत्तर होता हुआ थ्रेसीमेक्स बहस से अलग हट जाता है, किन्तु मण्डली के अन्य सदस्य इससे सन्तुष्ट नहीं होते। ग्लाकाँ (Glaucon) और एडीमेन्टस दोनों ही मिल कर सुकरात के तर्कों का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि न्याय शक्तिशाली का नहीं अपितु 'दुर्बल' व्यक्तियों का हित है। ग्लाकाँ की यह धारणा हॉब्स के सामाजिक समझौते की अवधारणा से काफी कुछ मिलती-जुलती है। ग्लाकाँ के विचारों का आधार उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है और किसी भी प्रकार से आत्म तृप्ति प्राप्त करना उसके जीवन का धर्म है। प्राकृतिक अवस्था में निर्बल व्यक्ति जिनका बहुमत था अधिक कष्ट उठाते थे। अन्याय से उन्हें इतना लाभ नहीं मिल सकता था, जितनी कि हानि। इसी कारण से यह प्राकृतिक अवस्था उनके लिए असह्य हो उठी और उन्होंने आपस में यह समझौता किया कि वे न तो स्वयं अन्याय करेंगे और न ही अन्य किसी को करने देंगे। परिणामस्वरूप कानून बने, जो आगे चल कर मानव-व्यवहार तथा न्याय के मापदण्ड निर्धारित करने लगे। ग्लाकाँ के अनुसार न्याय का स्रोत व्यक्ति की यही भय-भावना है।

व्यवहारवादी मत के अनुसार न्याय का जन्म शक्तिशाली व्यक्तियों की स्वार्थी आकाँक्षाओं से दुर्बलों की रक्षा करने के लिए हुआ अतः न्याय एक कृत्रिम वस्तु है और वह भय की सन्तान है। कानून और न्याय दोनों ही अप्राकृतिक हैं क्योंकि वे शक्तिशाली व्यक्तियों के स्वाभाविक हितों के विरोध में होते हैं और दुर्बल व्यक्तियों के हितों का समर्थन करते हैं। स्वयं ग्लाकाँ के शब्दों में, "आप लोगों की राय यह है कि न्याय वास्तविक अच्छाई के रूप में कभी भी स्वीकृत और पसन्द नहीं किया जा सकता, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु माना जाता है जिसकी स्वीकृति अन्याय करने की अक्षमता के कारण उत्पन्न होती है। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो अन्याय करने की सामर्थ्य रखता है और पुरुष कहलाने योग्य है वह कदापि किसी व्यक्ति के साथ अन्याय न करने और उसे न सहने का समझौता नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो समझ लो कि वह पागल है।" इस तरह ग्लाकाँ निर्बल व्यक्ति को न्याय सिद्धान्त को जन्म देने वाला मानता है। वह इसका आधार शक्तिशाली की इच्छा न बतला कर दुर्बल व्यक्तियों की भय-भावना मानता है। थ्रेसीमेक्स का यह विचार है कि "न्याय बलवान का स्वार्थ है" ग्लाकाँ को अमान्य है। वह इसे दूसरे रूप से प्रस्तुत करता है। व्यवहारवादी न्याय बलहीन के लिए एक आवश्यक स्थिति है। इन दोनों विचारधाराओं के मध्य जो अन्तर है उसे स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है—"थ्रेसीमेक्स न्याय को बल एवं शक्ति पर आधारित शक्तिशाली व्यक्तियों का हित बतलाता है। ग्लाकाँ उसे भय की भावना में स्थापित कर दुर्बलों के लाभ के लिए एक आवश्यक स्थिति मानता है।" लेकिन एक बिन्दु जिस पर थ्रेसीमेक्स और ग्लाकाँ दोनों सहमत हैं, वह यह है कि "न्याय कृत्रिम है, परम्परागत है और समयानुसार आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुआ है। यह अपने आप में कोई नित्य या शाश्वत नैतिक सिद्धान्त नहीं हो सकता।"

प्लेटो न्याय के व्यवहारवादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। वह कानून और न्याय को समझौते पर आधारित किसी भी प्रकार की कोई बाह्य वस्तु नहीं मानता। उसके अनुसार न्याय किसी अप्राकृतिक, कृत्रिम या बाह्य शक्ति द्वारा समाज पर लादी गई कोई व्यवस्था मात्र नहीं है। न्याय का जन्म भय के कारण नहीं हो सकता। वह तो व्यक्ति की अन्तर-आत्मा की एक ऐसी आवाज है जो सबल

और दुर्बल दोनों के ही हित में है। किसी भी समाज में न्याय का अनुपालन किसी भय या पाशविक शक्ति के कारण न होकर मनुष्य के स्वभाव के अनुरूप होता है। सर्व-सामान्य के लिए होता है, किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं।

प्लेटो का मत है कि न्याय मानव-आत्मा का एक आन्तरिक गुण है। सनातन काल से यह चलता आ रहा धर्म होने के कारण एक ऐसी आन्तरिक-वस्तु है जिसे समझने के लिए मनुष्य को अपना स्वयं प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। मानव-प्रकृति अपने-आप में बड़ी जटिल है जिसके सूक्ष्म और विराट् दोनों ही स्वरूप व्यक्ति एवं राज्य दोनों के स्तर पर देखे जा सकते हैं। न्याय को उसके यथार्थ रूप में जानने के लिए उसे उसके विराट् रूप में देखा जा सकता है किन्तु न्याय का यह स्वरूप किसी वास्तविक ऐतिहासिक राज्य का न होकर प्लेटो के आदर्श राज्य का है।

इस प्रकार प्लेटो अपनी 'रिपब्लिक' में न्याय सम्बन्धी परम्परावादी, उग्रवादी एवं व्यवहारवादी—तीनों सिद्धान्तों का बड़े तार्किक ढंग से खण्डन करता है। प्लेटो के अनुसार न्याय के ये उपरोक्त तीनों ही सिद्धान्त गलत हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि—"सही न्याय क्या है ?" और सुकरात इसे समझाते हुए 'रिपब्लिक' का मूल आधार स्पष्ट करता है।

'रिपब्लिक' में न्याय-सिद्धान्त का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है। प्लेटो का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज का अधिकतम हित-साधन कर सकता है। उसका न्याय-सिद्धान्त यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य के ढूंढने और उसकी अनुपालना में अपने सर्वस्व को लगा देना चाहिए। साथ ही दूसरों के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिए। सुकरात के शब्दों में, "न्याय प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में रहता है और यदि वह अपने कर्तव्य उचित ढंग से करता है तो उसका आचरण स्वयं उसकी न्यायप्रियता का परिचायक है।"[1] प्लेटो की न्याय-भावना व्यक्ति की आन्तरिक इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र है। ई० एम० फोस्टर (E M Foster) के मत में, "जिसे हम नैतिकता कहते हैं वही प्लेटो के लिए न्याय है।"[2] प्लेटो ने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में तीन नैसर्गिक प्रवृत्तियों का निवास माना है—1 ज्ञान (Reason), 2. साहस (Spirit), और 3. भूख (Appetite)।

मनुष्य की आत्मा के ये तीनों तत्त्व अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों की सीमाओं में रहते हुए अपने-अपने कार्य सम्पादित करते रहते हैं जो मानव-व्यक्तित्व में एकता की स्थापना करते हैं। यदि इन तीनों तत्त्वों को किसी एक व्यक्ति की आत्मा में समन्वित किया जा सके तो वह व्यक्ति-न्यायी बन जाएगा। जिन व्यक्तियों में ज्ञान की प्रधानता होती है, वे शासन-कार्य का संचालन कुशलतापूर्वक कर सकते हैं। जिन व्यक्तियों में साहस की प्रधानता होती है वे सैनिक कार्य अच्छे ढंग से कर सकते हैं। इसी प्रकार जिन व्यक्तियों में भूख या क्षुधा की प्रधानता रहती है वे उत्पादन-कार्य अच्छे ढंग और सरलता से कर सकते हैं। यदि दार्शनिक-शासक अपना कार्य निष्पक्ष ढंग से सम्पादित कर सके तो सैनिक लोग भी युद्ध-क्षेत्र में उत्साहित होकर आत्म-त्याग के लिए तैयार रह सकेंगे। इसी प्रकार उत्पादक वर्ग द्वारा कठोर श्रम करने पर यदि उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो तो समाज में संतुलन और समन्वय जन्म लेगा। यही आदर्श राज्य की स्थापना है। प्लेटो की मान्यता है कि जब उत्पादकों, सैनिकों एवं शासकों के तीनों वर्ग सुचारु रूप से अपना-अपना कार्य करें तो एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं होगा और सम्पूर्ण समाज में न्याय की स्थापना हो सकेगी। वह राज्य को व्यक्ति का विस्तार मानता है और इस कारण व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक न्याय को दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ न मान कर एक ही स्थिति के दो स्तर बतलाता है। 'रिपब्लिक' की अवतारणा राज्य में इसी न्याय को ढूंढने का प्रयत्न है।

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृ. 284

2 "Justice in Plato means very nearly what we mean by morality," p. 36

—*Foster* · Masters of Political Thought, p 36

रिपब्लिक' का सुकरात न्याय की प्रकृति तथा उसके निवास पर अन्तिम विवेचना प्रस्तुत करता है। नगर-राज्यो की सामाजिक एव राजनीतिक बुराइयो को दूर करने के लिए यह न्याय को एक प्रभावशाली साधन मानता है। उसके आदर्श राज्य को उसके न्याय सिद्धान्त से पृथक् नही किया जा सकता। न्याय राज्य का एक आवश्यक गुण है जो अन्य अस्थाई गुणो से भिन्न है। प्लेटो के आदर्श राज्य मे यह राज्य-रूपी शरीर का आत्मा-रूपी तत्त्व है।

सामाजिक न्याय की चर्चा करते हुए प्लेटो ने लिखा है कि राज्य के अन्तर्गत शासक, रक्षक और कृपक—इन तीनो ही वर्गो को अपने-अपने कार्य बिना एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किए करते रहने चाहिए क्योकि एक व्यक्ति एक समय पर एक ही कार्य अच्छाई से और अधिक मात्रा मे कर सकता है। ऐसा करने से नागरिको की आवश्यकताएँ पूरी हो सकेगी और राज्य भी आत्म-निर्भर बन सकेगा। वर्ग-विभेद होते हुए भी उनमे विग्रह नही होगा और समरसता की स्थापना हो सकेगी। प्लेटो के उस न्याय-सिद्धान्त के सामाजिक स्वरूप को सेबाइन ने इन शब्दों मे व्यक्त किया है—

"न्याय वह बन्धन है जो मानव-समाज को एकता के सूत्र मे बाँधता है। यह उन व्यक्तियो के पारस्परिक ताल-मेल का नाम है, जिनमे से प्रत्येक ने अपनी-अपनी शिक्षा-दीक्षा एव प्रशिक्षण के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्यो को चुन लिया है और उनकी अनुपालना भी करते हैं। यह एक व्यक्तिगत सद्गुण और सामाजिक सद्गुण भी, क्योकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यो का समान रूप से हित-साधन होता है।"[1] बार्कर ने इसी विचार को इन शब्दो मे प्रकट किया है—"समाज मे विभिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं (जैसे शासक, सैनिक तथा उत्पादक) जो एक-दूसरे की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक समाज मे सगठित होकर तथा स्वधर्म का पालन करते हुए समाज को एक ऐसी इकाई मे गूँथते हैं जो अपने आप मे पूर्ण है। यह सम्पूर्ण मानव-मानस की उपज है जिसमे उसी का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। सामाजिक जीवन के इसी मूलभूत सिद्धान्त को प्लेटो ने न्याय की सज्ञा दी है।"[2] स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन करता है वह न्यायप्रिय है, और जिस समाज मे विभिन्न वर्गो के सदस्य अपने-अपने कार्य अपनी-अपनी योग्यता एव रुचि के अनुसार चुनते है और करते है, वह समाज या राज्य न्याय-परायण या न्यायनिष्ठ है।

प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त की विशेषताएँ

प्लेटो की न्याय सम्बन्धी अवधारणा यूनानी राजनीतिक जीवन के सन्दर्भ मे कुछ ऐसी विशेषताएँ रखती है, जो उसके स्वरूप एव प्रकृति को स्पष्ट करती हैं। इनमे से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. प्लेटो का न्याय बाह्य जगत की वस्तु न होकर आन्तरिक स्थिति है। वह किसी बाह्य-शक्ति द्वारा किसी पर आरोपित नही किया जाता, वह व्यक्ति की आत्मा की प्रतिध्वनि है। जिसे आत्मा का एक विशेष समन्वयात्मक गुण (Architectonic quality of the soul) कहा जा सकता है।

2. न्याय अहस्तक्षेप के सिद्धान्त (The Principle of Non-interference) से सयुक्त है। आदर्श राज्य मे प्रत्येक वर्ग के कार्य निर्धारित है और सामाजिक न्याय प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा करता है कि वह दूसरे सदस्य के कार्यो मे हस्तक्षेप न करे।

3. प्लेटो का सामाजिक न्याय-कार्य विशेषीकरण (Specialisation of Functions) का सिद्धान्त है। मनुष्य की तीन प्रवृत्तियो—ज्ञान, साहस एवं भूख के आधार पर प्लेटो ने समाज को शासक सैनिक एव उत्पादको के तीन वर्गो मे बाँटा है। इन तीनो वर्गो को विशिष्ट कार्य सौंपते हुए प्लेटो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपना ही कार्य करे तथा उस कार्य विशेष मे चरम-सीमा की दक्षता प्राप्त करके दिखलाए।

1 सेबाइन . पूर्वोक्त, पृ. 52
2 बार्कर पूर्वोक्त, पृ. 265.

4 प्लेटो के आदर्श राज्य मे न्याय की स्थापना दार्शनिक शासन द्वारा की गई है। योग्य शासन के लिए सैनिक एव शासक-वर्ग मे सम्पत्ति तथा नारी के साम्यवाद की व्यवस्था है जो नि.स्वार्थ समाज-सेवा की परिस्थिति का निर्माण कर सकेगी।

5 प्लेटो का सामाजिक न्याय सामाजिक एकता का सिद्धान्त है। कार्यो और गुणो के आधार पर विभाजित समाज के तीनो वर्ग भिन्न होते हुए भी सामाजिक एकता के प्रतीक है। इन व्यक्तियो और वर्गो मे एकता और सामञ्जस्य स्थापित करना ही सामाजिक न्याय की स्थिति है।

6 व्यक्ति एव समाज दोनो ही के स्तर पर न्याय-गुण की सम्प्राप्ति के लिए प्लेटो एक व्यवस्थित शिक्षा-क्रम प्रस्तुत करता है। (जिसकी चर्चा उसने आदर्श-राज्य मे की है) जिसके अभाव मे आदर्श-शासक एवं आदर्श-राज्य की स्थापना सम्भव नही हो सकेगी।

7 प्लेटो का राज्य एक नैतिक इकाई है, अत उसका न्याय-सिद्धान्त भी एक नैतिक मान्यता है, जो कानूनी नही है।

8 प्लेटो का न्याय मानव-जीवन की समग्रता को लेकर चलता है और वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का गुण और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति का दूसरा नाम है।

9 व्यक्तिगत स्तर पर न्याय व्यक्ति की अपनी आत्मा मे बुद्धि के शासन द्वारा समन्वय की स्थापना है। सामाजिक-स्तर पर यह व्यक्तियो द्वारा अपने-अपने कार्य करते हुए दूसरो के कार्यो में बिना हस्तक्षेप किए सामाजिक एकता को बनाए रखना है।

इस तरह न्याय 'रिपब्लिक' का आधार-स्तम्भ है और प्लेटो की सारी तर्क-शृ खला का उद्देश्य न्याय के इसी स्वरूप को उद्घाटित करना है। प्लेटो सिद्धान्ततः जिस व्यक्तिवाद का विरोध कर रहा था, न्याय की अवधारणा उसी का अन्तिम और चरम उत्तर है। इसके अनुसार व्यक्ति कोई अलग इकाई नही है बल्कि एक ऐसी व्यवस्था का अग है, जिसका उद्देश्य एकाकी आत्मा के सुखो की सिद्धि मात्र न होकर उस व्यवस्था मे एक नियत स्थान की पूर्ति करना अधिक है। न्याय राज्य के सद्गुणो का भी आधार है, क्योकि जब तक नागरिक अपने कर्त्तव्य-क्षेत्रो पर ध्यान केन्द्रित नही करेंगे, तब तक वे अपने सद्गुणो का परिचय भी नही दे सकेंगे। 'रिपब्लिक' मे न्याय को समाज-जीवन का सच्चा सिद्धान्त ठहराया गया है। इसीलिए 'रिपब्लिक' को 'न्याय मीमांसा का ग्रन्थ' भी कहा जा सकता है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना :

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को आदर्शवादी तथा राज्य के नैतिक सिद्धान्त को आत्म-विरोधी तक कहा जाता है। बौद्धिक एव व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ सक्षेप में इस प्रकार हैं—

1 बार्कर (Barker) के मतानुसार, इसका सबसे बडा दोष यह है कि 'प्लेटो का न्याय वस्तुत न्याय ही नही है। वह मनुष्यो को अपने कर्त्तव्यो तक सीमित करने वाली एक भावना मात्र है। यह कोई ठोस कानून नही है।" आज के न्याय की परिभाषा मे न्याय कानून का पालन कराने वाला अस्त्र है, किन्तु प्लेटो का न्याय केवल एक कर्त्तव्य-भावना है। नैतिक-कर्त्तव्य तथा कानूनी बाध्यता (Legal Obligation) को मिलाकर प्लेटो ने एक अस्पष्ट स्थिति उत्पन्न की है जो उसके न्याय को अव्यावहारिक बनाती है।

2 प्लेटो का न्याय निष्क्रिय है। न्याय के बल पर व्यक्ति अधिकारो के लिए सघर्ष करता आया है। किन्तु प्लेटो की 'रिपब्लिक' में वह इतना आत्म-सयमी और मर्यादित कर दिया गया है कि वह सामाजिक उत्थान की प्रक्रिया मे कोई सक्रिय भूमिका नही निभा सकता।

3 प्लेटो के सामाजिक न्याय-सिद्धान्त मे कर्त्तव्यो को प्रधानता दी गई है, व्यक्तिगत अधिकारो को नही। फलत उसके न्याय-सिद्धान्त मे व्यक्ति का केवल पाक्षिक स्वरूप ही स्पष्ट हो पाया है। न्याय

की प्राप्ति के लिए राज्य मे व्यक्ति का विलीनीकरण हो गया है जो उसके विकास के लिए हानिप्रद है। सच्चे न्याय की अवधारणा मे कर्त्तव्य और अधिकार दोनो का समावेश होना चाहिए जिसकी प्लेटो उपेक्षा करता है।

4. प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति का अपनी प्रकृतिदत्त योग्यतानुसार कार्य करना और उसका विशेषीकरण प्राप्त करना। लेकिन इस प्रकार के विशेषीकरण से व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक जीवन मे बाधा उत्पन्न हो जाएगी और उसका सर्वांगीण विकास सम्भव नही हो सकेगा। समाज के तीन वर्गों को मानव-व्यक्तित्व के तीन गुणो के आधार पर बनाना अतार्किक है। यह आवश्यक नही कि किसी व्यक्ति मे तीनो मे से कोई एक ही गुण अधिक हो फिर भी एक ही व्यक्ति साहसी, बुद्धिमान् एव क्षुधा-प्रधान भी हो सकता है। प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तिहाई और एकांगी होगा। इसी प्रकार प्लेटो द्वारा किया गया श्रम-विभाजन भी गलत है। वह मनुष्य स्वभाव की प्रवृत्तियो के अनुसार समाज को तीन वर्गो मे बाँटता है, जबकि इन प्रवृत्तियों के आधार पर यह वर्ग-विभाजन सम्भव नही हो सकता। ये सभी आन्तरिक तत्त्व है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से अन्योन्याश्रित एव अविभाज्य हैं।

5 प्रो सेबाइन (Sabine) का आरोप है कि "प्लेटो की न्याय-कल्पना जड, आत्मपरक, निष्क्रिय, अनैतिक, अव्यावहारिक एव अविश्वसनीय है।"[1] उन्हे प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त अनावश्यक सामान्य ज्ञान का सिद्धान्त लगता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति अथवा वर्ग किसी प्रवृत्ति विशेष से सचालित होता भी है तो उसे यह बतलाने की क्या आवश्यकता है कि वह केवल अपना एक ही कार्य करे।

सामाजिक न्याय का यह सिद्धान्त स्थायित्व की ओर झुका हुआ है जो व्यक्ति को उसके स्वभाव के साथ बाँध कर पारस्परिक सघर्ष मिटाने के स्थान पर अपनी न्याय-व्यवस्था से वर्ग-सघर्ष की स्थिति पैदा करता है।

6 प्लेटो की रिपब्लिक मे कार्य विशेषीकरण एव वर्ग-विभाजन की न्यायिक स्थिति जाति एव वर्ण-व्यवस्था का-सा रूप धारण कर लेती है जो राज्य में एकता के स्थान पर विषमता उत्पन्न करती है। एक ओर तो वह कहता है कि समाज का कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करेगा, किन्तु दूसरी ओर उसने अपने शासक-वर्ग को राज्य पर निरकुश शासन करने का सम्पूर्ण अधिकार दिया है जो दूसरे वर्गों के कार्य मे घोर हस्तक्षेप कहा जा सकता है। शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए यदि शासक-वर्ग उत्पादक-वर्ग के कार्यो मे हस्तक्षेप करता है तो यह न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध होना चाहिए, किन्तु यदि वह ऐसा नही करता है तो आदर्श राज्य मे शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से नही चल सकेगी।

अपने न्याय-सिद्धान्त की क्रियान्विति के लिए प्लेटो ने दार्शनिक शासको को इतनी अधिक शक्तियाँ प्रदान की है कि वे निरकुश शासक बन गए हैं। शक्ति के एकाधिकार अथवा सम्पूर्ण शक्ति की निरकुशता के कारण प्लेटो के विवेकी शासको के पथभ्रष्ट हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना बनती है जो अन्याय को जन्म देगी। इस सिद्धान्त मे केवल सैनिक एव शासक-वर्ग को ही अति महत्त्व दिया गया है जिसके कारण जन-साधारण महत्त्वहीन हो गया है। यह प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। न्याय का यह सिद्धान्त प्लेटो को फासीवादी और अधिनायकवादी बनाता है।

7. प्लेटो के अनुसार राज्य के शासक एवं सैनिक वर्ग पारिवारिक सुख तथा सम्पत्ति से वंचित कर दिए जाएंगे। उसका यह विचार मानव-स्वभाव एव नारी-मनोविज्ञान के सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। सुख-सम्पत्ति एक परिवार से विलग रहकर राज्य के सरक्षक अपने कार्यो की पूर्ति नही कर सकते।

2 "Plato's conception of Justice is too static, subjective, demoralising, unpsychological and unrealisable."

प्लेटो की न्याय धारणाओं पर तत्कालीन एथेन्स की राजनीति का गम्भीर प्रभाव है। इस व्यवस्था में तीन मुख्य दोष थे—(अ) पहला दोष तो यह था कि राज-काज को समझे बिना ही जन-साधारण उसमें भाग लेता था और हस्तक्षेप करता था। इस दोष को मिटाने का एकमात्र उपाय यही हो सकता था कि सभी को अपने काम का विशेषज्ञ बनाया जाए और प्लेटो का न्याय यही करने की कोशिश है। (ब) दूसरा दोष था—स्वार्थपरता और भ्रष्ट राजनीति। एथेन्सवासी अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे थे। किसी को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि राज्य पर उसका क्या दुष्प्रभाव पड़ने जा रहा है। प्लेटो ने व्यक्ति का राज्य में विलय कर इस अन्याय से लड़ने का प्रयास किया है। (स) तीसरे, नागरिकों का ऐसे दो प्रमुख गुटों में विभाजन जो एक-दूसरे के विनाश पर तुले थे। इसके परिणामस्वरूप एथेन्स राज्य की एकता नष्ट प्राय: हो चुकी थी। अपने न्याय के सिद्धान्त के द्वारा प्लेटो एकता स्थापित करने की पूरी-पूरी कोशिश करता है। उसके अनुसार, "राज्य पर सभी वर्गों का अधिकार है और प्रत्येक वर्ग का राज्य के प्रति एक ऐसा आत्मारोपित कर्त्तव्य है जो उनकी एकता और अखण्डता को अक्षुण्ण रख सके।"

इस प्रकार प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त संयम, सन्तुलन, समन्वय और कर्त्तव्य-परायणता का पर्यायवाची है। व्यक्तिगत स्तर पर न्याय-परायण व्यक्ति वह है जो अपनी आत्मा में बुद्धि, साहस और भूख के तीनों तत्त्वों को संयमित कर बुद्धि के तत्वावधान में अपने व्यक्तित्व का समन्वय उपस्थित करता है। न्यायी व्यक्ति एक ऐसा सन्तुलित व्यक्तित्व है जो अपने व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों और क्षमताओं की मर्यादा भली-भाँति पहचानता है। वह केवल गुणवान ही नहीं वरन् विभिन्न गुणों को यथास्थान और यथा अवसर प्रदर्शित करना भी जानता है। प्लेटो का यह व्यक्तिगत न्याय एक ऐसी शैल्पिक विशेषता (Architechtonic quality) है जो अन्य गुणों और क्षमताओं को एक-दूसरे के साथ समन्वित करके दुर्गुण बनने से रोकती है। एक गुण या क्षमता विशेष (Departmental Excellence) यदि अति को प्राप्त कर ले तो वह व्यक्तित्व का दुर्गुण बन जाती है अतः बुद्धि के विवेक-पूर्ण नियन्त्रण में गुणों के मर्यादित रहने पर ही व्यक्तित्व की कोई भी क्षमता गुण की सीमा में रह सकती है। आत्मा की यही सन्तुलनकारी एवं विवेक-सम्मत क्षमता वह न्याय है जो व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों अथवा दायित्वों के प्रति जागरूक बनाती है।

सामाजिक स्तर पर न्याय की उपलब्धि व्यक्तिगत स्तर के न्याय की विद्यमानता को अनिवार्य मान कर चलती है। प्लेटो यह मानता है कि व्यक्तिगत न्याय द्वारा स्थापित समरसता एवं व्यक्तित्व-सन्तुलन के बावजूद भी राज्य के सभी नागरिक एक-सा जीवन नहीं जी सकते। उन्हें बुद्धि, साहस और मौलिक तत्वों की प्रधानता के आधार पर अपनी रुचि के अनुसार अपना कार्य-क्षेत्र एवं व्यवसाय चुनना होगा। अपने उस रुच्यनुकूल कार्य को वे जानें, करें और करते समय यह न सोचें कि अन्य व्यक्ति भी इसी प्रकार का अपना कर्त्तव्य कर रहे हैं या नहीं। प्लेटो मानता है कि इस आत्मारोपित कर्त्तव्य-परायणता और व्यावसायिक-दक्षता से समाज के विभिन्न वर्गों में कार्य-कुशलता एवं सामाजिक एकता की स्थापना हो सकेगी। दूसरे शब्दों में, विशिष्ट कार्यों को विशेषज्ञों की योग्यता से करते हुए समाज में एकता की भावना का अभ्युदय और सम्प्राप्ति ही सामाजिक न्याय है।

कुल मिलाकर प्लेटो का न्याय तत्कालीन एथेन्स की प्रमुख समस्याओं का उत्तर है—ज्ञान, व्यावसायिक ज्ञान और विशेषज्ञों का विशिष्ट ज्ञान मिलकर अज्ञान को नष्ट कर सकेंगे और सामाजिक चेतना प्रदीप्त हो सकेगी। जब इस प्रकार के नागरिक अपना-अपना कार्य करते हुए ज्ञानी और दार्शनिक शासकों की अधीनता में रहेंगे तो समाज में जैविक एकता और कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना जागेगी, जिससे क्षुद्र, स्वार्थ और संकीर्णताएँ मिटेंगी तथा एक 'सामाजिक एकीकरण' (Social Integration) या भावनात्मक एकीकरण (Emotional Integration) सम्भव हो सकेगा। न्याय के द्वारा राज्य के एकीकरण का विचार आज के युग के जनतन्त्रात्मक राज्यों के लिए भी पर्याप्त रूप से उपयोगी है।

अज्ञान को मिटाने के लिए जिस व्यवसायी विशेषीकरण का प्रश्न प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में उठाया है, उसे आज के बड़े राज्य भी निरर्थक और गौण नहीं मान सकते। न्याय की यह कल्पना आज के विघटनशील और अज्ञानी शासकों द्वारा शासित जनतन्त्रों के लिए उतनी ही बड़ी चुनौती है जितनी कि सुकरात के हत्यारे एथेनियन जनतन्त्र के समक्ष रही होगी। मानव-प्रकृति की मूल दुर्बलता और मौलिक क्षमता, जिसके अध्ययन के आधार पर प्लेटो अपनी वर्गवादी व्यवस्था में समरसता, सन्तुलन एव एकीकरण लाना चाहता है, जनतन्त्र के शाश्वत् प्रश्नों पर प्रकाश डालती है। व्यक्ति और समाज दोनों के लिए न्याय के नाम पर जिस निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता और राज्य हित के लिए त्याग और बलिदान की अपेक्षा और आवश्यकता प्लेटो ने प्रतिपादित की है उसे सभी शासक और विचारक स्पृहणीय मानते हैं। यह दूसरी बात है कि इनकी उपलब्धि और खोज में अनुशासन की आवश्यकता बतलाते हुए प्लेटो स्वयं अपनी सीमाओं से बहुत दूर चला गया है।

इस प्रकार प्लेटो की न्याय-व्यवस्था व्यक्ति और समाज के स्तरों पर अज्ञान और स्वार्थ-आधारित संकीर्णताओं से निपटने का एक राजनीतिक अभ्यास है। व्यक्तिगत न्याय की अवधारणा द्वारा प्लेटो यह प्रतिपादित करना चाहता है कि सच्चे ज्ञान के आलोक से आलोकित व्यक्ति अपने कर्त्तव्य-पालन में व्यर्थ की बाह्य बाधाओं को अवरोध नहीं मानेगा। ज्ञान, गुण होने के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में समरसता, सन्तुलन एव जैविक एकता उत्पन्न होगी जिसके फलस्वरूप क्षुद्रताएँ एव संकीर्णताएं विक्षुब्ध होकर समग्रता एव एकत्व का भाव जागेगा। इसी तरह सामाजिक न्याय समाज के व्यक्तित्व में एकत्व की स्थापना है जो उसके त्रिवर्गात्मक स्वरूप की स्वीकृति एव दार्शनिक शासक की अधीनता में एकता लाने का प्रयास है। मानव-व्यक्तित्व की भाँति आदर्श राज्य अपने विभिन्न वर्गों द्वारा विशेषीकृत कार्य करने की अपेक्षा करेगा और सामाजिक न्याय इस बहुवर्गी समाज को दार्शनिक राजा के नेतृत्व में एकता में बाँधे रहेगा। जिस तरह व्यक्ति के स्तर पर न्याय-व्यक्तित्व को समरसता रखना है, वह मस्तिष्क का आज्ञा-पालन है। इसी प्रकार सामाजिक न्याय अपने कर्त्तव्य-बोध और कर्त्तव्यपरायणता के द्वारा समाज में दार्शनिक शासन के माध्यम से सामाजिक एकता की एक ऐसी उपलब्धि है जो गुणात्मक जीवन की साझेदारी को सम्भव बना सकेगी।

बार्कर ने लिखा है कि "न्याय रिपब्लिक की आधारशिला है और रिपब्लिक न्याय की मूल अवधारणा का संस्थागत स्वरूप है।" उक्त कथन यह स्थापित करता है कि प्लेटो ने न्याय की अवधारणा पहले विकसित की और जब वह उसे संस्था का रूप देने लगा तो रिपब्लिक बन गई। दूसरे शब्दों से यदि न्याय विचार है तो रिपब्लिक उसका संस्थागत स्वरूप। न्याय की अवतारणा एक आदर्श राज्य का बीज रूप है जो विकसित होकर दार्शनिक राजा की रिपब्लिक के रूप में मूर्तमान हुआ है। न्याय की अवधारणा एकीकृत शरीर की जैविक कल्पना है, जिसमे विभिन्नताएँ एव विभिन्न स्तर पर किए गए कार्यों में एकरूपता अथवा समरसता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि समाज का प्रत्येक वर्ग हाथ, पैर, आँखों की भाँति अपना-अपना कार्य करे लेकिन जिस तरह शरीर की जैविक एकता मस्तिष्क के शासन पर निर्भर करती है, उसी प्रकार एक आदर्श राज्य की एकता दार्शनिक राजाओं के शासन द्वारा ही सम्भव है। फिर जिस प्रकार शरीर पर मस्तिष्क का शासन तानाशाही प्रक्रिया से शरीर के हित में चलता है, उसी प्रकार अपने आदर्श राज्य के सामूहिक हित एव एकता के लिए प्लेटो विवेकशील एव जाग्रत दार्शनिकों का अधिनायकवादी प्रतिमान प्रस्तुत करता है। ये दार्शनिक राजा केवल एक उत्तरदायी एव राज्य द्वारा संचालित शिक्षा प्रणाली से ही पैदा हो सकते हैं और वे सदैव अपनी इस प्रबुद्ध राजनीतिक मस्तिष्क की स्थिति में बने रह सकें, इसके लिए प्लेटो सम्पत्ति एवं परिवार का साम्यवाद निर्धारित करता है। अतः न्याय की अवतारणा व्यावहारिक तभी बन सकती है, जब एक शिक्षा पद्धति और साम्यवादी व्यवस्था दार्शनिक राजाओं की प्रबुद्ध आदर्श संस्था को जन्म दे सके जिसे प्लेटो रिपब्लिक कहता है। दूसरे शब्दों में यदि न्याय रिपब्लिक की आधारशिला है तो रिपब्लिक में जो भी व्यवस्था बनी है वह न्याय का व्यावहारिक एव मूर्तिमान रूप है।

रिपब्लिक में शिक्षा सिद्धान्त
(The Scheme of Education in the Republic)

प्लेटो के राज्य की आत्मा न्याय है और यदि न्याय से हटकर उन साधनों पर विचार किया जाए जिनके द्वारा उसकी सिद्धि हो सकती है तो इसके लिए प्लेटो ने दो सस्थाओं की सरचना का सुझाव दिया है—एक है, राज्य द्वारा सचालित की जाने वाली सामान्य शिक्षा प्रणाली, और दूसरी, साम्यवादी समाज व्यवस्था। बार्कर ने टिप्पणी की है कि सामान्य शिक्षा प्रणाली द्वारा विशिष्ट कार्य का वह प्रशिक्षण प्राप्त होगा और उसे पूरा करने मे नि स्वार्थ भाव से जुटे रहने की वह सहज प्रवृत्ति जाग्रत होगी जो न्याय की दृष्टि से आवश्यक है।[1] साम्यवादी समाज-व्यवस्था से इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए आवश्यक समय मिन सकेगा, क्योंकि इस व्यवस्था मे, लोग आजीविका कमाने की आवश्यकता से बहुत कुछ मुक्त हो जाएँगे। इससे भी बडी बात यह होगी कि इसके द्वारा उस दृष्टिकोण का विकास होगा जिसके अनुसार व्यक्ति 'पूर्ण अथवा समग्र' का अंग बनता है और जो प्लेटो की न्याय-अवधारणा मे सन्निहित है। प्लेटो की दृष्टि मे शिक्षा वह भावात्मक साधन है जिसके द्वारा शासन समरसतापूर्ण राज्य की स्थापना के लिए मानव-प्रकृति को सही दिशा की ओर उन्मुख कर सकता है।[2] प्लेटो ने रिपब्लिक मे शिक्षा का इतना विस्तार से विवेचन किया है और शासकों की शिक्षा को इतना महत्त्व दिया है कि रूसो ने तो रिपब्लिक को शिक्षा पर सर्वोत्कृष्ट कृति की सज्ञा दी है। उसके शब्दो मे, "रिपब्लिक केवल राजनीति पर लिखी गई पुस्तक मात्र ही नही वरन् शिक्षा पर लिखी गयी एक ऐसी उत्कृष्ट रचना है जो इससे पहले कभी नहीं लिखी जा सकी।"[3] रिपब्लिक की शिक्षा-योजना जीवन के समूचे दृष्टिकोण को बदल कर बुराई की जड पर प्रहार करने और जीवन-यापन के गलत ढग मे सुधार करने की एक चेष्टा है। यह एक मानसिक रोग को ठीक करने का एक ऐसा मानसिक निदान है जिससे सामाजिक पवित्रता तथा सत्य की अनुभूति मिलती है। शिक्षा का उद्देश्य—आत्मा को उस परिवेश मे लाना है जो उसके विकास की प्रत्येक अवस्था मे उसके उन्नयन के लिए सबसे अधिक अनुकूल हो। साम्यवाद का अर्थ है—राजनीति के परिवेश से उन तत्त्वो को हटा देना जो आत्मा के समुचित विकास में बाधक हो सकते हैं।[4]

प्लेटो ने शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया माना है जिसके द्वारा समाज के घटक एक सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होकर समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना सीखते हैं। एक अच्छे जीवन मे आने वाली बाधाओं को शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। शिक्षा एक ऐसा अभिकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज मे अपना समुचित स्थान बना पाता है और उसके अनुसार अपने को ढालता रहता है। सच्ची शिक्षा को सही ढग से ग्रहण करके मन और चेतना को सुसस्कृत बनाया जा सकता है। प्लेटो शिक्षा द्वारा समाज के विभिन्न वर्गो मे राजनीतिक चेतना और कर्त्तव्य-परायणता की भावना के सचार का आकाँक्षी है। उसकी दृष्टि मे शिक्षा वह प्रकाश है जो व्यक्ति के मस्तिष्क पर छाए हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटा कर ज्ञान की ज्योति जगाता है। इस ज्योति से सभी वर्गों के कर्त्तव्य-पथ आलोकित हो सकते है और राज्य मे एकता तथा व्यवस्था बनी रह सकती है। प्लेटो की शिक्षा-योजना का एक समाजशास्त्रीय लक्ष्य भी है और वह है राज्य के महत्त्व का ज्ञापन। यूनानियो के चिन्तन मे राज्य एक सजीव सस्था थी और जिसके साथ उनका एक रागात्मक सम्बन्ध था। सोफिस्टों द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिवाद का खण्डन कर प्लेटो समूह का महत्त्व प्रतिपादित करना चाहता है। राज्य द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध उसे अभीष्ट है चूँकि उसकी शिक्षा का प्रयोजन भी यही है कि समाज के वर्ग अपने-

1 बार्कर . पूर्वोक्त, पृष्ठ 273
2 सेबाइन • पूर्वोक्त, पृष्ठ 57
3 "The Republic is not a work upon politics but the finest treatise on education that was ever written."
4 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 273

अपने कार्य पूरी शक्ति और आस्था से पूरे करें। शिक्षा के सामाजिक पहलू पर बल देते समय प्लेटो ने उसके व्यक्तिगत पक्ष को भी नही भुलाया है। उसके लिए शिक्षा केवल समाज-सेवा का ही एक साधन मात्र न होकर व्यक्ति के लिए भी एक सत्य-शोधक यन्त्र है। मानव-मस्तिष्क मे ज्ञान की गंगा प्रवाहित कर शिक्षा व्यक्ति को उस अन्ध-कूप से निकालती है, जिससे वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके।

प्लेटो ने शिक्षा को जो महत्त्व दिया है, उसका एक स्वाभाविक परिणाम यह भी निकलता है कि शिक्षा को व्यक्तिगत माँग और पूर्ति के व्यापारिक सिद्धान्त पर नही छोड़ा जा सकता।[1] अतः, प्लेटो की दृष्टि मे राज्य का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है शिक्षा देना। इस सम्बन्ध मे प्लेटो अरस्तू से सहमत है और इस दृष्टि से वे दोनो ही यूनानी परम्परा के सच्चे प्रतिनिधि हैं। शिक्षा का अस्तित्व ही इसलिए है कि राज्य नागरिको को अपने राज्य के नैतिक जीवन की शिक्षा दे और विलोमत राज्य में शासन-व्यवस्था का अस्तित्व इसलिए होता है कि वह शिक्षा का प्रबन्ध करे।[2] प्लेटो की योजना एक राज्य-नियन्त्रित और अनिवार्य शिक्षा-प्रणाली को लेकर चली है। प्लेटो तो यह भी मानता है कि राज्य पहला और सबसे ऊँचा शिक्षण-संस्थान है।[3]

तत्कालीन यूनानी-पद्धतियाँ

अपनी शिक्षा-योजना को प्रस्तुत करते समय प्लेटो ने तत्कालीन यूनानी शिक्षा-पद्धतियों का भी दिग्दर्शन किया है। उसके समय के यूनान मे दो शिक्षा-पद्धतियाँ प्रमुख रूप से प्रचलित थी—एक एथेन्स मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति और दूसरी स्पार्टा मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति।

इन दोनो ही शिक्षा-प्रणालियो के अपने-अपने प्रकार के गुण-दोष थे। एथेन्स मे शिक्षा की कोई सार्वजनिक राजकीय व्यवस्था नही थी। शिक्षा एक व्यक्तिगत व्यवसाय था जो राज्य का कर्त्तव्य न होकर परिवार का उत्तरदायित्व माना जाता था। राज्य की ओर से शिक्षा संस्थाओ को कोई सहायता नही मिलती थी। रोमन साम्राज्य के समय तक यूरोप में राज्यों की ओर से कोई शिक्षा संस्थान नहीं बने थे। सोलन (Solan) के एक कानून द्वारा माता-पिता को यह आदेश था कि वे अपने लडको को अक्षरो का ज्ञान कराएँ। लडकियो के विषय मे सोलन का यह कानून मौन था। शिक्षा का पाठ्यक्रम तीन अवस्थाओं मे बँटा हुआ था—(1) प्राथमिक, (2) माध्यमिक तथा (3) उच्च। शिक्षा के मुख्य विषय (जो साक्षरता के बाद पढाये जाते थे)—पढ़ना, लिखना, प्राचीन कवियों के साहित्य का अध्ययन, व्यायाम, खेलकूद और संगीत आदि थे। साहित्य के माध्यम से धर्म एवं आचारशास्त्र की शिक्षा का भी अध्ययन करवाया जाता था। प्राथमिक शिक्षा 6 से 14 वर्ष की अवस्था तक और माध्यमिक शिक्षा 14 वर्ष से 18 वर्ष तक की अवस्था तक चलती थी। प्राथमिक शिक्षा के बाद आगे अध्ययन की इच्छा रखने वाले शिक्षार्थी सोफिस्टो या आइसेक्रेटो के विद्यालयो मे शुल्क से माध्यमिक शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। चूँकि यह शिक्षा खर्चीली थी अतः प्राय धनी लोग ही इसका लाभ उठा पाते थे। सोफिस्ट अलंकारशास्त्र, भाषण-कला, राजनीति, व्याकरण आदि विषयो का अध्यापन करते थे। शिक्षा की तीसरी अवस्था 18 से 20 वर्ष तक की थी। दो वर्ष की इस अवधि मे विद्यार्थियो को सैनिक शिक्षा दी जाती थी जिससे नागरिक-उत्तरदायित्वो को निभाने की क्षमता प्राप्त करते थे।

स्पार्टा मे शिक्षा-व्यवस्था राज्याधीन थी। सभ्यता और विकास की दृष्टि से एथेन्स की तुलना मे काफी पिछड़ा हुआ स्पार्टा (Sparta) प्लेटो के युग मे अविकसित स्थिति मे था। युद्ध की वहाँ की राजनीति मे विशेष भूमिका थी। इस सैनिक राज्य मे प्राचीनकाल से ही राज्य की ओर से

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.
2 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 274.
3 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.

कठोर प्रशिक्षण की व्यवस्था विद्यमान थी। यहाँ शिक्षा मे परिवार का कोई उत्तरदायित्व नही था। 7 वर्ष की अल्पायु से ही बालक राज्य को सौंप दिए जाते थे। राज्य उनकी प्रतिभा, योग्यता तथा अभिरुचि के अनुसार उन्हे शिक्षा देता था किन्तु शिक्षा का स्वरूप प्रमुख रूप से सैनिक शिक्षा (Military Education) था जिसका एकमात्र उद्देश्य था अच्छे लडाकू-रक्षक पैदा करना। कला अथवा सूक्ष्म बौद्धिक विकास की इस व्यवस्था मे कोई सम्भावनाएँ नही थी। बड़ी-बड़ी व्यायामशालाएँ (Gymnasium), रहने एव सोने-खाने के लिए बडे-बडे सामान्य कक्ष और युद्ध-क्षेत्र—ये ही स्पार्टा की प्रमुख शिक्षण-संस्थाएँ थी। स्पार्टा मे, प्रारम्भ से उच्च शिक्षा तक राज्य का नियन्त्रण था। प्रत्येक शिक्षार्थी को इसलिए सैनिक शिक्षा दी जानी थी जिससे कि वह उस स्पार्टन सैनिक परम्परा की रक्षा कर सके जिस पर वह जीवित था। स्पार्टा मे विभिन्न प्रकार की शारीरिक एव मानसिक क्रियाओ और परीक्षाओ के द्वारा विद्यार्थियो को सुदृढ बनाया जाता था। स्त्रियो के लिए शारीरिक शिक्षा अनिवार्य थी। प्लूटार्क ने स्पार्टा के प्रसिद्ध नियम-निर्माता लाइकार्गस (Lycargus) की जीवनी में लिखा है कि यहाँ बालक-बालिकाएँ एक साथ नग्नावस्था मे नाना प्रकार के व्यायाम करते थे।[1] "युवतियो को शरीर दौड, कुश्ती, बर्छी, भाला फैंकना आदि विभिन्न व्यायामो द्वारा सम्पुष्ट बनाया जाता था ताकि उनकी सन्तानें भी पुष्ट और बलिष्ठ हो।" स्त्रियो और पुरुषो को एक निश्चित प्रकार का बनाया जाता था। परिवार मे वैवाहिक प्रेम को कोई स्थान नही था। 20 वर्ष की अवस्था के बाद नागरिको को विवाह करने की स्वतन्त्रता थी, लेकिन 30 वर्ष की अवस्था के बाद नागरिको को विवाह करने की स्वतन्त्रता नही थी, लेकिन 30 वर्ष तक उन्हे राजकीय पुरुषघरो (Men's House) मे रहना पडता था। पारिवारिक जीवन को राजकीय आवश्यकताओ के सम्मुख गौण समझा जाता था। विवाह एक गुप्त और अवैध सम्बन्ध था। पति-पत्नी वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन का उपभोग नही कर सकते थे। स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक आवश्यकताओ के अनुरूप थी। सभी नागरिक सामूहिक-भोजनालयो मे भोजन करते थे। लोहे की मुद्रा प्रचलित थी। स्पार्टा का शासन कुलीन व्यक्तियो के हाथ मे था। वे आर्थिक एवं पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त रह कर अपना सम्पूर्ण समय राज्य के कार्यों तथा राज्य द्वारा निर्धारित प्रशिक्षण मे लगाते थे। स्पार्टा की इस शिक्षा-प्रणाली को यूनानी जगत मे इतनी ख्याति प्राप्त थी कि एथेन्स के युवक शिक्षा प्राप्ति हेतु वहाँ जाया करते थे।

प्लेटो ने एथेन्स और स्पार्टा की दोनों ही शिक्षा-प्रणालियो का अध्ययन किया। उसने दोनो में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण और दोष पाए। उसके मत मे एथेन्स की शिक्षा जहाँ युवको का उचित मानसिक और शारीरिक विकास करती थी, वहाँ उसका गम्भीर दोष यह था कि वह राज्य द्वारा न दी जाकर परिवार द्वारा दी जाती थी। एथेन्स मे शिक्षा का मुख्य केन्द्र राज्य नही बल्कि परिवार था। ऐसी शिक्षा राज्य के हितों की दृष्टि से निरर्थक हो सकती थी। इससे केवल विचारक और सुधारक पैदा हो सकते थे, अच्छे नागरिक नही। प्लेटो का विचार था कि शिक्षा के द्वारा ही शासक व्यक्तियो के चरित्र का निर्माण कर सकता है और उन्हे नि स्वार्थ भाव से समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करने के लिए उत्प्रेरित भी कर सकता है अत ऐसे महत्त्वपूर्ण साधन राज्य के पास होने चाहिए न कि व्यक्ति के हाथो में। एथेन्स मे राज्य व्यक्ति को नागरिक होने की शिक्षा नही देता था और इसका परिणाम यह होता था कि राज्य के अधिकारी अयोग्य और निकम्मे होते थे। वे अज्ञानी शासक थे जो स्वार्थ-सिद्धि को ही अपना प्रधान लक्ष्य मानते थे। स्पार्टा की शिक्षा-प्रणाली में प्लेटो ने देखा कि उसका पाठ्यक्रम बहुत ही सकुचित एव एकांगी था। वह शारीरिक विकास एव सैनिक शिक्षा पर ही मुख्यत केन्द्रित था और मानसिक विकास से उसका कोई सम्बन्ध नही था। बहुत कम स्पार्टावासी लिखना-पढना जानते थे। अधिकांश लोगो को तो यूनान के इतिहास तक का भी ज्ञान नही था।

1 *Russel*. History of Western Philosophy, p 116

मानसिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण की उपेक्षा के कारण स्पार्टन शिक्षा मनुष्य को पूर्ण बनाने में असमर्थ थी।

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की विशेषताएँ

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना में एथेन्स और स्पार्टा दोनों की शिक्षा-प्रणालियों के गुणों को समन्वित किया और दोनों के दोषों को मिटाने की कोशिश की। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि उसने एथेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का संयमित शारीरिक शिक्षण जोड़ा और इस तरह शिक्षा को व्यक्तित्व और राष्ट्र दोनों के विकास का माध्यम माना। एथेन्स से शिक्षा का वैयक्तिक रूप लिया गया जिसके अनुसार व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास वाञ्छनीय माना गया और स्पार्टा से उसका सामाजिक स्वरूप लिया गया जिसके अनुसार शिक्षा राज्य के नियन्त्रण एवं निर्देशन में होनी चाहिए जिससे वह अच्छे नागरिक उत्पन्न कर सके। राज्य नियन्त्रित अनिवार्य उदारतावादी शिक्षा प्लेटो का एक नवीन आविष्कार थी जो एथेन्स में पहले कभी नहीं पाई गई। सेबाइन (Sabine) के शब्दों में, "हम इसे उस जनतन्त्री प्रथा की एक ऐसी समालोचना कह सकते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने बच्चों के लिए एक ऐसी शिक्षा खरीदने की स्वतन्त्रता देती है जो या तो उसे अच्छी लगती हो या जो तत्कालीन बाजार में उपलब्ध हो।" उसकी यह प्रणाली स्पार्टा का आदर्शीकरण था जहाँ राज्य इसका प्रबन्ध करता था कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हो सके जो उसे अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरणा दे सके।

एथेन्स की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में प्लेटो ने एक दूसरी नवीन विशेषता यह जोड़ी कि उसने स्त्री एवं पुरुष के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उसने अपने आदर्श राज्य में दोनों को समान रूप से प्रत्येक पद का अधिकारी माना। उसके अनुसार राष्ट्र के निर्माण में पुरुषों का भी उतना ही साथ है या होना चाहिए जितना कि नारियों का। नारी-जाति की उपेक्षा करके कोई भी राज्य आदर्श एवं शक्तिशाली नहीं बन सकता अतः स्त्रियों को भी आवश्यक रूप से शिक्षा मिलनी चाहिए। प्लेटो का कहना था कि स्त्रियों और पुरुषों में शारीरिक बनावट के अतिरिक्त मानसिक बुद्धि और दक्षता की दृष्टि से कोई भी अन्तर नहीं है, अतः उन्हें भी पुरुषों जैसी शिक्षा अनिवार्य रूप से मिलनी ही चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो स्त्रियों और पुरुषों को समान शिक्षा की वकालत करते हुए भी उत्पादक और श्रमिक वर्ग को उच्च शिक्षा से वंचित रखना चाहता है। वह सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा की योजना रखता है किन्तु, सभी से उसका तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हैं और जिनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की पात्रता है। प्लेटो उत्पादक और श्रमिक वर्ग के व्यावसायिक विशेषीकरण (Functional Specialisation) की तो बातें करता है किन्तु उन्हें किसी प्रकार की उदारतावादी (Liberal) उच्च शिक्षा देने का प्रावधान नहीं करता। व्यावसायिक शिक्षा को वह शिक्षा नहीं मानता और कुशल से कुशल विशेषज्ञ या उत्पादक को वह शासक बनने का अधिकार नहीं देता। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है, "राज्य में शिक्षा के इतने महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है कि प्लेटो उत्पादकों की शिक्षा के सम्बन्ध में कहीं विचार नहीं करता। वह यह भी नहीं बताता कि उन्हें प्राथमिक शिक्षा भी देनी है या नहीं। इससे ज्ञात होता है कि प्लेटो के निष्कर्ष कितने असम्बद्ध और साधारण हैं। प्लेटो यह चाहता है कि श्रमिकों और उत्पादकों के होनहार बच्चों की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध हो लेकिन यह उस समय तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि प्रतियोगी शिक्षा-प्रणाली (Competitive Educational System) द्वारा चुनाव न किया जाए।"[1] प्लेटो ने इस बारे में विस्तार से नहीं लिखा। जेलर

1 सेबाइन पूर्वोक्त, पृष्ठ 58

(Zeller) के अनुसार, स्वयं अभिजात वर्ग का व्यक्ति होने के कारण प्लेटो शिल्पियों से घृणा करता था। उसका सामान्य शिक्षा मे कम विश्वास था। वह अधिक प्रतिभा-सम्पन्न युवको के लिए चुनी हुई शिक्षा पद्धति का समर्थक था। उसकी शिक्षा-प्रणाली का आधार दार्शनिक एव मनोवैज्ञानिक था और उसने शिक्षा को दार्शनिक-दृष्टिकोण से ही देखा है।

प्लेटो की शिक्षा का दार्शनिक आधार

प्लेटो ने शिक्षा को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखते हुए माना है कि मानवीय आत्मा या मन एक क्रियाशील शक्ति है। इसके सामने विषय प्रस्तुत नही किए जाते, बल्कि यह स्वय विषयो की ओर आकृष्ट होता है। आत्मा एक अनुकरणशील पदार्थ है जो अपने-आपको अपने परिवेश के अनुरूप स्वाभाविक रूप से ढालता रहता है। मानव-मस्तिष्क या मन चेतनायुक्त और जिज्ञासामय है। इस जिज्ञासा और आकर्षणवृत्ति से मन का झुकाव जाना जाता है। शिक्षक को इसके साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहिए। उसका काम केवल इतना ही है कि वह अपने शिक्षार्थी के मानसिक नेत्रों के सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिससे वह वस्तुओ को उनके यथार्थ रूप मे देख सके। मनुष्य के ज्ञान-चक्षु परिस्थितियो की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने आप खुल सके और वे अन्तरात्मा से सच्चे ज्ञान की प्रकाशमयी किरणें बिखेर सकें, वही वास्तविक शिक्षा है।

शिक्षा, इस तरह, वाह्य वातावरण के आत्मा या मन पर पडने वाले प्रभाव की प्रतिक्रिया है। वातावरण का आत्मा के सुसस्कारो के निर्माण मे भारी हाथ होता है। जिस तरह शरीर पर भोजन का प्रभाव पडता है, उसी तरह आत्मा पर भी परिवेश अथवा वातावरण का प्रभाव निरन्तर और प्रत्येक स्थिति मे पडता रहता है अत शिक्षा का क्रम आजीवन होता है। हाँ, उसके साधन, अभिकरण और माध्यम अवस्थानुसार अवश्य वदलते रहते हैं, अवस्थानुसार मनुष्य पर वाह्य वातावरण की प्रतिक्रियाएँ भी वदलती रहती है। अत. मनुष्य की शिक्षा के विषयो मे भी अन्तर आते रहना स्वाभाविक है। बाल्यावस्था मे आत्मा पर कल्पना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, अत प्रारम्भिक शिक्षा का काम कल्पना को परिमार्जित बनाना और भावनाओ को परिष्कृत करना है। किशोरावस्था मे तर्क का उदय होता है और आत्मा तर्क द्वारा ग्राह्य बनती है, अत. इस अवस्था मे शिक्षा, विज्ञान और दर्शन के माध्यम से तर्क-शक्ति के आधार पर दी जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों से परिचित कराना तथा उनको पालन करने की दीक्षा देना है। आगे चल कर शिक्षा का यह सामाजिक पहलू कुछ धूमिल-सा पड जाता है। अब शिक्षा मुख्यत सत्य-साधना तथा ब्रह्म-दर्शन का एक साधन बन जाती है।

प्लेटो का विचार है कि विकास सम्पूर्ण मानव-मस्तिष्क की एक समग्र प्रक्रिया है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनो ही मस्तिष्क की उपज हैं और मस्तिष्क का दोनों से ही सम्पर्क बनाना आवश्यक है। राज्य मस्तिष्क के विकास का एक आवश्यक तत्त्व है अत: राज्य और व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित है। प्लेटो का यह कहना है कि "मस्तिष्क केवल एक ही आदर्श की ओर जाता है और वह है सद्गुण की प्राप्ति। मस्तिष्क का दूसरा कार्य ज्ञान की खोज करना है। ज्ञान के द्वारा विश्व की एकता का पता लगता है, अत. ज्ञान का उद्देश्य भी अच्छाई (Good) की खोज है। प्लेटो की धारणा है कि सत् ही समस्त चीजो का आधार है। शिक्षा का उद्देश्य दार्शनिक आधार है। बार्कर की दृष्टि मे "यही मानव के उस दर्शन की चरम सीमा है जिसका 'रिपब्लिक' मे प्रतिपादन हुआ है।"

शिक्षा का पाठ्यक्रम

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना तथा शिक्षा के कार्यक्रम को दो भागो मे विभाजित किया (क) प्रारम्भिक शिक्षा, एव (ख) उच्च शिक्षा। यह विभाजन दो आधारो पर किया गया है—पहला अवस्था के आधार पर और दूसरा वर्ग के आधार पर। प्रारम्भिक शिक्षा एक ओर तो बाल्यकाल से युवावस्था तक के लिए है और दूसरी ओर सैनिक वर्ग के लिए है। इसी प्रकार उच्च शिक्षा एक ओर

तो युवावस्था से प्रौढावस्था तक है और दूसरी ओर शासक-वर्ग के लिए है। प्रारम्भिक शिक्षा का ध्येय भावनाओं का परिमार्जन कर चरित्र-निर्माण करना है। उच्च शिक्षा का उद्देश्य विज्ञान और ज्ञान द्वारा बुद्धि का परिष्कार करके विवेक की सृष्टि एवं दिव्य दृष्टि को जन्म देना है। प्लेटो की शिक्षा का यह दोहरा कार्यक्रम निम्नलिखित तत्त्वों पर बल देता है—

(1) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए। (2) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना एवं उन्हें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान देना होना चाहिए। (3) शिक्षा देने वाले परिवारों की समाप्ति की जानी चाहिए। (4) शिक्षा द्वारा ज्ञानी शासक अर्थात् दार्शनिक राजा तैयार किए जाने चाहिए। इस भाँति एक आदर्श राज्य का निर्माण किया जाना चाहिए।

(क) **प्रारम्भिक शिक्षा (Elementary Education)**—प्रारम्भिक शिक्षा को प्लेटो तीन भागों में विभाजित करता है—(1) प्रारम्भिक 6 वर्ष तक की शिक्षा (2) 6 वर्ष से 18 वर्ष तक की शिक्षा, (3) 18 से 20 वर्ष तक की अवस्था तक की शिक्षा।

प्रारम्भिक शिक्षा में प्लेटो शारीरिक, साहित्यिक और संगीतात्मक शिक्षा को सम्मिलित करता है। इस अवस्था में शिशुओं और किशोरों को निर्मल, स्वस्थ एवं नैतिकता का सन्देश देने वाली कहानियाँ सुनाई जानी चाहिए। प्लेटो चाहता है कि संगीत द्वारा बालक-बालिकाओं की आत्मा को निर्मल तथा व्यायाम द्वारा उनके शरीर को स्वस्थ बनाया जाए। संगीत से प्लेटो का तात्पर्य केवल गाना-बजाना ही नहीं है। उसकी दृष्टि से तो संगीत वह कला है जो मानव-मन को झंकृत करदे। संगीत काव्य की शिक्षा साहित्य, गीत, शिल्प, मूर्ति, चित्र आदि सभी ललितकलाओं की प्रतीक है। प्लेटो के अनुसार सर्वश्रेष्ठ शिक्षा, "आत्मा के लिए संगीत और शरीर के लिए आवश्यक व्यायाम है।" बार्कर के शब्दों में, "इसका उद्देश्य तरुण आत्मा को उन समस्याओं के बारे में (जिन्हें उसे सुलझाना है) सही अनुभूति की प्रेरणा तथा सामर्थ्य देना है और फिर उस अनुभूति को इतना प्रबल बनाना है कि वह अपने और कर्त्तव्यों का पालन बिना किसी शंका के नैसर्गिक अभ्यास के रूप में करती रहे।"

इसी प्रकार व्यायाम से तात्पर्य केवलमात्र शरीर को पुष्ट करने वाली अखाड़े की कसरत नहीं है। व्यायाम एक ऐसे शरीर का निर्माण करता है जिसमें एक स्वस्थ और शुद्ध मन विकसित होता है और उसमें साहस तथा धैर्य के गुण पनपते हैं। इस प्रकार के व्यायाम के अन्तर्गत भोजनशास्त्र और औषधिशास्त्र भी सम्मिलित हैं। प्लेटो की इच्छा यह है कि शारीरिक शिक्षण से शरीर इतना स्वस्थ हो जाना चाहिए कि वह बीमार न हो। प्लेटो के मत में रोग आलस्य और विलासिता का परिणाम है। वह डॉक्टरों को रोग का इलाज करने वालों के स्थान पर उन्हें बढ़ाने वाला मानता है और इसीलिए अपने आदर्श राज्य में वह उन्हें कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देता। उसकी यह दृढ़ धारणा है कि संगीत की उचित शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में नैतिकता तथा व्यायाम द्वारा स्वास्थ्य का निर्माण किया जा सकता है। नैतिकता की विद्यमानता से समाज में न तो कानून और न्यायाधीशों की आवश्यकता होगी और स्वस्थ होने से न ही डॉक्टरों की।

प्लेटो ने चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक अंशों एवं कलाकृतियों पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध (Censorship) लगाने की व्यवस्था की है। उसका विचार है कि "साहित्य से इस प्रकार के सभी अंशों को निकाल देना चाहिए, जो देवताओं की प्रकृति के प्रतिकूल हों, उनसे बुरा काम कराते हों, छात्रों के साहस को कम करने वाले हों, और असंयम तथा भोग-विलास के आनन्दों को उत्पन्न करने वाले हों।" वह उसी संगीत को अभीष्ट मानता है जो चरित्र का संशोधन करे। वह, आयोनिआ और लिडिया के संगीत को बहिष्कृत करता है। केवल डोरिया और फ्रिजिआ के संगीत का जो दृढ़ता, शक्ति, ईश्वर-भक्ति और मानसिक स्थिरता का समर्थन करते हैं, वह अनुमोदन करता है।" मैक्साइन ने भी लिखा है—"प्लेटो ने प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत काव्य तथा साहित्य के उच्च रूपों को सम्मिलित किया था। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो इन कृतियों का सौन्दर्यपरक

समालोचन चाहता था। वह उन्हे नैतिक और धार्मिक शिक्षा का साधन मानता था, कुछ-कुछ इसी तरह जैसे कि ईसाई बाइबिल को समझते हैं। इस कारण वह न केवल भूतकाल के कवियो की रचनाओ के आपत्तिजनक अंशो को हटा देना चाहता था बल्कि यह भी चाहता था कि भविष्य के कवियो पर राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दें जिससे युवको के हाथों में खराब तथा अनैतिक असर डालने वाली कोई चीज न पड़ने पाए।"[1]

प्लेटो की प्रारम्भिक शिक्षा-योजना मे 6 वर्ष तक के बालक को नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। 6 से 18 वर्ष तक शारीरिक एव बौद्धिक शिक्षा तथा साथ ही संगीत तथा व्यायाम पर बल दिया गया। 18 से 20 वर्ष तक कठोर सैनिक-शिक्षा-व्यवस्था की गई है। 'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने प्रारम्भिक शिक्षा की जो योजना प्रस्तुत की है वह तत्कालीन प्रणाली का सुधार है, यह किसी नई व्यवस्था की योजना नही है। इस सुधार मे एथेन्स के नागरिक के लड़के को मिलने वाली शिक्षा का स्पार्टा के तरुणों को मिलने वाली राजनीतिक शिक्षा के साथ समन्वय कर दिया गया था और दोनों की ही विषय-वस्तु को काफी बदल दिया गया था।

(ख) उच्च शिक्षा (Higher Education)—'रिपब्लिक' का सबसे मौलिक और महत्त्वपूर्ण सुझाव उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध मे है। प्लेटो चाहता था कि इस शिक्षा के द्वारा चुने हुए विद्यार्थियो को 20 और 35 वर्ष की अवस्था के बीच मे सरक्षक वर्ग के उच्चतम पदो के लिए तैयार किया जाए। प्लेटो ने उच्च शिक्षा में दो स्तरो को कायम किया 20 से 30 वर्ष तक का शिक्षण और 30 वर्ष से 35 वर्ष तक का शिक्षण। 20 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जो विद्यार्थी परीक्षा मे योग्य एव बुद्धिमान् प्रमाणित होगे, उनके लिए ही इस उचित शिक्षा की व्यवस्था है। दूसरे शब्दो मे यह शिक्षा 20 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होगी और केवल उन्ही कुशाग्र-बुद्धि युवक-युवतियो को दी जाएगी जो भविष्य मे आदर्श शासक बन सकने की प्रतिभा रखते हो। उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम इन विद्यार्थियो में उच्च ज्ञान का सचार कर उन्हे मेधावी बनाएगा। प्लेटो की मान्यता थी कि जिस प्रकार एक सैनिक का विशेष गुण साहस अथवा शौर्य है, उसी प्रकार एक शासक का आवश्यक गुण ज्ञान अथवा विवेक है। इसको प्राप्त करने के लिए प्लेटो ने उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम मे केवल उन्ही वैज्ञानिक विषयो को चुना जो मस्तिष्क को विकसित करते है। ये विषय थे—गणित, ज्योतिष और तर्क-शास्त्र। प्लेटो का यह अटल विश्वास था कि ये यथार्थ विद्याएँ दर्शन के अध्ययन के लिए उचित भूमिका है। उसे आशा थी कि दार्शनिक अपने इस अध्ययन मे उसी प्रकार यथार्थ और शुद्ध निष्कर्ष निकाल सकेंगे जैसाकि गणित, ज्योतिष अथवा तर्कशास्त्र के अध्ययन मे सम्भव होता है। यही कारण है कि आदर्श राज्य की रूपरेखा मे उसने सबसे अन्त मे शिक्षा की यह योजना प्रस्तुत की। इस शिक्षा के अन्तर्गत इन सभी विद्याओ का पठन-पाठन होगा, नई-नई शोधें की जाएँगी और शासको को नई जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

10 वर्ष तक अर्थात् 20 वर्ष से 30 वर्ष की अवस्था तक इन विषयो का अध्ययन करने के उपरान्त एक परीक्षा होगी। उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियो को 35 वर्ष की आयु तक द्वन्द्ववाद (Dialectics) की शिक्षा दी जाएगी, क्योकि द्वन्द्ववाद ही वह साधन है जिसके द्वारा विशुद्ध तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तत्त्व सम्बन्धी समस्त विचारो मे सर्वोच्च विचार 'सत्' या शुभ (Good) की समीक्षा है जो समस्त प्राण का कारण और ज्ञान का लक्ष्य है। प्लेटो में 'शुभ' सम्बन्धी विचार का वही स्थान है जो वेदान्त में ब्रह्म का है। जो परम शुभ को जान लेता है वही सच्चा ज्ञानी है और इसलिए प्लेटो के अनुसार केवल वही शासन करने का अधिकारी है।

प्लेटो की शिक्षा का औपचारिक कार्यक्रम चाहे केवल 35 वर्ष की अवस्था मे ही समाप्त हो जाता हो, किन्तु इतनी लम्बी अवधि के इतने गम्भीर शिक्षण के बाद भी वह अपने सरक्षकों के शिक्षण

को अपूर्ण मानता है क्योंकि अभी तक उन्हें कोरी बौद्धिक शिक्षा ही मिली है, उन्हें ससार का व्यावहारिक अनुभव नही है। अतः प्लेटो ने अगले 15 वर्ष की अवधि तक सैद्धान्तिक शिक्षा के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था की है कि ये बुद्धिजीवी दार्शनिक ससार की पाठशाला मे 'तूफानी थपेडे और धक्के खाकर' व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। इस तरह "50 वर्ष की आयु तक सांसारिक जीवन की कठोर परीक्षाओं में खरे उतरने वाले और लोक-व्यवहार और शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान रखने वाले दार्शनिक ही प्लेटो की सम्मति मे शासक बनने के अधिकारी है।" प्लेटो का यह भी कहना है कि 50 वर्ष के बाद भी उन्हें स्वाध्याय करते रहना चाहिए।

प्लेटो की शिक्षा योजना के गुण

1. इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि वह उचित आयु मे उचित शिक्षा की व्यवस्था करती है। प्लेटो ने शिक्षा का पाठ्यक्रम बालको, किशोरो, युवको तथा प्रौढो सभी के लिए पृथक्-पृथक् बनाया है।

2. प्लेटो की शिक्षा का पाठ्यक्रम कुछ विषयो तक ही सीमित न होकर मानव-जीवन के सम्पूर्ण अनुभव तक फैला हुआ है और शिक्षा की अवधि भी इसी तरह जीवन-पर्यन्त व्यापक है।

3. इस शिक्षा-योजना मे प्रत्येक वर्ग को वही शिक्षा दी जाती है जो उसके लिए आवश्यक है, उदाहरणार्थ सैनिक वर्ग के लिए दर्शन की कोई आवश्यकता नही है और उत्पादकों को केवल व्यावसायिक विशेषीकरण पर ही छोड दिया गया है।

4 इसका एक बडा गुण सगीत का सदुपयोग है। प्लेटो बतलाता है कि सगीत की महान् शक्ति का विकृत रूप सम्पूर्ण समाज को भ्रष्ट कर सकता है और उनका सदुपयोग समाज को नैतिक उन्नति के शिखर पर ले जा सकता है अतः वह कला एव सगीत पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती है।

5 प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना में स्त्री एव पुरुषो मे किसी प्रकार का भेदभाव नही रखा है। उस युग मे एथेन्स मे स्त्रियो का कार्य-क्षेत्र केवल घर की चार दीवारी तक ही सीमित था। ऐसी स्थिति मे प्लेटो द्वारा स्त्रियो को शिक्षा देने की योजना बनाना और उन्हें पुरुषो के समकक्ष मानना निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कदम था।

6. प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनो का विकास करना है। वह मननशील जीवन को व्यावहारिक जीवन से अलग करने के पक्ष मे है।

7 वह दर्शन-शास्त्र तथा बौद्धिक शिक्षा द्वारा आदर्श शासको को उत्पन्न करना चाहता है क्योंकि उसकी धारणा है कि—"जब तक दार्शनिक राजा नही होंगे और राजा दार्शनिक नही होंगे तब तक इस समाज की बुराइयाँ समाप्त नही होगी।" वह उचित शिक्षा द्वारा ऐसे शासकों का निर्माण करना चाहता है जिसके द्वारा "आदर्श शासकों का राज्य विद्वान् संतो का राज्य हो जाए।" वास्तव मे प्लेटो विशेष योग्यता और शिक्षा की आवश्यकता द्वारा उन्हें सद्गुणी एव योग्य शासक बनाना चाहता था।

प्लेटो की शिक्षा-योजना की आलोचना—प्लेटो की शिक्षा-योजना में अनेक गुण हैं और उससे आधुनिक युग मे भी लाभ उठाए जा सकते है तथापि वह बहुत से महत्त्वपूर्ण दोषो से ग्रसित है। इसका प्रमुख कारण यही है कि प्लेटो ने आदर्शों के निर्माण मे व्यावहारिकता को स्थान न देकर सैद्धान्तिक बातो को ही अधिक स्थान दिया ताकि उसका राज्य आदर्श बन सके। उसकी शिक्षा-योजना अधोलिखित आधारो पर आलोचित की जा सकती है—

1. सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इसमे उत्पादक वर्ग की शिक्षा को कोई विशेष स्थान नही दिया गया है। इसका क्षेत्र सकुचित है। यह केवल संरक्षको (सैनिको) तथा शासकों के लिए है। उसने राज्य की अधिकांश जनसंख्या-कृषक, कारीगर, मजदूर आदि वर्गों के लिए शिक्षण की कोई व्यवस्था नही की। यदि शिक्षा सामाजिक जागरण और सत्य की अनुभूति का साधन है तो उत्पादक वर्ग

को उन साधनो से वंचित रखना उचित नही कहा जा सकता है। प्लेटो की यह व्यवस्था, निश्चय ही अप्रजातान्त्रिक है जिसे उदारतावादी नही माना जा सकता।

2. प्लेटो अपने पाठ्यक्रम मे गणित को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है और तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य की उपेक्षा करता है।

3. प्लेटो ने कवि और कलाकारो को राज्य के शिकंजे मे जकड़ने का प्रयत्न किया है। उसने संगीत एव ललितकलाओ के प्रशिक्षण मे चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यक अंशो तथा कलाकृतियो पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की है। वह चाहता है कि न केवल भूतकाल के कवियो की रचनाओ के आपत्तिजनक अंशो को ही हटा दिया जाए बल्कि भविष्य के कवियो पर भी राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दें। प्लेटो द्वारा इस प्रकार का नियन्त्रण कला के स्वतन्त्र विकास मे बाधक है। 'कला की सृजनात्मकता' के लिए स्वाधीनता पहली शर्त है। बार्कर के शब्दो में, "नैतिक उपदेशो के पाश मे जकडी हुई कला मानव-हृदय को स्पर्श नही कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप मे मानव-हृदय को नही गुदगुदा सकती, वह उसके आचार-विचारो को भी प्रभावित नही कर सकेगी।"

4. प्लेटो की शिक्षा-योजना में विविधता नही है। मानव-रुचि वैविध्यपूर्ण होती है और उसमे साहित्य और कला के साथ-साथ दर्शन तथा विज्ञान के प्रति एक जिज्ञासा का पाया जाना स्वाभाविक है। प्लेटो की शिक्षा योजना मे विविधता पर तो ध्यान दिया गया है, किन्तु रुचि की विविधता पर नही। उसने ऐसी व्यवस्था की है कि जिसमे सबको एक सी शिक्षा दी जाएगी और सब नागरिक अपने कर्त्तव्य-पालन के योग्य बनाए जाएँगे। यहाँ पर लगता है कि प्लेटो ने राज्य की एकता के लिए व्यक्तित्व की विविधता की बलि चढ़ा दी है।

5. प्लेटो की शिक्षा राज्य द्वारा संचालित होती है। उसकी शिक्षा-योजना वास्तव मे व्यक्ति के विकास के लिए न होकर राज्य के विकास के लिए है। उसकी शिक्षा-पद्धति का मुख्य ध्येय न्याय के द्वारा आदर्श राज्य की प्राप्ति करना है। उसमे व्यक्ति को बहुत कम महत्त्व दिया गया है तथा राज्य की उन्नति हेतु उसकी अवहेलना ही नही बल्कि अपमान किया गया है।

6. प्लेटो की शिक्षा का क्रम बड़ा लम्बा है। 35 वर्ष तक की अवस्था तक चलने वाली शिक्षा बड़ी व्यय-साध्य है और उसका लाभ उठाने का उत्साह अधिकाँश व्यक्तियो मे नही हो सकता। प्लेटो यह भूल जाता है कि एक विशेष अवस्था के पश्चात् कोई भी शैक्षणिक ज्ञान मानव-मस्तिष्क को सन्तुष्ट रखने मे समर्थ नही हो सकता। इसके साथ ही लम्बे वर्षो तक शिष्य बने रहने वाले शासको मे गुरु पर अवलम्बित रहने की भावना इतनी प्रबल हो जाएगी कि वे आत्म-निर्भरता तथा स्वतन्त्र कार्य-संचालन की क्षमता को खो बैठेंगे।

7. प्लेटो स्त्रियो और पुरुषो दोनो के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था करता है। इस तरह वह स्त्रियो और पुरुषो की प्रकृति और भावनाओ के अन्तर के महत्त्व को गौण मानता है। स्त्री और पुरुष मे बौद्धिक समानता होते हुए भी भावनात्मक व्यक्तित्वो का अन्तर है जो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

8. प्लेटो का जीवन-दृष्टिकोण निराशा उत्पन्न करने वाला है। वह 'स्थित प्रज्ञ' की भाँति जीवन बिताने का आदेश देता है। उसकी शिक्षा-पद्धति उच्च वर्ग के दार्शनिक शासको को ही लाभ पहुँचाती है।

प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली मे चाहे जो भी दोष निकाले जाएँ पर यह स्वीकार करना पडेगा कि उसका शिक्षा सम्बन्धी विचार एक प्रशसनीय शिक्षा-दर्शन एव शासकोपयोगी शिक्षा-योजना है। उसने शिक्षा पर जो बल दिया है तथा शिक्षा का जो व्यापक महत्त्व बतलाया है उसके लिए संसार उस महान् शिक्षा-शास्त्री का सदैव ऋणी रहेगा। जोवट (Jowett) का यह कथन सारगर्भित है कि "प्लेटो

पहला लेखक है जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा का क्रम आजीवन चलना चाहिए। उसके अन्य शैक्षिक विचारों की अपेक्षा यह विचार आधुनिक जीवन मे प्रयोग किए जाने की माँग करता है।"[1]

'रिपब्लिक' में साम्यवाद का सिद्धान्त
(The Theory of Communism in 'The Republic')

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति का मूलमन्त्र व्यक्ति को राज्य के अनुरूप बनाना था। उसने शिक्षा के द्वारा मानसिक उपचार की व्यवस्था की किन्तु प्लेटो को इस बात की आशंका थी कि कहीं सामाजिक वातावरण राज्य के सरक्षको एव सैनिको को कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर दे। अतः अपने आदर्श राज्य मे 'न्याय' को बनाए रखने के लिए शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ उसने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का भी चित्रण किया जिसे प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त (Platonic Theory of Communism) के नाम से जाना जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था के प्रतिपादन मे उसका मुख्य ध्येय यही था कि न्याय और शिक्षा-व्यवस्थाओं के होते हुए भी वाह्य आकर्षण और सांसारिक दुर्बलताएँ उसके संरक्षक वर्ग के मार्ग में बाधा न बनें और वे निष्पक्षता एव त्याग-भावना से अपना कर्त्तव्य-पालन कर सकें। इन वाह्य दुर्बलताओं के निराकरण के लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण ही प्लेटो का साम्यवाद है।

प्लेटो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण की सकीर्णता से ऊपर उठ कर विराट् सामाजिकता का एक महत्त्वपूर्ण एव सक्रिय अग बन सके। राज्य के वे वर्ग जिनके हाथ मे सत्ता हो, व्यष्टि तथा समष्टि का ऐसा समन्वय प्रस्तुत कर सकें जिसमे ममता-भरे स्वार्थ और क्षुद्र प्रलोभनो को कोई स्थान न मिल सके। इस तरह उसने राज्य के सत्तारूढ वर्ग को निर्लेप भाव से कार्य करने के लिए अनुकूल वातावरण की एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया है जिसमे राज्य के सरक्षकों के पास न तो निजी सम्पत्ति होगी और न ही वे पत्नी और सन्तान के पारिवारिक बन्धनो मे बँध सकेंगे। प्लेटो एक आदर्श शासक चाहता था और उसकी यह मान्यता थी कि यदि संसार की दुर्बलताएँ उसके शासको को अपने पथ से विचलित कर देंगी तो आदर्श राज्य का विनाश हो जाएगा। वह नहीं चाहता था कि विशेष नियन्त्रण के अभाव मे राज्य के रक्षक ही भक्षक बन जाएँ। अतः उसने उनकी कमजोरियो के मूल पर प्रहार कर उन्हे जन्म देने वाली संस्थाओ, परिवार और सम्पत्ति को ही राज्य-हित मे नियमित कर डाला। सम्पत्ति और परिवार दोनो को मनुष्य की मूल दुर्बलताओ, सकीर्णताओ और क्षुद्रताओ को जन्म देने वाली इकाइयाँ मान कर अपने शासक वर्ग के लिए सम्पत्ति का अन्त करना चाहा है और परिवार का समूहीकरण।

प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा पूर्णतया नवीन अथवा मौलिक नही थी। प्लेटो के जन्म से पूर्व भी यूनानियो को साम्यवादी व्यवस्था का अनुभव था और इसका व्यावहारिक रूप यूनान के नगर-राज्यो मे उपलब्ध भी था। उदाहरण के लिए, स्पार्टा मे स्त्रियो को राज्य-हित की दृष्टि से उधार दिया जाता था। बालकों को 7 वर्ष की अल्पायु के बाद ही राज्य द्वारा ले लिया जाता था और उनके भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार राज्य ही वहन करता था। स्पार्टा मे सार्वजनिक जल-पान-गृह तथा भोजनालयो की व्यवस्था थी जिनमे स्त्री, पुरुष, बच्चे-सभी को समान रूप से सामूहिक भोजन प्राप्त होता था। क्रीट नामक नगर राज्य मे सहकारी खेती की व्यवस्था थी। एथेंस मे भी 5वीं सदी मे इसी प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था का प्रचलन था। पाइथागोरस का मत था, "मित्रों की सम्पत्ति पर सबका समान रूप से अधिकार है।" उसके इस विचार में साम्यवाद की गन्ध थी। यूरिपिडिज ने भी प्लेटो के 'रिपब्लिक' की रचना से बहुत पूर्व नारी-साम्यवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था अतः ऐसी दशा मे यह कहना कि प्लेटो ने साम्यवादी विचारो को मौलिक ढग से प्रस्तुत किया ऐतिहासिक दृष्टि से सही नही है। प्लेटो ने इन विचारो को सकलित कर अपने आदर्श राज्य की नीव को सुदृढ़ किया। इस सम्बन्ध मे नेटलशिप (Nettleship) के विचारानुसार "प्लेटो का साम्यवाद उसकी

1 *Jowett*; The Republic of Plato.

शिक्षा-पद्धति द्वारा उत्पन्न की गई विचारधारा को प्रभावशाली बनाने तथा उसे नवजीवन एवं नवशक्ति प्रदान करने वाला एक अनुपूरक यन्त्र है।"

तत्कालीन ऐतिहासिक वास्तविकता होने के साथ-साथ प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक आधार भी हैं। इन आधारों की विवेचना इस व्यवस्था की राजनीतिक उपादेयता एवं दार्शनिक-तार्किकता भी सिद्ध करती है।

(i) मनोवैज्ञानिक आधार—प्लेटो राज्य को एक 'सम्पूर्णता' (Whole) मानता है और व्यक्ति को उसकी एक इकाई (Unit)। उसके अनुसार राज्य के बाहर मानव का कोई अस्तित्व नहीं है तथा उसका वैयक्तिक एवं मानसिक विकास राज्य में ही रह कर सम्भव है। प्लेटो का साम्यवाद अपने आप में कोई साध्य नहीं है अपितु वह उसके आदर्श राज्य के न्याय तत्त्व की पूर्ति का एक साधन मात्र है। अपने आदर्श राज्य के तीन वर्गों में से प्रथम और द्वितीय वर्ग के लोगों को प्लेटो व्यक्तिगत सम्पत्ति से इसलिए दूर रखना चाहता है कि यह संरक्षक वर्ग निःस्वार्थ रूप से राज्य की सेवा कर सके, दार्शनिक शासक भ्रष्टाचार, प्रतिद्वन्द्विता, प्रलोभन तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की लालसा से दूर रह सके, इसलिए प्लेटो का साम्यवाद उन्हीं दो वर्गों के लिए है जिन पर शासन का भार होगा। मानव-मनोविज्ञान बतलाता है कि सम्पत्ति और परिवार की दो संस्थाएँ मनुष्य की उदारवृत्तियों को संकीर्ण बनाती हैं और उनसे वंचित हुए बिना शासक वर्ग राज्य के वृहत्तर उद्देश्य के साथ अपने को एकीकृत नहीं कर सकेगा।

(ii) राजनीतिक आधार—प्लेटो के सम्पत्ति साम्यवाद का एक आधार यह भी है कि यदि राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियाँ एक हाथ में केन्द्रित रहेंगी तो इसका दुष्परिणाम निकलेगा। इसलिए राजनीतिक विशुद्धता को कायम करने के लिए वह राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों को अलग-अलग हाथों में स्थापित करना नितान्त आवश्यक समझता है। अपने आदर्श राज्य में राजनीतिक सत्ता उसने पूर्णतः संरक्षक वर्ग के हाथों में सौंप दी है अतः उसकी यह मान्यता है कि यदि इनके हाथ में आर्थिक शक्ति भी और सौंप दी गई तो उसका परिणाम घातक होगा और उसके संरक्षक भ्रष्टाचार के शिकार बन जाएँगे। इस प्रकार उसने अपनी नवीन सामाजिक व्यवस्था को केवल शासक वर्ग तक ही सीमित रखा है। उसकी इस व्यवस्था का उत्पादक वर्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वर्ग बिना किसी प्रतिबन्ध के उत्पादन करते हुए अपनी निजी सम्पदा का स्वामी बना रह सकेगा।

(iii) दार्शनिक आधार—इस आधार पर प्लेटो ने अपने साम्यवाद को विशेष कार्य (Specific Function) के सिद्धान्त द्वारा पुष्ट किया है। उसके अनुसार जिन व्यक्तियों को शासन का महत्त्वपूर्ण एवं विशेष कार्य सौंपा गया हो, उन्हें अपने कार्य में बाधा अथवा विघ्न डालने वाले सभी सांसारिक तत्त्वों से इसी प्रकार बचना चाहिए जैसे ईश्वर की भक्ति में लगे एक साधक या सन्यासी को घर, पत्नी, बच्चे, सम्पत्ति या सांसारिक माया-मोह से दूर रहना चाहिए।

प्लेटो के साम्यवाद की व्याख्या

प्लेटो अपने साम्यवाद को, राज्य के दो अल्पसंख्यक वर्गों-शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखता है। वह तृतीय बड़े वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था की कोई आवश्यकता महसूस नहीं करता। प्लेटो की यह साम्यवादी योजना दो भागों में विभाजित है—

(1) सम्पत्ति का साम्यवाद, एवम्
(2) परिवार अथवा स्त्रियों का साम्यवाद।

(1) सम्पत्ति का साम्यवाद (Communism of Property)—प्लेटो शासकों और सैनिकों के लिए सम्पत्ति का निषेध करता है। वह इन दोनों वर्गों को सामूहिक रूप से राज्य के अभिभावक-(Guardian Class) के नाम से सम्बोधित करता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति एक बहुत बड़ा आकर्षण है जो किसी भी व्यक्ति को अपने पद से विचलित कर सकती है। सम्पत्ति पर शासकों का

व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त किया जाना चाहिए जिससे उनके मन और मस्तिष्क से सम्पत्ति के प्रति मोह को मिटाया जा सके। वह शासको के लिए धन या सम्पत्ति को अनैतिक बतलाते हुए कहता है कि एक व्यक्ति के हाथ मे सम्पत्ति और शासन की शक्ति केन्द्रित रहने से वह पथभ्रष्ट होकर भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। अत सम्पत्ति की शक्ति को शासक की शक्ति से अलग रखना ही श्रेयस्कर है। शासक तथा सैनिक-वर्ग निजी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं बन सकते। वैयक्तिक या सामूहिक रूप से इनका एक इन्च भूमि पर भी स्वामित्व नही होना चाहिए। भूमि तथा उसकी पैदावार के केवल उत्पादक ही अधिकारी हैं। अभिभावक-वर्ग के पास अपने निजी घर भी नही होने चाहिए। प्लेटो इनके लिए ऐसे शिविरो मे रहने की व्यवस्था करता है जो सदैव खुले एव सार्वजनिक हों। अपनी 'रिपब्लिक' मे शासकों की जीवनचर्या का वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

"प्रथम तो जितनी कम से कम व्यक्तिगत सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक सम्पत्ति उनमे से किसी को भी नही रखनी चाहिए। दूसरे, किसी के पास ऐसा घर अथवा भण्डार (कोष) नही होना चाहिए, जो सबके स्वेच्छापूर्वक प्रवेश के लिए नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोज्य सामग्री इतनी मात्रा मे और ऐसी होनी चाहिए जो कि सयमी एव साहसी योद्धा, भटो के लिए उपयुक्त हो। यह उनको नागरिको द्वारा सुनिश्चित एव सुनिर्धारित ढग से उनकी सरक्षकता वृत्ति के रूप में इतनी मात्रा मे मिलनी चाहिए कि न तो वर्ष के अन्त मे आवश्यकताओ से अधिक बची रहे और कमी ही पडे। युद्ध शिविर मे रहने वाले योद्धाओ के समान उनका भोजन एव रहना सामूहिक होना चाहिए। रही सोने-चाँदी की बात तो इसके विषय मे हम उनसे कहेंगे कि सोना और चाँदी तो उनको अपने देवताओं (ईश्वर) द्वारा नित्य ही अपनी आतमा के भीतर प्राप्त है अतः उनको मर्त्यलोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता नही है। मर्त्यलोक की धातु के मिश्रण द्वारा अपने को अपवित्र करना उन्हे सहन नही होना चाहिए।''' सारे नगर निवासियो मे से इन्ही के लिए सोने-चाँदी को हाथ मे लेना अथवा स्पर्श करना, या उनके साथ एकत्र एक छत के नीचे रहना या आभूषणो के रूप मे उनको अपने अगो मे धारण करना अथवा सोने-चाँदी के पात्रो का पीने के लिए उपयोग करना अवैध होगा। इस प्रकार रहते हुए वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर की भी, परन्तु जब कभी भी वे अपनी भूमि, धन और घर उपार्जित कर लेंगे तब वे अपने अन्य नागरिक-जनो के सहायक बने रहने की अपेक्षा उन पर द्वेषपूर्ण अत्याचार करने वाले शासक (Tyrant) बन जाएँगे। उनके जीवन के सारे दिन नागरिकों से घृणा करने मे और उनके द्वारा घृणा किए जाने मे, उनके विरुद्ध कुचक्र रचने मे, उनके द्वारा रचे कुचक्रो का पात्र बनने मे तथा बाह्य वैदेशिक शत्रुओ की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओ के भय से त्रस्त रहने मे ही बीतेंगे और इस प्रकार अन्त में वे अपने तथा अपने राष्ट्र के सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त करेंगे।"

प्लेटो के उपरोक्त कथन मे सम्पत्ति के साम्यवाद के राजनीतिक तथा व्यावहारिक आधार पर जोर दिया गया है। इससे उसकी यह मान्यता प्रकट होती है कि आर्थिक और राजनीतिक दोनो प्रकार की शक्तियों की प्रभुता शासक वर्ग को भ्रष्ट करती है। दूसरे शब्दो मे शासन की स्वच्छता तथा कुशलता के लिए कोई चीज इतनी घातक नही होती जितनी कि राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का एकत्रीकरण। सभवत इसी धारणा ने माण्टेस्क्यू (Montesque) के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का कार्य किया है। वेपर ने लिखा है कि एक ही हाथों में राजनीतिक एव आर्थिक शक्तियो के एकीकरण ने विश्व में अनेक कष्टो को जन्म दिया है। यही सिद्धांत है जिस पर बल देते हुए मार्क्स ने कहा है कि वह आर्थिक वर्ग जिसके हाथ में राजनीतिक शक्ति होती है, अपने स्वार्थ के लिए अन्य वर्गो का शोषण करता है। राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों को अलग-अलग रखते हुए प्लेटो चाहता है कि आर्थिक क्रियाओ मे लगे हुए व्यक्ति राजनीतिक शक्ति मे कोई भाग न लें और जो राजनीतिक सत्ता के स्वामी हो वे कोई आर्थिक हित न रखें।

प्लेटो के साम्यवाद के राजनीतिक उद्देश्य को मेक्लाइन ने अग्रांकित शब्दो मे प्रस्तुत किया है—

"प्लेटो की यह दृढ़ मान्यता थी कि शासन पर धन का बहुत खराब प्रभाव पड़ता है। इस बुराई को दूर करने का प्लेटो को यही उपाय सूझा कि जहाँ तक सिपाहियों और शासकों का सम्बन्ध है, धन का ही अन्त कर दिया जाए। शासकों के लोभ को दूर करने का एकमात्र यही उपाय है कि उनके पास कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहने दी जाए। वे किसी वस्तु को अपनी न कह सकें। शासक अपने नागरिक कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान रहें। इस क्षेत्र में उनका कोई व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। स्पार्टा के नागरिकों को धन के उपयोग या व्यापार करने का अधिकार नहीं था। स्पार्टा के इस उदाहरण का प्लेटो के ऊपर प्रभाव पड़ा है तथापि इस सम्बन्ध में प्लेटो की युक्तियों पर सावधानी से विचार होना चाहिए। प्लेटो धन की विषमताओं को इसलिए दूर नहीं करना चाहता था कि वे व्यक्तियों की एकता के लिए अन्यायकारी होते हैं। प्लेटो का उद्देश्य राज्य में अधिकतम एकता की स्थापना करना था। व्यक्तिगत सम्पत्ति इस एकता के मार्ग में बाधा थी। यह महत्त्व ग्रीक विचारधारा की विशेषता है। अरस्तू ने साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर नहीं की कि वह अन्यायपूर्ण है, प्रत्युत इस आधार पर की कि साम्यवाद से वांछित एकता स्थापित नहीं हो सकेगी। अतः प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक है। प्लेटो के साम्यवाद का प्रेरक तत्त्व आज के समाजवादी काल्पनिक राज्यों (Utopias) के प्रेरक तत्त्व से बिल्कुल विपरीत है। प्लेटो आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए शासन का उपयोग नहीं करता। वह शासक के एक विक्षोभकारी तत्त्व को हटाने के लिए आर्थिक समानता स्थापित करना चाहता है।"[1]

अभिभावक वर्ग के लिए ऐसे अपरिग्रह का विधान बनाने का एक कारण अन्य भी है। प्लेटो केवल उन्हीं व्यक्तियों को रक्षा और शासन की बागडोर सौंपना चाहता है जो साहस और बुद्धि से भरपूर हों। दूसरे शब्दों में बुद्धि की श्रेष्ठता को शासन में भाग लेने की एकमात्र योग्यता मानता है। उसका विचार है कि यदि राज्य में सम्पत्ति-संग्रह की प्रत्येक को खुली छूट दे दी जाए तो यह सम्भव है कि राजनीतिक पदों के लिए चुनाव का आधार ज्ञान या सद्गुण (Virtue) न रह कर सम्पत्ति हो जाएगी। उसकी दृष्टि में "निजी सम्पत्ति का विनाश इस बात की गारण्टी है कि सरकारी पदों पर लोग अपने गुणों के कारण आयेंगे न कि अपनी शक्ति के आधार पर।" इसी युक्ति को सेबाइन (Sabine) ने इस तरह व्यक्त किया है—"सरकार के ऊपर धन के भयानक प्रभाव का प्लेटो को इतना दृढ़ विश्वास था कि उसे दूर करने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति का ही विनाश करना पड़ा।" हारमॉन (Harmon) ने भी लिखा है कि प्लेटो अपने जीवन में आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों को देख चुका था और यह भी देख चुका था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत आर्थिक लाभ राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष के आधारभूत कारण हैं, अतः उसने शासक और सैनिक वर्ग के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना प्रस्तुत की ताकि उनमें राजनीतिक शक्ति-प्राप्ति के लिए कोई प्रतिद्वन्द्विता न रहे।[2]

(2) परिवार अथवा पत्नियों का साम्यवाद (The Communism of Family or Wives)—प्लेटो ने अभिभावकगण के लिए निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ-साथ उन्हें निजी परिवार का त्याग कर सारे राज्य को अपना वृहत् परिवार मानने के लिए कहा है। इसमें प्लेटो का उद्देश्य यह था कि शासक और सैनिक वर्ग कंचन के समान कामिनी के मोह से भी मुक्त होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। वे इनके कारण प्रलोभनों एवं आकर्षणों के वशीभूत होकर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा न करें। प्लेटो का मत है कि परिवार का मोह धन के मोह से अधिक प्रबल होता है और मनुष्य इसके लिए अनेक प्रकार के अनुचित और अनैतिक कार्य करने के लिए भी तैयार हो जाता है। सेबाइन के शब्दों में, "सम्पत्ति की भाँति ही प्लेटो विवाह का भी उन्मूलन करता है। यहाँ भी उसका यही उद्देश्य है।

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ 55-56

2 *Harmon* Political Thought from Plato to the Present, p. 39

प्लेटो का विचार है कि मोह पारिवारिक स्नेह बन्धनों के कारण जन्मता है। यदि शासक परिवार के प्रति अनुरक्त होंगे, तो वे राजकाज की ओर पूरा ध्यान नहीं दे सकेंगे। सन्तान सम्बन्धी चिन्ता व्यक्ति को स्वार्थी एवं संकीर्ण बनाती है। यह सम्पत्ति सम्बन्धी आकांक्षा से भी अधिक घातक है। घरों पर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रबन्ध नहीं हो सकता। घरों की शिक्षा बच्चों को इस योग्य नहीं बना सकती कि वे राज्य की पूरी निष्ठा के साथ सेवा कर सकें।"[1] पुनः सेबाइन के ही शब्दों में, "विवाह के सम्बन्ध में प्लेटो का एक और भी उद्देश्य था। पुरुष प्रायः बड़ी लापरवाही से सम्भोग करते हैं। इस तरह की लापरवाही घरेलू जानवरों तक में भी नहीं पाई जाती। किसी भी जाति की उन्नति तभी हो सकती है, जबकि उसके स्त्री-पुरुषों की सम्भोग क्रिया नियन्त्रित हो और केवल कुछ चुने हुए स्त्री-पुरुषों को सम्भोग करने और सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति दी जाए।"

परिवार के उन्मूलन के पक्ष में प्लेटो का एक तर्क और है और वह है नारी-जाति की विमुक्ति। प्लेटो के समय में यूनान में नारी-जाति की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें घर की चाहरदीवारी से बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। उनका कार्य-क्षेत्र मकान की दीवारों और परिवार की जंजीरों से जकड़ा हुआ था। प्लेटो की यह मान्यता थी कि नारी-जाति के उत्थान के लिए उनका कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक और विस्तृत होना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जबकि परिवार अथवा विवाह व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया जाए। प्लेटो ने विवाह के अन्त की व्यवस्था कर एथेन्स में स्त्रियों की स्थिति की आलोचना की है, जिनके कार्य-कलाप केवल घरों को चलाने और बच्चों का पालन-पोषण करने तक ही सीमित थे। प्लेटो के विचार में यह अनुचित था। इनके कारण राज्य अपने आधे भावी संरक्षकों की सेवाओं से वंचित हो जाता था। प्लेटो स्त्री एवं पुरुषों में कोई आधारभूत भेद भी स्वीकार नहीं करता। उसके विचार से स्त्रियों में इतनी योग्यता है कि वे राजनीतिक तथा सैनिक कार्य तक में भाग ले सकती हैं। संरक्षक वर्ग की महिलाएँ पुरुषों का सारा काम कर सकती हैं। इसके लिए जरूरी है कि उन्हें पुरुषों की सी शिक्षा मिले और वे सारे घरेलू कामों से छुट्टी पा सकें।

उपरोक्त धारणाओं के आधार पर प्लेटो परिवार या पत्नियों के साम्यवाद की योजना बनाता है। आगे इस सिद्धान्त का स्वरूप बतलाते हुए उसने कहा है—"संरक्षक स्त्री-पुरुषों में कोई भी अपना निजी घर (परिवार) नहीं बनाएगा। कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगत रूप में सहवास नहीं कर सकेगा। शासक स्त्रियाँ सब शासक पुरुषों की समान रूप से पत्नियाँ होंगी, इनकी सन्तानें भी समान रूप से सबकी होंगी और न तो माता-पिता अपनी सन्तान को जान सकेंगे और न सन्तान माता-पिता को।" (रिपब्लिक, पृष्ठ 133)। स्पष्ट है कि प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार अभिभावक वर्ग के व्यक्तियों को विवाह करके स्थाई रूप से परिवार बसाने की आज्ञा नहीं है। सुन्दर, स्वस्थ और बलशाली व्यक्ति ही राज्य की आवश्यकतानुसार सन्तानोत्पादन के लिए अस्थायी रूप से विवाह कर सकेंगे और उनसे पैदा होने वाले शिशु राज्य के संरक्षण में पाले जाएँगे। वास्तव में प्लेटो, सर्वोत्कृष्ट नारियों को राज्य की सेवा के लिए भर्ती करने और उन्हें उच्चतम शिक्षा प्रदान करने के लिए गृहस्थ जीवन की चाकरी से स्वतन्त्र करना चाहता था। इस प्रकार उसके द्वारा विवाह-संस्थान का उन्मूलन नारी अधिकारों के समर्थन का एक जबरदस्त दावा था। उसने नारी को पुरुष के स्तर पर उठाया और उसके विवेक-प्रधान स्वभाव को स्वीकार किया।

सार रूप में कहा जा सकता है कि प्लेटो ने अपने परिवार या पत्नियों के साम्यवाद की योजना तीन कारणों से प्रस्तावित की थी—

1. वह परिवार के घातक एवं संकीर्णतावादी क्षुद्र प्रभावों से अभिभावक वर्ग को मुक्त रखना चाहता था।

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57

2. वह नारी की मुक्ति तथा समानाधिकार का पक्षपाती था।

3. उत्तम सन्तान-प्राप्ति के लिए प्रजननशास्त्र की दृष्टि से प्लेटो को यह व्यवस्था वाञ्छनीय प्रतीत होती थी।

"उत्तम सन्तान पाने के लिए स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध विकसित यौवनकाल में होना चाहिए। अतः प्लेटो ने यह व्यवस्था की है कि, "स्त्रियाँ 20 वर्ष की अवस्था से लेकर 40 वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान उत्पन्न करेंगी और पुरुष पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने के बाद 25 वर्ष की अवस्था से लेकर 55 वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान पैदा करेंगे।" इस अवस्था से पहले सन्तान उत्पन्न करने वालों का कार्य अवैधानिक, अधार्मिक और अन्यायपूर्ण होगा। इस निर्धारित प्रजनन-अवस्था के पश्चात् "पुरुषों को पुत्री और माता तथा उनके प्रत्यक्ष पूर्वज अथवा सन्तान को छोडकर तथा स्त्रियों को पुत्र तथा पिता आदि को छोड़कर अन्य किसी के साथ मर्यादित सहवास की स्वतन्त्रता होगी, किन्तु इस अवस्था में गर्भ को जन्म न लेने-देने की व्यवस्था भी की जाएगी।" (रिपब्लिक, पृष्ठ 158)।

माता-पिता का ज्ञान न होने पर पिता-पुत्र आदि वर्जित सम्बन्धों का ज्ञान कैसे हो सकेगा—इसका समाधान प्लेटो ने यह कह कर किया है कि—"पुरुष वर बनने के बाद सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के मध्य में उत्पन्न हुए बच्चों को नर होने पर पुत्र और मादा होने पर पुत्री कहेगा और वे सन्तानें उसको पिता कहेंगी और इसी प्रकार वह इनकी सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे उनके समुदाय की स्त्रियों एवं पुरुषों को दादा-दादी कहेंगे तथा वे सब बच्चे जो कि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं, एक-दूसरे को भाई-बहिन मानेंगे।" (रिपब्लिक, पृष्ठ 158)। प्लेटो का विचार है कि इस व्यवस्था से उत्पन्न सन्तानें स्वस्थ एवं सम्पन्न होंगी और राज्य एक विशाल कुटुम्ब का रूप धारण करके एकता की ओर बढ सकेगा।

प्लेटो के साम्यवाद की विशेषतायें "प्लेटो के साम्यवाद का लक्ष्य आत्म उत्कर्ष है।"

(1) प्लेटो के साम्यवाद की सम्पूर्ण योजना—के अन्तर्गत, चाहे वह साम्यवाद सम्पत्ति का हो या परिवार अथवा विवाह का, यह धारणा सन्निहित है कि आध्यात्मिक बुराइयों को दूर करने की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है। प्लेटो की चिकित्सा में आध्यात्मिक आहार-संयम पहला और मुख्य उपचार है, पर भौतिक पदार्थों की निर्मम शल्य-क्रिया भी उसका एक साधन है। चूँकि आध्यात्मिक बुराइयों के साथ भौतिक दशाएँ गुँथी होती हैं, अत प्लेटो को लगता है कि भौतिक दशाएँ आध्यात्मिक बुराइयों के कारण हैं, और इसीलिए वह जीवन की भौतिक दशाओं के आमूल-सुधार का पोषक है।[1] प्लेटो का विश्वास है कि साम्यवादी व्यवस्था में आत्मिक जीवन के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं। शिक्षा-योजना की भाँति प्लेटो के साम्यवाद का उद्भव भी न्याय के नाम पर हुआ है और यहाँ भी प्लेटो का चरम लक्ष्य है—आध्यात्मिक उत्कर्ष। साम्यवाद साध्य नहीं था।

(2) प्लेटो का साम्यवाद 'एक साध्य नहीं अपितु साधन है।' "उसका साम्यवाद केवल संरक्षक एवं शासक-वर्ग के लिए है तथा उसका उद्देश्य उन रुकावटों और प्रलोभनों को दूर करना है जिनके द्वारा राज्य में न्याय की स्थापना में बाधा पड़ती है।" साम्यवाद प्लेटो के लिए उसकी न्याय-धारणा का अनिवार्य परिणाम है। उसके आदर्श राज्य के तीन वर्गों में से दो वर्ग शासक और सैनिक साम्यवादी शासन में रह कर ही बुद्धिमत्तापूर्वक अपना काम कर सकते हैं और उसके निःस्वार्थ भाव से लगे रह सकते हैं। राज्य से जीवन में मन के जिन भागों अथवा तत्त्वों की वे अभिव्यक्ति करते हैं वे हैं विवेक और उत्साह। यदि उन्हें इन तत्त्वों के कार्य-विशेष को पूरा करने में जुटाना हो तो उस वासना अथवा क्षुधा तत्त्व से छुटकारा पाना होगा जिसका प्रतिनिधित्व तीसरे वर्ग के लोग अर्थात् किसान करते हैं, वे

1 बार्कर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 317

नही। अतः यह आवश्यक है कि वे जीवन के आर्थिक पक्ष का परित्याग करें, क्योकि जीवन का यह पक्ष वासना अथवा क्षुधा तत्त्व की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। इस प्रकार, मन के उच्चतर तत्त्वों की राज्यों मे जो उचित स्थिति है, उससे साम्यवादी जीवन का अनिवार्य सम्बन्ध है। यहाँ साम्यवादी जीवन का अर्थ उस जीवन से है जो आर्थिक प्रेरणाओ से मुक्त हो। दार्शनिक प्रकृति का साधन, जिसमे विवेक्-तत्त्व का प्राधान्य है—वह विशेषतः आवश्यक शर्त है। साम्यवाद के विवेक् या तो निद्रा मे निश्चल निस्पद पडा रहेगा और यदि वह सक्रिय भी हुआ तो वासना अथवा क्षुधा उसके काम मे रुकावट डालेगी और उसे स्वार्थ-पूर्ति के कामो मे प्रवृत्त करेगी। साम्यवाद विवेक् के शासन की आवश्यक शर्त ही नही है, वरन् विवेक् का प्रकटीकरण ही साम्यवाद के रूप मे होता है। विवेक् का अर्थ है निस्वार्थता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति विवेक् से अनुप्राणित होगा वह आत्म-परितोष को ही अपना लक्ष्य बना कर नही चल सकता अपितु, अपने आप को वृहत्तर इकाई के कल्याण साधनो मे लगाते हुए चलना होगा। प्लेटो ने व्यक्ति की स्वार्थ-रहित और परोपकारी भावना को श्रेष्ठता देने के लिए केवल सम्पत्ति को ही नही, अपितु स्त्रियो और बच्चो तक को साम्यवाद के अन्तर्गत ले लिया ताकि सरक्षक वर्ग परिवार के सुख-बन्धन मे न सडकर देश-सेवा मे रत रह सकें। प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था का उद्देश्य राज्य का हित-साधन है, न कि उससे सम्बन्धित वर्गों का।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था वस्तुत. एक मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित है जिसका उद्देश्य मानव-प्रकृति को विकृति की ओर से ले जाने वाली वाह्य सस्थाओ और उनके भौतिक सुखों का निषेध करना है। उसकी विवाह-व्यवस्था का ध्येय धार्मिक अथवा प्रेम एवं आकर्षण आदि न होकर केवल राज्य के लिए स्वस्थ सन्तानोत्पत्ति है। विवाह के स्थान पर वह स्वतन्त्र सेक्स सम्पर्क पर बल देता है। प्लेटो ने अपने साम्यवाद मे स्पष्ट किया है कि केवल पुरुष ही शासन के अधिकारी नही है, बल्कि स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र मे पुरुषो के समकक्ष हैं। उसने स्त्रियो तथा पुरुषो की आयु को भी निश्चित किया है और उसी अवस्था के मध्य यौनाचार से उत्पन्न हुए बच्चो को वैध माना है।

प्लेटो के साम्यवाद की आधुनिक साम्यवाद से तुलना

मैक्सी ने लिखा है कि, "प्लेटो साम्यवादी विचारो का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है और रिपब्लिक मे सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारो के मूल बीज मिलते हैं।"[1] किन्तु यह धारणा पूर्णत सत्य नही है। वास्तव मे दोनो विचारो एव व्यवस्थाओ मे समानता बहुत कम है और असमानता बहुत अधिक। प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद की समानताओ और असमानताओ का तुलनात्मक चित्रण वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने मे उपयोगी होगा।

समानतायें

1. प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की तुलना मे व्यक्ति के अस्तित्व को महत्त्व न देते हुए यह माना है कि मनुष्य राज्य मे रहकर ही अपने उद्देश्यो की पूर्ति सरलता से कर सकता है। आधुनिक साम्यवाद में भी व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र है, जिसे राज्य द्वारा निर्दिष्ट कार्य करने होते हैं।

2 प्लेटो ने अनियमित आर्थिक प्रतियोगिता को कोई महत्त्व नही दिया है। मार्क्सवाद-साम्यवाद भी अनियमित आर्थिक प्रतियोगिता मे कोई स्थान नही देता।

3. प्लेटो ने अपने साम्यवाद मे व्यक्ति के अधिकारो पर ध्यान न देकर उसके कर्त्तव्यो पर अधिक बल दिया है। आधुनिक साम्यवाद भी व्यक्ति पर इतने कर्त्तव्य आरोपित करता है कि वह अपने अधिकारों से वचित-सा हो जाता है।

1 *Maxey*: Political Philosophy, p. 55.

4. प्लेटो के साम्यवाद की योजना काल्पनिक और अव्यावहारिक है। मार्क्सवादी योजन का भी यदि गहराई और विस्तार से विश्लेषण करें तो वह अव्यावहारिक ठहरती है। प्लेटोवादी और आधुनिक दोनों ही साम्यवाद सीमित क्षेत्र मे ही सफल हो सकते है, व्यापक क्षेत्र मे नही।

5. प्लेटो ने मानव की स्वार्थ-भावना पर ध्यान न देकर उसकी मूल प्रवृत्तियों का बहिष्कार किया है तथा उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की उपेक्षा की है। मार्क्स ने भी व्यक्ति का बहुत-कुछ अव्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए उसकी स्वार्थी वृत्ति पर ध्यान नही दिया है। दोनो ही साम्यवाद व्यक्ति के काम, सचय आदि मूल प्रवृत्तियों की उपेक्षा करते है।

6. प्लेटो का साम्यवाद एकागी है, क्योकि वह मानव-स्वभाव के केवल एक पक्ष को महत्त्व देता है—नैतिकता और आध्यात्मिकता के पहलू को ही स्पष्ट करता है। आधुनिक साम्यवाद भी अधूरा है, क्योकि उसमे भौतिकवाद तथा आर्थिकवाद को ही प्रधानता दी गई है।

7. प्लेटो उच्च दो वर्गों के निजी सम्पत्ति रखने पर प्रतिबन्ध लगाता है, आधुनिक साम्यवाद भी व्यक्तिगत का विरोधी है।

8. प्लेटो का साम्यवाद दार्शनिक राजा के अधिनायकवाद मे विश्वास रखता है, आधुनिक साम्यवाद का विश्वास भी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद मे है।

9. प्लेटो के साम्यवाद का एक मुख्य उद्देश्य ऊँच-नीच तथा वर्ग-भेदो को मिटाकर एकता की स्थापना करना है। आधुनिक साम्यवाद भी पूँजीवाद के शव पर सबको समान आर्थिक स्तर प्रदान करना चाहता है, ताकि राज्य मे एकता और एकरूपता स्थापित हो सके।

10. दोनो ही साम्यवाद राज्य को सुसगठित और सुदृढ बनाना चाहते है।

11. दोनो ही साम्यवाद स्त्रियो और पुरुषो की स्वतन्त्रता तथा उनके समान अधिकारो के समर्थक है।

असमानताएँ :

1. प्लेटो के साम्यवाद का दृष्टिकोण आध्यात्मिक, निराशावादी और विरक्तिमूलक है, जिसमे मानव-मस्तिष्क तथा नैतिक पहलुओ पर ही आग्रह है। यह अभिभावक वर्ग नि स्वार्थ रूप से राज्य की रक्षा और एकता के लिए कार्य करेंगे। शासको और सैनिको को सम्पत्ति और परिवार से वचित इसलिए किया गया है कि उनका जीवन उत्कृष्ट और श्रेष्ठ हो।

इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद का दृष्टिकोण भौतिकवादी, क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील है। यह मानवता को आशावाद का सन्देश देता है और द्वंद्वात्मक और भौतिकवाद मे विश्वास रखता है, किसी आध्यात्मिक सत्ता मे नही। यह क्रान्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का पोषक है। वर्गहीन और जातिविहीन समाज की स्थापना इसका अपना प्रगतिशील लक्ष्य है।

2. प्लेटो का साम्यवाद शासक और सैनिक वर्ग पर ही लागू होता है, उत्पादक वर्ग पर नही। उत्पादन के साधनो पर उत्पादक वर्ग का एकाधिकार स्थापित किया गया है, किन्तु उपभोग की वस्तुओ के वितरण का अधिकार शासक-वर्ग के पास है। प्लेटो के साम्यवाद मे बौद्धिक अभिजातीय-तन्त्र को प्राथमिकता प्राप्त है, साम्यवादी विचारधारा को नही। इस विचारधारा को दूसरी रक्षा-पंक्ति के रूप मे प्रस्तावित किया गया है और पूँजीपति वर्ग सुरक्षित है।

आधुनिक साम्यवाद मे किसान और मजदूर वर्ग के लिए ही साम्यवादी योजना प्रस्तावित है। उत्पादन के साधनो और वितरण तथा उपभोग की व्यवस्था पर भी राजकीय नियन्त्रण रखा गया है, किसी वर्ग-विशेष का नही। इस प्रकार वर्तमान साम्यवादी व्यवस्था किसी वर्ग-विशेष के लिए न होकर सारे समाज के लिए है—ऐसे समाज के लिए जो वर्ग-विहीन और जाति-विहीन होगा। आधुनिक साम्यवाद मे साम्यवादी विचारधारा को सर्वोच्चता प्रदान की गई है।

4. प्लेटो के साम्यवाद मे वर्ग निहित है और साथ ही इसमे राज्य का भी लोप नही होता। आधुनिक साम्यवाद मे वर्ग-विहीन समाज की व्यवस्था है, इनमे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के बाद राज्य के लोप हो जाने का विधान है।

5. प्लेटो के साम्यवाद मे सामाजिक परिवर्तन तार्किक ढग से होता है जबकि आधुनिक साम्यवाद मे सामाजिक परिवर्तन एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है।

6. प्लेटो का साम्यवाद एक दार्शनिक अथवा राजनीतिक साम्यवाद है। जिसका प्रधान लक्ष्य राज्य की हित-साधना है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद, आर्थिक साम्यवाद है जिसका मूल लक्ष्य शोषण का उन्मूलन है। अराजकता प्लेटो के साम्यवाद के जन्म का कारण है जबकि आधुनिक साम्यवाद आर्थिक समानता की उपज है।

7. प्लेटो के साम्यवाद की प्राप्ति का मार्ग नकारात्मक है जबकि आधुनिक साम्यवाद की प्राप्ति का मार्ग क्रान्ति और प्रचार है। आधुनिक साम्यवाद प्लेटो की भांति आत्म-सयम और आत्म-नियन्त्रण के साधनो का उद्घोष नही है।

8. प्लेटो के साम्यवाद मे राजनीतिक एव आर्थिक शक्तियो को पृथक्-पृथक् हाथो मे सौंपा गया है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद मे दोनो शक्तियो को पृथक् नहीं माना गया है। यह राजनीति तथा अर्थ को पर्यायवाची मानता है।

9. प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति और परिवार दोनो पर सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था है। आधुनिक साम्यवाद केवल पूंजी के ही सामूहिक स्वामित्व का आयोजन करता है। इसमे पत्नियो के समूहीकरण जैसी कोई बात नही है।

10. प्लेटो का साम्यवाद उच्च वर्गों को प्रधानता देता है, आधुनिक साम्यवाद निम्न और श्रमिक वर्गो का। पहला कुलीन तन्त्र का पोषक है, दूसरा कुलीन तन्त्र का विरोधी और तथाकथित 'जनतन्त्र' का पोषक।

11. प्लेटो का साम्यवाद सुधारवादी है। यह न्याय की स्थापना द्वारा सुधार का आकांक्षी है। आधुनिक साम्यवाद क्रान्ति के माध्यम से परिवर्तन का पोषक है।

12. प्लेटो का साम्यवाद एक राज्य तक ही सीमित है जो यूनान नगर-राज्य की पृष्ठभूमि मे ही सम्भव है। उसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद, सम्पूर्ण विश्व का कायाकल्प करना चाहता है, यह अन्तर्राष्ट्रीय है।

13. प्लेटो का साम्यवाद विभिन्न वर्गों मे सामञ्जस्य और एकता स्थापित करता है जबकि आधुनिक साम्यवाद वर्ग-सघर्ष को अनिवार्य मानते हुए उसके द्वारा ही वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का हामी है।

14. प्लेटो के साम्यवाद मे कार्य के विशेषीकरण पर बल दिया गया है और विभिन्न वर्गों में कार्य का विभाजन किया गया है। आधुनिक साम्यवाद का आग्रह सामूहिक कार्य पर है।

अत हम देखते है कि प्लेटो के प्राचीन और मार्क्स के वर्तमान साम्यवाद मे मौलिक अन्तर हैं। तेलर (Taylor) ने यह सत्य ही लिखा है—"रिपब्लिक के समाजवाद और साम्यवाद के सम्बन्ध मे बहुत कहा जाने के बावजूद भी वस्तुत. इस ग्रन्थ मे न तो सामाजवाद पाया जाता है और न कही साम्यवाद मिलता है।"[1]

प्लेटो के साम्यवाद की अरस्तू द्वारा आलोचना

प्लेटो की साम्यवादी योजना की एक ओर अरस्तू ने आलोचना की है, तो दूसरी ओर वर्तमान दृष्टिकोण से भी उसके अव्यावहारिक एव अमनोवैज्ञानिक पक्ष सामने आए हैं। अरस्तू के प्रमुख आलोचना-बिन्दु अग्र प्रकार हैं।

1 *Taylor* Plato. p 276

1 प्लेटो की सम्पत्ति-विषयक साम्यवाद की योजना समाज मे सघर्ष और फूट की प्रवृत्ति को बढाने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति मे व्यक्तिगत स्वार्थ का एक क्षेत्र अलग होता है, अत पारस्परिक कलह का एक प्रमुख कारण स्वतः ही दूर हो जाता है, लेकिन प्लेटो के साम्यवाद मे इस तरह के वैयक्तिक क्षेत्र की अनिश्चितता के कारण विवादो को बढावा मिलेगा। इससे समाज की उन्नति को धक्का पहुँचेगा। समाज की वास्तविक प्रगति सम्पत्तिशाली व्यक्तियो द्वारा विकसित विविध रुचियो द्वारा ही हुआ करती है।

2 प्लेटो का साम्यवाद विविधता का शत्रु है और बिना विविधता के बौद्धिकता का विकास नही हो सकता। एकता मे अनेकत्व आवश्यक है, यदि निर्जीव एकरूपता स्थापित की गई तो वह हानिकारक तथा घातक होगी।

3. प्लेटो ने सम्पत्ति के गुणो की अवहेलना की है। सम्पत्ति को एक बुराई, एक अवगुण तथा पथभ्रष्ट करने वाली एक दुर्बलता मात्र बताना भ्रामक है। सम्पत्ति तो एक गुण, एक प्रेरणाशक्ति और एक स्वाभाविक आवश्यकता है। सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अग है जिसके बिना स्वस्थ और सुखी जीवन सम्भव नही हो सकता। सम्पत्ति ग्रहण करने का भाव ही व्यक्तियो को गौरव की अनुभूति देता है।

4. प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था से उत्पादन और वितरण मे एक-सा अनुपात नही रहता। वे व्यक्ति जो कठोर श्रम के द्वारा अधिक उत्पादन करते है उतना ही प्राप्त करेगे जितना कि कम श्रम करने वाला व्यक्ति, यह अनुचित है।

5. प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद ऐतिहासिक आधार पर भी दोषपूर्ण है। यदि सम्पत्ति का साम्यवाद एक श्रेष्ठ व्यवस्था होती तो समाज इसे स्वीकार करता और इतिहास उससे अवगत होता। जिस व्यवस्था को समाज ठुकराता है, उसकी अपूर्णता स्पष्ट है।

6 प्लेटो जिन बुराइयो को दूर करने के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन करता है, वे बुराइयाँ सम्पत्ति पर स्वामित्व को समाप्त करने से नही मिटेंगी। इस व्यवस्था से मनुष्य के मन से ईर्ष्या, द्वेष, सघर्ष, लालच और शोषण आदि की भावनाएँ समाप्त नही हो पाएँगी। इन मानसिक रोगो का उपचार तो मानसिक ही होना चाहिए।

7 प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद अव्यावहारिक है जिसे लागू करने से अनेक नवीन और अधिक भीषण समस्याओ का जन्म होगा। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाप्त कर उसे एक स्वचालित यन्त्र मात्र बना देगा।

8 व्यक्तित्व और परिवार को कुचल कर एकता की स्थापना के प्रयत्नो को उचित नही कहा जा सकता। यह व्यवस्था तो राज्य के अस्तित्व को ही खतरा पहुँचाती है। राज्य समस्त सस्थाओ की एक सस्था है और परिवार ऐसी राज्य रूपी सस्था की एक इकाई है।

9 प्लेटो की स्त्रियो के सामूहिक स्वामित्व की योजना से यौन-क्षेत्र मे अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। एक सुन्दर स्त्री को प्राप्त करने की कामना अनेक पुरुष करेंगे और तब स्वभावतः सघर्षो और विवादो का जन्म होगा। पत्नियो के साम्यवाद के कारण राज्य घृणा और द्वेष का घर बन जाएगा।

10 प्लेटो का परिवार या स्त्री सम्बन्धी साम्यवाद मानव नैतिकता और पवित्रता पर भीषण आघात करने वाला है। पिता को पुत्री, माता को पुत्र और भाई को बहिन का ज्ञान न होने से कोई किसी के भी साथ सहवास कर सकता है जिससे पशु-जगत् मे पाई जाने वाली नैतिक अराजकता जन्म लेगी।

11 प्लेटो द्वारा सार्वजनिक रूप मे बच्चो के भरण-पोषण और शिक्षा की व्यवस्था की आलोचना करते हुए अरस्तू का कहना है कि अनाथालय के बालको के समान ही सार्वजनिक रूप

से न तो बच्चों को उत्तम शिक्षा-दीक्षा दी जा सकेगी और न ही उनमें नागरिकों के गुणों को भरा जा सकेगा।

12. प्लेटो के साम्यवाद में उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गई है, जो जनसंख्या का अधिकांश भाग होता है। साथ ही यदि यह व्यवस्था अच्छी है तो इसे पहले श्रमिक वर्ग पर ही लागू किया जाना चाहिए था जो अभिभावक वर्ग की अपेक्षा कम ज्ञानी और कम शिक्षित होता है।

राज्यों को वर्गों में विभक्त करके प्लेटो स्वयं ही उसकी एकता को अस्त-व्यस्त करता है।

14 व्यावहारिकता की दृष्टि से भी परिवार सम्बन्धी साम्यवाद अनुचित है। परिवार तो आत्मा की अभिव्यक्ति का उत्तम स्थान और यौन सम्बन्धों के नियमानुसार संचालन की एक अनुशासित संस्था है। जिस समाज में, जिसमें अपने तथा अन्य व्यक्तियों के समस्त प्राकृतिक और सामाजिक संबंधों का ज्ञान होता है अपराध कम होते हैं परन्तु उस समाज में, जहाँ सम्बन्ध होंगे ही नहीं, घटनाएँ और अपराध बहुत अधिक हो जाएँगे।

15 प्लेटो का साम्यवाद प्रतिक्रियागामी है। वह समाज को प्रगति की ओर न ले जाकर पीछे की ओर ले जाता है। विवाह की जिस प्रकार की व्यवस्था की गई है, वह प्राचीन काल की बर्बर जातियों की प्रथाओं का ध्यान दिलाती है।

16 राज्य द्वारा श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों के संयोग की योजना सर्वथा अव्यावहारिक है। पशु-जगत के उदाहरणों को मानव समाज पर लागू करना न उपयोगी हो सकता है और न ही वांछनीय।

प्लेटो के साम्यवाद की आधुनिक आलोचना

(1) प्लेटो के साम्यवाद की वर्तमान आलोचनाएँ भी बहुत-कुछ वही हैं जो अरस्तू ने की हैं। वास्तव में प्लेटो ने मानव-प्रकृति का बड़ा अव्यावहारिक और अमनोवैज्ञानिक अर्थ लिया है। उसने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी है कि राज्य की तरह व्यक्ति का भी व्यक्तित्व है। राज्य व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक साधन है और इसे व्यक्ति की प्रकृति तथा आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। व्यक्ति एक उद्देश्य है जबकि राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है, किन्तु प्लेटो ने तो राज्य को साध्य बना दिया है।

(2) प्लेटो ने मनुष्य की मूल प्रवृत्ति का भी बिल्कुल विपरीत पक्ष लिया है। उसका सम्पत्ति एवं परिवार सम्बन्धी साम्यवाद कोरा काल्पनिक है, जो यथार्थ के धरातल पर खरा नहीं उतरता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सबसे अधिक सामाजिकता का प्रारम्भ उसे अपने परिवार में ही प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति को पारिवारिक सुख से वंचित रखा जाएगा तो उसमें उदासीनता और कटुता घर कर लेगी और वह स्नेह, करुणा आदि के भावों के प्रति विरक्त हो जाएगा। उसमें ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विकास होगा कि वह निराशामय और विनाशी हो जाएगा जिसे अन्याय, दुराचार एवं अनुचित कार्य करने में कोई संकोच नहीं होगा।

(3) प्लेटो की विवाह-सुधार योजना के अनेक पक्ष हैं, अनेक प्रयोजन हैं। वह अच्छी सन्तान पैदा करने की योजना है, वह स्त्रियों के उद्धार की योजना है, वह परिवार के राष्ट्रीयकरण की योजना है। उसका उद्देश्य है कि सन्तति सुधरे, स्त्रियों को और साथ ही पुरुषों को भी अधिक स्वतन्त्रता मिले ताकि वे अपनी क्षमताओं का अधिकतम विकास कर सकें। ये उद्देश्य ऐसे हैं जिनसे हम आसानी से सहमत हो सकते हैं, पर उसके साधन स्वीकार करना कठिन है। स्त्रियों के उद्धार की योजना से बहुतों को सहानुभूति हो सकती है, पर योजना के मूल में जो तर्क है वे सन्देह पैदा करते हैं। आखिर, स्त्री-पुरुष में सिर्फ यही भेद नहीं कि पुरुष बीज डालता है और स्त्री गर्भ-धारण करती है। स्त्री का स्त्रीत्व कोई अलग-थलग चीज नहीं होती कि बस केवल इसी नाते वह पुरुष से भिन्न है। स्त्री तो अपनी प्रकृति से परिवार का प्राण होती है और इस बात को भूलने का अर्थ है परिवार का प्राणान्त। विचित्र

वात है कि प्लेटो यह मूल्य चुकाने को तत्पर है। प्लेटो भूल जाता है कि प्रकृति से ही स्त्री का अपना एक विशिष्ट कार्य है और यह कार्य शिशु पालन-केन्द्र को सौंपना उसे कभी स्वीकार न होगा। उसके वच्चो को वडे होने मे लम्वा समय लगता है, पालन-पोषण के बिना उनका काम नही चल सकता, अत: यह काम स्त्री को जिन्दगी भर तक करना होगा। अविवाहिता नारी ससार के उन्मुक्त कर्म-क्षेत्र मे उतर सकती है, विवाहिता स्त्री का जीवन-कर्म उसके लिए तैयार रहता है और निश्चय ही किसी भी राज्य की सच्ची नीति यह कभी नही हो सकती कि मातृत्व का अन्त कर दिया जाए। राज्य का तो यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह मातृत्व को एक विशिष्ट कार्य माने, समाज के प्रति एक देन स्वीकार करे। इसी मे न्याय की सिद्धि है।[1]

(4) प्लेटो की अस्थाई और राज्य नियन्त्रित विवाहो की योजना भी अव्यावहारिक है। माँ-बच्चे के सम्बन्ध की तरह पति-पत्नी के सम्बन्ध का भी आजीवन महत्त्व होता है और यह असम्भव है कि स्त्री-पुरुष वस सम्भोग के लिए एक-दूसरे से मिलें और फिर अपनी-अपनी राह चल दे। उनके मिलन का मुख्य प्रयोजन केवल यही नही होता, अपितु वे 'जीवन-मैत्री' के लिए एक-दूसरे से मिलते हैं, दोनो के समान हित ही उनके परिणय-सूत्र का आधार बनते है। जीवन को सही दिशा मे ढालने वाले जो अनेक प्रभाव है उनमे से एक है—सच्चे विवाह की मैत्री अथवा स्थाई आध्यात्मिक सयोग। वस्तुत प्लेटो ने विवाह-सूत्र के सच्चे स्वरूप के प्रति न्याय नहीं किया है और न ही उसने परिवार के नैतिक मूल्य, महत्त्व एव आवश्यकता को ही समझा है।

(5) यह एक अव्यावहारिक और अरुणात्मक वात है कि व्यक्ति निजी सम्पत्ति पर अधिकार न रखें और राज्य द्वारा निर्मित बैरेक्स मे भोजन करें। यह तो उनके साथ एक प्रकार के कैदियो और दासो का सा व्यवहार होगा और उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नही रहेगी। ऐसा साम्यवाद असन्तोष को पैदा कर विलप्वो को जन्म देगा।

(6) प्लेटो के साम्यवाद का एक गम्भीर दोष यह है कि वह जिस सच्ची आत्म-भावना को जगाना चाहता है, उसी के आधार को नष्ट करके वह उसकी सम्भावना का अन्त कर देता है। वह व्यक्ति को सोचने, समाज के सदस्य के रूप मे काम करने और सामाजिक इच्छा की अभिव्यक्ति करने का अधिकार अर्थात् आवश्यक परिस्थितियाँ नही देता। प्लेटो व्यक्ति के लिए उस सब का निषेध कर देता है जो उसके चिन्तन और कर्म-क्षेत्र की तथा किसी भी इच्छा की अभिव्यक्ति की आवश्यक परिस्थिति है।

(7) प्लेटो की माँग है कि व्यक्ति राज्य से निचले स्तर की किसी व्यवस्था अथवा योजना से अपने आपको अभिन्न नहीं करेगा। यह मान्यता इतनी ऊँची है कि मनुष्य उस तक नहीं पहुँच सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को एक अपेक्षाकृत निचली योजना और सकुचित व्यवस्था से अभिन्न कर लेता है और वैसा किए विना रह नही सकता। यह व्यवस्था या योजना है—परिवार।

(8) स्त्रियो और बच्चो का साम्यवाद एक और दृष्टि से भी अव्यावहारिक है। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही दार्शनिक शासक यौनाचार करे, यह सम्भव नही लगता। प्रथम तो यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष अवस्था के पुरुष के साथ केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही मिले और यदि ऐसा हुआ तो, शनै-शनै एक अवस्था ऐसी आ जाएगी जवकि वे परिवार वसाने लग जाएँगे। फिर जो दार्शनिक अपने बच्चो को पहचानने लगेंगे तो अवश्य ही पक्षपात भी होगा और इस प्रकार इस व्यवस्था के जो ध्येय प्लेटो ने रखे है वे प्राप्त नही हो सकेंगे।

(9) प्लेटो का साम्यवाद प्रजातान्त्रिक न होकर अभिजनतान्त्रिक (Aristocratic) है। उसके राज्य मे केवल दार्शनिक राजा-रानियाँ ही शासन करेंगे। उसके साम्यवाद का सिद्धान्त राज्य के तृतीय उत्पादन वर्ग पर नही लागू होता क्योंकि वे निजी सम्पत्ति का उपभोग कर सकेंगे एव परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी प्रकार प्लेटो साम्यवाद की योजना करते समय नागरिको के वहुसख्यक को उस

1 वार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 337

व्यवस्था से अछूता रखता है। उसका सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद केवल संरक्षक तथा शासक वर्ग के लिए ही है और इससे राज्य में दो वर्ग उत्पन्न होकर समाज तथा समानता की स्थापना को आघात पहुँचेगा।

प्लेटो के साम्यवाद का रूप : अर्द्ध-साम्यवाद

प्लेटो के साम्यवाद का रूप है, उस रूप में उसे साम्यवाद कहा गया है। इस सन्दर्भ में प्रो बार्कर ने अपना विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है—

"प्लेटो का साम्यवाद सम्पूर्ण सामाजिक इकाई की संस्था नहीं है। जिस समाज में उसकी स्थापना होगी, उसके आधे से कम लोगों पर और आधे से कहीं कम पदार्थों पर उसका असर पड़ेगा। इसमें व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। पहली व्यावहारिक कठिनाई यह है कि साम्यवाद की जो व्यवस्था समाज के एक भाग पर लागू होनी है, उसका व्यवहार में व्यक्तिगत सम्पत्ति की उस व्यवस्था के साथ कैसे समन्वय हो सकेगा जो समाज के शेष हिस्सों पर लागू होती है? यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति फूट का कारण है तो तीसरे वर्ग के सदस्यों में भी उसे क्यों रहने दिया जाए? उसके कारण इस वर्ग में फूट की प्रवृत्ति पनपेगी और चूँकि संरक्षक भौतिक साधनों से वंचित होंगे, अतः हो सकता है कि वे उस वर्ग के लड़ाई-झगड़े रोकने में असमर्थ रहें जिसके पास सम्पत्ति का बल होगा। यह बात भी आसानी से समझ में नहीं आती कि आध्यात्म-पथ के जो पथिक सम्पत्ति से और उसके स्वामित्व से जनित प्रेरणाओं से भी वंचित होंगे, वे सामान्य लोगों के कर्मों और उनकी प्रेरणाओं को कैसे समझेंगे और कैसे उन्हें वश में रखेंगे? इस व्यावहारिक कठिनाई से ही प्लेटो की योजना की सैद्धान्तिक कठिनाई प्रस्फुटित होती है। प्रश्न उठता है कि क्या अर्द्ध-साम्यवाद की पद्धति प्लेटो की अपनी मूल स्थापनाओं का तर्कसंगत निष्कर्ष है और क्या राज्य के सभी वर्गों पर लागू होने वाली सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था उन मूल स्थापनाओं के अधिक अनुरूप नहीं होती? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर भी निर्भर है कि प्लेटो की मूल स्थापनाओं का वास्तविक स्वरूप क्या है? प्लेटो मान लेता है कि मानव-मन के तीन तत्त्वों के अनुरूप ही राज्य में तीन वर्ग पाए जाते हैं। वह यह भी मान लेता है कि जिस प्रकार मन के प्रत्येक तत्त्व को अपने नियत काम तक ही सीमित रहना चाहिए, उसी प्रकार राज्य के तीनों वर्गों को भी मन के जिस-जिस तत्त्व के अनुरूप हो, उसी तत्त्व के कार्य-कलापों की सीमा को अपनी सीमा समझना चाहिए। इस तरह, प्लेटो शासक और योद्धा वर्गों के लिए तो साम्यवादी पद्धति की व्यवस्था करता है और उत्पादक वर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति की पद्धति भी। इसका आधार यह है कि शासक और योद्धा वर्ग विवेक तथा उत्साह के जिन तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनके क्रियान्वयन के लिए तो आवश्यकता है साम्यवाद की और उत्पादक वर्ग जिस वासना या क्षुधा तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है उसके लिए जरूरत है व्यक्तिगत सम्पत्ति की। यदि हम यह मूल सिद्धान्त स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार त्रि-वर्ग-व्यवस्था की धारणा लेकर चलते हैं जिसमें प्रत्येक वर्ग मन के एक भिन्न तत्त्व की अभिव्यक्ति करता हो, तो हम अर्द्ध-साम्यवाद की उसी व्यवस्था पर जा पहुँचेंगे जिस पर प्लेटो पहुँचा था। हम सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था तभी पा सकेंगे—जब हम भिन्न स्थापना से आरम्भ करें। हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्तियों के रूप में हम सब के मन में तीन तत्त्व होते हैं तो समाज के अंग-भूत सदस्य होने के नाते भी हम सब में तीन तत्त्व होते हैं—यद्यपि यह सम्भव है कि किसी में एक तत्त्व की प्रबलता होती है तो किसी में दूसरे की, और हम यह भी कह सकते हैं कि यदि हम सब में तीन तत्त्व हैं तो हमें छूट होनी चाहिए कि हम उन तीनों से काम लें और इसके लिए जो परिस्थितियाँ आवश्यक हों वे हमें मिलें। इसका परिणाम एक ओर तो यह होगा कि संरक्षकों में क्षुधा अथवा वासना सक्रिय होगी जिसके फलस्वरूप संरक्षक आर्थिक गतिविधि में भाग लेंगे और विशिष्ट साम्यवाद का त्याग कर देंगे जो उन्हें इस गतिविधि से रोकता है, और दूसरी ओर यह होगा कि उत्पादक वर्ग में विवेक सक्रिय होगा जिसके फलस्वरूप उसके भी सद्विवेक का विकास होगा

और यदि हम [illegible] आध्यात्मिक [illegible] तो वह भी सामान्य साम्यवाद मे भागीदार होगा । यदि हम इस ढंग से तर्क करें, यदि हम मान लें कि विवेक सब मे पाया जाता है और सभी मे उसे सक्रिय होना चाहिए, और यदि हम यह भी मान लें कि सब मे विवेक के सक्रिय होने के लिए साम्यवाद आवश्यक है, तो हम अपनी मूल स्थापनाओं से उस पूर्ण साम्यवाद का निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो प्लेटो अपनी मूल स्थापनाओं से नहीं निकाल सका, पर हम तर्क-संगतता की मूल स्थापनाओं को [illegible] कर ही यह परिणाम निकाल सकते हैं । हमने प्लेटो की व्याख्या नहीं की, उसका पुनरा-[illegible] किया है ।"

बार्कर के अनुसार, उपरोक्त विवेचन के प्रकाश मे, "इस बात की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्लेटो सामान्य साम्यवाद की अवस्था तक क्यों नहीं पहुँचा । सीधी सच्ची बात यह है कि इस तरह की अवस्था न तो उसके सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही है और न वह उन सिद्धान्तों का निष्कर्ष ही हो सकती है । यह ठीक है कि प्लेटो ने एकता पर जोर दिया है और एकता की वेदी पर स्त्री-पुरुष के भेद को न्योछावर कर दिया है, किन्तु भेद और विशेषीकरण पर भी उसका कोई कम आग्रह नहीं रहा है और इन्ही के लिए उसने वर्ग भेद बना रहने दिया है, बल्कि उसे और भी गहरा कर दिया है । सत्-विवेक ज्ञान अनूठा होता है, इसका उसे दृढ़ विश्वास है । जो लोग इस ज्ञान के योग्य होते है उनमे और शेष मानव जाति मे अन्तर होता है—यह भी उसका दृढ़ विश्वास है । चूंकि प्लेटो साम्यवाद को उनके पूर्ण उत्कर्ष के लिए आवश्यक समझता है, अत. वह साम्यवाद को उन्ही के ऊपर और सिर्फ उन्ही के ऊपर लागू करता है ।"

रिपब्लिक मे आदर्श राज्य
(The Ideal State in 'The Republic')

प्लेटो के समय यूनान मे जो राजनीतिक अराजकता व्याप्त थी, उसी की प्रतिक्रियास्वरूप उसने एक 'आदर्श राज्य' की कल्पना कर उसे 'रिपब्लिक' मे प्रस्तुत किया है । प्लेटो चाहता था कि उसके राजनीतिज्ञ ऐसे हो जो अच्छा जीवन क्या है और 'सत्' क्या है—इसे समझ पाएँ और तत्पश्चात् यह समझें कि राज्य का सगठन किस प्रकार किया जा सकता है । प्लेटो का 'आदर्श राज्य' सभी आने वाले समय और सभी स्थानो के लिए एक आदर्श का प्रस्तुतीकरण है । उसने वास्तविकता पर ध्यान न देकर आदर्श की कोरी कल्पना अपने इस ग्रन्थ मे की है और इसी आदर्श के हेतु उसने राज्य के सभी पहलुओ पर विचार किया है । उसके 'आदर्श राज्य' की कल्पना वस्तुत एक उस चित्रकार की तरह है जो अपने चित्र को सुन्दर रूप देता है, किन्तु चित्र बनाते समय यह नहीं सोचता कि उसका चित्र वास्तविक है या केवल आदर्श मात्र । वह उसमे आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है । प्लेटो ने भी अपने 'आदर्श राज्य' की कल्पना करते समय उसकी व्यावहारिकता की उपेक्षा की है ।

यद्यपि प्लेटो के विचारो मे व्यावहारिकता की कमी है, लेकिन हमे उस पृष्ठ-भूमि को नही भूलना चाहिए, जिसने उसके मस्तिष्क मे 'आदर्श राज्य' की कल्पना जाग्रत की । प्लेटोकालीन यूनानी समाज मे जो अराजकता व्याप्त थी, उसी के निराकरण हेतु उसने एक आदर्श राज्य की कल्पना की । उसने सभी उपस्थित बुराइयों का निराकरण करने का प्रयास किया । अपने देश मे व्याप्त तत्कालीन दोषो को देखकर ही उनको दूर करने के लिए उसने 'आदर्श राज्य' की रूपरेखा तैयार की और वह राजनीति से दर्शन की ओर उन्मुख हुआ । उसने राज्य के लिए यह आवश्यक समझा कि शासन का अधिकार केवल ज्ञानी दार्शनिको को ही होना चाहिए जिन्हे 'अच्छे' या 'शुभ' का विस्तृत ज्ञान है ।

राज्य का स्वरूप—राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध .

प्लेटो व्यक्ति और राज्य मे जीवाणु और जीव का सम्बन्ध मानता है । उसका विश्वास है कि जो गुण और विशेषताएँ अल्प मात्रा मे व्यक्ति मे पाई जाती है वे ही विशाल रूप मे राज्य मे पाई जाती हैं । राज्य मूलत मनुष्य की आत्मा का बाह्य स्वरूप है, अर्थात् आत्मा (चेतना) अपने पूर्ण रूप

मे जब बाहर प्रकट होती है तो वह राज्य का स्वरूप धारण कर लेती है। राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट् रूप है। व्यक्तियो की चेतना और गुण ही राज्य की चेतना का निर्माण करते हैं। व्यक्ति की सस्थाएँ उसके विचार का सस्थागत स्वरूप हैं। उदाहरण के लिए राज्य के कानून व्यक्ति के विचारो से उत्पन्न होते हैं, न्याय उनके विचार से ही उद्भूत है। ये विचार ही विधि-सहिताओ और न्यायालयो के रूप मे मूर्तिमान होते हैं।

प्लेटो ने यह वतलाया है कि मनुष्य की आत्मा मे तीन तत्त्व होते हैं—विवेक, उत्साह और क्षुधा (Reason, Spirit and Appetite)। आत्मा मे भूख, क्षुधा अथवा बुभुक्षा (Appetite) का जो अबौद्धिक तत्त्व होता है, उससे व्यक्ति में राग, द्वेष, प्रेम, वासना, अपने शरीर को सुखी और सन्तुष्ट करने की नाना इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ उत्पन्न होती है। दूसरा तत्त्व विवेक अथवा बुद्धि (Reason) का है। इसके दो कार्य है—इसके कारण मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उसके द्वारा अपने वातावरण को समझता है। वह मनुष्यो को वतलाता है कि उन्हे कौन-से कार्य करने चाहिए और कौन-से नही। यह प्रेम करने मे सहायक होकर मनुष्य को एकता के सूत्र मे बांधता है, अत: ये तत्त्व राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन दोनो तत्त्वो के बीच मे 'साहस' अथवा 'उत्साह' (Spirit) का गुण या तत्त्व है, दूसरे शब्दो मे इसे 'शूरता' भी कह सकते है। इसका कार्य मनुष्यो को युद्ध की प्रेरणा देना है। महत्त्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्द्धा की भावनाएँ इसी से उत्पन्न होती है। यह गुण विवेक का स्वाभाविक साथी है। इसके कारण मनुष्य अन्याय मे घृणा करता है और न्याय का साथ देता है। प्लेटो ने इसे बुद्धि या विवेक (Reason) का सहगामी कहा है। आत्मा के सघर्ष मे यह विवेक का पक्ष लेता है। मनुष्यो मे अन्याय का प्रतिशोध करने तथा न्याय को स्वीकार करने की यह भावना उत्पन्न करता है।

प्लेटो का कहना है कि मानवीय आत्मा मे पाए जाने वाले ये तीनो गुण अथवा तत्त्व राज्य मे भी पाए जाते हैं। इन्ही के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सारे कार्य आत्मा से प्रेरणा लेते है उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों का उद्भव उन्हे निर्मित करने वाले मनुष्यो की आत्माओ से होता है। प्लेटो के शब्दो मे, "राज्यो का जन्म वृक्षो या चट्टानो से नही अपितु उनमे वसने वाले व्यक्तियो के चरित्रो से होता है।" वीर व्यक्तियो का राज्य भी वीर होगा और नपुंसको का नपुंसक। जिस राज्य के लोग ही नैतिक दृष्टि से गिरे हुए हो, वह राज्य नैतिक दृष्टि से पूर्ण नही हो सकता। व्यक्ति तथा राज्य की वीरता या नपुँसकता एक ही चेतनता मे निवास करती है जिसमें भेद नही किया जा सकता। यदि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत साहस का परिचय सडक पर गुण्डे का मुकावला करके दे सकता है तो वह युद्ध-भूमि मे राज्यो की सामूहिक वीरता का भी परिचय दे सकता है। राज्य अनेक मस्तिष्को की चेतना है, अत: यह अधिक स्पष्ट और व्यापक है।

प्लेटो का विचार है कि ये उपरोक्त- तीनो गुण सभी लोगो मे एक समान नही होते। कुछ व्यक्तियो मे क्षुधा या वासना की प्रधानता होती है, कुछ मे साहस की और कुछ मे विवेक की। इसी आधार पर राज्य अथवा समाज मे तीन वर्ग देखने को मिलते है—उत्पादक वर्ग, सैनिक वर्ग और दार्शनिक वर्ग। पहले वर्ग मे वे लोग आते है जो पूरी तरह से बुभुक्षा या वासनाओ अथवा इच्छाओं के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। इसमें श्रमिक, शिल्पकार, कृषक, व्यवसायी आदि शामिल है। इन्हे वासनाओ का अनुगमन करने मे ही अधिक आनन्द मिलता है। दूसरा वर्ग उन लोगो का होता है जिनमे साहस या उत्साह की प्रधानता रहती है। इन्हें योद्धा या सैनिक कहा जा सकता है। इन्हें युद्ध और समाज से प्रेम होता है। तीसरा वर्ग उन लोगो का होता है जो विवेक-प्रधान होते हैं। विवेक के कारण वे सच्चे अर्थ मे तत्त्व-वेत्ता अथवा दार्शनिक होते हैं और उन्हें समाज की सेवा करने मे सर्वाधिक आनन्द आता है, इसलिए वे समाज का शासन चलाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होते है। बार्कर के शब्दो मे, "प्लेटो मानव-मन के तीन तत्त्वो (वासना, उत्साह, विवेक) को लेकर निम्नतम से उच्चतम तक

...के निर्माण में इस तरह से भाग लेता है। वह मन के विभिन्न तत्त्वों का, जो किसी भी समय उस सृष्टि का निर्माण करते हैं जिसे हम राज्य कहते हैं, तर्कसंगत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जब वह बारी-बारी से एक तत्त्व को लेता है और क्रम से निम्नतम से उच्चतम की ओर बढ़ता है तो उसकी राज्य रचना में ऐतिहासिक पद्धति का आभास होता है किन्तु, यह सिर्फ आभास है। प्लेटो को सदैव ध्यान रहता है कि उसने प्रत्येक तत्त्व में जो विशेषताएँ आरोपित की हैं, वे उसके समय के एथेन्स से ले ली गई हैं।"

इस तरह अपने उपरोक्त विचारों द्वारा प्लेटो यह स्पष्ट करता है कि राज्य व्यक्ति का विराट् रूप है।

प्लेटो के आदर्श राज्य का निर्माण

जिस प्रकार मन अथवा मानवीय आत्मा का निर्माण वासना, साहस और विवेक के तीन तत्त्वों से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने में भी तत्त्व सहायक होते हैं।

(1) आर्थिक तत्त्व (The Economic Factor)
(2) सैनिक तत्त्व (The Military Factor)
(3) दार्शनिक तत्त्व (The Philosophic Factor)

(1) आर्थिक तत्त्व—जब प्लेटो अपने आदर्श राज्य का निर्माण करता है तो सबसे पहले उस आर्थिक संगठन पर विचार करता है जो उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है। वह वासना अथवा क्षुधा तत्त्वों को राज्य का प्रारम्भिक आधार मानकर अपना विवेचन शुरू करता है और फिर यह दिखाता है कि उसमें किसी न किसी रूप में साहचर्य निहित होता है। वासना अर्थात् आर्थिक तत्त्व से अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को एकाकी रूप में पूर्ण नहीं कर सकता। इसके लिए उसे अनेक व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा होती है और इससे समाज में श्रम-विभाजन तथा कार्यों का विशेषीकरण उत्पन्न होता है। मानव-जाति के भोजन, वस्त्र, आवास आदि की विभिन्न आवश्यकताएँ राज्य को आवश्यक बनाती हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे को सहयोग देकर आर्थिक संघों का निर्माण करता है। कुछ व्यक्ति कृषि का कार्य करते हैं, कुछ वस्त्र तैयार करते हैं तो कुछ घर बनाते हैं। उत्पादनों का विनिमय होता है। विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन सरलता से हो जाता है और माल का स्तर भी ऊँचा रहता है। मानव की आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले लोगों के वृत्त का भी विस्तार होने लगता है। समाज में बढ़ई, सुनार, लुहार, व्यापारी वकील, चिकित्सक आदि वर्ग उत्पन्न होते हैं। पारस्परिक अन्योन्याश्रितता और आदान-प्रदान की यह आवश्यकता ही समाज का आधार है। इसी के ऊपर सारा सामाजिक जीवन टिका है और इसकी प्रक्रिया स्वयं श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है।

जब कार्य-विभाजन (Division of Labour) तथा विशेषीकरण (Specialisation) के प्रति रुचि रखते हुए लोग अपने कार्यों का कुशलतापूर्वक सम्पादन कर वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन करते हैं तब शनैः-शनैः ऐसी स्थिति हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल एक कार्य में ही रुचि रखने लगता है और वह भी ऐसे कार्य में जिसमें उसकी योग्यता अधिकतम हो। ऐसी स्थिति में 'एक व्यक्ति एक कार्य' (One man one job) का सिद्धान्त व्यापक हो जाता है। सेवाओं के आदान-प्रदान से सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। प्लेटो का कथन है कि आदर्श राज्य की स्थापना के लिए आवश्यकताओं की सर्वोत्तम तुष्टि और सेवाओं के समुचित आदान-प्रदान की एक महती आवश्यकता है।

चूँकि राज्य एक जैविक इकाई और नैतिक समग्रता है अतः प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना-अपना काम ठीक ढंग से करे, अधिकतम योग्यता के साथ करे और इसके प्रति सदैव सजग रहे। प्लेटो के मतानुसार यही न्याय (Justice) है और इसी न्याय-भावना के अनुसार कार्य करते रहने पर राज्य की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूर्ण होती हैं। प्लेटो के शब्दों में, "प्रत्येक व्यक्ति सदैव

उसकी प्रकृति के अनुकूल एक ही कार्य मे लगाया जाए, प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्यवसाय करे, अनेक कार्य न करे, तभी सारा नगर-राज्य एक ही होगा।"

(2) सैनिक तत्त्व—राज्य-निर्माण करने वाला दूसरा वर्ग 'सैनिक' वर्ग है। आर्थिक तत्त्व राज्य के सगठन का सवल तत्त्व नहीं कहा जा सकता। "केवल आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाला राज्य तो ग्लॉकन के शब्दो मे, केवल अपना पेट भरने मात्र से सन्तुष्ट होने वाला शूकर-राज्य (A City of Swine) होगा।"[1] एक राज्य मे सभी नागरिकों का चरित्र, प्रधानत आर्थिक नही होता। सभी लोग स्थूल जीवन से सन्तुष्ट होने वाले नही होते। अनेक लोग जीवन की ललित, सुरम्य और कलात्मक वस्तुओ के लिए लालायित रहते हैं। इस प्रकार आवश्यकताएँ बढ़ती और जटिलतर होती जाती है तव राज्य आत्म-निर्भर नही रह पाता और उसे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु अधिक भू-भाग की जरूरत पडती है। ऐसी स्थिति में वह अपने पड़ौसी राज्यो के भू-भाग की ओर ताकने लगता है, जिसका परिणाम होता है—युद्ध। इस तरह लालसा युद्ध का मूल है और राज्य का एक प्रधान कार्य पर्याप्त भू-क्षेत्र को प्राप्त करना और उसे अपने अधिकार मे वनाए रखना है। इस कार्य हेतु तथा युद्ध की सम्भावना और उससे रक्षण की आवश्यकता के फलस्वरूप राज्य मे उत्साह (Spirit), साहस या शूरवीरता के तन्त्र का उदय होता है। इससे सैनिक-वर्ग का आविर्भाव होता है जिसे युद्ध का सर्वाधिक आनन्द आता है। इस वर्ग को समाज से भी प्रेम होता है और इसलिए यह उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहता है। विशेषीकरण के सिद्धान्त के अनुसार राज्य मे सरक्षको का सैनिक दल वनाया जाता है। इस दल के द्वारा राज्य एक ओर अपनी रक्षा करता है और दूसरी ओर अपने प्रदेश का विस्तार। प्लेटो का मत है कि सैनिक-वर्ग मे केवल ऐसे ही लोगो को लिया जाना चाहिए जो उत्साही हो और युद्ध मे रुचि रखते हो। इसके प्रशिक्षण का भी विशेष प्रवन्ध किया जाना चाहिए। यहाँ प्लेटो का 'रिपब्लिक' सुखी योद्धा की शिक्षा का ग्रन्थ वन जाता है।[1]

(3) दार्शनिक तत्त्व—राज्य-निर्माण का तीसरा आधार दार्शनिक तत्त्व है जिनका सम्बन्ध आत्मा के विवेक या वुद्धि (Reason) से है। प्लेटो का कहना है कि उत्साह विवेक की सहायता से अन्याय का विनाशक और न्याय का रक्षक होता है। सैनिक राज्य का सरक्षक होता है और उसका स्वभाव घर के रखवाले कुत्ते के समान घरेलू व्यक्तियो के साथ प्रेम करने का और चोरो के प्रति शत्रुता रखने का होता है। कुत्ते मे यह ज्ञान होता है कि वह किसके प्रति प्रेमपूर्ण और मृदु व्यवहार करे तथा किसके प्रति रुक्ष एव कठोर। ठीक इसी भाँति रक्षक भी ज्ञान और विवेक द्वारा शत्रु एव मित्र को पहचानता है तथा उसके साथ योग्य व्यवहार करता है। दूसरे शब्दो मे प्लेटो का मत है कि राज्य के रक्षक मे विवेक का गुण विद्यमान होना अनिवार्य है ताकि वह विभिन्न वर्गो की क्रियाओ को भली प्रकार नियन्त्रित और सम्बद्ध कर सके। प्लेटो के अनुसार सैनिक योद्धा मे सामान्यत 'विवेक' का यह गुण मिलता है, किन्तु विशेष रूप से यह पूर्ण सरक्षक (Perfect Guardian) या शासक मे ही पाया जाता है। उसके मत मे ये सरक्षक दो प्रकार के होते हैं—(क) सहायक या सैनिक सुरक्षक (Auxiliary Guardians), तथा (ख) दार्शनिक सरक्षक (Philosopher Guardians)। सैनिक या सहायक सरक्षको का विशेष गुण शौर्य होता है जबकि दार्शनिक सुरक्षको का विवेक। वास्तव मे दार्शनिक ही राज्य के सच्चे सरक्षक होते है। वे विश्व और जीवन की वास्तविकता को समझते है। समाज-सेवा मे इन्हें सर्वाधिक आनन्द महसूस होता है और समाज का शासन चलाने के लिए ये ही सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं। शासक का विवेक इसी मे निहित है कि वह बुद्धिमान् हो, शासितो से प्रेम करे और राज्य को वनाए रखे।

प्लेटो विवेक को राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानता है अतः उसके अनुसार विवेक सम्पन्न दार्शनिक को ही राज्य का शासक बनाया जाना चाहिए। प्लेटो का अभिमत है कि विवेक-सम्पन्न

1 *Cornford* : The Republic, p 59
2 वार्कर : पूर्वोक्त, पृ. 251

दार्शनिक प्रकृति केवल इने-गिने लोगों में ही मिल सकती है। 'समूचा राष्ट्र दार्शनिकों का राष्ट्र नहीं हो सकता' अतः सच्चे शासन की अन्तिम परीक्षा उसकी दार्शनिक शक्ति की बौद्धिक परीक्षा है। दार्शनिक शासक को 'न्याय, सौंदर्य और संयम के सार' का ज्ञान होना चाहिए ताकि वह अपने शासितों के चरित्र इन्हीं गुणों के अनुरूप ढाल सके। प्लेटो ने विवेक के दो गुण माने हैं—प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे, विवेक व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। यह अपेक्षित है कि दार्शनिक शासक विवेकशील और पर्याप्त मात्रा में स्नेहशील हो। उसमें विवेक और बुद्धि के गुण की पराकाष्ठा हो। दार्शनिक राजा (Philosopher King) का विचार प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचारों का स्वाभाविक और तर्कसंगत परिणाम है जैसा कि बार्कर ने लिखा है, "जब राज्य का गठन उसके एक-एक मानसिक तत्त्व को लेकर होता है तो उसकी परिणति सिर्फ इसी धारणा में हो सकती है कि वह न केवल आर्थिक संगठन होने के नाते अन्ततः उसका संचालन ऐसे ऊँचे विवेक द्वारा होना चाहिए जो मनुष्य के लिए सम्भव हो। दार्शनिक नरेश कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे यों ही बाद में अथवा बीच में जोड़ दिया गया हो, यह उस सम्पूर्ण पद्धति का तर्क-संगत परिणाम है जिसके आधार पर प्लेटो के राज्य का निर्माण हुआ है।"

आदर्श-राज्य में वर्ग

राज्य के निर्माण के उपरोक्त तीन तत्त्वों के आधार पर अथवा कार्यगत विशेषीकरण (Functional Specialisation) तथा श्रम-विभाजन (Division of Labour) के आधार पर प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का विभाजन तीन वर्गों में किया है। वे तीन वर्ग हैं—

1. संरक्षक (Guardian) वर्ग—यह वर्ग 'विवेक' गुण का प्रतिनिधित्व करने वाला है। इस वर्ग के लोगों का कार्य सहायक-संरक्षक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग के बीच संतुलन बनाए रखना है। यह वर्ग बुद्धि-प्रेमी होगा और इसलिए उसका मुख्य कार्य समाज का सामान्य कल्याण करना है। इस वर्ग के लोग जब दार्शनिक होंगे तब ही वे सामान्य कल्याण के कार्य को पूर्ण कर पाएँगे।

2. सहायक संरक्षक या सैनिक वर्ग (Auxiliary Guardians)—इस वर्ग का मुख्य कार्य उत्पादक-वर्ग की सुरक्षा एवं राज्य की भूमि को सुरक्षित रखना है। यह वर्ग 'उत्साह तत्त्व' का प्रतिनिधित्व करने वाला है। उत्पादक वर्ग के लिए वृहत्तर प्रदेश की पूर्ति भी इसी वर्ग के द्वारा की जाएगी और इस हेतु यह वर्ग पड़ोसी राज्यों से युद्ध करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहेगा।

3. उत्पादक-वर्ग—यह वर्ग 'वासना' या 'क्षुधा' तत्त्व की पूर्ति करने वाला है। इसमें कृषक, कारीगर, शिल्पकार, व्यापारी आदि आते हैं। इसका मुख्य कार्य राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

प्लेटो के आदर्श राज्य के निर्माण करने वाले तत्त्वों और वर्गों को एक दृष्टि में निम्न प्रकार में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. क्षुधा (Appetite)	आर्थिक तत्त्व	उत्पादक-वर्ग
2. साहस (Spirit)	सैनिक तत्त्व	सैनिक-वर्ग
3. विवेक (Reason)	दार्शनिक तत्त्व	शासक-वर्ग

दार्शनिक राजाओं का शासन (The Rule of Philosopher Kings)

प्लेटो का कहना है कि राज्य तभी आदर्श स्वरूप ग्रहण कर सकता है जब राज्य का शासन ज्ञानी एवं निःस्वार्थ दार्शनिक शासकों द्वारा हो। इसी तत्त्व को ध्यान में रख कर वह राज्य में उच्च शिखर पर दार्शनिक को नियुक्त करता है।

दार्शनिक राजा के शासन का यह सिद्धान्त प्लेटो का एक प्रमुख और मौलिक सिद्धान्त है। उसकी धारणा थी कि आदर्श राज्य में शासक-वर्ग परम बुद्धिमान् व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए। उसकी यह धारणा उसके न्याय, शिक्षा आदि सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है। शासन की इस धारणा का प्रतिपादन हमें प्लेटो के इस अवतरण में मिलता है—"जब तक दार्शनिक राजा नहीं होते

वर्तमान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता ।" प्लेटो स्वयं प्रयत्न करके भी सिराक्यूज के डायोनिसियस को दार्शनिक राजा नही बना सका ।

दार्शनिक राजा की धारणा में मौलिक सत्य (The Fundamental truth lying behind the conception of Philosopher King)

फोस्टर (Foster) का कथन है कि "प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक विचार मे दार्शनिक राजा की धारणा मौलिक है ।" उसके सिद्धान्त मे नि:सन्देह एक आधारभूत सत्य है जिसे हर देश हर काल में ग्रहण किया जा सकता है । प्लेटो के इस कथन से कोई इन्कार नही कर सकता कि शासन एक कठिन कला है और उसके लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है । यदि शासन ऐसे व्यक्तियो के हाथो में चला जाए जिन्हे प्रशासनिक समस्याओ का वैज्ञानिक ज्ञान न हो और न उन समस्याओ को सुलझाने की योग्यता ही हो, तो शासन-तन्त्र बिगड जाएगा, अशान्ति और अव्यवस्था फैल जाएगी तथा प्रजातन्त्र विफल हो जाएगा । अत: इस सत्य का प्रतिपादन करना प्लेटो की महान् दूरदर्शिता थी कि सत्ता सदैव बुद्धिमान् व्यक्तियो के हाथो मे होनी चाहिए । हमारे वर्तमान सकटो और विनाश का प्रधान कारण प्लेटो के सन्देश से विमुख होना ही है । हमारे शासक जनता की उतनी हिमायत नहीं करते जितनी स्वय की । उनके द्वारा बनाए गए अनेक कानून उनकी अव्यावहारिकता और विवेकशून्यता प्रदर्शित करते हैं । नित्य बदलते कानून जनता के कष्टो को बढाते हैं, साथ ही जनता मे शासक के प्रति अविश्वास के भाव भी पैदा करते हैं । सत्ताधिकारियो की सनक और विवेकशून्यता के कारण ही अनेक राष्ट्रों की शान्तिप्रिय जनता को युद्धो मे फँसाना पडता है और आर्थिक सकटो का सामना करना पड़ता है अत. प्लेटो का मूल सिद्धान्त है कि बुद्धि को ही शासन करने का अधिकार है, सही है ।

दार्शनिक राजाओं का शासन वर्ग-सघर्ष को समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है । इसका उदय तभी होता है जब शासक-वर्ग स्वार्थपूर्ति के लिए राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग करने लगे । वर्ग-सघर्ष वहाँ नही पाया जा सकता जहाँ शासकगण स्वय को तन, मन, धन से समाज की सेवा मे अर्पित कर दें । दार्शनिक शासक निजी सुखो से उठ कर स्वय को सामान्य हित की साधना मे लीन करने वाले हैं और उन्हे इसमें परम आनन्द की प्राप्ति होती है । सार्वजनिक हित की आड़ मे स्वार्थो की पूर्ति करना सम्भव नही है । यदि वर्तमान सत्ताधारी भी त्याग, समाज-सेवा और नि:स्वार्थता के भावों से संचालित हों तो इसमे सशय नही कि जनता के कष्ट समाप्त हो जाएँगे । इस प्रकार प्लेटो शासको को त्याग और समर्पण का सन्देश देते हैं । निश्चय ही यह सन्देश राज्य और समाज के लिए महान् कल्याणकारक है ।

प्लेटो समाज के प्रत्येक वर्ग से बलिदान चाहता है । आर्थिक वर्ग को राजनीतिक शक्ति का त्याग करना पडता है जबकि दो वर्गों को आर्थिक शक्ति से वचित कर दिया जाता है । यदि जनता का प्रत्येक वर्ग त्याग की भावना से प्रेरित हो तो भारत के सकट शीघ्र ही मिट जाएँगे ।

आदर्श राज्य की कल्पना में अनेक तत्त्वो का महान् और स्थाई मूल्य है । सपने और आदर्श न हों तो 'मनुष्य घोर स्वार्थ और पशुता मे डूबा रहेगा ।' ये उसे ऊँचा उठाने और अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं । बार्कर के मतानुसार—"यह कहना आसान है कि 'रिपब्लिक' काल्पनिक है, बादलो मे नगर है, एक सूर्यास्त के दृश्य के समान है जो साथ एक घण्ट के लिए रहता है, तत्पश्चात् अन्धकार में विलीन हो जाता है, परन्तु 'रिपब्लिक' 'कहीं नहीं का नगर' नहीं है । यह यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित और वास्तविक जीवन को मोड़ने या कम से कम प्रभावित करने के लिए है ।"[1]

1 *Barker* : Greek Political Theory, p 239.

(2) कीर्तितन्त्र (Timocracy)—बाद मे साम्यवाद के परित्याग और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय से यह शासन प्रणाली का पतन होने लगता है। सरदार-वर्ग सारी भूमि को हथिया कर परस्पर बांट लेता है। समाज धनिक वर्गों मे बंट जाता है और एक राज्य के स्थान पर अनेक पैदा हो जाते हैं। इसमें सारी शक्ति महत्वाकांक्षी योद्धाओं के हाथ में आ जाती है। 'विवेक' की प्रधानता के स्थान पर उत्साह का भाव बढ़ जाता है। शासक विवेक पर ध्यान नहीं देते फलत, शासन का भार योग्यतम व्यक्ति नहीं सम्हालते और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। प्लेटो के अनुसार यह शासन प्रणाली कीर्तितन्त्र (Timocracy) है क्योंकि इसमें योद्धा अपनी कीर्ति और महत्त्वाकांक्षा बढ़ाने की दृष्टि से राज्य का सञ्चालन करते हैं। यह राजतन्त्र का पहला विकार है।

(3) अल्पतन्त्र (Oligarchy)—कीर्तितन्त्र शनैः-शनैः अल्पतन्त्र (Oligarchy) मे परिणत हो जाता है। कीर्तितन्त्र का प्रधान तत्त्व 'उत्साह' होता है किन्तु अल्पतन्त्र का 'काम' है। इसमे सम्पूर्ण सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों और कुलों के हाथ मे आ जाती है। आर्थिक बल पर वे शासन की बागडोर हथिया लेते हैं तथा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से राज्य-का सचालन करते हैं। इस शासन मे धनिकों एव निर्धनों के बीच खाई गहरी होती जाती है और सघर्ष बढ़ता जाता है।

(4) लोकतन्त्र (Democracy)—अल्पतन्त्र मे दरिद्र जनता मे तीव्र असन्तोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। फलतः वे सत्ता को अपने कब्जे मे कर लोकतन्त्र की स्थापना करते हैं। लोकतन्त्र मे सभी को स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त हो जाती है अत. अनुशासन और आज्ञापालन का भाव लुप्त हो जाता है। जनता स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर जनतन्त्र ला देती है।

(5) निरंकुशता (Tyranny)—इसका अन्त करने के लिए जनता मे एक नेता उठ खड़ा होता है। वह जनता को बड़े मोहक आश्वासन देता है, और उनके कष्टों का अन्त करने का वायदा करता है। जनता उस पर विश्वास कर उसे राज्य सत्ता और सैनिक शक्ति प्रदान करती है, किन्तु वह जनता की आकांक्षाओं को पूरा नहीं करता। अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए राज्य मे दमन करता है और बाहर युद्ध लड़ता है। वह स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर लेता है। यही निरकुश तन्त्र (Tyranny) है। यह तानाशाही उन्हीं लोगों का खून पीती है जो अपनी मेहनत से उसे भोजन देते हैं। 'काम' तत्त्व का सर्वाधिक पाशविक रूप निरकुशतन्त्र या तानाशाही मे देखने को मिलता है। यह सबसे निकृष्ट शासन-प्रणाली है।

(घ) शिक्षा—'न्याय' का ज्ञान ही शिक्षा है। श्रेष्ठ नागरिको, स्वस्थ सैनिकों व दार्शनिक शासको के निर्माण के लिए उन्हे उचित शिक्षा दी जाए। प्लेटो राज्य द्वारा नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा की विस्तृत योजना प्रस्तुत करता है।

(च) नागरिको के तीन वर्ग—प्लेटो आत्मा के तीन तत्त्वो (वासना, उत्साह और विवेक) के आधार पर राज्य के नागरिको को उत्पादक, सैनिक और सरक्षक नामक तीन वर्गों मे बाँटता है।

(छ) दार्शनिक राजा का शासन—आदर्श राज्य मे दार्शनिक राजा का शासन होगा। जब तक राजा दार्शनिक नही होगे तब तक राज्यो मे शान्ति और सुशासन स्थापित नही हो सकता।

(ज) साम्यवाद—प्लेटो ने व्यवस्था की कि सैनिक और शासक-वर्ग वैयक्तिक सम्पत्ति न रखें। ये कचन और कामिनी के मोह से मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य पालन करें। यह साम्यवाद उत्पादक वर्ग पर लागू नही होता।

(झ) नर-नारियो का समान अधिकार—प्लेटो अपने आदर्श राज्य मे नारियो को घर की चाहरदीवारियो से बाहर निकाल कर शिक्षा, शासन आदि सभी क्षेत्रो मे पुरुषो के समान अधिकार देने की व्यवस्था करता है।

(ट) राज्य का लक्ष्य विशुद्ध, आध्यात्मिक और नैतिक है—प्लेटो दृश्यमान जगत् को अवास्तविक और उसके विचारो को वास्तविक मानता है। राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए है।

(ठ) राज्य का हित प्रधान एव सर्वोपरि है। व्यक्ति उसका अग मात्र है।

आदर्श राज्य और दार्शनिक राजा की आलोचना
(Criticism of the Ideal State and Philosopher King)

प्लेटो के आदर्श राज्य और दार्शनिक राजा की कटु आलोचना की गई है जो प्रमुख रूप से प्रकार है—

(1) आदर्श राज्य की धारणा अतिशय कल्पना-प्रधान और अव्यावहारिक है। प्लेटो ने बाद मे स्वय ही अनुभव किया था कि आदर्श राज्य पृथ्वी पर सम्भव नही है।

(2) मानवीय आत्मा के तीन तत्त्वो के आधार पर राज्य के नागरिको का वर्ग-विभाजन करना वास्तविकता से भिन्न है। व्यक्ति और राज्य मे इस तरह की अभेदता स्थापित करके उसने नैतिकता और राजनीति का विचित्र सम्मिश्रण कर दिया है।

(3) जिन तीन तत्त्वों के आधार पर व्यक्ति और राज्य की तुलना की गई है, उनको समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है।

(4) आदर्श राज्य का वर्ग-विभाजन न तो स्वाभाविक ही है और न वैज्ञानिक ही। यह आवश्यक नही कि मनुष्य मे केवल तीन प्रवृत्तियाँ हों। वह एक साथ ही वासना-प्रधान, साहस-प्रधान और बुद्धि-प्रधान भी हो सकता है; वह एक अच्छा विजेता भी हो सकता है और साथ ही उतना अच्छा शासक भी। यह भी जरूरी नही कि एक ही प्रवृत्ति का आधिक्य मनुष्य में जीवन भर बना रहे। एक सैनिक युद्ध-काल मे अत्यन्त साहसी और शान्तिकाल मे प्रमोदी एवं कामी हो सकता है। इस तरह प्लेटो का वर्ग-विभाजन, अस्वाभाविक, अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक है।

(5) आदर्श राज्य मे सामूहिकता पर अधिक बल देते हुए व्यक्ति की अवहेलना की गई है। राज्य को दी गई अनुचित महत्ता ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारो को कुचल दिया है। हीगल (Hegel) के अनुसार,-"प्लेटो के राज्य मे व्यक्ति की स्वाधीनता को कोई स्थान नही है।"

(6) आदर्श राज्य मे उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गई है। उसे दासो के समान बना दिया है। दूसरी ओर तत्कालीन दास-प्रथा के सम्बन्ध मे मौन रखा गया है। यह स्थिति सर्वथा अप्रजातान्त्रिक है। इसे हम न्यायपूर्ण योजना नही कह सकते।

(7) न्याय सिद्धान्त दोषपूर्ण और एकांगी है। उसमे कर्त्तव्यो को गिनाया गया है और अधिकारो की उपेक्षा की गई है। उसमे अन्तर्विरोध है। एक ओर कहा गया है कि न्याय के अनुसार सभी वर्ग अपना-अपना कार्य करेंगे और कोई किसी अन्य के कार्यो मे हस्तक्षेप नही करेगा। दूसरी ओर यह माना है कि शासक-वर्ग शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्पादक-वर्ग के कार्यों मे हस्तक्षेप कर सकता है।

(8) साम्यवादी व्यवस्था मानव-समाज के मूल तत्त्वो और मानव-स्वभाव के विपरीत है। वह समाज के लिए अहितकर है। यदि सम्पत्ति और परिवार मनुष्य को पथभ्रष्ट करते हैं तो क्या वे उत्पादक-वर्ग को विचलित नही करेंगे। इसी प्रकार अभिभावक-वर्ग के लिए पत्नियो के साम्यवाद की व्यवस्था करके वह स्त्रियो की कोमल भावनाओ और परिवार के पवित्र सम्बन्धो का निरादर करता है।

(9) शिक्षा को राजकीय नियन्त्रण मे रखने से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नही हो सकता।

(10) आदर्श राज्य के निर्माण के लिए प्लेटो यह नही बताता कि राज्य के अधिकारियो की नियुक्ति, अपराधियो की दण्ड-विधि तथा न्यायालयो की स्थापना आदि की व्यवस्था किस प्रकार की जाएगी।

(11) प्लेटो का आदर्श सावयवी (Organic) होते हुए भी प्रगतिशील नही है। आदर्श होने के कारण वह दूरदर्शी नही हो सकता।

(12) प्लेटो अपने राज्य मे कानूनो की आवश्यकता नही मानता। व्यवहार के उचित नियमो का निर्धारण किए बिना किसी भी राज्य में न तो व्यवस्था रह सकती है और न शान्ति ही। इस दोष का अनुभव प्लेटो ने स्वय किया, इसलिए आदर्श राज्य मे कानून को ही आधार बनाकर नए राज्य की रचना की गई।

(13) प्लेटो ने विवेक को इतना महत्त्व दिया है कि वह विवेक को ही दार्शनिक शासक मान बैठा है। उसने इस सम्भावना पर विचार नही किया कि उसके दार्शनिक शासक का भी पतन हो सकता है अथवा सत्ता उसे भ्रष्ट कर सकती है। एक व्यक्ति चाहे कितना ही बुद्धिमान् हो लेकिन वह स्वय 'विवेक' (Reason) नही हो सकता। विवेक गलत नही हो सकता, किन्तु दार्शनिक शासक सांसारिक जीव है और इसलिए वह गलती कर सकता है। बार्कर ने लिखा है, "प्लेटो की गलती मस्तिष्क के पृथक्करण तथा विवेक के निरकुश सिद्धान्त मे है।"

(14) प्लेटो ने दार्शनिक शासक को अमर्यादित अधिकार देकर निरकुश शासन का समर्थन किया है तथा राज्य के अन्य व्यक्तियो को मशीन के पुर्जे माना है। उसने नागरिको से विचार एव भाषण की स्वतन्त्रता छीन कर उनकी स्थिति राजनीति के मूक दर्शको की बना दी है। उनकी दशा उस भेड़ के समान है जो हर समय राजा रूपी गड़रिये के निर्देशन मे चलेंगी।

(15) अत्यधिक चिन्तन और दर्शन के अध्ययन से शासक प्राय' झक्की और सनकी हो जाते है। वे व्यवहार-शून्य होकर शासन के अयोग्य बन जाते है तब यह भय निराधार नही है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक सनकी बन जाएगा।

(16) दार्शनिक राजा स्वय को सर्वगुण-सम्पन्न मानकर जनता से परामर्श नही लेता। इसमे जनता की मनोवृत्ति और आकांक्षाओ को समझने की प्रवृत्ति नही होती। अपने विचारों और सुधारो के उत्साह मे क्रान्तिकारी परिवर्तनो को प्रस्तावित करके यह समाज मे विक्षोभ और अशान्ति उत्पन्न कर देगा। जॉवेट (Jowett) के शब्दो मे, "दार्शनिक राजा दूरदर्शी होता है या अतीत की ओर देखता है,

अथवा इस संसार के राजाओ मे दर्शनशास्त्र के प्रति भावनापूर्ण भक्ति नही जागती और राजनीतिक महानता तथा बुद्धिमत्ता एक ही व्यक्ति मे नही मिलती और वे साधारण मनुष्य, जो इनमे से केवल एक गुण को (दूसरो की पूर्ण रूप से अवहेलना करते हुए) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, अलग हट जाने के लिए विवश नही कर दिए जाते, तब तक नगर-राज्य बुराइयों से मुक्त नही हो सकते और न ही (जैसा कि मेरा विश्वास है) सम्पूर्ण मानव-जाति को शान्ति प्राप्त हो सकती है।"

प्लेटो के मतानुसार सैनिक-वर्ग के लोगो मे सामान्यत उत्साह तथा विवेक दोनो पाए जाते है, किन्तु इनमे कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है जिनमे उत्साह की अपेक्षा विवेक अधिक पाया जाता है। ऐसे लोगो को प्लेटो न आदर्श राज्य के दार्शनिक शासक माना है। बार्कर (Barker) के शब्दो मे—"संरक्षक वर्ग दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, सैनिक सरक्षक है जिनकी विशेषता साहस है और जिन्हे 'सहायक' (Auxiliaries) का नाम दिया गया है और दूसरे, दार्शनिक सरक्षक जिनकी विशेषता विवेक बुद्धि है और जो अपनी श्रेष्ठता के कारण प्लेटो के राज्य के सरक्षक है। प्लेटो ने विवेक के दो गुण माने हैं—प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान होता है। द्वितीय, विवेक ही व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। अत. प्लेटो के अनुसार शासक को विवेकशील होना चाहिए और उसमे पर्याप्त स्नेहशीलता की भावना भी होनी चाहिए। प्लेटो का दार्शनिक न केवल विवेकी और स्नेहशील है बल्कि साम्यवाद की व्यवस्था के कारण स्वर्ण और सुन्दरी के व्यक्तिगत मोह से मुक्त वीतराग, निःस्वार्थ और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति है जिसके शासन से ससार के कष्टो का अन्त हो सकता है। राज्य का निर्माण करने वाले तीनो वर्गो मे दार्शनिक शासन का स्थान सर्वोच्च है, क्योंकि वही राज्य के लोगो को एकता के सूत्र मे बाँधे रख सकता है और उन्हे परस्पर मे स्नेह करना सिखा सकता है। उसमे सुन्दर आत्मा के सभी गुण हैं। वह मृत्यु से नही डरता। उसे न्याय, सौन्दर्य, सयम तथा परम् 'सत्' के विचार (Ideas of Good) तथा मानवीय जीवन के अन्तिम प्रयोजन का ज्ञान शिक्षा पद्धति द्वारा होता है।"

आदर्श राज्य के प्रथम दो वर्गो की भाँति दार्शनिक शासक वर्ग भी विशेष क्षमता-सम्पन्न वर्ग होना चाहिए। जितनी अधिक आवश्यकता कार्य विशेषीकरण की दास वर्ग के लिए है, उतनी अन्य दो वर्गो के लिए नही और चूंकि 'सभी व्यक्ति दार्शनिक वर्ग के लिए नही हो सकते,' अतः राज्य का सूक्ष्म भाग ही इस वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकेगा।

प्लेटो के विचार से मनुष्य की चिन्ताओ और कष्टो का कारण यह है कि उसके मार्ग-दर्शक और नेता अज्ञानी होते है। 'राज्य रूपी नौका को खेने के लिए ज्ञानी, कुशल और निःस्वार्थ नाविक की आवश्यकता है जो शासन चलाने योग्य हो, आकर्षणो से अविचलित रहे, यह जानता हो कि वास्तविक सुख क्या है और श्रेष्ठ जीवन का क्या तात्पर्य है। ऐसा शासक एक दार्शनिक व्यक्ति ही हो सकता है। प्लेटो के आदर्श राज्य का दार्शनिक शासक साधारण दार्शनिक से भिन्न है। उसे समझने मे तीव्र, जानने को उत्सुक, बुद्धि मे अद्वितीय, वाह्य आकर्षणो के प्रति उपेक्षित, वीर, साहसी, आत्म-सयमी तथा न्याय और सत्य का मित्र होना चाहिए।'

'रिपब्लिक' मे वर्णित आदर्श राज्य मे सरकार नियमों द्वारा न होकर दार्शनिक शासको द्वारा निर्मित होगी। राज्य मे सर्वाधिक महत्त्व दार्शनिक शासक को मिला है। उस पर कानून आदि का बन्धन नहीं है। वह राज्य की आत्मा के 'विवेक' गुण से सचालित होता है। उसे 'शुभ' का ज्ञान है, अत. वह कानून के नियन्त्रण से मुक्त है और केवल अपनी अन्त प्रेरणा के प्रति उत्तरदायी है। उससे समाज के अहित होने की कल्पना भी नही की जा सकती, क्योंकि वह समस्त श्रेष्ठ गुणो का आगार, ज्ञान और प्रेम से परिपूर्ण तथा राज्य के प्रति उत्कृष्ट श्रद्धा से ओत प्रोत है। प्लेटो उसे विवेक का प्रेमी और नगर (राज्य) का सच्चा तथा अच्छा सरक्षक मानता है। वह सर्वकाल तथा सर्वसत्ता का दृष्टा है।

ऐसे दार्शनिक शासक को प्लेटो आदर्श राज्य की बागडोर सौंपना चाहता है। इस श्रेष्ठ और निपुण मांझी के नेतृत्व में आदर्श राज्य की नौका आंधी और तूफान के झंझावातों से बचती हुई अपनी मंजिल तक अवश्य पहुँच जाएगी। प्लेटो दार्शनिक शासक के कार्य में किंचित् मात्र भी रुकावट उपस्थित नहीं करना चाहता। उसके मतानुसार इस राज्य के लिए कानून आवश्यक ही नहीं, अपितु हानिकारक भी है। शासन-संचालन में विशेष योग्यता रखने वाले तथा ज्ञानयुक्त शासक के हाथ-पैर कानून की बेड़ियों में जकड़ देने से आदर्श राज्य के नागरिकों का अहित होगा। प्लेटो तर्क प्रस्तुत करता है कि जिस प्रकार अच्छे चिकित्सक को चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकों से अपना उपचार-पत्र (Prescription) बनाने को बाध्य करना उचित नहीं होगा। कानून प्राकृतिक न होकर रूढ़िगत है। रूढ़िजन्य कानून को एक सर्वज्ञाता एवं शासन विशेषज्ञ पर थोपना उचित नहीं है। इस प्रकार प्लेटो का दार्शनिक राजा निरंकुश है।

आदर्श राज्य में जनसाधारण का कोई भाग नहीं है। उन्हें चुपचाप शासक वर्ग की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। नागरिकों को दार्शनिक राजा के सामने ठीक उसी प्रकार समर्पण कर देना चाहिए जिस प्रकार एक रोगी अपना उपचार करने वाले वैद्य के सामने कर देता है।

दार्शनिक राजा गुण-सम्पन्न है। वह लिखित कानून और जनमत के बन्धनों से स्वतन्त्र हो सकता है, किन्तु संविधान के मूलभूत सिद्धान्तों से स्वतन्त्र नहीं है। वह अपने साध्य और उसे प्राप्त करने के उपयुक्त साधनों को जानता है। उसे सत्य से प्रेम है। उसमें वास्तविक तथ्य के लिए तीव्र उत्कंठा और प्रत्येक जानने योग्य वस्तु को जानने की इच्छा निहित है। सच्ची दार्शनिक प्रकृति वाले मनुष्य में पूर्ण आत्म-संयम होगा और उसका हृदय-घृणा, द्वेष, क्षुद्रता आदि अवगुणों से सर्वथा रहित होगा। वह न्यायप्रिय होगा। ऐसा मनुष्य वास्तव में शासन करने योग्य है, इसके प्रति आधीनता एवं निरंकुश आततायी के अधीन होना नहीं है।

बार्कर ने दार्शनिक राजा की चार मर्यादाएँ बताई हैं—

(1) उसे अपने राज्य में सम्पन्नता या निर्धनता नहीं बढ़ने देनी चाहिए क्योंकि इससे समाज कलह, संघर्षों एवं अपराधों का घर बन सकता है। धन आलस्य और भोगवृत्ति पैदा करके राज्य की एकता समाप्त करता है।

(2) राजा राज्य का आकार इतना न बढ़ने दे कि व्यवस्था रखना कठिन हो जाए। आकार इतना छोटा भी न हो कि नागरिकों को आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कठिनाई अनुभव हो।

(3) वह ऐसी न्याय-व्यवस्था का आयोजन करे कि प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवसाय नियमित रूप से भली प्रकार करता रहे।

(4) वह शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन न करे क्योंकि "जब संगीत की तानें बदलती हैं तो उनके साथ राज्य के मौलिक नियम भी बदल जाते हैं।"

आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्त
(Fundamental Principles of the Ideal State)

(क) न्याय—न्याय आदर्श राज्य का प्राण है जिसका कार्य उत्पादक, सैनिक और शासक वर्गों में सन्तुलन रखकर उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे रखना है, ताकि राज्य के सभी अंग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें।

(ख) राज्य व्यक्ति का विराट् रूप है—व्यक्ति की सभी विशेषताएँ राज्य में पाई जाती हैं।

(ग) विशेष कार्य का सिद्धान्त—राज्य या समाज में श्रम-विभाजन होना चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष कार्य को पूर्ण दक्षता और योग्यता से पूरा करे और राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

सिन्कलेयर ने सरकारो के पतन की इस क्रिया को निम्नलिखितचार्ट द्वारा व्यक्त किया है—

सर्वोत्तम	'मनुष्यों मे ईश्वर' द्वारा शासन जो कानून के अधीन नही है।	
निकृष्ट	वैध शासन	बगैर कानून का शासन
क्रम सख्या निकृष्टता को सीढी की भाँति स्पष्ट करती है।	1 एक व्यक्ति का शासन (राजतन्त्र) 2. कुछ का शासन (धनी) (कुलीनतन्त्र) 3. बहुतो (निर्धनो) का शासन (लोकतन्त्र)	4 बहुतो (निर्धनो) का शासन—लोकतन्त्र 5 कुछ (धनिक) का प्रशासन—गुटतन्त्र (Oligarchy) 6 एक का शासन—निरकुशतन्त्र (Tyranny)

कानून का निषेध
(The Omission of Law)

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त, शिक्षा योजना, आदर्श राज्य आदि के विवेचन के प्रसग मे इस बात पर विचार करना उपयोगी है कि उसने अपनी 'रिपब्लिक' मे कानून और लोकमत के प्रभाव को बिल्कुल छोड़ दिया है। इसमे सन्देह नही कि 'रिपब्लिक' राजनीति सम्बन्धी इनी-गिनी पुस्तको मे एक बहुत सम्बद्ध और सुसगत् पुस्तक है जिसके विचार बहुत अधिक मौलिक, प्रेरणास्पद और साहसी हैं, तथापि आधुनिक पाठको को 'रिपब्लिक' का यह पक्ष खटकता है कि उसमे कानून का निषेध है। इस सन्दर्भ मे प्रो. सेबाइन ने बडा तार्किक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि—"यह त्रुटि (कानून और लोकमत के प्रभाव का निषेध) बिलकुल ठीक है क्योकि यदि प्लेटो के प्रभाव को मान लिया जाए तो उसका तर्क लाजवाब है। यदि शासक केवल अपने उच्च ज्ञान के कारण योग्य है जो उनके कार्यों के सम्बन्ध मे लोकमत का निर्णय बिल्कुल अप्रासंगिक है अथवा उनसे विचार-विमर्श या परामर्श करना केवल एक ऐसी राजनीतिक चाल है जिससे कि जनता के असन्तोष को नियन्त्रण मे रखा जाता है। इसी प्रकार, दार्शनिक शासक के हाथो को कानून के नियमो मे बाँध देना भी उसी तरह मूर्खतापूर्ण है जिस तरह किसी योग्य चिकित्सक को इस बात के लिए विवश करना कि वह अपने नुस्खे चिकित्सा सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तको मे से नकल करके दे दे लेकिन यह तर्क हमारी समस्या का समाधान नही करता। यह तर्क इस बात को मान लेता है कि लोकमत कुछ नही है। शासक को लोकमत के सम्बन्ध मे पहले से ही अधिक ज्ञान रहता है। इसी प्रकार इस तर्क की एक अन्य त्रुटि यह है कि वह कानून को भी कोई महत्त्व नही देता। इस सम्बन्ध मे अरस्तू का यह कहना ठीक है कि व्यावहारिक ज्ञान विशेषज्ञ के ज्ञान से भिन्न होता है। लोकमत इस बात को प्रकट करता है कि शासक के विभिन्न क्रिया कलापो का जनता के ऊपर क्या प्रभाव पड रहा है और जनता उनके बारे मे क्या सोच रही है। इसी प्रकार कानून भी केवल औसत नियम नही होता। वह यथार्थ मामलो के सम्बन्ध मे बुद्धि के प्रयोग का परिणाम होता है। वह एक-से मामलो के साथ आदर्श समयायुक्त व्यवहार करता है। प्लेटो ने लोकमत और कानून की उपेक्षा करके दोनो के साथ अन्याय किया है।"[1]

कुछ भी हो, 'रिपब्लिक' का आदर्श राज्य नगर राज्य के राजनीतिक विश्वास का निषेध करता है। नगर राज्य के नागरिक स्वतन्त्र थे जिनसे आशा की जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियो की सीमाओ के भीतर शासनाधिकारो और कर्त्तव्यो मे भाग ले सकता है। यह आदर्श इस विश्वास पर आधारित था कि कानून की अधीनता और किसी अन्य व्यक्ति की अधीनता के बीच (चाहे वह अन्य व्यक्ति बुद्धिमान् और प्रबुद्ध शासक ही क्यो न हो) एक अमिट नैतिक अन्तर होता है। अन्तर यह है कि कानून की अधीनता तो स्वतन्त्रता और गौरव की भावना के अनुकूल है किन्तु व्यक्ति की अधीनता नही है। कानून की अधीनता मे स्वतन्त्रता का भाव नगर राज्य में एक ऐसा तत्त्व था जिसे

1 सेबाइन पूर्वोक्त, पृ. 61

यूनानी लोग सर्वाधिक नैतिक महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि मे यही तत्त्व यूनानियो और बर्बरो के बीच सबसे बडा अन्तर उपस्थित करता था। यूनानियो का यही विश्वास आगे चलकर अधिकांश यूरोपीय शासन प्रणालियों के नैतिक आदर्शों मे सन्निहित हो गया। यह आदर्श इस सिद्धान्त मे प्रकट हुआ कि "सरकारें अपनी न्याययुक्त शक्तियाँ शासितों की सहमति से प्राप्त करती है।" सहमति शब्द का अर्थ स्पष्ट है तथापि यह कल्पना करना कठिन है कि इस आदर्श का लोप हो जाएगा। इसी कारण, प्लेटो के आदर्श राज्य से कानून के निषेध का अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि प्लेटो अपने उस समाज (जिसे वह सुधारना चाहता था) के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नैतिक पक्ष को नही समझ सका। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्लेटो कानून को राज्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप मे उस समय तक शामिल नही कर सकता था जब तक कि वह उस सम्पूर्ण दार्शनिक पद्धति का पुनर्निर्माण नही कर लेता जिसका कि राज्य एक भाग है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान लोकमत से श्रेयस्कर है, जैसा कि प्लेटो मानता है, तो फिर कानून को ऐसा सम्मान कैसे दिया जा सकता है कि वह राज्य मे सम्प्रभु शक्ति (Sovereign Power) बन जाए।

प्लेटो को 'रिपब्लिक' की मान्यताओ मे सन्देह बना रहा। "इस सन्देह ने ही कि 'रिपब्लिक' का सिद्धान्त समस्याओ की जड तक नही पहुँच सका है, प्लेटो को अपने जीवन के उत्तर-काल मे इस बात की प्रेरणा दी कि वह राज्य मे कानून को उचित स्थान दे। फलस्वरूप उसने अपने 'लॉज' (Laws) नामक ग्रन्थ मे एक दूसरे राज्य का निर्माण किया जिसमे ज्ञान नही प्रत्युत् कानून ही प्रशासी शक्ति है।"

रिपब्लिक में लोकतन्त्र की आलोचना
(Criticism of Democracy in Republic)

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' मे लोकतन्त्र की कठोर आलोचना की है। उसके मानस पर अपने गुरु सुकरात को विषपान कराने वाले एथेन्स के लोकतन्त्र का बडा बुरा असर था। यूनानी लोकतन्त्र के इस अन्यायी और निर्मम रूप ने उसके हृदय की कोमल भावनाओं को झकझोर दिया। 'रिपब्लिक' मे उसने लोकतन्त्र के निम्नलिखित गम्भीर दोष बताए—

1. इसमे सत्ताधारी राजनीतिज्ञ और अधिकारी अज्ञानी तथा अक्षम होते है। शिल्पियो को अपने-अपने व्यवसाय की जानकारी होती है, किन्तु राजनीतिज्ञो को कुछ भी नही आता।

2. शासन की शक्ति वोट (Vote) बटोर सकने वाले स्वार्थी एवं अक्षम लोगो के हाथ मे चली जाती है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी स्वार्थ-सिद्धि मे लगा रहता है और उसे राज्य के स्वार्थ से ऊपर समझता है। शासक अपने पद पर बने रहने के लिए जनता की चापलूसी करते हैं। लोकतन्त्र वास्तव मे भीडतन्त्र है। भीड अपनी इच्छानुसार शासको से कानून बनवा लेती है। प्रत्येक व्यक्ति शासक बन कर मनमानी करता है। वास्तव में प्लेटो ने लोकतन्त्र का बडा ही व्यंगपूर्ण चित्र खींचा है।

3. लोकतन्त्र के स्वतन्त्रता और समानता के दोनो आधार गलत हैं। प्लेटो की मान्यता है कि "इनसे समाज मे अव्यवस्था, अनुशासन-हीनता और उच्छृंखलता का प्रसार होता है। उसी के शब्दों मे पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है और अपने माता-पिता के प्रति आदर और भय की भावना नही रखता। अध्यापक अपने शिष्यो से डरता है और उनकी चापलूसी करता है। विद्यार्थी अपने उपाध्यायो का तिरस्कार करते हैं—ऐसे राष्ट्र मे सार्वजनिक स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा तब होती है, जबकि क्रीत दास और दासियां भी उनको मूल्य देकर मोल लेने वाले स्वामियो के बराबर स्वतन्त्र हो जाते हैं।" लोकतन्त्र का घोर उपहास करते हुए प्लेटो ऐयस्किलस (Aeschylus) के कथन को उद्धृत करते हुए आगे कहता है, "इस राष्ट्र मे रहने वाले पशु स्वतन्त्र होगे। कुतिया भी लोकोक्ति को अक्षरश चरितार्थ करती हुई अपनी स्वामिनी के समान हो जाती है और इसी प्रकार घोडे और गधे भी मार्ग मे अत्यधिक स्वतन्त्रता के साथ चलने के अभ्यासी हो जाते हैं। जो भी इनके सामने आकर इनके लिए रास्ता नही

छोडता वे उसी पर झपट पडते हैं और इसी प्रकार सब चीजें सर्वत्र समानता की भावना से फट पड़ने को तैयार हो जाती है।"

4. लोकतन्त्र प्लेटो के 'न्याय' के विचार के अनुकूल नही है। प्लेटो की 'न्याय' की परिभाषा है—'प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध होगा।' उसकी न्याय-व्यवस्था कार्य विशेषीकरण तथा श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि किसी कार्य को करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित होना आवश्यक है लेकिन तत्कालीन एथेन्स की जनतन्त्रीय व्यवस्था में 'लॉटरी' प्रणाली द्वारा कोई व्यक्ति किसी भी पद के लिए चुना जा सकता था। दूसरे शब्दो में लोकतन्त्र में एक ही व्यक्ति अनेक कार्य कर सकता है। प्लेटो लोकतन्त्र की इस व्यवस्था को अक्षमता मानकर उसका उपहास करता है।

5 प्लेटो की दृष्टि मे लोकतन्त्र अराजकता (Anarchy) है। यह बहुतन्त्र (Polyarchy) है, जिसमे अनेक तत्वों और अनेक व्यक्तियों का शासन चलता है। ऐसे शासन मे 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ होती है जो अराजकता और अव्यवस्था की प्रतीक है।

प्लेटो अपनी बाद की अवस्था मे लोकतन्त्र का इतना कठोर आलोचक नही रहा था। स्टेट्समैन (Statesman) मे उसने लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र (Oligarchy) से अधिक श्रेष्ठ स्वीकार किया है जबकि रिपब्लिक मे लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र से नीचा स्थान दिया है। बार्कर के शब्दो मे "यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। अब भी उसमे उन दिनो की स्मृति बनी हुई है जब लोकतन्त्रात्मक राज्य ने ज्ञानी दार्शनिक (सुकरात) को मारा था, किन्तु अब यह स्मृति उतनी तीखी नही रही, जितनी 'गॉर्जियास' (Gorgias) तथा 'रिपब्लिक' लिखते समय थी।"[1] अपनी अन्तिम रचना लॉज (Laws) मे उसने लोकतन्त्र को ऊँची स्थिति प्रदान की है।

प्लेटो और फासीवाद
(Plato and Fascism)

बहुधा यह कहा जाता है कि प्लेटो इतिहास मे प्रथम फासिस्ट हुआ है। उसे फासिस्टो का अग्रगामी कहा जाता है।

फ़ासीवाद की विशेषतायें

1 फासीवाद से तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जहाँ तानाशाही हो और व्यक्ति का कोई स्थान न हो। इसमे एक दल के विरुद्ध किसी दल का अस्तित्व स्वीकार नही किया जाता। यह सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) है जो व्यक्ति के जीवन पर सीमा लगाता है। इसमे मनुष्य के व्यक्तित्व की शान और योग्यता को पूर्णत इन्कार किया जाता है और व्यक्ति राज्य रूपी पहिए की मशीन के लिए केवल एक पुर्जा मात्र रह जाता है।

2. फासीवाद राज्य व्यक्ति की असमानता मे विश्वास करता है। फासिस्ट तर्क देते है कि जन-साधारण प्रत्येक देश तथा काल मे अज्ञानी, अधविश्वासी तथा भावात्मक होते हैं, इस कारण उनमे राष्ट्र का नेतृत्व करने की क्षमता नही हो सकती। विशाल राष्ट्र मे सदैव कुछ ही ऐसे योग्य, अनुभवी एव कार्यकुशल व्यक्ति होते है जो राष्ट्र के हित को भलि-भाँति पहिचान कर उनकी रक्षा कर सकते हैं।

3 फासीवाद प्रजातन्त्र विरोधी है। यह ससदीय प्रजातन्त्र को मूर्खतापूर्ण भ्रष्ट, धीमी, काल्पनिक तथा अव्यावहारिक प्रणाली मानता है। प्रजातन्त्र अप्राकृतिक है और जनसाधारण अपने-आप पर शासन करने के लिए कभी भी योग्य नही हो सकता।

4 फासिस्ट राज्य की पूजा करते है। उनका मत है कि राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा तथा स्वतन्त्र उद्देश्य होता है। राष्ट्र कोई व्यक्तियो की भीड का नाम नही है बल्कि उसका स्वरूप सगठनात्मक है, केवल एक निश्चित भू-भाग पर रहने वाले व्यक्ति ही मिलकर राष्ट्र कहे जा सकते है।

[1] *Barker* Greek Political Theory, p 291.

अतः राज्य तथा समाज का एक जैविक स्वरूप (Organic Form) है जिससे पृथक् करने पर व्यक्ति एक अस्तित्वहीन भावात्मकता मात्र रह जाएगा। राष्ट्र के इस रूप की फासिस्ट उपासना करते हैं और इसे जनता के भाग्य का एकमात्र तथा अन्तिम निर्णय करने वाला मानते हैं।

5. फासीवाद समष्टिवादी है। इनका कहना है कि "राष्ट्र का सामूहिक हित इतनी बहुमूल्य वस्तु है कि उसकी तृप्ति के लिए कुछ व्यक्तियों का बलिदान कोई महत्त्व नही रखता। राज्य की सेवा मे ही व्यक्ति का कल्याण तथा उन्नति है। राज्य से पृथक् व्यक्ति का अपना कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नही हो सकता। राज्य के विरुद्ध उसके कोई अधिकार नही हो सकते।"

फासीवाद के उपरोक्त विचारो के संदर्भ मे आलोचको का कहना है कि प्लेटो द्वारा समर्थित आदर्श राज्य पृथक् फासीवाद राज्य है क्योंकि प्लेटो ने दार्शनिक तथा तार्किक रीति से स्वयं यही निष्कर्ष निकाला कि दार्शनिक शासक सब पर शासन करेंगे, वे कानून के बन्धन से पूर्णतः मुक्त होंगे और स्वेच्छानुसार शासन करने की उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। मुसोलिनी ने भी यही बातें कही हैं। दोनों के विचारो मे निश्चित ही अनेक समानताएँ है। यदि 'रिपब्लिक' का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक किया जाए तो उससे यही निष्कर्ष निकलेगा कि प्लेटो का राज्य सर्वाधिकारवादी है। प्लेटो के आलोचक उसे मुसोलिनी का 'आध्यात्मिक पूर्वज' कहते है। फासीवाद और प्लेटो के विचारो मे अनेक समानताएँ बताई जाती है।—

फासीवाद और प्लेटो के विचारों मे समानतायें

1. प्लेटोवादी तथा फासीवादी दोनो अपने देश को सुन्दर बतलाते हैं। प्रो. जी सी कैटलिन लिखते है—"प्लेटो नवयुवकों को यह पाठ पढाता है कि उनके देश से सुन्दर देश दूसरा नहीं है। यहाँ ... ऐसी विचारधाराओं का कि इटली सुन्दर है और मुसोलिनी सदैव ठीक है, रूस की कोई समानता नही है और स्टालिन सही है, ब्रिटेन लहरों पर शासन करता है—पूर्णरूपेण समर्थक तथा अनुमोदक प्रतीत होता है।"

2. दोनो ही प्रजातन्त्र विरोधी है। प्लेटो ने प्रजातन्त्र को अज्ञानियो का शासन कहा है, उसके अनुसार "प्रजातन्त्र के कानून मृत रहते है, इसकी स्वतन्त्रता अराजकता है, इसकी समानता असमानो की समानता है।" फासिज्म भी प्रजातन्त्र को अव्यावहारिक और भ्रष्ट शासन का रूप मानता है। दोनो ही समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा करते है और उसे घृणा की दृष्टि से देखते है। व्यवसाय पर आधारित कुलीनता के दोनो समर्थक है। प्लेटो व्यावहारिक दृष्टि से मानवीय समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए उत्पादक-वर्ग को एक में, सैनिक एव शासक वर्ग को दूसरी कोटि मे रखता है। दूसरे वर्ग के लिए वह शिक्षा और साम्यवाद की योजना रखता है। वह ज्ञानियो एव अज्ञानियो मे अन्तर करता है। फासिज्म भी मनुष्य की समानता को मान्यता नही देता।

3. दोनो मे स्वतन्त्रता का कोई स्थान नही है। प्लेटो के आदर्श राज्य मे नागरिक के सभी कार्यों पर राज्य का पूर्ण एव कठोर नियन्त्रण है। इसी प्रकार फासिस्टवादी व्यवस्था में भी मनुष्य का राज्य के बाहर कोई अस्तित्व नही है।

4. दोनो विचारधाराओ मे राज्य को सर्वोपरि माना गया है। राज्य के हितो के लिए व्यक्ति के हितो की आहुति देने को उचित ठहराया गया है। प्लेटो ने दार्शनिक शासक के निरकुश नेतृत्व को स्वीकार किया है। फासीवाद भी एक नेता, एक दल की निरकुशता स्थापित करता है। दोनो का रूप अधिनायकवादी है।

5. फासिस्टो ने भी प्लेटो के समान नेता को सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान तथा सबसे अधिक बुद्धिमान् माना है और नेता की आज्ञा का अक्षरश पालन करना जनता का परम-धर्म बताया है।

6. प्लेटोवाद और फासीवाद दोनो का कुलीनतन्त्र मे विश्वास है। प्लेटो बुद्धि का शासन स्थापित करने के लिए थोडे से सरक्षको को सम्पूर्ण शासन सौपना चाहता है। फासीवाद भी एक दल को शासक बनाने का इच्छुक है। इस प्रकार दोनो मे राज्य की शक्ति कुछ लोगो के पास ही रहती है।

7 दोनो विचारधाराएँ मनुष्य के कर्त्तव्यो का उल्लेख करती है, अधिकारो का नही। प्लेटो के अनुसार मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। फासिज्म मे भी अधिकारो को कोई महत्त्व नही दिया गया है और सैनिक की भाँति "Not to reason why but to do and die" वाला कथन चरितार्थ होता है।

8. शिक्षा के बारे में दोनो के समान विचार है। दोनो राज्य द्वारा सचालित योजना प्रस्तुत करते हैं। दोनो शिक्षण का विशेष पाठ्यक्रम देते हैं। दोनो का उद्देश्य नेतृत्व की शिक्षा देना है।

9 दोनो के युग मे राज्य का सर्वोत्तम स्थान था, यद्यपि राज्यो का रूप भिन्न-भिन्न अवश्य था। प्लेटो के समय नगर-राज्य थे जबकि बीसवी सदी में इटली राष्ट्र-राज्य था।

उपरोक्त समानताओ के आधार पर ही कहा जाता है कि प्लेटो फासिज्म का पिता था। बार्कर ने भी प्लेटो के शासन को योग्य व्यक्ति की निरकुशता बताया है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने उसके शासक की आलोचना करते हुए कहा है कि वह एक तानाशाह अथवा सर्वाधिकारवादी शासक बन गया है।

फासीवाद तथा प्लेटो के विचारों मे असमानता

प्लेटो को फासिज्म का अग्रगामी कहना अनुचित है। वस्तुत प्लेटोवाद और फासिज्म मे बड़ी असमानता है जो निम्नलिखित है—

1 फासीवाद जहाँ तर्कवाद और बुद्धिवाद के प्रति एक विद्रोह है वहाँ प्लेटो के बुद्धिवाद का फासिस्टो के प्रज्ञावाद (Intutionism) से सीधा विरोध है। फासिस्टो के अनुमार बुद्धि (Reason) कभी सामाजिक एव राजनीतिक जीवन की समस्याओ को नहीं सुलझा सकती जबकि प्लेटो के लिए यही एकमात्र मार्ग-दर्शक है जो मनुष्य को सामाजिक बुराइयो से दूर हटा सकती है।

2 प्लेटो की विचारधारा आदर्शवादी है जबकि फासिस्ट विचारधारा यथार्थवादी है। प्लेटो ने जिस राज्य की विवेचना की, वह केवल कल्पना के लोक मे ही स्थापित हो सका, व्यावहारिक जगत् मे नही। इसके सर्वथा विपरीत फासीवादी विचारो में आदर्श को कोई स्थान नही है। फासिस्ट आदर्श मे नही यथार्थ मे, योजना मे नही कार्य मे विश्वास करते हैं और उन्होने अपने विचारो के प्रयोग इटली और जर्मनी में किये।

3. फासीवाद भावनाओ तथा प्रवृत्तियो को बुद्धि से ऊँचा स्थान देता है जबकि प्लेटो मे भावनाएँ भी बुद्धि का रूप ग्रहण करती प्रतीत होती हैं। यह धारणा कि फासिस्ट अपने खून से सोचते हैं (Fascists think with their blood), प्लेटो के दर्शन के लिए एकदम महत्त्वहीन कही जा सकती है।

4 प्लेटो ने दार्शनिक आधार पर एक राजनीतिक रूपरचना तैयार की। फासिस्टो ने राजनीतिक रूपरचना के आधार पर एक दर्शन बनाया अत. दोनो मे मौलिक अन्तर है।

5. प्लेटो ने राजनीति पर नही वरन् नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया। उसने राजनीति को नीति की दासी बना दिया लेकिन फासिस्टो ने नीति को राजनीति की अनुगामिनी बनाया है।

6 फासीवाद की सत्य एव नैतिकता की धारणा व्यावहारिक है जबकि प्लेटो की अव्यावहारिक है। फासीवाद के अनुसार नैतिक मापदण्ड तथा सत्य केवल सापेक्षिक सिद्धान्त (Relative Concepts) हैं। जब तक वे मनुष्य के उद्देश्यो व कार्यो को प्राप्त करने मे सहायता दे तभी तक इसका मूल्य है। प्लेटो ने इस विचारधारा का अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' मे खण्डन किया है। उसका कहना है कि सत्य और न्याय न तो सापेक्ष हैं और न ही कुछ समय के लिए वे बाहरी छल-कपट होकर मनुष्य के बौद्धिक स्तर के आन्तरिक उत्साह के रूप मे सामने आते है। न्याय, नैतिकता तथा सत्य अन्तिम रूप से लाभदायक होते हैं लेकिन यह आवश्यक नही कि प्रत्येक चीज जो लाभदयक है वह न्यायसगत भी है। सत्य, नैतिकता तथा न्याय के बारे मे प्लेटो का सिद्धान्त फासीवाद की व्यावहारिकता के विरुद्ध सीधा आक्रमण है।

7. प्लेटो साम्राज्यवाद की कल्पना भी नहीं करता था जबकि फासिस्ट विचारधारा इससे ओतप्रोत है। मुसोलिनी का नारा था—"इटली का या तो विस्तार हो अथवा अन्त हो जाए।" फासिस्ट विस्तार ही में अपना जीवन समझते हैं। प्लेटो के अनुसार साम्राज्यवाद नगर राज्यों के विकास के लिए एक अभिशाप था। वह स्वशासित अथवा आत्म-निर्भर नगर राज्यों की कल्पना प्रस्तुत करता है। फासीवाद के सैनिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त (Theory of Militant Nationalism) का प्लेटो के विचारों मे कोई स्थान नही है। साम्राज्यवादी विस्तार, संघर्ष आदि फासिस्टो के लिए उत्साह और साहस के परिचायक है, किन्तु प्लेटो के लिए ये बीमारियाँ है। उसके आदर्श राज्य मे आत्म-रक्षा के अलावा युद्ध की अपेक्षा नही की जा सकती। प्लेटो के लिए युद्ध-शक्ति उदारता एव साहस का साधन न होकर राजनीतिक बीमारी का एक चिह्न है और राज्य के आन्तरिक कुप्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है। युद्ध के स्थान पर एकता प्लेटो के लिए मनुष्य और राज्य का भाग्य है जबकि फासीवादी विचारधारा की नीव ही युद्ध पर खडी है। युद्ध उसके लिए मनुष्यत्व का जन्मजात लक्षण है।

8. प्लेटो साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार शासक वर्ग को सम्पत्ति एव परिवार से विरक्त रहना आवश्यक है किन्तु फासिस्ट साम्यवादी विचारों के पक्के शत्रु हैं। वे इसका पूर्णत उन्मूलन चाहते हैं। वे प्लेटो के समान सम्पत्ति और परिवार का शासकों के लिए त्याज नहीं मानते।

प्लेटोवाद और फासीवाद की समानताएँ और विषमताएँ देखने पर यही प्रतीत होता है कि प्लेटो न तो फासिस्ट है और न उसका अग्रगामी। उसने जिस विचारधारा को रखा वह अपने युग की मांग थी। प्लेटो के विचार 4 शताब्दी ई पू की तत्कालीन स्थिति के अनुसार थे जबकि फासिस्ट विचारधारा 20वीं सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद की देन है। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि यद्यपि फासिस्टो की भाँति प्लेटो ने भी यह कहा था कि शासन करने का विशेषाधिकार कुछ विशेष बुद्धिमान् और ज्ञानी व्यक्तियों को ही है, लेकिन जहाँ उसके ये 'कुछ बुद्धिमान्' व्यक्ति कठोर, नैतिक और बौद्धिक परीक्षाओं के पश्चात् सत्ता-प्राप्ति तक पहुँचते है वहाँ फासीवाद मे कुछ व्यक्ति छल, कपट एव झूठ आदि उपायों से सत्ता हथियाने मे विश्वास करते है। इसी तरह जहाँ फासिस्ट लोगो ने शक्ति के दर्शन को जन्म दिया है वहाँ प्लेटो बुद्धि के दर्शन का हामी है। प्लेटो का आदर्श राज्य अपने अपने-आप में योग्य और एकतापूर्ण है किन्तु फासीवादी राज्य बिखरे हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

वास्तव मे प्लेटोवाद एव फासीवाद मे समानताएँ अनावश्यक, तुच्छ एव बाह्य है। सच्चाई तो यही है कि इन दोनो का अन्तर कभी न भरने वाली खाई (Unbridgeable Gulf) की तरह है। प्लेटो को प्रथम फासिस्ट बताना न केवल अनुचित है बल्कि उपहास्य भी है।

प्लेटो : 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज'
(Plato : The 'Statesman' & the 'Laws')

प्लेटो का उत्तरकालीन राजनीतिक दर्शन 'पालिटिक्स' (Politics) अथवा 'स्टेट्समेन' (Statesman) तथा (Laws) 'लॉज' नामक ग्रन्थो मे निहित है। इनकी रचना 'रिपब्लिक' के अनेक वर्षों बाद हुई। इन दोनो कृतियो मे पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। इनके सिद्धान्त 'रिपब्लिक' के सिद्धान्तो से बहुत भिन्न है। ये दोनो कृतियाँ नगर-राज्यों की समस्याओ के सम्बन्ध मे प्लेटो के चिन्तन के अन्तिम परिणाम प्रस्तुत करती है।

(The Statesman)

प्लेटो की यह रचना सम्भवत 367-361 ई पू के मध्य उस समय लिखी गई जबकि सिराक्यूज मे डायोनिसियस द्वितीय सुधार मे लगा हुआ था और इसके तुरन्त बाद के वर्षों मे।[1] इसका

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 406

रचनाकाल 367 और 361 ई पू. के बीच रखना ही सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इस काल में प्लेटो को एक ओर तो सिराक्यूज के राजतन्त्र से बड़ी-बड़ी आशाएँ बँध रही थी और दूसरी ओर विधि (कानून) में भी उसकी अभिरुचि उत्पन्न हो गई थी और वह डायोनिसियस द्वितीय के साथ विधियों की प्रस्तावनाएँ तैयार करने में लगा हुआ था।[1] सिन्क्लेयर (Sinclair) के अनुसार रिपब्लिक की रचना के लगभग 12 से 15 वर्ष बाद 362 ई. पू में प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' की रचना की होगी।[2] इस ग्रन्थ को ग्रीक भाषा में 'पॉलिटिकस' (Politicus) कहा जाता है। उसकी मान्यता मुख्यतः इसलिए है क्योंकि इसमें प्लेटो ने कानून पर एक नए दृष्टिकोण से विचार किया है और जनतन्त्र की उतनी भर्त्सना नहीं की है जितनी 'रिपब्लिक' में की थी। इसमें मिश्रित संविधानों (Mixed Constitutions) का संकेत मिलता है जिसका पूर्ण विकास 'लॉज' में हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में प्लेटो को हम 'रिपब्लिक' के काल्पनिक आदर्शवादी के स्थान पर व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) के रूप में देखते हैं। उसके विचार यहाँ 'रिपब्लिक' की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण और सुनिश्चित हैं। 'पॉलिटिकस' का शब्दार्थ है 'राजपुरुष' या 'राजनीतिज्ञ' (Statesman)। इस संवाद में थियोडोरस सुकरात और एक विदेशी परस्पर आदर्श राजनीतिज्ञ के स्वरूप एवं कर्त्तव्यों के विषय में वार्तालाप करते हैं। इस वार्तालाप अथवा परिसंवाद के दौरान 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित आदर्शों पर पुनर्विचार किया जाता है और विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियों के चक्र तथा उनके गुणावगुणों का विवेचन किया जाता है।

स्टेट्समैन में आदर्श शासक एवं कानून सम्बन्धी विचार
(Views on Perfect Ruler and Law in Statesman)

'स्टेट्समैन' कोई राजनीतिक कृति नहीं है। इसमें अधिकतर परिभाषाओं पर विचार किया गया है और इसका मुख्य विषय आदर्श शासक अथवा राजनेता या राजमर्मज्ञ (Statesman) है। 'रिपब्लिक' में यह मान लिया गया था कि राजनेता अथवा आदर्श शासक एक कलाकार है और उसे शासन करने का अधिकार है, क्योंकि वह 'सद्' को जानता है। 'स्टेट्समैन' में उसके समर्थन में प्रमाण जुटाए गए हैं और 'रिपब्लिक' की धारणा की विस्तृत व्याख्या की गई है। 'स्टेट्समैन' का निष्कर्ष भी यह है कि राजनेता एक प्रकार का कलाकार होता है जिसकी मुख्य योग्यता ज्ञान ही है। प्लेटो ने राजनेता की तुलना गडरिए से की है, क्योंकि गडरिए द्वारा पशु-समूह की भाँति राजनेता भी मानव-समुदाय का नियन्त्रण और व्यवस्थापन करता है। राजनेता परिवार के उस मुखिए की भाँति है जो परिवार को इस प्रकार चलाता है कि उसके सब सदस्यों का हित हो।

'स्टेट्समैन' में प्लेटो ने राजनेता अथवा प्रशासक को सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी माना है और राजनीतिक नेतृत्व को सभी विज्ञानों में प्रधान बतलाया है। यद्यपि उसके अन्वेषण का उद्देश्य राजनेता के स्वरूप को समझने की अपेक्षा यह अधिक है कि सामान्य विवेक-शक्ति का विकास किया जाए।[3] पर तर्क नियमों के मेघजाल में प्लेटो के राजनीतिक उत्साह की किरणें बार-बार चमक उठती हैं और 'स्टेट्समैन' का संवाद निरपेक्ष राजनेता अथवा आदर्श शासक के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन बन गया है। तर्क-शृंखला में पहली कड़ी तो यह निश्चित करने की है कि राजनीतिज्ञता अथवा राजमर्मज्ञता (Statesmanship) का सम्बन्ध किस चीज से है। प्लेटो ने आरम्भ में ज्ञान को व्यवहार से पृथक् माना है तथा राजनीतिज्ञता को या 'राजनीति-विज्ञान' को ज्ञान के क्षेत्र में रखा है। तर्क-शृंखला में दूसरी कड़ी है—ज्ञान का दो शाखाओं में विभाजन। एक आलोचनात्मक (Critical) ज्ञान है और दूसरा आदेशात्मक (Imperative) ज्ञान। आलोचनात्मक ज्ञान में निर्णय ही नहीं होता बल्कि निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए आदेश भी दिए जाते हैं। राजनीतिज्ञता (Statemanship) आदेशात्मक

1 *Sinclair* : A History of Greek Political Thought, p. 173
2 सेबाइन : वही, पृ. 68.
3 बार्कर : पूर्वोक्त, पृ. 406.

ज्ञान के अन्तर्गत आती है, राजनीति विज्ञान का स्वर आदेशात्मक होता है। इसका अगला कदम यह है कि आदेशात्मक ज्ञान को दो भागो मे बाँटा गया है—प्रधान अथवा सर्वोपरि भाग या जाति और द्वितीय गौण या अप्रधान भाग अथवा जाति। कुछ लोग जो आदेश दे सकते है वे प्रभुता-सम्पन्न होते है, उनसे ऊँचा कोई नही होता और उनके आदेशो का स्रोत वे स्वय ही होते है। दूसरे लोग अधीनस्थ होते है और वे उन्ही आदेशो को जारी कर देते है जो उन्हे दिए जाते है। राजनेता अथवा प्रशासक की गणना पहली श्रेणी के लोगो मे होती है जिनका ज्ञान केवल आदेश देने का ज्ञान नही होता बल्कि परम-आदेश देने का ज्ञान होता है। प्लेटो ने विस्तार से इस बात को सिद्ध किया है कि एक राजनेता वक्ता, सेनापति तथा न्यायाधीश से इसलिए बढकर है कि प्रभुता सम्पन्न होने के कारण वही यह निर्णय करता है कि वे अपनी शक्तियों का कब और किन कामो मे प्रयोग करे। प्लेटो की दृष्टि मे, जिन विज्ञानो का सम्बन्ध कर्म से है, उनमे राजनीतिज्ञता अथवा राजमर्मज्ञता (Statesmanship) सबकी सिरमौर है।

'स्टेट्समैन' इस मूलभूत प्रश्न पर विचार करता है कि 'आदर्श राज्य मे नागरिको को अपने शासको पर किस सीमा तक निर्भर रहना चाहिए? क्या वे उन पर उसी प्रकार निर्भर रहे जिस प्रकार बालक अपने माता-पिता पर निर्भर रहता है अथवा वे स्वय अपने नियन्ता बने? 'स्टेट्समैन' मे बताया गया है कि यदि शासक वास्तव मे कलाकार है और अपने कार्य को अच्छी तरह करता है तो उसे पूरी निरंकुशता प्राप्त होनी चाहिए।"[1] "शासन प्रणालियो मे वही शासन प्रणाली सबसे श्रेष्ठ है और वही वास्तविक शासन प्रणाली है जिसमे शासको के पास आभासी नही, प्रत्युत् वास्तविक ज्ञान होता है। वे कानून द्वारा शासन करते है अथवा नही, उनके प्रजाजन राजी है या नही, इसका कोई महत्त्व नही है।"[2] प्लेटो बतलाता है कि राजनेता या प्रशासक अपनी आदेश शक्ति का प्रयोग भरण-पोषण के लिए करता है और जिन्हे सहारा देने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है वे समूहो या समुदायो के रूप मे सगठित मानव होते है। राजनेता मानव-समूह के भरण-पोषण के लिए नियुक्त चरवाहा है। 'भरण-पोषण' शब्द मे यह अर्थ निहित है कि घर-गृहस्थी के प्रबन्ध या राजनीति विज्ञान के बीच कोई खाई नही है। किसी बडे परिवार और किसी छोटे राज्य मे केवल मात्रा का अन्तर होता है, प्रकार का नही।[3]

प्लेटो ने एकमात्र सच्चा राज्य उसे ही माना है जिसमे ऐसे राजनेता अथवा प्रशासक हो जो ज्ञान-रूप हैं। राज्य तब तक राजनीतिक समाज नही हो सकता जब तक कि वह ज्ञान पर आधारित राजनेताओ की समन्वयकारी शक्ति के माध्यम से एक इकाई के रूप मे सगठित न हो जाए। इस ज्ञान तक केवल इने-गिने व्यक्तियो की ही पहुँच हो सकती है अर्थात् सच्चे राजनेता इने-गिने लोग ही हो सकते है।

प्लेटो ने राजनेता या प्रशासक की निरकुशता अथवा निरपेक्षता का निम्नलिखित आधारो पर पोषण और सशोधन किया है—

(क) राजनीतिक सभ्यता के तर्क के आधार पर निरकुशता का पोषण,

(ख) सामाजिक सामञ्जस्य के तर्क के आधार पर निरकुशता का पोषण, एवं

(ग) विधि-शासन के विचार के आधार पर निरकुशता का सशोधन।

(क) राजनीतिक सभ्यता के तर्क के आधार पर निरकुशता को न्यायोचित ठहराते हुए प्लेटो ने लिखा है कि राजनीतिज्ञता मूलत आदेशात्मक विज्ञान है जिसमे नियन्त्रण की सर्वोच्च शक्ति निहित होती है। राजनीतिज्ञता कला है और प्रत्येक कला का सार यह है कि कलाकार स्वय एक राजा की भाँति कार्य करता है और अपनी कार्य-पद्धति के बारे मे किसी भी नियमावली के बन्धन से स्वतन्त्र होता है। कलाकार जिस वस्तु पर कार्य करता है उसे अपने ज्ञान के अनुसार अच्छे से अच्छा रूप देने का प्रयत्न

1 सेबाइन - पूर्वोक्त, पृष्ठ 68
2 स्टेट्समैन, सेबाइन से उद्धृत, पृ 68
3 बार्कर उक्त, पृष्ठ 408

करता है। कलाकार के नाते राजनेता अथवा प्रशासक को भी यह छूट होती है कि वह जैसे भी ठीक समझे अपनी प्रजा का हित करे। इसका अभिप्राय यह है कि राजनेता को अपनी प्रजा की सहमति की कोई आवश्यकता नहीं होती। यात्री और रोगी को कोई अधिकार नहीं कि चालक या चिकित्सक की कला के अभ्यास के बारे में आरम्भ में अपनी स्वीकृति या सहमति दे। इसके विपरीत दोनों ही अपने को चालक या चिकित्सक के ज्ञानमय मार्गदर्शन पर छोड देते हैं। चालक या चिकित्सक ज्ञान का प्रयोग किस तरह करेंगे....इस बारे मे यात्री या रोगी किसी तरह के हस्तक्षेप का दावा नहीं करते। वह तो मौन स्वीकृति का विषय है, सहमति का नहीं। यदि चिकित्सक और चालक अपनी कलाओं मे पारगत होंगे तो निश्चय ही रोगी और यात्री का भला करेंगे और उन्हे उनकी मौन स्वीकृति भी निश्चित रूप से मिल जाएगी। यही बात राजनेता के सन्दर्भ मे लागू होती है। यदि राजनेता किसी नागरिक को अधिक न्यायपूर्ण, अधिक अच्छा और उच्च कार्य करने के लिए बाध्य करता है तो इसमें उस नागरिक का लाभ ही है, हानि नहीं और नागरिकों की भलाई का काम करने का अधिकार हर व्यक्ति को है—फिर चाहे वह नागरिको की इच्छा के अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल। स्पष्ट है कि प्लेटो प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता (Enlightened Despotism) के सिद्धान्त की वकालत कर रहा है।

सच्चे राजनेता को कलाकार के रूप मे ग्रहण करने की धारणा का प्लेटो ने दूसरा निष्कर्ष यह निकाला है कि उसकी कला के लिए विधि अर्थात् कानून अनावश्यक है—यहाँ तक कि हानिकारक है। पर यह दृष्टिकोण 'रिपब्लिक' से कुछ भिन्न है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो का तर्क था कि जब दार्शनिक शासक को शिक्षा द्वारा सच्चा एवं जीवन्त ज्ञान प्राप्त हो चुका है तो उसके लिए कानून को एक बुराई माना है, पर उसके विरोध का स्वर विनम्र है। 'स्टेट्समैन' में कानून को अधिकांशत उस आधार पर बुरा समझा गया है कि कानून का अर्थ होना है शासक के ज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग पर प्रतिबन्ध और बन्धनो का आरोपण। कानून के नियम कठोर और स्थायी होते है। कानून उस दुराग्रही और अज्ञानी निरकुश शासक की तरह होता है जो अपना निश्चय कभी नहीं बदलता। कानून की स्थिति उस चिकित्सक की तरह है जो पुस्तक पढ-पढकर इलाज करता है और इस बात की ओर कोई ध्यान नही देता कि जिस रोगी का वह इलाज कर रहा है उसका शरीर-विधान कैसा है, उसके रोग की क्या स्थिति है, उसमे क्या परिवर्तन हो रहे है आदि। किन्तु इस विरोध के बावजूद प्लेटो स्वीकार करता है कि कानूनो का अस्तित्व होता है और यद्यपि उनमें कमियाँ होती है फिर भी वे सब को समान रूप से अपनी सीमा मे बाँध लेते हैं। मनुष्य-मनुष्य और कार्य-कार्य के भेदो के अनुरूप कानूनो अथवा विधियों का निर्माण हो सके इसके लिए विधायक (शासक) अपनी स्वतन्त्र बुद्धि का उपयोग करने से कतराते है, जनसाधारण के लिए ऐसे सामान्य नियम बना देते हैं जो स्थूल दृष्टि मे वैयक्तिक स्थितियो के अनुकूल होते है। प्लेटो राजनीतिक नमनीयता के आधार पर निरकुशता का पोषण करते हुए कहता है कि व्यावहारिक दृष्टि से कानून का अस्तित्व उचित माना जा सकता है तथापि आदर्श की माँग है कि राजनेता या प्रशासक की शक्तियो मे लचीलापन रहे और यदि राज्य अपने शासकों को कानून के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर देता है तो शासक अपनी शक्तियो के लचीलेपन से वंचित हो जाता है। बार्कर की यह टिप्पणी सही है कि प्लेटो सम्भवत. विधि अथवा कानून की कठोरता से बहुत डरता था। तत्कालीन यूनानी विधि जीवन्त विकासशील काया न होकर सूत्रो का ढाँचा मात्र थी और यूनानियो में उस स्थिर सहिता का पालन करने की प्रवृत्ति थी। नई उद्भावनाओ से उन्हे भय लगता था। एथेन्स तक मे विधि (कानून) को बदलना मुश्किल था। विधान परिवर्तन के लिए विशेष उपायो का आश्रय लेना पडता था। प्लेटो मे अभी भी रिपब्लिक की धारणा प्रबल थी। उसकी दृष्टि मे राजनीति एक कला थी और एक कलाकार राजनेता मे ही उसकी आस्था थी। उसका विश्वास था कि नियमो और रूढियो की जकड मे कला और कलाकार का दम घुट जाता है।

(ख) प्लेटो सामाजिक सामञ्जस्य के तर्क के आधार पर भी निरकुशता अथवा निरपेक्षता का पोषण करता है। उसकी दृष्टि मे राजनेता अथवा शासक को मध्यम मार्ग खोजना आवश्यक है।

उसका कर्त्तव्य है कि विभिन्न स्वभावो के व्यक्तियो को सामञ्जस्य के साथ रखें। जिस तरह बुनकर ताने-बाने को इस तरह मिलाता है कि उनमे उचित सामञ्जस्य बना रहे, उसी प्रकार राजनेता के लिए भी आवश्यक है कि वह मानव-प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो मे एकता की स्थापना करे। जिस तरह सगीतकार तीव्र स्वर और मन्द स्वर का सामञ्जस्य ढूँढ निकालता है, उसी तरह राजनेता को भी मानवता के करुण सगीत मे सामञ्जस्य की खोज करनी चाहिए। मानव जीवन के सगीत मे तीव्र स्वर भी है और मन्द स्वर भी। कुछ लोगों मे पुरुषोचित उत्साह का उन्माद छाया रहता है तो कुछ मे मर्यादित सयम की अतिशय भीरुता। जो स्थिति व्यक्तियो की है, वही स्थिति राज्य मे वर्गो की होती है। राज्य मे सैनिक वर्ग अपने साहस के उन्माद के कारण सैन्यवाद का विकृत चोला पहन लेता है तो दूसरी ओर शान्तिप्रिय लोगो का वर्ग सयम की अति के कारण शान्तिवाद की गोद मे सोता रहता है। जीवन में लगता है कि एक सद्गुण दूसरे सद्गुण से न केवल भिन्न है वरन् परस्पर प्रतिकूल भी है। एक प्रकार का मनुष्य दूसरे प्रकार के मनुष्य के विरुद्ध होता है। राज्य मे भी एक वर्ग का दूसरे वर्ग से छह और तीन का रिश्ता होता है, परस्पर विरोध होता है। यहीं राजनेता का प्रवेश आवश्यक है, यही उसे अपने कर्त्तव्य-कर्म के दर्शन होगे। उसे मध्यम मार्ग खोजना होगा, विभिन्न प्रकृतियो का मिश्रण कर सामञ्जस्य बैठना होगा। राजनेता ऐसी प्रकृतियो को समाप्त कर देगा जो किसी काम की न हों। जिन लोगो मे न सयम है, न साहस है और न अन्य कोई सद्गुण है, उन्हे वह या तो मौत के घाट उतार देगा या निर्वासित कर देगा, और जो लोग अज्ञानी व नीच है उन्हे वह दासवृत्ति मे लगा देगा। परीक्षाओ द्वारा चुन लेने और प्रशिक्षण द्वारा तैयार कर लेने के बाद शेष लोगो को वह उसी तरह एकान्वित कर देगा जिस तरह बुनकर ताने और बाने को समन्वित कर देता है।

प्लेटो के अनुसार राजनेता अथवा प्रशासक दो उपायो से यह सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न करेगा। एक उपाय आध्यात्मिक होगा तो दूसरा भौतिक, अथवा एक अलौकिक होगा तो दूसरा लौकिक। राजनेता का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह होगा कि वह सभी सद्गुणो में समन्वय स्थापित करे ताकि हर व्यक्ति अथवा वर्ग अपनी विशिष्ट अति या अपने विशिष्ट अभाव से मुक्त हो जाए और एक व्यापक सामञ्जस्य प्राप्त कर सके। उदाहरणार्थ, राजनेता समान गुण-धर्म वाले स्त्री-पुरुषो का विवाह करने की जगह विभिन्न प्रकार के गुणो का प्रतिनिधित्व करने वाले स्त्री-पुरुषो को विवाह द्वारा परस्पर मिलाएगा जिसका परिणाम यह होगा कि उन स्त्री-पुरुषो का मिलन (जिनकी प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न है) भी एक-दूसरे का पूरक बन जाएगा। इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण समाज सामञ्जस्य के सौरभ से महक उठेगा। इसी प्रकार प्लेटो का सुझाव है कि रिक्त पदो की पूर्ति मे भी सामञ्जस्य का यही सिद्धान्त लागू होगा। जब किसी पद के कर्त्तव्यो का पालन करने के लिए अनेक व्यक्तियो की आवश्यकता हो तो अधिक सन्तुलित कार्य और समुचित सामञ्जस्य लाने की दृष्टि से यह उचित है कि विभिन्न प्रकार के साहसी और कर्मठ, विनम्र और सजग लोगो को चुना जाए।

(ग) प्लेटो ने अधिक व्यावहारिक धरातल पर उतरते हुए, अपने चिन्तन के अगले चरण मे विधि-शासन के आधार पर निरकुशता अथवा निरपेक्षता का सशोधन किया है। निरपेक्ष या निरकुश-शासन के सम्बन्ध में प्लेटो के मन मे सम्भवत अनेक प्रश्न उठे होगे। उसने सोचा होगा कि क्या किसी अति बुद्धिमान व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव है कि मानव-जीवन के साथ निर्द्वन्द्व होकर खिलवाड करे? उसने सोचा होगा कि क्या मानव-प्रकृति को, जो अपने सामूहिक रूप मे इतनी जटिल है इतनी सरलता से ढाला जा सकेगा? उसने स्वय से यह प्रश्न भी पूछा होगा कि मानव इच्छाएं रूढियो और पक्षपातो के जिन अजेय दुर्गो से घिरी हुई हैं, क्या इन सारे दुर्गों को धराशायी किया जा सकेगा। बार्कर ने लिखा है कि अपने जीवन की सन्ध्या मे प्लेटो ने जब सम्भवत ऐसे प्रश्नो पर विचार किया और जब उसने इनका समाधान किया तो उसने अपने राजनीतिक चिन्तन के एक नए दौर में प्रवेश किया। इस नए दौर मे प्लेटो ने यथार्थ के साथ समझौता किया और स्वीकार किया कि राजनीतिक

जीवन मे सहमति, विधि या कानून, सविधानवाद और मानव के वस्तु जगत् की मन्थर अवैज्ञानिक रीतियो के लिए भी स्थान या अवकाश होता है। यूनानी लोगो का विधि (कानून) की प्रभुता मे विश्वास था, और विश्वास था कि उस स्वतन्त्र साहचर्य मे जिसके अन्तर्गत कोई भी एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति गिना जाता है, प्रत्येक का अपना स्वर होता है और 'सब बराबर तथा एक जैसे' होते है। अब तक प्लेटो ने अपने देशवासियो के इन प्रचलित और प्रिय विश्वासो का विरोध ही किया था; किन्तु जीवन के अन्तिम प्रहर मे, जबकि वह लगभग जीवन के 70 बसन्त देख चुका था, उसे तत्कालीन प्रचलित विश्वासो और पुरातनपोथी सिद्धान्तों की महिमा का भान हो उठा। उसने अब यह स्वीकार कर लिया कि निरपेक्ष या निरकुश शासक सब राज्यो के लिए नही होता। वह भी मनुष्यो के बीच देवता की भाँति है जिसका आविर्भाव कभी-कभी ही होता है। इस प्रकार, अपनी वृद्धावस्था मे, प्लेटो रिपब्लिक के नगर के शुद्ध आदर्शवाद को छोडकर मानव के यथार्थ नगरों के अनुसन्धान का राही बन गया, उसने इन्हे समझने-बूझने का प्रयत्न किया। प्लेटो ने यह मान लिया कि विधियो अथवा कानूनो, निर्वाचनो और अपूर्णताओ के बावजूद यथार्थ राज्यो का भी इस नाते कुछ महत्त्व होता है कि वे आदर्श के निकट होते हैं और उसकी प्रतिच्छाया प्रस्तुत करते है। प्लेटो राजनीतिक काल की अद्भुत प्राण-शक्ति की प्रशसा करते हुए कहता है कि जहाँ अन्य कोई भी कला नियमों के बन्धन से घुट जाती है वहाँ सच्ची राजनीतिक कला विधियो के अस्तित्व से समाप्त नहीं होती। यदि सच्चे राजनेता प्रशासक के 'ज्ञान' के स्थान पर 'कानून' रख दिया जाए तो भी राज्य कायम रहेगा और समाज का सगठन भी बना रहेगा। प्लेटो यह भी कहता है कि 'राजनीतिक कला' मे यह सम्भावना भी अधिक है कि कलाकार अर्थात् शासक प्रजाजनो के हित के स्थान पर अपने हित को देखने लगे। अत यह आवश्यक है कि प्रजाजन के पास शासक के विरुद्ध रक्षा का उपाय हो। प्लेटो यह स्वीकार कर लेता है कि कानून अनुभव और बुद्धिमान व्यक्तियो की उपज है। यद्यपि कानून स्वतन्त्र बुद्धि से नीचा होता है, तथापि यह है बुद्धि का ही रूप। इसका स्वाभाविक परिणाम है कि कानून पर आधारित राज्य आदर्श राज्य का ही एक रूप है। जब एक बार कानून पर आधारित राज्य (Law State) बन जाय तो जनता को उस कानून का पालन ही करना चाहिए जिस पर कि राज्य आधारित है। जब कोई विधि अथवा कानून हो ही नही तो कानून के बिना कार्य करना एक बात है, लेकिन जब कोई कानून हो तो उसके विरुद्ध कार्य करना एक दूसरी बात है, विधि-राज्यो मे विधि-शासन के पालन द्वारा सच्चे ज्ञान के शासन के अधिकाधिक निकट पहुँचा जा सकता है। प्लेटो विधि-शासन के विचार के आधार पर निरपेक्षता का सशोधन अवश्य कर लेता है तथापि उसके हृदय मे अभी भी यह बात गूँजती रहती है कि विधि राज्य आदर्श शासक और राजनीति की आदर्श कला मे अविश्वास का परिणाम है जिसमें सुख नही, दुःख ही दुःख है, जिसमे चिन्तन स्वतन्त्र नही होता, योग्यता का सम्मान नही होता और अधिकार अपने आसन पर प्रतिष्ठित नही होता।

निष्कर्ष रूप मे, प्लेटो जीवन की वास्तविकताओ के सामने झुक जाता है। कानून को उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है। 'स्टेट्समैन' मे कानून को स्थान देते हुए प्लेटो मानता है कि दार्शनिक शासक इस भूतल पर प्राप्त नही होगा, अतः समुचित शासन व्यवस्था को कानूनो की सार्वभौमिकता मानना आवश्यक है। यह सार्वभौमिकता जनता की परम्पराओ पर आधारित होगी। इसके बाद 'लाज' मे वह कानून के उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है।

'स्टेट्समैन' में प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण
(Classification of States or Govts in 'Statesman')

प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' मे राज्यो का वर्गीकरण किया और इसका यह वर्गीकरण कानून को शासन के लिए आवश्यक मानने के कारण 'रिपब्लिक' के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है। सेबाइन के अनुसार इसमे दो ध्यान देने योग्य बातें ये हैं—पहली बात तो यह है कि आदर्श राज्य सम्भवतः राज्यो

मे वर्ग से पृथक् रखा गया है और दूसरी बात यह है कि लोकतन्त्र को 'रिपब्लिक' मे जो स्थान दिया है उससे महत्त्वपूर्ण स्थान इसे 'स्टेट्समैन' मे दिया गया है। 'रिपब्लिक' मे राज्यो के वर्गीकरण का विशेष प्रयत्न नही किया गया है। उसमे आदर्श राज्य को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है और वास्तविक राज्यो को एक के बाद एक करके शासन का विकृत रूप माना गया है। उदाहरण के लिए सैनिक राज्य (Timocracy) आदर्श राज्य का विकृत रूप है। अल्पतन्त्र या धनिकतन्त्र (Oligarchy) सैनिक शासन का विकृत रूप है। लोकतन्त्र अल्पतन्त्र का विकृत रूप है और अत्याचारी शासन (Tyranny) जो सूची मे सबसे नीचे है, लोकतन्त्र का विकृत रूप है। 'स्टेट्समैन' मे राज्यो का अधिक विस्तृत वर्गीकरण किया गया है। आदर्श राज्य या दार्शनिक शासक के द्वारा शासित विशुद्ध राजतन्त्र दैवीय होता है कि मनुष्य उसके लायक नही होते। यह वास्तविक राज्यो मे इस अर्थ में भिन्न होता है कि उसमे ज्ञान का शासन चलता है और कानून की कोई जरूरत नही होती। यह रिपब्लिक का राज्य है। इसे अब स्वर्ग मे स्थित आदर्श मान लिया गया है। मनुष्य इसकी नकल कर सकते हैं, लेकिन इसे प्राप्त नही कर सकते। दो वर्गीकरणो को एक-दूसरे से काट कर वास्तविक राज्यो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। राज्यो के परम्परागत त्रि-गुनी विभाजन को 'स्टेट्समैन' मे अब 6 भागो मे बांट दिया गया है। इस विभाजन को सारिणी रूप मे निम्नवत् रखा जा सकता है—

राज्यो के प्रकार	शासको की संख्या	शासन के रूप
(1) कानून-प्रिय या कानून से सचालित राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन (ii) कुछ व्यक्तियो का शासन (iii) बहु व्यक्तियो का शासन	राजतन्त्र (Monarchy) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) प्रजातन्त्र (Democracy)
(2) कानून द्वारा संचालित न होने वाले राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन (ii) कुछ व्यक्तियो का शासन (iii) बहुसंख्यको का शासन	निरकुशतन्त्र (Tyranny) अल्पतन्त्र (Oligarchy) अतिवादी प्रजातन्त्र (Extreme Democracy)

इस वर्गीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय है—

(1) राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति है क्योंकि कानून द्वारा शासित राज्य की इस व्यवस्था मे प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है।

(2) निरकुशतन्त्र शासन का निम्नतम रूप है क्योंकि एक व्यक्ति का शासन अनियन्त्रित होने पर प्रजा का महान् उपकार कर सकता है।

(3) प्लेटो की दृष्टि मे प्रजातन्त्र कानून पर आधारित शासनो मे सबसे बुरा और कानून-रहित शासनो में सबसे अच्छा है। कारण यह है कि प्रजातन्त्र मे जहाँ कानून द्वारा शासन होता है वहाँ शासक प्रशासन कला मे उतने प्रवीण और ज्ञानी नही होते जितने राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र मे होते हैं। इसलिए यह कानून पर आधारित इन दोनो शासनो से निकृष्ट है, लेकिन जिन राज्यो मे कानून द्वारा शासन नही होता, उनमे प्रजातन्त्र ही ऐसा शासन है जिसमें प्रजा का सबसे कम अहित होता है क्योकि यहाँ अहितकारी शासन को जनता मिटा देती है। अत ऐसी व्यवस्था मे प्रजातन्त्र श्रेष्ठ है। सेबाइन (Sabine) ने लिखा है—"प्लेटो ने पहली बार लोकतन्त्र के दो रूप स्वीकार किए है—सौम्य रूप और अतिवादी रूप। इससे भी ज्यादा आश्चर्यजनक बात यह है कि प्लेटो ने लोकतन्त्र को कानून-विहीन राज्यो मे सबसे खराब माना है। प्रकारान्तर से प्लेटो यह मान लेता है कि वास्तविक राज्य मे जनता की स्वीकृति और सहयोग की उपेक्षा नही की जा सकती।"[1]

1 *Sabine*: A History of Political Theory, Part I (Hindi Trans) Page 70

'स्टेट्समैन' व 'रिपब्लिक' के राजनीतिक विचारों में अन्तर

प्लेटो के इन दोनों ग्रन्थों की भाषा और विधि एक-सी है, किन्तु विचारों में पर्याप्त अन्तर है, जो इस प्रकार है—

(1) 'रिपब्लिक' आदर्शवादी है जबकि 'स्टेट्समैन' यथार्थवादी दृष्टिकोण लिए है। बार्कर के शब्दों में, "आदर्शवाद तिरोहित होने से बहुत दूर है, किन्तु वास्तविक राजनीति के प्रति एक अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ इसका अस्तित्व है और इसमें ज्ञान, सद्गुण या आदर्श का एक नवीन विचार रखा गया है जो उसके द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में प्राप्त होगा।"

(2) 'स्टेट्समैन' में प्रजातन्त्र को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया है जबकि 'रिपब्लिक' में इसकी कटु आलोचना और निन्दा हुई है।

(3) 'रिपब्लिक' में उत्पादक वर्ग को उपेक्षित रखा गया है जबकि 'स्टेट्समैन' में उन्हें ग्रीक नगर-राज्य का नागरिक स्वीकार किया गया है और नागरिकता से सम्बन्धित सुविधाएँ प्रदान की गई हैं।

(4) 'स्टेट्समैन' में राजनेता का कार्य शासकों को प्रशिक्षित करना है जबकि 'रिपब्लिक' में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

(5) 'रिपब्लिक' में दार्शनिक-शासकों को सम्प्रभुता दी गई है जबकि 'स्टेट्समैन' में सर्वज्ञ राजपुरुष या राजनेता का महत्त्व प्रतिपादित है।

(6) 'रिपब्लिक' में प्लेटो कानून का जिक्र नहीं करता। उसमें कानूनों को महत्त्व नहीं दिया गया है। 'स्टेट्समैन' में प्लेटो ने कानून को महत्ता प्रदान की है। उनके अनुसार, "कानून संचित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं और भविष्य के अच्छे मार्गदर्शक हैं।"

(7) दोनों ग्रन्थों में शासन का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न है। 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य के पतन में परिवर्तन-चक्र का वर्णन किया गया है। "स्टेट्समैन में कानून के आधार पर कुछ और अनेक व्यक्तियों के शासन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।"

(8) 'स्टेट्समैन' में प्लेटो के प्रौढ़ विचारों का दर्शन होता है, क्योंकि यह 'रिपब्लिक' के वर्षों बाद अनुभवों के आधार पर बाद में लिखी गई है। सेबाइन के अनुसार "ये दोनों रचनाएँ ('स्टेट्समैन' तथा 'लॉज') नगर राज्य की समस्याओं के सम्बन्ध में प्लेटो के चिन्तन के अन्तिम परिणाम प्रकट करती हैं।"

'स्टेट्समैन' की आलोचना
(Criticism of the 'Statesman')

'रिपब्लिक' की भाँति 'स्टेट्समैन' की भी पर्याप्त आलोचना की गई है। इसमें आदर्श शासक को बहुत अंशों तक निरंकुश माना गया है। उसके द्वारा शासित-राज्य जनता के लिए तो है, किन्तु जनता द्वारा नहीं है। साथ ही प्लेटो लचीलेपन का आश्रय लेता हुआ कानून को सर्वोपरि स्थान नहीं देता। वह राजनीतिज्ञ पर कानून का बन्धन नहीं मानता। इसके परिणामस्वरूप वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लग सकते हैं। प्लेटो का शासन का वर्गीकरण भी दोष-रहित नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि एक या कुछ योग्य व्यक्तियों का शासन जनता की अपनी इच्छानुसार चलाया जाए। एक आलोचना की जाती है कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के अनुसार स्टेट्समैन में प्रजातन्त्र का विरोध नहीं किया वरन् उसका स्वरूप ठीक से नहीं समझा है और न ही उसे उचित महत्ता प्रदान की है।

'लॉज'
(The 'Laws')

'लॉज' प्लेटो का अन्तिम ग्रन्थ है, जिसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद सम्भवतः

347 ई पू में हुआ। आकार की दृष्टि से यह प्लेटो का सबसे बडा ग्रन्थ है। समाज-शास्त्रीय और बौद्धिक विश्लेषण की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जहाँ तक साहित्य सौदर्य और दार्शनिक विशेषता का प्रश्न है, 'रिपब्लिक' और 'लॉज' मे कोई तुलना ही नही है। सेबाइन (Sabine) के शब्दो मे 'रिपब्लिक' को सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है, दूसरी ओर 'लॉज' एक नीरस रचना है। इसमे असम्बद्धता काफी है। यह कृति भी सवाद के रूप मे लिखी गई है। इसमे शब्दाडम्बर तथा पुनरावृत्ति का बहुत दोष है। कहा जाता है कि प्लेटो इसका अन्तिम पुनर्निरीक्षण नही कर सका था। 'लॉज' मे कुछ श्रेष्ठ अवतरण भी है, उसकी किमी भी कृति से टक्कर ले सकते हैं। यद्यपि 'लॉज मे 'रिपब्लिक' की कल्पना से मुक्त विहार का प्रभाव है फिर भी इस ग्रन्थ मे प्लेटो ने राजनीतिक वास्तविकताओ का जिस ढग से सामना किया है, वैसा उसने 'रिपब्लिक' मे नही किया था। 'लॉज' में क्रम न होने का एक कारण यह है कि उसकी रचना किसी एक विचार को लेकर नही हुई वरन् जटिल विषय वस्तु के आधार पर हुई है। 'रिपब्लिक' प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था मे लिखा था, 'लॉज' उसकी वृद्धावस्था की रचना है। सांसारिक वास्तविकता को इसमे अधिक स्वीकार किया गया है। इसमे मानव विकास की क्रमिक अवस्थाओ का वर्णन है। राज्यो का सविधान, उनका राजनैतिक सगठन मिश्रित राज्य का सिद्धान्त जैसे विशिष्ट राजनीतिक प्रश्नो के सैद्धान्तिक पक्षो पर 'लॉज' मे प्रकाश डाला है। 'लॉज' मे प्लेटो एक ऐसी शासन-प्रणाली का आयोजन करता है जिसमे कानून की प्रभुता होगी, किन्तु शासन का सचालन ज्ञान और दर्शन ही करेंगे। ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य एक कानूनी राज्य की रचना है।

'लॉज' के सवाद पात्र तीन है। एक बिना नाम का एथेन्सवासी मुख्य वक्ता है। दूसरा मेगिलस (Megillus) है जो स्पार्टा का है। तीसरा 'क्रीट' का निवासी क्लीनियस (Clinias) है। एथेन्सवासी प्लेटो का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है क्योकि उसने वैधानिक सगठित दर्शन के आधार पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'लॉज' बारह भागो मे विभक्त है। प्रथम दो भागो मे सगीत तथा नृत्य का शिक्षा-पद्धति मे महत्त्व बताया गया है। तीसरे मे राज्य के ऐतिहासिक विकास और चौथे मे राजनीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो का विवरण है। पाँच से आठ तक के भागो मे राज्य के कानूनों, शासन-विधान, पदाधिकारियो, राज्य की जनसख्या, शिक्षा पद्धति आदि का विवरण है। नवें से ग्यारहवें भाग तक फौजदारी और दीवानी नियम सहिताओ (Codes) की चर्चा की गई है। ये भाग लॉज के सर्वोत्तम रूप को प्रकट करते है, क्योकि इनमे प्लेटो कवि और दार्शनिक के रूप में ही नही बल्कि उत्तम कानून निर्माता तथा राजनीतिज्ञ के रूप में भी निखर उठता है। बारहवे भाग का विषय सार्वजनिक कानून है। इसमे कर्त्तव्यच्युत सरकारी अधिकारियो के लिए दण्ड की व्यवस्था है। साथ ही नैश परिषद् (Nocturnal Council) का वर्णन है जिसकी सभाओ का आयोजन सदैव रात को होता है इस परिषद् द्वारा लोगो के नैतिक जीवन के निरीक्षण और नियन्त्रण की व्यवस्था है।

'लॉज' में प्लेटो ने अपने उप-आदर्श राज्य (Sub-Ideal State) अथवा द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य (Second Best State) का चित्र खींचने मे 'रिपब्लिक' की सी स्वतन्त्र, तर्क प्रधान एव कल्पनात्मक पद्धति को ग्रहण नही किया है। इस बार वह एक ऐसे राज्य की रचना करना चाहता है जो इस भूतल पर ही प्राप्त किया जा सके। वह अपने अनुभव से जान चुका था कि आदर्श शासक और आदर्श राज्य का होना कितना असम्भव है। अत यह ग्रन्थ भावनाओ की अपेक्षा अनुभवो पर आधारित है। 'लॉज' में प्लेटो वास्तविकताओ से जूझा है, स्वच्छन्द कल्पनाओं के पंखों पर नही उडा है। वास्तव में 'जब प्लेटो ने लॉज की रचना आरम्भ की, तब तक उसके विचारो में आधारभूत परिवर्तन हो चुका था और इसका आभास हमे पुस्तक के शीर्षक से ही मिल जाता है। अब तक प्लेटो का विश्वास ऐसी वैयक्तिक बुद्धि के उन्मुख शासन में था जिसे अपने कार्य का उचित प्रशिक्षण मिला हो, पर जो विधियो (कानूनो) की मर्यादा से स्वतन्त्र सत्ता का उपयोग करती हो किन्तु सिराक्यूज में असफलता ने उसे व्यवहारवादी बना दिया। हिम्मत न हारते हुए वह दूसरी राह की तलाश में जुट गया। यदि

वह ऐसे दार्शनिक शासक को प्रशिक्षित न कर सका जो विधि के बिना और विधि के बजाय शासन करता, तो क्या यह सम्भव न था कि वह विधि को ही दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देता और सभी राज्यो के पालन के लिए एक दार्शनिक संहिता का प्रस्थापन करता ? प्लेटो अब भी दर्शन का व्यावहारिक उपयोग करना चाहता था। वह विचार उसे सबसे प्रिय था। यदि दर्शन शासको का शिक्षक नही हो सकता तो वह कम से कम राज्यो का विधिकर्त्ता तो हो ही सकता था। यदि राज्य का शासन निर्वैयक्तिक दार्शनिक विधि संहिता के माध्यम से दर्शन के द्वारा परोक्ष रीति से हो सकता तो द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सिद्धि हो सकती थी। इस राज्य मे भी विधि की व्यवस्था के लिए किसी न किसी तरह के व्यक्ति शासन की आवश्यकता होगी, प्लेटो इस बात से परिचित था। दार्शनिक राजतन्त्र के अलावा इसे पाने का एक ही उपाय उसकी दृष्टि मे उचित था और वह था—राजा-प्रजा, अमीर-गरीब, के उन विभिन्न तत्त्वों का समन्वय या सम्मिश्रण जो वास्तविक यथार्थ राज्यो मे राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष करते रहते है। प्लेटो की दृष्टि मे यह विकल्प अन्य सारे विकल्पो को पीछे छोड देता है। अस्तु, प्लेटो के जीवन के उत्तर काल का प्रमुख राजनीतिक विचार था—मिश्रित संविधान से युक्त विधि-राज्य। यह मानव-विचार और वास्तविकता के बीच की चीज है, यह उप-आदर्श राज्य है जो वास्तविक जीवन की परिस्थितियो के इतने निकट है कि अविलम्ब वास्तविक जीवन मे खप सकता है।[1]

प्लेटो के विचारो मे यह एक बहुत बडा परिवर्तन है जो उसके राजनीतिक सिद्धान्त को दो अलग-अलग अर्द्धांशो मे बाँट देता है। एक ओर तो 'रिपब्लिक' का संरक्षक है जो विधि की बेडियो से स्वतन्त्र है तो दूसरी ओर विधि का संरक्षक है जो उसका सेवक है और जिसे उसका दास तक कहा गया है। किन्तु परिवर्तन के बावजूद प्लेटो के इस चिन्तन मे संगति बनी रहती है। ये दोनो आदर्श एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नही। पहला आदर्श सदा ही प्लेटो का निरपेक्ष आदर्श रहा था और अब भी है। दूसरा गौण या सापेक्ष आदर्श है—वह गौण है 'रिपब्लिक' के आदर्श की तुलना मे और सापेक्ष है, इस दृष्टि से कि उसे वास्तविक जीवन की आवश्यकताओ के अनुकूल ढाला गया है। यह बात भी नही है कि प्लेटो में यह परिवर्तन आकस्मिक अथवा बिना किन्हीं संगत कारणो के हुआ हो। 'पॉलिटिक्स' अथवा 'स्टेट्समैन' मे पहले ही यह प्रकट हो गया है कि प्लेटो यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि वास्तविक राज्यो मे विधि का होना विधि के न होने से अधिक अच्छा है। 'स्टेट्समैन' से प्रकट हो गया है कि प्लेटो शिक्षा, सामाजिक जीवन और शासन मे किसी समुदाय के विभिन्न तत्त्वो के सम्मिश्रण का महत्त्व स्वीकार करने को तैयार है। ताने-बाने मे एक-सूत्रता लाने वाले बुनकर की कला पर आधारित रूपक का 'स्टेट्समैन' और 'लॉज' दोनो मे प्रयोग हुआ है। प्लेटो के राजनीतिक सिद्धान्त के विकास पर वास्तविक जीवन की जिन घटनाओ का प्रभाव पडा था उनमे सिराक्यूज के इतिहास-प्रवाह का सबसे सशक्त प्रभाव था और पॉलिटिक्स अथवा 'स्टेट्समैन' मे जिस परिवर्तन का संकेत मिलने लगा था उसे पूरा करने में सराक्यूज के घटना-क्रम ने मदद दी। सिराक्यूज की घटनाओ के फलस्वरूप प्लेटो के विचार मिश्रित संविधान और निर्वैयक्तिक विधि संहिता की ओर उन्मुख होने लगे।

'लॉज' मे प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त
(Main Theories Propounded in the 'Laws')

(1) आत्म-संयम का महत्त्व (Importance of Self Control)

'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने न्याय को आदर्श राज्य का आधार माना है। लॉज मे वह न्याय की व्यवस्था को स्थापित करने के लिए आत्म-संयम (Self-Control) को आवश्यक मानता है। इसलिए वह उत्पादको पर ज्ञानी दार्शनिको के नियन्त्रण को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि ऐसा

1 बार्कर : पूर्वोक्त. पृ. 441-42.

करने से समाज में विवेक, उत्साह और न्याय की प्रतिष्ठा होती है। आत्म-संयम के कारण विवेक अबाधित रूप से अपना कार्य करता है। यह राज्य की आधारशिला है। आत्म-संयम पर आधारित न होने वाला राज्य अपूर्ण एवं दोषपूर्ण है। यदि व्यवस्थापक ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जिसमें लोग आत्म-संयमी बनें तो उससे तीन आदर्शों की प्राप्ति होती है—स्वतन्त्रता, एकता और सूझ-बूझ। आत्म-संयम ही राज्य को पूर्ण और दोषहीन बना सकता है।

स्पष्ट है कि 'लॉज' में प्रतिपादित राज्य 'रिपब्लिक' के राज्य या नगर से भिन्न होगा। 'आत्म-संयम' के कार्यों से निरपेक्ष विभेदीकरण की कल्पना नहीं रह जाती। फलस्वरूप लॉज में शासकों के पास राजनीतिक और सामाजिक दोनों तरह के अधिकार रहते हैं और शासितों के पास भी। शासक के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार बना रहता है साम्यवाद का परित्याग कर दिया जाता है। हालांकि भोजन-व्यवस्था कायम रखी जाती है और शासकों के निर्वाचन में शासितों का भी हाथ होता है, उन्हें अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। इस तरह के राज्य में एकता सम्भव नहीं है जो विभिन्न तत्त्वों के सहयोग से उत्पन्न होती है, जिसमें प्रत्येक तत्त्व सम्पूर्ण या समग्र के जीवन में अपने विशिष्ट कर्म द्वारा योग देता है, पर चूंकि उसमें आत्म-संयम व्याप्त है अतः उसमें सहानुभूतिमय एकता अवश्य होगी चूंकि आत्म-संयम सहानुभूति के रूप में प्रकट होता है, अतः वह हमें 'रिपब्लिक' से एक भिन्न वातावरण में पहुँचा देता है जो दुर्लभ कम है, पर मानवीय अधिक। वह उतना निर्मल नहीं होता, पर साथ ही उसमें वैसा खिंचाव भी नहीं होता।

(2) कानून-विषयक सिद्धान्त (Theory of Law)

प्लेटो ने 'लॉज' में कानून की पुनर्प्रतिष्ठा की है। उसने कानून के स्वरूप, आवश्यकता, स्वभाव आदि पर प्रकाश डाला है और राज्य में कानून की प्रभुता स्थापित की है। 'रिपब्लिक' का आदर्श राज्य एक ऐसा शासन है जो कुछ विशेष ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है जिन पर किन्हीं सामान्य विनियमों का कोई अंकुश नहीं होता जबकि 'लॉज' के राज्य में कानून की स्थिति सर्वोच्च है तथा शासक और शासित दोनों ही उसके अधीन रहते हैं।

प्लेटो द्वारा कानून की पुनर्स्थापना निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है वह। समझ चुका था कि दार्शनिक राजा अथवा आदर्श शासक का धरती पर मिलना दुर्लभ था। इसलिए समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी ऐसे स्वर्णिम सूत्र (Golden Cord) की आवश्यकता है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँध सके और उन्हें कर्त्तव्यों का भान कराता रहे। प्लेटो ने कानून को ही यह 'स्वर्णिम सूत्र' माना। उसने कानून की पुनर्स्थापना व्यावहारिकता की दृष्टि से की थी, अन्यथा उसके पूर्व-विश्वासों में कोई अन्तर नहीं आया था। सेबाइन के शब्दों में "कानूनों के बिना आदमी की स्थिति बर्बर पशुओं की तरह हो जाती है लेकिन यदि योग्य शासक हो तो कानूनों की जरूरत नहीं पडेगी क्योंकि कोई भी कानून या अध्यादेश ज्ञान से बढकर नहीं है। इसलिए प्लेटो का अन्त तक यह विश्वास बना रहा कि वास्तविक आदर्श राज्य विशुद्ध विवेक का से शासन चलना चाहिए। कानून द्वारा शासित राज्य मानव प्रकृति की दुर्बलता के प्रति एक रियायत थी। प्लेटो उसे अपने आदर्श राज्य के समान स्वीकार करने को तैयार नहीं था। यदि दार्शनिक शासकों का निर्माण करने के लिए आवश्यक ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, तो कानून पर आधारित शासन में विश्वास करना ठीक है।"

प्लेटो ने कानून की पुनर्स्थापना की है वह आज के कानून से भिन्न है। कानून से तात्पर्य मानव व्यवहार के ऐसे सिद्धान्तों से है जो बुद्धि ग्राह्य हों। उसके अनुसार कानून का ध्येय शासन एवं समाज की दृढता के लिए व्यावहारिक आधार प्रदान करता है। वह कानून का शासन इसलिए स्थापित करना चाहता है क्योंकि कानून दर्शन तथा ज्ञान का साकार रूप है। मनुष्य को दो कारणों से कानून की आवश्यकता होती है—(1) प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक हितों को समझने की क्षमता नहीं होती,

(2) यदि वह समझ भी जावे तो अपने वैयक्तिक स्वार्थो और वासनाओ के कारण उसके अनुकूल आचरण नही करता ।

इस प्रकार सामाजिक हितो की सिद्धि के लिए कानूनो का अस्तित्व आवश्यक है। समाज के लिए क्या श्रेयस्कर है इसका सही उत्तर व्यक्ति सदा नही दे सकते, अत. उन्हे कानून का सहारा लेने की जरूरत है, क्योकि "कानून समस्त समाज के ज्ञान और अनुभव तथा मानवता से अपने-आपको पशुता से ऊपर उठाने के युग-युगान्तरकारी प्रयास की अभिव्यक्ति है।" मनुष्य वासनाओ के वशीभूत होकर सामाजिक हितो के विरुद्ध कार्य करता है। कानून मनुष्य को ऐसे कार्य करने से रोकता है अत. बुद्धि के इस पवित्र बन्धन का सदैव पालन होना चाहिए। प्लेटो 'लॉज' के उपादर्श राज्य मे कानून को वही स्थान देता है जो उसने 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य मे बुद्धि को दिया था। 'लॉज' के राज्य मे बुद्धि कानून का मूर्तरूप धारण करती है। उसमे आदर्श राज्य की भाँति व्यक्ति और राज्य का पूरी तरह सामञ्जस्य तो नही हो पाता, लेकिन फिर भी कानून द्वारा बनाए गए नियम प्राय सन्तोषजनक ही होते हैं। फलत इस प्रकार के राज्य मे सबसे बडा गुण आत्म-सयम है। इसका अभिप्राय यह है कि नागरिक कानून का पालन करते है अथवा राज्य की सस्थाओ के प्रति उनके मन मे आदर का भाव रहता है और वे कानून की शक्तियो की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।[1]

प्लेटो के अनुसार 'कानून' से व्यक्ति सबकी भलाई, व्यक्ति की भलाई की पूर्व शर्त को अपना कर्त्तव्य मानता है। कानून मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है जिसका जन्म क्रमशः हुआ है। पुराने प्रचलित रीति-रिवाजो मे जो सर्वमान्य एव योग्यतम तथा सद्गुण-सम्पन्न थे वे धीरे-धीरे कानून बन गए। युद्ध के परिणाम, आर्थिक दशाएँ आदि कानून के निर्माता है। मनुष्य आवश्यकता के समय उपयोगी रीति-रिवाजो एव अभिसमयो को कानून को स्वरूप देकर उसकी सार्वभौमिकता को मान लेता है।

प्लेटो ने बताया कि कानून का निर्माण, एक कानून-निर्मायक या सहिताकार द्वारा होना चाहिए। जब समाज मे विद्यमान सभी वर्गों के नियमो और कानूनो मे संघर्ष होता है, तो इस सघर्ष को दूर करने हेतु सहिताकार कानून बनाता है। उन्हे कार्यान्वित करने का भार किसी नवयुवक शासक को दिया जाना चाहिए। प्लेटो ने बताया कि शासक को कानून के अनुसार शासन करना चाहिए। उसका विचार है कि—"राज्य को कानून के अनुसार होना चाहिए, न कि कानून राज्य के अनुकूल हो। सरकार को कानून के सेवक और दास की भाँति राज्य का सचालन करना चाहिए।" सरकार कानून मे अपनी इच्छानुसार परिवर्तन नही कर सकती। जब तक सरकारी अधिकारी, जनता और देववाणियाँ प्रस्तावित परिवर्तन का समर्थन न कर दें तथा यह विशेष रूप से आवश्यक न हो तब तक कानून मे परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। इस तरह प्लेटो कानून की स्थिरता (Rigidity) और ठोसता मे विश्वास रखता है। प्रारम्भ मे कानूनो मे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु जब कानूनो की उपयोगिता निश्चित हो जाती है तो उनमें किसी के हित मे परिवर्तन या रद्दोबदल नही होना चाहिए।

प्लेटो प्रत्येक नए कानून के साथ उसकी प्रस्तावना को आवश्यक मानता है। कानूनो को स्थायी होने के साथ सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिए, ताकि सभी व्यक्तियो का कानून मे विश्वास हो अतः प्रस्तावना द्वारा लोगो को यह बता दिया जाना चाहिए कि कानून उन बातो की अभिव्यक्ति है जिनमें उनकी निष्ठा है। ऐसा होने पर लोग स्वत. ही कानून की पालना मे प्रस्तुत होगे। इसके लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता नही होगी। प्लेटो का कहना है कि कानून को क्रियान्वित करने के लिए लोगो का बौद्धिक विकास अत्यन्त आवश्यक है अत राज्य को कानून पालन की नागरिको की उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 71.

(3) इतिहास की शिक्षाएँ (Lessons of History)

'लॉज' में प्लेटो ने बताया कि हमें भूतकालीन अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अपने इस ग्रन्थ में वह इतिहास के आधार पर एक निश्चित शासन प्रणाली का समर्थन करता है जिसमें राज्य की सत्ता और जनता की सहमति को स्वीकार करता है। इतिहास के उदाहरणों के आधार पर उसने कानून के नियम और मिश्रित संविधान की व्यवस्था को पुष्ट किया है। इतिहास से उदाहरण देते हुए ही वह बताता है कि राज्यों के आत्म-संयमी न रहने और सत्ता के एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण ही आरगोस (Argos) तथा मेसिना (Messina) जैसे राज्यों का उसी तरह पतन हो गया जिस तरह अधिक पालों वाले जहाज तथा अधिक माँस वाला शरीर नष्ट हो जाता है। एथेन्स के लोकतन्त्र में आत्म-संयम के अभाव के कारण ही उसका पतन हुआ।

(4) मिश्रित राज्य (The Mixed State)

प्लेटो ने 'लॉज' में जिस उपादर्श राज्य (Sub-Ideal State) की विवेचना की है उसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मिश्रित संविधान (The Mixed Constitution) अथवा मिश्रित राज्य (The Mixed State) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य शक्तियों के सन्तुलन द्वारा समरसता प्राप्त करना है। यह सिद्धान्त विरोधी प्रवृत्ति के प्रतिकूल सिद्धान्तों का कुछ इस तरह संयोग करता है जिससे वे एक-दूसरे को निराकृत कर दें। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन के परवर्ती इतिहास में स्वीकृत हुआ है। जिन विचारकों ने राजनीतिक संगठन की समस्याओं पर चिन्तन किया, उनमें से अधिकांश ने इसे स्वीकार कर लिया। अरस्तू तथा पोलिबियस के लेखों में इसका उल्लेख मिलता है। इसे मॉन्टेस्क्यू (Montesquie) के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का पूर्वज माना जा सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार 'लॉज' में वर्णित उपादर्श राज्य के निर्माण के लिए राजा और प्रजा, धनी और निर्धन, बुद्धिमान और शक्तिशाली सभी व्यक्तियों और वर्गों का सहयोग आवश्यक है। 'लॉज' में वर्णित प्लेटो का उपादर्श राज्य राजतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक और जनतन्त्रात्मक है। सेबाइन के शब्दों में, "लॉज में प्लेटो का मिश्रित राज्य राजतन्त्रात्मक शासन की बुद्धि और लोकतन्त्रात्मक शासन की स्वतन्त्रता का समन्वय है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो मिश्रित संविधान के आदर्श के प्रति सदैव निष्ठावान रहा। उसकी निष्ठा बुरी तरह से खण्डित थी और अन्त में वह अपनी उस विचार पद्धति पर आ गया जिसका 'रिपब्लिक' में विकास किया था। फिर भी प्लेटो ने मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का जिस ढंग से समर्थन किया है, वह बाद के अध्ययन में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्लेटो अपने सिद्धान्त के पक्ष में राज्य एवं सभ्यताओं का सहारा लेता है। वह 'रिपब्लिक' की तार्किक पद्धतियों को छोड़कर वास्तविक राज्यों की ओर उन्मुख होता है। उसके अनुसार मानव-सभ्यता के विश्लेषण द्वारा राजनीतिक स्थिरता के नियमों का अनुसंधान किया जा सकता है और बुद्धिमान् राजनेता मानव-समाज के परिवर्तनों को उचित दिशा में निर्देशित करने हेतु नियमों का उपयोग कर सकता है।

सेबाइन ने लिखा है कि मिश्रित संविधान के निर्माण में प्लेटो के दो विशेष उद्देश्य हैं—एक आनुषंगिक और दूसरा प्रधान। इन उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—प्लेटो ने आनुषंगिक-रूप से स्पार्टा की आलोचना की है। उसने स्पार्टा के पतन का एकमात्र कारण वहाँ के सैनिक संगठन को ठहराया है। उसका कथन है कि "राज्यों का विनाश अज्ञान के कारण होता है। लेकिन प्लेटो का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि राजतन्त्र और अत्याचारी शासन की स्वेच्छाचारी शक्ति फारस की भाँति किस प्रकार पतन का कारण बनती है तथा अनियन्त्रित लोकतन्त्र स्वतन्त्रता की अतिशयता (अधिकता) के कारण एथेन्स की भाँति किस प्रकार अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। यदि ये दोनों मध्यम-मार्गी (Moderate) रहते, शक्ति का बुद्धि के साथ और स्वतन्त्रता का व्यवस्था के साथ सम्बन्ध बनाए रखते, तो दोनों की तरक्की होती। दोनों दशाओं में अतिवाद विनाशक सिद्ध हुआ।" स्पष्ट है

कि प्लेटो के मतानुसार यदि राज्यो के पतन को रोकना है तो विरोधी शक्तियों का एक-दूसरे के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया जाना चाहिए। मिश्रित राज्य के सिद्धान्त द्वारा इन शक्तियो का सम्मिश्रण होगा तथा स्थिरता की स्थापना होगी।

(5) राज्य की भौगोलिक स्थिति व जनसंख्या (Geography and Population)

प्लेटो ने अपने उपादर्श राज्य की काल्पनिक भौगोलिक रूपरेखा खींची है। उसका मत है कि राज्य सागर-तट से पर्याप्त दूर रहना चाहिए, क्योंकि सागर-तट के निकट होने से विदेशी व्यापारियो की उस पर सदैव ही गिद्ध-दृष्टि लगी रहेगी और रक्षा के लिए राज्य को बहुत सैनिक व्यय करना पड़ेगा। नगर का समुद्र-तट के निकट होना विदेशी वाणिज्य के भ्रष्टाचार को प्रश्रय देना है। राज्य चारो ओर से सुरक्षित सीमाओं से घिरा हुआ हो ताकि अन्य राज्य उस पर सुगमतापूर्वक आक्रमण न कर सकें। राज्य मे जहाज बनाने वाली लकडी भी नहीं होनी चाहिए ताकि वहाँ के निवासी जहाज का निर्माण करके दूसरे देशो के साथ व्यापार न करें। प्लेटो सामुद्रिक व्यापार का इसलिए निषेध करता है क्योंकि यह लोगो को व्यापारिक वृत्ति का बना देता है, वे सौदेबाजो मे पड जाते हैं, दोहरा व्यापार करना सीख जाते हैं और बेवफा हो जाते है। यह राज्य को भी बेवफा और मित्र-रहित बना देता है। वास्तव मे सामुद्रिक राज्य की निन्दा व्यापारी राज्य की निन्दा थी। प्लेटो नौ अथवा जल सैनिकवाद को स्थल सैनिकवाद से भी खराब मानता था जबकि अरस्तू प्लेटो के इस विचार का समर्थन न करते हुए सामुद्रिक राज्य के पक्ष मे था।

प्लेटो के मतानुसार राज्य कृषि-प्रधान होना चाहिए क्योंकि राज्य को आत्म-निर्भर रखना आवश्यक है। राज्य की जनसख्या 5040 होनी चाहिए। यह जनसख्या सोच-समझ कर अनेक कारणोवश निश्चित की गई थी—

(1) पाइथागोरस के प्रभाव से प्लेटो कुछ सख्याओ के महत्त्व मे बहुत विश्वास रखता था 5040 की ऐसी जनसख्या है जिसके अनेक भाग किए जा सकते हैं, जैसे $1 \times 2 \times 3 \times 4 \times 5 \times 6 \times 7 = 5040$ अथवा $7 \times 8 \times 9 \times 10 = 5040$। इस तरह यह सख्या 1 से 10 तक सभी सख्याओ मे बाँटी जा सकती है और 1 से 7 तक की तथा 7 से 10 तक की सभी सख्याओ का गुणनफल है।

(2) ऐसी संख्या युद्ध एव शान्तिकाल मे उपयोगी होती है। युद्ध मे इस सख्या वाले नागरिको की व्यूह-रचना प्रत्येक प्रकार से सम्भव है क्योंकि इसका अनेक भाजको मे विभाजन हो सकता है। साथ ही नागरिको मे भूमि-वितरण और कर आदि वसूल करने की दृष्टि से भी यह सख्या सुविधाजनक है।

(3) इस सख्या का मुख्य भाजक 12 है। प्लेटो ने अपने उपादर्श राज्य को भी 12 जातियो मे बाँटा है और वर्ष के 12 महीनो मे काम करने के लिए राज्य परिषद् की 12 समितियाँ बनाई हैं। उसके राज्य की मुद्रा, नाप-तोल आदि की व्यवस्था भी 'द्वादशात्मक' थी।

(4) प्लेटो की दृष्टि मे गणित का इतना महत्त्व था कि वह इसे आध्यात्मिक विद्या की सीढी समझता था।

(5) प्लेटो गणित के आधार पर स्थापित राज्य को आध्यात्मिक-क्षेत्र तक ऊपर उठाना चाहता था। वह राज्य को 12 भागो मे विभाजित कर, उनका वर्ष के महीनो के साथ सम्बन्ध जोडकर उन महीनो मे होने वाली भगवान् की कृपाओं के साथ इन भागो को सयुक्त करने का इच्छुक था।

प्लेटो के मतानुसार राज्य को ऐसे नियम बनाने चाहिए कि जनसंख्या न तो 5040 से अधिक हो और न ही इससे कम। उपादर्श राज्य की भूमि उपजाऊ और उसका क्षेत्रफल काफी अधिक होना चाहिए ताकि जनता स्वस्थ और सुखी रहे।

(6) सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ (Social and Political Institutions)

प्लेटो सामाजिक क्षेत्र मे भी मिश्रित व्यवस्था को ही पसन्द करता है। यह विभिन्न तत्त्वो के सामजस्य का पक्षपाती है। उसके अनुसार विवाह विभिन्न वर्गों और चरित्रो का मिलन होना चाहिए

और सम्पत्ति निजी स्वामित्व एव सार्वजनिक नियन्त्रण मे होनी चाहिए। धनिको की स्वेच्छा से अपने धन का कुछ भाग निर्धनो को देना चाहिए ताकि नागरिको से सघर्ष उत्पन्न न हो।

(क) सम्पत्ति एवं आर्थिक व्यवस्था (Property and Economic Structure)—वास्तव मे सामाजिक सस्थाओ मे राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सस्था सम्पत्ति का उपयोग और स्वामित्व रहा है। 'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने सर्वोत्तम अथवा आदर्श (The Best or Ideal) राज्य की कल्पना की है, इसमे उसने सम्पत्ति के साम्यवाद को स्वीकार करते हुए व्यवस्था रखी है, "मित्रो का सब वस्तुओं पर समान अधिकार होता है, भू-सम्पत्ति, स्त्रियाँ एव बच्चे सबके समझे जाते हैं, तथा वैयक्तिक सम्पत्ति बिलकुल न होने के कारण मेरे-तेरे का भाव मिटकर सम्पूर्ण राज्य तन-मन से एकता का अनुभव करता है।" 'लॉज' मे मानवीय दुर्बलताओ को ध्यान मे रखते हुए प्लेटो अपने आदर्श या द्वितीय श्रेष्ठ (Sub-Ideal or the Second Best) राज्य मे व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार, दोनों की अनुमति दे देता है। उसकी सम्पत्ति व्यापार से प्राप्त न होकर भूमि से प्राप्त होने वाली है। वह इस सम्पत्ति मे मकान और भूमि को गिनता है। इन पर निजी स्वामित्व की अनुमति देते हुए भी वह सम्पत्ति के प्रयोग और उसकी मात्रा को निश्चित कर देता है। इस सम्बन्ध मे स्पार्टा की तत्कालीन व्यवस्था का अनुसरण करते हुए वह राज्य की जनसख्या 5040 निश्चित करता है और चाहता है कि भूमि का सभी नागरिको मे समान वितरण हो। प्लेटो भूमि को बराबर के कई टुकडो मे बाँट देता है जिन्हे न विभाजित किया जा सकता है और न ही हस्तान्तरित। भूमि की पैदावार सार्वजनिक भोजनागार मे पचायती ढग से काम मे लाई जाती है। इस प्रकार भूमिगत सम्पत्ति का सामाजीकरण हो जाता है।

सम्पत्ति के सामाजीकरण के साथ-साथ प्लेटो सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करके उसकी सीमा निश्चित कर देता है। अपनी इस नवीन आर्थिक व्यवस्था के अनुसार वह समाज मे चार वर्गों और आर्थिक स्तरो की व्यवस्था करता है। पहला वर्ग उन व्यक्तियो का होगा जिनके पास उनकी दैनिक आवश्यकताओ के भरण-पोषण मात्र के लिए सम्पत्ति हो। दूसरे वर्ग के पास इससे दुगुनी, तीसरे वर्ग के पास तिगुनी और चौथे वर्ग के पास चार गुनी सम्पत्ति होगी। इस तरह अत्यधिक आर्थिक असमानता के प्रति अपने विरोधी विचारो को प्रकट करते हुए वह आर्थिक दृष्टि से समाज मे अधिक से अधिक एक और चार तक के अनुपात का अन्तर मानने को तैयार है। उसका उद्देश्य अमीरो और गरीबो की अत्यधिक विषमताओ को दूर करना है। यूनान के अनुभव से यह प्रकट हो गया था कि आर्थिक भेद-भाव ही नागरिक कलह का मूल कारण होता है।

प्लेटो ने सम्पत्ति के प्रयोग पर कठोर प्रबन्ध लगा दिए है। कोई व्यक्ति अपनी भूमि न बेच सकता है और न गिरवी रख सकता है। नागरिक किसी तरह का उद्योग-धन्धा, व्यापार वाणिज्य या दस्तकारी नही कर सकते। ये सारे कार्य 'निवासी विदेशियो' (Resident Aliens) के हाथो मे होते है। स्वतन्त्र लोग (Free Man) होते है, नागरिक नही होते। यदि किसी वर्ग के व्यक्ति के पास उसकी निश्चित सीमा से अधिक भूमि होगी तो राज्य उसको जब्त कर लेगा, क्योंकि नागरिको को धन कमाने मे नही पडना चाहिए। ये कार्य मनुष्य को सत्पथ से विचलित कर देते हैं और उसकी मृदु प्रकृति को नीचता मे बदल देते हैं। नागरिको को यह नही भूलना चाहिए कि जो कुछ उसका है वह अन्तत सभी का है। सम्पत्ति विषयक अधिकार समाज प्रदत्त अधिकार है, इसलिए उसका प्रयोग समाज के हित को ध्यान मे रखते हुए ही किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि स्वामित्व निजी है तो उपभोग सामूहिक है। जो कुछ भूमि मे उत्पादित हो उसका सभी के द्वारा उपभोग किया जाना चाहिए।

सम्पत्ति-विषयक उपरोक्त व्यवस्था को निर्बाध गति मे चलाने के लिए प्लेटो राज्य की जनसख्या को 5040 पर ही स्थाई बनाए रखने की आवश्यकता पर बल देता है। यदि जनसख्या इससे अधिक होने लगे तो जन्म-निरोध के साधनो को अपनाकर या नए उपनिवेश बसाकर इसे नियन्त्रित करना

चाहिए। यदि जनसख्या कम होने लगे (प्लेटो के समय स्पार्टा मे ऐसा ही हो रहा था) तो निश्चित सख्या (5040) बनाए रखने के लिए अविवाहित पुरुषो को दण्डित और विवाहित व्यक्तियो को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति के कोई सन्तान नही है जो उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार प्राप्त कर सके तो उसे दूसरे का बालक गोद ले लेना चाहिए।

राज्य के पास केवल प्रतीक मुद्रा होती है। वह शायद स्पार्टा की लौह मुद्रा के समान होती है। ऋणो के लिए ब्याज नही लिया जा सकता। सोना और चाँदी भी अपने पास नही रखा जा सकता। प्लेटो नागरिक के सम्पत्ति सम्बन्धी स्वामित्व पर हर प्रकार की पाबन्दी लगा देता है।

(ख) श्रम-विभाजन (**Division of Labour**)—प्लेटो ने 'रिपब्लिक' मे श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को सम्पूर्ण समाज का मूल सिद्धान्त ठहराया था। 'लॉज' मे वर्णित समाज-व्यवस्था के विश्लेषणो से पता चलता है कि उसने उस सिद्धान्त को छोडा नही है। श्रम का नवीन विभाजन पूर्वापेक्षा अधिक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण जनसख्या आ जाती है। उपादर्श राज्य मे आर्थिक रचना के आधार पर कार्यो का वर्गीकरण तीन भागो मे किया गया है—

(1) विदेशियो अथवा फ्रीमेन (Resident aliens) के लिए व्यापार एव उद्योग।
(2) दासो अथवा गुलामो के लिए खेती।
(3) नागरिको के लिए शासन-प्रबन्ध अर्थात् राजनीतिक कार्य।

इस प्रकार श्रम-विभाजन सारी जनसख्या तक विस्तृत होने के साथ-साथ वर्जनशील भी है। बार्कर का कथन है—"रिपब्लिक की पुरानी भावना 'लॉज' के पृष्ठो मे भी समाविष्ट है, और यदि 'लॉज' मे वर्णित वर्ग व्यवस्था 'रिपब्लिक' मे वर्णित व्यवस्था से आधारभूत रूप मे भिन्न है तो भी मौलिक अथवा आधारभूत सिद्धान्त वही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना विशेष कार्य करना चाहिए।"

(ग) सरकार का संचालन (**Working of the Government**)—प्लेटो राज्य मे सर्वोच्चता सरकार को न देकर कानून को देता है। उसके अनुसार सभी राजनीतिक सस्थाएँ कानून के अधीन है। वह राज्य की शासन पद्धति के बारे मे निम्नलिखित व्यवस्थाएँ करता है—

(i) **साधारण सभा**—राज्य का शासन चलाने के लिए एक लोकप्रिय साधारण सभा (General Assembly) होगी। राज्य मे सभी नागरिक (5040) इसके सदस्य होगे। सभा की बैठक वर्ष मे कम से कम एक बार अवश्य होगी। इसका प्रमुख कार्य राज्य की अन्य सस्थाओ के सदस्यो को चुनना होगा। यह सभा सेना के अधिकारियो का चुनाव करेगी। क़ानूनो मे परिवर्तन और न्याय करना भी इसका कार्य होगा।

(ii) **सलाहकार बोर्ड**—राज्य मे एक सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) भी होगा। इसके सदस्यो की सख्या 37 होगी जिनका चुनाव साधारण सभा करेगी। इन सदस्यो की आयु 50 से 70 वर्ष के बीच होगी। सदस्यो का चुनाव होगा। उसके लिए तिहरी चुनाव-प्रणाली की व्यवस्था (Triple Ballot System) है। इसके अनुसार 5040 सदस्यो की लोकप्रिय साधारण सभा मे पहले 300 उम्मीदवार चुने जाएँगे। उन 300 मे से फिर 100 चुने जाएँगे। उन 300 मे से फिर 100 चुने जाएँगे और तत्पश्चात् उन 100 मे से 37 चुने जाएँगे। ये कानून के सरक्षक होगे। सलाहकार बोर्ड का कार्य-परामर्श देना होगा।

(iii) **प्रशासनिक परिषद्**—राज्य मे सलाहकार बोर्ड के आदेशो को क्रियात्मक रूप देने वाली और वास्तविक रूप मे शासन करने वाली एक अन्य सस्था प्रशासनिक परिषद् (Administrative Council) होगी। इसके 360 सदस्य होगे। इसमे सम्पत्ति के आधार पर 4, 3, 2 या 1 भूखण्ड रखने वाले निश्चित चार वर्गो मे से प्रत्येक वर्ग से प्रतिवर्ष 90 सदस्य चुने जाएँगे। इन विभिन्न वर्गो के सदस्य अलग-अलग तरीको से निर्वाचित होगे। पहले और दूसरे वर्ग अर्थात् 4 और 3

भूखण्ड वाले सदस्यों के चुनाव में सब वर्गों के लोगों को आवश्यक रूप से मत देना पड़ेगा। मत न देने वाले पर जुर्माना किया जाएगा। 2 भूखण्ड रखने वाले सदस्यों के चुनाव में पहले 3 वर्गों को मत (Vote) देना आवश्यक होगा, न देने पर अर्थ दण्ड दिया जाएगा। 1 भूखण्ड वालों को वोट देने या न देने की स्वतन्त्रता होगी। इस प्रकार चुनाव का पहला दौर पूरा होगा।

इसके बाद दूसरा चुनाव होगा। इस चुनाव में भाग न लेने पर सामान्य जुर्माना से दुगुना अर्थदण्ड दिया जाएगा। इस चुनाव में, प्रत्येक वर्ग में 180-180 उम्मीदवार चुने जाएँगे। इसके बाद तीसरी अवस्था में, प्रत्येक वर्ग के लिए इन 180 में से लाटरी द्वारा 90 सदस्य चुन लिए जाएँगे। 360 सदस्यों की प्रशासनिक परिषद् की इस तिहरी जटिल निर्वाचन पद्धति में प्रथम दो वर्गों को उम्मीदवारों के चुनाव में अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके साथ ही उम्मीदवारों के आरम्भिक निर्वाचन में सभी वर्ग सम्मिलित हो सकते हैं। उनके छाँटने की प्रक्रिया में सबको शामिल होना पड़ता है तथा अन्तिम अवस्था में लॉटरी का उपयोग सबको समानाधिकार देने वाला है। बार्कर (Barker) के अनुसार निर्वाचन की इस जटिल पद्धति में सार्वभौमिक मताधिकार (Universal Sufferage) तथा वर्ग मताधिकार (Class Sufferage) का सावधानीपूर्ण समन्वय है। यह यूनानियों की कुलीनतन्त्रीय मतदान प्रणाली तथा लॉटरी की लोकतन्त्रीय प्रणाली का सामञ्जस्य है। इस चुनाव प्रणाली का मुख्य आधार प्लेटो की यह मान्यता है कि "सच्ची समानता सबको एक जैसे अधिकार देना नहीं अपितु उन्हें उनकी योग्यता और गुणों के अनुसार अधिकार देना है। अधिक योग्यता वालों को अधिक अधिकार प्रदान करना ही उनके साथ न्याय करना है और इसी से राज्य में सन्तोष एवं एकता का प्रसार हो सकता है।"

प्रशासनिक परिषद् के प्रमुख कार्य ये है—(i) पहले दो वर्गों मे स्थानीय एवं बाजार की देखभाल करने वाले अधिकारियो की नियुक्ति, (ii) सैनिक वर्ग द्वारा तीन सेनापतियो का चुनाव, (iii) राज्य को हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियो के विरुद्ध मुकदमे सुनना, (iv) यदि कोई कानून बदलने की आवश्यकता हो तो सहमति देना, (v) विदेशियों को सामान्य निर्धारित अवधि (20 वर्ष) से भी अधिक रहने की अनुमति देना।

शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रशासनिक परिषद् 12 भागो मे विभक्त होगी और इसका प्रत्येक भाग, एथेन्स की तरह एक महीने के लिए शासन करेगा। प्रशासनिक परिषद् का कार्यकाल 20 वर्ष होगा। इसका अध्यक्ष शिक्षा विभाग का अध्यक्ष भी होगा और उसका निर्वाचन 5 वर्ष के लिए किया जाएगा।

उपरोक्त प्रशासनिक सस्थाओ के अतिरिक्त प्लेटो ने स्थानीय शासन के लिए अनेक सस्थाओ, पदाधिकारियो एवं उनके कार्यों का उल्लेख किया है।

(घ) न्याय का प्रशासन (Administration of Justice)—प्लेटो उपादर्श राज्य मे न्याय-प्रशासन के लिए 4 प्रकार के न्यायालयो का वर्णन करता है—

(i) स्थाई पञ्चायती न्यायालय—ये न्यायालय आपसी झगडो का निपटारा करेंगे।

(ii) क्षेत्रीय न्यायालय—राज्य के 12 क्षेत्रो के लिए क्षेत्रीय लोगो मे से चुने जाने वाले ये न्यायालय अपने-अपने क्षेत्र के निवासियो के व्यक्तिगत झगडो का फैसला करेंगे।

(iii) विशेष चुने हुए न्यायाधीशो का न्यायालय-इसके न्यायाधीश प्रशासनिक अधिकारियो द्वारा चुने जाएँगे। ये सम्पूर्ण राज्य के व्यक्तिगत झगडो के बारे मे फैसला कर सकेंगे।

(iv) सम्पूर्ण जनता का न्यायालय—साधारण सभा स्वय इस न्यायालय का कार्य करेगी। राज्य के प्रमुख तथा राज्य सम्बन्धी सभी झगडो का अन्तिम निर्णय यही होगा।

इस सम्पूर्ण न्याय विभाग का सरक्षक शिक्षा मन्त्री होगा। वही व्यक्ति प्रधान मन्त्री और विधि-सरक्षको तथा परामर्श सभा (Law Guardians and Advisory Board) का अध्यक्ष होगा।

(ङ) स्थानीय शासन (Local Government)—अपने 5040 की जनसंख्या वाले राज्य मे प्लेटो स्थानीय शासन की व्यवस्था करते हुए बताता है कि नगरो मे दो प्रकार के अधिकारी होंगे—

नगर-निरीक्षक (City Inspectors), एव बाजार-निरीक्षक (Inspectors of the Market Square)। देहातो के लिए वहाँ के लोगो द्वारा दो वर्ष के लिए चुने गए ग्रामीण इन्सपेक्टर होंगे। 5 इन्सपेक्टर क्षेत्रीय लोगो द्वारा चुने जाएँगे। प्रत्येक इन्सपेक्टर 12 नवयुवको का चुनाव करेगा। इस तरह 5 × 12 = 60 लोगो का यह दल राज्यो मे भ्रमण किया करेगा। नगर मे तीन निरीक्षक होगे जो शासक वर्ग मे से होगे। 5 मार्केट निरीक्षक भी प्रथम दो वर्गों मे से चुने जाएँगे।

(7) विवाह तथा परिवार विषयक विचार
(View about Marriage and the Family)

'रिपब्लिक' की भाँति 'लॉज' मे भी यह स्वीकार किया गया है कि स्त्रियो एव पुरुषो को समान शिक्षा पाने एव समस्त कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु इस ग्रन्थ मे 'रिपब्लिक' के स्त्रियो के साम्यवाद को समाप्त कर दिया गया है। वह इस विचार को त्याग देता है कि स्त्रियाँ सबकी सम्पत्ति होनी चाहिए। प्लेटो स्त्रियों को घर की चाहरदीवारी और पर्दे से बाहर निकाल कर उनको राज्य मे उन सभी पदो पर नियुक्त किए जाने का समर्थन करता है जिनका सम्बन्ध विवाह-सम्बन्धी प्रश्नो और स्त्रियो के जीवन से है। वह कहता है कि स्त्रियो को पुरुषो की भाँति शस्त्र-सचालन, युद्ध एव घुडसवारी करना भी सिखाया जाना चाहिए ताकि मौका आने पर वे भी पुरुषो की भाँति युद्ध में जूझ सकें और स्वय को राष्ट्रीय सेवा मे अर्पण कर सकें। वह स्त्रियो को पुरुषो के समान शिक्षा देकर इतना साहसी बनाना चाहता है कि शत्रुओ का आक्रमण होने पर वे रोएँ या छिपें नही वल्कि उनसे लोहा लें।

विवाह के सम्बन्ध मे प्लेटो ने 'लॉज' मे जो व्यवस्था दी है वह बडी रोमांचकारी और रोचक है। वह प्रतिमास ऐसी धार्मिक सभाओ का आयोजन करना चाहता है जिनमे उचित आयु मे शालीनता के नियमों का पालन करते हुए नृत्यो मे युवक अपनी भावी पत्नियो से परिचय प्राप्त करें। प्लेटो यह भी व्यवस्था करता है कि विवाह से पहले भावी पति-पत्नी एक-दूसरे को नग्नता में देखें और स्वास्थ्य का प्रमाण-पत्र लें। विवाह सदैव विरोधी चरित्रो के मध्य होना चाहिए ताकि उनमे साम्य पैदा हो सके। तत्त्वो मे साम्य की स्थापना से राज्य मे एकता और सुदृढता आएगी। प्लेटो का मत है कि विवाह का उद्देश्य वैयक्तिक आनन्द नही अपितु राज्य का हित होना चाहिए। विवाह के बाद पति-पत्नी को यह कभी नही भूलना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य राज्य के लिए सन्तान उत्पन्न करना है। इसके लिए प्लेटो पति-पत्नी को विवाह के प्रथम 10 वर्ष तक राज्य के निरीक्षको की देख-रेख मे रखने की व्यवस्था करता है। जब उसने राज्य की जनसंख्या 5040 स्थिर की है तो इस प्रकार का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। प्लेटो राज्य की जनसख्या 5040 ही स्थिर रखने के लिए तीन सुझाव पेश करता है— (1) महिला निरीक्षक डाट-फटकार द्वारा पति-पत्नी को अधिक सन्तान पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करें। (2) अधिक सन्तान पैदा करने वाले माता-पिता को राजकीय सम्मान और विशेषाधिकार दिया जाए। (3) 35 वर्ष अथवा इससे अधिक आयु वाले अविवाहित या सन्तानहीन व्यक्तियो पर कर लगाया जाए। प्लेटो के अनुसार सन्तान पैदा करना केवल भौतिक और राजकीय आवश्यकता ही नही वल्कि नैतिक आवश्यकता भी है। अतः अविवाहित रहना अधर्म है। अमरत्व प्राप्त करने के लिए पुत्र पैदा करना चाहिए।

प्लेटो की परिवार सम्बन्धी व्यवस्थाएँ आज शायद कोई स्वीकार नही करेगा। यह किन्ही दशाओ मे उचित हो सकता है कि भावी वर-वधू की डॉक्टरी परीक्षा हो, किन्तु दोनो नग्न रूप मे विवाह के पूर्व ही एक-दूसरे को देखें, यह मानवीय शालीनता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। साथ ही विरोधी गुण अथवा तत्त्वो वालो का विवाह होने पर दाम्पत्य जीवन के सुखमय होने की आशा नही की जा सकती। दाम्पत्य जीवन के वास्तविक सुख और पति-पत्नी के हृदयो का सुन्दर मिलन तभी हो सकता है जब दोनों मे अनुकूल स्वभाव और प्रवृत्तियाँ हो। प्लेटो की योजना मे तृतीय गम्भीर दोष यह है कि वह जनसख्या

प्लेटो धर्म नियन्त्रण को उपासना तक ही सीमित नहीं रखता। वह यह विश्वास प्रकट करता है कि धार्मिक विचारों का नैतिक व्यवहार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ विश्वास निश्चय ही ऐसे है जो अनैतिक प्रवृत्ति के होते है। अतः यह आवश्यक है कि धर्म का रूप निश्चित कर दिया जाए और राज्य को वह शक्ति प्रदान की जाए कि धर्म के प्रति श्रद्धाहीन व्यक्तियों को वह दण्डित कर सके।

प्लेटो की धार्मिक विचारधारा जटिल न होकर सुगम है। वह नास्तिकता का निषेध करता है। उसने नास्तिकता के तीन भेद बताए हैं—(क) देवताओ के अस्तित्व में अविश्वास, (ख) यह धारणा कि देवता मानव आचरण से सम्बन्ध नहीं रखते, और (ग) यह धारणा कि यदि कोई पाप किया जाए तो उसका आसानी से प्रायश्चित् हो सकता है।

प्लेटो ने नास्तिकता के लिए दण्ड की व्यवस्था रखी है। इस अपराध के लिए वह कारावास और कुछ अवस्थाओं में प्राणदण्ड तक का समर्थन करता है। प्लेटो की यह व्यवस्था निश्चय ही सराहनीय नहीं है। इससे तो 'लॉज' की गणना उन पुस्तकों में हो जाती है जिनमें धार्मिक उत्पीडन का प्रतिपादन किया गया हो।

'लॉज' के ग्रन्थ मे एक नवीन सस्था का उल्लेख है जिसे नोक्टरनल कौंसिल (Nocturnal Council) के नाम से पुकारा गया है। प्लेटो की यह सस्था उसके द्वारा प्रतिपादित अन्य सस्थाओं से कोई मेल नही खाती। साथ ही राज्य की उस व्यवस्था से भी कोई सम्बन्ध नही रखती जिसमे कानून सर्वोच्च हो। यह सस्था प्लेटो के मूल दर्शन के अनुरूप नही हैं। उससे इसका कोई मेल नही दिखाई देता। इस परिषद् में कानून के 37 सरक्षको मे से 10 वरिष्ठ सरक्षक होते है। शिक्षा संचालक एव अपने वरिष्ठ गुणो के कारण चुने हुए पुरोहित आदि इसके विशेष सदस्य होते है। यद्यपि यह परिषद् कानून से बाहर होती है किन्तु उसे राज्य की वैधानिक सस्थाओं का नियमन और नियन्त्रण करने की शक्ति प्राप्त है। प्लेटो का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि पहले परिषद् का निर्माण किया जाना चाहिए और

फिर राज्य को उसके हाथों मे सौंप देना चाहिए। प्लेटो का विश्वास है कि इस परिषद् के सदस्य ज्ञानवान होते है, और ये राज्य का हित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि नौक्टरनल अथवा नैश परिषद् 'रिपब्लिक' के दार्शनिक राजा के स्थान पर है और इसलिए 'लॉज' के उपादर्श राज्य पर एक प्रहार है। "यह परिषद् पूरी तरह दार्शनिक शासक नही है। चूँकि उसका वर्णन नास्तिकता के विरोधी और अधिकृत पुरोहितो के द्वारा किया गया है, इसलिए इसमे पुरोहितवाद की कुछ गन्ध है। प्लेटो ने उसके सदस्यो को धार्मिक दृष्टि से ज्ञानवान माना है, यह तथ्य उसके पुरोहितवाद को स्पष्ट कर देता है।"

प्लेटो के उपादर्श राज्य का सर्वाङ्ग रूप
(The Whole Picture of Plato's Sub Ideal State)

प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लॉज' में उपादर्श राज्य का जो सम्पूर्ण चित्र खीचा है उसकी सक्षेप मे अग्रलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) आत्म-सयम का महत्त्व।
(2) कानून का सिद्धान्त।
(3) मिश्रित सविधान।
(4) राज्य की भौगोलिक स्थिति एव [illegible]।
(5) सामाजिक और राजनैतिक सस्थाएँ—इसमे सम्पत्ति एव आर्थिक व्यवस्था, श्रम-विभाजन, शासन प्रणाली, न्याय व्यवस्था और स्थानीय शासन को सम्मिलित किया जा सकता है।
(6) विवाह एव परिवार विषयक विचार।
(7) शिक्षा और धार्मिक सस्थाएँ। (8) इतिहास की शिक्षा

उपरोक्त विचारो के अतिरिक्त प्लेटो ने शान्ति एवं युद्ध, ऐतिहासिक शिक्षा, अपराध एव दण्ड आदि का भी चिन्तन किया है।

'लॉज' का मूल्यांकन तथा देन
(Evaluation and Contribution of the 'Laws')

प्लेटो के ग्रन्थो में सबसे प्रभावशाली ग्रन्थ 'रिपब्लिक' है, किन्तु 'लॉज' भी कम महत्त्वपूर्ण कृति नही है। यह प्लेटो की एक मूल्यवान देन है और जहाँ इसका प्रभाव तत्कालीन समाज पर पडा था, वहाँ बाद के दार्शनिको पर भी इसका यथेष्ट प्रभाव है। 'लॉज' की देन को सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है—

(1) प्लेटो का शिष्य अरस्तू 'लॉज' से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने कानून की प्रभुसत्ता, मिश्रित सविधान, राज्य के विकास, कृषि-व्यापार तथा शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में 'लॉज' की व्यवस्थाओ का अनुसरण किया है या इनसे प्रेरणा ली है।

(2) प्लेटो ने 'लॉज' द्वारा विभाजित राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार राजसत्ता यदि एक हाथ मे केन्द्रित होगी तो उत्तम शासन की स्थापना नही हो सकती अत राजसत्ता का विभाजन वाँछित है। वह लोकतन्त्र एव राजतन्त्र के मिश्रित सिद्धान्तो को लेकर मिश्रित सविधान का समर्थन करता है। इसलिए उसे आधुनिक सविधानवाद (Modern Constitutionalism) का पिता कहा जाता है। मॉण्टेस्क्यू का 'शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त' (Theory of Separation of Powers) भी इसी पर आधारित है।

(3) 'लॉज' मे शिक्षा की विशद् योजना प्रस्तुत की गई है और शिक्षा को राज्य द्वारा सचालित माना गया है। प्लैटो एक अनिवार्य तथा सामान्य शिक्षा का रूप प्रस्तुत करता है। वर्तमान-काल मे लगभग सभी सरकारें शिक्षा को राज्य का कर्त्तव्य मानती है।

(4) प्लेटो ने 'लॉज' मे बताया है कि बाट एवं तोल का स्तर एक होना चाहिए। वर्तमान मे सभी यह आवश्यक मानते हैं कि राज्यो मे एक बाट व तोल चलें।

(5) प्लेटो के 'लॉज' एव उसकी अकादमी ने रोमन कानून के विकास को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। न्यायिक व्यवस्थाओ की उसकी देन से रोमन कानून अत्यधिक प्रभावित है।

(6) 'लॉज' मे प्लेटो ने ईश्वरवादी आस्तिक विचारो का प्रतिपादन किया है। इन विचारो का ईसाईयत के आरम्भिक प्रवर्तको पर बडा प्रभाव पडा।

(7) मध्य काल मे मोर (More) की 'यूटोपिया' एव रूसो (Rousseau) की कृतियो पर भी 'लॉज' का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है।

(8) प्लेटो 'लॉज' मे धर्म के बारे मे एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। उसमे धर्म की महत्ता को भी शिक्षा की भाँति महत्त्व दिया है। यह दृष्टिकोण मनुष्यो को उदारवृत्ति और सदाशयता अपनाने की प्रेरणा देता है।

अन्त मे, जैसा कि सेबाइन (Sabine) ने लिखा है, "लॉज मे प्लेटो ने, वास्तविक सस्थाओ का सावधानी से विश्लेषण किया और इतिहास मे उनके सम्बन्ध का सकेत किया। उसने सतुलन सिद्धान्त अर्थात् एक सवैधानिक राज्य का निर्माण करने के लिए एक उचित साधन के रूप मे विभिन्न हितो एवं दावो के निर्वाह का सुझाव दिया है। यह वह बिन्दु है जहाँ से अरस्तू ने अपना विचार आरम्भ किया। 'रिपब्लिक' के सामान्य सिद्धान्तो का त्याग किए बिना ही उसने लगभग प्रत्येक मामले मे 'लॉज' के सुझावो को अपनाया और अपने अधिक परिश्रम तथा अनुभवसिद्ध और ऐतिहासिक तथ्यो के अधिक विस्तृत विश्लेषण से उन्हे अधिक सम्पन्न बना दिया।"

प्लेटो की रचनाओं में यूनानी तथा सार्वभौम तत्त्व
(The Hellenic and the Universal Elements in Plato's Works)

प्लेटो की विचारधारा का राजदर्शन के इतिहास मे पर्याप्त महत्त्व है। उसकी राजनैतिक विचारधारा मे दो तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—यूनानी (Hellenic) एवं सार्वभौम (Universal)। यूनानी तत्त्व से तात्पर्य है कि प्लेटो के दर्शन में तत्कालीन परिस्थितियो और वातावरण का प्रभाव है। सार्वभौम तत्त्व से अर्थ यह है कि प्लेटो के चिन्तन मे कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो सदैव, सब स्थानों और कालो मे पाए जाते है। मैक्सी (Maxey) ने कहा है कि प्लेटो की रचनाओ मे बहुत कुछ क्षणभंगुर और अस्थाई है, किन्तु उसके राजनैतिक दर्शन की मध्य नाडी (Mid rib) अनन्त एव सार्वभौम है। पेरीक्लीज के परवर्ती युग के यूनानी की भाँति वह साम्राज्य-विस्तार का विरोधी, प्रजातन्त्र का आलोचक, दास-प्रथा की उपेक्षा करने वाला, व्यापारवाद का शत्रु तथा स्पार्टा के सैनिकवाद का समर्थक था। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओ के विश्लेषणकर्त्ता तथा आदर्श के अन्वेषक के रूप में वह परवर्ती युग मे उत्पन्न होने वाले अधिकांश अभौतिक राजनैतिक दर्शनों, पुनर्निर्माण विषयक राजनीतिक सिद्धान्तो और क्रान्तिकारी राजनीतिक योजनाओ का अग्रगामी और प्रेरक रहा है।[1]

प्लेटो के विचारो मे यूनानी तत्त्व (Hellenic Elements in Plato's Ideas)—प्लेटो ने अपने समय के स्पार्टा व एथेन्स जैसे प्रसिद्ध राज्यो की विभिन्न परिस्थितियो का अध्ययन किया। उसके सिद्धान्तो मे हमे बहुत कुछ यूनानी प्रभाव अथवा तत्त्व मिलते हैं। इनमे से मुख्य अग्रांकित है—

1 प्लेटो अपने उपादर्श राज्य की जनसख्या 5040 स्थिर करता है जो उस काल के नगर राज्यो के अनुकूल है। उस समय के यूनानी राज्यो की सकुचित सीमाओ से ऊपर दृष्टि उठा कर राज्य की सीमाओ के बारे मे आधुनिक ढग से वह नही सोच सकता था।

2. दास-प्रथा तत्कालीन यूनानी समाज का आवश्यक अग थी। यूनानी लोग दास-प्रथा को अपनी सभ्यता का प्रतीक मानते थे। प्लेटो ने भी दास-प्रथा को महत्त्व दिया है। 'लॉज' मे कृषि सम्बन्धी समस्त कार्य वह दासो पर ही छोडता है।

1 *Maxey : Political Philosophies*, p. 55

3 प्लेटो शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक भोजनालयो मे भोजन की व्यवस्था करता है। उसकी यह योजना तत्कालीन यूनानी राज्य स्पार्टा से प्रभावित है। शासक वर्ग को सम्पत्ति से अलग रखना और उन्हें केवल शासन का कार्य देना स्पार्टा की शासन प्रणाली का ही अनुकरण है।

4 वह नर-नारियो के समान शारीरिक शिक्षण की व्यवस्था करता है। वह सैनिक शिक्षा पर बल देता है। उसकी इन व्यवस्थाओं पर भी स्पष्टत स्पार्टा की छाप है।

5 उसने एथेन्स मे स्त्रियो की हीन अवस्था और स्पार्टा मे उनकी पुरुषो के बराबर स्थिति को देखा था अतः उसने अपनी रचनाओ मे स्त्री-पुरुषो को समान अधिकार देने के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

6 प्लेटो ने अपने उपादर्श राज्य मे एथेन्स के संविधान का अनुकरण किया है। भू-सम्पत्ति के आधार पर नागरिको का 4 वर्गों मे विभाजन, असेम्बली तथा प्रशासनिक परिषद् की व्यवस्थाएँ एथेन्स से ग्रहण की गई हैं। प्लेटो ने अपनी रचनाओ मे एथेन्स मे व्यष्टिवाद और उदारता को लिया है तो स्पार्टा से विशेषीकरण तथा निरकुश सत्तावाद को ग्रहण किया है।

7 उसकी शिक्षा-योजना स्पार्टा और एथेन्स की शिक्षा-पद्धति का बहुत कुछ सम्मिश्रण है। इसका पाठ्यक्रम एथेन्स के ढग का है तो सगठन स्पार्टा के अनुसार है जहाँ शिक्षा राज्य द्वारा सचालित होती थी। प्लेटो ने एथेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का सम्मिलित शारीरिक शिक्षण जोडकर शिक्षा को व्यक्तित्व और राष्ट्र दोनो के विकास का माध्यम बना दिया है।

8. प्लेटो ने धन एव परिवार के साम्यवाद की जो योजना प्रस्तुत की है उस पर स्पार्टा एव क्रीट का स्पष्ट प्रभाव है।

9 प्लेटो राज्य को सर्वोच्च स्थान देता है और व्यक्ति को गौण। यह भी स्पार्टा की व्यवस्था से प्रभावित तत्त्व है जहाँ समाज को मुख्य एव व्यक्ति को गौण समझा जाता था।

प्लेटो के दर्शन मे सार्वभौम तत्त्व (Universal Elements in Plato's Philosophy)—उपरोक्त सामयिक यूनानी तत्त्वों के होते हुए भी प्लेटो के दर्शन मे अनेक ऐसे शाश्वत् और सार्वभौम तत्त्व है जिनके कारण ही उसे 'सब प्राणियो एव कालो का दृष्टा' कहा जाता है। उसके दर्शन के उपयोगी एव प्रमुख सार्वभौम तत्त्व अग्रांकित हैं—

(1) प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त मानव-समाज के लिए सदैव आवश्यक एवं उपयोगी है। वह न्याय का अर्थ अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन करना तथा दूसरे के कामो मे हस्तक्षेप न करना बताता है। नि सन्देह यह एक सार्वभौम तत्त्व है।

(2) प्लेटो भी सुकरात की भाँति कहता है कि "सद्गुण ही ज्ञान है (Virtue is knowledge)।" वह बुद्धिमान् एव विवेकी लोगो को शासन मे प्रमुख स्थान देता है। कोई व्यक्ति शासको के अविवेकी होने का कभी समर्थन नही करेगा। वर्तमान नागरिक और सैनिक सेवाओ में प्रतियोगिता से आए हुए व्यक्तियो के शासन को हम बुद्धिवादियो का शासन कह सकते हैं।

(3) प्लेटो वह पहला व्यक्ति था जिसने स्त्रियो को पुरुषो के समकक्ष अधिकार देने की आवाज उठाई। आज स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारो के जिस सिद्धान्त को विश्व के लगभग सभी सभ्य संविधान स्वीकार करते है, प्लेटो ने हजारो वर्ष पहले उसी को लोगो के सामने रख दिया था।

(4) प्लेटो 'लॉज' मे कानून की प्रभुसत्ता को सर्वोपरि स्थान देता है। आज भी कानून ही राज्य मे सर्वोच्च है। प्लेटो के न्याय-शास्त्रीय सिद्धान्त, दीवानी और फौजदारी कानूनो मे अन्तर, दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त, कानूनो के आरम्भ मे प्रस्तावनाएँ जोडने का विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श माने जाते है।

(5) भू-सम्पत्ति के सब अधिकारो की राज्य द्वारा रजिस्ट्री किए जाने और इनके राजकीय सर्वेक्षण (Survey) के विचार वर्तमान काल के सभी राज्यो मे आवश्यक माने जाते हैं।

(6) प्लेटो ने स्वतन्त्रता के लिए मिश्रित संविधान का समर्थन किया, समष्टि के हित को व्यक्ति के हित से अधिक प्रधानता दी, सन्तानोत्पादन मे प्रजनन-शास्त्र के नियमों को महत्त्वपूर्ण

समझा। राज्य की एकता और ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया। उनके ये सब विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श बने हुए हैं।

ये उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि प्लेटो ने कतिपय ऐसे शाश्वत् और सार्वभौम प्रश्नों पर बल दिया जिनसे प्राचीन और अर्वाचीन सभी युगों के दार्शनिक, विचारक, विद्वान् और लेखक प्रभावित होते रहे हैं। कोई उसे आदर्शवाद का पिता कहता है तो कोई क्रान्तिकारी बतलाता है, कोई कल्पनावादी कहता है तो कोई यथार्थवादी, कोई साम्यवादी कहता है तो कोई उसे फासिस्ट मानता है। वास्तव में यह प्लेटो के दर्शन के सार्वभौम प्रभाव का ही फल है कि सभी उसे अपने ढग से देखते हैं। प्लेटो की महानता इस बात में है कि उसने राजनीति विज्ञान के वे मौलिक प्रश्न उठाए जिनकी प्रकृति शाश्वत् है। उदाहरणार्थ, प्लेटो ने इस बात पर विचार किया कि राज्य और व्यक्ति का क्या सम्बन्ध होना चाहिए तथा राज्य और नैतिकता में क्या सम्बन्ध होना चाहिए तथा राज्य और नैतिकता में क्या सम्बन्ध है। ये दोनों ही मौलिक समस्याएँ प्लेटो से लेकर आधुनिक युग तक के विचारकों के लिए विशिष्ट चिन्तन-सामग्रियाँ रही हैं। प्लेटो ने राजनीति और नैतिकता के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए उनकी ही प्रतिध्वनि गांधीवादी दर्शन और सर्वोदयी दर्शन में गूँज रही है। राजनीति [illegible] नैतिकता के अधीन है, राजनीति और नैतिकता में चोली-दामन का साथ है, राजनीति और नैतिकता में परस्पर विरोध है—इस प्रकार की समस्याओं पर चिन्तन की सामग्री हमें प्लेटो के दर्शन में मिलती है। यदि हम प्लेटो के विचार से सहमत हैं तो राजनीति और नैतिकता को विच्छिन्न नहीं कर सकते, राजनीति को नैतिकता के अधीन मानकर चलना होगा। यदि हम प्लेटो से सहमत हों या असहमत, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्लेटो ने एक ऐसी मौलिक समस्या प्रस्तुत की जो उसके समय से अब तक हमारे चिन्तन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू का आधार बनी हुई है।

प्लेटो की महत्ता एक 'आदर्शोन्मुखी विचारक अथवा दार्शनिक' के रूप में है। प्लेटो ने अपने समकालीन समाज और राज्य को ही नहीं देखा वरन् भविष्य में भी झाँका और भावी आदर्श के सूत्र प्रस्तुत किए। आदर्श ही हमें यथार्थ की कमियों को सुधारने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। अतः प्लेटो मानव-जाति के लिए एक प्रेरक शक्ति के रूप में है और यदि प्लेटो के चिन्तन को हम सही दृष्टिकोण से लें, प्लेटो की अन्तरात्मा की आवाज को पहचानने का प्रयत्न करें तो हमें समाज-सुधार, शासन-सुधार आदि के बारे में प्लेटो के हृदय में वही पीड़ा दिखायी देगी जो हमारे हृदय में या अन्य किसी के भी हृदय में हो सकती है। यहाँ हम प्लेटो को हजारों वर्ष पूर्व उत्पन्न दार्शनिक के रूप में पाते हैं। प्लेटो ने व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर बुराई से लड़ने का सन्देश दिया, दोनों ही स्तरों पर अज्ञानता और अन्याय को मिटाने के लिए शिक्षा और ज्ञान का विकास आवश्यक है। उसने कहा कि शिक्षा और ज्ञान के विकास से ही न्याय की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। प्लेटो ने जो कुछ कहा, उससे हम आज भी असहमत नहीं हो सकते। यह बात अलग है कि प्लेटो ने एक बात जिस ढग से कही उसी बात को हम दूसरे ढग से कह डालें लेकिन व्यक्तिगत और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में प्लेटो की मूल प्रतिस्थापनाओं से किसी भी विवेकशील व्यक्ति का असहमत होना कठिन है।

प्लेटो का महत्त्व इस बात में भी है कि उसने अपने विचारों को बड़े तार्किक रूप में रखा, उसने एक व्यवस्था-निर्माण का दर्शन (System building Philosophy) प्रस्तुत किया। यदि हम प्लेटो के एक विचार को मान लेते हैं तो हमें उसके सभी विचारों को मानना होगा, अर्थात् उसका एक विचार दूसरे विचार की ओर और दूसरा विचार तीसरे विचार की ओर ले जाता है। दूसरे शब्दों में, 'उसके चिन्तन अथवा दर्शन के सभी पहलू एक-दूसरे से आबद्ध हैं, एक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत हैं। इन सभी बातों के आधार पर प्लेटो को एक 'आरम्भिक अथवा आदि दार्शनिक' की संज्ञा देने में अतिशयोक्ति नहीं होगी।

5 अरस्तू

(The Aristotle, 384-322 B. C.)

I

सरस्वती के अनन्य उपासक और दर्शन के प्रकाश-स्तम्भ अरस्तू (Aristotle) का जन्म यूनान के स्टेगिरा (Stagira) नामक नगर मे ई. पू 384 मे हुआ। उसके पिता निकोमेकस (Nicomachus) मेसोडोनिया के राजा के दरबार मे चिकित्सक रह चुके थे। राजवश से सम्बन्धित होने के कारण अरस्तू का जीवन सम्पन्न और सुखमय रहा।

पिता से चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त करने के कारण अरस्तू को विज्ञान के प्रति रुचि जाग्रत हुई, किन्तु यह रुचि उस युवक अरस्तू को अधिक समय तक बाँधे न रह सकी। उसमे मानव-मस्तिष्क की चिकित्सा करने के प्रति एक विचित्र उमग थी। इसलिए 18 वर्ष की आयु मे वह एथेन्स आकर प्लेटो की विश्व प्रसिद्ध 'अकादमी' मे भर्ती हुआ और 347 ई. पू. मे प्लेटो के देहावसान तक 20 वर्ष वही रहा। अपने महान् शिक्षक की मृत्यु के बाद अरस्तू ने भी 'अकादमी' को त्याग दिया, क्योंकि उसे वहाँ उपयुक्त स्थान नही दिया गया। 'अकादमी' मे अरस्तू के स्थान पर प्लेटो के एक निकट सम्बन्धी को आचार्य बनाया गया जिसे अरस्तू सहन नही कर सका।

एथेन्स छोड देने के बाद अगले 12 वर्षों मे अरस्तू ने विभिन्न कार्य किए। 346 ई. पू. मे वह मकदूनिया के राजकुमार सिकन्दर का शिक्षक बना। वह सिकन्दर के परामर्शदाता और चिकित्सक के रूप मे भी कार्य करता रहा। कतिपय इतिहासकारो की यह धारणा है कि विश्व-विजय के लिए प्रस्थित सिकन्दर के साथ-साथ अरस्तू भी घूमता रहा और भारतीय वैभव के भी उसने दर्शन किए। सिकन्दर के साथ आवास-काल मे 342 ई पू मे उसके मित्र हर्मियास (Harmias) को एक ईरानी सेनापति ने धोखे से पकड लिया और सूसा लेजाकर उसकी हत्या कर दी। अरस्तू को इस घटना से मर्मान्तिक दुःख हुआ। उसने हर्मियास पर एक गीत-काव्य लिखा। इस घटना से उसकी यह धारणा बनी कि विदेशी बर्बर जातियाँ यूनानियो के शासन मे ही रहनी चाहिए। अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' मे उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

अरस्तू ने सिकन्दर को यूनानियो का नेता और बर्बर जातियो का स्वामी बनने की शिक्षा दी तथा सिकन्दर ने भी उसे 'पिता' तुल्य आदर दिया। सिकन्दर के साथ अरस्तू चाहे भ्रमण करता रहा हो या नही किन्तु यह निश्चित है कि उसने लम्बे समय तक विदेश भ्रमण अवश्य किया था। इस भाँति ज्ञानवर्धन करने के बाद 335 ई. पू मे अरस्तू एथेन्स लौटा और उसने वहाँ अपना विद्यालय स्थापित किया। एथेन्स मे उसने हर्मियास की भतीजी पिथियास (कुछ विद्वानो के अनुसार भानजी) से विवाह किया और सुखमय दाम्पत्य जीवन बिताया।

एथेन्स मे लीसीयम (Lyceum) नाम से विख्यात उसका विद्यालय चार बड़े दार्शनिक विद्यालयो मे से दूसरे नम्बर पर था, वह 12 वर्षों तक उसका प्रधान रहा और इस मध्य उसे सिकन्दर की सहायता मिलती रही। अपने स्पष्ट, उग्र और निर्भीक विचारो के कारण अरस्तू को विरोधियो के षड्यन्त्र का

सामना करना पडा । इस कारण वह एथेन्स के बाहर कैलियस (Chelies) नगर मे कुछ समय के लिए चला गया । चूँकि अरस्तू के महान् शिष्य सिकन्दर की 322 ई पू मे मृत्यु हो गई थी इसीलिए उसे एथेन्स से यहाँ पलायन करना पडा । सिकन्दर की मृत्यु के बाद एथेन्स मे मकदूनिया विरोधी उपद्रव होने लगे । ई. पू 322 मे ही अरस्तू की भी कैलियस नगर मे ही मृत्यु हो गई । एथेन्स मे अरस्तू पर आरोप लगाया गया था कि उसने 20 वर्ष पूर्व हर्मियास की मृत्यु पर गीतकाव्य लिखकर बहुत बडा अपराध किया था क्योकि हर्मियास को देवता तुल्य बताना देवत्व का अपमान करना था । यह सौभाग्य की ही बात थी कि यूनान की जनता द्वारा सुकरात की भाँति दण्डित होने से पूर्व ही अरस्तू एथेन्स से भाग निकला और इस तरह एथेन्स निवासी 'दर्शन के विरुद्ध दूसरा अपराध' करने से बच गए ।

अरस्तू यूनान का सूर्य और एक महान् विचारक था । केवल राजनीति मे ही नही अपितु सभी विषयो मे पारगत था । आधुनिक राजनीति शास्त्र के प्रणेता के रूप में उसकी ख्याति अमर है । नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र, मनोविज्ञान, जन्तुविज्ञान, शरीर विज्ञान, तर्कशास्त्र, राजनीति आदि विषयो का क्रमबद्ध वैज्ञानिक अनुशीलन सर्वप्रथम अरस्तू ने ही किया और इसीलिए उसे वर्तमान वैज्ञानिक विचार-परम्परा का जनक माना जाता है । "सुकरात, प्लेटो तथा अन्य पूर्ववर्ती दार्शनिको के विचार का उस पर स्थाई प्रभाव था । अन्तर केवल यही है कि यूनान का दर्शन जो बीज की तरह सुकरात में आया, लता की भाँति प्लेटो में फैला और पुष्प की भाँति अरस्तू में खिल उठा । दाँते (Dante) के शब्दों में यह कहना उपयुक्त ही है कि "अरस्तू बुद्धिमानो का गुरु है ।"

अरस्तू की रचनाएँ

अरस्तू सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था जिसने अपने समय में लगभग सभी विषयो पर अनेक ग्रन्थ लिखे । अरस्तू द्वारा रचित ग्रन्थो की सख्या 400 के लगभग बताई जाती है । ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ-सग्रह 3500 पृष्ठो के 12 खण्डो में प्रकाशित हुआ है । उसका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' (Politics) है । उसके द्वारा विभिन्न विषयो पर लिखे गए प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित है—

1. राजनीति पर—Politics, The Constitution.
2. साहित्य मे—Eudemus or Soul, Protepicus, Poetics तथा Rhetoric आदि ।
3. तर्क शास्त्र व दर्शन पर—Physics, De-Anima, The Prior Metaphysics, Categories, Interpretation, The Posterior Analytics तथा The Topics आदि ।
4. भौतिक विज्ञान पर—Meterpology (चार भाग) तथा अन्य ग्रन्थ ।
5. शरीर विज्ञान पर—Histories of Animals तथा दस अन्य ग्रन्थ ।

अरस्तू की पद्धति (Aristotle's Method)

अरस्तू पहला राजनीति वैज्ञानिक है । आदर्श राज्य और उसके सस्थानो की रचना करने मे जहाँ प्लेटो ने कल्पना-प्रधान पद्धति को अपनाया था वहाँ अरस्तू ने अपनी 'पॉलिटिक्स' की रचना करने से पूर्व लगभग 158 सविधानो का अध्ययन कर अपने विचारो को ससार के समक्ष रखा । इस तरह उसने एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुकरण किया । अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र को अन्य सामाजिक शास्त्रो से पृथक् कर एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थान प्रदान किया । उसने इस शास्त्र के अध्ययन में आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया न कि निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) का । विशेष घटनाओ से सामान्य नियम निकालने की पद्धति को आगमन पद्धति कहा जाता है और इसके विपरीत पहले कुछ सामान्य नियम निश्चित कर उनके आधार पर विशेष सिद्धान्त बनाने की पद्धति निगमन पद्धति कहलाती है । अरस्तू को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र मे प्रथम प्रकार की पद्धति अपनाई । इसके साथ-साथ उसने विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical

Method) का भी प्रयोग किया। अरस्तू की विचार पद्धति का दूसरा मुख्य गुण यथार्थवादिता है। अरस्तू प्लेटो के समान आदर्शवादी या कल्पनाशील न होकर पर्यवेक्षणशील (Observational) था। उसने पहले कुछ तत्त्वो का अध्ययन किया और फिर उन्हीं तथ्यो से निष्कर्ष निकाला। इतिहास और घटनाओं का विश्लेषण और विवेचन करने के बाद उसने किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया। अरस्तू की ख्याति का मुख्य आधार यह है कि उसने राजनीतिक घटनाचक्र के अध्ययन मे तुलनात्मक पद्धति को अपनाया और भूतकाल के सचित अनुभव और बुद्धिमत्ता का सम्मान किया। इसलिए वह क्रान्तिकारी न होकर एक सुधारक बना और सिद्धान्त तथा व्यवहार का सघर्ष उसके मार्ग मे प्लेटो की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन समस्याएँ उत्पन्न करता रहा। अरस्तू ने प्लेटो की सवाद-शैली को नहीं अपनाया।

जहाँ तक अरस्तू की कृतियो की भाषा एवं शैली का प्रश्न है, उनमे न तो कविता का माधुर्य है और न अलकारो की छटा ही। उसकी शैली निश्चित है, यथार्थता और व्यावहारिकता पर बल देती हुई है, किन्तु अस्पष्टता और दुरूहता के भार से दबी हुई भी है।

'पॉलिटिक्स' : एक अपूर्ण कृति
('Politics' : An Incomplete Work)

अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' राजनीति शास्त्र पर लिखा गया एक बहुमूल्य ग्रन्थ है, जिसमे पहली बार राजनीति को एक वैज्ञानिक रूप दिया गया। उसने तत्कालीन समाज-व्यवस्था तथा राजनीतिक स्थिति का विशद् अध्ययन करने के बाद अपने विचार निश्चित किए थे और इस ग्रन्थ में उन्हें वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया।

किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि इस महान् ग्रन्थ के विषय में आज अनेक विरोधी मान्यताएँ और विचार विद्यमान हैं। न इसका काल निर्धारित हो पाया है और न ही इसका स्वरूप। जो 'पॉलिटिक्स' आज हमें उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति लगती है। कुछ लोगो का सन्देह है कि इसको वर्तमान रूप स्वय अरस्तू ने नही दिया बल्कि उसके कई सम्पादको ने उसकी पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादित किया है। 'पॉलिटिक्स' एक एकीकृत, सुगठित एव क्रमवार रचना नहीं मालूम पड़ती। इस ग्रन्थ की पुस्तक 7 में अरस्तू ने आदर्श राज्य की रचना प्रस्तुत की है। यह पुस्तक 3 के अन्त से प्रारम्भ होती हुई मालूम पडती है। पुस्तकें 4, 5 और 6 आदर्श राज्यों का नहीं, प्रत्युत् वास्तविक राज्यो का वर्णन करती हैं। ये अपने में एक वर्ग का निर्माण करती है। इसलिए 7वी और 8वी पुस्तको को पुस्तक तीन के अन्त में और चौथी, पाँचवी तथा छठी पुस्तको को उनके बाद के क्रम में रखा जाना चाहिए। तीसरी पुस्तक के अन्त में राजतन्त्र का और चौथी पुस्तक में लोकतन्त्र तथा धनिक तन्त्र का वर्णन किया गया है। जहाँ तक पुस्तक के पढने का सम्बन्ध है चाहे कोई भी क्रम क्यो न रखा जाए काफी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

प्रो बाउल (Bowl) का कहना है कि 'पॉलिटिक्स' सर्वाधिक प्रभावशाली और गहन ग्रन्थ है तथा उसका गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। डॉ. टेलर (Taylor) का मत है कि इतने बडे विषय का निरूपण जितने साधारण ढग से इस ग्रन्थ मे मिलता हे उतना अरस्तू की किसी अन्य कृति मे नहीं है।[1] 'पॉलिटिक्स' मे इस उलझन का कारण यही है कि उसमें कहीं-कहीं तो किसी विषय का उल्लेख इस प्रकार किया गया है जैसे उसका विवेचन पहले ही हो चुका हो जबकि पहले उसकी ओर सकेत तक नहीं मिलता और कहीं-कहीं उन बातो का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन आगे चलकर हुआ हे। सारा ग्रन्थ अव्यवस्था एव विषय-परिवर्तनो से भरा पडा है। 'पॉलिटिक्स' की अव्यवस्था और कृति सम्बन्धी समस्या का सेबाइन (Sabine) के मतानुसार सर्वश्रेष्ठ समाधान वर्नर जैगर (Werner Jaeger) ने प्रस्तुत किया है। जैगर का समाधान अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के विकास की काफी युक्तिसगत

1 *Taylor* Aristotle, p. 85.

प्रारम्भ करता है। जैगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' अरस्तू की ही कृति है, किसी सम्पादक की नहीं लेकिन इस ग्रन्थ की रचना दो कालो में हुई थी, इसलिए इसके दो भाग हैं। पहला भाग आदर्श राज्य और तत्सम्बन्धी पूर्वकालीन सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखता है। इसमे दूसरी पुस्तक भी शामिल है। इसमे पूर्ववर्ती सिद्धान्तो का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है और प्लेटो की आलोचना की गई है। तीसरी पुस्तक मे राज्य और नागरिकता के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। यह आदर्श राज्य के सिद्धान्त की भूमिका है। सातवी और आठवी पुस्तको मे आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। जैगर के अनुसार इन चार पुस्तको की रचना अरस्तू ने प्लेटो की मृत्यु के उपरान्त एथेन्स से विदा लेने के कुछ समय बाद की थी। दूसरे भाग मे अध्याय 4, 5, 6 आते है। इनमे अरस्तू ने वास्तविक राज्यो का, विशेषकर लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र, का अध्ययन किया है। उसने यह भी बताया है कि इन राज्यो के पतन के क्या कारण है तथा राज्यो को किस प्रकार स्थायित्व दिया जा सकता है। जैगर का विचार है कि इन पुस्तको की रचना अरस्तू ने अपने विद्यालय की स्थापना के बाद की होगी। उनके विचार से अरस्तू इस बीच मे ही 158 संविधानो की जाँच-पड़ताल कर रहा था। अरस्तू ने चौथी, पाँचवी और छठी पुस्तके मूल प्रारूप के बीच मे रख दी है। परिणामस्वरूप आदर्श राज्य सम्बन्धी रचना बहुत बडी हो गई है और वह राजनीति शास्त्र का एक सामान्य ग्रन्थ बन गई लगती है। जैगर का विचार है कि पहली पुस्तक सबसे अन्त मे लिखी गई थी। यह उस वृहद्-ग्रन्थ की सामान्य भूमिका है। इस प्रकार जैगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' एक वैज्ञानिक ग्रन्थ है लेकिन उसको दुबारा नहीं लिखा गया। फलतः इसके विभिन्न भाग एक-दूसरे मे असम्बद्ध से मालूम पडते है। इसकी पूरी रचना मे प्रायः 15 वर्ष लगे थे।[1]

'पॉलिटिक्स' की अव्यवस्था के बारे मे कुछ लोगो का कहना है कि यह उन Notes का सग्रह मात्र है जो अरस्तू के व्याख्यानो से उसके शिष्यो ने तैयार किए थे। कुछ लोग कहते हैं कि ये नोट्स स्वयं अरस्तू ने ही शिष्यो को पढ़ाने के लिए तैयार किए थे जिन्हे बाद मे उसने एक ग्रन्थ के रूप में सकलित कर दिया। कुछ विद्वानो का विश्वास है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना अरस्तू ने नही बल्कि लीसियम मे उसके शिष्यो ने की थी। लेकिन इन मतो की अपेक्षा सन्तोषजनक विचार यह प्रतीत होता है कि पॉलिटिक्स के विभिन्न अनुच्छेद वे नोट्स है जिन्हे अरस्तू ने समय-समय पर अपने व्याख्यानों के के लिए तैयार किया होगा। यह भी सम्भव है कि उनमे से कुछ उसके उन अधिक विस्तृत ग्रन्थो के भाग ग्रन्थों के भाग हो जो अब उपलब्ध नही हैं।

'पॉलिटिक्स' आठ भागो मे विभाजित है जिन्हे विषय की दृष्टि से बार्कर (Barker) के अनुसार तीन वर्गों मे बाँटा जा सकता है—

(1) पहले वर्ग मे पहली, दूसरी तथा तीसरी पुस्तके है। पहली पुस्तक मे राज्य की प्रकृति, राज्य के उदगम और आन्तरिक सगठन तथा दास-प्रथा का वर्णन है। दूसरी पुस्तक मे प्लेटो जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श-राज्य एवं स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज आदि तत्कालीन राज्यो की समीक्षा है। तीसरी पुस्तक मे राज्यो का वर्गीकरण, नागरिकता मे न्याय, के स्वरूप का विवेचन है।

(2) दूसरे वर्ग मे चौथी, पाँचवी और छठी पुस्तकें है। चौथी पुस्तक मे विभिन्न प्रकार की वास्तविक शासन-प्रणालियो का, पाँचवी पुस्तक मे विभिन्न शासन-प्रणालियो में होने वाले वैधानिक परिवर्तनो और क्रान्ति के कारणो का प्रतिपादन है तथा छठी पुस्तक मे वे उपाय दर्शाए गए है जिनसे लोकतन्त्रो और अल्पतन्त्रो (Oligarchies) को सुस्थिर बनाया जा सकता है।

(3) तीसरे वर्ग मे सातवी और आठवी पुस्तके है। इनमे आदर्श राज्य और उसके सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है।

सेबाइन का विचार है कि 'पॉलिटिक्स' हमे अरस्तू की राजनीतिक विचारधारा के दो चरणो को प्रकट करती है जो एक-दूसरे से काफी दूर हैं। इनसे यह भी पता चलता है कि अरस्तू प्लेटो के

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 84.

प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास किया है या इसी बात को अधिक अच्छी तरह से यो कहा जाए कि "अरस्तू ने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के निर्माण का प्रयास किया है।" प्रथम यह है कि अरस्तू 'स्टेट्समैन' और 'लॉज' के अनुकरण पर एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है और इसे ही राजनीतिक दर्शन का मुख्य ध्येय समझता है। 'राजनीतिक शास्त्र' के बारे मे प्लेटो के समान ही उसकी भी नैतिक रुचि है। श्रेष्ठ व्यक्ति और श्रेष्ठ नागरिक उसके लिए भी एक ही हैं। उसके मत मे भी राज्य का उद्देश्य उच्चतम नैतिक मनुष्य का निर्माण करना है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अरस्तू ने इस दृष्टिकोण को जानबूझ कर छोड दिया है। इसका कारण यह है कि अरस्तू ने आदर्श राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध को 'पॉलिटिक्स' का एक महत्त्वपूर्ण अश रहने दिया था। लेकिन, लीसियम (Lyceum) की स्थापना के कुछ समय बाद ही उसने एक व्यापक आधार पर राजनीति के विज्ञान अथवा कला की कल्पना की। उसका विचार था कि नए विज्ञान का क्षेत्र सामान्य होना चाहिए। उसमे यथार्थ और वास्तविक दोनो प्रकार की शासन-प्रणालियों का विवेचन होना चाहिए तथा शासन की कला और राज्यो का संगठन करने की शिक्षा का विधान भी राजनीति का यह नया विज्ञान केवल अनुभव-सापेक्ष और विवरणात्मक ही नही था। कुछ दृष्टियो से नैतिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था क्योकि राजनेता के लिए यह आवश्यक है कि वह बुरे राज्य का शासन करने मे भी निपुण हो। नए राजनीति विज्ञान मे सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो प्रकार के राजनीतिक हितो की जानकारी सम्मिलित थी। इसमे उस राजनीतिक व्यवस्था की भी जानकारी सन्निहित थी जिसका बुरे उद्देश्य के लिए प्रयोग होता है। राजनीति दर्शन की परिभाषा मे यह विस्तार अरस्तू की एक मुख्य देन है।

वास्तव मे अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' मे आदर्श राज्य की स्थापना तथा यथार्थ का विश्लेषण एक ही साथ कर अरस्तू ने एक नवीन राजनीति विज्ञान को जन्म दिया है। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि यथार्थ आदर्श से कितना भी दूर क्यो न हो, अवहेलना नहीं होनी चाहिए। राजनीतिक विज्ञान के अच्छे बुरे सभी प्रकार के राज्यो का शासन एव संगठन करने की कला शासको को सिखानी चाहिए। अरस्तू के राजनीति के इस नवीन और व्यापक विज्ञान मे न केवल राज्य का नैतिक उद्देश्य शामिल है, वरन् उसमे उसके सामाजिक तथा राजनीतिक तत्वो, वास्तविक सविधानो, उनके सम्मिश्रण और तद्जनित परिणामो का एक अनुभवगम्य अध्ययन भी शामिल है। निरपेक्ष एव सापेक्ष राजनीतिक श्रेय और भले-बुरे सभी प्रकार के राजनीतिक ध्येय के लिए आवश्यक राजनीतिक यन्त्र का ज्ञान नवीन विज्ञान का एक भाग है। राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र को इतना विस्तृत करना इस विषय मे अरस्तू की सबसे बडी देन है। जेलर (Zeller) के शब्दो मे, "अरस्तू की पॉलिटिक्स प्राचीन काल से विरासत मे प्राप्त होने वाली एक सर्वाधिक मूल्यवान विधि है और राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र मे प्राप्त होने वाला महानतम योगदान है।"[1]

अरस्तू पर 'लॉज' का ऋण

बार्कर ने अरस्तू पर 'लॉज' के ऋण का बडा शोध-पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।[2] अरस्तू जन्म 384 ई. पू. के लगभग हुआ था वह ई पू के लगभग एक विद्यार्थी के रूप में एथेन्स आया था। उस समय प्लेटो का प्रभाव पडा था। बार्कर के अनुसार अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' तथा प्लेटो के 'लॉज' मे अनेक सादृश्य हैं—

(1) प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी विधि की प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और शासको को 'विधि के सरक्षक' तथा उसका 'सेवक' माना है।

(2) 'पॉलिटिक्स' का वह सुप्रसिद्ध अवतरण जिसमे अरस्तू ने कहा है कि राज्य और उसकी विधि से रहित मनुष्य या तो पशु है या देवता, विचार और अभिव्यक्ति दोनो मे 'लॉज' के एक सुन्दर

1 *E. Zeller :* Aristotle & the Earlier Peripatetics, Eng. Trans. Vol II, p. 228.
2 बार्कर पूर्वोक्त, पृ 580-82.

अवतरण के अनुरूप है (874E–875D.766 A से तुलना कीजिए)। लगता है कि यह अश लिखते समय अरस्तू के सामने 'लॉज' का उपर्युक्त अवतरण था।

(3) अरस्तू ने परिवार से राज्य के विकास का और प्रारम्भिक राज्यो के पैतृक स्वरूप का जो वर्णन किया है उसमे वह उसी लीक पर चला है जिस पर प्लेटो 'लॉज' के तीसरे खण्ड मे चला है। प्लेटो ने साइक्लोप्स के बारे मे होमर का जो उद्धरण दिया है वही अरस्तू ने दिया।

(4) अरस्तू ने प्लेटो की इस युक्ति को दोहराया है कि युद्ध का लक्ष्य शान्ति की स्थापना करना होता है, वह अपने आप मे साध्य नही होता।

(5) अरस्तू ने, 'एथिक्स' मे भी और 'पॉलिटिक्स' के सातवें खण्ड के उन अध्यायो मे भी जिनमे शिक्षा का विवेचन किया गया है—स्वभाव-निर्माण पर जोर दिया है इसका सादृश्य 'लॉज' के दूसरे खण्ड मे उपलब्ध होता है।

(6) मिश्रित सविधान की कल्पना 'पॉलिटिक्स' और 'लॉज' दोनो ग्रन्थो मे समान रूप से पाई जाती है और दोनो मे ही स्पार्टा को इसका उदाहरण बताया है।

(7) अरस्तू ने कृषि के महत्त्व और खुदरे व्यापार तथा सूद-खोरी के बारे मे जो विचार व्यक्त किए हैं वे प्राय. उन विचारो से अभिन्न हैं जिनका प्लेटो ने 'लॉज' के आठवें खण्ड के अन्त मे और ग्यारहवें खण्ड के प्रारम्भ मे उल्लेख किया है। इसी प्रकार, प्लेटो ने नगर-कलह की रोकथाम के लिए 'लॉज' मे विचार प्रकट किया है कि अमीरो को चाहिए कि वे स्वेच्छा से गरीबो को भी धन-सम्पदा मे हिस्सेदार बनाएँ, इस विचार की अभिव्यक्ति 'पॉलिटिक्स' मे भी हुई है।

(8) अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' के सातवें और आठवे खण्डो मे अपने आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसके आदर्श राज्य के अवतरणो और 'लॉज' के तत्सम्बन्धी अवतरणो मे बहुत अधिक समनताएँ है। अरस्तू अपने सर्वश्रेष्ठ राज्य का चित्रण करते समय प्लेटो के द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का अनुसरण करे–यह बात विचित्र भी है और अर्थगर्भित भी।

निष्कर्ष यह है कि "अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' के दूसरे खण्ड के आरम्भ मे 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज' दोनो की आलोचना तो की है, पर वास्तव में उसकी 'लॉज' मे अधिक अभिरुचि थी और जहाँ उसके सामान्य राजनीति-सिद्धान्त पर 'लॉज' का ऋण काफी था वहाँ उसके आदर्श राज्य के चित्र पर 'लॉज' का ऋण सबसे अधिक था। यह ठीक है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना अरस्तू ने की थी और उसने ग्रन्थ की विषय-वस्तु का आयोजन अपने दर्शन तथा सिद्धान्तो के सन्दर्भ मे किया था, पर इस विषय-वस्तु का अधिकांश भाग प्लेटो का था।"

अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of State)

'पॉलिटिक्स' की प्रथम पुस्तक मे अरस्तू ने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का वर्णन किया है। उसने राज्य के फलस्वरूप, जन्म और लक्ष्य का सुन्दर प्रतिपादन किया है। उसके राज्य सम्बन्धी विचार इतने सुव्यवस्थित है कि अरस्तू के ढाई हजार वर्ष बाद आज भी उनकी प्रमाणिकता को स्वीकार किया जाता है। उसके राज्य सम्बन्धी इन सिद्धान्तो के कारण ही उसे राजनीति के नवीन विज्ञान का प्रतिपादक माना जाता है। अपने गुरु प्लेटो के समान ही उसका लक्ष्य भी सोफिस्टो के इस मत का खण्डन करना है कि राज्य एक परम्पराजनित सस्था है जिसका अपने सदस्यो की आस्था पर कोई वास्तविक अधिकार नही। अरस्तू यह सिद्ध करना चाहता है कि राज्य का जन्म विकास के कारण हुआ है। यह एक स्वाभाविक सस्था है। इसके उद्देश्य और कार्य नैतिक है तथा यह सभी सस्थाओ मे श्रेष्ठ और उच्च हैं।

(1) राज्य का प्रादुर्भाव—अरस्तू के अनुसार राज्य का निर्माण व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने जानबूझ कर और सोच-विचार कर किसी भी काल मे कभी नही किया। राज्य एक प्राकृतिक

सस्था है जिसका जन्म और विकास प्राकृतिक रूप से हुआ है। वह कहता है कि "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है जो अपने स्वभाव से ही राजकीय जीवन के लिए बना है।" अपनी स्वभाव-जन्य भौतिक, सांस्कृतिक एव नैतिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए स्वामी तथा दास और स्त्री एव पुरुष एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते है। इस प्रकार उनके सयोग तथा मेल से परिवार का जन्म होता है। परिवार प्रकृति द्वारा स्थापित मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने वाली संस्था है। जब परिवारो का एकत्रीकरण हो जाता है और इस सगठन का उद्देश्य दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति से कुछ अधिक हो जाता है, तब एक ग्राम का अस्तित्व बनता है। सबसे अधिक ग्राम वही है जहाँ एक ही माता के दूध से पले बच्चे और बच्चो के बच्चे रहते हो। शनै-शनै. अनेक ग्राम एकत्रित और सगठित होकर एक समाज के रूप मे इतने बडे हो जाते है कि वे अपनी आवश्यकताओं के बारे मे लगभग आत्म-निर्भर हो जाते है, तब नगर अथवा राज्य का जन्म होता है। इस प्रकार राज्य का जन्म मनुष्य की भौतिक मूल आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता है और वह इसलिए कायम रह पाता है कि उसमे व्यक्तियो का श्रेष्ठ जीवन सम्भव है। अत: समाज या राज्य के जन्म के अकुर सर्वप्रथम परिवार मे देखने को मिलते है। इन्ही कारणो के शनै:-शनै. विकसित एव प्रस्फुटित होने से अन्त मे राज्य का उदय होता है। स्पष्ट है कि "राज्य प्रकृति की उपज है और व्यक्ति स्वभाव से ही राजनीतिक प्राणी है। जो व्यक्ति अपनी प्रकृति से (न कि सयोग से) बिना किसी राज्य के जीता है-वह मनुष्य की श्रेणी से या तो ऊपर है या नीचे।"[1]

अरस्तू के उपरोक्त विचार से उसका यह मत स्पष्ट हो जाता है कि राज्य विकास का परिणाम है और इस विकास का क्रम परिवार से आरम्भ हुआ है। यौन सम्बन्ध एव अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के कारण नर-नारी इकट्ठे रहते है। भौतिक पदार्थों को जुटाने के लिए दासो को काम पर लगाया जाता है, जिससे स्वामी-सेवक के सम्बन्धो की उत्पत्ति होती है। इस तरह प्रजनन (यौन सम्बन्धी) एव अल्प-भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए स्त्री पुरुष, स्वामी-सेवक आदि के साथ-साथ रहने से बना परिवार एक स्वाभाविक सस्था है। यह मनुष्य की अन्त प्रकृति और इच्छा का स्वाभाविक परिणाम है। मानव की राजनीतिक यात्रा मे दूसरा पडाव आता है ग्राम। परिवारो का समुदाय या समूह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ग्राम का रूप धारण करता है। एक-दूसरे के लाभ के लिए बढती हुई आर्थिक समस्याओ की पूर्ति के लिए तथा रक्त सम्बन्ध के पारस्परिक प्रेम के कारण एक-दूसरे पर निर्भर रहते हुए परिवार ग्राम को जन्म देते है। विकास का यह क्रम चलता रहता है और अनेक ग्रामो के सम्मिलन से नगर-राज्य का जन्म होता है। बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही अनेक ग्राम समूह बन कर नगर-राज्य के रूप मे एकत्रित हो जाते है। इस नगर-राज्य मे परिवार और ग्राम की आवश्यकताएँ पूर्ण होने के साथ-साथ कुछ अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी होती है। राज्य सैनिक सगठन बनाकर विदेशी आक्रान्ताओ से अपने निवासियो की रक्षा करता है। ग्राम-पचायत की तुलना मे अधिक कुशलतापूर्वक न्याय का कार्य करता है। विद्याओ और कलाओ का विकास करता है तथा मनुष्य की बौद्धिक एव नैतिक शक्तियो को विकसित करने की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। इस तरह राज्य का विकास तीन स्थितियों से होकर गुजरता है। अरस्तू के शब्दो मे "राज्य एक पूर्ण और आत्म-निर्भर परिवारो और ग्रामो का एक समूह है जिसका तात्पर्य एक सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन से है।"

राज्य के विकास की उपरोक्त तीनो स्थितियों और उद्देश्यो को प्रस्तुत अग्रलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है[2]—

1 *Aristotle*. Politics (Barker's Trans.), p 5

2 भोलानाथ शर्मा ; अरस्तू की राजनीति (Hindi Trans of 'Politics'), p 50.

1 कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति=क
2 ग्राम	क+न्याय के लिए ग्राम-पंचायत तथा धार्मिक उत्सव आदि=ग
3 नगर-राज्य (पोलिस)	क+ग+न्याय तथा सैनिक संरक्षण, विद्या तथा कलाओं का विकास=ग

(2) राज्य एक स्वाभाविक संस्था (The State : A Natural Association)—प्लेटो की भांति अरस्तू का भी यह मानना है कि राज्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है, अपितु एक प्राकृतिक समुदाय है। प्लेटो एवं अरस्तू से पहले सोफिस्ट मानते थे कि राज्य परम्पराजनित संस्था (कृत्रिम समुदाय) है जिसे मनुष्यों ने आपस में समझौता (Contract) करके बनाया है। इसी आधार पर उनका कहना था कि राज्य का अपने सदस्यों की निष्ठा पर कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। वे राज्य की आज्ञाओं अथवा कानूनों का पालन केवल दण्ड के भय अथवा पुरस्कार की आशा से करते हैं किन्तु अरस्तू का कहना है कि राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और सुखी जीवन के लिए वह जीवित है। मनुष्य एक बुद्धिमान् प्राणी है। नैतिक कारणों से ही वह कानून पालन करता है। यदि उसे कानून का पालन करना अपने हितों के विरुद्ध प्रतीत होता है तो वह केवल दण्ड-भय के कारण ही उनका उल्लंघन करने से नहीं रुकेगा। अरस्तू के अनुसार राज्य इसलिए स्वाभाविक है कि उससे अलग और बाहर रहकर मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और प्रकृति ने उसे राज्य के सदस्य के रूप में रहने के लिए ही बनाया है। अरस्तू के अनुसार बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धि-द्वारा अपने हितों की वृद्धि करना अपना नैतिक दायित्व समझता है। इन हितों की पूर्ति राज्य में ही हो सकती है और इसीलिए उसके द्वारा राज्य के नियमों का पालन किया जाता है।

अरस्तू राज्य को एक 'कायनोनिया' (Koinonia) अर्थात् ऐसा समुदाय मानता है जिसके बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है। राज्य एक बन्धुत्व है, एक जाति है। यह उन लोगों का संगठन है जो एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी सामान्य आवश्यकताएँ रखते हैं और वस्तुओं एवं सेवाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति से प्रेरित होते हैं। अरस्तू के शब्दों में "जो व्यक्ति राज्य के बाहर रहता है वह या तो पशु है अथवा देवता।"

राज्य को प्राकृतिक मानने के पक्ष में अरस्तू निम्नलिखित कारण प्रस्तुत करता है—

(i) अरस्तू का कहना है कि "यदि जिन संस्थाओं पर राज्य आधारित है वे संस्थाएँ स्वाभाविक हैं तो निश्चय ही उन स्वाभाविक संस्थाओं का विकसित रूप भी स्वाभाविक होगा।"[1] कोई भी विचारक, यहाँ तक कि सोफिस्ट भी परिवार को मनुष्य पर थोपी हुई कृत्रिम व्यवस्था नहीं मानते। परिवार स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। यह मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यंजना है, इसीलिए वह स्वाभाविक है और मानव-विकास के मार्ग में बाधक न होकर साधक है। "यह एक घोंसले के सदृश है, पिंजड़े की तरह नहीं।"[2] यदि परिवार एक स्वाभाविक संस्था है तो राज्य और भी अधिक स्वाभाविक हुआ क्योंकि परिवार की इस स्वाभाविक व्यवस्था से ही राज्य का विकास हुआ है।

(ii) अरस्तू के अनुसार राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसीलिए भी है कि राज्य का जन्म मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए हुआ है।

1 *Aristotle* . "If the earlier forms of society are natural so is the state, for it is the end of them and the nature of a thing is end "

2 "Therefore it does not thwart human growth but fosters it It is like a nest not like a change " —*Foster* : Masters of Political Thought, p 128

उसके शब्दो मे, "मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित मानव समुदाय के बढ़ते हुए घेरे की चरम परिणति राज्य है।"[1] सामाजिकता मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। इसी गुण के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सामाजिक स्तर पर करना चाहता है। परिवार और ग्राम मानव विकास के लिए आवश्यक समस्त सुविधाओं, साधनों या आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते, अतः वे मिलकर नगर राज्य में परिणत होते हैं जिसमे मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। आत्म-निर्भरता (Self-sufficiency) प्लेटो और अरस्तू के अनुसार केवल राज्य मे ही प्राप्त हो सकती है। 'आत्म-निर्भरता' से तात्पर्य केवल आर्थिक स्वपर्याप्तता से ही नहीं है, बल्कि प्लेटो और अरस्तू का इससे अभिप्राय यह है कि राज्य उन सम्पूर्ण स्थितियों और वातावरण की पूर्ति भी करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। समाज के ग्राम जैसे निम्नतर रूप अपर्याप्त केवल इसलिए नहीं हैं कि वे मनुष्य की समस्त इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, बल्कि इसलिए हैं कि वे उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की समुचित रूप से पूर्ति नहीं कर पाते। इनकी पूर्ति केवल एक राजनीतिक समाज में, जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है, हो सकती है। मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति का पूर्ण विकास राजनीतिक क्रिया मे ही सम्भव है जो कि आर्थिक क्रिया से भिन्न है।[2]

(iii) मनुष्य की प्रकृति मे विकास के अंकुर निहित है। विकास उसका स्वभाव है। मनुष्य की यह विकासवादी प्रकृति एक शक्ति है जो उसे सदैव किसी विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित और गतिमान बनाती है और यह लक्ष्य राज्य ही है।

इस प्रकार अरस्तू की मान्यता है कि राज्य एक सर्वथा स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक संस्था है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य एक स्वाभाविक संस्था। ये दोनों कथन एक-दूसरे मे निहित हैं। राज्य मनुष्य का स्वाभाविक लक्ष्य है। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह है कि मनुष्य को राजनीतिक प्राणी बनाने वाली शक्ति उसकी भाषण-शक्ति है। अन्य पशु यूथचारी (Gregarious) हैं, किन्तु केवल मनुष्य ही राजनीतिक प्राणी है क्योंकि उसका स्वाभाविक लक्ष्य राज्य है और केवल उसे ही भाषण-शक्ति प्राप्त है। अपनी इस शक्ति के कारण ही मनुष्य शुभ और अशुभ एवं न्याय और अन्याय में भेद करने में सक्षम है। भाषा के वरदान से ही वह एक-दूसरे के सुख-दुःख की वेदना का अनुभव कर सकता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियों की दृष्टि से तो मनुष्य और अन्य पशु मे कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य की विलक्षणता उसके विवेक और उसकी भाषण-शक्ति में है। राज्य में ही मनुष्य को पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक एवं नैतिक गुणों की प्राप्ति का अवसर मिलता है। व्यक्ति विकसित होकर राज्य में ही उस चरम शक्ति तक पहुँचता है और उन कार्यों का भली प्रकार सम्पादन कर सकता है जिनके लिए प्रकृति ने उसका निर्माण किया है। ऐसी स्थिति वास्तविक अथवा स्वाभाविक होती है और इसीलिए राज्य स्वाभाविक संस्था है। अन्य प्राकृतिक संगठनों से राज्य की भिन्नता में है कि जहाँ राज्य के सदस्य राजनीतिक जीवन बिताते हैं वहाँ अन्य प्राकृतिक संगठनों के जीव राजनीतिक जीवन-यापन नहीं कर सकते और न उनमे मनुष्यों की भाँति विवेक, बुद्धि-सम्पन्नता और भाषण-शक्ति पाई जाती है।

(3) राज्य सर्वोच्च समुदाय के रूप में है (The State as the Supreme Association)—अरस्तू राज्य को समुदायों का समुदाय ही नहीं अपितु सर्वोच्च समुदाय मानता है (The State is not merely an association of associations, it is the supreme association)। राज्य सर्वोच्च समुदाय इसलिए है कि वह सब के ऊपर है और अन्य सब इसके अंग मे लिपटे हुए हैं। विभिन्न प्रकार के समुदाय मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उदाहरणतः मनोरंजन संस्थाएं मनुष्य

1 *Aristotle* : "The state is the culmination of widening circles of human Administration on human wants"

2 *Foster* : Masters of Political Thought, p 129

की भावनाओ की सन्तुष्टि करती है तो आर्थिक सस्थाएँ उसकी उदर-पूर्ति के साधन जुटाती है। अन्य सामाजिक सस्थाएँ उसकी अन्य आवश्यकताओं को यथा धर्म, शिक्षा आदि को पूरा करती है। लेकिन राज्य इन सबसे बडी और ऐसी संस्था है जिसमे सामाजिक विकास का चरम रूप निहित है, जो मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। इसके विकास मे शेप सस्थाओ का विकास निहित है। राज्य इसलिए सर्वोच्च समुदाय है कि इसका लक्ष्य ही सर्वोत्तम है और वह है—अपने सदस्यो के जीवन को शुभ बनाना। राज्य अपने नागरिको को सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिए तैयार करता है। जहाँ अन्य सस्थाएँ मनुष्य को आंशिक रूप से आत्मनिर्भर बनाती हैं, वहाँ राज्य उसे पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बनाता है। प्रत्येक अन्य समुदाय का उद्देश्य किसी विशेष एव निम्नतर शुभ की प्राप्ति करना है जबकि राज्य का उद्देश्य परम शुभ और सम्पूर्ण विकास को प्राप्त करना है। सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिए अन्य सस्थाओ मे कम अवसर मिलते हैं जब कि राज्य मे इस सुखी जीवन की प्राप्ति सम्पूर्ण रूप से होती है। शुभ जीवन के अन्तर्गत मानव की नैतिक और बौद्धिक क्रियाएँ सम्मिलित है। इन्हे तृप्त करने का अन्य समुदायो की अपेक्षा राज्य मे अधिकतम क्षेत्र है अत निश्चय ही राज्य सर्वोच्च एव सर्वोत्तम सस्था है।

(4) **राज्य मनुष्य से पहले** (**The State is prior to the individual**)—अरस्तू का यह भी कहना है कि राज्य मनुष्य से पहले है। सतही तौर पर अरस्तू का यह कथन विचित्र-सा प्रतीत होता है क्योंकि राज्य का जन्म मनुष्यो के द्वारा हुआ है। व्यक्तियो के अभाव मे राज्य की कल्पना भी नही की जा सकती। जब केवल मनुष्य के हित के लिए ही राज्य का जन्म हुआ है तब राज्य मनुष्य से पहले कैसे आया? यह भी अरस्तू स्वय बतला चुका है कि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आरम्भ मे व्यक्तियो से मिलकर परिवार बने, परिवारो से ग्राम और ग्रामो से राज्य। इस तरह काल-क्रम की दृष्टि से व्यक्ति पहले है और राज्य सब से अन्त मे है। तब यह मानना कि राज्य 'मनुष्य से पहले है या व्यक्ति का पूर्वगामी है'—इससे क्या तात्पर्य हो सकता है?

वास्तव मे अरस्तू के उपरोक्त कथन को ऐतिहासिक दृष्टि से नही लिया जाना चाहिए। वह मनोवैज्ञानिक एव तर्क-सम्मत सम्बन्ध की दृष्टि से राज्य को व्यक्ति का पूर्ववर्ती मानता है। उसका तर्क है कि राज्य एक समग्रता (Whole) है और व्यक्ति उसका अग है अर्थात् राज्य और व्यक्ति का वही सम्बन्ध है जो शरीर का उसके अगो से होता है। चूंकि समग्र पहले आता है और अग बाद में इसलिए इस सादृश्य के आधार पर राज्य पहले का हुआ। अरस्तू ने कहा कि यदि शरीर नष्ट कर दिया जाए तो हाथ अथवा पैर का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। पत्थर या काष्ठ का हाथ अथवा पैर हम भले ही बना लें लेकिन सम्बन्ध एव कार्यों की दृष्टि से उसे वास्तव मे हाथ या पैर नही कहा जा सकता। किसी भी वस्तु की परिभाषा उसके कार्यों से की जाती है। स्पष्ट है कि शरीर अथवा अवयवो के बिना उसके विभिन्न अगो का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। व्यक्ति के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। यदि व्यक्ति को राज्य से विलग कर दिया जाए तो वह स्वावलम्बी नही हो सकता। व्यक्ति का राज्य मे पृथक् कोई महत्त्व नही है जो व्यक्ति राज्य अथवा समाज के बिना रह सकता है और अकेला होने पर भी स्वावलम्बी हो सकता है वह अरस्तू की शब्दावली मे या तो पशु है या देवता। इस तरह अरस्तू कहना चाहता है कि जीव के विचार की दृष्टि से अवयव अग से पहले होना चाहिए, क्योंकि अवयवो के अभाव में उसके अगो की कल्पना नही की जा सकती। राज्य एक जैविक इकाई है, अतः उसकी अवयवी समग्रता व्यक्ति से पूर्ववर्ती होनी चाहिए। अग की व्याख्या समग्र के बिना नही की जा सकती। समस्त अग समग्र के अंग होते है और समग्र की धारणा के बिना अंग महत्वहीन है। अग के अस्तित्व के लिए समग्र का पूर्ववर्ती रूप मे उपस्थित होना अनिवार्य है। यही बात व्यक्ति और राज्य के बारे में है। व्यक्ति की परिभाषा और महत्त्व के लिए समग्र अथवा राज्य होना ही चाहिए अत. सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति से पहले आया है और प्राकृतिक है।

(5) राज्य अन्तिम एवं पूर्ण संस्था (State as the final and perfect form of human association)—अरस्तू की सीमा तत्कालीन अवस्था मे उपलब्ध नगर-राज्य तक थी। वह नगर-राज्य को मानव-समाज का सर्वोत्तम समुदाय और मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मानता है। परिवार और ग्राम के बाद राज्य मे मानव के विकास-लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अरस्तू के अनुसार नगर-राज्य के बाद राज्य का कोई अन्य कार्य नही रह जाता। उसकी दृष्टि मे वह सामाजिक विकास का चरम रूप है। परिवार से आरम्भ होने वाला विकास नगर राज्य के रूप मे परिपूर्णता को प्राप्त करता है। यद्यपि अरस्तू के सामने ही यूनान के नगर राज्यो को ध्वस्त करके फिलिप (Philip) ने अपने साम्राज्य की स्थापना कर ली थी किन्तु नगर-राज्य की वैचारिक दुनिया मे विचरने वाला अरस्तू सम्भवत इस परिवर्तन के महत्त्व को नही आँक सका। बाद मे जन्म लेने वाले राष्ट्रीय राज्यों का स्वप्न वह नही देख सका। आधुनिक युग के विशालतम राज्यो तक उसकी दृष्टि तत्कालीन अवस्था मे नहीं पहुँच सकी। उसने नगर को ही सामाजिक विकास का चरम रूप मानते हुए उसे मनुष्य के राजनीतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया।

(6) राज्य का जैविक स्वरूप (Organic Nature of the State)—अरस्तू अपनी लक्ष्य-प्रधान मीमाँसा के कारण यह प्रतिपादित करता है कि राज्य का स्वरूप जैविक है अथवा दूसरे शब्दो में राज्य की प्रकृति एक सावयवी जीवधारी के समान है। प्रत्येक सावयवी जीव का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। उसके कार्य उसके विभिन्न अगो द्वारा किए जाते हैं। सावयवी के विभिन्न अंगो मे कार्यो का वितरण होता है और वे उन कार्यों को करने के लिए शरीर पर आश्रित होते हैं। यदि शरीर का काई अग अनुपात से घट-बढ जाता है तो परिणामस्वरूप समस्त शरीर निर्बल हो जाता है। ठीक ये ही बातें राज्य पर भी लागू होती है। राज्य का भी स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है। उसके समस्त कार्य उसके अंगो (व्यक्तियो) द्वारा किए जाते है। विभिन्न घटको मे कार्यो का वितरण होता है और ये समस्त घटक राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपने-अपने कार्य करते हैं। जिस तरह नाना प्रकार के अगो से मिलकर सावयवी जीव का निर्माण होता है, उसी तरह राज्य भी नाना प्रकार के अगो (व्यक्तियो, समुदायो) से मिलकर बना हुआ एक सम्मिश्रण अथवा सम्पूर्ण (Compound of Whole) है। जिस तरह समस्त अंगो का महत्त्व और उनकी उपयोगिता उनकी जैविक एकता से है उसी तरह व्यक्तियो और समुदायो का मूल्य और महत्त्व भी राज्य की सजीवनी शक्ति के कारण है। राज्य के विभिन्न घटक अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर आश्रित है। राज्य के अभाव मे उनका विनाश एक स्वाभाविकता होगी।

राज्य के जैविक स्वरूप मे इस प्रकार आस्था रखते हुए भी अरस्तू राज्य को पूरी तरह जीव नही मानता। हीगल (Hegel) और उसके अनुयायियो की भाँति वह राज्य को अतिप्राणी (Super Being) भी स्वीकार नही करता। वह व्यक्ति को राज्य के पूर्णत अधीन नही बनाता। व्यक्ति से राज्य को केवल ऊपर मानते हुए वह कहता है कि राज्य के बिना व्यक्ति की कोई कल्पना सम्भव नहीं है क्योकि राज्य ही मे मानव-व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। अरस्तू राज्य को केवल व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक मानता है। उसके अनुसार राज्य का अपना कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नही। उसका उद्देश्य केवल नागरिको का सुखवर्धन एव नैतिक विकास ही है। इस तरह राज्य के स्वरूप को जैविक बताते हुए भी अरस्तू अराजकतावादी व्यक्तिवाद और निरकुशतावाद (Anaschic Individualism and Absolutism) दोनों के दोषो से मुक्त है।

(7) राज्य का आत्म-निर्भर (Self sufficient) होना—अरस्तू राज्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह मानता है कि वह आत्म-निर्भर इकाई है। आत्म-निर्भरता का सामान्यत अर्थ यह होता है कि अपनी आवश्यकताओं को स्वय ही पूरा कर लेना-लेकिन अरस्तू ने पारिभाषिक अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। वह अपने 'आचार शास्त्र' मे लिखता है कि 'आत्म-निर्भरता वह गुण है जिसके द्वारा स्वत

जीवन परिपूर्ण बन जाता है, तथा उसमें कोई अभाव नहीं रह जाता।"[1] 'आत्म-निर्भर' से उसका तात्पर्य केवल रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या सुलझाने मात्र से नहीं है। 'आत्म-निर्भर' का अर्थ है—कोई कमी न होना। राज्य में अरस्तू के अनुसार, मनुष्य केवल अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करता बल्कि अच्छा जीवन बिताता है। उसका शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक विकास होता है। राज्य में मनुष्य सुखी एवं सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। नगर राज्य को 'आत्म-निर्भर' कहने से अरस्तू का यही अभिप्राय है कि नगर उन समस्त स्थितियों और आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं। पेट भरने का कार्य तो पशु भी करते हैं। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह अपने विशिष्ट गुणों का विकास करे और यह केवल 'आत्म-निर्भर' राज्य में ही सम्भव है। इसीलिए अरस्तू का कहना है कि "राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकता मात्र के कारण हुई, किन्तु उसकी सत्ता अच्छे जीवन की सम्प्राप्ति के लिए बनी हुई है।" अरस्तू के 'आत्म-निर्भर' राज्य के विचार को स्पष्ट करते हुए फोस्टर ने लिखा है—"समाज का एक ग्राम सरीखा निम्न रूप केवल इसलिए अपर्याप्त नहीं है कि वह मनुष्य की इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता बल्कि इसलिए कि वह उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की भी समुचित पूर्ति नहीं कर पाता। केवल एक राजनीतिक समाज में ही (जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है) हो सकती है। मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति का पूर्ण विकास राजनीतिक क्रिया में ही सम्भव है जो कि आर्थिक क्रिया से भिन्न है।"[2]

(8) राज्य का एकत्व और बहुत्व (Unity and Plurality of the State)—प्लेटो ने आदर्श राज्य की रचना बनाए रखने के लिए एकत्व (Unity) पर बहुत बल दिया है। 'राज्य नागरिकों की सभी बातों को नियमित तथा नियन्त्रित करे' यह प्लेटोवाद का निष्कर्ष है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने सम्पत्ति और स्त्रियों के साम्यवाद तक का समर्थन किया है। राज्यों में अवयवी शरीर (Organism) की भाँति एकता होनी चाहिए। जिस तरह पैर में काँटा चुभने पर सारे शरीर को उसकी अनुभूति होती है, उसी प्रकार की एकता की अनुभूति सारे राज्य और उसके नागरिकों में होनी चाहिए परन्तु अरस्तू ने राज्य की एकता को कायम रखने के लिए इसके विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उसका सिद्धान्त है कि राज्य नागरिकों की कुछ बातों का नियन्त्रण एवं नियमन करे तथा अन्य कुछ बातों के लिए वह उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करे। वह राज्य की चरम एकता का पक्षपाती नहीं है। उसने राज्य में विभिन्नता में एकता (Unity in Diversity) का समर्थन किया है। उसकी दृष्टि में एकत्व ही राज्य का आदर्श स्वरूप नहीं है। यदि राज्य में प्लेटो के विचारों के अनुरूप एकता होगी तो वह राज्य, राज्य नहीं रहेगा। अरस्तू के अनुसार वस्तुतः राज्य का स्वरूप बहुत्व (Plurality) में है।[3] उसके मत में राज्य विभिन्न प्रकार के तत्वों से मिलकर बनता है। यदि उनकी भिन्नता का अन्त करके एकता स्थापित की जाएगी तो राज्य का प्राणान्त हो जाएगा। जिस प्रकार एक चित्र विभिन्न रंगों से मिलकर बना है तथा जिस प्रकार संगीत की रचना रागों व तालों के मेल से होती है, उसी प्रकार से राज्य की एकता उसके विभिन्न अंगों के समुचित संगठन पर निर्भर करती है। अरस्तू अपनी विभिन्नता में एकता के विचार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है—

(क) राज्य एक समुदाय है। समुदाय के विभिन्न प्रकार के सदस्यों का होना अनिवार्य है। विभिन्नता में एकता से उच्च श्रेणी की सभ्यता का आभास होता है। यदि राज्य की एकता इस सीमा तक बढ़ाई जाए कि उसकी विभिन्नता समाप्त हो जाए तो राज्य एक बहुत ही निम्न श्रेणी का समुदाय हो जाएगा। राज्य वास्तव में एक सर्वोच्च समुदाय है और इसकी सर्वोच्चता तथा एकता तभी स्थिर रह सकती है जब विभिन्नता में एकता के सिद्धान्त का पालन किया जाए।

2 *Foster* Masters of Politcal Thought, p 129
3 *Barker*. Politics, p 40–42

(ख) प्रत्येक सस्था के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उस सस्था का अस्तित्व बना रहे इसलिए राज्य के लक्ष्य की पूर्ति के लिए राज्य का कायम रहना अनिवार्य है। अरस्तू के मतानुसार यदि राज्य की पूर्ण एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाएगा तो उसका परिणाम यह होगा कि अन्तत वह विभिन्तताओ से विहीन होकर एक व्यक्ति का राज्य रह जाएगा।

(ग) राज्य का ध्येय अपने सदस्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति करना है। इस हेतु राज्य मे विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो का रहना आवश्यक है। राज्य की पूर्णरूपेण एकता से उस उद्देश्य की प्राप्ति नही होगी क्योकि इससे विभिन्नताओ का लोप हो जाएगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि न तो राज्य स्वपर्याप्त हो पाएगा और न राज्य मे इसके सदस्यों की आवश्यकताओ की तुष्टि हो सकेगी।

अरस्तू के मत का सार यही है कि राज्य में एकता होनी चाहिए किन्तु यह प्लेटो के विचारानुरूप व्यक्तियों के विभिन्न भेदो का अन्त करके स्थापित नही होनी चाहिए, अपितु विभिन्न प्रकार के समुचित सगठन द्वारा स्थापित होनी चाहिए।

(9) राज्य के उद्देश्य और कार्य (The Aims and Functions of the State)—अरस्तू का विश्वास है कि मनुष्य का उद्देश्य जीवन ही नही अपितु एक आदर्श और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है और इस श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति करना राज्य का उद्देश्य है। राज्य सदगुणी जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्यो का एक नैतिक सगठन है अतः उसका लक्ष्य अपने सदस्यो की अधिकतम भलाई करना है। मनुष्य की प्रकृति अवश्य अच्छी है और राज्य का कर्त्तव्य उसकी अच्छी प्रवृत्तियो को व्यवहार रूप में बदलना है। राज्य को चाहिए कि वह मनुष्य को भला और सदगुणी बनावें तथा उसके नैतिक और बौद्धिक गुणो के विकास का प्रयत्न करें। अरस्तू का स्पष्ट मत है कि "राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।"[1]

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य की इस परिभाषा मे ही निहित है—"राज्य परिवारो तथा ग्रामो का एक पूर्ण स्वपर्याप्त सगठन है जिसके द्वारा हम सुखी एव सम्मानपूर्ण जीवन की प्राप्ति करते है।" अतः उसके अनुसार राज्य को ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे मनुष्य को उच्च मूल्यों की प्राप्ति हो। अरस्तू, लॉक एव स्पेंसर जैसे आधुनिक व्यक्तियो की भाँति राज्य के कार्यों को अपने सदस्यो के अधिकारो की रक्षा करना और न्याय प्रदान करने तक ही सीमित नही करता और न ही वह राज्य को अन्याय से बचाने वाला सगठन मात्र मानता है। उसकी दृष्टि मे राज्य के कर्त्तव्य सकारात्मक और रचनात्मक (Positive and Constructive) हैं। वह श्रेष्ठ जीवन को नकारात्मक तथा विध्वसात्मक नही मानता। वह चाहता है कि राज्य मानव को सुखी बनाने के लिए आवश्यक कार्य करे, मानव-जीवन को नैतिक और धर्मसगत बनाये। अरस्तू के विचार मे यदि राज्य केवल इतना ही कार्य करता है कि उसके सदस्य एक-दूसरे के विरुद्ध कोई अपराध न करें एक-दूसरे को कोई हानि न पहुंचाएं तो इसमे राज्यो के कार्यों की समाप्ति नही होती। ऐसी सस्था को राज्य तब तक नही कहा जा सकता जब तक वह मनुष्यो को अच्छा, भला और सदगुणी बनाने के प्रधान कर्त्तव्यो को पूरा न करे। अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक के नवे अध्याय मे उदाहरणो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य को नागरिकों की भलाई के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और उन्हे सच्चरित्र और सद्गुणी बनाना चाहिए। राज्य यदि दूसरे के अधिकारो के अपहरण करने वाले कार्यों को रोकता है और अन्य बुरे कार्यो को नहीं रोकता तो वह अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन नही करता। राज्य का सम्बन्ध अपने नागरिको के उन्ही कार्यो से नहीं है जो दूसरो के लिए अहितकर हो, बल्कि उसका वास्तविक और गहरा

1 "The end of the State is not mere life: it is, rather a good quality of life."
—*Aristotle* : Politics (Barker's Trans.) p. 118

सम्बन्ध अपने नागरिकों को सच्चरित्र बनाने से है ताकि वे बुरे काम कर न सकें। अपराधी को केवल दण्ड के भय से ही अपराध से विरत नही करना चाहिए, किन्तु राज्य को उसे ऐसा सच्चरित्र बना देना चाहिए कि वह अपराधो की ओर प्रवृत्त ही न हो।

अरस्तू के अनुसार मनुष्य गुण और दोप दोनो का समन्वय है। यदि उसके दोषो पर अंकुश न रखा जाए तो मनुष्य भी सबसे बड़ा पशु है। अतः समाज मे न्याय-व्यवस्था स्थापित करना और व्यक्ति मे उसके दोषो को दूर कर उच्च जीवन की सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन मे एक आध्यात्मिक सस्था है। उसका कर्त्तव्य नागरिको के अच्छे जीवन का विकास करना है।

अरस्तू की राज्यो के कर्त्तव्य सम्बन्धी इस व्याख्या से स्पष्ट है कि उसने राज्यो के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक व्यापक बतलाया है—इतना व्यापक कि ग्रीन जैसा आदर्शवादी भी इस सम्बन्ध में उससे बहुत पीछे रह जाता है ग्रीन के अनुसार राज्यो के कार्यो का स्वरूप निषेधात्मक है अर्थात् राज्य का कार्य सुखी जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को हटाना है, मनुष्य को अच्छा बनाना नही। आधुनिक समाजवाद और आदर्शवादी प्लेटो तथा अरस्तू की बात का समर्थन नही करते है कि राज्य का कार्य मनुष्य को एक सच्चा और श्रेष्ठ व्यक्ति बनाना है तथा जो राज्य धर्म का पोषण नही करता वह सच्चा राज्य नही है। राज्य मार्ग मे आने वाली बाधाओ को हटाकर नैतिक जीवन के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है किन्तु नैतिक बनने के लिए उन्हे विवश नही कर सकता।

(10) राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध—अरस्तू ने व्यक्ति और राज्य मे गहरा सम्बन्ध बतलाते हुए राज्य और व्यक्ति की तुलना कई दृष्टिकोणो से की है। एक व्यक्ति के समान राज्य को भी साहस, आत्म-नियन्त्रण तथा न्याय के गुण प्रदर्शित करने होते हैं। राज्य भी व्यक्ति के समान आत्म-निर्भर और नैतिक जीवन व्यतीत करता है। राज्य भी नैतिक नियमो का पालन करता है और व्यक्ति के समान ही अपने सदस्यो को नैतिक विधि मानने के लिए बाध्य करता है। उसके अनुसार मानव मस्तिष्क को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—जड अवस्था (Vegetative Soul), पशु अवस्था (Animal Soul) एव बौद्धिक अवस्था (Intellectual Soul)। प्रथम अवस्था मे वह केवल जाति को आगे बढाता है, दूसरी अवस्था मे उसमे गतिशीलता है और तीसरी अवस्था मे उसकी बुद्धि का विकास होता है। अरस्तू राज्य के विकास मे मानव मस्तिष्क के उपरोक्त तीनो तत्त्वो से तुलना करता है जो परिवार, ग्राम तथा राज्य के स्वरूप से मिलते-जुलते है। राज्य के विकास की तीनो अवस्थाएँ मानव मस्तिष्क की अवस्थाओ की परिचायकाएँ है।

अरस्तू के दास-प्रथा सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Views on Slavery)

जबकि प्लेटो की परम्पराओ मे आस्था नही थी उसके शिष्य अरस्तू की उनमे बहुत श्रद्धा थी। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' मे स्पष्ट लिखा है कि "हमे याद रखना चाहिए कि युग-युग के अभाव की उपेक्षा करना हमारे लिए हितकर नही हो सकता। यदि ये चीजें अच्छी होती तो पिछली अगणित शताब्दियो मे वे अज्ञात न रही होती।" उसके दासता सम्बन्धी विचार उसकी इस रूढिवादिता के प्रमाण है।

दास-प्रथा तत्कालीन यूनानी जीवन का एक विशेष अग थी। यूनान का आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का था कि भूमि का स्वामित्व कुलीन परिवारो के हाथ मे था जो परिश्रम नही कर सकते थे। उत्पादन के लिए उनके अधीन श्रमिको का एक बड़ा दल जी-तोड़कर परिश्रम करता था। इन श्रमिको मे अधिकांश दरिद्र व्यक्ति तथा युद्ध बन्दी सैनिक आदि थे। बाहरी देशों से पकड़कर भी इन्हे लाया जाता था। दासो की यह विशाल सेना वास्तव मे राष्ट्रीय सम्पत्ति मानी जाती थी क्योकि इनके परिश्रम

पर ही सारा देश जीता था। यूनानी संस्कृति के भव्य प्रसाद की नीव मे दासो के श्रम का महत्त्वपूर्ण भाग था। दास-प्रथा यूनानियो के लिए उचित, आवश्यक तथा उपादेय थी और उनकी सभ्यता की प्रतीक भी। कुछ लोगो ने मानवता के नाम पर इस प्रथा का विरोध किया। एण्टीफोन (Antiphon) ने कहा कि यूनानियो तथा बर्बर जातियो की प्राकृतिक बातो मे कोई भेद नही थे किन्तु अरस्तू ने राष्ट्र की मर्यादा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए इस दास-प्रथा का अनुमोदन किया। नगर-राज्यो की आर्थिक और राजनैतिक आधारशिला दास-प्रथा ही थी जिसे अरस्तू ध्वस्त करना चाहता था। वह स्वयं कई दासो का स्वामी था। एक यथार्थवादी तथा व्यावहारिक विचारक होने के नाते वह केवल भावनाओ के तीव्र स्वर से घबडाकर राष्ट्र का उत्पादन कम करने अथवा जटिलता बढ़ाने का भी पक्षपाती न था। वह जिनोफोन (Xenophon) के इस विचार का भी समर्थक था कि "मानव-मात्र का यह शाश्वत नियम है कि विजित राज्यो के निवासियो की देह तथा सम्पदा पर विजेताओ का अधिकार होता है।" दास के बारे मे अपने विचार प्रकट करते हुए अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' मे लिखा है—"स्वामी केवल दास का स्वामी है, वह (स्वामी) उसका दास नहीं है जबकि दास केवल अपने स्वामी का दास ही नही बल्कि पूर्णरूप से उसी का है। जो अपनी प्रकृति से ही अपना नही है बल्कि दूसरे का है और फिर भी मनुष्य है, वह निश्चय ही स्वभाव से दास है। वह दूसरे की सम्पत्ति है या उसका कब्जा है और एक कब्जे की परिभाषा यह है कि वह कार्य करने का केवल एक साधन है जो कब्जा करने वाले से पृथक् है।"

अरस्तू का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य सम्पत्ति रखता है उसी प्रकार वह दास भी रखता है। उसके मतानुसार सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—

1. सजीव (Animate), 2 निर्जीव (Inanimate)

निर्जीव सम्पत्ति मे मकान, खेत और अन्य अचल सम्पत्ति आती है जबकि सम्पत्ति मे हाथी, घोडे, अन्य पशु एव दास आदि सम्मिलित हैं। किसी भी परिवार की सफलता और उसके कल्याण के लिए इन दोनो ही प्रकार के उपकरणो का होना आवश्यक है।

अरस्तू दास को एक पारिवारिक सम्पत्ति मानता है उसकी दृष्टि मे परिवार के लिए दास अधिक आवश्यक है, क्योकि वह एक सजीव सम्पत्ति है जो परिवार की आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक है। "सम्पत्ति वास्तव मे सजीव और निर्जीव उपकरणो का समूह है। दास सम्पत्ति का सही उपकरण है जिस प्रकार कुछ उपकरण अन्य उपकरण से बढ़े-चढ़े होते हैं उसी प्रकार दास, जो कि सजीव उपकरण हैं, अन्य निर्जीव उपकरणो की तुलना मे अग्रणी है। निर्जीव उपकरणो से तभी काम लिया जा सकता है जब उनसे पहले सजीव उपकरण विद्यमान हो।"[1] दास के सम्बन्ध मे अरस्तू के विचारो को प्रकट करनेवाला बार्कर का यह कथन उल्लेखनीय है कि "उत्पादन और कार्य करने मे अन्तर है, उसका आधार अरस्तू की वह विचारधारा है जिसके अनुसार व्यक्ति के उस कारण का परिणाम है जो उसे उस कार्य की समाप्ति के पश्चात् मिलता है। किन्तु यह कार्य जब सेवा के रूप किया जाता है तो उसका परिणाम काम के समाप्त होने पर, काम की सफलता के अतिरिक्त और कुछ नही होता। जीवन भी हमारा एक काम है न कि काम एक परिणाम, अतः एक दास काम के वातावरण के मध्य केवल एक सेवक है।"

दास-प्रथा के आधार

अरस्तू ने दास-प्रथा के नैतिक और भौतिक दोनो पक्षों का समर्थन करते हुए उसके औचित्य को क्रमानुसार सिद्ध किया है—

1 Aristotle Politics (Barker's Trans.), pp. 10-11.

—अरस्तू के मतानुसार दास-प्रथा प्राकृतिक है। प्रकृति ने मनुष्यो को मोटे रूप मे दो समूहो मे बाँटा है, जिनकी आत्माओ मे प्रकृति ने शासन करने व आज्ञा पालने का सिद्धान्त जमाया है। जो मनुष्य आज्ञा मानने के लिए पैदा हुए है वे प्रकृति के दास है और ऐसे मनुष्यो को अधीनता मे रखना न्यायपूर्ण है।...... और चूंकि कुछ व्यक्ति प्रकृति मे दास होते है और दूसरे स्वतन्त्र होते है, अत स्पष्ट है कि जहां किसी व्यक्ति के लिए दासता लाभप्रद हो वहां उसे दास बनाना न्यायपूर्ण है।[1] अरस्तू का कहना है कि प्रकृति मे सर्वत्र ही यह नियम [illegible] होता है कि उत्कृष्ट निकृष्ट पर शासन करता है। मनुष्य मे स्वाभाविक रूप से असमानता होती है। सभी मनुष्य एक सी बुद्धि, योग्यता अथवा कौशल लेकर उत्पन्न नही होते। कुछ व्यक्ति श्रेष्ठतम परिस्थितियो मे भी मूर्ख और अकुशल रहते है। दासता इसी प्राकृतिक असमानता का परिणाम है। मूर्ख और बुद्धिहीन व्यक्ति दास बनने के योग्य है और कुशल तथा बुद्धिमान् व्यक्ति स्वामी बनने के। अरस्तू कहता है कि विषमता प्रकृति का नियम है, कुछ व्यक्ति जन्म से स्वामी तो कुछ अन्य जन्म से दास होते है। कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते है तो कुछ शासित होने के लिए। कुछ व्यक्ति [illegible] के लिए पैदा होते हैं तो कुछ [illegible] के लिए। कुछ आज्ञा देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ आज्ञा पाने के लिए। आज्ञा देने वाला स्वामी और आज्ञा पाने वाले दास होते है। शासक और शासित या स्वामी और सेवक का यह अन्तर सारी जड-चेतन प्रकृति में व्याप्त है। प्रकृति ने जिन्हे स्वामी बनाया है उनमे बौद्धिक बल की और जिन्हें दास बनाया है उनमे शारीरिक बल की प्रधानता होती है। अरस्तु के शब्दो मे "प्रकृति स्वतन्त्र पुरुष और दास के शरीरो मे भेद करना चाहती है अत. वह एक (दास) के शरीर को आवश्यक सेवा-कार्यो के लिए बलवाल बनाती है तथा स्वतन्त्र पुरुष को सरल और सीधा बनाती है, चूँकि वह शारीरिक श्रम के लिए बेकार होता है।" इस तरह बौद्धिक असमानता और शारीरिक क्षमता के आधार पर यह दास-स्वामी सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ।

2. दास-प्रथा दोनो पक्षो को लाभकारी—अरस्तू दास-प्रथा को इस दृष्टि से भी न्यायोचित ठहराता है कि यह न केवल स्वामी के लिए अपितु दास के लिए भी उपयोगी और लाभकारी है। बुद्धिमान् और विवेकी-स्वामियो को राजकार्य एव अन्य गुरुतर काम चलाने के लिए तथा अपने बौद्धिक और नैतिक गुणो के विकास के लिए समय और विश्राम की आवश्यकता होती है। यह अवकाश उन्हे तभी मिल सकता है जब उनकी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु दास श्रम करे। यदि स्वामियो को शारीरिक और क्षुद्र काम स्वय करना पडे तो उनकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति कभी नही हो सकती। राज्य की उन्नति के नियमो का निर्धारण और संचालन तथा सस्कृति के निर्माण के लिए स्वामियो को पर्याप्त समय चाहिए। दास उनके खेतो मे कार्य कर और उनके अन्य घरेलू कार्यो को निपटा कर उनके कार्य के बोझ को हल्का करते हैं तथा उनके विकास और उन्नति के लिए आवश्यक समय और विश्राम प्रदान करते हैं। वास्तव मे जिस प्रकार एक सगीतज्ञ सगीत-यन्त्रो के अभाव मे उत्तम सगीत की निष्पत्ति नही कर सकता, उसी प्रकार एक गृहस्थ अर्थात् स्वामी—दासो के बिना सुखी एव सुसस्कृत जीवनयापन नही कर सकता। अत स्वामी के दृष्टिकोण से दास-प्रथा उचित है।

स्वामी के साथ-साथ दास के दृष्टिकोण से भी यह प्रथा उतनी ही उपयोगी है। दास निर्बुद्धि और अयोग्य होते है जिनमे समझ और विवेक का अभाव होता है। वे सयम और ज्ञान से परिचित नही होते अत उनका कल्याण तभी सभव है जब वे योग्य तथा सयमी एवं विवेकपूर्ण स्वामियो के सरक्षण में रहे। अरस्तू के मत मे दास की स्थिति एक बच्चे के समान है। यदि माता-पिता बच्चे पर ध्यान न दें तो उसका समुचित विकास नही हो सकता। उचित निर्देशन के अभाव मे बच्चा अधिक या अभक्ष्य (न खाने योग्य) भक्षण से या अनुचित कार्यो से अपने को हानि पहुँचा सकता है। ठीक उसी प्रकार

1 *Doyle* History of Political Thought, p. 39-40

दास भी अविवेकशील प्राणी होने के कारण अपना अहित कर सकता है अत- यह उचित और आवश्यक है कि दास स्वामी के संरक्षण मे रहते हुए उससे प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाता रहे । इस प्रसग में अरस्तू पालतू जानवरो का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है । उसका कथन है कि मानवीय अनुशासन मे रहने के कारण ही वन्य पशु भी अनेक अच्छी बाते सीख जाते हैं और यही बात दासो पर भी लागू होती है ।

इस तरह अरस्तू के अनुसार दास के बिना स्वामी और स्वामी के बिना दास निरुपाय, असहाय तथा संत्रस्त रहेगे इसलिए दास-प्रथा अनिवार्य है । शारीरिक पृथकत्व (Physical Separation) होने पर भी दास स्वामी के शरीर का एक अंग या जीवांश है ।[1]

3. अरस्तू नैतिक दृष्टि से भी दास-प्रथा को आवश्यक मानता है । उसका मत है कि स्वामी तथा दासो के नैतिक स्तर में पर्याप्त मात्रा म भेद होता है । स्वामी गुणी और दास गुणहीन होते हैं । अत स्वामी का कर्त्तव्य है कि वह दासो के प्रति स्नेहपूर्ण और दयालु रहे तथा दास का काम है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे । दासो मे गुणों की सृष्टि होना तभी स्वाभाविक है जबकि स्वामी और दास दोनो का सम्पर्क हो एव स्वामी दास का सम्बन्ध हो । प्रकृति ने दास में सयम के सच्चे गुण (True Virtue of Temperance) का अस्तित्व कभी नहीं हो सकता अर्थात् उसमे इतनी क्षमता नहीं होती कि वह अपने विवेक से अपनी वासनाओ या क्षुधाओं को शासित कर सके । परन्तु वह एक सयमी स्वामी के अधीन रह कर उसके आदेशो का पालन करते हुए एक प्रकार का सयम (Derivative Temperance) प्राप्त कर सकता है । उसके सामने मानव-गुणो के पूर्ण और निम्नतर रूपो के बीच चयन या छाँट का प्रश्न नहीं है अपितु उसके सामने तो गुणो के निम्नतर रूप अथवा उसके अभाव मे चयन या छाँट का प्रश्न है ।

दासता के प्रकार —

अरस्तू दास-प्रथा पर विचार करते हुए दासता के दो प्रकार बताता है—

1 स्वाभाविक-दासता (Legal Slavery)
2 वैधानिक दासता (Natural Slavery)

जो व्यक्ति जन्म से ही मन्दबुद्धि, अकुशल एवं अयोग्य होते है । वे स्वाभाविक दास (Legal Slavery) होते है । किसी भी राज्य मे इस प्रकार की दासता स्वाभाविक दासता है । इसके अतिरिक्त युद्ध मे अन्य राज्य को पराजित कर लाए हुए वन्दी भी दास बनाए जा सकते हैं । युद्ध-वन्दियो की इस प्रकार की दासता वैधानिक दासता कहलाती है किन्तु इस प्रकार की दासता को अरस्तू यूनान निवासियो पर लागू नहीं करता । उसके अनुसार यूनान निवासी युद्ध मे पराजित हो जाने के बाद भी दास नहीं बनाए जा सकते क्योंकि प्रकृति ने उन्हे दास नहीं बल्कि स्वामी बनने के लिए पैदा किया है । तर्कशास्त्र के पण्डित अरस्तू का यह तर्क रूढिवाद से टकरा कर यहाँ देश-काल की परिस्थिति के बाहर कुतर्क सा लगता है । अरस्तू ने सैद्धान्तिक रूप से वैधानिक दासता को अमान्य ठहराया है । वह विजित देशो को बलपूर्वक सामूहिक दास बनाने के विधि-सम्मत अधिकार का इस आधार पर विरोध करता है कि युद्ध मे ऐसे व्यक्ति भी पकड़े जा सकते हैं जो नैतिक और बौद्धिक गुणो की दृष्टि से उत्कृष्ट हों । ऐसे व्यक्ति दास नहीं बनाए जाने चाहिए फिर कई बार युद्ध अन्यायपूर्ण कारणो से भी आरम्भ किए जाते हैं अतः ऐसे युद्ध मे वन्दियो को दास बनाना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता ।

दास-प्रथा के बारे में अरस्तू की मानवीय व्यवस्था

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दास-प्रथा का पक्ष पोषक होने पर भी अरस्तू इस सम्बन्ध मे कुछ ऐसी मानवीय व्यवस्थाएँ करता है जिनके कारण दास-प्रथा द्वारा होने वाले अन्यायो और दोषो का कुछ अशो तक प्रतिकार हो जाता है—

1 "A Slave is animated part of master's body though physically separate."

(क) अरस्तू की पहली व्यवस्था यह है कि स्वामी और दास के हित समान है और दास-प्रथा का उद्देश्य दोनों का ही हित साधन है अतः स्वामियों को अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करते हुए दासों के प्रति स्नेह एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखना चाहिए। अरस्तू क्रूर दास-प्रथा का समर्थक नहीं है। वह दास और स्वामी के सम्बन्ध को माधुर्यपूर्ण और सहयोगियों के रूप में देखना चाहता है। उसके अनुसार स्वामी का कर्तव्य है कि दास की भौतिक और शारीरिक सुविधाओं का ध्यान रखें।

(ख) अरस्तू दासों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में नहीं है। वह उनकी संख्या आवश्यकतानुसार सीमित करना चाहता है।

(ग) अरस्तू की तीसरी व्यवस्था उसकी यह धारणा है कि दासता प्राकृतिक गुणों के कारण होती है उसका कोई कानूनी पक्ष नहीं है अतः इसे वंश-परम्परागत होने का रूप नहीं दिया जाना चाहिए। दास की सन्तान सदैव ही दास नहीं होती। यदि उसमें विवेक शक्ति है तो वह दास नहीं है। दास की योग्य और बुद्धिमान् सन्तान को मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

(घ) अरस्तू का मत है कि समस्त दासों को अपने सम्मुख स्वतन्त्रता-प्राप्ति का अन्तिम ध्येय रखना चाहिए।

अरस्तू की दास-प्रथा की धारणा की आलोचना
(Criticism of Aristotle's Conception of Slavery)

अरस्तू ने दास-प्रथा सम्बन्धी जो विचार प्रकट किए हैं, उनका समर्थन करना बड़ा अप्राकृतिक और अनुचित-सा लगता है। दास-प्रथा को आवश्यक मानना, समानता और स्वतन्त्रता के वर्तमान मौलिक अधिकारों के प्रतिकूल अनुभव होता है। मानवता के आधार पर किसी भी रूप में दास-व्यवस्था समर्थनीय नहीं है। फिर, अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता का सिद्धान्त स्वयं अनेक त्रुटियों से भरा है। अरस्तू की दास-प्रथा सम्बन्धी समग्र धारणा की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है—

(1) अरस्तू की दासता की परिभाषा के अनुसार कुछ व्यक्ति आज्ञा देने के लिए तथा कुछ आज्ञा मानने के लिए पैदा होते हैं। कुछ शासन करने के लिए जन्म लेते हैं तो कुछ शासित होने के लिए। ये शासित और आज्ञा-पालक व्यक्ति अरस्तू के मत में दास हैं। यदि इस धारणा को स्वीकार कर लिया जाए तो आज के औद्योगिक युग में अधिकांश व्यक्ति दास की स्थिति में आ जाएँगे जबकि वास्तव में ऐसा है नहीं।

(2) दास-प्रथा प्राकृतिक नहीं है। मनुष्य में विभिन्नता तथा बुद्धि की कुशाग्रता में अन्तर होते हुए भी, एक प्राकृतिक समानता होती है जिसकी अवहेलना करना मानव-व्यक्तित्व का अपमान करना है। 'पॉलिटिक्स' में दास-प्रथा के वर्णन को देख कर मैक्सी (Maxey) ने ठीक ही कहा है कि इस पुस्तक को भी अवैध घोषित कर दिया जाना चाहिए।[1]

(3) अरस्तू के मत में दास वर्ग को शारीरिक शक्ति अधिक प्राप्त होती है लेकिन इसके साथ ही उसने यह भी सम्भव माना है कि कभी-कभी यह शारीरिक शक्ति भी नहीं होती है।

(4) रॉस (Ross) के अनुसार अरस्तू का मानव-जाति को विवेक और गुणों तथा शासक और शासित के आधार पर दो वर्गों में विभाजित करने के विचार का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह वर्गीकरण सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। शासित व्यक्ति वस्तुतः बुद्धि-शून्य नहीं होते। आज्ञा-पालन करने वाले मूर्ख नहीं कहलाए जा सकते। फिर अरस्तू स्वयं यह स्वीकार करता है कि दासों में स्वामी के आदेश को समझने और पालन करने की बुद्धि होनी चाहिए। साथ ही वह यह भी कहता है कि दासों के साथ दासों जैसा नहीं अपितु मनुष्य की तरह मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए।

1 "For his subversive hereby the Politics of Aristotle, probably deserves to be placed among forbidden books" —*Maxey*

जब अरस्तू दास को मनुष्य मानता है तो उसे सभी दृष्टियो से मनुष्य ही मानना चाहिए। बार्कर ने ठीक ही लिखा है—"यदि दास को किसी दृष्टि से भी मनुष्य समझा जाता है तो उसे सभी दृष्टियों से मानव मानना होगा और यदि उसे मनुष्य मान लिया जाए तो, यह उसे पूर्णरूपेण बुद्धि-शून्य दास मानने की उस धारणा का खण्डन करना होगा जिसके आधार पर अरस्तू ने उसके दास बनाए रखने को न्यायोचित ठहराया है।"

(5) अरस्तू चाहता है कि दास अपने व्यक्तित्व को स्वामी के व्यक्तित्व में लीन कर दे किन्तु मनोवैज्ञानिक आधार पर यह सर्वथा असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी कुछ अनुभूतियां होती है कुछ इच्छाएँ और भावनाएँ होती है, तब भला दास द्वारा अपने व्यक्तित्व का स्वामी के व्यक्तित्व मे सम्पूर्ण विलय किस प्रकार किया जा सकता है। किन्ही विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत वह अपना शारीरिक समर्पण भले ही करदे लेकिन मानसिक स्तर से वह किसी के समक्ष अपना समर्पण नही कर सकता।

(6) अरस्तू यह सिद्ध करने मे सर्वथा असफल रहा है कि स्वामित्व प्राप्त करने का अधिकारी कौन है और दासता का कौन? जब तक यह स्पष्ट न हो जाए कि दासता तथा स्वामित्व के तत्त्व किस मे है और किस मे नही, तब तक स्वामी और दास का निर्णय नही किया जा सकता। पुन. यह भी स्पष्ट नही है कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कौन योग्य है और कौन अयोग्य? यदि 'योग्य का अयोग्य पर शासन' का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए तो यह निर्णय करना प्राय असम्भव होगा कि कौन किस पर शासन करे, क्योकि योग्यता और बुद्धिमत्ता की दृष्टि से सभी में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है। प्रत्येक व्यक्ति योग्यता से किसी से कम तथा किसी अन्य से अधिक होगा।

(7) अरस्तू एक ओर तो दासता को प्राकृतिक बताता है और दूसरी ओर कहता है कि दासता से मुक्ति भी मिल सकती है। अरस्तू के ये परस्पर विरोधी विचार हैं। वह यह बताने का कष्ट भी नही करता कि जब किसी को प्रकृति द्वारा ही दास बनाकर इस ससार में पैदा किया गया है तो उसकी दासता से मुक्ति कैसे हो सकती है।

(8) दास-प्रथा के समर्थन द्वारा अरस्तू समानता और स्वतन्त्रता के मानवीय सिद्धान्तो पर भीषण आघात करता है। उसका यह विचार अन्यायपूर्ण है कि व्यक्ति राज्य की प्राथमिक और भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं उन्ही को राज्य द्वारा प्रदत्त अन्य सुविधाओ से वचित कर दिया जाए। अरस्तू दासो की उत्पत्ति स्वाभाविक बतलाकर समाज मे दो विरोधी दल बना देता है जो अशान्ति करने मे बहुत हद तक सहायक होते है।

(9) अरस्तू के दास-प्रथा सम्बन्धी विचार अवैज्ञानिक है। वह मनुष्यो पर पशुओ के उदाहरण ढालता है। कोई भी प्रथा जो मनुष्य को पशु-तुल्य समझते हुए उसका मोल-तोल करने की अनुमति देती हो, कभी भी वैज्ञानिक नही हो सकती। दासो का जीवन पशु-तुल्य बताते हुए स्वामी के साथ पारस्परिक दायित्व का निरूपण भी अपने आप मे विरोधाभास है।

उपरोक्त सभी तथ्यो के आधार पर अरस्तू की दास-प्रथा सम्बन्धी धारणा कटुतम आलोचना की पात्र है और अन्याय है। इससे प्रकट होता है कि उस जैसा महान् दार्शनिक भी अपनी समकालीन सस्थाओ और उन्हें तर्क-सगत सिद्धान्त करने वाले पूर्वाग्रहो से ग्रस्त था।[1] अरस्तू के पक्ष मे केवल यही कहा जा सकता है कि दासो को तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक मानते हुए भी उसने इस प्रथा मे सुधार करने के बहुत प्रयत्न किए। उसने परम्परागत दास-प्रथा का विरोध किया और केवल उन्ही व्यक्तियो को दास बनाने के योग्य माना जो प्रकृति द्वारा इस योग्य हो। उन्हे दासता से छुटकारा पाने के लिए भी सैद्धान्तिक स्पष्टता का परिचय दिया। क्रूर दास-प्रथा का विरोध करके उसने नैतिकता का ध्यान रखा, चाहे इस नैतिकता और मानवीयता का अनुपात कितना ही क्यो न हो।

1 *Ebenstein*: Great Political Thinkers, p. 73.

(Aristotle's Views on Property)

अरस्तू ने सम्पत्ति की परिभाषा करते हुए उसे राज्य के पृथक् प्रयोग मे लाए जाने वाले साधनो का सामूहिक नाम बताया है। बिना सम्पत्ति के कोई भी परिवार अपने जीवन को व्यवस्थित तथा आनन्दपूर्वक व्यतीत नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे साध्य और सुसस्कृत परिवार की कल्पना भी नही की जा सकती। सम्पत्ति सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अग है जिसके बिना दैनिक-जीवन सम्भव नही है। मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार की भाँति सम्पत्ति की आवश्यकता भी स्वाभाविक है। सम्पत्ति, जो परिवार का आवश्यक अग है, उसका स्वामित्व जरूरी है। सम्पत्ति और परिवार मानव को प्रकृति-दत्त हैं। मनुष्य को क्षुधा शान्त करने को भोजन चाहिए, निवास के लिए मकान एव प्रकृति द्वारा अवस्थित सर्दी-गर्मी से बचने के लिए वस्त्र। ये सब सम्पत्ति के ही भाग है। अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद की कटु आलोचना की है। उसका मत है कि प्लेटो ने सम्पत्ति के महत्त्व और गुणो की अवहेलना की है तथा उसने मानव-प्रकृति का सही अध्ययन नही किया है।

अरस्तू ने सम्पत्ति को दो भागो मे विभक्त किया है—

1 निर्जीव (Inanimate)—इस सम्पत्ति मे धन, मकान, खेत, खलिहान आदि आवश्यक जड वस्तुओं का सग्रह है।

2. सजीव (Animate)—इस सम्पत्ति मे दास, सेवक आदि आते हैं। उपरोक्त दोनो प्रकार की सम्पत्ति परिवार के लिए उपयोगी है।

अरस्तू ने सम्पत्ति, परिवार तथा सविधान सम्बन्धी सभी क्षेत्रो मे उग्र मार्ग न अपनाते हुए मध्य-मार्ग अपनाया है। एक ओर सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है, तो दूसरी ओर वह अत्यधिक सम्पत्ति-सचय का भी समर्थन नही करता। अरस्तू सम्पत्ति को कुछ सीमाओं के अन्तर्गत रखना चाहता है। सम्पत्ति साधन है, व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी करता है अतः उसका उत्पादन उसी सीमित मात्रा तक होना चाहिए जहाँ तक हमारी आवश्यकताएं पूरी हो सकें। ई एम. फोस्टर के शब्दो मे, "अपना कार्य करने के लिए हथौडा भारी होना चाहिए, परन्तु हथौडा बनाने वाला उस हथौडे को अधिक से अधिक भारी बनाने का इच्छुक नही होगा। जिस कार्य के लिए हथौडे मे भार की आवश्यकता होती है, वही कार्य उस भार को सीमित कर देता है। एक लुहार उस सीमा का पालन करेगा।"[1] अरस्तू का कहना है कि सम्पत्ति का महत्त्व उसके उद्देश्य द्वारा निश्चित किया जाता है। अत उसका सग्रह उतना ही होना चाहिए जितना एक श्रेष्ठ जीवन के लिए अपेक्षित हो। सम्पत्ति के पीछे पागलो की भाँति भागना किसी भी समाज के पतन का कारण हो सकता है। सम्पत्ति एक साध्य नही, साधन है अतः साधन का उपभोग साध्य को ध्यान मे रख कर उसी के अनुरूप होना चाहिए।

अरस्तू सम्पत्ति के लिए दो विशेषताएँ बताता है—

(1) समाज मे उसकी प्रतिष्ठा स्थापित हो अर्थात् नागरिको की दृष्टि मे वह स्वीकृति प्राप्त कर चुकी हो।

(2) राज्य की ओर से सम्पत्ति के सरक्षण की उचित व्यवस्था हो।

उपरोक्त दोनो बाते सम्पत्ति के मेरुदण्ड है। अरस्तू उस सम्पत्ति को व्यक्तिगत कदापि नही मानता जिस पर केवल व्यक्ति का अधिकार हो। सामाजिक नियन्त्रण यद्यपि उस पर न रहे किन्तु समाज द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी गई हो कि कोई भी नागरिक अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग अपने व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित के लिए कर सके।

1 *Foster* op cit, p. 143

सम्पत्ति का उपार्जन (Acquisition of Property)

सम्पत्ति जीवन के नैतिक मूल्यो की प्राप्ति के लिए है अत. उसकी प्राप्ति भी नैतिक तथा उचित उपायो द्वारा की जानी चाहिए। उसके अनुसार सम्पत्ति के उत्पादक के दो ढग हैं—

(1) मानवीय एवं प्राकृतिक ढंग—इस प्रकार के सम्पत्ति-उपार्जन मे प्रकृति की सहायता लेकर मनुष्य अपने परिश्रम द्वारा अग्रसर होता है। भूमि मे अनाज पैदा करके अथवा पशु चराकर मनुष्य इस सम्पत्ति का उपार्जन करता है। कृषि के अन्तर्गत सभी खाद्य फसले और अन्न या औद्योगिक फसले आती हैं। सम्पत्ति का यह उत्पादन जीवन के साथ-साथ होता है और भौतिक जगत् मे जो भी वस्तुएँ हम देखते हैं ये सब इसी श्रेणी मे आती है। मनुष्य के जीवन मे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह प्राचीनकाल से ही उस सम्पत्ति का उत्पादन करता चला आ रहा है।

(2) दानवीय अथवा अप्राकृतिक ढंग—इस उपार्जन मे प्रकृति का कोई हाथ नही होता पर लोभ के लालच मे मनुष्य की सहायता से प्राप्त किया जाता है। ऋण देकर ब्याज कमाना, व्यापार मे लाभ कमाना आदि ऐसे रूप है जो सम्पत्ति-अर्जन के दानवीय रूप के उदाहरण हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति से उत्पादन मे मनुष्य अपनी मानवीयता का परित्याग करके दानवीय रूप ग्रहण कर सकता है। यहाँ पर उसके समक्ष धर्म की भावना विद्यमान नही रहती। जब लक्ष्य केवल धन कमाना और अपरिमित सम्पत्ति का संग्रह करना हो तो यह नितान्त अप्राकृतिक एवं निन्दनीय हो जाता है। अरस्तू सूदखोर को हेय दृष्टि से देखता है, क्योकि इसमे धन द्वारा दूसरो की विवशता, दरिद्रता और दुर्बलता का लाभ उठाकर अधिक धन पैदा किया जाता है। अरस्तू के ही शब्दों में—"वित्तोपार्जन का सबसे अधिक घृणित उपाय सूद लेना है और इसका निष्कृट होना नितान्त युक्तिसगत् है क्योकि इस पद्धति मे मुद्रा का उपयोग करने वाली विनिमय पद्धति से लाभ कमाने की अपेक्षा स्वयं मुद्रा से ही लाभ कमाया जाता है। मुद्रा का प्रचलन विनिमय के साधन के रूप में हुआ था, न कि सूद खाकर धन बढ़ाने के लिए।.......अतएव धन कमाने के उपायो में सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।"[1] अरस्तू के अनुसार अत्यधिक सम्पत्ति किसी भी दशा मे मानव हितकारी नही बन सकती।

सम्पत्ति का विनिमय (Exchange of Property)

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति के विनिमय के दो रूप हैं—नैतिक (Moral Exchange) और अनैतिक (Immoral Exchange)। सम्पत्ति का विनिमय न्याय सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर ही होना चाहिए। न्याय-सिद्धान्त यह है कि सम्पत्ति के विनिमय से अधिकाधिक मनुष्यो को लाभ हो। अरस्तू का आग्रह है कि न केवल सम्पत्ति के उपार्जन मे ही वरन् उसके विनिमय मे भी सदैव नैतिकता का ध्यान रहना चाहिए और वस्तुओ के आदान-प्रदान का आधार समान मूल्य होना चाहिए। एक वस्तु का उतना ही मूल्य होना चाहिए जितना एक व्यक्ति अपनी वस्तु का मूल्य दूसरे से प्राप्त करता है। किसी की विशेषताओं से अनुचित लाभ उठाकर विनिमय करना नितान्त हेय है। इस प्रकार के विनिमय के परिणामस्वरूप समाज में एक बिचवनिया वर्ग पैदा हो जाता है। यह वर्ग लोगो की अतिरिक्त वस्तुओ के क्रय-विक्रय से अच्छा लाभ कमा लेता है। इस तरह समाज मे व्यापार का विनिमय इने-गिने लोगों के हाथ का क्रीडा-कन्दुक बन जाता है। ऐसा विनिमय अनैतिक है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अनैतिक विनिमय पर कठोर नियन्त्रण रखे। राज्य की सत्ता शुभ जीवन के लिए है, "विनिमय मे सुविधा पदान करने तथा आर्थिक सम्पर्क मे वृद्धि करने के लिए नही।"[2]

सम्पत्ति का वितरण

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति-विभाजन के अग्राङ्कित तीन प्रकार हैं—

1 *Barker* The Politics of Aristotle, p 28–29
2 "It is not the end of the State to ease exchange and promote economic intercourse."
Aristotle : Politics, p. 118.

1. सार्वजनिक अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
   (Common ownership & Common use)
2. सार्वजनिक अधिकार और व्यक्तिगत प्रयोग
   (Common ownership & Individual use)
3. व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
   (Individual ownership & Common use)

दूसरी प्रकार के विभाजन को तो कोई भी विचारक स्वीकार नहीं करेगा इसीलिए अरस्तू ने पहले और तीसरे प्रकार के विभाजनों की परीक्षा की है और पहले का खण्डन करके तीसरे प्रकार के विभाजन का समर्थन किया है। अरस्तू ने प्रथम प्रकार का खण्डन यह कह कर किया है कि जो सम्पत्ति सभी की है, वह किसी की भी नहीं है, क्योंकि जिस सम्पत्ति के सभी स्वामी होते हैं उसकी ओर सभी लापरवाही करते हैं, और जिस कार्य में मनुष्य अपना हित देखता है, वह काम अधिक उत्साह, तत्परता तथा कुशलता से किया जाता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्वामित्व में झगड़े तथा संघर्ष उत्पन्न होने की बड़ी आशंका रहती है।

अरस्तू ने सम्पत्ति के तीसरे विभाजन को व्यावहारिक तथा लाभदायक बताते हुए कहा कि "व्यक्तिगत स्वामित्व से सम्पत्ति का उत्पादन बढ़ेगा। उससे उदारता, दानशीलता तथा आतिथ्य सत्कार जैसे सद्गुणों का अभ्युदय होगा।" अरस्तू मनुष्य की नैतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी निजी सम्पत्ति का होना अनिवार्य मानता है। वह कहता है कि जिस नागरिक के पास कुछ भी निजी सम्पत्ति नहीं है और जो राज्य को कुछ भी दे नहीं सकता, उसके लिए एक सम्पूर्ण नागरिक जीवन व्यतीत करना असम्भव ही नहीं है वरन् वह उससे वंचित ही रहता है। उसके अनुसार निजी सम्पत्ति वह दर्पण है जिसमें व्यक्ति अपना स्वयं का प्रतिबिम्ब देखता है। इस प्रकार अरस्तू सम्पत्ति के व्यक्तिगत आधिपत्य के सिद्धान्त का समर्थन करता है। साथ ही वह निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त द्वारा मनुष्य को अधिक से अधिक नैतिक बनाना चाहता है और सार्वजनिक कल्याण के लिए उसके सार्वजनिक उपभोग पर बल देता है। यह एक बात और भी है कि अरस्तू न केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही स्वीकृति देता है अपितु उसके वितरण में कुछ हद तक असमानता को भी आवश्यक मानता है क्योंकि उसके विचार में धन का असमान वितरण जनसेवा का अवसर प्रदान करता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह निजी सम्पत्ति को मर्यादित ही रखना चाहता है, इस भय से कि अत्यधिक असमानता से कहीं वर्ग-संघर्ष न उत्पन्न हो जाए।

अरस्तू का सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपयोग गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का स्मरण कराता है जिसमें एक व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी पूर्णत उसके उपभोग का अधिकारी नहीं होता। परन्तु व्यावहारिकता की कसौटी पर, प्लेटो के साम्यवाद का आलोचक यथार्थवादी अरस्तू यह भूल गया कि अनजाने हो वह आदर्श के मार्ग पर चल रहा है क्योंकि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और उसका सामूहिक उपभोग लगभग अव्यावहारिक है। अरस्तू के सम्पत्ति सिद्धान्त पर डनिंग की टिप्पणी है कि उसने उत्पादन और विनिमय के आरम्भिक विचारो को उचित ढग से प्रस्तुत किया है तथा सम्पत्ति के प्रयोग और विनिमय के महत्त्व के अन्तर को भी समझाने मे वह सफल हुआ है, वह पूंजी के महत्त्व का मूल्यांकन करने मे पूर्णत असफल हुआ है और इसीलिए सूद (Interest) के बारे मे उसके विचार अतिप्राचीन और असगत (Very primitive and absurd) है।[1]

अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Views on Family)

अरस्तू ने सम्पत्ति और परिवार को व्यक्तिगत विशेषताएँ माना है। उसने सम्पत्ति को

1 *Dunning* History of Political Theories, Ancient & Medieval, p 61

परिवार के लिए आवश्यक बताया है, अतः सम्पत्ति पर विवेचना करने के उपरान्त उसके परिवार सम्बन्धी विचारो की व्याख्या करना आवश्यक है।

अरस्तू के अनुसार परिवार सामाजिक जीवन का प्रथम सोपान है। यह वह आधारशिला है जिस पर सामाजिक जीवन का विशाल भवन स्थिर रहता है। यही से व्यक्ति का जीवन प्रारम्भ होता है। परिवार नागरिको की प्रथम पाठशाला है। परिवार मे बालक माता की गोद और पिता के सरक्षण मे पालित-पोषित होकर नागरिकता की प्रथम शिक्षा ग्रहण करता है और यही पर उसे जीवन-सग्राम से लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। परिवार में की गयी तैयारी ही उसकी भावी सफलता या विफलता का कारण बनती है। अपने जन्म के समय से ही व्यक्ति समाज के सूक्ष्म भाग परिवार का अग बन जाता है। वास्तव मे परिवार एक छोटा समाज है जहाँ मनुष्य के जीवन को शिक्षित होने का अवसर मिलता है। व्यक्तित्व का विकास परिवार रूपी समाज मे प्रस्फुटित होता है।

जहाँ प्लेटो परिवार को प्रगति के मार्ग मे एक व्यवधान, एक बाधा मानता है, वहाँ अरस्तू परिवार को उचित, आवश्यक और प्रेरणा का स्रोत समझता है। उसकी दृढ़ मान्यता है कि आत्मरक्षा, आत्माभिव्यक्ति और मनुष्य की यौन-भावनाओ की सन्तुष्टि के कारण परिवार सर्वथा स्वाभाविक और आवश्यक है। मनुष्य का स्नेह, ममता, वात्सल्य और प्रेम की गगा मे स्नान करना परिवार में रहकर ही सम्भव है, अन्यत्र नही। विकास और प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करने वाली सबसे पहली सस्था इस परिवार का जन्म, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अन्य भावनाओ की सन्तुष्टि के लिए हुआ है।

अरस्तू के अनुसार एक त्रिकोणात्मक सम्बन्धो का स्वरूप है। "पति और पत्नी, स्वामी और दास तथा माता-पिता और सन्तान-इन तीन सम्बन्धों के परस्पर नियमानुसार व्यवहार का नाम ही परिवार है।" परिवार के वृहत्तर रूपको ही हम राज्य कह सकते हैक्योकि राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसमे अनेक परिवार होते है। मनुष्य की राजनीतिक यात्रा मे परिवार पहली सीढ़ी है। परिवारो से मिलकर ग्राम और ग्रामो से मिलकर नगर राज्य बनता है। परिवार अथवा राज्य के अभाव मे न व्यक्ति का विकास ही सम्भव है और न उसकी कोई सत्ता ही है। परिवार की सदस्यता नैसर्गिक है। व्यक्ति जन्म से ही परिवार का सदस्य हो जाता है अतः इसकी सदस्यता के लिए विचार करने का प्रश्न ही नही उठता।

अरस्तू के अनुसार परिवार का स्वरूप पैतृक है और परिवार के समस्त सदस्यो का कार्य अलग-अलग होता है। पुरुष परिवार का सचालक और शासक है। वह स्त्री की अपेक्षा अधिक गुणवान और समर्थ होने के कारण परिवार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। दास निर्बुद्धि और विवेकशून्य होता है अत उस पर स्वामी का शासन आवश्यक है। सतान अनुभवहीन होने के कारण मार्ग से भटक सकती है या अपना अहित कर सकती है, अत उस पर पिता का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार परिवार का वयोवृद्ध पुरुष ही परिवार का मुखिया होना चाहिए।

अरस्तू का कहना है कि परिवार के सदस्यो मे परस्पर पूर्णतः मित्रता का वातावरण होना चाहिए। परिवार 'एक जीवनपर्यन्त मित्रता' का नाम है। मुखिया के पूर्ण अनुशासन और नियन्त्रण के साथ ही परिवार का वातावरण मधुरता और स्नेह से परिपूर्ण रहना चाहिए। परिवार के सदस्य पारस्परिक सहयोग द्वारा अपनी नैतिक और भौतिक आवश्यकताओ की सरलता से पूर्ति कर सकते है। परिवार के किसी भी सदस्य को उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा जाना चाहिए। अरस्तू का कहना है कि कभी-कभी परिवार का आवश्यकता से अधिक मोह उसको मार्ग से विचलित कर देता है अत राज्य का कर्त्तव्य है कि वह परिवार को नियन्त्रण मे रखने के लिए यदा-कदा नियम बनाता रहे।

इस तरह अरस्तू यहाँ भी 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करता है। एक ओर वह परिवार का दिल खोलकर समर्थन करता है और दूसरी ओर परिवार को पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्रदान नही करना चाहता। वह चाहता है कि जनसख्या की वृद्धि को रोकने के लिए राज्य को सभी सम्भव उपाय करने चाहिए।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना
(Aristotle's Criticism of Plato's Communism of Property & Family)

प्लेटो ने अपने आदर्श-राज्य मे अभिभावक-वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन किया है, जिसके अनुसार उन्हे पथ-विमुख करने वाले दोनो आकर्षण-सम्पत्ति और परिवारो का सामूहीकरण होना आवश्यक है। किन्तु अरस्तू प्लेटो की धारणा का खण्डन करते हुए उसे व्यावहारिक बौद्धिकता, सामाजिकता और मानव-स्वभाव की कसौटी पर खरा उतरने वाला नही मानता।

सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना (Criticism of Communism of Property)

अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आर्थिक और नैतिक आधार पर आलोचना की है। उसके प्रमुख तर्क इस प्रकार है—

(1) प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद में उत्पादन और वितरण एक ही अनुपात मे रहे है। कठोर श्रम के द्वारा अधिक उत्पादन करने वालो को भी उतना ही प्राप्त करने की व्यवस्था है जितना कम श्रम करने वाले को है परन्तु यह अनुचित है। इस व्यवस्था से समाज मे सघर्ष और कलह की उत्पत्ति होने का डर है क्योकि अधिक और कठोर श्रम करने वाले व्यक्ति के समान ही फल प्राप्त करने के कारण असतुष्ट रहेगे।

(2) सामूहिक उपभोग एव सामूहिक उत्पादन के साथ-साथ सामूहिक सम्पत्ति से विभिन्न नवीन समस्याओ को जन्म मिलेगा और अनेक झगडे होगे। अरस्तू के शब्दो मे, "मनुष्यो के साथ रहने और सब प्रकार के मानवीय सम्बन्धो को परस्पर समान रूप से बरतने मे सदा ही कठिनाइयाँ आती है पर ये विशेष-रूप से तब आती हैं जब सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होता है।"[1]

(3) मनुष्य तभी अधिक परिश्रम, क्षमता और रुचि के साथ कार्य करता है जब उसे व्यक्तिगत लाभ की प्राप्ति की सभावना होती है। सामूहिक लाभ की दृष्टि के किए जाने वाले कार्यो मे सामान्यत व्यक्ति को कोई दिलचस्पी नही होती और न ही वह इसके लिए सच्चे दिल से परिश्रम करना चाहता है।

(4) प्लेटो ने सम्पत्ति के गुणो की अवहेलना की है। सम्पत्ति तो एक प्रेरणा-शक्ति और स्वाभाविक आवश्यकता है जिसके बिना स्वस्थ और सुखी जीवन सभव नही है। मनुष्यो की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सम्पत्ति एक आवश्यक साधन है।

(5) व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य को आत्म-सम्मान का आनन्द प्रदान करती है। वह उसके व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है।

(6) समाज मे कलह और सघर्ष वास्तव मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण जन्म नही लेते अपितु मानवीय प्रकृति की दुष्टता के कारण ही वे उत्पन्न होते है। यदि शिक्षा द्वारा मानवीय प्रकृति को सुधार दिया जाए तो ये झगडे पैदा नही होगे।

(7) ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्लेटो की सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था गलत है। इतिहास मे ऐसी व्यवस्था का कोई प्रमाण नही मिलता है। यदि यह कोई श्रेष्ठ व्यवस्था होती तो विभिन्न देशो मे इसे अपनाया जाता। अश्रेष्ठ और मानव प्रकृति के एकदम प्रतिकूल होने के कारण हजारो वर्षो के इतिहास मे इसे किसी ने नही अपनाया। अरस्तू का मत है कि जिस व्यवस्था को समाज ठुकराता है, वह आवश्यक रूप से दोषपूर्ण होगी।

(8) अरस्तू के मतानुसार जिन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन किया गया है, इसके द्वारा उन उद्देश्यो की प्राप्ति नही हो सकती। ईर्ष्या, द्वेष, सघर्ष, लोभ, शोषण

1 "There is always difficulty in men living together and having things in common, but specially in their having common property" —*Aristotle*

आदि की भावनाएँ मानसिक रोग है। सम्पत्ति का साम्यवाद इनका उपचार नही है। इनका उपचार तो मानसिक होना चाहिए।

(9) यदि सम्पत्ति का साम्यवाद श्रेष्ठ व्यवस्था है तो इसे सैनिक और शासक वर्ग तक ही सीमित क्यो रखा गया है। इसे उत्पादक वर्ग पर भी लागू किया जाना चाहिए।

(10) प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद समाज को दो भागो में बाँट देता है। एक भाग मे सरक्षक और सैनिक होगे तो दूसरे भाग मे कृषक, शिल्पी और साधारण नागरिक। इस प्रकार के विभाजन से समाज मे एकता के स्थान पर विपरीत ज्ञान उत्पन्न होगा। अरस्तू के शब्दो मे, "एक राज्य मे आवश्यक रूप से दो राज्य बन जाएँगे और ये दोनो परस्पर विरोधी होगे।"

परिवार के साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू ने प्लेटो के परिवार सम्बन्धी विचारो की तीव्र आलोचना मे ये तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(1) व्यक्तित्व और परिवार को कुचल कर न एकता की स्थापना की जा सकती है और न यह उचित ही है। परिवार के अस्तित्व के शव पर राज्य मे निरपेक्ष एकता स्थापित करने की कामना केवल कल्पना है और वह भी ऐसी कल्पना जिससे राज्य के अस्तित्व को ही खतरा पहुँचता है क्योकि राज्य सब समुदायो का एक समुदाय है और समुदाय के रूप मे राज्य की इकाई परिवार है।

(2) स्त्रियो के साम्यवाद से समाज नैतिक पतन की ओर अग्रसर होगा। इस साम्यवादी व्यवस्था मे एक स्त्री एक समय मे एक पुरुष के और दूसरे समय मे दूसरे पुरुष के साथ सहवास कर सकती है। इस तरह कोई पुरुष एक समय मे एक स्त्री का तो दूसरे समय मे दूसरी स्त्री का पति हो सकता है। साथ ही यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे पिता-पुत्री, माता-पुत्र और भाई-बहन एक-दूसरे के साथ सहवास कर सकेंगे। इससे यौन क्षेत्र मे अराजकता उत्पन्न हो जाएगी और समाज से पवित्रता एव नैतिकता का नाम ऊँचा उठ जाएगा।

(3) कंचन और कामिनी तो सभी के लिए आकर्षण और लोभ की वस्तुएँ है। इन पर सामूहिक स्वामित्व समाज मे घृणा और द्वेष फैलाएगा। एक सुन्दर स्त्री प्राप्त करने की कामना अनेक पुरुष करेगे तो स्वाभाविक रूप से उनमे सघर्ष उत्पन्न हो जाएगा।

(4) परिवार नैतिक गुणो की पाठशाला है जिसमे रह कर व्यक्ति, उदारता, नि स्वार्थता, परोपकार और सयम आदि के सद्गुणो का विकास करता है। यह नागरिकता की प्रथम पाठशाला है अत ऐसी उपयोगी सस्था का विनाश करना प्रत्येक दृष्टि से अनुचित है।

(5) प्लेटो के अनुसार परिवार की साम्यवादी व्यवस्था से उत्पन्न बच्चे राज्य की सन्ताने होगी। सभी लोगो को बच्चो को अपना पुत्र समझना चाहिए, लेकिन वस्तु-स्थिति इससे भिन्न होगी। सबकी सन्तान किसी की भी सन्तान नही हो पाएगी। कोई भी व्यक्ति किसी भी बच्चे को अपना पुत्र नही समझेगा। बच्चे को वह स्नेह और ममतामय वातावरण नही मिलेगा जो व्यक्तिगत परिवार-व्यवस्था से मिलता है। वास्तव मे सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ है, किसी का भी उत्तरदायित्व न होना।

(6) अरस्तू यह कह कर भी प्लेटो की परिवार सम्बन्धी व्यवस्था की आलोचना करता है कि यदि यह व्यवस्था अच्छी है तो इसे केवल अभिभावक वर्ग पर ही क्यो लागू किया जाना चाहिए क्योकि इस वर्ग के लोगो की सख्या ही अधिकतम है।

(7) परिवार आत्माभिव्यक्ति और यौन सम्बन्ध के नियमानुसार सचालन के लिए एक अनुशासित सस्था है। यह एक भौतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता का परिणाम है अत व्यावहारिकता की दृष्टि से परिवार का साम्यवाद अनुचित है।

(8) प्लेटो समझता है कि जब सम्पूर्ण राज्य एक परिवार बन जाएगा तो मेरे-तेरे के सब झगडे मिटकर निवासियो मे एकता और प्रेम का प्रसार होगा। किन्तु अरस्तू इस विचार की खिल्ली उड़ाते हुए कहता है कि प्रेम का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है, उसकी गहराई और प्रगाढता की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है। इस तरह का प्रेम-प्रसार उस बालुई दीवार की तरह होगा जो कभी भी लड़खड़ा कर गिर सकती है।

(9) परिवार की कल्पना राज्य की कल्पना मे निहित है। परिवारो के सयोग से राज्य का निर्माण होता है, व्यक्तियो के मेल से नही।

(10) साम्यवादी व्यवस्था मे परस्पर सम्बन्ध न होने से चोरी, हत्या एव अन्य अपराधी को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। "उस समाज मे जिसमे अपने तथा अन्य व्यक्तियो के सभी प्राकृतिक और सामाजिक रिश्तो का ज्ञान है, ऐसे अपराध कम होते है। परन्तु उस समाज मे, जहाँ सम्बन्ध होगे ही नही, ऐसी घटनाएँ और अपराध बहुत अधिक हो जाएँगे।"

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था की अरस्तू ने जो आलोचना की है, उसका समर्थन मध्य युग मे लॉक आदि उदारवादियो ने भी किया था और वर्तमान मे भी किया जाता है। सम्पत्ति और परिवार सम्बन्धी प्लेटो की व्यवस्था मे आस्था न रखते हुए भी अरस्तू के इस कथन की सत्यता का प्रतिवाद नही किया जाना चाहिए कि सम्पत्ति और परिवार पर राज्य का आवश्यक नियन्त्रण होना चाहिए क्योकि अत्यधिक जनसख्या और अत्यधिक आर्थिक असमानता किसी भी राज्य के विनाश का कारण बन सकती है।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Citizenship)

अरस्तू ने अपनी कृति 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक मे राज्य एव नागरिकता सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं। उसने नागरिकता की परिभाषा देने का कोई विशेष प्रयत्न नही किया है। नागरिकता का प्रश्न तो राज्य की परिभाषा देने से स्वतः ही उठ खडा हुआ है। अरस्तू प्रश्न करता है कि—"राज्य क्या है ?" इसके उत्तर मे वह स्वय ही कहता है कि—"राज्य (Polies) बाह्य दृष्टि से नागरिको (Politai) का एक समुदाय (Koinonia) है।" राज्य नागरिको के मेल से बनता है। इसके बाद प्रश्न स्वत ही यह उठता है कि—"नागरिक कौन है" एव "नागरिकता से क्या तात्पर्य है"। अरस्तू ने इन प्रश्नो का उत्तर निश्चयात्मक रूप से नही दिया है, अपितु इन शब्दावलियो की व्याख्या निषेधात्मक रूप से की है। उसने सर्व-प्रथम यह बतलाया है कि कौन नागरिक नही हो सकते है। इस सम्बन्ध मे उसने नागरिकता की तत्कालीन प्रचलित मान्यताओ का खण्डन किया है। उसने किसी मनुष्य के राज्य मे निवास करते हुए भी नागरिक न होने की निम्नलिखित चार दशाएँ बतलाई है—

1 राज्य के किसी स्थान-विशेष मे निवास करने मात्र से नागरिकता नहीं मिल सकती, क्योकि स्त्री, बच्चे, दास और विदेशी जिस राज्य मे रहते हैं, उन्हे वहाँ का नागरिक नही माना जाता।

2 किसी पर अभियोग चलाने का अधिकार रखने वाले व्यक्ति को भी नागरिक नही माना जा सकता, क्योकि सन्धि द्वारा यह अधिकार विदेशियो को भी दिया जा सकता है।

3 उन व्यक्तियो को नागरिक नही माना जा सकता जिनके माता-पिता किसी दूसरे राज्य के नागरिक है क्योंकि ऐसा करने से हम नागरिकता-निर्धारण के किसी सिद्धान्त का निर्माण नही करते।

4 निष्कासित तथा मताधिकार से वंचित व्यक्ति भी राज्य के नागरिक नही हो सकते।

नागरिकता की परिभाषा

उपरोक्त निषेधात्मक व्याख्या के परिणामस्वरूप स्वाभाविक प्रश्न उठता है—नागरिक कौन है ? उसका उत्तर देते हुए अरस्तू कहता है—"नागरिक वही है जो न्याय-व्यवस्था एव व्यवस्थापिका के एक सदस्य के रूप मे भाग लेता है—दोनो मे या एक मे, क्योंकि ये दोनो ही प्रभुसत्ता के मुख्य

कार्य हैं।'[1] अरस्तू की इस परिभाषा से नागरिक और अनागरिक मे भेद स्पष्ट होता है। यह परिभाषा नागरिको की निम्नलिखित विशेषताओ की ओर इगित करती है—

1. नागरिक राज्य का क्रियाशील सदस्य होते हुए न्यायिक प्रशासन और सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेता है।

2. वह साधारण सभा का सदस्य होने के नाते विधायी-कार्यों मे भाग लेता है।

उपरोक्त एक अथवा दोनो कार्य करने वाला व्यक्ति ही नागरिक हो सकता है। अरस्तू के मत मे, नागरिक वह व्यक्ति है जो न्याय अथवा राज्य के विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यों मे भाग ले। न्याय क्षेत्र मे न्यायाधीश अथवा जूरर (Juror) के रूप मे कार्य करके एक व्यक्ति राज्य के न्यायिक कार्यो मे भाग लेता है। अरस्तू का युग 'नगर राज्य का युग' था। एथेन्स मे न्याय प्रशासन आधुनिक राज्यो मे पाई जाने वाली न्याय-प्रणाली से भिन्न था। वहाँ थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए न्यायाधीशों और जूररो को क्रमशः चुना जाता था एव प्रत्येक नागरिक को यह पद प्राप्त हो सकता था। उस समय राज्य के सभी नागरिक साधारण सभा के सदस्य होते थे और यह सभा वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य समवेत होकर राज्य के पदाधिकारियो का निर्वाचन करती तथा विधि-निर्माण सम्बन्धी अन्य कार्य करती थी। एथेन्स मे यह सर्वोच्च सत्ता होती थी और सभा के सदस्य के नाते प्रत्येक एथेन्स निवासी राजसत्ता या सर्वोच्च शक्ति मे भाग लेता था फिर भी, किसी नगर-राज्य मे सभी व्यक्ति न साधारण सभा के सदस्य होते थे और न ही वे न्याय प्रशासन मे भाग लेते थे। यूनान के किसी भी राज्य मे विदेशियो, दासो, स्त्रियो तथा बच्चो को नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं किए गए थे। यूनानी नागरिकता आधुनिक नागरिकता की अपेक्षा बहुत अधिक सकुचित थी। इसी दृष्टि से अरस्तू ने भी स्वाभाविक रूप से राज्य के सभी निवासियो को नागरिक स्वीकार नहीं किया।

अरस्तू ने श्रमिको और दासो को नागरिकता की परिधि से बाहर क्यो रखा इसका कारण उसके अनुसार यह है कि नागरिकता एक विशेष गुण है जिसके लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। नीति-निर्धारण और न्यायिक कार्यो मे भाग लेने के लिए एक ऊँचे नैतिक और बौद्धिक स्तर की आवश्यकता होती है। यह गुण प्रत्येक निवासी मे नही पाया जाता। स्त्रियो, बालको, दासो, मिस्त्रियो या श्रमिको के पास शासन करने और राजनीतिक कार्यो मे भाग लेने लायक नैतिक और बौद्धिक स्तर नही होता है। इसके अतिरिक्त यह योग्यता उन्ही व्यक्तियो के पास हो सकती है जिसके पास अवकाश (Leisure) हो। बेचारे दासो और श्रमिकों के पास अवकाश कहा? अरस्तू छुट्टी या आराम के क्षणो को अवकाश नही कहता। उसी के अनुसार, "जिन कार्यो को करने के लिए मनुष्य अपनी आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकताओ के कारण विवश है, उनके अतिरिक्त लगभग सभी क्रियाएँ अवकाश के अन्तर्गत आती हैं। शासन करने की राजनीतिक क्रिया, सार्वजनिक सेवा, युद्ध करना जिसमे साहस के गुण का प्रस्फुटन होता है, अपने साथी नागरिकों के साथ निर्वाह करना जिसके लिए सयम, उदारता, विशाल-हृदयता तथा साहचर्य के गुण आवश्यक हैं, खेल कूद व नाट्यकला मे भाग लेना, और अन्त मे विज्ञान एवं दर्शन को प्राप्त करने का प्रयत्न इस (अवकाश) मे सम्मिलित हैं।" अरस्तू की अवकाश की व्याख्या का स्वाभाविक अर्थ यही निकलता है कि दास और श्रमिक, अवकाश के क्षण नही पाते, इसलिए वे नागरिकता के आवश्यक गुणो से वंचित रह जाते है और नागरिक नही हो सकते।

अरस्तू ने अच्छे मानव और अच्छे नागरिक में अन्तर बताया है। अच्छे मानव का लक्षण सब राज्यो मे एक समान है। उसके गुण निरपेक्ष हैं किन्तु अच्छा नागरिक कौन है, इस बात का निरूपण हम विशेष नगर-राज्य को ध्यान मे रखकर ही कर सकते हैं इसलिए यह विदित होता है कि अच्छे नागरिक के गुण सापेक्ष हैं। अरस्तू ने बताया है कि राजपुरुषो और उन लोगो के जो राज-कार्य का

1 "A citizen is one who participates in the administration of Justice and Legislation as a member of Deliberative Assembly, either of both these being essential functions of State."
—Aristotle

समान नहीं करते हैं, गुण न केवल अच्छे नागरिक के अपितु अच्छे मानव के भी होने चाहिए।

"अच्छे मानव का शील ज्ञान पर आधारित है, किन्तु अच्छे नागरिक का शील मत पर आधारित है। तात्पर्य यह हुआ कि अच्छा मानव जिस शील का आचरण करता है उसमें वह बुद्धिनिष्ठ है और उसके दार्शनिक आधार का उसे ज्ञान है। किन्तु अच्छा नागरिक सामाजिक परम्परा को देखते हुए ही अच्छा बनने का प्रयत्न करता है, अपने आचरण की विचारात्मक उत्पत्ति उसे मालूम नहीं।"[1]

नागरिकता पर प्लेटो और अरस्तू के विचारों में अन्तर

नागरिकता सम्बन्धी विचार प्लेटो की तुलना में अरस्तू के संकुचित प्रतीत होते हैं—(1) प्लेटो अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में दासों और नागरिकों में कोई अन्तर नहीं रखता। वह अपने आदर्श राज्य में अशिक्षित तथा अराजनीतिक व्यक्तियों के समूहों को भी राज्य में निवास करने के कारण नागरिकता का अधिकार प्रदान कर देता है। परन्तु इसके विपरीत अरस्तू एक सर्वोच्च राज्य में अशिक्षित, अराजनीतिक, दासों तथा श्रमिकों को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर देता है। (2) प्लेटो की मान्यता है कि एक अच्छा व्यक्ति ही अच्छा नागरिक है, जबकि अरस्तू इस मत से सहमत नहीं है क्योंकि उसके अनुसार एक नागरिक और एक अच्छे मनुष्य के गुण समान हों, यह आवश्यकता नहीं है। एक अच्छे व्यक्ति के गुण सदा समान रहते हैं किन्तु एक अच्छे नागरिक के गुण संविधान के स्वरूप के अनुसार बदल सकते हैं। (3) प्लेटो शासक वर्ग के लिए व्यावहारिक शासन-योग्यता के स्थान पर उसके ज्ञान की ओर बल देता है लेकिन अरस्तू के अनुसार नागरिक में शासन-योग्यता होनी चाहिए। इस तरह जहाँ अरस्तू व्यवहार को महत्त्व देता है, वहाँ प्लेटो अपेक्षाकृत सिद्धान्त को। (4) नागरिकता के क्षेत्र में दोनों में इस बात से भी अन्तर प्रकट होता है कि जहाँ प्लेटो के अनुसार शासन की योग्यता कुछ में ही सम्भव है वहाँ अरस्तू उसको थोड़ा विस्तृत रूप देता है।

उपरोक्त कुछ अन्तरों के होते हुए भी यह कहना होगा कि अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार प्लेटो से अधिक उदार नहीं हैं। प्लेटो भी उत्पादक वर्ग को राज्य के न्याय और विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यों से मुक्त रखता है तथा अरस्तू भी। जो व्यक्ति अरस्तू के अनुसार नागरिक बनने के अधिकारी हैं वे वास्तव में प्लेटो के अभिभावक वर्ग के सदस्य ही हैं।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की आलोचना

आधुनिक युग में अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की अत्यधिक आलोचना की गई है—

1. अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार अत्यन्त अनुदार और अभिजाततंत्रीय (Aristocratic) हैं। ये यूनानियों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र वाले छोटे राज्यों के लिए भले ही लागू होते हों किन्तु वर्तमान प्रतिनिधि-सत्तात्मक विशाल राज्यों पर लागू नहीं हो सकते।

2. प्लेटो और अरस्तू ने श्रमिकों को नागरिकता से वंचित कर दिया एवं उसे समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रखा है। इस तरह उन्होंने समाज के बहुत बड़े भाग को नागरिकता से प्राप्त होने वाले उन्नति के अवसरों से अलग कर दिया है। यह बड़ा अप्रजातान्त्रिक और अमानवीय दृष्टिकोण है। आधुनिक राज्यों में प्रत्येक को नागरिकता का अधिकार है और इसलिए प्रत्येक को उन्नति का अवसर मिलता है। "बहुजन सुलभ नागरिकता का निम्न आदर्श प्लेटो और अरस्तू के उस भव्य आदर्श से कहीं अधिक मूल्यवान् है जो मुट्ठीभर लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"[1] अरस्तू द्वारा स्त्री, दास, बालक आदि नागरिक नहीं माने गए हैं जो वर्तमान राजनीतिक दृष्टि से ठीक नहीं है। वर्तमान में सभी व्यक्तियों को समान

1 डॉ. विश्वनाथप्रसाद वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास।

2 *Barker* : The Politics of Aristotle, p 11

स्वतन्त्रता का अधिकार है और सभी वयस्क नागरिक कहलाने के अधिकारी हैं। वे अपनी योग्यता द्वारा सत्ता मे भाग ले सकते है।

3 अरस्तू ने नागरिक और अनागरिको मे ही भेद नही किया है बल्कि 'अनागरिकों को राज्य का सदस्य भी नही माना है। उनको केवल सजीव उपकरण (Instrument) माना है। उसके अनुसार नागरिको की एक अलग श्रेणी बन गई है जो प्लेटो के संरक्षकों या अभिभावको की श्रेणी के समान ही दिखाई देती है। अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी यह धारणा समाज मे एकता को कमजोर बनाने वाली और असन्तोष को जन्म देने वाली है।

4. अरस्तू के अनुसार नागरिक न्यायाधीश भी है तथा विधि-निर्माण करने वाला भी। आधुनिक शासन-प्रणालियो मे प्रत्येक व्यक्ति न्यायाधीश और विधि-निर्माता नही हो सकता। वह केवल अपने प्रतिनिधियो के निर्वाचन मे भाग लेता है। साथ ही अरस्तू का वह विचार इस दृष्टि से भी स्वीकार्य नही है कि न्यायिक और विधायी शक्तियाँ एक ही हाथ में रहना शासन और स्वतन्त्रता की दृष्टि से अश्रेयस्कर हैं।

5 अरस्तू ने नागरिकता की अत्यन्त सकुचित परिभाषा दी है। केवल विधि-निर्माण और न्याय सम्बन्धी कार्यो मे भाग लेने वाले व्यक्ति ही यदि नागरिक हों तो राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में नागरिको की सख्या कितनी कम होगी ?

6 अरस्तू ने नागरिको के कर्त्तव्यो पर अधिक ध्यान दिया है, उनके अधिकारों का स्पष्टीकरण उसने नही किया है। 'नागरिक' शब्द रूपी सिक्के के दो समान पहलू है—एक तरफ कर्त्तव्य की छाप है तो दूसरी ओर उसे अधिकारो का मुकुट पहनाया गया है। अरस्तू ने नागरिको की परिभाषा देते समय इस दूसरे पक्ष की अवहेलना की है।

7 अरस्तू ने नागरिकता सम्बन्धी अपने विचारो से राज्यो मे कई वर्ग उपस्थित कर दिए है जिनसे राज्य की आन्तरिक स्थिति सुसगठित और शान्तिमय नही रह सकती है।

8 राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियो को लाभ पहुँचाना है—इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि अधिकाधिक मनुष्यो के अनुभवो और उनके पारस्परिक अन्तरो से लाभ उठाना चाहिए। यदि नागरिकता केवल उन्ही व्यक्तियो को प्रदान की जाती है जिनके पास धन होने के कारण पर्याप्त अवकाश है और ऐसे ही व्यक्ति शासन-कार्यो मे भाग लेते है, तो इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे कानून अधिकतम सख्या में बनेंगे जो धनी वर्ग के पक्ष में हों। इसका फल यही निकलेगा कि जनतन्त्रीय शासन के स्थान पर वर्गतन्त्रीय शासन स्थापित हो जाएगा, धनवान व्यक्ति अधिक धनवान होते जाएँगे तथा दरिद्र व्यक्ति और अधिक दरिद्र बन जाएँगे। अरस्तू की इस व्यवस्था मे शासन-शक्ति अल्पसख्यक नागरिकों तक सीमित होकर बहुसख्यक जनता के शोषण का साधन बन सकती है।

9 अरस्तू का नागरिकता सम्बन्धी यह विचार उसके राज्य के जैविक स्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्तो के भी विपरीत है। अवयव विभिन्न अगो से मिलकर बनता है, दूसरे शब्दो मे, राज्य व्यक्तियों और समुदायो से मिलकर बना है। अरस्तू एक प्रमुख वर्ग को नागरिकता से वचित कर उसे काट कर फेंक देता है अथवा कार्य-शून्य बना देता है।

उपरोक्त दोषो के होते हुए भी अरस्तू का नागरिकता का विचार इस दृष्टि से उपयोगी है कि वह प्रत्येक नागरिक के लिए शासन मे भाग लेना आवश्यक समझता है। यथार्थवादी होने के नाते वह मानता है कि नागरिकों के गुणो का निश्चय शासन-प्रणाली द्वारा होता है। लोकतन्त्र के उत्तम नागरिक के गुण अल्पतन्त्र (Oligarchy) के नागरिक के गुणो से भिन्न होते हैं।

अरस्तू के कानून-सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Law)

प्लेटो ने आदर्श दार्शनिक शासक प्राप्त न होने की दशा मे अपने ग्रन्थ 'लॉज' मे कानून को

सर्वोच्च स्थान देते हुए इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने भी अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' मे कानून को राज्य मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए इसके स्वरूप की मीमांसा की है।

"राज्य मे सवैधानिक शासन का इस बात से घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा शासित हो अथवा सर्वश्रेष्ठ कानूनो द्वारा, क्योकि वह शासन अपने प्रजाजनों की भलाई के लिए कानून के अनुसार भी होता है। इसलिए, अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता को श्रेष्ठ शासन का एक चिह्न माना है, केवल एक अभाग्यपूर्ण आवश्यकता ही नहीं। प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' मे बुद्धिमान् शासक के शासन और कानून के शासन को वैकल्पिक माना है। अरस्तू के विचार से प्लेटो की यह भूल है। बुद्धिमान् से बुद्धिमान् शासक भी कानून के बिना अपना काम नही चला सकता। इसका कारण यह है कि कानून निर्वयक्तिक होता है। किसी आदमी मे, चाहे वह कितना ही भला क्यो न हो यह निर्वैयक्तिकता नही आ सकती। प्लेटो चिकित्सा शास्त्र और राजनीति मे अक्सर तुलना किया करता था। अरस्तू इस तुलना को गलत मानता है। अरस्तू के विचार से यदि राजनीतिक सम्बन्धो मे स्वतन्त्रता की भावना रहती है तो राजनीतिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि प्रजाजन अपने निर्णय और दायित्व को न छोड दे। यह उसी समय सम्भव है जबकि शासक और शासित-दोनो की कानूनी स्थिति हो। कानून के उद्देश्य से रहित सत्ता मजिस्ट्रेट का स्थान नही लेती। लेकिन वह मजिस्ट्रेट की सत्ता को नैतिक महत्त्व अवश्य प्रदान करती है। मजिस्ट्रेट की सत्ता का यह नैतिक महत्त्व इसके बिना प्राप्त नही हो सकता। सवैधानिक शासन प्रजाजनो के गौरव को कायम रखता है। व्यक्तिगत या निरंकुश शासन उसका गौरव कायम नही रखता। अरस्तू ने एकाधिक स्थलो पर कहा है कि सवैधानिक शासक इच्छुक प्रजाजनो के ऊपर शासन करता है। वह सहमति के द्वारा शासन करता है और अधिनायक से बिलकुल भिन्न होता है। अरस्तू जिस यथार्थ नैतिक विशेषता की बात करता है वह उतनी ही छलनामयी है जितनी कि आजकल के सिद्धान्तो मे शासितो की सहमति, लेकिन इसकी वास्तविकता के ऊपर सन्देह नही किया जा सकता।"[1]

अरस्तू के विचार से सवैधानिक शासन मे तीन मुख्य तत्त्व है—(1) यह शासन जनता अथवा सर्वसाधारण की भलाई के लिए होता है, किसी वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष की भलाई के लिए नहीं। (2) यह एक विधि-सम्मत शासन होता है अर्थात् यह शासन सामान्य विनियमो के अनुसार चलता है, मनमानी या स्वेच्छाचारी आज्ञप्तियो के अनुसार नहीं। साथ ही यह शासन प्राचीन रीति-रिवाजों और सविधानिक रूढियो का भी तिरस्कार नही करता। (3) यह इच्छुक प्रजाजन का शासन है। यह केवल शक्ति द्वारा समर्थित निरंकुश शासन नहीं होता। उल्लेखनीय है कि यद्यपि अरस्तू ने सविधानिक शासन की इन विशेषताओ का स्पष्ट रीति से उल्लेख किया है तथापि उसने इनकी व्यवस्थित रूप से कहीं परीक्षा नहीं की है क्या यह सूची पूर्ण है। उसने इस बात की भी परीक्षा नही की है कि इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। हाँ, अरस्तू इस बात से परिचित था कि हो सकता है कि शासन मे इन तीनो मे से एक विशेषता न हो। उदाहरणार्थ, अत्याचारी शासक निरंकुशता से अपनी प्रजा की, भलाई का कार्य कर सकता अथवा विधि-सम्मत शासन अनुचित रूप से किसी एक वर्ग के साथ पक्षपात कर सकता है। अरस्तू ने सवैधानिक शासन पर इतना जोर इसीलिए दिया कि वह 'लॉज' के इस सुझाव से सहमत था कि कानून को एक अस्थाई व्यवस्था नहीं प्रत्युत् नैतिक और सभ्य जीवन की एक अपरिहार्य व्यवस्था मानना चाहिए।

कानून की सम्प्रभुता के समर्थक अरस्तू की कानून की परिभाषा व्यापक एवं सकारात्मक है। उसने कानून को उन समस्त बन्धनों का सामूहिक नाम दिया जिसके अनुसार व्यक्तियो से कार्यो का नियमन होना है। वह कानून तथा विवेक-बुद्धि (Reason) को समान तथा न्यायवादी मानता है।

उसके अनुसार विवेक-बुद्धि मानव-कार्यों के नियमन के लिए एक आध्यात्मिक बन्धन है। इस प्रकार एक तरह से नीति और कानून की समानार्थक संज्ञाएँ है। अरस्तू के मत मे नीति (Morality) के समान कानून का भी एक निश्चित लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य के नागरिक प्रयत्नशील रहते हैं। उसकी मान्यता है कि नैतिक जीवन का उद्देश्य सद्गुणी जीवन को पाना है, कानून के अनुकूल जीवन का लक्ष्य न्याय को पाना है। इस तरह न्याय और सद्गुण दोनों एक ही हैं।

कानून के मूल-स्रोत के विषय मे चर्चा करते हुए अरस्तू का कहना है कि इस सम्बन्ध में संहिताकार (Law-maker) का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो लिखित कानूनों को घोषित करने के साथ-साथ अलिखित प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों को भी बताता है। इस तरह वह बताता है कि कानून का मूल स्रोत राजा न होकर संहिताकार है। यद्यपि दार्शनिक आधार पर वह इसमें परिवर्तन करने के पक्ष में है। वह कानून द्वारा मानव हृदय को सुधारना चाहता है और इसके लिए ऐसे शिक्षा के सिद्धान्तों का निर्धारण करता है जिससे नागरिकों मे स्वतः कानून के अनुकूल आचरण करने के भाव उत्पन्न हो जाएँ। अरस्तू कानून द्वारा बाह्य आचरण को बदलने या परिवर्तन अथवा क्रान्ति का समर्थक नहीं है अपितु वह कानूनों के स्थायी तथा अपरिवर्तनशील होने के पक्ष मे है। उसके अनुसार यदि मनुष्य स्वाभाविक रूप से बुरे कानूनों के अनुकूल आचरण करते है तो उनका स्थान उन अच्छी विधियों से उच्चतम हो जाता है, जिनकी आशा की जाती है। उसका विश्वास है कि परिवर्तनों द्वारा राज्य में अस्थिरता तथा अराजकता पैदा हो जाती है।

कानून के स्वरूप को बताते हुए अरस्तू का आगे कथन है कि आदर्श कानून प्राकृतिक (Natural) होते है। राज्य एक नैतिक समुदाय है। इसका मुख्य लक्ष्य सद्गुणी जीवन को पाना है अत उसके लिए प्राकृतिक तथा स्थायी व अपरिवर्तनशील विधियो की आवश्यकता है। जहाँ एक वास्तविक राज्य का प्रश्न है उसमें अरस्तू के अनुसार कानून प्राकृतिक न होकर संविदा तथा लोकाचार पर आधारित होते है, परन्तु अरस्तू संविदा तथा लोकाचार पर आधारित कानूनों को प्राकृतिक विधियों तथा नियमों से सर्वथा भिन्न नही मानता। उसका कथन है कि लोकाचार पर आधारित कानूनों के अन्तःस्थल मे प्राकृतिक नियम सदैव छिपे रहते हैं तथा उनको पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता है। इस प्रकार एक सर्वोत्तम राज्य के लिए अरस्तू प्राकृतिक तथा लोकाचार पर आधारित नियमों को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। सेबाइन के शब्दों मे, "अरस्तू लिखित कानून से तथागत कानून को अधिक अच्छा समझता है और यहाँ तक मानने को तैयार है कि यदि केवल लिखित कानून का ही प्रश्न हो तो कानून को समाप्त करने की प्लेटो की योजना को स्वीकार किया जा सकता है लेकिन, अरस्तू स्पष्ट रूप से इस बात को असम्भव मानता है कि सर्वाधिक बुद्धिमान् शासक का ज्ञान तथागत कानून से बेहतर होता है। सुकरात और प्लेटो ने प्रकृति और रूढि के बीच भारी अन्तर माना था और इसी कारण वे बुद्धिवाद अथवा तर्कवाद के भी कट्टर समर्थक बन गए थे। अरस्तू ने इस अन्तर को दूर कर दिया। एक श्रेष्ठ राज्य मे राजनेता के विवेक को उस विवेक से अलग नही किया जा सकता जो उसके द्वारा शासित समाज के कानून और प्रथा दोनों मे निहित होता है।" कानून को नैतिक और सभ्य जीवन की एक अपरिहार्य व्यवस्था मानने सम्बन्धी दृष्टिकोण तब तक असम्भव है जब तक यह न मान लिया जाए कि अनुभव के साथ-साथ विवेक का भी विकास होता है और यह सामाजिक ज्ञान, कानून और रूढियों दोनों मे निहित होता है।

अरस्तू के मतानुकूल संविधान तथा सरकार एक है और वह संविधान के लिए कानूनों की आवश्यकताओं पर बल देता है अर्थात् वह विधियों को संविधान के लिए आवश्यक मानता है। अरस्तू चाहता है कि सरकार कानून की सम्प्रभुता (Sovereignty of Law) के अन्तर्गत रहे। सरकार चाहे एक व्यक्ति की हो या अनेक की, उसे स्वार्थ-हित रखने के लिए विधियों का होना अनिवार्य है। अरस्तू आदर्श राजा या देवत्व प्राप्त व्यक्ति को कानून के अधीन नही करना चाहता परन्तु साथ ही किसी

व्यक्ति को शासन-विधि के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त भी नहीं रखना चाहता। आदर्श राज्य में जब सम्राट कार्य बुद्धि विवेक से करने लगेंगे तो वे कानून के अनुसार ही होंगे क्योंकि कानून और बुद्धि विवेक एक हैं। यही कारण है कि अरस्तू के अनुसार एक व्यक्ति को सरकार की विधि की सम्प्रभुता को स्वीकार करना चाहिए और उस व्यक्ति को कानून की कमियों तथा कमजोरियों को दूर करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। परन्तु अरस्तू इस मत पर स्थिर न रहते हुए इसके विपरीत एक-दूसरे मत का प्रतिपादन करता है। इस दूसरे मत के अनुसार वह कमियों तथा कमजोरियों को दूर करने का अधिकार एक व्यक्ति को न देकर अनेक व्यक्तियों को देता है। अपने इस मत के पक्ष में उसका कहना है कि व्यक्ति चाहे जितना ही योग्य एवं सद्‌गुणी क्यों न हो लेकिन वह यह गारण्टी नहीं दे सकता कि उसका पुत्र अथवा उत्तराधिकारी भी योग्य एवं सद्‌गुणी होगा और यही ध्यान में रखते हुए अरस्तू कानून की सम्प्रभुता स्थापित करता है तथा राज्य की सर्वोच्च सत्ता को कानून में मर्यादा-रेखा के अन्तर्गत बाँधता है।

अरस्तू का मत है कि कानून मानव को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है, क्योंकि कानून युगों के संचित अनुभवों तथा बुद्धिमत्ता का साकार रूप है। उसके ही शब्दों में "सामाजिक बुद्धिमत्ता का बढ़ता हुआ संग्रह कानून और परम्परा में निहित है।" कानून में एक ऐसा निराकार गुण है जिसे बुद्धिमान् से बुद्धिमान् व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर सकता। कानून का शासन केवल भगवान् और बुद्धि का शासन है, किन्तु मनुष्य के शासन में कुछ अंशों में पशु (पाशविक भावनाओं) का भी शासन है। कानून सब प्रकार की वासना से रहित विवेक है और इस प्रकार का विवेक सामाजिक प्रथाओं में भी सन्निभूत हो जाता है। जो नैतिक आवश्यकताएँ कानून को अनिवार्य बनाती हैं, वे राज्य के नैतिक आदर्शों के रूप में भी मान्य होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि सच्चे राजनीतिक शासन में प्रजाजन को कानून की अधीनता स्वीकार करनी चाहिए, उनमें स्वतन्त्रता की भावना होनी चाहिए और शासन उनकी सहमति पर आधारित होना चाहिए।

(6) अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा
(Aristotle's Conception of Justice)

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में न्याय सम्बन्धी अपने विचारों का वर्णन किया है। यूनान के प्रायः सभी विचारक न्याय की महत्ता को स्वीकार करते थे और अरस्तू भी उन विचारों से अछूता नहीं बच सका है। प्लेटो के समान वह भी न्याय को राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण स्वीकार करता है। वह भी न्याय का अर्थ "नेक कार्यों को व्यवहार रूप में प्रकट करना" बताता है, लेकिन दोनों के न्याय के स्वरूप में कुछ भिन्नता है।

अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान का उद्देश्य लोक कल्याण है। न्याय समस्त गुणों का समूह है। वह न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इसके दो भेद करता है—(1) सामान्य न्याय (General Justice), (2) विशेष न्याय (Particular Justice)।

सामान्य न्याय से उसका आशय पड़ौसी के प्रति किए जाने वाले भलाई के सभी कार्यों से है। सामान्य न्याय में नैतिक गुण एवं अच्छाई के सब काम आ जाते हैं। अच्छाई के सभी कार्यों—सभी सद्‌गुणों (Virtues) तथा समग्र साधुता (Righteousness) को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है।

विशेष न्याय से अरस्तू का तात्पर्य भलाई के विशेष रूप से है। इस न्याय को वह आनुपातिक समानता के अर्थ में लेता है। इसका अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति इस कोटि में आती है। विशेष न्याय को अच्छी तरह से समझाने की दृष्टि से अरस्तू इसे पुनः दो उपभेदों में बाँटता है। ये निम्नलिखित हैं—

(क) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice)—राज्य को चाहिए कि वह अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों और पुरस्कारों का बँटवारा या वितरण न्यायपूर्ण रीति से करे। अरस्तू निरपेक्ष समानता के पक्ष में नहीं है। उसके अनुसार जो योग्य है उनको

ही वह पद, स्थान या सम्मान मिलना चाहिए। सम्मानीय पदो पर किसी वर्ग विशेष की बपौती नही होनी चाहिए। राजकीय पदो को वर्ग विशेष को ही दिया जाना राज्य मे गम्भीर दोष उत्पन्न करने की भूमिका तैयार करना है। अतः अरस्तू इन्हे आनुपातिक समानता के आधार पर (On the basis of proportionate equality) वितरित करना चाहता है।

राज्यो मे जो अन्तर पाया जाता है उसका एकमात्र आधार शासक वर्ग का स्वरूप ही नही होता वरन् राज्यो मे पदो एव अधिकारो के वितरण का उपरोक्त सिद्धान्त भी होता है। अरस्तू के इस विभाजित या वितरणात्मक सिद्धान्त को सामान्यत इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—मान लीजिए, अ, ब, स, द आदि अपनी व्यक्तिगत सेवा एव गुण द्वारा राज्य के हित में अपनी देन देते है। अत राज्य की ओर से उन्हे दिया जाने वाला पुरस्कार अर्थात् पद एव सम्मान भी उनकी देन के अनुपात मे होना चाहिए। यदि इनका योगदान असमान है तो पुरस्कार भी असमान होना चाहिए, अर्थात् 'अ' राज्य के लिए जिस मात्रा मे योगदान देता है यदि 'ब' और 'स' उसके समान या उससे कम या उससे अधिक योगदान देते है तो 'अ' को प्राप्त होने वाले पुरस्कार के समान या उससे कम या उससे अधिक मात्रा मे उचित अनुपात को ध्यान मे रखते हुए 'ब' और 'स' को भी पुरस्कार मिलने चाहिए।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि अरस्तू के 'वितरक' न्याय का सम्बन्ध राज्य के पदो और पुरस्कारो के वितरण से है। अरस्तू प्रत्येक व्यक्ति को ये पद और पुरस्कार उस मात्रा के अनुपात मे देना चाहता है जिस मात्रा में उसने अपनी योग्यता और धन से राज्य को लाभ पहुँचाया है। अरस्तू का मत है कि यह एक ऐसी न्यायपूर्ण व्यवस्था है जो समाज मे सघर्ष और कलह को घटाने वाली है। सिन्क्लेयर के शब्दो मे अरस्तू की इस भावना को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है—"चूंकि न्याय और मैत्री राज्य के नैतिक आधार है, अतः अन्याय और कुइच्छा, असन्तोष एव अस्थिरता के सर्वाधिक प्रभावशाली कारण हैं। आनुपातिक समानता और निष्पक्ष व्यवहार की अनुपस्थिति न्याय के अभाव की ओर ले जाने वाली है और नगर को टुकडो-टुकडो म बिखेर देती है। जब समाज के एक पक्ष को यह विश्वास हो जाता है कि उसके अधिकारो को इन्कार किया जा रहा है और उसके प्रति न्याय नही किया जा रहा है तो कोई मैत्री भावना नही रह सकती।"[1]

अरस्तू के अनुसार वितरणात्मक न्याय का सिद्धान्त सब राज्यो मे समान नही होता। इस सिद्धान्त के औचित्य को सामान्य रूप से सभी व्यक्ति मान लेंगे लेकिन व्यक्तिगत गुण और राज्य के हित मे योगदान के मापदण्ड के विषय मे मतभेद होगे। भिन्न प्रकार के शासन न्याय को मापने हेतु भिन्न मापदण्ड का प्रयोग करते है। अरस्तू ने विभिन्न शासनो के अन्तर्गत अपनाए जाने वाले मापदण्डो का इस प्रकार वर्णन किया है—

1 अभिजाततन्त्रवादियो की धारणा है कि सदाचारी व्यक्ति अपने सदाचार द्वारा राज्य का कल्याण करते हैं, अत राज्य के पद एव शक्ति उनको ही मिलनी चाहिए।

2. धनिकतन्त्रवादियो का कहना है कि धनिक व्यक्ति ही राज्य को सबसे अधिक योगदान देते है, अत वे ही राज्य के पद एव शक्ति के अधिकारी हैं।

3. समूहतन्त्रवादियो का दावा है कि स्वतन्त्रता एव समानता को आधार मानकर राज्य के पदो का वितरण होना चाहिए।

अरस्तू का विचार है कि न्याय के इस सिद्धान्त के आधार पर किसी शासन प्रणाली को उत्कृष्ट या निकृष्ट माना जा सकता है। उसने इस आधार पर सर्वोच्च स्थान राजतन्त्र को दिया क्योंकि इसमे सर्वोच्च सदाचार का पालन होता है। उसके अनुसार दूसरा क्रम अभिजाततन्त्र (Aristocracy)

1 सिनक्लेयर : यूनानी राजनीतिक विचारधारा, पृ. 307.

ा है जिसमें उच्च सदाचार का पालन किया जाता है और तीसरे क्रम पर प्रजा राज्य या मध्यम-र्गीयतन्त्र (Polity) आता है जिसमे साधारण सदाचार को मानकर पदो का वितरण किया जाता । शासन के विकृत स्वरूपो मे वह समूहतन्त्र (Democracy) को सर्वोच्च मानता है । इसके बाद उसकी दृष्टि मे धनिकतन्त्र और निरकुश राजतन्त्र (Oligarchy and Tyranny) है ।

अरस्तू का कहना है कि न्याय के अनुसार, धन, स्वतन्त्रता एव समानता आदि को आधार न मानकर सद्गुण (Virtue) को आधार मानना चाहिए । उसकी मान्यता है कि हम एक गुणशाली व्यक्ति से हर प्रकार के गुण प्राप्त कर सकते है । इसके अतिरिक्त हमे यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति ने समाज के लिए क्या किया है । इस सिद्धान्त के द्वारा सद्गुणी व्यक्ति को सरलता से खोजा जा सकता है जिसमे नैतिक, बौद्धिक एव सैनिक आदि सभी तत्त्व मिल जाऐंगे । इस तरह राज्य के पदो को गुणो के आधार पर विभक्त करना चाहिए और यही सच्चा वितरणात्मक न्याय है ।

बहुत कुछ तर्क-वितर्क के बाद अरस्तू इस विचार की ओर झुकता है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ मे होनी चाहिए । वह 'पॉलिटिक्स' मे लिखता है—"यही सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है कि सर्वोच्च शक्ति कुछ थोडे से व्यक्तियो के हाथ मे न होकर जनता के हाथ मे होनी चाहिए ।" यह सिद्धान्त यद्यपि आपत्तियो से मुक्त नही है, फिर भी इसमे एक सत्य का अश निहित है । अरस्तू का मत है कि ऐसा करने से राज्य को स्थायित्व प्रदान किया जा सकेगा । शक्ति जनता के हाथो मे न होने पर जन-साधारण मे असन्तोष उत्पन्न होने का भय बना रहेगा अत क्रान्ति से बचने के लिए सर्वोच्च शक्ति को जनता के हाथ मे सौंपना उपयुक्त है । इस सिद्धान्त का समर्थन करके अरस्तू सार्वभौमिकता के सिद्धान्त का समर्थन करता है । इस तरह एक आधुनिक विचार के निकट आते हुए वह कहता है कि प्रत्येक वर्ग समाज एव राज्य की कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करता है, अत हमे उस सेवा का मूल्यांकन करके उसी अनुपात मे पदो को बाँट देना चाहिए । अरस्तू का मुख्य ध्येय राज्य को स्थायित्व प्रदान करना है और इसलिए उसने न्याय के वितरणात्मक सिद्धान्त की रचना की है ।

(ख) सशोधनात्मक या सुधारात्मक न्याय (Rectificatory or Corrective Justice)—सुधारात्मक न्याय एक नागरिक के दूसरे नागरिक के सम्बन्ध को नियन्त्रित करता है । यह मुख्य रूप मे अभावात्मक (Negative) है । राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार मे उत्पन्न होने वाले दोषो को ठीक करके उनमे यह सशोधन करता है ।

सशोधनात्मक न्याय का परिष्कारक न्याय भी दो प्रकार का है—

(1) प्रथम प्रकार के न्याय को ऐच्छिक कह सकते हैं, जिसमे विभिन्न सन्धियाँ समझौते द्वारा एक व्यक्ति दूसरे से करता है । उनके तोडने पर न्यायालय उनको ठीक करता है ।

(2) दूसरे प्रकार का न्याय अनैच्छिक होता है, जबकि कोई नागरिक किसी दूसरे को कष्ट पहुँचाने की कोशिश करता है, तो राज्य कष्ट उठाने वाले व्यक्ति की सुनवाई करता है, अपराधी को दण्ड देता है ।

अरस्तू के सशोधनात्मक न्याय के द्वारा राज्य का वह सामञ्जस्य पुनर्स्थापित हो जाता है जो नागरिकों के अनाधिकार आचरण के कारण बिगड़ जाता है ।

अरस्तू व प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विचारो की तुलना

(1) जहाँ प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है व्यक्तियो द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार राज्य मे अपने निश्चित कार्य करना, वहाँ अरस्तू के वितरक न्याय के सिद्धान्त से आशय है—राज्य की सेवा मे लगाई गई या राज्य को दी गई अपनी व्यक्तिगत योग्यता या धनराशि के आधार पर राज्य से पद या पुरस्कार प्राप्त करना ।

(2) प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि अरस्तू के सिद्धान्त मे अधिकारो का पुट ज्यादा है। प्लेटो समाज को श्रम-विभाजन एवं कार्य के विशेषीकरण के अनुसार बाँटता है, अरस्तू आनुपातिक समानता को लेकर चलता है।

(3) अरस्तू सामान्य न्याय व विशिष्ट न्याय मे भेद करता है। प्लेटो इस प्रकार के किसी भेद को नही मानता। 'रिपब्लिक' मे चित्रित आदर्श राज्य में प्लेटो का न्याय अरस्तू के पूर्ण न्याय या सामान्य न्याय के समान है। उसमे विशिष्ट न्याय की कल्पना को जोड़कर अरस्तू ने न्याय की व्याख्या को अधिक विस्तृत कर दिया है।

(4) अरस्तू की न्याय कल्पना प्लेटो की न्याय कल्पना से अधिक स्पष्ट, विशद और वैज्ञानिक है।

कुछ विद्वानो ने अरस्तू के वितरणात्मक न्याय की आलोचना की है। वे आधुनिक दृष्टि से इसे व्यावहारिकता नही मानते। यद्यपि आजकल वितरणात्मक न्याय के आधार पर पद नही दिए जाते किन्तु फिर भी सिद्धान्त के अन्तर में छिपी हुई सत्यता और न्याय-भावना मे सन्देह महत्त्वपूर्ण है।

(8) अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Education)

शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियो का विकास होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति मे निहित पाशविक वृत्तियो का शुद्धिकरण एव परिमार्जन होता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है। वह राज्य मे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यो को जान पाता है।

यूनान के प्राय समस्त दार्शनिको ने शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया है। यूनान की सभ्यता और संस्कृति मे इसका एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्लेटो और अरस्तू जैसे महारथियों ने शिक्षा-व्यवस्था पर बड़े मनोयोग से विचार करके अपने मत प्रकट किए हैं। Politics

अरस्तू ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का विवेचन 'पॉलिटिक्स' की पाँचवी पुस्तक मे किया है। प्लेटो के अनुसार वह भी, नागरिको के चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा को आवश्यक मानते है। उसके अनुसार शिक्षा सर्वोत्तम अथवा आदर्श राज्य के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। आदर्श राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति परम आवश्यक है। अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य नागरिको को सविधान के अनुकूल बनाना है ताकि राज्य और उनमे किसी प्रकार का विभेद न रह जाए और नागरिको के मानसिक स्तर की भी उन्नति हो जाए। इसी दृष्टि से उसके अनुसार शिक्षा व्यक्तिगत क्षेत्र में न होकर राज्य के क्षेत्र मे होनी चाहिए।

शिक्षा के तीन मूल सिद्धान्त

(1) राज्य के निवासियो को इस प्रकार की शिक्षा मे शिक्षित करना है जिसमे राज्य के वासी स्वय को राज्य का योग्यतम सदस्य बनाकर स्वय का और राज्य का विकास कर सके। वह सब नागरिकों के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है।

(2) अरस्तू के अनुसार शिक्षा राजनीति का एक अंग है, अत इसका एक राजनैतिक उद्देश्य है, जिसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब शिक्षा राज्य के नागरिको को चरित्रवान् और नैतिक बनावे।

(3) शिक्षा नागरिको को सविधान के अनुकूल बनाए।

अरस्तू की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

अरस्तू का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य सर्वाङ्गीण विकास होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने भी प्लेटो की भाँति मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को आधार बनाकर शिक्षा का विश्लेपण किया है।

शिक्षा का परम उद्देश्य आत्म-विकास है और अरस्तू के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानवात्मा के इस विकास के तीन सोपान परिलक्षित हैं—

(1) प्राकृतिक गुणों का सोपान (Stage of Natural Endowment)—प्रथम सोपान के अन्तर्गत प्राकृतिक या कुछ जन्म-परम्परागत विशेषताओं की प्रमुखता रहती है। वस्तुतः शिक्षा प्रणाली प्राकृतिक गुणों में शायद ही परिवर्तन ला सकती है, किन्तु अरस्तू अपनी शिक्षा योजना द्वारा इन गुणों में परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील है। उसका कहना है कि नवजात शिशुओं की आनुवंशिक प्रवृत्तियों की गतिविधि को सर्वोत्तम राज्य के गुणों के अनुकूल मोड़ा जा सकता है। यदि विवाह-सम्बन्ध और जनसंख्या पर नियन्त्रण रखा जाए तो निश्चय ही कुछ अंशों में इन्हें प्रभावित किया जाना सम्भव है।

(2) स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सोपान (Stage of Innate Tendencies)—आत्म-विकास के दूसरे सोपान में स्वाभाविक प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है। उसका विचार है कि इस स्तर पर शिक्षा-व्यवस्था का उपयोग करके उनसे अच्छे परिणाम निकाले जा सकते हैं अर्थात् इन प्रवृत्तियों को शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत सरलता से लाया जा सकता है। यह सोपान भावना-प्रधान और जीवन का तूफानी काल होता है। इस काल में व्यक्ति किशोरावस्था में रहता है। बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं होती कि वह कोई उचित निर्णय ले सके। किशोर व्यक्ति के समक्ष अनन्य इच्छाएँ और भावनाएँ रहती हैं जिनमें बह कर उसके पथ से विचलित हो जाने का भय रहता है। अतः यह उचित है कि शिक्षा द्वारा उनकी भावनाओं और इच्छाओं को नियन्त्रित किया जाय। किशोरों को विवेकशील व्यक्तियों के नियन्त्रण में रखा जाना उपयुक्त है। उपयुक्त शिक्षा द्वारा उनके मन-मानस में ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है जिससे उनमें साहस, संयम आदि सद्गुणों का विकास हो सके तथा उनकी इच्छाओं पर अंकुश स्थापित हो जाए। अरस्तू का विश्वास है कि इस काल में दी गई उपयुक्त शिक्षा किशोरों को सुमार्ग पर चलने को प्रेरित करेगी, उनकी बुद्धि को प्रखरता प्रदान करेगी। अरस्तू चाहता है कि इस स्तर पर शिक्षा अपनी आदर्श शिक्षण पद्धति द्वारा किशोरों में कुछ ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न कर दे कि उनकी छाप जीवन-पर्यन्त बनी रहे।

(3) बौद्धिक आत्म-निर्णय का सोपान (Stage of Rational Self determination)—इस अवस्था में मनुष्य कोई कार्य आवेश या आवेग के वशीभूत होकर नहीं करता है, वरन् अपनी बुद्धि एवं तर्क का अवलम्बन लेता है। इस समय शिक्षा द्वारा व्यक्ति के विवेक और तर्क को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए और मनुष्य को अपनी विवेक और तर्क-शक्ति से परिचित कराकर इनका उपयोग करने के लिए तत्पर करना चाहिए। अरस्तू की मान्यता है कि स्तर पर समुचित शिक्षा द्वारा सत्य की महत्ता से परिचित होकर व्यक्ति उसको पाने के लिए प्रयत्नशील हो उठता है। यदि व्यक्ति अपने शाश्वत् सतत् साधन पथ पर अग्रसर रहता है तो अन्ततः उसे जीवन की पूर्णता प्राप्त होती है। अरस्तू का विचार है कि जिस तरह राज्य अपने विकास की विभिन्न मंजिलों को पार करके अपने आदर्श रूप या अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है, उसी भाँति मानव-आत्मा भी विकास के विभिन्न सोपानों को पार करके अपने आदर्श रूप को प्राप्त करती है अर्थात् अपने शिखर पर पहुँचती है।

अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य

जहाँ प्लेटो के आदर्श राज्य की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य 'सद्गुण की प्राप्ति' था वहाँ अरस्तू का किंचित् भिन्न दृष्टिकोण है। अरस्तू की सम्मति में शिक्षा का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति की भावनात्मक शक्तियों को इतना जाग्रत कर दिया जाए जिससे बुद्धि अथवा विवेक को विकास का अवसर मिल सके। अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य लोगों को उत्तम नागरिक बनाना है। नागरिकों को आज्ञा-पालन करने और शासन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। अरस्तू चाहता है कि राज्य में शिक्षा की

ऐसी व्यवस्था की जाए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक को विकसित करने का अवसर मिले। यदि व्यक्ति के विवेक का पूर्ण विकास होगा तो उसमें सद्गुण उत्पन्न हो जाएंगे। व्यक्ति का यह विवेक तत्त्व उसे जीवन मे शान्ति की प्राप्ति कराएगा और उसे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की ओर अग्रसर करेगा। सार रूप मे कहना चाहिए कि अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य व्यापक एव सार्वभौमिक है।

शिक्षा का राज्य द्वारा नियन्त्रण

अरस्तू के विचार से शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर होना चाहिए, क्योंकि (i) इससे राज्य की शासन-व्यवस्था को हानि पहुँचने की सम्भावनाएँ धूमिल हो जाएंगी और वह शिक्षा द्वारा नागरिकों को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए अनुकूल साँचे मे ढाल सकेगा, तथा (ii) राज्य अपनी शिक्षा-व्यवस्था द्वारा श्रेष्ठ नागरिकता का विकास कर सकेगा और इस प्रकार अपने विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में बढ सकेगा। अरस्तू शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण चाहता है क्योंकि शिक्षा को अपने अधिकार मे लेकर ही राज्य सभी नागरिको को समान मानते हुए उनके विकास मे भी समानता का निर्देशन कर सकता है। राज्य की दृष्टि मे उसके सभी सदस्य समान हैं, अतः राज्य अपने सदस्यो के लिए जो कुछ भी व्यवस्था करेगा वह सबके लिए होगी, उसका उद्देश्य भी एक ही होगा। व्यक्तिगत संस्थाओ द्वारा शिक्षा का ऐसा आयोजन सम्भव नही है क्योंकि उनके उद्देश्यों मे विभिन्नता होती है। अरस्तू राज्य मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही प्रकार की शिक्षण व्यवस्था को आवश्यक मानता है और यह केवल तभी सम्भव है जब शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण हो। नागरिक भावनाओ के स्वामी नही हैं अपितु वे तो राज्य के अधीन तथा राज्य की वस्तु है इसलिए उन्हे राज्य द्वारा ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

अरस्तू यह भी चाहता है कि शिक्षा नि शुल्क, अनिवार्य और सार्वभौमिक हो, क्योंकि अशिक्षित मनुष्य राज्य के लिए भार है, अशिक्षित स्त्रियाँ सकट के समय भय का कारण बन जाती है और अशिक्षित बालक अपनी नैतिक एव मानसिक शक्तियो का विकास नही कर पाते। अरस्तू इस पक्ष में भी है कि राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षण-व्यवस्था मे नैतिक प्रशिक्षण को मुख्य स्थान दिया जाए। व्यक्ति और नागरिक मे कोई अन्तर नहीं होता, "अच्छा व्यक्ति ही अच्छा नागरिक होता है। नैतिक प्रशिक्षण द्वारा व्यक्ति को अच्छा बनाए जाना आवश्यक है क्योंकि तभी वह स्वय अच्छा जीवन व्यतीत करेगा और राज्य को अच्छा बनाने मे योग देगा।"

अरस्तू की शिक्षा का स्वरूप या उसकी रूपरेखा

प्लेटो और अरस्तू दोनो को ही इस बात का भारी क्षोभ था कि जहाँ कि स्पार्टा मे बालकों की शिक्षा के लिए बडी उत्तम योजना थी वहाँ एथेन्स इस दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। इसलिए इन दोनों महान् दार्शनिको ने अपने नगर राज्य के बालको और युवको की शिक्षा के लिए अति लाभप्रद योजनाएँ प्रस्तावित की और अरस्तू ने ऐसे उपायो का सुझाव। राबर्ट यूलिच (Robert Ulich) के अनुसार, प्लेटो और अरस्तू ने ऐसे उपायो का सुझाव दिया जिनका अभिप्राय बालको और युवको की शिक्षा तथा उनके पालन-पोषण मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना था।

अरस्तू ने अपनी शिक्षा-योजना का श्रीगणेश तभी से किया है जब से बालक अपनी माँ की गोद मे रहता है। यह बच्चे का जन्म होने के बाद से ही उसकी शारीरिक और नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था करता है। वह इसका एक विशेष कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। अरस्तू की शिक्षा योजना सप्तवर्षीय परिवर्तन (Cycle of Seven Years) के साथ है। उसकी शिक्षा योजना को तीन भागों में बाँटा जा सकता है जो इस प्रकार है—

(1) जन्म से सात वर्ष तक—यह शैशव काल है। इसकी पहली दशा मे अरस्तू बालक को भोजन, अग-सचालन और ठण्ड का अभ्यासी बनाने पर बल देता है। इसमें उसका उद्देश्य यह है कि

वह हृष्ट-पुष्ट बन सके। शैशव की दूसरी अवस्था 5 वर्ष तक की है जिसमें बच्चों के शारीरिक गठन की ओर विशेष ध्यान देना बताया जाता है। अरस्तू का कहना है कि इस समय बालकों पर पढ़ाई का बोझ नहीं रखना चाहिए बल्कि विभिन्न मनोरंजक खेलों की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि बच्चों का उचित मन-बहलाव हो सके। अरस्तू के अनुसार उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिए और ऐसे खेल खिलाए जाने चाहिए जो उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करने में सहायक हों। वह बच्चों को कुसंगति से बचाने पर पर्याप्त बल देते हुए कहता था कि बच्चों को न तो गालियाँ सुनने देनी चाहिए और न ही अश्लील चित्रों को देखने दें। शैशव की तीसरी अवस्था 5 से 7 वर्ष तक की है जिसमें भी बालकों की अश्लील एवं बुरी वस्तुओं के प्रभाव से रक्षा करनी चाहिए। अरस्तू के अनुसार राज्य को चाहिए कि वह अश्लील चित्रों और नाटकों पर प्रतिबन्ध लगा दे तथा ऐसा प्रबन्ध करे कि कहीं भी अश्लील और अशोभनीय कार्यों की अनुकृति करने वाली मूर्तियाँ व चित्र न हों। केवल परिपक्व अवस्था (Matured) के स्त्री-पुरुषों की पूजा के लिए बने हुए देव मन्दिरों को केवल उनका अपवाद मानता है। अरस्तू का यह कहना है कि 7 वर्ष तक बालक की शिक्षा परिवार में ही माँ-बाप के द्वारा होनी चाहिए। इसी काल में उनकी बौद्धिक शिक्षा आरम्भ कर देनी चाहिए।

(2) 8 से 14 वर्ष तक—शिक्षा के इस द्वितीय सोपान में अरस्तू ने शरीर गठन पर विशेष ध्यान देने के लिए बल दिया है। उसका विचार है कि छात्रों को जिम्नास्टिक द्वारा अपने शरीर को वैसा ही बनाना चाहिए जैसा कि स्पार्टा के लोगों का था किन्तु इस काल में कठोर शारीरिक शिक्षा के पक्ष में नहीं है। उसका यह भी कहना है कि इस आयु में तर्क को कम महत्त्व देते हुए किशोरों के नैतिक विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। साथ ही पढ़ाई-लिखाई, चित्रकला, संगीत आदि की शिक्षा को महत्त्व देना चाहिए। अरस्तू इस अवधि में संगीत की शिक्षा भी प्रदान करता है। नैतिक जीवन की उन्नति की दृष्टि से वह संगीत को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान देता है।

(3) 15 से 21 वर्ष तक—यह अवधि शिक्षा की तीसरी सीढ़ी है। इस अवधि में छात्रों को उस सरकार के स्वरूप के अनुरूप प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिसकी अधीनता में उन्हें रहना है। इसके अतिरिक्त छात्रों के मानसिक एवं शारीरिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। अरस्तू ने छात्रों के अधिकतम मानसिक विकास के लिए अवधि के प्रारम्भिक तीन वर्षों में निरन्तर गम्भीर अध्ययन की व्यवस्था की है। इस अवधि में छात्रों के मस्तिष्क के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और अध्ययन विषयों में पढ़ना, लिखना, ड्राइंग, चित्रकला, संगीत, अंकगणित, रेखा गणित आदि अवश्य होने चाहिए। इन तीन वर्षों की अवधि के उपरान्त छात्रों में अवधि के दौरान कठिन परिश्रम और व्यायाम कराया जाना चाहिए। उनको सैनिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

शिक्षा के इस तीसरे सोपान में अरस्तू ने शैक्षणिक या मानसिक एवं शारीरिक संगठन सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया है। मानसिक और शारीरिक प्रशिक्षण को दो अलग-अलग भागों में रखने का कारण बताते हुए अरस्तू ने कहा है कि "मस्तिष्क और शरीर से एक ही समय में कार्य किया जाना उपयुक्त नहीं।" दो विभिन्न प्रकार के कार्य स्वाभाविक रूप से विभिन्न और विरोधी परिणाम उत्पन्न करते हैं। शारीरिक कार्य मस्तिष्क को कुण्ठित बनाता है तो मानसिक कार्य शारीरिक वृद्धि को रोकता है। अरस्तू की इस शिक्षा का कार्यक्रम 21 वर्ष की अवस्था पर समाप्त हो जाता है लेकिन अरस्तू इसका अर्थ यह नहीं लेता कि शिक्षा की अवधि 21 वर्ष तक की ही होती है। उसके अनुसार शिक्षा जीवन का एक क्रम है जो जन्म से प्रारम्भ होकर जीवन के अन्त तक चलता रहता है।

प्लेटो की सम्पूर्ण शिक्षा योजना एक सुनियोजित, अनिवार्य शिक्षा प्रणाली को प्रस्तुत करती है। शिक्षा की दृष्टि से भी वह मध्यम मार्ग को ही महत्त्व देता है। वह न केवल शरीर का ही विकास चाहता है और न केवल मन का ही, परन्तु दोनों का सन्तुलन चाहता है।

अरस्तू के शिक्षा सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएँ

(1) शिक्षा की एक सुन्दर परिपाटी के द्वारा अरस्तू व्यक्ति को सुयोग्य शासक बनाने का प्रयास करता है।

(2) अरस्तू की शिक्षा योजना का मनोवैज्ञानिक आधार है जिसके अनुसार बच्चों को उनकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती है। उसमे प्राकृतिक, स्वाभाविक अनुकरण आदि प्रवृत्तियो का समावेश है।

(3) अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उपयोग व्यक्ति का चारित्रिक विकास करने के साथ-साथ उनकी 'इच्छा' (Will) का शिक्षण करना है इसलिए वह अपनी शिक्षा मे संगीत एवं कला को विशेष स्थान देता है। स्पष्ट है कि अरस्तू की शिक्षा पद्धति का राजनीतिक तथा नैतिक महत्त्व होने के साथ कलात्मक महत्त्व भी है।

(4) अरस्तू की शिक्षा योजना व्यवसायवाद से मुक्त है क्योकि अरस्तू व्यवसायवाद को स्वतन्त्रता के लिए घातक समझता है।

(5) अरस्तू ने अपने शिक्षा-क्रम मे नैतिकता को राज्य की सुस्थिरता का महत्त्वपूर्ण अग स्वीकार किया।

अरस्तू के शिक्षा सिद्धान्त की आलोचना

(1) अरस्तू ने संगीत को अनावश्यक एवं अत्यधिक विशेषता प्रदान की है। इस तरह शिक्षा के एक-पक्षीय महत्त्व को अधिक प्रकाश मे लाया गया है। बार्कर (Barker) ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि संगीत शिक्षा पर महत्त्व देते हुए वह अपने गुरु प्लेटो से चार कदम आगे बढ गया है।

(2) अरस्तू की शिक्षा योजना अव्यवस्थित है। साहित्य के अध्ययन पर इसे बहुत ही कम महत्त्व दिया है जबकि साहित्य किसी भी राज्य एव समाज के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(3) अरस्तू की शिक्षा प्रणाली मे बौद्धिक विकास के लिए व्यवस्था बडे विलम्ब से आरम्भ की गई है। 14 वर्ष तक बालको के लिए ऐसी किसी भी शिक्षा का उपबन्ध नही है जिससे उसका बौद्धिक विकास हो सके। इस अवधि तक वह बालकों को शारीरिक शिक्षा ही प्रदान करता है। उसके अनुसार तो 21 वर्ष की अवस्था प्राप्त युवक भी बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न नही हो पाता।

(4) शिक्षा का पूर्ण राज्यीयकरण सर्वथा अलोकतान्त्रिक है जिसका कभी समर्थन नही दिया जा सकता है।

(5) अरस्तू शिक्षा योजना केवल नागरिको के लिए रखता है। इस तरह कृषक एव शिल्पी-वर्ग, जो नागरिकता के अन्तर्गत नही आता, शिक्षा योजना से वंचित रह जाता है। यह सर्वथा अप्रजातान्त्रिक है।

अरस्तू की शिक्षा-योजना का महत्त्व

त्रुटियो के बावजूद अरस्तू की शिक्षा योजना कतिपय दृष्टियो से बडी महत्त्वपूर्ण है। उसमे व्यक्ति की चित्तवृत्तियो, स्वभाव, अनुकरण की क्रियाओ और वंश-परम्परागत विशेषताओ के लिए स्थान है। उसकी यह शिक्षा मानव जीवन को परिष्कृत करने पर बडा बल देती है और उसे 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की ओर प्रेरित करती है। अरस्तू का शिक्षा सिद्धान्त शिक्षा जगत् को एक बडी देन है। आज भी शिक्षा के अनेक अगो पर अरस्तू के प्रभाव की छाप दिखाई देती है। यूलिच ने पाँच महत्त्वपूर्ण प्रभावो की ओर संकेत किया है। प्रथम, अरस्तू ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान कर उसके प्रति समूचे दृष्टिकोण मे ही परिवर्तन ला दिया है। द्वितीय, अरस्तू के पाठ्यक्रम-निर्माण के सिद्धान्तो की बहुत-सी बातो को आज भी सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। तृतीय आज उदारवादी शिक्षा के

समर्थन पर अरस्तू का प्रभाव स्पष्ट है, चतुर्थ, अरस्तू द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द आधुनिक शिक्षा दर्शन और विज्ञान मे देखने को मिलते है एवं पंचम्, अरस्तू ने ज्ञान का जो वर्गीकरण किया उसके आधार पर आज भी यूरोप के बहुत से पुस्तकाल अपनी विभिन्न विषय-पुस्तकों का वर्गीकरण करते है।[1]

कुछ विद्वानो का तर्क है कि अरस्तू की शिक्षा का ध्येय व्यक्तित्व का विकास करना नही अपितु संविधान के अनुकूल नागरिको का चरित्र निर्माण करना है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपनी यह शिक्षा-योजना प्रस्तावित करता है और इसमे राज्य को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर वह व्यक्ति को उसके आधीन बना लेता है लेकिन आधुनिक शिक्षा शास्त्री शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना मानते हैं। वे व्यक्ति को राज्य के लिए विलयित नही होने देते। उनके अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास के लिए साधन के रूप के कार्य करता है।

अरस्तू एवं प्लेटो के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों की तुलना

समानताएं

(1) दोनो मानव आत्मा के प्रशिक्षण मे विश्वास रखते है। अन्तर केवल यही है कि प्लेटो के अनुसार मानव आत्मा पूर्व-शिक्षित होती है तथा शिक्षा का उद्देश्य केवल 'नेत्रो को प्रकाशोन्मुख कर देना है' जबकि अरस्तू इसके प्रशिक्षण को शृंखलित क्रम के अनुसार करता है।

(2) दोनो की शिक्षा योजना राज्य द्वारा नियन्त्रित है।

(3) दोनो शिक्षा के नैतिक ध्येय मे विश्वास करते हैं। दोनो ने ही चरित्र तथा स्वेच्छा से प्रशिक्षण पर जोर दिया है।

(4) शिक्षा योजना को कार्यान्वित करने मे दोनो ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का सहारा लिया है। दोनो का यही विचार है कि पाठशाला एक ऐसा स्थल है जहाँ 'अच्छे' के प्रति प्रेम तथा 'बुरे' के प्रति घृणा की भावनाएँ पैदा होती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दोनो ही ने संगीत का सहारा लिया है।

(5) दोनो ने शिक्षा व्यवस्था का उपयोग राज्य की सुस्थिरता के लिए किया है।

(6) दोनो ही ने शिक्षा का एक निश्चित कार्यक्रम निर्धारित किया है।

(7) दोनो विचारक स्पार्टा की शिक्षा पद्धति से प्रभावित है और इसलिए शारीरिक गठन, व्यायाम आदि पर बल देते है।

(8) दोनो ने ही शिक्षा के माध्यम से विवाह और सन्तति-नियम का प्रयास किया है।

असमानताएं

(1) अरस्तू की शिक्षा का अन्त विवेक की श्रेष्ठता या सर्वोपरिता मे होता है, जबकि प्लेटो की शिक्षा का अन्त 'सद्गुण' की प्राप्ति के रूप मे होता है।

(2) अरस्तू अपने शिक्षा पाठ्यक्रम मे साहित्य की उपेक्षा करता है। प्लेटो साहित्य के अध्ययन पर बल देता है। वह केवल साहित्य के अश्लील अंगो पर प्रतिबन्ध लगाता है।

(3) संगीत के स्वरूप के सम्बन्ध मे दोनो दार्शनिको के विचार समान नही है।

(4) शिक्षा के क्षेत्र मे अरस्तू की शिक्षा व्यवस्था इतनी क्रमबद्ध नही है, जितनी प्लेटो की दिखलाई पडती है। अरस्तू की शिक्षा का कार्यक्रम भी प्लेटो से भिन्न है। प्लेटो की शिक्षा योजना जहाँ वृद्धावस्था तक के लिए शिक्षा का कार्य प्रस्तुत करती है वहाँ अरस्तू की शिक्षा योजना में 21 वर्ष की आयु तक के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तू और प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था जहाँ अनेक पक्षो मे समान है, वहाँ उसमे असमानता भी कम नही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्लेटो का शिष्य होते हुए

1 *Ulich* Op Cit., pp 42-43

भी अरस्तू ने पूर्ण रूप से अपने गुरु के विचारो का अनुसरण नहीं किया है, बल्कि अपनी मौलिकता का परिचय देने की सफल चेष्टा की है।

संविधान का अर्थ और संविधानों का वर्गीकरण
(Meaning of the Constitution and Classification of Constitution)

'सविधान' के लिए अरस्तु द्वारा प्रयुक्त यूनानी शब्द है 'पॉलिटिया' (Politeia) जिसका अग्रेजी रूपान्तर है 'कॉन्स्टीट्यूशन' (Constitution)। पर यह अग्रेजी रूपान्तर 'पॉलिटिया' शब्द मे निहित वास्तविक भाव को व्यक्त नही करता क्योंकि अरस्तू ने इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया है। अरस्तू के अनुसार, "सविधान राज्य के पदो की वह व्यवस्था है, जिसमे यह निर्धारित किया जाता है कि राज्य का कौनसा पद विशेषकर सर्वोच्च पद, किसे मिले।"[1] राज्य का निर्माण सविधान ही करता है तथा शासक वर्ग का स्वरूप सविधान के स्वरूप का निर्धारण करता है। इस तरह राज्य एव सविधान एक ही बात है। यदि किसी राज्य के सविधान मे परिवर्तन कर दिया जाता है तो उस राज्य मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसमे यह बात भी निहित है कि राज्य और दल एक बात है। यदि कोई नया दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तो वह सविधान को परिवर्तित कर देता है और इस तरह राज्य में भी तदनुरूप परिवर्तन आ जाता है। आधुनिक युग मे हमे अरस्तू की उपरोक्त धारणा गलत प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि मे अरस्तू के अनुरूप सविधान का व्यापक महत्त्व नहीं है। अरस्तू सविधान को राज्य का एक अग और उसके ढाँचे को एक कानूनी आधार मात्र नही मानता। उनके लिए तो सविधान स्वय राज्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यजना है। अरस्तू के मतानुकूल यही वह ध्येय है जिसे पाने के लिए नागरिको ने स्वय का एक राज्य के रूप में सगठित किया है। वास्तव मे सविधान के प्रति यूनानी दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक था। उसकी दृष्टि मे सविधान मे परिवर्तन हो जाने का तात्पर्य केवल मात्र पद-व्यवस्था मे परिवर्तन हो जाना ही नही था अपितु जनता के नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यो का पलट जाना भी था। उसके लिए यह स्थिति एक तरह की क्रान्ति थी।

अरस्तू की सविधान सम्बन्धी उपरोक्त धारणा यूनान के तत्कालीन इतिहास के प्रकाश मे बनी थी। उस समय प्राय प्रत्येक नगर-राज्य मे वर्गतन्त्रियो एव जनतन्त्रियो मे सघर्ष रहता था। किसी भी एक दल की जीत का अर्थ केवल यही नही था कि उसके नेता सरकार बना ले, बल्कि उस जीत से यह निर्णय भी होता था कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति कुछ इने-गिने व्यक्तियों के हाथो मे रहे अथवा शासन की बागडोर सर्वसाधारण के हाथ मे चली जाए। यदि जनतन्त्रियो की विजय होती थी तो राज्य से प्रभुता या सर्वोच्च सत्ता का एक सामाजिक वर्ग मे निहित होना था और वर्गतन्त्रियो की विजय का अर्थ था—राज्य मे एक-दूसरे वर्ग का प्रधान होना। इस तरह यूनान मे संविधान आधुनिक युग के सर्वमान्य के समान दलगत सघर्ष से ऊपर नही होता था। उनके लिए तो सविधान सघर्ष-बिन्दु था। अरस्तू की दृष्टि मे राजनीति में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति जिस सामाजिक वर्ग के हाथ मे है, उसका स्वरूप क्या है।

अरस्तू के इन विचारो से उसके द्वारा इगित राज्य और सरकार का भेद सुन्दरता से स्पष्ट हो जाता है। जहाँ राज्य नागरिको का समुदाय है वहाँ सरकार उन नागरिको का समूह है जिनके हाथो मे राजनीतिक शक्ति और शासन-सचालन का कार्य हो। उच्च राजनीतिक पदो वाले व्यक्तियो मे परिवर्तन आने पर सरकार में भी परिवर्तन आ जाता है, परन्तु राज्य में परिवर्तन आते है, जब इसके सविधान में परिवर्तन हो।

1 "The Constitution is an arrangement of a state determining their distribution, the residence of sovereignty and the ends of political association." —Aristotle

संविधान का वर्गीकरण (Classification of Constitution)

अरस्तू द्वारा संविधान का वर्गीकरण राजनीति शास्त्र को कोई मौलिक देन नहीं है। उसने 'स्टेट्समैन' में दिए गए राज्यों के वर्गीकरण को ही अपना आधार बनाया है।

अरस्तू ने संविधानों का अपना वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है:

(1) संख्या (Number) अर्थात् शासन सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है।

(2) राज्य का उद्देश्य (Purpose) अर्थात् राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थ साधन ?

उद्देश्य की दृष्टि से अरस्तू ने राज्यों अथवा संविधानों को दो भागों में वर्गीकृत किया है—(1) स्वाभाविक रूप (Normal Form), तथा (2) विकृत रूप (Perverted Form)। जब राज-शक्ति का प्रयोग जनसाधारण के हित में किया जाता है तो उसे अरस्तू राज्य का स्वाभाविक रूप बतलाता है, किन्तु जब उसका दुरुपयोग स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाता है तो वह उसे राज्य का विकृत रूप बतलाता है।

अपने वर्गीकरण सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि "राज्य एकतन्त्र उस समय होता है जबकि एक व्यक्ति जिसके हाथ में सर्वोच्च सत्ता है, उस सत्ता का प्रयोग सर्वसाधारण के हित के लिए करता है। यदि राज्य जिसका शासन एक व्यक्ति से अधिक, किन्तु कुछ व्यक्तियों के हाथों में हो वह कुलीनतन्त्र या श्रेष्ठतन्त्र (Aristocracy) कहलाता है। जब राज्य की सत्ता समस्त जनता में निहित हो और वह सबके कल्याण की दृष्टि से अपना शासन स्वयं चला सके तो इसे लोक राज्य या संयत प्रजातन्त्र या समाजतन्त्र (Polity) कहते हैं।"

संविधान के उपरोक्त तीनों रूप (एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और संयत प्रजातन्त्र) कानून-प्रिय हैं। ऐसी अवस्था में राज्य शुद्ध और जनहितकारी होता है किन्तु कानून विरोधी हो जाने के कारण उपर्युक्त तीनों संविधान भ्रष्ट हो जाते हैं। उनमें शासकों की संख्या वही रहने पर उनका उद्देश्य बदल जाता है। इन भ्रष्ट शासन का वर्गीकरण निरंकुशतन्त्र, धनिकतन्त्र और अतिवादी लोकतन्त्र या भीड़तन्त्र के रूप में होता है। अरस्तू ने निकृष्ट रूप के संविधानों की व्याख्या करते हुए कहा है कि "निरंकुशतन्त्र एक प्रकार का राजतन्त्र है जिसके सामने केवल राजा का ही हित होता है। गुटतन्त्र या धनिकतन्त्र में केवल धनिक लोगों का हित होता है और [illegible] या अतिवादी लोकतन्त्र में जरूरतमन्दों का। उनमें से किसी में भी सबका सामान्य हित नहीं होता है।"

अरस्तू द्वारा संविधान के उपरोक्त सम्पूर्ण वर्गीकरण को निम्नांकित चार्ट द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

संविधान का रूप या शासकों की संख्या	सामान्य राज्य जो सार्वजनिक कल्याण की चेष्टा करते हैं	भ्रष्ट राज्य जो सार्वजनिक कल्याण की उपेक्षा करते हैं
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy) या एकतन्त्र	निरंकुश शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	अल्पतन्त्र या स्वार्थी तन्त्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियों का शासन	संयत प्रजातन्त्र (Polity or Modern Democracy)	अतिवादी लोकतन्त्र (Democracy)

वर्गीकरण की व्याख्या—अरस्तू का उपरोक्त वर्गीकरण एकदम स्पष्ट है। इसकी प्रमुख व्याख्या निम्नानुसार है—

(1) राजतन्त्र (Monarchy)—अरस्तू के अनुसार राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है जिसमें राज्य का शासन एक व्यक्ति के हाथ में होता है। वह व्यक्ति 'शुभ' को जानता है एवं उसी 'शुभ' को क्रियान्वित करने वाले कानूनों का निर्माण करता है। अरस्तू का राजतन्त्र प्लेटो के आदर्श शासक

द्वारा शासित राज्य से भिन्न नही है, अत उसके मत मे यह सर्वश्रेष्ठ शासन है लेकिन साथ ही उसका यह मत भी है कि आदर्श शासक सुलभ नही है इसीलिए वह राजतन्त्र को अप्राप्य मानता है। उसका यह भी कहना है कि यदि सौभाग्यवश सर्व सद्गुणसम्पन्न शासक मिल जाए तो यह आवश्यक नही है कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का गुणसम्पन्न व्यक्ति होगा।

(2) निरंकुश (Tyranny)—चूंकि राजतन्त्र शासन प्रणाली सर्वोत्तम होने पर सदैव क्रियात्मक नही है अत वह विकृत होकर तानाशाही या निरकुश शासन मे बदल जाती है। राजतन्त्र परिस्थितियो के कारण स्वेच्छाचारी तन्त्र मे परिणत हो जाता है या आदर्श शासक ही भ्रष्ट हो जाता है या उसका उत्तराधिकारी भ्रष्ट निकलता है। इस शासन का लक्ष्य सार्वजनिक भलाई न होकर स्वार्थ-सिद्धि होता है। इसमे शक्ति, धोखा-धड़ी और स्वार्थ-लिप्सा का साम्राज्य होता है। ऐसा शासन सर्वथा त्याज्य है।

(3) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—जिस राज्य मे शासन सत्ता कुछ व्यक्तियो के हाथ मे हो और जहाँ शासन-सत्ता का प्रयोग सामान्य लोकहित के लिए तथा कानून के अनुसार हो, उसे कुलीनतन्त्र कहा जाता है। कुलीनतन्त्र वशानुगत भी हो सकता है और आयु के अनुसार भी। अरस्तू के आदर्श राज्य मे आयु पर आधारित कुलीनतन्त्र ही अपनाया गया है अत प्रौढ व्यक्तियो को ही शासन-संचालन का अधिकार दिया गया है। यद्यपि कुलीनतन्त्र भी बुद्धि और गुण द्वारा सचालित, [illegible] कानून-प्रिय शासन प्रणाली है, लेकिन यह भी स्थाई नही है। कालक्रम से इसका भी पतन हो जाता है।

(4) धनिक वर्गतन्त्र (Oligarchy)—कुलीनतन्त्र या अभिजात तन्त्र दूषित होकर धनिक-तन्त्र या अल्पतन्त्र या गुटतन्त्र मे परिणत हो जाता है। इसमें कुछ धनी व्यक्ति कानून की अवहेलना करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए शासन करने लगते हैं। ये धनिक शासक भ्रष्टाचार का सहारा लेकर शेष जनता की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करने लगते हैं। सम्पूर्ण शासनतन्त्र कुछ स्वार्थी धनी व्यक्तियो द्वारा स्वहित मे प्रयोग करना राज्य के लिए अभिशाप है अतः अरस्तू धनिकतन्त्र को सर्वथा अस्थायी, त्याज्य तथा घृणा मानता है।

(5) संयत् प्रजातन्त्र (Polity)—सयत् प्रजातन्त्र या सर्व जनतन्त्र का अर्थ सारी जनता और सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है। सम्पूर्ण जनता अपनी इच्छा से, 'शुभ' के ज्ञान के आधार पर कानून के अनुसार शासन सचालन करती है। इस शासन मे न तो किसी वर्ग विशेष का सम्पत्ति पर आधिपत्य होता है और न ही शेष वर्गो का शोषण। अरस्तू का यह सयत् प्रजातन्त्र धनिकतन्त्र एव भ्रष्ट प्रजातन्त्र या भीडतन्त्र के बीच का मार्ग है। अपने इस स्वर्णिम मध्यमार्ग (Golden Mean) द्वारा अरस्तू एक ऐसे सविधान को स्वीकार करना चाहता है जो निरकुश तन्त्र और धनिकतन्त्र के दोषो से मुक्त हो और जिसमे सम्पूर्ण जनता की अराजकता भी न हो।

(6) प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र (Democracy)—अरस्तू के अनुसार निर्धनो की सख्या अधिक होने से संयत् प्रजातन्त्र दूषित होकर भीडतन्त्र या अतिवादी प्रजातन्त्र में बदल जाता है। इस शासन का अर्थ है केवल निर्धनों के हित के लिए जनता का शासन। ऐसे राज्य मे शासन का सचालन कानून के अनुसार न होकर सभी की अपनी-अपनी इच्छानुसार होता है।

राज्यो का परिवर्तन-चक्र (Theory of Cyclic Change)—अरस्तू का मत है कि राज्यो मे सविधान के स्वरूप एक निश्चित क्रम से बदलते रहते हैं। जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप मे बदलती रहती हैं, उसी प्रकार राज्यों में भी परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। राज्य का सर्वप्रथम रूप राजतन्त्र है किन्तु जब राजा जनहित को ठुकराकर स्वार्थ साधन मे लग जाता है तो राजतन्त्र भ्रष्ट होकर निरकुश राज्य या अन्यायी शासन मे परिणत हो जाता है और फिर धीरे-धीरे इस अन्यायी शासन के विरुद्ध क्रान्ति होती है। कुछ गुणी तथा योग्य व्यक्ति मिलकर जनहित के लिए अन्यायी शासन

को समाप्त कर देते है और एक नए प्रकार की शासन व्यवस्था का निर्माण करते है जिसे कुलीनतन्त्र कहा जा सकता है। समय के साथ-साथ कुलीनतन्त्र भी पतन के रास्ते पर जाने लगता है और शासन निजी स्वार्थ-सिद्धि के लिए होने लगता है तब इसका रूप धनिकतन्त्रात्मक या गुटतन्त्रात्मक बन जाता है। जनता इस अत्याचार को जब तक नही सह पाती तो सार्वजनिक विद्रोह के बाद इसका सयत् प्रजातन्त्र ले लेता है जिसे सर्व जनतन्त्र, बहुजनतन्त्र या समाजतन्त्र के नाम से भी पुकारा जाता है। परन्तु जैसा अन्य शासनो के साथ होता है, कालान्तर मे सयत् प्रजातन्त्र भी सडने लगता है। अरस्तू इसके विकृत रूप को भीडतन्त्र या अतिवादी प्रजातन्त्र के नाम से पुकारता है। इस अन्धकार के बाद पुन: कोई योग्य व्यक्ति अपनी शक्ति से कानून और व्यवस्था स्थापित करता है और इस तरह राजतन्त्र की फिर से स्थापना हो जाती है। इस प्रकार राज्य का वह चक्र पूरा हो जाता है और पुन नए सिरे से इसी चक्र का फिर से प्रारम्भ होता है। राजतन्त्र, निरकुश तन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिकतन्त्र, सयत् प्रजातन्त्र तथा भीडतन्त्र एक के बाद एक, पहिए की तरह क्रम से आते और बदलते है। सविधानो या राज्यो (सरकारो) का यह परिवर्तन-चक्र निरन्तर चलता रहता है।

इस परिवर्तन-चक्र के बारे मे अरस्तू के स्वय के शब्दो को यहाँ उल्लिखित करना सर्वथा उपयुक्त होगा। अरस्तू लिखता है कि—"पहले-पहल देशो मे राजतन्त्र स्थापित हुए थे, जिनका कारण सम्भवत यह कहा था कि प्राचीन युग मे नगर छोटे थे और चरित्रवान कुशल व्यक्ति बहुत कम थे। ये व्यक्ति राजा बने, चूंकि ये परोपकारी थे और परोपकार केवल सज्जन व्यक्ति ही कर सकते है। परन्तु, जब एक से गुणो वाले अनेक व्यक्ति आगे आए और वे एक ही व्यक्ति को प्रधान तथा प्रतिष्ठित मानने से कतराने लगे, तो उन्होने राज्य को सभी का राज्य (Commonwealth) बनाने और सविधान निश्चित करने की इच्छा प्रकट की, इससे शासक-वर्ग का पतन हुआ और जन-कोष से धन उडाकर वे धनवान बनने लगे। धन-सम्पत्ति सम्मान का साधन बनी और इस प्रकार कुछ व्यक्तियो के शासन (Oligarchies) की स्थापना स्वाभाविक बनी। यह शासन धीरे-धीरे अत्याचारी शासन मे बदल गया और अन्त मे, अत्याचारी शासन ने प्रजातन्त्रीय शासन का रूप धारण कर लिया, क्योकि शासक-वर्ग की धन-लोलुपता ने अपनी सख्या को सदैव कम से कम रखने की चेष्टा की इससे सर्वसाधारण का बल बढा और इन्होने अन्त मे अपने स्वामियो को दबोच लिया जिसका फल निकला भ्रष्ट जनतन्त्र की स्थापना।"

अरस्तू के वर्गीकरण के अन्य आधार

(1) पहला आधार आर्थिक है। धनिकतन्त्र मे धनिको का और जनतन्त्र मे गरीबो का शासन होता है।

(2) वर्गीकरण का दूसरा आधार विभिन्न प्रकार के मौलिक गुण या तत्त्व है, जैसे जनतन्त्र मे समानता एव स्वतन्त्रता के तत्त्व पर, धनिकतन्त्र मे धन पर, कुलीनतन्त्र मे गुणो पर और सयत् जनतन्त्र (या सर्व जनतन्त्र) मे धन व स्वतन्त्रता के तत्त्व पर बल दिया जाता है।

(3) वर्गीकरण का तीसरा आधार शासन सम्बन्धी कार्य-प्रणाली है। यदि पर ऊँचे पदो का निर्वाचन अधिक सम्पत्ति वाले व्यक्ति ही कर सकते है तो वही पर मामूली सम्पत्ति वाले भी राज्य कार्य मे भाग ले सकते है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना

(1) गार्नर का कहना है कि अरस्तू राज्य और सरकार मे भेद नही कर पाया, फलस्वरूप उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यो का वर्गीकरण न होकर सरकारो का वर्गीकरण है। परन्तु राज्य तथा सरकार का यह भेद आधुनिक युग की देन है और अरस्तू जैसे पुराने दार्शनिक से [illegible] राज्य तथा सरकार का [illegible] वर्गीकरण कर बैठना कोई असामान्य बात नही मानी चाहिए। इसलिए [illegible] का विचार है कि अरस्तू के शासन का वर्गीकरण वैज्ञानिक और ठीक है—यदि हम उसके 'राज्य' और '[illegible]' शब्दो के स्थान पर 'सरकार' और 'शासन' शब्दो का प्रयोग करे।

(2) सिन्क्लेयर की दृष्टि में अरस्तू के वर्गीकरण की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नही ठहरती क्योंकि उसने अपना वर्गीकरण संविधानो की कार्य-विधि के निरीक्षण के आधार पर प्रतिष्ठित नही किया है।[1]

(3) अरस्तू ने कुलीन-तन्त्र और वर्ग-तन्त्र में भेद माना है किन्तु वर्तमान मे इन दोनो शब्दो में कोई अन्तर नहीं माना जाता। आज या युग प्रजातन्त्र का युग है और कुछ व्यक्तियों का शासन इस युग मे अमान्य है।

(4) सिन्क्लेयर के अनुसार, अरस्तू ने अपने वर्गीकरण मे अमीर और गरीब के अन्तर को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उसने इस अन्तर को संख्या के अन्तर से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है। विचित्र विडम्बना है कि अरस्तू बहुसंख्यक शासन के लिए भी अल्पतन्त्र (Oligarchy) का प्रयोग करने को तैयार है, यदि अमीर संख्या मे गरीबो से अधिक हो जाएँ।

(5) सीले का कहना है कि अरस्तू ने अपने समय के नगर राज्यो का वर्गीकरण किया था जो आज के राष्ट्रीय एव बहुराष्ट्रीय तथा विशालकाय राज्यो पर लागू नहीं होता। वर्तमान मे राजतन्त्र तथा बहुतन्त्र जैसा शासन नही पाया जाता। इंग्लैण्ड जैसे राज्य मे राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और बहुतन्त्र का ताना-बाना पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड और अमेरिका दोनो मे ही प्रजातन्त्र है, किन्तु इंग्लैण्ड मे राजसत्ता स्वीकार की गई है जबकि अमेरिका मे ऐसा नही है। इसी भाँति फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड दोनो मे लोकतन्त्र होते हुए भी दोनो राज्यो मे भेद है। फ्रांस केन्द्रात्मक राज्य है तो स्विट्जरलैण्ड संघात्मक।

(6) आलोचको का यह भी कहना है कि अरस्तू का वर्गीकरण किसी गुणवाचक आधार पर आधारित न होकर केवल संख्या पर आधारित है, अतः यह सर्वथा गलत है। किन्तु यह आलोचना मान्य नही है। यह ठीक है कि अरस्तू ने प्रजा की राजनीतिक जागृति के विकास की अपनी मंजिलो की उपेक्षा की है, फिर भी शासन का रूप चाहे राजतन्त्रीय हो, अमीर-उमरावो या थोडे से बुद्धिमानो का हो या संगठित राज्य हो उसकी परीक्षा और कसौटी का आधार आध्यात्मिक तथा मानसिक है। उसके राजनीतिक दर्शन मे अपने गुरु से भले ही मतभेद हो फिर भी प्लेटो की तरह उसने भी एक सु-शासन की परीक्षा का आधार आध्यात्मिक तथा आचारशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान ही माना है। विभाजन को निश्चित करने वाला हेतु एक के, थोडो के तथा बहुतो के चरित्र पर आश्रित है। बर्गेस (Burgess) ने ठीक ही कहा है—"अरस्तू का विभाजन आध्यात्मक है संख्यावाचक नही।"

(7) अरस्तू द्वारा किए गए विश्लेषण को यदि पूरी तरह लागू किया जाए तो संविधानो के रूपो का योग एक बहुत बडी संख्या होगी। डनिंग के अनुसार, "इस बात मे सन्देह नहीं कि 'पॉलिटिक्स' मे एक रूप का दूसरो से स्पष्ट रूप मे अन्तर नही किया गया है।"[2] सेबाइन ने भी अरस्तू के वर्गीकरण की इस आधार पर अग्रांकित आलोचना की है। अरस्तू ने राज्य का दो रीतियो से विश्लेषण किया है। एक तो उसने राज्य को राजनैतिक साधन माना है। दूसरे, उसने राज्य को आर्थिक हितो की समानता के आधार पर वर्ग के रूप मे देखा है। यदि अरस्तू इन दोनो को अलग-अलग रखता और दोनों की एक-दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का निरूपण न करता, तो अरस्तू के विश्लेषण को समझने मे आसानी होती। जब अरस्तू लोकतन्त्र (Democracy) और धनिकतन्त्र (Oligarchy) के भेदो का वर्णन करता है, तो यह समझ में नही आता कि वह वर्गीकरण के किस सिद्धान्त पर चल रहा है। वह हरेक की दो-दो सूचियाँ देता है और यह नही बताता कि इसमें क्या अन्तर है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि एक मे तो वह राजनैतिक संविधान के बारे मे सोच रहा है तथा दूसरी मे आर्थिक संविधान के

1 सिन्क्लेयर, पूर्वोक्त, पृ, 297.
2 *Dunning* op cit, p. 75-76

बारे मे। अरस्तू अपने वर्गीकरण मे एक और उलझन डाल देता है। वह कानून-रहित और कानूननिष्ठ सरकारो के बीच भी भेद मानता है। यह भेद धनिकतन्त्र के ऊपर बिलकुल ही लागू नहीं होना चाहिए। इस भेद का आधार यही हो सकता है कि पदो या वर्गो की क्या व्यवस्था है। यद्यपि अरस्तू का यह विवेचन योजनाबद्ध नही है, लेकिन उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू को ग्रीक नगर राज्यो के आन्तरिक कार्यकरण का पूरा ज्ञान था। अरस्तू के पश्चात् किसी भी शासन-प्रणाली के बारे मे ऐसे आन्तरिक ज्ञान का परिचय बहुत कम राज-वेत्ताओ ने दिया है। अरस्तू की विचारधारा का सारांश यह है। "मतदान की अर्हता (Qualification) और पद की पात्रता जैसे कुछ राजनैतिक विनियम (Political Regulations) हुआ करते हैं। इन विनियमो मे से कुछ लोकतन्त्र की विशेषताएँ होती हैं और कुछ धनिकतन्त्र की। इसके साथ ही कुछ आर्थिक विशेषताएँ भी होती हैं, जैसे कि धन किस प्रकार बँटा हुआ या राज्य मे किस आर्थिक वर्ग का प्राधान्य है। आर्थिक विशेषताएँ भी यह प्रकट करती है कि राज्य लोकतन्त्र है या धनिकतन्त्र है तथा उसमे कौन-सा राजनैतिक सविधान अधिक सफल हो सकता है। राजनैतिक और आर्थिक दोनों व्यवस्थाओ मे मात्रा का अन्तर होता है—कोई अधिक अतिवादी होता है तथा कोई कम अतिवादी। लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के तत्त्वो के मेल से भी अनेक प्रकार के राज्यो की रचना हो सकती है। उदाहरण के लिए सभा (Assembly) का सगठन लोकतन्त्रात्मक हो सकता है और न्यायपालिका धन-सम्बन्धी योग्यताओ के आधार पर चुनी जा सकती है।"[1]

(8) ब्लटशली (Bluntschli) का मत है कि अरस्तू के वर्गीकरण मे हमे केवल लौकिक राज्यो का ही वर्णन मिलता है पारलौकिक का नही। उसके वर्गीकरण मे धर्म तथा राजनीति के सिद्धान्तो को कोई स्थान नही दिया जाता, परन्तु यह आलोचना न्यायसगत नही है। अरस्तू के युग का यूनान पूर्णतः लौकिक था, अत वह धर्म और राजनीति के सम्बन्धो की कल्पना नही कर सकता था।

(9) अरस्तू के वर्गीकरण के अनुसार प्रजातन्त्र सबसे निकृष्ट शासन व्यवस्था है जबकि आधुनिक युग मे प्रजातन्त्र को सर्वोत्तम शासन व्यवस्था माना जाता है।

(10) अनेक आलोचको का कहना है कि किसी राज्य मे सर्वोच्च सत्ता का वास्तविक स्थान कहाँ है, यह पता लगाना दुष्कर ही नही, बल्कि असम्भव कार्य है। आजकल के राज्यो मे यह और भी कठिन हो गया है। उदाहरणार्थ युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका मे सर्वोच्च सत्ता के वास्तविक स्थान का पता लगाना अत्यन्त ही कठिन है। वर्तमान मे ऐसे राज्य शून्य के समान है जहाँ सर्वोच्च सत्ता एक अथवा कुछ व्यक्तियो तक ही सीमित हो। इस दृष्टि से अरस्तू का वर्गीकरण उचित नही ठहरता।

अरस्तू के वर्गीकरण का औचित्य

इतनी आलोचना के बाद भी उपयोगिता और औचित्य की दृष्टि से अरस्तू का वर्गीकरण आज भी महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इस वर्गीकरण मे राज्यों के नैतिक आधार पर बड़ा बल दिया गया है जो लोककल्याण की दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण है। अरस्तू ने सामान्य और विकृत स्वरूप मे नैतिकता और विशेषज्ञता के आधार पर जोर देते हुए अन्तर स्पष्ट किया है। द्वितीय, अरस्तू का परिवर्तन-चक्र भी आधुनिक युग मे दृष्टिगोचर होता है। जनरल नगीब द्वारा मिस्र का शासन सम्भाल लिया जाना पाकिस्तान मे सडे-गले प्रजातन्त्र को नष्ट करके जनरल अयूब द्वारा शासन को हथिया लेना, आदि अरस्तू की दूरदर्शिता के प्रमाण हैं। तृतीय, अरस्तू ने सरकारो के वर्गीकरण को ही राज्यो का वर्गीकरण बताया है, यह कहना उचित नहीं है। सरकार ही राज्य की इच्छा को प्रकट करती है अतः सरकार का वर्गीकरण ही सार रूप मे राज्यो का वर्गीकरण है। वास्तव मे इससे इन्कार नही किया जा सकता कि अरस्तू के विचारो के उपरोक्त अशो से हमे बहुत कुछ सीखना है। अरस्तू ने बडी सुदृढता के साथ यह कहा है चूँकि किसी भी राज्य विशेष के समस्त नागरिको का उद्देश्य निश्चित ही अपकी सस्था

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ. 297.

की सुरक्षा होनी चाहिए, अतएव उस सविधान को बनाए रखने के लिए, जो कि उस सुरक्षा का आधार है, प्रत्येक बात को त्याग दिया जाना चाहिए और किसी नागरिक का सविधान की सीमा से बाहर का कोई भी कार्य (चाहे वह तत्कालीन सरकार के द्वारा किया गया कोई भी असविधानिक कार्य हो अथवा गैर-राजनीतिक सस्था द्वारा की गई कोई भी तथाकथित सीधी कार्यवाही हो) एक क्षण के लिए भी सहन नही किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा तर्क है जिसका अरस्तू के प्राचीन पोलिटी प्रजातन्त्र के समय की अपेक्षा आधुनिक लोकतन्त्र मे अधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इस तर्क का प्रतिवाद करना कठिन है कि अरस्तू के समय के पश्चात् के विश्व-इतिहास ने ह्रास तथा क्रान्ति के चक्र के उदाहरण प्रस्तुत किए जो उसके विश्लेषण की पुष्टि करते हैं।

सर्वोत्तम सविधान
(Best Polity)
अथवा
सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य
(The Best Practicable State)

अरस्तू ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि ऐसी कौनसी शासन प्रणाली है जो अधिकांश राज्यो के लिए सर्वश्रेष्ठ है। वह किसी खास मामले की विशेष परिस्थितियों को छोड देता है। वह राज्यो मे सामान्य सद्गुण अथवा राजनैतिक कौशल की अपेक्षा रखता है इस प्रकार का राज्य किसी भी प्रकार का आदर्श नही है। वह सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक औसत राज्य है। यह राज्य लोकतन्त्र तथा धनिक तन्त्र की उन अतियो को छोड़ देता है जो अनुभव से भयानक सिद्ध हुई हैं। इस शासन प्रणाली को अरस्तू सविधान (Polity) अथवा संवैधानिक शासन (Constitutional Govt.) कहता है। अरस्तू ने तीसरी पुस्तक मे उसका नाम संयत लोकतन्त्र (Moderate Democracy) रखा है। अरस्तू उन अवस्थाओं में जहाँ सविधान लोकशासन से इतना अलग हो कि उसे सौम्य लोकतन्त्र न कहा जा सके, अभिजाततन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र कहने के प्रतिकूल नही है।

अरस्तू ने सर्वोत्तम संविधान अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य पर विचार करते हुए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। वह यह मानकर चला है कि इस प्रसंग मे ऐसी किसी आदर्श शासन प्रणाली का विचार नही करना चाहिये, जो कभी क्रियात्मक और व्यावहारिक रूप धारण ही न कर सकती हो। इसके विपरीत ऐसी श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था एवं जीवन-पद्धति पर विचार करना चाहिए, जो अधिकतम राज्यों एव व्यक्तियो के लिए व्यावहारिक रूप से सम्भव हो। किसी विशेष प्रकार की योग्यता से ही जो शासन-व्यवस्था चल सकती हो उसमे अधिकांश मनुष्य भाग नही ले सकते अत उत्तम शासन-प्रणाली वही हो सकती है जो विभिन्न अथवा अनेक राष्ट्रों मे समान रूप से चल सके।

अरस्तू का मत है कि एक आदर्श व्यवस्था मे शासन, सर्वोत्तम व्यक्तियो के हाथो में रहना चाहिए। यदि किसी राज्य को प्लेटो के आदर्श राज्य का दार्शनिक शासक मिल सके तो राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था है लेकिन ऐसे दार्शनिक शासक का मिलना इस भूतल पर दुर्लभ है इसी भांति कुलीनतन्त्र में भी शासन सत्ता योग्य व्यक्तियों के हाथों मे रहती है किन्तु इस तरह के योग्य शासक-वर्ग भी व्यवहार मे पाए नही जाते। यदि सौभाग्यवश कभी दार्शनिक शासक या योग्य शासक वर्ग उपलब्ध भी हो जाए तो वे इस यथार्थवादी और स्वार्थी विश्व मे पनप नही सकते और न ही, यह आवश्यक है कि उनके उत्तराधिकारी भी वैसे ही निकलें। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र—ये दोनों शासन-प्रणालियाँ व्यावहारिक एव क्रियात्मक रूप से नही पाई जाती और इसलिए ऐसी शासन-व्यवस्था की खोज करना उपयुक्त है जो आदर्शवाद के धरातल पर ही न टिकी हो बल्कि जो व्यावहारिक रूप से व्यक्तियों द्वारा कार्यान्वित की जा सकती हो और किसी समाज की विद्यमान परिस्थियों में सर्वोत्तम हो।

अरस्तू की मान्यता है कि वही शासन उत्तम है जो अधिक राज्यो मे सम्भव हो और जिसमे अत्यधिक अमीर या गरीब न हो। समाज मे अत्यधिक सम्पन्नता और निर्धनता दोनो का होना अवांछनीय है क्योकि ये दोनो ही स्थितियाँ समाज मे दोषो को जन्म देती हैं। इससे जहाँ [illegible] है। इनके अतिरिक्त जहाँ जनता का विभाजन सम्पन्न और निर्धन—इन दो वर्गों में होता है, वहाँ शान्ति और सौहार्द्र को स्थान नही मिल सकता। बिना सौहार्द्र के सगठन या समुदाय का बनाना भी सभव नही है।

चूंकि सम्पन्नता और विपन्नता—दोनो ही का प्रचुरता मे होना शुद्ध शासन के लिए हानिप्रद है, अतः अरस्तू मध्यम मार्ग (Golden Mean) अपनाता है। उसकी दृष्टि में आदर्श शासन-प्रणाली की प्रधान विशेषता मध्यममार्गी होना है। अरस्तू के शब्दो में "मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्यतः श्रेष्ठ जीवन है और यह मध्यम मार्ग भी ऐसा है, जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है।" उसके अनुसार "सभी नगर राज्यो में तीन वर्ग पाए जाते हैं—अत्यधिक सम्पन्न, अत्यधिक निर्धन और इन दोनो के बीच का मध्यम वर्ग। अरस्तू मध्यम-वर्ग की स्थिति में ही सर्वोत्तम मानता है क्योकि "जो मनुष्य ऐसी स्थिति मे होते हैं, वे विवेक की आज्ञा का सरलतापूर्वक पालन करने वाले होते हैं।" इस तरह अरस्तू उसी शासन व्यवस्था को श्रेष्ठ मानता है जिसमे मध्य वर्ग का प्राधान्य हो।

शासन प्रणाली के मध्यम-मार्गी होने की उपयोगिता को दर्शाते हुए अपने पक्ष मे वह निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है—

1. अत्यधिक सम्पन्न, सुन्दर और शक्तिमान व्यक्ति बलात्कार तथा गम्भीर अपराधो की ओर अधिक प्रवल होते हैं, तो अत्यधिक निर्धन और अशक्त व्यक्ति धूर्तता तथा तुच्छ अपराधों के प्रति आकर्षित होते हैं। इस प्रकार ये दोनो ही वर्ग विवेक मार्ग पर नही चलते और जिस किसी शासन में इनकी प्रधानता होती है दोषपूर्ण होता है।

2. सम्पन्न और शक्तिमान अवज्ञा-वृत्ति रखते है तथा राज्य के आदेशो की अवहेलना करने में नहीं हिचकते। दूसरी ओर, दीन, हीन एव निर्बल व्यक्तियो मे दास-मनोवृत्ति पनपती है, वे शासक नही हो सकते। अतः किसी राज्य मे केवल यही दो वर्ग होगे तो वह राज्य स्वतन्त्र मनुष्यो का राज न रह कर केवल दासों व स्वामियो का नगर या राज्य मात्र रह जायेगा।

3. इस भांति निर्धन पक्ष से राज्य मे ईर्ष्या भाव बढेगा और सम्पन्न से घृणा भावना पनपेगी। स्वभावतः ऐसा राज्य ईर्ष्या और घृणा के सागर मे उतरेगा-डूबेगा। वहाँ मित्रता एवं सामाजिक भावना नही रहेगी।

4. राज्य का लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि यथासम्भव समाज मे विषमता का अन्त हो और बराबर तथा समान मनुष्यो का समाज बन सके। मध्यम वर्ग के लोगों में ही ऐसा होना सर्वाधिक सम्भव है।

5. मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता के पक्ष में अरस्तू एक प्रमाण यह भी देता है कि सोलन (Solan), लाइकर्गस (*Lycurgus*) आदि श्रेष्ठ नियम-निर्माताओं का जन्म मध्यम वर्ग मे ही हुआ था।

6. मध्यम वर्ग को अरस्तू एक और दृष्टि से भी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण मानता है। धनी और निर्धन—दोनों ही मध्यम वर्ग पर समान रूप से विश्वास करते है किन्तु धनी और निर्धन परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास नही करते।

उपरोक्त सब कारणों से ही अरस्तू मध्यम वर्ग की शासन-व्यवस्था को श्रेष्ठ, व्यावहारिक और अनुकरणीय मानता है। उसके अनुसार जब ऐसा नही होता तभी धनिकतन्त्र या लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव होता है और ये शीघ्र ही निरकुश शासन मे बदल जाते हैं। अधिकांश राज्य लोकतन्त्र या

धनिकतन्त्र इसीलिए होते है क्योकि इनमें मध्यम वर्ग की सख्या कम होती है । मध्यम वर्ग की प्रधानता होने की से समाज मे पारस्परिक सघर्ष कम होते हैं और एकता या सुदृढता को बल मिलता है । अरस्तू इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखता है—"केवल वही सरकार सुदृढ हो सकती है जिसमे मध्यम वर्ग अन्य दोनो (धनी तथा निर्धन) वर्गों से अधिक सख्या मे हो । इस अवस्था मे इस बात की सम्भावना नही होती कि शासको का विरोध करने मे धनी वर्ग निर्धन वर्ग के साथ मिल जाएगा । इनमे से कोई भी एक वर्ग दूसरे की सेवा करने की इच्छा नही रखता । यदि वे अपने दोनो वर्गों के लिए कोई अधिक उपयुक्त शासन-प्रणाली ढूंढना चाहें तो इससे अधिक अच्छी कोई दूसरी व्यवस्था नही हो सकती क्योकि धनी और निर्धन एक-दूसरे पर विश्वास नही करते और वे बारी-बारी से शासक और शासित बनना पसन्द नही करेगे ।"[1] मैक्सी ने अरस्तू की इस श्रेष्ठता के विचार पर कहा है—"यद्यपि मध्यम वर्ग के लोगो मे बुद्धि की प्रखरता नही होती, वे राज्य की स्थापना के लिए आदर्श नही हो सकते फिर भी इतिहास मे राज्यो में होने वाले परिवर्तनो को देखते हुए सुदृढता की दृष्टि से अरस्तू की शासन-व्यवस्था उचित प्रतीत होती है ।"[2]

अरस्तू इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से सयन्त्र जनतन्त्र (Polity of Moderate Democracy) को प्रमुखता देता है, जो मध्यम वर्ग के द्वारा चलती है, जहाँ न अधिक अमीरी है और न अधिक गरीबी । मध्यम-वर्ग सुरक्षा सुव्यवस्था की दृष्टि से भी सुन्दर है ।

अरस्तू ने अपने सर्वोत्तम अथवा आदर्श सविधान का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं दिया है । हाँ, उसने इतना अस्पष्ट निर्देश अवश्य किया है कि केवल एक ही व्यक्ति ऐसा हुआ है जिसने इस तरह की शासन-प्रणाली की स्थापना के लिए स्वय को सहमत होने दिया ।[3] लेकिन रॉस (Ross) का विचार है[4] कि अरस्तू सम्भवतः 411 ईसा पूर्व में एथेन्स में स्थापित होने वाले सविधान को श्रेष्ठ स्वीकार करता था । इसमे शासन-सत्ता 5040 व्यक्तियो की असेम्बली में निहित थी, ये अपने व्यय से शस्त्र एव भारी कवच रखते थे । इनको असेम्बली की बैठको में शामिल होने के लिए दिया जाने वाला भत्ता बन्द कर दिया था । इस विधान के निर्माण का श्रेय थेरामिनेस (Theramenes) नामक यूनानी राजनीतिज्ञ को है । बार्कर का विचार है कि "अरस्तू का अभिप्राय यहाँ सम्भवत सिकन्दर के यूनानी प्रतिनिधि और उसके मित्र अन्टिमपातेर के उस सविधान से है, जिसमे शासन सत्ता 9000 नागरिको की सस्था को सौंपी गई ।"[5]

विभिन्न शासन प्रणालियो मे श्रेष्ठता का क्रम—उपरोक्त वर्णन से यह प्रकट हो चुका है कि अरस्तू के अनुसार मध्य वर्ग की प्रभुता वाली शासन-व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है और इसे उसने सर्व-जनतन्त्र या सयत-जनतन्त्र (Polity of Moderate Democracy) कहा है, किन्तु यह श्रेष्ठता केवल व्यावहारिक दृष्टि से है अन्यथा आदर्श की दृष्टि से तो राजतन्त्र ही श्रेष्ठ है । श्रेष्ठता की दृष्टि से अरस्तू ने शासन-प्रणालियो अथवा सविधान या राज्यो का जो क्रम निश्चित किया है, वह डनिंग (Dunning) के अनुसार इस प्रकार है[6]—

(1) आदर्श राजतन्त्र (Ideal Royalty)
(2) विशुद्ध कुलीन तन्त्र (Pure Aristocracy)
(3) मिश्रित कुलीन तन्त्र (Mixed Aristocracy
(4) सयत जनतन्त्र (Polity)

1 *Barker* : Politics, p 182
2 *Maxey* · Political Philosophies, p. 72-73
3 *Barker* : Politics, p. 183.
4 *Ross* : Aristotle, p. 269-70.
5 *Barker* : Politics, p. 184.
6 *Dunning* : op. cit., p 80.

(5) अधिकतम उदार जनतन्त्र (Most Moderate Democracy)
(6) अधिकतम उदार धनिकतन्त्र (Most Moderate Oligarchy)
(7) जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र के बीच के दो प्रकार
(8) अति-जनतन्त्र (Extreme Democracy)
(9) अति-धनिकतन्त्र (Extreme Oligarchy)
(10) निरकुशतन्त्र (Tyranny)

अरस्तू मे क्रमानुसार उत्तम सविधानो की जो यह सूची दी है, उसमे चतुर्थ संयत् जनतन्त्रीय सविधान (Polity) ही सबसे उत्तम सविधान है।

आदर्श राज्य
(Ideal State)

अरस्तू ने 'पालिटिक्स' की सातवीं व आठवी पुस्तक मे आदर्श राज्य (The Ideal or the Best State) का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु स्पष्ट नही है कि उसने एक आदर्श राज्य का चित्रण किया है या एक ऐसे राज्य का चित्रण किया है जो सबसे उत्तम प्राप्य राज्य हो। वह आदर्श को व्यावहारिकता के साथ मिश्रित कर देता है। उसने राज्य का विवरणात्मक वर्णन नही दिया है अपितु सर्वाधिक लाभदायक तत्वो का वर्णन किया है। राज्य का वास्तविक उद्देश्य क्या होना चाहिए इस निर्णय को वह सर्वोत्तम राज्य के सम्बन्ध मे भी अपनाता है।[1] अरस्तू की दृष्टि मे व्यवहार मे आ सकने वाला सर्वोत्तम सविधान या राज्य तो मध्यवर्ग को प्रधानता देने वाला 'पोलिटी' या सवं जनतन्त्र है। लेकिन इसका विकास सभी राज्यो मे सम्भव नही है और इसके लिए कुछ विशेष परिस्थितियाँ की आवश्यकता होती है। अतः जिस राज्य मे ये परिस्थितियाँ सम्भव हो, वह सर्वोत्तम आदर्श राज्य (Best Ideal State) है।

अरस्तू का यह दृढ विश्वास है कि शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए राज्यो मे विशेष परिस्थितियो का होना अत्यन्त आवश्यक है और इन परिस्थितियों तक राज्यो की पहुँच होनी चाहिए। इस तरह अरस्तू शुभ जीवन के लिऐ कुछ आदर्शो की स्थापना करता है जिन्हें प्राप्त किया जा सकता है। उसके ये ही आदर्श एक आदर्श राज्य का निर्माण करते हैं। सेवाइन के शब्दो मे, "अरस्तू आदर्श राज्य पर ही नही बल्कि राज्य के आदर्शो पर पुस्तक लिखता है।"[2]

न चाहते हुए भी अरस्तू, जिस आदर्श राज्य का चित्रण कर बैठा है वह उसके गुरु की 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य से बहुत भिन्न है क्योंकि प्लेटो जहाँ एक क्रान्तिकारी आदर्शवादी के रूप मे स्वय को प्रस्तुत करता है वहाँ अरस्तू हमारे सामने एक अनुदार यथार्थवाद के रूप मे उपस्थित होता है। मैक्सी (Maxey) के शब्दो मे, "प्लेटो एक नवीन जगत पर उडने वाले वायुयान मे बैठा हुआ वह व्यक्ति है जो मेघो के परे जाकर उस भू-भाग के पर्वत, समुद्र तटो आदि की सीमा-रेखाओं को आँकता है जबकि अरस्तू ऐसा इन्जीनियर है जो वहाँ जाकर नए मार्गो का निर्माण करता है।"

अरस्तू ने आदर्श राज्य के लिए आवश्यक भौतिक एव मानसिक स्थितियो का वर्णन किया है। उसने राज्य की जनसख्या, उसके आकार तथा चरित्र, क्षेत्र तथा उसकी स्थिति और स्वरूप आदि के विशिष्ट विवरण भी दिए हैं। भूगोल, जलवायु, भूमि के निवासियो के स्वाभाविक गुण, राज्य के

1 "In this sense, democracy is best when the poor greatly exceed the rich in number, oligarchy, where the superiority of the rich in resources and power more than compensates for their inferiority in numbers, polity where the middle class is clearly superior to all the rest"
—*Dunning* A History of Political Theory, p. 80

2 "What he dose is to write a book not on an Ideal State, but upon the ideal of the State"
—*Sabine*

ढाँचे आदि का विस्तृत विवरण देते हुए अरस्तू इस परिणाम पर पहुँचा है कि जनसंख्या और क्षेत्र के दृष्टिकोण से आदर्श राज्य को न अधिक बड़ा होना चाहिए और न अधिक छोटा। अरस्तू के आदर्श राज्य को प्रो. मैकलवेन (McIlwain) ने इन शब्दों में वर्णन किया है—"अरस्तू का सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जिसमें अनुकूल स्थितियों के होते हुए तीसरे प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक से अधिक लागू होते हैं। अरस्तू के अनुसार ऐसा राज्य न तो अमीर होगा और न अधिक गरीब। वह बाहरी आक्रमण से सुरक्षित होगा, अधिक धन सग्रह तथा व्यापार या क्षेत्र के प्रसार की इच्छा से वह रहित होगा, वह एकताबद्ध, धर्मशील, सुसस्कृत, सरक्षणीय होगा, वह महत्त्वाकांक्षाओं से परे होगा, वह स्वपर्याप्त होगा, किन्तु दूसरों पर आक्रमण नहीं करेगा, वह महान् होगा किन्तु विस्तृत नहीं। वह एक सुसगठित छोटा तथा स्वतन्त्र नगर होगा जिसमें सर्वोच्च शक्ति एक अभिजात्य वर्ग के हाथ में होगी जिसके सदस्य अपने जीवन को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रखने में तथा सर्वोत्कृष्ट धर्म तथा सस्कृति के प्राप्त करने में और सबके कल्याण तथा आनन्द की खोज करने में लगे हुए बारी-बारी से शासन करेंगे तथा दूसरों का शासन मानेंगे। राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति वे लोग करेंगे जो धर्माभाव के कारण उच्चतर जीवन तथा राजनीतिक कार्यों के लिए अयोग्य हैं किन्तु अपने से नैतिक, बौद्धिक तथा इसीलिए राजनीतिक रूप में श्रेष्ठतर व्यक्तियों की देखरेख तथा निर्देशन में रहकर शारीरिक कार्य करने के लिए असमर्थ नहीं हैं। ये निम्नतर वर्ग राज्य के जीवन का आवश्यक अंग हैं, परन्तु राजनीतिक रूप से और जैविक दृष्टि से वे उसके भाग नहीं समझे जा सकते चाहे कानूनी रूप से स्वाधीन हों या दास।"

अरस्तू का आदर्श राज्य स्पष्टत: प्लेटो के 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य से बहुत भिन्न है किन्तु 'लॉज' में वर्णित आदर्श राज्य से काफी मिलता-जुलता है। इसे सेबाइन (Sabine) के शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि "अरस्तू जिसे आदर्श राज्य मानता है, वह प्लेटो का उपादर्श या द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है।"[1] उसने 'लॉज' के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—"श्रेष्ठ राज्य में कानून ही अन्तिम सम्प्रभु होना चाहिए"—को आधार बनाया। अरस्तू के आदर्श राज्य की विशेषता है—"कानूनों की प्रभुता तथा एक समुचित और सन्तुलित मात्रा में सम्पत्ति एवं निजी पारिवारिक जीवन उपलब्ध"। 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य को ठुकराते हुए अरस्तू ने कहा है कि जो शासन अपनी प्रजा की भलाई के हेतु होता है, वह कानून के अनुसार होता है, उसका आधार मानव-प्रकृति के स्वरूप पर होता है और इसीलिए ऐसे शासन की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तें असम्भव तथा असाध्य नहीं होनी चाहिए। प्लेटो का एक बड़ा दोष यह रहा कि उसने एक ओर मानव-स्वभाव की जड़ों में जमी हुई बातों का उन्मूलन करना चाहा है तो दूसरी ओर सर्वथा अव्यावहारिक या क्रियान्वित न कर सकने योग्य शर्तें जोड़ दी हैं। प्रो. मैक्सी के अनुसार, "प्लेटो का राज्य अमूर्त विचारों का एक ढाँचा है जिसे यथार्थ रूप एक दार्शनिक राजा देगा जो अपने सामने वर्तमान समस्त संस्थाओं को जड़ से उखाड़ फेंकेगा और सन्तति शास्त्र तथा शिक्षा द्वारा एक निर्दोष सामाजिक व्यवस्था में मनुष्यों की एक नवीन तथा श्रेष्ठतर जाति उत्पन्न करेगा। अरस्तू का भवन उस सामग्री से बना है जो पहले से ही मौजूद है, जिसे अच्छी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान् राजनीतिक प्रयोग कर सकता है तो भी दोनों विचारकों में एक सा ही नैतिक योग है, एक सी ही व्यवस्था की चाह, एक सा ही सन्तुलन का प्रेम, एक सी ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति आस्था, तथा शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए एक सी चिन्तना दिखाई पड़ती है।"

1 "What Aristotle calls the Ideal State is always Plato's Second Best (or sub-ideal) State."
—*Sabine*: A History of Political Theory, p 91.

अरस्तू के आदर्श राज्य की विशेषताएँ

(1) जनसख्या (Population)—अरस्तू के अनुसार राज्य में जनसंख्या न बहुत अधिक और न बहुत कम होनी चाहिए। जनसख्या का इतना अधिक होना अनुचित है कि राज्य मे व्यक्तियो को न व्यवसाय मिले और न रहने के लिए स्थान। इसी प्रकार जनसख्या इतनी कम नही होनी चाहिए कि शनैः-शनै राज्य का अस्तित्व ही खतरे मे पड जाए। इस सम्बन्ध मे अरस्तू एक जहाज का उदाहरण देते हुए कहता है कि 6 इञ्च लम्बा और 1200 फीट लम्बा, दोनो ही बेकार है। इसी तरह राज्य की जनसंख्या भी बहुत कम या बहुत अधिक होना ठीक नही है। अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य की कोई निश्चित जनसख्या नही देता। उसके अनुसार एक अच्छे राज्य मे इतनी जनसख्या होनी चाहिए कि प्रत्येक नागरिक एक-दूसरे को जानता हो जिससे वह विभिन्न स्थानो के लिए उपयुक्त व्यक्तियो का निर्वाचन कर सके। राज्य की इतनी जनसख्या होनी चाहिए जो राज्य को आत्म-निर्भरता प्रदान करे और उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त हो। इस तरह अरस्तू का सकेत नगर-राज्य की ओर ही है, क्योंकि वर्तमान राज्यो मे तो यह असम्भव-सा लगता है कि नागरिक एक-दूसरे से परिचित हो।

अरस्तू का कहना है कि राज्य को चाहिए कि वह ऐसा हर-सम्भव प्रयत्न करे जिससे जनसख्या न तो आवश्यकता से अधिक बढे और न ही उससे कम हो। राज्य आवश्यकता पडने पर विवाह आदि के नियम निर्धारित करे। विवाह के लिए कम से कम और अधिक से अधिक आयु निश्चित की जाए। साथ ही ऐसी माता को सन्तान उत्पन्न नही करने दिया जाए जो अस्वस्थ या विकृत हो। विकृत अग वाले बच्चो को राज्य नष्ट भी कर सकता है।

(2) प्रदेश (Territory)—राज्य का क्षेत्र भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। वह न इतना छोटा होना चाहिए कि आजीविका कठिन हो जाए और न इतना बड़ा हो कि लोग विलासिता का जीवन बिताएँ। राज्य की भूमि इतनी होनी चाहिए जिससे जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें और उस पर निवास करने वाली जनता "सयम और उदारता से समन्वित अवकाशपूर्ण जीवन बिता सके। राज्य का प्रदेश और उसकी सीमाएँ ऐसी होनी चाहिए कि राज्य बाह्य आक्रमण से सुरक्षित हो तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो। अरस्तू का यह विचार है कि भूमि समुद्र के समीप होनी चाहिए ताकि आवश्यक सामग्री का आयात हो सके। भूमि का इतना छोटा होना उचित है कि किसी ऊँचे स्थान या ऊँची चोटी से भली प्रकार देखा जा सके, क्योंकि ऐसी भूमि की रक्षा सरलता से हो सकती है। इसके साथ ही राज्य की भूमि का ऐसे स्थान पर होना उत्तम है जहाँ जल और स्थल दोनो भागो से सरलता से पहुँचा जा सके। इस सम्बन्ध मे प्लेटो के विचार अरस्तू से भिन्न है। वह अपने आदर्श राज्य को समुद्र से दूर रखना चाहता है ताकि अवांछनीय विदेशी और व्यापारी तत्वो का आगमन न हो सके। अरस्तू तो राज्य की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली जल सेना और राज्य के चारो ओर एक सुदृढ परकोटे की भी व्यवस्था करता है।

अरस्तू का यह भी मत है कि राज्य की भूमि दो भागो मे बँटी हुई होनी चाहिए—सार्वजनिक एव व्यक्तिगत। पूजा-गृह एव राज्योपयोगी भूमि सार्वजनिक तथा शेष व्यक्तिगत होगी।

(3) जनता का चरित्र (Character of the People)—अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य के नागरिको का चरित्र और उनकी योग्यता यूनानी विशेषताओ के अनुरूप होनी चाहिए जिसमे उत्तरी जातियो का उत्साह और एशियन लोगो का विवेक-दोनो का मिश्रण पाया जाता है। अरस्तू की धारणा है कि आदर्श राज्य में मनुष्य और नागरिक गुण समान होने से सभी अच्छे मनुष्य ही अच्छे नागरिक होंगे।

(4) राज्य मे आवश्यक वर्ग (Classes in the State)—अरस्तू के आदर्श राज्य मे 6 प्रकार की आवश्यकताएँ मुख्य है—भोजन, कला-कौशल, शस्त्र, सम्पत्ति, सार्वजनिक देव-पूजा और

सार्वजनिक हित का निर्धारण। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आदर्श राज्य में 6 प्रकार के वर्ग होने चाहिए-कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पत्तिशाली वर्ग, पुरोहित और प्रशासक। इन 6 वर्गों में से प्रथम दो वर्गों अर्थात् कृषक और शिल्पियों को अरस्तू नागरिकता के अधिकार नहीं देता। शेष अन्य चार वर्गों को वह यह अधिकार देता है।

अरस्तू के इस सामाजिक वर्गीकरण की एक विशेषता यह है कि वह जन्मजात अथवा जातिगत या कर्म के आधार पर व्यक्तियों को विभिन्न वर्गों में नहीं बाँटता। वह यह वर्गीकरण आयु के अनुसार करता है। उसकी व्यवस्था यह है कि नागरिक युवावस्था में योद्धा के रूप में कार्य करें, प्रौढ़ावस्था में शासन सम्बन्धी विषयों का चिन्तन करें और वृद्धावस्था में सार्वजनिक देव-पूजा और पुरोहितों का काम करें। इनका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि प्रत्येक वर्ग का दूसरा वर्ग आदर करेगा क्योंकि सभी व्यक्ति किसी न किसी आयु में सभी वर्गों में रह चुकेंगे।

अरस्तू की उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्था से प्रकट होता है कि वह अवस्थानुसार प्रत्येक नागरिक को तीन कार्य देता है जबकि प्लेटो एक व्यक्ति को एक ही काम देने के पक्ष में है।

अरस्तू की इस वर्ग-व्यवस्था में कृषकों और शिल्पियों को नागरिकता से वंचित रखना आदर्श राज्य के मस्तक पर एक कलंक लगाना है। अरस्तू द्वारा आदर्श राज्य में दासों की जो व्यवस्था की गई है उसे उचित नहीं कहा जा सकता। आखिर यह कैसा आदर्श राज्य है जिसमें लगभग आधे व्यक्तियों को नागरिक ही न समझा जाए ?

(5) शिक्षा (Education)—प्लेटो की भाँति ही अरस्तू भी आदर्श-राज्य में शिक्षा पर बहुत महत्त्व देता है। आदर्श राज्य का उद्देश्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति है और शुभ जीवन के लिए व्यक्ति का चरित्रवान्, स्वस्थ तथा कर्त्तव्य-परायण होना अनिवार्य है। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। शिक्षा ही मनुष्य का भौतिक, मानसिक और नैतिक विकास करती है। अरस्तू अवकाश प्राप्त वर्गों के लिए एक-सी अनिवार्य और सार्वजनिक शिक्षा प्रस्तावित करता है। उसके अनुसार शिक्षा बाल्यकाल से राज्य की देख-रेख में प्रारम्भ होनी चाहिए। 7 से 14 वर्ष की अवस्था तक स्वास्थ्य और नैतिक विकास सम्बन्धी शिक्षा तथा 14 से 21 वर्ष की आयु तक बौद्धिक शिक्षा और बाद में व्यापार सम्बन्धी शिक्षा पर बल दिया गया है। प्लेटो की भाँति अरस्तू भी अनिवार्य सैनिक शिक्षा की व्यवस्था करता है और गणित तथा संगीत को विशेष स्थान देता है।

(6) अन्य विशेषताएँ (Miscellaneous Characteristics)—अरस्तू अपने आदर्श राज्य के लिए अन्य विशेषताओं का भी वर्णन करता है, जैसे बाह्य आक्रमणों से बचाने के लिए रक्षा के अन्य साधन हों, राज्य में पानी, सड़कों, किलों आदि की सुन्दर व्यवस्था हो। आदर्श राज्य में वह शासन की तीन संस्थाओं का भी उल्लेख करता है। उनके अनुसार सोचने का कार्य करने के लिए समस्त नागरिकों की एक लोकप्रिय सभा (Popular Assembly) होनी चाहिए जिसके समक्ष शासन के अन्तिम निर्णय प्रस्तुत किए जाएँ। दूसरा अंग मजिस्ट्रेटों का तथा तीसरा अंग न्यायपालिका का होना चाहिए।

अरस्तू और प्लेटो के आदर्श राज्य : एक तुलना

(1) अरस्तू प्लेटो की तरह राज्य की एकता पर अत्यधिक बल न देते हुए इसे स्थापित करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार की व्यवस्था का उन्मूलन नहीं करता।

(2) अरस्तू का नागरिक प्लेटो के नागरिक की भाँति राज्य में पूर्णतः विलीन नहीं होता। वह तो राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य निभाता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त करता है।

(3) प्लेटो की तरह आदर्शों के पंखों पर न उड़ते हुए अरस्तू अपने आदर्श राज्य को व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप देना चाहता है।

प्लेटो अपने आदर्श राज्य का निर्माण निरपेक्ष अथवा निरंकुश शासन के सिद्धान्त पर
करता है जबकि अरस्तू 'लॉज' के इस सिद्धान्त को अपनाता है कि "एक श्रेष्ठ राज्य मे अन्तिम प्रभुता
विधि या कानून की होनी चाहिए ।"

(5) अरस्तू प्लेटो से हर बात मे सहमत नही है, उदाहरणार्थ वह अपने आदर्श राज्य के
लिए समुद्र-तट के निकटवर्ती स्थान को अधिक पसन्द करता है।

(6) जैसा कि मैक्सी ने लिखा है "प्लेटो का आदर्श राज्य अमूर्त विचारो का ढांचा है जिसे
दार्शनिक नरेश द्वारा यथार्थ स्वरूप प्रदान किया जाता है। दार्शनिक राजा सभी वर्तमान सस्थाओ का
उन्मूलन करके और शिक्षा एव सन्तति शास्त्र द्वारा निर्दोष सामाजिक व्यवस्था स्थापित करके एक नवीन
और श्रेष्ठतर मानव जाति उत्पन्न करता है। इनके विपरीत, अरस्तू का आदर्श राज्य उस सामग्री से
बना है जो पहले से मौजूद है, जिसे भली-भांति परखा और समझा जा चुका है तथा जिसे हर बुद्धिमान्
राजनीतिज्ञ प्रयोग मे ला सकता है ।"

इन असमानताओ के बावजूद, यह स्वीकार करना होगा कि अपने-अपने आदर्श राज्य के
चित्रण मे प्लेटो और अरस्तू जिन विचारो से निर्देशित हुए हैं उनमे पर्याप्त समानता है। दोनों दार्शनिकों
ने लगभग एक-सी भावनाओ से प्रेरित होकर अपने आदर्श राज्य का शिलान्यास किया है। मैक्सी के
शब्दो मे, "दोनो विधायें एक-सा ही नैतिक उत्साह, व्यवस्था के लिए एक-सी इच्छा, सयम के लिए
समान प्रेम, न्याय और विवेक के प्रति समान निष्ठा, शिक्षा मे समान विश्वास, मानवता मे समान आस्था
और शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए समान चिन्ता व्यक्त करते हैं ।"

अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Revolution)

राज्य क्रान्तियाँ किसी भी राज्य और समाज के लिए सदैव महान् समस्याएँ बनी रही है और
उनके पीछे कोई न कोई कारण रहे हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व मे आज तक होने
वाली सभी क्रान्तियाँ मनुष्य के मस्तिष्क से उत्पन्न हुईं, चाहे वे कुशासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप हुई
हो और चाहे कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियो के स्वार्थ की भावना से उत्पन्न हुई हो। सिकलेयर (Sinclair)
ने लिखा है कि "न्याय एव मैत्री राज्य के आधार है, अन्याय एव घृणा राज्य के पतन और अस्थिरता
के स्पष्ट चिह्न हैं। राज्य मे असमानता और अन्याय के कारण द्वेषभाव एव फूट की भावनाएँ पैदा
होती हैं। जिस राज्य मे नागरिक अनुभव करे कि उन्हे समान अधिकार नही दिए जा रहे हैं और उनके
साथ न्याय नही किया जा रहा है, उनमे कभी भी सहयोग एव एकता की भावनाएँ उन्नति नही
कर सकती ।"[1]

अरस्तू के समय यूनान के राज्यो के स्वरूप और सविधानो मे शीघ्र परिवर्तन होने लगे थे।
यह अस्थिरता और नित्य नई परिवर्तनशीलता यूनानी राजनीतिक जीवन की सबसे बडी विशेषता बन
चुकी थी। लगभग प्रत्येक नगर राज्य विभिन्न शासन प्रणालियो—राजतन्त्र, धनिकतन्त्र, जनतन्त्र,
निरंकुशतन्त्र आदि मे से गुजर चुका था अतः अरस्तू के लिए यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक
स्थिरता के उपाय खोजता ।

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की पाँचवी पुस्तक मे क्रान्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इनके
कारणो पर प्रकाश डाला है और इनके समाधान करने के महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाए हैं। गैटेल का कहना
है—'पॉलिटिक्स' राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध अध्ययन ही नही वरन् शासन की कला पर एक ग्रन्थ है
जिसमे अरस्तू द्वारा यूनानी-नगर-राज्यो मे प्रचलित बुराइयो और उनके राजनीतिक सगठन के दोषो का
विश्लेषण किया गया है और ऐसे व्यावहारिक सुझाव दिए गए है जिनमे आपत्तिसूचक भयो का निराकरण

1 Sinclair History of Greek Political Thought, p 229.

किया जा सकता है। क्रान्तियो के प्रति अरस्तू के यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण ही पोलॉक (Polock और अन्य विचारक मानते है कि अरस्तू ही प्रथम दार्शनिक है जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथ किया है। यहाँ वह मैकियावली (Machiavelli) के निकट आ जाता है।

अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो के उपादर्श राज्य का ही सशोधित रूप है। प्लेटो जब स्व अपने आदर्श राज्य को ठुकरा कर ऐसे उपादर्श राज्य की स्थापना करता है जो निर्मित किया जा सकत है तो अरस्तू के यथार्थवादी मन को प्लेटो की योजना पसन्द आ जाती है। यह एक तथ्य है कि जीव के अन्तिम काल मे प्लेटो जिन आदर्शों की स्थापना करता है, वे अरस्तू को स्वीकार्य हैं। सिन्कलेय (Sinclair) के शब्दो मे, "अरस्तू वहाँ से आरम्भ करता है जहाँ प्लेटो छोड़ देता है।"

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ

क्रान्ति सम्बन्धी अरस्तू की धारणा वर्तमान क्रान्ति सम्बन्धी धारणा से भिन्न है। अरस्तू के अनुसार क्रान्ति से तात्पर्य किसी विशेष युग और देश से सम्बन्धित क्रान्तियो से नही है। वह क्रान्ति का अर्थ उस अर्थ मे नही लेता है जिस अर्थ मे हम फ्रांस की क्रान्ति, रूस की क्रान्ति, इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति को लेते हैं। उसके मत मे किसी राज्य मे जनता या जनता के किसी भाग द्वारा सशस्त्र विद्रोह का नाम भी क्रान्ति नही है। उसके अनुसार क्रान्ति का अर्थ है सविधान मे हर छोटा-बडा परिवर्तन। यह आवश्यक नही है कि सविधान मे पूर्णत परिवर्तन होता है या आंशिक, सशस्त्र होता है या बिना किसी विशेष घटना के। सविधान में पूर्ण परिवर्तन के परिणामस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है—इसे हम पूर्ण क्रान्ति की सज्ञा दे सकते है किन्तु जब सविधान मे परिवर्तन के फलस्वरूप उसके किसी एक भाग मे थोडे बहुत भाग मे परिवर्तन होता है तो इसे आंशिक क्रान्ति कहा जाना चाहिए। सविधान मे परिवर्तन, निर्वाचन द्वारा, धोखे से, सशस्त्र विद्रोह से अथवा अन्य रक्तहीन उपायो द्वारा हो सकता है।

अरस्तू ने इस विषय में क्रान्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए क्रान्ति के अग्रलिखित मुख्य प्रकार बताए है—

(1) **आंशिक और पूर्ण क्रान्ति**—यदि सम्पूर्ण सविधान बदल दिया जाता है तो वह पूर्ण क्रान्ति है और जब केवल कोई महत्त्वपूर्ण भाग बदला जाता है तो वह आंशिक क्रान्ति है।

(2) **रक्तपूर्ण और रक्तहीन क्रान्ति**—सशस्त्र विद्रोह एवं रक्तपात द्वारा किया जाने वाले संविधान में परिवर्तन रक्तपूर्ण क्रान्ति है, अन्यथा उसे रक्तहीन क्रान्ति कहा जाएगा।

(3) **व्यक्तिगत और गैर-व्यक्तिगत क्रान्ति**—जब किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को हटाकर सविधान में परिवर्तन किया जाए तो वह व्यक्तिगत क्रान्ति कहलाएगी किन्तु बिना शासक को बदले सविधान में किए जाने वाला परिवर्तन गैर-व्यक्तिगत क्रान्ति होगी।

(4) **वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति**—धनिकतन्त्र या अन्य किसी वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति करके किया जाने वाला सवैधानिक परिवर्तन इस प्रकार की क्रान्ति की कोटि में आएगा।

(5) **वैचारिक क्रान्ति**—जब किसी राज्य में कुछ वक्तागण अपने भाषणो या शब्दजाल द्वारा राज्य मे क्रान्ति ला दें तो इसे वैचारिक या वाग्वीरो की क्रान्ति (Demogogic Revolution) कहा जाएगा।

क्रान्ति के कारण

अरस्तू ने क्रान्तियो के कारणो की चर्चा करते हुए उन्हे तीन भागो में विभाजित किया है—

1 क्रान्तियो के मूल कारण,
2 क्रान्तियो के सामान्य कारण एव
3 विशिष्ट शासन-प्रणालियो में क्रान्ति के विशेष कारण।

(1) **क्रान्तियों के मूल कारण**—अरस्तू क्रान्ति का कारण समानता की भावना को मानता है। यह समानता दो प्रकार की होती है—संख्यात्मक समानता और योग्यता सम्बन्धी समानता

योग्यता सम्बन्धी समानता से अरस्तू का अभिप्राय आनुपातिक समानता (Proportionate Equality) से है। अरस्तू का मत है कि सभी मनुष्य प्रायः इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष (Absolute Justice) योग्यता के अनुपात में होनी चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में योग्यता के प्रश्न पर उनमें मतभेद होता है। वे सोचते हैं कि जब मनुष्यता की दृष्टि से सभी समान हैं तो फिर अधिकारों, धन-सम्पत्ति आदि में भी किसी प्रकार की विषमता न होकर समानता होनी चाहिए। जन वर्ग सदा अपनी समानता की तुलना दूसरों से करता है। जब वह देखता है कि एक ही प्रकार से जन्म होने पर भी उसे कम अधिकार प्राप्त हैं तो उसमें असन्तोष जाग्रत होता है और यही असन्तोष विकराल रूप धारण करके क्रान्ति में परिणत हो जाता है। अरस्तू समानता की इच्छा को राज्य क्रान्ति का जन्मदाता होने के पक्ष में अनेक उदाहरण देता है। उसके अनुसार जनतन्त्री (Democrats) कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति से ही स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है, अतः राजनैतिक दृष्टि से उन्हें पूर्ण रूप में समान होना चाहिए। अथवा धनतन्त्री कहते हैं कि व्यक्ति किसी विशेष बात में असमान हैं, अतः वे सभी बातों में असमान रहेंगे। अरस्तू के अनुसार समानता की इन विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष से क्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। अधिकारों की विषमता समानता के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाली जनता को सहन नहीं होती। विषमता का अन्त करके समानता स्थापित करने की भावना से एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है। वास्तव में क्रान्ति का सबसे बड़ा कारण न्याय का यह एकाङ्गी दूषित दृष्टिकोण ही है। जब कभी जनता का कोई भाग यह अनुभव करता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है तो राज्य में क्रान्ति के बीज पैदा हो जाते हैं।

(2) क्रान्तियों के सामान्य कारण—(क) शासकों की धृष्टता और लोभ की लालसा—जब शासक या शासक-वर्ग धृष्टतावश जनहित की चिन्ता नहीं करता अथवा सार्वजनिक कल्याण की भावना को छोड़कर अपना घर भरने की फिक्र में लग जाता है तो जनता में उसके विरुद्ध असन्तोष भड़क उठता है जो उग्र होकर क्रान्ति का रूप ले लेता है।

(ख) सम्मान की लालसा—सम्मान पाने की इच्छा सभी को होती है, लेकिन जब शासक-वर्ग किसी को अनुचित ढंग से सम्मान देता है या किसी को अनुचित ढंग से अपमानित करता है तो शनैः-शनैः जनता के लिए शासक वर्ग का यह रवैया असह्य हो उठता है और वह उसके विरुद्ध आवाज उठाती है।

(ग) श्रेष्ठता की भावना—जब समाज में कुछ लोग अन्य लोगों से अपने को श्रेष्ठ समझने लगते हैं और अपने धन और अपनी कुलीनता के आधार पर शासन को हथियाने का प्रयत्न करते हैं, तो वे जनता में क्रान्ति के बीजों को बोते हैं। कालान्तर में राज्य के प्रति निष्ठा न रहने की भावना का विस्फोट हो जाता है और वह क्रान्ति के रूप में प्रकट होती है।

(घ) घृणा और परस्पर विरोधी विचारधाराएँ—घृणा और परस्परविरोधी विचारधाराएँ भी राज्य-क्रान्ति को जन्म देती हैं। राज्य में जब एक वर्ग सत्ता को ग्रहण किए हुए रहता है तो दूसरा वर्ग उससे घृणा करने लगता है। जब यह घृणा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो क्रान्ति उग्र रूप धारण कर लेती है। इसी तरह परस्पर विपरीत विचारधाराएँ समाज में विरोधी राजनैतिक वर्गों को जन्म देती हैं। ये वर्ग एक-दूसरे की सत्ता और महत्ता को स्वीकार नहीं करते फलतः क्रान्ति हो जाती है। अरस्तू की क्रान्ति सम्बन्धी यह धारणा वास्तविकता के अत्यन्त निकट है। आज भी पूँजीवाद और साम्यवाद इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं और इसके मध्य की घृणा ने संसार को आधुनिक क्रान्तियों का रंगस्थल बना रखा है।

(ङ) भय—अरस्तू के अनुसार भय दो प्रकार से व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाध्य करता है—(i) अपराधी दण्ड-भय से बचने के लिए विद्रोह कर देते हैं, (ii) कुछ व्यक्तियों को यह भय होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है, अतः इसके प्रतिकार-स्वरूप से विद्रोह कर बैठते हैं। कभी-कभी

यह भय कि अमुक वर्ग या अमुक दल द्वारा राज्य में क्रान्ति न हो जाए, दूसरे वर्ग को क्रान्ति की प्रेरणा दे देता है। अविश्वास भय को जन्म देता है और भय क्रान्ति को।

(च) द्वेष-भावना—राज्याधिकारियो के पारस्परिक वैमनस्य के परिणामस्वरूप भी क्रान्तियों का जन्म होता है। उनके अशिष्ट व्यवहार और स्वार्थ-साधन से पीडित व अपमानित होकर लोग विद्रोह का भण्डा खडा कर देते हैं। साथ ही पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण अधिकारीगण भी एक-दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति का बीजारोपण करने से नहीं चूकते। वर्तमानकाल में अनेक राज्यो मे होने वाली क्रान्तियो के पीछे शासन और देश के महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियो का जितना हाथ रहता है वह राजनीति मे और विश्व के सामान्य समाचारो में रुचि रखने वाले किसी भी सामान्य जन के लिए एक खुली पोथी है।

(छ) जातियों की विभिन्नता—अरस्तू के मत से क्रान्ति का एक कारण जातियों की विभिन्नता भी है। विभिन्न जातियो के लोग सरलता से राज्य के अनुकूल नही बनाए जा सकते। जाति-विभिन्नता समाज मे एकता की भावना का अभ्युदय नही करती। इसके कारण राज्य मे द्वेष, कलह, फूट आदि के बीज विद्यमान रहते हैं जो कभी-कभी क्रान्ति को जन्म दे देते हैं।

(ज) राज्य के किसी अंग की अनुपात से अधिक असाधारण वृद्धि—यह भी क्रान्ति का एक मुख्य कारण है। यदि भौगोलिक अवस्था अच्छी होती है अथवा राज्य के किसी अंग, प्रदेश, वर्ग आदि मे विशेष वृद्धि होती है तो इससे दूसरे प्रदेश तथा वर्गो मे चिन्ता और द्वेष हो जाना स्वाभाविक है। इसका परिणाम कभी-कभी क्रान्ति के रूप मे सामने आता है। इस प्रकार की क्रान्ति का उदाहरण भी अरस्तू ने दिया है—"480 ई. पू. के पश्चात् तरेन्तम का सर्वजतन्त्र (Polity) लोकतन्त्र मे परिणत हो गया क्योकि इयापिगियन जाति के आक्रमणो के कारण इस नगर के अनेक गण्यमान्य पुरुषो के मारे जाने से साधारण जनता की संख्या मे वृद्धि हो गई। एथेन्स मे लोकतन्त्र के प्रबल होने के कारण पेलोपोनेशियन युद्ध (431–404 ई पू) में प्रतिष्ठित नागरिको का बड़ी संख्या मे मारा जाना था।" लोकतन्त्र में निर्धनों की संख्या अधिक बढ जाने पर कालान्तर मे यह वर्ग, अभाव, असन्तोष आदि से ग्रसित होकर सत्तारूढ वर्ग के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है।

(झ) निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र—निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र भी बड़े-बड़े विस्फोट करते हैं। निर्वाचन सम्बन्धी बुराइयो को समाप्त करने के लिए कभी-कभी शासक के रूप को ही लोग बदल डालते हैं।

(ञ) अल्प-परिवर्तनों की उपेक्षा—राज्य-क्रान्ति अल्प-परिवर्तनो की उपेक्षा से भी होती है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सभी वस्तुओ में परिवर्तन होता रहता है। हम या तो इन अल्प-परिवर्तनो को समझ नही पाते हैं या इनकी उपेक्षा करते हैं। कालान्तर मे ये क्रान्ति के कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ राज्य मे वर्ग विशेष किसी प्रकार असन्तोष और परिवर्तन की भावना को उत्पन्न किए रहते हैं। यदि समय पर इन परिवर्तनो पर प्रतिबन्ध नही लगाया जाता है तो ये गम्भीर रूप धारण करके राज्य-क्रान्ति का रूप धारण कर लेते हैं। छोटी सी बात कभी विकराल रूप धारण कर क्रान्ति को जन्म देती है। उदाहरणार्थ अम्ब्रासिया (Ambrasia) मे मताधिकार की शर्तों में सामान्य परिवर्तन करने से ही शासन में क्रान्ति हो गई थी।

(ट) विदेशियो को आने की खुली छूट—जब राज्य अपनी स्थापना के समय या बाद मे विदेशियो को बसने की आज्ञा देता है तो एक प्रकार से वह क्रान्ति का संकट आमन्त्रित करता है। वास्तव मे यह सही भी है। यदि भारतीय शासक अंग्रेजो, पुर्तगालियो आदि विदेशियों को भारत मे बसने देते तो सम्भवत भारत का इतिहास ही दूसरा होता।

(ठ) पारिवारिक विवाद—पारिवारिक संघर्ष भी क्रान्ति का सूत्रपात करते हैं। अनेक बार दो राजकुमारो के प्रणय का कलह क्रान्ति का कारण बन जाता है।

(च) शासक वर्ग की असावधानी—कभी-कभी शासक वर्ग की अज्ञानता और असावधानी के कारण राजद्रोहियो को महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त कर दिया जाता है। समय और अवसर पर ये व्यक्ति शासन का तख्ता उलट देते है।

(छ) मध्यम वर्ग का अभाव—मध्यम वर्ग समाज मे सन्तुलन बनाए रखने मे सहायक होता है। इसके अभाव मे धनियो और निर्धनो के मध्य खाई बहुत गहरी हो जाती है अत' इस वर्ग की समाप्ति पर क्रान्ति शीघ्र सम्भव है।

(ज) शक्ति सन्तुलन—राज्य मे परस्पर विरोधी वर्गो मे शक्ति मे सन्तुलन होना भी क्रान्ति को जन्म देता है। बहुधा निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लडाई मोल नही लेगा लेकिन सम-शक्ति सतुलन होने पर दोनो ही को सफलता की सम्भावना रहती है और कोई भी एक पक्ष विद्रोह कर बैठता है।

(3) विभिन्न शासन प्रणालियो मे क्रान्ति के कारण—(i) एकतन्त्र मे क्रान्ति—एकतन्त्र मे क्रान्ति को जन्म देने वाले प्रमुख कारण पारिवारिक झगडे पारस्परिक द्वेष-भाव, घृणा, शासक द्वारा जनता पर अत्याचार आदि है। अत्यधिक सताए जाने पर जनता विद्रोह कर बैठती है। स्वेच्छाचारी राजतन्त्र मे शासक की निरकुशता ही क्रान्ति का कारण बन जाती है।

(ii) कुलीनतन्त्र मे क्रान्ति—इस शासन मे भाग लेने वाले व्यक्तियो की सख्या सीमित होती है। सीमित लोगो को पद एव प्रतिष्ठा की प्राप्ति और अन्य लोगो के प्रति शासको की अपेक्षा तथा शासक वर्ग द्वारा धृष्ठता का मार्ग ग्रहण करना आदि ऐसे कारण है जिनसे जनता मे असन्तोष घर कर जाता है और सम्पूर्ण जनता या उसका कोई वर्ग क्रान्ति कर देता है। विभिन्न वर्गो मे उचित सामञ्जस्य का अभाव ही कुलीनतन्त्र की जडे खोदता है।

(iii) प्रजातन्त्र मे क्रान्ति—प्रजातन्त्र मे लोकनेताओ की अधिकता के कारण क्रान्ति पैदा होती है। ये नेता निर्धनो का प्रतिनिधित्व लेकर धनी वर्ग के विरुद्ध जनमत स्थापित करते है। परिणामत' धनी वर्ग क्रान्ति की शरण लेता है। कॉस (Coss), रोड्स (Rhodes) और मेगर (Megara) के नगर राज्यो मे जनतन्त्र के विनष्ट होने का भी यही कारण था। जनतन्त्र मे इस कारण भी क्रान्ति होती है कि भाषण वीर (Bemogogues) सत्य-असत्य का सहारा लेकर जनता को भडकाते है, अपने पक्ष मे करते है और तब सत्ता हथिया कर तानाशाही के रास्ते पर चल पडते है। उच्च जनतन्त्र मे क्रान्ति उस समय होती है जब सर्व साधारण मनुष्य को शासको के समान सद्गुणी समझने लगते है।

यदि अरस्तू द्वारा बतलाए गए क्रान्ति के उपरोक्त कारणो पर विचार करे तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ससार की प्रत्येक क्रान्ति के पीछे अरस्तू द्वारा वर्णित कोई न कोई कारण अवश्य रहा है।

क्रान्तियो से बचने के उपाय (Means for Preventing Revolutions)

अरस्तू ने राज्य क्रान्ति के कारणो पर व्यापक प्रकाश डालने के साथ-साथ क्रान्तियो को रोकने के उपायो पर भी प्रकाश डाला है। डनिंग (Dunning) के शब्दो मे, "अरस्तू क्रान्तियो को उत्पन्न कराने वाले कारणो की विस्तृत सूची देने के पश्चात् उसके समान ही प्रभावोत्पादक उनको रोकने वाले उपायो की सूची भी देता है।" अरस्तू की इस महत्त्वपूर्ण देन के बारे मे मैक्सी (Maxey) का मत है कि, "आधुनिक राजनीतिक विचारक शायद ही क्रान्ति को रोकने का अरस्तू के उपायो के अतिरिक्त कोई अन्य ठोस उपाय बता सकें।"

अरस्तू द्वारा क्रान्ति के जो विरोधात्मक उपाय बताए गए है, वे निम्नलिखित है—

(i) शक्ति पर नियन्त्रण—राज्य मे किसी भी वर्ग के हाथ मे अधिक शक्तियाँ नही देनी चाहिएँ, क्योकि एक व्यक्ति के हाथ मे शक्तियो का केन्द्रीकरण होने से विद्रोह की सम्भावना अधिक

होती है। यह कभी नही भूलना चाहिए कि "शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट करती है (Power corrupts, absolute power corrupts absolutely)।" अतएव शक्ति का विभाजन होना चाहिए। शक्ति का बाहुल्य तो राज्य मे असन्तोष का जनक होता है।

(ii) जनता में संविधान के प्रति आस्था बनाए रखना—जनता से न्याय और संविधान के प्रति आस्था बनाए रखना क्रान्ति से बचने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। शासक वर्ग को इस बात का हर सम्भव उपाय करना चाहिए कि राज्य के समस्त नागरिको के हृदय मे कानूनो के प्रति आस्था और प्रतिष्ठा की भावना जाग्रत हो जाए ताकि वे विधि-विधान का उल्लंघन न करें और फलतः क्रान्ति को जन्म न दे। चूँकि नागरिको मे सुव्यवस्थित शिक्षा के द्वारा ऐसी भावना का विकास किया जा सकता है, अत अरस्तू नागरिको की समुचित शिक्षा पर विशेष बल देता है।

(iii) सम्मान, पदो आदि का न्यायपूर्ण वितरण—अरस्तू का कहना है कि पदो में असमानता और सम्मान मे अतिक्रमता के कारण राज्य मे क्रान्ति की सम्भावना रहती है अतः पद, लाभ, सम्मान, पुरस्कार आदि निष्पक्ष दृष्टि से अधिक से अधिक लोगो को दिए जाने चाहिए जिससे सन्तुष्ट वर्गों की तुष्टि हो। राज्य मे कोई भी व्यक्ति यह समझे कि राजनीतिक पदो को प्राप्त करना असम्भव है, बल्कि उसमें यह भावना बैठ जानी चाहिए कि योग्यतानुसार कोई भी व्यक्ति इन पदो को प्राप्त कर सकता है। निम्न पदो की कार्याविधि दीर्घ समय के लिए कर दी जानी चाहिए। किसी अजनबी व्यक्ति को राजनीतिक पदो पर आसीन नही किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी भी नागरिक को राजनीतिक पदो पर एकाधिकार न करने देना क्रान्ति को रोकने मे बड़ा सहायक है।

(iv) राज्य को परिवर्तनो के प्रारम्भ मे बचाना—क्रान्ति का अर्थ 'परिवर्तन' है अतः जहाँ तक हो सके, राज्य को परिवर्तनों के प्रारम्भ से बचाना चाहिए। इन परिवर्तनो के मूल में ही क्रान्ति के बीज निहित रहते हैं राज्य को क्रान्ति की ओर अग्रसर करने वाली शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए।

(v) आर्थिक असमानता कम करना—समाज मे अत्यधिक आर्थिक असमानता क्रान्ति की जनक होती है। अरस्तू का मत है कि राज्य की ओर से निरन्तर यह प्रयत्न होना चाहिए कि समाज मे आर्थिक विषमता कम से कम हो यह वांछित है कि धन का वितरण इस प्रकार हो जिससे न तो वर्ग-विशेष मे अत्यधिक सम्पन्न बन जाए और न दूसरा वर्ग अत्यन्त निर्धन।

(vi) समाज मे मध्यम वर्ग को बढ़ावा—क्रान्तियो से बचने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय यह है कि समाज मे स्वस्थ मध्यम वर्ग को जन्म दिया जाए। यह मध्यम वर्ग, धनिको और निर्धनो के बीच सन्तुलन का कार्य करेगा।

(vii) दो विरोधात्मक प्रवृत्ति के लोगो के हाथ मे सत्ता—क्रान्ति को नियन्त्रित करने वाला एक अन्य उपाय यह है कि राज्य की सत्ता दो विरोधात्मक प्रवृत्ति के लोगो के हाथ मे होनी चाहिए। प्रतिभाशाली गुणी व्यक्तियो और धनियो के मध्य एक सामंजस्य की स्थापना की जानी चाहिए। राज्य का संगठन धनी और निर्धनो के बराबर प्रतिशत के आधार पर किया जाना चाहिए ताकि असमानता का नाश हो और क्रान्तिकारी दल का उदय न हो पाए।

(viii) धनोपार्जन की भावना का दमन—सरकार का संगठन इतना दृढ़ होना चाहिए कि राजनीतिक पदाधिकारी अपने पदो का अनुचित लाभ उठाकर धनसंचय न कर सकें। रिश्वतखोरी और इसी तरह के अन्य अनियमित कार्यों को करने से उन्हें रोकना चाहिए। राज्य मे एक ऐसा सामाजिक वातावरण पैदा किया जाना चाहिए कि राज्य के पदाधिकारी अथवा शासनाधिकारी पद-लिप्सा और अपनी स्वार्थपूर्ण कुत्सित अभिलाषाओं की ओर आकर्षित न हो सके।

(ix) अरस्तू का विचार है यदि राज्याधिकारियो की अवधि कम रखी जावेगी तो क्रान्ति का प्रतिकार किया जा सकता है। वह चाहता है राज्य में ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाए जिसके

ानुसार किसी भी अधिकारी वर्ग को छः माह से अधिक की अवधि शासन करने के लिए न दी जावे। इसका बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि वंचित वर्ग के मनुष्य भी बारी-बारी से पद प्राप्त कर सकेंगे अर्थात् उन्हें भी शासन करने का अवसर मिल जाएगा और उनकी महत्त्वाकांक्षा या भावी मनोकामना की पूर्ति हो जावेगी।

(x) क्रान्ति को रोकने के लिए एक मनोवैज्ञानिक उपाय का अरस्तू सुझाव देता है कि राज्य को चाहिए कि वह भावी संकटों से नागरिकों को आतंकित रखे। राज्य नए-नए संकटों से उन्हें आबद्ध कर दे ताकि क्रान्तिकारी कदम उठाने का उन्हें समय ही न मिल सके। अरस्तू के ही शब्दों में—"शासक जो राज्य की चिन्ता करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे नए खतरों का अन्वेषण करें, दूर के भय को समीप लाएँ ताकि जनता पहरेदार की भाँति अपनी रक्षा के लिए सदैव सचेत और तत्पर रहे।"

(xi) अरस्तू क्रान्तियों को रोकने का सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपाय 'शिक्षा' को बताता है। शिक्षा द्वारा राज्य के नागरिकों में राज्य के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न की जा सकती है, उन्हें क्रान्तियों के दोष से अवगत कराया जा सकता है। शिक्षा से उनमें कर्त्तव्य-भावना जाग्रत की जा सकती है। अरस्तू के मतानुसार शिक्षा की व्यवस्था और कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे युवकों में संविधान के प्रति श्रद्धा और सामाजिक रीतियों के प्रति आस्था बनी रहे।

(xii) अरस्तू निरंकुश राजतन्त्र में क्रान्ति के कारणों को रोकने के लिए दो साधन बतलाता है—(क) प्रथम साधन शक्ति का है जिसके द्वारा अत्याचारी शासन राज्य के बड़े लोगों को समाप्त करके सब पर समान रूप से शासन कर सकता है। वह विदेशी सेनाओं का प्रदर्शन कराके लोगों को भयभीत कर सकता है इन उपायों से नागरिकों का नैतिक अधःपतन हो जाएगा और वे निरंकुश शासन के विरुद्ध क्रान्ति करने का साहस नहीं करेंगे। (ख) दूसरा साधन यह है कि अत्याचारी या निरंकुश शासन एक ऐसा आवरण रखे जिससे नागरिकों की सद्भावना और उनका प्रेम प्राप्त किया जा सके। यह आवरण मध्यवर्ती मार्ग होना चाहिए। इसके द्वारा एक ओर तो नागरिकों की नैतिक एवं धार्मिक भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचानी चाहिए और दूसरी ओर श्रेष्ठ नागरिकों को पुरस्कृत करना चाहिए ताकि लोगों में यह भावना व्याप्त हो जाए कि यह राज्य का संरक्षक है।

(xiii) मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों के फलस्वरूप भी क्रान्तिकारी बन जाते हैं। अतः एक ऐसा राजकीय अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए जो इस बात पर सदैव चौकसी दृष्टि रखे कि लोग अपना आचरण शासन-व्यवस्था के अनुरूप रख रहे हैं तथा शासनतन्त्र की नीति के अनुसार ही जीवनयापन कर रहे हैं।

(xiv) क्रान्ति को रोकने के सभी कारणों में अरस्तू राज्य की सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करता है। उसका कहना है कि विविध प्रकार के संविधानों को क्रान्ति से बचाने और उनमें स्थिरता लाने के लिए उनमें से ऐसे सभी तत्त्वों का निवारण कर दिया जाना चाहिए जिनके द्वारा क्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हों। राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर वह व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक में राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। उसका तो यहाँ तक विचार है कि यदि राज्य में पारस्परिक विवाद एवं मित्रता के कारण क्रान्ति होती है तो राज्य को उसमें भी हस्तक्षेप करना चाहिए।

अरस्तू और प्लेटो
(Aristotle and Plato)

कुछ विचारकों ने इन दोनों गुरु-शिष्यों को एक-दूसरे का पूर्णतः विरोधी बताया है। यह विचार केवल आंशिक रूप से ही सत्य है क्योंकि अरस्तू पर उसके गुरु प्लेटो का प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है। ई. एम. फोस्टर के शब्दों में, "अरस्तू सभी प्लेटोवादियों में महान् है।"[1] अरस्तू बीस

1 "Aristotle is the greatest of Platonists" —*E. M. Foster*

वर्ष तक प्लेटो का शिष्य रहा। प्लेटो अपने इस महान् शिष्य को अपनी अकादमी (Academy) का मस्तिष्क कहा करता था और सम्भवत: वह उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाना भी चाहता था। इस सम्बन्ध मे सेबाइन ने कहा है—"इसके बाद दार्शनिक लेखों का प्रत्येक पृष्ठ इस सम्बन्ध में गवाह है।"[1] वास्तव में अरस्तू पर अपने गुरु का प्रभाव बड़ा व्यापक है उसके विचारो की नींव प्लेटो के सम्पर्क पर टिकी है।

असमानताएँ

अरस्तू और प्लेटो की पद्धति मे, विचारो और दृष्टिकोणों में पाई जाने वाली गम्भीर असमानताएँ ये हैं—

(1) प्लेटो आदर्शवादी, कल्पनावादी और हवाई योजनाएँ बनाने वाला है तो अरस्तू यथार्थवादी, क्रियात्मक, व्यावहारिक और इस धरती की वास्तविकताओं से बँधा हुआ है। प्लेटो का राज-दर्शन 'सत्यं, शिव, सुन्दरम्' पर आधारित है, जब कि अरस्तू व्यावहारिकता पर ध्यान देते हुए कोरे विचारो का सिद्धान्त (Conception of the Ideas) को मान्यता नही देता। वह प्लेटो के विपरीत कल्पना के स्थान पर वास्तविकता को महत्त्व देता हुआ, ठोस, प्राकृतिक और व्यावहारिक तथ्यों के आधार पर अपने राजशास्त्र का निर्माण करना चाहता है। फ्रेडरिक पोलॉक (Fredrick Polock) के शब्दो मे, "प्लेटो गुब्बारे मे बैठकर नए प्रदेशो में घूमता हुआ कभी-कभी नीहारिका के आवरण को चीर कर किसी दृश्य को अत्यन्त स्पष्टता से देख सकता है, किन्तु अरस्तू एक श्रमजीवी उपनिवेशवादी की भाँति उस क्षेत्र मे जाता है और मार्ग का निर्माण करता है।"

(2) प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है, जबकि अरस्तू की उद्गमनात्मक (Inductive)। इस तरह जहाँ प्लेटो सामान्य से विशेष नियमो की कल्पना करता है वहाँ अरस्तू विशेष घटनाओ व परिस्थितियो के आधार पर सामान्य नियमो का पालन करता है। प्लेटो 'सत्य, शिवं, सुन्दरम्' आदि अमूर्त विचारो का विश्लेषण करते हुए सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ता है, अरस्तू वास्तविक पदार्थों पर विचार करते हुए उनके आधार पर स्थूल की ओर चलता है। इसलिए प्लेटो की बनिस्पत अरस्तू के विचार अधिक स्पष्ट, व्यावहारिक, क्रमबद्ध और तर्क-सगत हैं।

(3) प्लेटो दार्शनिक शासक या शासकों के राज्य को सर्वश्रेष्ठ मानता है, किन्तु अरस्तू के मतानुसार यह आवश्यकता और परिस्थिति पर निर्भर है। जहाँ प्लेटो दार्शनिक राजाओ द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है वहाँ अरस्तू ऐसा शास्त्र बनाना चाहता है जिसमे निर्धारित किए गए नियमो पर चलते हुए आदर्श राज्य की ओर अग्रसर होना सम्भव है। मैक्सी (Maxey) के अनुसार, "प्लेटो ऐसे अतिमानव (Superman) की खोज मे है, जो आदर्श राजा की सृष्टि करे, अरस्तू ऐसे अतिविज्ञान (Super-Science) की खोज करना चाहता है जो राज्य को अच्छे से अच्छा बना सके।"

(4) प्लेटो 'रिपब्लिक' में दार्शनिक शासक को निरंकुश-सा बना देता है। केवल 'लॉज' में वह कानून की प्रधानता मानता है। अरस्तू प्रारम्भ से ही कानून की प्रभुता स्वीकार करता है।

(5) अरस्तू जिस राज्य को आदर्श मानता है, वह प्लेटो के उपादर्श राज्य के समान है, आदर्श राज्य के समान नही।

(6) प्लेटो के राज्य की एकता तर्क पर टिकी हुई है जिसमे वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से विलीन कर देता है। इसकी स्थापना के लिए वह निजी सम्पत्ति और निजी परिवार को भी समाप्त कर देता है। यद्यपि 'लॉज' मे वह निजी सम्पत्ति और परिवार रखने की व्यवस्था करता है लेकिन इस अधिकार को अनेक प्रतिबन्धो से बड़ा सीमित किया गया है। अरस्तू भी यद्यपि राज्य की एकता स्थापित करना चाहता है, किन्तु वह व्यक्ति को उसमे पूर्णत: विलीन नही करता। वह तो राज्य को 'समुदायों

1 "Every page of his later philosophical writing bears witness to the connection." —Sabine

का समुदाय' मानता है। वह बहुत्व में ही राज्य के स्वरूप और अस्तित्व को मानता है। निजी सम्पत्ति और निजी परिवार को राज्य में स्थान देते हुए वह प्लेटो के साम्यवाद को अनुचित ठहराता है।

(7) प्लेटो राज्य की उन्नति मनुष्य की आवश्यकताओं के फलस्वरूप मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करने को बाध्य होता है और यही राजनीतिक व सामाजिक जीवन का आधार है। उसकी दृष्टि में मनुष्य में रुचि एवं कार्य करने की योग्यता भी भिन्न होती है। इन विभिन्न योग्यताओं और कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए राजनीतिक संगठन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा सामञ्जस्य केवल राज्य द्वारा ही सम्भव है। प्लेटो के इन विचारों के विपरीत अरस्तू राज्य को परिवार के समान एक प्राकृतिक संस्था स्वीकार करता है। उसका कहना है कि आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्त्री-पुरुष, स्वामी-दास मिलकर परिवार में संगठित हो जाते हैं, परिवार मिलकर ग्राम बनते हैं और ग्रामों के संयुक्त होने पर राज्य का निर्माण होता है।

(8) प्लेटो राज्य को व्यक्ति का वृहद् रूप मानता है, जबकि अरस्तू इसे परिवार का वृहद् रूप समझता है।

(9) प्लेटो के विचार राज्य में परिवर्तन की दृष्टि से क्रान्तिकारी (Radical) हैं, जबकि अरस्तू के रूढ़िवादी (Conservative) है। प्लेटो अपने आदर्श राज्य की स्थापना में सामाजिक रीति-रिवाजों में आमूलचूल परिवर्तन करता है जबकि अरस्तू की मान्यता है कि हमें युगों से चले आने वाले अनुभवों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वास्तव में प्लेटो जहाँ अतिवादी (Extremist) है, वहाँ अरस्तू मध्य मार्ग (Golden Mean) का अनुसरण करने वाला है। इस बारे में विल ड्यूरेंट (Will Durent) ने कहा है कि "प्लेटो के क्रान्तिकारी विचारों का एक कारण यह था कि उसके समय में राजनीतिक वातावरण प्रायः शान्त था, अतः सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के प्रस्ताव सरलता से प्रस्तुत किए जा सकते थे, लेकिन अरस्तू का युग राजनीतिक दृष्टि से अशान्ति का युग था, अतः उसने समाज में मौलिक परिवर्तनों का विरोध किया।"[1]

(10) अरस्तू ने राजनीतिक विचारों को नैतिक विचारों से पृथक् किया है। प्लेटो दोनों विचारों का मिश्रण करते हुए राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानता है। वह भलाई (Goodness) को सार्वभौम अमूर्त विचार मात्र स्वीकार करता है, लेकिन अरस्तू भलाई को निरपेक्ष वस्तु न मानकर उसका वस्तुओं और परिस्थितियों से निर्धारित होना मानता है। उसकी दृष्टि में व्यक्ति का अधिकतम कल्याण राज्य में ही सम्भव है, अतः इसका विवेचन राजनीति-शास्त्र का काम है। इस तरह वह राजनीति-शास्त्र को नीति-शास्त्र से पृथक् करके एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाता है।[2]

प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक विचारों में पाए जाने वाले उपर्युक्त अन्तर उनकी मौलिक प्रवृत्तियों के भेद के कारण हैं। इसलिए कहा जाता है—"प्लेटो राजनीतिक दर्शन के आदर्शवादियों, स्वप्नदर्शियों (Romantists), क्रान्तिकारियों, कल्पनावादियों (Utopians) का पिता है और अरस्तू यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों (Pragmatists) तथा उपयोगितावादियों का जनक है।"[3]

समानताएँ

उपरोक्त अन्तर के होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अरस्तू पर उसके आध्यात्मिक पिता प्लेटो का बड़ा प्रभाव है। यद्यपि वह अपने गुरु के प्रति अन्धभक्त नहीं है, किन्तु वह उसकी महान् दार्शनिकता और योग्यता के प्रभाव से ओत-प्रोत अवश्य है। दोनों विचारकों में गम्भीर अन्तरों के साथ-साथ महान् सादृश्य या समानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ अरस्तू ने

1 *Will Durent* · Story of Philosophy, p 91.
2 *Dunning*, A History of Political Theories, Part I, pp 49-51.
3 *Maxey* · Political Philosophies, p. 78.

अपनी कृतियों में प्रत्येक मोड़ पर प्लेटो का खण्डन किया है, वहाँ प्रत्येक पृष्ठ पर वह उसका ऋणी भी है। इन दोनो महान् विचारकों के राजदर्शन मे पाए जाने वाली कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं—

1. दोनों ही यूनान के राजनीतिक जीवन की अस्थिरता और नैतिक अव्यवस्था को आशंका की दृष्टि से देखते थे। दोनो ही उसका उपाय श्रेष्ठ जीवन को स्वीकार करते थे। दोनो ही की मान्यता थी कि—"छोटे से नगर-राज्य में ही सर्वोत्तम सुखी जीवनयापन किया जा सकता है। उसे प्राप्त करने मे वे व्यक्ति ही समर्थ हो सकते है जिनके पास शिक्षा और साधन हैं।" दोनो ही नगर-राज्य के स्वशासित और आत्म-निर्भर होने के पक्ष मे हैं।

2. दोनो ही दार्शनिकों ने दास-प्रथा का समर्थन किया है। यद्यपि प्लेटो ने इसका स्पष्ट रूप से पक्षपोषण नहीं किया है किन्तु विरोध भी नहीं किया है।

3. दोनो विचारक राज्य के लिए शिक्षा को आवश्यक मानते हुए उसे राज्य के नियन्त्रण मे रखने के पक्ष में हैं। वे स्वस्थ और सुन्दर, जीवन तथा कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए शिक्षा को बड़ा महत्त्व देते हैं।

4. यदि प्लेटो 'लॉज' मे व्यावहारिकता के धरातल पर उतरता हुआ कानून को उच्च स्थान प्रदान करता है तो अरस्तू भी 'पॉलिटिक्स' में कानून की प्रभुता को स्वीकार करता है।

5. दोनो ही विचारक नागरिकता को सीमित बनाए रखते हैं। दोनों का ही मत है कि समस्त शारीरिक श्रम दासो तथा अनागरिको को ही करना चाहिए।

6. दोनों ही चिन्तक एक मिश्रित संविधान मे विश्वास करते हैं यद्यपि इनके वर्गीकरण में कुछ अन्तर है।

7. दोनो ही विचारक व्यक्तिगत धर्म को महत्त्व नहीं देते।

8. दोनो ही राज्य के एक नैतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को मान्यता देते हैं। दोनों ही नगर-राज्य का अध्ययन नैतिकता के आधार पर करते हैं। इस तरह दोनो के राजनीतिक विचार नैतिक विचारो से प्रभावित है।

9. दोनों प्रजातन्त्र के विरोधी हैं और पूर्ण समानता मे विश्वास नहीं करते।

10. दोनो ही विचारको की दृष्टि मे राजनीति एक व्यावहारिक विज्ञान है। "जिस तरह किसी राजनीतिज्ञ के लिए प्लेटो के 'रिपब्लिक' और 'लॉज' महत्त्वपूर्ण हैं उसी प्रकार अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' भी उसके लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध हो सकता है।"

स्पष्ट है कि दोनो विचारको में अनेक मौलिक समानताएँ और असमानताएँ हैं। प्रो. मैक्सी की टिप्पणी है कि—"प्लेटो का राज्य अमूर्त विचारो का एक ढाँचा है जिसे यथार्थ रूप एक दार्शनिक राजा देगा जो अपने सामने वर्तमान समस्त संस्थाओं को जड़ से उखाड़ फेंकेगा और संतति शास्त्र तथा शिक्षा द्वारा एक निर्दोष सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य की एक नवीन तथा श्रेष्ठतर जाति उत्पन्न करेगा, अरस्तू का भवन उस सामग्री से बना है जो पहले से ही मौजूद है, जिसे अच्छी तरह परखा जा चुका है, अच्छी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ प्रयोग कर सकता है जो कि आदर्श से मिलता-जुलता नमूना तैयार करना चाहे। तो भी दोनो विचारको मे एक-सा ही नैतिक जोश है, एक-सी ही व्यवस्था की चाह, सन्तुलन का एक-सा ही प्रेम, एक-सी ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति आस्था, एक-सा ही शिक्षा मे विश्वास, एक-सी ही मानवता मे आस्था तथा शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए एक-सा चिन्तन दिखाई पड़ता है।"

अरस्तू में यूनानी एवं सार्वभौम तत्त्व और उसका प्रभाव

(The Hellenic and Universal Elements in Aristotle and his Influence)

अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन में कुछ ऐसे वर्णन हैं जिनमें यूनानी (Hellenic) तत्त्व दिखलाई पड़ते है तो कुछ ऐसे हैं जो सार्वभौमिक महत्त्व रखते हैं।

यूनानी तत्त्व (Hellenic Elements)

अरस्तू पर तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों का प्रभाव पडना सर्वथा स्वाभाविक था। इस प्रभाव के कारण ही उसकी विचारधारा उस समय के अनेक यूनानी तत्त्वो से मर्यादित है। डनिंग के शब्दो में, "यद्यपि राजनीति शास्त्र की सामग्री के लिए अरस्तू की ऐतिहासिक खोज ने यूनानियो (Hellens) के प्रादेशिक क्षेत्र की सीमाओ का अतिक्रमण किया था, लेकिन उसने जिस पद्धति का निर्माण किया उसके आवश्यक अशो का निर्धारण यूनानी क्षेत्र की सीमाओ मे विद्यमान परिस्थितियो से हुआ।"[1] अरस्तू के राजदर्शन मे मिलने वाले प्रमुख यूनानी तत्त्व ये हैं—

1. अरस्तू के आदर्श राज्य की कल्पना नगर-राज्य तक सीमित है। यद्यपि उसकी आँखो के सामने अनेक नगर-राज्य नष्ट हो गए थे किन्तु उसकी दृष्टि नगर-राज्यों से ऊपर नही उठ सकी। स्पष्टतः यह उस पर व्याप्त यूनानी प्रभाव ही था।

2 अरस्तू ने यूनान मे प्रचलित दास-प्रथा का अनुमोदन किया है। अरस्तू स्वय कितने ही दासो का स्वामी था।

3 शिक्षा के जिस रूप का वर्णन अरस्तू ने किया है वह बहुत अशो तक तत्कालीन यूनानी प्रथा के अनुकूल है। शिक्षा को आवश्यक और राज्य द्वारा सचालित मानना उन दिनो यूनान का आम रिवाज था।

4 अरस्तू का जाति अभिमान और यूनानियो को अन्य बर्बर जातियो से उत्कृष्ट मानना यूनानी प्रभाव का सूचक है।

5 श्रमिकों, कारीगरो और कृषको को नागरिको के अधिकारो से वचित करना भी तत्कालीन यूनान की सामाजिक दशा के अनुरूप है।

6 अरस्तू द्वारा व्यापार से घृणा और सूदखोरी का विरोध करना भी यूनानी तत्त्व ही है।

अरस्तू के राजदर्शन मे पाए जाने वाले इन यूनानी तत्त्वो मे से एक को भी वर्तमान काल मे सत्य स्वीकार नही किया जाता है। अरस्तू के युग मे इनका महत्त्व भले ही रहा हो किन्तु युग के साथ-साथ ये तत्त्व भी नष्ट हो गए है और आज इन्हें मात्र अस्वाभाविक, अप्रगतिशील और असत्य धारणाएँ माना जाता है।

सार्वभौम तत्त्व (Universal Elements)

अरस्तू के राजदर्शन का गम्भीर अनुशीलन करने पर उसमे कुछ ऐसे तत्त्व मिलते हैं जिनका चरित्र विश्व-व्यापक है, जो आज भी उतने ही सही हैं जितने कि अरस्तू के युग मे थे। उसके विचारो मे उपलब्ध ये सार्वभौम तत्त्व मुख्यत निम्नलिखित है—

1 "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है"—यह एक स्वय-सिद्ध सत्य है। अरस्तू ही वह सबसे प्रथम विचारक है जिसने बडे ही औपचारिक, वैज्ञानिक और बलशाली ढग से इसे व्यक्त किया है।

2. "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और शुभ तथा सुखी जीवन के लिए वह जीवित है"—इस सिद्धान्त को ऐतिहासिक अभिव्यक्ति अरस्तू ने ही दी है, यद्यपि प्लेटो के विचार इसका आधार है।

3 अरस्तू ही वह प्रथम विचारक है जिसने सर्वप्रथम यह अनुभव किया है कि राज्य की अन्तिम समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की सत्ता मे सामञ्जस्य स्थापित करना है। कानून की प्रभुता, कानून को विशुद्ध बुद्धि समझना आदि की जो धारणा अरस्तू ने व्यक्त की है उनमे स्वतन्त्रता और सत्ता का सामञ्जस्य निहित है। अरस्तू का यह कथन भी एक सार्वकालिक सत्य है कि जनता ही सरकार के आचरण पर अन्तिम निर्णय करने की अधिकारिणी है। आज के लगभग सभी प्रगतिशील राज्यो मे इसे निर्विवाद-रूप से स्वीकार किया जाता है।

1 *Dunning*. A History of Political Theory, p. 93

4. अरस्तू जनमत को विद्वानों या विशेषज्ञों की राय से अधिक महत्त्व देता है। आज भी ससार के अधिकांश फैसले जनता के रुख को देखकर दिए जाते है।

5. अरस्तू का सविधानवाद पर बल देना एक महत्वपूर्ण सार्वभौमिक तथ्य है। सविधानवाद के इस एक शब्द मे वह सब कुछ समाया हुआ है जो यूरोप एव वर्तमानकालीन विश्व के विचार को अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' से उत्तराधिकार मे प्राप्त हुआ है। वास्तव मे कानून को सम्प्रभु बनाकर और शासन को कानून के अधीन स्वीकार करके अरस्तू ने समग्र ससार के सविधानवादियो का पिता होने की ख्याति प्राप्त कर ली है। सन्त टॉमस का कानून के प्रति सम्मान और उनका सविधानवाद प्रमुखतः अरस्तू द्वारा ही प्रेरित है। बार्कर के शब्दो मे, "अरस्तू ने सन्त टॉमस को सिखाया, सन्त टॉमस के द्वारा उसने कैथोलिक यूरोप को सिखाया, सन्त टॉमस के द्वारा उसने रिचार्ड हूकर को भी सिखाया जिसके कानून तथा सरकार के सिद्धान्त का उद्गम यही है.........न्यायप्रिय हूकर लॉक के शिक्षको मे से एक था.......लॉक का सिद्धान्त बर्क को मिला। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' तथा 17वी एव 19वीं शताब्दी के अग्रेजी राजनैतिक विचार के वातावरण मे न केवल दृष्टान्त का साम्य है, बल्कि एक हद तक सयोग भी है।"

6 अरस्तू का मध्यम मार्ग (Golden Mean) का विचार वर्तमान राजनीति के नियन्त्रण एव सन्तुलन (Checks and Balances) के विचार का जनक है। केटलिन (Catlin) के शब्दों में, "कन्फ्यूशियस के बाद, सामान्य ज्ञान और मध्यम मार्ग का सर्वोच्च सुधारक अरस्तू ही है।"[1]

7 अरस्तू के दर्शन का सातवाँ शाश्वत् तत्व उदार लोकतन्त्र (Liberal Democracy) का समर्थन है। अरस्तू ने यद्यपि अतिवादी लोकतन्त्र (Extreme Democracy) और भीड द्वारा शासन करने वाले लोकतन्त्र का विरोध किया, लेकिन साथ ही सब तरह के अधिनायको अथवा तानाशाहो के शासन का भी वह उग्र-विरोधी है।

8. अरस्तू के दर्शन का आठवाँ शाश्वत् तत्त्व राज्य के सम्बन्ध में यह उदार विचार है कि राज्य बुद्धि द्वारा शासित होता है तथा उसका उद्देश्य उत्तम जीवन है न कि प्रदेश का विस्तार करना। राज्य का सर्वोपरि प्रयोजन नागरिको मे सद्गुण की वृद्धि, न्याय का वितरण और ज्ञान का प्रसार करना है। राज्य के विषय मे अरस्तू के इस उदात्त विचार की सत्यता से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

9 आधुनिक शक्तियों के विभाजन या पृथक्करण का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) अरस्तू के शक्ति-विभाजन सिद्धान्त पर ही बहुत कुछ आधारित है। वर्तमान मे राज्य की शक्ति व्यवस्थापिका, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका मे बँटी होती है। अरस्तू इन तीनो विभाजनो को विचारात्मक (Deliberative), विधि-निर्माण करने वाली (Legislative) तथा न्याय कार्य करने वाली (Judicial) का नाम देता है। इस तरह शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का मूल अरस्तू के दर्शन मे देखने को मिलता है।

10 अरस्तू को आधुनिक व्यक्तिवाद का पिता कहा जाता है। उसका दर्शन प्लेटो से अधिक व्यक्तिवादी है। वह कृत्रिम समानता का विरोधी है और लोगो की क्षमता सम्बन्धी असमानता को स्वीकार करता है। निजी सम्पत्ति को वह प्राकृतिक मानता है। आज प्रत्येक राज्य निजी व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता देता है।

11 अरस्तू के राजदर्शन मे एक अन्य उल्लेखनीय विश्व-व्यापी तत्त्व यह है कि उसने राजनीतिक और अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धो को पहचान कर राजनीतिक सगठन और क्रियाओ पर होने वाले आर्थिक प्रभाव को बडा महत्त्व दिया है। राजनीति और अर्थ-व्यवस्था का गहरा सम्बन्ध

1 "After Confucious, Aristotle is the supreme apostle of commonsense and of golden means"
—Catlin

बताते हुए वह कहता है कि शासन की अनेक समस्याओं का कारण धनियों और निर्धनों का संघर्ष है। उसने सरकारों का जो वर्गीकरण किया और धनिकतन्त्र और जनतन्त्र के जो बहुत से विभाग किए हैं उनका अन्तिम आधार आर्थिक ही है। अरस्तू की यह मान्यता है कि यदि राज्य में अत्यधिक गरीब और अत्यधिक अमीर होंगे तो स्थिरता और समृद्धि नहीं पनप सकती, आज भी सत्य है। वर्तमान अधिकांश राजनीतिक उथल-पुथल आर्थिक कारणों से ही होती है।

12 अन्त में, अरस्तू उपयोगितावादी विचारों का प्रेरक भी है। दास प्रथा के सिद्धान्त को को वह उपयोगिता के आधार पर ठीक मानता है। 'उपयोगिता' को महत्त्व देने के कारण हम उसे उपयोगितावादियों का अग्रज मान सकते हैं।

अरस्तू का दर्शन निश्चित ही अनेक गौरवत् सिद्धान्तों का भण्डार है। उसका ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' 'गागर में सागर' है।

अरस्तू का प्रभाव : अरस्तू राजनीति का जनक
(Influence of Aristotle : Aristotle as the Father of Political Science)

अरस्तू के इन दोनों अध्यायों में उसकी पद्धति और उसके दर्शन में सार्वभौमिक तत्वों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वह राजदर्शन के क्षेत्र में वस्तुतः प्रथम वैज्ञानिक विचारक (First Political Scientist) था। उसे यदि 'राजनीति विज्ञान का जनक अथवा पिता' (The Father of Political Science) की संज्ञा दी जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अरस्तू न केवल राजनीति विज्ञान का जन्मदाता था वरन् उसका विकासकर्त्ता भी था। उसने राज्य, क्रान्ति आदि के बारे में जो कहा उसमें से अनेक बातें आज भी सही हैं। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र लगभग उन्हीं मूल बिन्दुओं के इर्द-गिर्द घूमता है जिनका विवेचन अरस्तू हजारों वर्ष पूर्व कर चुका था। राजनीति विज्ञान का ढाँचा लगभग उसी प्रकार का है जिसकी कल्पना अरस्तू ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व कर ली थी।

अरस्तू ने जो भी निष्कर्ष निकाले वे वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर निकाले। उदाहरणार्थ उसने लगभग 158 संविधानों का विस्तृत अध्ययन, विश्लेषण आदि करने के उपरान्त अपने कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उसने हर राज्य की राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष निकाले और उनके आधार पर राज्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया। उसने पाश्चात्य जगत में सर्वप्रथम राज्य का साँगोपाँग सिद्धान्त प्रस्तुत किया। राज्य के जन्म और विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार का निर्माण, नागरिकता, कानून की सम्प्रभुता, क्रान्ति आदि विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओं पर उसने इतने सुगठित, सुव्यवस्थित विचार प्रस्तुत किए कि उन्हें आज भी ठुकराना कठिन है। उसने कहा कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और वही संविधान सबसे अच्छा है जो सबसे अधिक स्थायी रहता है। अरस्तू का यह निष्कर्ष उसके अपने समय में भी उतना ही सत्य था जितना कि आज है। नागरिकता और संविधान की व्याख्या में अरस्तू के विचार लगभग आधुनिकतम है, चाहे अरस्तू का राज्य केवल एक नगर-राज्य रहा हो। अरस्तू की इस बात से आज भी असहमत होना कठिन है कि व्यक्ति के लिए जो आदर्श और श्रेयस्कर है वही राज्य के लिए है। "मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है" इस कथन की औपचारिक अभिव्यक्ति अरस्तू ने ही की और यह वाक्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सदैव एक स्वयं सिद्धि के रूप में स्वीकार किया जाता रहेगा। क्रान्ति के कारणों की जो विशद् व्याख्या अरस्तू ने की, उसके प्रति हम आज भी अरस्तू के ऋणी हैं। उदाहरणार्थ अरस्तू का यह अभिमत वैज्ञानिक निष्कर्ष की भाँति प्रामाणिक है कि आर्थिक विषमता क्रान्तियों के लिए गम्भीर रूप से उत्तरदायी होती है। अरस्तू के इस विचार को नहीं ठुकराया जा सकता कि किसी भी सरकार की सुदृढ़ता के लिए राज्य की आर्थिक समृद्धि नितान्त आवश्यक है। अरस्तू के इस समाधान से हमें उसके वैज्ञानिक चिन्तन पर गर्व होता है कि यदि सम्पत्ति पर तो व्यक्तिगत स्वामित्व रहे पर उसका उपभोग सार्वजनिक हो अर्थात् व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपभोग के बीच समुचित

ताल-मेल बैठाया जा सके तो राज्य की अनेक समस्याएँ आसानी से सुलझ सकती हैं। अरस्तू का यह विचार भी उसके वैज्ञानिक चिन्तन की सूझ-बूझ है कि जब तक एक राज्य में सुदृढ़ और विशाल मध्यम वर्ग न होगा अर्थात् राज्य में न तो अधिक पूँजीपति हों और न अधिक गरीब वरन् मध्यम वर्ग के लोगों का बाहुल्य हो, तब तक राज्य आत्म-निर्भरता की ओर समुचित रूप में अग्रसर न होगा। अरस्तू के इस विचार की उपेक्षा करना कठिन है कि विकास के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध असन्तुलन है, चाहे वह असन्तुलन राजनीतिक हो या सामाजिक या आर्थिक। क्रान्तियों के एक बड़े कारण को मिटाने के लिए इस असन्तुलन को समाप्त करके और 'अतियों' को दूर करके मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाए—यह अरस्तू का एक वैज्ञानिक उपचार ही माना जाएगा।

अरस्तू ने स्वतन्त्रता और सत्ता के समन्वय की बात की और आज भी यह एक सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या है। यह अरस्तू की वैज्ञानिक दूरदर्शिता थी कि उसने 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सत्ता और स्वतन्त्रता के बीच स्वाभाविक सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न किया। उसे अपने प्रयत्नों में चाहे सफलता न मिली, पर 'अनेकता में एकता' का आदर्श आज भी राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के हल का एक अनुकरणीय आदर्श है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह समस्या अरस्तू के समय भी जीवित थी और आज भी जीवित है। अरस्तू ने कानून की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और यह सम्प्रभुता आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख विषय है। बोदाँ, ग्रेशियस, बेन्थम, हॉब्स, ऑस्टिन, लॉस्की आदि ने सम्प्रभुता की समस्या पर विचार किया और आज भी वैधानिक सम्प्रभुता की व्याख्या का मुख्य आधार अरस्तू का विश्लेषण ही है। ऑस्टिन और हॉब्स की सम्प्रभुताएँ आधुनिक युग की होकर भी अरस्तू की व्याख्या की आधुनिकता को नहीं पा सकी हैं। अरस्तू की विशेषता इस बात में भी है कि उसने सरकार के तीन-अंगों-नीति निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक—का बड़े वैज्ञानिक ढंग से निरूपण किया। अरस्तू का यह निरूपण चाहे सरकार के आधुनिक अंगों के निरूपण के बिल्कुल अनुरूप न हो, लेकिन बहुत कुछ उसके समान ही है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि अरस्तू की यह खोजें ही भविष्य में शक्ति-पृथक्करण, नियन्त्रण एवं सन्तुलन के सिद्धान्त का एक आधार बनी। अरस्तू ने नागरिकता की जो व्याख्या की वह भी एक आधुनिक विचार है। आज भी अरस्तू की व्याख्या ही न्यूनाधिक शाब्दिक हेर-फेर के अतिरिक्त बहुत कुछ प्रामाणिक बनी हुई है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित मिश्रित शासन का आदर्श आज भी अनुकरणीय है और ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था, राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र का एक सुन्दर मिश्रण अथवा समन्वय है।

सार रूप में, अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था, राजनीति विज्ञान का जन्मदाता था। उसने न केवल आगमनात्मक विधि का अनुसरण कर राजदर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति की नींव डाली वरन् राजनीति और गैर-राजनीतिक तत्वों को अलग-अलग करके राजनीति के विषय-क्षेत्र को पहली बार स्पष्ट किया और साथ ही उन सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं को अपने चिन्तन के कलेवर में समेटा जो आज भी हमारी चिन्तन की सामग्री बने हुए हैं। इस प्रकार राजनीति विज्ञान का जन्मदाता भी था और विकासकर्त्ता भी। अरस्तू के चिन्तन ने भविष्य पर विशेष प्रभाव डाला। इस प्रभाव को सारगर्भित रूप में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा' में निम्नानुसार प्रकट किया है—

"यूरोप की विचारधारा पर अरस्तू का काफी प्रभाव रहा। पोलिबियस का मिश्रित सरकार का सिद्धान्त अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' के आधार पर ही निर्मित किया गया है। सन् 529 ई. में सम्राट जस्टिनियन ने अरस्तू के ग्रन्थों का अध्यापन करने वाले विद्यालयों को बन्द कर दिया। बोयेथियस ने अरस्तू के दो ग्रन्थों—'कैटिगोरिज' और 'डि एमेन्डेशियोने' का लेटिन में अनुवाद कर मध्ययुगीन दर्शन पर उसके तर्क शास्त्र के प्रभाव के लिए मार्ग प्रशस्त किया। बारहवीं सदी के अन्त तक अरस्तू के सम्पूर्ण

तर्कशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। अल्बर्ट महान् (1193–1280) ने अरस्तू के दार्शनिक विचारों को ईसाईमत के धर्मशास्त्र के समर्थन में लगाने की चेष्टा की। एक्वीनास के आदर्श से विलियम ऑफ मोरबेंक ने अरस्तू के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। अरस्तू ने मानव को राजनैतिक प्राणी माना। इस मन्तव्य का एक्वीनास और मार्सिलियो की परिभाषाओं पर प्रभाव पड़ा। दांते की 'मोनार्की' पर भी अरस्तू के तर्कशास्त्र का असर है यद्यपि मध्ययुगीन विचारकों की विचारधारा 'दिव्य प्लेटो' के 'टाइमियस' से ही अतिशय प्रभावित थी तथापि यूरोपीय पुनरुत्थान पर अरस्तू के बौद्धिक निष्प्रतिबंधना के अनुमोदन का अच्छा असर रहा। अरस्तू के अनुसार अन्तर्हित विराट् प्राण-दायिनी शक्ति का नाम प्रकृति है और अंशतः यह कल्पना भौतिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित प्रकृति की कल्पना के सदृश ही है। अरस्तू द्वारा समर्थित सदसमीचीन मध्यम प्रतिपदा का नैतिक सिद्धान्त, आचार-शास्त्रियों को प्रभावित करता रहा है। ग्रीन, वाल्तेम, हाबहाउस ने समष्टिक कल्याण तथा तर्कसंगत कल्याण का प्रस्ताव उपस्थित किया जो यूनानी दर्शन की धारा से काफी प्रभावित है। न्याय का द्विविध वर्गीकरण—रेखागणितात्मक (विभागकल्पक) तथा अंकगणितात्मक (विपर्ययात्मक) जो अरस्तू ने प्रणीत किया है उस शब्दावली को 'सिटिजन' नामक ग्रन्थ में हॉब्स ने भी स्वीकृत किया है।"

6 अरस्तू के बाद का चिन्तन : एपीक्यूरियन और सिनिक विचारक

(Political Thought after Aristotle ; Epicureans and The Synics)

नगर-राज्यों का पतन और नए दृष्टिकोण का उदय
(Downfall of the City-States & the Rise of the New Attitudes)

अरस्तू के बाद यूनानी राजनीतिक चिन्तन मे एक नया मोड़ आया। अरस्तू ने जहाँ नगर-राज्य को राजनीतिक सगठन का सर्वोत्तम रूप माना था वहाँ अब उसका स्थान सैनिक शक्ति पर आधारित विशाल साम्राज्य ने ले लिया। मैसीडोनिया के राजा फिलिप और उसके लड़के सिकन्दर ने नगर-राज्यो को पदाक्रान्त कर दिया, यूनानी पराधीन हो गए। वे शुरू मे मैसीडोनिया और बाद मे रोम साम्राज्य के अधीन हो गए। परिवर्तित परिस्थितियो ने यूनानी राजनीतिक चिन्तन को झकझोर डाला। यूनानियो के मौलिक विचार की उडान उनके पराधीन होने के साथ ही समाप्त हो गई। पराधीनता ने उन्हे यथार्थता की भूमि पर लाकर खडा कर दिया। वे अनुभव करने लगे कि छोटे-छोटे नगर-राज्य आत्मनिर्भर नही रह सकते, उनके लिए विशाल राज्यो की आवश्यकता है, तभी उनका अस्तित्व सम्भव है।

पराधीनता के कारण शासन कार्य मे भाग न ले पाने पर उनकी दृष्टि मे प्लेटो और अरस्तू की इस धारणा की उपयोगिता समाप्त होने लगी कि राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए परमावश्यक है और नागरिको को राज्य के कार्य मे पूरा भाग लेना चाहिए। अत अब ऐसे दार्शनिक विचारक उत्पन्न हुए जिनकी दृष्टि मे उत्तम जीवन का राज्य से कोई सम्बन्ध न था। उनकी दृष्टि मे सच्चा आनन्द सयमित जीवन बिताने और मन पर नियन्त्रण रखने से प्राप्त हो सकता था। इस तरह अब राजनीतिक व्यवस्था की जगह मानसिक व्यवस्था को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

प्लेटो और अरस्तू के परवर्ती विचारक उनके राज्य के आदर्श का खण्डन करने लगे और उनमें से कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि व्यक्ति को श्रेष्ठ जीवन बनाना है, जीवन मे आनन्द की प्राप्ति करनी है तो उसे राज्य से बाहर कही अन्यत्र रहना चाहिए। यदि राज्य के बाहर रहना सम्भव न हो सके तो उसे राज्य मे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए। राज्य से पलायन और उसकी अवहेलना के ऐसे विचार विकसित करने मे जिन दार्शनिकों ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग लिया वे 'एपीक्यूरियन्स' (Epicureans) और 'स्टोइक्स' (Stoics) के नाम से जाने जाते हैं। जीवन के परम शुभ मे दोनो के विचारो मे भिन्नता होते हुए भी दोनो का विश्वास था कि सर्वश्रेष्ठ और बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो राजकीय अथवा सामाजिक जीवन मे भाग न ले, और ले भी तो बहुत ही कम। दोनो ने ही नगर-राज्य के आदर्श को धराशायी करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि किसी एक सार्वभौमिक विधान की स्थापना की जाए। बॉउले (Bowle) ने लिखा है कि "ये दो विख्यात दार्शनिक विचारधाराएँ नगर-राज्य का अतिक्रमण करके, एक सार्वभौम जीवन की प्रक्रिया को समझने तथा व्यक्ति की एकान्त की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न के विषय मे एकमत है। दोनो ही जीवन एव सस्थाओ के पीछे एक विशिष्ट नमूने का दर्शन करती है, यद्यपि यह मानवीयता से बिलकुल सम्बद्ध नही है। स्टोइक दर्शन और भी आगे बढकर कहता है कि प्राकृतिक कानून अथवा दैविक शक्ति का ससार पर शासन है, जिसमे पाप की प्रधानता होते हुए भी सद्गुणी व्यक्तियो का यह कर्त्तव्य है कि वे जीवन के उच्चतर मूल्यो की रक्षा करें जो स्वयं ही अपना पुरस्कार हैं। यही वह देन है जो रोमन कानून तथा ईसाईयत को स्टोईसिज्म

द्वारा प्राप्त हुई है। सभी मनुष्यो पर लागू होने वाला प्रकृति का नैतिक कानून बडी-बडी सरकारो के पीछे उनकी शक्ति का स्रोत बनता है। सिसरो की परिभाषाओ को मानकर तथा कानूनी भाषा मे अनूदित होकर वह मध्य युग तथा उसके परवर्ती काल मे आया है।'[1]

एपीक्यूरियनवाद
(Epicureanism)

एपीक्यूरियनवाद का प्रवर्तन 306 ई. पू मे एथेन्स मे विद्वान् दार्शनिक एपीक्यूरस (Epicurous) ने किया था। इस विचारधारा को 'साइरेनिसिज्म' (Cyrenaicism) का ही एक रूप कहा जा सकता है जिसे अरिस्टिप्स (Aristippus) ने स्थापित किया था। एपीक्यूरियन दर्शन का दूसरा प्रमुख विचारक ल्यूक्रिसस (Lucritious) था, जो इतिहास मे रोमन कवि के नाम से प्रसिद्ध है। उसने अपने ग्रन्थ 'The Nature of Things' मे इस दर्शन को प्रकट किया है।

एपीक्यूरियनवाद के प्रमुख विचार निम्नलिखित थे—

(1) **आनन्द और सुखवाद**—एपीक्यूरियनवाद की सुखवादी धारणा का परिचय देते हुए जी एच सेबाइन ने लिखा है—"इसका उद्देश्य भी सामान्य रूप से वही था जो अरस्तू के पूर्ववर्ती काल मे सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का था। यह दर्शन भी अपने अध्येताओ के मन मे व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न करना चाहता था। इस दर्शन के अनुसार श्रेष्ठ जीवन आनन्द के उपभोग मे निहित है, लेकिन इस दर्शन ने जरा आनन्द का नकारात्मक अर्थ किया। वास्तविक प्रसन्नता तो कष्ट और चिन्ता के निवारण मे है। एपीक्यूरस अपने शिष्टमण्डल मे अत्यन्त सौहार्द्र और मैत्री का वातावरण बनाए रखता था। उसके सुखवाद के सिद्धान्त मे भी इसी आमोद-प्रमोद के लक्षण मिलते हैं। इस दर्शन मे सार्वजनिक जीवन की चिन्ताओ से निवृत्ति का भाव है। एपीक्यूरस के अनुसार, बुद्धिमान् व्यक्ति राजनीति के पचड़े मे उस समय तक नही पडता जब तक कि परिस्थितियाँ उसे इसके लिए बाध्य न कर दें। इस सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार विशुद्ध भौतिकवाद (Materialism) है जो पूर्ववर्ती दर्शनो से ग्रहण किया गया था। इसकी लोकप्रियता का आधार इसके द्वारा व्यक्ति को दिए गए सुख सम्बन्धी आश्वासन थे। एपीक्यूरस समझता था कि व्यक्ति धर्म, दैवी प्रतिशोध, देवताओ और प्रेतात्माओ की विचित्र सिनकों का शिकार रहता है। ये चीजे उसके लिए खतरनाक और चिन्ताजनक होती हैं। एपीक्यूरस की शिक्षा है कि व्यक्ति को इन शिक्षाओ से दूर रहना चाहिए, देवताओ को मनुष्य की कोई परवाह नही है। वे न उनकी भलाई करते हैं और न उनकी बुराई हो। एपीक्यूरस की शिक्षा का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अंश था। यह सम्प्रदाय भविष्य ज्ञान अथवा ज्योतिष जैसे अन्धविश्वासो का घोर विरोधी था। वह उन्हे वास्तव मे बुराई मानता था। इस दिशा मे वह स्टोइकवाद (Stoicism) के बिलकुल विपरीत था।"[2]

इस तरह एपीक्यूरियनवाद सुख को जीवन का मुख्य लक्ष्य मानता था। 'आनन्द ही सौभाग्यपूर्ण जीवन का आदि और अन्त है' यह इसका प्रमुख विचार था।

(2) **धर्म से असहमति**—एपीक्यूरियन दार्शनिक धर्म को शान्ति और सुख देने वाला न मानकर इसे मानव मन मे नरक आदि के अनेक भय उत्पन्न करने वाले दुख का कारण समझते थे। एपीक्यूरस के प्रसिद्ध अनुयायी रोमन कवि ल्यूक्रिसस (99-55 B C) का कहना था—"मानवीय जीवन धर्म के अत्याचार से पीडित रहा है।" वह मनुष्यो को धर्म एव पारलौकिक जीवन की दुश्चिन्ताओ से मुक्त कर सुखी बनाना चाहता था। एपीक्यूरियन धर्म को अज्ञानता का परिचायक मानते थे।

(3) **आकांक्षाओ का हनन**—बुद्ध की भाँति एपीक्यूरियन भी कष्टो का कारण मनुष्य की आकांक्षाओ को मानते थे। उनके अनुसार विभिन्न इच्छाएँ और काम-वासना कष्ट को बढाते हैं। प्रतिष्ठा और शक्ति की इच्छा से मस्तिष्क की शान्ति नष्ट होती है अतः मनुष्य को शहरी जीवन त्याग कर देहाती

1 Bowle · Western Political Thought, p 85
2 सेबाइन पूर्वोक्त, पृष्ठ 122

जीवन् बिताना चाहिए। विषयो का भोग सयम और दूरदर्शिता के साथ करना चाहिए। भोजन से सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु पेटू बनकर इतना अधिक नही खाना चाहिए कि हम बीमार पड जावें।

(4) राजनीतिक विचारधारा—राजनीति के क्षेत्र मे एपीक्यूरियन दर्शन ने निम्नलिखित विचारो को लोगो के सामने रखा—

(क) राजनीतिक जीवन की उपेक्षा—प्लेटो और अरस्तू के विपरीत एपीक्यूरियन दार्शनिक राज्य से पृथक् रहने पर बल देते थे। उनका मत था कि सभ्य समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति मे विभिन्न इच्छाओ और महत्त्वाकांक्षाओं का जन्म होता है जिनकी पूर्ति न होने पर उसका दुखी होना स्वाभाविक है अतः सुखी रहने के लिए यही उत्तम है कि राज्य से पृथक् रहा जाए। राजनीतिक जीवन मे भाग लेने से व्यक्ति जब शक्ति प्राप्त करता है तो अन्य व्यक्तियो मे ईर्ष्या भाव जाग्रत होते हैं और वे हानि पहुँचाने की कामना करने लगते हैं। आकांक्षा सफल न होने पर भी इतना तो होता ही है कि उनकी दुर्भिलाषा से हमारी मानसिक शान्ति भग हो जाती है अतः ज्ञानी और बुद्धिमानी व्यक्तियो को चाहिए कि वे राज्य के प्रति वीतराग-वृत्ति अपना लें। जब तक परिस्थितियाँ ही उन्हे विवश न कर दें, वे राजनीति से अपना कोई सम्बन्ध न जोड़ें और हर प्रकार की शासन-प्रणाली मे प्रसन्न रहे। राजनीतिक जीवन एक बोझ है जिसका आदर्श जीवन के साथ कोई मेल नही है।

(ख) राज्य की उत्पत्ति, विधि और न्याय—राज्य के आरम्भ के बारे में एपीक्यूरियन विचार संविदा-सिद्धान्त (Contract Theory) के सूचक हैं, उनका विश्वास था कि मनुष्य प्रकृति से स्वार्थी है। स्वार्थी होने के कारण उसे राज्य के अभाव मे विविध कष्टो और सकटो का सामना करना पडता था अतः व्यक्तिगत स्वार्थ को नियन्त्रित रखने के लिए मनुष्यो को एक सामान्य उच्च शक्ति की आवश्यकता पडी। उन्होने अपने ही लाभ के लिए परस्पर मिलकर एक समझौता किया जिसके द्वारा ऐसी सर्वोच्च सत्ता की स्थापना की गई जो लोगो को बर्बरता, अत्याचार और अन्याय करने से रोक सकती थी। इस तरह से राज्य की नींव पडी जिसने शासन, कानून और न्याय की सस्थाओ को जन्म दिया। स्पष्ट है कि एपीक्यूरियन धारणा के अनुसार राज्य की स्थापना का मुख्य ध्येय बर्बरता और अन्याय का अन्त करना है। सेबाइन के शब्दो मे, एपीक्यूरियन धारणा के अनुसार—"इस तरह एक प्रसविदा (Contract) के रूप मे राज्य और विधि का जन्म होता है जो मनुष्यो के पारस्परिक व्यवहार को सुगम कर देता है। यदि इस प्रकार की प्रसविदा न हो तो न्याय नाम की कोई चीज भी न रहे। विधि और शासन पारस्परिक सुरक्षा के लिए हैं। वे कारगर इसीलिए है क्योकि विधि के दण्ड अन्याय को अलाभदायक बना देते हैं। बुद्धिमाद् शक्ति न्यायपूर्ण काम इसलिए करते है क्योकि अन्याय के कारण आदमी पकड़ा जा सकता है और उसे दण्ड मिल सकता है जो किसी भी प्रकार उचित नही है। नैतिकता इसकी ही समानार्थक है।"[1]

न्याय के बारे मे एपीक्यूरियन विचारधारा के इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि "व्यक्ति जिस चीज को उचित और न्यायपूर्ण समझता है वह देश, काल और पात्र के अनुसार अलग-अलग होती है।" न्याय के बारे मे एपीक्यूरियन धारणा को आर. डी हिक्स ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"परम्परागत विधि के अन्तर्गत व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के आधार पर उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओ के लिए जो वस्तु इष्टकर मालूम होती है, वह स्वभावत न्यायपूर्ण है। यदि कोई कानून मनुष्यो के पारस्परिक व्यवहार के अनुकूल नही पडता तो वह न्यायपूर्ण नही होता। यदि कानून द्वारा व्यक्त अनुकूलता परिवर्तनशील हो और वह केवल उस समय के लिए ही न्याय के विचार के अनुरूप हो, तो भी यह यथार्थ दृष्टि से उस समय तक जब तक कि हम खाली शब्दो के पीछे नही जाते, प्रत्युत् व्यापक दृष्टि से तथ्यो पर विचार करते है, अवश्य ही न्यायपूर्ण है।"[2]

1 *Dunning* : A History of Political Theory, P 103

2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 123–24.

इसमे सन्देह नही कि मानव-प्रकृति मे समानता होने के कारण न्याय सबके लिए एक समान हैं, फिर भी व्यवहार मे समयानुकूलता का सिद्धान्त मनुष्य की जीवन प्रणाली के अनुसार परिवर्तित होता रहता है अत जो चीज कुछ व्यक्तियो के लिए गलत हो, वही दूसरो के लिए सही हो सकती है। यह सम्भव है कि कोई कानून प्रारम्भ मे जनता को लाभ पहुँचाने के कारण न्यायपूर्ण रहा हो पर स्थिति बदलने पर वही कानून अन्यायपूर्ण भी हो सकता है। कानून और राजनीतिक सस्थाओं की एकमात्र कसौटी उनकी समयानुकूलता है। ये चीजें जहाँ तक सुरक्षा प्रदान करती हैं, और व्यक्तियो के आपसी व्यवहार को सुविधाजनक तथा सुरक्षित बना देती हैं, वही तक न्यायपूर्ण हैं। एपीक्यूरियन विचारक जो शासन-प्रणालियो के बारे मे विशेष चिंतित नही थे, स्वभावत राजतन्त्र को सबसे शक्तिशाली और सुरक्षित शासन-प्रणाली समझते थे। अधिकांश एपीक्यूरियन विचारक सम्पत्तिशाली वर्ग के थे, अतः उनके लिए राजनीतिक दृष्टि से सुरक्षा का सर्वाधिक महत्त्व था। सक्षेप मे एपीक्यूरियन्स के अनुसार कानून और शासन की उपयोगिता इसी मे है कि वे समय के अनुकूल हो, वे राज्य को सुरक्षित रख सकें तथा सामाजिक आदान-प्रदान ठीक प्रकार से होता रहे। बेन्थम तथा अन्य उपयोगितावादी विचारकों का आधार भी यही एपीक्यूरियन विचार है।

(5) मानव संस्थाओं के जन्म का भौतिकवादी सिद्धान्त—एपीक्यूरियन विचारको ने मानव सस्थाओ के जन्म और विकास के सम्बन्ध मे भौतिकवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। ल्यूक्रिसस की कविता मे इस सम्बन्ध मे प्रौढ चिन्तन मिलता है तथापि इस विचारधारा के जन्म का श्रेय एपीक्यूरस को ही है। "सामाजिक जीवन के सभी रूप, उसकी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ, कला और विज्ञान, सक्षेप मे समस्त मानव-सस्कृति केवल मनुष्य की बुद्धि के परिणामस्वरूप ही विकसित हुई। इनमे बाहर की किसी सत्ता का हस्तक्षेप नही है। विशुद्ध रूप से प्राणी भौतिक कारणो के परिणाम होते हैं।"[1]

एपीक्यूरस ने एम्पेडोक्लीज (Empedocles) से एक सिद्धान्त ग्रहण किया था जो आधुनिक प्राकृतिक संवरण के सिद्धान्त (Theory of Natural Selection) से समानता रखता है। एपीक्यूरस के विचार मे मनुष्य का सहज रूप से समाज की ओर झुकाव नही है। मनुष्य की एकमात्र स्वाभाविक प्रवृत्ति येन-केन-प्रकारेण व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति है। प्रारम्भ मे मनुष्य निर्द्वन्द्व एकाकी जीवन-यापन करता था। गुफाओ मे उसका वास था और रक्षा के लिए वन्य पशुओ से वह लड़ता था। सभ्यता की दिशा में सयोगवश पहला कदम आग की खोज था। शनैः-शनैः मनुष्य झोपड़ियो मे रहने लगा और खालो से तन ढकने लगा। चीखने-चिल्लाने के द्वारा उसने पहले पहल भावो को व्यक्त करना सीखा। अनुभव बढा, भाषा का जन्म हुआ और मनुष्य ने स्वय को प्राकृतिक परिस्थितियो के अनुसार ढाला। "इस प्रक्रिया मे ही उसने सगठित समाज की विभिन्न सस्थाओ, विधियो और उपयोगी कलाओ का सृजन किया। आखिर मनुष्य को भौतिक वातावरण द्वारा निर्धारित मर्यादाओ के भीतर ही कार्य करना पड़ता है। मनुष्य इन मर्यादाओ के भीतर कार्य करते हुए अपनी प्राकृतिक शक्तियो के उपयोग द्वारा सभ्यता की सृष्टि करता है। सपनो के द्वारा देवताओ मे विश्वास उत्पन्न होता है। जहाँ मनुष्य को यह अनुभूति होती है कि देवता मानव-कार्यों मे कोई अनुभूति नही लेते वही ज्ञान का आरम्भ हो जाता है।"

एपीक्यूरियनवाद का मूल्यांकन

एपीक्यूरियनवाद ने ई पू चौथी शताब्दी के अन्त से लगभग ईसाईयत की विजय तक शिक्षित व्यक्तियो को प्रभावित किया—विशेषकर रोमवासियों को एपीक्यूरस के विचारो मे अत्यधिक आकर्षण मिला।[2] आज भी ये विचार अपना आकर्षण रखे हुए हैं, क्योकि हममे से अधिकांश जाने-

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 124.
2 *Warner*. The Greek Philosophers, pp 148-53

अनजाने सुखवादी (Epicureans) है। एपीक्यूरियनवाद एक निषेधात्मक दर्शन था, जिसने व्यक्ति को कष्टों से बचने का परामर्श दिया, उनका सामना और समाधान करने का नही अतः स्वाभाविक था कि इसने तत्कालीन नगर राज्यो और उनके नागरिको के समक्ष उपस्थित विभिन्न समस्याओ का कोई समाधान प्रस्तुत नही किया। एपीक्यूरियन दर्शन के विवेचन का समाहार प्रस्तुत नही किया। एपीक्यूरियन दर्शन के विवेचन का समाहार सेबाइन महोदय के इन शब्दो मे करना अधिक उपयुक्त होगा कि—

"शुद्ध अहवाद (Egoism) और प्रसविदा (Contract) पर आधारित इस राजनीतिक दर्शन और सामाजिक विकास के सिद्धान्त की सारी सभावनाओ का वर्तमान काल तक पूरी तरह उपयोग नही किया जा सकता। हॉब्स के राजनीतिक दर्शन मे इस सिद्धान्त का पुनरोदय दीखता है। हॉब्स का दर्शन भी भौतिकवाद (Materialism) पर आधारित है। वह भी मनुष्य के समस्त प्रयत्नो मे स्वार्थ की भावना देखता है और उसने भी राज्य के निर्माण का मुख्य हेतु सुरक्षा की आवश्यकता बतलाया है। उसका यह दर्शन एपीक्यूरियन दर्शन से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। प्राचीनकाल मे एपीक्यूरियन दर्शन का अधिक प्रचार इसलिए नही हो सका, क्योकि वह धर्म और अन्धविश्वास का विरोधी था। एपीक्यूरियन दर्शन पलायन का दर्शन था। यद्यपि एपीक्यूरियन दर्शन को इन्द्रिय सुखवादी (Sensualism) नही कहा जा सकता, तथापि उसने एक ऐसे निष्प्राण सौंदर्यवाद (Aistheticism) को प्रोत्साहन दिया जो न मानव-कार्यो को प्रभावित कर सकता था और न ही उस पर प्रभाव डालना चाहता था। इस दर्शन ने व्यक्ति को शान्ति एव सतोष प्रदान किया लेकिन राजनीतिक विचारो के विकास मे उसका योग नही के बराबर रहा।"[1]

सिनिक विचारक
(The Synics)

सिनिक विचारक प्लेटो और अरस्तू के समकालीन थे। इनका दर्शन भी पलायनवादी था, लेकिन यह पलायनवाद एक भिन्न प्रकार का था। "वे अन्य किसी सम्प्रदाय की अपेक्षा नगर राज्य के और उसके सामाजिक वर्गीकरण के विरोधी थे। उनके पलायनवाद का रूप विचित्र था, क्योकि मनुष्य जिन वस्तुओं को जीवन का सुख समझते है उन्होने उनका तिरस्कार किया। उन्होने सभी सामाजिक भेद-भावो के निवारण पर जोर दिया। वे कभी-कभी तो सुविधाओ और सामाजिक रूढ़ियो की शिष्टताओ तक को त्याग देते थे।" सिनिक विचारको मे से अधिकांश विदेशी और निर्वासित व्यक्ति थे, जिन्हे राज्य की नागरिकता प्राप्त नही थी। सिनिक सम्प्रदाय की सस्थापिका एटिस्थेनीज (Antisthenes) की माता थ्रेसियन (Thracian) थी। इस सम्प्रदाय का सबसे विचित्र सदस्य सिनोप का डायोजेनीज (Diogenes of Sinope) एक निर्वासित व्यक्ति था जिसके सर्वाधिक योग्य प्रतिनिधि क्रेटीस (Crates) ने सुख-सम्पदा को तिलाञ्जलि देकर दार्शनिक दरिद्रता का जीवन अपनाया था। सिनिक विचारको का कोई सगठन नही था। ये भ्रमणशील विचारक थे जो अधिकांशतः घूम-घूमकर लोगो को शिक्षा देते थे। उन्होने दरिद्रता का जीवन सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया था और उनकी शिक्षाएँ भी अधिकतर गरीबो के लिए थी।

सिनिक विचारको ने पलायनवाद मे 'सुखी जीवन' के दर्शन किए। उन्होने वैराग्य और सरल जीवन द्वारा सुख-प्राप्ति का मार्ग लोगो को दिखाया। उनकी शिक्षा का दार्शनिक आधार यह था, कि बुद्धिमान् व्यक्ति को पूर्णतः आत्म-निर्भर होना चाहिए अर्थात् जो कुछ व्यक्ति की अपनी शक्ति, चिंतन और अपने चरित्र की सीमाओ के भीतर है, सुखी जीवन के लिए वही आवश्यक है। उनका कहना था कि नैतिक चरित्र के अतिरिक्त अन्य सभी बातें व्यर्थ है। सम्पत्ति और विवाह, परिवार और नागरिकता, विद्वता और प्रतिष्ठा अर्थात् सभ्य जीवन की सभी श्रेष्ठ बातें और रूढ़ियाँ तिरस्कार-योग्य

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 125.

है। सिनिक विचारकों ने मानवीय समानता का उपदेश दिया। उन्होंने यूनानी जीवन के प्रथागत भेदभावों की कटु आलोचना करते हुए अमीर और गरीब, नागरिक और विदेशी, स्वतन्त्र और दास, उच्च-वंशीय और निम्न-वंशीय सभी लोगों को समान बताया तथापि, जैसा कि प्रो सेबाइन ने लिखा है कि "सिनिकों की समानता शून्यवाद (Nihilism) की समानता थी। यह सम्प्रदाय मानव-प्रेम (Philanthrophy) अथवा सुधारवाद (Amelioration) के सामाजिक दर्शन का आधार कभी नही बना, किन्तु यह सदैव सन्यास और प्यूरिटनवाद की ओर झुका रहा। उनकी निगाह में गरीबी और दासता का कोई महत्त्व नही था। उनके विचार मे स्वतन्त्र व्यक्ति की स्थिति किसी भी हालत मे दास से बेहतर नही थी। सिनिक यह भी मानने को तैयार नही थे कि दासता बुरी चीज है और स्वतन्त्रता अच्छी चीज। पुरातन विश्व मे जो सामाजिक भेदभाव प्रचलित थे, सिनिकों को उनसे सख्त नफरत थी फलस्वरूप उन्होने असमानता की ओर से अपनी पीठ मोड ली तथा दर्शनशास्त्र द्वारा आध्यात्मिकता के एक ऐसे जगत् मे प्रवेश किया, जिसमे छोटी छोटी बातो के लिए कोई स्थान नही था। सिनिकों का दर्शन भी एपीक्यूरियन विचारकों की भांति त्याग का ही दर्शन था, लेकिन यह त्याग किसी सौंदर्य-प्रेमी का त्याग नही था बल्कि परिव्राजक और शून्यवादी का त्याग था।"

सिनिकों का दर्शन कल्पना-प्रधान था। कहा जाता है कि एन्टिस्थेनीज तथा डायोजेनीज ने राजनीति के सम्बन्ध मे पुस्तकें लिखी थी और एक ऐसे आदर्श साम्यवाद अथवा सम्भवत. अराजकतावाद का चित्र खींचा था जिसमे सम्पत्ति, विवाह और शासन लुप्त हो गए हो। सिनिक दार्शनिकों का अभिमत था कि अधिकांश व्यक्ति, चाहे वे किसी भी सामाजिक वर्ग के हो, मूर्ख होते है। श्रेष्ठ जीवन तो केवल ज्ञानी व्यक्तियों के लिए ही है। इसी प्रकार, सच्चा समाज भी केवल ज्ञानी लोगो के लिए है। ज्ञानी व्यक्ति को न घर की आवश्यकता है, न देश की, न नगर अथवा कानून की। वह तो हर जगह एक-सी स्थिति मे रहता है। उसके लिए उसका सद्गुण ही कानून है। ज्ञानी व्यक्ति नैतिक आत्म-निर्भरता-प्राप्त व्यक्ति होते है जिनके लिए समाज की सारी संस्थाएँ बनावटी और उपेक्षणीय है। सिनिकों की दृष्टि मे सच्चा राज्य वही है जिसकी नागरिकता की सबसे बडी शर्त ज्ञान हो। इस राज्य के लिए न स्थान की आवश्यकता है न कानून की। जो व्यक्ति ज्ञानी और बुद्धिमान है वे सर्वत्र ही एक समाज का, विश्व-नगर का निर्माण करते है। बुद्धिमान् व्यक्ति 'विश्वात्मा', 'विश्व-नागरिक' होते है। विश्व-नागरिकता के इसी सिद्धान्त का आगे चलकर स्टोइक विचारकों ने विस्तार किया।

सिनिक दर्शन का व्यावहारिक महत्त्व मुख्यत. इस बात मे है कि इसने स्टोइकवाद को जन्म दिया। यही नही, लगभग 2000 वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी सिनिक राजनीतिक-दर्शन के अनेक तत्त्व आज भी जीवन्त हैं।

7 रोमन राजनीतिक चिन्तन

(Roman Political Thought)

रोम ने यूनान की तरह प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् एव मौलिक विचारको को जन्म न दिया और न ही राजदर्शन को नवीन विचारो से समृद्ध बनाया, फिर भी पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा में उसका अपना विशेष स्थान है। राजनीतिक सगठन तथा कानून के क्षेत्र मे रोम ने जो योग दिया वह उल्लेखनीय है। मैक्सी (Maxey) के कथनानुसार, "रोमन सभ्यता राजनीतिक चिन्तन इतिहास मे अपने विचारो की मौलिकता के कारण प्रसिद्ध नही है। रोम के विचारक राजनीतिक विचार को उत्तम करने वाले थे, किन्तु इनकी व्याख्या और इनका (यूनान से मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप तक) वहन करने वाले थे।"[1] इसमे कोई सशय नही कि मौलिकता का अभाव होते हुए भी रोम लेखक और विचारक अनेक शताब्दियो तक प्राचीन यूनानी विचारधारा के प्रसार के शक्तिशाली साधन और माध्यम बने रहे। उनके विचार स्टोइक विचारधारा से बड़े प्रभावित थे अतः रोमन कानून और न्याय-शास्त्रो को विकास का अच्छा अवसर मिला। यह तथ्य भी नही भुलाया जा सकता कि जहाँ यूनानी सभ्यता पर आधुनिकता की छाप नहीं थी वहाँ रोमन सभ्यता में आधुनिक सभ्यता की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त रोमन लोगो ने यूनानियो के विचारो को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए उनमे भिन्न विचारधारा को भी अस्तित्व दिया। जहाँ यूनानी विचार में व्यक्ति के महत्त्व को राज्य के अन्तर्गत माना जाकर उसके व्यक्तित्व का लोप राज्य मे कर दिया गया वहाँ रोमन विचारको ने व्यक्ति और राज्य को पृथक् करते हुए दोनो के अधिकारो और कर्त्तव्यो को अलग-अलग माना तथा राजनीतिक चिन्तन मे व्यक्ति को केन्द्र बनाया। राज्य के सम्बन्ध मे उनका विचार था कि यह एक वैधानिक व्यक्ति है। उन्होने नागरिको के अधिकारो की सुरक्षा की दृष्टि से व्यक्तिगत कानून का विकास किया। राज्यो को उन्होने एक स्वाभाविक सस्था माना और वैधानिक सिद्धान्तो मे आस्था प्रकट की। शासक की इच्छा को अन्तिम मानते हुए उन्होने यह मत रखा कि कानून शासक और शासित का समझौता है।

रोम के राजनीतिक विचारो को अधिक- विस्तार से समझने के लिए यह युक्तिसगत होगा कि उसके साँविधानिक विकास को जान लिया जाए।

रोम का साँविधानिक विकास

(Constitutional Development of Rome)

इतिहास मे रोम का आविर्भाव एक राजतन्त्रात्मक नगर राज्य के रूप मे हुआ जिसने गणराज्य के रूप मे महत्ता प्राप्त की और अपने पतन काल मे वह निरंकुश और साम्राज्यवादी रहा।

रोम की स्थापना (लगभग 753 ई पू.) से 510 ई. पू तक राजसत्तात्मक काल रहा। उस समय राज्य का अध्यक्ष राजा अथवा रेक्स होता था। रोमन राज्य मे तीनो तत्वो का सम्मिश्रण था—

1 *Maxey* · Political Philosophies, p. 80.

राजा एक साथ ही (1) जनता का वशगत और पितृसत्तात्मक मुखिया, (2) समुदाय का मुख्य पुरोहित, और (3) राज्य का निर्वाचित शासक होता था। राजा की सहायता के लिए उसके द्वारा चुने हुए 300 सदस्यों की एक सीनेट थी। राजा की मृत्यु पर इन्टररेक्स (अन्तरिम राजा) की नियुक्ति करना उसका विशेषाधिकार था। सीनेट सर्वोपरि संस्था नहीं थी क्योंकि राजा के चुनाव पर समुदाय के अनुसमर्थन की आवश्यकता थी और राजा उसके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य न था। इस राजतन्त्रात्मक काल में समुदाय के केवल एक भाग पैट्रीशियन (Patrician), जो उच्च एवं कुलीन परिवार था, को ही राजनीतिक अधिकार दिए गए थे। शेष जिनके पास राजनीतिक अधिकार न थे। प्लॉबियन (जन-साधारण) के नाम से प्रसिद्ध थे। राज्य के सभी बड़े पद पैट्रीशियन लोगों के पास थे। बाद मे राजाओं के समय मे शासन मे साझेदारी के लिए प्लॉबियनो का दबाव बढ गया और कमेटियाँ सेंचुरियाटा (Comitia Centuriata) नामक नई सभा बनाई गई जिसमे प्लॉबियन और पैट्रीशियन दोनो का स्थान था।

सन् 510 ई पू मे रोम के अन्तिम राजा टार्क्विनियस सुपर्बस (Tarquinius Superbus) के निष्कासन के साथ ही राजतन्त्रात्मक युग की समाप्ति हो गई और गणतन्त्र युग का प्रारम्भ हुआ। अब राजा के नागरिक और सैनिक दोनो ही प्रकार के अधिकारो को कॉन्सलस (Consuls) नाम के दो पदाधिकारियो को सौंप दिया गया किन्तु रोम के इस गणतन्त्र मे अभी तक जनता को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। प्लेब्स (Plebs) या जन-साधारण की तीन प्रकार की योग्यताएँ थी—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अतः स्वाभाविक था कि वे अपनी इस अन्यायपूर्ण स्थिति का विरोध करते हुए दूसरे सम्पन्न एव समर्थ वर्ग के समकक्ष होने का प्रयास करते। आखिर पैट्रीशियनो के साथ लगभग दो शताब्दियों के संघर्ष में शनै-शनै. उन्हे कुछ अधिकार प्राप्त हुए। उनकी एक एसेम्बली या जनपरिषद् (Concilium Plebis) बनी जो उनके लिए कानून बनाती थी और विभिन्न पदो के लिए व्यक्तियो का चुनाव करती थी। प्रमुख पद विशेष रूप से चुने गए, चार ट्रिब्यूनो (Tribunes) का जन-न्यायाधीशों के थे जिनका मुख्य कार्य प्लॉबियनो के अधिकारो की रक्षा करना था। शनैः-शनै साधारण जनता को सभी राजकीय पदो पर चुने जाने का अधिकार मिला और चौथी शताब्दी ई. पू. से दो मे से एक कॉन्सल (Consuls) जनता का होने लगा। अब प्लॉबियनो (साधारण जनता) को सीनेट मे भी प्रवेश का अवसर प्राप्त हुआ।

इस तरह स्पष्ट है कि (गणतन्त्रीय) शासन के तीन तत्त्व थे जो एक-दूसरे पर नियन्त्रण रखने वाले और आपस मे सन्तुलन रखने वाले समझे जाते थे। प्रथम तत्त्व—एकतन्त्रीय तत्त्व (प्रारम्भिक राजाओ मे स्थानान्तरित) था, जो दो कॉन्सलो के रूप मे प्रकट हुआ। दूसरा तत्त्व, अभिजाततन्त्रीय सीनेट मे समाविष्ट था। तीसरा, अर्थात् लोकतन्त्रीय तत्त्व भूमि या जनता के विभागो के अनुसार तीन प्रकार की जनसभाओ (क्यूरीज, सेच्यूरीज एव ट्राइब्ज) मे विद्यमान था, किन्तु लगभग दूसरी शताब्दी ई. पू. के मध्य से रोम मे गणतन्त्रात्मक संस्थाएँ बदनाम होने लगी।

113 ई पू, के बाद बार-बार विस्तृत कार्यकारी शक्ति एक ऐसे व्यक्ति के हाथो मे केन्द्रित की जाने लगी जिसको जनमत विशेष रूप से मनोनीत करता था। गणतन्त्र शनैः-शनै. साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित होने लगा और शासन का जो रूप नगर राज्य के लिए स्वीकार किया गया था—वह साम्राज्य के शासन के लिए अनुपयुक्त पाया गया। गणतन्त्र एक प्रभावशाली निरकुशतन्त्र मे बदलने लगा। जूलियस सीजर 48 ई. पू मे अनिश्चित काल के लिए तानाशाह बना दिया गया। ऑगस्टस के प्रेन्सीपेट काल मे यह निरंकुशता और एकतन्त्रवाद और भी स्पष्ट हो गया। सीनेट यद्यपि जीवित रही और नाम मात्र को उसको और भी अधिकार मिल गए किन्तु यह सब केवल प्रदर्शन ही था, क्योंकि सीनेट जो कुछ भी करती थी, वह सब प्रिन्सेपो की आज्ञा से ही करती थी। जनप्रिय सभाएँ भी जीवित रही किन्तु उसकी शक्ति अत्यल्प रह गई।

ऑगस्टस के समय मे रोम को एक विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध करना पड़ता था। इस साम्राज्य पर शासन करने के लिए रोमन लोगो ने किसी नई पद्धति का आविष्कार नहीं किया, अपितु प्रान्तों के प्रशासन हेतु सविधान को ही अनुकूल बना लिया। रोम का प्रजा-समुदाय प्रान्तो में विभाजित था, प्रान्तो के प्रशासन के लिए राज्यपाल उत्तरदायी होते थे जिन पर अनेक प्रतिबन्ध थे, किन्तु जो व्यवहार मे अनियन्त्रित थे। रोम के शासक-वर्ग को केवल अपने लाभ के लिए प्रान्तो का शोषण करने मे दिलचस्पी थी। साम्राज्यकाल मे इस शासन पद्धति में सुधार का प्रयत्न किया गया। राज्यपाल की कार्यविधि बढ़ा दी गई और उन्हे नियमित वेतन दिया जाने लगा। लूटमार करने पर रोक लगा दी गई। चौथी और पाँचवी शताब्दियों में बर्बरो के प्रबल आक्रमणों से रोमन राजनीतिक व्यवस्था भंग हो गई।

इस तरह रोमन सविधान का आरम्भ "एकतन्त्रात्मक, अभिजाततन्त्रात्मक और लोकतन्त्रात्म तत्त्वों के एक सम्मिश्रण के रूप में और उसका अन्त एक अनुत्तरदायी निरंकुशता के रूप मे हुआ। रोमन संविधानवाद के मूल मे राष्ट्रीय भावना का बिल्कुल ही अभाव था।

रोमन संविधानवाद का प्रभाव

सी. एफ. स्ट्रॉंग (C. F Strong) ने इस प्रभाव को निम्नवत् प्रकट किया है—

"सबसे पहले तो रोमन विधि का महाद्विपीय यूरोप के विधि-इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ा पश्चिमी साम्राज्य के ट्यूटन जातीय आक्रमणकारियो द्वारा लाई गई रूढ़ियाँ और विधियाँ रोमन संहिता मे जो उन्हे वहाँ मिली, घुलमिल गई और इस सम्मिश्रण ने उन विधि प्रणालियों को जन्म दिया जो आज पश्चिमी यूरोप महाद्वीप में प्रचलित हैं।

दूसरे, रोमनों की व्यवस्था और एकता का प्रेम इतना प्रबल था कि मध्ययुग के लोग विघटनकारी शक्तियों के होते हुए भी विश्व की राजनीतिक एकता की धारणा से आश्लिष्ट थे। आधुनिक विश्व के उदार विचारक आज जो यह स्वप्न देख रहे हैं कि शायद अन्त मे युद्ध के निवारण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना की जा सकेगी— उसका मूल एकता के लिए रोमनों के उत्कट प्रेम और मध्यकाल मे एक आदर्श के रूप मे बनी हुई उसके प्रति निष्ठा मे पाया जा सकता है।

तीसरे, सम्राट के प्रभुत्व के बारे मे दुहरी धारा—एक ओर एक कि नरेश की खुशी ही विधि का बल रखती है और दूसरी ओर यह कि उसकी शक्तियाँ अन्ततः जनता से प्राप्त होती हैं—कई शताब्दियो तक बनी रहीं, और इसने शासक और शासितों के सम्बन्ध के बारे में दो पृथक् मध्यकालीन विचारधाराओ को जन्म दिया। मध्यकाल के प्रारम्भ मे इसके फलस्वरूप लोगों ने सत्ता को आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया, किन्तु उस काल के अन्तिम दिनो में इस विचारधारा का जन्म हुआ कि प्रारम्भ में सम्राट को शक्ति सौंपने वाली जनता उसे उचित रूप से पुनः अपने हाथ में ले सकती है। जिस लोकतन्त्र से आधुनिक युग का समारम्भ हुआ, उसका दार्शनिक आधार यही तर्क था।"

रोमन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ
(Characteristic Features of the Roman Political Thought)

रोमन राजनीतिक विचारकों पर आने से पूर्व रोमन राजनीतिक चिन्तन की कतिपय प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टि डाल लेना साथ ही यूनानी राजनीतिक चिन्तन से उसकी भिन्नता को समझ लेना युक्तिसंगत होगा—

1. यूनानी सैद्धान्तिकवाद और दार्शनिकवाद की तुलना मे रोमन चिन्तन विशेष रूप से यथार्थवादी था। रोमन विचारकों और विधिवेत्ताओं ने राजनीतिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन की अपेक्षा उसके व्यावहारिक पक्ष के विकास में अर्थात् राजनीतिक संस्थाओं, कानून, प्रशासन आदि के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसलिए जॉन बॉउले ने लिखा है कि "रोमन मस्तिष्क दार्शनिक नहीं था अपितु व्यावहारिक, सैनिक और विधानवादी था।" एबन्सटीन के मतानुसार, "पाश्चात्य जगत में शासन और

राजनीति की अवधारणाओं तथा व्यवहारों की विधि और प्रशासन के क्षेत्र में रोम ने महान् योगदान किया।"[1]

2. यूनानी राजनीतिक चिन्तन में कतिपय अपवादों (स्टोइक, एपीक्यूरियन और सिनिक विचारधाराओं) को छोड़कर आरम्भ से अन्त तक व्यक्ति को राज्य की दया पर आश्रित किया गया और राज्य की इकाई के रूप में ही उसके महत्त्व को स्वीकार किया गया जबकि रोमन चिन्तन में व्यक्ति को राज्य के व्यक्तित्व से मुक्त करके उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को मान्यता दी गई। रोम निवासियों को यह कभी रुचिकर नहीं हुआ कि राज्य को व्यक्ति का विशालतर स्वरूप मानकर राज्य में उसे विलीन कर दिया जाय। उन्हें यह स्टोइक और एपीक्यूरियन विचार ही श्रेयस्कर लगा कि व्यक्ति राज्य से पृथक् रहकर भी अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

3 यूनानी राजनीतिक चिन्तन की भांति रोमन राजनीतिक चिन्तन में राज्य को कोई नैतिक इकाई नहीं माना गया। रोमन राजनीति यथार्थवादी थी जिसमें राज्य को वास्तविकता से अधिक ऊँचा स्थान देना रुचिकर न था। प्रख्यात रोमन विचारक सिसरो ने राज्य को एक ऐसी संस्था बतलाया जिसका निर्माण लोगों की सहमति से हुआ है। उसने राज्य की प्रभावशीलता के लिए सम्पूर्ण जनता के समर्थन को आवश्यक माना।[2] आज का लोकतान्त्रिक युग सिसरो के इन विचारों की ही पुष्टि करता है। प्रो. मैकलवेन के शब्दों में, "एक यूनानी राजनीतिक दार्शनिक के लिए राज्य या तो धनिकतन्त्र था अथवा स्वयं राजा जबकि एक रोमन न्यायशास्त्री की दृष्टि में राज्य प्रशासकों की समुचित कार्यवाही था।"[3] सिसरो ने राज्य को एक वैधानिक साझेदारी (Juris Societies) कहा और रोमन न्यायशास्त्रियों ने राज्य को एक वैधानिक व्यक्ति की संज्ञा दी।

4. रोमन राजदर्शन में राजतन्त्र, वर्गतन्त्र और जनतन्त्र की शक्तियों का एक सन्तुलित और सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण की स्थिति ही राज्य के उत्कर्ष का आधार हो सकती है। रोम सरकार के राजनीतिक ढांचे में चार प्रमुख इकाइयों—ट्रिब्यून, सीनेट, साधारण सभा (कमेटिया प्लेबिस) और कौंसिल की स्थापना की गई और सरकार में नियन्त्रण एवं सन्तुलन का व्यावहारिक सिद्धान्त अपनाया गया।

5. रोमन राजदर्शन की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रभुसत्ता या राजसत्ता (Sovereignty) के विचार का विकास था जिसे उन्होंने 'इम्पीरियम' (Imperium) का नाम दिया। रोमन इम्पीरियम ने आगे चलकर दो गम्भीर प्रभाव डाले—प्रथम, इसका अर्थ निरपेक्ष स्वेच्छाचारी शक्ति के लिए लगाया और द्वितीय, इसका अर्थ लोकमत द्वारा समर्थित राजसत्ता से भी लिया गया। मध्य युग ने अपनी निरपेक्ष सत्ता का स्रोत रोमन इम्पीरियम में पाया तो आधुनिक युग ने लोकमत की सम्प्रभुता के दर्शन उसमें किए।

6 रोमन राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता सवैधानिक तर्कवाद (Legalistic Argumentation) थी जहाँ यूनानी राजनीतिक चिन्तन में आरम्भ से अन्त तक आदर्श पर आग्रह रहा वहाँ रोमन चिन्तन और व्यवहार की यथार्थवादिता में कानून की व्यावहारिक पद्धति के निर्माण और उसकी व्याख्या पर बल दिया गया। यूनानी विचारकों ने कानून के स्रोत का अध्ययन किया, स्वयं कानून का नहीं। उन्होंने कानून के निर्माण, कानून के संहिताकरण, कानून की तार्किक व्याख्या और व्यावहारिकता के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं किया। वैधानिक तर्कवाद यूनानी चिन्तन के लिए दूर की बात थी।

7 जहाँ यूनानियों ने राज्य और समाज के बीच अन्तर नहीं किया और नैतिकता और राजनीति को प्रायः एक ही वस्तु माना, वहाँ रोमन राजनीतिक चिन्तन में राज्य और समाज में,

1 *Ebenstein* : Great Political Thinkers, p 121.
2 *John Bowle* . Western Political Thought, p 117
3 *McIlwain* The Growth of Political Thought, pp 12–13.

नैतिकता और राजनीति मे अन्तर किया गया—दोनों का निरूपण अलग-अलग हुआ। सिसरो ने स्पष्ट रूप से कहा कि समाज राज्य से प्राचीन और अधिक सुविस्तृत वस्तु है। यह कहा गया कि व्यक्ति को राज्य का अभिन्न अग नही माना जा सकता, वह राज्य से अपना एक पृथक् अस्तित्व रखे हुए है और राज्य का नागरिक होने से पूर्व समाज का सदस्य है। यूनानी चिन्तन मे दासो को मनुष्य की श्रेणी मे न गिनकर घरेलू चल सम्पत्ति के रूप में देखा गया जबकि रोमन वैधानिक पद्धति मे दासो को मानवोचित व्यवहार पाने का अधिकार मिला। सेनेका ने दासता को एक बाह्य सयोग की वस्तु बतलाया, जिसका केवल ऐतिहासिक औचित्य हो सकता था। रोमन चिन्तन ने इस विचार को अङ्गीकार किया कि प्राकृतिक रूप से सभी व्यक्ति स्वतन्त्र उत्पन्न होते है।

रोमन राजनीतिक विचारक : पोलिबियस
(Roman Political Thinkers : Polybius)

रोम के राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता महान् यूनानी इतिहासकार पोलिबियस (Polybius) का जन्म यूनान मे 204 ई. पू. मे हुआ था। इस यूनानी राजनीतिज्ञ को रोमन लोगो ने यूनान विजय के बाद पहले तो 16 वर्ष (167 ई. पू. से 151 ई. पू तक) अपने यहाँ एक राजनीतिक बन्धक के रूप मे रखा किन्तु बाद मे उसके ज्ञान और अनुभव को देखकर उसे आश्रय प्रदान किया। पोलिबियस ने भी इस अवसर से लाभ उठाया। रोम मे रहते हुए उसने वहाँ के बौद्धिक तथा सैनिक नेताओ से सम्बन्ध स्थापित किए और रोमन चरित्र तथा रोमन संस्थाओ के बारे मे ज्ञान प्राप्त किया। पोलिबियस ने रोमन सविधानो का गम्भीर अध्ययन किया। वह रोमन राजनीतिक स्वरूप का परम प्रशसक और समर्थक बन गया। उसने रोम के बारे मे अपने विशाल ज्ञान की उपयोगिता को अमर बनाने की दृष्टि से रोमन गणतन्त्र का इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया तथा 'रोम का इतिहास' नामक अपने इस ग्रन्थ मे रोमन लोगो की अद्भुत असफलताओ के कारणो का अनुमान लगाने का सफल प्रयास किया। उसने इसका कारण रोम की असाधारण रूप से सगठित और स्थिर शासन प्रणाली को माना।

'रोम का इतिहास' लिखने मे उसने राज्य के उद्भव से आरम्भ किया। 40 खण्डो में लिखे गए रोमन इतिहास की छठी पुस्तक मे उसने शासनतन्त्रो के विविध प्रकारो पर विचार किया। उसने शासन प्रणालियो के उत्थान और पतन के क्रम का तथा रोम के संविधान के विभिन्न अगो का सुन्दर विश्लेषण करते हुए उनके स्थायित्व के कारणो की विवेचना की। पोलिबियस ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारों का वर्णन किया उन्हे हम निम्नांकित शीर्षको मे प्रकट करेंगे—

पोलिबियस के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव और शासन-प्रणालियो का परिवर्तन-चक्र

राज्य की उत्पत्ति के बारे मे पोलिबियस ने मनुष्य की ऐसी स्थिति का चित्रण किया जिसमे सभ्यता और सामाजिकता का सर्वथा अभाव था, पर साथ ही उसने मनुष्यो मे स्वाभाविक व्यवस्था के लक्षण को स्वीकार किया। उसके अनुसार यही लक्षण मनुष्यो को राज्य का निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है। जब बाढ़, अकाल, महामारी आदि के कारण मानव-जाति की संख्या बहुत थोडी रह जाती है तो ये थोडे से व्यक्ति सहज प्रवृत्ति और व्यवस्था के कारण एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होकर एकत्र होते हैं और पशुओ की भाँति अपने ऊपर सबसे शक्तिशाली व्यक्ति का शासन स्थापित होने देते है। पोलिबियस ने सविदा या समझौते (Contract) के स्थान पर शक्ति को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना है जिसके अनुसार सबसे पहले राजतन्त्र की स्थापना होती है।

पोलिबियस ने आगे बतलाया कि "बुद्धि और अनुभव के विकास के साथ न्याय और कर्त्तव्य के विचार को प्रधानता मिलती है और राजतन्त्र नैतिकता पर आधारित माना जाने लगता है। इस तरह प्राकृतिक स्वेच्छाचार (Natural Despotism) राजत्व मे परिणत होता है।" लेकिन शनैः

शनैः राजा न्याय और नैतिकता का परित्याग करने लगता है। इस तरह राजतन्त्र अत्याचारतन्त्र (Tyranny) मे बदल जाता है अर्थात् राजा निरंकुश तानाशाह (Tyrant) बन जाता है। जनता इस कष्टपूर्ण स्थिति को सहन नही कर पाती और कुछ सद्गुणी व्यक्ति इस स्थिति का अन्त करने के लिए प्रकट होते है। राज्य के ये सद्गुणी (Virtuous) एव प्रतिभाशाली नेता निरंकुश तानाशाह को हटाकर अभिजात्यतन्त्र (Aristocracy) की स्थापना करते है। कालान्तर मे यह शासन भी भ्रष्ट हो जाता है और कुछ मुठ्ठी भर व्यक्तियो के अन्यायपूर्ण और अनैतिक धनिकतन्त्र (Oligarchy) मे परिणत हो जाता है। अन्तत जनता ऐसे शासको के उत्पीडन से असन्तुष्ट होकर विद्रोह करके सत्ता अपने हाथ में ले लेती है। अब लोकतन्त्र की स्थापना होती है जिसमे शासन का सचालन सभी लोगो के कल्याण की दृष्टि से किया जाता है। दुर्भाग्यवश कुछ समय बाद यह शासन भी विकृत होने लगता है। विवादो और सघर्षो का जन्म होता है तथा धनिकवर्ग निर्धनो का शोषण करने लगता है। लोकतन्त्र अपने इस दूषित रूप मे 'भीडतन्त्र' या भीड़ के शासन (Ochlocracy) मे बदल जाता है। अब समाज की दशा वैसी ही हो जाती है, जैसी शक्ति पर आधारित राजतन्त्र के पूर्व थी। शीघ्र ही भीडतन्त्र की अवस्था का विरोध करने के लिए किसी साहसी नेता का प्रादुर्भाव होता है। वह जन-समर्थन प्राप्त करके पुन राजतन्त्र की स्थापना करता है। इस तरह विभिन्न शासन-प्रणालियो के परिवर्तन का एक क्रम या चक्र पूरा होने पर पुन दूसरा चक्र चलने लगता है। प्राकृतिक कष्टो द्वारा इस प्रकार की परिस्थितियाँ बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं और उपयुक्त चक्र के अनुसार सरकारो का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है।

पोलिबियस के अनुसार सरकारो का वर्गीकरण
(Classification of Governments)

शासन-प्रणालियो के उपरोक्त परिवर्तन-चक्र से पोलिबियस द्वारा निरूपित शासनतन्त्रो का वर्गीकरण स्वत स्पष्ट हो जाता है। अरस्तू की भाँति वह भी शासनतन्त्र के तीन विशुद्ध (Pure) रूप और फिर उनके तीन विकृत (Perverted) रूप मानता है। ये इस प्रकार है:—

विशुद्ध रूप	विकृत रूप
(1) राजतन्त्र (Monarchy)	निरकुशतन्त्र (Tyranny)
(2) अभिजात्यतन्त्र (Aristocracy)	धनिक तन्त्र (Oligarchy)
(3) प्रजातन्त्र (Democracy)	भीडतन्त्र (Ochlocracy)

पोलिबियस कहता है कि राज्यो मे शासन के ये भेद शुद्ध एव विशुद्ध रूप मे सदा बने रहते है अर्थात् प्रत्येक शासन मे, अपनी उन्नति के साथ-साथ अवनति के बीज छिपे रहते हैं। पोलिबियस के ही शब्दों मे, "राजतन्त्र से अत्याचार की ओर, अत्याचार से निरकुशवाद की ओर, निरंकुशवाद से एकतन्त्र की ओर, एकतन्त्र से प्रजातन्त्र की ओर, प्रजातन्त्र से भीड़तन्त्र की ओर, और भीडतन्त्र की तानाशाही से पुनः राजतन्त्र की ओर राजसत्ता का, मेरे विचारानुसार विकास होता है।"

पोलिबियस का मिश्रित संविधान
(Mixed Constitution)

पोलिबियस ने शासन मे स्थिरता लाने और परिवर्तन-चक्र को रोकने के लिए नियन्त्रण और सन्तुलन सहित मिश्रित संविधान की व्यवस्था की। उसने बतलाया कि विभिन्न शासन-प्रणालियो के उत्कृष्ट तत्त्वो का सम्मिश्रण किया जाए और इनके द्वारा शासन मे ऐसे निरोध एवं सन्तुलन (Checks and Balances) स्थापित किए जाएँ जिनसे वे सभी तत्त्व दूर रह सकें जो शासन-प्रबन्ध मे कमी लाकर उनके स्वरूप को बदल देते हैं। वस्तुत पोलिबियस की मिश्रित सविधान की यह कल्पना मौलिक नही थी। लाइकरगस (Lycurgus) ने भी एक ऐसे ही सविधान की कल्पना स्पार्टा के लिए की थी परन्तु उसको स्पार्टा मे व्यावहारिक रूप प्रदान नहीं किया जा सका जबकि रोम मे पोलिबियस

के मिश्रित सविधान को प्रयोग मे लाया गया। लाइकरगस के बाद प्लेटो और अरस्तू ने भी मिश्रित सविधान की कल्पना की थी, किन्तु उन्होंने इस सविधान को साधारण शासन-स्वरूप का स्थान दिया था। उन्होंने इसमें जटिलता नही आने दी थी। वह पोलिबियस ही था जिसने सर्वप्रथम दृढ़ता के साथ मिश्रित सविधान का समर्थन किया। उसके विचार से रोमन शासन की स्थिरता का कारण उसका मिश्रित चरित्र ही था। यह राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा जनतन्त्री तत्त्वों का एक सुन्दर समन्वय था। राजतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व कौंसल्स (Consuls) कुलीनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व सीनेट (Senate) और जनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व जनता की सभाओ (Popular Assemblies) द्वारा होता था। इन तीनो अगो मे सामञ्जस्य स्थापित करना और तुल्यभारिता बनाना ही रोमन संविधान की सफलता का रहस्य था। पोलिबियस के अनुसार रोमन सविधान से अच्छा दूसरा संविधान प्राप्त करना असम्भव था। लाइकरगस-प्रणीत स्पार्टा के सविधान में भी उसे इसी मिश्रित सरकार प्रणाली के बीज दिखाई दिए थे। स्वयं जन्म की दृष्टि से यूनानी होने के कारण राजनीतिक शासन प्रणालियो की चक्रात्मक व्याख्या और उनके अवश्यम्भावी पतन में विश्वास करते हुए भी पोलिबियस यह मानता था कि पतन की प्रक्रिया को अच्छा सविधान रोक सकता था। यदि प्राकृतिक कारणों से संविधान का उद्भव और विकास होता है तो यह मानना ही पड़ता है कि प्राकृतिक कारणों से ही उसका पतन भी होगा, पर साथ ही यह मानना कि मिश्रित सविधान की पद्धति से इस प्राकृतिक पतन को रोका जा सकता है, नियतिवाद की उस कल्पना का विरोध करना है जो साधारणत: हमें पोलिबियस के दर्शन मे मिलती है। किन्तु यह भी ध्यान मे रखना होगा कि प्रभावपूर्ण पोलिबियस यह कदापि नही कहता कि राजनीतिक माध्यम से प्रकृति-नियत पतन को सर्वदा के लिए रोका जा सकता है। उसकी दृष्टि मे यही कहना युक्तिसंगत है कि मिश्रित शासन-व्यवस्था राजनीतिक पतन को रोकने का एक साधन है। पोलिबियस ने स्पष्ट कहा कि एक उत्तम राजनीतिक व्यवस्था मे सभी वर्गों के हितो का स्वरूप बना रहना चाहिए इसीलिए उसने अपनी मिश्रित संविधान की कल्पना मे सभी वर्गों के हितों को स्थान प्रदान किया और एक-दूसरे के स्वार्थों अथवा हितों पर नियन्त्रण भी स्थापित किया।

शासनो के वर्गीकरण मे प्लेटो और अरस्तू की शब्दावली को यद्यपि पोलिबियस ने स्वीकार किया किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जहाँ अरस्तू सिर्फ धनिकतन्त्र और जनतन्त्र के मिश्रण का हिमायती था, वहाँ पोलिबियस राजतन्त्र, अभिजात्यतन्त्र या कुलीनतन्त्र के मिश्रण का समर्थक था। साथ ही वह इस सम्मिश्रण को 'निरोध और सन्तुलन' के सिद्धान्त पर आधारित होने का समर्थन करता था। उसने रोमन सविधान मे इसी भाँति का मिश्रण देखा था। प्लेटो और अरस्तू शासन की अस्थिरता को दूर करने के लिए विभिन्न शासन प्रणालियों के तत्त्वों का मिश्रण करना चाहते थे, वहाँ पोलिबियस इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शासन के तीन अगो के पारस्परिक विरोध को भी आवश्यक मानता था। उसके राज्य के तीनों अगो में शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का मध्यकालीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा और आधुनिक विचारधारा भी इस प्रभाव से अछूती नही है। एक्वीनास, लॉक और मॉन्टेस्क्यू ने यदि इस सिद्धान्त का समर्थन किया तो संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीति-विशारद जैफरसन और एडम्स भी पोलिबियस के सिद्धान्त से अप्रभावित न थे। अमेरिकन सविधान मे 'निरोध और सन्तुलन' के सिद्धान्त को जो महत्त्व दिया गया है वह किसी से छिपा नही है।

सिसरो
(Cicero)

रोम का दूसरा प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक मार्कस जूलियस सिसरो (Cicero) । मध्ययुग की चिन्तन धारा पर प्रभाव डालने वाला और विश्व के परम प्रसिद्ध वक्ताओं में गिना जाने वाला यह सफल गद्य-लेखक और विफल राजनीतिज्ञ ऐसे समय हुआ जब पोलिबियस द्वारा प्रशंसित रोमन गणराज्य पतन की ओर अग्रसर था।

सिसरो का जन्म 106 ई पू. मे हुआ। 64 ई. पू मे वह कौसल (Consul) नियुक्त हुआ। कुछ समय तक वह सिलीसिया का राज्यपाल रहा। ई पू. 58–57 तक सिसरो रोम से निर्वासित रहा। रोम के सैनिको की गैर-कानूनी ढग से जान लेने का उस पर अभियोग था। ई पू 57 में उसें निर्वासन से वापिस बुला लिया गया। सिसरो ने अपनी प्रसिद्ध वक्तृताओ द्वारा गणराज्य को और पुरानी सस्थाओ को सुरक्षित बनाए रखने के लिए जूलियस सीजर और मार्क एन्टनी का विरोध किया। ई. पू 44 मे सीजर की हत्या हुई। ई पू 43 मे सिसरो पर अभियोग लगाकर उसे प्राण-दण्ड दिया गया। जब अपने प्राण बचाने के लिए वह भाग रहा था तभी वह मार डाला गया। वास्तव मे सिसरो ने परिवर्तनशीलता का ध्यान न रखकर ही अपनी मौत को बुलाया था। सेबाइन (Sabine) ने सही लिखा है—"वह घडी की सुई को आगे की ओर न बढाकर पीछे की ओर चलाना चाहता था।"

सिसरो की रचनाएँ—सिसरो प्लेटो की कृतियो से पूर्णतः परिचित था और उसने अपनी कृतियो के नाम भी प्लेटो की कृतियो से मिलते-जुलते रखे। उसने निम्नलिखित दो ग्रन्थो की रचना की—

1. डि रिपब्लिका (De Republica)—इसमे सिसरो ने आदर्श राज्य की कल्पना की, यद्यपि यह प्लेटो के आदर्श राज्य से भिन्न है। सिसरो का आदर्श राज्य वास्तविकता के सन्निकट है। इसमे सिसरो ने सवाद शैली को अपनाया है।

2 डि लेजिबस (De Legibus)—इसमे सिसरो ने उपरोक्त ग्रन्थ के सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण किया है। उसने बतलाया है कि नागरिक तथा सांविधानिक विधियो का आधार प्राकृतिक विधियो को ही होना चाहिए। वे समस्त विधियाँ जो प्राकृतिक विधियो तथा विवेक बुद्धि पर आधारित नही होती, अवैध हैं।

सिसरो का राजनीतिक दर्शन
(The Political Philosophy of Cicero)

सिसरो के राजदर्शन मे कोई मौलिकता नही है। उसकी सबसे बडी विशेषता यही है कि उसने प्लेटो एव अरस्तू के विचारो को, स्टोइक सम्प्रदाय के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को, राज्य स्वरूप और नैतिक उद्देश्यो को तथा मानवीय समानता के मन्तव्य को अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर अति ओजपूर्ण और धाराप्रवाही शैली मे इस तरह प्रकट कर दिया कि मध्यकालीन राजदर्शन और ईसाईयत के सिद्धान्तो पर उसका गहरा प्रभाव पडा।

सिसरो के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार

अरस्तू की भाँति सिसरो भी मनुष्य को सामाजिक प्रवृत्तियो से पूर्ण मानता है पर जहाँ अरस्तू मानव स्वभाव को असमान मानता है वहाँ सिसरो उसमे समानता के दर्शन करता है जिसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समाज नही होता जो सर्वथा गुणहीन हो या गुणो को प्राप्त करने की क्षमता नही रखता हो। इसी आधार पर दासता को अस्वाभाविक और कृत्रिम बतलाता है। इसी मानव स्वभाव की समानता के आधार पर उसने विश्व-एकता और विश्व-बन्धुत्व के सम्बन्ध मे विचार प्रकट किए हैं। सिसरो के ही शब्दो मे—"कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु के साथ संसार मे इतना गहरा सादृश्य नही रखती जितनी एक मनुष्य के साथ मनुष्य को पशुओ से ऊँचा उठाने वाली बुद्धि सबमे समान रूप से पाई जाती है। यह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्य मे कोई अन्तर नही होता।"

सिसरो के राज्य सम्बन्धी विचार

सिसरो के अनुसार राज्य का निर्माण इसलिए नहीं हुआ कि जन-समूह के लोग अपने आपको निर्बल समझते थे वरन् इसलिए हुआ कि अपनी इस स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति के कारण वे साथ-साथ रहना चाहते थे। राज्य की उत्पत्ति जनता की स्पष्ट सहमति तथा मानव की समाज-निष्ठा के कारण हुई न कि समझौते अथवा शक्ति द्वारा।

सिसरो ने राज्य को 'जनता का मामला' कहा । उसके ही शब्दों मे, "तब फिर राज्य-जनता का मामला है । जनता मनुष्यों का प्रत्येक समूह नही होती, जिसका जिस ढंग से चाहे सगठन कर लिया जाए । जनता का निर्माण उस समय होता है जब मनुष्य पर्याप्त सख्या मे एक दूसरे के नजदीक जाएँ । इन मनुष्यो मे कानून और अधिकारो के बारे मे समझौता होना चाहिए और उनमे यह इच्छा भी होनी चाहिए कि वे एक-दूसरे के लाभ के लिए कार्य कर सकें ।"[1] सिसरो के विचारो का विश्लेषण करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि उसके चिन्तन का मूल तत्व है कि न्याय एक अन्तर्भूत सद्गुण है और जब तक राज्य नैतिक प्रयोजनो वाला समाज न हो और नैतिक बन्धनो से न बँधा हो तब तक वह कुछ नही है । इस स्थिति मे, जैसा कि आगे चलकर ऑगस्टाइन ने कहा, वह एक बडे पैमाने पर खुली डाकेजनी है । नैतिक कानून अनैतिकता को असम्भव नही बनाता । राज्य भी अत्याचारी हो सकता है और प्रजा पर बलपूर्वक शासन कर सकता है, लेकिन किस सीमा तक राज्य इस प्रकार की स्थिति पैदा करता है उस सीमा तक वह अपने वास्तविक स्वरूप से वञ्चित हो जाता है ।[2]

सेबाइन ने आगे लिखा है कि इस प्रकार, सिसरो की दृष्टि मे राज्य एक सामूहिक सस्था है जिसकी सदस्यता के द्वार सभी के लिए खुले हुए हैं और जिसका उद्देश्य अपने सदस्यो को पारस्परिक सहायता तथा न्यायपूर्ण शासन के लाभ प्रदान करना है । इस विचार के तीन परिणाम निकलते है—

प्रथम, चूँकि राज्य और उसका कानून जनता की समान सम्पत्ति है इसलिए उसकी सत्ता का आधार जनता की सामूहिक शक्ति है । जनता अपना शासन अपने आप पर कर सकती है । उसमे अपनी रक्षा करने की शक्ति है ।

द्वितीय, राजनीतिक शक्ति जनता की सामूहिक शक्ति उसी समय होती है जब कि उसका न्यायपूर्ण और वैधानिक ढग से प्रयोग हो । जो शासक राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है, वह अपने पद के कारण करता है । उसका आदेश कानून है और वह कानून की सृष्टि है ।

तृतीय, स्वयं राज्य और उसका कानून ईश्वरीय कानून, नैतिक कानून अथवा प्राकृतिक कानून के अधीन है । यह कानून उच्चतर कानून है और मनुष्य की इच्छा व मनुष्य की सस्थाओ से परे है । राज्य मे बल का प्रयोग बहुत कम होना चाहिए और अनिवार्य होने पर उसका प्रयोग उसी समय होना चाहिए जब न्याय और औचित्य के सिद्धान्तो को कार्यान्वित करने के लिए यह अपरिहार्य हो ।

सिसरो द्वारा राज्य को जनता की सम्पत्ति और जनता का सगठन मानने का स्वाभाविक अर्थ निरंकुशतन्त्र का तिरस्कार करना है । सिसरो की यह मान्यता कि राज्य की स्थापना न्याय को चरितार्थ करने के लिए हुई है एक ओर तो प्लेटो का स्मरण कराती है तथा वह दूसरी ओर आगस्टाइन के विचारो पर अपना प्रभाव दर्शाती है । सामूहिक कल्याण को प्राप्त करना ही राज्य का उद्देश्य है । सिसरो के अनुसार जनहित का प्रसाधन केवल तभी सम्भव है जब समस्त प्रजा राज्य-कार्य मे हिस्सा ले । राज्य के समस्त लोगो का 'भाग' या 'हिस्सा' मानने का विचार आगे चलकर बर्क द्वारा भी अपनाया गया । सिसरो यह नहीं मानता कि राज्य रक्षा प्रदान करने वाला अनुबन्धजनित (समझौते से उत्पन्न) तत्त्व है । सामूहिक परमार्थ का साधन ही उसकी दृष्टि मे श्रेयस्कर है । शुद्ध निजी स्वार्थों का पोषण राज्य के विघटन का आरम्भ है । वास्तव मे राज्य सम्बन्धी सिसरो की यह धारणा स्टोइक दर्शन से प्रभावित है ।

सिसरो का प्राकृतिक कानून का विचार

सिसरो की विचारधारा मे सबसे प्रमुख बात 'प्रकृति की एक सार्वभौम विधि' के सम्बन्ध मे है । इस विधि के दो स्रोत अग्राङ्कित है—

1–2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 153

1. ईश्वर का संसार पर दयापूर्ण शासन, और
2. मनुष्य की बौद्धिक तथा सामाजिक प्रकृति।

अपनी बौद्धिक एवं सामाजिक प्रकृति के कारण मनुष्य ईश्वर के निकट है। विश्व राज्य का यही संविधान है जो अपरिवर्तनशील है और सभी मनुष्यों एव राष्ट्रो पर लागू होता है। इसका उल्लघन करने वाला कोई भी विधान विधि (कानून) की संज्ञा पाने का अधिकारी नही हो सकता। किसी भी शासक और राष्ट्र मे यह शक्ति नही है कि वह गलत बात को सही बना सके। अपने उस प्राकृतिक कानून को सिसरो ने इन शब्दो मे बडी ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है—

"वस्तुतः केवल एक ही कानून है वह सही विवेक है। वह प्रकृति के अनुसार है, वह सब मनुष्यो के ऊपर लागू होता है और परिवर्तनशील तथा शाश्वत है। यह कानून मनुष्य को गलत काम करने से रोकता है। इसके आदेश और प्रतिबन्ध अच्छे आदमियो पर असर डालते हैं, लेकिन उसका बुरे आदमियो पर कोई असर नही पडता। कानून को मानवीय विधान द्वारा अवैध करना नैतिक दृष्टि से कभी सही नही है। उसके संचालन को सीमित करना भी उचित नही है। इसको पूरी तरह रद्द कर देना सम्भव है। सीनेट या जनता हमे यह छूट नही दे सकती कि हम उसके पालन के दायित्व से बच जाएँ। इसकी व्याख्या करने के लिए किसी सैक्सटसऐलियस की जरूरत नही है। वह ऐसा नही करता कि एक नियम तो रोम मे बनाए और दूसरा एथेन्स मे। वह ऐसा भी नही करता कि आज एक नियम बनाए और कल दूसरा। सिर्फ एक कानून होता है जो शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। वह सब कालो मे सब मनुष्यो के ऊपर बन्धनकारी है। मनुष्यो का केवल एक समान स्वामी और शासक है—वह ईश्वर है। वही इस कानून का निर्माता, व्याख्याता और प्रयोक्ता है। जो व्यक्ति इस कानून का पालन नही करता वह अपने उत्कृष्ट स्वरूप से वचित हो जाता है। जो व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप से वचित होगा उसे कठोरतम दण्ड मिलेगा। यह दूसरी बात है कि वह व्यक्ति ऐसे कुछ परिणामो से बच जाए जिन्हे लोग साधारणत. दण्ड कहते है।"

सिसरो की इस निश्चित शब्दावली मे यह आग्रह किया गया है कि शाश्वत कानून के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। "वे विद्या-बुद्धि मे समान नही है। राज्य के लिए भी यह उचित नही है कि वह उनकी सम्पत्ति बराबर कर दे लेकिन जहाँ तक विवेक का सम्बन्ध है, मनुष्यो की वैज्ञानिक रचना के सम्बन्ध है, उनकी उत्तम और अधम धारणाओ का सम्बन्ध है, सभी मनुष्य समान हैं। सिसरो का कहना है कि जो चीज मनुष्य की समानता मे बाधा डालती है, वह भूल है, खराब आदत है और झूठी राय है। सभी मनुष्य और मनुष्यो की सभी जातियाँ एकसे अनुभव की क्षमता रखती हैं और उचित तथा अनुचित के बीच भेद करने की भी उनमे समान क्षमता है।"

जहाँ अरस्तू का विचार था कि "स्वतन्त्र नागरिकता केवल समान व्यक्तियो के बीच ही रह सकती है, लेकिन चूँकि मनुष्य समान नही है अतः नागरिकता केवल थोडे से और सावधानी से चुने हुए व्यक्तियो तक ही सीमित रहनी चाहिए।" वहाँ सिसरो का विचार है कि "सभी मनुष्य कानून के अधीन है, अत वे साथ ही नागरिक हैं और उन्हे एक कार्य मे समान होना चाहिए।"

सिसरो के 'रिपब्लिका'[1] की तीसरी पुस्तक मे बार-बार प्राकृतिक कानून का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—"सच्चा कानून प्रकृति के साथ आनुकूल्य रखने वाली सद्बुद्धि है। यह सार्वभौमिक अपरिवर्तनशील और सदैव बना रहने वाला है। यह अपने आदेशो से कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है और निषेधो द्वारा व्यक्तियो को बुरे कार्यो से बचाता है।.......इस कानून को बदलना पाप है।........इसका पूर्णरूप से उन्मूलन करना असम्भव है। सीनेट अथवा जनता द्वारा हम इसके बन्धनो से मुक्त नही हो सकते।....यह शाश्वत, अपरिवर्तनशील कानून सब राष्ट्रो और कालो के लिए वैध है। हम सबका एक स्वामी और

1 Republica Book III, P 22 Trans by Sabine and Smith.

शासक भगवान इस नियम का निर्माता, घोषणा करने वाला तथा इसे लागू करने वाला न्यायाधीश।"[1] एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है कि—"कानून उच्चतम बुद्धि अथवा विवेक (Highest Reason) है। यह प्रकृति मे प्रतिष्ठित है और हमें करने योग्य कार्यों का आदेश देता है तथा न करने योग्य कार्यों से रोकता है।"...."कानून बुद्धिमत्ता है। इसका स्वाभाविक कार्य यही है कि हमे उचित आचरण करने का आदेश दे तथा अनुचित कार्य करने से रोके।"[2]

सिसरो प्राकृतिक कानून को राज्यो के भिन्न कानूनों से प्राचीन बताता है, क्योंकि उसके मतानुसार—"यह ध्रुवलोक और पृथ्वीलोक के रक्षक भगवान का समकालीन (Coeval) है अतः ईश्वर का मान, बुद्धि के अभाव मे नहीं रह सकता और ईश्वरीय बुद्धि में सद्-असद् के विवेक की शक्ति रहना आवश्यक है।"[3] अतः "प्राकृतिक नियम राष्ट्रों के लिखित कानूनो से बहुत पहले का, उसी समय से विद्यमान है, जब मे इस ससार मे ईश्वर की सत्ता है। वह वास्तविक कानून[4] (Law) प्राकृतिक नियमों को ही मानता है, विभिन्न राज्यो मे जनता द्वारा बनाए गए स्थानीय नियमो को केवल शिष्टाचार ही कानून कहा जाता है। मानव समाज मे बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपनी बुद्धि द्वारा यह आदेश देते हैं कि कौन-से कार्य कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य हैं।

सिसरो की धारणा है कि समस्त ब्रह्माण्ड का शासन करने वाला एक ही कानून है। यह कानूनी व्यवस्था ब्रह्माण्ड की दृष्टि से प्रत्येक जड़-चेतन, बुद्धिपूरक अथवा अबुद्धिपरक वस्तु पर लागू होती है। कानून मनुष्यो की राज्यरूपी माला में गूँथने वाला सूत्र है। यह उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं कानून यह स्वयं राज्य का स्रोत है। सिसरो के शब्दो में कानून, 'प्रकृति' सम्मत विवेकपूर्ण बुद्धि है, जो सब मनुष्यों में प्रसारित है, जो नित्य और शाश्वत है, जो अपनी आज्ञा द्वारा कर्त्तव्य का पालन कराता है और निषेधाज्ञा द्वारा छलछिद्र से रोकता है। सभी वस्तुओ का व्यवहार यद्यपि इसी के अनुसार चलता है, लेकिन इसका पालन करने के सभी के अपने-अपने अथवा भिन्न-भिन्न ढंग होते हैं। जड़ जगत् प्राकृतिक आवश्यकतावश उससे बँधा हुआ है, पशु अपनी विवेकहीन सहज प्रवृत्तियो के कारण उसके निर्देशन मे रहते हैं, वे उसका पालन तो करते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि वह क्या है? मनुष्य और केवल मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उस कानून को जानने की सामर्थ्य रखता है और चेतनापूर्वक उसके अनुसार काम करता है। दूसरे शब्दों मे, हम यह भी कह सकते हैं कि भौतिक वस्तुएँ निम्नतम प्राणी प्रकृति के कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु मनुष्य उस कानून के सम्बन्ध में अपनी धारणा के अनुसार आचरण करता है।

उपरोक्त व्याख्या का अर्थ यह हुआ कि प्राकृतिक कानून का सिसरो का अर्थ आधुनिक वैज्ञानिक मत से भिन्न है। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त (Law of Gravitation) मानव प्राणियों और पत्थरो पर समान रूप से लागू होता है, लेकिन मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का उसके अनुसार होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह उनसे अवगत हो एवं उसके अनुसार आचरण करे। कोई व्यक्ति उसका उल्लंघन भी नही कर सकता है। सिसरो का प्राकृतिक कानून मनुष्यो और मानव-व्यापार पर स्वयमेव लागू नहीं होता, अपितु मनुष्य स्वचेतना द्वारा उसे ग्रहण करके स्वेच्छा से ही तदनुरूप आचरण करते हैं। दूसरे शब्दो में जहाँ गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त जड़ या चेतन पदार्थो पर अनिवार्यतः स्वय ही लागू हो जाता है, वहाँ प्राकृतिक कानून को मनुष्य स्वयं अपने ऊपर लागू करता है और इसीलिए इसका पालन करने हेतु कोई व्यक्ति विवश नहीं है, यद्यपि उचित और श्रेष्ठ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका पालन करे। इस प्रकार सिसरो का प्राकृतिक कानून भौतिक नियमों से भिन्न है। इसका स्वरूप नैतिक सिद्धान्त जैसा है और इसे ईश्वरीय कानून ही कहना उपयुक्त है।

1 *Sabine* : A History of Political Theory, Pt. I.
2-3-4 *Foster* : Masters of Political Thought, p. 189.

चूंकि प्राकृतिक कानून नित्य एव अपरिवर्तनीय है अतः यह स्वय राज्य का स्रोत है। किसी भी राज्य विशेष द्वारा निर्मित कानून प्राकृतिक कानून अथवा शुद्ध बुद्धि के अनुसार होने चाहिए और नागरिक उनका पालन करने के लिए उसी सीमा तक बाध्य है जिस सीमा तक वे प्राकृतिक कानून के अनुसार है। इस तरह सिसरो यह मान्यता प्रकट करता है कि यदि राज्य निर्मित कानून उसके अनुकूल न हों तो नागरिक के लिए उनको मानना अनिवार्य नही। जो चीज स्वय गलत है उसे कोई भी शासक मोहर लगा कर सही नही कर सकता।

उपरोक्त विवरण से प्रकट है कि सिसरो के अनुसार मनुष्य दो प्रकार के कानूनो के अधीन है—1 प्राकृतिक कानून, और 2 राज्य निर्मित कानून। प्राकृतिक कानून का पालन करने का उनका कर्त्तव्य निरपेक्ष और अशर्त है। राज्य निर्मित कानून के प्रति उनकी भक्ति सशर्त है। प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होते ही राज्य के कानून अपनी क्षमता खो बैठते है। सिसरो का विश्वास है कि, "स्वय राज्य और उसका कानून-ईश्वरीय कानून, नैतिक कानून या प्राकृतिक कानून के अधीन है। यह कानून उच्चत्तर कानून है और मनुष्य की इच्छा एव मनुष्य की संस्थाओं से परे है। राज्य मे बल का प्रयोग बहुत कम होना चाहिए और अनिवार्य होने पर उसका प्रयोग उसी समय किया जाना चाहिए जब न्याय और औचित्य के सिद्धान्तो को कार्यान्वित करने के लिए यह अपरिहार्य हो।"[1]

सिसरो ने प्राकृतिक कानून को रोमन इतिहास के दो प्रसिद्ध उदाहरणो द्वारा पुष्ट किया है। पहला उदाहरण उस समय का है जब रोम पर एट्रस्कन लोगो का आक्रमण हुआ। उस समय होरेशस कॉकल्स (Horatious Cocles) ने अपने दो अन्य साथियो के साथ एक पुल पर सम्पूर्ण शत्रु सेना को उस समय तक रोके रखा, जब तककि शत्रुओ के नगर-प्रवेश को रोकने के लिए रोमन सेना ने इस पुल को नष्ट नही कर दिया। सिसरो के अनुसार होरेशस को पुल पर शत्रुओ के विरोध के लिए कानून द्वारा कोई लिखित आदेश नही मिला था। यह उसे अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए प्रकृति से मिला हुआ था सिसरो दूसरा उस समय का प्रस्तुत करता है जब रोमन राजा टारक्विनियस के बेटे सैक्टस द्वारा ल्यूक्लेशिया का सतीत्व भग किया गया। सिसरो का कहना है कि उस समय तक बलात्कार के विरुद्ध कोई लिखित कानून न था लेकिन इसका यह तात्पर्य नही कि उस समय ऐसे किसी नियम का सर्वथा ही अभाव था। उसने अपने इस कार्य द्वारा बलात्कार न करने के शाश्वत अथवा ईश्वरीय या प्राकृतिक नियम को भग किया था।

सिसरो के विचारों का राजनीतिक दर्शन मे महत्व

सिसरो के विचारो मे मौलिकता न होते हुए भी उनका राजनीतिक विचारो के क्षेत्र मे असाधारण महत्व है जिसे सेबाइन ने बडे ही तार्किक ढग से प्रस्तुत किया है—

"सिसरो के राजनीतिक दर्शन के दो विचार प्रमुख थे। सिसरो इन विचारो को बहुत महत्त्व देता था लेकिन उसके युग मे इन विचारो का केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया था। ये विचार थे—"मिश्रित सविधान की श्रेष्ठता मे विश्वास और सविधानो के ऐतिहासिक चक्र का सिद्धान्त"। सिसरो ने इन दोनो विचारो को पोलिबियस से और सम्भवतः पानोटियस से ग्रहण किया था। हाँ, उसने इन विचारों को रोमन इतिहास के सम्बन्ध मे अपने ज्ञान के सन्दर्भ मे सशोधित करने की अवश्य कोशिश की। वास्तव मे सिसरो की योजना बहुत अच्छी थी लेकिन इस योजना को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए उसके साथ दार्शनिक क्षमता नही थी। सिसरो का उद्देश्य एक पूर्ण राज्य (मिश्रित सविधान) के सिद्धान्त का निरूपण करना था। वह इसके सिद्धान्तों को रोमन सविधान (चक्र सिद्धान्त के अनुसार) के विकास के सन्दर्भ मे स्थापित करना चाहता था। सिसरो का विचार था कि रोम का सविधान सबसे अधिक स्थायी और पूर्ण सविधान था। इस सविधान का निर्माण विभिन्न व्यक्तियो ने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 174

विभिन्न परिस्थितियो मे ज्यो-ज्यों राजनीतिक समस्याएँ उठती गई थीं, उनके समाधान के लिए किया था। राज्य के विकास का वर्णन कर और उसके विविध अंगो का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध बताने से राज्य के एक सिद्धान्त का निर्माण सम्भव है, जिसमें कल्पना का पुट कम से कम रहे। लेकिन दुर्भाग्यवश सिसरो मे रोमन अनुभव के अनुसार एक ऐसा नया सिद्धान्त निकालने की क्षमता नही थी जो उसके यूनानी स्रोतो की अवहेलना करता हो। संविधान के चक्र के सम्बन्ध में पोलिवियस ने भी एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। उसका कहना था कि अच्छा और बुरा संविधान बारी-बारी से चलता रहता है। राजतन्त्र के बाद अत्याचारी शासन आता है; अत्याचारी शासन के बाद कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्र के बाद अल्पजनतन्त्र, अल्पजनतन्त्र के बाद सौम्य-प्रजातन्त्र और फिर सौम्य-प्रजातन्त्र के बाद भीड़ का शासन आता है। तर्क दृष्टि से यह चक्र ठीक था, तथापि यह विचार मुख्यतः नगर राज्यो के अनुभव के ऊपर आधारित था। सिसरो को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि यह विचार रोम के इतिहास के सम्बन्ध में उस के विचारों से मेल नही खाता। फल यह हुआ कि वह संविधानो के चक्र के सिद्धान्त की प्रशंसा तो करता रहा तथापि उसने उसकी तार्किक सुन्दरता को भी नष्ट कर दिया। इसी तरह सिसरो मिश्रित संविधान के गुणों की प्रशंसा करता था। उसका ख्याल था कि रोम की कौनसी संस्थाएँ मिश्रित संविधान के किस तत्त्व को प्रकट करती हैं? इस सम्बन्ध में उसका विवरण टाइसिटस की इस व्यंगोक्ति को सच्चा सिद्ध कर देता है कि मिश्रित संविधान की प्रशंसा करना उसको कार्यान्वित करने की अपेक्षा आसान है। रोम की संस्थाओ के इतिहास के सन्दर्भ मे राज्य के एक सिद्धान्त को प्रस्तुत करना बहुत श्रेष्ठ कार्य था लेकिन इसे एक व्यक्ति नहीं कर सकता था जिसने अपना सिद्धान्त यूनानी स्रोतो से बना बनाया ले लिया और रोम के इतिहास के विवरण पर लागू किया।"

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में सिसरो का वास्तविक महत्त्व यह है कि उसने स्टोइको के प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की ऐसी व्यवस्था की जो उसके समय से उन्नीसवी शताब्दी तक सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप मे सबको ज्ञात रही। यह व्याख्या सिसरो के पास के रोम के विधि-वेत्ताओ के पास गई और वहाँ से चर्च के संस्थापको के पास। इस व्याख्या के महत्त्वपूर्ण अंशों को सम्पूर्ण मध्य युग में अनेक बार दोहराया गया। यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि "रिपब्लिका की मूल पुस्तक 12वीं शताब्दी के बाद खो गई थी और उसका पता केवल 19वीं शताब्दी में ही चला, उसके महत्त्वपूर्ण अंश ऑगस्टाइन और लैक्टान्टियस की पुस्तको मे समाविष्ट हो गए थे। इस तरह से सबको ही उसकी जानकारी हो गई थी। यद्यपि सिसरो के विचार मौलिक नहीं थे लेकिन सिसरो ने उन्हे उत्कृष्ट साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया था। सिसरो की रचनाएँ लेकिन साहित्य की अक्षय निधि हैं। पश्चिमी यूरोप में सिसरो के विचारो के प्रसार का एक प्रमुख कारण उसकी साहित्यिकता भी है। जो कोई भी व्यक्तिवाद की शताब्दियो के राजनीतिक दर्शन का अध्ययन करना चाहता है, उसे सिसरो के श्रेष्ठ अवतरणो को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।"

पुन. सेवाइन महोदय का कथन है कि—'शासन के ये सामान्य सिद्धान्त कि सत्ता का आधार जनहित होना चाहिए, उसका प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिए और उसका औचित्य केवल नैतिक आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है—सिसरो के रचना काल के कुछ समय बाद ही सर्वत्र स्वीकार कर लिए गए। ये कई शताब्दियों तक राजनीतिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त रहे। सम्पूर्ण मध्ययुग में इन सिद्धान्तों के बारे मे कोई मतभेद न था। ये राजनीतिक विचारो की समान सम्पत्ति बन गए थे। यह अवश्य सम्भव है कि इन सिद्धान्तों के प्रयोग के बारे में, लोगों में, उन लोगो मे भी जिनकी इन सिद्धान्तो मे दृढ आस्था थी, कुछ मतभेद रहा हो। उदाहरण के लिए इस बात से भी सहमत हैं कि अत्याचारी तिरस्कार के योग्य होता है। उसका अत्याचार जनता के ऊपर भारी अत्याचार है लेकिन सिसरो यह स्पष्ट नही कर पाता कि लोग अत्याचारी शासन की स्थिति मे क्या करें या लोगों की ओर से कौनसे व्यक्ति कार्य करें या यह अत्याचारी कितना निकृष्ट होना चाहिए जबकि इसके खिलाफ कोई

कार्यवाही की जाए। सिसरो यह अवश्य मानता था कि राजनीतिक शक्ति जनता से प्राप्त होनी चाहिए लेकिन उसके इस कथन का अभिप्राय वे राजनीतिक धारणाएँ नही थी जो आजकल प्रचलित की गई हैं। सिसरो ने हमे यह नही बताया है कि जनता का कौन प्रतिनिधि है, यह जनता का प्रतिनिधि कैसे बन जाता है, यह वह जानता ही कौन है जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है। ये सारे प्रश्न व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीतिक सत्ता का स्रोत जनता है—आधुनिक प्रतिनिधि शासन प्रणालियो को समझाने के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त का प्रयोग, एक पुराने विचार का नई स्थिति मे ग्रहण करना भर था।"

(3) सेनेका
(Seneca)

सेनेका ने सिसरो के प्राय एक शताब्दी के बाद रोमन साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनो मे रचनाएँ की। वह स्टोइक विचारो एव सिद्धान्तो का बहुत बड़ा प्रचारक और रोमन सम्राट नीरो (54–68 ई) का गुरु था। सेनेका का आविर्भाव ऐसे समय हुआ था जब रोम मे निरकुश सम्राटो का बोलवाला था और उनके अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढते जा रहे थे। सेनेका के समय राज्य जनता के नैतिक विकास का साधन नही रहा था, अपितु स्वार्थ-लाभ और भ्रष्टाचार का घर बन गया था। नागरिक सद्गुणो का अभाव हो गया था। राज्य निरकुश हो चुका था तथा जनता भी उतनी ही पतित हो चुकी थी, जितना कि शासक। राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन से साधुता मिटती जा रही थी। सेनेका को राजनीतिक और सामाजिक जीवन के इस नैतिक पतन को देखकर निराशा होती थी। यही कारण है कि हमे उसके लेखो मे उस समय आच्छादित निराशावाद का प्रतिबिम्ब स्पष्टत देखने को मिलता है। यह एक नई तान है जो हमे सिसरो मे नही सुनाई पडती। जहाँ सिसरो ने इस नैतिक उद्देश्य को लेकर रचनाएँ की थी रोमनो के परम्परागत नागरिक सद्गुणो को जीवन मिले, वहाँ सेनेका इसे स्वप्न मानता हुआ यह अनुभव करता था कि श्रेष्ठ व्यक्ति किसी सार्वजनिक पद पर बैठकर देशवासियो का अधिक हित नही कर सकता।

सेनेका 8 वर्ष तक सम्राट नीरो का परामर्शदाता रहा, लेकिन जब नीरो के अत्याचार बढते गए तो सेनेका ने इस पर असन्तोष प्रकट किया। परिणाम यह हुआ कि नीरो ने अपने गुरु सेनेका पर षड्यन्त्र रचने और राजद्रोह का कुचक्र चलाने का आरोप लगाया। उसने रियायत केवल यही की कि गुरु की पहली सेवाओ का ध्यान में रखते हुए गुरु को (सेनेका को) स्वय आत्महत्या करने का दण्ड दिया। सेनेका ने भी स्टोइक सिद्धान्तो का पालन करते हुए बडे धैर्य से अपनी नाडियाँ यह कहते हुए काट डाली, "मेरी परवाह मत कीजिए। मैं साँसारिक सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान सद्गुणी जीवन का उदाहरण आपके लिए छोडकर जा रहा हूँ।"[1]

सेनेका के राजनीतिक विचार
(Political Philosophy of Seneca)

सेनेका इस उक्ति का समर्थक था कि—"सरकार के रूप के लिए केवल मूर्ख झगडते हैं, सर्वोत्तम सरकार वही है जो सर्वोत्तम ढग से चलाई जाए।" इस सम्बन्ध मे सेबाइन सेनेका के विचारो को प्रकट करते हुए लिखते हैं-"सेनेका ने विभिन्न शासन-प्रणालियो के अन्तरो को महत्त्वहीन माना है। ये शासन-प्रणालियाँ प्राय एक-सी अच्छी-बुरी हैं। कोई भी शासन-प्रणाली विशेष कार्य नही कर सकती फिर भी सेनेका का यह दृष्टिकोण कदापि नही है कि बुद्धिमान् व्यक्ति समाज से विरक्त हो जाए। सिसरो की भाँति उसने भी इस बात का आग्रह किया कि श्रेष्ठ व्यक्ति को किसी न किसी क्षमता मे अपनी सेवाएँ अवश्य प्रदान करनी चाहिए। सिसरो की भाँति सेनेका ने भी एपीक्यूरियन विचारको के इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया है कि व्यक्ति को सार्वजनिक हितो की उपेक्षा कर अपने व्यक्तिगत सन्तोष का प्रयत्न करना चाहिए, लेकिन सिसरो के विपरीत और अपने से पहले के समस्त सामाजिक

1 *Bertrand Russell* · History of Western Philosophy, p 283

और राजनीतिक विचारकों के विपरीत, सेनेका ने एक ऐसी सामाजिक सेवा की कल्पना की है जिसके अनुसार न तो राज्य में कोई पद धारण करना ही आवश्यक है और न कोई राजनीतिक कार्य करना ही आवश्यक है।" स्पष्ट है कि आदिकालीन 'सिनिक्स' तथा 'स्टोइक्स' की भाँति सेनेका ने सामाजिक जीवन का परित्याग करने की सलाह नहीं दी। स्टोइकों का प्राचीन सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का सदस्य होता है—सिविल राज्य का जिसकी यह प्रजा होती है तथा वृहत्तर राज्य का जो समस्त बुद्धिमान् व्यक्तियों से मिलकर बनता है। व्यक्ति इस राज्य का सदस्य अपनी मानवता के कारण होता है। सेनेका ने स्टोइकों के इस प्राचीन सिद्धान्त को एक नवीन रूप देते हुए बताया कि "वृहत्तर राज्य एक राज्य नहीं, प्रत्युत् एक समाज है। इस समाज के बन्धन नैतिक अथवा धार्मिक हैं, कानूनी अथवा राजनीतिक नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान् और श्रेष्ठ व्यक्ति अपने हाथ मे राजनीतिक शक्ति रखने पर ही मानवता की सेवा करता है। वह अपने साथियों के साथ नैतिक सम्बन्ध होने के कारण या केवल अपने दार्शनिक चिन्तन के द्वारा ही करता है। अपने सद्विचारों के कारण मानव जाति का शिक्षक होने वाला व्यक्ति राजनीतिक शासक की अपेक्षा अधिक भद्र और अधिक प्रभावशाली होता है। ईसाई विचारकों का कहना है कि मनुष्य की उपासना ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। सेनेका का भी इसी सिद्धान्त मे विश्वास था।"

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि सेनेका के हाथ मे जाकर स्टोइकवाद ने एक धार्मिक दर्शन का रंग ग्रहण कर लिया। सेबाइन महोदय का भी लिखना है कि "एक शताब्दी बाद मारकस आरेलियस (Marcus Aurelius) के स्टोइसिज्म की भाँति सेनेका का स्टोइसिज्म भी एक धार्मिक विश्वास था। उसने इस संसार में शक्ति और संतोष प्रदान करने के साथ-साथ आध्यात्मिक चिन्तन का भी द्वार उन्मुख किया। ईसाई धर्म मूर्तिपूजक समाज मे विकसित हुआ था। उसमें सांसारिक और आध्यात्मिक स्वार्थों को अलग माना जाता था। उसका विचार था कि "शरीर आत्मा के लिए जंजीर और अंधकार है अतः आत्मा को शरीर के भार से निरन्तर संघर्ष करते रहना चाहिए।" आध्यात्मिक संतोष की बढ़ती हुई आवश्यकता ने धर्म को मनुष्य के जीवन में उच्चतर स्थान दिया और इसे लौकिक स्वार्थों से अलग रखा। उन्होंने इसे ऊँची वास्तविकताओं से सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र साधन माना। अब प्राचीन काल के लौकिक जीवन की एकता टूट रही थी। धर्म निरन्तर स्वतन्त्र स्थान प्राप्त करता जा रहा था। उसका महत्त्व राजनीतिक जीवन से अधिक था। धर्म के अर्थ उसकी अपनी एक संस्था मे व्यक्त होने लगे थे। वह पृथ्वी पर ऐसे अधिकारों और कर्त्तव्यों को प्रकट करता था जिनका मनुष्य को स्वर्गिक नगर का सदस्य होने के नाते पालन करना पडता था। यह संस्था मनुष्य की निष्ठा पर अधिकार रखती थी। इस सम्बन्ध मे वह राज्य को हस्तक्षेप करने की बिलकुल अनुमति नहीं देती थी। दो राज्यों के सम्बन्ध मे सेनेका की यह व्याख्या ईसाइयों के सिद्धान्तों से मिलती-जुलती है। सेनेका और ईसाई विचारकों में और भी कई बातों मे साम्य है। इन समानताओं के कारण प्राचीन काल में यह कल्पना की जाने लगी थी कि सेनेका तथा सन्तपाल (St Paul) के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था, लेकिन यह बात गलत है।"

सेनेका की विचारधारा के दो पक्षों का उसके दर्शन के धार्मिक तत्त्व से सम्बन्ध था—एक ओर तो उसकी मान्यता थी कि मनुष्य तत्त्वतः पापी है अथवा उसकी प्रकृति में ही पाप भरा हुआ है दूसरी ओर उसका नीति शास्त्र मानववाद की प्रकृति लिए था। सेनेका का विश्वास था कि बुद्धिमान् व्यक्ति आत्म-निर्भर होता है किन्तु मानव-दुष्टता का भाव उसे बारम्बार अशान्त बनाता है। इस दुष्टता की प्रवृत्ति से कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता। सेबाइन के ही शब्दों में, "सेनेका का विश्वास था कि वास्तविक सद्वृत्ति मुक्ति को प्राप्त करने मे नहीं, प्रत्युत् मुक्ति के लिए अनन्त संघर्ष करने मे है।" पुनश्च: "सेनेका ने पाप और दुःख की चेतना की सार्वदेशिक अनुभूति के कारण सी मानवी सहानुभूति और उदारता को बहुत महत्त्व दिया।"

पाप और दु ख को देखकर ही सेनेका ने एक 'स्वर्णिम युग' (Golden Age) की कल्पना की, जिसमे मनुष्य नागरिक समाज का आविर्भाव होने से पहले रहता था । स्वर्णिम युग से मनुष्य आनन्दपूर्ण, सरल एव निष्पाप जीवन यापन करते थे । उनमे एक अच्छा व्यक्ति उनका शासक था । शासन की बागडोर बुद्धिमान् व्यक्तियो के हाथ मे थी जो निर्बलो की शक्तिशालियो से रक्षा करते थे, प्रजा की सब आवश्यकताओ की पूर्ति तथा सकटो का निवारण करते थे । कोई व्यक्ति किसी प्रकार का बुरा कार्य नही करता था किन्तु मनुष्यो मे लोभ उत्पन्न होने से इस स्वर्ण युग का अन्त हो गया । सेनेका का स्वर्ण युग का वर्णन वास्तव मे नीरो के शासन काल मे रोमन समाज के पतन के सम्बन्ध मे उसके विचारो की अभिव्यक्ति मात्र है । सेनेका के अनुसार स्वर्ण युग का अन्त मनुष्य स्वभाव मे स्वार्थ-भावना आने से हुआ । स्वार्थ की प्रवृत्ति ने सम्पत्ति की भावना को पैदा किया, सम्पत्ति को लेकर विवाद और सघर्ष हुए जिनके परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ । इस तरह राज्य की उत्पत्ति मनुष्यो मे आने वाली बुराइयो के कारण हुई । सेनेका ने कहा कि राज्य का प्रथम कर्त्तव्य निषेधात्मक या प्रतिबन्धात्मक है अर्थात् यह देखना है कि कोई व्यक्ति किसी के अधिकारो को छीने नही, किसी की सम्पत्ति को हड़पे नही और किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे । सेनेका के ये विचार मौलिक नही थे । स्टोइक्स उन्हे पहले ही कह चुके थे । उन्ही को लेकर ईसाई पादरियो ने राज्य की उत्पत्ति का विवेचन किया और उसे एक आवश्यक बुराई बताया ।

सेनेका के राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त बहुत अधिक विकसित नही है । उसकी मूल और प्रारम्भिक प्रवृत्तियो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसने राज्य की उत्पत्ति के परम्परागत सिद्धान्त का ही विवेचन किया था । कोई मौलिक विचार न देने के कारण ही उसे महत्त्वपूर्ण विचारक नही समझा जाता ।

रोमन कानून
(The Roman Law)

'रोमन कानून' (Roman Law) राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे रोम की एक महान् देन है । रोमन लोगो ने प्राचीन विश्व मे सर्वाधिक तर्कसम्मत और पूर्ण कानूनी पद्धति (Legal System) का विकास किया था । "राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियो के लिए रोम का अर्थ कानून और विधिशास्त्र है ।"[1]

रोमन कानून की विशेषताएँ

(1) भावात्मक कानून का विचार (The Idea of Positive Law)—रोमन लोगो ने यूनानियो के समान आकाश मे उडान नही की । उन्होने कानून को आकाश से धरती पर लाकर उसे लौकिक (Secular) रूप दिया । *यूनानी कानून की भावात्मक (Positive) व्याख्या नही करते थे ।* वे नैतिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे ईश्वर की आज्ञा मानते थे लेकिन रोमन विचारको ने कानून पर व्यावहारिक एव रचनात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे धर्म एव राजनीति के बन्धन से मुक्त किया । रोम एक विशाल साम्राज्य था जिसमे विभिन्न धर्मो के अनुयायी रहते थे, अत रोमन लोगो के लिए यह सम्भव न था कि वे इनमे से किसी एक के धर्म और नीतिशास्त्र के साथ कानून का समन्वय करते ।

रोमन विचारधारा मे कानूनो को सार्वभौमिक मान कर उनकी रचना की गई । कानूनो को शासक और शासितो का समझौता माना गया । साम्राज्य के नागरिक कानूनो का पालन करने के लिए बाध्य थे, पर इसलिए नही कि कानून न्यायसगत, धर्मसंगत अथवा उचित थे, वरन् इसलिए कि वे जनता की इच्छा को प्रकट करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक शासन-सत्ता के आदेश थे ।

1 *Maxey* Political Philosophies, p 88.

स्मरणीय है कि भावावात्मक कानून के इस विचार का विकास धीरे-धीरे हुआ। शुरू में कानून का आधार धर्म शास्त्र और रीति-रिवाज रहे। लगभग 450 ई. पू. में रोमन रीति-रिवाजों पर आधारित कानूनो को संहितावद्ध किया गया। यह काम 12 पट्टिकाओ (Twelve Tables) मे हुआ। इनमे न केवल प्रचलित रीति-रिवाजों को लिखित रूप दिया गया बल्कि कुछ नवीन कानूनी तत्त्वो का भी समावेश हुआ। अब 'राज्य के विरुद्ध अपराधो को देवताओ के विरुद्ध किया गया पाप समझने का और कानून के धार्मिक होने का विचार समाप्त हो गया।' 12 पट्टिकाओ के रूप मे संहितावद्ध कानून में संशोधन जनता की इच्छा से ही हो सकता था और सीनेट, कन्सुलेट तथा शासकों के सविधानों में जनता की इच्छा प्रकट होती थी अब रीति-रिवाज कानून का स्रोत नहीं रहे थे। कानून को राज्य की इच्छा समझा जाने लगा था। कानून के इस विकास-क्रम मे अन्त मे जाकर यह सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गया कि कानून राजकीय आदेश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसे राज्य द्वारा ही वनाया जाता है और राज्य द्वारा ही उसका पालन कराया जाता है।

(2) वैयक्तिक अधिकारों का सिद्धान्त और राज्य को कानूनी रूप प्रदान करना—रोमन लोगो ने अपने नागरिको को कानून के सामने समानता का अधिकार दिया। कानूनी अधिकारो की प्रतिष्ठा धीरे-धीरे राज्य की ओर से की गई। इनका निर्धारण कौंसिलों (Consuls), न्यायाधीशो (Practors), ट्रिब्यूनो (Tribunes), सीनेट के सदस्यो एव अन्य राजकीय उच्च अधिकारियो ने किया यूनानी 'अधिकारो' को कानून से स्वतन्त्र और पूर्ववर्ती समझते थे। उनके अनुसार अधिकार मे दो वातें सम्मिलित थीं—भलाई का विचार और किसी व्यक्ति या समूह से सम्बन्ध रखने वाले विशेषाधिकार। रोमन लोगो ने दूसरे विचार को अधिक महत्त्व दिया और अधिकार को कानून का वशवर्ती बना दिया। अब प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विशेष अधिकारो को स्वीकार किया जाने लगा तथा राज्य और व्यक्ति की पृथकता रखते हुए दोनो के अधिकार और कर्त्तव्य बतलाए गए। रोमन लोगों ने राज्य के स्थान पर व्यक्ति को अपने कानूनी विचारो का केन्द्र वनाया। राज्य की सत्ता का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा का माना गया। "इस प्रकार राज्य सुनिश्चित सीमाओ के भीतर ही अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता था और नागरिक भी ऐसे अधिकार रखने वाला व्यक्ति माना जाता था, जिनकी रक्षा अन्य व्यक्तियों से तथा सरकार के अवैध अपहरण (Encroachment) मे की जानी चाहिए।"[1]

(3) प्रभुसत्ता का विचार (The Idea of Sovereignty)—रोम में काफी पहले से यह मान्य था कि राज्य की सर्वोच्च व अन्तिम सत्ता का स्रोत जनता है, और निरंकुश सम्राट को भी सत्ता जनता से ही प्राप्त है। कौंसुल या सम्राट अपनी सत्ता का प्रयोग जनता की ओर से ही करते हैं। रोमन विचारो की इस मान्यता से ही लोकप्रिय सम्प्रभुता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्तो को महत्ता मिली, जो आज के लोकतन्त्रीय राज्यों की आधारशिला है। रोमन लोगो ने यह भी कहा कि जनता की यह सर्वोच्च शक्ति असीमित और अनिश्चित है जिस पर किसी प्रकार का वन्धन नहीं हो सकता।

(4) विभिन्न प्रकार के कानूनों का विकास—रोम मे शनैः-शनैः तीन प्रकार के कानूनो के विचार का विकास हुआ—

(1) जस सिविली (Jus Civili),
(2) जस जैन्शियम (Jus Gentium) एवं
(3) जस नेचुरली (Jus Naturalae)।

'जस सिविली' रोम का दीवानी कानून था जो 12 पट्टिकाओ पर आधारित था। यह दीवानी अथवा म्युनिसिपल कानून (Civil or Municipal Law) रोमन नागरिको के पारस्परिक

1 *Gettell* : History of Political Thought, p. 68.

कानूनी सम्बन्धों को नियन्त्रित करता था। यह केवल उन विवादो मे ही लागू किया जाता था जहाँ विवाद के पक्ष रोम के नागरिक हो।

रोमन साम्राज्य का विस्तार होने पर एक अधिक व्यापक कानून की आवश्यकता हुई। न्यायिक समस्याएँ बढ जाने से नागरिक या दीवानी कानून (Jus Civili) अपर्याप्त अनुभव किए जाने लगे। विदेशियो मे सघर्ष होने की स्थिति पर उनके विवादो का दीवानी कानून से निर्णय करना उचित नही समझा गया अत विदेशियो के मामलो पर विचार एव निर्णय करने के लिए न्यायाधीश कानून के ऐसे सिद्धान्तो का विकास करने लगे जो रोमन लोगो और विदेशियो पर सामान्य रूप से लागू किए जा सकें। इस प्रकार नव विकसित कानून को 'जस जैन्शियम' अर्थात् सार्वभौमिक कानून का नाम दिया गया जिसका आशय उन सिद्धान्तो से है जो विभिन्न जातियो के कानून तथा परम्पराओ के लिए सामान्य थे और इसलिए जो साधारणतः सभी को मान्य थे। 'जस जैन्शियम' कानून को विकसित करने का प्रधान श्रेय न्यायाधीश प्रेरिगिनस को दिया जाता है।

'जस जैन्शियम' रोम के दीवानी कानून अर्थात् जस सिविली से कई बातो मे भिन्न था। "यह जातियो के सामान्य आचरणो और परम्पराओ पर आधारित नियमो का संग्रह था, यह निरा रोमन न था, जैसा कि नागरिक कानून था, इसलिए यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सामान्य था। इसका निर्माण किसी व्यवस्थापिका द्वारा नही होता था और न ही इसका आधार जनसाधारण की इच्छा थी। इसकी रचना न्यायिक और प्रशासनिक पदाधिकारियो द्वारा होती थी। यह वास्तव मे निराकरण न्याय के सिद्धान्तो का साकार रूप था।" विख्यात रोमन कानून-वेत्ता गेयस (Gaius) के अनुसार, "यदि किसी जनता ने अपने लिए कोई कानून निश्चित किया है और वह केवल उसी तक सीमित है तो उसे जस सिविली (Jus Civili) या उस राज्य का विशेष कानून कहेगे। दूसरी ओर जिसे प्राकृतिक बुद्धि ने सब मनुष्यो मे प्रतिष्ठित किया है और जिसका पालन समान रूप से सब देशो (जनताओ) मे होता है उसे जस जैन्शियम (Jus Gentium) कहा जाएगा।" 'जस जैन्शियम' का एक भाग वास्तव मे स्टोइक दर्शन से लिया गया था। इस कानून मे प्रमुखत. इन नियमो का समावेश था—राष्ट्र की सीमाओ एव युद्ध सम्बन्धी नियम, खेतो, घरो, यातायात, क्रय-विक्रय, किराए पर वस्तुओ के देने-लेने के नियम आदि।

कानून का तीसरा और सबसे प्रमुख प्रकार प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae) है। इसका विकास भी धीरे-धीरे ही हुआ। साम्राज्य के विशाल होने के साथ-साथ कानूनी विवाद भी बढते गए और सम्राट के पास सभी प्रदेशो से जटिल कानूनी प्रश्नो के निर्णयो के लिए अपीलें आने लगी। सम्राट ऐसे मामलो मे कानूनी विशेषज्ञो से सलाह लेता था जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तो का प्रतिपादन करें जिन्हें सम्पूर्ण साम्राज्य पर लागू किया जा सके। अत विधि शास्त्रियो ने कानून, अधिकारो और न्याय की सूक्ष्म मीमांसा करके सब देशो एव जातियो और सम्पूर्ण प्रकृति मे पाए जाने वाले सामान्य तत्त्वो के आधार पर प्राकृतिक कानून की कल्पना को जन्म दिया। विख्यात कानूनवेत्ता उल्पियन (Ulpian) ने प्राकृतिक कानून के स्वरूप को दर्शाते हुए लिखा है कि "यह प्रकृति द्वारा सब प्राणियो को दी जाने वाली शिक्षा है। यह कानून मनुष्यो पर नही अपितु पृथ्वी, आकाश और समुद्र मे पाए जाने वाले सभी प्राणियो पर समान रूप से लागू होता है। इसी से नर-नारी का सयोग, सतान का उत्पादन, पालन और प्रशिक्षण होता है क्योकि हम देखते है कि मनुष्य तथा पशु इस कानून से परिचित है।"

स्पष्ट है कि जहाँ जस नेचुरली सभी पर लागू होता है वहाँ जस जैन्शियम केवल मनुष्यो पर लागू होता है, किन्तु इस प्रसग मे यह ध्यान देने योग्य है कि प्राकृतिक कानून अर्थात् जस नेचुरली की दृष्टि मे दास प्रथा अनुचित है जबकि सार्वभौमिक कानून अर्थात् जस जैन्शियम की दृष्टि से यह प्रथा प्रचलित थी। प्राकृतिक कानून का विकास हो जाने पर इसे किसी देश विशेषो के कानूनो से श्रेष्ठ समझा

जाने लगा। उसे वह कसौटी समझा गया जिस पर वास्तविक राज्यो के कानून को कसा जाना चाहिए और जिसके अनुसार उनकी आलोचना होनी चाहिए।

जस्टीनियन द्वारा रोमन कानून का संकलन—रोमन कानून के संकलन वर्गीकरण और स्पष्टीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य करने की दिशा मे रोमन सम्राट जस्टीनियन (Justinian) ने छठी शताब्दी मे महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियत किए गए कानून-शास्त्रियो ने कानूनो का जो विशाल संग्रह किया वह विधि संहिता (Code) या जस्टीनियन की संहिता (Code of Justinian) कहलाता है। रोमन कानून का यह प्रामाणिक संकलन है जिसने परवर्ती राजनीतिक विचारधारा पर एक व्यापक प्रभाव डाला है। आज के विश्व का कोई भी राष्ट्र रोम के इस अनुदाय से अछूता नही रहा है। जस्टीनियन संहिता के प्रमुख अंग ये है—

(क) डाइजेस्ट (The Digest)—इसमे रोम के प्रसिद्ध कानून विशेषज्ञो के विचार दिए गए हैं। इसमे विभिन्न विषयों पर उन लोगो के विस्तृत उद्धरण हैं। ऐसा कहा जाता है कि इसे 16 कानून विशेषज्ञो ने तीन वर्ष मे तैयार किया था। इसमे तीसरी से छठी शताब्दी तक के रोमन विचारों का सुन्दर परिचय मिलता है।

(ख) इन्स्टीट्यूट्स (The Institutes)—इसमे रोमन कानून के सिद्धान्तो का संक्षेप में वर्णन किया गया है। विद्यार्थियो की सुविधा की दृष्टि से यह रोमन कानून के सिद्धान्तो की सुन्दर संक्षिप्त मीमांसा है।

(ग) नोवेली (The Noveili)—यह सम्राट जस्टीनियन के कानूनों का संग्रह है।

रोमन प्रभु-शक्ति की धारणा
(The Roman Concept of Imperium)

यूनानी विचारक प्रभुत्व की धारणा से अपरिचित थे। रोमन लोग ही वे पहले विचारक थे जिन्होने इस धारणा को जन्म दिया। उनमे पहले से यह विश्वास चला आया था कि लगभग प्रत्येक समुदाय में ऐसी अलंघनीय एवं जन्मजात शक्ति निहित रहती है जिसके द्वारा वह अपने सदस्यो को आदेश देता और उनसे आज्ञा पालन करवाता है। इस आदेश देने का पालन करने के लिए बाध्य करने की सत्ता को वे इम्पीरियम (Imperium) कहते थे, जिसका अर्थ लगभग वही था जो आजकल प्रभुसत्ता या प्रभुत्व (Sovereignty) का है। रोमन लोगो ने इम्पीरियम के सिद्धान्त का यद्यपि सुव्यवस्थित ढग से परिवर्द्धन नही किया, फिर भी इसके आधार पर उन्होने विधि-व्यवस्था का भव्य महल अवश्य खडा कर दिया। रोम में राजतन्त्र के आरम्भ से ही यह माना जाता था कि प्रभु-शक्ति जनता मे निहित है और किसी व्यक्ति को शासन करने का अधिकार वंश-परम्परा या दैवीय विशेषताओ के कारण नहीं वल्कि जनता द्वारा निर्वाचन से प्राप्त होता है और एक बार अधिकार प्राप्त कर लेने पर वह शासक आजीवन उसका उपभोग करता है। उस शासक की मृत्यु पर यह अधिकार वापस जनता के पास लौट आता है जो नए राजा को चुनती है। रोमन गणराज्य मे यही सिद्धान्त दृढ हुआ कि अन्तिम सत्ता जनता के हाथ मे है जिसे वह अपनी इच्छा से किसी एक अथवा बहुत से लोगो को दे सकती है।

गणतन्त्रीय व्यवस्था के समाप्त होने पर जब राज्य की शक्ति सम्राटो के हाथो मे आई उस समय भी इम्पीरियम या प्रभुसत्ता का सिद्धान्त चलता रहा, यद्यपि व्यवहारतः उसका कोई महत्त्व नहीं था। सम्राट अपनी इच्छानुसार आदेश जारी करते और आज्ञा का पालन करवाते थे। साम्राज्यवाद के इस युग मे लोग दैवीय अधिकारो पर आधारित निरकुशवाद का समर्थन करते थे लेकिन साथ ही इस परम्परागत सिद्धान्त के अनुयायी भी थे कि अन्तिम रूप से सत्ता सम्पूर्ण जनता मे निवास करती है। गेयस (Gaius) ने दूसरी शताब्दी ई मे लिखा था कि सब प्रकार की कानूनी सत्ता का स्रोत जनता (Populus) है। रोमन साम्राज्य स्थापित हो जाने के बाद भी गणराज्य का पुराना ढाँचा और आवरण बना रहा था। सम्राट के (जिसे प्रथम नागरिक कहा जाता था) शासन सम्बन्धी अधिकारो

के बारे मे रोमन कानून शास्त्रियो का यह विचार था कि अपने एक विशेष कानून (Lex Regia) द्वारा जनता सम्राट को सर्वोच्च शासन शक्ति (Imperium and Protesta) प्रदान करती है। उनके मतानुसार सम्राटो को अपनी सत्ता नागरिको से मिलती थी और वे उन्ही के प्रति जवाबदेह माने जाते थे। सम्राट को विशेष कानून (Lez Regia) द्वारा जीवन-काल तक के लिए ही प्रभु-शक्ति दी जाती थी। सम्राट के मरने के बाद उसके वशजो को स्वतः ही कोई अधिकार प्रदान नही किया जाता था लेकिन यह सब कुछ केवल सैद्धान्तिक था। व्यवहार मे सम्राट निरंकुश शासक बन गए थे। उपरोक्त मत को मानने वाले भी यह स्वीकार करते थे कि सम्राट की इच्छा में वही शक्ति है जो कानून मे है। सम्राट अपनी आज्ञप्तियो द्वारा जनता के कार्यों को रद्द कर सकता था। वही एक मात्र विधि-कर्त्ता था।

जनता की सहमति द्वारा शक्ति या इम्पीरियम के हस्तान्तरण का आधार संविदा का विचार था। रोमन विधिशास्त्री राज्य की उत्पत्ति इस समझौते से मानते थे, किन्तु उनके राजनीतिक चिन्तन मे उस सामाजिक समझौते सिद्धान्त का कोई स्थान न था जिसके अनुसार लोगो ने अपने प्राकृतिक अधिकारो को त्याग कर एक राज्य की स्थापना की थी। रोमन विचारको ने जिस सरकारी संविदा के सिद्धान्त का विकास किया, उसके अनुसार जनता ने अपनी सत्ता अधिकारो को सौंप दी थी। इस समझौते के सम्राट को एक बार अधिकार मिलने के बाद इसका अपहरण नही हो सकता था। जब एक बार जनता ने किसी अधिकारी या शासक को चुन लिया तो अपने कर्त्तव्यो की वैध परिधि के भीतर उस अधिकारी या शासक की शक्ति पूर्ण थी। फिर जनता को यह अधिकार नहीं रह जाता था कि वह दी हुई शक्तियो को वापिस ले। वास्तव में रोमन विचारको ने सम्राटो के स्वेच्छाचारी शासन को न्याय-संगत ठहराने के लिए ही इस संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। रोमन विचारको ने क्रान्ति के अधिकार को स्वीकार नही किया था। उनका सरकारी संविदा का यह सिद्धान्त हॉब्स के मत से सादृश्य रखता था न कि लॉक के मत से। इस सिद्धान्त से स्पष्टत यही अर्थ निकलता था कि एक बार जनता द्वारा सम्राट को प्रभु-शक्ति देने के बाद अब वह किसी के प्रति उत्तरदायी नही रहा था। अब उसकी स्थिति कानून से ऊपर हो गई थी। वास्तव में यह एक विचित्र और मनोरंजक विरोधाभास है कि एक ओर तो रोमन कानून सम्राट की निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है और इच्छा को ही कानून मानता है तथा दूसरी ओर यह भी जानता है कि सम्राट को इम्पीरियम अथवा प्रभुशक्ति जनता द्वारा मिलती है।

रोमन राजदर्शन का योगदान
(Contribution of Roman Political Thought)

यूनानी चिन्तन के विपरीत रोमन राजदर्शन मे हमे राजनीतिक चिन्तन की अनेक आधुनिक विशेषताओं की झलक मिलती है। रोमन लोगो ने इहलौकिक समृद्धि पर बल दिया और वैधानिक उपलब्धियो को अधिक प्राथमिकता दी। उन्होने व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान नहीं किया वरन् उसे राज्य से अलग रह कर भी अपना पूर्णत्व प्राप्त करने को प्रोत्साहित किया। राज्य को नैतिकता की दृष्टि से उन्होने उतना ऊँचा नही उठाया कि वह अयथार्थ बन जाए। इसके अतिरिक्त उन्होने राजतन्त्र, वर्गतन्त्र और जनतन्त्र की शक्तियों का एक सन्तुलित तथा सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण प्रस्तुत किया। शक्तियो के क्षेत्र मे उन्होने नियन्त्रण और सन्तुलन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रोमन लोगो ने ही पहली बार राज्य और समाज मे अन्तर प्रकट किया। उन्होने विश्व को केवल कानून ही नहीं दिया प्रत्युत वैधानिक तर्कवाद की शिक्षा देकर उन्होने कानूनवेत्ताओं को कानून की गहराई तक पहुँचने की प्रेरणा भी दी। दासता की प्रथा पर भी प्रहार किया गया। कम से कम सैद्धान्तिक रूप मे दासो का मनुष्यो की श्रेणी मे मान लिया गया और उन्हे समानता का अधिकारी भी स्वीकार किया। सिसरो, पोलिबियस तथा सेनेका ने स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के लोकतन्त्रीय तत्त्वो, का प्रसार इस प्रकार-रोमन राजनीतिक चिन्तन मे जो कुछ प्रकट हुआ उसका अधिकांश मामूली हेर-फेर के साथ आज के राजदर्शन में भी समाहित है।

आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणाली मे द्वि-सदनीय व्यवस्था बहुत कुछ रोमन सीनेट और कमेटिआ की ही नकल कही जा सकती है। प्रिन्सेप्स का पद अधिक वैधानिक रूप में ब्रिटिश सम्राट और निर्वाचित प्रिन्सेप्स अन्य देशो मे राज्य का प्रमुख माना जा सकता है। विधि-निर्माण का अधिकार लगभग सभी देशो मे दोनो सदनो को प्राप्त है और व्यवहार में प्राथमिकता (अमेरिकन व्यवस्था को छोड़कर) लोकसभा अथवा प्रतिनिधि सदन को दी जाती है। रोमन शासन के गणतन्त्रात्मक युग में 'कमेटिआ' का स्थान आज के प्रतिनिधि सदन जैसा ही था। जब रोम मे पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई तब भी सम्राट स्वयं को निर्वाचित अधिकारी और जनता का अपना अधिकारी कहलाना ही पसन्द करता रहा। इस प्रकार निरंकुश होते हुए भी सम्राट ने जनता की सत्ता के प्रति असम्मान प्रकट नही किया औपचारिक रूप से सीनेट द्वारा उसे सत्ता का हस्तान्तरण होता रहा। जनता को शक्ति का स्रोत स्वीकार करने की यह मान्यता बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात थी जो आधुनिक लोकतन्त्र की आधारशिला बन चुकी है।

रोमन प्रशासन के स्वरूप ने भी विरासत मे बहुत कुछ छोडा। रोमन साम्राज्य लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण यूरोप और पश्चिमी एशिया पर छाया रहा। रोमन सम्राट ने कठोर तथा व्यापक नौकरशाही व्यवस्था द्वारा विशाल प्रशासन यन्त्र को संगठित और सक्षम बनाए रखा। जब रोमन साम्राज्य विनष्ट हो गया तब भी यह नौकरशाही परम्परा के रूप मे यूरोप के राज्य में चलती रही और आज नौकरशाही का प्रशासन के क्षेत्र मे जो स्थान है वह किसी से छिपा नहीं है। रोमन कानून-वेत्ताओ ने कठोर परिश्रम से कानून की जिस क्रमबद्ध और वैज्ञानिक प्रणाली का निर्माण किया उससे आधुनिक विश्व ने बहुत-कुछ सीखा और मार्ग-दर्शन प्राप्त किया है। कानून की जटिलताओं को सुलझाने के लिए रोमन विधि-शास्त्रियो के प्रयास अति मूल्यवान सिद्ध हो रहे हैं। कानून के समान ही एक सुदृढ न्याय-व्यवस्था का सगठन भी रोमन लोगों की महत्त्वपूर्ण देन है। रोम की इस देन को भुलाया नही जा सकता कि उससे नागरिको को कानून के समक्ष समता (Equality before Law) का अधिकार दिया।

'इम्पीरियम का सिद्धान्त' (Theory of Imperium) भी रोमन राजनीति की एक बहुत ही आधुनिक और महत्त्वपूर्ण देन है। इसका वर्तमान नाम सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। रोमन विचारको ने बतलाया था कि राज्य की वास्तविक सत्ता जनता मे निहित है और प्रशासक तथा न्यायाधीश सभा जनता की इस शक्ति के आधार पर ही अपने पदों पर जनता की ओर से कार्य करते हैं। रोमन विचार ये तत्त्व आधुनिक लोकतन्त्रो मे बहुत ही विकसित रूप मे विद्यमान है।

रोम ने राज्यीय और औपनिवेशिक प्रशासन के बहुमूल्य सिद्धान्त (Principles of Colonial and Municipal Administration) प्रदान किए। साम्राज्य के अन्तर्गत प्रान्तो को पर्याप्त मात्रा मे सुशासन का अधिकार दिया गया और रोम की इस व्यवस्था से आगे की पीढ़ियो ने बहुत कुछ सीखा। पुनश्च, रोम की सार्वभौम शक्ति तथा स्टोइक-ईसाई लोगो के सब मनुष्यो के भ्रातृत्व के विचार ने आधुनिक दृष्टिकोण की नीव रखी। यह आदर्श रोम के पतन के बाद भी जीवित रहे। पुनर्जागरण से इन्हे नवजीवन मिला और फ्रेंच क्रान्ति के दिनो में बनाई गई राजनीतिक संस्थाओ में इन्हे मूर्तरूप प्राप्त हुआ।

वस्तुत रोमन साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है किन्तु रोम की देन आधुनिक विश्व-राज्यों के लिए आज भी वरदान है।

8

स्टोइक्स
(Stoics)

पाश्चात्य राजनीतिक विचारों के विकास में एपीक्यूरियनवाद की अपेक्षा स्टोइकवाद ने अधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह विचारधारा सिनिक और एपीक्यूरिन दोनों से न केवल अधिक प्रबल सिद्ध हुई वरन् इसका प्रभाव भी सबसे बाद तक पड़ा। इसका प्रवर्तन 300 ई. पू. में जीनो (Zeno) ने किया जो एक फोनेशियन (Phonuician) था। उसके माता-पिता मे से एक सेमिटिक (Semitic) था। सिसरो, सेनेका (Seneca), मार्कस ओरिलियस (Marcus Aurelius) तथा एपिक्टटिस जैसे विचारक इस विचारधारा के समर्थक थे। इसको क्रमबद्ध रूप क्रिसिपस स्टोआ (Chrysipus the Stoa) ने दिया जिसके कारण इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। स्टोइकवाद अनेक शताब्दियों तक मानव विचारों को प्रभावित करता रहा। दूसरी शताब्दी के शिक्षित रोम निवासी इससे अत्यधिक प्रभावित हुए।

जिस प्रकार एपीक्यूरियन दार्शनिकों का विश्वास जीवन मे अधिकाधिक सुख एवं आनन्द की प्राप्ति था, उसी प्रकार स्टोइक दार्शनिकों का लक्ष्य भी आनन्द की प्राप्ति थी किन्तु इनका आनन्द और उसको प्राप्त करने की प्रक्रिया एपीक्यूरियन विचारो से भिन्न थी। स्टोइक्स दर्शन के प्रणेता जीनो के बारे में कहा जाता है कि वह 'सिनिक' (Cynic) मण्डली के नेता क्रेटीज (Craties) का शिष्य था अतः स्टोइकवाद सिनिकवाद (Cynicism) का ही एक विकसित रूप कहा जा सकता है। सिनिकवाद की मूल धारणाएँ पूर्ण आत्म-संयम, प्रकृति के अनुकूल जीवन, पूर्ण आत्म-निर्भरता, परिस्थितियों से स्वतन्त्र और स्वपर्याप्तता हैं। ये तत्त्व अथवा मूल धारणाएँ ही स्टोइकवाद का आरम्भ-बिन्दु भी हैं, किन्तु जहाँ सिनिकवाद के सिद्धान्त निषेधात्मक और शून्यवादी है वहाँ स्टोइकवाद उपरोक्त मूल धारणाओं की एक विधेयात्मक और रचनात्मक व्याख्या करता है।

स्टोइकवादी दर्शन के मुख्य विचारों को हम निम्नलिखित रूप मे प्रकट कर सकते है—

(1) प्राकृतिक विधियाँ
(Law of Nature)

स्टोइक दार्शनिकों के विचार का केन्द्र प्रकृति है। उनके लिए प्रकृति ही जीवन की अधिष्ठात्री है और यही समस्त कार्यों की प्रेरक है। स्टोइक्स के मत मे "प्रकृति के अनुसार जीवन का आशय यह है कि जीवन को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया जाए, मानवी शक्ति से परे की एक ऐसी शक्ति पर भरोसा किया जाए जो न्यायपूर्ण है तथा मन को ऐसे रखा जाए जो ससार की श्रेष्ठता और औचित्य में विश्वास रखने से उत्पन्न होता।"[1] प्रकृति को सर्वोत्कृष्ट निर्देशक मानते हुए उनका कहना है कि "प्रकृति उस एक एवं अविभाज्य शक्ति की प्रतीक है जो इस विश्व के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में उपस्थित है और जिसके द्वारा समस्त पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और जिनका आधार समुचित विवेक बुद्धि है।" स्टोइक दर्शन का केन्द्र बिन्दु 'प्रकृति' उनकी उपास्य देवी है। यह उनकी समस्त कामनाओं का लक्ष्य है, उनकी समस्त क्रियाओं का स्रोत है।[1] उनकी मान्यता है कि "मानव जीवन का चरम लक्ष्य

1 सेबाइन. पूर्वोक्त, पृ. 137.

प्रकृति के साथ तदाकार हो जाना है, उसी मे अपना विलय कर देना है। प्रकृति मे जीवन और विकास के सम्बन्ध मे हम जिन नियमो और विधियो का अनुसरण देखते हैं, वही मानव के भी जीवन-रक्षक हैं और यदि सर्वोत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करना है तो 'प्रकृति' के सकेतो के अनुसार आचरण करना पडेगा। क्रिसिपस ने अपनी कृति 'ऑन दि लॉ' (On the Law) मे प्राकृतिक विधि का वर्णन करते हुए लिखा है—"यह विधि देवताओ और मनुष्यो दोनो के सभी कार्यों की नियामक है। क्या सम्माननीय है और क्या अधम है—इस सम्बन्ध मे यह विधि ही हमारी पथ-प्रदर्शक है। यह विधि विश्व की निदेशक, सचालक और मार्ग दर्शक शक्ति है तथा न्याय और अन्याय का मापदण्ड है। जो प्राणी प्रकृति से सामाजिक हैं उन्हे यह विधि इस बात का उपदेश देती है कि वे क्या करें और क्या न करें।"

स्टोइक दार्शनिको की मान्यता है कि प्रकृति और कुछ नही है, केवल उस असीम विराट सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है। विवेक को प्राकृतिक नियमो से पुष्टि मिलती है अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उस असीम विराट सत्ता के प्रतिकूल कोई आचरण न करे। प्रकृति के नियम सुनिश्चित, सामान्य, सार्वभौम और दैवी बुद्धि पर आधारित है। ये अटल और अपरिवर्तनशील हैं जिन्हे मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा जान सकता है अत मनुष्य को सदा विवेक का सहारा लेकर प्राकृतिक नियमों अथवा विधियो का पालन करना चाहिए। स्टोइक्स का विश्वास है कि प्रकृति आकस्मिक घटित होने वाली घटनाओ का जमघट नही है वरन् एक बुद्धिसगत व्यवस्था है जिसमे विप्लव नही, बल्कि क्रमबद्धता है। प्रकृति मे देव और मानव दोनो सम्मिलित है। इस पर दैविक बुद्धि शासन करती है। 'प्रकृति' सार्वभौमिक कानून का साकार रूप है। 'प्रकृति' के अनुकूल जीवन का अर्थ है—बुद्धि के अनुसार जीवन। चूंकि बुद्धि कानूनो के अनुसार कार्य करती है अत प्रकृति के अनुसार जीवनयापन का स्पष्ट अर्थ हुआ—कानून के अनुसार जीवन। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपना जीवन प्राकृतिक नियमो के अनुसार बिताए। "प्रकृति सर्वोच्च सार्वभौम कानून का मूर्तरूप है तथा आदर्श जीवन इस सार्वभौम कानून का अनुसरण करता है।"[1]

(2) सार्वभौम विश्व जनित राज्य का सिद्धान्त अथवा सार्वदेशिकता या विश्व नागरिकता
(World State or Cosmopolitanism)

स्टोइक दर्शन का दूसरा प्रमुख विचार सार्वदेशिकता अथवा विश्व नागरिकता का था। सर्वप्रथम सिनिक दार्शनिको ने कहा था कि वे किसी नगर विशेष के नागरिक न होकर विश्व के नागरिक हैं, लेकिन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे यह विचार पनप नही सका। बाद मे मैसिडोन और रोम का साम्राज्य स्थापित होने पर राजनीतिक परिस्थितियाँ विश्व नागरिकता के विचार के अनुकूल हो गई इसलिए जब स्टोइक दर्शन के जन्मदाता जीनो ने विश्व नागरिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो यह बडा लोकप्रिय हुआ। डनिंग (Dunning) के अनुसार "जब यूनानी और बर्बर जातियो को पृथक् करने वाली दीवार टूट गई, एथेन्स, थ्रेस, एशिया और मिस्र मे रहने वाले व्यक्ति वस्तुतः एक राजनीतिक पद्धति के सदस्य बन गए तो विश्व की नागरिकता का विचार चिन्तनशील मनुष्यो के लिए ग्राह्य हो गया।"[2]

स्टोइक दार्शनिको का विचार था कि "मानव-मानव मे कोई अन्तर नही है अर्थात् मानव-प्रवृत्ति मे समानता है। बुद्धि सार्वभौमिक है अर्थात् एक ही बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है और उसका प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण है। स्पष्ट है स्टोइक विचारक सम्पूर्ण विश्व पर एक ही सार्वभौम सत्ता का शासन मानते हुए इस परिभाषा पर पहुँचे कि विभिन्न जातियो और राष्ट्रीयताओ के होते हुए भी मनुष्य समान हैं, अत उन्हे पृथक्-पृथक् राज्यो मे रहना छोडकर एक ही प्रभु के शासन का अग बनाना चाहिए।"

1 *Phyllis Doyle* op cit, p 41.

2 *Dunning*. A History of Political Theory, p 104-105.

सेबाइन महोदय के अनुसार स्टोइक लोगों का विचार था कि "संसार के समस्त प्राणियों मे अकेले मनुष्य ही सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है। उसके लिए सामाजिक जीवन आवश्यक भी है। मनुष्य ईश्वर के पुत्र है, अतः वे एक-दूसरे के भाई हैं। स्टोइक्स की दृष्टि मे ईश्वर मे रखने का अर्थ सामाजिक प्रयोजनों मे और इस बात मे कि मनुष्य का इन सामाजिक प्रयोजनो के प्रति कुछ कर्त्तव्य है, विश्वास रखना है। इस विश्वास ने स्टोइकवाद को एक नैतिक और सामाजिक शक्ति बना दिया है।"[1] स्टोइक्स के इन विचारो का विश्लेषण करते हुए सेबाइन ने आगे लिखा है कि "स्टोइक्स के अनुसार एक विश्व-राज्य है। ईश्वर और व्यक्ति दोनो ही इसके नागरिक हैं। इसका एक सविधान है जो उचित विवेक है। यह व्यक्ति को इस बात की शिक्षा देता है कि क्या करना चाहिए और क्या नही। उचित विवेक प्राकृतिक कानून है और वह हर जगह उचित तथा न्यायपूर्ण है उसके सिद्धान्त अपरिवर्तनशील हैं। वह सब मनुष्यो, शासकों और शासितो पर समान रूप से लागू होता है।"

स्टोइक्स का मत था कि प्राकृतिक कानून का पालन करने का भाव सब व्यक्तियो को एक महान् समाज मे सगठित करता है। उन्हें उन सभी लोगो को एक विश्व-नगर राज्य का सदस्य मानना चाहिए जिनका एक ही जीवन मार्ग है और एक ही व्यवस्था है। स्टोइक्स ने यूनानी और वर्बर, कुलीन और जनसाधारण, दास और स्वतन्त्र, अमीर और गरीब सबको समान बतलाया और उनकी सार्वदेशिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त द्वारा उन्होने व्यक्ति को नगर-राज्य की सकीर्ण सीमाओ से ऊँचा उठा कर विश्व-नागरिक बना दिया। स्टोइकवाद ने न केवल व्यक्तियो के बीच सामाजिक भेद-भावो को कम किया बल्कि राज्यो के बीच एकता का विकास किया।

(3) मानव-स्वभाव
(Human Nature)

मानव-स्वभाव के बारे मे स्टोइक्स का विचार था कि मानवता को यदि सामूहिक रूप मे देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि वह अदूरदर्शी, स्वार्थी और वासनाओ की दास है। पर यदि मानव-स्वभाव का व्यक्ति के अनुरूप विश्लेषण किया जाए तो अन्तिम तत्त्व यही निकलेगा कि वह स्वहितांकाक्षी है, वह अपनी भलाई का इच्छुक है तथा वह अपना स्वार्थ पूरा करना चाहता है। स्टोइक यह मानते थे कि मानव-स्वभाव स्वतः दुष्ट है क्योकि वह अपनी वासनाओ की पूर्ति मे लगा रहता है।

स्टोइक विचारो का यह भी कहना था कि मनुष्य को व्यक्तिगत आनन्द और अपनी सुख-लालसा की पूर्ति के लिए समाज से सम्बन्ध तोड लेना चाहिए। वस्तुतः स्टोइक दार्शनिको का धर्म व्यक्ति का धर्म है, समाज या लोक धर्म नही। वे व्यक्तियो को श्रेष्ठतर स्थिति मे पहुँचा कर उसके स्वभाव को समाज की समस्त गतिविधियो के प्रति तटस्थ बनाना चाहते है। उनके अनुसार व्यक्ति ही इकाई है और उसका स्वभाव अपनी मगल कामना का है। अपनी हित कामना के इस स्वभाव से प्रेरित होने के कारण ही मनुष्य स्वय ही समाज मे अपने व्यक्तिगत विकास तथा उन्नति की ओर अधिक ध्यान देता है।

समाज और राज्य के प्रति व्यक्ति के सम्बन्धो का विवेचन करते हुए स्टोइक दार्शनिको ने बताया कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता यद्यपि आवश्यक है किन्तु फिर भी व्यक्ति समाज से सर्वथा मुक्त नही हो सकता। इसलिए उस समाज को और कालान्तर मे राज्यो को भी एक आवश्यक बुराई के रूप मे स्वीकार करना चाहिए।

स्टोइक दर्शन की आलोचना

स्टोइक दर्शन की अनेक आधारो पर कटु आलोचना की गई है। कार्नेडीज (Carneades) के अनुसार यह दर्शन अप्राकृतिक और अमानवीय है क्योकि उसकी उपलब्धि असम्भव है। मनुष्य मे

1 सेबाइन पूर्वोक्त पृ 137

भावुकता और इच्छा-पूर्ति की लालसा एक ऐसी भूल होती है जिसकी तृप्ति स्टोइक दार्शनिकों की काल्पनिक चरित्र-निष्ठा और आत्म-संयम में सम्भव नहीं है। कार्नेडीज की दूसरी आलोचना के अनुसार स्टोइक दर्शन द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिक विधि स्वयं में एक कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं। इस भौतिकवादी जगत् में व्यक्ति के विश्वासों और कार्यों में बड़ा अन्तर है। न्याय व्यक्ति के स्वार्थपूर्ण कार्यों की एक 'सम्मानित उपाधि' है। यदि इस संसार में प्राकृतिक न्याय होता तो हमें न्याय और अन्याय में इतना बड़ा अन्तर नहीं दिखाई देता।

प्रो. सेबाइन के मतानुसार स्टोइक दर्शन राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की भूमिका तैयार करने वाला सिद्ध हुआ। रोमन युग के स्टोइक विचारकों ने मूल दर्शन में संशोधन करके रोमन साम्राज्य के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया और अन्ततोगत्वा सम्राट पूजा (Worship of Emperors) को स्टोइक दर्शन में शामिल किया जाने लगा। लोगों की एकता राजा द्वारा सम्भव मानी जाने लगी। स्टोइक विचारकों ने राजा की शक्ति को दैविक शक्ति की मान्यता दी, अतः धरती पर राजा को इस शक्ति का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाने लगा और शनैः-शनैः राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त ने जोर पकड़ लिया। प्रो. सेबाइन का यह भी आरोप है कि स्टोइक दर्शन बहुत ही अस्पष्ट है क्योंकि कभी तो वह विरक्त जीवन का उपदेश देता है और कभी अत्यन्त क्रियाशील जीवन का निर्माण करना चाहता है। हम यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि स्टोइक दार्शनिक साधुवाद चाहते हैं या कर्म की प्रधानता के इच्छुक हैं। इतना ही नहीं स्टोइक विचारधारा में सिनिक दर्शन की अपूर्णताओं का भी मेल है।

प्रो. डनिंग ने प्रारम्भिक स्टोइक दर्शन (The Early Stoicism) को अव्यावहारिक और निरर्थक बतलाया है जिन्हें प्लेटो के रिपब्लिक के अनुसार ही कल्पनाओं का संसार बसा है। उनका विश्व-नागरिकता का विचार केवल एक पाखण्ड है। डनिंग ने यह भी कहा कि स्टोइक दर्शन का सार्वभौमिकतावाद (Cosmopolitism) व्यर्थ तान्त्रिक है। विश्व नागरिकता के सिद्धान्त में भौतिक शक्ति के विरुद्ध एक बौद्धिक प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।[1]

प्रो. टायनबी (Toynbee) के मत में स्टोइक दर्शन वास्तव में असफल रहा क्योंकि जीवन के प्रति उसमें कोई उत्साह नहीं था।

यद्यपि स्टोइक दर्शन की उपर्युक्त सभी आलोचनाएँ तथ्यपूर्ण हैं तथापि इस बात की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि स्टोइक दर्शन भारतीय दर्शन के सन्निकट है जो अनुभवगम्य है तथा अनुभूतिक होने के कारण व्यक्तिगत है जबकि पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार जिस तत्त्व में भुलावा अथवा बहुमतवाद न हो वह अप्राकृतिक है। स्टोइक दर्शन वस्तुतः आध्यात्मिक दर्शन था जिसका लक्ष्य राजनीतिक नहीं वरन् आनन्दमय जीवन की प्राप्ति था। चूँकि किसी भी दर्शन का प्रसार बिना राजकीय संरक्षण के सम्भव नहीं हो पाता, अतः स्टोइक विचारकों ने भी रोमन साम्राज्य का सहारा लिया और तत्कालीन राजनीति से लाभ उठाने की चेष्टा की। यदि इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखा जाए तो स्टोइक दर्शन की आलोचना कुछ शिथिल अवश्य पड़ जाएगी।

स्टोइक दर्शन का प्रभाव

जो भी आलोचना की जाए, हम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि स्टोइक दर्शन ने कतिपय क्षेत्रों में अपनी विशेष छाप छोड़ी। इस बात से समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के आदर्शों को बल मिला तथा प्राकृतिक नियम के स्पष्ट विचार सामने आए। बुद्धि, न्याय और प्राकृतिक नियम पर स्टोइक विचारकों ने पर्याप्त बल दिया। उन्होंने मानव-प्रकृति को सुधारने तथा उसका विकास करने में काफी सहयोग दिया। सार्वभौमिक प्राकृतिक कानून, सार्वदेशिकता, मानव की प्रकृति समानता, सार्वभौमिक नागरिकता आदि के आदर्शों का प्रतिपादन करके इस विचारधारा ने परवर्ती दार्शनिकों को बड़ा

[1] Dunning : op. cit., pp. 105–106.

प्रभावित किया। इस दर्शन का प्रभाव प्राचीन यूरोप के उन लोगो पर पडा जिनके हाथो मे शासन शक्ति थी। जॉन वाउल के शब्दो मे, "इसने कर्त्तव्य-निष्ठा की भावना को बढाकर उस अनुपात मे राजनीति पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला जिसने कितने ही रोमन प्रशासको के नैतिक उत्साह को बढाया तथा रोमन कानून की आत्मा को ऊँचा उठाया। सिसरो जैसा रोमन दार्शनिक इस सिद्धान्त से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। पाल और उलिपयन (रोमन साम्राज्य के प्रधान विधिशास्त्री) ने प्राकृतिक कानून तथा सब मनुष्यो के साथ समान रूप से न्याय करने के सिद्धान्तो को मूर्त रूप दिया।" इसी प्रकार डनिंग के शब्दो मे "ईसाईयत ने रोमन साम्राज्य मे सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से स्वीकार किए जाने वाले इन विचारो को ग्रहण किया और गम्भीरतम परिणामो के साथ इन्हे वर्तमान युग को प्रदान किया।"

राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में यूनान की देन
(Contribution of the Greeks to Political Thoughts)

(1) **स्वतन्त्रता का विचार**—यूनानियो को स्वतन्त्रता से बड़ा प्यार था। जब ससार पार्सियो के शोषण से दबा हुआ था तब भी मुट्ठी भर यूनानियो ने ससार के सामने स्वतन्त्रता का आदर्श प्रस्तुत किया और स्वशासन की सस्थाओ को जीवित रखा। प्रत्येक यूनानी का आग्रह था कि नगर-राज्य की स्वतन्त्रता और नगर-राज्य के भीतर स्वय की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे। एथेन्सवासियो को इस बात का गर्व था कि उनका कोई राजा या स्वामी नही है लेकिन गौरवमय होते हुए भी यूनानियों की स्वतन्त्रता की वह भावना दोषरहित नही थी। यह इतनी उग्र थी कि प्रत्येक नगर-राज्य की 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' की स्थिति थी। अपने इस अनियन्त्रित स्वातन्त्र्य प्रेम के कारण यूनानी परस्पर सगठित न रह सके और उन्हे पराधीन हो जाना पड़ा। यूनानियो की स्वतन्त्रता आवश्यकता से अधिक उग्र होने के साथ ही सकीर्ण भी थी। एथेन्स भी जो कि एक सर्वश्रेष्ठ नगर-राज्य था, दासो से भरा हुआ था। राज्य के अल्पसख्यक वर्ग को ही स्वतन्त्रता प्राप्त थी। बहुसख्यक दास और विदेशी व्यापारी इससे वचित थे। स्त्रियो को तथा अधीन नगर-राज्यो को स्वतन्त्रता नही थी। एथेन्स के पराभव का यह भी मुख्य कारण था कि वह दूसरे नगर-राज्यो का निरकुश शासक बनना चाहता था। इस तरह गेटेल के शब्दो मे यह कहना उचित होगा कि "यूनान ने वर्तमान जगत् को स्वतन्त्रता का विचार मात्र ही प्रदान किया है।"[1]

(2) **विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता**—यूनानियो की दूसरी देन विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है जिसे एथेन्स ने सदा ही प्रोत्साहन दिया। सुकरात ने अपना बलिदान देकर भी इस अधिकार का समर्थन किया और यह शिक्षा दी कि व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के अनुसार स्वतन्त्र विचार रखने एव तदनुसार आचरण करने का अधिकार है।

(3) **समानता**—यूनान की स्टोइक विचारधारा ने मनुष्यो की समानता और समान अधिकारो पर बल दिया। स्टोइक दार्शनिको ने प्राकृतिक नियम तथा विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्तो का पोषण किया। समानता के इस विचार को लेकर ही भविष्य मे रूसो और अन्य दार्शनिको ने समानता के अधिकार को विशेष महत्त्व दिया जो वर्तमान राजदर्शन का भी यह एक प्रमुख लोकतान्त्रिक तत्त्व है।

(4) **कानून की सर्वोच्चता**—यूनानी कानून का बहुत अधिक सम्मान करते थे। प्लेटो ने 'लॉज' मे और अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' मे कानून की सर्वोच्चता का पाठ पढाया। प्लेटो ने अपने दार्शनिक सम्राट के दूसरे नम्बर पर राज्य के कानूनो को स्थान दिया। अरस्तू ने मानव-प्रभुता के ऊपर कानून की प्रभुता को रखा। वास्तव मे कानून ही यूनानी नगर-राज्य के ढाँचे को जमाने वाला सीमेन्ट रहा। सुकरात ने कानून की रक्षा के लिए ही हँसते-हँसते जीवन की बलि दे दी। आज भी विश्व के सभी सभ्य राज्यो मे कानून की सर्वोच्चता की यूनान परम्परा को सुनिश्चित मान्यता दी गई है।

1 *Gettle*. A History of Political Thought, p 61.

(5) **लोकतन्त्र का विचार**—यूनान के नगर-राज्यों में उनकी भौगोलिक स्थिति और जनसंख्या के कारण प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय प्रणाली प्रचलित थी। पाश्चात्य जगत् लोकतन्त्र के इस दान के लिए यूनानियों का ऋणी है। यूनानियों का यह विश्वास आज भी मान्य है कि राज्य के कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेना चाहिए।

(6) **नीतिशास्त्र और राजनीति का सुन्दर मिश्रण**—यूनानियों की छठी महत्त्वपूर्ण देन राजनीति और नीतिशास्त्र का समन्वय है। प्लेटो न्याय और नैतिकता के उच्च आदर्शों में विश्वास रखता था। अरस्तू भी जीवन को पूर्ण बनाना ही राज्य का लक्ष्य मानता था। इन दोनों ही महान् दार्शनिकों ने नीतिशास्त्र और राजनीति के गठबन्धन द्वारा राज्य को आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर लाने का प्रयत्न किया। आज भी राज्य के अधिकाधिक व्यक्तियों के कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त निरन्तर प्रमुखता पाते जा रहे हैं।

(7) **देशभक्ति**—नगर-राज्यों के प्रति अपने अगाध प्रेम द्वारा यूनानियों ने देशभक्ति के आदर्श का प्रसार किया। उन्होंने राज्य को अत्यधिक महत्त्व दिया। इस अभाव में व्यक्ति के जीवन की कल्पना ही इनके लिए कठिन थी। आज भी राज्य का यह सर्वस्पर्शी स्वरूप हमारे समक्ष दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है।

(8) **राज्य और व्यक्ति की एकता**—यूनानियों ने राज्य और व्यक्ति की एकता तथा राज्य के जैविक सिद्धान्त (Organic Theory) का प्रतिपादन किया। प्लेटो एवं अरस्तू दोनों ने बड़े बलशाली ढंग से यह बताया कि राज्य व्यक्ति का विराट रूप है और इन दोनों के हितों में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। अरस्तू ने यह घोषणा की कि यदि कोई व्यक्ति राज्य के बिना रहता है तो वह या तो देवता होगा या पशु। यूनानी विचारकों की राज्य और व्यक्ति की एकता की यही धारणा आधुनिक फासिस्टों और आदर्शवादियों ने स्वीकार की है।

(9) **मध्यवर्ती मार्ग का विचार (Theory of Golden Means)**—यूनानी दार्शनिकों ने मध्यवर्ती मार्ग का बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन किया। प्लेटो और अरस्तू ने इस सत्य को बारम्बार दोहराया कि सम्पत्ति की अत्यधिक असमानता अकल्याणकारी है तथा अति सम्पन्न और अति विपन्न व्यक्तियों वाला राज्य शान्त एवं स्थिर नहीं रह सकता। यह क्रान्तियों को जन्म देता है। यूनानियों की यह धारणा आज भी जितनी सत्य और स्पष्ट है, उसे लिखने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त प्लेटो और अरस्तू का मिश्रित संविधान का सिद्धान्त भी आधुनिक विश्व को एक महत्त्वपूर्ण देन है।

स्पष्ट है कि यूनानी राजदर्शन की आधुनिक चिन्तन को अनेक बहुमूल्य देन हैं। प्लेटो और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिक जितने आधुनिक अपने समय में थे, उतने ही आधुनिक आज भी हैं और कल भी रहेंगे।

9 प्रारम्भिक ईसाईयत का राजनीतिक चिन्तन : सन्त अम्ब्रोज, सन्त ऑगस्टाइन, ग्रेगरी महान्
(Political Thought of Early Christianity : St. Ambrose, St Augustine, Gregory the Great)

ईसाई धर्म का अभ्युदय और विकास
(The Rise and Growth of Christianity)

पश्चिमी यूरोप के इतिहास मे, राजनीति और राजनीतिक दर्शन दोनो की दृष्टियों से, ईसाई धर्म का अभ्युदय सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस धर्म का अभ्युदय रोम साम्राज्य में हुआ था। रोमन सम्राट ऑगस्टस (29 ई पू से 14 ई तक) के समय, जब रोमन साम्राज्य चरम उत्कर्ष पर था, रोमन प्रान्त पैलेस्टाइन के यहूदियों मे 4 ई पू मे महात्मा ईसा का जन्म हुआ। 30 वर्ष की अल्प अवस्था मे ही महात्मा ईसा ने तत्कालीन यहूदी धर्म मे प्रचलित बुराइयो को दूर करने के लिए विभिन्न प्रदेशो मे घूमते हुए प्रचार आरम्भ किया। इस प्रचार से क्षुब्ध होकर यहूदियो ने उन्हे पकड़वा कर रोमन राज्यपाल पाइलेट के सामने प्रस्तुत किया। राजद्रोह का अभियोग लगा। 29 ई. मे इस महात्मा को जेरुसलेम की एक पहाड़ी पर सूली पर चढा दिया गया। महात्मा ईसा के बलिदान ने सुधार आन्दोलन मे नए प्राण फूंक दिए। ईसा के 12 शिष्यो (Apostles) ने अपने गुरु की शिक्षाओ का प्रचार जारी रखा और रोमन साम्राज्य के पतन के साथ-साथ ईसाई धर्म का अभ्युदय तेजी से होने लगा।

ईसाई धर्म का ध्वज फहराने मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य टारसस निवासी सन्त पॉल (लगभग 16–64 ई) ने किया। सन्त पॉल पहले यहूदी थे और ईसाईयत के घोर विरोधी थे। किंवदन्ती के अनुसार एक बार दमिश्क के पास दोपहर के समय उन्हे आकाश मे अत्यन्त तीव्र दिव्य प्रकाश मे महात्मा ईसा के दर्शन हुए और यह आकाशवाणी सुनाई दी कि ईसाई धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है अत उसे सब जातियो और देशों मे फैलाया जाए। सन्त पॉल ने अब यह मानते हुए कि ईसाई धर्म से ही विश्व का कल्याण हो सकता है, अपने साथियो के साथ 20 वर्ष तक रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागो मे इस धर्म का प्रसार किया। सन्त पॉल ने कहा कि ईसा की दृष्टि मे सब व्यक्ति समान है। उन्होंने विभिन्न स्थानो पर चर्च स्थापित किए और इनका एक सुदृढ संगठन बनाया। उनके अथक प्रयत्नो के फलस्वरूप ईसाई धर्म बडा व्यापक हो गया। रोमन साम्राज्य की परिस्थितियो ने ईसाई धर्म के प्रसार मे काफी सहायता दी। एक तरफ तो साम्राज्य भर मे फैली सडको ने ईसाई प्रचारको को सर्वत्र आने-जाने की सुविधापूर्ण परिस्थितियाँ प्रदान कीं और दूसरी तरफ रोम के पुराने प्रतिमापूजक धर्म (Paganism) के बाह्य आडम्बर और कर्म-काण्ड ने सामान्य जनता को सरल एव सुबोध ईसाई मत की ओर आकर्षित किया। रोमन शासन के करो से लदी आर्थिक पीडा से ग्रस्त जनता के लिए यह सम्भव न था कि ईसाई धर्म जैसे सुन्दर, स्पष्ट और समानता के पोषक धर्म को सामने पाकर भी वह व्यय-साध्य और आडम्बर-प्रधान उपासनाओ से चिपकी रहती। ईसाई धर्म के सरल और सुगम सिद्धान्तो ने दलित तथा निम्न वर्गीय समाज मे नवीन आशा का सचार किया। यह समाज बड़ी तेजी से इस धर्म को स्वीकार करने लगा। चौथी शताब्दी मे बहुत बडी सख्या मे रोमन सैनिको ने ईसाई

धर्म ग्रहण कर लिया और उन्होने सम्राट की उपासना करने से इन्कार कर दिया। इस जटिल राजनीतिक समस्या और सकट से उभरने के लिए विवश होकर सम्राट ंस्टेंटाइन (Constantine) ने नवीन धर्म (ईसाई धर्म) को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार राजनीतिक कारणो से दबकर 380 ई पू मे रोम सम्राट थियोडोसिस (Thiodosis) ने ईसाईयत को साम्राज्य का एक मात्र कानून-निहित धर्म घोषित कर दिया। इस तरह ईसाई धर्म ने अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायो को हराकर अपनी विजय-पताका फहरा दी तथा भविष्य मे महान् शक्ति और सम्मान पाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

ईसाई धर्म की इस अनुपम सफलता के मूल मे प्रसिद्ध ऐतिहासिक गिब्बन (Gibben) के अनुसार मुख्यत ये कारण थे[1]—(1) ईसाई प्रचारको का अदम्य उत्साह, (2) भावी जीवन का सिद्धान्त, (3) चर्च के आरम्भ के व्यक्तियो की चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ, (4) ईसाईयो का सुन्दर एव पवित्र आचरण, तथा (5) ईसाईयो की एकता, अनुशासन और चर्च का मजबूत संगठन।

ईसाईयत की विजय के परिणाम

(The Effects of Triumph of Christianity)

ईसाई धर्म द्वारा अन्य प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को पराजित कर देना और साम्राज्य का एकमा राजकीय धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाना वास्तव मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी ईसाई धर्म की इस ऐतिहासिक विजय के बडे दूरगामी परिणाम हुए। इसने साम्राज्य तथा स्वय ईसा धर्म मे गम्भीर परिवर्तन किए।

(1) ईसाई धर्म में जटिलता और कट्टरता आ जाना—ईसाई धर्म अपने अभ्युदय काल में जितना सरल और पवित्र था अब वैसा नही रहा, उसमे जटिलता और कट्टरता आ गई। राजकीय धर्म के रूप मे अपना लिए जाने पर ईसाई धर्म को मानना एक फैशन हो गया; पर लोगों का यह धर्म परिवर्तन केवल बाहरी था। उन्होने ईसाई धर्म को इसलिए ग्रहण किया था क्योंकि उसे राजनीतिक सरक्षण प्राप्त था। इस तरह उनका धर्म-परिवर्तन किसी हृदय-परिवर्तन का परिणाम नहीं था और उनमे ईसाई धार्मिक सिद्धान्तो के प्रति कट्टर निष्ठा या तो थी ही नहीं या इसका बहुत कम प्रभाव था उनके मन और मस्तिष्क मे प्रधानतः गैर-ईसाई विचार और व्यवहार घर किए थे जिससे ईसाई धर्म की मौलिक सरलता और पवित्रता को प्रबल आघात लगा। अब व्यवहार मे ईसाई धर्म का वह स्वरूप नहीं रहा जो ईसा और उनके शिष्यो ने जनता के सामने प्रस्तुत किया था। विजय उस ईसाई धर्म की नहीं हुई जिसका प्रसार ईसा तथा उनके शिष्यो ने किया था, बल्कि उस ईसाई चर्च की हुई जो मैक्सी (Maxey) के शब्दो मे—"एक 'भानुमती का कुनबा' था जिसमे ईसाईयत के कुछ शेष तत्त्व उन सभी गैर-ईसाई धर्मो मे से उधार ली हुई बातो के साथ मिले हुए थे जिन्हे इसने पराभूत कर दिया था।"

(2) ईसाई धर्म का एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन जाना—ईसाई धर्म अब एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन न रहकर एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन गया। जब यह राज्य-धर्म बन गया तो अनेक परिस्थितियो ने इसके विचारो और सगठन अर्थात् ईसाई मठो (Christian Churches) को शक्ति प्रदान की। रोम के मठ न केवल ईसाई धर्म के प्रणेता रहे बल्कि उनका सगठन भी रोमन साम्राज्य के राजनीतिक संगठन से साम्य रखने लगा क्योकि रोम के राजनीतिक सगठन व इन मठो के सगठन का आधार प्रजातान्त्रिक ही था। इन मठो के प्रधान और राजनीतिक सस्थाओं के प्रधान का चुनाव बहुमत द्वारा होना था।

राजकीय धर्म बन जाने पर मठो अथवा चर्चो का सम्मान बढ गया। राज्य मे प्रवेश करने के उपरान्त चर्च केवल धार्मिक परिधि तक ही सीमित न रहा बल्कि राजनीति के सभी मामलो में हस्तक्षेप करने लगा। इसका कारण यह था कि राज्य के उत्तराधिकारी निर्बल एव शक्तिहीन शासक थे

1 *Gibbon* · Decline and Fall of Roman Empire, Chapter 15.

जबकि इन मठो के नेता योग्य थे। राजनीतिक सत्ता की दुर्बलता का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि धार्मिक नेता सत्ता पर अधिकार की चेष्टा करने लगे। चर्च राज्य का एक विभाग बन गया और उसके प्रमुख सदस्य अर्थात् बिशपगण सरकार के माने हुए अधिकारी बन गए। चर्च के ये अधिकारी अधिकाधिक मात्रा मे राजनीतिक शक्ति को अपनाने लगे। सामन्त प्रणाली (Feudal-System) मे भूमिपति होने के नाते बिशप, एबट एवं न्याय पादरीगण राज्य के सेवक बन गए। चर्चों ने विशाल सम्पत्ति प्राप्त कर ली। पादरी लोग तत्कालीन राजनीति के तूफान मे इतने फँस गए कि साम्राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न उठ खड़े होने पर वे शाही चुनाव के षड्यन्त्रो और दावपेचो से भी अछूते नही रहे। अब राजसत्ता के साथ-साथ बल्कि उसमे भी बढकर ईसाई चर्च ही रोमन विचारो का प्रतिनिधित्व करने लगे। इस तरह ईसाई मत का स्वरूप धार्मिक आन्दोलन का नही रहा, बल्कि उसमे धार्मिक और राजनीतिक शक्तियों का समन्वय हो गया।

(3) रोम के पोप की सत्ता अथवा पोपशाही (Popacy) का विकास—ईसाईयत के राजधर्म बनने से रोम के पोप की सत्ता का तेजी से विकास होने लगा। पहले ईसाई चर्च का सगठन लोकतन्त्रात्मक था। उसमे ऐसी कोई केन्द्रीय शक्ति नही थी जो स्थानीय एवं प्रान्तीय शाखाओ पर नियन्त्रण रखती। रोमन साम्राज्य के सभी बड़े शहरों मे चर्च स्थापित थे जिनके बिशपो को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। नगर में चर्च के बिशप का प्रान्तीय बिशपों पर अवश्य कुछ नियन्त्रण था, किन्तु स्वय नगरीय बिशपो मे सभी दर्जा लगभग बराबर-सा था, अर्थात् कोई एक-दूसरे के अधीन न था।

ईसाईयत के राजधर्म बन जाने पर चर्च के स्वरूप मे बडा अन्तर आने लगा। अब रोम का बिशप सम्राट के धार्मिक सलाहकार के रूप मे कार्य करने लगा। साथ ही सम्राट के वैधानिक सलाहकार के रूप मे भी उसका सम्मान बढने लगा। वही ऐसा माध्यम बन गया, जहाँ से सभी प्रकार के धर्म एव चर्च-सम्बन्धी मामले सम्राट के पास सुनवाई के लिए जाते थे। लोगो के इस विश्वास से भी कि रोम के चर्च की स्थापना महात्मा ईसा के प्रमुख शिष्य सत पीटर द्वारा हुई थी, रोम के चर्च का आदर अन्य चर्चों से अधिक होने लगा और उसका बिशप ईसामसीह का साक्षात् उत्तराधिकारी समझा जाने लगा। चौथी शताब्दी मे एक कौंसिल बुलाई गई जिसने निश्चय किया कि बिशप सम्बन्धी विवादो मे न्याय की सुनवाई का सर्वोच्च अधिकारी रोम का बिशप होगा। 5 वी शताब्दी मे रोम के पोप की प्रभुता मे और भी वृद्धि हुई। पश्चिम के रोमन सम्राट् वेलेनटाइनियन अथवा वेलेन्शियन तृतीय (425–455 ई.) ने रोम के बिशप को चर्च का सर्वोच्च अधिकारी बना दिया और यह घोषणा की कि रोम का बिशप अन्य बिशपो के ऊपर है। अब रोम का बिशप साम्राज्य के सभी भागो से आने वाले धार्मिक विवादो की अपीलें सुनने वाले सर्वोच्च कानूनी न्यायालय के कर्त्तव्य समझाने लगे। इस प्रकार उसे एक बडी सीमा तक अन्य बिशपो पर प्रभुता प्राप्त हो गई। रोम ईसाई धर्म का केन्द्रीय स्थान बन गया। चर्च का सगठन पहले लोकतन्त्रात्मक था किन्तु अब केन्द्रीयकरण की दिशा मे तेजी से बढने लगा।

कालान्तर मे रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम से हटकर कुस्तुन्तुनियाँ (Constantinople) जा पहुँची। तदन्तर रोमन साम्राज्य दो भागो मे बँट गया। पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ बनी। पश्चिमी भाग का केन्द्रीय स्थान रोम बना रहा। ईसाईयत को राजधर्म बनाने वाले कॉन्सटेन्टाइन के शासन से 476 ई तक पश्चिम मे रोमन साम्राज्य के पतन तक के लगभग 150 वर्षों मे अनेक कारणो से रोम के बिशप की प्रभुता बढती रही। बर्बर जातियो के आक्रमणो का प्रतिरोध करने मे दुर्बल और अयोग्य रोमन सम्राटो की अपेक्षा इनोसैंट प्रथम (402–417) एव लिओ प्रथम (440–461 ई) जैसे पोपों ने विलक्षण योग्यता और सामर्थ्य का परिचय दिया। पोप लिओ प्रथम का हूणों पर अच्छा प्रभाव था। उसके कहने से ही 452 ई मे हूण नेता एटिला (Attila) ने रोम की शाश्वत नगरी (Eternal City) को अपने आक्रमणों से अछूता रखा और केवल इटली मे विनाश का ताण्डव मचा कर वापस हंगरी लौट गया। इससे सारे सभ्य जगत पर पोप का प्रभाव छा गया। इसके अतिरिक्त रोमन

चर्च ने संत एम्ब्रोज, जेरोम और ऑगस्टाइन जैसे योग्य और विलक्षण महापुरुषों को जन्म दिया। एम्ब्रोज ने अनेक बार सम्राट के आदेशों का सफल प्रतिरोध करके, जैरोम ने ईसाई भिक्षुओं के आदर्श नियमों को स्थापित करके और ऑगस्टाइन ने 'ईश्वर की नगरी' (City of God) में चर्च की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन करके पोपशाही को अधिक प्रभाव-सम्पन्न बनाया। 476 ई. में सम्राट ऑगस्टस (Augustus) के गद्दी से उतारे जाने के बाद रोम का पश्चिमी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और रोम के बिशप की प्रभुता में बहुत वृद्धि होने लगी। इस समय पश्चिम के बर्बर राज्यों में वही एकमात्र सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक रह गया। रोमन साम्राज्य की राजधानी से कुस्तुन्तुनिया से बहुत दूर होने के कारण रोमन बिशप नगर में सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी रह गया। फलस्वरूप उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता विकसित करने का स्वर्ण अवसर मिला। अन्ततः पूर्वी चर्च और पश्चिमी चर्च (जो क्रमशः यूनानी कैथोलिक चर्च के नाम से विख्यात हुए) एक-दूसरे से पृथक् हो गए जिससे रोमन बिशप पश्चिमी चर्च का सर्वेसर्वा हो गया। इस तरह पोपशाही का जन्म हुआ। 6ठी शताब्दी में इटली पर लम्बार्ड जाति के आक्रमण से इटली की रक्षा करने में सम्राट के असमर्थ होने पर पोप ग्रैगरी प्रथम (590–604 ई.) ने सम्राट की ओर से लम्बार्डों के साथ समझौता किया। इसी समय से पहले रोम का और बाद में इटली का राजनीतिक प्रभुत्व वस्तुतः पोपों के हाथ में आ गया। धार्मिक क्षेत्र में पोपशाही के एक स्वाधीन धार्मिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित होने में अधिकांशतः पूर्वी सम्राटों की असमर्थता ने बड़ी सहायता दी।

राजनीतिक रूप में पर्याप्त शक्तिशाली हो जाने पर भी पोप रावेन्ना (Ravenna) में स्थित सम्राट के सीमावर्ती प्रदेशों के शासक (Exarch) की नाममात्र की प्रभुता स्वीकार करते रहे। लेकिन 7 वीं सदी में रोम से उनका प्रभाव विलुप्त-सा हो गया क्योंकि उन्हें अपनी सारी शक्ति रोम पर हुए इस्लामी आक्रमण पर लगानी पड़ी। इसी समय रावेन्ना विजय के लिए लम्बार्ड जाति ने इटली पर पुनः आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। चूँकि रोमन सम्राट से पोप को सहायता मिलने की कोई आशा न थी अतः इटली की और अपनी रक्षा के लिए सन्त पीटर के नाम पर पोप ने शक्तिशाली फ्रैंक जाति के नेता चार्ल्स मार्टल से प्रार्थना की जिसने लम्बार्डों को भगाकर इटली का एवं रोम का शासन पोप को दे दिया। पोप ने इसके बदले में पेपिन (Pepin) को, जो चार्ल्स मार्टल का पुत्र था, फ्रैंक जाति का वैध राजा स्वीकार किया। बाद में पेपिन के पुत्र शार्लमेन (Charlmagen) अथवा चार्ल्स महान् (768-814 ई.) द्वारा अधिकांश पश्चिमी यूरोप को जीत लेने पर पोप तृतीय (795–816) ने उसे पुराने रोमन सम्राटों का उत्तराधिकारी मानने का निश्चय किया और 800 ई. में रोम के सैंट पीटर के गिर्जे में क्रिसमस के दिन उसके सिर पर सम्राट का मुकुट रख दिया। इस प्रकार अब उस रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का प्रारम्भ हुआ जिसके बारे में 18 वीं शताब्दी में वाल्टेयर ने यह लिखा था कि "वह न तो पवित्र है, न रोमन है और न साम्राज्य है।" पोप लिओ तृतीय द्वारा चार्ल्स महान् का अभिषेक किया जाना वास्तव में एक-दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने का नाटक था, क्योंकि चार्ल्स अपनी शक्ति से साम्राज्य जीत चुका था। लेकिन इस घटना से आगे चलकर यह सिद्धान्त विकसित हुआ कि पोप द्वारा शासन-सत्ता सम्राट को प्रदान की गई है, अतः पोप के आदर्शों का पालन करना सम्राट का कर्त्तव्य है। बाद में जब सम्राटों द्वारा सिद्धान्त को अस्वीकार किया जाने लगा तो पोपों और सम्राटों के मध्य तीव्र संघर्ष का उदय हुआ। इन भावी घटनाओं का उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि पोप पाश्चात्य संसार में सर्वोच्च धर्मगुरु बन गया। धार्मिक मामलों में राजा भी उसके अधीन हो गया। इटली में पोप का सुदृढ़ शासन स्थापित हो गया और शत्रुओं से रक्षा के लिए उसे सम्राट जैसा मित्र भी अस्थायी तौर पर मिल गया।

(4) पश्चिम के विकास को प्रभावित करना—ईसाई धर्म की विजय का अन्तिम उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि इसने अनेक शताब्दियों तक पश्चिम के विकास को प्रभावित किया। साम्राज्य का एकमात्र और कानूनी धर्म बन जाने पर विभिन्न धर्मों के सह-अस्तित्व के उदार दृष्टिकोण से ईसाई धर्म विमुख हो गया और इसने साम्राज्य के भीतर अन्य धर्मों को स्वीकारने से इन्कार कर दिया। अब मुख्यतः

इस आधार पर गैर-ईसाई धर्मों का नियमित एव क्रमबद्ध उत्पीडन आरम्भ हुआ कि ईसाई धर्म ही परमात्मा द्वारा स्थापित सच्चा धर्म है, अत राज्य का पावन कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक ऐसे धर्म को कुचल दे जो मनुष्य को परमात्मा के विमुख करने वाला है। इस सिद्धान्त की आड मे राज्य द्वारा गैर-ईसाईयो को कुचलने की प्रवृत्ति लगभग एक हजार वर्ष तक प्रबल रही। इस लम्बी अवधि में "मानव-बुद्धि कट्टरता की जजीरो मे जकडी रही और दर्शन-शास्त्र ईसाई चर्च के हाथ की कठपुतली बना रहा।" यही कारण है कि मध्य युग को अन्धकार-युग तक कह दिया जाता है, क्योंकि उस युग के मानसिक वातावरण मे ज्ञान की उन्मुक्त क्रीडा का प्रश्न ही नहीं था।

ईसाई धर्म का प्रारम्भिक राजनीतिक चिन्तन
(Early Political Ideas of Christianity)

सेवाइन ने लिखा है कि "पश्चिमी यूरोप के इतिहास मे राजनीति और राजनीतिक दर्शन दोनो की दृष्टियो से ईसाई चर्च का अभ्युदय सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।"[1] ईसाई मत के प्रारम्भिक राजनीतिक दर्शन की सुन्दर झलक हमे 'न्यू टेस्टामेंट' (New Testament) एव महात्मा ईसा के 12 शिष्यो (Apostles) की शिक्षाओ मे मिलती है। ईसाईयत आरम्भ मे कोई राजनीतिक सिद्धान्त या आन्दोलन न होकर केवल एक धार्मिक आन्दोलन था। दर्शन अथवा राजनीतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध मे ईसाईयो के विचार पैगनो (Pagons) से मिलते-जुलते थे। स्टोइको की भाँति ईसाई विचारक भी प्राकृतिक-विधि (Law of Nature), ससार के ईश्वरीय शासन, न्याय के सम्बन्ध मे विधि और शासन के दायित्व तथा ईश्वर की दृष्टि मे सभी मनुष्यो की समानता मे विश्वास रखते थे। इस प्रकार के विचार ईसाई धर्म के उदय के पूर्व ही व्यापक रूप से प्रचलित थे। 'न्यू टेस्टामेंट' के अनेक अवतरणो से ज्ञात होता है कि ये विचार ईसाई धर्म में एकदम से समाविष्ट कर लिए गए थे। प्राकृतिक विधि, मानव समानता और राज्य मे न्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध मे चर्च के संस्थापक सिसरो (Cicero) और सेनेका से सहमत थे। यह सही है कि पैगन लेखक उस अन्त प्रेरित विधि से अपरिचित थे, जो ईसाईयो के विचार से यहूदी या ईसाई धर्मग्रन्थो मे निहित है, लेकिन अन्तःप्रेरणा का विश्वास इस विश्वास से असगत नही था कि प्राकृतिक विधि ईश्वरीय विधि है। ईसाई धर्म के सस्थापको ने ईसाईयो के लिए यह भी आवश्यक ठहरा दिया था कि वे विहित सत्ता का आदेश शिरोधार्य करे।

ईसाईयत ने स्टोइक आदर्शो से समानता रखने वाले मानवीय समानता, विश्व-बन्धुत्व, सार्वभौम, प्राकृतिक नियम, राज्य के प्रादुर्भाव आदि के सम्बन्ध मे जो अपने सक्षिप्त राजनीतिक विचार रखे वे रोमन साम्राज्य के उच्च वर्ग मे पहले ही मान्य हो चुके थे और निम्न वर्ग में इनका प्रचार होने पर ये सर्वमान्य हो गए।

इस सक्षिप्त भूमिका के बाद यह देखना उपयुक्त होगा कि 'न्यू टेस्टामेंट' मे ईसाईयत के किस आरम्भिक चिन्तन के दर्शन होते हैं—

(1) **प्राकृतिक नियम का विचार**—ईसाई धर्म के नेताओ ने प्रकृति के नियम का विचार स्टोइक से लिया था। ईसाईयो ने राज्य द्वारा निर्मित नियम और प्राकृतिक नियम मे भेद स्थापित किया और बतलाया कि प्राकृतिक नियम मानव की निष्पक्ष बुद्धि के द्वारा प्रदर्शित होता है। यह निश्चित एव अपरिवर्तनशील है। प्राकृतिक नियम को ही ईश्वरीय नियम (Divine Law) समझा जाना चाहिए।

(2) **समानता और दासता सम्बन्धी विचार**—ईसाई धर्म ने मानव समानता और विश्व-भ्रातृत्व मे आस्था प्रकट की लेकिन दास-प्रथा के उन्मूलन का समर्थन नहीं किया। दासता की जडें तत्कालीन समाज मे इतनी गहरी घुसी हुई थी कि ईसाई धर्म के प्रारम्भिक समर्थक 'दासता' की संस्था के विरुद्ध प्रचार करने का साहस नही कर सके। ईसाई धर्म के ठेकेदारो ने यह घोषित करके ही

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 166

आत्म-सन्तोष कर लिया कि वास्तविक जीवन आन्तरिक था जबकि दास-प्रथा केवल भौतिक बन्धनो को प्रदर्शित करती थी। सन्त पीटर और सन्त पॉल जैसे नेताओ को भी यह विश्वास नही था कि समाज की रग-रग मे व्याप्त दास-प्रथा का उन्मूलन किया जा सकता है। अत. उन्होने इसे प्राकृतिक नियम के विरुद्ध घोषित नही किया वरन् केवल यही प्रचार किया कि दासो के साथ दया का व्यवहार किया जाए। सन्त पॉल ने कहा कि दास-प्रथा दो कारणो से उचित है—(1) इस प्रथा का उद्देश्य समाज मे बुराई का निरोध करना है। मनुष्य अपने पापो के कारण दास बनता है। कोई भी पापी समाज को हानि न पहुँचा सके, इसलिए उसे अपने स्वामी के अधीन रहना चाहिए। (ii) स्वतन्त्रता अथवा बन्धन मन एव आत्मा की आन्तरिक दशाएँ है। दासता केवल भौतिक बन्धन है। यदि आत्मा शुद्ध है तो यह बन्धन महत्त्वहीन है। इस बन्धन का यह मानकर स्वागत किया जाना चाहिए कि परमात्मा आत्मा की परीक्षा ले रहा है।

(3) राज्य का स्वरूप एव औचित्य—ईसाई मत के राज्य सम्बन्धी विचार ईसाई सन्तो द्वारा ो को लिखे गए पत्रो (Epistles to the Romans) में दिए गए हैं। इनके अनुसार राज्य की न-व्यवस्था ईश्वर द्वारा की गई है। सन्त पॉल द्वारा रोमनो को लिखे गए एक पत्र के अनुसार—

"प्रत्येक आत्मा को उच्चत्तर शक्तियो के अधीन होना चाहिए। ईश्वर के अतिरिक्त कोई ; नही है। जो शक्तियाँ है वे ईश्वर से ही निकलती हैं। जो कोई शक्ति का विरोध करता है वह र के आदेश का विरोध करता है। जो विरोध करता है उसे दण्ड मिलेगा। शासक अच्छे काम के लिए आतक नही है। वे सिर्फ बुरे कामो के लिए ही आतक है। क्या आप शक्ति से नही डरेंगे ? आप अच्छा कार्य कीजिए। इसके लिए आपकी प्रशंसा होगी। अच्छे काम के लिए वह ईश्वर का मन्त्री है लेकिन यदि आप बुरा काम करते है तो आप डरिए। उसके पास तलवार व्यर्थ के लिए नहीं है, वह ईश्वर का मन्त्री है। जो लोग खराब काम करते है, उन्हे वह दण्ड देता है इसलिए आपको उसके अधीन रहना चाहिए, केवल रोष के कारण नही, प्रत्युत् अन्तरात्मा के कारण। इस कारण आप उसे भेंट भी दीजिए। वे ईश्वर के मन्त्री हैं। वे हमेशा यही कार्य करते रहते है। उनका जो कुछ भी प्राप्य हो उन्हे दीजिए। जिन्हे भेंट चाहिए उन्हे भेंट दीजिए। जिन्हें शुल्क चाहिए उन्हे शुल्क दीजिए और जिन्हे डर चाहिए उन्हे डर दीजिए एव जिन्हें इज्जत चाहिए उन्हे इज्जत दीजिए।"[1]

इस तरह ईसाई धर्म के अनुसार राज्य का उद्देश्य न्याय करना है। न्याय का सिद्धान्त पवित्र होने के कारण जो भी सस्था न्याय को लागू करती है वह भी पवित्र है, अत राज्य के अधिकारियों की आज्ञा मानी जानी चाहिए। प्रारम्भिक ईसाईयो द्वारा राज्य की इस दैवी व्यवस्था का प्रतिपालन करना आवश्यक भी था, क्योकि यदि वे ऐसा न करते तो राज्य शुरू मे ही उन्हे कुचल देता। लेकिन साथ ही यह भी है कि राजकीय आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य को इससे अधिक बल और प्रभावशाली भाषा मे व्यक्त भी नही किया जा सकता। ईसाई धर्म की उपर्युक्त शिक्षा मे वस्तुत. एक क्रान्तिकारी परिणाम निहित है। इसमे यह बतलाया गया है कि मनुष्य का कर्त्तव्य दोहरा है—एक राज्य के प्रति दूसरा ईश्वर के प्रति। दोनो मे सघर्ष की स्थिति मे एक सच्चे ईसाई का धर्म ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाना है। राज्य-भक्ति पर सैद्धान्तिक रूप से बल देने के बावजूद इस शिक्षा मे एक ऐसे तत्त्व के दर्शन होते हैं जो राज्य की निरकुश सत्ता का विरोधी है। ईसाई धर्म का यह कथन है कि "लौकिक विषयो मे राजा की और पारलौकिक विषयो मे ईश्वर की आज्ञा का पालन करो"—यूनानी दार्शनिको के इस सिद्धान्त पर करारा प्रहार है कि "व्यक्ति जीवन के समस्त मूल्यो की प्राप्ति राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सकता है।"

(4) सम्पत्ति विषयक विचार—'न्यू टैस्टामेंट' मे ईसाई धर्म की सम्पत्ति की साम्यवादी विचारधारा मिलती है, परन्तु यह प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा से भिन्न है। इसमे केवल यह कहा

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 167

गया है कि सम्पत्ति का उपयोग उचित व्यवस्था के आधार पर होना चाहिए। इसमें मनुष्य को बाध्य करने या राज्य की शक्ति द्वारा सम्पत्ति पर राज्य द्वारा अधिकार करने की भावना नहीं है बल्कि यह बताया गया है कि धनियों के हृदय में समानता के भाव दान और उदारता की भावनाओं पर आधारित होने चाहिए। ईसा ने अपनी शिक्षाओं में धनियों की घोर निन्दा करते हुए कहा था कि "यह सम्भव है कि ऊँट सुई की नोक में से निकल जाय किन्तु यह असम्भव है कि धनिक स्वर्ग के द्वार में से निकलकर उसमें प्रविष्ट हो सके।" चूँकि महात्मा ईसा का सन्देश सर्वप्रथम निर्धनों में ही फैला था, अतः उनके शिष्यों ने प्रारम्भ में वैयक्तिक सम्पत्ति से रहित साम्यवादी समाज की कल्पना और सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की कामना की थी पर वे इसकी अव्यावहारिकता को समझते थे इसीलिए उनका कहना था कि धनी व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे निर्धनों को सम्पत्ति का दान करें। उन्होंने अपने सिद्धान्त को राज्य के माध्यम से लागू करवाने का प्रयत्न नहीं किया। ईसाईयों का यह प्रारम्भिक सिद्धान्त तब तक स्वरूप में बदल गया जब धीरे-धीरे पादरी तथा चर्च के पास विशाल सम्पत्ति एकत्रित होने लगी।

(5) दोहरी प्रकृति (Dualistic Nature) का विचार—जहाँ यूनानी और रोमन विचारकों ने धर्म एवं राजनीति में कोई भेद नहीं किया तथा राज्य के आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के कार्य बतलाए वहाँ ईसाई मत ने इनमें भेद माना। ईसाईयों ने धार्मिक कार्यों के लिए चर्च का राज्य से पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया। उन्होंने चर्च को राज्य से उत्कृष्टता प्रदान की और यह विश्वास प्रकट किया कि पाप की ओर प्रवृत्त मनुष्यों का उद्धार करने के लिए भगवान् पैगम्बरों को भेजता रहा है तथा ईसामसीह भी ऐसे ही एक पैगम्बर थे। अब उनके बाद यह कार्य उनके द्वारा स्थापित किए चर्च में हो रहा है।

(6) परिवार और पैतृक अधिकार को पुनर्जीवित करना—प्रारम्भिक ईसाईयों ने परिवार तथा पैतृक अधिकार को भी पुनर्जीवित किया क्योंकि इससे उस नवीन सामाजिक व्यवस्था को एक दृढ आधार मिलता था जो उस समय जन्म ले रही थी। रोमन साम्राज्य के समय सन्तान पर पिता का नियन्त्रण राज्य के दबाव के कारण नष्ट प्रायः हो गया था। साथ ही विवाह को एक कानूनी समझौता माना जाने लगा था जिसे दोनों पक्ष स्वेच्छा से कभी भी तोड सकते थे। प्रारम्भिक ईसाईयों ने मिटते हुए पैतृक अधिकार और दुर्बल होते हुए पारिवारिक बन्धन को सम्बल प्रदान किया। उन्होंने दोनों को पुनर्जीवित करने का सफल प्रयास किया। एक तरफ उन्होंने पिता के सन्तान पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के अधिकार को मान्यता दी और दूसरी तरफ विवाह को ऐसा संस्कार माना जिसे भंग नहीं किया जा सकता। स्थिति यह हो गई कि "परिवार के ऊपर परिवार के प्रधान का अधिकार राज्य के अधिकार का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। अब प्रत्येक ईसाई-पुरुष राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे रहा था क्योंकि उसका दृढ विश्वास था कि विवाह एक पवित्र संस्कार है और ईश्वर ने उसे परिवार का प्रधान बनाया है। इस पद पर अपने को ईश्वर द्वारा नियुक्त समझते हुए वह सरकारी अधिकारियों की ओर से कोई हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार न था। प्रारम्भिक ईसाईयों द्वारा परिवार इकाई को पुनर्जीवित करना राजनीतिक समाज की एक नवीन व्यवस्था के निर्माण की ओर उनका पहला महत्त्वपूर्ण कदम था।"[1]

ईसाई आचार्यों का राजनीतिक दर्शन
(Political Philosophy of the Fathers of the Church)

'न्यू टैस्टामेंट' के बाद ईसाईयत के राजनीतिक विचार हमें ईसाई धर्म के प्रमुख आचार्यों की शिक्षाओं और कृतियों में मिलते हैं। इन्हें ईसाई पिता (Church Fathers) कहा जाता है। रोमन कैथोलिक चर्च में पाँच व्यक्ति प्रधान रूप से ऐसे आचार्य (Fathers) माने जाते हैं—

1 *Doyle* A History of Political Thought, p 58.

1. सन्त एथनेशियस (लगभग 293–373 ई.),
2. सन्त अम्ब्रोज (लगभग 340–397 ई.),
3. सन्त जेरोम (लगभग 340–420 ई.),
4. सन्त ऑगस्टाइन (लगभग 354–430 ई) एवं
5. सन्त ग्रेगरी (लगभग 540–604 ई) ।

इन आचार्यो ने पहली शताब्दी से लेकर सातवी शताब्दी तक विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न राजनीतिक विचार प्रकट किए । ये विचार हमे ईसाई धर्म के प्रारम्भिक सिद्धान्तो मे परिवर्तन के दर्शन कराते हैं । अत: उचित होगा कि प्रमुखतम आचार्यों के विचारो पर पृथक् प्रकाश डालने से पूर्व पहले सक्षेप मे इन सभी चर्च पिताओ द्वारा व्यक्त प्रमुख विचारो को जान लिया जाए—

(1) राज्य—ये चर्च पिता सैद्धान्तिक रूप से सन्त पॉल के अनुसार ही विश्वास करते थे कि राज्य एक ईश्वरीय सस्था है तथा राजा को ईश्वर से शक्ति मिलती है पर राज्य को दैवी सस्था मानते हुए भी ये आचार्य सरकार को आदम (Adam) के उस आदिम पाप (Original sin) का परिणाम मानते थे जिसके कारण मनुष्य मे आसुरी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई और जिनके निरोध के लिए सरकार की स्थापना की गई । इस विचार के फलस्वरूप चर्च को राज्य मे अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति वढी और वाद मे पोप मे यह दावा करने लगा कि उसके कुछ अधिकार तो इतने पूर्ण हैं कि उनमे सम्राट हस्तक्षेप नही कर सकता । धीरे-धीरे स्थिति इतनी बदल गई कि दो पृथक् शासन-सत्ताओं का अस्तित्व माना जाने लगा—चर्च की सत्ता का और सम्राट की सत्ता का दोनों ही सत्ताएँ अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के प्रयत्न मे सघर्ष-रत हुईं । यह सघर्ष अथवा विवाद मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख विषय वना । मध्ययुग मे पोप का निरन्तर यही प्रयास रहा कि राज्य चर्च के अधीन वना रहे ।

(2) सम्पत्ति—चर्च के प्रारम्भिक दिनो मे सम्पत्ति के सम्बन्ध मे साम्यवादी विचार प्रचलित थे किन्तु शनै -शनै चर्च-पिता यह स्वीकार करने लगे कि जब तक सम्पत्ति का प्रयोग अपने ईसाई भाइयो के लाभ हेतु किया जाए तब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति अधिकार मे रखना वैध तथा न्यायोचित है । सन्त एम्ब्रोज ने कहा कि स्वार्थ एव लोभ के कारण मनुष्य वस्तुओं पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित कर लेते हैं । यदि सम्पत्ति का उपयोग मानव-समाज के कल्याण के लिए हो तो इस पर व्यक्तिगत स्वामित्व न्यायसगत है । सन्त ऑगस्टाइन का विचार था कि ईश्वर ने व्यक्ति पर विश्वास करके उसे सम्पत्ति का स्वामी बनाया है अत इसका प्रयोग वैध रीति से करना चाहिए ।

(3) दासता—दासता के सम्बन्ध मे ईसाई आचार्यो ने सिसरो (Cicero) तथा सन्त पॉल (St Paul) का मार्ग ग्रहण किया । उन्होने घोषित किया कि प्रकृति ने मनुष्य को स्वतन्त्र बनाया है और सभी मनुष्य प्रकृति मे समान हैं पर दास-प्रथा के सम्बन्ध में उनकी मान्यता अलग ही रही । दास-प्रथा के औचित्य को स्वीकार करते हुए उन्होने केवल यही उपदेश दिया कि स्वामियो का अपने दासो के प्रति व्यवहार बहुत क्षमापूर्ण और उदार होना चाहिए । उन्होने दास-प्रथा को पाप का दण्ड और इलाज वतलाया । सन्त अम्ब्रोज (St Ambrose), सन्त इसाडोर (St. Isadore) तथा ग्रेगरी (Gregory) ने यद्यपि दास-प्रथा का खण्डन किया, किन्तु वे इस प्रथा से मुक्त होने का कोई उचित साधन नही सुझा सके, अत उन्हे भी इस प्रथा को सहन करना पड़ा ।

वास्तव मे ईसाई मत का विकास मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन मे एक विस्फोट था जिसने चिन्तन की दशा मे एक धमाका ला दिया ।

सन्त अम्ब्रोज (St Ambrose, 340–397 A.D.)

मिलान का यह सन्त ईसाई विचारधारा के निर्माणकारी युग का व्यक्ति था । उसने चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ईसाई चर्च की बढती हुई आत्मचेतना एव शक्ति को अभिव्यक्त किया । उसने

ऐसे विचारों को व्यक्त किया जो ईसाई विश्वासों के आवश्यक अंश थे और जो चर्च एव धर्म के सम्बन्धो के विषय मे ईसाई विचारधारा के एक अभिन्न अङ्ग बन गए। सन्त अम्ब्रोज ने आध्यात्मिक मामलो मे चर्च की स्वतन्त्रता पर बल दिया। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि "आध्यात्मिक मामलो मे चर्च का सभी ईसाईयो के ऊपर, सम्राट के ऊपर, भी अधिकार है। अन्य किसी की भाँति सम्राट भी चर्च का ही पुत्र है। यह चर्च के अन्दर है, चर्च के ऊपर नही।"[1]

चर्च की स्वतन्त्रता और नैतिक बल की प्रभुता को प्रतिपादित करने के किसी अवसर को सम्भवत सन्त अम्ब्रोज ने हाथ से नही जाने दिया। जब सम्राट वैलेंटिनियन (Emperor Valentinian) ने किसी व्यक्ति पर मामले का विचार अम्ब्रोज के न्यायालय से हटा कर सम्राट के न्यायालय मे भेजने की आज्ञा दी तो अम्ब्रोज ने इसका तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा, "धर्म के विषय मे विशपो के लिए यह स्वाभाविक है कि सम्राटो का निर्णय किया करें, न कि सम्राट विशपो का।" उसने एक अन्य अवसर पर सम्राट को लिखा था कि, "कुछ मामलो मे सम्राट को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। सम्राट कर ले सकता है, चर्च की भूमि ले सकता है, किन्तु वह भगवान् का मन्दिर या गिर्जा नही ले सकता। महलो पर सम्राट का स्वामित्व है, चर्च पर विशपो का। जो वस्तु भगवान् की है, वह सम्राट की शक्ति के अधीन नही हो सकती।"[2]

सन्त अम्ब्रोज ने यह कभी नही कहा कि नागरिकता का आदेश नही मानना चाहिए पर उसने यह अवश्य कहा कि धर्माचार्यों का यह अधिकार और कर्त्तव्य है कि वे आचारो के सम्बन्ध मे लौकिक शासको का नियमन करते रहें। उसने इस व्यवस्था की न केवल शिक्षा दी बल्कि इसका पालन भी किया। एक अवसर पर उसने सम्राट थियोडोसियस (Emperor Theodsius) की उपस्थिति मे यूकारिष्ट (Eucharist) का समारोह करने से इसलिए इन्कार कर दिया कि सम्राट ने थेसालोनिका (Thessalonica) मे हत्याकाण्ड करवाया था। अम्ब्रोज ने सम्राट को एक पत्र लिख कर उसके अमानुषिक कार्य के लिए कडी निन्दा करते हुए उसे प्रायश्चित करने की प्रेरणा दी। सम्राट ने अम्ब्रोज परामर्श को स्वीकार करते हुए अपनी राजकीय पोशाक उतारी और मिलान के गिर्जे मे सार्वजनिक रूप से प्रायश्चित किया।[2] वास्तव मे यह नैतिक बल की विजय थी और इस कथन का सर्वोत्तम क्रियात्मक प्रदर्शन था कि कुछ विषयो मे राज्य को चर्च के सम्मुख नतमस्तक होना चाहिए।

सन्त अम्ब्रोज ने यह कभी नही माना कि सम्राट के आदेशो का बलपूर्वक विरोध किया जाए। वह तर्क करने और आग्रह करने के लिए तैयार था लेकिन उसने जनता को विद्रोह करने के लिए कभी प्रेरित नही किया। उसने चर्च के अधिकार की रक्षा के लिए भी आध्यात्मिक साधनो का समर्थन किया, प्रतिरोध का नही। रसैल ने अम्ब्रोज का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "वह सन्त जेरोम की अपेक्षा घटिया दर्जे का विद्वान् और सन्त ऑगस्टाइन की अपेक्षा घटिया दर्जे का दार्शनिक था। किन्तु चर्च की शक्ति को चतुराई और साहस के साथ सुदृढ करने वाले राजनीतिक के रूप में वह प्रथम श्रेणी का व्यक्ति था।"[3] डनिग के अनुसार उसने यद्यपि धार्मिक विषयो मे चर्च के प्रभुत्व का प्रभावशाली समर्थन किया लेकिन अभी तक उसका क्षेत्र बडा सीमित था। अभी राज्य को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।[4]

सन्त ऑगस्टाइन (St Augustine, 354--430 A.D)

इसी समीक्ष्य युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईसाई विचारक अम्ब्रोज का महान् शिष्य सन्त

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 175
2 *Bertrand Russell*. History of Western Philosophy, p 360
3 *Bertrand Russell*, History of Western Philosophy, p 360.
4 *Dunning* · A History of Political Theories, Part I, p 156.

ऑगस्टाइन था। उसका जन्म 354 ई० मे अफ्रीका मे टेगस्टे (Tagaste) नामक नगर म हुआ था। उसके पिता का नाम पैट्रीसियस (Patritius) तथा माता का नाम (Monica) था। जीवन के प्रारम्भिक बारह वर्षो तक उसने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद सर्वप्रथम उसे मदौरा (Madaura) नामक एक ग्रामर स्कूल मे पढ़ने के लिए भेजा गया। लगभग पाँच वर्ष अध्ययन करने के उपरान्त अलकार शास्त्र (Rhetoric) की शिक्षा प्राप्त करने हेतु वह कार्थेज (Carthage), गया जहाँ पर वह मैनिकियन (Manichaeon) सम्प्रदाय का सदस्य बन गया और लगभग नौ वर्ष तक इसी के चक्कर मे फँसा रहा। जब उसे कोई तथ्य नही दिखाई दिया तो वह इसकी सदस्यता त्याग कर रोम चला गया जहाँ काफी कठिनाइयो के बाद मिलना मे वह अलकारशास्त्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। यही उसकी भेंट सन्त अम्ब्रोज से हुई जिसकी शिक्षाओ के फलस्वरूप उसने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् सन्त ऑगस्टाइन ने अनेक ग्रन्थो की रचना की जिनमे उसने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक विचार प्रकट किए। 400 ई० मे उसने सुप्रसिद्ध 'आत्मकथा' (Confessions) का प्रणयन किया और 412–427 ई तक 'ईश्वर का नगर' (The City of God) नामक अमर ग्रन्थ की रचना की। मध्यकाल के इस महान् राजनीतिक विचारक की सन् 430 ई मे मृत्यु हो गई।

सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन—सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन मुख्यत उसके ग्रन्थ 'De Civitate Dei' निहित है जिसका अंग्रेजी अनूदित नाम 'द सिटी ऑफ गॉड' (The City of God) है। ऑगस्टाइन के विचारो के प्रतिष्ठापन के मुख्यत. तीन ध्येय थे प्रथम, यह स्पष्ट करना कि रोमन साम्राज्य का पतन ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नही हुआ था; द्वितीय, ईसाई सघ को शक्तिशाली बनाना और उसका राज्य स्थापित करना तथा तृतीय ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपो का खण्डन करना और उसकी विपक्षियो से रक्षा करना। उसने अपने ग्रन्थ 'दी सिटी ऑफ गॉड' की मुख्यत इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए की और प्रसंगवश अपने सभी दार्शनिक विचारो का विकास किया। यह ग्रन्थ 22 खण्डो मे विभाजित है जिनमे सन्त के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी प्रकार के विचार निहित हैं। ग्रन्थ की प्रथम 10 पुस्तको मे ईसाई धर्म की पैगनो की आलोचना के विरुद्ध रक्षा की गई है और शेष 12 पुस्तकों मे ईश्वर की नगरी के स्वरूप की व्याख्या मिलती है। इस पुस्तक मे ऑगस्टाइन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि ईसाईयत रोम को नष्ट किए जाने से नही बचा सकी तो कम से कम लोगो के कष्टो को कम करने मे उसने अवश्य ही सहायता दी और युद्ध के भयानक कृत्यो को कम करने का प्रयत्न किया। ऑगस्टाइन ने यह भी कहा कि रोम पर आक्रमण ईश्वर की मर्जी से हुआ था, ताकि ईश्वर की नगरी की बुनियाद रखी जा सके। अग्रिम पंक्तियो में सर्वप्रथम ऑगस्टाइन के इस ईश्वरीय नगर की ही चर्चा की गई है।

दो नगरो का सिद्धान्त (साँसारिक नगर तथा ईश्वरीय नगर)—ऑगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ मे दो प्रकार के नगरो का विवरण दिया है—1. साँसारिक नगर, एव 2 आध्यात्मिक या ईश्वरीय नगर। उसके अनुसार, "मानव प्रकृति के दो रूप है—आत्मा और शरीर। इसलिए मनुष्य इस संसार का नागरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मानव-जीवन का आधारभूत तत्त्व मानव हितो का विभाजन है। मनुष्य के लौकिक हित उसके शरीर से सम्बन्ध रखते है। मनुष्य के पारलौकिक हित उसकी आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं।"[1] इस तरह ऑगस्टाइन ने यह बताया कि मानव प्रवृत्ति द्विमुखी अर्थात् सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों मानव के हित और स्वार्थ सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनो तरह के होते है अर्थात् उसमे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियो का समावेश होता है। इसी कारण मनुष्य सांसारिक तथा ईश्वरीय दोनो नगरों का नागरिक होता है। साँसारिक नगर का नागरिक व्यक्ति जन्म के कारण होता है। साँसारिक नगर का सम्बन्ध शरीर से होता है और ईश्वरीय

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 175.

नगर का आत्मा से। सांसारिक नगर मनुष्य की वासनाओं पर आधारित है और उसमे शैतान का शासन होता है। इसके विपरीत ईश्वरीय नगर मे क्राइस्ट का शासन होता है। यह नगर उस समाज की अभिव्यक्ति करता है जिसका वर्णन बाइबिल मे मिलता है। इस नगर की सत्ता सर्वोत्कृष्ट है।

सन्त ऑगस्टाइन के उपरोक्त विचारो पर श्री जी एच सेबाइन ने बड़ा ही तार्किक विश्लेषण प्रकट किया है जिसे उन्ही के शब्दो मे उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

"सन्त ऑगस्टाइन ने इस (उपरोक्त) भेद को मानव इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने की कुन्जी मान लिया है। मानव समाज सदैव ही दो समाजो के संघर्ष द्वारा नियन्त्रित होता है। एक ओर ससार का नगर है। यह मनुष्य की अधोमुखी प्रकृति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि के ऊपर आधारित है। दूसरी ओर ईश्वर का नगर है। वह स्वर्गीय शान्ति और आध्यात्मिक मुक्ति की आशा के ऊपर आधारित है। पहला शैतान का राज्य है। इसका इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब से शैतान ने देवदूतो की अवज्ञा प्रारम्भ कर दी। उसके मूल तत्व असीरिया और रोम के पैगन साम्राज्यो मे विशेष रूप मे पाए जाते हैं। दूसरा साम्राज्य ईसा का है। वह पहले राष्ट्र मे और फिर बाद मे चर्च मे तथा ईसाई धर्म को अंगीकृत करने वाले साम्राज्य मे निहित रहा है। इतिहास इन दो समाजो के संघर्ष की नाटकीय कथा है। अन्त मे विजय ईश्वरीय नगर की ही होगी। शान्ति केवल ईश्वरीय नगर मे ही सम्भव है। केवल आध्यात्मिक राज्य ही स्थाई है। रोम के पतन के सम्बन्ध मे ऑगस्टाइन की यह व्याख्या है: सभी सांसारिक राज्यो का नाश होना जरूरी है। सांसारिक शक्ति नश्वर और क्षणभगुर है। यह मानव प्रकृति के उन पक्षो पर आधारित है जिनके कारण निश्चित रूप से लडाई तथा साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा उत्पन्न होती है।

तथापि इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय और विशेष रूप से इसे ऐतिहासिक तथ्यो के ऊपर लागू करते समय एक सावधानी की आवश्यकता है। ऑगस्टाइन का यह मन्तव्य नही था कि सांसारिक नगर को अथवा ईश्वरीय नगर को वर्तमान मानव संस्थाओं के साथ ठीक ढग से समीकृत किया जा सकता था। धार्मिक राजनीतिज्ञ जो नास्तिकता के दमन के लिए साम्राज्य की शक्ति का सहारा लेता था, शासन को शैतान के राज्य का प्रतिनिधि नही बना सकता था। समस्त ईसाईयो की भांति ऑगस्टाइन का भी यह विश्वास था कि 'समस्त शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई है।' उसका यह भी विश्वास था कि शासन मे बल का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप का ईश्वर की ओर से निर्धारित उपचार है। इसी कारण ऑगस्टाइन ने दोनो नगरो को देखने मे अलग-अलग नहीं माना। सांसारिक नगर शैतान का और सभी दुष्ट मनुष्यो का राज्य है। स्वर्गीय नगर इस लोक मे और परलोक मे मुक्त आत्माओ का सगम है। सांसारिक जीवन मे ये दोनो समाज एक-दूसरे से मिले हुए है। वे केवल अन्तिम निर्णय के अवसर पर ही अलग होगे।"[1]

उपरोक्त सन्दर्भ मे सन्त ऑगस्टाइन के ईश्वरीय राज्य अथवा नगर और चर्च का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ अधिक स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है। ऑगस्टाइन चर्च को ईश्वरीय राज्य का प्रतिनिधि समझता था, 'ईश्वरीय राज्य' नही। 'ईश्वरीय राज्य या नगर' में देवगण और वे स्वर्गीय आत्माएँ भी सम्मिलित हैं जो इस पृथ्वी को छोड चुकी हैं अतः इस दृष्टि से चर्च की अपेक्षा 'ईश्वरीय नगर' की सदस्यता अधिक व्यापक है। यद्यपि ये दोनो एक रूप नही हैं, फिर भी इनमे घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि 'ईश्वरीय राज्य या नगर' का सदस्य सामान्यतः चर्च की शिक्षाओ का पालन करके ही बना जा सकता है। पुनः 'ईश्वरीय राज्य' एक अमूर्त कल्पना है, वह कोई ऐतिहासिक तथ्य नही है, ईसाई चर्च को उसका साकार रूप समझा जा सकता है। चर्च और ईश्वरीय राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को फोस्टर ने इस भांति प्रकट किया है—"चर्च 'ईश्वरीय नगर' का वह भाग है जिसमे वे सब सदस्य सम्मिलित

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 175-76.

है, जो अभी अपनी विश्व-यात्रा ही कर रहे है और जिसमे वे सब, (या लगभग सब), जो ईश्वरीय राज्य के सदस्य हैं, गुजर चुके हैं।"[1]

आँगस्टाइन का 'ईश्वरीय राज्य' शाश्वत है। यह कभी भी नष्ट नही होता। इसके विपरीत सांसारिक राज्य अवश्य ही नश्वर है।

ईश्वरीय नगर की विशेषताएँ (न्याय एवं शान्ति)—सन्त आँगस्टाइन के 'ईश्वरीय नगर' की उपरोक्त व्याख्या से प्रकट है कि इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—(क) धर्म या न्याय (Justice), एव (ख) शान्ति (Peace)।

आँगस्टाइन के मत मे धर्म एक ऐसा प्रतिफल है जो व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य-पालन के उपरान्त मिलता है। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यो का पालन भली प्रकार करता है वही धर्मवान कहलाता है। आँगस्टाइन धर्म अथवा न्याय को व्यवस्था (Order) का पर्यायवाची मानता है। उसके अनुसार धर्म या न्याय एक व्यवस्थित एव अनुशासित जीवन का निर्वाह करने में निहित है। आँगस्टाइन का यह धर्म सिद्धान्त किसी काल या स्थान विशेष की सीमाओ से बँधा हुआ नही है। वह धर्म का क्षेत्र परिवार, समाज एव राज्य तक व्यापक बताता है।

आँगस्टाइन ने अपने सार्वभौमिक समाज को शान्ति के साम्राज्य का प्रतीक माना है। नगर मे शान्ति का साम्राज्य होता है। उसने शान्ति के दो रूप माने है—सांसारिक शान्ति और आध्यात्मिक शान्ति। सांसारिक शान्ति से तात्पर्य नियमित ढग से जीवन का व्यवस्थापन है, अर्थात् सांसारिक व्यवहार मे सामञ्जस्य का होना है, परन्तु आध्यात्मिक शान्ति का लक्ष्य ईश्वर एव ईश्वर मे समाये हुए मनुष्यो के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना होता है। आँगस्टाइन की मान्यता है कि आध्यात्मिक शान्ति सांसारिक शान्ति से अवश्य ही उच्च है। सांसारिक शान्ति का क्षेत्र सकुचित है जबकि आध्यात्मिक शान्ति का क्षेत्र विश्व-व्यापक है। सांसारिक शान्ति की प्राप्ति हेतु व्यक्ति को अपने विचार-स्वातन्त्र्य पर ताला लगाना पड़ता है जबकि आध्यात्मिक शान्ति से वह स्वत ही क्रियाशील रहता है। सांसारिक वस्तुओ द्वारा शान्ति-प्राप्ति का अनवरत प्रयत्न चलता रहता है। इससे केवल सांसारिक शान्ति ही प्राप्त नही होती बल्कि आध्यात्मिक शान्ति का सुख भी प्राप्त होता है और शरीर की शुद्धि के बाद ही आत्मिक शुद्धि की प्राप्ति हो सकती है। यह आत्मिक शुद्धि मानव को दिव्यता की ओर अग्रसर करती है। आँगस्टाइन की शान्ति सम्पूर्ण विश्व की एक ईश्वरीय व्यवस्था है क्योकि सभी मनुष्य ईश्वर के अधीन हैं।

राज्य तथा सरकार के विषय में आँगस्टाइन के विचार—सन्त आँगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई विचार को स्वीकार करता है कि राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के पास के उपचार के रूप में स्थापित किया है अत: उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियो के विरोध के लिए ही भगवान् द्वारा इसका निर्माण किया गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु दैवीय उत्पत्ति वाला न होने पर भी यह शैतान का राज्य है और इसकी सृष्टि का रहस्य यही है कि इसमे रहते हुए नागरिक कर्त्तव्य-पालन द्वारा अपने-आप की पाप-कालिमा से रक्षा कर सके। इस तरह आँगस्टाइन के अनुसार राज्य मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने का एक प्रमुख साधन है। आँगस्टाइन दैवीय उत्पत्ति के कारण राज्य की आज्ञाओ को मानने का समर्थन करते हुए यह मत भी प्रकट करता है कि यदि वे आज्ञाएँ धर्म-विरुद्ध हो तो उनका पालन नहीं होना चाहिए।

यूनानी दार्शनिको और सिसरो आदि के इस विचार से आँगस्टाइन ने असहमति प्रकट की है कि 'राज्य का आधार न्याय है।' सांसारिक राज्य पर शैतान का स्वामित्व होने से उसमें न्याय नही रह सकता। सांसारिक राज्य अन्याय पर प्रतिष्ठित है, अन्य राज्यो के अधिकारो का अपहरण करने वाला है और ईश्वरीय अधिकारो का उल्लघन करता है। आँगस्टाइन के अनुसार राज्य गैर-ईसाई भी

1 *Foster* · Masters of Political Thought, Vol. 1, p 203

विषय पर रोमन कैथोलिक ही नही, प्रत्युत् प्रोटेस्टेंट भी सन्त ऑगस्टाइन के विचारों से प्रभावित रहे हैं।"

सत ऑगस्टाइन ने शार्लमेन तथा आटो महान् (Charlemagne and Otto the Great) के विचारो को आधार प्रदान किया जिसके ऊपर पवित्र रोमन साम्राज्य का भवन बना। उसने सार्वभौमिक सत्ता को मानकर सकीर्ण राज्य सत्ता सम्बन्धी सीमा को लाँघा। आज का सार्वभौमिक समाज उसके विचारो से विशेष रूप से प्रेरित है। ऑगस्टाइन ने अध्यक्ष रूप से चर्च की श्रेष्ठताओ का स्पर्श किया और साथ ही राज्य एव चर्च मे पारस्परिक सहयोग पर बल दिया। वास्तव में रचनात्मक धर्म के इस महान् प्रणेता ने नवीन युग का प्रवर्तन किया। मध्य युग की अनेक परिभाषाएँ दी गई है। किन्तु दरअसल उसकी सर्वोत्तम परिभाषा यही है कि "यह ऑगस्टाइन के विचारो के साथ प्रारम्भ होता है और इनकी समाप्ति के साथ ही इसका अन्त हो जाता है।"[1] ऑगस्टाइन की रचनाएँ और उसके विभिन्न विचार विद्वानो के लिए प्रेरणा के स्रोत बने रहे। विख्यात पोप ग्रेगरी सप्तम (1073–1085 ई.), इन्नोसेंट तृतीय (1161–1216) तथा बेनीसेफ अष्टम् (1294–1303) ने उसके विचारों का अनुसरण किया। टॉमस एक्वीनास (1225–1274 ई), दान्ते (1265–1321 ई.), विक्लिफ (1327–1384 ई.), एवं ग्रेशियस आदि प्रसिद्ध विचारक बड़ी सीमा तक ऑगस्टाइन के ऋणी है। इगीडियस, कोलोना, मार्टिन लूथर एव अन्य विद्वान् भी किसी न किसी रूप मे ऑगस्टाइन के विचारो से प्रभावित हुए थे। 19 वी शताब्दी मे भी ग्लेडस्टोन (Gladstone) ने कहा था कि राज्य की भी आत्मा होती है जो झूठ और सच मे अन्तर बताती है। ऑगस्टाइन के प्रभाव को दर्शाते हुए गेटल (Gettell) ने लिखा है–"ऑगस्टाइन के कार्य का महत्त्व यह था कि उसने चर्च को उसके इतिहास के एक घोर सकट मे एक सुनिश्चित और व्यवस्थित विचारधारा प्रदान की, उसके अस्तित्व को स्पष्टता और औचित्य दिया और उसके उद्देश्य को आत्म-चेतना-मूलक बनाया। जब चर्च ने अपने प्रशासकीय ढाँचे को विकसित करके सांसारिक कार्यो की ओर अधिक ध्यान दिया तो उसके शक्ति के उस शिखर पर पहुँचना निश्चित हो गया जिसका प्रतिनिधित्व आगे चलकर पोप ने किया।"[2]

ग्रेगरी महान्

(Gregory the Great, 540–604 A D)

ग्रेगरी महान् चर्च-पिताओ की कोटि मे अन्तिम था। सत अम्ब्रोज और सत ऑगस्टाइन ने चर्च की स्वायत्त-स्वाधीनता पर जोर दिया था, पोप ग्रेगरी महान् ने भी उस परम्परा को कायम रखा। रोम के बिशप पद की शक्ति और सम्मान को अत्यन्त ऊँचा उठाने का श्रेय पश्चिमी रोमन चर्च के इसी दिग्गज धर्माचार्य को है। रोम के अत्यन्त सम्भ्रान्त और सम्पन्न कुल मे जन्म लेने तथा कानून मे सुशिक्षित होने के कारण आरम्भ मे उसे रोम का प्रधान शासक (Prefect) बनने का सौभाग्य मिला। लेकिन अपने पिता की मृत्यु के बाद वह ईसाई साधु हो गया और उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति और भूमि 7 मठो (Monasteries) को स्थापित करने हेतु दे दी। 590 ई. मे वह पोप चुना गया। उस समय इटली एव पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इटली मे लम्बार्ड लोग उत्पात मचा रहे थे और सम्राटो की दुर्बलता तथा मूरो के हमलो के कारण अफ्रीका अराजकता स्थल बना हुआ था। सेक्सन आक्रमणो के कारण इग्लैण्ड का बुरा हाल था। वहाँ ईसाईयत मिटती-सी जा रही थी। बिशप नैतिक पतन के शिकार हो गए थे। फ्रांस भी उत्तरी एव दक्षिणी राजाओ का क्रीडास्थल बना हुआ था।

ऐसी विकट घड़ियो मे ग्रेगरी 13½ वर्ष तक रोम का कर्णधार बना रहा। सन्त ग्रेगरी ने लम्बार्डो के खिलाफ इटली की रक्षा करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप एव उत्तरी

1 *Murray* The History of Political Science from Plato to the Present
2 *Gettell* History of Political Thought, p 103.

अफ्रीका मे न्याय तथा सुशासन के समर्थक के रूप मे उसकी ख्याति बहुत अधिक फैली। उसके प्रभाव के फलस्वरूप रोमन चर्च की प्रतिष्ठा बढ गई।

लौकिक शासको की दुर्बलता ने ग्रेगरी महान् को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह राजनीतिक शासको के कर्त्तव्यो को धारण करे। उसने मध्य इटली का शासन वास्तविक रूप से अपने हाथ मे ले लिया तथा अपने पत्रो द्वारा इटली के पादरियों को धैर्य के साथ अनेक लोक-कल्याणकार कार्यों को करने का प्रभावकारी परामर्श दिया। इटली मे सम्राट राज्यपाल (Exarch) की प्रेरणा से रावेन्ना के आर्क बिशप ने पहले ग्रेगरी के आदर्शों को नही माना लेकिन कुछ समय बाद उसे यह लिखना पड़ा—"मैं उस पवित्रतम पोप का विरोध कैसे कर सकता हूँ जो सार्वभौम चर्च को अपनी आज्ञाएँ देता है।" वास्तव मे ग्रेगरी ने पोप की प्रभुता और सत्ता का क्षेत्र बडा ही विशाल और सर्वमान्य बना दिया। ग्रेगरी के हाथ मे एक बहुत बडी लौकिक एव धार्मिक शक्ति थी तथापि उसने राज्य को चर्च के अधीन नही किया बल्कि राजाज्ञा-पालन के कर्त्तव्य का समर्थन किया। सेबाइन का कहना है कि "धर्माचार्यों मे एकमात्र ग्रेगरी ही ऐसा विचारक है जो राजनैतिक शक्ति के आदेशो का सविनय भाव से पालन करने पर जोर देता है। ग्रेगरी का यह विचार मालूम पडता है कि दुष्ट शासक की आज्ञा का भी मूक होकर सविनय भाव से पालन करना चाहिए। इस बात को तो अन्य ईसाई लेखक भी स्वीकार कर लेते कि दुष्ट शासक की आज्ञा का पालन होना चाहिए लेकिन वह आज्ञापालन चुपचाप निष्क्रिय भाव से हो, इसको कोई स्वीकार नही करता। ग्रेगरी ने अपने 'Pastoral Rule' नामक ग्रन्थ मे इस बात पर विचार किया है कि बिशप अपने अनुयायियो को किस प्रकार की शिक्षा दे? इस पुस्तक मे इसने यह भी जोर देकर कहा है कि प्रजाजनो को न केवल अपने शासको की आज्ञाओ का पालन ही करना चाहिए प्रत्युत् उन्हे अपने शासको के जीवन की न तो आलोचना करनी चाहिए न उसके सम्बन्ध मे कोई निर्णय ही देना चाहिए।"[1]

"यदि शासको के कार्य दोषपूर्ण हो तब भी उन्हे मुँह की तलवार से काटना नही चाहिए। यदि कभी गलती से जबान उनकी आलोचना करने लगे तो हृदय को पश्चाताप की भावना से नत हो जाना चाहिए ताकि जबान भी अपनी गलती मान ले। यदि जबान अपने ऊपर की शक्ति की आलोचना करती है तो उसे उस ईश्वर के निर्णय से भय खाना चाहिए जिसने उस शक्ति को स्थापित किया है।"[2]

ग्रेगरी के द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विचार आज की परिस्थितियो में बडा ही अस्वाभाविक लगता है। किन्तु शासन की यह पवित्रता का सिद्धान्त तत्कालीन युग की उन घड़ियो मे अस्वाभाविक नहीं था जब सम्राटो द्वारा चर्च के नियन्त्रण की अपेक्षा अराजकता एक अधिक बड़े खतरे के रूप मे मुँह बाए खडी थी। फिर भी ग्रेगरी प्रत्येक परिस्थिति मे कोरा मूक दार्शनिक बनना स्वीकार नही करता। वह उन कार्यों का विरोध करता है जिन्हे वह अधार्मिक समझता है लेकिन वह आज्ञा का पालन करने से मुँह नही मोडता। "उसका विचार यह प्रतीत होता है कि सम्राट का अवैध कार्य करने का भी अधिकार है बशर्ते कि वह निन्दा करने के लिए तैयार हो। 'शासक की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। सम्राट से बडा केवल ईश्वर है और कोई नही। शासक के कार्य अन्तिम रूप मे ईश्वर तथा उसकी अन्तरात्मा के बीच मे है।'[3]

दो तलवारों का सिद्धान्त
(The Theory of Two Swords)

यूनानी और रोमन विचारको ने व्यक्ति के जीवन की एकता पर बल देते हुए भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को एक-दूसरे से पृथक् नही किया था और न ही यह कहा था कि दोनो प्रकार के

1-3 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 178

2 *Carlyle* A History of Medieval Political Theory in the West, Vol I, p 152.

जीवन की पूर्णता के लिए दो अलग-अलग ढंग के सामाजिक सगठन होने चाहिए। उनका विचार था कि राज्य प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण और पर्याप्त सस्था है जिसके द्वारा मनुष्य का भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार का जीवन पूर्ण हो सकता है। ईसाई चर्च की स्थापना से राजनीतिक विचारो के क्षेत्र मे एक नई क्रान्ति हो गई। चर्च के सस्थापको के युग मे ईसाई विचारकों ने एक दोहरे सगठन की आवश्यकता प्रकट की। यह दोहरा सगठन दो प्रकार के मूल्यो की रक्षा के लिए आवश्यक था—लौकिक मूल्यो या हितो के लिए। उन्होने कहा कि आध्यात्मिक हित और शाश्वत् मुक्ति चर्च के विषय हैं और वे धर्माचार्यों की शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। सांसारिक हित अथवा लौकिक हित तथा शान्ति, व्यवस्था और रक्षा नागरिक शासन के विषय है और शासको द्वारा उन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास किया जाता हैं। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा कि मनुष्य की दोहरी प्रकृति है और उसका दोहरा जीवन-लक्ष्य है। अपने शारीरिक एव भौतिक हितो तथा सांसारिक शान्ति एव समृद्धि का उपभोग करने के लिए मनुष्य को राज्य का शासन स्वीकार करना चाहिए, अपनी आत्मिक उन्नति एव मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसे चर्च के अनुशासन मे रहना चाहिए।

स्पष्ट है कि ईसाई विचारको ने बतलाया कि मनुष्य दो विभिन्न शक्तियो के अधीन है, दो तलवारो के अधीन है क्योकि तलवार शासन-शक्ति की प्रतीक है। इन प्रारम्भिक चर्च पिताओं ने कहा कि परमात्मा ने, जो समस्त शक्तियो का स्रोत है एक तलवार सम्राट को दी है और दूसरी पोप को। इससे प्रभु ईसा ने यह प्रदर्शित किया है कि ससार मे दो प्रकार की सत्ताएँ या शक्तियां है—राज्य और चर्च। इन दोनों सत्ताओ के मध्य पारस्परिक सहायता का भाव रहना चाहिए किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि यदि चर्च मे भ्रष्टाचार आ जाए तो राज-सत्ता हस्तक्षेप न करे और यदि अराजकता उत्पन्न हो तो चर्च हस्तक्षेप न करे। वैसे सामान्यत: दोनो क्षेत्राधिकारो को अलग-अलग रहना चाहिए और उन्हे एक-दूसरे की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। ईसा की इस उक्ति से कि 'लौकिक-विषयो मे राजा का एव आत्मिक विषयो मे ईश्वर के आदेश का पालन करो' यह स्पष्ट है कि राज्य और चर्च मे किसी प्रकार के संघर्ष की आशका नही की जानी चाहिए और यह विश्वास किया जाना चाहिए कि दोनो मे पूर्ण शान्ति और सहयोग रहे।

दो तलवारो अथवा सत्ताओ के उपर्युक्त सिद्धान्त को सन्त ऑगस्टाइन के बाद पाँचवी शताब्दी के अन्त मे पोप गिलेशियस प्रथम (Pope Gelasius I, 492-496) ने अत्यन्त प्रभावशाली और कानूनी भाषा मे प्रतिपादित किया। उसने इस सिद्धान्त का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया। उसकी धारणा थी कि धर्म-सिद्धान्त के विषय मे सम्राट को अपनी इच्छा चर्च के आदेश के अधीन रखनी चाहिए। धार्मिक मामलो मे सम्राट का कर्त्तव्य बिशपो से कुछ सीखना है, उन्हे सिखाना नही। जहाँ तक सांसारिक विषयो का सम्बन्ध है बिशपो को सम्राट द्वारा बनाए हुए कानूनो का पालन करना चाहिए। गिलेशियस ने सम्राट अनस्टेसियस (Anastasius) को जो शब्द लिखे, उनसे उसका मन्तव्य एकदम स्पष्ट हो जाता है—"महान् सम्राट, इस ससार पर दो शक्तियाँ—बिशपगण तथा राजाओ का शासन है। इन दोनों मे पादरियो का उत्तरदायित्व अधिक भारी है, क्योकि उन्हे स्वय राजाओ के कार्यों के लिए भी ईश्वर को हिसाब देना है" ··"तुम्हे श्रद्धापूर्वक बिशपगण के सामने सिर झुकाना चाहिए जो धार्मिक विषयो के सचालन के लिए उत्तरदायी हैं, मुक्ति मार्ग पर चलने के लिए तुम्हे उनकी शरण में जाना चाहिए और समस्त धार्मिक सस्कारों की प्राप्ति तथा प्रशासन मे, तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि तुम्हारा धर्म आदेश देना नही बल्कि उनके आदेशो का पालन करना है:···· ऐसे समस्त विषयों मे तुम्हें उनके निर्णय पर निर्भर रहना चाहिए और उनसे अपनी इच्छा का पालन कराने का तुम्हें कोई अधिकार नही है· समस्त लौकिक व्यवहार मे धर्माधिकारीगण तुम्हारे कानूनो का पालन करते हैं, क्योकि वे जानते हैं कि तुम्हे अपनी शक्तियाँ ऊपर से मिली हुई हैं।" गिलेशियस ने आग्रह किया कि जहाँ आध्यात्मिक मामलो का सम्बन्ध हो, धर्माचार्यों के लिए धार्मिक अदालतों मे मुकदमा चलना चाहिए, लौकिक अदालतो मे नही।

सेबाइन का कहना है कि "इस व्यावहारिक निष्कर्ष के पीछे जो दार्शनिक सिद्धान्त था, वह सन्त ऑगस्टाइन की शिक्षा के अनुसार था। सन्त ऑगस्टाइन के मत से आध्यात्मिक शासन और लौकिक शासन का भेद-ईसाई धर्म का एक आवश्यक अंग था। फलस्वरूप ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले प्रत्येक शासन के लिए यह एक नियम था। आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता का एक ही हाथ में सम्मिश्रण ईसाई धर्म के विरुद्ध है। ईसा के अवतार के पूर्व तो यह सम्भवतः विधि-सम्मत हो सकता था, लेकिन अब यह स्पष्ट रूप से शैतान का कार्य है। मनुष्य की दुर्बलता और प्राकृतिक अभिमान तथा अहंकार को कुचलने के लिए ईसा ने दोनों शक्तियो को अलग-अलग कर दिया था। ईसा मसीह ने स्वयं राजकीय और आध्यात्मिक शक्ति का एक साथ प्रयोग नही किया। ईसाई धर्म के अनुसार एक व्यक्ति का एक ही समय मे राजा और पादरी होना गैर-कानूनी है। हाँ, यह अवश्य है कि दोनो शक्तियो को एक दूसरे की जरूरत है।"[1]

इस तरह स्पष्ट है कि सार रूप मे दो तलवारो के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण मानव जाति एक समाज है, किन्तु उसकी दो प्रकार की (आध्यात्मिक एव भौतिक) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ईश्वर ने दो सत्ताओ का सृजन किया है—एक आध्यात्मिक सत्ता का और दूसरी लौकिक सत्ता का। दोनो का अपना अलग-अलग क्षेत्र है और अपने-अपने क्षेत्र मे दोनो स्वतन्त्र हैं; किन्तु दोनो को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए और यह उचित है कि दोनों एक दूसरे के अधिकारो का सम्मान करें। हाँ, असाधारण परिस्थिति मे एक सत्ता, दूसरी सत्ता के क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकती है।

मध्य युग मे अनेक शताब्दियो तक इस सिद्धान्त की स्थिति इसी रूप मे बनी रही और राज्य तथा चर्च मे कोई पारस्परिक सघर्ष नही हुए किन्तु शनै -शनै राज्य और चर्च के प्रति दोहरी निष्ठा के कारण अनेक विवाद उत्पन्न होने लगे। ग्यारहवी शताब्दी के उत्तर-काल मे पवित्र रोमन सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रेगरी सप्तम् के मध्य अनेक विवाद उत्पन्न हो गए, जिनके मूल में दो तलवारो का सिद्धान्त ही था। चूंकि चर्च और राज्य दोनो एक ही समाज पर शासन करते थे, और दोनो के क्षेत्र पूर्णत सुरक्षित नही थे, इसलिए झगडे अनिवार्य हो गए। झगडा बिशपो की नियुक्ति को लेकर हुआ। पहले से ही बिशपो की नियुक्ति लौकिक शासक करते आए थे। बिशप लोग चर्च की भूमि का प्रबन्ध किया करते थे। उनकी स्थिति राजा के सामन्तो के बराबर समझी जाती थी लेकिन ग्रेगरी सप्तम् ने यह मत स्थिर किया कि चर्च एक स्वतन्त्र संस्था है, अत बिशपो की नियुक्ति भी पोप द्वारा ही होनी चाहिए। यह विवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया—इतना कि पोप ने पवित्र रोमन सम्राट को ईसाई समाज से बहिष्कृत कर दिया और उसके ईसाई न रहने की घोषणा भी कर दी।

इस स्थिति का बडा ही अनर्थकारी परिणाम हुआ। सारी प्रजा ईसाई धर्म को मानने वाली थी, लेकिन अब वह गैर-ईसाई सम्राट की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य नहीं थी। अब यदि वह ईसाई धर्म से बहिष्कृत सम्राट के आदेशो की अवहेलना कर देती तो भी इसे पाप नही समझा जाता। सम्राट ने इस स्थिति का विरोध किया और यह घोषणा की कि "मुझे मेरी सत्ता ईश्वर से मिली है, इसलिए मैं स्वतन्त्र हूं। पोप मेरे अधिकार क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं कर सकता।"

राज्य और चर्च के मध्य विवाद बढता ही गया। चूंकि पोप आध्यात्मिक जीवन का नियामक था, अत वह सम्राट को उसके अवैध कार्यों के लिए धार्मिक दण्ड दे सकता था। इस अधिकार की आड़ लेकर पोप के समर्थको ने एक कदम और आगे बढ़ाया। उन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि राजा की सत्ता का अन्तिम स्रोत चर्च है और दोनो तलवारें वास्तव मे चर्च की ही हैं। उन्होने कहा कि चर्च ने ही अपनी तलवार (शक्ति) राज्य को अपनी ओर से प्रयोग करने के निमित्त दे रखी है जिसे जब चाहे तब वह राज्य से पुन. वापिस ले सकता है। पोप के अनुयायियो ने यह भी घोषणा की कि चर्च की सम्पत्ति राज्य के अधिकार-क्षेत्र मे नही है। जब फ्रांस के राजा ने चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाना चाहा तो पोप के समर्थको ने न केवल उपर्युक्त मत ही प्रकट किया, बल्कि यह भी कहा कि राजा की सम्पत्ति पर भी पोप का पूरा-पूरा अधिकार है और राजा द्वारा उसका प्रयोग करने के लिए

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 180.

पोप की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इस विवाद मे और बाद मे जाकर बवारिया के लुई एवं पोप के मध्य उठने वाले विवाद के दौरान राज्य की ओर से यह तर्क उपस्थित किया गया कि चर्च का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक जीवन से है अतः उसे केवल धर्म सम्बन्धी कार्यों तक ही अपने अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए। इस सिद्धान्त का सर्वोत्तम प्रतिपादन अथवा पोषण मार्सिलियो ने किया, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की जाएगी।

वास्तव मे दो तलवारो के सिद्धान्त ने मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन पर तो गहरा प्रभाव डाला ही, लेकिन यूरोप की राजनीतिक विशेषताओं को निर्धारित करने मे भी बड़ा योग दिया। "मध्य युग मे मुख्य प्रश्न—दोनों सत्ताओ के आपसी सम्बन्ध का था लेकिन इसका प्रभाव सुदूर व्यापी हुआ। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के विश्वास और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार ने ही आधुनिक काल के व्यक्ति-अधिकार और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचारो को जन्म दिया।"[1]

ईसाईयत की देन
(The Contribution of Christianity)

(1) पाश्चात्य विचार एवं संस्कृति को ईसाईयत की प्रमुखतम देन यह है कि इसने मनुष्य के भौतिक एव आध्यात्मिक हितो मे एक स्पष्ट विभाजन किया है। इसके अनुसार मनुष्य का दो तत्वों से निर्माण हुआ है—शरीर और आत्मा। शरीर का हित आत्मा के हित से भिन्न होता है। शरीर के रूप मे मनुष्य—इन्द्रिय सुख, सांसारिक शक्ति एव समृद्धि आदि की कामना करता है। आत्मा के रूप में वह पाप से मुक्ति और मोक्ष की प्राप्ति चाहता है। प्रथम को वह भौतिक अथवा लौकिक समाज का सदस्य होकर एव उसके आदेशो का पालन करके पा सकता है, जबकि दूसरे को ईसाई चर्च की सदस्यता एव ईश्वर की अनुकम्पा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि दोनों के प्रति निष्ठा रखना व्यक्ति का कर्त्तव्य है, किन्तु कभी-कभी भक्ति और राज्य-भक्ति में संघर्ष की स्थिति हो जाती है। ऐसे संघर्ष में चर्च की भक्ति अथवा पारलौकिक हित का स्थान प्रथम होना चाहिए। सार यह है कि "रोमन साम्राज्य के केन्द्र-बिन्दु पर ही एक दैविक चर्च की स्थापना करके ईसाई धर्म ने एक नई बात उत्पन्न की। उसने एक ऐसे और सर्वथा नवीन समाज की धारणा को जन्म दिया जो राज्य के सामने खड़ा हुआ उससे स्वतन्त्र रहकर कार्य करने का दावा कर रहा था।"

(2) ईसाईयत ने जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति को राज्य के कार्य-क्षेत्र से पृथक् कर दिया। ईसाईयत ने राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करते हुए कहा कि उसका कार्य केवल लौकिक या भौतिक कार्यकलापों की देखभाल करना है, मनुष्य की आत्मिक उन्नति से उसका कोई सम्बन्ध नही है। इस क्षेत्र में उसकी सहायता के लिए धर्म है।

(3) ईसाईयत ने मानव के भौतिक हितों की अपेक्षा उसके आत्मिक कल्याण पर अधिक महत्त्व देते हुए यह शिक्षा दी कि आध्यात्मिक हितों की पूर्ति किए बिना जीवन को शुभ नहीं कहा जा सकता।

(4) परमात्मा के पितृत्व और मनुष्य के भ्रातृत्व के अपने सिद्धान्त द्वारा ईसाईयत ने मानव-समानता के स्टोइक सिद्धान्त को साकार रूप दिया। उसने मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान करने का सन्देश देते हुए मांग की कि उसे साध्य समझा जाना चाहिए, साधन नही। ईसाईयत का प्रेम-सिद्धान्त स्टोइकवाद तथा मानवतावाद दोनों का अतिक्रमण कर गया। उसका कल्याणशील तथा समता-प्रधान दृष्टिकोण तभी से पाश्चात्य संस्कृति का एक अभिन्न अंग बना हुआ है।

अन्तत. सेबाइन के शब्दो में कहा जा सकता है कि, "ईसाई चर्च का एक ऐसी संस्था के रूप मे जिसे मनुष्य के आत्मिक विषयों के ऊपर राज्य से स्वतन्त्र रहकर शासन करने का अधिकार हो, अभ्युदय होना पाश्चात्य यूरोप के इतिहास में, राजनीति और राजनीतिक दर्शन के दृष्टिकोण से, एक क्रान्तिकारी घटना थी।"

---

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 181.

10 मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन : इसकी पृष्ठभूमि और विशेषताएँ; चर्च एवं राज्य

(Medieval Political Thought : Its Background and Chief Features; The Church and the State)

मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि
(The General Background of Medieval Political Thought)

रोमन साम्राज्य की गोधूलि पर यूरोपीय इतिहास में जिस नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ, राजनीतिक विचार की दृष्टि से उसे मध्य युग (Medieval Period) कहा जाता है। मध्यकाल के आरम्भ होने की तिथि विवादास्पद है। यहाँ हमारे लिए इतना जानना काफी है कि प्राचीनकाल के अन्त और मध्यकाल के प्रारम्भ की सूचना देने वाली घटना जर्मन एवं ट्यूटन जातियों की पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर विजय है। मध्ययुग के 'प्रारम्भ' की अनिश्चितता के समान ही उसके 'अन्त' का भी ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है, क्योंकि इस युग की भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न समय पर समाप्ति हुई थी। फिर भी राजनीतिक विचार की दृष्टि से इसका अन्त सामान्यत. मैकियावेली (1469–1527) के साथ माना जाता है। मैकियावेली को राजदर्शन के विद्वान् मध्यकाल के अन्तिम और आधुनिक काल के प्रथम राजनीतिक विचारक की दृष्टि से स्वीकार करते हैं। ईसा के जन्म से मैकियावेली तक फैला हुआ लगभग 1500 वर्ष के इस युग का राजदर्शन के इतिहास में अपना विशेष महत्व है। प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम हम उन प्रधान तत्वों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर अपना प्रभाव डाला। ये तत्त्व निम्नलिखित थे—

1 ट्यूटन (जर्मन) जातियों के विचार।
2 सामन्तवाद।
3 पोप की शक्ति का विकास।
4. पवित्र रोमन साम्राज्य।
5. राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय।

1. ट्यूटन (जर्मन) जातियों के राजनीतिक विचार
(The Political Ideas of the Tetonic People)

दुर्दान्त ट्यूटन जाति ने न केवल अस्त होते हुए रोमन साम्राज्य के सूर्य को पूर्णतः अस्त कर दिया बल्कि पाश्चात्य जगत् को नवीन राजनीतिक विचार भी प्रदान किए। ट्यूटन जाति अपने साथ जो कुछ लाई और रोमनों से उसे जो कुछ उत्तराधिकार में मिला, उन दोनों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण ही उस सामन्तवाद का जन्म हुआ जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। रोमन साम्राज्य को पदाक्रान्त करने

के बाद ट्यूटन जातियों ने जहाँ-कहीं भी शासन-सत्ता स्थापित की वहीं ये अपनी राजनीतिक परम्पराएं और संस्थाएँ लेते गए। इन ट्यूटन जातियो में प्रमुख फ्रैंक, सैक्सन, एंगल तथा जूट, अलैमन तथा वर्मेण्डियन, वडाल, सुएव तथा लम्बार्ड जातियाँ थी। पाश्चात्य यूरोप में जो वर्तमान राज्य पाए जाते हैं, उनमे से अधिकांश के निर्माण मे इन्ही जातियो का विशेष भाग रहा है और आज भी इन पर उनके राजनीतिक विचारो की स्पष्ट छाप परिलक्षित है।

ट्यूटन जातियो ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारो को पुष्पित किया वे संक्षेप मे निम्न-लिखित हैं—

(1) वैयक्तिक स्वतन्त्रता—ट्यूटन (जर्मन) लोग राज्य की तुलना में व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि लोग योद्धा थे और उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे व्यक्ति की शौर्य-भावना का अनादर करें। आडम्स के शब्दो में, "उनके हृदय में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्य की तुलना मे व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व का बहुत बड़ा सम्मान था।" वैयक्तिक महत्त्व का यह भाव उनकी न्याय-व्यवस्था में भी स्पष्टतः अभिव्यक्त होता था। वे अपराधी को सजा देने का कार्य राज्य का नहीं मानते थे। वे अपराधी को उस व्यक्ति को सौंप देते थे जिसके प्रति अपराध किया गया हो। इस तरह केवल वही व्यक्ति अपराधी को दण्ड देता था जिसे क्षति पहुँचती थी। यह विचार उस समय भी प्रचलित रहा जब अपराधी को दण्ड देना राज्य का धर्म माना गया, अर्थात् ट्यूटनो ने अपराधियो को दण्डित करने का कार्य अपने हाथो मे ले लिया। उस समय भी अपराधी को दण्ड दिए जाने वाले अर्थदण्ड का एक अश उस व्यक्ति को दिया जाता था जिसे अपराधी ने पीड़ित या क्षतिग्रस्त किया हो।

ट्यूटन जातियों की समस्त प्रारम्भिक सरकारो में लोकतन्त्र के तत्त्व मौजूद थे। सामाजिक जीवन की इकाई व्यक्ति था, राज्य नहीं। ईसाईयत भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्ति के मूल्य पर बल देती थी। अतः उस समय यह आशा करना स्वाभाविक था कि इन दोनो विचारधाराओ मे ताल-मेल बैठ जाएगा। लेकिन यह आशा फलीभूत नही हुई क्योंकि व्यक्ति के महत्त्व और मूल्य के विचार आश्चर्य-जनक रूप से शीघ्र ही लुप्त हो गए। मध्ययुग के निगम, श्रेणी, समुदाय अथवा धार्मिक सघ की सदस्यता ने व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी सामन्ती व्यवस्था के राजनीतिक सगठन मे व्यक्तिगत अधिकार को कुछ अंशो तक सुरक्षित रहने का सौभाग्य मिला। इस तरह व्यक्ति की महत्ता के विचार का समूल लोप नही हो पाया। 'पुनरुत्थान' (Renaissance) तथा 'सुधार' (Reformation) के दो महान् आन्दोलनों से व्यक्ति के विचार को पुनर्जीवन मिला। फलस्व-रूप यह सिद्धान्त आधुनिक युग तक आ पहुँचा।

(2) प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का विचार—यूरोप मे प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government) के विचार को भी पुष्ट करने का श्रेय भी वास्तव मे ट्यूटन जाति को ही है। प्रारम्भ में ट्यूटन लोगो में दो प्रकार की सभाएँ थी—राष्ट्रीय सभा और स्थानीय प्रतिनिधि सभा। राष्ट्रीय सभा मे जन-जाति के समस्त स्वतन्त्र सदस्य होते थे। यह सभा मुखियाओ का निर्वाचन करती थी, अपने सम्मुख पेश किए गए प्रस्तावो पर निर्णय देती थी और कभी-कभी विशेष मुकदमो की सुनवाई तथा उन पर निर्णय देने का कार्य भी करती थी। किन्तु राजतन्त्रो के स्थापित होने पर इस सभा का लोप हो गया। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में, स्थानीय क्षेत्रो मे, स्थानीय प्रतिनिधि सभाएँ होती थी। ये सभाएँ स्थानीय प्रश्नों को विचार तथा विवादो का निर्णय करती थी। ये संस्थाएँ यूरोप मे मध्ययुग के अन्त तक मौजूद रहीं। पुनरुदित रोमन कानून के ऊपर आधारित एक नवीन न्याय प्रणाली ने इन्हे समाप्त कर दिया, किन्तु स्थानीय प्रतिनिधि सभाओ का विचार विद्यमान रहा। इंगलैंड मे लोकसभा का विकास इसी प्रकार की सभाओ का आदर्श लेकर हुआ। परिवर्तन केवल इतना ही किया गया कि स्थानीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को सम्पूर्ण राष्ट्र की लोकसभा के लिए स्वीकार किया

गया। ट्यूटनो की स्थानीय प्रतिनिधि सभाओ ने ही जिला (Borough) और ग्राम (Country) परिषद् जैसी स्थानीय-सस्थाओ की स्थापना के लिए आधार प्रदान किया।

(3) वैध शासन—जर्मन जातियो मे प्रारम्भ मे राजा के निर्वाचन की व्यवस्था थी। बाद मे यह पद वशानुगत बन गया तथापि सैद्धान्तिक रूप से राजा के चुनाव के विचार को स्वीकार किया जाता रहा। अनेक शताब्दियो तक सम्राट का निर्वाचन मण्डल द्वारा होता रहा। फ्राँस और इगलैंड मे राजतन्त्रात्मक शासन होने पर भी यह विचार बना रहा कि जनता राजा को अपना कर्त्तव्य पालन न करने पर हटा सकती है। 1688 की क्रान्ति तथा हेनोवर वश के सिहासनारूढ होने पर यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से स्थापित हो गया कि जनता के प्रतिनिधियो को सिहासन प्रदान करने का अधिकार है। इस प्रकार नाममात्र का राजतन्त्र वास्तव मे गणतन्त्र में परिवर्तित हो गया। स्पष्ट है कि निर्वाचित राजतन्त्र के ट्यूटोनिक सिद्धान्त ने वर्तमान वैध शासन प्रणाली के सिद्धान्त को विकसित करने मे बडा सहयोग दिया।

(4) कानून का विचार—ट्यूटन लोगो की मान्यता थी कि कानून का निर्माण अथवा सशोधन सम्पूर्ण जनता की इच्छा से होता है, अतः जनता की सहमति से ही लागू किया जाना चाहिए। व्यक्ति को कानूनी अधिकार केवल व्यक्ति होने के नाते प्राप्त हैं न कि राज्य का सदस्य होने के नाते। कानून सम्बन्धी यह धारणा रोमन कानून की धारणा से भिन्न थी। रोमन साम्राज्य में कानून-निर्माण की शक्ति जनता मे निहित न होकर सम्राट मे केन्द्रित थी। रोमन कानून का आधार क्षेत्रीय था जिसे साम्राज्य के अधीन सब लोगो पर लागू किया जाता था ट्यूटोनिक कानून का आधार वैयक्तिक था। ट्यूटन कानून प्रणाली मे प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह अपने कानून के आधार पर न्याय प्राप्त करे। ट्यूटन अथवा जर्मन जाति कानून को एक कबीले विशेष की वस्तु मानती थी। कानून कबीले विशेष का एकता-सूत्र था जो कबीले के साथ-साथ भ्रमण करता था। वास्तव मे ट्यूटन कानून रीति-रिवाजो पर आधारित होता था। राजा प्रायः प्रचलित रीति-रिवाजो को सहिताबद्ध कराके उन्हें कानून का रूप देता था और स्वय को उनसे बँधा हुआ अनुभव करता था। वह अपनी इच्छा से किसी कानून मे परिवर्तन नही करता था। ट्यूटन शासन मे कानून का पता लगाना, उसकी परिभाषा और उदघोषणा करना न्यायालयो का कार्य था, जो स्थानीय सार्वजनिक सभाएँ होती थी।

जब ट्यूटन लोग रोम मे बस गए तो वे रोमन कानून के अधीनस्थ नही हुए बल्कि उन्होने अपने कानून और उसके अनुसार शासित होने के अधिकार को बनाए रखा। उन्होने यूरोप मे यह विचार सुदृढ किया कि कानून का मुख्य आधार जनता मे प्रचलित रीति-रिवाज है और कानून का अन्तिम स्रोत जनता है। उन्होने वैयक्तिक कानून के विचार भी पुष्ट किए।

इस तरह हमने देखा कि प्रतिनिधि स्थानीय सभाएँ, निर्वाचित राजतन्त्र तथा एक सामान्य कानून की प्रणाली—ये तीन लोकतन्त्री सस्थाएँ ट्यूटन जाति द्वारा ससार को दी गईं, जिन्होने यूरोप मे स्वतन्त्र सांविधानिक शासन के भावी विकास पर गहरा प्रभाव डाला।

2. सामन्तवाद
(Feudalism)

मध्ययुगीन राजनीतिक विचारो पर प्रभाव डालने वाला दूसरा प्रधान तत्त्व सामन्तवाद था। यह प्राचीन रोमन व्यवस्था और नवीन ट्यूटोनिक सस्थाओ की एक-दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम था। सेबाइन के अनुसार, "सामन्तवादी सस्थान मध्ययुग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाए हुए थे जितने नगर-राज्य प्राचीन काल पर।"

सामन्त प्रथा ने केवल यूरोप के सामाजिक जीवन को ही प्रभावित नही किया, बल्कि जापान, भारत आदि देशो मे भी खूब विकसित हुई। शार्लमेन (Charlemann) द्वारा स्थापित रोमन साम्राज्य की समाप्ति पर जो अराजकता पैदा हुई उसमे 9वी से लगभग 13वी शताब्दी तक सामन्तवाद विकसित होता रहा। इसके बाद व्यापार की उन्नति के कारण यह पतन की ओर बढ चला। वस्तुत जब यूरोप

मे किसी सर्वमान्य सत्ता का अभाव था तब सामन्ती प्रथा ने शान्ति बनाए रखने और जन-जीवन का सुरक्षित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सी. एफ स्ट्रॉंग के शब्दों में, "सामन्तवाद एक प्रकार का मध्यकालीन संविधानवाद था, क्योंकि यह कुछ हद सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साधारणतः स्वीकृत रूप में व्यवस्थित था। इसका मूल लक्षण भूमि का छोटी इकाइयों मे विभाजन था, जिसका सामन्त सिद्धान्त यह था—प्रत्येक व्यक्ति का एक स्वामी होना चाहिए।"

सामन्तवाद का विकास पूर्व-मध्यकालीन युग की अव्यवस्था और अधुनिक राज्य की व्यवस्था की मध्यवर्ती खाई को पाटने के लिए एक अनिवार्य पुल के रूप में हुआ था। यह शासन-प्रणाली कहीं-कहीं राजतन्त्र मे (उदाहरणार्थ इंगलैंड मे) परिवर्तित हो गई। पहले स्वेच्छाचारी राजतन्त्र और फिर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। केन्द्रीयकरण के सबसे बड़े प्रयत्न यूरोप के पश्चिमी छोर में हुए—विशेषकर इगलैंड एव फ्रांस मे। कुछ प्रयत्न स्पेन में भी हुए। राजाओं द्वारा विशाल सामन्तिक जागीरों को नियन्त्रित और समाप्त करके अपने हाथो मे शक्ति का केन्द्रीयकरण करने की नीति के प्रभावशील प्रयत्न ग्यारहवी शताब्दी से अपनाए गए।

सामन्तवादी पिरामिडाकार सगठन मे शीर्ष पर राजा का स्थान था और उसके नीचे प्रधान मामन्त, उप-सामन्त आदि होते थे। प्रधान सामन्तों मे ड्यूक काउन्ट, मार्गेन, आर्कबिशप, बिशप आदि उच्च पदासीन व्यक्ति थे। ये अपनी अधिकांश भूमि को उन्ही शर्तों के आधार पर काउन्ट, वाई-काउन्ट आदि उप-सामन्तो (Sub-Vassals) मे बाँट देते थे जिन शर्तों पर राजा उन्हें अपनी भूमि विभाजित करता था। ये उप-सामन्त भी इसी प्रकार की शर्तों पर अपनी भूमि नाइट्स कहलाने वाले छोटे सामन्तो मे विभाजित कर देते थे।

इस प्रकार सामन्तवाद के प्रमुखत दो प्रचलित रूप थे—एक राजनीतिक, दूसरा आर्थिक। ये दोनो रूप अलग-अलग होते हुए भी अपनी परिपक्व अवस्था मे एकीकृत हो गए। राजनीतिक सामन्तवाद विकेन्द्रीकरण के रूप मे प्रकट हुआ जिसके अन्तर्गत सुरक्षा, न्याय, सैनिक शक्ति की व्यवस्था आदि के महत्त्वपूर्ण कार्य राजा नही बल्कि उसके सामन्त करते थे। सामन्तवाद के इस शिखरोन्मुखी (Hierarchy) रूप मे व्यक्ति अपने से ऊपर वाले स्वामियो के और ये स्वामी अपने से उच्चतर स्वामियो के अधीनस्थ थे। इस क्रम के अन्त मे उच्चतम स्वामी राजा का सेवक होता था। सामन्तवादी व्यवस्था मे राजा का जनता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता था, जनता की स्थिति सेवक की-सी थी जिसका प्रमुख कार्य अपने उच्च अधिकारी के आदेशो का पालन करना था। आर्थिक सामन्तवाद का अर्थ भूमि अधिकरण (Land Tenure) की ऐसी प्रणाली से था जिसके अन्तर्गत भूमि जोतने वाले उस भूमि को किसी दूसरे से जागीर (Fief) के रूप मे प्राप्त करते थे। वे उस भूमि के वास्तविक स्वामी नहीं होते थे किन्तु उनके हित वैसे ही होते थे जैसे स्वामियो के थे। जब तक भूमिधर और शर्तों और कर्त्तव्यो का पालन करते थे तब तक भूमि पर उनका अधिकार बना रहता था, अन्यथा भूमि उनसे वापिस छीनी जाकर दूसरो को दे दी जाती थी। शर्तों का पालन किये जाने पर भूमिधरो से भूमि का अधिकार उनके उत्तराधिकारो को हस्तान्तरित कर दिया जाता था। वैसे भूमि का सर्वोच्च स्वामी राजा होता था जो अपने प्रत्यक्ष अभिवेक्षण मे स्वयं सम्पूर्ण भूमि पर खेती कराने मे असमर्थ होने से भूमि को अनेक टुकडो मे विभक्त करके बहुत मे व्यक्तियों (सामन्तो आदि) मे बाँट देता था। ये सामन्त उन्ही शर्तों पर अपने से छोटे उप-सामन्तो और ये उप-सामन्त अपने से भी छोटे अन्य व्यक्तियो मे उन्ही शर्तों पर भूमि विभाजित कर देते थे। इस तरह भू-खण्डो के विभाग, उप-विभाग होते चले जाते थे।

सम्राट तथा सामन्त का सम्बन्ध

सामन्तवादी प्रथा मे राजा या अधिपति और उसके सामन्तो का सम्बन्ध बराबर का नहीं था। सामन्त को अधिपति अर्थात् राजा या सम्राट के प्रति निष्ठावान रहना पडता था और उसकी आज्ञा भी माननी पडती थी। सामन्त का कर्त्तव्य था कि वह आवश्यकतानुसार अधिपति की सैनिक सेवा

करें। वह अधिपति के दरबार मे हाजिर होना था और उसे अधिपति को भेंट देनी पड़ती थी। उसे अनेक प्रकार के भुगतान करने पड़ते थे। उसके ये विशिष्ट कर्तव्य निश्चित और सीमित थे। उदाहरणार्थ यह तय था कि किस-सामन्त को कितनी और किस प्रकार की सैनिक सेवा करनी है? अधिपति को भी अपने सामन्तो की सहायता और रक्षा करनी पड़ती थी। वह उन आचारो अथवा चार्टरो का पालन करता था जो सामन्तो के अधिकारो और सुविधाओ की व्याख्या करते थे।

सैद्धान्तिक रूप से सामन्त अपनी काश्त को छोड़कर अधिपति के प्रति अपनी पराधीनता मे मुक्ति पा सकते थे लेकिन, व्यवहार मे प्राय. बहुत ही कम होता था। यदि अधिपति सामन्त को उसके अधिकारो से वचित करता तो सामन्त जमीन को अपने अधिकारो मे रखते हुए अपने दायित्वो को निभाने मे इन्कार कर सकता था। सेबाइन के शब्दो मे वस्तुत. "इस सामन्ती व्यवस्था मे पारस्परिकता ऐच्छिक कार्य-सम्पादन और गर्भित सविदा एक ऐसा भाव था जो आधुनिक राजनीतिक सम्बन्धो मे पूरी तरह लुप्त हो गया है। यह स्थिति कुछ ऐसी थी कि जब तक नागरिक की स्वतन्त्रताएँ मान्य न हों, वह एक निश्चित सीमा से आगे कर देना अस्वीकार कर दे, निश्चित समय से परे सैनिक सेवा न करे या दोनों चीजों मे इन्कार कर दे। इस दृष्टि से राजा की स्थिति सिद्धान्त मे तो दुर्बल थी ही, वह व्यवहार मे दुगुनी कमजोर थी। सामन्ती राजतन्त्र आधुनिक राज्य की तुलना मे बहुत अधिक विकेन्द्रित प्रतीत होता है। दूसरी ओर सामन्ती भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत कभी-कभी राजा या विशेष रूप से कोई परिवार वैदग्ध्नी जैसे विधियुक्त उपायो द्वारा अपनी शक्ति मे वृद्धि कर सकता था। फ्रांस के कैपेटियन वश (Capetian Dynasty) की शक्ति स्वय सामन्त के क्रियान्वयन के कारण ही शीघ्र ही बढ गई थी।"[1]

सामन्ती दरबार (The Feudal Court)

अधिपति और उसके सामन्तों का दरबार एक विशिष्ट सामन्ती सस्था थी। यह ऐसी परिषद् थी जो सामन्ती-व्यवस्था के विभिन्न विवादो का निर्णय करती थी। अधिपति अथवा सामन्त जब कभी यह अनुभव करते थे कि उनके अधिकार का अतिक्रमण हुआ है तो वे दरबार के अन्य सदस्यो से उचित निर्णय की अपील करते थे। वह युग ऐसा था जब चार्टरो और परम्परागत अधिकारो की कठोरतापूर्वक रक्षा की जाती थी। ऐसा नही था कि राजा या अधिपति अपनी इच्छानुसार ही निर्णय कर ले।

सामन्ती दरबार सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक सामन्त को गारन्टी देता था कि विशेष करारो या चार्टरो और कानून के अनुसार उसके मामले की सुनवाई की जाएगी। दरबार द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक निर्णय को दरबार के सदस्यों की सम्मिलित शक्ति द्वारा लागू किया जाता था। जहाँ अधिकांशत निर्णय सामन्तो के विवादो के सम्बन्ध मे दिए जाते थे, वहाँ कुछ मामलो मे निर्णय राजा के विरुद्ध भी हो जाते थे। मैग्नाकार्टा की 61वी धारा मे राजा जॉन (John) के 25 बैरनो की एक समिति को चार्टर लागू करने का अधिकार दिया गया था। "यह समिति राजा के ऊपर आरोपित विवशता को वैध रूप देने की चेष्टा थी।"

वास्तव मे आदर्श सामन्ती सगठन मे राजा 'समकक्षो मे प्रथम' (Primus Interpares) था। 'एसाइजेज ऑफ जेरूसलम' (Assizes of the Jerusalem) ने यह स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया था कि सामन्तगण अपनी उन न्यायपूर्ण स्वतन्त्रताओ की रक्षा के लिए अधिपति को बाध्य कर सकते है जो दरबार द्वारा निर्धारित कर दी गई हो। दरअसल दरबार स्वय या राजा और दरबार दोनो मिलकर सयुक्त शासन करते थे जिसमे आधुनिक राज्यो के विधायी, कार्यकारी तथा न्यायिक—सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित थे।

सामन्तवाद और राज्य (Feudalism and Commonwealth)

मध्ययुग मे राजतन्त्र के बारे मे दो विचार थे। प्रथम विचार के अनुसार राजा का अपने

1 सेबाइन; राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 200

सामन्तो के साथ संविदागत सम्बन्ध था। राजा स्वयं इसमे एक पक्ष था। द्वितीय विचार के अनुसार राजा राज्य का प्रधान था। लेकिन ये दोनो ही विचार परस्पर घुलमिल गए थे। एक ओर तो यह माना जाता था कि विधि से राजा का निर्माण हुआ है और वह विधि के अधीन है। दूसरी ओर यह भी माना जाता था कि राजा के विरुद्ध न तो कोई आदेश ही निकाला जाएगा और न उसे अपनी अदालतो की सामान्य प्रक्रिया द्वारा बाध्य किया जाएगा। सम्भवतः इन दोनो विचारों के समन्वय ने ही सामन्ती दरबार को एक ऐसा स्रोत बना दिया जिससे उत्तर मध्ययुग के सांविधानिक सिद्धान्त और संस्थाएँ विकसित हुई।

सामन्त प्रथा का मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर प्रभाव

(1) राजा का नियन्त्रण—सामन्त-प्रथा के कारण राजा को प्रजा पर 16वीं, 17वीं शताब्दियो के यूरोपियन राजाओ की भाँति निरंकुश अधिकार प्राप्त नही थे। उनकी शक्ति यथार्थत बहुत सीमित तथा नियन्त्रित थी। राज्य के अनेक कार्य सामन्तो द्वारा किए जाते थे। सेना की दृष्टि से राजा सामन्तो पर निर्भर था। सामन्तो का प्रभाव राजा के अस्तित्व तक को खतरे मे डाल सकता था। राज्याभिषेक के समय सामन्त राजा से जनता के कानूनों और रीति-रिवाजो की रक्षा की प्रतिज्ञा करवाते थे। राजा की निरकुशता पर एक नियन्त्रण मध्यकालीन कानून की वह धारणा थी जिसके अनुसार राजा रिवाज के रूप मे चले आने वाले कानूनो के पालन के लिए बाध्य था और अपनी इच्छा से किसी कानून को नही बदल सकता था।

(2) अधिकार-कर्त्तव्य का सिद्धान्त या संविदा का विचार—सामन्ती व्यवस्था की एक बडी विशेषता अधिकारो एव कर्त्तव्यो का उभयपक्षीय होना था; अर्थात् स्वामी तथा सेवक के सम्बन्ध समझौते से निश्चित होते थे। स्वामी के अधिकार सेवक के कर्त्तव्य थे तो इसी प्रकार सेवक के अधिकार स्वामी के कर्त्तव्य थे। राजा भी इन बन्धनो से बँधा था। कुछ विद्वानो के अनुसार इसी का विकसित रूप 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' हुआ।

(3) सत्ता का विकेन्द्रीकरण—सामन्त पद्धति मे शासन-सत्ता राजा से निम्न वर्ग तक के सामन्तो और सरदारो मे विभाजित थी जो अपने-अपने स्थानीय प्रदेश मे सर्वोच्च अधिकारी होते थे। ऐसी दशा मे सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) के विचार को कोई स्थान न था।

(4) स्वामि-भक्ति का महत्त्व—इस व्यवस्था मे स्वामि-भक्ति को बहुत उच्च स्थान दिया जाता था। सामन्तो मे, चाहे वे छोटे हो या बडे, आज्ञापालन तथा कर्त्तव्यपरायणता के भाव विद्यमान थे। इससे वर्तमान राष्ट्रीय राज्यो के विकास मे बड़ी सहायता मिली। राजा ने सामन्तो की वफ़ादारी का लाभ उठाकर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। युद्ध एवं शान्ति के दोनो ही समयों मे सामन्तो को समुदाय और राजा की सेवा करनी पडती थी। अत इस विचार को बल मिला कि प्रत्येक व्यक्ति का राज्य एव समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य है जिनका पालन किया जाना चाहिए।

3. पोप की शक्ति का विकास
(Growth of the Popal Power)

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव पोप एव उसके चर्च का पड़ा। आक्रान्त बर्बरो मे ईसाई धर्म, चर्च पिताओ और चर्च परम्पराओ के प्रति श्रद्धा थी। चर्च ने भी विजेता जातियो की ईसाई धर्म के प्रति श्रद्धा का पूरा लाभ उठाया। उसने इन्हे ईसाई धर्मावलम्बी बना दिया और उनमे सभ्यता के अकुर बोए। सकट की घडियो मे साहसपूर्वक डटे रहने के कारण ही चर्च न केवल जीवित रहा प्रत्युत् उसने अपने को और भी अधिक सबल बनाया। चर्च की शक्ति का इतना विकास हुआ कि मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा निश्चित करने मे यह सबसे अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन गया। लोग इसे पवित्र कैथोलिक चर्च (The Holy Catholic Church) कहकर पुकारते

के चक्कर में उलझता गया। सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिशाली थीं। कि ओटो-वंशियो का शासन-अधिकार जर्मनी और इटली से आगे नही बढ पाया और न ही सम्राट का अधिकार वास्तविक राजसत्ता का रूप ले सका।

हेनरी तृतीय (1039–56) के समय पोप के पद के लिए जो तीन उम्मीदवार खड़े हुए, वे सभी भ्रष्टाचारी थे। हेनरी तृतीय एक धार्मिक व्यक्ति था अत उसने रोम पर चढाई करके 1046 ई मे बुलाए गए धर्म सम्मेलन द्वारा एक दूसरे ही व्यक्ति क्लेमैंट द्वितीय को पोप बनाया। पोप क्लेमैंट द्वितीय के बाद पोप लिओ नवम् (1048–54) ने सुधारवादी आन्दोलन को आगे बढाया। उसने धार्मिक पदो के क्रय-विक्रय को बन्द करने का भरसक प्रयत्न किया। इस समय सम्राट और पोप के सम्बन्ध सहयोगपूर्ण रहे और और सम्राट का वशवर्ती बना रहा।

उपर्युक्त स्थिति भी बनी नही रह सकी। हेनरी तृतीय और उसके द्वारा समर्थित पोप की मृत्यु के बाद रोम वालो ने साम्राज्य के घोर विरोधी फ्रेडरिक को पोप चुन लिया जिसने स्टीफन नवम् का नाम धारण किया। उसने अपने निर्वाचन पर स्वीकृति लेने के लिए अपने दूतों को जर्मन रानी एग्नेस (जो बालक हेनरी चतुर्थ की सरक्षिका थी) के पास भेजा। रानी ने निर्वाचन पर अपनी सहमति प्रदान कर दी। यह बाहर से साधारण बात होते हुए भी अपने-आप मे एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, क्योकि इसके द्वारा ओटो प्रथम व हेनरी तृतीय द्वारा स्थापित यह परम्परा टूट गई कि पोप बनने वाले व्यक्ति को पहले सम्राट से मनोनीत होना चाहिए और बाद मे उसका निर्वाचन किया जाना चाहिए। इस घटना से प्रोत्साहित होकर सन् 1059 ई मे पोप निकोलस द्वितीय ने घोषणा कर दी कि भविष्य मे पोप "रोम की जनता और पादरियो द्वारा नही बल्कि कार्डिनल बिशपो अर्थात् रोम के चर्चो के पदरियो द्वारा निर्वाचित होगे।" इस घोषणा द्वारा पोप के निर्वाचन पर न तो सामन्तो और न सम्राट का ही कोई नियन्त्रण रहा। साम्राज्ञी एग्नेस ने निकालने की आज्ञा को रद्द करने के लिए जर्मन बिशपो का सम्मेलन बुलाया और दूसरी तरफ निकोलस ने फ्रांसीसी राजा फिलिप प्रथम टस्कनी के गडफ्रे को तथा दक्षिणी इटली के नॉरमन लोगो को अपना मित्र बनाया। नॉरमन नेता रॉबर्ट गिस्टार्क ने वचन दिया कि वह जर्मन सम्राट से पोप की रक्षा करेगा। इसके बदले पोप ने उसे ड्यूक बनाया और क्लेब्रिया तथा एपुलिया के प्रदेश देना स्वीकार किया जो स्पष्ट ही सम्राट-विरोधी कार्य था और साथ ही अवैधानिक भी, क्योकि उस समय इटली की स्थिति जर्मन साम्राज्य के प्रदेश का सौदा करने का अधिकार न था। सम्राट और पोप के बीच बढता हुआ यह सघर्ष पोप ग्रेगरी सप्तम् के समय चरम सीमा पर पहुँच गया। पोप ग्रेगरी सप्तम् और उसके उत्तराधिकारियो ने जर्मनी और इटली को सयुक्त करने के साम्राज्य के प्रयत्नो का घोर विरोध किया। ओटो तृतीय की मृत्यु के बाद साम्राज्य को इटली तक विस्तृत करने के विचार को त्याग दिया गया क्योकि जर्मनी अनेक रियासतें बन गईं जिन्होने जर्मन राजा से अपनी स्वाधीनता की माँग की और जर्मन राज्य को झकझोर दिया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य अनेक सघर्षो का सामना करता हुआ कुछ समय तक चलता रहा सन् 1806 ई मे नेपोलियन ने इसका अन्तिम सस्कार कर दिया और पवित्र रोमन सम्राट के पद को मिटा दिया।

5. राष्ट्रीयता की भावना का विकास

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन को राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने भी प्रभावित किया। उस समय शक्तिशाली सामन्त विभिन्न स्थानो पर अपने राज्य स्थापित कर रहे थे। उन प्रदेशो मे, जहाँ भाषा और सस्कृति की समानता थी, राजनीतिक शासन की स्थापना द्वारा राष्ट्रीय राज्यो के अकुर फूटने लगे। 1300 ई तक इङ्गलैण्ड और फ्रांस मे राष्ट्रीय राज्य स्थापित होकर पोप की सत्ता को चुनौती देने लगे। इन देशो की जनता रोम के चर्च को विदेशी मानती थी, अत अपने राजाओ का पूर्ण समर्थन करते हुए वह पोप के प्रभाव से मुक्त होने को प्रयत्नशील होने लगी। इस प्रकार पोपशाही का सूर्य तेजी से अस्त होने लगा।

मध्ययुग का अनुदान और उसकी विशेषताएँ
(Contribution & Chief Features of the Medieval Period)

मध्ययुग अराजनीतिक था
(Medieval Period was Unpolitical)

मध्यकाल के छठी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक के लगभग एक हजार वर्ष के लम्बे युग मे सभ्यता की कोई ऐसी उल्लेखनीय प्रगति नही हुई जैसी उसके पूर्ववर्ती और उत्तर काल मे हुई। इस युग मे प्राचीन कला की प्रगति रुक गई। बर्बर जर्मन जातियों ने यूनानी-रोमन सभ्यता, कला और ज्ञान के एक बडे भाग को नष्ट कर दिया क्योंकि उनमे यूनानी-रोमन सभ्यता को समझने तथा उसका मूल्यांकन करने की क्षमता नही थी। जर्मन शासको ने आवागमन के साधनो के प्रति भी घोर उपेक्षा प्रदर्शित की, फलतः सडकें, पुल, आदि नष्ट हो गए और वाणिज्य तथा व्यापार को गम्भीर क्षति पहुँची। असभ्य और अनपढ जर्मन शासक, जो रोमनो के राजनीतिक उत्तराधिकारी बने, कानूनी और प्रशासकीय योग्यता की दृष्टि से कोरे थे, अत. उनके शासनकाल में अशान्ति और अराजकता का प्रसार होता रहा चिन्तन, साहित्य और कला भी शुष्क हो गई। केवल कैरोलिंगियन्स (Carolingians) के अल्पकालीन शासनकाल मे स्थिति कुछ ठीक रही, अन्यथा ग्यारहवी शताब्दी तक यूरोपीय चिन्तन कोई प्रगति नहीं कर सका बौद्धिक जीवन पुराने लेखको की रचनाओ की पुनरावृत्ति तक ही सीमित रहा। डॉयल (Doyle) के मार्गर्भित शब्दों मे—"शिशुओ की भाँति नवीन राष्ट्र बौद्धिक वर्णमाला का ज्ञान अर्जित कर रहे थे तथा श्रमपूर्वक प्राचीन गुरुओ की रचनाओ को समझने को प्रयत्नशील थे।"[1] इस बौद्धिक सुषुप्तावस्था और अप्रगति की लम्बी अवधि को देख कर ही विद्वानो ने मध्ययुग को 'अन्धकार युग' (Dark Age) तक की सज्ञा दे डाली है और डनिग (Dunning) ने इसे 'अराजनीतिक' (Unpolitical) कह कर पुकारा है।

'मध्ययुग अराजनीतिक था'—इस कथन का अर्थ मूलत इस सन्दर्भ मे लिया जाता है कि इस युग मे राजनीति-शास्त्र और दर्शन को अन्वेषण एव शोध का स्वतन्त्र विषय नही समझा जाता था। इस युग का अपना कोई विशेष राजदर्शन न था। राजनीतिक दर्शन का अन्वेषण होना तो दूर रहा, राजनीति अराजकता ही अधिक छाई रही थी। लेखको के दर्शन का स्रोत एक तत्त्व पर आधारित न होकर अनेक तत्त्वो पर आधारित था। कुछ लोगो ने बाइबिल को आधार बनाया, कुछ ने रोमन कानून पर विचार किया, तो दूसरो ने अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' को साधन बताया। यह युग धार्मिक अन्धविश्वास मे अधिकाधिक डूबता गया और राजनीतिक तत्त्व गौण होते चले गए। इसके अतिरिक्त समाज पर दोहरा शासन और वह भी अस्त-व्यस्त रूप मे चलता रहा। एक शासन राज्य का रहा तो दूसरा चर्च का। इस शासन के कारण राज्य चर्च हो गया और चर्च राज्य बन गया। इसमे भी चर्च, राज्य का नियन्त्रक रहा क्योंकि चर्च को आत्मा तो राज्य को शरीर की संज्ञा दी गई। राज्य-सत्ता एक प्रकार से धर्म-सत्ता का शान्ति रखने वाला विभाग बन गया। ऐसी परिस्थिति में न तो स्वतन्त्र राजनीतिक चिन्तन ही हो सका और न राजदर्शन ही पनप सका। ईसाई धर्म-ग्रन्थों का अन्ध-विश्वास भोली जनता मे इस तरह जमा दिया गया कि उसके विरुद्ध न तो कोई बात कही जा सकती थी, न लिखी। कोपरनिकस ने 25 वर्ष अत. अपने वैज्ञानिक सत्य को प्रकट नही किया क्योंकि वह सत्य धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध पडता था। ब्रूनो और गेलीलियो को अपने वैज्ञानिक मत प्रकट करने के दण्डस्वरूप कारावास की हवा खानी पड़ी और बाद मे एक को तो जीवित ही जला दिया गया। अपराध केवल यही था कि उन्होंने पृथ्वी के घूमने के वैज्ञानिक सत्य को प्रकट किया था।

इस युग मे जो अस्त-व्यस्त राजनीतिक सिद्धान्त प्रचलित थे वे भी अस्थिर और अनिश्चित थे। पोपो ने सत्य के शोध एव अध्ययन तथा भाषणो पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। जो भी राजनीतिक

1 *Doyle*: A History of Political Thought, p 67.

विचार प्रकट किए जाते थे उनमे राजनीति की बात प्रति गौण और धर्म की छाप बड़ी गहरी होती थी। इस युग के विचारको को सम्प्रभुता और विधि की श्रेष्ठता जैसी किसी कल्पना का ज्ञान न था, अन्यथा राजसत्ता धर्मसत्ता के अधीन नही रखी जा सकती थी और बाइबिल एवं धर्मग्रन्थो से न्याय कार्यों मे सहायता नही ली जा सकती थी। मध्ययुग मे निरीक्षणात्मक पद्धति का अभाव था, अत. समस्याओ का हल धार्मिक आदर्शों के अनुसार निकाला जाता था। उनकी पुष्टि के लिए इतिहास से उदाहरण लिए जाते थे और धर्मान्धता के आगे व्यावहारिकता को ताक पर रख दिया जाता था। मध्ययुगीन चिन्तको की अनिरीक्षणात्मक, अवैज्ञानिक और आलोचनात्मक अध्ययन पद्धति के कारण इस युग मे कोई स्थिर तथा क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धान्त नही बन सका। इसीलिए डनिंग का कहना स्वाभाविक है कि मध्ययुग 'अराजनीतिक' (Unpolitical) था।

इसमे कोई सन्देह नही कि मध्ययुग में सुव्यवस्थित बुद्धि-सम्पन्न तथा सुसगठित चिन्तन का अभाव था तथापि सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलता है कि अनेक अवरोधों और क्षीण विचारो के होने पर भी इस युग की राजनीति को नवजीवन मिला। इस युग मे अनेक व्यापक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया, धार्मिक क्षेत्र मे सुधार हुए, दास-प्रथा का अन्त हुआ, अनेक उच्च सस्थाओ का विकास हुआ और ये सब बातें परवर्ती दार्शनिक विकास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। मध्ययुग सर्वथा निष्फल नही रहा। उसने यूरोपीय सभ्यता के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया और आधुनिक युग का शिलान्यास प्रो आडम्स के शब्दों मे, "मध्ययुग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नही था, बल्कि विभिन्न जातीय (Heterogeneous) प्राय: परस्पर विरोधी तत्त्वो मे से, जो इसे प्राचीन काल से मिले थे, एक जैविक रूप से एकता-बद्ध तथा सजातीय (Homogeneous) ससार का निर्माण करना था। इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक स्थितियाँ पैदा की जो प्राचीनकाल वालो के लिए सम्भव नही थी।"[1]

मध्ययुग की विशेषताएँ (Chief Features of the Medieval Period)

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बाद मध्ययुग की विशेषताओ को अलग-अलग शीर्षको मे निम्नवत् प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा—

(1) सार्वभौमिकतावाद और विश्ववाद (Universalism)—यह मध्ययुगीन राजदर्शन की एक प्रमुख विशेषता थी। प्रो बार्कर के अनुसार—"समस्त मध्यकालीन विचार की शान है उसकी सार्वभौमिकता अर्थात् उसका विश्ववाद। यह एक ही सार्वभौमिक समाज को मान कर चलता है जो अपने लौकिक पक्ष मे प्राचीन रोमन साम्राज्य की विरासत और निरन्तरता है, तथा धार्मिक पक्ष मे एक दृष्टव्य चर्च मे ईसा का साकार रूप है।"[2]

प्रारम्भिक ईसाई विचारकों का मत था कि सारी मानव जाति एक बिरादरी है, सब मनुष्य भाई-भाई हैं। साथ ही उनकी यह भी मान्यता थी, कि ईसा की शरण मे ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है, और चूंकि ईसा ही चर्च का वास्तविक सस्थापक है, अत, मानव जाति को ईसाई धर्म के अधीन आना चाहिए। सन्त ऑगस्टाइन ने विश्ववाद के इन विचारो को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि सब मनुष्य एक ही नस्ल के हैं और ईसाई चर्च मनुष्यो के लिए है। चर्च पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है। ईसाईयो ने राज्य की नागरिकता और चर्च की सदस्यता को एक ही वस्तु के दो पहलू बतलाया।

जहाँ चर्च ने सम्पूर्ण जीवन को तथा उसके राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा आर्थिक सभी स्वरूपो को एक ईसाई सिद्धान्त की अधीनता मे नियन्त्रित करने का 'वीरतापूर्ण प्रयास' किया

1 *Adams* : Civilization During the Middle Ages, p. 14.
2 *Barker* . Social & Political Ideas of the Middle Ages, p 12.

और सबको चर्च के अधीन बना कर सार्वभौम चर्च का विचार स्थापित किया, वहाँ सार्वभौम राज्य का विचार भी साथ ही चला। सम्पूर्ण मध्य-युग मे सार्वभौम राजनीतिक एकता का आदर्श प्रचलित रहा और इसी आधार पर दो तलवारों के सिद्धान्त का उदय हुआ, जिसका आशय था कि सम्पूर्ण मानव समाज एक सगठन है, किन्तु मानव जीवन के दो पहलू हैं—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन की पूर्ति के लिए एक चर्च और भौतिक जीवन की पूर्ति के लिए एक राज्य होना चाहिए। यद्यपि बर्बरो के आक्रमणो ने, पश्चिमी यूरोप में अनेक स्वतन्त्र राज्यो ने, और नए ईसाईयो द्वारा अलग-अलग स्थानीय चर्चों की स्थापना मे सार्वभौमिक साम्राज्य एवं चर्च की एकता को भंग कर दिया किन्तु शार्लिमैन ने अपना साम्राज्य स्थापित करके राजनीतिक क्षेत्र में सार्वभौमिकवाद की पुनर्स्थापना कर दी। ओटो प्रथम (Otto I) ने पवित्र साम्राज्य की स्थापना करके यह क्रम बनाए रखा। आध्यात्मिक जगत् मे हिलब्रैंड ने पोप के सार्वभौमिक चर्च की स्थापना करके सार्वभौमिकतावाद को पुन प्रतिष्ठित किया। इस तरह लौकिक अथवा राजनीतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रो मे सार्वभौमिकवाद का पुन' उदय हो गया। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियो मे इस तरह की दो समानान्तर शक्तियाँ साथ-साथ नही निभ सकती थी, अत. पोप और सम्राट दोनो मे अर्थात् चर्च और राज्य मे, तीव्र विवादो और संघर्षों ने जन्म ले लिया जिन्होने मध्ययुगीन सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओं और चिन्तन को झकझोर दिया।

(2) **चर्च की सर्वोपरिता (Supremacy of the Church)**—मध्ययुग मे धर्म का स्थान इतना प्रबल हो गया कि यूनान तथा रोम की व्यापक सस्कृति को भी धर्म के रूप मे देखा जाने लगा। इस युग के अधिकांश भाग मे राजसत्ता चर्च मे केन्द्रित हो गई। उसकी स्थिति धर्मसत्ता के 'शान्ति-विभाग' जैसी बन गई। धर्म एक जादू का सा कार्य करने लगा। व्यक्ति का द्वि-मुखी शासन और पारलौकिक जीवन ईश्वर से सम्बन्धित समझा जाने लगा जिसके फलस्वरूप राजा चर्च के नियन्त्रण मे हो गया। चर्च ने अपने समर्थन मे 'दो तलवारो का सिद्धान्त' और कान्सटेन्टाइन के दान-पत्र का आधार प्रस्तुत किया। धार्मिक-सत्ता की स्थापना से राजसत्ता पगु हो गई लेकिन 13वी सदी के तीसरे चरण मे धार्मिक परिवर्तन हुआ और राजकीय सत्ता को पुन समर्थन मिलने लगा। यह विचार बल पकडने लगा कि धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु है फिर भी 14वी शताब्दी तक यूरोप मे पोप एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्ति बना रहा।

(3) **राजतन्त्रात्मक सरकार की प्रधानता**—मध्ययुग मे एकत्व के सिद्धान्त पर बल दिया जाता था। चर्च और राज्य मे राजतन्त्र की प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती थी। गीर्के (*Gierke*) के शब्दो मे, "मध्ययुग के विचारक यह मानते थे कि सामाजिक संगठन का मूल तत्त्व एकता है और यह शासन करने वाले अग मे होनी चाहिए और यह उद्देश्य तभी अच्छी तरह पूरा हो सकता है जब शासक अग स्वयमेव एक इकाई तथा परिणामत एक व्यक्ति हो।"[1] मध्ययुगीन दार्शनिको का विचार था कि सावयवी सत्ता का एक केन्द्र होना चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर जहाँ कुछ व्यक्तियो ने इस सत्ता का केन्द्रीकरण पोप के हाथो मे सौपा, वहाँ दूसरो ने राज्य की सत्ता के केन्द्रीकरण का समर्थन किया पर व्यवहारतः प्रवृत्ति राजतन्त्रात्मक सरकार की ओर ही रही।

(4) **राजसत्ता पर प्रतिबन्ध**—मध्ययुग मे राजसत्ता निरकुश नही थी। उस पर अनेक प्रतिबन्ध थे। उदाहरणार्थ पहला प्रतिबन्ध राज्याभिषेक के समय की जाने वाली प्रतिज्ञा थी, दूसरा प्रतिबन्ध सामन्ती व्यवस्था थी और तीसरा प्रतिबन्ध यह था कि राजा रीति-रिवाजो के रूप मे चले आने वाले कानूनो के पालन के लिए बाध्य था।

(5) **शरीर और आत्मा का सिद्धान्त**—मध्ययुगीन धर्म-वेत्ताओ ने राज्य को शरीर और चर्च को आत्मा का प्रतीक माना। राज्य एक बाहरी अवयव माना गया जबकि चर्च को एक नियन्त्रक

1 *Gierke*. Political Theories of the Middle Ages, p 31–32.

लगे। चर्च एक महान् धार्मिक संगठन के रूप मे विकसित हुआ। उसके प्रधान तथा ईश्वर के प्रतिनिधि पोप की छत्रछाया में सम्पूर्ण पश्चिमी ईसाई संसार एकता के सूत्र मे बँध गया।

पोप ग्रेगरी महान् ने अपनी योग्यता, राजनीतिज्ञता और दूरदर्शिता से चर्च के प्रभाव को बढाया। उसने पश्चिमी जगत् के शासको को श्रेष्ठ उपदेश और चेतावनी देने वाले पत्रो द्वारा अपना प्रभाव फैलाना शुरू किया। उसने लम्बार्डों के खिलाफ इटली की रक्षा करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। मध्य एव दक्षिणी इटली मे शासन का कार्य क्रियात्मक रूप से उसने अपने हाथ में ले लिया। उसने विशपो को चर्च की जागीरो मे सुशासन स्थापित करने और धार्मिक कार्यों के साथ-साथ लोक-कल्याण-कारी राजनीतिक कार्य करने को कहा। इस तरह ग्रेगरी ने रोम के पोप की प्रभुता के क्षेत्र को विशाल और सर्वमान्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने पादरियो के नियमों के सम्बन्ध मे एक पुस्तक (A Book of Pastoral Rules) द्वारा भी पोपशाही के प्रभाव का विस्तार किया।

कुछ समय बाद लम्बार्डों ने इटली पर पुनः आक्रमण कर दिया। इस समय रोमन सम्राट इस्लामी आक्रमण का सामना करने मे व्यस्त था अत पोप ने फ्रेन्किश राजा चार्ल्स मार्टेल (The Frankish King Charles Martel) से सहायता माँगी। उसने और उसके पुत्र पेपिन ने लम्बार्डों को मार भगाया। जो प्रदेश उन्होंने लम्बार्डों से वापिस छीने और जिन पर पहले इटली के पूर्वी सम्राट का अधिकार था, वे उन्होंने पोप को दे दिए। इस तरह अब पोपशाही के हाथ मे सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वह राजनीतिक शक्ति आ गई जो व्यावहारिक रूप से उसके पास पहले से ही थी। पोप ने इस उपहार के बदले मे 754 ई. मे पेपिन को फ्रेन्को का वैध राजा स्वीकार किया।

पोप की शक्ति मे वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण अवसर पोप लियो तृतीय के समय आया। फ्रेन्किश राजा पेपिन के पुत्र शार्लिमैन (768–814 ई.) ने यूरोप के अधिकांश भाग को जीत लिया। उस समय पोप लियो तृतीय और उसके राजनीतिक विरोधियो के मध्य चल रहे विवाद का शार्लिमैन ने सफल निर्णय किया। इसके उपलक्ष मे एक धार्मिक उत्सव का आयोजन किया गया। जब शार्लिमैन रोम के सेंट पीटर गिर्जे मे प्रार्थना करते हुए नतमस्तक हुआ, तभी (800 ई. क्रिसमिस का दिन) पोप लियो तृतीय ने उसके सिर पर सम्राट का मुकुट रख दिया। यह घटना महत्त्व की दृष्टि से बडी ही असाधारण सिद्ध हुई। इसके तीन परिणाम निकले—प्रथम, यह घटना इस बात की सूचक हुई कि बर्बरो के आक्रमण से खण्डित सार्वभौमिकता राज्य को पुन: मिल गई है; द्वितीय, इस घटना के बाद यह सिद्धान्त निकाला गया कि पोप ने इस विधि द्वारा शासन-सत्ता सम्राट को प्रदान की है और सम्राट को पोप के आदेशों का पालन करना चाहिए; तृतीय, यह घटना लौकिक विषयो मे पोप के हस्तक्षेप का प्रारम्भ बिन्दु बन गई। अब पोपशाही की आध्यात्मिक सस्था का राजनीतिक क्षेत्र मे अधिकाधिक पदार्पण होने लगा।

मध्ययुग मे पोप और चर्च की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन करने के लिए कुछ झूठे प्रमाण-पत्र गढे गए जिनका उद्देश्य "विशपो की स्थिति को मजबूत करना, विशेषकर लौकिक शासको द्वारा उनकी पदच्युति और सम्पत्ति की जब्ती को रोकना, अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले पादरियो के ऊपर अपने नियन्त्रण को दृढ करना और उनको अपनी परिषदो (Synods) के अतिरिक्त अन्य किसी निरीक्षण से स्वतन्त्र करना था। इन उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए वे आर्कविशपो की सत्ता को कम करना (क्योंकि आर्कविशप लौकिक शासको के अभिकर्ता हो सकते थे) और पोपो की शक्ति को बढाना चाहते थे। इन आज्ञप्तियो ने विशपो को यह अधिकार दे दिया कि वे अपने मामले की रोम मे अपील कर सकते थे और जब तक निर्णय न हो जाता, वे अपनी पदच्युति और सम्पत्ति की हानि से बच सकते थे। पोप का दरबार किसी भी धार्मिक मामलो का निर्णय बडी ही शक्तिशाली भाषा मे करता था। इसलिए नवीं शताब्दी की ये झूठी धर्माज्ञप्तियाँ इस प्रवृत्ति को प्रकट करती थी कि चर्च को फ्रेन्किश क्षेत्र से पोप की गद्दी मे केन्द्रित किया जाए, विशप को चर्च के शासन की एक इकाई बनाया जाए, उसे सीधे पोप के

प्रति उत्तरदायी बनाया जाए और आर्कबिशप की स्थिति को पोप और बिशप के बीच एक माध्यम की सी रहने दिया जाए। स्थूल रूप में रोमन चर्च मे यही शासन-प्रणाली प्रचलित हो गई। जब 11वी शताब्दी मे लोग इन झूठी धर्माज्ञप्तियो को सच्चा मानने लगे, उस समय इनके आधार पर ऐसे अनेक तर्क उपस्थित किए गए कि चर्च को लौकिक नियन्त्रण से स्वतन्त्रता प्राप्त हो, तथा धार्मिक शासन मे पोप ही सर्वेसर्वा रहे।"[1] अनेक शताब्दियो तक पोप इन आज्ञप्तियो को अपने अधिकारो के समर्थन का पुष्ट-प्रमाण मानते रहे। यद्यपि 1439 ई. मे लोरेंजो वाल्ला (Lorenzo Valla) ने इनका भडाफोड़ कर दिया, लेकिन फिर भी मध्ययुग मे इन्हे पोप के प्रभुत्व का महत्त्वपूर्ण प्रमाण समझा जाता रहा।

शार्लमैन के सिर पर पोप द्वारा मुकुट सुशोभित करने के बाद से पोपशाही का राजनीतिक महत्त्व तेजी से बढ़ने लगा, पर साथ ही पोप-पद का निर्वाचन सघर्षमय और कटुतापूर्ण बन गए जिनमे कभी-कभी तो हिंसात्मक घटनाएँ तक होने लगी। 10वी शताब्दी मे पोपो का नैतिक और व्यक्तिगत चरित्र इतना गिर गया कि चर्च सुधार का आन्दोलन शुरू हुआ और पोप के निर्वाचन का अधिकार कार्डिनलो (Cardinals) के मण्डल को हस्तान्तरित कर दिया गया (इससे पूर्व यह अधिकार पादरियो तथा रोम निवासियो को था)। सुधार-आन्दोलन का प्रारम्भ यद्यपि 910 ई. मे क्लूनी के मठ (The Monastery of Cluny) की स्थापना से हुआ लेकिन सुधार तब तक नही हो सके जब तक हिल्डेब्रैण्ड (Hildebrand) पोप ग्रेगरी सप्तम् के रूप मे 1073 ई. के पदासीन नही हो गया। उसने 1075 ई. मे बिशपो के चुनाव मे लौकिक शासको का हस्तक्षेप बिलकुल बन्द कर दिया। अगले वर्ष सम्राट हैनरी चतुर्थ (Emperor Henry IV) ने ग्रेगरी को पदच्युत करने का प्रयत्न किया लेकिन बदले में पोप ग्रेगरी ने ही सम्राट को धर्म-बहिष्कृत घोषित कर दिया। उसने सामन्तो को सामन्ती शपथ भी नही दिलवाई। ग्रेगरी और सम्राट मे सघर्ष बढ़ता गया। 1080 ई. में सम्राट हैनरी ने ग्रेगरी की जगह एक दूसरे पोप को पदासीन करने के लिए रोम पर चढाई कर दी। ग्रेगरी ने भागकर एक किले में शरण ली। हैनरी की आज्ञा से पोप के राजप्रासाद मे बुलाई गई। चर्च की एक परिषद् ने ग्रेगरी को पदच्युत करते हुए गुइबर्ट को क्लेमैंट तृतीय के नाम से पोप बनाया (24 मार्च, 1084 ई.)। इधर ग्रेगरी ने दक्षिण इटली के नार्मन लोगो को अपनी सहायतार्थ बुलाया। हैनरी जर्मन भाग गया। रोम-वासियो को नार्मन लोगो ने बुरी तरह लूटा। इससे वे लोग ग्रेगरी से रुष्ट हो गए। अन्त में प्राणरक्षा के लिये ग्रेगरी वहाँ से भागकर सलेर्नो में नार्मन लोगो की शरण मे चला गया, जहाँ 25 मई, 1085 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

ग्रेगरी सप्तम् ने चर्च की स्वतन्त्रता और प्रभुत्व के बारे मे जो नीति अपनाई उसके प्रमुख उद्देश्य थे—चर्च पर पोप के प्रभुत्व की सम्पूर्ण स्थापना, पादरियो को वैवाहिक बन्धन, पदो को खरीदने के आर्थिक बन्धन और राजनीतिक अधिकारियो द्वारा पद प्रदान करने के सामन्तवादी बन्धन से मुक्ति प्रदान करना। उसके द्वारा इस नीति को, जो 'जस्टीसिया' (Justicia) कहलाई, क्रियान्वित करने के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप ही चर्च और राज्य के मध्य का विख्यात विवाद आरम्भ हुआ।

सुधार आन्दोलन से चर्च मे नवीन शक्ति का सचार हुआ। पोप की प्रभुता के सिद्धान्त और पोप के अधिकार की धारणा को कालान्तर मे पोपो तथा लेखको ने अधिक सुनिश्चित रूप दिया। ग्रेगरी सप्तम् के योग्य उत्तराधिकारियो ने 12वी तथा 13वी शताब्दियो मे इसे और आगे बढाया। पोप स्पष्टतः इस बात का दावा करते थे कि राजा से बिना कोई परामर्श किए ही उन्हे यह अधिकार है कि वे बिशपो को नियुक्त या पदच्युत करें, उनका एक चर्च से दूसरे चर्च मे स्थानान्तरण करें और अपने प्रतिनिधियो द्वारा स्थानीय प्रशासन के दोषों को दूर करें। ये दावे चर्च और साम्राज्य के मध्य चले आ रहे संघर्ष में चर्च का पक्ष अधिक सबल बनाने के लिए प्रस्तुत किए गए थे, किन्तु इनसे स्वय चर्च के

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 206.

भीतर पोप के हाथ भी अधिक मजबूत हुए। इन्ही दावो के आधार पर आगे चलकर पोप के प्लेनीट्यूडो प्रॉटेस्टेटिस (Plenitudo Protestatis) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया जिसका सुन्दरतम भाव है—राजसत्ता या प्रभुता। सर्वप्रथम पोप इन्नोसैन्ट चतुर्थ तथा एजिडियस कोलोना ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त मे पोप की शक्ति की तीन बातें निहित थी—

1. चर्च की मौलिक शासन शक्ति का स्वामी तथा अन्य सभी अधिकारीगण की शक्ति का स्रोत पोप है।

2. पोप को सभी मानवीय कानूनो एव प्रशासकीय आदेशो को बनाने व बिगाडने का अधिकार है।

3. कोई सांसारिक शक्ति पोप को चुनौती नही दे सकती। किसी भी भौतिक शक्ति को यह अधिकार नही है कि वह पोप की आज्ञा एव निर्णयो की अवहेलना करे। पोप परमात्मा का प्रतिनिधि है, अत. उनका निर्णय परमात्मा का निर्णय है। यह अन्तिम निर्णय है जिसके विरुद्ध कोई अपील नही हो सकती।

पोप उपर्युक्त दावो से भी एक कदम आगे बढ गए और राज्याधिकारियो पर भी नियन्त्रण करने का दावा करने लगे। पोप इन्नोसैन्ट तृतीय ने तो यह भी घोषित किया कि उसे यह निर्णय करने का अधिकार है कि निर्वाचित सम्राट योग्य है या अयोग्य। उसने यह भी दावा किया कि सम्राट के विवादग्रस्त निर्वाचन को रद्द करने का भी उसे अधिकार है। पोप के दावो का कहीं अन्त न था। वह यह भी दावा करने लगा कि—(i) वह युद्ध एव शान्ति का एकमात्र अभिभावक है, (iii) वह शासको के मध्य समझौतो तथा सन्धियो को पुष्ट करने और उनका निर्णय करने का अधिकारी है, (iii) वह विरोधियो को दण्डित करने एव विधवाओ तथा नाबालिगो का सरक्षक होने और शासको को नैतिक अनुशासन मे बाँधे रखने का अधिकार रखता है, और (iv) राजकीय न्यायालयो से इच्छानुसार मुकदमे अपने पास मँगवा सकता है।

इन सभी दावो की पुष्टि के लिए यह तर्क दिया गया कि ईसा ने पीटर को चर्च का पहला अध्यक्ष बनाया था और रोम के बिशप पीटर के सच्चे उत्तराधिकारी होने के कारण पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। अत. सभी ईसाईयो पर चाहे वह राजा है। या रंक पोप की सर्वोच्च सत्ता है। पोपो ने भोली-भाली जनता के हृदय मे यह विश्वास बैठा दिया कि चर्च के आशीर्वाद के अभाव मे मोक्ष-प्राप्ति नही हो सकती। केवल चर्च की अनुकम्पा ही नारकीय यातनाओ से छुटकारा दिला सकती है।

पोपो की शक्ति के विकास मे निम्नलिखित तीन कारणो ने भी योग दिया—

1. कैनोनिस्ट्स (Canonists) पोप के हाथो मे शक्ति के केन्द्रीकरण मे सहायक सिद्ध हुए क्योंकि ये लोग ही धार्मिक कानूनो की व्याख्या करते थे और उन्हें लागू करते थे।

2. रोमन साम्राज्य के पतन के समय महत्त्वाकांक्षी और मेधावी व्यक्तियों ने चर्च को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। उस समय चर्च मे इसके लिए पर्याप्त क्षेत्र था।

3 शिक्षा और विद्या पर अपना एकाधिकार होने के कारण भी चर्च को अपने हाथो मे शक्ति के केन्द्रीकरण मे सहायता मिली।

4 पवित्र रोमन साम्राज्य
(Holy Roman Empire)

सामन्त प्रथा और पोप के अभ्युदय के अतिरिक्त पवित्र रोमन साम्राज्य के विकास ने मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला। इस साम्राज्य का उदय फ्रैंकिस राजतन्त्र में से हुआ जिसकी स्थापना क्लोविस (Clovis) ने की। क्लोविस के द्वारा फ्रैंक जाति ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। फ्रैंक जाति का एक अन्य महान् नेता चार्ल्स मार्टेल हुआ था। इटली पर लम्बार्ड जाति

के आक्रमण होने पर पोप ग्रेगरी प्रथम की प्रार्थना पर चार्ल्स मार्टेल और उसके पुत्र पेपिन ने लम्बार्डों को इटली से भगाकर वहाँ का शासन पोप को दे दिया। इससे प्रसन्न होकर पोप ने पेपिन को फ्रैंक का वैध शासक स्वीकार किया। पेपिन के बाद उसका पुत्र शार्लमैन शासक बना। शार्लमैन ने अधिकांश पश्चिमी यूरोप जीत लिया। वह रोम आया तब सेंट पीटर के गिर्जे में प्रार्थना करते हुए घुटने टेकने पर पोप लियो तृतीय ने 800 ई. में क्रिसमस के दिन उसके सिर पर सम्राट का मुकुट रखा। यहीं से पवित्र रोमन साम्राज्य का आरम्भ हुआ, यद्यपि इसकी वास्तविक स्थापना बाद में ही हुई जिसका वर्णन हम आगे कर रहे हैं।

शार्लमैन की मृत्यु के बाद 843 ई. में उसका साम्राज्य फ्रांस, जर्मनी और इटली तीन राज्यों में विभक्त हो गया, किन्तु साम्राज्य का विस्तार लुप्त नहीं हुआ। सम्राट की उपाधि का आकर्षण बना रहा जिसने विभिन्न दावेदारों में संघर्ष की स्थिति पैदा की। अन्त में सफलता जर्मन राजा ओटो प्रथम (ओटो महान्) को मिली। 10वीं शताब्दी में इटली की अराजकता का अन्त करने के लिए पोप जॉन 12वें ने ओटो प्रथम को निमन्त्रित करके पवित्र रोमन सम्राट बनाने का प्रलोभन दिया। तदनुसार ओटो ने इटली पर आक्रमण कर दिया और रोम तथा सैवाइन प्रदेश को छोड़ कर शेष इटली को अपने राज्य में मिला लिया। 962 ई. में पोप जॉन बारहवें ने उसका पवित्र रोमन सम्राट के रूप में अभिषेक किया। यहीं से पवित्र रोमन साम्राज्य का वास्तविक सूत्रपात हुआ। ओटो प्रथम ने ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय से यह मत व्यक्त किया गया कि सम्राटों तथा पोप के चर्च में घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिए। ओटो महान् ने रोम के डची तथा सैबाइन प्रदेश पर पोप का प्रभुत्व रहने दिया और केन्द्रीय तथा उत्तरी इटली को अपने शासन में रखा। जर्मन सम्राट को अपना प्रदेश समझने लगे। वे पोपों के निर्वाचन में गहरी दिलचस्पी लेने लगे। पोप यह मानने लगे कि कोई व्यक्ति उनसे अभिषेक कराए बिना रोमन सम्राट नहीं बन सकता। ओटो स्वयं को पुराने रोम सम्राट सीजर, ऑगस्टस आदि के उत्तराधिकारियों में मानने लगा। ईसाई समाज में भी यह विश्वास जम गया कि धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चर्च आवश्यक है जिसका सर्वोच्च अधिकारी पोप है और राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक सम्राट आवश्यक है जिसका सर्वोच्च अधिकारी सम्राट होना चाहिए। ओटो मुख्यतः उसके बाद जर्मन के राजा ही पवित्र रोमन साम्राज्य के शासक बनने लगे। पोप भूतल पर आध्यात्मिक विषयों में और सम्राट लौकिक विषयों में भगवान् का प्रतिनिधि समझा जाने लगा। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और सार्वभौम थे, पर दोनों एक-दूसरे को परस्पर आवश्यक और सहायक समझते थे। इस तरह सभी ईसाई 'रहस्यात्मक द्वित्व' (Mystic Dualism) में विश्वास रखते हुए द्वैध शासन में रहते थे।

उपर्युक्त स्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकी। शीघ्र ही राज्य और चर्च में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गए। पोप और चर्च की अनैतिकता को रोकने तथा भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए सम्राट हस्तक्षेप करने लगे जो पोपों को स्वीकार नहीं हुआ। ओटो प्रथम के समय से ही जर्मन सम्राट पोपों के निर्वाचन और निष्कासन में गहरी रुचि लेने गए। अब ओटो प्रथम को मालूम हुआ कि 962ई. में रोमन सम्राट के रूप में उसका अभिषेक करने वाला पोप जॉन द्वादश चरित्रहीन है तो उसने एक धार्मिक परिषद् में उस पर अनैतिकता का अभियोग चलवा कर उसे पोप-पद से हटवा दिया। अब लिओ अष्टम पोप बना लेकिन जैसे ही ओटो वापिस जर्मनी लौटा, जॉन द्वादश ने पुनः पोप की गद्दी पर अधिकार कर लिया। 964 ई. में पोप जॉन द्वादश की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर बेनी डिक्ट को पोप बनाया गया। बेनी डिक्ट पद पर बना नहीं रह सका क्योंकि ओटो ने इटली आकर पुन. लिओ को पोप बना दिया। लिओ ने यह घोषित किया कि पोप बनने के लिए जर्मन सम्राट की सहमति आवश्यक है।

जर्मन सम्राटों के लिए पोप के निर्वाचनों में इस तरह बार-बार आकर हस्तक्षेप करना सुविधाजनक न था, क्योंकि वे दूर देश के वासी थे। अब पोपों का चुनाव संघर्ष सामन्तवादी प्रवृत्तियों

के रूप मे प्रस्तुत किया गया। यह कहा गया कि यद्यपि चर्च आध्यात्मिक मामलो मे और राज्य केवल नागरिक तथा राजनीतिक मामलो मे हस्तक्षेप करता है लेकिन राज्य रूपी शरीर का अस्तित्व आत्मा के शुद्धिकरण पर निर्भर है। चर्च-आत्मा, राज्य-शरीर दोनो एक है, अलग नही, केवल इनका क्षेत्राधिकार अलग-अलग है। आत्मा से सम्बन्धित विषय चर्च के अधीन है, और शरीर से सम्बन्धित विषय राज्य के।

(6) **समाज का ग्राम्यीकरण तथा केन्द्रीय सत्ता का अभाव**—रोमन साम्राज्य बर्बर जातियो के आक्रमण से धराशाही हुआ और यूरोप टुकडो मे बँट गया जिनका शासन स्थानीय सामन्तो के हाथो में चला गया। सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक तो केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो गया, दूसरे, यूरोप मे ग्राम्य समाज तथा सभ्यता का विकास हुआ। इस विकास मे आवागमन के साधनो की कमी ने बड़ी सहायता की। आक्रमणो के फलस्वरूप आवागमन के साधनो की समाप्ति के बाद नगरो का भी पतन हो गया। ग्राम्यीकरण मे शिक्षा-व्यवस्था के अन्त ने भी सहायता प्रदान की। लोग निरक्षर हो गए। उनका दृष्टिकोण सीमित होता चला गया। ईसाई पादरियो ने साक्षरता-प्रसार के यथाशक्ति प्रयत्न किए और अधिक सफलता प्राप्त न कर सकने पर भी यूनानी और रोमन सभ्यता की प्राण-ज्योति को बुझने नही दिया।

(7) **लोक-सत्ता का विचार**—मध्यकाल मे अनेक विचारको ने राजतन्त्र का समर्थन करते हुए राजा के दैविक अधिकारो का प्रतिपादन किया था। शनैः-शनै विचार परिवर्तन हुआ और उन्होंने एक अन्य लोक-शक्ति की कल्पना की। यह मत प्रकट किया गया कि सिंहासन पर आसीन होने का अधिकार दैवी अवश्य है, किन्तु राजा को शक्ति समाज से ही प्राप्त होती है अत. राजा सामाजिक सीमाओ का अतिक्रमण नही कर सकता। उधर पोप-समर्थको का भी यह विश्वास था कि राजा और राजसत्ता दैवी होने के साथ-साथ मानवकृत भी है।

(8) **सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति**—मध्य-युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति सामुदायिक जीवन बिताने की थी। यह विभिन्न प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समूहो मे व्यतीत किया जाता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति समुदाय मे रह कर ही पूरी कर पाता था। समुदायो या समूहो के प्रधान-रूप ईसाई मठ, परिव्राजक सम्प्रदाय (Monastic Orders), आर्थिक श्रेणियाँ (Guilds), कम्यून और नगर थे। सामुदायिक जीवन की प्रधानता के कारण ही इस युग मे व्यक्ति के अधिकार उपेक्षित रहे। वैयक्तिक अधिकार और स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार पोप तथा राजा की प्रभुता के सामने ठहर नही सकते थे। सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति इतनी व्यापक थी कि धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक आदि कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नही बचा था।

(9) **निगम सम्बन्धी सिद्धान्त**—मध्ययुग मे सामुदायिक जीवन की प्रधानता होने के कारण निगमो के सिद्धान्त (Theory of Corporations) का विकास हुआ। इस सिद्धान्त का उद्देश्य कुछ विशिष्ट संस्थाओ के विशेष महत्त्व को स्थिर करना था। समर्थको का कहना था कि, "जिन संस्थाओ का उद्देश्य आध्यात्मिक तथा लौकिक जीवन का विकास करना है उन्हे अपना कार्य उचित रूप से चलाने के लिए इस प्रकार सत्ता-सम्पन्न कर दिया कि उनके कार्यो मे किसी बाह्य शक्ति को हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले तथा वे राजनीतिक झगडो से दूर रहते हुए अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकें।" मध्ययुग मे निगमो के मुख्य रूप ईसाई-संघ या चर्च, चर्च की परिषद्, विश्व-विद्यालय, स्वतन्त्र नगर कम्यून आदि थे। लोगो का कहना था कि नगर, चर्च, विश्व-विद्यालय और उनकी प्रबन्धकारिणी समितियाँ एक ओर तो समाज के अङ्ग है तथा दूसरी ओर वे अपने-आप मे पूर्ण भी हैं। उनके स्वरूप, कार्य, उनकी भावनाएँ और इच्छाएँ तथा व्यक्तित्व परस्पर भिन्न हैं। उनके अपने कुछ निश्चित उद्देश्य भी हैं जिन्हे प्राप्त करने को वे सतत् प्रयत्नशील रहते है अत. उन्हे अपना शासन-कार्य स्वय करने का पूर्ण

अधिकार मिलना चाहिए । उदाहरणार्थ चर्च या आर्थिक श्रेणी को अपने सदस्यो के लिए नियम बनाने और उन पर अनुशासन करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए ।

मध्ययुग के इस निगम सिद्धान्त द्वारा एक ही राज्य मे स्वशासन, स्वतन्त्र और अधिकार सम्पन्न अनेक सगठन उत्पन्न हो गए जिनका राजनीतिक चिन्तन पर विशेष प्रभाव पडा । इसी सिद्धान्त के आधार पर भविष्य मे यूरोप के अनेक देशो, विशेषकर इग्लैण्ड मे स्वशासित सस्थाओ का विकास हुआ । आधुनिक युग के प्रारम्भ मे पनपने वाला बहुलवाद (Pluralism) मध्ययुगीन निगम-सिद्धान्तो पर ही आधारित है । स्वतन्त्र व्यक्तित्व और सामूहिक इच्छाचारी इन सगठनो के सिद्धान्तो ने निरकुश राजतन्त्र को पीछे धकेल कर लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के विचार को विकसित करने मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया । इस सिद्धान्त के आधार पर उस समय यह स्वीकार किया जाने लगा कि शासको की समस्त सत्ता जनता द्वारा दी जाती है तथा चर्च की परिषद् सम्पूर्ण ईसाई सघ का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है । मध्ययुग मे राज्य का सावयवी मानने के पहले से ही प्रचलित विचार मे निगम-सिद्धान्त के निगमित व्यक्तित्व (Corporate Personality) के नवीन विचार का समावेश किया जिससे प्रतिनिधित्व के परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory of Representation) का विकास हुआ ।

(10) प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का सिद्धान्त—मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन मे प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली के बीज विद्यमान थे । धर्मतन्त्र तक मे इसका प्रवेश था । पोप ईसाईयो का प्रतिनिधि था । पादरी उसका निर्वाचन करते थे और सम्मिलित रूप से अकर्त्तव्यपरायणता और धर्मभ्रष्टता का आरोप लगा कर उसे पद से हटा भी सकते थे । धर्म सम्बन्धी बातो मे भी उसका निर्णय अन्तिम नही था । अन्तिम निर्णय का अधिकार पादरियो की सयुक्त परिषद् को था ।

प्रतिनिधि शासन को राजनीतिक क्षेत्र मे भी लाने का प्रयास किया गया था । सम्राट् का निर्वाचन करने वाले व्यक्ति सर्वसाधारण के प्रतिनिधियो के समान थे । प्रतिनिधि के सिद्धान्त को बढाने मे चर्च और राजा के मध्यवर्ती संघर्ष ने बड़ी सहायता पहुँचाई । निकोलस, जॉन ऑफ पेरिस और मार्सिलियो जैसे विचारकों ने इसे सम्बल प्रदान किया ।

निकोलस चर्च तथा राज्य दोनो मे प्रतिनिधि शासन और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का पक्षपाती था । उसका विचार था कि चर्च के सुधार एवं शासन के सचालन के लिए सब प्रान्तो से प्रतिनिधियो का निर्वाचन किया जाना चाहिए । प्रतिनिधियो की सभा ही चर्च और राज्य की केन्द्रीय शक्ति होनी चाहिए । जनता ही इस शक्ति का अन्तिम स्रोत होना चाहिए । राजा को प्रजा की इच्छा-पर्यन्त ही शासक का पद ग्रहण करना चाहिए । उसने सुझाव दिया कि जर्मन साम्राज्य को बारह भागों मे बाँटा जाए और सम्राट एक स्थायी परिषद् के परामर्श से कार्य करे ।

जॉन ऑफ पेरिस ने कहा कि चर्च की बडी सभा पोप को अपदस्थ कर सकती है । उसने यह भी सुझाव दिया कि यदि चर्च के लिए सर्वश्रेष्ठ सरकार का निर्माण करना है तो सब प्रान्तो से प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया जाना चाहिए । उसने कहा कि राजतन्त्र को भी प्रतिनिधित्व द्वारा नम्र बनाना चाहिए ।

मार्सीलियो निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थक था । उसने शासक को अपने समस्त कार्यों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी ठहराया । उसके विचार मे सबसे बडी विधायिका-शक्ति जनता थी और राजा कार्यकारिणी का प्रधान था जिसे अनुकूल कार्य करते हुए न पाने पर जनता हटा सकती थी । कानून-निर्माण का अधिकार जनता का था और राजा का प्रमुख कार्य उनकी व्याख्या करना था । मार्सीलियो प्रजातन्त्र का प्रबल समर्थक था । उसका विचार था कि राज्य की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सभाओ का निर्वाचन नागरिकों द्वारा किया जाना चाहिए । चर्च का संगठन भी प्रजातन्त्रात्मक होना चाहिए । उसमे भी अन्तिम सत्ता बडी सभा मे होनी चाहिए जिसका निर्माण धार्मिक तथा लौकिक प्रतिनिधियो द्वारा किया जाना चाहिए । वह इस बात का पक्षपाती था कि जनता

ही सभा द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पोप का निर्वाचन करे और वही आवश्यकता पड़ने पर पोप को अपदस्थ करने मे भी सक्षम हो।

चर्च और राज्य के मध्य संघर्ष का युग
(The Era of Conflict Between the Church and the State)

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय चर्च और राज्य का संघर्ष था। मध्ययुग के आरम्भ होने के पहले से ही यह धारणा प्रचलित थी कि ईश्वर ने मानव समाज के शासन के लिए दो सत्ताओं को नियुक्त किया है—पोप और सम्राट। पोप आध्यात्मिक शासन का प्रधान था तो सम्राट लौकिक शासन का। यह माना जाता था कि दोनों अपनी सत्ता का प्रयोग दैवी तथा प्राकृतिक विधि के अनुसार करते है और कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक एवं लौकिक-सत्ता का एक साथ प्रयोग नही कर सकता। दोनो सत्ताओ मे कोई संघर्ष नही होना चाहिए और दोनो को एक-दूसरे की सहायता करनी चाहिए।

ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व तक धर्म और राजनीति के सम्बन्ध, मामूली उतार-चढ़ावो को छोडकर, सामान्य से बने रहे। दसवी शताब्दी मे, पोपो के व्यक्तिगत चरित्र के बहुत नीचे गिर जाने पर और पोपशाही के बदनाम हो जाने पर, सम्राटो ने सुधार के लिए कुछ कदम उठाए और पोपों को उनके पद से उतारा। ग्यारहवी शताब्दी तक सामान्य रूप से पोपशाही पर सम्राट का ही अधिक स्पष्ट नियन्त्रण रहा, यद्यपि इस व्यवहार के अनेक अपवाद भी थे। सन्त अम्ब्रोज सरीखे शक्तिशाली बिशप सम्राट की उन आज्ञाओ का पालन करने से इन्कार कर देते थे जो उनकी दृष्टि मे अन्यायपूर्ण होती थी। धार्मिक परिषदें और व्यक्तिगत धर्माचार्य अनाचारो के लिए राजाओ की भर्त्सना करने मे अम्ब्रोज के दृष्टान्त का अनुसरण करते थे। शासको के चुनने और अपदस्थ करने मे बिशपो का भी बडा हाथ रहता था। चर्च का इस तरह का विशेष महत्त्व शक्तिशाली पोपो के समय ही स्थापित होता था अन्यथा साधारणतः सम्राट का पोप पर नियन्त्रण अधिक वास्तविक था। दोनो सत्ताओ के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार के थे यदि एक सत्ता अपनी बात पर अड जाती थी तो दूसरी उसके सामने झुक जाती थी और इस तरह उनमे संघर्ष होने की नौबत नही आती थी।

ग्यारहवी शताब्दी मे स्थिति ने पल्टा खाना शुरू किया और चर्च तथा राज्य के संघर्ष की प्रसिद्ध कहानी का सूत्रपात हो गया। निकोलस द्वितीय (1059–1061 ई) के समय पोप की निर्वाचन-प्रणाली मे परिवर्तन की घोषणा की गई और सम्राट हैनरी चतुर्थ की नाबालगी का लाभ उठाते हुए पोप जर्मन सम्राटो के प्रभुत्व से स्वतन्त्र हो गया। जब हैनरी चतुर्थ ने पुराने सम्राटो के अधिकारो का प्रयोग करना चाहा तो हठी और महत्त्वाकांक्षी पोप ग्रेगरी सप्तम् (1073–1085) के साथ उसका संघर्ष छिड गया। 11वी शताब्दी से शुरू होने वाला चर्च और राजसत्ता का यह संघर्ष लगभग 4 शताब्दियो तक चलता रहा। शुरू मे इसमे पोप की विजय हुई, पर बाद मे सत्ता का पासा प्रबल हो गया। मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन के इस संघर्षपूर्ण पहलू पर टिप्पणी करते हुए गैटेल ने लिखा है—"पोपो की लौकिक शक्ति का उदय और पराभव तथा राजाओ और सम्राटो के साथ उनका संघर्ष—ये ही मुख्य विषय थे जिनके चारो ओर मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन चक्कर काटता रहा।"[1]

चर्च और राजसत्ता के बीच सहयोग के सूत्र समाप्त होकर विरोध प्रारम्भ होने का सबसे मुख्य कारण यही था कि लौकिक और धार्मिक कार्यो के अन्तर का कोई स्पष्टीकरण नही किया था। अत अवसर का लाभ उठाते हुए चर्च और राज्य दोनों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि उनके क्षेत्रो का

1 "The rise and decline of the secular power of the Popes, and their contests with emperors and kings were the issues about which medieval political theory revolved"

—*Gettle* : History of Political Thought, p. 111,

एक-दूसरे के द्वारा अतिक्रमण किया जा रहा है। विवाद उठाकर अपने हितों का संवर्द्धन करना ही दोनो पक्षो का लक्ष्य था। धर्म-सत्ता और राजसत्ता के संघर्ष के कुछ और भी कारण थे जिन्हे मैक्सी ने इस प्रकार व्यक्त किए हैं[1]—(1) राज्याधिकारियो द्वारा बिशपो का पद-स्थापन अर्थात् उनकी नियुक्ति किया जाना, (2) चर्च की सम्पत्ति पर राजा का करारोपण का अधिकार, (3) लौकिक स्वामियो के अधीनस्थ पादरियो द्वारा सिक्के ढालने और टैक्स जमा किए जाने जैसे नागरिक कार्यों का किया जाना, एव (4) जागीर रखने वाले पादरियों द्वारा अपने स्वामियों के प्रति कर्त्तव्यों का अनुपालन। इन विभिन्न कारणो से सम्बन्धित विवादो का चर्च और राजसत्ता के संघर्ष का और इसमें निहित राजनीतिक विचारो के विकास का वर्णन क्रमबद्ध रूप से अग्रांकित शीर्षकों मे करना उपयुक्त होगा—

राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति (Lay Investiture)

सन् 1073 ई मे ग्रेगरी सप्तम् के पोप बनने के बाद ही चर्च एव राजसत्ता के महान् विवाद का श्रीगणेश हो गया। आरम्भ मे यह विवाद बिशपो के पद-ग्रहण के अर्थात् उच्च धर्माचार्यों के चुनाव मे लौकिक शासको के भाग से सम्बन्ध रखता था। मध्ययुग मे राजाओ और सामन्तो ने चर्च को विशाल भू-सम्पत्ति दान की थी। राजाओ को धर्म का रक्षक समझा जाता था, अत. उनका दावा था कि उनके प्रदेश मे रहने वाले चर्च के सभी उच्चाधिकारी उनके वशवर्ती है। तत्कालीन प्रथा के अनुसार प्रत्येक नए बिशप और मठाधीश को नियुक्त करते समय उसके धार्मिक कार्यों के प्रतीक स्वरूप उसे एक अँगूठी और छडी (Ring and Stick) कह कहते हुए दी जाती थी कि इस चर्च को ग्रहण करो (Accipeecclesium)। बिशपो की इस नियुक्ति को अभिषेक विधि (Investiture) कहा जाता था। राजा और सामन्तो का यह दावा था कि बिशपो को नियुक्त करने का अधिकार उनका है क्योंकि पद का धार्मिक स्वरूप लौकिक स्वरूप से कम महत्त्वपूर्ण है। राजा और सामन्त किसी मठाधीश या बिशप की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति अपने अधिकार मे ले लेते थे और उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति स्वेच्छा से किया करते थे। राजा घोषणा कर देता था कि अमुक व्यक्ति को बिशप बनाने की उसकी इच्छा है। यदि ईसाई पादरी अथवा राजा जनता द्वारा समर्थित व्यक्ति को चुन लेते थे तो राजा रिक्त-स्थान पर विधि पूर्वक उस व्यक्ति को पदासीन कर देता था। ऐसा न होने पर वह निर्वाचित व्यक्ति के रिक्त पद पर न तो नियुक्ति ही करता था और न उसे भू-सम्पत्ति ही प्रदान करता था। राजाओ का दावा था कि उनके प्रदेशों मे भू-सम्पत्ति रखने वाले बिशपो एव मठाधीशो को भू-सम्पत्ति तथा धर्म-चिह्न (अँगूठी और छडी) राजा से ग्रहण करनी चाहिए। चर्च इस व्यवस्था का विरोधी था। वह धर्माचार्यों की नियुक्ति सम्बन्धी शक्ति राजा और सामन्तो से छीनना चाहता था। ऐसा साहसिक कदम कोई शक्तिशाली पोप ही उठा सकता था। सौभाग्यवश ग्रेगरी सप्तम् के रूप मे चर्च को ऐसा पोप मिल गया। उसने 1075 में बिशपो के चुनाव मे लौकिक शासको का हस्तक्षेप बन्द कर दिया। उसने राज्य के अधिकारियो द्वारा बिशपो की नियुक्ति (Lay Investiture) को अवैध घोषित करते हुए राजा के 4 प्रमुख बिशपो को चर्च से निकाल दिया। उसने एक प्रत्यादेश द्वारा बिशपगण का राज्याधिकारियो के हाथो से पद-ग्रहण करना निषिद्ध ठहराते हुए घोषणा की कि इसका उल्लघन करने वाले दोनो पक्षो को धर्म बहिष्कार का दण्ड दिया जा सकता है। स्पष्ट ही सम्राट हैनरी चतुर्थ को यह एक खुली चुनौती थी।

ग्रेगरी सप्तम् और सम्राट हैनरी चतुर्थ का संघर्ष

सेबाइन के अनुसार, "ग्रेगरी की दृष्टि मे पोप सम्पूर्ण चर्च का प्रभुसत्ताधारी प्रधान था। वह बिशपो को नियुक्त और अपदस्थ कर सकता था। उसका धार्मिक प्रतिनिधि (Legate) बिशपों तथा चर्च के अन्य अधिकारियो से उच्चतर स्थिति का उपभोग करता था। वही जनरल कौंसिल की बैठक

1 Maxey Op cit., p 111.

[illegible] सकता था और आज्ञप्तियों को लागू कर सकता था । पोप की आज्ञप्तियों को कोई रद्द नही कर सकता था । यदि कोई मामला एक बार पोप की अदालत मे आता था तो उस पर अन्य कोई सत्ता निर्णय नही दे सकती थी । संक्षेप मे, ग्रेगरी का चर्च शासन सम्बन्धी सिद्धान्त राजतन्त्रात्मक था । यह सामन्ती राजतन्त्र नही था प्रत्युत साम्राज्यिक रोम की परम्परा में राजतन्त्र था । ईश्वर तथा दैवी-विधान के अधीन पोप सर्वशक्तिशाली था । पोपशाही का यह पैट्राइन सिद्धान्त (Patrine Theory) आगे चलकर स्वीकार प्राप्त हो गया था, लेकिन उस समय को देखते हुए यह एक नई चीज थी और ग्यारहवीं शताब्दी में इसकी सर्वत्र मान्यता नही थी । इस सिद्धान्त के कारण कभी-कभी ग्रेगरी और उसके बिशपों में गलतफहमी पैदा हो जाती थी ।"[1] सदाचार सम्बन्धी प्रश्नो के बारे मे चर्च का अधिकार मान्य था ग्रेगरी ने इसका अतिवादी विस्तार किया । वह धर्मपद-विक्रय के अपराध के बारे मे केवल अपराधी धर्माचार्यों के विरुद्ध ही कार्य नही करता था बल्कि लौकिक शासक के विरुद्ध भी कार्य करता था । 25 वर्ष तक पोप के अधीन कार्य करते हुए ग्रेगरी सप्तम् के नाम से पोप बनने वाले हिलडेब्रांड (Hildebrand) का यह दृढ़ संकल्प था कि वह चर्च की तीन बड़ी बुराइयों का अर्थात् पदो के क्रय-विक्रय (Simony), पादरियों के विवाह करने तथा राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति करने का उन्मूलन करेगा ।

बिशपो के चुनाव मे लौकिक शासकों का हस्तक्षेप बन्द कर देने की कार्यवाही से क्षुब्ध होकर सम्राट हैनरी चतुर्थ ने जब ग्रेगरी को 1076 मे पदच्युत करने का प्रयास किया तो बदले मे ग्रेगरी ने सम्राट को धर्म बहिष्कृत घोषित कर दिया और उसके सामन्तो को सामन्ती शपथ नही दिलाई । ग्रेगरी ने अपनी आज्ञप्ति को धर्म बहिष्कार के दण्ड के साथ लागू करने का प्रयास किया । यह कोई नई चीज नही थी । लेकिन ग्रेगरी ने इसके साथ यह बात भी जोड दी कि धर्म-बहिष्कृत राजा ईसाई समाज से बाहर होने के कारण अपने प्रजाजनो की सेवाओ और निष्ठा का अधिकारी नही होता ।

ग्रेगरी ने अपने इस कार्य का आधार चर्च का यह अधिकार बतलाया था कि वह ईसाई समाज के प्रत्येक सदस्य पर नैतिक अनुशासन का प्रयोग कर सकता है । सन्त अम्ब्रोज की भाँति उसका भी तर्क था कि लौकिक शासक स्वय ईसाई होता है , अत. नैतिक तथा आध्यात्मिक मामलो मे वह चर्च के नियन्त्रण में रहता है । इसका अर्थ यह है कि धर्म-बहिष्कृत करने के अधिकार के साथ-साथ अपदस्थ करने का अधिकार भी जुडा था । चर्च नागरिको से कह सकता था कि वे सम्राट के प्रति निष्ठा रखें । इसका ध्वनितार्थ यह निकलता था कि चर्च ऐसा अन्तिम न्यायालय हो गया था जिसके निर्णय पर शासक की वैधता निर्भर थी ।

हम नही कह सकते कि ग्रेगरी अपनी नीति के ध्वनितार्थों के बारे मे और उसके पक्ष में दी गई युक्तियो के बारे मे स्वय कहाँ तक स्पष्ट था । सम्भवत. ग्रेगरी सिर्फ यह चाहता था कि चर्च को नैतिक अनुशासन स्थापित करने का अधिकार होना चाहिए । वह चर्च की कानूनी उच्चता स्थापित करने मे कोई दिलचस्पी नही रखता था । उसका उद्देश्य गेलाशियन सिद्धान्त मे कल्पित दोहरी व्यवस्था के अन्तर्गत चर्च की स्वतन्त्रता की रक्षा करना था ।

ग्रेगरी ने अपने एक पत्र मे लिखा कि शासन की उत्पत्ति पाप से हुई है, पर यथार्थत: वह राजपद पर इस प्रकार का आक्षेप नही करना चाहता था । वह तो राजा पर केवल ऐसा अनुशासन थोपना चाहता था जैसा पोप के रूप मे किसी इकाई के ऊपर । ग्रेगरी का यह भी विश्वास था कि "पोप यूरोप के सदाचारो का निर्णायक हो सकता था और कोई दुराग्रही शासक उसके आध्यात्मिक तथा नैतिक नियन्त्रण को नही रोक सकता था ।" धर्माचार्यों को यूरोपीय विषयो मे क्या भूमिका अदा करनी चाहिए ? इस विषय मे 1080 मे रोम की एक कौंसिल मे उसने ये विचार प्रकट किए—

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 213.

"पवित्र धर्माचार्यो ! आपको इस प्रकार का आचरण करना चाहिए, जिससे संसार को यह ज्ञात हो जाए कि यदि आपको यह शक्ति प्राप्त हो जाए कि आप किसी व्यक्ति को स्वर्ग मे बन्धन में डाल सकते हैं, तो आपको पृथ्वी पर यह भी शक्ति प्राप्त है कि आप मनुष्य को उनकी योग्यतानुसार साम्राज्य, राज्य प्रिंसिपैल्टियाँ ड्यूकडम, काउण्टियाँ तथा अन्य सम्पत्तियाँ प्रदान कर सकते हैं। संसार के समस्त राजाओ और शासको को यह बात ज्ञात होनी चाहिए कि आप कितने महान् है और आपकी शक्ति कितनी विशाल है। इन छोटे आदमियो को आपके चर्च के आदेशों की अवज्ञा करने से डरना चाहिए।"[1]

ग्रेगरी के विचारो की इस सक्षिप्त चर्चा के बाद हम पुन: उसके और सम्राट के मध्यवर्ती सघर्ष की कहानी पर लौट आते हैं। सम्राट हैनरी द्वारा पोप ग्रेगरी और ग्रेगरी द्वारा सम्राट हैनरी की पदच्युति की घोषणाओ द्वारा चर्च और राजसत्ता के मध्य उठ खडे हुए गम्भीर विवादो से सम्पूर्ण यूरोप स्तब्ध रह गया। धार्मिक जनता ने पोप का साथ दिया। पोप ने एक प्रतिद्वन्द्वी राजा को हैनरी के सिंहासन का दावा करने के लिए भी उकसाया। हैनरी के विरोधी सरदारो ने भी इसे विद्रोह करने और स्वतन्त्र होने का स्वर्ण अवसर समझा, तब परिस्थितियो से हताश हैनरी पोप से क्षमा माँगने हेतु कैनोसा (Canossa) दुर्ग के दरवाजे पर पहुँचा जहाँ पोप सुरक्षा की दृष्टि से ठहरा हुआ था। उसने पोप से सन्धि करनी चाही। ग्रेगरी ने उसे बडा अपमानित और प्रताड़ित किया। 25 जनवरी, 1077 के दिन दुर्ग के द्वार पर पहुँचने वाला सम्राट हैनरी भयकर सर्दी में और कडाके की बर्फ मे तीन दिन तक नगे पाँव खडा रहकर प्रायश्चित् और क्षमा-याचना करता रहा। अन्त में ग्रेगरी ने दया दिखाई। उसने बहिष्कार का दण्ड वापिस लेकर हैनरी को पुन: पवित्र चर्च की शरण मे ले लिया।

अपनी कूटनीतिक चाल द्वारा सिंहासन की सुरक्षा कर लेने के बाद हैनरी ग्रेगरी से प्रतिशोध लेने का अवसर खोजता रहा। जब उसका सिक्का जम गया और उसने रोम को जीत लिया तो उसकी आज्ञा से बुलाई गई चर्च परिषद् ने पोप ग्रेगरी को पदच्युत एव धर्म-बहिष्कृत करते हुए गुई. बर्ट को क्लेमैंट तृतीय के नाम से पोप बनाया (24 मार्च, 1084 ई.) जिसने हैनरी का पवित्र रोमन सम्राट के पद पर अभिषेक किया। ग्रेगरी ने दक्षिण इटली के नार्मन लोगो को अपनी सहायता के लिए बुलाया। लगभग 36,000 सैनिको की विशाल नार्मन फौजो के आने पर हैनरी जर्मनी भाग गया। इस फौज ने रोमनो पर अत्याचार किए और रोम को लूटा। परिणामस्वरूप इन्हें निमन्त्रित करने वाले ग्रेगरी का रोम में रहना असुरक्षित हो गया। वह प्राण-रक्षा के लिए सलेनो मे नार्मन लोगो की शरण मे भाग गया जहाँ 25 मई, 1085 ई को उसकी मृत्यु हो गई। कुछ समय बाद हैनरी चतुर्थ भी चल बसा। इन दोनो मुख्य अभिनेताओं की मृत्यु तक राज्य द्वारा बिशपो के पद ग्रहण करने के प्रश्न का कोई अन्तिम निर्णय नही हो पाया।[2] प्रमुख घटना यह हुई कि हैनरी पंचम् और पास्चल द्वितीय (Paschal II) के मध्य इस आधार पर एक समझौता हो गया कि धर्माचार्य अपने समस्त राजनीतिक कार्यों को त्याग दे। लेकिन व्यवहार में यह असम्भव प्रमाणित हुआ। जो भी हो, 1122 ई मे वार्म्ज (Worms) के समझौते (Concordate) के साथ विवाद का पहला चरण समाप्त हो गया। सेबाइन के शब्दो में, "इस समझौते के अनुसार सम्राट ने मुद्रा और छडी (Ring and Stick) जो आध्यात्मिक सत्ता के प्रतीक थे, के साथ पद ग्रहण कराने का तकनीकी अधिकार त्याग दिया। लेकिन, उसने राज्याधिकार देने और बिशपो के चुनाव मे आवाज रखने के अधिकार को कायम रखा। किन्तु इस तारीख के बाद भी यह वाद-विवाद समय-समय पर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक प्राय उसी ढंग से चलता रहा। ग्रेगरी के लगभग 100 वर्ष बाद पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के समय विवाद पुन: चमका जिसमे पोप ने अपने विवेक तथा कूटनीति से सफलता प्राप्त की।"

1 सेबाइन. राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 215–16.
2 *Harmon*. Op. cit, p. 118.

इन्नोसेंट तृतीय (1198-1216 ई.) और राजाओं में विवाद

पोप बनते ही इन्नोसेंट तृतीय ने चर्च को सर्वोच्च सत्तापूर्ण बनाने और राजाओ को चर्च का वशवर्ती करने की दिशा मे पुन प्रभावशाली प्रयत्न शुरू कर दिए। हैनरी पचम् और पास्चेल द्वितीय मे 1122 ई मे जो समझौता हुआ था उससे इस मौलिक समस्या का कोई हल नहीं निकल पाया था कि साम्राज्य और पोपशाही मे क्या सम्बन्ध है ? अत. जिन अधिकारो का उल्लेख समझौते मे नहीं था, उन पर प्रत्येक पक्ष अपना दावा जताने लगा। चर्च-अधिकारी ऐसे दावे प्रस्तुत करने लगे जो निश्चित रूप से राजनीतिक सम्राट् के अधिकार क्षेत्र मे थे। परिणामस्वरूप पोपशाही एव जर्मन सम्राट फ्रेडरिक बारबरोस (Frederick Barbarossa) तथा उसके उत्तराधिकारियो के बीच सघर्ष उठ खड़ा हुआ। पोप की शक्ति 12वी शताब्दी मे निरन्तर बढती रही जो पोप इन्नोसेट तृतीय के समय में चरम सीमा छूने लगी।[1]

इन्नोसेंट तृतीय एक अत्यन्त ही शक्तिशाली पोप सिद्ध हुआ जिसने यूरोप के सर्वाधिक शक्तिशाली शासकों तक को अपने आदेश मानने को विवश कर दिया। अपनी 18 वर्ष की पोपशाही मे उसने 7 राजाओ को दण्ड दिया और दो जर्मन सम्राटो को चर्च से बहिष्कृत कर दिया।

पोप इन्नोसेंट तृतीय अपना यह परम कर्त्तव्य समझता था कि वह राजाओ के अनैतिक आचरण का विरोध करे। वह निर्वाचन तथा राज्याभिषेक के मामले मे रोमन साम्राज्य मे असीमित शक्तियो का प्रयोग करता था और लोगो के सम्राट होने के दावो को बडी ही आसानी से रद्द कर देता था। वह आध्यात्मिक और लौकिक दोनो विषयो मे चर्च की अपरिमित शक्ति का समर्थक था। जब फ्रांस के राजा फ़िलिप ऑगस्टस ने अपनी पत्नी को त्याग दिया तो इन्नोसेंट तृतीय की आज्ञा से उसे इसे पुन. ग्रहण करना पड़ा। पुर्तगाल, अरागान, हगरी और बल्गेरिया के राजाओ ने अपने-आपको पोप का सामन्त कहा। वे उसे वार्षिक कर भेजने लगे। इग्लैण्ड के राजा जॉन ने भी उसके साथ सघर्ष मे शिकस्त खाई। जॉन की इच्छा के सर्वथा विरुद्ध पोप ने कैन्टरबरी के आर्कबिशप के पद पर स्टीफेन लैंगटन को नियत किया। राजा के न मानने पर पोप ने उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया और फ्रांस के राजा को उस पर आक्रमण करने को कहा। उसने यह आदेश निकाल दिया कि इग्लैण्ड मे चर्च के धर्म-कार्य बन्द कर दिए जाएँ। अन्त मे राजा जॉन को पोप के सामने नतमस्तक होना पडा और वह भी पोप का सामन्त बन गया। उसने पोप को 1,000 मार्क सालाना कर देना स्वीकार किया। जर्मन साम्राज्य और पोप मे पुरानी शत्रुता थी। सौभाग्यवश इस समय वहाँ राजगद्दी के लिए सघर्ष चल रहा था। आटो चतुर्थ, फ्रेडरिक द्वितीय और स्वेलिया के फिलिप राजगद्दी के दावेदार थे। पोप ने गहरी कूटनीति का परिचय देते हुए पहले तो फिलिप के विरुद्ध आटो का समर्थन किया और बाद मे आटो के विरुद्ध फिलिप का पक्ष लिया। साथ ही उसने फ्रेडरिक द्वितीय के विरुद्ध आटो का और आटो के विरुद्ध फ्रेडरिक का पक्ष लिया। परिणाम यह हुआ कि इटली मे पोप के प्रदेश जर्मन् प्रभुत्व से मुक्त हो गए। वास्तव मे पोप इन्नोसेंट तृतीय ने पोप की तरह नही बल्कि राजा की तरह शासन किया। सन् 1216 ई मे उसके देहान्त के समय चर्च शक्ति, वैभव और ख्याति के चरम शिखर पर पहुँच चुका था। चर्च इतना प्रभावशाली हो गया था कि इन्नोसेंट की मृत्यु के लगभग 100 साल बाद तक भी यूरोप मे उसकी तूती बोलती रही।

फ्रेडरिक द्वितीय और इन्नोसेंट चतुर्थ

इन्नोसेंट तृतीय के अन्तिम काल से ही फ्रेडरिक द्वितीय का शासन आरम्भ हुआ। राजा फ्रेडरिक ने दावा किया कि साम्राज्य के शासन सम्बन्धी विषयो मे वह पोप से सर्वथा स्वतन्त्र है तथा उसे शक्ति ईश्वर ने प्रत्यक्ष रूप से प्रदान की है, पोप के माध्यम से नहीं। फ्रेडरिक ने लौकिक विषयों मे पोप की सत्ता को मानने से इन्कार करते हुए केवल धार्मिक विषयो मे उसके अधिकार को स्वीकार

1 *Gettle* History of Political Thought, p 110

किया। पोप इन्नोसेंट चतुर्थ ने उत्तर दिया कि लौकिक विषयों पर भी पोप का अधिकार है जो उसे दैविक आदेश द्वारा मिला है। पोप ही राजाओं को अपनी शक्ति सौंपता है, अतः राजा उसके अधीन हैं। पोप के इस सिद्धान्त का विकास और उसे लागू करने में कैनोनिस्ट्स (Canonists) ने बड़ी सहायता की। कैनोनिस्ट्स वे व्यक्ति थे जो धार्मिक कानूनों की व्याख्या और क्रियान्वित करते थे। जब सन् 1250 ई. में फ्रेडरिक द्वितीय का देहान्त हुआ, तब स्थिति यह थी कि चर्च का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था और ऐसा लगता था कि चर्च संघर्ष में पूर्ण विजयी हो गया है अथवा विजय की अन्तिम सीढ़ियाँ चढ़ रहा था। चर्च अब अपने दावों को और भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने लगा था। पर फ्रांस के राजा 'फिलिप दी फेयर' (Philip the Fair) के रूप में शीघ्र ही एक कठोर और शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी का उदय हुआ, जिससे चर्च और राजसत्ता के संघर्ष में एक नया मोड़ आया और पोपशाही का पतन आरम्भ हो गया।

पोप बोनीफेस अष्टम् (1294–1303 ई.) तथा फिलिप चतुर्थ (1285–1314 ई.) का संघर्ष

फिलिप चतुर्थ अथवा फिलिप दी फेयर ने दृढ़ता से पोपशाही की शक्ति पर निर्णायक आघात किए। इस समय धर्म युद्धों और व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों में एक नवीन राजनीतिक और बौद्धिक विश्व जाग्रत हो रहा था तथा विभिन्न राज्यों की अधिकांश जनता आत्म-निर्भरता और देशभक्ति की भावनाओं में डूबने लगी थी। फिलिप चतुर्थ के समय पोप के पद पर बोनीफेस अष्टम् विद्यमान था। इन दोनों के मध्य विवाद, चर्च की विशाल सम्पत्ति पर कर लगाने के राजकीय प्रयत्नों के फलस्वरूप, गम्भीर रूप से उठ खड़ा हुआ। उस समय फ्रेंच राजा फिलिप चतुर्थ और इंग्लैण्ड का राजा एडवर्ड युद्धरत थे। युद्ध को चलाने के लिए दोनों ही को धन की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने राजकर से मुक्त-चर्च की विशाल सम्पत्ति पर कर लगाने का निश्चय किया। फ्रांस के पादरी अपनी सम्पत्ति के रक्षक राज्य की प्रतिरक्षा के लिए कर देने का कर्त्तव्य स्वीकार करते थे, किन्तु उन्हें यह भी भय था कि इस तरह राजसत्ता को स्वतः ही एक ऐसा शक्तिशाली हथियार मिल जाएगा जिसकी सहायता से वह चर्च की शक्ति को नष्ट करने की ओर सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकेगा। अतः फ्रांस के एक धार्मिक सम्प्रदाय ने राज्य की करारोपण प्रवृत्ति का विरोध करते हुए पोप बोनीफेस से इस सम्बन्ध में अपील की। यद्यपि पोप फ्रांस की राजसत्ता के प्रति विनम्र और मैत्रीपूर्ण था किन्तु वह चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाने के राजाओं के अधिकार को स्वीकार करके अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने को तैयार नहीं हुआ। अतः उसने एक आज्ञापत्र (Bull Clericis Laicos) जारी किया जिसमें यह घोषित किया गया कि पोप की आज्ञा के बिना चर्च की आय में से कर देने वाले पादरियों और ऐसा कर वसूल करने के लिए चर्च की सम्पत्ति को जब्त करने वाले राज्याधिकारियों को धर्म-बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

राजा फिलिप ने पोप के आदेश का विरोध करते हुए फ्रांस से पोप को भेजे जाने वाले बहु-मूल्य उपहारों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसने सोने, चाँदी, बहुमूल्य मणियाँ और अनाज आदि के फ्रांस से बाहर जाने पर प्रतिबन्ध लगाने के साथ-साथ विदेशी व्यापारियों और प्रतिनिधियों को भी फ्रांस से बाहर चले जाने का आदेश दिया। इस कठोर नीति के दो प्रत्यक्ष परिणाम निकले—(1) पोप की आमदनी का एक बड़ा स्रोत बन्द हो गया, एवं (2) पोप के उन प्रतिनिधियों को फ्रांस से चले जाना पड़ा जो धर्म-युद्धों के लिए चन्दा जमा करते थे।

पोप बोनीफेस फिलिप के आगे इस प्रथम संघर्ष में टिक नहीं पाया। उसने सितम्बर, 1296 ई. के अपने दूसरे आज्ञापत्र (Bull Ineffavitisamor) में यह अनुमति प्रदान कर दी कि चर्च के अधिकारीगण स्वेच्छा से राज्य की प्रतिरक्षा हेतु चन्दा दे सकते हैं। साथ ही राजा को भी यह अधिकार दिया गया कि वह राज्य की प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का निर्धारण करें। अब फिलिप ने भी चर्च के विरुद्ध उठाए गए कदमों को वापिस ले लिया।

कुछ समय बाद ही दोनो के मध्य पुनः संघर्ष उठ खडा हुआ। पोप के एक दूत बर्नार्ड सइसैट (Bernard Saisset) को किसी झगडे मे फिलिप ने बन्दी बना लिया और उस पर अदालत मे मुकदमा चलाया। पोप ने अपने दूत की रिहाई की माँग की और दावा किया कि चर्च के व्यक्तियो पर राजकीय मुकदमा नही चलाया जा सकता। इसके साथ ही उसने फ्रांस के धर्माधिकारियो को राज्य को दिए जाने वाले धार्मिक कर देने से मना कर दिया। उसने यह दावा भी दोहराया कि सांसारिक मामलो मे भी राजा को पोप के आदेश का पालन करना चाहिए। उधर फिलिप ने यह भी कहा—"सांसारिक मामलो मे हम किसी के वशवर्ती नही है।" दोनो ही ने अपने-अपने पक्ष मे विभिन्न धार्मिक परिषदें बुलाना प्रारम्भ की। पोप द्वारा 1302 मे बुलाई गई धार्मिक परिषद् ने घोषित किया कि "मुक्ति (Salvation) के लिए सब व्यक्तियो का रोम के पोप के अधीन रहना आवश्यक है।" फिलिप ने इसके बदले मे 1303 ई मे दो धार्मिक परिषदें बुलाकर इल्जाम लगाया कि वह "अत्याचारी, जादूगर, हत्यारा, गबन करने वाला, व्यभिचारी, चर्च के पदो को बेचने वाला, मूर्तिपूजक और काफिर" है। पोप द्वारा कोई प्रतिरोधात्मक कदम उठाने से पूर्व ही फिलिप ने दो प्रतिनिधियो को दो हजार सैनिको के साथ रोम भेज दिया जिन्होने पोप से त्यागपत्र की माँग की। तीन दिन तक पोप इनकी कैद मे रहा। बाद में अपने समर्थको की सेना के आ पहुँचने पर उसे मुक्ति मिली। लेकिन 75 वर्षीय बूढा पोप इस आघात को सहन नही कर सका और कुछ ही दिन बाद 11 अक्तूबर, 1303 ई को वह इस संसार से चल बसा।

बोनीफेस के बाद बेनीडिक्ट एकादश (1303-4) पोप बना। उसने बोनीफेस के समय पोप के महल पर हमला करने वाले प्रतिनिधियो को धर्म बहिष्कृत कर दिया पर बेनीडिक्ट के भाग्य मे पोप की गद्दी अधिक समय तक नही लिखी थी। एक वर्ष बाद ही उसे जहर देकर मार दिया गया। तत्पश्चात् फिलिप ने बोर्दो के आर्कबिशप बर्टेण्ड डिगोट को अपनी कुछ शर्तों पर पोप चुनवाना स्वीकार किया। फिलिप द्वारा प्रस्तुत शर्तें ये थी—(1) पोप समझौते की नीति पर चलेगा, (2) बोनीफेस के महल पर हमला करने वालो को दिया गया दण्ड वापिस लेगा, (3) पोप 5 वर्ष की अवधि के लिए फ्रांस के पादरियो पर 10 प्रतिशत आयकर लगवाना स्वीकार करेगा, एव (4) बोनीफेस पर मरणान्तर अभियोग चलाकर पोप उसे दण्ड देगा।

उपर्युक्त शर्तों को स्वीकार करने पर बर्टेण्ड क्लेमैण्ट पचम् के नाम से पोप की गद्दी पर बैठा। फिलिप द्वारा अपनी शर्तों को मनवाने का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि पोपशाही पर उसका प्रभाव रहे और चर्च के साथ संघर्ष की पुनरावृत्ति न हो। पोप क्लेमैण्ट पचम् ने रोम मे रहना निरापद न समझकर 1309 ई मे अपना निवास स्थान रोम से हटाकर एविग्नोन (Avignon) को बना लिया। यहाँ उसे बडी सरलता से फ्रांस का सरक्षण प्राप्त हो सकता था। वास्तव में पोपशाही की यह दशा दयनीय थी। पोप यहाँ स्वतन्त्र न होकर फ्रांसीसी राजाओ के प्रभुत्व मे रहने लगे। 1309 से 1377 ई तक एविग्नोन ही पोपो की राजधानी बनी रही। बाइबिल के प्राचीन इतिहास के आधार पर लगभग 70 वर्ष के इस लम्बे युग को बेबीलोनियन बन्धन (Babylonish Captivity) के युग के नाम से पुकारा जाता है। इस युग मे पोपशाही पर फ्रांस के राजाओ का प्रभाव जम गया अत अब पोप जर्मनी और इटली के राजाओ की श्रद्धा का पात्र नही रहा। मैक्सी के शब्दो मे "एविग्नोन के लम्बे बेबिलोनियन बन्धन मे पोपशाही के राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार के प्रभावो को गहरा आघात पहुँचा।"[1]

पोप जॉन बाईसवाँ (1316-1334) एवं जर्मन सम्राट बवेरियन लुईस चतुर्थ (1314-47) का विवाद

चर्च और राज्य के विवाद में एक और अन्तिम महत्त्वपूर्ण संघर्ष हुआ। 1314 ई में बवेरिया के लुईस चतुर्थ को पवित्र रोमन सम्राट चुना गया। इसी समय कुछ निर्वाचको द्वारा आस्ट्रिया

1 *Maxey* : Op cit, p 113.

के फ्रेडरिक को भी सम्राट चुन लिया गया। इस तरह एक ही समय मे दो सम्राटों का निर्वाचन हुआ, अतः गृह-युद्ध छिड गया। 1316 ई में जॉन बाईसवाँ एविग्नोन मे पोप की गद्दी पर बैठा। वह इटली को जर्मन सम्राट के प्रभाव से मुक्त करना चाहता था अतः उसने घोषणा कर दी कि सम्राट के पद पर बिना पोप की स्वीकृति के बैठना पोप के अधिकारो का हनन है। लुईस का चर्च से बहिष्कार कर दिया। इस पर लुईस ने भी पोप पर अनेक आरोप लगाए और इटली आकर उसने एक नए पोप का चुनाव करवाया। लुईस की शक्ति इस समय बढी हुई थी क्योंकि गृह-युद्ध मे फ्रेडरिक को बन्दी बनाकर उसे इस शर्त पर छोड चुका था कि वह सम्राट के पद के लिए अपने दावे का परित्याग कर देगा।

लुईस के द्वारा लगाए गए आरोपो और नए पोप का निर्वाचन कराने के प्रतिकार-स्वरूप जॉन ने लुईस को नास्तिक घोषित करते हुए ईसाई जनता को उसके विरुद्ध शस्त्र धारण करने का आह्वान किया। लेकिन इसी समय जर्मनी के निर्वाचक राजाओ की एक परिषद् ने घोषणा की कि सम्राट का अधिकार और शाही मुकुट निर्वाचन के द्वारा प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में पोप की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नही है। इस घोषणा से पोप का पक्ष बहुत कमजोर पड गया और उसे योग्य समर्थन नही मिल सका। एक अन्य घटना ने भी पोप जॉन 22वें के विरोधियो को अधिक बलवान् बनाया। सन्त फ्रांसिस द्वारा स्थापित भिक्षु सम्प्रदाय ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि जीवन की प्राथमिकता आवश्यकताओ के लिए जितनी सम्पत्ति आवश्यक हो, उससे अधिक सम्पत्ति का चयन नहीं किया जाना चाहिए। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखना आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं है। लेकिन सम्पत्ति और ऐश्वर्य के समर्थक जॉन ने विरोध करते हुए घोषणा की कि यह सिद्धान्त ईसाई धर्म के विपरीत है। यही नही उसने फ्रांसिसकन सम्प्रदाय के अध्यक्ष को भी पदच्युत् और चर्च बहिष्कृत घोषित किया। पोप के इस कार्य ने कट्टर ईसाईयो को भी विरोधी बना दिया। इन लोगो ने सम्राट और पोप के संघर्ष मे सम्राट का साथ दिया।

14वी शताब्दी मे पोप की शक्ति निरन्तर घटती गई। चर्च की फूट ने पोपशाही की प्रतिष्ठा को बड़ा आघात पहुँचाया। पोप के व्यक्तिगत जीवन के भ्रष्ट होने से अनेक पादरी पोपशाही के आलोचक हो गए। उन्होने अपनी रक्षा के लिए राजकीय न्यायालयो की शरण ली और तर्क दिया कि धार्मिक विषयो मे अन्तिम अधिकार पोप को नही बल्कि चर्च परिषद् को है।

14वीं शताब्दी के विवाद की विशेषताएँ
(Characteristics of 14th Century Controversy)

14वी शताब्दी से संघर्ष का सूत्रपात चर्च की सम्पत्ति पर करारोपण के प्रश्न पर हुआ लेकिन मूल मे यह प्रश्न निहित था कि राजा राष्ट्र का प्रधान है तो क्या उसे राज्य की सुरक्षा और कल्याण की दृष्टि से पादरियो तथा जनसाधारण पर समान रूप से करारोपण करने का अधिकार नही था? फिलिप का तर्क था कि राज्य की रक्षा के लिए पादरी युद्ध-क्षेत्र मे नही जाते, बल्कि दूसरो को जाना पडता है, अत. उस राज्य के पादरियो और चर्च का यह कर्त्तव्य है कि वे उनकी रक्षार्थ लडने वाले लोगो के पालन-पोषण के लिए और उनके व्यय-भार को सहन करने के लिए राज्य को अपनी विशाल सम्पत्तियो मे से कुछ धन प्रदान करें। पादरीगण और जन-साधारण भी यह समझते थे कि पादरियो की सम्पत्ति पर करारोपण न होने पर युद्ध और प्रशासन के व्यय न की पूर्ति करना सम्भव था। यही कारण था कि फ्रांस के पादरियों ने इस राष्ट्रीय प्रश्न पर पोप बोनीफेस का पक्ष न लेकर फिलिप का समर्थन किया। तत्कालीन पोपशाही लोगो के हृदयो मे हिलोरें मारती हुई राष्ट्र भावना का मूल्यांकन न कर सकी और इसलिए उसका पराजय हुई। इस समय से पूर्व राष्ट्रीय भावना इतने मुखर रूप मे कभी प्रकट नही हो पाई थी। फिलिप का उदय एक राष्ट्रीय राजा के रूप मे हुआ जिसने पोपशाही के शासन को डगमगा दिया। इस तरह 14वी शताब्दी के विवाद की प्रथम प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय भावना का उदय होना था। जहाँ पिछली शताब्दियो मे संघर्ष पोपशाही और साम्राज्य-इन दो सार्वभौमिक अधिकार क्षेत्रों मे था वहाँ 14वी शताब्दी मे यह संघर्ष दो शक्तियो मे पोपशाही तथा राष्ट्रीय-राजा के मध्य था।

14वी सदी के विवाद की द्वितीय विशेषता यह रही कि जहाँ पिछली शताब्दियो मे साम्राज्य-वादी अपने बचाव के लिए प्रयत्नशील रहे वहाँ इस शताब्दी मे पोपशाही को अपने बचाव के लिए आगे

आना पड़ा । फिलिप एक ऐसे राष्ट्रीय राजा के रूप मे प्रकट हुआ जिसे पोपशाही के विरुद्ध सघर्ष मे अधिकांश भागो से समर्थन मिला ।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि पोपवादियों ने बहुत ही उग्र तथा अव्यावहारिक रवैया अपनाते हुए बढ़-चढ़ कर अपने दावे पेश करना शुरू कर दिया । पोप ने सम्पत्ति के प्रति अपनी आसक्ति को खुले रूप मे प्रकट करते हुए यह थोथा तर्क दिया कि आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्पत्ति का होना आवश्यक है । पोप के आलोचकों ने कहा कि पादरियों द्वारा निजी सम्पत्ति रखना और अपरिग्रह सिद्धान्त का पालन न करना ईसाईयत के विरुद्ध है । आलोचकों का तर्क व्यावहारिक और न्यायसगत् था जिसे अधिकांश जनता का समर्थन मिला ।

चौथी विशेषता यह थी कि इस शताब्दी के वाद-विवाद का स्तर पूर्वापेक्षा बहुत ऊँचा रहा । प्रश्नों को अधिक सटीक ढग से रखा गया तथा पुराने तर्कों को नए व्याख्यात्मक ढग से प्रस्तुत किया गया । प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टान्तों की फिर से परीक्षा हुई । इस वाद-विवाद ने विशाल साहित्य को जन्म दिया और राजा के समर्थक वकीलों की रचनाओं मे राजनीतिक यथार्थवाद का प्रभाव तथा प्रशासनिक समस्याओं का चिन्तन मुखरित हुआ । सेबाइन के शब्दों मे, "अब यूरोप के बौद्धिक जीवन में शिक्षित और व्यावसायिक रूप मे प्रशिक्षित वर्ग का आविर्भाव हो गया ।"

चर्च तथा राज्य द्वारा अपने-अपने पक्ष में प्रस्तुत दावे
(Arguments for the Supremacy of the Church and the State)

इस सम्पूर्ण विवेचना के उपरान्त चर्च और राज्य द्वारा अपने समर्थन मे प्रस्तुत किए गए दावो का संक्षेप मे सिंहावलोकन युक्तिसगत् होगा ।

चर्च-समर्थक दावे

(1) चर्च ही सच्चा राज्य है । चर्च तथा ईसाई संघ की स्थापना स्वयं भगवान् द्वारा की गई है जिसने मानव-समाज के शासन के लिए आध्यात्मिक और सांसारिक शक्ति की दो सत्ताओं को सौंपा है । आध्यात्मिक शक्ति का प्रधान पोप है और सांसारिक शक्ति का राजा, किन्तु पोप की स्थिति उच्चतर है और प्रत्येक दशा में उसका निर्णय ही अन्तिम है ।

(2) भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन श्रेष्ठतर है तथा आत्माओं के नरक से उद्धार के कार्य को सम्पन्न कराने वाले पादरीगण लौकिक शासकों से अधिक गौरव और सत्तापूर्ण हैं । सन्त अम्ब्रोज ने कहा—"सीसे की और सोने की चमक मे जो अन्तर है, वही अन्तर राजाओं के तथा विशपों के गौरव मे है ।"

(3) दो तलवारों के सिद्धान्त के आधार पर कहा गया कि पोप ने ईश्वर से प्राप्त सांसारिक शक्ति की प्रतीक तलवार तो राजाओं को दी तथा आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक तलवार अपने पास रखी । इस तरह राजा पोप के माध्यम से ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और उसे पोप की सहमति से राजसत्ता का प्रयोग करना चाहिए ।

(4) लौकिक शासन अपनी शक्तियाँ ईश्वर से पृथक् रूप मे नहीं वरन् चर्च के माध्यम से प्राप्त करते हैं, अत लौकिक विषयों मे भी वे पोप के अधीन हैं ।

(5) धर्मसत्ता की प्रधानता सिद्ध करने के लिए बाईबिल के अनेक पुराने और नए नियमों और उदाहरणों को पेश किया गया । उनकी व्याख्या इस तरह की गई कि पोप तथा चर्च की स्थिति सुदृढ हो ।

(6) चर्च ही राज्य की नैतिकता के लिए उत्तरदायी है और पोप को अधिकार है कि वह राजाओं के आचरण पर नियन्त्रण रखे ।

(7) अनेक ऐतिहासिक घटनाओं और प्रमाणों द्वारा राजसत्ता पर धर्मसत्ता की प्रभुता सिद्ध की गई । प्रथम प्रमाण सन्त अम्ब्रोज द्वारा सम्राट थिओडोसियस की भर्त्सना का दिया गया । दूसरा

प्रमाण यह दिया गया कि मेरोविंगियस के अन्तिम राजा शिल्परिक (Chilperic) को उसकी अक्षमता के कारण पोप जकारियास (Zacharias) ने पदच्युत् किया था। तीसरा प्रमाण 'कौन्सटेन्टाइन के दान' (Donation of Constantine) का दिया गया। वास्तव मे यह प्रमाण एक जाली दान-पत्र बना कर पेश किया गया जो 1439 ई. मे भण्डाफोड़ होने तक प्रामाणिक समझा जाता रहा। चौथा प्रमाण पोप लियो तृतीय द्वारा शार्लिमैन को मुकुट प्रदान करने का पेश किया गया। इस राज्याभिषेक का यह अर्थ प्रसारित किया गया कि पोप राजा को राजशक्ति प्रदान करता है और उसे वापिस ले सकता है।

(8) पोप अपने दण्ड-साधनो और अभिशाप देने के भय से भी धर्मसत्ता के प्रभाव का विस्तार करता रहा। धर्म-बहिष्कृत कर देने की धमकी और उसकी क्रियान्विति मध्य-युग मे विशेष महत्त्व रखती थी।

पोपवादियो ने अपने पक्ष में बड़े-बडे दावे प्रस्तुत किए। उनसे वास्तव मे हैरानी होती है। इससे भी अधिक हास्यास्पद बात यह लगती है कि किस तरह शक्तिशाली सम्राट प्रारम्भ मे पोपशाही के सम्मुख झुकते और नाक रगडते रहे। वास्तव मे इन सब के मूल मे यही बात निहित प्रतीत होती है कि प्रारम्भ से ही पहल पोपवादियो के हाथो मे रही जिससे उन्हें प्रारम्भिक सफलताएँ मिली। उस समय जनता धर्मान्ध थी और पोप के धार्मिक दण्ड के भय से सदैव त्रस्त और दबी हुई रहती थी। राज्याधिकारी इसी कारण जन-समर्थन प्राप्त नही कर पाते थे। साथ ही वे यह भी इन्कार नही कर सकते थे कि आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से अधिक श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त वे धर्म-बहिष्कृत माने जाने का खतरा भी नही उठा सकते थे। अत. उनकी स्थिति और नीति अधिकांशतः रक्षा और बचाव की थी। 14वीं शताब्दी से पूर्व तक इन्हीं कारणो से चर्च और पोप की तूती बोलती रही।

राजसत्ता के समर्थक दावे

(1) राजा के दैवी अधिकारो पर बल दिया गया। यह कहा गया कि राज्य की उत्पत्ति भी चर्च की भाँति दैवी है। राजा को शक्ति ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप मे मिली है जिसका प्रयोग करने मे वह सीधे ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है तथा केवल ईश्वर ही राजा के कार्यो का निर्णायक है। राजाओ का कर्त्तव्य है कि वे न्याय करें, चर्च की रक्षा करें और प्रजा का हित करें, किन्तु यदि वे कर्त्तव्यच्युत होते हैं तो इससे उनके दैवी अधिकार समाप्त नही होते और न ही चर्च लौकिक दण्ड देने के लिए आगे आ सकता है। ईश्वर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भूतल पर दो प्रकार के राजा भेजता है—दयालु और क्रूर। यदि राजा दयालु है तो इसका अर्थ यह है कि उस देश की प्रजा पर ईश्वर की कृपा है। यदि राजा क्रूर है तो यह समझना चाहिए कि उस देश की प्रजा से ईश्वर क्रुद्ध है। अतः प्रजा का यही कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक दशा मे राजा की आज्ञाकारिणी बनी रहे। राजा के अत्याचारों को वह अपने पापो का परिणाम समझे और उनसे बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करे।

(2) पोपो का यह दावा कि लौकिक विषयो पर पोप का नियन्त्रण हो, ईश्वरीय व्यवस्था के विरुद्ध है। ईश्वर ने ससार को आध्यात्मिक और लौकिक इन दो शक्तियो के शासन मे रखा है अतः पोप द्वारा दोनों ही शक्तियो को अपने हाथ मे लेने की चेष्टा करना ईश्वर के आदेश का उल्लंघन है।

(3) राजसत्ता के समर्थन मे न्यायविदो ने कई तर्क-सम्मत युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। 12वीं सदी मे पीटर क्रेसस ने कहा कि राजा हैनरी ने अपनी गद्दी उत्तराधिकार के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त की है, न कि पोप से अथवा जनता से अतः हैनरी को पदच्युत् करना ठीक ऐसा ही कार्य होगा जैसा किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को छीनना। एक अन्य युक्ति द्वारा इस धारणा का खण्डन किया गया कि राजा से पादरी अधिक श्रेष्ठ है और बिशपो से पोप अधिक श्रेष्ठ है। यह कहा गया कि राजपद का स्वरूप दैवी है, अत राजा की शक्ति पोप और पादरियो दोनो से अधिक श्रेष्ठ है। यह बात कि पोप राजा को पद-प्रतिष्ठित करता है, किसी भी रूप मे इसके राजा से श्रेष्ठ होने का प्रमाण नही। यदि पद-प्रतिष्ठान से ही श्रेष्ठता का निर्धारण होता तो पोप को पद प्रतिष्ठित करने वाले कार्डिनल पोप से श्रेष्ठ होते।

द-प्रतिष्ठान तो केवल-मात्र एक सस्कार का सम्पन्न करना । है इसके साथ ही यह भी कहा गया कि सभी ।शप समान हैं और उन्हे ईश्वर से समान शक्तियाँ मिली हैं, अत पोप उनसे अधिक प्रभुत्वमय और श्रेष्ठ ही है । राजसत्ता के समर्थन मे दी गई और पोप की श्रेष्ठता पर आघात करने वाली ये युक्तियाँ इस दृष्टि भी निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी कि इनमे मनुष्य का निर्णय उसके पद से नही बल्कि उसके कर्म ीर चरित्र से करने का विचार झलकता था । *अपनी युक्तियो और कानूनी व्याख्याओ द्वारा तत्कालीन* वधि-शास्त्रियो ने 'अविच्छिन्न साम्राज्य शक्ति' (Imperium Continuum) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया और कहा कि रोमन सम्राट के समय से साम्राज्य की शक्ति अबोध रूप मे चली आ रही है जिसे ोप द्वारा प्रदत्त नही माना जा सकता । विख्यात विधिवेत्ता बार्टोलस (1314-73) ने यह सिद्धान्त स्तुत किया कि सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार है जिसकी प्रभुशक्ति अदेय है और उस पर विवाद करना भी धर्म विरुद्ध है ।

(4) ईसाई सघ के कुछ पादरियो ने पोप की अनियन्त्रित सत्ता के विरुद्ध राज सत्तावादियो को समर्थन दिया । ये पादरी सत्ता का उपयोग धर्म-परिषदो द्वारा चाहते थे, पोप द्वारा नही । इस फूट ने सम्राट की स्थिति को सबल बनाने मे योग दिया ।

पोपशाही और साम्राज्य के मध्यवर्ती सघर्ष ने नवीन राजनीतिक साहित्य रचना को अनुप्रेरित किया और लोगो को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे आध्यात्मिक और राजकीय दोनो शक्तियो के आधारो पर परीक्षण करें ।

11 मध्य युग के प्रमुख विचारक : सेलिसबरी, टॉमस एक्वीनास, दाँते, जॉन ऑफ पेरिस, मॉर्सिलियो ऑफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओकम

(Leading Thinkers of Middle Ages : Salisbury, Thomas Aquinas, Dante, John of Paris, Marsilio of Padua, William of Occam)

(1) जॉन ऑफ सेलिसबरी (Policraticos)
(John of Salisbury, 1115–1180)

पोप ग्रेगरी सप्तम् के बाद पोप की प्रभुता के प्रमुखतम अधिवक्ताओं की सूची में अगला नाम जॉन ऑफ सेलिसबरी (1115–1180) का आता है। उसकी मानसिक शक्तियाँ अत्यन्त उच्चकोटि की थी। 1176 ई. मे वह चार्ट्रेस (Chartres) का बिशप नियुक्त हुआ और चार वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। जॉन ऑफ सेलिसबरी ने 1159 मे 'पॉलिक्रेटिक्स' (Policraticos) नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन पर विस्तृत और व्यवस्थित रूप से पहली बार विचार किया गया। सेबाइन के अनुसार "अरस्तू के पुनरुद्धार से पहले इस ढंग की यह अकेली पुस्तक थी जिसमें उस प्राचीन परम्परा का संकलन किया गया जो सिसरो, सेनेका, चर्च के संस्थापको और रोमन विधिवेत्ताओ के पास से होती हुई 12वी शताब्दी तक आई थी। इस ग्रन्थ मे बड़ी ईमानदारी से उन विश्वासो को प्रकट करने का प्रयत्न किया गया था जिन्हें 12वी शताब्दी में सब लोग मानते थे और जहाँ तक उस समय ज्ञात था, हमेशा से मानते आए थे। जिस समय जॉन ऑफ सेलिसबरी ने ग्रन्थ प्रणयन किया था, समाज मे सामन्तवाद का बोलबाला था लेकिन "इस ग्रन्थ पर समाज के सामन्तवादी संगठन की बहुत कम छाप है।"[1] इस पुस्तक को जिसे 'स्टेट्समैन्स बुक' भी कहते हैं, डॉ. डिनिंग ने 'मध्यकाल में राजनीति पर सबसे पहला सांगोपांग ग्रन्थ' कह कर पुकारा है। इसमें सरकार के संगठन, उसके कार्य विभाजनो और उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सरकार के विभिन्न रूपो आदि का कोई उल्लेख न होकर केवल सरकार के एक रूप राजतन्त्र का वर्णन किया है। पुस्तक मे शासन का ढाँचा साम्राज्यवादी व्यवस्था पर आधारित है। सेलिसबरी के राजनीतिक दर्शन का तत्त्व कानूनी और संवैधानिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है।

सेलिसबरी के राजनीतिक विचार (Political Ideas of Salisbury)

जॉन के राजनीतिक चिन्तन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें निम्नांकित हैं—

(1) चर्च की सर्वोच्च सत्ता अथवा राज्य का चर्च के प्रति अधीन होना—जॉन ऑफ सेलिसबरी का विश्वास था कि धार्मिक और राजनीतिक शक्तियो के अधिकार क्षेत्र भिन्न थे, तथापि

1 सेबाइन : राजनीति दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 227.

धार्मिक और लौकिक शक्तियों से सम्बन्धित दोनों तलवारें चर्च को ही प्रदान की गई थीं। चर्च ने इनमें से आध्यात्मिक शक्ति की तलवार अपने पास रखी और लौकिक शक्ति की तलवार राजा को इस शर्त पर सौंप दी कि वह उनका प्रयोग चर्च की ओर से और चर्च की इच्छानुसार करेगा। जॉन के शब्दों में, "इस तलवार (लौकिक शक्ति) को राजा चर्च से प्राप्त करता है। यद्यपि इस रक्तमय तलवार को चर्च अपने हाथ में नहीं रखता तथापि इस पर उसका आधिपत्य है। चर्च इसका प्रयोग राजा के हाथ से करता है और (लौकिक विषयों में) उसे दण्ड का अधिकार देता है, जबकि आध्यात्मिक विषयों का अधिकार पादरियों के लिए ही सुरक्षित रख लेता है। इसलिए राजा एक तरह से चर्च का ही एक कर्मचारी है और वह पवित्र कर्त्तव्यों के उस भाग को पूरा करता है जिसका करना पादरियों के लिए शोभनीय नहीं है।"[1]

जॉन ने लौकिक शक्ति द्वारा अपराधों के लिए दण्ड देने के कार्य को निम्न-कोटि का मानते हुए इसे राज्य द्वारा किया जाना ही ठीक बताया। उसने कहा, यद्यपि ईश्वरीय नियमों का प्रत्येक कर्त्तव्य धार्मिक और पवित्र है, तथापि अपराधों के लिए दण्ड देने का कार्य घटिया दर्जे का है और जल्लाद का काम लगता है।'[2]

(2) समाज की जीव-शास्त्रीय (Organic) धारणा—जॉन ने 'पॉलिक्रेटिक्स' में मानव-आत्मा की तुलना चर्च से तथा सिर (Head) की तुलना राज्य के अध्यक्ष से की है। सीनेट को वह हृदय बताता था और प्रान्तों के गवर्नर उसके लिए आँख, कान तथा जिह्वा थे। उसकी मान्यता थी कि "राज्य की सेना तथा प्रशासकीय अधिकारी शरीर के हाथ हैं तो किसान और कारीगर आदि शरीर के पाँव हैं। शरीर के समस्त अंगों का राज्य के अधीन होना सिर के गुणों पर आधारित है। यदि सिर अर्थात् सम्राट आत्मा अर्थात् चर्च की आज्ञानुसार कार्य करे तभी राज्य के समस्त अंग सम्राट के अधीन रह सकते हैं।" जॉन सेलिसबरी ने बताया कि "शरीर में चर्च की प्रतीक आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है उसी तरह राज्य पर चर्च का शासन है। शरीर में आत्मा के अनुरूप ही राज्य में वे चीजें मिलती हैं जो हमारे भीतर धर्म के अधिकारों की स्थापना करती हैं और हमें ईश्वरोपासना का पाठ पढ़ाती हैं।' उसने आगे कहा कि वे व्यक्ति जो धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराते हैं उतने ही आदरणीय हैं जितनी कि शरीर में आत्मा। जॉन ने यह भी कहा कि जब तक पादरियों द्वारा राज्याभिषेक नहीं होता तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं बनता। राजा की अधीनता का स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि उसके निर्वाचन में पादरियों और जन साधारण दोनों का मत रहता है। ईश्वर राजा को प्रशासनिक प्रधान बनाकर संसार में भेजता है और पादरियों के माध्यम से समस्त प्रजा की स्वीकृति राजा को प्रदान की जाती है।

(3) राजा का कानून के साथ सम्बन्ध और जनप्रिय तथा दुराचारी राजा में विभेद—जॉन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि राजा कानून के अधीन है और वह उसका सेवक है। कानून सब जगह मौजूद रहने वाला वह सूत्र है जो समस्त मानव-सम्बन्धों के बीच समाया रहता है। इन मानव सम्बन्धों में शासक और शासित के सम्बन्ध भी शामिल हैं इसलिए, कानून का पालन राजा और प्रजा दोनों को ही समान रूप से करना पड़ता है। जॉन की मान्यता थी कि राजा न्याय का सेवक है और सार्वजनिक उपयोगिता को पूरा करने वाला एक कर्मचारी है। राजपद निजी न होकर सार्वजनिक पद है जिस पर कानून का बन्धन है। यह कानून राजा द्वारा निर्मित विधेयात्मक कानून न होकर शाश्वत न्याय का परिवर्तनशील दैविक कानून है सभी राजाओं को इस कानून के अधिकार में रहना चाहिए। "कानून के कुछ पहलू ऐसे हैं जिनकी सर्वदा आवश्यकता बनी रहती है, जो सभी राष्ट्रों पर समान रूप से लागू होते हैं। यदि उन्हें तोड़ा जाए तो दण्ड मिलना आवश्यक है। शासकों के

[1] McIlwain : The Growth of Political Thought in the West, p 229

प्रशंसक चिल्लाकर यह कह सकते हैं कि शासक कानून के नियन्त्रण मे नहीं हैं उनकी इच्छा ही कानून है, उनके ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं हैं, लेकिन, फिर भी मैं यही कहूँगा कि राजा कानून द्वारा बँधे होते हैं।"[1]

जॉन ने सच्चे और अत्याचारी राजा के भेद को बड़ा महत्त्व प्रदान किया है। मध्ययुग के राजनीतिक साहित्य मे उसी ने पहली बार कहा कि अत्याचारी शासक का वध करना ठीक है क्योंकि जो व्यक्ति तलवार को हाथ में लेता है उसका तलवार से मरना न्याय-सगत् है। उसने बतलाया कि, "अत्याचारी शासक और शासक मे एकमात्र तथा मुख्य अन्तर यही कि है शासक विधियों का पालन करता है और जनता पर उनके अनुसार ही शासन करता है। वह स्वय को उनका सेवक-मात्र मानता है तथा विधि के कारण ही राज्य के शासन प्रबन्ध मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति रखता है।"

जॉन ने अत्याचारी शासक के वध का समर्थन करते हुए लिखा है, "यदि शासक की शक्ति दैवी-आज्ञाओं का विरोध करती है, ईश्वर के विरुद्ध किए जाने वाले युद्ध में मुझे शामिल करना चाहती है तो मैं मुक्तकण्ठ से यही उत्तर दूँगा कि इस भूतल पर किसी भी व्यक्ति की तुलना में ईश्वर को महत्त्व देना चाहिए। अत्याचारी शासन का वध करना न केवल वैधानिक है, बल्कि उचित और न्यायपूर्ण है।"[2] आलोचको का कथन है कि धर्म-पुरोहित के लिए ऐसा कहना अत्यन्त ही हेय था। इसमे सदेह नही कि यह सिद्धान्त मौलिक रूप मे अपने-आप में एक बुराई थी, किन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जॉन की विचार-पद्धति में इस सिद्धान्त का कोई प्रमुख स्थान नही था। उसने राजा के वध के लिए अनेक कठोर शर्तें लगाकर इस अधिकार को सीमित कर दिया था। प्रथम शर्त यह थी कि शासक का धर्म-विरुद्ध कार्य द्वारा अन्त किया जाए। उसकी दूसरी शर्त यह थी कि हत्यारा राजभक्ति की शपथ मे बन्धन-मुक्त व्यक्ति होना चाहिए। जॉन अत्याचारी शासक के अन्त करने का सर्वाधिक सुरक्षित एवं उपयोगी ढग भगवान् से प्रार्थना को मानता था।

सेलिसबरी का मूल्यांकन

जॉन ऑफ सेलिसबरी मध्ययुग का एक प्रमुख लेखक और विचारक था जिसे पोप ग्रेगरी सप्तम् के बाद पोप की प्रभुता के प्रमुखतम अधिवक्ताओ की श्रेणी मे रखा जाता है। लेकिन चर्च की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन करते हुए भी उसने विधि और न्याय पर आधारित आदर्श राज्य का चित्रांकन किया। उसका महत्त्व मुख्यत इसलिए है कि मध्ययुग मे राजदर्शन पर सुव्यवस्थित रूप से विचार करने वाला वह प्रथम लेखक था। सेलिसबरी ने कानून सम्बन्धी सिद्धान्त और कानून की सार्वभौम मान्यता मे दृढ विश्वास व्यक्त किया और राजसत्ता का प्रबल समर्थक होने के बावजूद वह चर्च पर यह आरोप लगाने से नही हिचका कि चर्च धन-लाभ तथा अन्य पाप वृत्तियो से प्रेरित होकर अपने अधिकारो का दुरुपयोग करता है। सेलिसबरी ने सिसरो के समान ही एक ऐसे समय की कल्पना की जो कानून और अधिकारो के बारे मे किसी सामान्य समझौते से बँधा हो। मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन मे सेलिसबरी ने पहली बार यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अत्याचारी शासक का वध करने में कोई अनौचित्य नही है। जॉन ने कहा कि "जो व्यक्ति तलवार को हाथ में लेता है, उसका तलवार से मरना उचित है।" सेलिसबरी का मूल्यांकन करते हुए गैटल ने लिखा है कि "इस बात का उपदेश देकर कि राजाओं को ईश्वरीय कानून के अनुसार न्याय एवं धर्म का सवर्द्धन करना चाहिए, जॉन ने रोम तथा चर्च के प्रारम्भिक लेखको की परम्पराओ को स्थायित्व प्रदान किया। इसके अतिरिक्त, अत्याचारी शासको के हटाने को औचित्यपूर्ण एवं युक्तिसगत् ठहराकर उसने संवैधानिक शासन-प्रणाली के विकास मे भी योग दिया।"[3]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 227-228.
2 *Dunning* : A History of Political Theories, p. 187.
3 *Gettle* . Op cit., p 120

सन्त टॉमस एक्वीनास (Thomas Aquinas, 1227-1274)

जीवन-परिचय

सन्त टॉमस एक्वीनास 13वी शताब्दी का महानतम व्यक्ति था। उसे मध्यकाल के समस्त विचारको मे भी महानतम माना जाता है। फोस्टर तो उसे समस्त ससार के क्रमबद्ध दार्शनिको मे स्थान देता है। उसके अनुसार एक्वीनास की सर्वोपरि विशिष्टता यह थी कि उसने अलग-अलग प्रवाहित विचार की विभिन्न धाराओ को एक ही प्रणाली से सश्लिष्ट करके एक कर दिया।

एक्वीनास का जन्म नेपल्स (Naples) राज्य के एक्वीनो नगर मे हुआ था। कुछ व्यक्तियो के अनुसार उसका जन्म 1225 ई मे तो दूसरो के अनुसार 1227 ई मे हुआ था। टॉमस एक्वीनास बचपन से ही बडा प्रभावशाली था। उसके पिता एक्वीनो नगर के काउन्ट पद पर कार्य करते थे। उसके माता-पिता की लालसा थी कि उनका पुत्र भी उच्च राज्याधिकारी बने। लेकिन टॉमस ने डोमनिकन सम्प्रदाय का सदस्य बनकर उन्हे बडा निराश किया। जितना ही उसे इस सम्प्रदाय से हटाने का प्रयत्न किया गया, उतना ही वह उसका कट्टर अनुयायी बन गया। उसे न तो माता-पिता का घोर विरोध और न ही सांसारिक प्रलोभन देने के लिए उसके पास भेजी गई सुन्दरी का मोह डोमनिकन सम्प्रदाय की सदस्यता से निरस्त कर सका। एक्वीनास ने उस सुन्दरी पर जलती हुई लकडी फैकी और वह भाग गई।

टॉमस एक्वीनास पेरिस पहुँच कर योग्य गुरु और आध्यात्मिक नेता अलबर्ट महान् के चरणो मे चार वर्ष तक अध्ययन करता रहा। कालान्तर मे उसने अपने गुरु से भी अधिक ख्याति प्राप्त की। उसने अरस्तू की राजनीति और उसके तर्कशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता एव मौलिकता के कारण वह विख्यात हो गया। टॉमस को पेरिस विश्वविद्यालय ने कोई उपाधि नही दी। उन दिनो यह विश्वविद्यालय भिक्षु को उपाधि प्रदान नही करता था किन्तु पोप की सिफारिश पर 1256 ई मे पेरिस विश्वविद्यालय ने उसे 'Licenciate and Master of Theology' की उपाधि से विभूषित किया। उपाधि के बाद उसने ईसाई मत की खूब सेवा की। सन् 1256 से 1268 तक उसने विभिन्न धार्मिक विषयो पर ग्रन्थ लिखे तथा भाषण दिए। वह अपने समय मे राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् समझा जाता था। बडे-बडे राजा उससे राजाओ के कर्त्तव्यो पर प्रकाश डालने की प्रार्थना करते थे। स्वय पोप ने धर्म-विधि सम्बन्धी कठिनाइयो के निवारण हेतु अनेक बार उससे सलाह ली थी।

टॉमस एक्वीनास को अनेक बार उच्च धार्मिक पदो को ग्रहण करने के अवसर दिए गए, किन्तु उसने स्पष्टत: कह दिया कि उसने विद्याध्ययन किसी पद पर आसीन होने की लालसा से नही किया है। दुर्भाग्यवश ऐसा महान् विद्वान् और सन्त केवल 49 वर्ष की आयु में 1274 ई मे परलोक सिधार गया। उसके शव को प्राप्त करने के लिए विभिन्न सम्प्रदायो मे झगडा चला। अन्त मे पोप के हस्तक्षेप के कारण डोमनिकन सम्प्रदाय को शव प्राप्त हो गया।

एक्वीनास की पद्धति और उसकी रचनाएँ

सन्त टॉमस-एक्वीनास की पद्धति समन्वयात्मक और सकारात्मक थी। वह रचनात्मक कार्य करना चाहता था। उसने अलबर्ट महान् के साथ अरस्तू के ग्रन्थ 'पालिटिक्स' का सूक्ष्म अध्ययन करके अपने विख्यात ग्रन्थ 'Commentaries on Politics of Aristotle' का प्रणयन किया। एक्वीनास ने और भी लगभग 30 ग्रन्थो की रचना की, जिनमे से प्रमुखतम ये है—

1. सुम्मा थियोलोजिका (Summa Theologica),
2. दि रूल ऑफ प्रिंसेज (The Rule of Princes)
3. सुम्मा कन्ट्रा जेंटाइल्स (Summa Contra Gentiles)

इन रचनाओ मे राज्य की प्रकृति, उसके कार्य विधि, आदि विषयो का उल्लेख है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

टॉमस एक्वीनास के सिद्धान्तो पर तत्कालीन परिस्थितियो ने और बडी सीमा तक अरस्तू के विचारों ने प्रभाव डाला। प्रारम्भ मे अरस्तू के दर्शन को ईसाई-धर्म-विरोधी माना गया। किन्तु एक शताब्दी से कम समय में ही उसका ईसाई-धर्म की दृष्टि से पुनराख्यान किया गया। यह कार्य अलबर्ट महान् और उसके महान् शिष्य टॉमस एक्वीनास ने किया। उसने स्कोलैस्टिसिज्म एव हेलीनिज्म का तथा ऑगस्टाइन एव अरस्तू का सुन्दर समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया। उसने राजनीति-शास्त्र को सामाजिक विज्ञान मे वही स्थान दिया जो अरस्तू ने दिया था पर उसके चिन्तन मे धर्म की प्रधानता थी, जबकि अरस्तू के चिन्तन मे विवेक पर आधारित ज्ञान की। एक्वीनास अरस्तू के इस विचार से सहमत था कि मानव का अन्तिम लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है, लेकिन वह इसके लिए चर्च को महत्त्वपूर्ण साधन समझता था। उसकी दृष्टि मे राज्य-प्रदत्त आनन्द नही बल्कि मोक्ष सर्वोत्तम आनन्द था और चर्च राज्य का प्रतिद्वन्द्वी न होकर सामाजिक जीवन मे उसका सहयोगी था।

एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र समरसता (Harmony) और समैक्यता (Concilience) पर आधारित सार्वभौमिक संश्लेषण (Universal Synthesis) तथा सर्वांगीण व्यवस्था (An all-embracing System) के निर्माण का प्रयत्न था। उसने कहा कि सर्वव्यापक ईश्वर और प्रकृति के विशाल प्रांगण मे हर प्रकार की विविधता सम्भव है। सम्पूर्ण मानव-ज्ञान एक ऐसे पिरामिड के समान है जिसका आधार अनेक विशिष्ट विज्ञानो से मिलकर बना है और जिसमे प्रत्येक का अपना एक विशेष विषय है। इन सबके ऊपर दर्शन है जो एक बुद्धिसगत शास्त्र है और समस्त विज्ञानो के सार्वभौमिक सिद्धान्तो की रचना का प्रयास करता है। यूनानी दार्शनिक बुद्धि अथवा विवेक को दर्शन का सर्वोत्कृष्ट साधन समझते थे और दर्शन को ज्ञान का आधार बतलाते थे। एक्वीनास एक कदम आगे बढकर दर्शन और बुद्धि के ऊपर धर्मशास्त्र को मानता है जिसका साधन श्रद्धा और अन्तर्ज्ञान है, विवेक नहीं। उसके मन मे ईसाई धर्म-शास्त्र सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है।

एक्वीनास के प्रकृति सम्बन्धी विचार और उसका सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन
(Views on Nature and his Social and Political Philosophy)

(1) **प्रकृति सम्बन्धी विचार तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था**—टॉमस एक्वीनास ने प्रकृति की जो तस्वीर खीची है वह उसकी ज्ञान सम्बन्धी योजना से पूरी तरह मेल खाती है। वह प्रकृति को सोद्देश्य मानता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना महत्त्व है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्णता प्राप्त करना चाहता है और अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। जो प्राणी कुछ अधिक पूर्ण होता है, वह अपने से निम्नतर प्राणी पर ठीक उसी प्रकार शासन करता है जैसे ईश्वर विश्व पर और आत्मा शरीर पर। हर प्राणी का अपना स्थान, कर्त्तव्य और अधिकार होता है। इनके द्वारा ही वह सम्पूर्ण योजना मे योग देता है। इस सम्पूर्ण योजना की व्यवस्था मे मनुष्य का एक विशिष्ट स्थान होता है। इसीलिए शारीरिक प्रकृति के अस्तित्व के साथ ही उसमे एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आत्मा भी देखने को मिलती है। एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके शरीर और आत्मा दोनों है, और इसी तथ्य पर मानव-जीवन को सचालित करने वाली समस्त संस्थाएँ और विधियाँ टिकी हुई हैं। स्पष्ट है कि एक्वीनास ने मानव प्रकृति के दो स्वरूप माने है—सांसारिक और आध्यात्मिक। सांसारिक प्रकृति सदैव ही ससार के कार्यकलापो मे रत रहती है और विभिन्न दोषो से युक्त होती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा या ईश्वरीय जगत् से होता है। वह सांसारिक प्रकृति के दोषो से मुक्त होती है। दोष-रहित होने के कारण ही आध्यात्मिक प्रकृति मानव-स्वभाव मे ईश्वरीय प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती है।

टॉमस एक्वीनास का सामाजिक और राजनीतिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी प्रकृति सम्बन्धी योजना का ही एक अंग है। प्रकृति की भाँति ही समाज भी विभिन्न उद्देश्यो और साधनो की एक व्यवस्था है जिसमे विभिन्न स्तर के प्राणी रहते है। इस सामाजिक व्यवस्था मे छोटा या निम्न प्राणी अपने से बड़े या उच्च प्राणी की सेवा करता है। वह उच्च प्राणी उस निम्न प्राणी को आवश्यक निर्देशन देता है और उसका पथ-प्रदर्शन करता है। अरस्तू की भाँति ही एक्वीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जाने वाली सेवाओ के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। समाज मे विभिन्न व्यक्ति और व्यवसायी अपना सहयोग प्रदान करते हैं। हर वर्ग अपना-अपना कार्य करता है।

एक्वीनास सामाजिक व्यवस्था मे शासक के अंश को पूर्ण महत्त्व देता है। उसका होना समाज के हित के लिए बडा आवश्यक है। जिस तरह आत्मा शरीर पर अथवा उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर शासन करती है, उसी तरह शासक-वर्ग समाज के अन्य वर्गों पर शासन करता है। टॉमस ने "राज्यो की स्थापना और शासन, नगरो का आयोजन, प्रासादो के निर्माण, बाजारो की स्थापना और शिक्षा की अभिवृद्धि की ईश्वरीय लीला से तुलना की है। ईश्वर अपनी इस लीला द्वारा ही ससार का निर्माण और शासन करता है।"[1]

एक्वीनास इस मध्ययुगीन धारणा से असहमत है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के अध.पतन और पाप के कारण हुई है तथा राज्य एक प्राकृतिक सस्था न होकर आवश्यक बुराई है। उसके अनुसार राज्य तो एक प्राकृतिक सस्था है, एक समाजोपयोगी सस्था है। मानव सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। राज्य इसलिए आवश्यक नहीं है कि वह मनुष्यो की बुराइयो को देखता है, बल्कि इसलिए आवश्यक है कि राज्य के भीतर रहकर ही मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सकता है। राज्य के बाहर रहकर वह पूर्ण आत्म-साक्षात्कार नही कर सकता। राज्य एक सर्वथा स्वाभाविक सस्था है। यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी यह मानव-समाज मे पाई जाती।

(i) राज्य के कार्य—एक्वीनास, यूनानी, रोमन और ईसाई धर्म के विचारो का समन्वय करते हुए राज्यो के कार्यों का निर्धारण करता है। उसके अनुसार राजपद एक ऐसा पद है जो सम्पूर्ण समाज के लिए है। सामाजिक हित मे योग देने मे ही शासक की सार्थकता है। इसी के लिए वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है। शासन का नैतिक उद्देश्य बडा उच्च है। उसका कार्य राज्य के प्रत्येक वर्ग को ऐसी स्थिति मे ला देना है कि वह सुखी और सद्गुणी जीवन-यापन कर सके। राज्यो को चाहिए कि वह प्रजाजन के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करे और राज्य मे एकता तथा शान्ति बनाए रखे। राज्य को अथवा शासको को बाह्य शत्रुओ से समाज की रक्षा के लिए सदैव सन्नद्ध रहना चाहिए और कानूनो के पालन के लिए पुरस्कार तथा दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रजा को नियन्त्रण मे रखना चाहिए। राज्य मे जीवन को नियमित करने के लिए जनसख्या पर आवश्यक नियन्त्रण रखना, सड़को को सुरक्षित और चोर-डाकुओं के उपद्रव से मुक्त रखना, राज्य के लिए विशेष मुद्रा-पद्धति चलाना, माप और तोल की समुचित प्रणाली निश्चित करना, दरिद्रो के भरण-पोषण की व्यवस्था करना आदि भी शासक के कर्त्तव्य है। वस्तुत एक्वीनास ने सुव्यवस्थित राजनीतिक जीवन को मानव-जीवन के सुख और कल्याण की दृष्टि से बडा सहायक माना है।

(ii) सरकार के रूप—एक्वीनास ने शासन के विभिन्न रूपो का वर्गीकरण भी किया है। अरस्तू की भाँति वह सर्वहितकारी शासन-प्रणाली को अच्छी एवं न्यायपूर्ण तथा केवल मात्र शासक का हित साधने वाली शासन-प्रणालियो को निकृष्ट बताता है। उसने राज्यो को राजतन्त्र, अभिजाततन्त्र, निरकुश शासनतन्त्र, सामन्ततन्त्र, मध्यवर्गीय जनतन्त्र, लोकतन्त्र आदि मे विभक्त किया है। राजतन्त्र

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 230

और जनतन्त्र में कौनसा शासन अच्छा है ? इस पर अरस्तू की तरह उसका एकमत नहीं है। फिर भी उसने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली माना है और इस विषय में अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की तर्कशैली का अनुसरण किया है। उसके अनुसार एकता समाज का मुख्य ध्येय है, अतः सरकार के संगठन में एकता लाने के लिए शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति के हाथ में रहनी चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय शासन करता है, इस विस्तृत संसार पर केवल एक ही शक्ति ईश्वर का शासन है। मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का साम्राज्य है, उसी प्रकार राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है। राजतन्त्र में शान्ति, सुव्यवस्था एवं समन्वय भलीभाँति स्थापित किया जा सकता है। वास्तव में मध्यकाल की अराजक और अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों में शान्ति स्थापित करने में सक्षम राजतन्त्र को एक्वीनास द्वारा श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक भी था। यद्यपि एक्वीनास ने राजा की शक्ति सीमित होने की बात कही है पर उसने अपने आशय को स्पष्ट नहीं किया है। सेबाइन के अनुसार, "सम्भवतः एक्वीनास का आशय यह था कि राजा को अपनी शक्ति का प्रयोग राज्य के अन्य प्रधान अधिकारियों, जो उसके परामर्शदाता तथा निर्वाचक थे, के साथ करना चाहिए।"

(५) अत्याचारी शासन—एक्वीनास ने राजतन्त्र में एक खतरनाक दोष भी देखा है जिसके कारण राजतन्त्र निरकुशतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। यह निरकुशतन्त्र अथवा अत्याचारतन्त्र (Tyranny) विकृत राजतन्त्र है जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान न रखकर अपने हितार्थ शासन करता है। उसका यह भी विश्वास है कि राजतन्त्र से अधिक निरकुशतन्त्र प्रजातान्त्रिक प्रणाली में होता है। जो भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जॉन ऑफ सेलिसबरी की भाँति ही अत्याचारी शासन को नापसन्द करता है तथापि वह उसके वध का समर्थक नहीं है। यदि सम्पूर्ण जनता चाहे तो प्रतिरोध कर सकती है। प्रतिरोध के इस आधार पर नैतिक प्रतिबन्ध यही है कि "प्रतिरोधियों की कार्यवाही से सामान्य हित को उस बुराई की अपेक्षा जिसके निवारण का वे प्रयास कर रहे हैं, कम हानि पहुँचनी चाहिए।" अत्याचारी शासक के वध का विरोध करते हुए उसने लिखा है कि "प्रायः ऐसा कार्य सज्जन नहीं बल्कि दुर्जन किया करते हैं और दुर्जनों को अत्याचारी शासकों के शासन की अपेक्षा उत्तम राजाओं का शासन बुरा लगता है। अतः अत्याचारी शासकों के वध के अधिकार को स्वीकार कर लेना इस सम्भावना को स्वीकार कर लेना होगा कि अत्याचारी शासकों की जगह उत्तम शासकों का ही अधिक वध होने लगेगा।"[1] एक्वीनास राजद्रोह (Sedition) को भयंकर पाप मानता है, लेकिन अत्याचारी शासन के प्रतिरोध को वह राजद्रोह नहीं समझता। सेबाइन के शब्दों में "अत्याचारी शासन के सम्बन्ध में टॉमस एक्वीनास ने पुरानी मध्ययुगीन परम्परा का अरस्तू की विचारधारा के साथ समन्वय स्थापित कर दिया और इसमें उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही सिद्धान्त यूनान से निकले थे। यूनान में अन्यायपूर्ण शक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। दोनों सिद्धान्तों के अनुसार शक्ति उसी समय तक न्यायपूर्ण थी जब तक वह सामान्य हित का प्रतिपादन करती हो।"

एक्वीनास ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध उपलब्ध दो साधनों का उल्लेख किया है। पहला साधन यह है कि कुछ शासनों में जनता शक्ति की स्रोत होती है, अतः वह उन शर्तों को लागू कर सकती है जिनके अनुसार सत्ता दी गई हो। दूसरा उपलब्ध साधन यह है कि यदि किसी शासन का राजनीतिक प्रधान हो तो शिकायत को दूर करने के लिए उच्चतर शासक से अपील की जा सकती है। एक्वीनास ने इन दोनों ही शासन-प्रणालियों को दो विशिष्ट प्रकार की शासन-प्रणालियाँ स्वीकार किया है, अतः ऐसा लगता है कि राजनीतिक सत्ता के स्रोत के विषय में वह कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं रखता था।

(६) राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सम्बन्ध—एक्वीनास ने संघर्षरत राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने इस प्रश्न का समाधान करने की चेष्टा की कि

1 Dunning A History of Political Theories, p. 200.

दोनों के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? एक्वीनास ने बताया कि मनुष्य के दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति तथा आत्मिक सुख की प्राप्ति। दोनों के लिए दो सत्ताएँ हैं—एक राज्य की, दूसरी चर्च की किन्तु ये दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे के समानान्तर अथवा अलग-अलग क्षेत्रों में नहीं हैं। व्यक्ति का जीवन तो एक ही है, केवल उद्देश्य दो हैं। एक ही व्यक्ति नागरिक भी है और धर्म की दृष्टि से ईसाई भी। अत एक ही जीवन के दो ऐसे शासक नहीं होने चाहिए जो परस्पर संघर्ष करके व्यक्ति के जीवन को ही समाप्त कर दें। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य और चर्च परस्पर संघर्षरत न होकर एक-दूसरे के साथ निश्चित सम्बन्ध स्थापित करके व्यक्ति को नियन्त्रित करें।

मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी स्थितियाँ पैदा करे जिनमें रहकर मनुष्य सद्गुणों का उपार्जन करे और मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़े। मोक्ष के लिए आत्म-शुद्धि का होना आवश्यक है, यह कार्य चर्च सम्पन्न करे। एक्वीनास ने कहा कि भौतिक उद्देश्य आत्मिक उद्देश्य का एक साधन है, अतः राज्य धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने वाले चर्च का साधन है इसलिए राज्य को चाहिए कि वह चर्च के अधीन रहते हुए अपना कार्य सम्पादन करे। जिस तरह व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आत्मा की मुक्ति है उसी तरह सामूहिक रूप में राज्य का कर्त्तव्य भी ईश्वर की प्राप्ति है। इसके लिए दैवी कृपा की आवश्यकता है जो चर्च के माध्यम से प्राप्त हो सकती है। चर्च को समय-समय पर ईश्वरीय करुणा के रहस्य ज्ञात रहते हैं, अतः राज्य का कल्याण इसी में है कि वह चर्च के आश्रय में रहे तथा उसी के निर्देशन से आत्मिक पथ पर आगे बढ़े।

एक्वीनास ने यद्यपि चर्च अथवा धर्म की प्रभुसत्ता का समर्थन किया, किन्तु इस रूप में नहीं कि राज्य और चर्च टकरा जाएँ। उसने कहा कि आत्मिक शुद्धि प्रदान करने वाली शक्ति अवश्य ही उस शक्ति से श्रेष्ठ है जो केवल बाह्य साधनों को जुटाती है किन्तु फिर भी दोनों सत्ताओं का अपने-अपने स्थानों पर महत्त्व है, इसलिए उन्हें परस्पर सहयोग करना चाहिए। राजसत्ता के अधिकारियों को धर्मसत्ता के अधिकारियों से आन्तरिक शक्ति ग्रहण करनी चाहिए। यदि सम्पूर्ण संसार ईसाई धर्म स्वीकार करके पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मान ले तो मनुष्य के सभी कष्टों का अन्त हो सकता है।

एक्वीनास ने पोप के इस अधिकार का समर्थन किया कि धार्मिक सत्ता की उपेक्षा करने पर राजाओं को पदच्युत् कर दे। उसका विश्वास था कि यदि पोप की एकताकारी शक्ति का ह्रास हो जाएगा तो सामन्तवादी यूरोप आपस में लड़-भिड़ कर नष्ट हो जाएगा पर इतना होने पर भी उसका यह विचार नहीं था कि राजा अथवा शासक को अपने अधिकार पोप से मिले हों। उसका यह विचार उसके इस सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम था कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और राजा अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है ताकि वह समाज-कल्याण के नैतिक उद्देश्यों को पूरा कर सके।

स्पष्ट है कि एक्वीनास एक सामन्तवादी विचारक था जिसने पोप को राज्य के ऊपर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं सौंपा। उसने यह कहने में भी कोई हिचक नहीं की कि निरे लौकिक विषयों में आध्यात्मिक शक्ति की अपेक्षा लौकिक शक्ति का आज्ञानुवर्ती ही रहना चाहिए। फिर भी कार्लाइल की इस धारणा को स्वीकार करना होगा कि एक्वीनास का सामान्य किन्तु परिपक्व निर्णय यही था कि लौकिक विषयों में पोप का प्रत्यक्ष नहीं वरन् अप्रत्यक्ष अधिकार है। वास्तव में बात यह थी कि वह चर्च के सर्वमान्य आध्यात्मिक अधिकार को, कानूनी प्रभुता का रूप नहीं देना चाहता था। वह एक नम्र पोपवादी थां।

(7) सम्पत्ति—अरस्तू के अनुसार एक्वीनास ने भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया और उसे मानव जीवन के लिए आवश्यक माना लेकिन अपने युग के धार्मिक प्रभावों के फलस्वरूप सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार दुविधाग्रस्त रहे। इसीलिए मध्ययुगीन ईसाई पादरियों के विचारों से सहमत होते हुए, एक्वीनास ने कहा कि सम्पत्ति पर चर्च और पोप का अधिकार अधिक उपयुक्त है, क्योंकि पोप के

अधिकार में रहने से सम्पत्ति का स्वरूप वह नहीं रहता जो किसी सामन्त अथवा धनिक व्यक्ति के अधिकार में रहने से होता है। पोप के अधिकार में रहने वाली सम्पत्ति का उपयोग निर्धनों की सहायता के लिए होता है, धार्मिक नियमों के अनुसार होता है। एक्वीनास ने कहा कि यद्यपि सम्पत्ति की अधिकता पाप का एक मुख्य कारण है पर जिस सम्पत्ति पर धर्म की छाप लग जाती है उसके सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

कानून पर एक्वीनास के विचार (Aquinas on Law)

एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर स्टोइकवाद और अरस्तू का प्रभाव है। कानून की मीमांसा में उसने सिसरो, ऑगस्टाइन तथा रोमन विधि-शास्त्रियों के विचारों का भी समन्वय किया। यूनानी दर्शन कानून को विवेक-बुद्धि का परिणाम समझता था, व्यक्ति-विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं। रोमन विधि-शास्त्री कानून को बुद्धिजनित और सम्राट आदि किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति मानते थे। एक्वीनास ने कानून को विवेक-बुद्धि का परिणाम भी बतलाया और इच्छा की अभिव्यक्ति भी स्वीकार की। उसने कहा, "कानून विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोक-हित के लिए किसी ऐसे व्यक्ति ने प्रख्यापित किया हो जो समाज के कल्याण के लिए उत्तरदायी हो।" एक्वीनास के मत में विधेयात्मक कानून का केवल शासक द्वारा लागू किया जाना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसका विवेक-सम्मत होना भी जरूरी है। ऐसा कानून कभी सच्चा नहीं हो सकता जिसका उद्देश्य सामान्य हित न हो। यदि राजा द्वारा जारी किया गया आदेश विवेकपूर्ण और सामान्य हित के उद्देश्य से प्रेरित नहीं है तो वह सच्चा कानून नहीं है और इसी तरह विवेक का वह आदेश भी कानून नहीं है जब तक राजा द्वारा जारी किया जाकर वह समुचित रूप न ग्रहण कर ले।

एक्वीनास कानून को स्वयं-सिद्ध मानते हुए मानवीय कानून को दैविक कानून के साथ संयुक्त करने का प्रयास करता है। मानवीय विधि (Human Law) उस दैवी शासन-व्यवस्था का एक अभिन्न भाग है जिसके अनुसार स्वर्ग तथा पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु का शासन होता है। यह व्यवस्था सीधे ईश्वर के विवेक से उत्पन्न हुई है और सभी प्राणियों का नियमन करती है। संकुचित मानवीय अर्थ में यह (विधि) एक सार्वभौमिक तत्त्व की अंशमात्र है।

एक्वीनास ने कानूनों को चार श्रेणियों में बाँटा है—

1. शाश्वत कानून (Eternal Laws),
2. प्राकृतिक कानून (Natural Laws),
3. दैवी कानून (Divine Laws),
4. मानवीय कानून (Human Laws)।

इन चार वर्गों में केवल एक वर्ग ही मानवीय है। कारण यही है कि वह मानव-समाज और उसकी संस्थाओं को विश्व-व्यवस्था का एक विशिष्ट स्तर मानता है।

(1) शाश्वत कानून (Eternal Laws)—शाश्वत कानून का सम्बन्ध दैविक अथवा ईश्वरीय विवेक से है जो सभी सृजी हुई वस्तुओं में व्याप्त रहता है। सेबाइन के शब्दों में, "यह दैवी बुद्धि की शाश्वत योजना है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि व्यवस्थित होती है। यह विधि स्वयं अपने में मनुष्य की भौतिक प्रकृति से ऊपर है और मनुष्य की समझ से बाहर है, लेकिन इसी कारण वह मनुष्य के विवेक के प्रतिकूल नहीं है। जहाँ तक मनुष्य की शान्त प्रकृति अनुमति देती है, ईश्वर की बुद्धिमत्ता और अच्छाई में मनुष्य का भी भाग रहता है। ईश्वर की ये विभूतियाँ मनुष्य के अन्दर भी प्रकट होती हैं तथापि मनुष्य की प्रकृति दैवी-पूर्णता का केवल विकृत चित्र ही प्रस्तुत कर पाती है।"[1] एक्वीनास के अनुसार

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 233.

समस्त सृष्टि-देव, मानव, पशु और जड़ पदार्थ शाश्वत कानून के अधीन है। शाश्वत विधियां सर्वोच्च विवेक की प्रतीक है, उन्हे पूर्ण रूप से न समझ पाने के कारण ही मनुष्य भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। चूंकि अपनी सीमित बुद्धि के कारण शाश्वत कानूनों का आभास मनुष्य को स्पष्ट रूप से नही हो पाता अतः प्राकृतिक कानून के रूप मे ईश्वर मनुष्य को शाश्वत कानून का आभास करा देता है।

(2) प्राकृतिक कानून (Natural Laws)—एक्वीनास के मतानुसार प्राकृतिक कानून सृष्टि के प्राणियो मे दैवी बुद्धि का प्रतिबिम्ब है। इसकी प्रेरणा से सभी प्राणी अच्छाई को प्राप्त और बुराई को दूर करना चाहते है। इन कानूनो की उत्पत्ति शाश्वत कानूनो से ही होती है किन्तु ये उनसे अधिक स्पष्ट और बोधगम्य—होते है। ये कानून मौलिक रूप से सबके लिए समान होते है, परन्तु कुछ विशेष काल और स्थान के लिए भिन्न-भिन्न भी हो सकते है। प्राकृतिक कानून विश्व की सभी वस्तुओ मे समान रूप से व्याप्त हो सकते है, चाहे मनुष्य हो, पशु हो या वनस्पतियाँ हो। अन्तर यही है कि मनुष्य मे इनका बड़ा सुन्दर ढंग से अभिव्यक्तिकरण हुआ है क्योकि वह विवेक से कार्य करता है जबकि पशु-पौधे अचेतन रूप से कार्य करते हैं। प्राकृतिक कानून ईश्वरीय विवेक से उत्पन्न होते हैं अतः ये अपरिवर्तनीय होने के साथ ही आवश्यक भी है। प्राकृतिक विधि मे वे सभी बाते शामिल है जो मनुष्य की प्रवृत्ति को व्यापकतम आधार देती हैं : आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, यौन-सम्भोग, सन्तान की इच्छा, समाज मे रहकर जीवन बिताने की इच्छा, सत्य का बोध, बुद्धि का विकास आदि बातें कानून से सम्बन्धित हैं। विवेक से उत्पन्न होने के कारण ये कानून सभी ईसाईयो और पैगनो मे समान रूप से पाए जाते हैं।

(3) दैवी कानून (Divine Laws)—दैवी कानूनो को एक्वीनास ने प्राकृतिक कानूनो से निम्न स्थान दिया है। इनकी प्राप्ति उपबोध (Revelation) द्वारा होती है। बाद मे इन्हे धर्म-ग्रन्थो मे लिपिबद्ध कर दिया जाता है। जब कोई मनुष्य विवेकशून्य होता है अथवा अपनी बुद्धि को त्याग देता है तो ये दैवी कानून उसमे उत्पन्न कमियो और बुराइयो को दूर करते हैं। ये विधियाँ ईश्वर की देन हैं। इनके अध्ययन और अनुसरण से मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। दैवी कानून ईश्वर प्रदत्त एक उपहार है, मानव-बुद्धि की खोज नही। यह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को जितना निर्धारित करता है उतना लौकिक पक्ष को नही। विभिन्न जातियो और कालो मे दैवी कानून का रूप और तत्त्व भिन्न-भिन्न होता है जबकि प्राकृतिक कानून मानव-मात्र के लिए एक हैं। प्राकृतिक कानून और दैवी कानून मे विरोध नही हो सकता, क्योकि वे विवेक-सम्मत होते हैं। सेबाइन के शब्दो मे, "टॉमस की प्रणाली विवेक और श्रद्धा पर आधारित है और उसमे कोई सन्देह नही हुआ कि दोनो मिलकर ही भवन का निर्माण करते है।"

(4) मानवीय कानून (Human Laws)—मानवीय कानूनो को एक्वीनास ने सबसे निम्न श्रेणी का माना है। शाश्वत, प्राकृतिक और दैवी विधियाँ मनुष्यो पर लागू अवश्य होती है किन्तु न तो मनुष्य तक ही सीमित है और न केवल मानवीय प्रकृति के ऊपर ही आधारित हैं। जो विधि विशेष रूप से मनुष्य के लिए है उसे एक्वीनास मानवीय विधि का नाम देता है। उसके उसने दो भेद माने हैं—राष्ट्रों के कानून (Jus gentium) और नागरिको के कानून (Jus civile)।

मानवीय कानूनो का स्रोत प्राकृतिक विधि है। जब धीरे-धीरे प्राकृतिक विधियाँ परम्परा मे प्रचलित हो जाती हैं तो राज्य इन कानूनो का समर्थन करता है। राज्य द्वारा समर्थन अथवा इन कानूनो का सम्पुष्टिकरण होने पर मनुष्य इन्हे मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इनके पालन से सामाजिक व्यवस्था को बल मिलता है। इनका पालन न करने पर व्यक्ति राज्य द्वारा दण्डनीय होता है। मानवीय कानून समाज के संरक्षक अर्थात् राजा द्वारा लागू होता है लेकिन इसे बनाने मे राजा मनमानी नही कर सकता। उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि ये कानून विवेक सम्मत हो और प्राकृतिक कानून से असगत न हो। एक्वीनास मानवीय कानून को प्राकृतिक कानून के अधीन रखता है। उसके अनुसार विवेक विरोधी किसी भी मानवीय कानून को मानने के लिए कोई नागरिक बाध्य नही है। इस तरह वह

राजकीय कानून को मानने के कर्त्तव्य को असीम एवं अशर्त नही मानता। व्यक्ति न्यायोचित और विवेक-सम्मत राजकीय आज्ञाओं का ही पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। सयोगवश किसी दुष्परिणाम से बचने के लिए यदि किसी कानून को उसके न्यायोचित न होने पर भी मानना पड़े, तो अलग बात है। मानवीय कानून के निर्माण मे शासक पर एक्वीनास का एक अन्य प्रतिबन्ध यह है कि कानून किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष के हितार्थ नही बल्कि सामान्य हित के लिए बनाया जाना चाहिए। पुनश्च, राजा की विधि-निर्मात्री शक्ति केवल लौकिक विषयों तक ही सीमित है। आध्यात्मिक विषय इसकी सीमा मे नही आते, वे दैवी कानून की सीमा मे है।

एक्वीनास द्वारा बतलाए गए कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध को डनिग ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "शाश्वत कानून विश्व को नियन्त्रित करने वाली योजना है जो ईश्वर के मस्तिष्क मे विद्यमान है। प्राकृतिक कानून मनुष्य का, एक बुद्धिपरक प्रणाली के रूप मे, शाश्वत कानून मे भाग लेना है, जिसके द्वारा वह भले-बुरे की पहचान करता है और अपना सही एव सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। मानवीय कानून, मानवीय बुद्धि द्वारा, प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का विशिष्ट लौकिक स्थितियो में प्रयोग करना है। विशेष दृष्टिकोण से दैविक कानून वह है जिसके द्वारा मानव-विवेक की सीमाओं और अपूर्णताओ की पूर्ति की जाती है और मनुष्य को पारलौकिक लक्ष्य अर्थात् नित्यानन्द की ओर निर्दिष्ट किया जाता है, यह दैविक ज्ञान का कानून है।"

एक्वीनास के दास-प्रथा के बारे मे विचार
(Acquinas on Slavery)

एक्वीनास सत ऑगस्टाइन एवं प्रारम्भिक चर्च-पिताओ के समान ही दासता को न्याय का दैवी दण्ड समझता है और उसका समर्थन करता है। वह दास-प्रथा को अरस्तू की भांति कुछ कामों के लिए लाभदायक मानता है। यह एक स्वाभाविक प्रथा है और सैनिको मे वीरता का सचार करती है। सैनिक युद्ध-क्षेत्र मे दास बनाए जाने के भय से वीरता और साहसपूर्वक लड़कर विजेता बनने का प्रयत्न करते हैं। इस मत के समर्थन मे एक्वीनास ने इतिहास और ओल्ड टेस्टामेण्ट की 'डिट्रानमी' नामक पुस्तक से प्रमाण भी दिए हैं। Old Testament

एक्वीनास का मूल्यांकन

सन्त एक्वीनास का मूल्यांकन तीन प्रमुख विन्दुओ में केन्द्रित किया जा सकता है—

(i) प्रथम, वह महानतम मध्य-युगीन दार्शनिक (Greatest Medieval Philosopher) था।
(ii) द्वितीय, वह मध्ययुग का अरस्तू (Aristotle of Middle Ages) था।
(iii) तृतीय, राजदर्शन को उसके अनेक प्रमुख अनुदाय (Contribution) हैं।

(1) मध्य युग का महानतम दार्शनिक—एक्वीनास मध्ययुग का एक सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक था जो "मध्य-युग के समग्र विचार का प्रतिनिधित्व करता है।"[1] उसका विशेष महत्त्व इस बात मे है कि उसने लम्बे समय से अलग-अलग बहती विचारधाराओ को एक पद्धति मे सश्लिष्ट करने का प्रयत्न किया। एक्वीनास ने विभिन्न विधि-वेत्ताओ, धर्मशास्त्रियो, टीकाकारो, ईसाई प्रचारकों, चर्च एवं राज्य के समर्थको के विभिन्न और परस्पर विरोधी विचारो तथा दृष्टिकोणो मे एकता और क्रमबद्धता लाने का प्रयत्न किया। सेबाइन के शब्दों मे, "एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र यह था कि उसने समरसता और समन्वयता पर आधारित एक सार्वभौमिक सश्लेषण और एक सर्वांगीण पद्धति के निर्माण की चेष्टा की।"[2]

1 "Thomas Acquinas represents the totality of medieval thought."
—*Foster*: Masters of Political Thought, Vol I, p 238

2 "It was the essence of Thomas's philosophy that it essayed a universal synthesis, an all-embrassing system, the key-note of which was harmony consilience."
—*Sabine*: Op. cit., p. 248

एक्वीनास ने सम्पूर्ण मानव-ज्ञान को एक पिरामिड के समान माना जिसका आधार विभिन्न ज्ञान-विज्ञानो से मिलकर बना है और जिसमे दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। उसने कहा कि धर्म और दर्शन, बुद्धि और विवेक, श्रद्धा तथा विश्वास मे कोई विरोध नही है। 'विज्ञान एव दर्शन जिस पद्धति को आरम्भ करते हैं उसे धर्मशास्त्र पूर्ण करता है। धर्म विवेक की पूर्णता है। धर्म एव विवेक मिलकर ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते हैं और इनका परस्पर एक-दूसरे से कभी सघर्ष नही होता।' सन्त एक्वीनास के विचार धार्मिक थे, फिर भी मध्ययुगीन विचारको से वे कही अधिक विवेक और बुद्धि पर आधारित थे। एक्वीनास ने सार्वभौमिक राजतन्त्र का प्रतिपादन किया और ईसाई धर्म के प्रबल प्रसार की चेष्टा की। उसने अपनी रचनाओ मे यूनानी, रोमन तथा मध्ययुगीन पादरियो के विचारो का समन्वय किया। मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वह विश्व के समक्ष एक श्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण व्यक्तिवादी के रूप मे प्रकट हुआ। उसकी मानवीय कानून की विचारधारा मे हमे आधुनिकता की झलक देखने को मिलती है।

(2) मध्य-युग का अरस्तू—"एक्वीनास मध्य-युग का अरस्तू था"।[1] उसने अरस्तू के दर्शन रूपी नीव पर चर्च, धर्म-शास्त्रीय विचार और पोप के श्रेष्ठता रूपी भवन का निर्माण किया। अरस्तू के आधारभूत विचारो का बाइबिल की शिक्षाओ से समन्वय अथवा सम्मिश्रण करके उसने एक नई विचारधारा को जन्म दिया। एक्वीनास ने अरस्तू से कितना ग्रहण किया अथवा वह अरस्तू का कितना ऋणी था—इस पर एक्वीनास के दर्शन के वर्णन के प्रसंग मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। एक्वीनास ने अरस्तू के समान यह स्वीकार किया कि कुछ ऐसे सत्य भी हैं जो बुद्धि से परे है और जिनका ज्ञान केवल श्रद्धा तथा ईश्वरीय कृपा से ही सम्भव है। उसने अरस्तू के समान ही यह भी माना है कि मानव समाज की रचना सब व्यक्तियो के हित के लिए हुई है। तथापि यह अवश्य है कि उसने मानव-समाज से श्रेष्ठतर स्थान दैवी समाज को दिया है। अरस्तू की ही भाँति एक्वीनास राज्य को व्यक्ति के साँसारिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते हुए राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाने के पक्ष मे है और इसलिए उसे आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक कार्य सौपता है। पर राज्य की श्रेष्ठता और उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसका आग्रह इस बात पर है कि सर्वोच्च मानव-संस्था चर्च है, न कि राज्य। अरस्तू की भाँति एक्वीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जानेवाली सेवाओ के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। ईसाई धर्म के परम्परागत विचार को एक्वीनास ठुकरा देता है कि राज्य की उत्पत्ति पाप से और मनुष्य के पतन के कारण हुई है। वह अरस्तू के दर्शन के इस आधारभूत विचार से सहमत है कि राज्य एक प्राकृतिक सस्था है, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है तथा उसका उद्देश्य नागरिको को शुभ जीवन की प्राप्ति मे सहायता देना है। पर एक्वीनास चाहता है कि शुभ जीवन इस प्रकार का होना चाहिए जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके और इसके लिए वह चर्च को आवश्यक मानता है।

शासन के विभिन्न रूपो के वर्गीकरण मे भी एक्वीनास ने अरस्तू का अनुसरण किया है। अरस्तू की भाँति वह सर्वहितकारी शासन प्रणाली को अच्छा और न्यायपूर्ण तथा केवल मात्र शासक का हित साधने वाली शासन-प्रणाली को निकृष्ट बताता है। अरस्तू की भाँति वह भी मिश्रित शासन-व्यवस्था का समर्थन करता है। एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारो पर भी अरस्तू का प्रभाव है। वह कानून को विवेक बुद्धि का परिणाम मानता है। पर साथ ही वह कानून मे ईश्वर प्रदत्त शाश्वत और दैवी कानून को भी शामिल कर देता है। अरस्तू की नैतिकता सम्बन्धी अथवा आचारशास्त्र (Ethics) की विचारधारा को भी एक्वीनास ने स्वीकार किया है, तथापि उसके मत मे अरस्तू का बडा दोष यह है कि उसने इस सत्य की उपेक्षा कर दी है कि मनुष्य का प्रकृति से परे भी एक लक्ष्य है, वह और है मोक्ष एवं भावी आनन्द की प्राप्ति।

1 "Acquinas is the sainted Aristotle of Middle Ages." —Maxey, Op cit, p 116.

स्पष्ट है कि एक्वीनास पर अरस्तू का गहरा प्रभाव था, पर जहाँ अरस्तू के विचारों का खण्डन नही किया है वहाँ उन्हे पूर्ण सत्य भी नही माना है एक्वीनास ने अरस्तू के विचारो को उसी सीमा तक सत्य माना है जहाँ तक श्रद्धा-रहित मानव-बुद्धि की पहुँच है। एक्वीनास ने अरस्तू की धारणाओं को स्वीकार करते हुए भी ईसाई धर्म के आदर्शों और सिद्धान्तो को उनसे ऊँचा स्थान दिया है। वस्तुतः यह कहना उपयुक्त होगा कि अरस्तू के दर्शन रूपी नीव पर एक्वीनास ने ईसाई भवन का निर्माण किया है, और इसलिए एक्वीनास को 'ईसाईकृत अरस्तू' (Christianised Aristotle) तथा उसके दर्शन को 'ईसाई अरस्तूवाद' (Christian Aristotalianism) तक कह दिया जाता है।

प्रमुख अनुदाय—राजदर्शन के इतिहास मे एक्वीनास के प्रमुख अनुवाद है जिन्हे संक्षेप मे निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

(i) एक्वीनास ने कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करके वैधानिक राजतन्त्र की नीव डाली।

(ii) उसके विचारो ने यूरोप मे विधानवाद (Constitutionalism) फैलाया। उसने अपने विधानवाद मे अरस्तू का अनुसरण किया किन्तु अपने व्यक्तित्व की प्रभावशाली छाप लगा दी।

(iii) उसने मध्ययुगीन अन्तर्राष्ट्रीयता (Cosmopolitanism) का विरोध करके नागरिकता को उच्च-स्थान प्रदान किया, जिसे वाद मे मैकियावेली जैसे दार्शनिको ने अपनाया।

(iv) उसने राज्य के कार्यों की विशद विवेचना करते हुए वतलाया कि राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण होना चाहिए। आधुनिक प्रजातन्त्र मे भी इसी भावना की आवश्यकता है।

(v) एक्वीनास ने विधि शासन (Rule of Law) की नीव डाली।

(vi) उसने अपने राज-दर्शन मे विवेक एव दैवी सन्देशो मे समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

अन्त मे सेवाइन के शब्दो मे हम कह सकते है कि "वस्तुतः एक्वीनास ने एक ऐसी व्यावहारिक प्रणाली खोजने की चेष्टा की जिसके अनुसार ईश्वर, प्रकृति एव मानव के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हो और जिसमे समाज एव शासन-सत्ता एक-दूसरे का साथ देने के लिए तैयार हो।"

एजिडियस रोमेनस
(Egidius Romanus)

पोप के साम्राज्यवाद का सबसे प्रबल तर्क एजिडियस रोमेनस अथवा एजिडियस कोलोना (Egidius Colonna) द्वारा 1302 मे लिखे गए 'डी एक्लोजियास्टिका पोटस्टेट' (De Ecclesiastica Potestate) नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया था। इस पुस्तक मे पोप के पक्ष को एक कानूनी तर्क के रूप मे नही वल्कि दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया। एजिडियस ने वतलाया कि पोप सम्पूर्ण विश्व का, आध्यात्मिक एव लौकिक दोनो विषयो मे सर्वोच्च स्वामी है और सभी राजा उसके अधीन है। इस ग्रन्थ को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग मे पोप की प्रभुता की चर्चा है, दूसरे भाग मे इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पत्ति और शासन सम्वन्धी कुछ निष्कर्ष दिए गए है और अन्तिम भाग मे विविध आपत्तियो, विशेपकर पोप की धर्माज्ञप्तियो, के वारे मे शकाओ का समाधान किया गया है।

पोप की प्रभुता के वारे मे विचार

एजिडियस ने कहा कि पोप मे निहित आध्यात्मिक शक्ति सर्वोच्च है। आध्यात्मिक-सत्ता लौकिक-सत्ता की स्थापना और उसकी परीक्षा कर सकती है। चर्च की समस्त शक्तियाँ आवश्यक रूप से पोप की है, अन्य किसी की नही। एजिडियस का प्रमुख तर्क यह था कि "आध्यात्मिक शक्ति

लौकिक शक्ति से उच्चतर होती है और प्रकृति का यह सार्वभौम नियम है कि उच्चतर शक्ति निम्नतर शक्ति पर शासन करती है। प्रकृति मे व्यवस्था किसी अधीनता के द्वारा कायम रह सकती है और यह नही माना जा सकता कि ईसाई समाज मे प्रकृति की अपेक्षा कम व्यवस्था है।"[1] एजिडियस ने अपने तर्क पेश करते हुए एक अन्य स्थल पर कहा है कि "सृष्टि मे भौतिक तत्त्व आध्यात्मिक तर्क द्वारा शासित होता है। देवता भौतिक प्राणियो मे सबसे ऊँचे हैं और सभी प्राणियो पर नियन्त्रण करते हैं, किन्तु आध्यात्मिक तत्त्व उन पर भी शासन करते हैं। अतः वाँछित है कि ईसाईयो मे भी सभी लौकिक शासक एव सांसारिक शक्तियाँ आध्यात्मिक तथा धार्मिक सत्ता की वशवर्ती रहें। यह भी आवश्यक है कि उन पर पोप का विशेष रूप से नियन्त्रण रहे क्योकि आध्यात्मिक शक्तियो और चर्च मे पोप की स्थिति सर्वोच्च है।"

एजिडियस चर्च को अधिकारियो की एक शिखरोन्मुखी व्यवस्था मानता था जिसमें नीचे के अधिकारी अपने उच्च अधिकारियो से शक्तियाँ प्राप्त करते है, उच्च अधिकारी अपने से निम्न अधिकारियो पर नियन्त्रण रखते हैं। उसका कहना था कि इस व्यवस्था मे शीर्ष स्थान पर पोप है जो सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न है और चर्च का निर्विवाद प्रधान है। यद्यपि एजिडियस ने यह विचार भी प्रकट किया है कि पोप को पूर्ण निरकुश न बनाकर साधारणत. सामान्य कानून के अनुसार ही विधायी और प्रशासकीय कार्य करने चाहिए तथापि वह पोप की शक्ति पर आवश्यक रूप से प्रतिबन्ध नही लगाना चाहता था। अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे उसने स्पष्ट कहा है कि पोप की प्रभुसत्ता एक स्वतन्त्र और स्वत. प्रेरित शक्ति है जिसके द्वारा वह कोई भी कार्य कर सकता है। आध्यात्मिक मामलो मे पोप ईश्वर के अधीन रहता हुआ निरकुश है जिसे न तो अपदस्थ ही किया जा सकता है और न उत्तरदायी ही ठहराया जा सकता है। साररूप मे, वह चर्च है। वह बिना निर्वाचनो के भी बिशपो का निर्माण कर सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि सामान्यत. उसे विधि के रूप कायम रखने चाहिए।

एजिडियस ने यह भी कहा कि आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति अलग-अलग हैं और प्रयोग की दृष्टि से उन्हे अलग-अलग ही रखना चाहिए। चर्च यह नही चाहता कि दोनो शक्तियाँ एकरूप हो जाएँ। लौकिक शक्ति को अतिक्रान्त करने की चर्च की इच्छा नही है। केवल आवश्यकता पडने पर और उपयुक्त कारण होने पर ही आध्यात्मिक मूल्यो की रक्षा की दृष्टि से चर्च हस्तक्षेप करता है। उदाहरणार्थ, ऐसे किसी भी मामले मे हस्तक्षेप किया जा सकता है जिसमे लौकिक सम्पत्ति या शक्ति का प्रयोग शरीर के पाप के लिए हो। एजिडियस के मतानुसार, चर्च की यह शक्ति इतनी विस्तृत है कि इसमे सभी लौकिक विषय आ जाते हैं। शासको के बीच शान्ति बनाए रखने और उनके द्वारा सन्धियो का पालन कराने का दायित्व भी चर्च पर ही है। चर्च ऐसे किसी भी विषय मे हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ शासक उपेक्षा प्रदर्शित करें। वह नागरिक-कानूनो के अस्पष्ट होने पर भी हस्तक्षेप कर सकता है। पोप अपनी इच्छानुसार किसी भी मामले का क्षेत्राधिकार कर सकता है पर वाँछित यही है कि पोप अपनी शक्तियो के प्रयोग मे स्वेच्छाचारी और बेलगाम आचरण न रखे।

स्वामित्व सम्बन्धी धारणा (Conception of Dominium)

एजिडियस की स्वामित्व सम्बन्धी धारणा उसके चिन्तन का केन्द्र स्थल है। स्वामित्व अर्थात् डोमोनियम के अन्तर्गत सम्पत्ति का स्वामित्व व प्रयोग और राजनीतिक सत्ता भी शामिल है। इस शब्द का प्रयोग मध्ययुग मे किसी व्यक्ति अथवा वस्तु पर अधिकारपूर्ण शक्ति का बोध कराने के लिए किया जाता था। एजिडियस का आग्रह था कि पदार्थों पर राजनीतिक शक्ति का स्वामित्व तभी शुभ है जब उनसे मनुष्य का कल्याण हो। लौकिक कानूनो द्वारा प्रदत्त स्वामित्व तभी मान्य है जब उसका उपभोक्ता ईश्वर के अधीन हो, उसकी कृपा का पात्र हो। उसका कहना था कि मनुष्य का सर्वोच्च कल्याण आध्यात्मिक कल्याण है, अत उसकी शक्ति और सम्पत्ति तभी सार्थक है ... का प्रयोग

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 252

आध्यात्मिक प्रयोजन मे किया जाए। ऐसा न करने से आत्मा पतन की ओर अग्रसर होती है, और मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकता। स्वामित्व का अधिकार ईश्वर की अनुकम्पा द्वारा मिलता है और ईश्वर की अनुकम्पा केवल चर्च द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है और मोक्ष का एकमात्र साधन भी चर्च ही है। अत. यह आवश्यक है कि समस्त 'डोमिनियम' अर्थात् स्वामित्व चर्च के अधीन रहे। सच्चा स्वामित्व केवल वही है जो चर्च के अधीन हो अथवा चर्च द्वारा दिया गया हो।

एजिडियस का यह दृढ़ मत था कि स्वामित्व का वास्तविक औचित्य उस आध्यात्मिक पुनरुत्थान मे निहित है जो चर्च के माध्यम से होता है। एजिडियस द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के वास्तव मे गम्भीर परिणाम निकलते हैं। इसके अनुसार समस्त सांसारिक वस्तुओ पर सामान्य स्वामित्व चर्च में निहित हो जाता है। इस तरह लौकिक क्षेत्र मे चर्च के हस्तक्षेप का सुदृढ आधार मिल जाता है। यह राजा की सम्पत्ति, भूमि आदि के अधिकार और स्वामित्व को सुरक्षित रखते हुए भी उसे चर्च मे विलीन कर देता है। इस सिद्धान्त से सभी वस्तुओं और व्यक्तियों पर चर्च का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। चर्च की शक्ति राजा की शक्ति से श्रेष्ठतर सिद्ध होकर इतनी बढ जाती है कि चर्च उसकी सम्पत्ति के स्वामित्व तक मे परिवर्तन ला सकता है, राजा की निन्दा कर सकता है और उसके व्यक्तित्व का निर्णायक हो सकता है।

एजिडियस रोमेनस अथवा एजिडियस कोलोना के उपर्युक्त विचारो की सारपूर्ण सुन्दर विवेचना हमे मैकलवेन के इस उद्धरण मे मिलती है—"सब कुछ कहने के बाद निष्कर्ष रूप मे यही प्रतीत होता है कि उत्तर मध्यकाल में राजदर्शन के इतिहास में एजिडियस कोलोना महानतम नामो में है। अपने ग्रन्थ 'De Regimine Principum' में उसने अरस्तू के राजनीतिक विचारो को मध्यकाल मे बड़े ही व्यापक और गहन रूप से अंगीकार किया है, भले ही वह इस क्षेत्र में आदि लेखक न हो। 25 वर्ष के उपरान्त उसने उन्हीं विचारो को पोप की प्रभुता के विषय में केनोनिस्ट्स के उग्रतम विचारो के साथ सम्मिलित कर दिया है और इस सम्मिश्रण मे पोप की प्रभुता का दार्शनिक आधार पर प्रथम व्यापक समर्थन परिलक्षित होता है। अपने ग्रन्थ 'De Potestate Ecclestiasica' में जिस स्वामित्व के सिद्धान्त का उसने प्रतिपादन किया है, उसमे इसने इन दो विचारधाराओ को, स्वामित्व अधिकारो को, स्वामियो और सेवको मे विभाजित करने की एक तीसरी सामन्तवादी धारणा मे मिला दिया है।"[1]

दांते : आदर्श साम्राज्य
(Dante, 1265–1321 : The Idealized Empire)

1265 ई मे फ्लोरेन्स में जन्मा दांते एलिजियरी (Dante Alighiere) 35 वर्ष की आयु मे फ्लोरेन्स का मजिस्ट्रेट नियुक्त हुआ किन्तु दल-बन्दी में भाग लेने के कारण उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उसे नगर से निष्कासित कर दिया गया। सम्पत्ति पुनः प्राप्त करने के लिए उसने अनेक असफल प्रयत्न किए। जब यह दण्ड घोषित किया गया कि पकड़े जाने पर उसे जीवित ही गाड दिया जाएगा तो वह पकडे जाने के क्षेत्र से बाहर चला गया। इसी असहाय अवस्था मे उसने 'Divine Comedy' तथा 'Monarchia' नामक महान् ग्रन्थो की रचना की। 'मोनार्किया' में दांते के राजनीतिक विचार पढने को मिलते हैं। 1321 ई मे 56 वर्ष की अवस्था मे इस संगीत-प्रेमी किन्तु राजनीतिक और प्रेम के निराश खिलाड़ी का देहान्त हो गया।

दांते का 'मोनार्किया' तीन खण्डो में विभाजित है। प्रथम खण्ड मे संसार के कल्याण के लिए एक साम्राज्य की आवश्यकता पर, द्वितीय मे रोमनो के साम्राज्य निर्माण पर, और तृतीय में पोप तथा सम्राट के सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया है।

1 *McIlwain* : Growth of Political Thought in the West, p. 259.

दांते का राजनीतिक दर्शन
(Political Philosophy of Dante)

अपने युग के संघर्षों, अशान्ति और युद्धों के अध्ययन से दांते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक अराजकता और सामाजिक अशान्ति का मूल कारण पोप की लौकिक क्षेत्र में समाप्त होती हुई महत्त्वाकांक्षाएँ थी। दांते इस परिणाम पर पहुँचा कि इटली और विश्व को अशान्ति से छुटकारा तभी मिल सकता है जब पोपशाही को लौकिक क्षेत्र से बिलकुल हटाकर एक सर्वशक्तिमान् सम्राट की अधीनता में एक सर्वव्यापक साम्राज्य की स्थापना हो जाए। अपने ग्रन्थ 'मोनार्किया' में उसने आदर्श साम्राज्य (The Ideal Empire) की बड़ी ही प्रभावशाली शब्दों में वकालत की है।

दांते का विश्वास था कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। विवेक-मूलक जीवन का साक्षात्कार करना उसका उद्देश्य था जिसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब लोग सहयोग और शान्ति से रहें। यदि थोड़े लोग भी इस सहयोगपूर्ण साधन से पृथक् रहेंगे तो उपर्युक्त आदर्श की प्राप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। दांते ने कहा कि मानव समृद्धि तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण मानव जाति एक राजनीतिक इकाई में बँध कर रहे और एक सम्राट की छत्रछाया में सुख भोगे। एक विश्व-सम्राट ही अराजक तत्वों और विभेदक शक्तियों का दमन करके पीड़ित मानवता को सुख तथा समृद्धि का अनुभव करा सकता है। छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व मानव-कल्याण के मार्ग में बाधक है क्योंकि वे विविध स्वार्थों के वशीभूत होकर संघर्षरत रहते हैं। एक विश्व-साम्राज्य में ये छोटे राज्य अर्द्ध-स्वतन्त्र सदस्यों के रूप में संगठित होकर सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण में लगे रह सकते हैं। एक चक्रवर्ती सम्राट के लिए ही यह सम्भव है कि स्वार्थों से सर्वथा ऊपर उठ कर वह उदार, न्यायी और निष्पक्ष रह सके। उसकी निजी महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं होंगी, अतः वह अपने समय और शक्ति का व्यय जनकल्याण में कर सकेगा। उसकी अधीनता में व्यक्ति को सम्यक् आचरण का अवसर मिलेगा। सर्वत्र न्याय, समृद्धि और शान्ति का प्रसार हो सकेगा।

वस्तुतः तत्कालीन अराजकतापूर्ण स्थिति में यह स्वाभाविक न था कि दांते एक आदर्श सार्वभौमिक साम्राज्य की कल्पना करता। उसका ध्यान बराबर प्राचीन रोमन साम्राज्य की ओर जाता था जिसने शताब्दियों तक यूरोप तथा एशिया के एक बड़े भाग को अराजकता से मुक्त रखा था और सुख एवं समृद्धि प्रदान की। 'मोनार्किया' के दूसरे खण्ड में दांते ने प्राचीन रोमन साम्राज्य के गुणगान करते हुए कहा कि रोमनों ने अपना अधिकार साम्राज्य और शक्ति ईश्वर की इच्छा से प्राप्त की थी। उनकी अभूतपूर्व सफलता उनके शासन के दैवीय होने का प्रमाण थी। पुराना रोमन साम्राज्य न्याय के सिद्धान्त पर आधारित था। ईश्वरीय अनुकम्पा से ही रोमन लोग साम्राज्यीय सत्ताधारण कर पाए थे। उन्होंने साम्राज्य का निर्माण विजितों के हित के लिए किया था। और प्रतिष्ठा को उन्होंने सर्वथा विश्व-शान्ति और स्वतन्त्रता के महान् आदर्शों को सामने रखकर कार्य किया और मानव जाति के हितार्थ अपने स्वार्थों की उपेक्षा की। रोमन लोगों ने ही युद्धों में समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को हटाकर संसार पर शासन करने में सफलता प्राप्त की। इसका कारण यह था कि ईश्वर की यही इच्छा थी। दांते ने ईसाईयत के इतिहास द्वारा भी अपने विचार सिद्ध करने का प्रयास किया। उसने कहा कि ईसा मसीह ने सम्पूर्ण मानव-जाति के पाप अपने सिर पर झेल कर और स्वयं दण्डित होकर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया था। रोमन सत्ता के वैध होने का प्रमाण ही यह है कि वह ईसा को दण्डित कर सकी, क्योंकि कानून की दृष्टि से दण्ड वही दे सकता है जिसे दण्ड देने का अधिकार हो।

रोमन साम्राज्य के उपरोक्त आधार को लेकर ही दांते ने 'मोनार्किया' के अन्तिम खण्ड में यह प्रतिपादित किया कि साम्राज्य की शक्ति पोप के माध्यम से नहीं वरन् सीधे ईश्वर से प्राप्त की गई थी। "यहाँ दांते ने धार्मिक विधिवेत्ताओं का विरोध किया और पोप की आज्ञाप्तियों को धर्म की

बुनियाद मानने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि धर्मशास्त्रों का स्थान चर्च से ऊपर है। इसके बाद प्रधान कौंसिलो के कार्य आते है। पोप की आज्ञप्तियाँ केवल परम्पराओं का महत्व रखती हैं जिन्हें चर्च बदल सकता है। इसके बाद दांते ने धर्म-शास्त्रों के उन मुख्य अवतरणों की परीक्षा की जिनके अनुसार चर्च की शक्ति लौकिक शासको की शक्ति से ऊपर बताई जाती थी। उसने लौकिक इतिहास के दो पूर्व-उदाहरणों-कॉन्स्टेन्टाइन के दान (Donation of Constantine) और शार्लमैन (Charlemagne) के साम्राज्यारोहण की भी परीक्षा की। उसका विचार था कि कान्स्टेन्टाइन का दानपत्र तो अवैध था क्योंकि सम्राट को साम्राज्य का हस्तान्तरण करने की कोई वैधानिक शक्ति नही थी। इस प्रलेख की ऐतिहासिकता पर आपत्ति होने के काफी समय पहले से ही विधिवेत्ताओं का यह आम विचार था। इस तर्क ने दूसरे कठिन पूर्व-उदाहरण का भी समाधान कर दिया। यदि पोप के पास वैज्ञानिक रूप से साम्राज्यिक शक्ति नहीं हो सकती थी तो वह उसे शार्लमैन को दे भी नही सकता था। अन्त मे, दांते ने यह सामान्य तर्क प्रस्तुत किया कि लौकिक शक्ति को धारण करना चर्च की प्रकृति के विरुद्ध है। चर्च का राज्य इस ससार मे नही है।"[1]

इसी प्रकार दांते ने दो तलवारो की, मनुष्य के बन्धन और मोक्ष के अधिकार की तथा ऐसी ही अन्य युक्तियो की धज्जियाँ उडाते हुए यह कहा कि पोप को लौकिक शक्ति का कोई अधिकार न भगवान् से मिला है, न किसी सम्राट से मिला है और न ही मानव समाज से मिला है, अत वह सम्राट को इसे प्रदान नही कर सकता। दांते ने यह विश्वास व्यक्त किया कि दोनो शक्तियों के अधिकार क्षेत्र भिन्न हैं। उन्हें एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। उसने पोप की आध्यात्मिक शक्ति से इन्कार नहीं किया किन्तु धर्म-निरपेक्ष राजनीति मे उसका कोई स्थान भी स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि जीवन के लौकिक और धार्मिक क्षेत्र अलग-अलग रहने चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य के सामने दो लक्ष्य रखे हैं—प्रथम लक्ष्य है स्वबुद्धि का विकास तथा सांसारिक सुख का उपभोग और द्वितीय लक्ष्य है नित्य जीवन का आनन्द लेना जो ईश्वर दर्शन से ही सम्भव है। इन दोनो लक्ष्यों की प्राप्ति भिन्न-भिन्न साधनों से ही होती है। साम्राज्य द्वारा स्थापित शान्ति और व्यवस्था से प्रथम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। दर्शन-शिक्षा से भी इसमे सहायता मिलती है। द्वितीय लक्ष्य की प्राप्ति में चर्च की आध्यात्मिक शिक्षा, पोप का नेतृत्व और ईश्वर प्रदत्त ज्ञान सहायक होता है। अतः यह आवश्यक है कि दोनो सत्ताएँ अपने-अपने क्षेत्र मे कार्य करें। लौकिक विषयो में आध्यात्मिक सत्ता का हस्तक्षेप सर्वथा अवांछित और त्याज्य है। दांते ने यह विश्वास भी प्रकट किया कि नैतिकता की प्राप्ति का एकमात्र स्रोत धर्म ही नहीं है, धर्म से स्वतन्त्र रहकर भी नैतिक रहा जा सकता है। जहाँ धर्म-सत्तावादियो ने नैतिकता को धर्म का एक रूप स्वीकार किया वहाँ दांते ने नैतिकता को धर्म से पृथक् मानते हुए बतलाया कि वह धर्मशास्त्र का प्रतिफल नही है। इस तरह दांते ने नैतिक प्रश्नो मे चर्च के हस्तक्षेप करने के अधिकार पर भी कुठाराघात करने की चेष्टा की। दांते ने पोपवादियो पर प्रहार करते हुए चर्च को केवल दैविक स्वर्ग तक परिमित कर दिया।

दांते का मूल्यांकन

दांते अपने समय का बहुत ही प्रतिभाशाली, सिद्धान्तवादी और बहुउद्देश्यीय अनुभव वाला राजनीतिक विचारक था जिसने तत्कालीन समस्या को भाँपते हुए चर्च और राज्य के पूर्ण पार्थक्य का समर्थन किया और एक विश्व-राज्य का मौलिक विचार प्रस्तुत करके यूरोपवासियो को स्थाई शान्ति और एकता का मार्ग दिखाया। दांते ने विश्व राज्य की औषधि द्वारा यूरोप को रोग-मुक्त करना चाहा, लेकिन राष्ट्रवाद के उदय ने उसके निदान को असामयिक ठहरा दिया। दांते ने भी, एक्वीनास की भाँति ही अरस्तू का असंगत अनुकरण करने की भूल की। एक्वीनास और दांते, दोनो ने अपने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 239-40.

सार्वभौमिक समुदाय के विकास मे अरस्तू का अनुसरण किया लेकिन इसमे असंगति रही और ईसाइयत का सामञ्जस्य वे स्वाभाविक रूप मे नही कर पाए। दाँते ने रोमन साम्राज्य की पुनस्थपिना का असामयिक राग अलापा। उसने राज्य पर चर्च के नियन्त्रण के दावो का खण्डन करते हुए साम्राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने का प्रयास किया और एक ऐसे आदर्श साम्राज्य की कल्पना की जिसकी इस भू-तल पर स्थापना लगभग असम्भव सी ही है।

कमियो के बावजूद राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे दाँते का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योकि मध्ययुग मे विश्व राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने वाला यह प्रथम राजनीतिक चिन्तक था। उसके योगदान पर टिप्पणी करते हुए कैटलिन ने लिखा है—"दाँते ने न केवल रोमन साम्राज्य का उपसहार लिखा अपितु राष्ट्रसघ (League of Nations) की भूमिका भी तैयार की। दाँते ने राष्ट्रसघ को यह अकाट्य तर्क प्रदान किया कि राज्य द्वारा शान्ति स्थापना का सर्वप्रमुख कार्य पूरी तरह तभी सम्पन्न किया जा सकता है जब वह 'विश्व राज्य' हो।"[1]

जॉन ऑफ पेरिस
(John of Paris, 1269–1306)

मध्यकाल मे धर्मनिरपेक्षता के समर्थको मे जॉन ऑफ पेरिस (1269–1306) का नाम महत्त्वपूर्ण है जिसने समकालीन राजदर्शन को तथा भावी विचारको को बडी सीमा तक प्रभावित किया।

जॉन ऑफ पेरिस ने राजा के पक्ष मे अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक (De Potestate Regia et Papali, 1302-3) लिखी। इसमे किसी क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का निरूपण नही मिलता है, पर इससे राजा के पक्ष मे जॉन का दृढ समर्थन परिलक्षित होता है। उसने साम्राज्य को विशेष महत्त्व नही दिया है तथापि वह यदा-कदा सम्राट को आभासी सार्वभौम सत्ता प्रदान करता है। उसकी विचारधारा पर अरस्तू का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आत्मनिर्भर समाज का विचार उसने अरस्तू से ग्रहण किया है यद्यपि उसका यह समाज राज्य है। वह इस तरह के सभी स्वायत्तशासी एकको की सत्ता स्वीकार करने को तैयार है। वह अरस्तू के इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है कि नागरिक शासन श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक है। वह अपने अरस्तूवाद के कारण ही एजिडियस के इस विचार को नही मानता कि लौकिक सत्य को वैध होने के लिए चर्च के आशीर्वाद की आवश्यकता है। उसकी मान्यता है कि पुरोहितवाद की अपेक्षा लौकिक शक्ति अधिक प्राचीन है, अतः पुरोहितवाद उसका स्रोत नही है। पर चर्च के नियन्त्रण के पक्ष मे एक तर्क यह दिया जाता था कि राज्य का मूल मानव यदि पापाचार मे प्रवृत्त होने लगे तो चर्च द्वारा उसका शुद्धिकरण होना चाहिए, लेकिन जॉन ने बतलाया कि राज्य एक वैधानिक सस्था है जिसका सगठन सामाजिकता के आधार पर हुआ है, मनुष्य के पतन के परिणामस्वरूप नही। राज्य के माध्यम से सामाजिक और व्यक्तिगत गुणो का विकास होता है। इस तरह राज्य एक कल्याणकारी सस्था है जिसके शुद्धिकरण का प्रश्न ही नही उठता।

आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओ के भेद को प्रकट करने और साम्राज्य का समर्थन करने मे जॉन ने परम्परागत तर्कों का सहारा लिया है। उसने दोनो सत्ताओ को अलग-अलग माना है। प्रत्येक सत्ता का प्रत्यक्ष स्रोत ईश्वर है। सर्वप्रथम उसने वे 42 कारण बतलाए है, जिनके आधार पर लौकिक सत्ता को आध्यात्मिक सत्ता के अधीन बतलाया जा सकता था। तत्पश्चात् उसने एक-एक कारण का समाधान किया है। पुन उसने पहले पुरोहितो की आध्यात्मिक सत्ता का विश्लेषण किया है और तब यह बतलाया है कि इसके कारण पुरोहितो को लौकिक शक्ति पर क्या नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है? जॉन के अनुसार धर्मार्पण, सस्कार, प्रचार और शिक्षा देने के अधिकार पूर्णत आध्यात्मिक हैं, इनके लिए भौतिक साधन आवश्यक नहीं हैं। बुराई करने वालो का निर्णय करने और उनको ठीक करने के

1 *Catlin* · A History of the Political Philosophies, p 177.

क्षेत्र मे धर्माचार्यों की शक्ति केवल धर्म-बहिष्कार की है। लौकिक दृष्टि से यह अधिकार अर्थहीन है। लौकिक सत्ता बल-प्रयोग की शक्ति की अधिकारिणी है। धर्माचार्यों के धर्म-बहिष्कार के अधिकार का यह अर्थ नही है कि आध्यात्मिक सत्ता लौकिक शासको पर बल-प्रयोग करने का अधिकार है। जॉन का कहना है कि "शासक भी चर्च मे दोष निकालकर पोप के साथ इसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। विधि मे पोप को राजा को अपदस्थ करने का अधिकार वैसा ही है जैसा कि राजा को पोप को अपदस्थ करने का अधिकार। दोनो विरोध कर सकते है। विरोध का वजन हो सकता है। दोनो को कानूनी ढग से अपदस्थ किया जा सकता है लेकिन उन्हे अपदस्थ वही सविहित सत्ता कर सकती है जो उनका निर्वाचन करती है। आध्यात्मिक सत्ता को दो शक्तियाँ प्राप्त है—धर्माचार्यों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति और आध्यात्मिक कार्यों के लिए सम्पत्ति के स्वामित्व की शक्ति। चर्च की आध्यात्मिक सत्ता के विश्लेपण और उसे सीमित करने का यह कार्य एक धर्माचार्य ने किया था, यह काफी आश्चर्यजनक है।"

जॉन ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्यायो मे स्पष्ट रूप से तो नही किन्तु ध्वनितार्थ से चर्च मे पोप की प्रभुसत्ता को एक तरह से बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। "आध्यात्मिक सत्ता की दृष्टि से सभी बिशप हैं। यद्यपि पोप का पद अनुपम है और ईश्वरीय है किन्तु उसका चुनाव मानवीय सहयोग से होता है। जब पोप का निर्वाचन हो रहा होता है, उस विराम काल मे कही न कही पोप की शक्ति निहित रहती है। अतः यदि पोप को शक्ति प्रदान की जा सकती है तो उसे वापिस छीना भी जा सकता है। पोप त्याग-पत्र दे सकता है अथवा भ्रष्ट आचरण होने पर उसे पदच्युत् भी किया जा सकता है। जॉन के अनुसार जनरल कौंसिल पोप को पदच्युत् कर सकती है। उसकी अपनी राय तो यह भी है कि कॉलेज ऑफ कार्डिनल्स भी पोप को पदच्युत् करने का अधिकार रखते हैं। वह कॉलेज और पोप का सम्बन्ध कुछ वैसा ही मानता है जैसा सामन्ती संसदो का राजा के साथ था।"[1]

जॉन का अपने ग्रन्थ 'De Potestate Regia ea Papali' का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक सम्पत्ति की समस्या को सुलझाना था। वह दो अतिवादी धारणाओ के बीच मे मध्यवर्ती मार्ग निकालने का इच्छुक था। एक विचारधारा यह थी कि पादरियो के पास कोई सम्पत्ति नही रहनी चाहिए। दूसरे वर्ग का कहना था कि अपनी आध्यात्मिक शक्ति के कारण परोक्ष रूप से पादरियो को समस्त सम्पत्ति पर और लौकिक शक्ति पर भी नियन्त्रण प्राप्त है। किन्तु जॉन ने कहा कि पादरियो को आध्यात्मिक कार्यो के लिए सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त होना चाहिए, लेकिन उस पर वैधानिक नियन्त्रण लौकिक सत्ता का रहना चाहिए, आध्यात्मिक सत्ता का नही। सम्पत्ति का स्वामित्व न तो पोप मे ही निहित है और न किसी एक व्यक्ति मे ही बल्कि उस पर तो सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व है। पोप सम्पत्ति का शासक मात्र है जिसे उसके दुरुपयोग के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जॉन ने चर्च की सम्पत्ति के साथ-साथ लौकिक शासको के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारो को भी सीमित किया जिसे उसके राजा को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारो का सम्मान करना चाहिए और उनका नियमन तभी करना चाहिए जब सार्वजनिक आवश्यकता आ पड़े। वह एजिडियस द्वारा प्रतिपादित स्वामित्व के सिद्धान्त को ठुकराते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व और उसके प्रयोग के अधिकार का समर्थन करता है क्योकि यह अधिकार उस परिश्रम का फल है जो उसे सम्पत्ति-प्राप्त करने मे उठाना पडता है। व्यक्ति की निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित करने या उसका प्रबन्ध करने का अधिकार न पोप को है न स्वयं राजा को। केवल छूट यही है कि राजा निजी सम्पत्ति का विनियमन केवल जनहित के लिए कर सकता है और उस पर कर लगा सकता है।

जॉन ने लौकिक राज्य के सगठन के बारे मे विशेप कुछ नही लिखा है। सामान्यतः वह मध्ययुगीन सांविधानिक राजतन्त्र के पक्ष मे है।

1 सेबाइन 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 259.

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में जॉन ऑफ पेरिस के महत्व को प्रकट करते हुए सेबाइन ने ठीक ही लिखा है कि "यद्यपि जॉन ने किसी व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन का निर्माण नहीं किया, फिर भी उसका कार्य उस युग के लिए और भविष्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह फ्रेंचमेन था और पादरी था। उसने ऐतिहासिक और वैधानिक आधारों पर फ्रेंच राजतन्त्र की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया था। उसने चर्च या सामान्य व्यक्तियों के सम्पत्ति के स्वामित्व और राजा द्वारा राजनीतिक नियन्त्रण अथवा चर्च के लिए पोप द्वारा उसके प्रशासन में भेद स्थापित किया। उसने आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। उसने आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप और प्रयोजनों का विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के अनुसार आध्यात्मिक सत्ता वैधानिक सत्ता नहीं है। उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यदि उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता पड जाए, तो यह बल-प्रयोग लौकिक पक्ष की ओर से आना चाहिए। जॉन ने आध्यात्मिक शक्ति के नैतिक और धार्मिक स्वरूप पर विशेष बल दिया है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि विधि को धर्म के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करना चाहिए अथवा पोप के पास सम्राट की भाँति प्रभुसत्ता होनी चाहिए। अन्त मे, उसने पोप की निरकुशता का विरोध कर राजतन्त्र मे प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समावेश किया। भविष्य की राजनीतिक चर्चाओ मे इन युक्तियो का काफी महत्वपूर्ण हाथ रहा। जॉन ने कट्टरता की सीमाओ के भीतर रहते हुए अरस्तू के प्रभाव को लौकिक और बुद्धिमगत् आधार देने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उसकी स्थिति एडिमियस से बिल्कुल भिन्न थी।"[1]

(6) मार्सीलियो ऑफ पेडुआ (D)

(Marsilio of Padua 1270–1340)

जीवन-परिचय और रचनाए

मार्सीलियो का जन्म इटली के उत्तर-पूर्व मे स्थित पेडुआ नामक नगर मे लगभग 1270 ई. मे हुआ था। 70 वर्ष की अवस्था मे बवेरिया मे लगभग 1340 ई. में वह इस असार ससार को छोडकर चल बसा। उसके पिता पेडुआ विश्वविद्यालय में नोटरी (Notary) के पद पर कार्य करते थे।

पोप जॉन बाईसवें और उसके उत्तराधिकारी के साथ सघर्ष मे लुई ऑफ बवेरिया (Lewis of Bavaria) का साथ देने वाला मार्सीलियो चौदहवी शताब्दी का सबसे अधिक मौलिक विचारक था जिसने अपने समकालीन ही नही, आगे आने वाले यूरोप को भी देखा। 1313 ई मे उसने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। वह पेरिस विश्वविद्यालय का रैक्टर (Rector) भी बना। उसे आर्क बिशप मिलान (Archbishop of Milan) भी बनाया गया किन्तु उसने वह पद नही सम्भाला। उसने वकील, सिपाही और राजनीतिज्ञ की भूमिका ही अपने जीवन मे निभाई। इस प्रतिभाशाली विचारक ने मध्यकालीन परम्परागत विचारो और सिद्धान्तो से स्वय को जितना अछूता रखा उतना उसका कोई भी प्रसिद्ध समकालीन नही कर सका। पेरिस मे रहते समय मार्सीलियो का सम्पर्क विलियम ऑफ ओकम से हुआ। ये दोनो ही विद्वान् एक-दूसरे से बड़े प्रभावित हुए। दोनो ने ही चर्च की अनैतिकताओं और निर्बलताओ का गूढ अध्ययन करके यह मत स्थापित किया कि राजसत्ता को किसी भी दशा मे धर्मसत्ता से निर्बल नही होना चाहिए और यदि चर्च राज्य के अधीन ही हो जाए तो यह और भी उत्तम होगा। ये विचार अपने आप मे बडे क्रान्तिकारी थे जिन्हें स्वीकार करने का अर्थ पोपशाही की शक्ति को हमेशा के लिए समाप्त करना था अतः पोप को जब इन विचारो का पता चला तो उसने मार्सीलियो को बहिष्कृत कर दिया। पर उसके विचारो मे कोई परिवर्तन नही हुआ, क्योंकि पोप के भ्रष्टाचार को वह रोम यात्रा के दौरान अपनी आँखो से देख चुका था। इसके बाद वह जर्मन सम्राट लुई चतुर्थ के दरबार मे चला गया। उसने वहाँ से पोप एवं चर्च पर बडे ही तर्कसम्मत और कठोर प्रहार किए। लगभग

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 261.

1340 ई. मे उसने अपने महान् ग्रन्थ 'डिफेंसर पेसिस' (Defensor Pacis) को पूर्ण किया। यह ग्रन्थ सन् 1300 से सन् 1500 तक के प्रकाशित हुए दो युग-निर्माणक ग्रन्थों में से एक माना जाता है। यह तीन भागों मे विभक्त है प्रथम भाग में 19 अध्याय हैं जिनमें राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त दिए गए हैं और राज्य का वर्गीकरण किया गया है। राज्य के लक्ष्य, उद्देश्य, कानून-निर्माता के कार्यों आदि की विवेचना भी इसी भाग में है। द्वितीय भाग मे 33 अध्याय हैं, जिनमें धर्मसत्ता के जन्म, विकास तथा उत्पत्ति की व्याख्या की गई है और यह बतलाया गया है कि किस भाँति धर्मसत्ता यूरोप की शान्ति को नष्ट कर रही थी। तृतीय भाग मे तीन अध्याय हैं जिनमे प्रथम दो भागों में व्यक्त विचारों को संश्लिष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। तृतीय भाग को प्रथम दो भागों का निष्कर्ष कहा जा सकता है। मार्सीलियो का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'डिफेंसर माइनर' (Defensor Minor) एक प्रकार से प्रथम पुस्तक का ही स्पष्टीकरण है।

मार्सीलियो द्वारा पोपशाही का विरोध करने से यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि वह साम्राज्यवादी था। वास्तव में उसने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ नहीं लिखा। प्रथम तो उसे पोप दरबार के सांसारिक विलास और वैभव को देखकर घृणा हो गई थी; दूसरे, उसे यह देखकर भारी दुःख हुआ था कि विभिन्न नगर-राज्यों के पारस्परिक कलह का मूल कारण पोप का हस्तक्षेप था। सेबाइन के अनुसार, "उसके लिखने का उद्देश्य पोप के साम्राज्यवाद की सम्पूर्ण व्यवस्था को जो इन्नोसेंट तृतीय और धार्मिक विधि के सिद्धान्त के रूप में विकसित हुई थी, नष्ट करना था। उसका उद्देश्य आध्यात्मिक सत्ता को इस शक्ति पर नियन्त्रण लागू करना था कि वह लौकिक सरकारों पर परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से कहाँ तक नियन्त्रण लागू कर सकती है। इस क्षेत्र में मार्सीलियो मध्य युग के अन्य किसी भी लेखक से आगे बढ़ा हुआ था। उसने चर्च को राज्य की अधीनता में रख दिया। उसे पहला इरास्टियन (Erastian) कहना अनुचित न होगा।" मार्सीलियो के हृदय में पोपशाही के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़कने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि पोप जॉन बाइसवें ने 'फ्रांसिसकन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) के इस सिद्धान्त की निन्दा की कि पादरियों द्वारा अस्तेय धर्म का पालन किया जाना चाहिए अर्थात् केवल उन्हें उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए जितनी उनके आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से आवश्यक हो। मार्सीलियो ने पोप के इस कार्य की कड़ी निन्दा की।

मार्सीलियो ने अपने सिद्धान्त का दार्शनिक आधार अरस्तू से ग्रहण किया था। उसने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि उसके ग्रन्थ को 'पॉलिटिक्स' के उस भाग का पूरक माना जा सकता है जिसमें अरस्तू ने क्रान्ति तथा नागरिक उपद्रवों के कारणों का विवेचन किया है। उसने बतलाया कि इस सम्बन्ध में अरस्तू पोप द्वारा लौकिक शासकों पर अपनी सर्वोच्चता के उस दावे से अनभिज्ञ था जिसके कारण समस्त यूरोप और विशेषकर इटली में भयंकर फूट एवं अशान्ति छाई हुई थी अतः उसने इसी बुराई को दूर करने का प्रयास किया।

मार्सीलियो के राज्य-विषयक विचार
(Marsilio's Ideas on the State)

अरस्तू की भाँति मार्सीलियो ने राज्य को एक ऐसी सजीव सत्ता बतलाया है जिसके विभिन्न भाग उसके जीवन के लिए आवश्यक कार्य करते हैं। राज्य रूपी सजीव शरीर का स्वास्थ्य उसके विभिन्न अंगों जैसे—कृषक, कारीगर, योद्धा, पुजारी आदि द्वारा समुचित और व्यवस्थित रूप से कार्य करने पर निर्भर है। किसी अंग द्वारा अपने कार्य का ठीक तरह से सम्पादन न करने पर अथवा दूसरे अंग के कार्य में बाधा डालने पर संघर्ष और अव्यवस्था जन्म लेते हैं। अरस्तू की भाँति मार्सीलियो राज्य को एक आत्म-निर्भर इकाई (Self-sufficient Unit) मानता है जिसका उद्देश्य अच्छे जीवन का विकास तथा नागरिकों का लोक-कल्याण करना है। राज्य का जन्म ही मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के

लिए हुआ है इसलिए राज्य स्वतः विकसित संस्था है और इसका आधार सेवाओं का परस्पर आदान-प्रदान है।

मार्सीलियो ने अरस्तू की तरह यह भी माना कि नगर-राज्य की उत्पत्ति परिवार से हुई है। नगर एक पूर्ण समाज है और श्रेष्ठ जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करता है। राज्य का प्रयोजन जीवन ही नहीं अपितु उत्तम जीवन है। मनुष्य पशुओं और दासों की भाँति केवल जीना ही नहीं चाहता अपितु उसकी आकांक्षा होती है कि वह उत्तम रीति से जिए। अरस्तू का उत्तम जीवन केवल इहलोक तक सीमित था जबकि मार्सीलियो के अनुसार उत्तम जीवन के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है इहलौकिक जीवन की श्रेष्ठता या उत्तमता और दूसरा अर्थ है पारलौकिक अथवा आगामी जीवन में उत्तमता। इहलौकिक अथवा सांसारिक उत्तम जीवन का परिचय दर्शनशास्त्र से मिलता है। पारलौकिक उत्तम जीवन का साक्षात्कार धर्मशास्त्र से होता है। पहले का आधार बुद्धि और विवेक है; दूसरे का आधार श्रद्धा और विश्वास है। विवेक यह बतलाता है कि शान्ति और व्यवस्था के लिए नागरिक शासन की आवश्यकता है, लेकिन समाज में धर्म की भी आवश्यकता है क्योंकि उसका इस जीवन में भी उपयोग है और दूसरे जीवन में भी।

अरस्तू की तरह ही मार्सीलियो आगे चलकर समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न वर्गों का विश्लेषण करता है। कृषक और शिल्पी भौतिक पदार्थों एवं राजस्व का प्रबन्ध करते हैं। समाज में सिपाही, पदाधिकारी और पादरी हैं जो वास्तव में राज्य का निर्माण करते हैं। मार्सीलियो को पादरियों के कार्यों की उपयोगिता उतनी स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ती जितनी अन्य वर्गों के कार्यों की। तथापि उसने बतलाया है कि पादरियों का कार्य धर्म-शास्त्रों का अध्ययन, शिक्षा देना और मुक्ति पाने के लिए आवश्यक बातें सिखलाना है। ईसाई और गैर-ईसाई सभी लोगों ने यह माना है कि समाज में एक वर्ग ऐसा होना चाहिए जिसका काम पूजापाठ करना हो। मार्सीलियो ईसाई पादरियों और अन्य पादरियों में यह अन्तर करता है कि ईसाई वर्ग सच्चा है जबकि अन्य धर्म सच्चे नहीं हैं। मार्सीलियो ने कहा कि पादरी नरक का भय दिखाकर लोगों को कानून का पालन करने और पापाचार से बचने का पवित्र और सच्चा कार्य करके पुलिस एवं न्यायाधीश के कार्यों में सहायक हो सकते हैं। उनका सच्चा कार्य मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होना है। अतः उन्हें लौकिक विषयों से कोई सम्बन्ध न रखकर अपना क्षेत्र आध्यात्मिक विषयों तक परिमित रखना चाहिए। मार्सीलियो समस्त सांसारिक विषयों में पादरियों के ऊपर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती था। वह चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र मानता था। वही पहला मध्यकालीन विचारक था जिसने 'दो तलवारों' के परम्परागत सिद्धान्तों पर कठोरतम प्रहार करते हुए स्पष्ट शब्दों में चर्च के ऊपर राज्य के प्रमुत्व का समर्थन किया। सेबाइन के सारगभित शब्दों में—

"राजनीतिक दृष्टि से मार्सीलियो के निष्कर्ष का महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि लौकिक सम्बन्धों में पादरी वर्ग समाज में अन्य वर्गों के साथ एक वर्ग है। मार्सीलियो तार्किक दृष्टिकोण से ईसाई पादरियों को अन्य पादरियों की भाँति ही समझता है क्योंकि ईसाई पादरियों की शिक्षा भी तर्क से परे होती है और केवल भावी जीवन से ही सम्बन्ध रखती है। इसलिए, राज्य को लौकिक मामलों में पादरियों पर उसी प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिए जिस प्रकार वह कृषि अथवा वाणिज्य पर नियन्त्रण रखता है। आधुनिक शब्दावली में धर्म एक सामाजिक तत्त्व है। वह भौतिक उपकरणों का उपयोग करता है और इसके कुछ सामाजिक परिणाम निकलते हैं। इन दृष्टियों से उस पर समाज का वैसे ही नियन्त्रण होना चाहिए जैसा कि अन्य मानव हितों पर होता है। जहाँ तक उसकी सच्चाई का सम्बन्ध है इस बारे में विवेक-युक्त मनुष्यों में कोई मतभेद नहीं हो सकता। विवेक और विश्वास का यह पृथक्करण धार्मिक सन्देहवाद का पूर्वगामी है। यह लौकिकता का प्रतिपादन है, जो धर्म विरोधी भी है और ईसाई विरोधी भी। मार्सीलियो ने उन पूर्ण आध्यात्मिक हितों की सीधी आलोचना नहीं कि जिनकी चर्च अभिव्यक्ति

करता है और जिन्हें ईसाई मानव-जाति के परम हित समझते है। ये चीजें इतनी पवित्र हैं कि इन्हें बुद्धि की तराजू पर नही तोला जा सकता लेकिन व्यवहार मे अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त तुच्छ में कोई अन्तर नही। चर्च जहाँ तक लौकिक मामलो से सम्बन्ध रखता है वह हर तरह लौकिक राज्य का एक भाग है।"

मार्सीलियो के उपरोक्त विचारो ने पोपवादियो को अत्यन्त नाराज कर दिया। चर्च ने उसके ग्रन्थ 'डिफेंसर पेसिस' पर प्रतिबन्ध लगा दिया, उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया और पोप क्लीमेंट छठे ने तो उसे निकृष्टतम विधर्मी तक की सज्ञा दे डाली।

मार्सीलियो के विधि और विधायक सम्बन्धी विचार
(Marsilio on the Law and the Legislator)

राज्य के स्वरूप और सगठन पर चर्चा के उपरान्त मार्सीलियो सरकार के निर्माण का विवेचन करता है जिसका सर्वाधिक आधारभूत अश उसकी विधि और विधायक सम्बन्धी धारणा है। उसने अपने ग्रन्थ 'डिफेन्सर पेसिस' मे विधि के चार भेद बताए हैं, तथापि महत्त्वपूर्ण बात दैवी विधि और मानवीय विधि की है। अपने बाद के ग्रन्थ 'डिफेन्सर माइनर' में उसने अपने तर्कों को अधिक बारीकी से व्यक्त किया है। उसके शब्दो मे दैवी विधि और मानवीय विधि की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

"दैवी विधि सीधे ईश्वर का आदेश है। इसमें मनुष्य के सोच-विचार के लिए ज्यादा गुँजाइश नही है। दैवी विधि मे मनुष्य को बतलाया जाता है कि वह क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे ? इस विधि मे मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ साध्य प्राप्त करने तथा आगामी संसार के लिए [illegible] परिस्थितियो के निर्माण का उपाय भी बताया जाता है।"[1]

"मानवीय विधि नागरिको के सम्पूर्ण समुदाय का अथवा उसके प्रवुद्ध भाग का आदेश है। जो लोग विधि को बनाने की शक्ति रखते है, वे सोच-विचार के पश्चात् इस विधि को जारी करते है। मानवीय विधि मे मनुष्य को बतलाया जाता है कि वह इस ससार मे क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे। इस विधि मे मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ साध्य प्राप्त करने अथवा इस ससार के लिए वाँछनीय परिस्थितियो के निर्माण का भी उपाय बतलाया जाता है। मानवीय विधि एक ऐसा आदेश है जिसका उल्लंघन करने पर उल्लघनकर्त्ता को इस संसार मे दण्ड मिलता है।"

इन परिभाषाओं से पता चलता है कि दैवी एवं मानवीय विधि मे अन्तर का आधार उनके उल्लंघन पर दिए जाने वाले दण्ड का भेद है। दोनो के स्रोत और क्षेत्र अलग-अलग है। एक को ईश्वर बनाता है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से होता है और उसे तोड़ने पर ईश्वर दण्ड देता है। दण्ड इस लोक मे नही बल्कि परलोक मे मिलता है। दूसरे का स्रोत मानवीय इच्छा है, उसका सम्बन्ध साँसारिक जीवन से होता है और उसे तोडने पर दण्ड राज्य द्वारा दिया जाता है। मार्सीलियो के द्वारा कानून के इस बाध्यकारी (Coercive) स्वरूप पर बल देने का स्वाभाविक अर्थ यही है कि जो भी नियम दण्ड-भय से लागू नहीं किया जा सके वह कानून नही है। मार्सीलियो केवल राज्य अथवा सरकार को ही समाज की विवशकारी शक्ति (Coercive Force) मानता है, अतः सम्पूर्ण धर्म-कानून का केवल वही अंश कानून हो सकता है जिसे राज्य स्वीकार करे। मार्सीलियो के अनुसार मानवीय कानूनो का निर्माण सामाजिक कल्याण के लिए होता है। प्रो हर्नशा के शब्दो मे, "कानून तत्त्वतः इस बात का निर्णय है कि समाज के लिए न्यायपूर्ण और लाभदायक है ? यह सामान्य आवश्यकता की एक आदेशात्मक अभिव्यजना है जिसकी रचना मानव-बुद्धि द्वारा होती है। मान्यता, प्राप्त शक्ति इसे कार्यान्वित करती है और इसके पीछे शक्ति की स्वीकृति होती है।"

1. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 270-71.

मानवीय कानून निर्मित होता है अत: यह स्वाभाविक है कि इसका निर्माण करने वाली और इसे लागू करने करने वाली भी कोई शक्ति हो। दूसरे शब्दों मे मार्सीलियो के अनुसार विधि के लिए विधायक आवश्यक है, तो फिर प्रश्न उठता है कि मानवीय विधायक (Legislator) कौन है ? इस प्रकार का उत्तर हमे उसके राजनीतिक दर्शन के मुख्य तत्त्व पर ला देता है—

"विधायक अथवा विधि का प्रथम और उचित बुद्धिमत्तापूर्ण कारण जनता अथवा नागरिको का सम्पूर्ण समुदाय अथवा उसका प्रबुद्ध भाग है। वह अपने आदेश और निर्णय से अथवा सामान्य सभी की इच्छा से निश्चित शब्दावली मे यह व्यवस्था देता है कि मनुष्य अमुक कार्य करे और अमुक कार्य न करे। यदि मनुष्य विहित कार्यों का उल्लघन करते हैं, तो उन्हे दण्ड मिलता है।"

सरल शब्दो में, विधि का निर्माण करने वाली और उसे लागू करने वाली शक्ति मार्सीलियो के अनुसार "समस्त जनता या सम्पूर्ण नागरिक समूह या उसका प्रधान भाग" है और इसे वह विधायक या व्यवस्थापक (Legislator) की सज्ञा देता है। विधि सम्बन्धी सत्ता का स्रोत सदा ही जनता या उसका प्रबुद्ध अश होता है। यह सम्भव है कि यह भाग अथवा अश कभी-कभी आयोग के द्वारा या साम्राज्य की स्थिति मे सम्राट द्वारा कार्यशील हो सकता है। इस अवस्था मे सत्ता सौंप दी जाती है अर्थात् राजा के आयोग द्वारा निर्मित कानून भी जनता द्वारा निर्मित ही समझे जाएँगे क्योंकि राजा अथवा आयोग जनता के नाम मे और जनता की ओर से ही कार्य करेंगे। मार्सीलियो का विचार था कि जनता के विधायन मे रीति-रिवाज भी शामिल रहते हैं।

मार्सीलियो की विधायक सम्बन्धी धारणा मे एक भ्रामक शब्द 'प्रधान या प्रबुद्ध भाग' (Prevailing or Weightier Part) है। कुछ आलोचको ने इसका अर्थ सख्यागत बहुमत लगाया है जबकि वास्तव मे ऐसा नही है। 'प्रधान-भाग' की अपनी परिभाषा मे मार्सीलियो ने ये शब्द लिखे है, "मैं कहता हूँ कि समाज मे सख्या तथा गुणवत्ता दोनों की दृष्टि से प्रबुद्ध भाग की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।" इस तरह स्पष्ट है कि 'प्रबुद्ध या प्रधान भाग' से उसका अभिप्राय जनता के उस भाग से है जिसकी बात मे सख्या और गुण के दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रभाव हो। वह यह नही चाहता था कि हर व्यक्ति को एक ही माना जाए क्योकि समाज के प्रमुख व्यक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते है। उसका विचार था कि हमे जनतन्त्रीय समानता के विचार खोजने का प्रयत्न नही करना चाहिए।

मार्सीलियो के अनुसार शासन के कार्यपालिका एव न्यायपालिका के विभाग नागरिको द्वारा बनाए जाते है या निर्वाचित होते है। नागरिको को मार्सीलियो ने विधायक अथवा व्यवस्थापक माना है, अत हम कह सकते हैं कि उसके अनुसार व्यवस्थापक का एक मुख्य कार्य कार्यपालिका और न्यायपालिका को चुनना था। कार्यपालिका का मुख्य कर्त्तव्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनो को कार्यान्वित करना और यह देखना है, कि राज्य का प्रत्येक अग सम्पूर्ण समाज के हित के लिए अपना-अपना काम उचित ढंग से करे। अयोग्य कार्यपालिका को वह सत्ता जिसने (अर्थात् जनता ने) उसे निर्वाचित किया था, अपदस्थ भी कर सकती है। मार्सीलियो ने कार्यपालिका की सूत्रबद्धता और एकता पर भी बडा बल दिया और सम्भवत इसी कारण उसने प्रजातन्त्र के ऊपर राजतन्त्र को तरजीह दी। यद्यपि सरकार के रूप के बारे मे उसने विशेष कुछ भी नही कहा किन्तु यह निश्चित है कि वह वशानुगत सम्राट की अपेक्षा निर्वाचित सम्राट को ज्यादा पसन्द करता था। वहाँ भी उसका ध्यान नगर-राज्य की ओर था, सम्राट की ओर नही। उसने सम्राट के बारे में बहुत ही कम विचार प्रकट किए। मार्सीलियो ने कार्यपालिका के एकीकृत और सर्वोच्च होने पर जो बल दिया उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकलता है कि चर्च का कोई स्वतन्त्र अधिकार क्षेत्र नही हो सकता।

कुछ समालोचक मार्सीलियो द्वारा किए गए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के अन्तर को शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के रूप मे देखते है, जबकि मैक्लवेन एव अन्य विद्वानो का कहना है कि

मार्सीलियो के विचारो मे जनतन्त्र, बहुमत का शासन और शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त जैसी कोई बात नही है। मार्सीलियो का विधायक और कार्यपालक आधुनिक विधायिका तथा कार्यपालिका के समान नही है। इस विचार की पुष्टि दो बातो से होती है—प्रथम तो मार्सीलियो का विधायक विधि का नही बल्कि विधि की शक्ति का स्रोत है और द्वितीय उसका कार्यपालक पर ऐसा नियन्त्रण नही जैसा आधुनिक व्यवस्थापिकाओ का मन्त्रिमण्डलो अथवा कार्यपालिकाओ पर पाया जाता है। मार्सीलियो के सिद्धान्त का अर्थ बहुमत का शासन भी नही है क्योकि 'प्रवुद्ध या प्रधान भाग' मे सख्या और गुणवत्ता दोनो सम्मिलित है। उसके विचार-दर्शन मे अति महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह सम्राट को जनता का सेवक मानता है और जनता को यह अधिकार देता है कि वह उसके प्रति बुरे व्यवहार के लिए राजा को दण्डित करे। इस प्रकार मार्सीलियो हमारे सम्मुख सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy) का विचार प्रस्तुत करता है।

मार्सीलियो के चर्च और धर्माचार्य विषयक विचार
(Marsilo's Ideas about Church and the Clergy)

मार्सीलियो ने जनता की प्रभुसत्ता और राज्य विषयक अन्य सिद्धान्तो को चर्च पर लागू करते हुए पोप के सभी अधिकारो को निर्मूल और समाज के लिए घातक बतलाया। उसने कहा कि चर्च की पूरी सस्था पोप से सर्वोच्च है और चर्च की अन्तिम शक्ति पोप मे केन्द्रित न होकर चर्च की सामान्य सभा (General Council) मे केन्द्रित है जिसमे राजनीतिक और धार्मिक दोनो प्रकार के सदस्य सम्मिलित होते है जिस प्रकार राज्य की जनता मे प्रभुसत्ता का निवास है उसी प्रकार चर्च की अन्तिम सत्ता सम्पूर्ण ईसाई जगत मे और इससे निर्वाचित सामान्य सभा मे रहती है। यह सभा चर्च के विवादो का हल करने वाली सस्था है। इसको बहुमत द्वारा धर्म वचनो की व्याख्या करने का चर्च-बहिष्कार (Ex-Communication) का, दण्ड देने का, चर्च के पदाधिकारियो को नियुक्त करने का और चर्च मे धार्मिक पूजा के स्वरूप को निश्चित करने का अधिकार है। इन विषयो मे पोप का कोई अधिकार नही है। पोप के दुर्व्यवहार करने पर सामान्य सभा उसे पदच्युत भी कर सकती है। मार्सीलियो का दृढ मत था कि सामान्य सभा द्वारा ही पोप निर्वाचित होना चाहिए और उसके प्रति ही उसे उत्तरदायी होना चाहिए।[1]

सामान्य सभा समस्त ईसाईयो की अथवा उनके प्रतिनिधियो की ऐसी निर्वाचित परिषद् है जिसमे जनसंख्या के अनुपात मे प्रतिनिधि ईसाई होगे और इन प्रतिनिधियो मे धर्माचार्य और जन-साधारण दोनो ही रहेगे। पोप को चर्च की इसी सामान्य परिषद् से अधिकार प्राप्त होना चाहिए। मार्सीलियो इस सामान्य सभा को भी सर्वोच्च स्थान पर न मानते हुए इसे लौकिक सरकारो के ऊपर निर्भर बनाता है और कहता है कि इसके प्रतिनिधि अपने शासको के आदेशानुसार किसी सुविधाजनक स्थान मे सम्मिलित होकर बाइबिल की शिक्षाओ को ध्यान मे रखते हुए धार्मिक विश्वासो या धार्मिक प्रथाओ से सम्बन्धित विवादास्पद प्रश्नो पर विवाद करेंगे और इनके कारण ईसाईयो के मध्य कलह उत्पन्न होने की सम्भावनाओ को दूर करेगे। सामान्य सभा के निर्णय राज्य केवल प्रयोग द्वारा कार्यान्वित हो सकेंगे।

मार्सीलियो ने सामान्य सभा के सिद्धान्त द्वारा, जो राष्ट्रीय ईर्ष्याओ और स्थानवाद (Particularism) के कारण सफल न हो सका, पोप की शक्ति और स्वतन्त्रता पर भारी अकुश तो लगाया ही, साथ ही इस स्वाभाविक परिणाम को भी सामने रखा कि पोप के अधिकारो द्वारा शक्तियो का स्रोत दैवी-शक्ति नही थी।

मार्सीलियो ने पोप की प्रभुता को एकदम इन्कार करते हुए उसे चर्च का केवल मुख्य प्रशासकीय अधिकारी बनाया और घोषित किया कि पोपशाही की संस्था ईश्वरकृत नही है बल्कि ऐतिहासिक शक्तियो की उपज है। उसने न्यू टेस्टामेट की समीक्षा करते हुए यह बतलाया कि बाइबिल

मे पीटर को दूसरे शिष्यो पर कोई अधिकार नही दिया गया था और पीटर का रोम के साथ कोई सम्बन्ध नही था। दूसरे चर्च रोम के विशप से परामर्श लिया करते थे और इसी कारण भूल से यह माना जाने लग गया कि चर्चों पर पोप का अधिकार है। उसने कहा कि गृह-युद्धो और संघर्षों के मूल मे पोपशाही की दुरभिलाषा ही है।

मार्सीलियो चर्च के अधिकार को केवल धार्मिक और आध्यात्मिक विषयो तक ही सीमित रखना चाहता है। "उसने धर्माचार्यो के कर्त्तव्य की तुलना चिकित्सक की सलाह से की है। धार्मिक संस्कारो को करने के अतिरिक्त धर्माचार्य केवल सलाह और उपदेश ही दे सकते हैं। दुष्टो को डांट-डपट सकते हैं और बता सकते हैं कि पापो के भावी परिणाम क्या होगे ? लेकिन किसी मनुष्य को तपस्या करने के लिए बाध्य नही कर सकते। मार्सीलियो ने आध्यात्मिक और धार्मिक शक्ति को वैधानिक शक्ति से अलग करने पर जितना जोर दिया है, उतना मध्ययुग के अन्य किसी लेखक ने नही दिया है।"[1]

मार्सीलियो के अनुसार चर्च के कानून की कोई सत्ता नही है क्योंकि यहाँ केवल दो ही तरह के कानून हैं—परलोक मे लागू होने वाला ईश्वरीय कानून और इस लोक मे लागू होने वाला मानवीय कानून। ईश्वरीय कानून के उल्लंघन का दण्ड ईश्वर द्वारा परलोक मे मिलता है, अत पोपो के लिए मनुष्यो को दण्डित करने का अधिकार नही है। पाप-पुण्य का निर्णायक और दण्डदाता ईश्वर है, पोप और पादरी तो उसके नौकर जैसे हैं।

मार्सीलियो ने यह भी कहा कि चर्च के पास अपनी कोई सम्पत्ति नही होती। जो भी धार्मिक सम्पत्ति उसके पास होती है वह अनुदान अथवा राज-सहायता के रूप मे आती है। राज्य द्वारा चर्च को दी जाने वाली सहायता सार्वजनिक उपासना के व्यय रूप मे होती है। पादरियो को, भरण-पोषण के लिए जितना आवश्यक है, उससे अधिक नही रखना चाहिए। वह धार्मिक सम्पत्ति और धार्मिक पदो पर लौकिक अधिकारियो के नियन्त्रण का पक्षपाती है। धर्माचार्यों को धार्मिक कार्य करने के लिए तब बाध्य किया जा सकता है जब तक उन्हे आजीविका प्राप्त होती रहती है। लौकिक शासन पोप से लेकर नीचे तक के प्रत्येक पदाधिकारी को पदच्युत कर सकता है।

स्पष्ट है कि मार्सीलियो राज्य पर चर्च की प्रभुता का सबसे अधिक उग्र विरोधी था। वह पोप की प्रभुता के दावे को ठुकराने का सबसे बड़ा मार्ग यही मानता था कि चर्च को राज्य के अधीन बना दिया जाए और उसको विवशकारी शक्ति (Coercive Force) से वंचित कर दिया जाए।

पोप विरोधी विचारो के कारण मार्सीलियो के ग्रन्थ को प्रसिद्धि मिली और इसकी लोकप्रियता बढी। कुछ वर्ष बाद ही एविग्नोन और रोम मे दो विरोधी पोपो का उदय हुआ और चर्च फूट से क्षीण होने लगा। उस समय विचारको का ध्यान मार्सीलियो द्वारा प्रतिपादित चर्च की सामान्य परिषद् की ओर गया जिसने परिषदीय आन्दोलन (Conciliar Movement) को बल प्रदान किया।

मार्सीलियो का मूल्यांकन

मार्सीलियो एक बहुत सूझ-बूझ वाला, दूरदर्शी और मौलिक विचारो से सम्पन्न प्रतिभाशाली विचारक था जिसे अरस्तू के बाद पाश्चात्य राजदर्शन का बहुत ही सम्मानित विद्वान् माना जाता है। मार्सीलियो ने राज्य पर चर्च की प्रभुता का विरोध करके अपनी यथार्थवादी बुद्धि का परिचय दिया। 14वी शताब्दी के आरम्भ मे सामन्तवादी राजनीतिक शृंखलाओ से जकडी हुई यूरोप की जनता को उसने जन्म-प्रभुसत्ता और प्रतिनिधित्व शासन-व्यवस्था के विचार दिए जिन्हे आज के युग मे सर्वत्र मान्यता प्राप्त है। मार्सीलियो ने चर्च के संगठन के सम्बन्ध मे जो विचार प्रस्तुत किए उन्हे 16वी शताब्दी के धर्म-सुधार के उपरान्त सामान्यतया स्वीकार किया जाने लगा। वास्तव मे मार्सीलियो ने अपने समय मे अनेक आधुनिक विचारों को प्रस्तुत किया और इसलिए उसे 'आधुनिक राजनीतिक विचारक' का सम्मानित पद दिया जाता है। एबन्सटीन के शब्दो मे, "मार्सीलियो निश्चित रूप से

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास खण्ड 1, पृ 274.

आधुनिक है क्योंकि उसने बड़े सचेतन रूप से अपने युग की शृंखलाओं को तोड़ने का प्रयास किया है।"[1] मार्सीलियो का महत्त्व इस बात में भी है कि उसकी कृतियो मे अरस्तू और यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान हुआ।

विलियम ऑफ ओकम
(William of Occam, 1290–1347)

14वी शताब्दी मे पोपशाही के विरुद्ध राज्य की स्वतन्त्रता का अपने समसामयिक मार्सीलियो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से समर्थन करने वाले विलियम का जन्म 1290 के लगभग हुआ और उसकी मृत्यु 1347 के निकट हुई। ओकम निवासी विलियम एक अंग्रेज था। उस पर अपने गुरु डंस स्काट्स (Duns Scotts) का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह पहले अध्यापन कार्य मे लगा किन्तु बाद मे सक्रिय राजनीति मे उतर आया। 'फ्रांसिसकन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) का सदस्य बन जाने के कारण और अस्तेय सिद्धान्त का हामी होने के कारण उसे पोप का कोप-भाजन बनना पड़ा जिसने उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया। मार्सीलियो के समान ही उसके विचारों मे भी पोप के क्रोध से कोई परिवर्तन नही आया। मार्सीलियो के समान वह भी लुई के दरबार में गया और लगभग 8 वर्ष तक वहाँ रहा।

1330 से 1349 के मध्य उसने अनेक लेख लिखे जो अधिकांशत वैज्ञानिक आधार पर थे। उसके राजनीतिक ग्रन्थो में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Dialogues' तथा 'Decision Upon Eight Questions Concerning the Power of the Supreme Pontiff' थे। उसके लेखों का मुख्य उद्देश्य पोप का विरोध करना था, यद्यपि आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अपने महान् अनुराग के कारण इस सम्बन्ध मे वह मार्सीलियो की अपेक्षा अधिक उदार था।

विलियम का मुख्य उद्देश्य किसी राजनीतिक दर्शन का निर्माण करना नही था। मुख्य रूप मे वह एक तार्किक और धर्मशास्त्री था। राज्य के किसी क्रमबद्ध दर्शन का निर्माण न करने के कारण ही उसके विचार मार्सीलियो की अपेक्षा कम सिद्धान्तकारी थे। अरस्तू के विचार दर्शन का उस पर प्रभाव पड़ा और आजीवन वह एक स्कॉलिस्टिक धर्मशास्त्री बना रहा।

विलियम के पोप विरोधी विचार

विलियम ऑफ ओकम पोप की निरंकुश सत्ता का कट्टर शत्रु था। उसके विचार का आधार यह था कि महत्त्वपूर्ण शक्ति उस उद्देश्य द्वारा सीमित होती है जिसके लिए वह दी जाती है, अतः यह न्याय सगत् है कि उस शक्ति का प्रयोग सामान्य कल्याण के लिए किया जाए और ऐसा करने मे बुद्धि तथा स्वाभाविक न्याय का पूर्ण ध्यान रखा जाए। पोप और सम्राट के सघर्ष मे और उनके मध्यवर्ती सम्बन्ध निर्धारण मे उसने यथासम्भव इसी सिद्धान्त का पालन किया।

विलियम ने धर्मसत्ता और राजसत्ता के परम्परागत भेद को स्वीकार करते हुए स्पष्ट मत प्रकट किया कि पोप का अधिकार केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित है, उसे लौकिक मामलो मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। उसने पोप जॉन 22वें द्वारा लौकिक विषयों में किए जाने वाले हस्तक्षेप को अन्यायपूर्ण चेष्टा माना और पोप को शासनात्मक शक्तियो मे बिल्कुल अलग रहते हुए केवल प्रबन्धात्मक शक्तियो से विभूषित किया। उसने कहा कि यदि पोप राजसत्ता के कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो उसके आदेशो की अवज्ञा की जा सकती है। लौकिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप की बात तो दूर रही, आध्यात्मिक क्षेत्र में वह धर्म ग्रन्थों की अवहेलना नही कर सकता। विलियम ने पोप की निरंकुशता को एक नई और धर्म विरोधी चीज बतलाया। ईसा ने पीटर को चर्च का अध्यक्ष नियुक्त करके उसे राजनीतिक एव धार्मिक विषयो मे कोई निरकुश शक्ति प्रदान नही की थी, बल्कि उसकी निश्चित सीमाएँ

1 "Marsilio is essentially modern, because he seeks so consciously to break the fetters of his age" —*Ebenstein*: op cit, p. 261.

निर्धारित की थी। राजाओं, राजकुमारो और अन्य व्यक्तियो के अधिकार पोप द्वारा नष्ट किए जा सकते थे। पोप का क्षेत्र सेवा का था, शक्ति का नही।

विलियम ने भी पादरियो की धन-पिपासा की निन्दा की। भौतिक सम्पत्ति पर स्वामित्व से चर्च आध्यात्मिक क्षेत्र से पतित होकर सांसारिक भावनाओ मे लिप्त हो जाता है। राज्य को चाहिए कि वह चर्च की सम्पत्ति और अन्य सम्पत्ति मे कोई अन्तर न रखते हुए आवश्यकतानुसार चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाए और उसे अपने अधिकार मे भी ले ले। राजकीय नियमो को भग करने पर पोपो और पादरियो का निर्णय भी उन्ही न्यायालयो मे होना चाहिए जिनमे अन्य नागरिको का निर्णय होता है।

विलियम यह स्वीकार करता था कि प्रत्येक सत्ता स्वतन्त्रता का उपभोग करने के साथ एक दूसरे की गल्तियो को भी सुधार सकती है। उसका विचार था कि यदि दोनो सत्ताएं दैवी तथा प्राकृतिक विधि द्वारा निर्धारित अपनी-अपनी सीमाओ के अन्तर्गत कार्य करे तो वे एक दूसरे को सहारा दे सकती हैं और हिल-मिल कर रह सकती हैं। युग की परिस्थितियो ने उसे यह लिखने को विवश कर दिया था कि पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के ऊपर कुछ प्रतिनिधिक नियन्त्रण रहना चाहिए तथापि, यदि कोई सच्चा पोप हो, तो उसके हाथ मे विशाल स्वविवेकी शक्तियां भी रह सकती है। दूसरे शब्दो मे, दोनो क्षेत्राधिकारो का कानूनी भेद उसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण नही लगा। उसके लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न न्यायिक नही, प्रत्युत् धार्मिक थे।

सामान्य सभा के सिद्धान्त का प्रतिपादन

चर्च मे पोप की अनियन्त्रित शक्ति पर रोक लगाने के लिए विलियम ने सामान्य सभा (General Council) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी दृष्टि मे पोप की शक्ति पर यह एक सर्वाधिक उपयुक्त रोक थी। उसने कहा कि सामान्य परिषद् का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप मे होना चाहिए। एक पैरिश (Parish) मे रहने वाले ईसाई डायोसीज (Diocese) के निर्वाचक मण्डल के लिए अपने प्रतिनिधि चुनेंगे। डायोसीज के सदस्य प्रान्तीय कौंसिलो के सदस्यो को और प्रान्तीय कौंसिलो के सदस्य सामान्य सभा के सदस्यो का निर्वाचन करेंगे। सामान्य सभा मे पादरियो और जनसाधारण दोनो ही के प्रतिनिधियो का होना आवश्यक है। उसने इस सम्बन्ध मे स्त्रियो को भी पुरुषो के समान अधिकार प्रदान किए। इस सभा को धर्मग्रन्थो की व्याख्या करने, धर्म-बहिष्कृत करने, विवाद-ग्रस्त प्रश्नो पर निर्णय देने एव धर्म विमुख पोप को अपदस्थ करने के अधिकार दिए गए।

सम्राट की शक्तियो का विवेचन

साम्राज्य सम्बन्धी विवेचन करते हुए विलियम ने यह नही माना कि "सम्राट की शक्ति पोप से प्राप्त होती है, राज्याभिषेक के सस्कार से उसकी विधि-सगत सत्ता मे वृद्धि होती है और निर्वाचन के सम्बन्ध मे पोप की स्वीकृति आवश्यक होती है।" उसके मत से 'सम्राट की शक्ति निर्वाचन से प्राप्त होती थी। निर्वाचन मण्डल जनता के स्थान पर था और उसका प्रतिनिधि था।' विलियम ने सम्राट की शक्ति को सीमित भी करना चाहा। सम्राट को चर्च मे सुधार करने की दृष्टि से हस्तक्षेप की व्यापक शक्तियां देने के साथ ही यह मत भी प्रकट किया कि सम्राट को इन शक्तियो का प्रयोग केवल असाधारण स्थितियो मे ही करना चाहिए। सम्राट का कर्त्तव्य अपने शासन को न्यायशील और प्रजा के लिए उपयोगी बनाना है। सम्राट को चाहिए कि वह ईश्वरीय इच्छा स्वाभाविक विवेक एव न्याय के आदेश के अनुसार अपने कर्त्तव्य निभाए और राष्ट्रो के सामान्य कानूनो का आदर करे। सम्राट की मनमानी शक्ति का भी वह उतना ही विरोधी था जितना कि पोप की शक्ति का। उसका उद्देश्य राजसत्ता और पोपसत्ता दोनो को नियन्त्रित रखना था।

मार्सीलियो के समान विलियम भी अन्तिम शक्ति जनता मे ही केन्द्रित मानता था। उसने राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासक माना था। निरकुश राजतन्त्र, अत्याचारी राजतन्त्र और शुद्ध राजतन्त्र मे वह अन्तिम अर्थात् शुद्ध राजतन्त्र का समर्थक था।

विलियम ऑफ ओकम की मृत्यु के साथ ही चर्च और राज्य के ऐतिहासिक संघर्ष की भी इतिश्री हो गई।

12 परिषदीय आन्दोलन (The Conciliar Movement)

मार्सीलियो की मृत्यु के उपरान्त लगभग 150 वर्ष के संक्रमण-कालीन युग में घटित अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी पोपशाही का ह्रास और चर्च परिषदों का उदय अर्थात् चर्च शासन के परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory) का विकास।

परिषदीय आन्दोलन : सिद्धान्त, प्रादुर्भाव के कारण एवं उद्देश्य (The Conciliar Movement : Theory, Causes & Purposes)

परिषदीय सिद्धान्त को दो अवस्थाओं में विभक्त करना उचित होगा। प्रथम अवस्था वह थी जिसमें जॉन ऑफ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओकम आदि विचारकों ने कहा कि चर्च की अन्तिम शक्ति का निवास सामान्य परिषद् (General Council) में है। द्वितीय अवस्था में परिषदीय सिद्धान्त ने साकार रूप ग्रहण किया और चर्च के शासन का क्या रूप हो ? समस्या का हल करने के लिए तीन परिषदें बुलाई गईं। ये परिषदें पीसा की परिषद्, कोंसटेन्स की परिषद् और बेसिल की परिषद् के नाम से विख्यात हैं। इस द्वितीय चरण के प्रमुख नेता गर्सन (Gerson), पियरी डे-अली (Pierre D'Aily) एवं निकोलस ऑफ क्यूसा (Nicholas of Cusa) थे। यह परिषदीय आन्दोलन 15वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर लगभग अर्द्ध-शताब्दी तक बहुत ही प्रबल रहा।

परिषदीय आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त

1. चर्च की प्रभुसत्ता सामान्य परिषद् (General Council) में निहित है, पोप में नहीं। इसलिए चर्च का संगठन एवं शासन इस तरह होना चाहिए कि वास्तविक शक्ति की अधिकारिणी सामान्य परिषद् रहे।

2. पोप चर्च का प्रशासक मात्र है, कानून का सृष्टा नहीं, क्योंकि चर्च के लिए कानून निर्माण का अधिकार केवल चर्च की परिषद् को है और पोप उन कानूनों के अधीन है।

3. सामान्य परिषद् चर्च की प्रतिनिधि संस्था है, अतः उसका पोप पर अधिकार रहता है न कि पोप का उस पर।

4. पोप की आज्ञप्तियाँ सदैव ही मान्य नहीं हैं। यदि उन्हें मान्य होना है तो उन्हें लोगों के अधिकारों को ध्यान में रखना चाहिए। कानून का आधार जन-सहमति है और पोप की आज्ञाओं का कानून की तरह तभी पालन हो सकता है जब उन पर चर्च की सामान्य परिषद् की स्वीकृति की मुहर हो। पोप को अपने अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

5. चर्च की परिषद् सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न है। वह एक पूर्ण समाज है, जिसके पास स्वयं को शुद्ध रखने के साधन हैं। अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए वह चरित्रहीन एवं नास्तिक पोपों को अपदस्थ कर सकती है।

6. पोप मनुष्य है, अतः भूल करना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है। वह पापी हो सकता है।

7. धार्मिक विषयों में अन्तिम निर्णायक शक्ति सामान्य परिषद् की होनी चाहिए न कि पोप की।

8. पोप प्राकृतिक विधि की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि प्राकृतिक विधि का स्थान उसके व्यक्तिगत कानूनों से ऊंचा है। प्राकृतिक विधि ही उसकी सत्ता का स्रोत है।

9 पोप भू-तल पर चर्च का प्रतिनिधि (Vicar) है, ईसा अथवा पीटर का नहीं। पोप के अभाव में विश्व का उद्धार हो सकता है लेकिन चर्च के अभाव मे नहीं।

परिषदीय सिद्धान्त को अत्यन्त सुगठित रूप मे सेबाइन ने प्रस्तुत किया है। उन्ही के शब्दो मे—

"परिषदीय सिद्धान्त का सार यह था कि चर्च का सम्पूर्ण निकाय, ईसाई धर्मावलम्बियो का सम्पूर्ण समुदाय अपनी विधि का स्वय स्रोत है। पोप तथा अन्य धर्माचार्य उसके अग या सेवक हैं। चर्च का अस्तित्व दैवी तथा प्राकृतिक विधि के कारण है। उसके शासक प्राकृतिक विधि के तो अधीन हैं ही, वे चर्च के अपने सगठन अथवा जीवन की विधि के भी अधीन हैं। यह सही है कि उन्हें इस विधि की सीमाओं के भीतर रहना चाहिए। उनके ऊपर धर्म संगठन के अन्य अगो का भी नियन्त्रण रहना चाहिए। चर्च को अपनी धर्मोज्ञप्तियां, सलाह और अनुमोदन के लिए एक प्रतिनिधिक सस्था के सामने पेश करनी चाहिए जिससे कि उन्हे चर्च स्वीकार कर सके। यदि वह ऐसा नही करता है और अपने पद के अधिकार से अधिक शक्तियाँ ग्रहण करता है तो उसे न्यायत. अपदस्थ किया जा सकता है। पदच्युति के आधार अस्पष्ट थे। सबसे प्रबल आधार और ऐसा आधार जिसे परिषदीय सिद्धान्त के समर्थक दुराग्रही पोप के ऊपर लागू करने का प्रयास करते, विधर्मिता का था। कुछ लेखको का कहना था कि पोप को अन्य आधारो पर भी पदच्युत किया जा सकता है। इस बात को सब मानते थे कि सामान्य-परिषद् (General Council) पोप को पदच्युत कर सकती हैं। लेकिन जॉन ऑफ पेरिस की तरह कुछ लोग यह भी मानते थे कि कॉलेज ऑफ कॉर्डिनल्स (College of Cardinals) भी ऐसा कर सकता है। परिषदीय सिद्धान्तो के समर्थकों के लिए आदर्श शासन प्रणाली मध्य युग का सवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) जिसके अन्तर्गत अनेक जागीरें हुआ करती थी, अथवा धार्मिक सम्प्रदायो का सगठन था। इन समस्त धार्मिक सगठनो के प्रतिनिधि एक परिषद् के लिए निर्वाचित होते थे। यह परिषद् सम्पूर्ण चर्च का प्रतिनिधित्व करती थी। यदि परिषदीय सिद्धान्त को व्यावहारिक शासन का रूप धारण करना था तो उसे या तो एक स्थाई सामान्य परिषद् का रूप धारण करना पडता या कॉलेज ऑफ कार्डिनल्स को मध्य-युगीन ससद् के रूप मे बदलना पडता। लेकिन, इनमे से कोई भी योजना व्यावहारिक नही थी।[1]

मुख्य प्रश्न यह था कि अन्तिम निर्णय पोप के हाथ में है अथवा परिषद् के। मध्ययुगीन राजतन्त्र की भाँति परिषदीय सिद्धान्त का अनिवार्य विचार यह था कि चर्च अथवा समाज स्वायत्तशासी है उसकी शक्ति पूरे समाज में निहित है लेकिन सम्पूर्ण निकाय का कोई राजनीतिक अस्तित्व नही था। वह अपने एक अथवा एक से अधिक अगो द्वारा ही मुखरित हो सकता था। परिषदीय सिद्धान्त किसी एक अग के पास अन्तिम निर्णय की शक्ति होने के विरुद्ध था। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम शक्ति सम्पूर्ण चर्च मे निहित थी। उसके प्रत्येक अग अथवा किसी अग विशेष मे नही। पोप परिषद् अथवा कॉलेज ऑफ कॉर्डिनल्स आदि सम्पूर्ण चर्च की सृष्टि थी, अत इस अवस्था में उसके अगागी (Co-ordinate) थे। यदि वे अगागी नही थे, तब भी एक अग की शक्ति दूसरे को स्पष्ट रूप से प्रदत्त नही थी, सबके पास दूसरो की तुलना मे अन्तर्निहित शक्ति थी, यद्यपि सब अपनी शक्ति सम्पूर्ण समाज से प्राप्त करते थे।

1 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 293-94.

सेवाइन के शब्दो मे "परिषदीय सिद्धान्त के प्रतिपादको का विचार था कि वे परिषद् को चर्च शासन के एक ऐसे अभिन्न अग के रूप मे स्थापित करें जो पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर कर सके। उनका व्यावहारिक उद्देश्य सघ भेद जैसे दुष्परिणामो को, जो अनियन्त्रित शक्ति के कारण उत्पन्न हो गए थे, रोकना तथा दूर करना था। कुछ उग्रवादियो का तो यहाँ तक कहना था कि पोप सत्ता को परिषद् की सत्ता से निकाला हुआ माना जाए लेकिन नियमत वे समझते थे कि चर्च की शक्ति का पोप और परिषद् दोनो ही मिल कर प्रयोग करते हैं। उनका उद्देश्य कदापि यह नही था कि साधारण प्रयोजनो के लिए पोप के पद में निहित राजतन्त्रात्मक शक्ति को नष्ट कर दिया जाए, सक्षेप मे उनका दृष्टिकोण सामन्ती विधि-वेत्ताओं की भाँति था। पोप के विरुद्ध कोई रिट (Writ) जारी नहीं की जा सकती थी, लेकिन असाधारण परिस्थितियो मे पोप से यह कहा जा सकता था कि वह परिषद् के सम्मुख उपस्थित हो। यदि पोप ऐसा न करता तो उसकी निन्दा भी की जा सकती थी। परिषद् पोप की शक्ति के दुरुपयोग को ठीक कर सकती थी। यह कुछ इसी तरह था जैसे कि ब्रैक्टन (Bracton) के शब्दो मे देश के प्रतिनिधि, राजा से जवाबदेही कर सकते थे। परिषद् सम्पूर्ण चर्च की प्रतिनिधि सस्था थी। इस कारण चर्च के अगो में उसका सबसे ऊँचा स्थान था किन्तु परिषद् के कार्य मुख्यत नियामक थे। यह विचार नहीं था कि परिषद् उनका अतिक्रमण करे अथवा उनको अपना एजेन्ट बना ले। विचार कुलीनतन्त्र द्वारा नियन्त्रित ऐसे राजतन्त्र का था जिसमे सत्ता सम्पूर्ण चर्च मे निहित रहती है और उसका प्रयोग उसके प्रतिनिधिक अग समान रूप से करते हैं। प्रत्येक अग का यह अधिकार और कर्त्तव्य था कि वह दूसरे अगों को अपने स्थान पर रखे लेकिन वे सभी अग सम्पूर्ण सस्था की सगठनात्मक विधि (Organic Law) के अधीन थे।"[1]

परिषदीय आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कारण

(1) इस आन्दोलन का पहला प्रमुख कारण ईसाई चर्च की महान् फूट (Great Schism) था। सघर्ष-भेद अथवा फूट की यह स्थिति 1378 से 1417 ई. तक चर्च और पोपो की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को निरन्तर क्षीण बनाती रही। 1378 ई मे पोप ग्रेगरी एकादश (Pope Gregary XI) के मरने पर रोमन जनता के विशेष दबाव से निर्वाचन करने वाले अधिकाँश कार्डिनलो ने इटली निवासी अर्बन षष्ठ को पोप चुना किन्तु फ्रांस ने इसे स्वीकार नही किया। फ्रेंच राजा फिलिप ने पोप ग्रेगरी एकादश के चुनाव को अवैध घोषित करते हुए फ्रांसीसी धर्माधिकारी को क्लीमेण्ट सप्तम् के नाम से पोप-पद पर नियुक्त करा लिया जो एविग्नोन मे रहने लगा। इस तरह अब एक की जगह दो पोप हो गए—एक रोम मे और दूसरा एविग्नोन में। दोनो ही अपने को वास्तविक और न्याय-सम्मत पोप बताने लगे। प्रत्येक ने स्वय को ईसा का प्रतिनिधि घोषित किया और प्रधान चर्च का होने के नाते उस प्रभुता का स्वामी होने का दावा किया जिसका उपभोग पोप ग्रेगरी सप्तम्, इन्नोसेण्ट तृतीय एवं इन्नोसेण्ट चतुर्थ जैसे शक्तिशाली पोपों ने किया था। दोनो ही पोपो ने परस्पर एक-दूसरे को चर्च से वहिष्कृत किया। दोनो ने अपने पृथक्-पृथक् कार्डिनल विशप एव चर्च के अन्य अधिकारियो की नियुक्त किया। इस घटना से चर्च में गम्भीर फूट पड़ गई और सम्पूर्ण ईसाई समाज दो पक्षों में विभाजित हो गया। फ्रांस और उसके मित्र देश—स्कॉटलैण्ड, सेवाय, स्पेन, पुर्तगाल आदि एविग्नोन के पोप का समर्थन करने लगे। इटली एव फ्रांस के शत्रु देश—जर्मन, इग्लैण्ट, हगरी, पोलैण्ड, स्केन्डिनेवियन आदि देश रोम के पोप के समर्थक थे। इन परिस्थितियो मे प्रतिद्वन्द्वी पोपो के दावो के औचित्य पर वाद-विवाद होने लगा और यह प्रश्न उठाया गया कि क्या कोई ऐसी उच्चतर लौकिक शक्ति है जो चर्च के विवादो को निपटा सके। इस दृष्टि से और चर्च मे एकता स्थापित करने के लिए

1 सेवाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 295-96.

दोनों पक्षों के कुछ कार्डिनलों द्वारा इटली के पीसा (Pisa) नामक स्थान पर चर्च की एक परिषद् बुलाई गई। इस परिषद् ने दोनों पोपों को अपदस्थ करके उनकी जगह एक नए पोप का निर्वाचन करके फूट को समाप्त करना चाहा किन्तु दोनों पोपों ने हटने से इन्कार करते हुए नए पोप को स्वीकार नहीं किया। अतः परिषद् के निर्णय का परिणाम यह हुआ कि दो की जगह तीन पोप हो गए और चर्च में विवाद पहले की अपेक्षा बहुत बढ गया। इन विवादों को हल करने के लिए चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त पर बल दिया जाने लगा तथा बाद में अनेक परिषदों को आमन्त्रित किया गया।

(2) परिषदीय आन्दोलन का दूसरा कारण यह था कि तत्कालीन पोपों और चर्च का पूर्ण नैतिक पतन हो चुका था अतः स्वाभाविक था कि पादरियों और जनसाधारण में चर्च तथा पोप के विरुद्ध विक्षोभ की लहर दौड गई। उनकी बुराइयों को दूर करके सुधार के साधन के रूप में सामान्य परिषद् के विचार को बल मिलने लगा। विक्लिफ (Wycliff) तथा हस (Huss) ने चर्च की कमियों तथा पोपों के भ्रष्ट जीवन को जनता के सामने रखा। उनके लेखों ने एक प्रकार की क्रान्ति मचा दी।

(3) पोप की निरंकुश शक्ति राजसत्ता और प्रभुसत्ता दोनों के समर्थकों के लिए ईसाई और गैर-ईसाई चर्च के अधिकारियों के लिए, सामान्य ईसाइयों के लिए अर्थात् सभी के लिए भारी सिरदर्द बन चुकी थी। उसके निरंकुश कार्यों पर चर्च में कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उसका शब्द ईश्वरीय आदेश था वह स्वर्ग और नरक का दाता था। अतः ईसाई और गैर-ईसाई सभी पक्ष पोप के निरंकुश अंकुश से छुटकारा पाने और किसी आध्यात्मिक संस्था अथवा कम-से-कम किसी प्रतिनिधि संस्था के आश्रित होने को इच्छुक थे। पोप के निरंकुश शक्ति-प्रयोग की प्रतिक्रिया ने परिषदीय आन्दोलन को सबल बनाया और इस आन्दोलन के संगठन में जनता की सहानुभूति मिली।

(4) पोप अपार सम्पत्ति का स्वामी था और उसका जीवन ऐशो-आराम और विलास-वैभव का था। थॉम्पसन के अनुसार 1250 में पोप की आय यूरोप के लगभग सभी राजाओं की आय के योग से भी अधिक थी। चर्च की अपार सम्पत्ति को व्यय करने का अधिकार पोप को था और उस पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण धर्म विरुद्ध तथा प्रभु ईसा की इच्छा के विरुद्ध समझा जाता था। बहुत से पक्ष पोप के इस विलासी जीवन से रुष्ट थे, अतः जब चर्च के सुधार का प्रश्न उठा तो पोप की सम्पत्ति के सही उपयोग की समस्या उठ खड़ी हुई।

(5) जॉन गर्सन, मार्सीलियो, विलियम ऑफ ओकम, दांते, वाइक्लिफ, हस आदि ने पोप और चर्च की अनैतिकताओं और अतियों की निर्भीकतापूर्वक आलोचना की और कहा कि पोप भी एक मनुष्य ही है जिसमें कमियों तथा दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक है। अतः उसकी शक्तियों पर समुचित नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वह यूरोप की राष्ट्रीय एकता में बाधा न बन सके। यह विचार प्रस्तुत किया गया कि धर्म की एक सामान्य परिषद् द्वारा ही पोप पर समुचित नियन्त्रण की स्थापना सम्भव है। इस परिषद् में धार्मिक व्यक्ति और चर्चों का समुचित प्रतिनिधित्व होगा, फलस्वरूप, निरंकुश शासन की समाप्ति हो जाएगी। इस प्रकार के विचार परिषदीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि बने और कालान्तर में यह सोचा जाने लगा कि परिषद् का संगठन और चुनाव कैसे किया जाए।

(6) राष्ट्रीयता के वेग के साथ लोगों में चर्च के प्रति अन्ध आस्था कम होने लगी और दूसरी ओर राजभक्ति की भावनाएं बढने लगीं। राजसत्ता को चर्च के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिला और एक बार जब धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच सन्तुलन बिगडा तो परिषदीय आन्दोलन को गति मिली। राजाओं ने इस आन्दोलन का सामयिक लाभ उठाने की नीति अपनाई।

(7) राजसत्ता में प्रतिनिधित्व की भावना का सम्मान बढता गया। इंग्लैंड में पार्लिया-मेन्ट तथा फ्रांस में स्टेट जनरल के निर्माण से प्रतिनिधित्व की धारणा का प्रसार हुआ और सामन्त-

वादी शक्तियाँ सामूहिक प्रतिनिधित्व धारण करने लगीं । जब राजसत्ता में प्रतिनिधित्व की भावना ने पैर जमाए तो धर्म-सत्ता भी इस भावना से अछूती न रह सकी । धार्मिक क्षेत्र में भी प्रतिनिधि सरकार बनाने के सुझाव का स्वागत किया जाने लगा, क्योंकि इस सुझाव में पोप की निरंकुशता को नियन्त्रित करने का एकमात्र प्रभावशाली उपाय निहित था । बिशपों और अन्य धर्माधिकारियों में यह विचार बल पकड़ता गया कि एक व्यक्ति विशेष अर्थात् पोप की अपेक्षा एक समूह में कम भूल और कम निरंकुशता की गुन्जाइश है । इस विचार को अधिकाधिक स्वीकार किया जाने लगा कि सत्ता चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक-सार्वजनिक है अतः किसी एक व्यक्ति द्वारा उसका अपहरण नहीं किया जा सकता ।

(8) उत्तर मध्य-युग में यूनानी विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित हुआ और यूनान का अरस्तू यूरोप में पुनः जागृति का सन्देश देने लगा । पोपवाद अरस्तू के विधानवादी सिद्धान्त के अनुरूप नहीं था और न ही तार्किक बुद्धि के अनुरूप । जब अन्धविश्वास और अन्य मान्यताओं की विवेक और बुद्धि से सीधी टक्कर होने लगी तो पोपवाद के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । इस प्रकार यूनानी चिन्तन के प्रभाव ने परिषदीय आन्दोलन को आधार-भूमि प्रदान की ।

मार्सीलियो, विलियम आदि ने चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी व्यावहारिक समस्या को सुलझाने के लिए नहीं बल्कि पोपशाही के सिद्धान्त का उत्तर देने के लिए किया था और इसलिए वह एक सार्वजनिक आन्दोलन का रूप ग्रहण नहीं कर सका था । किन्तु चर्च की महान् फूट, पोपों के विलासी जीवन, उनके निरंकुश शासन, प्रयोग आदि ने इसे एक सार्वजनिक आन्दोलन बना दिया ।

परिषदीय आन्दोलन के उद्देश्य

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) चर्च की फूट को दूर करके उसमें एकता का संचार करना ।

(2) चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार को रोकना और उसका निवारण करना तथा चर्च की पूर्वकालीन प्रतिष्ठा को प्राप्त करना ।

(3) पोप की निरंकुशता को मिटाकर उसकी प्रभुता का स्थान चर्च की सामान्य परिषद् को देना और इस तरह चर्च-प्रशासन में एक नई व्यवस्था करना ।

(4) चर्च की अपार सम्पत्ति पर समुचित नियन्त्रण स्थापित करते हुए धार्मिक कार्यों के लिए उसके सदुपयोग की गारण्टी करना ।

सारांशतः परिषदीय आन्दोलन चर्च के नैतिक ह्रास को रोककर उसके पूर्वकालीन गौरव की पुनः स्थापना करना चाहता था ।

परिषदें
(The Councils)

अपने उद्देश्यों और सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए आन्दोलनकर्ताओं ने पीसा, कान्सटेन्स तथा बेसिल की परिषदें बुलाईं ।

(1) पीसा की परिषद् (The Council of Pisa)—1409 ई. में पीसा में बुलाई गई इस परिषद् को न तो सम्राट ने ही आमन्त्रित किया था और न ही पोप ने । केवल दोनों पक्षों के बहुत से कार्डिनल और बिशप पत्र-व्यवहार द्वारा पीसा में एकत्रित हो गए और इस सम्मेलन को उन्होंने चर्च की परिषद् घोषित कर दिया । परम्परा के अनुसार ऐसी धार्मिक सभाओं को या तो पोप स्वयं आमन्त्रित करता था अथवा राजा द्वारा भी वे बुलाई जाती थीं । पीसा की परिषद् की वैधानिकता को सिद्ध करते हुए जॉन गर्सन ने तर्क दिया कि चर्च की फूट का अन्त करने के लिए पोप इस प्रकार की परिषद् बुलाने में असफल रहा है, अतः आपातकालीन स्थिति में पोप द्वारा परिषद् बुलाए जाने के नियम को भंग करते हुए दूसरे तरीके से सामान्य परिषद् को समवेत करना वैधानिक है । जॉन गर्सन ने कहा कि

इस प्रकार सम्मेलन की नई परिषद् चर्च के विभाजन को समाप्त करने के लिए सत्ता स्वयं प्राप्त कर सकती है ।[1]

पीसा की परिषद् में 26 कार्डिनल, 4 पैट्रियार्क, 12 आर्कबिशप, 80 बिशप तथा बड़ी संख्या में अन्य धर्माधिकारी और हंगरी, नेपल्स, स्पेन, स्कैण्डिनेविया तथा स्कॉटलैण्ड को छोड़कर अन्य सभी यूरोपीय राज्यों के दूत एकत्र हुए । यूनान और रूस के रूढ़िवादी चर्च का इस परिषद् में कोई प्रतिनिधित्व नहीं था । परिषद् के सामने प्रमुखतम समस्या पोप की स्थिति की थी क्योंकि उस समय यूरोप में दो पोप थे—प्रथम, रोम में और द्वितीय, एविग्नोन में । परिषद् ने सर्वप्रथम तो स्वयं को ईसाई संघ की सर्वोच्च वैधानिक शक्ति घोषित किया और तत्पश्चात् दोनों प्रतिद्वन्द्वी पोपों बैनेडिक्ट और ग्रेगरी को परिषद् के सामने उपस्थित होने का सन्देश भेजा । जब दोनों पोप उपस्थित नहीं हुए तो परिषद् ने उन्हें अपदस्थ करके उनके स्थान पर मिलान के कार्डिनल को पोप निर्वाचित किया तथा उसे पोप एलेक्जेण्डर पंचम का नाम दिया । परिषद् ने निर्णय किया कि 1412 के पूर्व ही यह नया पोप-सामान्य परिषद् का सम्मेलन आयोजित करे ।

पीसा की परिषद् चर्च की फूट शान्त करने के लिए आयोजित हुई थी, पर परिणाम उलटा निकला । चूँकि दोनों पोपों ने स्वेच्छापूर्वक हटने से इन्कार कर दिया और उधर परिषद् ने एक नया पोप चुन लिया, अतः अब दो के स्थान पर तीन पोप हो गए और ईसाई संघ में तीन गुट बन गए । परिषद् के निर्णयों ने स्थिति को और भी अधिक उलझा दिया । पोप एलेक्जेण्डर पंचम की 1410 में मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी जॉन तेईसवें ने परिषद् की बैठक आमन्त्रित करने में जानबूझकर टालमटोल की ।

(2) कॉन्सटेन्स की परिषद् (The Council of Constance)—परिषदीय सिद्धान्त यूरोप में व्यापक समर्थन प्राप्त कर चुका था, अतः उसके एक बहुत ही प्रभावशाली प्रतिपादक जॉन-गर्सन (John Gerson) ने समस्या के समाधानार्थ एक दूसरी एवं अधिक प्रतिनिधि परिषद् बुलाने पर बल दिया । परिणामतः कान्सटेन्स सम्राट सिगिसमण्ड (Sigismund) द्वारा आमन्त्रित की गई । इसके आमन्त्रित करने में पोप जॉन तेईसवें की भी सलाह थी । परिषद् की कार्यवाही सन् 1414 से लेकर 1418 तक चलती रही । इसमें न केवल विद्वान् एवं उच्च कोटि के पादरी उपस्थित थे बल्कि साधारण पादरियों के प्रतिनिधि भी भाग लेने आए थे, राजाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे । इस परिषद् को आमन्त्रित करने के प्रमुख उद्देश्य ये थे—(1) पोप से सम्बन्धित चर्च के विच्छेद का अन्त करना, (2) धर्महीनता को समाप्त करना, एवं (3) चर्च में सुधार करना ।

कान्सटेन्स परिषद् में लगभग 5,000 प्रतिनिधि एकत्र हुए जिनमें तीनों पोपों के प्रतिनिधि, 29 कार्डिनल, 22 आर्कबिशप, 150 बिशप, 100 मठाधीश, 300 धर्मशास्त्री, 26 राजा, 140 कुलीन जमींदार, और 26 विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि तथा 4,000 पुरोहित थे । पोप जॉन इस परिषद् में अपने दल के साथ आया था किन्तु अपने अपराधों और दुराचारों की पोल खोले जाने के भय से वह वेश बदल कर मार्च 1415 में भाग खड़ा हुआ । उसने यह घोषणा की कि उसे मारने की धमकी देकर यह परिषद् बुलाई गई है, वह इसे स्वीकार नहीं कर सकता ।

फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् को पोपशाही पर अपनी प्रभुता मनवानी आवश्यक थी । इसलिए परिषद्वादियों के सम्पूर्ण प्रयत्नों का ध्येय यह सिद्ध करना हो गया कि धर्म शक्ति की प्रभुता का स्वामी पोप नहीं बल्कि सामान्य परिषद् थी क्योंकि वही समस्त ईसाईयों की सच्ची परिषद् थी । अन्त में घोर वाद-विवाद के बाद 1415 ई में वह विख्यात प्रत्यादेश जारी किया गया जिसे डॉक्टर फ़िगिस ने 'विश्व के इतिहास में सबसे अधिक क्रान्तिकारी अधिकृत दस्तावेज' कहकर पुकारा है । इस आज्ञप्ति में अग्रलिखित सिद्धान्त प्रकट किया गया—

1 *Will Durant* The Renaissance, p 364

"यह परिषद् कैथोलिक चर्च की महासभा है। इसे अपनी शक्ति सीधे ईसा से प्राप्त हुई है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसका पद और श्रेणी कुछ भी हो, पोप तक धर्म मत-भेद के निवारण और चर्च के सुधारो के सम्बन्ध मे उसके आदेशो को मानने के लिए बाध्य है।"

स्पष्ट है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में परिषद् को पोप से उच्चतर माना गया और यह सिद्ध किया गया कि चर्च का एक कार्यपालक प्रधान होने के नाते पोप समाज का एक अधिकृत अधिकारी मात्र था, उसका प्रभुत्वपूर्ण स्वामी नही है। ईसा के इन शब्दो से, "जहाँ दो या तीन मेरे नाम में एकत्रित होते हैं, तो मैं भी उसके बीच मे होता हूँ", यह अभिप्राय लिया गया कि परिषद् पोप की अपेक्षा उच्चतर है अत पोप को परिषद् के अनुशासन मे रहना चाहिए। इसके साथ ही अक्तूबर, 1417 ई. मे परिषद् ने एक अन्य प्रत्यादेश जारी किया जिसका उद्देश्य यह था कि परिषद् की बैठक नियमित रूप से प्रत्येक 10वें वर्ष होनी चाहिए और पोप को उसके स्थगन तथा स्थान परिवर्तन का अधिकार नही होना चाहिए। यदि यह प्रत्यादेश कार्यान्वित किया गया होता तो चर्च मे एक सांविधानिक शासन की स्थापना हो जाती और पोप पर परिषद् का नियमित नियन्त्रण हो जाना है।

1415 ई. के अपने प्रत्यादेश के बाद चर्च की फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् ने पोप जॉन तेईसवें को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। जब कोई उत्तर नहीं मिला तो 54 दोष लगाकर उसे 29 मई, 1415 को अपदस्थ कर दिया गया। इस तरह अब यूरोप में दो पोप रह गए। बाद में ग्रेगरी ने इस शर्त पर अपना त्यागपत्र देना स्वीकार किया कि उसे पोप के रूप में इस परिषद् को पुन आमन्त्रित करने का अधिकार दिया जाए। 4 जुलाई, 1415 को इस तरह आमन्त्रित की गई कि परिषद् ने उसके त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। जब तीसरा पोप बेनेडिक्ट स्वेच्छा मे अपदस्थ होने को राजी नही हुआ तो 26 जुलाई, 1417 को परिषद् द्वारा उसे पदच्युत कर दिया गया। अब परिषद् ने मार्टिन पचम नामक पोप का निर्वाचन किया। इस तरह यूरोप मे पुन: एक वैध पोप पदासीन हुआ। चर्च की महान् फूट का अन्त होते ही कान्सटेन्ट की परिषद् का भी अन्त हो गया।

यद्यपि यह परिषद् चर्च की एकता को पुन: स्थापित करने मे सफल हुई किन्तु चर्च के सुधार-विषयक अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकी। इसका प्रमुख कारण यह था कि चर्च-शासन मे आमूल-चूल परिवर्तन करने एवं पोप की प्रभुता को समाप्त करने के प्रश्न पर सामान्य एकता का अभाव था। परिषद् मे सब विषयो पर वोट व्यक्तिश: नहीं दिए जाते थे, बल्कि फ्रेंच, इटालियन, इंगलिश और जर्मन इन चार राष्ट्रीय वर्गों के आधार पर दिए जाते थे। नव-निर्वाचित पोप मार्टिन पंचम ने एक कुशल राजनीतिक खिलाड़ी की तरह इन राष्ट्रों के मतभेदो का पूरा लाभ उठाया, उसने इन्हें आपस मे लड़वा कर कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं होने दिया। उसने सभी के साथ अलग-अलग सन्धि और समझौते कर लिए तथा परिषद् द्वारा प्रस्तावित सुधारो को प्रभाव-शून्य बना दिया। अन्ततः 2 अप्रैल, 1418 ई. को सुधार के जटिल प्रश्न का बिना हल किए ही कॉन्सटेन्स परिषद् भंग हो गई। पोप यथापूर्व चर्च का शासन चलाते रहे और पहले के दोष ज्यो के त्यो बने रहे फिर भी परिषद् का राजनीतिक चिन्तन पर अवश्य ही काफी प्रभाव पड़ा। इस परिषद् ने पहली बार विशुद्ध राजनीति के संघर्षों को बड़े पैमाने पर प्रदर्शित किया। इस परिषद् द्वारा वैधानिक शासन के विचार यूरोप द्वारा स्वीकृत हुए। इसके द्वारा राजनीतिशास्त्र में ऐसी पद्धति का प्रतिपादन हुआ जिसने राजाओ के अधिकारो की रक्षा करते हुए जनता को उसकी स्वतन्त्रताएँ प्रदान करा दी।......"इसने भावी पीढ़ियो के वैधानिक सुधारो का मार्ग प्रशस्त किया।"[1] (1431–1448)

(3) **बेसिल की परिषद् (The Council of Basel)**—कॉन्सटेन्स की परिषद् के निर्णय तथा राजाओ एवं जनता का दबाव पड़ने पर पोप मार्टिन पंचम ने पेबिया (Pabia) मे तीसरी परिषद्

1 *Dunning*. A History of Political Theories, p. 270.

की बैठक बुलाई। यहाँ महामारी फैली हुई थी, अतः परिषद् की पहली बैठक सीना (Siena) मे हुई सम्मेलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करने के पोप के प्रयत्नो को अस्वीकार करते हुए प्रतिनिधि द्वारा यह तय किया गया कि परिषद् का अगला अधिवेशन बेसिल मे होगा। सन् 1431 मे बेसिल क परिषद् का अधिवेशन शुरू हुआ। इस समय मार्टिन पंचम् के स्थान पर यूजीन चतुर्थ (Eugene IV पोप के पद पर आसीन था। परिषद् की बैठक मे भाग लेने के लिए केवल 15 प्रिलेट (Prilete) आए अत परिषद् के सभापति सिसरोनी ने उसे स्थगित करना चाहा किन्तु परिषद् तैयार नही हुई परिषद् द्वारा पोप को यह धमकी दी गई कि तीन माह के अन्दर परिषद् के समक्ष उसके उपस्थित होने पर ईसाई संघ को चलाने के लिए अन्य व्यवस्था की जाएगी। अन्त मे पोप को उपस्थित होना पड़ा, यद्यपि उसने यह स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि परिषद् का स्थान उससे श्रेष्ठ था।

बेसिल की परिषद् गिरती-पडती लगभग 17 वर्ष अर्थात् सन् 1448 ई. तक चलती रही 1432 ई मे इस परिषद् द्वारा कॉन्सटेन्स परिषद् की मार्च, 1415 ई वाली आज्ञप्ति को फिर से निकाला गया और यह घोषित किया गया कि परिषद् को अपनी शक्ति सीधे ईसा से प्राप्त हुई है, अत पोप एवं अन्य प्रत्येक व्यक्ति उसके आदेशो को मानने के लिए बाध्य हैं। यह काफी उग्र कार्यवाही थी कुछ समय के लिए ऐसा दिखाई दिया कि परिषद् चर्च मे वैधानिक शासन लाने में सफल होगी, किन्तु अन्त मे इसे विफलता ही प्राप्त हुई।

बेसिल की परिषद् ने पोप के अधिकारो को सीमित करने के प्रश्न पर विचार किया। इस पर सिसरोनी तथा निकोलस ऑफ क्यूसा इससे अलग हो गए। उधर पोप ने अपने सरक्षण के लिए यूरोप के राजाओ से अपील की। इस समय पोप के पास पूर्वी चर्चों के प्रतिनिधियो का पत्र आया कि सम्मेलन ऐसे स्थान पर किया जाए जहाँ पूर्वी ईसाई के लोग सुगमतापूर्वक पहुँच सकें। इस प्रश्न पर मतभेद हो गया और पोप ने अल्पसख्यको का साथ देकर सम्मेलन का स्थान बदलकर फरेरा (Ferarra) कर दिया। 1436 ई में फरेरा मे जो दूसरा अधिवेशन बुलाया गया उसमे पूर्वी और पश्चिमी चर्चों का संयुक्तिकरण कर दिया गया। साथ ही सम्मेलन में बहुमत द्वारा किसी प्रस्ताव को पास करने का निश्चय भी किया गया। इसमे सम्मेलन को तीन वर्गो मे बाँटा गया। एक वर्ग मे राजसत्ता तथा विद्वानो के प्रतिनिधि रखे गए। दूसरे बिशप, आर्क बिशप एव कार्डिनल तथा तीसरे मे प्रिलेट एव एबट रखे गए। यदि दो वर्ग किसी बात को स्वीकार कर लेते तो वह परिषद् का निर्णय माना जाता था। तीनो वर्गों के सम्मुख अलग-अलग माँग रखने की प्रथा को अपनाया गया। 1439 ई. मे परिषद् ने पोप को धर्म-हीनता के आरोप पर पदच्युत कर दिया और नए पोप का निर्वाचन किया जिसे यूरोप के राजाओं ने स्वीकार नही किया। अन्ततः परिषद् शनैः-शनैः विघटित हो गई। पोप की स्थिति ज्यो की त्यों शक्तिशाली बनी रही और परिषदीय आन्दोलन का अन्त हो गया।

आन्दोलन की असफलता
(The Failure of the Movement)

लगभग 50 वर्ष तक चलने वाला परिषदीय आन्दोलन मुख्यतः निम्नलिखित कारणो से असफल हुआ—

(1) आन्दोलन का मुकाबला पोपशाही से था, अत. यह आवश्यक था कि इस आन्दोलन के नेता पोपशाही के नेताओ की तुलना में सक्षम, तर्कशील, व्यावहारिक एवं कुशल होते, किन्तु ऐसा न होने से यह आन्दोलन शनैः-शनैः क्षीण पडता गया।

(2) बेसिल की परिषद् ने यह सिद्ध कर दिया कि वह चर्च का प्रबन्ध करने में अक्षम थी। वह राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा और द्वेष का शिकार बन गई। इस तरह वह अधिकारियो के सबल हितो पर सफलतापूर्वक आक्रमण नही कर सकी। पोप 'फूट डालो और शासन करो' के सिद्धान्त से लाभ उठाता रहा।

(3) परिषदीय आन्दोलन सैद्धान्तिक अधिक था, अतः इसे सर्वसाधारण का आवश्यक सहयोग नही मिल सका। आम जनता ने इसे आन्दोलन के रूप मे ग्रहण नही किया।

(4) परिषदीय आन्दोलन ऐसे चर्च का सविधान बनाना चाहता था जो सम्पूर्ण यूरोप में फैला हुआ था। समस्त यूरोप के लिए चर्च का सविधान केवल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा मेल-मिलाप से ही तैयार किया जा सकता था। उसके लिए ऐसे वातावरण की आवश्यकता थी जिसमे शान्ति, सहमति और सामञ्जस्य हो लेकिन उस समय राष्ट्रवादी एव स्थानीय भावनाओ का जोर था। चर्च की परिषदो, विशेषकर कॉन्सटेन्स की परिषद् का वातावरण उग्र रूप से राष्ट्रीय था। राष्ट्रीय भावनाओं के कारण चर्च की परिषद् पारस्परिक सहयोग से कार्य नही कर सकी। परिषदीय आन्दोलन चर्च का सगठन सघात्मक आधार पर चर्चो के विभिन्न वर्गों को अलग राष्ट्रीय मान्यता प्रदान करके करना चाहता था। राष्ट्रीयता की ये भावनाएँ सामूहिक कार्यवाही मे बडी बाधक थी।

(5) परिषदीय आन्दोलन का उद्देश्य चर्च को सघात्मक आधार पर संगठित करना था, परन्तु पोप के पद को समाप्त किए बिना इसमे सफलता मिलना सम्भव न था। पोप को यह आन्दोलन गद्दी से हटा नही सका और वह धर्माधिकारियो से मिलकर आन्दोलन की शक्ति को तोड़ता रहा जिसने अन्तत परिषदीय आन्दोलन की ही समाप्ति कर दी।

(6) आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य पोप की स्थिति की व्याख्या करना था। जैसे ही यह कार्य समाप्त हो गया, वैसे ही आन्दोलन के नेताओं की रुचि भी समाप्त हो गई। इंग्लैण्ड और फ्रांस इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न को छोडकर अपनी राष्ट्रीय समस्याओ मे लग गए। यूरोप के अन्य राज्यो के सामने भी उस समय अनेक गम्भीर समस्याएँ थीं जिन्हे वे पहले सुलझाना चाहते थे।

(7) प्रो कुक का विश्वास है कि परिषदीय आन्दोलन के नेताओ के फूंक-फूंक कर कदम रखने और उनकी नम्रवादिता का भी इस आन्दोलन की विफलता मे बडा हाथ रहा। उनकी अत्यधिक नम्रता ने उन्हे रूढिवादी बना दिया।

(8) परिषदीय आन्दोलन के समर्थकों ने किसी मौलिकता का परिचय नही दिया। उनके विचार मार्सीलियो और विलियम के चुराए हुए थे। परिणामत आन्दोलनकर्त्ताओं के विचार प्रभाव और दृष्टिकोण की व्यापकता नही ला सके।

(9) बेसिल की परिषद् के भग होने के बाद परिषदीय आन्दोलन का महान् नेता निकोलस पोप से मिल गया और तब फ्रांस को छोडकर अन्य राज्यों के शासको ने पोप से सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा। इस कारण उन्हें कुछ रियायते मिली और बदले मे उन्होने पोप की निरंकुशता का विरोध करना छोड दिया।

(10) यह आन्दोलन एक विकेन्द्रित सघ के पक्ष मे था, जबकि पोप समस्त शक्ति को चर्च मे केन्द्रित करके निरकुशतन्त्र स्थापित करना चाहता था। इस आन्दोलन ने पोप के स्थान को जीवित रखा। एक बार जब आन्दोलन ने उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो पोप के पीछे स्थित रोम की सगठित नौकरशाही ने आन्दोलन के उन तमाम प्रयत्नो को विफल कर दिया जिनके द्वारा वह पोप की सत्ता को कम करना चाहता था। सघर्ष मे पोप की विजय हुई जिसका अर्थ था परिषदीय आन्दोलन की मृत्यु तथा निरकुशता, केन्द्रीयवाद एव नौकरशाही की जीत।

(11) अन्त मे, पोप की शक्ति की परम्परा बडी गहरी और दृढ थी। परिषदीय आन्दोलन की परिषदे केवल यदा-कदा ही समवेत होती थी जबकि पोप सदैव मौजूद रहता था। परिषदो मे कार्य और नीति की कोई एकता नही थी, जबकि पोप एक था और परिषदों के बनाए हुए नियमो को क्रियान्वित करने में उसके पास स्व-विवेक की महान् शक्ति थी।

आन्दोलन का महत्व
(The Importance of the Movement)

यद्यपि परिषदीय आन्दोलन पोप की निरकुशता का दमन करने और वैधानिक शासन की स्थापना करने में सफल न हो सका, तथापि वह पूर्ण रूप से निष्फल नहीं रहा। यह आन्दोलन निरकुशवाद व संविधानवाद के मध्य होने वाला प्रथम सघर्ष सिद्ध हुआ जिसने भविष्य में ऐसे विचारों को जन्म दिया जिनका निरकुश राजा और जनता के मध्यवर्ती सघर्ष में सफल प्रयोग किया गया। सेबाइन के शब्दों में "चर्च के विवाद ने ही सबसे पहले निरकुश एव सांविधानिक सरकार के मध्य निर्णय होने वाले प्रश्न की रूपरेखा निर्धारित की, एव उस विचार-दर्शन का प्रसार किया जो निरकुशवाद के विरुद्ध प्रमुख शस्त्र बना। प्रभु के दैवी अधिकार एव समाज की प्रभुसत्ता—दोनों ही लौकिक शासन को प्राप्त हुई।"[1]

आन्दोलन ने यूरोप में सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात कर दिया। उसने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी व्यक्ति समाज का हित किए बिना अपने पद पर नहीं रह सकता, चाहे वह राजसत्ता का अधिकारी हो या धर्म-सत्ता का। आन्दोलन ने जनता को सारी सत्ता का अन्तिम स्रोत माना और निरंकुश सत्ता के विद्रोह एव निरकुश शासन की पदच्युति को वैध ठहराया। सन् 1688 ई. की ग्रेट-ब्रिटेन की गौरवपूर्ण क्रान्ति एव 1789 ई. की फ्रांस राज्य-क्रान्ति के बीज इस आन्दोलन में निहित थे। इस आन्दोलन ने यह भी बता दिया कि ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप समाज में निहित है।

परिषदीय आन्दोलन पोप को अपने अधीन नहीं कर सका किन्तु इसने यह प्रमाणित कर दिया कि चर्च पोप से ऊँचा है तथा चर्च का प्रशासन पोप के द्वारा न होकर सभा द्वारा होना चाहिए। इस आन्दोलन ने चर्च के लिए एक प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की माँग की। यद्यपि आन्दोलन के अन्त में पोप की विजय हुई किन्तु भविष्य के लिए पोप सावधान हो गए। वे समझ गए कि उन्हें अपनी शक्ति का प्रयोग इस तरह नहीं करना चाहिए जिससे चर्च का अहित हो। आन्दोलन का एक दूरगामी परिणाम यह हुआ कि पोप की विधायिनी शक्ति शनै:-शनै: समाप्त हो गई और उसका मुख्य कार्य शासन का प्रबन्ध करना मात्र रह गया।

परिषदीय आन्दोलनों द्वारा धर्म के राष्ट्रीयकरण के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसका प्रथम सूत्रपात इङ्गलैंड में हुआ। अब राष्ट्रीय चर्चों का विकास प्रारम्भ हुआ। इङ्गलैंड, जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड, हॉलैण्ड आदि में स्थापित होने वाले राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना से राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति पुष्ट हुई।

आन्दोलन की विफलता ने धर्म-सुधार आन्दोलन के जन्म में सहयोग दिया। चर्च की बुराइयों का संशोधन करने में इसके असफल रहने से ही धर्म-सुधार आन्दोलन ने बल पकड़ा और 16वीं शताब्दी में लूथर तथा कैल्विन का आविर्भाव हुआ।

परिषदीय आन्दोलन ने राज्य सम्बन्धी अनेक समस्याओं को अपने आधुनिक रूप में उठाया। इसने यह विचार दिया कि कानून का तत्त्व सहमति है। इसने बतलाया कि "समस्त शक्ति एक धरोहर है, सरकारी शक्ति अपने उद्देश्य में सीमित है, एव आवश्यकता परिवर्तन का सदैव एक उचित आधार है।" परिषदीय आन्दोलन ने प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता पर बल दिया और इसी मान्यता पर लोक-कल्याण का सिद्धान्त निर्भर करता है। आन्दोलन में इस बात पर जोर दिया गया कि धर्मसत्ता अथवा राजसत्ता के कार्य किसी अपरिवर्तनीय दैवी सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं अपितु मानव कल्याण के लिए है और अनुभव और विवेक के आधार पर उनमें सशोधन तथा परिवर्तन किए जा सकते हैं। इस प्रकार के विचारों से लोक कल्याणकारी सिद्धान्त को बल मिला।

परिषदीय आन्दोलन के अन्त के साथ-साथ मध्यकाल का भी अन्त हुआ और इसके बाद दूसरा युग आरम्भ हुआ। यह आन्दोलन वास्तव में जितना धार्मिक आन्दोलन नहीं था उतना राजनीतिक

1 *Sabine*. A History of Political Theory, p. 326

था। इस आन्दोलन मे राजनीतिक हितो की टक्कर अधिक हुई, प्राय सभी ने धर्म के नाम पर राजनीति का खेल खेला और उसी की अन्त मे विजय हुई। चाहे यह राजनीति पोप की रही अथवा उसके विरोधी पक्ष की। 'धर्म पर राजनीति की विजय' को हम परिषदीय आन्दोलनो का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम मान सकते हैं जिसमें मध्य युग के सम्पूर्ण चिन्तन और व्यवहार को नई दिशा मे मोड़ दिया।

परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारक
(Main Thinkers of the Movement)

जॉन वाइक्लिफ (John Wycliff) (1320–1384)

इंग्लैण्ड मे यार्कशायर जिले में उत्पन्न जॉन वाईक्लिफ (1320–1384) बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। अपनी योग्यता और अपने शास्त्रीय ज्ञान से उसने विश्वविद्यालय के अधिकारियो को प्रभावित किया और उसे प्राध्यापक नियुक्त कर दिया गया। धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ, जॉन वाइक्लिफ का पोपतन्त्र से विश्वास उठता गया। उसने पोप का विरोध करना आरम्भ किया और फलस्वरूप 1382 मे उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया। वाइक्लिफ की समस्त रचनाएँ आग मे झोंक दी गई। इस धक्के को वाइक्लिफ बर्दाश्त न कर सका और 1384 मे लकवे से उसकी मृत्यु हो गई। वाइक्लिफ के विचारो को 'वाइक्लिफ सोसाइटी' ने सकलित किया जिनमें ये रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध है—

(1) डी डोमिनियो (De Dominio)

(2) डी सिविली डोमिनियो (De Civili Dominio)

(3) डी आफिसिओ रेजिस (De Officio Regis)

वाइक्लिफ धार्मिक क्रान्ति का पोषक था। उसे परिषदीय आन्दोलन का मार्टिन लूथर और मार्टिन लूथर को सुधारवादी आन्दोलन का वाइक्लिफ कहा जा सकता है। वाइक्लिफ की चिन्तनधारा और सुधारवादी नेताओ की चिन्तनधारा मे कोई मौलिक अन्तर नही था। दोनो मे किसी ने भी बाइबिल के विरुद्ध अपने अस्तित्व का दावा नही किया। जॉन वाइक्लिफ चाहता था कि चर्च मे व्याप्त भ्रष्टाचार समाप्त हो और चर्च पोपतन्त्र के षड्यन्त्र से मुक्त हो। उसकी इच्छा थी कि लोग धर्म मे प्रारम्भिक विश्वासो की ओर लौट आएँ तथा चर्च मे प्रवेश कर गए तर्कहीन सिद्धान्तो का जनाजा निकाल दिया जाए। उसने यह भी अनुभव किया कि एक नवीन समाज का निर्माण और एक नई व्यवस्था की स्थापना राष्ट्रीय सत्ता द्वारा ही सम्भव है। पोपतन्त्र और राज्य के बीच अपनी-अपनी शक्तिओ की उत्पत्ति स्रोत आदि के बारे मे सघर्ष अनावश्यक, असामयिक और तर्कहीन है।

वाइक्लिफ ने राजनीतिक और आध्यात्मिक परिवर्तनो को सम्भव बनाने की दृष्टि से एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र मे उसने 'आधिपत्य के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया जिसमे उसने सामन्ती व्यवस्था के नमूने पर आधारित एक आदर्श राजनीतिक योजना प्रस्तावित की। उसने कहा कि आधिपत्य और सेवा मनुष्य को ईश्वर से जोडने वाली जंजीर के दो सिरे हैं। ईश्वर का आधिपत्य सर्वोपरि है जिसका प्रयोग उसके द्वारा स्वय प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। वाइक्लिफ ने अपने सिद्धान्त मे एक पुरोहित और साधारण व्यक्ति को ईश्वर की दृष्टि मे एक जैसा स्थान प्रदान किया। उसने ईश्वर को चर्च और राज्य दोनो का सर्वोपरि और प्रत्यक्ष स्वामी बतलाते हुए कहा कि सभी प्रकार की सत्ताएँ ईश्वर से प्राप्त होती हैं। "पोप और राजा दोनो का कर्त्तव्य है कि वे ईश्वर के प्रति समान रूप से श्रद्धा रखें। सामन्ती सिद्धान्त के अनुसार शक्ति एक धरोहर है और पोप तथा राजा दोनों को यह मानकर चलना चाहिए कि वे उसी ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं। भू-तल पर कोई सत्ता अन्तिम नही हैं क्योकि सत्ताओ का स्रोत तो वह ईश्वर है।

इस विचार से कि चर्च और राज्य दोनो को सीधे ईश्वर ने सत्ता प्रदान की है, वाइक्लिफ ने पोप की सर्वोपरिता के सिद्धान्त का विरोध किया और कहा कि पोप तथा चर्च के अधिकारियो को

राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने का कोई अधिकार नही है। प्रत्येक सत्ता अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र है और किसी को भी दूसरे के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। चर्च आध्यात्मिक प्रतिष्ठान है, अतः उसे वाह्य जगत् के कार्यों मे भाग नही लेना चाहिए। वाइक्लिफ के इस विचार ने इंगलेण्ड तथा अन्य देशो मे पोपतन्त्र के विरुद्ध राजसत्ता की शक्ति सबल बनाने मे बडी सहायता दी। वाइक्लिफ ने यह भी कहा कि राजसत्ता भी ईश्वरीय सत्ता का ही अंग है अतः यह पवित्र है और यदि लोग धर्मानुकूल आचरण करते है तो राजसत्ता सुख और शान्ति की स्थापना करने वाली है। मनुष्य पापी है और राज्य उसके लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला साधन है। जो ईश्वर मे आस्था रखता है उसके लिए राजसत्ता कभी बाधक नही हो सकती और यदि बाधक होती है तो यह मानना चाहिए कि वह राज्य नही है इस स्थिति मे उसे सही रूप मे राज्य बनाने का प्रयत्न करना उपयुक्त है। प्रत्येक सत्ताधारी ईश्वर का प्रतिनिधि है, अतः सत्ता का प्रयोग मानव-कल्याण के लिए ही किया जा सकता है। वाइक्लिफ ने जिस प्रकार पोप की निरकुशता का विरोध किया उसी प्रकार अत्याचारी राजसत्ता के विरुद्ध भी अपने विचार व्यक्त किए। उसने कहा कि किसी भी निरकुश अथवा स्वेच्छाचारी शासक या पदाधिकारियो को लोक-कल्याण के विरुद्ध राजसत्ता के प्रयोग का अधिकार नही है और यदि वह ऐसा करता है तो उसे निष्कासित करना धर्मानुकूल है। राज्य तथा व्यक्ति के बीच ऊँच-नीच जैसी कोई बात नही और न ही राजा ईश्वर तथा व्यक्ति के बीच कोई मध्यस्थ है। राजा तो एक व्यवस्था का सचालक मात्र है और यदि पोप भी धार्मिक व्यवस्था का संचालक बने रहकर निरकुश आचरण न करे और लोगो पर अपनी इच्छा न लादे तो राजा की तरह उसे भी एक धर्म प्रशासक के रूप मे माना जा सकता है पर ईश्वरीय इच्छा के प्रतिनिधि के रूप मे पोप को मान्यता नही दी जा सकती। स्पष्ट है कि वाइक्लिफ राजसत्ता और धर्मसत्ता किसी के भी निरकुश आचरण को सहन करने के पक्ष मे न था।

सम्पत्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए वाइक्लिफ ने कहा कि चर्च की सम्पत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति है जिस पर पोप का निजी स्वामित्व नही माना जा सकता। चर्च की सम्पत्ति का उपयोग धार्मिक कार्यों के लिए ही नही वरन् सार्वजनिक कल्याण के लिए भी किया जा सकता है। यदि राजा राजसत्ता का सही रूप मे सचालन कर रहा है तो उसे सार्वजनिक कल्याण के लिए चर्च की सम्पत्ति का ठीक उसी प्रकार उपयोग करने का अधिकार है जिस प्रकार किसी अन्य सम्पत्ति का। जब चर्च की सम्पत्ति धार्मिक कार्यों के लिए है और धार्मिक कार्य स्वय मे जनकल्याणकारी कार्य है तो फिर इस बात से कोई अन्तर नही पडता कि उस सम्पत्ति का उपयोग राजा द्वारा किया जाता है या पोप द्वारा। चर्च भी पवित्र है और राजा भी पवित्र है तो फिर राजा द्वारा चर्च की सम्पत्ति के उपयोग से पोप को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। राजसत्ता और धर्मसत्ता दोनो ही ईश्वरीय सत्ता के अंश है अत. सही रूप मे इनका सचालन किए जाने पर दोनो मे विरोध जैसी कोई बात नही उठती। वाइक्लिफ ने यह भी कहा कि धार्मिक संस्थाओ के लिए यह उचित नही है कि अधिकाधिक सम्पत्ति का सग्रह किया जाए, क्योंकि सम्पत्ति तो अन्ततोगत्वा विलास और वैभव की प्रेरक है। चर्चो के लिए सम्पत्ति का सग्रह निषिद्ध होना चाहिए। सम्पत्ति के सम्बन्ध मे वाइक्लिफ ने जो विचार व्यक्त किए उनके फलस्वरूप उसे अधार्मिक कहा गया। पर इन विचारो का प्रभाव तब सुनिश्चित रूप से परिलक्षित हुआ जब इग्लैण्ड मे पार्लियामेण्ट ने राजा जॉन द्वारा पोप इन्नोसेन्ट तृतीय को दिए जाने वाले वार्षिक धन पर रोक लगा दी।

जॉन हस (John Huss)

वाइक्लिफ के सिद्धान्तो को अपनाने वाले अथवा वाइक्लिफ के क्रान्तिकारी शिष्य जॉन हस (1373-1415) ने, जो 1402 मे प्राग विश्वविद्यालय मे रैक्टर के पद पर भी आसीन हुआ, पोप और चर्च के दुराचरण की कटु आलोचना की और फलस्वरूप 1411 मे पोप जॉन तेईसवें द्वारा उसे

धर्मबहिष्कृत कर दिया गया। यही नही, 1414 मे कॉन्सटेन्स की धर्मसभा में चर्च के विरुद्ध भाषण करने के अपराध मे जॉन हस को जीवित ही जलवा दिया।

जॉन हस ने अपने ऊपर आने वाले संकटो की कोई परवाह न करते हुए पोप और धर्माधिकारियो के विरुद्ध आन्दोलन को आगे बढाया और इस बात पर बल दिया कि चर्च के अस्तित्व के लिए सम्पत्ति आवश्यक नही है और यदि चर्च अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है तो लौकिक शासक को चाहिए कि वह चर्च को सम्पत्ति से वंचित कर दे। वाइक्लिफ की भाँति जॉन हस ने भी विश्वास व्यक्त किया कि एक सच्चे चर्च का निर्माण धर्मनिष्ठ लोगो से मिलकर होता है और पोप तथा अन्य अधिकारी वर्ग की कोई आवश्यकता नही है। जॉन हस ने कहा कि पोप धार्मिक सत्ता का प्रधान नही हो सकता। धार्मिक और राजनीतिक सत्ताएँ ईश्वर प्रदत्त हैं जिनका उपयोग जन-कल्याण में किया जाना ही उचित है। चूँकि पोप जन-कल्याण के लिए नही अपितु निजी स्वार्थ के लिए चर्च पर शासन कर रहा है, अत: उसकी कोई उपयोगिता नहीं रही है और उसके स्थान पर सामान्य धर्म परिषद् की नियुक्ति होनी चाहिए। जॉन हस ने यह मत व्यक्त किया कि राजसत्ता पोप के अधीन नही है और चर्च की सम्पत्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए राजसत्ता के लिए उस सम्पत्ति को अपने नियन्त्रण मे लेना आवश्यक है। हस ने कहा कि राजसत्ता का सचालन ऐसे व्यक्ति के हाथ मे होना चाहिए जो लोक कल्याण को अपना कर्त्तव्य समझकर चलता हो। धार्मिक क्षेत्र मे उसने सात्विक जीवन को आत्मिक उपलब्धि की पहली शर्त माना। उसने कहा कि धर्माधिकारियों को आत्मिक उपलब्धि के लिए प्रयास करना चाहिए तथा सम्पत्ति के सग्रह से विरक्त होना चाहिए क्योकि सम्पत्ति तो विलासिता की जननी है। हस ने स्पष्ट रूप से कहा कि पोप दैवी सत्ता का प्रतीक नही है, उसकी नियुक्ति धर्माधिकारियो द्वारा होती है और धर्मसत्ता पोप मे नही बल्कि पूरे ईसाई समाज मे निहित है।

जॉन गर्सन (John Gerson)

जॉन गर्सन पेरिस विश्वविद्यालय का चॉसलर और धर्मशास्त्र का विद्वान् था। मार्सीलियो के विचारो से प्रभावित होकर उसने चर्च मे पोप की सर्वोच्च सत्ता का विरोध किया तथा चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त को अहमियत दी।

गर्सन मार्सीलियो की अपेक्षा कम नवीनताप्रिय एव प्रजातन्त्रीय और अधिक कुलीनतन्त्रवादी था। उसने यह विचार प्रकट किया कि एक सस्था के रूप मे चर्च पोप से उच्चतर था तथा पोप के धर्म-विमुख हो जाने पर चर्च उसे अपदस्थ कर सकता था। वह सामान्य परिषद् की सर्वोपरि सत्ता का इसलिए समर्थन करता था कि उसके विचार में केवल वही उस समय चर्च मे उत्पन्न हुई फूट को दूर कर सकती थी। वह आवश्यकता और उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक कल्याण के लिए पोप और राजा का प्रतिरोध करना न्यायोचित समझता था।

जॉन गर्सन ने पोप की सर्वोच्च शक्ति का खण्डन करते हुए भी मार्सीलियो के इस सिद्धान्त मे अविश्वास प्रकट किया कि चर्च की प्रभुता चर्च मे विश्वास रखने वाले समस्त व्यक्तियो मे केन्द्रित है। उसने मार्सीलियो की भाँति चर्च मे सब ईसाईयों को शामिल नही किया। वह ईसाईयो के शिरोन्मुखी संगठन में विश्वास रखता था, जिसका प्रशासकीय प्रधान पोप, माना जाता था और उसकी अन्तिम शक्ति सामान्य परिषद् मे निहित थी। इस तरह वह चर्च के लिए सीमित राजतन्त्रीय व्यवस्था का पक्षपाती था। उसका विश्वास था कि चर्च और राज्य दोनो के लिए सर्वोच्च व्यवस्था वह होगी जिसमे राजतन्त्रीय और लोकतन्त्रीय तत्त्वो का समावेश हो।

जॉन गर्सन पोप को एक धर्माधिकारी मानते हुए उसके अधिकार क्षेत्र को परिषद् द्वारा निर्मित कानूनो से सीमित करना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि पोप कानूनो से किस प्रकार का परिवर्तन, सशोधन अथवा परिवर्द्धन कर सकता था। पोप की शक्ति को परिषद् के अन्तर्गत सीमित

करते हुए भी उसने इस सम्बन्ध मे उदारता से काम लिया था। उसने चर्च की सर्वोच्च शक्ति परिषद् को ही सौंप दी थी पर पोप की परम्परागत शक्ति पर कोई विशेष आघात भी नही पहुँचाया। पोप पूर्ववत् शासन का मुख्य अधिकारी बना रहा और महत्त्वपूर्ण विषयो मे विशाल विवेकात्मक शक्तियाँ भी उसके हाथ मे बनी रही।

गर्सन के अनुसार राज्य के हित मे सम्राट की शक्ति का भी विरोध किया जा सकता था। उसका यह भी मानना था कि लौकिक शासक किसी भी समय चर्च की सामान्य परिषद् को बुला सकता था जो पोप के बारे मे निर्णय दे सकती थी और प्राकृतिक व ईश्वरीय नियमो के भग करने पर उसे पदच्युत कर सकती थी। वह पोप और सम्राट के अधिकारो को निश्चित सीमाओ के भीतर रखना चाहता था और साथ ही जनता की स्वतन्त्रता को भी बनाए रखना चाहता था।

जॉन गर्सन का, परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख नेता के रूप मे, कॉन्सटेन्स की परिषद् पर बड़ा प्रभाव था। इस परिषद् की आज्ञप्तियो मे प्रतिपादित गर्सन के विचारो ने समस्त यूरोप मे सांविधानिक सरकार के सिद्धान्त का प्रचार किया और परवर्ती सुधारको के लिए मार्ग तैयार किया।

निकोलस ऑफ क्यूसा (Nicholas of Cusa)

निकोलस का जन्म 1400 ई. के लगभग जर्मनी मे क्यूसा नामक स्थान पर हुआ था। वह परिषदीय आन्दोलन का एक बहुत ही प्रमुख नेता था। बेसिल की परिषद् पर, जिसकी बैठकें 1431 से 1448 तक चलती रही, निकोलस की जनतन्त्रीय भावनाओं का विशेष प्रभाव पड़ा था। वह पहले यूरोप के विभिन्न देशो मे पोप के सन्देशवाहक के रूप मे कार्य कर चुका था, किन्तु उसके ईसाई सघ के सुधारक के रूप मे सार्वजनिक जीवन का वास्तविक प्रारम्भ बेसिल की परिषद् से हुआ और यह आश्चर्य की बात है कि परिषद् के समाप्त होते-होते वह पुन पोप का समर्थक बन गया। इस महान् विचारक की मृत्यु 1464 ई मे हुई।

निकोलस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'De Concordantia Catholica' मे बेसिल की परिषद् के लिए गर्सन से भी अधिक क्रान्तिकारी एव मौलिक विचार प्रस्तुत किए। निकोलस के दो सिद्धान्त प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—पहला सामञ्जस्य या एकता (Concordantia) का एव दूसरा जनता की सहमति को कानून एव शासन का आधार मानने का। उसके पहले सिद्धान्त के अनुसार विश्व की आध्यात्मिक एव भौतिक सभी वस्तुओ मे एकता और सामञ्जस्य मिलता है। वह विभिन्नता के बीच भी एकता की खोज करता है। वह एक ऐसी कड़ी के खोजने का प्रत्यन करता है जो लौकिक एव आध्यात्मिक दोनो शक्तियो को एक साथ मिला दे। निकोलस राज्य और चर्च के मध्य पूर्ण सहयोग इसलिए चाहता था क्योंकि समस्त मानवीय कार्य और व्यापार इन दो सस्थाओ मे ही व्यवस्थित हैं और इन दोनो के सभी अग एव तत्त्व एक समान हैं। उसका विचार था कि जब चर्च के शासन का केन्द्रीय अग परिषद् थी तो राजनीतिक सगठन भी परिषद् का केन्द्रीय स्थान होना चाहिए। निकोलस ने परिषद् की सत्ता को पोप से उच्चतर माना और उसने कहा कि पोप परिषद् के एजेन्ट के समान है। वह परिषद् के अधीन ही अपनी शक्तियो और अधिकारो का उपयोग कर सकता है। परिषद् उचित कारण होने पर पोप को अपदस्थ कर सकती है। निकोलस ने पोप की शक्ति को प्रशासनिक मानने के साथ ही उसे ईसा और सन्त पीटर से मिलती हुई बतलाया। उसका मत था कि पोप चर्च की एकता का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु परिषद् उसका अधिक अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि ईसा चर्च के सस्थापक हैं और उनका प्रतीक चर्च की परिषद् है। पोप को अपने मालिक ईसा की समस्त शक्तियाँ प्राप्त नही है। वह एक मनुष्य है जिसमे दुर्बलताएँ हो सकती है अतः परिषद् के निर्माण के लिए पोप की स्वीकृति

आवश्यक होने पर भी परिषद् पोप से ऊँची है। पोप चर्च का एक सदस्य है और उसकी विधि के अधीन है। पोप का निर्वाचन चर्च के प्रति उसकी उपयोगिता प्रदर्शित करना है किन्तु कर्तव्य-पालन में उसके (पोप के) असफल हो जाने पर धर्मावलम्बी उसकी आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं है। सेबाइन ने निकोलस के इन विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "इन परस्पर विरोधी विचारों को दिखाने का यह उद्देश्य नहीं है कि निकोलस भ्रमित था। इसका उद्देश्य सिर्फ यही है कि उसके समरसता सिद्धान्त को एक उच्च सत्ता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का सिद्धान्त नहीं समझना चाहिए। उसका मुख्य आशय यह है कि चर्च एक ईसाई है और वही सर्वोच्च तथा निर्भ्रान्त है लेकिन न तो पोपशाही और न परिषद् ही इस निर्भ्रान्तता के एकमात्र प्रवक्ता हैं। निकोलस का दोनों पर ही अविश्वास था। उसकी सुधार में अवश्य आस्था थी। उसका विचार था कि यदि चर्च के अधिकारियों का चर्च के विभिन्न अंगों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाए तो चर्च में आवश्यक सुधार हो सकता है किन्तु यह तो सहयोग की समस्या थी, वैधानिक अधीनता की नहीं।"[1]

निकोलस जनता की सहमति को कानून और शासन का आधार मानता था। उसने कहा कि समाज की स्वीकृति विधि का आवश्यक अंग है। यही स्वीकृति प्रथा और रीति द्वारा प्रकट होती है। चर्च की प्रारम्भिक परिषदों की घोषणाएँ इसलिए बलवती थीं कि उन्हें परिषदों में विद्यमान सभी व्यक्तियों की सहमति प्राप्त हुई थी। परिषद् सम्पूर्ण निकाय की प्रतिनिधि थी अतः वह किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकार के साथ बात कर सकती थी। सम्पूर्ण चर्च की सहमति को किसी व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती थी और इसी में उसकी उच्चता निहित थी। पोप की धर्माज्ञप्तियाँ अनेक बार इसी कारण असफल हुईं कि उन्हें स्वीकार नहीं किया गया। वास्तव में प्रत्येक कानून अथवा आज्ञप्ति की वैधता इस बात पर निर्भर है कि वह जिन पर लागू होता है, उन सबकी सहमति या स्वीकृति उसे प्राप्त हो। निकोलस के इन विचारों का सार यह है कि सम्पूर्ण शासन सहमति पर आधारित है। शासन का आधार शासित की रजामन्दी है। निकोलस के ही शब्दों में—

प्रकृति की दृष्टि में सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। यदि किसी सत्ता द्वारा प्रजाजन बुराई करने से रोके जाते हैं और उन्हें भय दिखलाया जाता है कि वे अच्छाई नहीं करेंगे तो उनकी स्वतन्त्रता सीमित की जाएगी, तो यह सत्ता समरसता और प्रजाजनों की स्वीकृति से प्राप्त होती है। यह सत्ता चाहे तो लिखित विधि के रूप में और चाहे सजीव विधि के रूप में हो सकती है। यदि यह सजीव विधि के रूप में हो, तो इसका अधिष्ठान शासक होता है। यदि प्रकृति की दृष्टि में सब व्यक्ति समान रूप से शक्तिशाली और समान रूप से स्वतन्त्र हैं, शासक में भी बराबर शक्ति है, तो एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों के ऊपर सत्ता दूसरे व्यक्तियों की स्वीकृति होने पर ही स्थापित हो सकती है।

निकोलस का विश्वास था कि चर्च का नैतिक सुधार पोप की अपेक्षा स्थानीय परिषदों द्वारा अधिक क्षमता और सफलता के साथ सम्पन्न हो सकता है। अतः वह चर्च की शक्ति के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हुए पोप की शक्ति को राष्ट्रीय सीमाओं के आधार पर विभिन्न प्रान्तीय परिषदों में बाँट देना चाहता था। उसका विचार था कि राजाओं को चर्च-सुधार के लिए राष्ट्रीय परिषदें बुलानी चाहिए तथा पादरियों एवं साधारण जनता के प्रतिनिधियों से सुधारों के विषय में परामर्श करना चाहिए। किन्तु वह यह नहीं चाहता था कि लौकिक शासक धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करें। यह चर्च के समान ही साम्राज्य में भी प्रतिनिधि शासन और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को लागू करने के पक्ष में था। उसने साम्राज्य को 12 क्षेत्रों में विभक्त करने का प्रस्ताव रखा जिससे न्याय का प्रशासन उचित

1 *Sabine*: A History of Political Theory, p. 316.

रूप से हो सके। उसका कहना था कि सम्राट को एक स्थाई परिषद् के परामर्श से कार्य करना चाहिए। उसने सम्राट का यह कर्त्तव्य बतलाया कि वह पूर्वी एवं आन्तरिक शत्रुओ से ईसाई धर्म की रक्षा करे।

निकोलस द्वारा प्रतिपादित लोगो की समानता, स्वतन्त्रता, सामान्य सहमति, जनता की प्रभुसत्ता, प्रतिनिधि परिषदो द्वारा शासन, राष्ट्रीय आधार पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण आदि सिद्धान्तो मे बहुत कुछ नवीनता थी। इन विचारो मे हमे उसकी राजनीतिक अन्तर्दृष्टि, चतुरता और बुद्धिमत्ता के दर्शन होते है। रोमन विधिशास्त्रियो ने जनता की प्रभुसत्ता को नैतिकता और व्यक्तिगत कानून के क्षेत्र तक ही सीमित रखा था, जबकि निकोलस ने इसे सार्वजनिक कानून और राजनीतिक क्षेत्र मे भी लागू किया। किन्तु उसके ये विचार अपनी पीढी से बहुत आगे के थे। इसलिए उसके युग मे उन्हे क्रियात्मक रूप नही दिया जा सका। जब बेसिल की परिषद् मे उग्र विवादो और झगड़ो के कारण उसे अपने विचारो को व्यावहारिक रूप देना असम्भव प्रतीत हुआ तो वह निराश होकर पुन पोप से आ मिला। उसे कार्डिनल बना दिया गया और वह जर्मनी मे पोप की प्रभुसत्ता का समर्थक हो गया।

13 पुनर्जागरण
(Renaissance)

पाश्चात्य इतिहास मे कुछ विशेष घटनाचक्र और आन्दोलन ऐसे है जो उसके प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग को एक-दूसरे से पृथक् करते हैं। प्रायः 15वी शताब्दी के साथ यूरोप के मध्य युग का अन्त और 16वीं शताब्दी से नवीन, अर्थात् आधुनिक युग का सूत्रपात समझा जाता है। इस युग के पहले और इस काल मे अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटित हुई जिन्हे नवीन युग की प्रगति का सन्देशवाहक माना जाता है। इसमे से कुछ प्रमुख है—पुनर्जागरण, भौगोलिक अनुसन्धान, धर्म-सुधार आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति, आदि। यहाँ हमारा मन्तव्य पुनर्जागरण को समझाना है।

पुनर्जागरण : अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning & Definition of Renaissance)

जेम्स एडगर स्वेन ने लिखा है, "पुनर्जागरण से ऐसे सामूहिक शब्द का बोध होता है जिसमे मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिक काल के प्रारम्भ तक के बौद्धिक परिवर्तन का समावेश हो।" साहित्यिक दृष्टि से पुनर्जागरण का अर्थ है 'नूतन जन्म' किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह वह आन्दोलन था जिसने यूरोप के जीवन और उसकी विचारधारा मे महान् परिवर्तन ला दिए पर यह कोई राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन नहीं था। यह तो मानव मस्तिष्क की एक अनोखी जिज्ञासापूर्ण स्थिति थी जिसके फलस्वरूप मध्यकालीन अन्धविश्वासपूर्ण विचारो के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई और अधिकांशतः उन सभी बातो का बीजारोपण हुआ जिनकी झलक हमे आधुनिक युग मे दिखलाई पड़ती हैं।

सामूहिक रूप से इतिहासकारों ने पुनर्जागरण का अर्थ बौद्धिक आन्दोलन से लगाया हैं। टॉमस जॉनसन के अनुसार पुनर्जागरण शब्द का अर्थ इटली के उन सांस्कृतिक परिवर्तनो से है, जो चौदहवी शताब्दी मे आरम्भ होकर 1600 ई. तक सम्पूर्ण यूरोप मे फैल गए। सीमोण्ड के अनुसार पुनर्जागरण एक ऐसा आन्दोलन था जिसके फलस्वरूप पश्चिम के राष्ट्र मध्ययुग से निकल कर वर्तमान युग के विचार तथा जीवन की पद्धतियो को ग्रहण करने लगे। वैनलून के शब्दो मे पुनर्जागरण राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन न होकर मानव की एक विशिष्ट स्थिति को उजागर करता था। मिचलेट ने इसे मनुष्य तथा ससार का प्रकटीकरण कहा है। वस्तुत यह सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन की तरह बौद्धिक आन्दोलन था जिसका यूरोप के धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास से सम्बन्ध था।

पुनर्जागरण कोई ऐसी सीमा नही थी जिसने मध्यकाल और आधुनिक काल का विभाजन कर दिया हो। पुनर्जागरण की स्थिति किसी एक व्यक्ति, एक स्थान अथवा एक विचारधारा के कारण भी नही आई। वह तो वास्तव मे उन सब महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवर्तनो का सामूहिक संकेत है जो चौदहवी शताब्दी मे आरम्भ होकर 1600 ई. तक प्रायः सारे यूरोप मे व्याप्त हो गई। इन शताब्दियो मे धीरे-धीरे वे सभी बातें, जिनका सम्बन्ध मध्यकाल से था, मिटती चली गईं तथा वे सभी बातें जो आधुनिक काल से सम्बद्ध थी, अंकुरित और विकसित होती गईं। महान् बौद्धिक जागृति ने लोगो मे आलोचनात्मक और अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति पैदा की। लोग प्रचलित विश्वासों और प्रथाओ को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। जीवन के बारे मे लोगो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन आया और उनमे इतना साहस पैदा हो गया कि वे तत्कालीन संस्थाओ को चुनौती देने लगे। इन शताब्दियो मे सामन्तवाद का प्रभाव धीमा पड़ कर समाप्त हो गया। कुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा घटते-घटते नष्ट हो गई। संघ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी, धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया और जिज्ञासा, खोज, आविष्कार, आलोचना तथा सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। ये सभी परिवर्तन धीरे-धीरे हुए और उन सबका परिणाम यह हुआ कि इतिहास के एक युग का अन्त होकर दूसरे का सूत्रपात हुआ। पन्द्रहवी तथा सोलहवी शताब्दी मे अर्थात् पुनर्जागरण काल के दौरान यूरोपीय रचनात्मक शक्ति अनेक दिशाओ मे उमड़ पडी और सभ्यता तथा संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों मे आशातीत विकास का आरम्भ हुआ।

पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि
(Background of Renaissance)

जैसा कि प्रो बच ने कहा है कि पुनर्जागरण का आरम्भ यूरोपीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नही थी, बल्कि उसके कई पूर्वचिह्न पहले से विद्यमान थे। चौदहवी शताब्दी से पहले भी समय-समय पर वैयक्तिक अथवा सामूहिक मानसिक उद्वेग, चिन्तन और मनन के उदाहरण मिलते है। ऐसे प्रत्येक अवसर पर नवीन चिन्तन का प्राचीनता से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता था। पुनर्जागरण से पूर्व इस तरह का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बौद्धिक आन्दोलन कैरोलिंगियन सम्राट चार्ल्स से सम्बद्ध था। कैरोलिंगियन पुनर्जागरण मे भी ग्रीक-रोमन सभ्यता के तत्त्व और प्रभाव निहित थे। परन्तु यह आन्दोलन समयपूर्व था। चार्ल्स की मृत्यु के बाद यूरोप मे पुन अज्ञान का अन्धकार फैल गया, यद्यपि कैरोलिंगियन पुनर्जागरण की धूमिल किरणें कुछ समय के लिए यूरोपीय ज्ञान-क्षितिज को लोहित बनाए रही। दूसरा उदाहरण अलविजेनसियन आन्दोलन का दिया जा सकता है। बारहवी तथा तेरहवी शताब्दी का यह आन्दोलन धार्मिक से भी अधिक बौद्धिक, सामाजिक और साहित्यिक विकास का उदाहरण था। बहुत सम्भव था कि यही से पुनर्जागरण का वास्तविक शुभारम्भ हो जाता, किन्तु आत्म-निर्भर, धर्मनिरपेक्ष और आधुनिकता से युक्त इस आन्दोलन से पादरी वर्ग सशंकित हो उठा और इसे क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। तीसरा पुनर्जागरणपूर्व आन्दोलन सम्राट फ्रैडरिक द्वितीय (1212–50) से सम्बद्ध था। फ्रैडरिक धार्मिक संकीर्णता का विरोधी और मानसिक स्वतन्त्रता तथा आत्म-निर्भरता का, जो पुनर्जागरण के प्रमुख लक्षण थे, समर्थक था। एक शब्द मे, वह आधुनिक व्यक्ति था। वह अपने समय से कई शताब्दी आगे था। इसका कारण था कि उस पर पूर्व और पाश्चात्य धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओ तथा ग्रीक-रोमन प्राचीनता का समान रूप से प्रभाव था। उसने अरस्तू तथा अभरोस के कई ग्रन्थो का लेटिन मे अनुवाद कराया, नेपल्स विश्वविद्यालय की स्थापना की और पालेरमो स्थित अपने दरबार मे उत्पीडित एलबिजेनसियन विद्वानो को आश्रय प्रदान किया। इस तरह उसके संरक्षण मे सिसली मे उस बौद्धिक एव साहित्यिक वातावरण का सृजन हुआ जिसका पुनर्जागरण के युग मे अनेक इटालियन शासकों ने अनुसरण किया। वस्तुतः ग्रीक-रोमन तथा अरब संस्कृति के जिस आलोक मे तेरहवी शताब्दी का यूरोप आलोकित हुआ, उसमे कई तत्त्व फ्रैडरिक द्वितीय की ही देन थे। फ्रैडरिक द्वितीय की ही तरह दांते ने भी पुनर्जागरण युग का पूर्वाभास दिया

था। दांते अलिघियेरी का 1365 में फ्लोरेंस मे जन्म हुआ था। सन् 1302 ई. मे वहां से निर्वासन के बाद 1321 में रेवैना मे उसकी मृत्यु हुई। उसकी 'डिवाइन कॉमेडी' को 'मध्ययुगीनता का महाकाव्य' कहा गया है। यह मध्ययुगीन जीवन और विचारधारा का मूर्त रूप है। दांते का धर्मशास्त्र मध्यकालीन चर्च का धर्मशास्त्र है, उसका दर्शन नैयायिको का दर्शन है और उसका विज्ञान समसामयिक है। अपने युग के अन्य लोगों की तरह वह पोपतन्त्र तथा साम्राज्य के दैवी उद्गम में विश्वास करता है। नक्षत्र उसे प्रभावित करते हैं और धर्मद्रोह से उसे चिढ और भय है। अपने इन मध्यकालीन लक्षणों के बावजूद वह आने वाले नवयुग का मसीहा तथा पुनर्जागरण का अग्रदूत था। ग्रीको रोमन प्राचीनता में उसकी रुचि थी। वर्जिल उसका आदर्श था, प्राचीन ईसाई और हिब्रू साहित्य प्रेरणा का प्रमुख स्रोत था। अपनी आत्म-निर्भरता, तार्किक प्रवृत्ति और अत्यधिक व्यक्तिकता के कारण, वह मध्यकालीन से भी अधिक अर्वाचीन जान पड़ता है।[1]

पुनर्जागरण के कारण
(Causes of Renaissance)

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त पुनर्जागरण का आरम्भ अन्य कारणों और परिस्थितियों से भी हुआ—

1. सामन्तवाद—मध्यकालीन पुनर्जागरण का प्रथम और प्रत्यक्ष कारण सामन्तवाद मे निहित था। अपने उदय के कुछ समय बाद सामन्तवाद यूरोपीय जीवन की एक प्रमुख विधा के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। सामन्तवाद का आर्थिक आधार मेनार के किसान और खेतो मे काम करने वाले कम्मिये थे। अतः मध्यकालीन सस्कृति, जिसकी अभिव्यक्ति पुनर्जागरण के रूप में हुई, कम्मियो के श्रम और कृषि पर आधारित थी।

2. चर्च—पुनर्जागरण का दूसरा आधार चर्च था। अतः इसका स्वरूप किसी हद तक धार्मिक था। ईसाईयत का यूरोपीय संस्कृति पर पूर्ण प्रभाव था। ग्रेगरी महान् से दांते तक की यूरोपीय सभ्यता ईसाईयत से ओत-प्रोत थी। ग्रेगरी महान् के समय से ही पोपतन्त्र प्रशिक्षित विद्वानो और वकीलो की आवश्यकता को अनुभव करने लगा था। अतः यूरोप के प्रत्येक भाग से विद्वान पादरियों को रोम आने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। पद-प्रतिष्ठापन के संघर्ष को लेकर चर्च के पक्ष को मजबूत करने की दृष्टि से यथेष्ठ साहित्य की सृष्टि हुई। इटली मे मौटे कैसिनो धार्मिक साहित्य के प्रमुख अध्ययन केन्द्र के रूप मे विकसित हुआ। रिहम्स का जेरबर्ट, जो बाद में सिलवेस्टर द्वितीय के नाम से पोप हुआ, यूरोप मे अरबी विज्ञान के प्रसार के पहले, यूरोपीय वैज्ञानिक ज्ञान का मूर्त रूप था। ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश मे उसका शिष्य फुलबर्ट लैटिन साहित्य का पारायण कर नवीन ज्ञान विकीर्ण करता रहा। दूर स्थित उसका शिष्य बेरगर मध्यकालीन विद्वानो मे सम्भवतः पहला व्यक्ति था जिसने चर्च के सिद्धान्तो तथा मतो को तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने को कहा। इसका मतलब यह नही कि वह धर्मशास्त्र के सिद्धान्तो के खिलाफ था। अन्य नैयायिको की तरह वह भी केवल यही सिद्ध करना चाहता था कि ईश्वरीय सत्य और तार्किक सत्य मे कोई मौलिक अन्तर हो ही नही सकता है, क्योकि सत्य अविभाज्य है। एनसेलम ईसाई धर्म के सिद्धांतो को तर्क द्वारा सिद्ध करने मे पूर्ण विश्वास करता था। उसने केवल तर्क के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया। तब तक के उपलब्ध अरस्तू के कतिपय ग्रन्थों पर आधारित प्रारम्भिक नैयायिक आन्दोलन का चरमोत्कर्ष पियर अबेलॉर्ड (1079–1142) मे देखने को मिलता है। उसके शिष्यो में ब्रसिया का आर्नोल्ड, पीटर लोम्बार्ड और पोप अलेक्जेण्डर तृतीय जैसे महत्त्वपूर्ण लोग शामिल थे। हेलवाइस के साथ उसकी प्रेमलीला उसके पतन का कारण बनी, परन्तु धार्मिक

1 डॉ. बी. वीरोत्तम : मध्यकालीन यूरोप का इतिहास, पृ. 232-33.

सिद्धान्तो के बौद्धिक एव दार्शनिक विश्लेषण मे वह लगभग बेजोड था। परस्पर विरोधी मतो को तर्क द्वारा सुलझाना उसकी विशेषता थी। अबेलॉर्ड के जीवनकाल मे ही पश्चिमी विद्वानो का अरबी भाषा मे सचित दर्शन, गणित और विज्ञान के अक्षय ज्ञान-भण्डार से परिचय हो रहा था। अब वे यूनान, बैजन्तियम और इस्लाम के सचित ज्ञान-कोष का उपयोग करने लगे थे। इस प्रकार यूरोप मे ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को एक नवीन और गतिशील दिशा प्राप्त हुई। ऑक्सफोर्ड, पेरिस और बोलोना मे विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई और एक आन्दोलन चल पडा जिसे स्कोलेस्टिसिज्म अर्थात् 'पण्डित-पथ' कहा गया है। इससे विद्याध्ययन एव वाद-विवाद को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। लगभग तेरहवी शताब्दी तक इस विचार पद्धति की सर्वांगीण उन्नति हुई। अब तक प्राय. अरस्तू के दार्शनिक सिद्धान्तो की ही प्रधानता थी, किन्तु तेरहवी शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक एव विचारक राजर बेकन ने इसका तीव्र विरोध किया। यह ऑक्सफोर्ड का बडा नैयायिक था। उसने अपने युग को अज्ञानता का युग कहा। उसका कहना था कि यूरोपीय विद्वान् अरस्तू के भद्दे लेटिन अनुवादो द्वारा अज्ञानता को प्रोत्साहन दे रहे थे, उसके आगे वे कुछ देख ही नही रहे थे। लगभग इसी समय एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो मानवतावाद के नाम से विख्यात हुआ। इसके प्रवर्त्तको मे फ्रैंसिस्को, पेत्रॉक, बोकेसिओ, एरासमस, टॉमस मूर तथा रेबेल आदि विद्वानो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन विद्वानो की लेखनी के प्रभाव से जनसाधारण मे एक नई चेतना का प्रसार हुआ। लोग अब लौकिक जीवन के मापदण्ड से सब-कुछ तोलने लगे तथा सांसारिक जीवन की सार्थकता से परिचित हुए। अतः धर्मशास्त्र चर्च तथा पादरियो इत्यादि मे लोगो की श्रद्धा कम होने लगी। विश्वास की अपेक्षा लोग अब तर्क एव युक्ति से अधिक काम लेने लगे। इस तरह पुनर्जागरण की बौद्धिक पृष्ठभूमि की सृष्टि हुई।

3 प्राचीन साहित्य का अध्ययन—लगभग 13वी सदी से ही प्राचीन साहित्य के अध्ययन के प्रति लोगो मे रुचि जाग्रत हो गई। यूनान और रोम की प्राचीन सस्कृति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। यूनानी भाषा के पुन अध्ययन से लोगो को—विशेषकर बौद्धिक वर्ग को—एक नई सस्कृति, नए विचार और जीवन की नई पद्धति का ज्ञान हुआ। उनके हृदय मे जिज्ञासा प्रवृत्ति विकसित हुई, स्वतन्त्र दृष्टिकोण पनपने लगा, मस्तिष्क मे उदारता का सचार हुआ और वे चर्च तथा सत्ता की आज्ञाओ को तर्क की तराजू पर तोलने लगे। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन ने 'मस्तिष्क' के महत्त्व में वृद्धि की।

4 धर्म-युद्ध—पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण वे धर्म-युद्ध थे जो यूरोप के ईसाईयो और मध्य एशिया के तुर्को के बीच, ईसाईयों के तीर्थ-स्थान जेरूसलम आदि के अधिकार के लिए लडे गए। इन युद्धो मे सभी प्रकार के लोग विभिन्न प्रेरणावश शामिल हुए। यद्यपि इस्लाम के विजय-अभियान को नही रोका जा सका, तथापि ईसाईयो को इन युद्धो के फलस्वरूप कई नवीन बातो का पता चला। इन युद्धो ने यूरोप के हजारो व्यक्तियो को नए विचारो और अजनबी लोगो के सम्पर्क मे ला दिया, और वे जब अपने देशो को वापस चले गए तो उन्होने अपने अनुभव की चर्चा की। इसके फलस्वरूप यूरोप के निवासियो मे नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, उनका सुप्त शौर्य जाग उठा और उन्होने प्रगति की तरफ कदम बढाने का फैसला कर लिया।

5 व्यापारिक यात्राएँ और विदेशो से सम्पर्क—धर्म-युद्धो से यूरोपीय व्यापार को बडा नुकसान पहुँचा क्योकि इससे मुस्लिम व्यापारियो का माल आना बन्द हो गया। अत यूरोपियो ने भूमध्यसागर की लहरो को चीर कर, व्यापार की खोज मे दूर-दूर के देशो की यात्रा शुरू की। वेनिस और मिलन, लूका और फ्लोरेंस व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए। बाहर की दुनिया से सम्पर्क होने से यूरोप के लोगो मे एक नए दृष्टिकोण का संचार हुआ और उन्होने पूर्व की प्रगतिशील सभ्यता मे बहुत कुछ सीखा। उनके बौद्धिक जीवन पर धर्म का नियन्त्रण कुछ ढीला हुआ, पुराने विचारो की जजीरें टूटने लगी और राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना का उदय हुआ।

6. **साहित्यकारों और विद्वानों का योग**—अनेक साहित्यकारों और विद्वानों ने अपनी प्रखर लेखनी से नव-जागरण का प्रसार किया। उदाहरणार्थ, तेरहवी शताब्दी में ब्रिटेन के बेकन नामक विचारक ने तर्क और प्रयोग पर बहुत बल देते हुए विज्ञान की उन्नति मे अपना विश्वास प्रकट किया। उसके ज्ञान से जगमगाते लेखों का प्रभाव लोगो के विचारो मे परिवर्तन लाता गया। इस्लामी आक्रमणों के फलस्वरूप यूनानी विद्वान् पश्चिम में आकर बसने लगे। उनके द्वारा गौरवपूर्ण प्राचीन यूनान के सिद्धान्तो का प्रचार हुआ।

7 **छापेखाने का आविष्कार**—पुनर्जागरण के विकास मे छापेखाने के आविष्कार ने भारी योग दिया। साहित्य प्रकाशन न केवल सस्ता हो गया बल्कि पुस्तकें भारी सख्या मे छपने लगीं और सर्वसाधारण को सुलभ हो गई। अब शिक्षा केवल धर्माधिकारियो तक ही सीमित नहीं रही, अपितु जन-साधारण ने धर्म के महत्त्व को समझा और उसकी बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की। लेटिन के स्थान पर स्थानीय भाषाओं मे पुस्तके लिखी जाने लगी जिससे लोगो के विचारो मे तेजी से परिवर्तन आने लगा।

8 **मानववाद का प्रचार**—'मानववाद' शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द 'ह्यूमनिटीज' से हुई, जिसका अर्थ है 'विकसित ज्ञान'। इस विचारधारा के अनुयायी धर्म की संकुचित विचारधारा को नहीं मानते थे। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। पेट्रार्क और उसके अनुयायियों ने मानववाद का प्रसार किया। प्रारम्भ मे तो धर्माधिकारियो ने इसका विरोध किया, परन्तु धीरे-धीरे यह विचारधारा विकसित हो गई, जिससे धार्मिक आडम्बरो की समाप्ति हुई और स्वतन्त्र चिन्तन का प्रसार हुआ।

9 **वैज्ञानिक आविष्कार**—महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कारो और गवेषणाओं के फलस्वरूप पुनर्जागरण की लहर तेजी से आगे बढी और यूरोप मे फैल गई। घुम्मक्कड मगोलो के सम्पर्क से यूरोप मे चीन के तीन आविष्कार पहुँचे—कागज और मुद्रण, समुद्रों मे मार्गदर्शन के लिए कुतुबनुमा तथा युद्ध मे प्रयोग के लिए बारूद। इन आविष्कारो के ज्ञान ने यूरोप के जीवन मे अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। डॉ. रामेश्वर गुप्त के शब्दों मे कागज और मुद्रण से जनसाधारण मे ज्ञान का प्रकाश हुआ, कुतुबनुमा से नए-नए समुद्री मार्गों की खोज होने लगी और बारूद से सामन्त शक्ति को ध्वस्त किया गया तथा केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना होने लगी।

इन्हीं विविध कारणो ने पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ कर दी, उस प्रक्रिया का विकास किया और यूरोप भर मे शनै-शनै आधुनिक युग का सूत्रपात हो गया। पुनर्जागरण की प्रगति मे इस बात ने योग दिया कि फ्रांस, इंग्लैण्ड, पोलैण्ड आदि देशों के शासको और धनी व्यक्तियों ने बड़ी सख्या मे साहसी नाविकों, साहित्यकारो और कलाकारो को आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

पुनर्जागरण का प्रारम्भ और प्रसार : इटली का पथ-प्रदर्शन

पुनर्जागरण के आरम्भ के सन्दर्भ मे सर्वप्रथम अलबिजेनसियन बुद्धिवादी आन्दोलन का उल्लेख किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश धार्मिक प्रतिक्रियावाद के फलस्वरूप इस आन्दोलन का असामयिक अन्त हो गया। उसी तरह फ्रेड्रिक द्वितीय और दांते ने पुनर्जागरण के आगमन मे अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया था। परन्तु पुनर्जागरण का वास्तविक प्रारम्भ इटली मे हुआ, ठीक उसी तरह जैसे धर्म-सुधार आन्दोलन का जर्मनी से हुआ। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम इसके लिए इटली का वातावरण अत्यन्त ही अनुकूल था। इटालियन नगर पुनर्जागरण के प्रोत्साहक थे। दूसरा कारण था उस प्रायद्वीप मे विभिन्न जातियो का सलयन। इन जातियों मे गाथ, लोम्बार्ड, फ्रैंक, अरब, नारमन और जर्मन जातियाँ प्रमुख थी। रोमन बैज़यन्त, अरब सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क और सलयन के फलस्वरूप मानसिक उन्नयन तथा व्यापक सामाजिक एव बौद्धिक आन्दोलनो का होना स्वाभाविक ही था। इटालियन स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के धर्म-निरपेक्ष स्वरूप ने भी इटली मे पुनर्जागरण के विकास मे सहायता दी।

पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की तरह इटली की नवीन सभ्यता प्राचीन रोमन सभ्यता से बहुत अलग-अलग थी। इटलीवासी अपने को रोमन विश्व-विजेताओं के प्रत्यक्ष वंशज एवं उत्तराधिकारी मानते थे। रोम की प्राचीन गरिमा से सम्बद्ध होने का एहसास उनकी कल्पना को पंख तो लगा ही देता था, साथ ही उनकी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने की प्रेरणा भी उन्हें मिलती थी। इटली में पुनर्जागरण को जन्म देने एवं उसे विशिष्ट दिशा प्रदान करने में प्राचीन रोमन स्मारकों का भी विशेष महत्त्व था। इटालियन नगर वस्तुतः प्राचीन साम्राज्य के अवशिष्ट चिह्न थे। विगत महानता के ये अवशिष्ट चिह्न इटालवी मानस पर गहरा प्रभाव डालते थे। यूरोपीय पुनर्जागरण के इटली के प्रारम्भ होने का एक अन्य कारण यह था कि कुस्तुनतुनिया के पतन के पश्चात् वहां के विद्वानों ने भाग कर इटली के नगरों में आश्रय लिया। इससे उन नगरों में पुनः प्राचीन विद्या एवं ज्ञान का प्रसार शुरू हुआ और अल्पकाल में ही उन विद्वानों की विद्वता की चिंगारी यूरोप के अन्य देशों में फैल गई।

इटली में पुनर्जागरण के दो पक्ष थे—प्राचीन साहित्य एवं ज्ञान का पुनर्जन्म तथा प्राचीन कला का पुनर्जन्म। पुनर्जागरण के बौद्धिक और साहित्यिक पक्ष को 'मानववाद' और इसके समर्थकों को मानववादी कहा गया है। मानववादियों में फ्रांसिस्को पेत्रार्क (1304–1374) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेत्रार्क को समझना स्वयं पुनर्जागरण को समझना है। पेत्रार्क इटालियन पुनर्जागरण का मानववादी पक्ष का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। मध्यकाल का यह प्रथम विद्वान् था जिसने सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के महत्त्व को समझा। उसने अथक परिश्रम द्वारा प्रायः दो सौ प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रह तैयार किया। वेरोना के एक पुस्तकालय में उसने लेटिन भाषा में लिखित सिसेरो के पत्र प्राप्त किए। उसे ग्रीक भाषा का ज्ञान नहीं था, फिर भी उसने लेटिन के साथ-साथ ग्रीक पाण्डुलिपियाँ भी एकत्रित कीं। कुस्तुनतुनिया से उसने प्लेटो के सोलह ग्रन्थ और होमर की एक प्रति हासिल की। प्राचीन लेखकों में उसकी आत्मिक अभिरुचि थी और वह उनसे काल्पनिक पत्राचार किया करता था। वह मध्यकालीन प्रवृत्ति का घोर विरोधी था। पंडित-पंथ के वह विशेष रूप से खिलाफ था। वह उन्हें सत्यान्वेषी न मानकर मिथ्या तार्किक समझता था। विश्वविद्यालय, जो पंडित-पंथ के गढ़ थे, उसकी दृष्टि में घोर अज्ञान के केन्द्र थे। जब उसके विरोधी अरस्तू का आश्रय लेते थे तो वह कहता था कि अरस्तू की बहुत-सी बातें गलत थीं और मनुष्य होने के नाते वह मानवीय भूलों के परे नहीं था। उस युग में अरस्तू की आलोचना स्वयं बाइबिल की आलोचना करने की तरह था अतः उसका आघात केवल अरस्तू पर न होकर स्वयं चर्च और सम्पूर्ण मध्ययुगीन व्यवस्था पर था। वस्तुतः उसका प्रमुख कार्य था साहित्य-विकास के क्षेत्र में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को आगे बढ़ाना। वह स्वयं एक कटु आलोचक था तथा उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि लोग प्राचीन साहित्य की उपलब्ध सामग्री को यथावत् ग्रहण न करें, बल्कि आलोचना-पर्यवेक्षण द्वारा अन्य वस्तुओं से उसकी तुलना भी करें। प्राचीन साहित्य की ही तरह प्राचीन रोमन स्मारकों में भी उसकी रुचि थी। पुनर्जागरण से पहले प्राचीन स्मारकों का प्रायः दुरुपयोग ही होता रहा था परन्तु पेत्रार्क इन स्मारकों को आधुनिक दृष्टि से देखता था। पेत्रार्क के कई उल्लेखनीय मानववादी शिष्य थे, जिनमें जियोवानी बोकासियो (1313–1375) प्रमुख था। मानववादी के रूप में उसने प्राचीनता के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन किया। इटालियन मानववादियों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में विशेष रुचि थी। मानववादियों के अथक प्रयास के फलस्वरूप, प्राचीन साहित्य की अमूल्य निधि भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखी जा सकी, अन्यथा कुछ समय बाद इसका अधिकांश भाग अवश्य नष्ट हो गया होता। इटालियन पुनर्जागरण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था—पुस्तकालयों की स्थापना। ज्ञान के जीवन कोश को सुरक्षित रखने और विद्वानों के लिए सुलभ बनाने की दृष्टि से पुस्तकालयों की स्थापना की गई। इस तरह इटली के कुछ सबसे बड़े पुस्तकालयों की स्थापना हुई। फ्लोरेंस में मेडिसी ने प्रसिद्ध मेडिसी लाइब्रेरी की स्थापना की। रोम की वेटिकन लाइब्रेरी में अकेले पोप निकोलस पंचम ने ही पाँच हजार पाण्डुलिपियाँ जमा की थीं। प्राचीन साहित्य का पुनर्जन्म, प्रतिलिपियों में अभिवृद्धि और पुस्तकालयों की स्थापना इटालियन मानववादियों के प्रारम्भिक

कार्य थे। उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य थे—मूल ग्रन्थों की वृद्धि और तुलनात्मक अध्ययन, ग्रीक पाण्डुलिपियो का लेटिन मे अनुवाद, प्राचीन साहित्य की व्याख्या, मूल्यांकन की समीक्षा। इस दिशा मे जिन इटालियन विद्वानो न कार्य किया उनमे पोलिजियानो (1454–1494) सर्वश्रेष्ठ था। फ्लोरेंस मे ग्रीक और लैटिन के शिक्षक के रूप मे उसने नवीन ज्ञान को विकीर्ण करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पन्द्रहवी शताब्दी के इटालियन विद्वानो मे एक अन्य उल्लेखनीय नाम पिको डेला मिरनडोला, (1463–1494) का है। उसने ईसाईयत और नवीन ज्ञान के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। पुनर्जागरण युग के इटालियन कवियो मे अरियेस्टो का नाम प्रमुख है। इसी युग में कुछ अन्य साहित्यकारो का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें टासो और शेरव्योरो के नाम अति प्रसिद्ध हैं। इटालियन पुनर्जागरण का दूसरा पक्ष था प्राचीन कला का पुनर्जन्म।

यूरोप के अन्य भागों मे पुनर्जागरण

सोलहवी शताब्दी के अन्त तक इटालियन पुनर्जागरण की धारा प्राय सूख गई परन्तु तब तक मानववाद आल्पस पर्वतमाला को पार कर जर्मनी, फ्रांस और इग्लैंड मे प्रवेश कर चुका था। पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य से ही जर्मन स्नातक इटली पहुँचकर वहाँ के विद्वानो से यूनानी भाषा सीखने लगे थे। इटालियन मानववाद ग्रीक और लेटिन साहित्य के अध्ययन तक ही सीमित था, परन्तु उत्तरी यूरोप के मानववादियो की प्राचीन हिब्रू और ईसाई साहित्य और संस्कृति में भी समान रूप से रुचि थी। वस्तुत जर्मन और अन्य उत्तरी मानववादियो की साहित्यिक और बौद्धिक अभिरुचि ने बाद के धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया। साहित्यिक दृष्टिकोण से यद्यपि पुनर्जागरण का प्रारम्भ इटली मे हुआ तथापि इसकी उन्नति अधिकतर यूरोप के अन्य देशो में ही हुई।

मानववादी आन्दोलन का जर्मनी पर भी प्रभाव पड़ा। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गणितज्ञ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और धर्मशास्त्री के रूप मे केमा का कार्डिनल निकोलस अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। उसने अनेक लैटिन तथा यूनानी पाण्डुलिपियाँ एकत्रित की। डेमेन्टर का हैजियस प्रसिद्ध मानववादी शिक्षक था। उसके अनेक शिष्यो ने, जिनमें इरासमस भी शामिल था, नवीन ज्ञान को चतुर्दिक् फैलाया। दूसरे अन्य मानववाद भी थे जो जर्मनी के विश्वविद्यालयों, मठों और स्वतन्त्र नगरो मे बिखरे पड़े थे। उनमे कुछ उल्लेखनीय नाम बेसेल, एग्रिकोला, विर्फेलिग, ट्रिथेमियस, जोहान्स एलिपिड और रिजियोमोनटेनस के है। इन लोगो ने हिडेलबर्ग, बेसल, नुरेमबर्ग, स्ट्रैसबर्ग, अरफर्ट तथा वियना मे मानववाद का प्रचार किया। सामान्यत इनकी अभिरुचि धर्मशास्त्रो तथा गैर-ईसाई साहित्य मे थी। इसके फलस्वरूप जर्मन मानववाद का एक अपना विशिष्ट स्वरूप विकसित हुआ जो आगे चलकर धर्म-सुधार आन्दोलन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। इटली की ही तरह कुछ जर्मन मानववादियो की हिब्रू साहित्य मे विशेष रुचि थी। बेसेल तथा टिथेमियस हिब्रू के विद्वान् थे, परन्तु रियुचलिन हिब्रू भाषा का वास्तविक ज्ञाता था। संक्षेप मे, जर्मनी मे भी पुनर्जागरण का वास्तविक रूप था—ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार और प्राचीनता के प्रति आसक्ति।

पुनर्जागरण काल में विज्ञान के क्षेत्र मे भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। पोप के अनुसार विज्ञान मनुष्य की नैतिकता को नष्ट कर सकता था। मध्ययुग मे चर्च विज्ञान की प्रगति के मार्ग मे सबसे बड़ा रोड़ा था परन्तु सोलहवी शताब्दी मे चर्च के प्रति लोगो की आस्था घटी तो विज्ञान की प्रगति निर्विघ्न रूप से होने लगी। लोग संकीर्ण विचारो को त्याग कर नए-नए प्रयोगात्मक अन्वेषणों की ओर आकृष्ट हुए। इस युग में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रगति ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र मे हुई। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। पुनर्जागरण युग मे चिकित्सा शास्त्र तथा रसायन शास्त्र की भी अपूर्व उन्नति हुई। पुनर्जागरण-काल के प्रारम्भ से ही यूरोपवासियो ने भौगोलिक अन्वेषण कार्य में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया।

पुनर्जागरण के सामान्य प्रभाव

पुनर्जागरण के वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक, दार्शनिक और बौद्धिक प्रभावो के अतिरिक्त कुछ सामान्य प्रभाव भी पडे। डॉ. बी वीरोत्तम ने इनका सारगर्भित वर्णन इस प्रकार किया है—

सर्वप्रथम, पुनर्जागरण ने जीवन और जगत सम्बन्धी कुछ नवीन मान्यताओ को जन्म दिया। पश्चिमी ईसाई जगत के बौद्धिक और नैतिक जीवन मे ठीक उसी प्रकार की क्रान्ति आ गई जैसा कि प्राचीन काल में ईसाई धर्म के प्रचार के कारण हुआ था। नवीन ज्ञान वस्तुतः नवीन धर्मशास्त्र की तरह था। बिशप क्रिप्टन के शब्दो मे 'इसका उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप मे एक नवीन सस्कृति को फैलाना था।' अब लोग मनुष्य की वास्तविक प्रकृति और महत्ता से परिचित हुए। लोगो ने समझा कि जीने मे अपने-आप मे ही एक विशेष प्रकार का सुख है जिसका परलोक के नाम पर त्याग करना उचित नही। आत्मा का हनन किए बिना भी ज्ञान की पिपासा को शान्त किया जा सकता है। नवीन विचारो से मानव जाति के विकास में अत्यधिक सहायता मिली। इस तरह धर्म, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, आविष्कार और उद्योग प्राय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया। दूसर शब्दो मे, पुनर्जागरण के फलस्वरूप, मानव जाति ने आधुनिक युग मे प्रवेश किया।

दूसरी बात कि पुनर्जागरण ने ऐतिहासिक तारतम्य की छिन्न-भिन्न हुई श्रृंखला को फिर से जोडा। ग्रीक-रोमन जगत मे प्रवेश करते ही ईसाई धर्म ने प्राचीनता के प्रति युद्ध-सा छेड दिया था। विधर्मिता पर ईसाईयत की विजय का अर्थ था प्राचीन सभ्यता से विच्छेद। यह सही है कि प्राचीन सभ्यता एव संस्कृति के कुछ तत्त्व पूर्व-मध्यकाल मे ईसाईयत मे भी प्रवेश कर गए थे, परन्तु प्राचीनता का अधिकतर परित्याग ही किया गया था। इस तरह यूरोप मे ऐतिहासिक तारतम्य छिन्न-भिन्न हो गया था परन्तु पुनर्जागरण काल की उदारता और उत्साह के कारण ईसाईयत तथा प्राचीन सभ्यता के बीच सामजस्य स्थापित करना सम्भव हुआ। इस तरह प्राचीन एव आधुनिक जगत के बीच की खाई पट गई। मावन जाति के लिए यह अत्यन्त लाभप्रद बात हुई, क्योकि प्राचीन सभ्यता मे साहित्य, कला और विज्ञान के अनमोल तत्त्व निहित थे जिनकी उपेक्षा करना न सम्भव ही था और न उचित ही अब उनका उचित मूल्यांकन और उपयोग होने लगा जिससे प्राचीन सौन्दर्य एवं सत्य की जानकारी आधुनिक जगत को हो सकी।

तृतीयत, पुनर्जागरण से शिक्षा में सुधार हुआ। मानववादी आन्दोलन के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। मध्ययुग मे लेटिन भाषा का ह्रास हुआ था, लोग ग्रीक भाषा को प्राय. भूल चूके थे। अरस्तू का दर्शन अपना सही रूप खो चुका था। प्लेटो को तो मध्ययुगीन चिंतक प्राय भूल ही चुके थे। परन्तु मानववादी आन्दोलन के कारण लेटिन भाषा की, उसके मूल रूप मे, पुनर्स्थापना हुई। ग्रीक भाषा के साथ भी लगभग ऐसा ही हुआ। प्लेटो के दर्शन के साथ-साथ ग्रीकरोमन साहित्य की प्रायः विस्तृत अमूल्य निधियाँ पाठको को अब उपलब्ध हुईं। इससे आधुनिकता के उदय और विकास मे सहायता मिली। स्कूल और विश्वविद्यालय भी इस नवीन मानववादी आन्दोलन से अछूते नही रहे। प्रायः सभी प्राचीन और नवीन विश्वविद्यालयों मे ग्रीक एव लेटिन भाषाओं की पढाई होने लगी। पडित-पथ की शिक्षण-विधि का स्थान अब मानववादी शिक्षण-विधि ने ले लिया। यह नवीन शिक्षा-विधि आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षण-प्रणाली के आगमन तक बनी रही।

चतुर्थतः पुनर्जागरण से लोक भाषाओ के विकास मे सहायता मिली। ग्रीकोरोमन साहित्य के अध्ययन से पाठको का सम्पर्क दो अत्यन्त समृद्ध भाषाओ से हुआ। इससे नवीन साहित्य के सृजन का मार्ग प्रशस्त हुआ। इटली, फ्रांस, स्पेन, इग्लैंड तथा जर्मनी की जन-भाषाओ पर इसका प्रभाव विशेष

रूप से पड़ा। यह सही है कि ग्रीको-रोमन साहित्य को अत्यधिक प्रश्रय दिए जाने के कारण कहीं-कहीं लोक भाषाओं की उपेक्षा भी हुई, परन्तु अधिकांशतः मानववादी आन्दोलन के फलस्वरूप स्थानीय भाषाओं का परिमार्जन ही हुआ।

(5) पुनर्जागरण के फलस्वरूप पुरातत्त्व, विज्ञान तथा ऐतिहासिक आलोचना-विधि का भी जन्म हुआ। वस्तुतः पुनर्जागरण में विज्ञान की विभिन्न विधाओं में अनेक तत्त्व निहित थे, परन्तु जहाँ तक पुरातत्त्व विज्ञान का प्रश्न है, इसका प्रारम्भ पुनर्जागरण काल से ही माना जा सकता है। इटालियन विद्वानों का ध्यान स्वभावतः सर्वप्रथम रोम के प्राचीन स्मारकों की ओर गया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में फ्लेमियो विश्रोडो ने 'रोम रेस्टोर्ड' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उससे भी पहले रियेन्जी ने 'डेस्क्रिप्शन ऑफ दी सिटी ऑफ रोम एण्ड इट्स स्प्लेंडर' नामक पुस्तक लिखी थी, परन्तु पुरातत्त्व विज्ञान की दृष्टि से, फ्लेमियो की पुस्तक अधिक अच्छी थी। इससे इतिहास की एक सर्वथा नवीन विधा का जन्म हुआ जिससे आगे चलकर प्राचीन विश्व-सभ्यता के अनेक अज्ञात ऐतिहासिक सत्यों का उद्घाटन सम्भव हुआ। पुरातत्त्व की ही तरह ऐतिहासिक आलोचना-विधि भी पुनर्जागरण से प्रभावित हुई। पुनर्जागरण-काल की मानसिकता आलोचनात्मक तथा जिज्ञासु थी। लोग किसी भी बात को आँख मूँदकर मान लेने की मध्यकालीन प्रवृत्ति का परित्याग कर उसकी प्रामाणिकता पर अधिक ध्यान देने लगे थे। पेट्रार्क इस नवीन मनोवृत्ति का मूर्त रूप था। उसने प्राचीन लेखकों का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया और केवल उन्हीं लेखकों को सही माना जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध थी। परन्तु गवेषणात्मक-ऐतिहासिक विधि का वास्तविक जन्मदाता लोरेंसियस भाला (1407–1457) था। उसने इतिहास प्रसिद्ध 'डोनेशन ऑफ कन्स्टनटाइन' को भाषा-विज्ञान तथा इतिहास आधार पर अप्रामाणिक सिद्ध किया। उसने लिवी की प्रामाणिकता को भी चुनौती दी और सेनेका तथा सन्त पॉल के बीच के तथाकथित पत्राचार को जाली बतलाया। इस तरह प्रामाणिक सूत्रों पर आधारित आलोचनात्मक इतिहास-लेखन की उस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप प्राचीन तथा मध्यकालीन एशियाई तथा यूरोपीय इतिहासों को प्रामाणिक रूप दिया जा सका। अब सही इतिहास के लेखन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उस प्रकार के लेखकों में फ्लोरेंस के मैकियावेली (1469–1527) और गुईसिआरडिनी (1482–1540) सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। वे अपनी आलोचनात्मक एवं निष्पक्ष प्रवृत्ति के कारण दकियानूसी तथा भोंडे मध्यकालीन इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न थे इसलिए उन्हें सर्वप्रथम आधुनिक इतिहासकार माना गया है।

(6) अन्ततः पुनर्जागरण ने भावी यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। मानववादी आन्दोलन जब आल्पस पर्वतमाला को पार कर उत्तर की ओर बढ़ा तो वहाँ के विद्वान् प्राचीन यूनानी-रोमन साहित्य से भी कहीं अधिक प्राचीन, हिब्रू साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। छापाखानों के खुल जाने के कारण बाइबिल की प्रतियाँ अब मूल हिब्रू तथा ग्रीक के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं में भी सहज उपलब्ध थीं अतः अब बाइबिल का अधिक उत्साहपूर्ण और विश्लेषणात्मक अध्ययन होने लगा। फलस्वरूप, जबकि दक्षिणी यूरोप की मुख्य अभिरुचि प्राचीन साहित्य एवं कला तक ही सीमित रही, उत्तरी यूरोप के गम्भीर आलोचक एवं विद्वान ईसाई धर्म के मूल नैतिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की ओर अधिक आकृष्ट हुए अतः वहाँ का मानववादी, धर्म-सुधारक बन बैठा। इसलिए साइमोंड ने कहा है कि 'धर्म-सुधार आन्दोलन जर्मन पुनर्जागरण था।' मानववादी स्वतन्त्र चिंतन की प्रवृत्ति का धर्मशास्त्रीय एकाधिकार से टकराव होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि आगे चलकर पोपतन्त्र ने इस सम्पूर्ण बौद्धिक आन्दोलन का विरोध किया, जबकि प्रारम्भिक स्थिति में कई पोप इसके प्रबल समर्थक रहे थे। मानववादी धार्मिक क्षेत्र में प्रायः आत्म-निर्भर थे जो धर्म-सुधार काल की व्यक्तिवादी तथा विरोधी

प्रवृत्ति का पूर्वाभास देता था। वस्तुतः मानववाद न केवल मध्यकालीन धर्माधारित व्यवस्था का विरोधी था, बल्कि वह सम्पूर्ण मध्ययुगीन व्यवस्था का ही विरोधी था। इस तरह उत्तरी यूरोप के महान् मानववादी रूशलिन और इरैसमस आदि सोलहवीं शताब्दी के धर्म-सुधार आन्दोलन के वास्तविक अग्रदूत थे।

संक्षेप में, पुनर्जागरण-काल मध्यकालीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय था। इसकी सबसे बड़ी देन थी, प्राचीन अन्धविश्वासों से मानव जाति को मुक्त कर नई चेतना द्वारा उसका विकास करना। पुनर्जागरण के ही फलस्वरूप, यूरोप ने मध्यकालीन बर्बरता का परित्याग कर आधुनिकता के क्षेत्र में पदार्पण किया। प्राचीन परिपाटियों तथा अन्धविश्वासों की जगह अब तर्क एवं स्वतन्त्र चिन्तन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इससे आधुनिक वैज्ञानिक युग की नींव पड़ी और भौतिकवाद का जन्म हुआ। राष्ट्रीय एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का भी प्रारम्भ इसी युग से हुआ। ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर धर्म तथा धार्मिक विचारों को कसा जाने लगा। इसमें यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन की शुरुआत हुई जिसके अनेक व्यापक परिणाम निकले।

14 धर्म-सुधार और प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार

(Reformation and Counter Reformation)

परिचयात्मक : धर्म-सुधार आन्दोलन का स्वरूप
(Introductory . Nature of Reformation Movement)

पुनर्जागरण आन्दोलन के पश्चात् राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को नवीन मार्ग देने का श्रेय धर्म-सुधार आन्दोलन को है। इस महान् आन्दोलन ने शक्तिशाली रोमन चर्च मे परिवर्तन लाने और इस सिद्धान्त को समस्त यूरोप एक ईसाई समाज है जिसका सर्वोच्च प्रधान पोप है, नष्ट करने का महान् कार्य किया। यद्यपि 16वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रो मे नवीन शक्तियो और विचारधाराओ का प्रादुर्भाव हो रहा था किन्तु महान् धर्म-सस्था रोमन चर्च अभी तक इन सब परिवर्तनो से अप्रभावित था।[1] पोप की निरकुशता, आडम्बर, प्रियता और उसके अनाचारो मे किसी प्रकार का अन्तर नही आया था। चर्च का प्रभाव-क्षेत्र अब भी अत्यन्त व्यापक था। जब तक रोमन चर्च मध्यकालीन बना हुआ था तब तक यूरोप का आधुनिकीकरण करना दुष्कर था। यद्यपि सुधारवादी आन्दोलन ने इस कार्य की पूर्ति की दिशा में निर्णायक भूमिका अदा की, तथापि यह मध्यकालीन विचारो और आधुनिकता का सम्मिश्रण था। यह आन्दोलन मैकियावली से बहुत पीछे था। मैकियावली ने धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने का भरसक प्रयत्न किया था जबकि आन्दोलन के मूल प्रवर्तन मार्टिन लूथर (Martin Luther) एवं कॉल्विन (Calvin) ने धर्म तथा राजनीति को घनिष्ठ सम्बन्धो मे जोडकर पुन: मध्यकालीन विचार को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। सेबाइन के अनुसार 'प्रोटेस्टैण्ट रिफोर्मेशन' के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनीतिक चिन्तन का धर्म के साथ और धार्मिक मतभेदो से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जितना मध्य-युग मे कभी नही रहा था।

धर्म-सुधार आन्दोलन किसी एक विषय तक सीमित नही था। यह ऐसा आन्दोलन था जिसने यूरोप की सम्पूर्ण सस्कृति को प्रभावित किया। प्रश्न उठता है कि यह आन्दोलन क्रान्ति था अथवा प्रक्रिया ? एल्टन (Elton) के अनुसार धर्म के क्षेत्र मे यह क्रान्ति थी, किन्तु आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रो मे प्रक्रिया की निरन्तरता। कोहलर (Kohler) के अनुसार यह धर्म के क्षेत्र मे भी एक प्रक्रिया ही थी। यदि ध्यान से देखा जाए तो दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोण मे सही प्रतीत होते है। एल्टन वहाँ तक सही है जहाँ तक वह मानता है कि सुधार-आन्दोलन केवल चर्च की बुराइयो के प्रति विद्रोह न था अपितु इसने धर्म को एक नया दर्शन दिया। जहाँ तक बुराइयो के विद्रोह का सम्बन्ध है उसका आरम्भ पहले ही हो चुका था पर ईसाई धर्म-दर्शन पर पुनर्विचार नही हुआ था। यह धर्म-

1 *Adams* : Civilisation During the Middle Ages, p. 406

सुधार आन्दोलन द्वारा सर्वप्रथम हुआ। ईश्वर का सिद्धान्त मानव की आवश्यकताओं के अधीन हो गया था, किन्तु लूथर ने इसे पृथक् किया। उसने कहा कि ईश्वर विश्वधर्म का केन्द्र है। यही से मानव-आवश्यकताएँ ईश्वर की कल्पना के चारों ओर घूमने लगती हैं। एक्टन के अनुसार धर्म-सुधार के बाह्य और आन्तरिक पक्ष थे। बाह्य पक्ष का सम्बन्ध चर्च की बुराइयों से था जिसके प्रति विद्रोह का श्रीगणेश मध्ययुग में ही हो गया था। चर्च के सगठन मे सुधार करने, चर्च में पोप की निरपेक्ष शक्ति के दावे को ठुकराने और चर्च के अधिकार के लिए एक व्यापकतर आधार की माँग करने की सीमाओं मे यह परिषदीय आन्दोलन (Conciliar Movement) की ही प्रत्यावृत्ति कहा जा सकता था।[1] यदि परिषदीय आन्दोलन सफल हो जाता तो सम्भवत धर्म-सुधार आन्दोलन का जन्म ही नहीं होता। परिषदीय आन्दोलन के विफल होने पर भी उसकी प्रेरक शक्ति सजीव थी जिसने धर्म-सुधार आन्दोलन के रूप में अपना विस्फोट किया। आन्तरिक पक्ष मे सर्वप्रथम धर्म-सुधार के बाद ईसाईदर्शन पर पुनर्विचार किया गया। ईश्वर को मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन माना गया जबकि पहले व्यक्ति की आवश्यकताओं को केन्द्र माना जाता था जिसके चारों ओर ईश्वर की कल्पना घूमती थी। इस तरह एक्टन ने इस आन्दोलन को धार्मिक क्षेत्र मे क्रान्ति का रूप प्रदान किया। कोहलर का कहना कि यह आन्दोलन धर्म के क्षेत्र मे भी एक प्रक्रिया ही था, एक सीमा मे सही है। कोहलर ने केवल धर्म-सुधार के सस्थागत पहलू की बात की है। उसके अनुसार आन्दोलन ने उस सिद्धान्त पर आक्रमण किया जो यह कहता था कि रोम का पोप चर्च का सर्वोच्च अध्यक्ष होना चाहिए और चर्च का सगठन पदसोपान अर्थात् शिखरोन्मुखी आधार पर होना चाहिए। उसके विरोध मे पहले ही आवाजें उठने लगी थीं। राष्ट्रीय स्वायत्त चर्च का विचार उत्तर मध्ययुग मे शुरू हो चुका था जो पद-सोपान सगठन के विरुद्ध था। अत. धर्म-प्रचार ने उस प्रक्रिया को ही आगे बढाया जो उत्तर मध्ययुग में शुरू हो गई थी।

इस आन्दोलन का प्रवर्तक जर्मन भिक्षु मार्टिन लूथर (1483-1546 ई) था। उसने 31 अक्टूबर, 1517 ई को सैक्सनी राज्य के विटेनबर्ग नगर के चर्च के आँगन के दरवाजे पर तत्कालीन ईसाईयत और पोप के सिद्धान्तों से मतभेद व्यक्त करने वाले अपने 95 मन्तव्य (Theses) कील से टाँगकर प्रोटेस्टैण्ट धर्म-सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया। लूथर को अन्य सभी पूर्ववर्ती सुधार आन्दोलनो की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई। इस सफलता मे अनेक राजनीतिक एव धार्मिक कारणो ने योग दिया। सबसे प्रमुख कारण यह था कि उत्तरी जर्मनी के विभिन्न राजाओ ने उसे सहयोग और जनता ने समर्थन प्रदान किया। जर्मन राजा जर्मनी में रोमन चर्च की विशाल सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे और ऐसा तभी हो सकता था जब वे पोप का सफल प्रतिरोध कर पाते। वे यह भी चाहते थे कि उनके अपने देश से चर्च के विभिन्न प्रकार के करो द्वारा रोम को जाने वाला विशाल धन-प्रवाह रुक जाए। जनता भी इन विभिन्न कर-भारो एव चर्च के भ्रष्टाचारो से ऊब चुकी थी। उसमे यह भावना घर करने लगी थी कि उनके कठोर श्रम से उपार्जित धन का इटली वालों के भोग-विलास पर अपव्यय किया जाता है। इस भावना से धर्म-सुधार आन्दोलन को राष्ट्रीय रूप मिल गया। मार्टिन लूथर की इस अपील ने जनता के मन-मानस पर बडा प्रभाव डाला कि—"इस धरती पर अब तक हुए और भविष्य मे होने वाले चोरो और लुटेरो मे रोम सबसे बडा है। हम गरीब जर्मनो को ठगा जा रहा है। हमारा जन्म शासक बनने के लिए हुआ था किन्तु हमे अत्याचारियो के जुए के नीचे अपना सिर झुकाने को बाध्य किया जा रहा है। अब वह समय आ गया है, कि स्वाभिमानी ट्यूटोनिक (जर्मन) जाति रोम के पोप की कठपुतली बने रहना बन्द करदे।"[2]

स्पष्ट है कि आरम्भ और उद्देश्य के दृष्टिकोण से सुधारवादी आन्दोलन धार्मिक होने पर भी घटना-चक्रवश ट्यूटोनिक तथा लेटिन जातियो का राजनीतिक सघर्ष भी बन गया जिसने एक तरफ

1 *Harmon* : Political Thought from Plato to the Present p 174.
2 *H. S. Bettenson* Documents of the Christian Church, p 277—78

दो जटिल राजनीतिक प्रश्न उपस्थित कर दिए और दूसरी तरफ इन प्रश्नों पर राजनीतिक चिन्तन में सहयोग प्रदान किया। मैक्सी (Maxey) के शब्दों में, "यह विद्रोह वास्तव में धार्मिक एवं राजनीतिक था।"[1]

सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेता और उनके राजनीतिक विचार
(Prominent Leaders of the Movement and their Political Ideas)

मार्टिन लूथर (Martin Luther, 1483–1546)

इस महान आन्दोलन के प्रवर्तक मार्टिन लूथर का जन्म ट्यूटोनिक जाति के एक कृषक परिवार में 1483 ई. में हुआ था और 1546 ई. में उसका देहावसान हो गया। मैकियावली से केवल 14 वर्ष छोटे होने के कारण वह उसका लगभग समकालीन था अतः यह अस्वाभाविक नहीं था कि उस पर भी पुनर्जागरण का कुछ प्रभाव पड़ा हो। अपनी भावना और पद्धति में वह मानववादी था, अतः इस दृष्टि से पुनर्जागरण का शिशु था, किन्तु अपने धार्मिक विद्रोह में वह इससे सर्वथा अप्रभावित था। यह कहना ही अधिक उपयुक्त है कि पुनर्जागरण (Renaissance) का वह दत्तक शिशु था क्योंकि "स्वभावतः वह उसकी (पुनर्जागरण की) भावना का उत्तराधिकारी नहीं था और न ही उसकी समस्त प्रवृत्तियों का। वह उसकी पद्धतियों और सिद्धान्तों को केवल इसीलिए स्वीकार करता था, क्योंकि वे उसके लिए आवश्यक थे।"[1] उसके द्वारा प्रारम्भ किए गए धर्म-सुधार आन्दोलन के मूल में पुनर्जागरण की भावना नहीं थी।

लूथर प्रारम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। 1507 ई. में एक पादरी के रूप में प्रतिष्ठित होकर वह विटेनबर्ग के विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुआ। 1510-11 ई. के बीच उसने रोम की धार्मिक यात्राएँ कीं। अपनी रोम-यात्रा में पोप की अनैतिकता और धर्माधिकारियों की धन-लोलुपता ने उसके हृदय में चर्च-सुधार की तीव्र इच्छा जगा दी। उस समय तक उसके मन में सम्भवतः ऐसा कोई विचार न था कि उसे चर्च से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए अन्यथा कोई बड़ा ही क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहिए किन्तु शीघ्र ही एक और घटना ने उसके धार्मिक हृदय को गम्भीर आघात पहुँचाया। टेटजेल (Tetzel) नामक एक पादरी ने विटेनबर्ग में पाप-विमोचन के लिए क्षमा-पत्र (Indulgences) नामक एक अत्यन्त ही निकृष्ट सिद्धान्त का प्रचार आरम्भ किया, जिसके अनुसार कोई भी पापी चर्च को कुछ धन देकर अपने पापों का शमन करा सकता था और मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बन सकता था। अब लूथर चुप न रह सका। इन उपदेशों के विरोध और अपने धार्मिक सुधारों के पक्ष में उसने विटेनबर्ग में चर्च के द्वार पर 95 क्रान्तिकारी प्रस्ताव अथवा मन्तव्य (Theses) लिख कर चिपकाए जिनमें चर्च की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए कहा गया कि कर्मकाण्ड के पालन से मोक्ष नहीं मिल सकती। इस पर पोप के अधिकारियों के साथ उसका कटु वाद-विवाद हुआ और उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया। इस प्रकार लूथर के सुधारवादी आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। यह घटना 1516–17 ई. के आसपास घटी।

मार्टिन लूथर के राजनीतिक विचार (Political Beliefs of Martin Luther)—मार्टिन लूथर का कोई संगतिबद्ध राजनीतिक दर्शन नहीं है और जो कुछ भी है, वह एक विलक्षण विरोधाभास है।

लूथर ने पोप के विरुद्ध जर्मन की राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करते हुए स्पष्ट किया कि पोप ने अवैध रूप से शक्ति अपने हाथों में सचित कर रखी है लौकिक मामलों में पोप का हस्तक्षेप

1. "The great revolt was almost much a political as a religious rebellion"
—*Maxey* : Political Philosophies, p. 154.

2. *Adams* : Civilisation During the Middle Ages, p. 406.

अनुचित है। पोप का रोम के चर्च से बाहर के प्रदेशो पर कोई अधिकार नही है और जर्मनी में तथा अन्य देशो मे चर्च की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार वहाँ के शासको का है। पोप तथा अन्य पादरी केवल चर्च के अधिकारी हैं और लौकिक शासको के लिए उनमे तथा अन्य नागरिको मे कोई भेद नहीं है। उसने धार्मिक कानून (Canon Law) को साँसारिक सत्ता, शक्ति और सम्पत्ति हस्तगत करने का धर्मशास्त्र विरोधी साधन बतलाया।

सेबाइन महोदय के अनुसार, "चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध मे लूथर के विचारो की परम्परा चौदहवी शताब्दी से चली आ रही थी। उसने रोमन चर्च के ऊपर जो आरोप लगाए थे—रोम के दरबार के विलास-प्रिय और अनाचारी जीवन, जर्मनी के मठो आदि से प्राप्त होने वाली आय का रोम के कोष मे चला जाना, जर्मनी के चर्चों मे उच्च पदो पर विदेशी धर्माचार्यों की नियुक्तियो, पोप के न्यायाधीशो का भ्रष्टाचार और उसके द्वारा पापमोचन सम्बन्धी प्रमाण-पत्रो की बिक्री—ये सब पुरानी शिकायतो से सम्बन्ध रखते थे।" लूथर के तर्क का आधार यह सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त को कसीलियर वाद-विवाद ने प्रस्तुत किया था कि "चर्च पृथ्वी के समस्त ईसाई मतावलम्बियो की सभा है।" पादरियों के विशेषाधिकारो तथा विमुक्तियो की आलोचना करते समय उसने पोप-विरोधी तर्कों का ही प्रयोग किया था। उसका कहना था, "पद सम्बन्धी अन्तर केवल प्रशासनिक सुविधा के कारण है, समुदाय के प्रति सभी वर्गों के मनुष्यों के कर्त्तव्य है चाहे वे जन-साधारण हो या पादरी। इसलिए कोई कारण नहीं है कि लौकिक मामलो मे जन-साधारण की भाँति पादरी वर्ग भी उत्तरदायी न हो।"

अपने स्वभाव और अन्त करण की स्वतन्त्रता मे अपने दृढ विश्वास के कारण धार्मिक विषयों मे लूथर विवशकारी शक्ति (Coercive Force) मे विश्वास नही करता था। धार्मिक मामलो मे बल-प्रयोग के प्रति उसने लिखा था, "विधर्मिता को बल द्वारा दूर नही किया जा सकता। उसके लिए एक अन्य साधन की आवश्यकता है और वह साधन तलवार तथा संघर्ष के साधन से भिन्न है यहाँ ईश्वर के वचन को लडना चाहिए। यदि उससे कोई फल नही निकलता तो लौकिक शक्ति इस मामले को कभी नही सुलझा सकती। हाँ, वह दुनिया को खून से भर सकती है।" लूथर का विश्वास था कि धर्म का वास्तविक तत्व आभ्यान्तारिक अनुभव मे है जो रहस्यात्मक और अवर्णनीय है। उसके बाहरी रूप और पादरी वर्ग के विधि-निषेध इस उद्देश्य की प्राप्ति मे या तो सहायक होते है या बाधक। बल-प्रयोग किसी भी दशा मे धर्म की अभिवृद्धि मे सहायक नही हो सकता।

यद्यपि लूथर धार्मिक बल-प्रयोग के विरुद्ध था लेकिन वह यह नही समझ सका कि धर्म, धार्मिक अनुशासन और सत्ता के बिना किस प्रकार काम चला सकता है। "संकोचपूर्वक लेकिन विश्वास-पूर्वक वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विधर्मिता का और विषमतायुक्त शिक्षा का दमन होना चाहिए। इस स्थिति मे, अपनी प्रवृत्ति के बावजूद, उसने बल-प्रयोग को आवश्यक समझा। चूँकि चर्च अपनी दुर्बलताओ को खुद ठीक नही कर सकता था, अतः उन दुर्बलताओ को ठीक करने का उत्तरदायित्व लौकिक शासको पर आ गया। अत उससे अच्छा और एकमात्र अवशिष्ठ उपाय यह रह गया कि राजा, शासक, कुलीन, नगर और समुदाय धर्म-सुधार आरम्भ कर दें। जब-जब वे ऐसा करेंगे तो बिशप और पादरी जो इस समय डरते है, विवेक का अनुसरण करने के लिए विवश हो जाएँगे। लूथर का अब भी इस प्राचीन धारणा मे विश्वास था कि यह संकट का सामना करने के लिए एक अस्थाई पद्धति है। उसने कहा कि राजा और शासक 'आवश्यकतावश बिशप' है लेकिन उसके रोम से सम्बन्ध-विच्छेद का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि लौकिक शासक अपने-आप ही सुधार का साधन बन गया और वही यह निर्णय करने लगा कि सुधार क्या किया जाए।"[1]

1 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड I, पृष्ठ 327–28

धर्म सुधार की सफलता के लिए शासकों पर निर्भर हो जाने से लूथर के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इस सिद्धान्त पर बल दे कि प्रजा को विनम्रतापूर्वक अपने शासकों की आज्ञा माननी चाहिए। उसके शासको को देवता स्वरूप और सामान्य मनुष्य को 'शैतान' मानते हुए कहा—"इस प्रकार के शासक देवता हैं और सामान्य मनुष्य शैतान हैं। सामान्य मनुष्यो के माध्यम से ईश्वर कभी-कभी ऐसे कार्य करता है जो वह सीधे शैतान के माध्यम से करता है। उदाहरण के लिए वह मनुष्य के पापो के दण्ड के तौर पर विद्रोह करवाता है।" लूथर ने कहा—"मैं जनता के न्यायपूर्ण कार्य की तुलना मे शासक के अन्यायपूर्ण कार्य को सहन कर लूँ।" निष्क्रिय आज्ञापालन (Passive Obedience) का प्रबल समर्थन करते हुए उसने घोषित किया—"अपने से ऊँचे लोगो की आज्ञा का पालन करना और उनकी सेवा करना, इससे अच्छा और कोई नही है। इसलिए अवज्ञा, हत्या, अपवित्रता, चोरी और बेईमानी, इन सबसे बड़े पाप हैं।"

लूथर ने एक ओर तो आरम्भ मे यह शिक्षा दी कि पादरियो अथवा धर्माधिकारियो के दुराचारो को रोककर उनका सुधार करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है किन्तु जर्मनी के कृषकों द्वारा सामाजिक न्याय के नाम पर अपने शासको के विरुद्ध विद्रोह करने पर शासको का पक्ष लेते हुए लूथर ने सामन्तो को सलाह दी कि वे विद्रोह को दबाने के लिए निर्दयतापूर्वक विद्रोहियो की हत्या कर दे। राजाओ के अधिकार का समर्थन करते हुए उसने घोषणा की—"इन परिस्थितियो में हमारे राजाओं को समझना चाहिए कि वे भगवान के प्रकोप को क्रियान्वित करने वाले अधिकारी है। दैवी प्रकोप ऐसे दुष्टों को दण्ड देने की आज्ञा देता है। इन परिस्थितियो मे जो राजा रक्तपात से बचना चाहेगा, वह उन सब हत्याओ और अपराधो के लिए उत्तरदायी होगा, जो ये मूअर (विद्रोही किसान) कर रहे है। उन्हे बन्दूक के बल पर अपने कर्त्तव्य समझाए जाने चाहिए।"[1]

पुनश्च, जहाँ लूथर ने एक ओर तो व्यक्तियों के लिए सविनय आज्ञापालन का सिद्धान्त रखा और राजाओ के प्रति सक्रिय विरोध की निन्दा की वहाँ दूसरी ओर सम्राट के अधीन राजागण द्वारा सम्राट की अवहेलना करने के विचार का पोषण किया, यदि वह (सम्राट) अपनी शक्ति का उल्लघन करे। वास्तव मे लूथर का यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण था। एक विचार का एक स्थान पर समर्थन करके दूसरे स्थान पर उसने उसी विचार का खण्डन कर दिया था। इसी तरह उसने पोप और सम्राट दोनो की सत्ता का विरोध करते हुए राजाओ की सत्ता का समर्थन किया। इस सगतिहीन एव विरोधी दृष्टिकोण का एक बडा कारण यही था कि लूथर सम्राट की शक्ति कम करने का सर्वोत्तम उपाय यह मानता था कि राजाओ को अपने पक्ष मे कर लिया जाए। साथ ही राजाओं को अपने पक्ष मे करके ही वह पोप को प्रभावहीन बना सकता था। सेबाइन के अनुसार—"शासकों के ऊपर सम्राट की वास्तविक शक्ति केवल नाममात्र की थी। इसलिए, इस असगति का व्यवहार मे कोई विशेष महत्त्व न था। सब मिलाकर लूथर निश्चित रूप से इस सिद्धान्त का समर्थक था कि शासन-सत्ता का विरोध करना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।"[2]

लूथर के विचारो मे विरोधाभास इस बात मे भी है कि इस तरफ से उसने शासको को 'देवता' कहा और दूसरे स्थान पर उन्हें साधारणत. धरती पर सबसे बड़ा मूर्ख और निकृष्टतम धूर्त कहा। तब ऐसे मूर्खों और धूर्तों की आज्ञापालन के सर्वसाधारण के अशर्त कर्त्तव्य पर बल देना कहाँ तक युक्ति-सगत था? आगे उसने कहा कि यदि कोई राजा व्यक्ति से अपना धर्म-त्याग करने को कहे तो व्यक्ति को राजाज्ञा ठुकरा देनी चाहिए और सहर्ष दण्ड भुगत लेना चाहिए। इन सबका अर्थ यही निकलता है कि लूथर की विचारधारा मे 'राज्य के प्रति भक्ति ईश्वर के प्रति निष्ठा से सीमित' थी।

1 *Bowle* Western Political Thought, p. 275
2 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 329.

अन्त में यह कहना होगा कि लूथर के सभी सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियो के परिणाम थे। राजाओ ने वैयक्तिक स्वार्थवश लूथर का समर्थन किया और उसे सरक्षण दिया, अत लूथर ने उन्हें पोप एवं सम्राट से स्वतन्त्र बतलाते हुए उनके दैवी अधिकारो का पोषण किया। पादरीगण के साधारण नागरिक होने और इसलिए राजकीय कानूनो और न्यायालयो के अधीन होने के विचार ने 16वी शताब्दी मे राजतन्त्र को बडा सहारा दिया। आधुनिक यूरोपीय विचार मे लूथर उदारवाद का प्रवर्तक नही, बल्कि राज्यवाद (Statism) का सदेशवाहक सिद्ध हुआ। मैकगवर्न ने लूथर के विचारो पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है "लूथर ने चर्च मे सुधार करने के तर्क से आरम्भ किया और अन्त किया राज्य-सुधार के पक्ष मे। उसने आरम्भ तो किया वैयक्तिक स्वतन्त्रता और आत्मा की स्वतन्त्रता के पक्ष को लेकर किन्तु अन्त मे उसके सिद्धान्तो ने प्रतिपादित यही किया कि राजाओ को दैवी अधिकार प्राप्त है तथा उन्हें व्यक्तियो के बीच धार्मिक सिद्धान्तो के प्रचार का भी पूरा अधिकार है। लूथर ने आरम्भ तो किया अन्तर्राष्ट्रीयतावादी की भाँति सभी राष्ट्रो की जनता के लिए एक सन्देश के साथ किन्तु अन्त किया एक ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के साथ जो सदैव के लिए उन्हें एक-दूसरे का विरोधी बना देता है। उसने आरम्भ किया इस विचार से कि मानव जाति मे मौलिक रूप से समानता है किन्तु उपसहार किया इसी विचार से कि सभी लोगों को आँख मूँदकर अपने राज्याधिकारियो की निरकुश इच्छा के अधीन रहना चाहिए।"[1]

लूथर की रचनाएँ—मार्टिन लूथर ने अधिकांशत. अपनी लेखनी धार्मिक साहित्य-निर्माण में ही चलाई किन्तु इन्ही ग्रन्थो मे अपने राजनीतिक विचारो का भी स्पष्टीकरण किया। राजनीतिक विचारो की दृष्टि से उसके ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

(1) 'टेबिल टॉक' (Table Talk),
(2) 'लेटर टू दी जर्मन नोबिलिटी' (Letter to the German Nobility)
(3) 'ऑफ सेक्यूलर ऑथोरिटी, (Of Secular Authority)
(4) 'लिबर्टी ऑफ ए क्रिश्चियन मैन' (Liberty of a Christian Man)

मेलाँकथाँ (Melanchthon, 1497–1560)

मार्टिन लूथर का शिष्य द्वितीय फिलिप मेलाँकथाँ (1497–1560) सैक्नी की दृष्टि मे सुधारवादी क्रान्ति का वास्तविक दार्शनिक था क्योंकि वह लूथर की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी, विनम्र, मानवतावादी और समन्वयवादी था। उसने सुधारवादी क्रान्ति का सैद्धान्तिक दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की और इसीलिए अपने विचारो को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया, लेकिन क्रान्ति में भाग लेने के फलस्वरूप उसे लूथर के समान ही विकट परिस्थितियो का सामना करना पडा और फलस्वरूप उसके विचारो मे भी आत्म-विरोध और असंगतियाँ प्रवेश कर गई।

मेलाँकथाँ ने राजनीतिक और नैतिक विचारो की अभिव्यक्ति उसकी कृति 'ओपेरा' (Opera) मे हुई है। मेलाँकथाँ ने अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकार को बनाया तथा यह मान्यता प्रकट की कि विश्व मे कोई एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था अवश्य है जो प्राणिमात्र के जीवन को सचालित करती है। मेलाँकथाँ ने प्राकृतिक विधि के दो स्रोत माने—प्रथम, बाइबिल मे और द्वितीय, प्रत्यक्ष प्रकृति मे। उसने कहा कि बाइबिल के Decalogue मे दिए गए प्रथम ईश्वरीय आदेश और अन्तिम छः ईश्वरीय आदेश प्राकृतिक विधियो तथा प्राकृतिक अधिकारों के स्वरूप और प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं। इन ईश्वरीय आदेशो मे इस बात का विवेचन मिलता है कि मनुष्य का ईश्वर के प्रति और अपने साथियो के प्रति क्या कर्त्तव्य है। मेलाँकथाँ के अनुसार बाइबिल के

1 *Mc Govern*: Form Luther to Hitler, p 31.

Decalogue से निर्णीत किए गए, अथवा प्रकृति के निरीक्षण से तार्किक विवेक द्वारा मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे निरूपित किए गए सभी मानवीय सम्बन्ध वास्तव मे प्राकृतिक अधिकार है ।[1]

मेलाँकथाँ ने ईश्वर की इच्छा को राजसत्ता का आधार माना और कहा कि तर्कों द्वारा भी उसे प्राकृतिक सिद्ध किया जा सकता है । मेलाँकथाँ ने राजसत्ता का मुख्य कर्तव्य यह माना कि वह मानव स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करे, शान्ति की व्यवस्था करे, अपराधियों को दण्ड दे और लोगो मे धार्मिकता तथा नैतिकता का सरक्षण और विकास करे ।

स्वतन्त्रता और सम्पत्ति दोनो को मेलाँकथाँ ने प्राकृतिक माना और इसके पक्ष मे बाइबिल के (Decalogue) के उस कथन का हवाला दिया जिसमे सम्पत्ति के लिए कहा गया है कि उसका अपहरण नही किया जाएगा पर मेलाँकथाँ ने साथ ही यह भी कहा कि यदि इस दैव प्रदत्त सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जाए तो राजसत्ता को उसे छीन लेना चाहिए । वास्तव मे मेलाँकथाँ यह चाहता था कि कैथोलिक मठों और रोमन चर्च की सम्पत्ति का दुरुपयोग न होने पाए, उस पर समुचित नियन्त्रण के लिए राजसत्ता का हस्तक्षेप बना रहे ।

धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच सम्बन्ध पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मेलाँकथाँ ने कहा कि "राज्य का कार्य केवल पेट-पूजा की व्यवस्था ही नही है वरन् आत्मा का कल्याण भी है ।" आत्मिक कल्याण के लिए राज्य द्वारा उन बाह्य व्यवस्थाओ का निर्माण किया जाना चाहिए जिनमें व्यक्ति का आन्तरिक विकास हो सके । मेलाँकथाँ ने कहा कि आत्मिक और भौतिक कार्यो के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खीची जा सकती कि दोनो एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र रहे *तथा* एक के बिना दूसरे का काम चल सके । दोनो में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस सत्य को स्वीकार किया जाना चाहिए । राज्य के कार्य ऊपर से देखने पर भले ही भौतिक लगे पर अन्तिम रूप से उसका मूल उद्देश्य भी आध्यात्मिक ही है । धर्मसत्ता का प्रमुख कार्य ईश्वरीय उपदेशो को लोगो तक पहुँचाना और ईश्वर की महानता मे लोगो का विश्वास बनाए रखना है लेकिन इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भौतिक साधनो की उपेक्षा नही की जा सकती ।

ज्विंगली (Zwingli, 1484–1531)

अलरिच ज्विंगली (1484–1531) लूथर का समकालीन और सुधारवादी क्रान्ति का एक मुख्य प्रवर्त्तक था जिसने स्विट्जरलैण्ड मे क्रान्ति की आग जलाई । ज्विंगली का प्रोटेस्टेन्ट धर्म लूथर के प्रोटेस्टेन्ट धर्म की अपेक्षा अधिक उग्र और क्रान्तिकारी था । ज्विंगली ने प्रत्येक सघ की धार्मिक स्वतन्त्रता और सभी धर्मो की राजनीतिक स्वतन्त्रता मे विश्वास प्रकट किया । इटली मे पोप के विलासी जीवन को देखकर ज्विंगली का मन क्षुब्ध हो उठा और उसने पोप की शक्ति को नीचा दिखाने का सकल्प ले लिया । उसे यह उचित लगा कि पोप के ऊपर राजदण्ड का अधिकार रहे ताकि धार्मिक आदर्शों का विनाश न हो सके । स्विट्जरलैण्ड के इस धर्म-सुधारक ने 1519 ई मे क्षमा-पत्रो के विक्रेताओ को ज्यूरिच से निकाल दिया, पोप द्वारा स्विस नवयुवको को सेना मे भर्ती करने का विरोध किया और 1529 ई. मे पोप के विरुद्ध अपने प्रसिद्ध '67 थीसिस' के प्रश्न दिए । ज्विंगली ने पोप की बुराइयो को प्रकट किया और पोप, पादरी, मठ आदि का अन्त करने का सिद्धान्त रखा । लूथर के साथ उसके मतभेद सुलझ नही सके । 1531 ई से स्विटजरलैण्ड की कैथोलिक केण्टनो की लीग और प्रोटेस्टेन्टो की लीग मे युद्ध हुआ जिसमें प्रोटेस्टेन्टो की पराजय हुई और ज्विंगली युद्ध मे मारा गया ।

ज्विंगली ने लूथर के विपरीत धर्म का सुधार तलवार के बल पर करने में निष्ठा व्यक्त की और अपने विचारो को कार्यान्वित भी किया । पर सिद्धान्त और साधन मे ही मतभेद था, उद्देश्य मे नही और इसलिए परिणाम की दृष्टि से लूथर तथा ज्विंगली दोनो ही सुधारवादी क्रान्ति या आंदोलन के दो अग थे । लूथर की भाँति ही ज्विंगली ने चर्च को एक अदृश्य और पूर्णत आन्तरिक संस्था माना

1 *Dunning :* op. cit., Vol. II, p 17.

और कहा कि इस आन्तरिक धर्म के लिए अपनाई जाने वाली पूजा तथा उपासना प्रणालियाँ बाह्य हैं, अतः उनका राज्याधिकार के अन्तर्गत होना उचित है। दूसरे शब्दों में ज्विंगली ने धार्मिक क्षेत्र में उन सभी बातों पर राज्य का क्षेत्राधिकार माना जिन्हें आँखों से देखा जा सकता था और जो वाह्य रूप से औपचारिक थे। ज्विंगली ने कहा कि धार्मिक संगठन और अनुशासन भी आन्तरिक से होकर वाह्य वस्तुएँ हैं अतः इन पर राज्य का क्षेत्राधिकार होना चाहिए। ज्विंगली के इन विचारों पर टिप्पणी करते हुए डनिंग ने कहा कि "उसकी व्यवस्था ने राज्य और धर्म को एक ही संगठन में बाँध दिया।"

राज्यसत्ता की निरंकुशता पर नजर से ध्यान रखते हुए जूनियर ने भी निष्क्रिय आज्ञापालन की नीति का समर्थन किया कि जब तक राजाज्ञा धर्म विरुद्ध न हो तब तक जनता को उसका प्रतिकार करने या उसकी अवज्ञा करने का अधिकार नहीं है। यदि राजाज्ञा धर्म-विरुद्ध नहीं है तो उसका हर मूल्य में पालन किया जाना चाहिए, चाहे उस आज्ञा से प्रजा को पीड़ित ही होना पड़े। ज्विंगली ने यह भी कहा कि चर्च की धार्मिक सम्पत्ति बाह्य वस्तु है अतः उस पर राज्य सत्ता का नियन्त्रण अपेक्षित है। वास्तव में ज्विंगली राष्ट्रीयता का पोषक था और स्विट्ज़रलैण्ड की धार्मिक अवस्था पर उसका ध्यान अन्त तक केन्द्रित रहा। उसका यह विश्वास था कि राज्य की शक्ति के सहारे ही धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी विचारों का प्रसार सम्भव है।

कालविन (Calvin, 1509–1564)

जॉन काल्विन लूथर के समान ही जबरदस्त धर्म-प्रचारक था। धर्म-सुधार राजनीतिक विचारों को क्रमबद्ध रूप से रखने और उनका अधिक गतिशील विवेचन करने का श्रेय काल्विन को ही दिया जाता है और इसीलिए कभी-कभी उसको सुधार आन्दोलन का 'सिद्धान्तवेत्ता' (Law-giver) भी कह देते हैं। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन (Institutes of Christian Religion) में उसके द्वारा प्रोटेस्टेन्ट धर्म का एक तर्कपूर्ण, क्रमबद्ध एवं व्यापक विवेचन मिलता है।

फ्रांस के पिकार्डी नामक नगर में सन् 1509 ई. में उत्पन्न हुए कानून के पण्डित काल्विन का प्रारम्भ से ही धर्म और राजनीति-शास्त्र की ओर झुकाव था। समकालीन व्यवस्थाओं के अध्ययन से उसको दृढ़ विश्वास हो गया कि धर्म-सत्ता और राज-सत्ता में गम्भीर सुधार की आवश्यकता है। अतः उसने अपने विचारों का प्रचार शुरू कर दिया जिनके प्रभाव और उपयोगिता के कारण वह सुधारवादी आन्दोलन के एक महानतम विचारक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। 1533 ई. के लगभग प्रोटेस्टेन्टवाद में परिवर्तन हो जाने के बाद उसे कैथोलिक प्रधान फ्रांस से भाग कर स्विट्ज़रलैण्ड में शरण लेनी पड़ी। यहाँ बेसिल (Basel) में उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इन्स्टीट्यूट ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन' लिखी। जेनेवा (स्विट्ज़रलैण्ड) में वह लगभग 3 वर्ष तक ठहरा और प्रोटेस्टेन्टों के संगठन में सहायता देता रहा। किन्तु अपने कठोर व्यवहार और नियमों के कारण उसे जनता का कोपभाजन बन कर जेनेवा से चले जाना पड़ा, पर शीघ्र ही उसे वापस बुला लिया गया। उसकी अनुपस्थिति में जेनेवा वासियों ने महसूस किया कि उसके बिना उनका काम नहीं चल सकता था। काल्विन एक अत्यन्त ही कुशल प्रशासक था और जेनेवा गणराज्य को उस जैसे व्यक्ति की आवश्यकता थी। वहाँ उसे अपने विचारों के अनुसार धर्म प्रधान शासन स्थापित करने में सफलता मिली। उसकी लोकप्रियता और शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। 1564 ई. में अपनी मृत्यु तक वह इस नगर का धार्मिक और राजनीतिक तानाशाह बना रहा।

काल्विन के राजनैतिक विचार (Political Beliefs of Calvin)—'इन्स्टीट्यूट ऑफ दी क्रिश्चियन रिलिजन' लिखने में काल्विन के विशिष्ट उद्देश्य थे। प्रथम, वह बाइबिल के उपदेशों के अनुसार उत्तम ईसाई जीवन व्यतीत करने के बारे में व्यवस्थित ढंग से आवश्यक व्यवस्थाओं, एवं कुछ

मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना चाहता था। वह प्रोटेस्टन्टो के लिए ऐसी शक्ति चाहता था जो उनके लिए उसी तरह का काम करे जैसे रोमन चर्च कैथोलिकों के लिए करता था। दूसरे, काल्विन फ्रांस के प्रोटेस्टेन्टो पर 1535 ई से प्रकाशित हुए उस आक्रमण का मुँहतोड़ उत्तर देना चाहता था जिसमे उन्हे जर्मन नास्तिको के बराबर ठहराया गया था और जनता का शत्रु कहा गया था।

काल्विन ने बतलाया कि ईश्वर की निरपेक्ष सम्प्रभुता सम्पूर्ण विश्व मे विद्यमान है। यह सम्पूर्ण विश्व विराट ईश्वरीय नियति के चक्र मे बँधा हुआ है और समस्त घटनाएँ ईश्वरीय सकल्प का परिणाम है। सामाजिक और राजनीतिक सस्थाएँ, उदाहरणार्थ परिवार, सम्पत्ति, चर्च और राज्य भी ईश्वरीय इच्छा का ही एक अर्थ मे प्रतिनिधित्व करती है। चर्च और राज्य मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य स्थापित करे, यही कल्याणकारी कार्य है।

काल्विन के धर्म का मूलमन्त्र था—मनुष्य ईश्वर का चुना हुआ उपकरण है। मनुष्य की इच्छा को फौलादी और उसके हृदय को कठोर बनाने के लिए इससे अच्छा और कोई सिद्धान्त नही हो सकता था। काल्विन के इस नियतिवाद के सिद्धान्त का सार्वभौम दुर्घटना की वर्तमान सकल्पना के कोई सम्बन्ध न था। उसने ससार और मनुष्य के ऊपर ईश्वर की प्रभुसत्ता का भरपूर बखान किया था।

काल्विन ने स्विम विचारस ज्विगली (Zwingli) के इस विचार का खण्डन किया कि धर्म तथा राज्य का एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकरण किया जाए। ज्विगली ने चर्च और राज्य को अभिन्न मानते हुए कहा था कि समाज को अपने राजनीतिक और धार्मिक विषयो के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। इसके विपरीत काल्विन का विचार था कि चर्च और राज्य दोनो ईश्वर द्वारा सर्वथा पृथक् प्रयोजनो की पूर्ति के लिए बनाए गए है अतः उन्हे स्वतन्त्र एव पृथक् ही बनाए रखना चाहिए। उसने कहा कि ईश्वर ने मूसा (Moses) को जो कानून प्रदान किए थे, उसके दो भाग है। पहले भाग मे वे नियम है जो ईश्वर के प्रति मनुष्य के आचरण को निर्धारित करते हैं दूसरे भाग मे वे नियम हैं जिनके द्वारा यह निश्चय होता है कि मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए। इन दोनो बातो को लागू करने के लिए ही ईश्वर ने दो अलग-अलग शक्तियो को प्रतिष्ठित किया है। पहली शक्ति के अधिकारी पादरीगण और दूसरी के राजागण है। पादरियो का अपना एक चर्च है जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक है। उसे अपने को केवल धार्मिक विषयो तक ही सीमित रखते हुए, लौकिक मामलो मे कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए।

काल्विन ने चर्च और राज्य की पृथकता स्वीकार करते हुए भी यह माना कि दोनो स्वभाव से एक-दूसरे से सम्बद्ध है। दोनो की स्थापना ईश्वरीय कानून की पूर्ति के लिए हुई है। दोनो सस्थाएँ ईश्वरीय इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती है, अतः दोनो को मिलाकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिए पर दोनो मे उसने लौकिक सस्थाओ को अधिक महत्त्व दिया। "लौकिक शासन को चाहिए कि जब तक हम मनुष्य के बीच रहे, वह हमारे भीतर ईश्वर की बाह्य उपासना की भावना उत्पन्न करे, विशुद्ध धार्मिक सिद्धान्त तथा चर्च की रक्षा करे, हमारे जीवन को मानव-समाज के अनुरूप ढाले, राजकीय न्याय के अनुसार जीवन का निर्णय करे, हम मे पारस्परिक सामञ्जस्य की भावना उत्पन्न करे तथा शान्ति बनाए रखे।" काल्विन ने धर्म को राज्य की आत्मा मानते हुए बतलाया कि धर्म की रक्षा करना राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। शान्ति एव व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। सेवाइन के अनुसार, "यह सही है कि काल्विन ने ईसाई धर्म के इस पुराने सिद्धान्त को दोहराया कि सच्चे धार्मिक विश्वास को बलपूर्वक आरोपित नही किया जा सकता, लेकिन व्यवहार मे नैतिकता लागू करने की राज्य की शक्ति के ऊपर उसने कोई अकुश नहीं रखा।"

काल्विन ने राज्य का प्रथम कर्त्तव्य माना कि वह भक्ति और धर्म का पोषण करे तथा मूर्ति-पूजा, नास्तिकता और सच्चे धर्म की निन्दा का दमन करे। चर्च अपने सिद्धान्त और नीतियो का

निर्धारण करे तथा राज्य द्वारा उनके पालन की व्यवस्था की जाए। इसका अर्थ हुआ कि सैद्धान्तिक रूप से राज्य को धर्मतन्त्र (Theocratic) बना दिया गया। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण जेनेवा गणराज्य की व्यवस्था का दिया जा सकता है जो काल्विनवादियो का गढ था और जहाँ काल्विन एक तानाशाह-सा बना हुआ था वहाँ पादरी लोग राजकीय अधिकारियो को निर्देशन देते थे। उनका प्रजाजनो और शासन पर व्यापक प्रभाव था। काल्विन मे लूथर की रहस्यात्मक धार्मिक अनुभूति का अभाव था। जहाँ लूथर ने धर्म के आन्तरिक पक्ष पर बल दिया वहाँ काल्विन ने आत्म नियन्त्रण, अनुशासन और जीवन सग्राम मे अपने साथियो के प्रति सम्मान को विशेष महत्त्व दिया। यही प्युरिटन (Puritan) धर्म की सार्वभौम नैतिक शिक्षाएँ बन गईं। अनुशासन और पादरियो के श्रेष्ठतर पद पर बल देने का परिणाम हुआ "सन्तो का असहनीय शासन, अत्यन्त व्यक्तिगत विषयो का घोर विनिमय जो विश्व-व्यापक जासूसी पर आधारित था और जिसमे सार्वजनिक व्यवस्था की स्थापना, वैयक्तिक आचार पर पूर्ण नियन्त्रण और विशुद्ध सिद्धान्त तथा उपासना के बनाए रखने मे अन्तर अत्यधिक नगण्य था।"

काल्विन ने चर्च के सगठन पर भी विचार किए। उसने लोकतान्त्रिक तत्त्वो का समावेश करते हुए इन बातो पर बल दिया—(1) उचित आचार के नियमो को निश्चित करने वाले महा व्यक्तियो (Elders) की एक सभा (Assembly) हो, (2) नास्तिको को चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार हो, एव (3) राज्य धार्मिक मामलो से पृथक् और स्वय को (चर्च को) लौकिक कार्यों से अलग रखा जाए।

काल्विन के चर्च का सगठन गणतन्त्रीय था। चर्च के मुख्य पदाधिकारी वरिष्ठ सदस्यो द्वारा नियन्त्रण लागू करने मे आसानी होती थी। सैद्धान्तिक रूप से चर्च की शक्ति सम्पूर्ण ईसाई समाज पर थी। जेनेवा मे पादरी-वर्ग की शक्ति बडी व्यापक थी। कुछ देशो मे जहाँ काल्विन के मतानुयायी कम सख्या मे थे वहाँ राज्य द्वारा इन पर बहुसख्या का धर्म मानने के लिए अत्याचार होते थे। ऐसे देशो मे इन्होने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तो पर अधिक बल दिया।

काल्विन ने मानव-स्वभाव को स्वार्थी, दोषी एव पतनोन्मुख प्रवृत्ति का बताकर उसको राज्य द्वारा नियन्त्रित किए जाने का समर्थन किया। उसका मत था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की दुष्ट प्रकृति का विरोध करने के लिए हुई है। उसने घोषित किया कि नियन्त्रण की आवश्यकता और अव्यवस्था को दूर कर सुरक्षा की मानवीय भावना मे ही राज्य की उत्पत्ति का रहस्य निहित है। काल्विन के इन विचारो से भावी अनुबन्धवादियो के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई।

लूथर की भाँति ही काल्विन ने भी निष्क्रिय आज्ञापालन (Passive Obedience) पर बल दिया। उसने राज्य की आज्ञा का मूक भाव से पालन करना प्रजा का पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य बतलाया। उसने कहा कि लौकिक शक्ति-मुक्ति का बाहरी साधन है, अत शासक का पद अत्यन्त सम्माननीय है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। यदि कुछ लोगो को खराब शासक मिलता है तो यह उनके पाप के कारण है। लोगो को खराब शासक की भी उसी भाव से आज्ञा पालन करनी चाहिए जिस भाव से वे अच्छे शासक की आज्ञा का पालन करते है। वास्तविक गौरव पद का हो। काल्विन के इस विचार के सम्बन्ध मे सेबाइन ने लिखा है—"यह सही है कि 16वी शताब्दी के राजाओ के दैवी अधिकार के समस्त समर्थको की भाँति काल्विन ने भी प्रजाजनो के प्रति राजाओ के कर्त्तव्यो का सम ध्यान किया है। विधाता की अक्षत विधि जिस प्रकार प्रजाजनो पर लागू होती है, उसी प्रकार शासको के ऊपर भी। निकृष्ट शासक ईश्वर का विद्रोही होता है। अपने परवर्ती लॉक (Locke) की भाँति उसका भी यही विचार था कि व्यवहार-विधि नैतिक रूप से अनुचित कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था करती है। लेकिन निकृष्ट शासको को दण्ड देना ईश्वर का काम है, प्रजाजनो

का नही। काल्विन के लिए यह दृष्टिकोण ग्रहण करना स्वाभाविक ही था—कुछ तो जेनेवा में उसकी स्थिति देखते हुए और कुछ इस आशा के कारण कि शायद काल्विन का धर्म फ्रांस के राजाओ का धर्म माना जाए।"

काल्विन का यह भी विश्वास था कि राज्य मे छोटे-छोटे न्याय-रक्षक होने चाहिए जो राजा की शक्तियों को सयत रखे और यदि वे उसकी आततायी प्रवृत्तियो को न रोक सके और उसके विरुद्ध जनता की रक्षा न कर सके तो स्वय कर्त्तव्यहीनता के दोप के भागी बने। उसने कुछ दशाओ मे प्रजा को राज्य का विरोध करने का भी अधिकार दिया। उसने बताया कि राजा के जो आदेश ईश्वरीय आज्ञाओ के प्रतिकूल हो उनकी अवहेलना की जानी चाहिए और यदि कोई अनुचित रूप से राज्य की सत्ता हथिया ले तो ईसाइयो को शस्त्र ग्रहण करने से भी नही हिचकना चाहिए। काल्विन के इन विचारो ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तो के विकास मे बडा योग दिया। उसके सिद्धान्त लूथर के सिद्धान्तो की अपेक्षा फ्रांस, हॉलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और इग्लैण्ड मे अधिक लोकप्रिय हुए।

वास्तव मे काल्विन का 'निष्क्रिय-आज्ञापालन' का राजनीतिक सिद्धान्त कुछ अस्थिर सी चीज थी, क्योकि उस पर परिस्थितियो का बडी आसानी से प्रभाव पड सकता था। "एक ओर तो काल्विन ने सविहित सत्ता के प्रति किए जाने वाले समस्त विरोध को दुष्टतापूर्ण बताया था, लेकिन दूसरी ओर उसका मूल सिद्धान्त था कि चर्च को शुद्ध सिद्धान्तों की घोषणा करने का और लौकिक शक्ति की सहायता से सार्वभौमिक नियन्त्रण स्थापित करने का अधिकार है। यह एक माना हुआ निष्कर्ष था कि यदि किसी राज्य का शासक काल्विन द्वारा प्रतिपादित सत्य को स्वीकार नही करेगा और अनुशासन को लागू नही करेगा तो उसे अपने प्रजाजनो के आज्ञापालन का अधिकार नही रहेगा और प्रजाजनो के लिए विरोध करना आवश्यक हो जाएगा। वहाँ शासन को बदलने का कम अवसर होता और प्रतिरोध के द्वारा ज्यादा लाभ की उम्मीद होती, वहाँ आसानी से इस परिणाम की उम्मीद की जा सकती थी।"[1]

काल्विनवाद की इस चर्चा के प्रसग मे उसकी एक गम्भीर कमजोरी को जान लेना लेना चाहिए जो यह थी कि विभिन्न व्यक्ति बाइबिल की अपने-अपने ढग से व्याख्या कर सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्याख्या को ही समझता था और दूसरे की अच्छी बात को मानने से भी इन्कार कर देता था। चूंकि यह एक सामान्य नियम बन गया था कि ईश्वरीय कानून का पालन करना एक धार्मिक कर्त्तव्य है, तथा उसकी अवहेलना करना एक पाप है, अत प्रत्येक शासक अपने द्वारा निर्मित कानूनो को मानना प्रजा का धार्मिक कर्त्तव्य बतलाता था। वह दावा करता था कि विरोधियो का दमन किया जाना चाहिए। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह निकलने लगा कि राजनीतिक उच्छृखलता एव धार्मिक दमन की नीति को प्रोत्साहन मिला। 'राज का धर्म प्रजा का धर्म' मानने का सिद्धान्त बल पकडता गया और राजा के धर्म से मतभेद रखने वाले व्यक्तियो पर अत्याचार किए जाने लगे धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि एक ही धर्म लादने का प्रयत्न शान्ति और व्यवस्था के लिए अहितकर है और एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का होना आवश्यक है। यहाँ स्मरणीय है कि काल्विन ने राज्य और चर्च दोनो को पृथक् रखते हुए इनकी एक सीमा-रेखा भी खीच दी थी, जिसका दोनो ही अतिक्रमण नही कर सकते थे। अत इसका भी यह महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ कि काल्विनवाद जहाँ-जहाँ फैला, वहाँ इसके अनुयायियो ने उन सब शासको का विरोध किया, जो धर्म के मामले मे हस्तक्षेप करते थे। इससे धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओ मे सूक्ष्म भेद करने का विचार उत्पन्न हुआ।

जॉन नॉक्स (John Knox, 1505–1572)

मार्टिन लूथर और काल्विन दोनो अनुदार रूढिवादी थे जिन्होने राज्य की दैवी उत्पत्ति

1 सेबाइन · राजनीतिक दर्शन का इतिहास खण्ड 1, पृ 335,

स्वीकार करके राजकीय अधिकारियों के गौरव में वृद्धि की तथा निष्क्रिय-आज्ञाकारिता (Passive Obedience) का उपदेश देकर राजकीय निरंकुशतावाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु जब स्कॉटलैण्ड, फ्रांस तथा नीदरलैंड में राज्य द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त की आड़ में काल्विनवादियों पर अत्याचार किए जाने लगे तो काल्विन के समर्थकों ने राज्य के प्रति निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक समझा और यह मत स्थिर किया कि अन्तःकरण की स्वतन्त्रता आज्ञापालन से ऊपर है, अतः इन्हें तो राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है। फ्रांस में कतिपय काल्विनवादियों ने काल्विनवाद को प्राकृतिक कानूनों से मिला दिया जिसके अनुसार शासक और शासित दोनों ही प्राकृतिक कानूनों के अधीन थे। इस सिद्धान्त के आधार पर काल्विनवादियों ने राज्य की शक्तियों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जो उनके लिए घातक बन गए थे।

राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार करने वाला ऐसा ही एक विचारक जॉन नॉक्स था। जॉन नॉक्स ने निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त की अवहेलना करके प्रतिरोध के सिद्धान्त का समर्थन किया। इसका प्रधान कारण स्कॉटलैंड में प्रोटेस्टेंट धर्म की विशेष परिस्थितियाँ थी। 1558 ई० में स्कॉटलैंड के कैथोलिक-धर्माधिकारियों ने नॉक्स को देश निकाला दे दिया। उस समय नॉक्स के प्रोटेस्टेन्ट अनुयायियों की संख्या काफी थी और उसे प्रतिरोध के सिद्धान्त से ही लाभ हो सकता था। अतः नॉक्स इस दिशा में प्रयत्नशील हुआ और इन्हीं कारणों से दो वर्ष के भीतर ही उसने स्कॉटलैंड के कुलीनों, धर्माचार्यों एवं जनसाधारण के नाम निकाली गई अपनी अपील में कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को सन्दर्भ का पालन करना चाहिए और "जो लोग जनता को उनकी आत्मा का भोजन नहीं देते या ईश्वर के वचनों से उसे वंचित रखते हैं, उन्हें प्राणदण्ड मिलना चाहिए।"

मूलतः नॉक्स ने काल्विन के विचारों का ही अनुसरण करते हुए ईसाई सिद्धान्त की उसकी अकाट्य व्याख्या को स्वीकार किया। उसने चर्च के अनुशासन को स्वेच्छा से न मानने वालों के प्रति चर्च द्वारा कठोर कार्यवाही किए जाने के विचार का भी समर्थन किया। उसने काल्विन की इस धारणा की पुष्टि की कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म का और उसके अनुशासन का दृढता से पालन करना चाहिए किन्तु जहाँ काल्विन द्वारा समर्थित निष्क्रिय आज्ञापालन का सिद्धान्त सामने आया, उसने इसका खण्डन करते हुए घोषित किया कि "जहाँ राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है।" अपनी युक्ति को उसने इन बलशाली शब्दों में व्यक्त किया—

"आजकल सब मनुष्यों का सामान्य गीत यह है कि हमें अपने राजाओं की आज्ञा का पालन करना चाहिए चाहे वे अच्छे हों या बुरे, क्योंकि ईश्वर ने ऐसा ही आदेश दिया है लेकिन जिन लोगों ने ईश्वर के नाम को इस तरह कलंकित किया है ईश्वर उन्हें दण्ड देगा। जब राजा अन्याय करते है तो यह कहना कि ईश्वर ने उनकी आज्ञापालन का आदेश दिया है, नास्तिकता है और यह नास्तिकता उसी प्रकार की है जैसे यह कहना कि ईश्वर ने संसार में अन्याय का सृजन किया है और वह उसे बनाए हुए है। मूर्ति-पूजा, नास्तिकता और ऐसे ही अन्य अपराधों का दण्ड केवल उन राजाओं और शासकों को ही नहीं मिलता जो इन्हें करते हैं। जो लोग राजाओं को ऐसा करने से नहीं रोकते वे भी अपराधी हैं और इसलिए दण्ड के पात्र है।"[1]

जॉन नॉक्स के उपरोक्त विचारों में दो बातें मुख्यतः स्पष्ट होती हैं—"प्रथम यह कि उसने काल्विन के इस विश्वास का परित्याग कर दिया कि प्रतिरोध सदा गलत होता है, और द्वितीय यह कि प्रतिरोध सुधार के लिए ही समर्थनीय है। इस सिद्धान्त में नागरिकों के जन-अधिकारों का कोई उल्लेख नहीं है और न ही इसमें नॉक्स का यह मत प्रकट होता है कि वह राजकीय शक्ति का स्रोत जनता को

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 336.

बताना चाहता था। उसका दृष्टिकोण धार्मिक कर्त्तव्य के आधार पर टिका हुआ था, लोक अधिकारों के आधार पर नहीं। इसके कारण काल्विन का सम्प्रदाय राजकीय व्यक्ति के खिलाफ हो गया और उसने विद्रोह को उचित ठहराया, दूसरा कदम फ्रांस में उठा, वहाँ धार्मिक विद्रोह ने काल्विन के दल को कैथोलिक राजतन्त्र के खिलाफ कर दिया। यहाँ इस सिद्धान्त का विकास हुआ कि राजा को शक्ति जनता से प्राप्त होती है और राजा जनता के प्रति उत्तरदायी है। लेकिन, अभी तक यह प्रश्न धर्म से ही जुड़ा हुआ था।"

सुधार आन्दोलन में निरकुशतावाद और प्रजातन्त्र के बीज
(The Seeds of Absolutism & Democracy in Reformation)

सुधारवादी आन्दोलन का जिस समय उदय हुआ, उस समय दो सिद्धान्त प्रश्न थे। प्रथम यह कि धार्मिक विषयों में पोप को अपनी सर्वोच्च शक्ति ईश्वर से मिली है, अतः किसी सांसारिक प्राणी के समक्ष अपने किसी कार्य के लिए वह उत्तरदायी नहीं हो सकता, और द्वितीय यह कि प्रतिनिधि सरकार के सिद्धान्त का विकास हो रहा था। उस समय की मध्ययुगीन परिस्थितियाँ निरकुश राजतन्त्र के सिद्धान्त के पनपने में बाधक थीं।

धर्म-सुधार आन्दोलन ने एक विचित्र ही स्थिति पैदा कर दी। एक ओर लूथर तथा काल्विन ने पोप की धार्मिक निरकुशता का विरोध किया, और इस तरह अन्तःकरण की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की, किन्तु दूसरी ओर आन्दोलन को सफलता के उद्देश्य से राजाओं के प्रति निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त का भी समर्थन किया और इस रूप में निरकुशता के सिद्धान्त को प्रोत्साहन दिया। प्रजा द्वारा राजा का विरोध करना पाप ठहराया गया। इस मत के समर्थन में बाईबिल में प्रमाण दिए गए और सन्त पॉल के इस कथन को दोहराया गया कि "संसार में जो भी शक्तियाँ हैं वे ईश्वर की रची हुई है।" अनेक प्रमाण देकर जनता को समझाया गया कि राजा की शक्ति का स्रोत ईश्वर है, जिसके विरोध से पाप की उत्पत्ति होती है। लूथर ने पोप से बचने के लिए जर्मन शासकों का आश्रय लिया। उसने अपने अन्तःकरण की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को त्याग कर सत्ताधारी चर्च की स्थापना की जिसमें व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं थी। लूथर की निगाह में उसको चर्च की आज्ञा को न मानना धर्मद्रोह था और ऐसे धर्मद्रोहियों को दण्ड देना राज्य का कार्य था। लूथर के इन विचारों ने निरकुश राजतन्त्र को स्थान दिया। अब धर्म-द्रोही को दण्ड देने और 'धर्म-द्रोही कौन हैं—इसका निर्णय देने का अधिकार राजा ने अपने हाथों में ले लिया। उसने जर्मनी के कृषक आन्दोलन के समय यह फतवा दे दिया कि राजाओं को हत्या और छल-कपट तक का आश्रय लेकर विद्रोह को दबा देना चाहिए।

काल्विन ने भी विनम्र आज्ञापालन के सिद्धान्त को सामने रखा था, लेकिन साथ ही यह भी कहा था कि यदि राजा स्वयं धर्म का विरोध करने लगे तो राज्य के कुछ न्याय-रक्षकों को हक है कि वे उसके खिलाफ विद्रोह कर दें। यह भी कहा गया कि किसी व्यक्ति द्वारा अनुचित रूप से राज्य की सत्ता-ग्रहण कर लेने पर ईसाईयों को प्रतिरोध के लिए शस्त्रग्रहण कर लेने चाहिए। काल्विन के इन विचारों से लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में सहायता मिली।

लूथर और काल्विन दोनों ही ने निष्क्रिय आज्ञा-पालन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राजाओं के निरकुशतावाद को प्रोत्साहन देने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राजकीय अधिकारी इस सिद्धान्त की आड़ में धार्मिक अधिकारियों पर अत्याचार करने लगे। कुछ राज्यों में काल्विनवादियों पर भी अत्याचार किए गए। परिस्थितियों के अनुकूल सिद्धान्त होने पर कुछ काल्विनवादी राज्य की अवज्ञा करने के व्यक्ति के अधिकार का दावा करने लगे। कुछ ने काल्विनवाद को प्राकृतिक कानून से सम्बद्ध कर दिया जिसके अधीन शासक और शासित दोनों थे, और इस तरह उन्होंने राजा की निरकुश शक्तियों के ऊपर एक नियन्त्रण प्रस्तुत किया। प्रोटेस्टेन्ट प्रजा लूथर और काल्विन के आज्ञापालन के उद्देश्यों

को भूल कर अपने कैथोलिक राजा के विरुद्ध सघर्षरत हो गई। ऐसा फ्रांस में हुआ जहाँ राजा कैथोलिक धर्म का अनुयायी था जबकि प्रजा का एक अंग प्रोटेस्टेन्ट हो गया। स्कॉटलैण्ड मे जॉन नॉक्स ने कैथोलिक राजा का विरोध करते हुए काल्विन के विनम्र आज्ञापालन के सिद्धान्त को ठुकरा दिया और इस विचार पर बल दिया कि जहाँ राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है।

यही हाल उन देशो मे हुआ जहाँ राजा प्रोटेस्टेन्ट हो गया किन्तु प्रजा या उसका कोई अग कैथोलिक रहा। कैथोलिक प्रजा ने प्रोटेस्टेन्ट राजा को धर्मद्रोही माना और उसका विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझा। इस तरह प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक दोनो ही धर्मावलम्बियो ने लूथर तथा काल्विन समर्थित निरकुश राजतन्त्र का विरोध किया और सांविधानिक राजतन्त्र एव प्रतिनिधि सरकार के सिद्धान्त के विकास मे सहयोग दिया। फ्रांसीसी प्रोटेस्टेन्ट ह्यूजी नाट्स ने जनता को राज्य की शक्ति का स्रोत मानते हुए निरकुशतावाद पर कठोर प्रहार किया। अन्य फ्रांसीसियो ने भी यह मत व्यक्त किया कि राजा की शक्तियाँ सीमित तथा परिवद्ध होनी चाहिए क्योकि जनता उनको समाज की सेवा के लिए स्वीकृत करती है। फ्रेंसिस हॉटमैन नामक लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि फ्रांस मे तो निरकुशता-वाद था ही नही, वहाँ तो राजा निर्वाचित हुआ करता था। एक अन्य फ्रांसीसी विचारक ह्यूवर्ट लेंग्वे (Hubert Languet) ने राज्य की उत्पत्ति समझौतो द्वारा मानते हुए दो समझौतो की कल्पना की जिसमे पहले मे तो दो पक्ष ईश्वर और मानव-समाज है, जिसमे राजा भी सम्मिलित है और दूसरे मे एक तरफ राजा और दूसरी तरफ प्रजा है। राजा वचन देता है कि वह न्यायपूर्वक शासन करेगा और प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने का वचन देती है। यदि राजा अन्यायी हो जाता है तो प्रजा भी अपने वचन से मुक्त हो जाती है। नीदरलैण्ड मे भी राजतन्त्र विरोधी साहित्य काफी प्रकाशित हुआ। नीदरलैण्ड में भी राजतन्त्र विरोधियो मे अग्रणी आल्थूसियस (Althusius) ने प्रभुसत्ता को वह सर्वोच्च और श्रेष्ठतम् शक्ति बतलाया जो राज्य के सदस्यों के भौतिक और अभौतिक कल्याण के लिए कार्य करती है। उसने प्रभुसत्ता का मूल स्थान समाज को बताया, किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो का कर्म नही। उसने कहा कि प्रमुख शक्ति कोई ऐसा कार्य नही कर सकती जिससे सर्वसाधारण का अहित हो। सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानूनो का पालन शासको का कर्त्तव्य है। राजा केवल एक ऐसा प्रतिनिधि है जो यह प्रतिज्ञा करके पदारूढ़ होता है कि वह विधि के अनुसार शासन करेगा।

स्कॉटलैण्ड के एक अन्य लेखक बुकाकन (Buchanan) ने भी समझौतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मत व्यक्त किया कि प्राकृतिक अवस्था को दूर करने के लिए सरकार एव विधि का निर्माण हुआ है। अन्तिम सत्ता जनता के हाथ मे है और वही विधि का स्रोत है। जनता के साथ किए गए समझौते द्वारा ही राज्य को पितृगत अधिकार मिले है और न्यायपूर्वक शासन करना उसका कर्त्तव्य है। जनता की सम्पत्ति के बिना राज्य-शक्ति पर अधिकार करना गलत है। ऐसे अत्याचारी शासन का जनता विरोध कर सकती है। बुकानन ने प्राकृतिक कानून की आड लेते हुए आततायी राजा के वध को उचित ठहराया।

जेसुइट (Jesuits) लेखको ने भी निरकुश राजतन्त्र का विरोध किया और यह विश्वास किया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि न होकर इसी दुनिया का व्यक्ति है एव पवित्र शक्ति जनता मे निवास करती है। यदि राजा अन्याय करता है तो प्रजा उसे सिंहासन से हटा सकती है। निरकुशता विरोधी सिद्धान्तो का समर्थन करने वाले जेसुइट लेखको मे रॉबर्ट बेलामोर्न फ्रांसिस्को तथा जॉन ऑफ मेरियाना के नाम उल्लेखनीय है। मेरियाना के चिन्तन पर संविधानवाद आच्छादित था। वह शासको के ऊपर पोप के आध्यात्मिक नियत्रणो को स्वीकार नही कर सकता था। वह समाज द्वारा लगाए गए नियत्रण पर अधिक बल देता था।

इस सम्पूर्ण विवरण से हम यही निष्कर्ष पाते है कि धर्म-सुधार आन्दोलन ने निरकुशवाद और लोकतन्त्र दोनो की भावनाओ का पोषण किया। सुधारवादियो ने निरकुश राजाओ का समर्थन

करना शुरू किया और जब राजा अत्याचार करने लगे तो जनता ने उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठा कर, लोकतन्त्र की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उस समय ऐसी हवा फैल गई कि निरकुशवाद का खण्डन होने लगा और सांविधानिक एवं नियंत्रित राजतन्त्र का समर्थन। लूथर और काल्विन ने विनम्र आज्ञापालन का सिद्धान्त चलाया किन्तु उन्ही के अनुयायियों ने परिस्थितिवश लोकतांत्रिक सिद्धान्तों की शरण ली।

धर्म-सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व
(Contribution & Importance of Reformation)

धर्म-सुधार आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की सर्वोच्च प्रभुता को ठुकरा कर शताब्दियो से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया। अब रोमन कैथोलिक चर्च के विरोधी अनेक राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हो गई। धार्मिक एकता का प्रोटेस्टेन्टो और कैथोलिको मे विभाजन हो गया।

सुधारवादी आन्दोलन ने चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाकर मध्ययुगीन विश्व-साम्राज्य की धारणा मे क्रान्तिकारी एवं मौलिक परिवर्तन किया। चूँकि इसके कारण राष्ट्रीयता के विचार को प्रोत्साहन मिला। सर्वत्र पोप का विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया और साम्राज्य का स्थान प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यो ने ले लिया।

धर्मसुधार आन्दोलन का एक तात्कालिक परिणाम राजसत्ता के निरंकुश अधिकारों में वृद्धि और निरंकुश राजतन्त्र को यूरोप में एक सामान्य शासन रूप बनाना हुआ। साथ ही साथ व्यक्ति एवं धार्मिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रीय विचारों का विकास भी हुआ।

इस आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण देन सहिष्णुता (Toleration) का विकास भी था। धार्मिक संघर्ष का अन्ततः एकमात्र निराकरण सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा। प्रोटेस्टेन्ट राजा कैथोलिक प्रजा का तथा कैथोलिक शासक प्रोटेस्टेन्ट प्रजा का दमन करने में असफल रहे। शनैः-शनैः एव परिस्थितिवश यह विचार पनपता गया कि सुख और समृद्धि तभी संभव है जब राज्य धर्मनिरपेक्ष वातावरण पैदा करे। यदि राज्य धार्मिक मतभेदों से ऊपर रहेगा तभी विभिन्न धर्मावलम्बियों मे एक सामान्य राजनीतिक निष्ठा रखना संभव हो सकेगा।

अन्त मे फिगिस के शब्दो में—"जहाँ तक धर्मसुधारवादी आन्दोलन ने एक सुसंगठित, दृढ़ शक्तिमान, क्षेत्रीय एवं नौकरशाही प्रधान राज्य की सृष्टि में सहायता दी, जहाँ तक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया, वहाँ तक उसे अपने परिणामो मे आधुनिक समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक इसकी प्रवृत्ति सामुदायिक आदर्शों, धार्मिक, राजनीतिक शासन के रूप के लिए धार्मिक ग्रन्थो की अपील को पुनर्जीवित करने की थी, वहाँ तक यह उन मध्यकालीन विचारों की ओर वापिस लौट जाना था जो अरस्तू एवं पुनर्जागरण के निश्चित प्रभाव के कारण अधिकांशतः विलुप्त होते जा रहे थे।"[1] कहना चाहिए कि इस आन्दोलन के प्रारम्भ मे धर्मशास्त्रो पर बल देने की प्रवृत्तियाँ प्रबल रही, किन्तु अन्त में लोकतन्त्र की समर्थक और निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचार उत्पन्न हुए। इन्होंने 17वीं, 18वी, 19वी शताब्दियो में महान् राजनीतिक विवादो का सूत्रपात किया।

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन
(The Counter-Reformation)

धर्म-सुधार आन्दोलन ने रोमन कैथोलिक धर्म मे सुधार की प्रक्रिया लाकर प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार आन्दोलन को जन्म दिया। प्रारम्भ में तो रोमन-चर्च ने अपने दोषो को दूर करने की चिन्ता नहीं

1 Quoted by Gettle.

की, लेकिन जब धर्म-सुधार आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया और यूरोप के कई देश रोमन चर्च से अलग हो गए तो रोमन चर्च का ध्यान अपने दोषो को दूर करने की ओर गया। वह प्रोटेस्टेन्ट धर्म की गति रोकने के लिए प्रयत्नशील हुआ। रोमन चर्च मे कई सुधार किए गए जिसके फलस्वरूप कैथोलिक धर्म अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने लगा तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म की प्रगति अवरुद्ध हो गई।

इस प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार आन्दोलन को अथवा कैथोलिक धर्म के इस पुनरुत्थान को दो बातो से बहुत सहायता मिली। पहली बात तो प्रोटेस्टेन्ट धर्म की आपसी फूट थी। इस धर्म मे तीन सम्प्रदाय थे—लूथर सम्प्रदाय, ज्विगली सम्प्रदाय, और काल्विन सम्प्रदाय। इनमे बहुधा परस्पर विवाद हुआ करते थे जिनसे प्रोटेस्टेन्ट धर्म का पक्ष कमजोर हो गया। दूसरी बात यह थी कि 16वी सदी के मध्यवर्ती पोप चरित्रवान् थे जो रोमन चर्च के दोषो को दूर कर 'कैथोलिक धर्म' की पुन: प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहते थे। पाल तृतीय के पोप-पद पर आसीन होते ही (1534–50) पोप-पद की नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठा मे भारी वृद्धि हो गई। पोप के पवित्र आचरण ने सभी पादरियो के क्रिया-कलापो को प्रभावित किया और जन-साधारण मे उसके प्रति पुनः श्रद्धा जाग्रत हो गई।

कैथोलिक धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन साधन अपनाए गए—

(1) ट्रेण्ट कौंसिल, (2) जैसुइट सोसाइटी, (3) इंक्विजिशन।

ट्रेण्ट कौंसिल—रोमन कैथोलिक चर्च की साधारण सभा की बैठकें ट्रेण्ट में 1545 से 1563 तक समय-समय पर हुईं जिनमे दो सौ से भी अधिक धर्माधिकारियो ने भाग लिया। इस साधारण सभा के कुल मिलाकर 25 अधिवेशन हुए जिनमे कैथोलिक धर्म की धाराएँ (Articles) स्पष्ट की गईं, चर्च के अनुशासन और व्यवस्था मे सुधार के निर्णय किए गए और कैथोलिक धर्म के अनेक प्रमुख दोषों को दूर किया गया। इस सभा अथवा कौंसिल ने प्रोटेस्टेन्टो को खुश करने के लिए कैथोलिक धर्म के मुख्य सिद्धान्तो को बदला नही, अपितु वाञ्छनीय सुधार करके इन सिद्धान्तो को सुदृढ किया। पादरियों की शिक्षा पर निर्णय लिए गए और उन पुस्तको की सूची बनाई गई जिनको पढना कैथोलिको के लिए निषिद्ध था। रोमन चर्च के अनुशासन को भग करने वाले कैथोलिको को दण्डित करने के लिए चर्च न्यायालय को अधिक सशक्त तथा सक्रिय करने का कार्यक्रम बनाया गया। साधारण सभा ने प्रोटेस्टेन्टो के साथ कोई समझौता करने की चेष्टा नही की क्योकि उसका लक्ष्य तो कैथोलिक धर्म की त्रुटियो को दूर कर उसे शक्तिशाली बनाना था ताकि वह विरोधियो का मुकाबला कर सके और स्वय को पुन लोकप्रिय बना सके।

जेसुइट सोसाइटी—इसे 'आर्डर ऑफ जीसस' (Order of Jesus) भी कहते हैं। 1534 ई मे जेसुइट नेता इग्नेशियस लायोला (Ignatious Loyola) ने इस धार्मिक सस्था की स्थापना सैनिक ढग से की। लायोला स्पेन का एक कुलीनवशी सैनिक था जिसने युद्ध मे घायल होने पर धर्म-प्रचारक बनने का निश्चय किया और पोप का आशीर्वाद प्राप्त कर इस धार्मिक सस्था (जेसुइट सोसाइटी) की स्थापना की। अनुशासन और आज्ञापालन इस सोसाइटी के दो मुख्य सिद्धान्त थे। सोसाइटी के प्रधान को 'जनरल' कहा जाता था जिसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। एक परामर्शदाता और छः व्यक्तियो की एक परिषद् की भी व्यवस्था थी। सस्था के अनुयायियो को 'जेसुइट' कहा जाता था। प्रत्येक सदस्य को ब्रह्मचर्य, आज्ञापालन और निस्पृहता की शपथ लेनी पडती थी। हरेक सदस्य के लिए पोप की आज्ञा मानना अनिवार्य था। सोसाइटी का कहना था कि ध्यान और प्रार्थना द्वारा पाप से छुटकारा मिल सकता है और ईश्वर के दर्शन सम्भव हैं। सम्प्रदाय की सदस्यता सीमित थी। सदस्यो को दो वर्ष तक लायोला के सिद्धान्तों के अनुसार प्रशिक्षण लेना पड़ता था। इस अवधि में वे मानववादी विषयो, विज्ञान, धर्म-शास्त्र आदि का अध्ययन करते थे।

जेसुइट सोसाइटी ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म से निपटने के लिए अपनी सेवाएँ पोप को अर्पित कीं और पोप ने सोसाइटी को 1540 ई. मे मान्यता प्रदान कर दी। तत्पश्चात् जैसुइट पादरी प्रोटेस्टेन्ट धर्म का विरोध और कैथोलिक धर्म का प्रचार करने निकल पड़े। उन्होने नवयुवको को शिक्षा द्वारा तथा बड़े बूढो को उपदेशों द्वारा अपने पक्ष मे किया। आवश्यकतानुसार उन्होने कूटनीति और षड्यन्त्रो का भी सहारा लिया। जैसुइट पादरियो के जोश और उनकी सक्रियता के फलस्वरूप इटली, स्पेन, फ्रांस और पोलैण्ड मे प्रोटेस्टेन्ट धर्म छिन्न-भिन्न हो गया। भारत, चीन और उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका मे भी इन पादरियो ने कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। बेल्जियम और बवेरिया में कैथोलिक धर्म जेसुइट के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही कायम रह सका। अपने जीवन की परवाह न कर भयंकर और विपरीत परिस्थितियों मे जेसुइटो ने कैथोलिक धर्म की रक्षा और प्रगति की। अनेक स्थानो पर जेसुइट सस्था ने स्कूल स्थापित किए।

इंक्विजिशन—यह रोमन कैथोलिक चर्च का धार्मिक न्यायालय था जिसका मुख्य कार्य धर्म-विरोधियो का दमन करना था। इसकी स्थापना 1248 ई. मे ही की जा चुकी थी लेकिन यह पूर्णरूप से सक्रिय सोलहवी शताब्दी के मध्य मे हुआ। पोप पाल तृतीय ने जैसुइट सोसाइटी को मान्यता देने के दो वर्ष बाद इस न्यायालय मे छ: इंक्विजिटर जनरल नियुक्त किए जो धर्म-विरोधियो के मामलो की सुनवाई कर उनको दण्ड देते थे, सन्देहजनक व्यक्तियो को बन्दी बनाते थे, पुस्तको को सैंसर करते थे और धर्म-विरोधियो को शारीरिक दण्ड द्वारा अपराध स्वीकार करवाते थे तथा मृत्युदण्ड तक देते थे। इस न्यायालय ने वास्तव मे बहुत कठोर दमन-नीति से काम लेकर स्पेन, इटली और नीदरलैण्ड मे धर्म-विरोधियो को कुचल दिया। इस न्यायालय के आदेश से स्पेन मे हजारों व्यक्ति जीवित जला दिए गए और लगभग एक लाख लोगो को विभिन्न सजाएँ दी गईं। नीदरलैण्ड मे तो दमन इतनी नृशंसता से किया गया कि राष्ट्रीय भावनाएँ उमड़ पडी और उन्होने एक भयकर युद्ध का रूप धारण कर लिया।

धर्म-सुधार आन्दोलन ने जिस प्रतिवादात्मक धर्म-सुधार आन्दोलन को जन्म दिया उसके फलस्वरूप एक शताब्दी से अधिक समय तक धार्मिक सघर्षों का जोर रहा। अन्त मे 1548 ई. मे वेस्टफोलिया की सन्धि द्वारा यूरोप के धार्मिक विवादों का अन्त हुआ, यद्यपि वास्तव मे धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना तो और भी काफ़ी समय बाद हुई।

15 मैकियावली

(Machiavelli)

मध्ययुगीन अन्धकारपूर्ण अवस्था के गुजर जाने पर पन्द्रहवी सदी मे यूरोप मे ज्ञान की नई दिशा प्रदीप्त हो उठी। बौद्धिक पुनर्जागरण (Renaissance) ने लोगो मे जीवन की एक नई चेतना, स्वतन्त्रता के एक नवीन प्रेम और जीवन के नवीन मूल्यो के प्रति अनुराग के भाव जगा दिए। ईश्वर की अपेक्षा मनुष्य मानव-अध्ययन का अधिक महत्वपूर्ण विषय हो गया। मानव-समस्याओ पर अधिक चिन्तन होने लगा। मध्यकाल की 'परलोक-प्रियता (Other Worldliness) घटने लगी और चर्च के नियन्त्रण के विरुद्ध धर्म-निरपेक्ष बुद्धि का विद्रोह मुखरित हो उठा। अब परलोक की अपेक्षा इहलोक अधिक प्यारा हो गया तथा महत्त्वाकांक्षी शासको ने पोप के आदेश-पत्रो को रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया। मध्ययुगीन देवदास, चर्चवाद, बाइबिलवाद और सामन्तवाद के विरोध मे पुनरुत्थान अथवा बौद्धिक पुनर्जागरण के इस युग मे मानववाद और निष्प्रतिबन्ध बौद्धिक स्वातन्त्र्यवाद का मन्त्र प्रचारित किया गया। "मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है"—इस उक्ति मे पुनः आस्था प्रकट की जाने लगी। मेयर के शब्दो मे "पुनरुत्थान नवीन भावना का वह प्रभाव था जिसने अन्त मे मध्यकालीन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। 16वीं शताब्दी के नवीन विश्व की आधारशिला रखी—उस विश्व की जिसने कि तत्वत: मध्य-युग का सदा-सदा के लिए अन्त कर दिया।" ज्ञान और निर्माण के इस उषा काल मे मैकियावली पैदा हुआ। इटली के प्रसिद्ध नगर फ्लोरेन्स की शिक्षा-दीक्षा मे प्रभावित मैकियावली भविष्य मे एक नई राजनीतिक सूझ और दिशा का जनक बना। इतिहास ने वर्षों मैकियावली को अपमान और तिरस्कार के नरक मे पटका रखा लेकिन एक समय ऐसा अवश्य आया जब उसे उचित सम्मान दिया गया और फ्लोरेंस मे उसकी कब्र पर लिखा गया कि "इतने महान् व्यक्ति के लिए सारी प्रशसा अपर्याप्त है।" बड़े-बड़े राजनीतिज्ञो ने उसकी रचना से [illegible] जीवन-भर वही किया जो मैकियावली कह गया।

मैकियावली : जीवनी, अध्ययन-पद्धति और कृतियाँ
(Machiavelli Life, Methods and Works)

निकोलो मैकियावली का जन्म इटली के नगर फ्लोरेन्स मे सन् 1469 ई. मे प्राचीन टस्कन वश से सम्बन्धित एक सामान्य परिवार मे हुआ। उसका पिता वकील और तत्कालीन गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था मे विश्वास करने मे गौरव अनुभव करता था। पुत्र भी पिता के ही चिह्नो पर था। अभाग्यवश वह पर्याप्त शिक्षा प्राप्त न कर सका। अत उसने सरकारी पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 1490 ई. मे उसे एक साधारण प्रशासकीय पद प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ, प्रतिभा और कार्यक्षमता के कारण वह विभिन्न पदो पर कुशलतापूर्वक कार्य करता रहा। दौत्य कार्य (Diplomatic Mission) मे उसे लगभग चौबीस बार फ्रांस, रोम और बर्लिन के दरबारो मे जाना पडा जहाँ उसने पर्याप्त यश और धन अर्जित किया।

मैकियावली ने सन् 1498 और 1512 तक फ्लोरेंस की 'कौंसिल ऑफ टैन' (Council of Ten) के सचिव पद पर कार्य किया। इसी मध्य उसके भाग्य ने पलटा खाया। रेवेना की लडाई मे स्पेन के मुकाबले 1509 मे फ्रांस की हार हुई। इसकी भीषण प्रतिक्रिया फ्लोरेन्स मे हुई। स्पेन के

समर्थकों ने, जो फ्लोरेन्स मे सत्तारूढ़ हुए, मैकियावली को अन्य व्यक्तियों के साथ देश मे निकाल दिया उसका जीवन निर्वासित अवस्था में गरीबों तथा जगली लोगो के मध्य अध्ययन करते हुए व्यतीत हुआ अपने ग्रामीण आवास—सेनके सियानो—मे उसने अनेक विद्वानों का साहित्य पढने के साथ-साथ राजनीतिक मनोविश्लेषण भी किया और इसी समय उसने ग्रन्थ-रचना भी की। उसके विरोधियों ने राजद्रोह के अभियोग मे उसे कारागार का दण्ड भी दिया। नए लोरेंजो के शासन काल में उसने आशा की कि उसे खोया हुआ स्थान फिर से मिलेगा लेकिन यह आशा स्वप्न सिद्ध हुई। केवल नाममात्र के वेतन पर उसे फ्लोरेन्स का इतिहास लिखने का काम मिला। अपने शेष जीवन-काल में मैकियावली ने अपना समय लेखन-कार्य मे ही व्यतीत किया। उसके सभी ग्रंथ इस काल मे ही लिखे गए। इस समय इटली की दशा भी बडी अस्थिर और असगठित थी। सन् 1527 में नए संगठित इटली का स्वप्न लिए ही एक साधारण व्यक्ति की भाँति मैकियावली की मृत्यु हो गई।

अध्ययन पद्धति

मैकियावली के पूर्व के मध्ययुगीन विचारकों की अध्ययन पद्धति धर्म से प्रभावित थी। मैकियावली ने इस प्रणाली को स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप उसके दर्शन में वे जटिलताएँ नहीं आ सकी जो उसके पूर्ववर्ती विचारकों मे थीं। मैकियावली को पोप और सम्राट के सम्बन्धों की समस्या से कोई लगाव न था। इसलिए उसकी रचनाओं मे मध्यकालीन पादरियों और दार्शनिकों का, दो तलवारों के सिद्धान्त का, कैनन लॉ का और इसी प्रकार की अन्य विषय-सामग्री का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसने नीति, न्याय आदि के अमूर्त सिद्धान्तों पर आधारित निगमन तर्क पद्धति (Deductive Method) का परित्याग कर दिया जिस पर मध्यकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना हुई थी।

मैकियावली ने पूरी तरह वैज्ञानिक तटस्थता की नीति अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया, अपने युग की समस्याओं को समझा और फिर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। इस तरह उसने अपनी राजनीतिक पद्धति में अनुभववाद और इतिहासवाद का समन्वय किया। दूसरे शब्दों में उसने अनुभूतिप्रधान (Empirical) या ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। अरस्तू के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र में इस पद्धति को अपनाने वाला यह प्रथम विचारक था। इतिहास और तर्क का सहारा लेते हुए उसने तत्कालीन धर्म-शक्ति को एक गम्भीर चुनौती दी तथा 'मानव व्यवहार के पथ-प्रदर्शक के रूप में ईश्वरीय नियम का बहिष्कार करते हुए 'राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया।' मैकियावली की 'प्रिंस' वह सर्वप्रथम महान् रचना थी जिसमे दैवीय और मानवीय इन दोनों तत्त्वों मे स्पष्ट सघर्ष दिखलाई पड़ा और जिनमें पूर्ववर्ती नसलों द्वारा अपनाई हुई प्राचीन सूक्तियों को यह समझकर छोड़ दिया गया कि सैद्धान्तिक रूप मे वे बुद्धिहीन एव व्यावहारिक रूप मे मार्ग-भ्रष्ट करने वाली थी।[1]

मैकियावली का मत था कि सभी देशों और कालों में मानव-स्वभाव एक जैसा रहता है, वह लगभग एक ही प्रकार के उद्देश्यों से संचालित होता है और एक जैसी ही समस्याओं का उसे समाधान करना पडता है। अत: यदि वर्तमान काल की समस्याओं का हमें समाधान करना है अथवा, हमें भविष्य में क्या करना चाहिए ?—इस प्रश्न का उत्तर पाना है तो यह उचित है कि हम भूतकाल के इतिहास का गम्भीर अनुशीलन करें और यह जानने की चेष्टा करें कि समान परिस्थितियों में मनुष्य ने भूतकाल में क्या किया था और उसके क्या परिणाम निकले थे? मैकियावली का विश्वास था कि भूत के गंभीर अनुशीलन से हम सफलताओं और विफलताओं के कारणों को सामान्यतः मालूम कर सकते हैं। किन्तु उल्लेखनीय है कि मैकियावली ने "इतिहास का उपयोग अपने पर्वकल्पित निष्कर्षों की पुष्टि में किया है, इनके प्रणयन में नहीं।"

1 Cambridge Modern History, Vol 1, Page 213

प्रो. डनिङ्ग का विचार है कि मैकियावली की पद्धति देखने मे जितनी ऐतिहासिक लगती है, यथार्थ-रूप मे उतनी नही है। उसके पर्यवेक्षण (Observations) अधिकतर ऐतिहासिक न होकर अपने समय के ही थे। समकालीन परिस्थितियो को देखते हुए उसने पहले से ही कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लिए थे और फिर इनके समर्थन के लिए प्राचीन इतिहास के प्रमाणो को ढूंढा था। जिस प्रकार ईसप नैतिक शिक्षा का समर्थन करने के लिए पशु-पक्षियो की मनोरजक कहानियाँ उदाहरण के रूप मे गढा करता था, उसी प्रकार मैकियावली अपनी अनुभूति के आधार पर निकाले गए परिणामो (Empirical Conclusions) की इतिहास से पुष्टि करता था। सेबाइन ने भी मैकियावली की पद्धति को ऐतिहासिक कहना भ्रमपूर्ण माना है। सेबाइन के अनुसार उसकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक थी। उसने अपने तर्कों को सत्य सिद्ध करने के लिए इतिहास का आश्रय लिया। वास्तव मे उसके लेखो मे कुछ निश्चित आधारभूत विश्वास निहित है और उन विश्वासो पर तर्क का सम्पूर्ण ढाँचा आश्रित है।......यह पूर्णत स्पष्ट है कि प्रत्येक काल की घटनाओ की गति और उनसे निकलने वाले परिणामो के सम्बन्ध मे वह जो धारणाएँ रखता था उन पर निर्णयात्मक प्रभाव उसके मानव सम्बन्धी उस विशिष्ट दृष्टिकोण से था जिसकी छाप बाह्य घटनाओ पर पडती है, जिससे उनका रूप निर्धारित होता है और जिनसे वे नियन्त्रित होते है। अपनी मानव-स्वभाव सम्बन्धी धारणा को उसने समस्त इतिहास के एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर बनाया। ......यद्यपि मैकियावली अन्तत इसी परिणाम पर पहुँचा कि नीति-शास्त्र एव राजनीति एक न होकर पृथक्-पृथक् है एव शासन कला का आचार शास्त्र से कोई सम्बन्ध नही है, तथापि दोनों का आधार एक ही मान्यता थी।"[1]

जो भी हो इसमे कोई सन्देह नही कि राजनीतिक समस्याओ के प्रति मैकियावली का दृष्टिकोण अनुभव प्रधान था एव उसकी भावना ऐतिहासिक थी। मानव स्वभाव का चित्रण उसका मूल आधार था। धार्मिकता, परम्परावादिता, रूढिवादिता और पाँडित्य-प्रदर्शन का वह घोर विरोधी था। उसकी अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणात्मक, यथार्थवादी और वैज्ञानिक विशेषताओ अथवा तत्त्वों से युक्त थी। राजनीति का शुद्ध रूप रखने में उसने पुनर्जागरण की उन्मुक्त प्राकृतिक बुद्धि के सहारे यह प्रयत्न किया कि राजनीति धार्मिक उपदेशो या दृष्टान्तो का प्रकरण मात्र न रह जाए। इस तरह उसने राजनीति को कला के रूप मे भी स्वीकार किया। मैकियावली की अध्ययन-पद्धति सर्वथा दोष-रहित नही थी। यह पक्षपात, हठवादिता और एकांकी दृष्टिकोण से ग्रसित थी किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि उसका उद्देश्य सारी दुनिया के लिए राज्य-मीमाँसा लिखना न था, वह तो इटली का राष्ट्रीय सेवक मात्र था।

रचनाएँ

मैकियावली ने दो ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की जिससे उसका नाम अमर हो गया—

(1) Discourses on Livy (Titus Livius)

(2) The Prince

प्रथम ग्रन्थ मे मैकियावली ने रोमन राजतन्त्र के विषय मे लिखा है और तत्कालीन प्रवर्तकों के लिए कुछ नियमो की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत की है। 'प्रिंस' ग्रन्थ लारेंजो को सम्बोधित किया गया है जो कि अर्बिनो का ड्यूक था। यह ग्रन्थ उसकी सबसे प्रमुख कृति है जिसे 1513 ई. में लिखा गया था, किन्तु जिसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद अर्थात् सन् 1532 ई. मे हुआ था। मैकियावली का यह ग्रन्थ वास्तव मे युग-प्रवर्तक था। इसमे मध्यकालीन विचार-प्रक्रिया के ढग को त्याग

1 Cambridge Modern History, Vol I, p 208

कर नवीन ढंग को अपनाया गया। इस ग्रन्थ मे कुल 26 अध्याय है जिन्हें तीन भागो में बाँटा गया है। मैकियावली ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे राजतन्त्र की, दूसरे मे किराये की सेनाओ की तथा अन्तिम भाग में अपने राजदर्शन की व्याख्याएँ की हैं। वास्तव मे यह ग्रन्थ मैकियावली की सम्पूर्ण प्रतिभा का सार है।

मैकियावली ने कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे जिनमे से उल्लेखनीय ये हैं—

(1) The Art of War (2) The History of Florence

इनके अतिरिक्त उसने अनेक उपन्यास, कहानियाँ और कविताएँ आदि भी लिखी।

मैकियावली युग शिशु के रूप में
(Machiavelli as the Child of His Times)

डनिग ने मैकियावली के विषय मे लिखा है कि "यह प्रतिभा-सम्पन्न फ्लोरेंस निवासी वास्तविक अर्थ में अपने काल का शिशु था।"[1] वैसे तो प्रत्येक विद्वान् एव प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपने युग का शिशु होता है, क्योकि उसके विचार समकालीन परिस्थितियो से प्रभावित होते हैं किन्तु मैकियावली पर अपने युग का रग कुछ विशेष गहरा चढा हुआ था। उसे छोड़कर शायद ही कोई ऐसा दूसरा राजनीतिक विचारक हुआ हो जिसने अपना सम्पूर्ण लेखन कार्य समकालीन परिस्थितियो के आधार पर किया हो। उसने उन परिस्थितियो के दोषो को स्पष्ट किया और उनके समाधान भी सुझाए। उसके प्रत्येक विचार अथवा सिद्धान्त में हमे इटली की तत्कालीन परिस्थितियो की झलक दिखाई देती है।

वे तत्त्व जिन्होने मैकियावली के राजनीतिक चिन्तन का मार्ग-दर्शन किया और जिनके प्रभाव से वह अपने युग का शिशु कहलाया, मुख्यत निम्नलिखित थे—

(1) **ज्ञान का पुनरुत्थान**—मैकियावली के समय मे दो शक्तियाँ साथ-साथ कार्य कर रही थी। प्रथम शक्ति ज्ञान के पुनरुत्थान (Renaissance) की थी और दूसरी धार्मिक सुधारो (Reformation) की। पुनरुत्थान मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप मे बदल देने वाला एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था। इसका आरम्भ इटली मे हुआ और 15वी शताब्दी मे वही यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। इसी कारण इसे कभी-कभी इटालियन पुनरुत्थान भी कहते हैं। पुनरुत्थान के फलस्वरूप मनुष्य और विश्व के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ। इसने लोगों के जीवन मे एक नवीन चेतना, स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम और जीवन के उत्कृष्ट मूल्यो की भावना जगाई। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो के स्थान पर मानवीय समस्याएँ महत्त्व पाने लगीं मैकियावली ने अपने लेखो और विचारो मे पुनरुत्थान के भाव भरे। उसने व्यावहारिकता पर बल देते हुए यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। उसने चर्च और धर्म की जडो पर कठोर प्रहार किए और घोषित किया कि मानव स्वय ही अपने श्रेष्ठ जीवन का निर्माता है। उसने अपने लेखो में कही दो शक्तियो अथवा तलवारो के सिद्धान्त, चर्च पिताओ की सम्मतियो, पोप एव सम्राट के पारस्परिक सम्बन्धो और इसी प्रकार के मध्ययुग के अन्य विषयों की चर्चा नही की। मैकियावली की रचनाएँ पढने से यही लगता है कि हम एक सर्वथा नवीन युग मे आ गए हैं। यदि 'कोलम्बस' ने 1492 ई मे नई दुनिया का पता लगाया तो मैकियावली ने 1523 ई मे 'प्रिंस' की रचना द्वारा राजनीतिक विचारो की नई दुनिया की खोज की।

मैकियावली का फ्लोरेन्स उस समय पुनरुत्थान का प्रधान नगर और इटली की संस्कृति का माना हुआ केन्द्र था। मैकियावली की रग-रग मे फ्लोरेन्स की सस्कृति व्याप्त थी। उसके व्यक्तित्व और विचारो मे पुनरुत्थान की प्रतिछाया थी। उसने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया और इतिहास तो विशेष रूप से उसे प्रिय रहा। "इसी साहित्य की भावना से शक्ति पाकर एव प्रेरित होकर उसकी

1 "Machiavelli the brilliant florentive was in the fullest sense the child of his times".

स्वाभाविक प्रखर बुद्धि से समस्याओं को सुलझाने के प्रयास किए और उनके ऐसे समाधान निकाले जो उनके पूर्व की 12 शताब्दियों में सोचे गए हलों से इतने भिन्न थे कि मानो वे शताब्दियाँ कभी आई ही न हों ।"[1]

मैकियावेली ने राजनीति को धार्मिकता, नैतिकता, आचार-शास्त्र आदि से पृथक् रखा। उसका मत था कि एक राजनीतिज्ञ को नैतिकता एवं धार्मिकता द्वारा अनुमोदित स्पष्टीकरणों और सिद्धान्तों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैकियावेली के इस विचार में भी पुनरुत्थान-युग बोलता है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है और उसे अपने जीवन तथा धन की सुरक्षा के लिए राजकीय संरक्षण प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। उसने स्पष्ट घोषित किया कि राजनीति दैवी शक्ति प्राप्त व्यक्तियों का ही क्षेत्र नहीं है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रवेश कर सकता है।

(2) राजतन्त्र की पुनर्स्थापना—पुनरुत्थान काल में यूरोप में भारी राजनीतिक परिवर्तन हुए। जब मैकियावेली का आविर्भाव हुआ तो परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो चुका था और शक्तिशाली शासकों ने सामन्तों और उनकी प्रतिनिधि सभाओं का दमन करते हुए निरंकुश राजतन्त्र स्थापित कर लिए थे। धार्मिक परिवर्तनों ने भी सीमित राजतन्त्र के मध्यकालीन विचार को समाप्त करने में योग देते हुए निरंकुशवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी राज्यों में सामन्तों के हाथ से शक्तियाँ छीनकर राजाओं के हाथों में केन्द्रित हो गई थी। वह युग राज्य और चर्च दोनों में वीर-पुरुषों की निरंकुश सत्ता का युग था जिसने मैकियावेली के 'प्रिंस' को बड़ा प्रभावित किया।

मैकियावेली के समय इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था। उसने इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्पेन के सगठित राज्यों के समान ही इटली में भी सभी राज्यों का एक राष्ट्रीय राजा की अध्यक्षता में एकीकरण करना चाहा। 'प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय में उसने यह आशा प्रकट की है कि इटली का एकीकरण हो और वह विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त हो। उसकी आकांक्षा थी कि इटली में भी ऐसे राजा का उदय हो जो सम्पूर्ण जनता को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बाँध सके। उस समय इटली की दुर्दशा और इटली के छोटे राज्यों द्वारा अपनी रक्षा के लिए प्रयोग किए जाने वाले कूटनीतिक और कपट के साधनों ने भी मैकियावेली की रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डाला।

(3) इटली का राजनीतिक विभाजन—इटली का सम्पूर्ण प्रदेश छोटी-छोटी रियासतों और राज्यों में बँटा हुआ था। 16वीं सदी के आरम्भ में इन राज्यों का कुछ एकीकरण हुआ और इटली में केवल 5 राज्य स्थापित हो गए—नेपल्स राज्य (Kingdom of Naples), मिलान का राज्य (Duchy of Millan), रोमन चर्च का क्षेत्र (Territory of the Roman Church), वेनिस गणराज्य (Republic of Venice) और फ्लोरेन्स का गणराज्य (Republic of Florence)। ये पाँचों राज्य भी आपस में संघर्षरत रहते थे। इटली के इस राजनीतिक विभाजन और राज्यों के पारस्परिक संघर्ष ने देश को बड़ा दुर्बल बना दिया और वह आसानी से शक्तिशाली पड़ोसियों की महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार बनने लगा। फ्रांस और स्पेन की आँखें तो सदैव ही इन राज्यों पर लगी रहती थीं कि कब मौका मिले और कब इन्हें समाप्त किया जाए।

मैकियावेली विलक्षण अन्तर्दृष्टि का धनी था। उसने समझ लिया कि इटली में यदि सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की स्थापना न की गई तो फ्रांस और स्पेन उसे हड़प लेंगे अथवा वह उनके पारस्परिक संघर्ष की चक्की में उसी तरह पिस जाएगा जैसे गेहूँ में घुन। अतः मैकियावेली ने चाहा कि सम्पूर्ण इटली को एकता के सूत्र में गूँथ दिया जाए और किसी तरह एक ऐसी शक्तिशाली सरकार स्थापित हो

1 *Dunning* : Political Theories-Ancient and Medieval, p 290.

जाए जो एक तरफ तो देश की अराजकता की स्थिति पर काबू पा सके और दूसरी ओर विदेशी आक्रमण से रक्षा तथा विदेशियों के निष्कासन के दोहरे कर्तव्य को भी निभा सके। इसी उद्देश्य से उसने अपने तीन महान् ग्रन्थ रचे—आर्ट ऑफ वार, दि डिस्कोर्सेज ऑन लिवी तथा प्रिंस। इन ग्रन्थों में यद्यपि राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं हुआ किन्तु व्यावहारिक राजनीति के वास्तविक प्रयोगों का खूब वर्णन किया गया। ये ग्रन्थ एक व्यवहार-प्रधान राजनीतिज्ञ के दृष्टिकोण से लिखे गए। उसने देश में ऐसे निरंकुश शासन के उदय की कामना की जो सिद्धान्तों में डूबा न रह कर व्यावहारिक राजनीति में निष्णात हो।

(4) **इटालियन समाज की दुर्दशा**—मैकियावली के समय इटालियन समाज में सौजि-प्रयम्पता, ईमानदारी और देश-भक्ति का अभाव था। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों की कमी नहीं थी किन्तु नैतिक दृष्टि से उनका पतन हो चुका था। स्वयं पोप तक का चरित्र अपवित्र की सीमा लाँघने लगा था। साधारण नागरिक पैसा लेकर अनुचित से अनुचित काम करने को तैयार हो जाते थे। इस सामाजिक दुर्दशा का मैकियावली के हृदय पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। देश के एकीकरण के लिए वह शक्ति का पुजारी बना और उसने राष्ट्रीय सेना को आवश्यक बताया। उसने गणतन्त्रीय शासन प्रणाली की सिफारिश न करते हुए इटलीवासियों के लिए एक राजा और तानाशाह की दुखद आवश्यकता महसूस की और व्यावहारिक राजनीति को स्थान देते हुए यह मत व्यक्त किया कि राजा का एकमात्र उद्देश्य देश को सबल बनाना और उसे सगठित करना है, शान्ति स्थापित करना और विदेशी आक्रांताओं को मार भगाना है। इस महान् और पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधन अपना सकता है। शासक को चाहिए कि वह जनता पर प्रेम की अपेक्षा शक्ति से शासन करे। यद्यपि वह अपने काल में एकीकृत और स्वतन्त्र इटली के स्वप्न का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सका, किन्तु उसकी मृत्यु के 350 वर्ष बाद कावूर (Kavour), गेरिबाल्डी (Garibaldi) आदि ने उसके द्वारा प्रतिपादित साधन के सहारे ही इस स्वप्न को साकार किया।

इन सभी बातों को देखने पर डनिंग की इस युक्ति से सहमत होना पड़ता है कि "प्रतिभावान फ्लोरेन्सवासी (मैकियावली) पूरे-पूरे अर्थ में अपने युग का शिशु था।"

मानव-स्वभाव : सार्वभौम अहंवाद

(Machiavelli on Human Nature : Universal Egoism)

मानव-समाज का जो भी अध्ययन मैकियावली ने किया उसकी गहरी छाप उसके राजदर्शन पर स्पष्ट है। मैकियावली की धारणा थी कि मनुष्य जन्म से ही बुरा होता है। अपनी स्वभावगत दुष्टता के कारण ही वह अधोगति को प्राप्त होता है। मानव प्रकृति से घोर स्वार्थी एवं दुष्ट है। वह दुर्बलता, मूर्खता एवं दुष्टता का सम्मिश्रण है। वह प्रकृति का ऐसा खिलौना है जिसे बालक समझ सकता है और अवसरानुकूल निर्णय ले सकता है।

मैकियावली का विश्वास था कि मनुष्य की स्वार्थ भावना और उसका अहंकार उसके सारे क्रियाकलापों के मूल में है। वह विभिन्न कमजोरियों से ग्रस्त है और सद्गुण तथा परोपकार जैसी बातों से अपरिचित है। 'प्रिन्स' के बहु उद्धृत 17वें अध्याय में उसने लिखा है, "सामान्यतः मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अकृतघ्न, चलायमान, मिथ्यावादी, डरपोक और स्वार्थलिप्सु होते हैं। वे तभी तक आपके बने रहते हैं जब तक सफलता आपके पास है। वे तभी तक आपके लिए अपना रक्त, सम्पत्ति, जीवन आदि का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहेंगे जब तक वास्तव में ऐसे बलिदानों की आवश्यकता दूर रहती है लेकिन जैसे ही यह आवश्यकता निकट आती है, वे आपके विरुद्ध विद्रोह भी कर लेते हैं।........मनुष्य उसी समय तक किसी से प्रेम करते हैं जब तक उसका स्वार्थ सिद्ध होता है, लेकिन जब वे अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि नहीं देखते तो वे विद्रोह कर देते हैं।"

मैकियावली का कहना था कि कार्य करने की प्रेरणा और उत्तेजना मनुष्य को स्वार्थपरता से ही मिलती है। मनुष्य एक पशु के समान है जिसमे अन्तर्निहित अच्छाई नाम मात्र को भी नहीं है। भय, शक्ति, अभिमान और स्वार्थ ही उसकी प्रेरक शक्तियाँ हैं। जब कभी मनुष्य को स्वविवेक से कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है तभी अव्यवस्था फैल जाती है क्योंकि व्यवहार मे वह धोखेबाज और चित्त से वह अस्थिर है। भय के कारण वह दूसरो से प्रेम करता है, अपने लाभ के लिए स्वाँग रचता है तथा पाखण्डी बनता है, विलासी होने के कारण वह आरामप्रिय है। आशा लगाए हुए प्रत्येक व्यक्ति उस दिन की इन्तजारी करता है जब बाप मरता है और धन बँटते हैं। मैकियावली का यह वाक्य बडा ही प्रसिद्ध है कि "मनुष्य पिता की मृत्यु का दुःख आसानी से भूल जाते हैं पर पितृ-धन की हानि नही भूलते (Men more rapidly forget the death of father than the lost patrımoney)।" कपट, वासना और स्वार्थ से भरा व्यक्ति अपने ही बुने गए जाल मे छटपटाता हुआ मर जाता है। इतिहास बताता है कि मनुष्य अन्त मे सदैव ऊपर से नीचे की ओर ही गिरा है और वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य का पापी जीवन सदा-सदा के लिए मिट जाएगा।

मैकियावली के अनुसार सम्पत्ति की आकांक्षा मनुष्य के कार्यों की शक्तिशाली प्रेरक है "मनुष्य अपनी आशाओं की अपरिमितता के कारण ही अपराध कर बैठते हैं (Men always commit the error of not knowing when to limit their hopes)।" 'कुछ प्राप्त करने की' स्वाभाविक इच्छा की सदैव ही पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि ससार की सर्वोच्च वस्तु उसी के जीवन के लिए हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह निरन्तर प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष मे लगा रहता है।

मानव-स्वभाव की इस धारणा के आधार पर ही मैकियावली कहता है कि एक राजनीतिज्ञ को मानव की इस स्वार्थ-भावना को ध्यान मे रखना चाहिए और राज्य को चाहिए कि वह एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के आक्रमण से बचाए। मैकियावली के अनुसार प्रेम और भय दो विशेष शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य से कुछ काम निकाला जा सकता है। जो शासक प्रिय होगा उसका दूसरो पर अच्छा प्रभाव पडेगा। जो शासक भयकर होगा जनता उसकी आज्ञा तुरन्त ही मानेगी। प्रेम और भय—ये दो शक्तियाँ मनुष्यो को वश मे कर सकती हैं किन्तु राजा के लिए भय का सहारा लेना ही अधिक श्रेष्ठ है। मैकियावली की मानव-स्वभाव एव शक्ति अथवा भय सम्बन्धी धारणा का सेबाइन महोदय ने बडा सारगर्भित शब्द-चित्र इस प्रकार से खींचा है—

"मैकियावली ने राजनीति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, उसके मूल मे एक विशिष्ट धारणा कार्य कर रही है। वह धारणा यह है कि मानव प्रकृति मूलतः स्वार्थी है। राजनेता के प्रेरक उद्देश्य सदैव अहवादी होने चाहिए। जन-साधारण सदैव सुरक्षा चाहता है और शासक शक्ति। शासन की स्थापना का उद्देश्य ही यह है कि व्यक्ति कमजोर होता है। वह दूसरे व्यक्तियो के अतिक्रमण से अपनी रक्षा नही कर सकता। उसकी रक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। मनुष्य की प्रकृति बहुत अधिक आक्रमणशाली और अर्जनशील है। मनुष्यो के पास जो कुछ होता है वे उसे अपने पास रखना चाहते हैं और उससे अधिक का अर्जन करना चाहते हैं। मनुष्य की इच्छाओ पर कोई नियन्त्रण नहीं है। उन पर एकमात्र नियन्त्रण प्राकृतिक दुर्लभता का है। फलतः मनुष्य सदैव ही सघर्ष और प्रतियोगिता की स्थिति में रहते हैं। यदि इस सघर्ष और प्रतियोगिता पर विधि का अकुश न हो तो समाज मे अराजकता फैल सकती है। शासक की शक्ति अराजकता की सम्भावना पर और इस धारणा पर कि शक्तिशाली शासक होने पर ही सुरक्षा कायम रह सकती है, आधारित है। मैकियावली ने शासन के सम्बन्ध मे इस धारणा को स्वतः सिद्ध मान लिया है, यद्यपि इसके आधार पर उसने व्यवहार के किसी सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का विकास नही किया है। लेकिन, उसने अनेक स्थलो पर यह कहा है

मनुष्य सामान्य रूप से खराब होते है और बुद्धिमान शासक को अपनी नीतियाँ इसी धारणा को आधार बनाकर निर्धारित करनी चाहिए। उसने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया है कि सफल शासक को सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए क्योकि मनुष्य की प्रकृति मे ये ही सबसे सार्वभौम इच्छाएँ है। इसलिए उसने एक स्थान पर यहाँ तक कहा है कि मनुष्य अपनी पैतृक सम्पत्ति की जब्ती की अपेक्षा अपने पिता की हत्या को अधिक आसानी से क्षमा कर सकता है। अत्याचारी शासक मार सकता है, वह लूटपाट नही करेगा। मैकियावली की विचारधारा से इस पहलू को जब व्यवस्थित मनोविज्ञान के द्वारा पूर्ण किया गया तब वह हॉब्स का राजनीतिक दर्शन बन गया।"[1] मैकियावली का शासक भी एक मानव है जो इन सब दुर्गुणो से युक्त है, अतः सच्चा शासक वही है जो शक्ति, धोखा और पक्षपात लेकर चले तथा साथ ही लोमड़ी की तरह चालक और शेर की तरह शक्तिशाली हो। वह चाहता है कि शासक सतर्क और आन्दोलित रहे। नियन्त्रण, सयम और अनुशासन द्वारा समाज मे सन्तुलन रखा जा सकता है। एक बुद्धिमान शासक के लिए उचित है कि वह मानव मनोविज्ञान को ध्यान मे रखकर मानव स्वभाव के उपरोक्त (बुरे) आधार पर अपनी सत्ता को ग्रहण करे। उसके अनुसार सफल सरकार वही है जो सम्पत्ति और जीवन की किसी भी प्रकार रक्षा कर सके।

मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारो के निष्कर्ष

(1) मैकियावली का मानव प्रेरणाओ से सम्बन्धित उपरोक्त सिद्धान्त मानव स्वभाव के बारे मे प्लेटो और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित या वैसे ही अन्य सिद्धान्तो का जो राज्य का जन्म मनुष्य के सामाजिक स्वभाव मे देखते हैं, खण्डन करता है। जहाँ प्लेटो मनुष्य को स्वभावत. सद्गुणी समझता है वहाँ मैकियावली ने राज्य और समाज की उत्पत्ति को एक आकस्मिक घटना माना है, जो मनुष्यो मे सुरक्षा की आवश्यकता से उत्पन्न हुई। उसके अनुसार मनुष्य दूसरो के साथ इसलिए सहयोग करता है क्योकि वह जानता है कि उनके सहयोग के अभाव मे उसके परिवार और सम्पत्ति की सुरक्षा सम्भव नही है। उसकी इस सुरक्षा की समस्या से ही सरकार की आवश्यकता होती है।

(2) एक बुद्धिमान शासक को यह मान कर चलना चाहिए कि मनुष्य की प्रेरक शक्तियाँ, जिन पर वह भरोसा रख सकता है, स्वय अहपूर्ण और स्वार्थपूर्ण है। वे नैतिक और परमार्थपूर्ण नही है अत शासक को सदैव इतना अधिक शक्तिशाली बनने का प्रयास करना चाहिए कि वह प्रजाजन को सुरक्षा प्रदान कर सके। शासक को अपनी नीतियो पर नैतिकता एव आदर्शवादिता का मुलम्मा चढाने की कोई आवश्यकता नही है। मनुष्य मे सामाजिक सद्गुण नाम की कोई वस्तु नही होती। जिन्हे हम सामाजिक सद्गुण की सज्ञा देते है वे केवल स्वार्थ के बदले हुए रूप हैं।

(3) राजनीतिक और नैतिकता का गठबन्धन अव्यावहारिक और उपहासास्पद है। मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी तथा धर्म की अपेक्षा पाप की ओर प्रवृत्त है। वह विवश किया जाने पर ही अच्छाई का कोई काम करता है। अत यह बुद्धिहीनता और अराजनीतिकता होगी कि शासक ऐसे मनुष्य के नैतिक या सामाजिक सद्गुण रूपी बहरूपियेपन पर विश्वास करे। शासक की आदर्श स्थिति तो यह है कि प्रजाजन उससे प्रेम भी करें और उससे डरते भी रहे। चूँकि ये दोनो बातें अधिकाँशतः एक साथ सम्भव नही हैं अत. यही श्रेष्ठतर है कि शासक मनुष्यो को शक्ति द्वारा नियन्त्रित करता रहे। शक्ति ही एक ऐसा महा-अस्त्र है जिसका मूल्य मनुष्य समझते है। शक्ति भय की जननी है, और भय प्रेम की अपेक्षा अधिक अनुशासन रखने मे समर्थ है। प्रेम बहुधा अवसर पडने पर धोखा दे जाता है। शक्ति द्वारा अराजकता को मिटाया जा सकता है और सामाजिक स्थिरता की स्थापना करते हुए मनुष्य के स्वार्थपूर्ण कार्यों को रोका जा सकता है।

(4) मैकियावली के इस कथन से कि "मनुष्य जन्म और स्वभाव के अनुसार ही कपटी, स्वार्थी और लोभी होता है"—यह अर्थ निकालना अस्वाभाविक न होगा कि मनुष्य के आचरण

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 311.

[illegible] सम्भव नहीं है। जहाँ अरस्तू के शब्दों में मनुष्य को शिक्षा द्वारा सद्गुणी बनाया जा सकता है वहाँ मैकियावली के अनुसार मनुष्य अपनी स्वभावजन्य एवं अन्तर्निहित बुराइयों के कारण युग-युगान्तर से अपरिवर्तित ही बना रहता। मनुष्य के लिए उसके स्वभाव में सुधार करना न तो शिक्षा द्वारा सम्भव है और न सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं के सुधार द्वारा। उसकी कुप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण का एकमात्र ही प्रमुख साधन है—और वह है शक्ति या दमन।

मैकियावली के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों की आलोचना

मैकियावली द्वारा किया गया मानव-स्वभाव का चित्रण हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था के मानव स्वभाव से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसी कारण उसे मानव-द्रोही तथा घातक कहा जाता है। मानव इतना बुरा, स्वार्थी और निम्नकोटि का नहीं है जितना उसने बतलाया है। उसमें सद्गुणों की कमी नहीं है। प्रेम, सहयोग, मानवता, त्याग, अनुशासन आदि उच्च दैवी गुण मनुष्य में ही पाए जाते हैं। मैकियावली के विचार अवैज्ञानिक और विरोधात्मक प्रवृत्तियों से भरपूर हैं। यदि मनुष्य उसके बताए अनुसार ही स्वार्थी है तब तो समाज का सुधार वह किसी भी परिस्थिति में नहीं कर सकता। यदि मनुष्य इतना ही पापी, द्रोही और अहंकारी है जितना मैकियावली ने कहा है तो राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि राज्य तो सहयोगी-भावनाओं से उत्पन्न हुआ है। पुनश्च: कुछ परिस्थितियों में चाहे "मनुष्य पिता की मृत्यु का दुःख आसानी से भूल जाए" पर यह भी वह मनुष्य ही है, जो देश-हित, पिता के सम्मान और परोपकार के प्रश्न पर अपना तन-मन-धन सभी कुछ बलिदान कर देता है।

वास्तव में प्रतीत यही होता है कि मैकियावली को मानव-प्रकृति की निकृष्टता और असभ्यता में उतनी दिलचस्पी नहीं थी जितनी इस बात में कि इन बुराइयों के कारण ही इटालियन समाज की बड़ी दुर्दशा हो गई थी। अपने समाज की अधोगति देखकर उसे मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। उसके विचार से इटली भ्रष्ट-समाज का सजीव उदाहरण था। जहाँ राजतन्त्र ने फ्रांस और स्पेन में इस प्रकार की बुराइयों को किसी अंश तक दूर कर दिया था वहाँ इटली में इन बुराइयों को दूर करने वाली कोई सत्ता नहीं थी। मानव-स्वभाव के जिन पक्षों का चित्रण मैकियावली ने किया है, वे सब इटली में विद्यमान थे। मैकियावली स्वयं मनुष्य के क्रोध, शक्ति और स्वार्थ-लोलुपता का शिकार हुआ बदनसीब इन्सान था। अतः उसके हृदय में यदि मानव-स्वभाव के बुरे पक्ष का ही ध्यान रहा हो तो इसमें इसका दोष कम है, उसकी परिस्थितियों और इटली में विद्यमान तत्कालीन वातावरण का अधिक। तत्कालीन परिस्थितियों और इटली की दुर्दशा के कारण ही मैकियावली सम्भवतः इतना अधिक तड़प उठा और दुःख के सागर में डूब गया कि उसने अच्छाई और बुराई के मानव-स्वभाव रूपी सिक्के के दो पहलुओं में से केवल एक ही पहलू को चित्रित किया। इटली के तत्कालीन मनुष्यों के स्वभाव के आधार पर समस्त मनुष्यों के सर्वकालीन स्वभाव को निर्धारित करना, उसका एक तार्किक दोष है। पुनश्च, यह भी कहना होगा कि मैकियावली ने अपने मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों की कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की है, बल्कि अपने विचारों को केवल बलशाली शब्दों में व्यक्त किया है।

मैकियावली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचार
(Machiavelli on Religion and Morality)

राजनीति दर्शन में मैकियावली ने ही सर्वप्रथम राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से पृथक् रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यही विचार उसे मध्यकाल से पूर्ण रूप से विलग करता है। "उसने राजनीतिक हित को नैतिकता एवं धर्म से जिस भाँति अलग रखा है उसका निकटतम सादृश्य अरस्तू द्वारा लिखित 'पॉलिटिक्स' के कुछ अंशों में पाया जाता है। अरस्तू ने भी राज्यों की अच्छाई-बुराई की ओर ध्यान दिए बिना ही उनकी रक्षा के उपायों का विवेचन किया है; तथापि यह निश्चित

है कि मैकियावली ने इन अवतरणों को अपना आदर्श माना था। यह सम्भव नही कि उसे किसी के अनुसरण करने का ध्यान रहा हो। हाँ, यह हो सकता है कि उसकी धर्म-निरपेक्षता और उसके प्रकृतिवादी अरस्तूवाद मे जिसने दो शताब्दियो पूर्व 'डिफेन्सरपेसेज्' की रचना को प्रेरणा दी थी, से कुछ सम्बन्ध रहा हो। मार्सीलियो की भाँति मैकियावली भी पोपशाही को इटली की फूट का कारण मानता था। धर्म लौकिक मामलो मे कितना उपयोगी होता है? इस सम्बन्ध मे भी मार्सीलियो और मैकियावली के विचार प्राय एक-से है। मैकियावली की धर्म-निरपेक्षता मार्सीलियो की धर्म-निरपेक्षता से आगे बढी हुई है। मैकियावली धार्मिक पचड़ो से बिल्कुल मुक्त है।"[1] मार्सीलियो ईसाई धर्म के मानवस्वभाव सम्बन्धी वैधता के सिद्धान्त और ईश्वरीय नियम के विश्वास को नही छोड सका था जबकि मैकियावली ईसाई धर्म की मान्यताओ का विरोध करते हुए इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य का कोई अति प्राकृतिक (Super-natural) या दैवी लक्ष्य है।

जहाँ मार्सीलियो ने ईसाई आचारो को परलोक सम्बन्धी बताकर विवेक की स्वतन्त्रता का समर्थन किया, वहाँ मैकियावली ने उसकी निन्दा इसलिए की है कि वे परलोक सम्बन्धी हैं। उसने ईसाई सद्गुणो को चरित्र को कमजोर बनाने वाला बताया है और प्राचीन कालीन धर्मों को ईसाई धर्म की तुलना मे अधिक तेजस्वी स्वीकार किया है। उसी के शब्दो मे, "हमारा धर्म विनम्रता, निम्नता और सांसारिक लक्ष्यो के प्रति उदासीनता को उच्चतम सुख मानता है। इसके विपरीत दूसरा धर्म आत्मा के गौरव, शरीर की शक्ति तथा अन्य ऐसे गुणो मे जो आदमी को बलवान बनाते है, सर्वोच्चशीलता की कल्पना करता है। मेरा ख्याल है कि इन सिद्धान्तो के कारण मनुष्य कायर हो गए हैं। दुष्ट आदमी उन्हे बडी आसानी से अपने काबू मे कर लेते हैं। धर्मभीरु मनुष्य हमेशा स्वर्ग की लालसा मे लगे रहते हैं—वे चोट सह लेते हैं, बदला नही लेते।"

उपरोक्त अवतरण से स्पष्ट है कि मैकियावली नैतिकता और धर्म के राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव से परिचित था। उसने यह स्वीकार किया है कि श... साध्य को ... करने के लिए अनैतिक साधनो का प्रयोग कर सकते हैं। उसने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समस्त साधनो का प्रयोग किया है चाहे वे साधन नैतिक हो या अनैतिक। उसने नैतिकता को व्यक्तिगत नैतिकता (Private Morality) एवं जन-नैतिकता (Public Morality)—इन दो वर्गो मे बाँटा है। व्यक्तिगत नैतिकता मे शासक के दृष्टिकोण और मापदण्ड को रखा गया है। जन-नैतिकता के बारे मे उसने कहा है कि जनता का कल्याण इसी मे है कि वह अपने शासक की आज्ञाओ का पालन करे। उसके अनुसार शासक स्वतन्त्र है, उस पर कोई नियन्त्रण नही है और न ही वह नैतिकता के किसी बन्धन मे बँधा है। अपनी शक्ति और प्रभाव के विस्तार मे जो उपयुक्त हो, सहायक हो, वह सब न्याय और नैतिक है। वह राज्य के लिए अपने को एकीकृत करने और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले साधनो की नैतिकता पर कोई ध्यान न देकर केवल इस बात पर ध्यान देता है कि वे उद्देश्य की पूर्ति मे सफलतादायक है भी या नही। उसके कथनानुसार "राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रखनी चाहिए, साधन तो हमेशा आदरणीय ही माने जाएँगे और सामान्यतः उनकी प्रशंसा ही की जाएगी। राजा का काम आम खाना है गुठलियाँ गिनना नही। इसलिए उसका उद्देश्य यही होना चाहिए कि अपने काम मे अपने नैतिक या अनैतिक साधन का प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर ली जाए।" मैकियावली द्वारा चित्रित आदर्श-नरेश का यही दृष्टिकोण है कि न कोई चीज अच्छी है और न कोई बुरी। जरूरत पर जो काम दे और फल दे, वही चीज सबसे अच्छी है। राजसत्ता को बनाए रखने के लिए शासक साम, दाम, दण्ड और भेद, बेईमानी, हत्या, प्रवचना, आडम्बर, आदि किसी भी उपाय का प्रयोग कर सकता है। सच्चा राजा वही है जो शक्ति, धोखा और पक्षपात लेकर चले, शेर की तरह शक्तिशाली हो और लोमड़ी की तरह चालाक हो। उसकी इस नीति को 'व्याघ्र-लोमडी नीति' (Lion and Fox Theory)

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 309

कहा गया है। मैकियावली के अनुसार, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, लोक-परलोक, अच्छा-बुरा, शत्रु-मित्र आदि के विचार डरपोक मनुष्यो के लिए हैं, राजा को इनका दास नही होना चाहिए। राजा को तो सदैव यही सीखना चाहिए कि उसे श्रेष्ठ नही बनना है और बेईमानी, धोखेबाजी, छल-कपट, अवसरवादिता, हत्या, चोरी, डकैती आदि इसके कुशल शस्त्र हैं। इन विचारो के पीछे मैकियावली की धारणा यही है कि राज्य की सुरक्षा और कल्याण सर्वोपरि हैं, अत इस मार्ग मे नैतिक विचार बाधक रूप मे सामने नही आना चाहिए। साध्य की प्राप्ति हेतु साधनो की नैतिकता के चक्कर मे पडना मूर्खता है। इस प्रसग मे मैकियावली का निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है—

"प्रत्येक व्यक्ति इस बात से परिचित है कि राजा के लिए अपने वचन का पालन करना और नीतिपूर्वक आचरण करना कितना प्रशसनीय है, फिर भी जो कुछ हमारे नेत्रो के सामने घटित हुआ है उससे हमे यही दिखाई देता है कि केवल वे राजा ही महान् कार्य सम्पन्न कर पाए हैं जिन्होने चालाकी मे दूसरो को पीछे छोड दिया और अन्तत. वे उनसे अधिक सफलता प्राप्त करते हैं जो ईमानदारीपूर्ण आचरण मे विश्वास करते थे ''अत एक बुद्धिमान शासक अपने वचन का पालन नही कर सकता और न ही उसे ऐसा करना चाहिए, यदि ऐसा करना उसके हितो मे न हो और जबकि वे कारण समाप्त हो गए हो जिनसे विवश होकर यह वचन दिया था। यदि मनुष्य पूर्णत. श्रेष्ठ होते तो ऐसी स्थिति न आती, किन्तु चूँकि वे बुरे अथवा अश्रेष्ठ हैं और उन वायदो को नही निभायेंगे जो उन्होने तुम से किए है, अत तुम भी उनके साथ अपने वचन निभाने के लिए बाध्य नही हो और किसी भी शासक को कभी ऐसे उपयुक्त कारण का अभाव नहीं रहा है जिसकी ओट में वह अपने वचन-भग पर पर्दा डाल सके। इस बात के समर्थन मे हाल ही के अगणित उदाहरण पेश करके यह बतलाया जा सकता है कि किस प्रकार राजाओ के विश्वासघात के कारण अनेक पवित्र सन्धियाँ निष्क्रिय एव व्यर्थ बना दी गईं और किस प्रकार उस व्यक्ति को ही सर्वोत्तम सफलता मिल पाई जो सभी के साथ चालाकी का प्रयोग करना चाहता है।"

मैकियावली ने अपने ग्रन्थ 'डिस्कोर्सेज' के अध्याय 59 मे स्पष्ट लिखा है कि "मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन सकट मे हो तो राजाओ और गणराज्यो की रक्षा के लिए विश्वास-घात तथा कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" उसका स्पष्ट मत था कि साँसारिक सफलता सबसे बडा साध्य है, जिसे पाने के लिए अनैतिक साधनो को अपनाना आवश्यक है। साध्य की सफलता साधनो को पवित्र बना देती है। उसने क्रूरता, विश्वासघात आदि जघन्य कार्य करने वालो के अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किए।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि मैकियावली नैतिकता नाम की किसी बात से परिचित नही था। उसने तो नैतिक मान्यताओ एव सिद्धान्तो को राजनीति के क्षेत्र से दूर किया है। उसने नैतिक गुणो की विशेषताओ को अस्वीकार नही किया है, परन्तु राजनीतिक गुणों के लिए उन्हे आवश्यक नहीं माना है। उसकी दृष्टि मे राजनीतिक व्यक्ति प्रत्येक स्तर से सफलता प्राप्त करने हेतु स्वतन्त्र है चाहे इसके लिए उनको नैतिक मान्यताओ का बलिदान ही क्यो न करना पडे।

वैसे वह यह सुझाव देना भी नही भूला है कि एक राजा को ऐसे गुणो के साथ प्रकट होना चाहिए जिन्हे श्रेष्ठ मनुष्य के लक्षण माना जाता है। इस दृष्टि से उसे—मिथ्याचार और छल-कपट मे निष्णात होना चाहिए और इस तरह आचरण करना चाहिए कि लोग यही समझें कि 'वह (राजा) तो विश्वास, अनुकम्पा, सच्चरित्रता, दयालुता और धार्मिकता की साकार प्रतिमा है।" दरअसल मैकियावली ने न तो धर्म और नैतिकता से घृणा की है और न उसकी अवहेलना ही की है। उसने तो धर्म और नैतिकता को राज्य के बन्धन मे रखकर उन्हें राजनीति का अनुगामी बनाया है। राज्य को वह धर्महीन नही बल्कि धर्म-निरपेक्ष तथा आचारहीन नही बल्कि आचारगत बाधाओं से मुक्त देखना

चाहता है। एक राज्य तथा जाति के जीवन मे धर्म और नैतिकता के महत्त्वपूर्ण भाग से वह अपरिचित नही है, जैसा कि उसके ग्रन्थ 'डिस्कोर्सेज' के इस उद्धरण से स्पष्ट है—

"जो राजा और गणराज्य अपने को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना चाहते है उन्हे सर्वप्रथम समस्त धार्मिक संस्कारो की विशुद्धता को सुरक्षित रखना चाहिए और उनके प्रति उचित श्रद्धाभाव दर्शाना चाहिए, क्योकि धर्म की हानि होते हुए देखने से बढकर किसी देश के विनाश का और कोई लक्षण नही है।"

इस मत के समर्थन मे सेबाइन के ये शब्द भी उल्लेखनीय है कि "मैकियावली ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि शासक साध्य को प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनो का प्रयोग कर सकते है लेकिन उसे इसमे कोई सन्देह नही था कि जनता का भ्रष्टाचार श्रेष्ठ शासन का निर्माण असम्भव कर देता है। मैकियावली ने प्राचीनकाल के रोमनो और अपने समय के स्विस लोगो के नागरिक सद्गुणों की भूरि-भूरि सराहना की है। उसका विश्वास है कि ये सद्गुण पारिवारिक जीवन की पवित्रता, व्यक्तिगत जीवन मे स्वतन्त्रता तथा प्राणवेत्ता व्यवहार मे सरलता और मितव्ययिता तथा सार्वजनिक कर्त्तव्यो के पालन मे निष्ठा और विश्वसनीयता के कारण विकसित हो सके थे। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही कि शासक को अपने प्रजाजनो के धर्म मे विश्वास रखना चाहिए अथवा उनके सद्गुणो का अभ्यास करना चाहिए।"[1] मैकियावली के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विचारो के कारण ही यह कहा गया है कि "वह अनैतिक नही, नैतिकता विरोधी था और अधार्मिक नही, धर्म निरपेक्ष था (He was not immoral but unmoral, not irreligious but unreligious)।" मैकियावली ऐसी शक्ति की आवश्यकता को समझता था जो मनुष्य के कार्यों को ही नही बल्कि उसके मन को भी नियन्त्रित कर सके। इस ध्येय की पूर्ति के लिए वह धर्म को उपयुक्त साधन मानते हुए धर्म को राज्य के एक ऐसे यन्त्र के रूप मे प्रयोग करना चाहता था जो इस तरह की राष्ट्रीय परम्पराएँ एव व्यावहारिक आदर्श उत्पन्न कर दे जिनसे शान्ति, व्यवस्था और समाज की स्थिरता मे सहायता मिल सके। मैकियावली का स्वयं का जीवन बडा प्रगतिशील, आदर्शपूर्ण और अनुकरण करने योग्य था। केवल सामूहिक विकास के हेतु ही उसने धर्म और नैतिकता को राजनीति से दूर रखा। आज के विश्व मे भी हम देखते है कि धर्म और आचार-शास्त्र राजनीति की सीमा से कोसो दूर है। मैकियावली ने नैतिकता सम्बन्धी विचारो का स्पष्ट दर्शन उनके द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत नैतिकता और जन-नैतिकता के अन्तर से हो जाता है। व्यक्तिगत गुणो का वह विरोधी प्रतीत नही होता, क्योकि राजा के गुणो का वर्णन करते हुए वह कहता है कि "राजा बुद्धिमत्ता एव आत्म-नियन्त्रण का एक आदर्श स्वरूप है और वह अपने गुणों एव दोषो से प्रजा को समान लाभ पहुँचाता है।"

मैकियावली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचारो पर दृष्टिपात करने के उपरान्त यह भी जान लेना चाहिए कि उसने धर्म और नैतिकता से राजनीति का पृथक्करण किन कारणो के आधार पर किया था। मोटे रूप मे इसके तीन कारण दिए जा सकते है—

(1) मैकियावली यूनानी दार्शनिको की भाँति मनुष्य की रक्षा और कल्याण के लिए राज्य को अत्यावश्यक, सर्वोत्तम और सर्वोच्च सगठन मानते हुए राज्य के हित को सब व्यक्तियो के हितों से ऊपर समझता था। इसीलिए उसने यह लिखा कि "जब राज्य की सुरक्षा सकट मे हो तो उस पर नैतिकता के वे नियम लागू नही होने चाहिए जो नागरिको के व्यवहार को विनियमित करते हैं।"

(2) दूसरा कारण मैकियावली का यथार्थवादी दृष्टिकोण था। वह वस्तुओ के वास्तविक सत्य तक पहुँचने का आकांक्षी था। उस समय के ईसाईयत जीवन के और स्वयं पोप के पापमय आचरण को देखकर उसे यह विश्वास हो गया था कि धार्मिक सत्ता मनुष्यो को अन्धविश्वासी और अकर्मण्य बनाती है, जिसके कारण वे परिस्थितियो का सामना करने मे असमर्थ हो जाते हैं। अत उसका

यह सिद्धान्त बनाना स्वाभाविक था कि मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धार्मिक सत्ता का राजनीति मे अस्तित्व न रहने पाए।

(3) तीसरा कारण मैकियावली द्वारा शक्ति को असाधारण महत्त्व देना था। वह शक्तिशाली पुरुषों को ही वंदनीय समझता था अत. शक्ति प्राप्त करने के लिए उसने किसी भी उपाय के प्रयोग को उचित बताया। इस दृष्टिकोण से धार्मिक प्रभावों से मुक्त, उपयोगितावादी राजनीति का जन्म हुआ। मैकियावली की आस्था लौकिक आदर्श एवं शक्ति तथा ख्याति की उपलब्धि मे थी। मृत्यु के बाद मोक्ष लाभ प्राप्त करना उसकी दृष्टि मे इतना आवश्यक न था जितना इस लोक मे ख्याति लाभ प्राप्त करना। अत. यह कोई आश्चर्य की बात न थी कि उसने राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से अलग रखकर एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थान दिया।

दुनिया की व्यावहारिक प्रणाली को देखकर और यह परख कर कि धर्म की आँड मे क्या पाप किए जाते हैं और राजनीति मे धर्म को कैसे उछाला जाता है? मैकियावली ने धर्म और नैतिकता सम्बन्धी जो विचार प्रकट किए, उनकी सत्यता का अनुभव हम आज भी करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के कारनामों को विश्व देख चुका है, चीन को विश्व देख रहा है और राजनीति के नैतिकता-विहीन खेलों से सारा विश्व आज ग्रस्त है।

मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार
(Machiavelli's Conception of the States)

राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति

अरस्तू की भाँति मैकियावली ने राजनीति के अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग तो किया है किन्तु उसकी राज्य सम्बन्धी कल्पना अरस्तू से भिन्न है। अरस्तू राज्य को प्राकृतिक सस्था मानता है जबकि मैकियावली मानव-कृत। उसका विचार है कि राज्य एक कृत्रिम सस्था है, जिसे मनुष्य ने अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिए बनाया है। वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ मानता है और इसी कारण राज्य की मुख्य विशेषता उसका निरन्तर विस्तार है। "जब सभी मानवीय व्यापार गतिशील हैं तो यह असम्भव है कि कोई निश्चल खडा रहे।" मैकियावली नगर-राज्य की अपेक्षा निरन्तर विकासशील रोमन साम्राज्य का उपासक था। राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी मैकियावली का विचार हॉब्स से मिलता-जुलता है, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व हॉब्स के समान ही वह मानवीय दशा को अत्यन्त स्वार्थी और शोचनीय मानता है जिसकी समाप्ति के लिए अन्त मे लोगो ने यह ठीक समझा कि उचित व्यवस्था करने वाले किसी अधिकारी की नियुक्ति कर दी जाए। जब सामान्य हित और कल्याण की इस भावना से व्यक्ति के हितो का संयुक्तीकरण हो गया तो राज्य की उत्पत्ति हुई। स्वार्थ को राज्य की उत्पत्ति का आधार बताते हुए मैकियावली यह भी स्वीकार करता है कि राज्य की स्थापना असभ्य जातियो का सगठन करने के लिए हुई थी। इस तरह वह स्वार्थ के अतिरिक्त स्पष्टत: यह भी बतलाना चाहता है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय न होकर समाज के बल का परिणाम है। मनुष्य की दुष्टता और स्वार्थपरता को सीमित एव नियन्त्रित करने के लिए बलशाली बाह्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो राज्य द्वारा पूरी की जाती है।

अरस्तू की भाँति ही मैकियावली राज्य को अन्य सभी सस्थाओं से उच्चतर स्थान देता है। समस्त सस्थान राज्य के प्रति उत्तरदायी हैं, जबकि राज्य किसी के प्रति उत्तरदायी नही है। मनुष्य का सर्वोत्तम कल्याण राज्य के अतिरिक्त और कोई सस्था नही कर सकती। मनुष्य जब अपने व्यक्तित्व को राज्य मे विलीन कर देता है तभी वह राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने मे सफल होता है और राज्य के अस्तित्व से उसका सर्वतोन्मुखी विकास होता है। व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि राज्य के हितो के सामने अपने हितों की चिन्ता न करे। राज्यों मे जितने भी व्यक्ति-समुदाय होते हैं उनका भी यही कार्य है।

राज्य की महत्ता का आधार मैकियावली ने भौतिक शक्ति एवं छल-कपट (Craft) माना है। इनके बिना राज्य की वृद्धि नही हो सकती। राज्य किसी प्रकार के नैतिक आचरणो से नही बंधा हुआ है। उसके लिए वे सभी कार्य नैतिक है जो उद्देश्य की प्राप्ति मे उसकी सहायता करते है।

मैकियावली यह मानता है कि राज्य परिवर्तनशील है और उसके उत्थान एवं पतन का लम्बा इतिहास है। इस परिवर्तन का अपना एक निश्चित क्रम है जिसे हम इतिहास के अध्ययन से जान सकते हैं। वह राज्य को दो भागो मे विभाजित करता है—(1) स्वस्थ राज्य, (2) अस्वस्थ राज्य। स्वस्थ राज्य युद्धशील होता है और निरन्तर सघर्ष मे लगा रहता है। यह राज्य एकता का प्रतीक होता है, क्योंकि लघु स्वार्थों के लिए इसके निवासी परस्पर लडते-झगडते नही हैं। स्वस्थ राज्य तेजस्वी और गतिशील होता है। अस्वस्थ राज्य शिथिल होता है जिसमे व्यक्ति अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए भी सघर्षरत रहते हैं। उन्हे राज्य की एकता और सगठन की कोई चिन्ता नही होती।

राज्य के कर्त्तव्य, उद्देश्य और आचरण पर बहुत कुछ प्रकाश पूर्ववर्ती पृष्ठो मे दिए गए विवरण से पड चुका है। प्लेटो का आदर्श-राजा जहाँ कामिनी-कचन के मोह से ऊपर उठा हुआ साधु-सन्त था, शान्तिप्रिय था वहाँ मैकियावली का आदर्श राजा वह है जो किन्ही भी उपायो से राज्य की शक्ति, सम्मान और प्रतिष्ठा को बढाता है, जो राज्य का निरन्तर विस्तार कर उसे सम्मान की चोटी पर पहुँचाता है। अपने विख्यात ग्रन्थ 'प्रिंस' के 26 अध्यायो मे उसने विस्तार से यह बतलाया है कि राजा को किस तरह का आचरण करना चाहिए। उसने बतलाया है कि मनुष्य मानवता और पशुता के अशो से मिलकर बनता है, अत राजा को इन दोनो (मनुष्य और पशु) के साथ व्यवहार करने के उपायो का ज्ञान होना चाहिए। लोमडी की चालाकी और शेर की शूरता रखते हुए राजा को अपने उद्देश्यो पर बढते जाना चाहिए। उसे एन-केन-प्रकारेण अपना कार्य निकालना चाहिए। राजा को एक नम्बर का जोगी और बहुरूपिया होना चाहिए। उसे भाड़े के टट्टू विदेशी सिपाहियो पर कभी निर्भर नही रहना चाहिए, प्रत्युत अपने ही देश के सिपाहियो की विश्वासपात्र सेना रखनी चाहिए। मैकियावली इस बात से अनभिज्ञ न था कि तत्कालीन इटली में विदेशी सिपाही विरोधियो की अपेक्षा अपने मालिको के लिए ही अधिक सकट उत्पन्न करते थे।

मैकियावली ने राजा को दूसरी शिक्षा यह दी कि उसे दयालु होते हुए भी इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का अनुचित लाभ न उठाए। आवश्यकता पडने पर राजा को क्रूर होने से भय नही खाना चाहिए। उसका हर प्रकार से यह प्रयत्न होना चाहिए कि प्रजा मे उसके प्रति भय और सम्मान की भावना सतत जीवित रहे, पर साथ ही इस बात के प्रति सचेत रहना चाहिए कि लोग उससे घृणा न करने लगें। आवश्यकता पडने पर क्रूरता, विश्वासघात, अनैतिकता, अधर्म आदि सभी उपायो को अपनी सफलता के लिए उसे प्रयोग मे लाना चाहिए, क्योंकि उसकी सफलता उसके तमाम साधनो को स्वय बाद मे नैतिक बना देगी। लोगों की घृणा से बचने के लिए राजा को कभी भी उनकी सम्पत्ति और उनकी स्त्रियो के सतीत्व को हाथ नही लगाना चाहिए। इन दोनों कार्यों के न होने पर अधिकांश जनता सुखी और सन्तुष्ट रहती है। यदि राजा को प्रजा छिछोरा (Frivolous), नीच प्रकृति का, पर-स्त्रीगामी और अस्थिर प्रवृत्ति का समझे तो इससे उसका मान घट जाता है। अतः उसका कर्त्तव्य है कि वह छल, कपट, हिंसा आदि का प्रयोग करते हुए भी ऐसे कार्य करे जिनसे उसकी महानता, उत्साह, गम्भीरता और सहनशीलता प्रकाश में आए तथा वह एक सज्जन एव धर्म-परायण व्यक्ति की ख्याति अर्जित करे, क्योंकि ऐसी ख्याति उसके नीतिशून्य आचरण को और भी अधिक प्रभावशाली बना देगी। मैकियावली ने यह व्यवस्था भी की है कि राजा को प्रतिवर्ष उचित समय पर प्रजा के मनोरजनार्थ मेलो की व्यवस्था करनी चाहिए और युद्ध मे प्राप्त लूट के माल को चुपचाप अपने कोष मे न छिपाकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिको में उसका वितरण कर देना चाहिए।

जहाँ तक सम्भव हो राजा को सामाजिक रूढियों और परम्पराओं मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए क्योकि ऐसा करने से राजा के विरोधियो को सिर उठाने का अवसर मिलता है। दण्ड देने जैसे अप्रिय कार्यों का पालन उसे अपने अफसरो से करवाना चाहिए क्योकि इनके कारण होने वाली बदनामी अफसरो के सिर मढी जा सकती है और यदि प्रजा के कोप के कारण इन कार्यों के करने मे कुछ पीछे भी हटना पडे तो तत्सम्बन्धी दोष अफसरो के सिर डालकर राजा आसानी से बच सकता है।

राजा को वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति में रुचि लेनी चाहिए, किन्तु स्वय को इस चक्कर मे नही पडना चाहिए। यही उचित है कि वह इनके और कृषि के विकास को यथासम्भव प्रोत्साहन देता रहे। राजा को कला की प्रतिभा का भी पोषण करना चाहिए। यदि राजा वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि आदि की ओर उपेक्षा का व्यवहार करेगा तो देश निर्धन और अशक्त हो जाएगा। साहित्य, सगीत और कला का सरक्षक होने से और गुण-ग्राहक बनने से राजा की लोकप्रियता मे वृद्धि होगी। मैकियावली ने राजा को चापलूसो से बचने और प्रजा के दिमाग को बडी योजनाओ मे लगाए रखने की सलाह दी है। उसने यह परामर्श भी दिया है कि जब राजा किसी नवीन राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहाँ के पुराने सविधान मे कोई परिवर्तन नही करना चाहिए। मैकियावली जनता द्वारा शासन कार्य मे भाग लेने का भी अनुमोदन करता है ताकि उसे राजनीतिक शिक्षा मिल सके। मैकियावली द्वारा जनता के शासन-कार्य मे भाग लेने का भी अनुमोदन करने से यह प्रतीत होता है कि कम से कम शान्ति-काल मे वह राज्य और जनता के हितो मे सघर्ष आवश्यक नही मानता। कुक (Cook) की यह धारणा असगत नही है कि "मैकियावली का राजा (Prince) जन-कल्याण के लिए तानाशाह है, किन्तु स्वय अपने सुख एव लाभ के लिए निरकुश शासक नही है।"

मैकियावली के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राजा की नीति शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने की होनी चाहिए। राजा को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उन पडौसी राज्यो को आपस मे सन्धि मे न बंधने दे जिनकी सयुक्त शक्ति उसके स्वय के राज्य से अधिक हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि राजा पडौसी राज्यो के आन्तरिक मामलो मे निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनाए। अपनी स्थिति सुदृढ बनाए रखने के लिए वह पडौसी राज्यो को प्रलोभन अथवा शक्ति द्वारा अपना मित्र बनाले। जिन राज्यो को वह युद्ध मे जीत ले उन्हे अपना उपनिवेश बनाकर वहाँ एक शक्तिशाली सेना रख दे। मैकियावली ने राजा को युद्ध सम्बन्धी परामर्श भी दिया है कि उसे यथासम्भव घेरा डालने की खुले अपेक्षा मैदान मे युद्ध नीति अपनानी चाहिए। सफलता-प्राप्ति के लिए राजा को तुरन्त निर्णय लेने की आदत डालनी चाहिए। तुरन्त और दृढ निर्णय तथा उनकी शीघ्र कार्यान्विति द्वारा गम्भीर समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है।

सरकार के रूप (Forms of Government)

शासनतन्त्रो अथवा सरकारों का वर्गीकरण मैकियावली ने इस उद्देश्य से किया है कि आदर्श शासन कायम किया जा सके। उसके लिए आदर्श शासन वही है जो पूर्णत सफल हो, बाधाओ से मुक्त हो, और जिसकी सत्ता अप्रतिहत हो। अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने सरकारों को, उनका शुद्ध एव अशुद्ध रूप मान कर छः भागो मे विभाजित किया है—

सामान्य रूप	विकृत रूप
(1) राजतन्त्र (Monarchy)	(1) आततायी तन्त्र (Tyranny)
(2) कुलनीनतन्त्र (Aristocracy)	(2) वर्ग तन्त्र (Oligarchy)
(3) गणतन्त्र (Republic)	(3) भीडतन्त्र या लोकतन्त्र (Democracy)

मैकियावली ने यद्यपि पॉलिबियस और सिसरो के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि मिश्रित सरकार सर्वश्रेष्ठ होती है क्योकि उसमे प्रत्येक शासनतन्त्र के अच्छे गुणो का समावेश होता है और समुचित शक्ति-सतुलन तथा नियन्त्रण बना रहता है, तथापि उसने केवल दो प्रकार की सरकारो

का ही विस्तार से वर्णन किया है और वे हैं राजतन्त्र तथा गणतन्त्र। राजतन्त्र का गुणगान 'प्रिन्स' में तथा गणतन्त्र का 'डिस्कोर्सेज' मे किया गया है। 'प्रिन्स' में मैकियावली ने राजतन्त्र का इतना अधिक गुणगान किया है कि केवल उस ग्रन्थ को पढकर ही अपनी धारणा बना लेने वाले लोग उसे राजतन्त्र का कट्टर समर्थक और गणतन्त्र का शत्रु समझने की भूल कर सकते है। वास्तव मे मैकियावली इस बात से भिज्ञ था कि सभी परिस्थितियो में एक ही प्रकार का शासक सदा सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता। शासन की उपयोगिता विभिन्न सामाजिक एव आर्थिक स्थितियो मे परिवर्तित हो सकती है। यदि एक परिस्थिति में राजतन्त्र सर्वोत्कृष्ट शासन-व्यवस्था है तो दूसरी मे गणतन्त्र अधिक श्रेष्ठ शासन-प्रणाली सिद्ध हो सकती हैं। सम्भवत: इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर मैकियावली ने 'डिस्कोर्सेज' मे गणतन्त्र को सर्वोत्तम शासन बतलाया है तो 'प्रिन्स' में राजतन्त्र को।

राजतन्त्र (Monarchy)—मैकियावली ने राजतन्त्र को पैतृक और कृत्रिम राजतन्त्र मे विभक्त किया है। पैतृक राजतन्त्र मे राजा वशानुगत आधार पर सिहासनासीन होता है जबकि कृत्रिम राजतन्त्र वह शासन है जो शत्रु को पराजित करने के बाद कोई दूसरा राज्य उसे परास्त राज्य पर लादता है। राजतन्त्रो की स्थापना अथवा उनमे वृद्धि एक राजा द्वारा दूसरे को परास्त करने मे होती है। मैकियावली ने इन नव-संस्थापित राज्यो के 5 प्रकार बताए है—

1. वे राज्य जो किसी प्राचीन राज्य के अग हो और जिनके निवासियों तथा नए शासक अथवा नए राजा के देश और भाषा में कोई अन्तर न हो। मैकियावली ने ऐसे राज्य मे शासन को शक्तिशाली बनाने के लिए दो साधन बतलाए हैं—प्राचीन राजा के कुटुम्ब को समाप्त कर दिया जाए और राज्य के प्रचलित कानून एव करो (Taxes) मे कोई परिवर्तन नही किया जाए,
2. वे राज्य जो धर्म पर आधारित हों,
3. वे राज्य जो दान मे प्राप्त किए गए हो,
4. वे राज्य जो अपहरण या चालाकी द्वारा स्थापित किए गए हो, तथा
5. वे राज्य जो पराक्रम द्वारा हस्तगत किए गए हो।

'प्रिन्स' के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मैकियावली उन देशो में राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था मानता है जो आपसी फूट के शिकार हो, जिनके निवासी चरित्रहीन एवं भ्रष्ट हो, जो एकता की दृष्टि से शोचनीय अवस्था में हो और उनके राष्ट्रनायक नैतिक पराकाष्ठा तथा भ्रष्टता मे डूबे रहे हो। मैकियावली ने 'प्रिन्स' मे निरकुश शासक का आदर्शीकरण इसलिए किया था कि वह इटली को शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अधीन एकताबद्ध करना चाहता था। तत्कालीन इटालियन समाज की बहुत अधिक अधोगति हो गई थी। इटली भ्रष्ट समाज का सजीव उदाहरण था। राजतन्त्र ने फ्रांस मे इस प्रकार की बुराइयो को कुछेक अंश तक दूर किया था लेकिन इटली में इन बुराइयों को दूर करने वाली सत्ता नही थी। अत: वह इटली को समान दशा मे देखने के लिए और राज्य के एकीकरण के दुष्कर कार्य के लिए इटली में एक शक्तिशाली राजतन्त्र की अपेक्षा करता था।

मैकियावली का विश्वास था कि तत्कालीन परिस्थितियो मे इटली में केवल निरकुश राजतन्त्र ही सम्भव था। यही कारण था कि वह रोम गणराज्य का उत्साही प्रशंसक होने के साथ ही निरकुशता का भी समर्थक था। अपनी तीव्र देशभक्ति और इटली को व्यवस्थित, अनुशासित एवं एकीकृत देखने की प्रबल इच्छा के कारण ही मैकियावली ने अपने समय के इटली के राजतन्त्रीय शासन का अनुमोदन किया और अपनी गणतन्त्रीय भावना को दबाया। इटली की सुरक्षा की दृष्टि से उसने एक ऐसे सिद्धान्तहीन निरंकुश शासक की अपेक्षा की जो राज्य के हित को सर्वोपरि समझते हुए, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, दया-अदया, लज्जा-गौरव, नैतिकता-अनैतिकता आदि के विचारो के चक्कर मे न पडे।

गणतन्त्र (Republic)—'प्रिन्स' में यदि मैकियावली ने राजतन्त्र का गुणगान किया है तो 'डिस्कोर्सेज' में उसने गणतन्त्र की प्रशंसा की है। डनिंग का मत है कि "अरस्तू की भांति उसका झुकाव

गणराज्य व्यवस्था की ओर है और इस सम्बन्ध मे उसके विचार यूनानियो से मिलते हुए हैं।"[1] मैकियावली की मान्यता है कि शासन का गणतन्त्री रूप सर्वाधिक सफल उसी देश मे हो सकता है जहां धन एव सम्पत्ति की दृष्टि से लोगो मे अधिकांश समानता होती है और जहां जनता सार्वजनिक भावना से पूर्ण, सगठित और धर्म-परायण होती है। उल्लेखनीय है कि मैकियावली की गणतन्त्र की धारणा आधुनिक धारणा से भिन्न है। हरमन (Harmon) के शब्दो मे "जब मैकियावली गणतन्त्र शब्द का प्रयोग करता है तो उसके मस्तिष्क मे किसी ऐसी राजनीतिक सस्था का विचार नही होता है जिसके निवासी सरकार के कार्यो मे महत्त्वपूर्ण भाग लेते हो। मैकियावली का गणतन्त्र तो एक ऐसा राज्य है जिसके व्यक्ति स्वेच्छा से शासक की सहायता करते हैं।"[2] मैकियावली गणराज्य को अनेक कारणो से राजतन्त्र से उत्कृष्ट समझता है—

1. जहां राजतन्त्र मे एक व्यक्ति या उसका परिवार शासन का लाभ उठाता है वहां गणतन्त्र मे सभी व्यक्तियों को शासन मे भाग लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। राजतन्त्र मे शासन-सचालन एक व्यक्ति के हाथ मे होता है, अतः जनता को शासन के क्षेत्र में कोई शिक्षा नही मिल पाती, लेकिन गणतन्त्र मे जनता शासन-सचालन के कार्य मे शिक्षित हो जाती है।

2 एक राजा की अपेक्षा समस्त रूप मे जनता अधिक समझदार होती है। जनता मे राजा की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता और दृढता पाई जाती है। जनता के निर्णय राजा से अधिक परिपक्व और श्रेष्ठ होते हैं। जनता मे भविष्य मे गठित होने वाली अच्छी और बुरी बातो का अनुमान लगा लेने की आश्चर्यजनक शक्ति होती है। प्रशासकीय अधिकारियों के निर्वाचन मे जनता की बुद्धिमत्ता प्रगट होती है। जनता द्वारा सामान्यत किसी बदनाम एव भ्रष्टाचारी व्यक्ति का निर्वाचन नहीं किया जाता।

3. गणतन्त्रात्मक शासन सरकार स्थायी भी होती है और जनता के हाथ मे शासन की बागडोर होने से देश तेजी से उन्नति करता है। यद्यपि राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र की स्थापना अधिक कठिन होती है, लेकिन यह शासन अधिक स्थिर रहता है क्योकि शासन कार्य में स्वय भागीदार जनता भ्रष्टाचार पर रोक का काम करती है।

4 गणतन्त्रात्मक राज्यो मे विदेश के साथ की गई सन्धियां अधिक स्थाई होती हैं क्योकि उनके पीछे जन-स्वीकृति होती है। इसके विपरीत राजतन्त्र से सन्धियो को तोडना और बनाना एक व्यक्ति के हाथ मे ही होता है, अत. वह उन्हे कभी भी भग कर सकता है। दूसरे देश सन्धि पालन के लिए राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र पर अधिक भरोसा रख सकते हैं।

5. राजा राजनीतिक और कानूनी सस्थाओ की स्थापना करने मे भले ही अधिक सफल हो लेकिन इन्हे बनाए रखने की क्षमता सामान्यत गणतन्त्रात्मक शासन मे ही अधिक होती है।

मैकियावली ने गणतन्त्र के दोष भी गिनाए है और उनके निवारण करने के उपायो का निर्देश भी किया है। गणतन्त्रात्मक शासक का पहला दोष यह है कि सकटकालीन परिस्थिति का मुकाबला करने की उसमे विशेष सामर्थ्य नही होती। ऐसे समय गणराज्यो मे शक्तिशाली व्यक्ति का शासन होना चाहिए। दूसरा दोष यह है कि इसमे प्रायः बडे अफसर अन्यायी हो जाते हैं क्योकि उन पर किसी एक व्यक्ति का नियन्त्रण नही रहता। मैकियावली का सुझाव है कि ऐसे अधिकारियों के कार्यो की जांच कर उन्हे उचित दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए। तीसरे, दलबन्दी सम्बन्धी दोषो को दूर करने के लिए प्रत्येक दल को विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए क्योकि इस पर रोक लगाने से भीतर ही भीतर सुलगते रहने वाला असन्तोष कभी भी विद्रोह के रूप में प्रकट हो सकता है। गणतन्त्र की सफलता के लिए देश मे एक ही जाति के व्यक्ति होने चाहिए क्योकि कई जातियो के कारण राज्य

1 *Dunning* A History of Political Theories, p 307
2 *Harmon* op. cit., pp 167–68

मे भाषा, धर्म और संस्कृति सम्बन्धी विवाद उठते रहते हैं। इसके साथ ही शासन में राजनीतिक और सामाजिक परम्पराओ के प्रतिकूल कानून नही बनाने चाहिए अन्यथा राज्य के विभिन्न तत्त्व संघर्षरत होकर राज्य की सत्ता के लिए सकट बन जाएँगे।

(iii) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—राजतन्त्र और गणतन्त्र के समर्थक मैकियावली ने कुलीनतन्त्र का कट्टर विरोध किया, सभवत. इसलिए कि तत्कालीन इटली के पतन का एक मुख्य कारण सामन्तशाही ही थी। मैकियावली का कहना है कि सामन्त लोग स्वयं कोई कार्य नही करते। वे आलसी और निठल्ले होते हैं तथा दूसरो के श्रम की चोरी द्वारा अपना जीवन बिताते हैं। मैकियावली ने राजतन्त्र का समर्थन विशेष रूप से इसलिए भी किया प्रतीत होता है कि ऐसे व्यक्तियो का दमन किया जा सके।

मैकियावली के राजतन्त्र, गणतन्त्र और कुलीनतन्त्र से सम्बन्धित विचारो पर अभिमत प्रकट करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "मैकियावली ने गणतन्त्र का जहाँ सम्भव हो और राजतन्त्र का जहाँ आवश्यक हो, समर्थन किया है किन्तु कुलीनतन्त्र और कुलीनवर्ग के सम्बन्ध मे उसकी राय खराब है। उसने अपने समय के अन्य किसी विचारक की अपेक्षा यह अधिक अच्छी तरह समझा था कि कुलीन वर्ग के हित राजतन्त्र के भी विरुद्ध है और मध्यवर्ग के भी। सुव्यवस्थित शासन के लिए उसका दमन अथवा विनाश आवश्यक है।"[1]

मैकियावली का नागरिक सेना और सैनिक शक्ति में विश्वास

मैकियावली की मान्यता है कि शासक को नागरिको की शक्तिशाली सेना का निर्माण करना चाहिए, भाड़े के टट्टुओ पर रहना खतरनाक है। उसे जहाँ कुलीन वर्ग से अरुचि है, वहाँ भाड़े के सिपाहियों से भी घृणा है। मैकियावली के विचार से इटली की अराजकता का एक मुख्य कारण भाड़े के सिपाही थे। जो कोई उन्हे सबसे अधिक वेतन देने के लिए तैयार होता था, वे सिपाही उसी के लिए लड़ने को तैयार हो जाते थे। वे किसी के प्रति स्वामिभक्त नही थे। वे बहुधा अपने मालिक के शत्रुओ की अपेक्षा अपने मालिक के लिए ही अधिक भयकर थे। इन वृत्तिजीवी सिपाहियो ने प्राचीन स्वतन्त्र नगरो के नागरिक-सिपाहियो को पूरी तरह से विस्थापित कर दिया था। इन सिपाहियो ने इटली मे तो अवश्य आतक पैदा कर दिया था, लेकिन वे फ्रांस के अधिक सगठित और अधिक राजभक्त सिपाहियो के लिए बेकार सिद्ध हुए। मैकियावली इस बात को पूरी तरह मानता था कि फ्रांस को अपनी सेना का राष्ट्रीयकरण करने से बहुत लाभ हुआ है। फलत उसका बारम्बार यह आग्रह था कि प्रत्येक राज्य को अपनी नागरिक सेना के प्रशिक्षण और साज-सज्जा की ओर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। जो शासक भाड़े के सिपाहियो या दूसरे देशो की सहायक सेनाओ पर निर्भर रहता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। वे उसके राजकोष को रिक्त कर देती हैं और जरूरत पड़ने पर धोखा देती हैं। इसलिए शासक के लिए युद्ध की कला का ज्ञान अत्यावश्यक है। शासक को अपने कार्यों मे इसकी जरूरत होती है। शासक को सबसे पहले अपने नागरिको की एक सशक्त सेना का निर्माण करना चाहिए। यह सेना समस्त हथियारों से सुसज्जित और अनुशासित होनी चाहिए। उसे राज्य के प्रति निष्ठावान् भी होना चाहिए। मैकियावली का विचार था कि 17 और 40 वर्ष की आयु के बीच के समस्त समर्थ नागरिको को सैनिक शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। इस बल से शासक अपनी शक्ति को कायम रख सकता है और अपने राज्य की सीमाओ को बढा सकता है। इसके अभाव मे उसे गृह-युद्ध का सामना करना पडता है और पड़ौस के महत्त्वाकांक्षी शासक उसे परेशान कर सकते हैं।

मैकियावली का नागरिक सेना मे विश्वास था और वह कुलीन वर्ग से घृणा करता था—इसका सबसे बड़ा कारण यही था कि वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत था और इटली का एकीकरण चाहता था। वह आन्तरिक उपद्रवो और बाहरी आक्रमणो से इटली की सरक्षा के लिए भी उत्सुक

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ. 316.

था। उसका यह स्पष्ट विचार था कि मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य उसका देश के प्रति कर्त्तव्य है। अन्य सारी बातें पीछे रह जाती हैं।

साम्राज्यवाद या राज्य-प्रसार सम्बन्धी विचार

मैकियावली के मतानुसार राज्य को क्रमश प्रसरणशील होना चाहिए, अपनी सीमा-रेखा बढ़ाकर दूसरे राज्यों को आत्मसात् करना चाहिए तथा साम्राज्य-विस्तार द्वारा अपने गौरव का परिचय देना चाहिए। मैकियावली ने कहा है कि स्थिरीकरण या दृढ़ीकरण से राज्य मे एकरूपता आ जाती है। मनुष्य स्वभाव से महत्त्वाकांक्षी है और एक दूरदर्शी राजा का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह नई भूमि पर अधिकार करे, नए उपनिवेश बसाए, साम्राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाए तथा शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करे। इसके लिए समुचित सैन्य संगठन और साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की कूटनीतिक नीतियों का भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव पारे के समान चंचल है जो बराबर बढ़ता रहना चाहता है। यदि वैभव, ख्याति और व्यवस्था है तो राज्य को भी बढ़ना चाहिए। "राज्य चाहे गणतन्त्रात्मक हो या राजतन्त्रात्मक, उसमे प्रसार की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है।" यदि राज्य अपना विस्तार नही करेगा तो अवश्य ही पतन की ओर जाएगा। राज्य को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए अपना प्रादेशिक प्रसार करना चाहिए, क्योंकि स्वतन्त्रता उन्नति का मुख्य साधन है। राज्य की उन्नति के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है। उसने उदाहरण दिया कि एथेन्स ने पिसिस्ट्रेटस (Pisistratus) के अधिनायकत्व से मुक्ति पाकर बड़ी शीघ्रता से उन्नति की थी और रोम भी राजाओं से मुक्ति पाकर ही विस्मयकारी प्रगति कर सका था।

मैकियावली के साम्राज्यवाद की धारणा प्लेटो की धारणा से बिल्कुल विपरीत है। फ़ोस्टर के शब्दो मे, "प्लेटो के लिए राज्य विस्तार की भावना जहाँ राज्य के रोग का लक्षण है वहाँ मैकियावली के लिए राज्य विस्तार राज्य के स्वास्थ्य का लक्षण है।"[1]

सम्प्रभुता (Sovereignty) और विधि (Law) सम्बन्धी विचार

मैकियावली ने स्पष्ट रूप से 'सम्प्रभुता' शब्द का कही भी प्रयोग नही किया है। किन्तु उसने राजा की शक्तियों के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है हमे उससे सम्प्रभुता का आभास अवश्य होता है। वह शासक की आन्तरिक इच्छा तथा विजेता की भावना को अविभाज्य मानता है। उसके अनुसार शासक किसी भी आन्तरिक अथवा वाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न वह किसी भी प्रकार के कर्त्तव्य-अनुबन्ध से प्रभावित होता है। उसे किसी भी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य विधियो को मानने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। मैकियावली स्वयं परिवर्तनवादी था और इसलिए उसने स्थायी तथा अखण्ड सम्प्रभुता की बात नही की है। वह सम्प्रभुता की अन्य विशेषताओ जैसे—उनकी शाश्वतता, अदेयता, सांविधानिकता आदि के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखता। उसकी सम्प्रभुता एकात्मक, लौकिक, धर्मनिरपेक्ष और स्वतन्त्र चेतना से संयुक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे मैकियावली सीमित सम्प्रभुता की आवश्यकता को स्वीकार करता है। हर्नशॉ के अनुसार मैकियावली राजा की शक्ति की अविभाज्यता मे 'राष्ट्र-राज्यों' (Nation States) के आगमन की पूर्व सूचना दे देता है। उसकी मृत्यु के बाद संसार का घटनाचक्र ठीक उसी भाँति घूमा जैसी उसने भविष्यवाणी की। बाद के राजनीतिक विचारकों ने उसके इस कथन को स्वीकार किया कि राज्य के आदेशो का पालन भय के कारण किया जाता है।

विधि (Law) के सम्बन्ध में मैकियावली के विचार अत्यन्त सकुचित हैं। वह नागरिक विधि के अस्तित्व को स्वीकार करता है और विधियों को शासक के प्रभाव का माध्यम मानता है। उसके अनुसार राज्य-विहीन समाज मे विधियाँ न होने से ही पूर्ण अराजकता थी। मैकियावली ने स्पष्ट रूप से

1 "For Plato, the impulse to aggrandizement was a symptom of disease. For Machiavelli, aggrandizement is the symptom of health in a state" —*Foster* : op. cit, p 283.

कही भी विधियों की परिभाषा नहीं दी है तथापि शासक की सर्वोच्च शक्ति में उसकी कल्पना निहित है। विधियों का मुख्य कार्य सामञ्जस्य एवं समन्वय की स्थापना करना है। वह प्राकृतिक और दैवी विधियों को कोई महत्त्व नही देता, यथार्थ मे उसने उनका उल्लेख ही नहीं किया है। उसके अनुसार सभी विधियां नागरिक है और शासक प्रणीत। ये सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च है। ये विधियाँ शासन द्वारा राज्य को राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप प्रसारित की जाती हैं, अत. ये समाज के विभिन्न अंगों को एकबद्ध करने में सफल होती हैं।

सर्व-शक्तिशाली विधि-कर्त्ता या विधायक (The Omnipotent Legislature)

मैकियावली ने विधायक के कार्य एवं महत्त्व को अतिरंजित भाषा मे व्यक्त किया है। उसके अनुसार सफल राज्य की स्थापना एक आदमी के द्वारा ही की जा सकती है। वह जिन विधियो और शासन का निर्माण करता है, उनसे ही जनता का राष्ट्रीय-चरित्र निर्धारित होता है। आचार एवं नागरिक सद्गुण विधि पर आधारित होते है। समाज के भ्रष्ट हो जाने पर उसका सुधार नहीं हो सकता अतः ऐसी अवस्था में एक विधायक या विधि-कर्त्ता को समाज का शासन-सूत्र सम्भाल लेना चाहिए। यदि विधायक समाज में उन स्वस्थ सिद्धान्तों का प्रवर्तन कर सकता है, जिनको उनके संस्थापक ने निर्धारित किया था। मैकियावली के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"हमे सामान्य नियम के रूप में यह मान लेना चाहिए कि किसी गणराज्य अथवा राजतन्त्र का ठीक से संगठन अथवा उसकी पुरानी संस्थाओं का सुधार केवल तभी सम्भव है जब वह एक व्यक्ति के द्वारा किया जाए। जरूरी तो यहाँ तक है कि जिस व्यक्ति ने इस संविधान की कल्पना की हो वहीं इसे कार्यान्वित भी करे।"

मैकियावली की मान्यता है कि बुद्धिमान विधायक द्वारा बनाए हुए कानून न केवल नागरिकों के कार्यों को विनियमित एव नियन्त्रित करते हैं बल्कि उनमें नागरिकता तथा नैतिकता के गुणों का विकास और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण भी करते हैं। "जनता का सामाजिक और नैतिक गठन विधि पर और विधायक की बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता पर आधारित होता है। यदि राजमर्मज्ञ राजनीतिक कला के नियमों को समझता है तो वह जो चाहे कर सकता है। वह पुराने राज्यों को नष्ट और नए राज्यों का निर्माण कर सकता है। वह शासन-प्रणालियों को बदल सकता है, वह जनसंख्या मे अदला-बदली कर सकता है तथा अपने प्रजाजनों के चरित्र मे नए गुणो का समावेश कर सकता है। यदि किसी शासक के पास सिपाहियों की कमी है तो इसके लिए वह स्वयं दोषी है। सिपाहियों की कमी को दूर करने के लिए यह जरूरी है कि वह जनता की कायरता को दूर करे। विधि-कर्त्ता न केवल राज्य का ही निर्माता है बल्कि वह सम्पूर्ण समाज का, समाज की नैतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं का भी निर्माता है।"

विधायक के कार्यों के सम्बन्ध में मैकियावली के इन अतिरंजित विचारों के अनेक कारण थे। आंशिक रूप में यह विधायक की उस प्राचीन कल्पना का, जो मैकियावली को सिसेरो तथा पॉलिबियस जैसे लेखकों से प्राप्त हुई थी, पुनरुत्थान मात्र था। कुछ अंशो मे विधायक की इस कल्पना का कारण तत्कालीन इटली की जर्जर अवस्था थी। मैकियावली समझता था कि एक निरंकुश शासक ही राज्य के भाग्य का विधाता हो सकता है। इन ऐतिहासिक परिस्थितियो के अतिरिक्त उसके अपने राजदर्शन का तर्क भी उसे इसी दिशा की ओर उन्मुख करता था। उसका विश्वास था कि यदि मनुष्य स्वभाव से ही सहकारी है तो केवल राज्य और विधि की शक्ति ही समाज को एकता के सूत्र में बांधे रख सकती है।

अन्तर्दृष्टि और त्रुटियाँ (Insight and Deficiencies)

मैकियावली की विलक्षणता और उसकी अन्तर्दृष्टि पर सेबाइन ने लिखा है कि "मैकियावली का चरित्र और उसके दर्शन का वास्तविक अर्थ आधुनिक इतिहास की एक गुत्थी है। उसे एकसा

सनकी, प्रबल देशभक्त, कट्टर राष्ट्रवादी, राजनीतिक जैस्विट, सच्चा लोकतन्त्रवादी और निरकुश शासकों का अन्ध कृपाकांक्षी कहा गया है। ये सभी विचार एक-दूसरे के विरोधी हैं, लेकिन उनमें सत्य का कुछ अंश अवश्य है। इनमें से कोई भी एक विचार मैकियावली की या उसकी विचारधारा की पूरी तस्वीर नहीं देता। मैकियावली के विचार उसके अनुभव पर आधारित थे। उसका राजनीतिक निरीक्षण और राजनीतिक इतिहास का अध्ययन बड़ा व्यापक था। वह किसी एक विशिष्ट दर्शन का अनुयायी अथवा निर्माता नहीं था। इसी प्रकार उसका चरित्र भी बड़ा जटिल रहा होगा। उसकी रचनाओं से उसकी केन्द्रित रुचि का ज्ञान होता है। वह राजनीति, राज्य-शिल्प और युद्ध-कला के अतिरिक्त न तो किसी चीज के बारे में सोचता है और न किसी के बारे में लिखता है। गहरे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी रुचि वहीं तक सीमित है जहाँ तक ये प्रश्न राजनीति पर असर डालते हैं। मैकियावली इतना अधिक व्यावहारिक था कि वह दार्शनिक दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ था। यूरोप की राजनीति जिस दिशा में आगे बढ़ रही थी उसका मैकियावली से अधिक स्पष्ट और किसी को ज्ञान नहीं था।"

"एक ऐसे समय में जबकि यूरोप में प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था समाप्त हो रही थी और राज्य तथा समाज दोनों से सम्बन्धित समस्याएँ तेजी से उठ रही थी, उसने घटनाओं का तर्क-सम्मत अर्थ बताने का, आवश्यक प्रश्नों की भविष्यवाणी करने का और ऐसे नियमों को निर्धारित करने का प्रयास किया जो उस समय के राष्ट्रीय जीवन की नूतन परिस्थितियों में रूप ग्रहण कर रहे थे और जो आगे चलकर राजनीतिक कार्यवाही में प्रधान तत्त्व हो गए।"[1]

मैकियावली का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि आधुनिक राजनीतिक प्रयोग में 'राज्य' शब्द का जो अर्थ-ग्रहण किया जाता है उसके निर्माण में मैकियावली ने सर्वाधिक योग दिया है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राजनीतिक समाज के रूप में आधुनिक भाषाओं में इस शब्द के प्रचलन का श्रेय मैकियावली की रचनाओं को है। आज राज्य एक सगठित शक्ति है। अपने राज्य-क्षेत्र में वह सबसे ऊँची सत्ता है। अन्य राज्यों के प्रति उसकी नीति आक्रमणशील रहती है। मैकियावली ने इन सारी विशेषताओं को प्रकट किया है। उसकी कृतियाँ राज्य को आधुनिक समाज में सबसे शक्तिशाली संस्था सिद्ध करने में सहायक बनी हैं। राज्य के वर्तमान विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मैकियावली ने अपने युग के राजनीतिक विकास की दिशा को ठीक-ठीक समझा था।

मैकियावली के राजनीतिक चिन्तन में स्पष्ट ही कुछ आधारभूत त्रुटियाँ नजर आती हैं जो ये हैं—

(1) मैकियावली की मानव-स्वभाव सम्बन्धी धारणा एकांगी दृष्टिकोण वाली और सकीर्ण है। उसने मनुष्य को केवल निकृष्ट और स्वार्थी ही माना है जबकि मनुष्य में दिव्यता भी है। मनुष्य में देव और दानव दोनों के अंश विद्यमान हैं।

(2) मैकियावली ने धर्म और नीतिशास्त्र के प्रति घोर उपेक्षा प्रदर्शित की है। वह इनका उपयोग उसी सीमा तक औचित्यपूर्ण मानता है जहाँ तक ये राजा अथवा राज्य के लिए उपयोगी हों। सेबाइन के शब्दों में, 'यह निश्चित है कि 16वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोपीय चिन्तन की जो अवस्था थी, मैकियावली ने उसे बिल्कुल गलत रूप में चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें उस दिन के 10 वर्ष के भीतर ही लिखी गई थीं, जिस दिन मार्टिन लूथर ने उसके सिद्धान्त को विटेनबर्ग में चर्च के दरवाजे पर गाड़ दिया था। प्रोटेस्टेन्ट रिफॉर्मेशन के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनीतिक चिन्तन का धर्म के साथ और धार्मिक मतभेदों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जितना कि मध्ययुग में और कभी नहीं रहा था। धर्म के प्रति मैकियावली की रचना के बाद की दो शताब्दियों के बारे में यह बात

1 L A Burd in the Cambridge Modern History, Vol 1 (1930), p. 200.

सत्र नही है । इस दृष्टि से मैकियावली का दर्शन बडे सकुचित रूप से सामयिक था । यदि मैकियावेली इटली के अतिरिक्त अन्य किसी देश मे लिखता या यदि वह इटली मे ही धर्म-सुधार आन्दोलन अथवा धर्म-सुधार विरोधी आन्दोलन (Counter Reformation) की शुरूआत के बाद लिखता तो यह कल्पना करना असम्भव है कि वह धर्म के प्रति ऐसा व्यवहार करता जैसा कि उसने किया था ।"

(3) मैकियावली का तीसरा दोष ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग है । उसने इतिहास का उपयोग अपने पूर्व-कल्पित निष्कर्षों की पुष्टि मे किया है, इनके प्रणयन में नही । विशुद्ध ऐतिहासिकतावाद यह है कि इतिहास की सामग्रियो के तटस्थ अध्ययन और चिन्तन के आधार पर निष्कर्षों का प्रणयन हो । निजी निरीक्षण और अनुभव के आधार पर प्रस्तुत निष्कर्षों को इतिहास से सिर्फ समर्थित करना, ऐतिहासिक अध्ययन का विशुद्ध तरीका नही है

(4) अन्त मे, मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार भी दोष-पूर्ण है । उसके उग्र शक्तिवाद के समर्थन से, व्यावहारिक दृष्टि मे अनीति को सहारा मिलता है । उसके द्वारा शासक के बहुरूपियेपन का समर्थन करना समाज मे कपट, छल और मायावीपन को ही उत्तेजना प्राप्त करा सकता है । पुनः राज्य विषयक आधारभूत प्रश्नो के सम्बन्ध में वह मौन है । उसने राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और शासन के विभिन्न अगो के पारस्परिक सम्बन्धो पर कोई प्रकाश नही डाला है । उसने युद्ध और साम्राज्यवाद का जो समर्थन किया है उसे भी उचित नही कहा जा सकता ।

मैकियावली : आधुनिक युग का पिता, उसकी देन और प्रभाव
(Machiavelli . Father of Modern Political Thought, His Contribution and Influence)

अर्वाचीन इतिहास मे अपने विचार-दर्शन के कारण मैकियावली एक मोहक रहस्य बना हुआ है । उसे 'आधुनिक राजनीति का जनक' सम्बोधित किया जाता है । डनिङ्ग उसे मध्य युग और आधुनिक युग का सम्बन्ध-विच्छेद करने वाला प्रथम विचारक मानता है । प्रो. जॉन्स उसे राजनीतिक सिद्धान्तवादी न मानते हुए भी आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों के पिता की सज्ञा से विभूषित करते हैं । मैकियावली राजनीतिक विचारो के इतिहास मे एक अमर स्थान रखता है क्योंकि वह पहला राजनीतिज्ञ जिसने मध्ययुग के विचारो का खण्डन प्रारम्भ किया था और आधुनिक विचारधारा का श्रीगणेश किया था, यद्यपि उसे आधुनिक युग का पूर्ण प्रतिनिधि कहना अत्युक्ति होगी । मैकियावली की वास्तविक स्थिति एक ऐसे विचारक की है जो मध्ययुग और आधुनिक युग दोनो की सीमाओ पर उत्पन्न हुआ था और जिसने मध्ययुग के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करके आधुनिक सिद्धान्त को सम्भव बनाया । उसने मध्ययुग की मान्यताओ और परम्पराओ की न केवल उपेक्षा ही की अपितु उनका खण्डन करके राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया ।

कुछ विचारक बोदाँ को उपर्युक्त स्थान देते हैं । मैकियावली वही प्रथम व्यक्ति था जिसने व्यावहारिक राजनीति पर ऐसे विचार प्रकट किए जिनका पालन आज लगभग सभी राजनीतिज्ञो द्वारा किया जा रहा है, वहाँ बोदाँ (Bodin) वह पहला विचारक था जिसने राज्य को आधुनिक रूप मे सैद्धान्तिक विवेचन किया । नि सन्देह बोदाँ की सार्वभौमिकता सम्बन्धी परिभाषा आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक तथा नवीन देन है किन्तु वह स्वयं को मध्ययुगीन प्रभाव मे पूर्णत मुक्त नही कर पाया था । यही कारण है कि उसके ग्रन्थों मे विरोधाभास पाया जाता है । यद्यपि मैकियावली विरोधाभास के दोष से मुक्त नही है, किन्तु वह मध्ययुग से पूर्णतः नाता तोड देता है । उसके विचारो मे मध्ययुगीन विचारधारा का आभास भी नही मिलता । इस विषय में जोन्स के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि "बोदाँ मैकियावली की अपेक्षा आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व अधिक अच्छी तरह करता है, केवल इसलिए कि जहाँ मैकियावली आधुनिक युग के भवन तक पहुँच गया है वहाँ बोदाँ अभी उसकी देहली पर खड़ा है ।"

समय की दृष्टि से मैकियावली के बोदाँ से पूर्व आने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि मे भी मध्ययुग को समाप्त करने और आधुनिक युग को आरम्भ करने का श्रेय मैकियावली को ही प्राप्त होता है। मैकियावली की विलक्षण प्रतिभा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसके 50 वर्ष बाद कलम उठाने वाला बोदाँ भी उसके समान स्वय को मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त नही कर पाया।

मैकियावली ने अपनी रचनाओ द्वारा मध्ययुगीन विचारो पर करारे प्रहार किए। उसने दैविक कानूनो को अस्वीकार करके केवल मानवीय कानूनो के अस्तित्व को ही स्वीकार किया और राज्य को सर्वोच्चता प्रदान की। उसने निरकुश पोपतन्त्र की कटु आलोचना की और राज्य को प्रभुत्व-सम्पन्न तथा चर्च को उसका अनुगामी बताया। उसने मध्ययुगीन राज्यो की एकता मे बाधक सामन्तवाद का खण्डन करते हुए उसे अपने राज्य मे कोई स्थान नही दिया लेकिन इन मध्ययुगीन परम्पराओ का खण्डन करने मात्र से ही वह आधुनिक युग का प्रवर्तक नही बन गया। उसके विचारो मे कुछ अन्य विशेषताएँ भी थी जिनमे आधुनिकता के बीज विद्यमान थे और उन्ही के कारण उसे आधुनिक युग का सृष्टा कहा गया।

मैकियावली ने एक तरफ तो राज्य को सर्वोच्च बताया और दूसरी ओर व्यक्ति एव जीवन की सुरक्षा के अधिकार को घोषित किया। उसने शासन का यह मुख्य धर्म बतलाया कि व्यक्तिगत धन और जीवन का सम्मान किया जाए। सम्पत्ति के अपहरण को उसने गम्भीर अपराध की सज्ञा दी। इस तरह के विचारो ने आधुनिक व्यक्तिवाद और राष्ट्र राज्य की स्थापना के बीज बोए। मैकियावली के इस मत का, कि जनता शासक से अधिक बुद्धिमान् होती है और गणतन्त्र मे व्यक्ति तथा राष्ट्र की स्वतन्त्रता उचित रूप से सुरक्षित रह सकती है, सहारा लेकर आधुनिक विद्वानो ने व्यक्तिवाद का आन्दोलन चलाया।

मैकियावली ने आधुनिक राष्ट्र राज्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता सार्वभौमिकता के आविर्भाव के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि उसने इस पर अथवा इससे सम्बन्धित समस्याओ पर कोई प्रकाश नही डाला किन्तु मध्यकालीन समाज के शिखरोन्मुखी सगठन और सामन्तवादी विचार का खण्डन करके तथा उसके स्थान पर सम्पूर्ण नागरिको एव समुदायो पर एक सर्व-शक्तिमान केन्द्रीय शक्ति को प्रतिष्ठित करके स्पष्ट रूप से सार्वभौमिकता के विचार के आविर्भाव की भूमि तैयार कर दी।

मध्यकाल की धार्मिकता से परिपूर्ण और अन्ध-विश्वासो तथा मूढताओ से भरी अध्ययन-पद्धति मे प्रगति और वास्तविकता के लिए कोई जगह न थी। मैकियावली ने अपने कार्य के लिए सर्व-प्रथम अनुभूति प्रधान ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति को अपनाया। उसने अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए धार्मिक दृष्टान्तो का सहारा नही लिया, बल्कि इतिहास तर्क एव पर्यवेक्षण की ऐसी पद्धति ग्रहण की जिसमे उसका चातुर्य तथा सहज बुद्धि काम करती थी। यद्यपि मैकियावली की पद्धति दोष रहित न थी तथापि उसने एक नवीन मार्ग का निर्देशन किया और उसके बाद के प्रायः सभी विचारकों ने ऐतिहासिक पद्धति का सहारा लिया।

मैकियावली का यह विचार मार्क्स और उन समस्त विचारको की पूर्व-सूचना भी देता है जिनका मत था कि राजनीति 'शक्ति-सघर्ष तथा उस पर नियन्त्रण' का अध्ययन है।

मैकियावली की आधुनिक राजनीति शास्त्र को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उसने राजनीति का धर्म और नैतिकता से सम्बन्ध-विच्छेद प्रस्थापित किया। उसने कहा कि धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है, राजनीति से धर्म बिल्कुल अलग है। बाद मे इस मत को व्यापक समर्थन मिला और हम देखते हैं कि आधुनिक काल का प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील राज्य अपने-आपको धर्म के बन्धनो से मुक्त रखता है। वास्तव मे धर्म-निरपेक्ष (Secular) राजनीति का प्रथम जन्मदाता मैकियावली ही था। मैकियावली ने राज्य की सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान देते हुए नैतिकता को एकदम गौण एव उपेक्षणीय बना दिया। यदि उसके इस विचार का अर्थ यह लिया जाए कि साध्य एव साधन का औचित्य है और साधनो का मूल्य केवल उसी सीमा तक है जहाँ तक वे साध्य की प्राप्ति मे साध्य हो, तो यह अवश्य ही आपत्तिजनक है। किन्तु यदि हम इसका अर्थ यह लें कि एक आदर्श राजनीतिज्ञ को केवल कल्पनाशील दार्शनिक नही बल्कि यथार्थवादी होना चाहिए जो अपने "राज्य और उसके वांछनीय लक्ष्य के सिद्धान्त की रचना मानव के एक वैज्ञानिक एव विवेकपूर्ण अध्ययन के आधार पर करना चाहता है जिसमें आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारो का कोई सम्मिश्रण न हो, तो निस्सन्देह आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास को यह एक मूल्यवान देन है।" वास्तव मे मैकियावली व्यावहारिक राजनीति मे उपयोगी साधनो का ही समर्थक था। वह चाहता था कि धर्म और नैतिकता का उपयोग राज्य की भलाई के लिए हो। इसलिए चर्च अर्थात् धर्म सस्था को वह "राज्य के एक ऐसे यन्त्र के रूप मे प्रयोग करना चाहता था जो ऐसी राष्ट्रीय परम्पराएँ तथा व्यवहार की आदतें उत्पन्न कर दें जो शांति और व्यवस्था को कायम रखने तथा समाज की स्थिरता में सहायक हों।" राज्य को वह धर्महीन नही बल्कि धर्म-निरपेक्ष, आचारहीन नही बल्कि आचारगत बाधाओ से दूर देखना चाहता था। व्यावहारिक पक्ष पर इतना बल देने के कारण ही कैटलिन के शब्दो मे—"मैकियावली प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था।" मैकियावली के विचारो की व्यावहारिकता का स्पष्ट प्रमाण यही है कि आज की सारी राजनीति मे धर्म और नैतिकता एक प्रहसन बन गई है जिसकी आड केवल राजनीतिक आकाँक्षाओ की पूर्ति के लिए ही की जाती है।

मैकियावली ने सीमित प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शासन और सम्प्रभुता के प्रति उसका दृष्टिकोण मर्यादित, उपयोगितावादी तथा यथार्थ वस्तुवादी था। इसके अतिरिक्त उसने राज्य को साधन तथा साध्य दोनो ही रूपो मे स्वीकार किया। यह विचार बाद में हीगल (Hegal) द्वारा प्रतिपादित किया गया कि मानव दुःख मे बचना चाहता है तथा सुख की कामना करता है। इसी विचार पर उपयोगितावादी सिद्धान्त का बहुत कुछ निर्माण हुआ।

अन्त मे, मैकियावली के द्वारा प्रस्तुत राज्य की रूपरेखा भी आधुनिक राज्यो की रूपरेखाओ से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उसने इटली राज्य के सम्बन्ध मे जो चित्र प्रस्तुत किया वह बहुत कुछ आधुनिक राज्यो के समान है। आधुनिक राज्य प्रभुता-सम्पन्न, धर्म-निरपेक्ष, स्वतन्त्र, अस्तित्ववान और राष्ट्रीय राज्य है। कुछ राज्यो मे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति गम्भीर रूप से विद्यमान है। मैकियावली ने भी स्पष्ट कहा था कि शक्ति-सवर्धन राज्य तथा प्रभुत्व-विस्तार राजा के लिए आवश्यक है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि राज्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रख कर ही उन्नति कर सकता है। प्रो. गैटिल का स्पष्ट मत है कि "वह प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक था जिसने एक प्रभुता-सम्पन्न ऐकिक, धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्रीय एव स्वतन्त्र अस्तित्ववाद राज्य की कल्पना की थी। वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने बताया कि राज्य को स्वय के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने सरक्षण और हित का उद्देश्य रखना चाहिए।"

मैकियावली की महानता का पता इसी से चल जाता है कि "उसके पहले और बाद मे ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ शासको ने उन्ही सिद्धान्तो के द्वारा सफलता प्राप्त की जो उसने साहस के

साथ अपने ग्रन्थ मे प्रतिपादित किए। यह आश्चर्य की बात है कि कई विचारकों और राजनीतिज्ञों ने उसके विचारो का सैद्धान्तिक दृष्टि से विरोध करते हुए भी यथार्थ मे उसी के आदर्शों का आलिंगन किया है।" जोन्स के शब्दो मे, "व्यक्तिगत रूप से मनुष्य का मनुष्य के साथ व्यवहार कैसा भी हो, किन्तु यह बात निश्चयत सत्य है कि विभिन्न राज्य परस्पर एक-दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करते है जैसा मैकियावली ने वर्णन किया है।··· विश्व जैसा है हम उसे भले ही पसन्द न करें परन्तु हम उसकी कमियो के ऊपर दुर्लक्ष्य कर उनमे सुधार नही करते। उदाहरणार्थ नेवाइल चेम्बरलेन का अध्ययन कर, हिटलर को समझने मे काफी सहायता मिलती, और यदि राष्ट्रपति विल्सन ने 'दि प्रिंस' का अध्ययन किया होता तो वर्साय की दुर्घटना न होती।" मैकियावली की गहन अन्तर्दृष्टि और व्यावहारिकतापूर्ण विचारधारा पर यदि भारत के कर्णधार ध्यान देते तो चीन और पाकिस्तान भारत-विजय के स्वप्न देखने का भी साहस न करते।

मैकियावली पर अनैतिकता और राजनीतिक हत्याओ के प्रोत्साहन का आरोप लगाया जाता है, किन्तु मैकियावली ने स्वय इसका उत्तर देते हुए कहा है, "कोई व्यक्ति पुस्तक पढकर अनैतिक बन गया हो, यह मैने कभी नही सुना।" उसने अपनी पुस्तक मे उन्ही बातो को लिखा है जो राजा अक्सर किया करते थे, लेकिन जिन पर पर्दा पडा रहता था। उस बेचारे का दोष यही है कि उसने सच्ची-सच्ची बातो को सामने रख दिया। उसकी सही स्थिति 'नग्न चित्रण करने वाले' की है। मैक्सी (Maxey) के अनुसार—"उसने राजनीति की नैतिकता को भ्रष्ट नही किया ऐसा तो सदियो पूर्व हो चुका था किन्तु उसने जिस निर्ममतापूर्वक उन पवित्र षड्यन्त्रो का पर्दाफाश किया जो धार्मिक मन्त्रोच्चार द्वारा बडे-बडे स्थानो मे रचे जाते थे, वह प्रशसा के अयोग्य नही है। उसे सच्चे और पक्के देश-भक्त होने और आधुनिक राष्ट्र का नेता होने का श्रेय भी दिया जाना चाहिए। सैद्धान्तिकता के विरुद्ध व्यावहारिकता की ओर उसके तीव्र झुकाव ने निस्सन्देह राजनीति-दर्शन को मध्य युग के पाण्डित्यपूर्ण अस्पष्टवाद से बचाने मे बहुत योग दिया और इस कारण उसे महान् कार्यकारणवादियो मे सर्वश्रेष्ठ नही तो प्रथम कार्यकारणवादी अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।"

16 बोदाँ एवं ग्रोशियस

(Bodin and Grotius)

जीन बोदाँ : जीवन, रचनाएँ एवं पद्धति
(Jean Bodin, 1530–1596 : Life, Works and Method)

महान् फ्रांसीसी दार्शनिक जीन बोदाँ का जन्म सन् 1530 ई. में हुआ और 66 वर्ष अवस्था में वह इस संसार से चल बसा। बोदाँ का आविर्भाव उस युग में हुआ जब फ्रांस गृह-कलह धर्म-युद्धों का अखाड़ा बना हुआ था। सन् 1562 ई से लेकर 1598 ई तक फ्रांस में 9 धर्म-हो चुके थे। एक धार्मिक आन्दोलन भी चल पड़ा था जिसे 'पॉलिटिक्स' (Politiques) कहते थे बोदाँ पर इस धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। वह उसका समर्थक बन गया। पोलिटिक विचार प्रधानतः इस बात पर बल देते थे कि मजबूत सरकार की आवश्यकता है। कैथोलिक होते हुए भी एक राज्य में अनेक धर्मों के सह-अस्तित्व को स्वीकार करते थे और राजा को धार्मिक सम्प्रदायों त राजनीतिक दलों से ऊपर रखकर राष्ट्रीय एकता का केन्द्र बनाने को प्रयत्नशील थे। वे धार्मिक सहिष्णु को नीति के रूप में स्वीकार करते थे, नैतिक सिद्धान्त के रूप में नहीं। वे उपयोगितावादी आधार धार्मिक उत्पीड़न का खण्डन करते थे। सामान्य रूप से बोदाँ इसी वर्ग का व्यक्ति था और उसने अप कृतियों में धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थन किया।

बोदाँ ने प्रारम्भिक शिक्षा के बाद कानून की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वह वकालत और उन्मुख हुआ। उसकी प्रतिभा ने फ्रांस के तत्कालीन राजा हेनरी तृतीय को प्रभावित किया जिस उसने बोदाँ को अपने दरबार में रख लिया। बोदाँ फ्रांस के 'चेम्बर ऑफ डेपुटीज' (Chamber Deputies) का भी सदस्य रहा।

बोदाँ का अध्ययन एवं ज्ञान बड़ा व्यापक था। उसने न केवल राजनीति, न्यायशास्त्र इतिहास का गम्भीर अध्ययन ही किया बल्कि मुद्रा, सार्वजनिक वित्त, शिक्षा एवं धर्म पर भी काफी मन किया। बोदाँ अपने समय का सर्वाधिक बुद्धिमान् एवं मौलिक विचारक था। वह आधुनिक भी था और अनेक बातों में मध्ययुगीन भी। उसका राजनीति दर्शन पुरातन और नवीन का सम्मिश्रण था वस्तुतः 16वीं शताब्दी के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की यही दशा थी। बोदाँ ने एकमात्र रोम विधि की पुस्तकों के अध्ययन के स्थान पर विधि के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर जो दिया। उसका मत था कि विधि के स्वरूप एवं मूल का पता लगाने के लिए रोम अथवा किसी एक अन्य देश की विधि-प्रणाली का नहीं वरन् सभी देशों की पद्धतियों का अध्ययन किया जाए तथा न्याय शास्त्रियों और इतिहासकारों से परामर्श लिया जाए। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर उसने आग्रह किया कि विधि एवं राजनीति का अध्ययन केवल मात्र इतिहास को ही ध्यान में रखकर नहीं किया जान चाहिए बल्कि इस दृष्टि से भौतिक परिस्थिति, जलवायु, भौगोलिक स्थिति एवं जातीय विशेषताओं को ध्यान में रखना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बोदाँ ने अपने इस आधुनिक प्रतीत होने वाले सुझाव में

यह विचार भी शामिल किया कि पर्यावरण के अन्तर्गत नक्षत्रों का प्रभाव भी शामिल है तथा ज्योतिष के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि नक्षत्रों ने राज्यों के इतिहास को किस सीमा तक प्रभावित किया है ?

बोदाँ का युग यद्यपि धार्मिक कट्टरता और दमन का था किन्तु पोलीटिक वर्ग से प्रभावित वह धार्मिक सहिष्णुता का पोषक था। उसने बतलाया कि राज्य का कर्त्तव्य किसी धर्म-विशेष की प्रस्थापना न होकर सामान्य कल्याण का प्रसार है। धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ इन्द्रजाल, प्रेत-विद्या आदि में भी उसका बड़ा विश्वास था। वह तत्कालीन अन्धविश्वासों से प्रभावित नहीं रह पाया था। सेबाइन के शब्दों में "बोदाँ अन्धविश्वास, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद और पुराणवाद (Antiquarianism) का सम्मिश्रण था।"

बोदाँ ने राजनीति के लगभग सभी पक्षों पर अपने विचार प्रकट किए। उसने फ्रांस की एकता पर विचार किया जो उसके सार्वभौमिकता के सिद्धान्त से स्पष्ट है। उसके विचार रूढ़िवादी होते हुए भी पुनरुत्थान की भावना से प्रकाशित थे। उसके दर्शन में एकता और संगठन का प्रत्यक्ष सूत्रपात देखने को मिलता है। उसने राजतन्त्र का समर्थन किया। उसका विचार था कि केवल राजतन्त्र ही फ्रांस को विनष्ट होने से बचा सकता है और राजा की सर्वोच्चता द्वारा ही फ्रांस में एकता की पुनर्स्थापना की जा सकती है। निश्चय ही बोदाँ के विचार भावनात्मक न होकर वास्तविक थे। राज्य प्रभुता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का महान् श्रेय बोदाँ को ही था। यह विलक्षण प्रतिभावान केवल अपने युग में ही यशस्वी नहीं बना बल्कि भविष्य के लिए भी अमर हो गया।[1]

कृतियाँ—फ्रांसीसी, यूनानी, रोमन आदि भाषाओं के ज्ञाता जीन बोदाँ ने बौद्धिक और राजनीतिक जगत् को निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अर्पित किए—

(1) रेसपॉन्स (Response)
(2) डेमीनोमैनी (Demenomanie)
(3) हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres)
(4) यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Universe Nature Theatrum)
(5) सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक (Six Livers De-la-Republique)

बोदाँ का अन्तिम ग्रन्थ जिसे संक्षेप में 'रिपब्लिक' कह दिया जाता है 1576 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसका प्रयोजन तत्कालीन गृह-युद्ध में राजा की स्थिति मजबूत करना था। राजनीतिक विचारों की दृष्टि से विद्वानों ने इसे बोदाँ की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति माना है। मैक्सी ने तो इसे सच्चे अर्थों में राजनीति शास्त्र पर पहला आधुनिक ग्रन्थ माना है। सेबाइन के अनुसार, "बोदाँ के 'रिपब्लिक' ने आधुनिक राजनीति के लिए वही काम किया है जो अरस्तू ने प्राचीनकाल के लिए किया था। ···उसके महत्त्व का कारण यह नहीं था कि उसने अरस्तू की पद्धति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, बल्कि उसके महत्त्व का वास्तविक कारण यह था कि उसने प्रभुसत्ता के विचार को धर्मशास्त्र के घेरे से बाहर निकाला। दैवी अधिकार के सिद्धान्त ने इस विचार को धर्मशास्त्र के घेरे में डाल दिया था। बोदाँ ने प्रभुसत्ता का विश्लेषण करने के साथ-साथ उसे साँविधानिक सिद्धान्त में भी शामिल किया।"

अध्ययन पद्धति (Method)—बोदाँ ने मुख्यतः ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाया। उसकी पद्धति का मूल तत्त्व दर्शन और इतिहास का समन्वय था। उसने विधि के स्वरूप एवं मूल को समझने के लिए ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया। उसका आग्रह था कि विधि और राजनीति का अध्ययन इतिहास के साथ ही भौतिक परिवेश, जलवायु, भूगोल आदि को भी ध्यान में रखकर करना चाहिए।

1 "Jean Bodin belongs to the immortals" —*Maxey* Ibid, p 162.

बोदाँ ने इस आधार पर मैकियावली की आलोचना की कि उसने अपनी पद्धति मे दर्शन का निषेध किया था। उसके मतानुसार, मैकियावली ने राजनीति और नीति शास्त्र मे विच्छेद इसीलिए किया था कि उसकी पद्धति दर्शन-परिष्कृत न होकर पूर्णतः अनुभव प्रधान थी। बोदाँ, प्लेटो एवं सर थॉमस मोर की कल्पनावादी राजनीति को भी पसन्द नही करता था। इन कल्पनावादियों (Utopians) द्वारा इतिहास की अवहेलना की गई थी। उनके दर्शन यथार्थवादिता से दूर थे। बोदाँ का कहना था कि "सामान्य सिद्धान्तो की परिधि मे अनुभव-सापेक्ष विषय-वस्तु पर विचार करना चाहिए। वह हर समस्या पर विवेक की दृष्टि से विचार करना चाहता था।" अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे उसने अरस्तू की 'पोलीटिक्स की पद्धति का अनुसरण किया। जिस तरह अरस्तू ने लगभग 158 यूनानी गणराज्यो के सविधानो का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया था, उसी प्रकार बोदाँ ने भी प्राचीन, मध्यकालीन एव तत्कालीन इतिहास का गम्भीर अनुशीलन करके अपने राजनीतिक सिद्धान्तो का भवन खडा किया। उसने राजनीति के क्रियात्मक एव सैद्धान्तिक दोनो ही पक्षों पर समान बल दिया।

इसमे सन्देह नही कि बोदाँ का दृष्टिकोण अपने समकालीनो की अपेक्षा बहुत व्यापक था, परन्तु दुर्भाग्यवश उसकी प्रतिभा इस कार्य के अनुकूल न थी। सेबाइन के अनुसार, "वह इस बात को नहीं समझ सका कि अपनी ऐतिहासिक सामग्री को किस प्रकार व्यवस्थित करे। 'रिपब्लिक' और सामान्य रूप से उसकी सभी पुस्तकें असगठित तथा अव्यवस्थित है। वे असम्बद्ध है और उनमे पुनरुक्ति की भरमार है। कुछ स्थलो पर उसका विषय-विवेचन सुलझा हुआ है। वह ऐतिहासिक उदाहरणो और आँकडो से अपने पाठको को चक्कर मे डाल देता है। उसने विधि तथा सस्थाओ का विवेचन पाण्डित्यपूर्ण ढग से किया है। उसकी मृत्यु के एक शताब्दी बाद ही उसकी रचनाएँ उपेक्षित हो गई क्योकि वे बडी बोझिल और नीरस थी। बोदाँ मे साहित्यिकता बिलकुल नहीं थी। उसकी मुख्य शक्ति यह थी कि वह परिभाषा बना सकता था और दार्शनिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता था लकिन कुल मिलाकर इतिहास और सस्थाओ के सचालन की अन्तर्दृष्टि होते हुए भी वह एक दार्शनिक इतिहासकार होने की अपेक्षा पुराणवादी ही अधिक था।"[1] जो भी हो, बोदाँ का यह दृष्टिकोण सही था कि विधि एव राजनीति मे घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा इनका अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से होना चाहिए। फ्राँसीसी विद्वान मेस्नार्ड (Mesnard) के मन मे बोदाँ इतिहास की तीनो शक्तियो—नीति शास्त्र, कानून एव न्याय—पर ध्यान देने वाला विचारक था। दूसरे शब्दो मे बोदाँ का अनुभववाद 'एकबद्ध' (Integral) था।

बोदाँ के राज्य और परिवार सम्बन्धी विचार
(Bodin on State and Family)

बोदाँ का आविर्भाव उस युग मे हुआ था जब धार्मिक कट्टरता और सघर्ष ने राज्य की एकता, व्यवस्था, शक्ति एव शान्ति को बडा आघात पहुँचाया था। प्रोटेस्टेन्ट राजा और कैथोलिक प्रजा तथा कैथोलिक राजा और प्रोटेस्टेन्ट प्रजा मे सघर्ष चलता रहता था अत राज्य जनकल्याण की अभिवृद्धि मे सक्षम न था। बोदाँ 'पोलीटिक' विचारको के सिद्धान्तो से प्रभावित था। उसका विश्वास था कि राज्य को धार्मिक विवादो से अलग रखने पर ही समाज का कल्याण और समाज मे शान्ति तथा व्यवस्था सम्भव है। वह प्रमाणित करना चाहता था कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष है और उसके नागरिको को नैतिक रूप से मान्य है। वह यह भी बतलाना चाहता था कि राज्य का उचित कार्य अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को कायम रखना नही अपितु सामाजिक कल्याण मे निरन्तर अभिवृद्धि करना है। इन्हीं विचारो से प्रेरित होकर उसने तत्कालीन उन दोनो ही सिद्धान्तो का खण्डन किया जिनमें से प्रथम के

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 365

अनुसार राज्य एक देवी संस्था थी और द्वितीय के अनुमार शासन जन-इच्छा पर आधारित था। वोदाँ काल्विनवादियो के राज्य के प्रति अवज्ञासिद्धान्त से भी सहमत न था। वह व्यक्ति को राज्य से अधिक महत्त्व नही देना चाहता था। उसका उद्देश्य राज्य के अधिकार की महत्ता सिद्ध करना था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ और अधिकारो की रक्षा करना नही।

अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे वोदाँ ने राज्य और परिवार सम्बन्धी व्यवस्था अरस्तू से ग्रहण की थी। उसने सर्वप्रथम राज्य के उद्देश्य पर, फिर परिवार पर विचार किया। साथ ही विवाह, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, व्यक्तिगत सम्पत्ति, दासता आदि विषयो पर भी विचार व्यक्त किए। राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे वह वडा अस्पष्ट था। राज्य की परिभाषा करते हुए उसने लिखा कि "राज्य परिवारो तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसका शासन एक सम्प्रभु शक्ति एव विवेक द्वारा होता है।"[1] अपनी परिभाषा मे उसने यह स्पष्ट नही किया कि वह कौन-सा लक्ष्य है जो प्रभु-शक्ति अपने प्रजाजनो के लिए प्राप्त करे। वह इस सम्बन्ध मे अरस्तू से मार्ग-दर्शन ग्रहण नही कर सकता था और नागरिक की प्रसन्नता अथवा हित को राज्य का व्यावहारिक लक्ष्य नही मान सकता था क्योकि नगर-राज्य के जो लक्ष्य थे वे नव-विकसित राष्ट्र राज्यो के लक्ष्य नही वन सकते थे, दोनो मे गहरा अन्तर विद्यमान था। वोदाँ राज्य के उद्देश्य को केवल मात्र भौतिक एव उपयोगितावादी उद्देश्यो तक ही सीमित रखने को भी तैयार न था। उसे यह भी स्वीकार्य था कि राज्य का कार्यक्षेत्र शान्ति एव व्यवस्था कायम रखने तक ही हो। उसका विश्वास था कि राज्य के शरीर और आत्मा होती है और यद्यपि शरीर की तात्कालिक आवश्यकताएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं तो भी आत्मा की स्थिति अधिक उच्च है अत केवल भौतिक सुरक्षा से वढकर राज्य का कोई उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए लेकिन यह अनुभव करते हुए भी वोदाँ ने इन उच्चतर उद्देश्यो का कोई वर्णन नही दिया। साथ सी इसका भी कोई सन्तोषजनक उत्तर वह प्रस्तुत नही कर सका कि नागरिक राज्य का आज्ञापालन के कर्त्तव्यो का निर्वाह क्यो करें ? इसमे कोई सन्देह नही कि वोदाँ के राजदर्शन की ये गम्भीर त्रुटियाँ है।

राज्य के उद्देश्य के वारे मे वोदाँ की अस्पष्टता का उल्लेख करने के वाद अव हम उसके द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा के विश्लेषण पर आते हैं। वोदाँ की परिभाषा से राज्य की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ प्रकट होती है—

प्रथम विशेषता यह थी कि अरस्तू की भाँति वोदाँ भी परिवार को राज्य की आधारशिला मानता है। वह व्यक्ति को राज्य का निर्माण करने वाली इकाई के रूप मे स्वीकार करता है। उसके अनुसार माता-पिता, भाई-वहिन एव वालको के साथ सम्बन्ध, सम्पत्ति, दास-प्रथा, विवाह आदि परिवार के अग हैं और राज्य इन सवसे सर्वथा पृथक् है। दूसरे शब्दो मे राज्य परिवारो का समुदाय है, परिवार का स्वाभाविक विकास एव मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यजना नही। वह राज्य को शक्ति की उपज मानता है। जहाँ समाज का विकास मानव के सामाजिक स्वभाव पर आधारित है, वहाँ राज्य का आधार शक्ति है। वोदाँ की राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा को सरल शब्दो मे प्रकट करते हुए सेवाइन ने लिखा है कि "राज्य तथा समुदाय परिवार से ही पैदा होते है। वोदाँ ने राज्य को परिवारो का शासन कहा है। जव परिवार का मुखिया घर से वाहर निकलकर दूसरे परिवारो के मुखियाओ के साथ मिलकर कार्य करता है, तव वह नागरिक वन जाता है। सामूहिक प्रतीक्षा और पारस्परिक लाभो के लिए परिवारो के अनेक सघ विभिन्न प्रकार के गाँव, नगर और निगम आदि वन जाते हैं। जव ये एक प्रभुसत्ता द्वारा सयुक्त होते हैं तो राज्य का निर्माण होता है। वोदाँ का विचार था कि राज्य के निर्माण मे कही न कही शक्ति का हाथ अवश्य

1 "A State is an aggregation of families and their common possessions ruled by a sovereign-power and by reason"

रहता है यद्यपि प्रभुसत्ता अथवा विधि-सगत शासन का औचित्य केवल शक्ति के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है।" बोदाँ द्वारा राज्य की उत्पत्ति में शक्ति की परिकल्पना से उसकी यह धारणा प्रतीत होती है कि मनुष्य ने समाज मे रहने की अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण पहले एक परिवार का निर्माण किया जो प्राकृतिक कारणो से शनै-शनैः अनेक परिवारों में विभक्त हो गया और वे परिवार समुचित स्थानो पर बस गए। सामान्य लाभ की कामना से अनेक परिवारों का वास ऐसे स्थानों पर हुआ जहाँ जल, रक्षा आदि सुविधाएँ अपेक्षाकृत अच्छी थी। ऐसे स्थानों की संख्या सीमित थी, अतः उन पर अधिकार जमाने के लिए विभिन्न परिवारिक समूहो में लडाइयाँ होने लगी, जिनमें शक्तिशाली जीते और निर्बल परास्त हो गए। विजेताओ ने अपनी शक्ति द्वारा दूसरों को दास बना लिया। विजेता शासक बन गए और विजित उनके राज्य की प्रजा। शासक वे बने जिन्होंने लडाइयो मे नेतृत्व किया था। इस तरह राज्य का जन्म हुआ। बोदाँ द्वारा राज्य की उत्पत्ति का आधार शक्ति को मानना यद्यपि पूर्णत सत्य नही है, तो भी उनमे सच्चाई का अश अवश्य है। राज्य के विकास मे जिन नाना तत्त्वो का हाथ रहा उनमे शक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था और आज भी है।

दूसरी विशेषता यह है कि बोदाँ राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का शासन स्वीकार करता है। उसने सम्प्रभुता को राज्य का विशेष गुण माना है जो केवल राज्य मे ही निहित है, अन्य स्थानो मे उसका अस्तित्व नही रहता। उसके अनुसार प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य मे अविभाज्य शक्ति का निवास परम आवश्यक है ताकि राज्य मे अराजकता की स्थिति उत्पन्न न होने पाए। राज्य की यह सर्वोच्च-शक्ति अथवा सम्प्रभुता (Sovereignty) ही उसे अन्य समुदायो से पृथक् करती है और उसे खो देने पर राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, वह टूट कर गिर पडता है।

तीसरी विशेषता यह है कि राज्य पर विवेक (Reason) का भी शासन है। दूसरे शब्दो मे राज्य 'विधि-सगत शासन' है। 'विधि- सगत' (Subject to the law of reason) का अर्थ न्यायपूर्ण होना अथवा प्राकृतिक विधि के अनुरूप होना है। यह शब्द राज्य को डाकुओ के गिरोह जैसे अवैध संगठन से पृथक् करता है। बोदाँ का यह एक महत्त्वपूर्ण विचार है जो प्रकट करता है कि शक्ति स्वय अपना औचित्य नही है, उसे विवेकपूर्ण एवं नैतिक होना चाहिए। इसी बात को यो भी कहा जा सकता है कि बोदाँ के अनुसार राज्य में सर्वोच्च शासक के अधिकार को न्याय-सगत बनाने वाली बात उसका विवेक-सम्मत या विधि-सगत होना है।

चौथी विशेषता यह है कि बोदाँ ने राज्य को न केवल परिवारों को ही अपितु उनकी सामान्य सम्पत्ति (Their common possessions) का भी समुदाय बतलाया है। वह सम्भवत व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करना चाहता था। उसने प्लेटो, मोर और एनाबायटिस्टो मे पाए जाने वाले साम्यवाद की कठोर आलोचना की है। उसके मतानुसार सम्पत्ति परिवार के लिए अपरिहार्य है, उसका गुण है अतः उसका राज सत्ताधारी शक्ति की पहुँच से बाहर रहना उचित है। परिवार का क्षेत्र व्यक्तिगत है, राज्य का सार्वजनिक अथवा समान, प्रभुसत्ता स्वामित्व से भिन्न है। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार है, प्रभुसत्ता पर शासक और उसके न्यायाधिकारियो का। सेबाइन के मत मे "इस सिद्धान्त का जिस रूप मे विकास होता है, उसके अनुसार परिवार मे अन्तर्निहित सम्पत्ति का अधिकार प्रभु की शक्ति के ऊपर भी निश्चित सीमा आरोपित कर देता है। दुर्भाग्यवश, उसका यह सिद्धान्त बडा अस्पष्ट है और यह समझ मे नही आता कि परिवार का अनुल्लघनीय अधिकार किस चीज पर आधारित है।"[1] राज्य की निरपेक्ष एवं असीम शक्ति निजी सम्पत्ति का निश्चित रूप से सम्मान करे—यह एक परस्पर विरोधी कल्पना लगती है। अविभाज्य अपरिमित प्रभुसत्ता एव निजी सम्पत्ति के अदेय अधिकार मे तालमेल बैठाना समझ मे न आने वाली एक तार्किक कठिनाई है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 365.

राज्य के सम्बन्ध मे बोदाँ के विचारो का विश्लेषण करते समय स्वाभाविक रूप से उसके परिवार सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी पर्याप्त प्रकाश पड चुका है। इतना और जोड देना है कि परिवार-सिद्धान्त बोदाँ की कृति का एक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण भाग है। "वह परिवार को, जिसमे माता-पिता, बच्चे और नोकर होते है तथा जिसकी समान सम्पत्ति होती है, ऐसा सहज समुदाय मानता है जिससे अन्य सब समुदाय पैदा होते हैं।" बोदाँ परिवार के मुखिया को अपने आश्रितो पर चरम शक्तियाँ देता है और इन शक्तियो मे पारिवारिक सम्पत्ति एव परिवार के सदस्यो के जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण सम्मिलित करता है।

बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार
(Bodin's Conception of Sovereignty)

बोदाँ के राजदर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग उसका प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त है। यद्यपि इस सिद्धान्त के बीज यूनान और रोम के प्राचीन विचारको मे उपलब्ध है फिर भी बोदाँ ही वह पहला व्यक्ति था जिसने बडी स्पष्टता से और वैज्ञानिकता से इसको राजनीति शास्त्र का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बनाया।[1]

बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ता ही यह विभाजक रेखा है जो राज्य को अन्य परिवार से पृथक् करती है। "प्रभुसत्ता राज्य का एक ऐसा तत्त्व है जो केवल राज्य मे ही निहित रहता है, अन्य स्थानो मे उसका महत्त्व नही रहता।" बोदाँ ने नागरिकता को प्रभु के प्रति अधीनता माना है। उसके द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा मे दो ही बातें मुख्य हैं—प्रभु और प्रजा। राजनीतिक समाज का अनिवार्य लक्षण समान प्रभु का अस्तित्व है। उसके मत मे "प्रभुसत्ता नागरिकों और प्रजाजनो पर प्रयुक्त की जाने वाली वह सर्वोच्च शक्ति है, जो कानून द्वारा नियन्त्रित नही होती अर्थात् कानून के बन्धन से मुक्त है।" इस परिभाषा को सर फ्रेड्रिक पोलक ने इस भाँति स्पष्ट किया है—"विधिवत् प्रशासित प्रत्येक स्वतन्त्र समुदाय मे ऐसी कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिए जो चाहे एक व्यक्ति मे निहित हो या अनेक मे—जिससे विधियो की स्थापना होती हो तथा जो स्वय कानून का स्रोत हो। इस प्रकार इस शक्ति को विधि का स्रोत होने के नाते विधि से उच्चतर होना चाहिए।

बोदाँ का स्पष्ट मत था कि "प्रभुसत्ता एक राज्य मे शासन करने की निरपेक्ष एवं स्थायी शक्ति" है। राज्य अपने क्षेत्र मे रहने वाले सभी नागरिको और प्रजाजनो पर निरपेक्ष एवं अन्तिम शक्ति रखता है। बोदाँ इस विचार से वास्तव मे दो उद्देश्यो की सिद्धि करना चाहता था। प्रथम तो वह राज्य के लौकिक विषयो पर पोप एव पवित्र रोमन सम्राट जैसे किसी भी बाहरी प्राधिकारी के अधिकार के दावे का निषेध करता था और दूसरे वह सामन्तो, सरदारो, नगरो और निगमो आदि के किसी भी अदेय अधिकार एव अभियुक्ति को ठुकराता था क्योंकि उन्हे इस तरह के अधिकार देने का अर्थ राज्य की प्रभुसत्ता की निरपेक्षता को कम करना था। बोदाँ के इन विचारो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वह राज्य की बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रभुसत्ता का पक्षपाती था। राज्य के लौकिक विषयो मे पोप और पवित्र रोमन सम्राट जैसे बाह्य प्राधिकारियो के हस्तक्षेप को ठुकरा कर उसने राज्य की बाह्य प्रभुता अथवा स्वतन्त्रता की घोषणा की और सामन्तो, सरदारो, निगमो आदि को साधारण नागरिको के समान राजा की शक्ति के अधीन मानकर उसने प्रभुसत्ता के आन्तरिक स्वरूप को प्रकट किया। बोदाँ ने राज्य की प्रभुसत्ता को शाश्वत एव स्थायी बताया जिसका आदान-प्रदान नही किया जा सकता। प्रभुसत्ता उस शक्ति से भिन्न है जो किसी को सीमित समय के लिए दे दी जाती है। प्रभुत्व या तो किसी को दिया नही जा सकता और यदि दिया जाता है तो सदैव के लिए और बिना किसी शर्त के। प्रभुसत्ता को स्थायी बतला कर बोदाँ यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका प्रयोग समय विशेष से सीमित नही। प्रभुसत्ताधारी

1 *Maxey* Political Philosophies, p. 164.

वही हो सकता है जो जीवन-पर्यन्त निरंकुश-शक्तियों का उपभोग करे। अल्पकाल के लिए इसका उपभोग करने वालो को सर्वोच्च शासक नही कहा जा सकता क्योकि वे केवल उस समय तक इस सत्ता को सरक्षण करने वाले होते हैं जब तक कि उन्हें यह शक्ति प्रदान करने वाला या जनता उनसे इसे वापिस नही ले लेती।

बोदाँ की प्रभुसत्ता की अन्य विशेषता यह है कि वह कानून से नियन्त्रित नही होती; क्योकि प्रभु स्वयं कानून का स्रोत है। वह राज्य मे सर्वोच्च शक्ति का उपभोग करता है और स्वय उन कानूनो से बाधित नही हो सकता जिन्हे उसने जनता के लिए बनाया है। प्रभु अपने उत्तराधिकारियों को भी किसी कानूनी शर्त से नही बाँध सकता। प्रभु का आदेश ही राज्य का कानून है अतः यदि प्रभु की शक्ति पर कोई नियन्त्रण लगाया गया तो वह सदैव ही गैर-कानूनी होगा। प्रभुत्व अर्थात् सार्वभौमिकता का सबसे बडा गुण यही है कि वह नागरिको को सामूहिक और वैयक्तिक रूप से कानून प्रदान करता है और कानून मे वह अपने से ऊँचे, बराबर के या नीचे के किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की सहमति लेने को बाध्य नहीं होता। "प्रभु युद्ध की घोषणा कर सकता है, शान्ति स्थापित कर सकता है, राज्य के अधिकारियो की नियुक्ति कर सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का कार्य कर सकता है और मुद्रा चला या कर लगा सकता है।" बोदाँ का कहना था कि "प्रभु का रूढ़िगत कानून पर भी नियन्त्रण होता है। रूढिगत कानून उसी की अनुमति से कायम रह सकते हैं। प्रभु का कानून रूढ़ियो को बदल सकता है।"

प्रभुसत्ता सब प्रकार के बधनो और मर्यादाओ से मुक्त है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नही है कि वह असीम है। बोदाँ यह नही कहता कि राजा की प्रभुसत्ता कानून के प्रत्येक प्रकार से ऊपर है। जब वह प्रभुसत्ता को कानूनो से ऊपर बतलाता है तो आशय यह है कि प्रभु केवल अपने बनाए हुए कानूनो से ऊपर है अन्य प्रकार के कानूनो से ऊपर नही। उनके अनुसार, "समस्त शासक दैवी कानून, प्राकृतिक कानून एव इनसे नि.सृत-राष्ट्रो के सामान्य कानून से बाधित हैं।" प्रभुसत्ता पर केवल मानवीय अथवा विधेयात्मक कानून की सीमा नही होती।

बोदाँ की प्रभुसत्ता की एक अन्य विशेषता इसका जनता मे निहित होना है। उसी के शब्दो मे, "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्रभुसत्ता व्यक्तियों में नही रहती बल्कि जनता मे रहती है। जनता के प्रसाद-पर्यन्त वे (शासक) अपना अधिकार रखते है और निश्चित अवधि के उपरान्त यह शक्ति पुन जनता मे लौट आती है। उदाहरणार्थ प्राचीन एथेंस मे जनता द्वारा इस प्रकार सत्ता आर्खन (Archon) चुने जाने वाले व्यक्ति को 10 वर्ष के लिए दी जाती थी। इस अवधि मे वह सर्वोच्च होते हुए भी केवल जनता का प्रतिनिधि था और जनता के प्रति ही अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी भी। 10 वर्ष की अवधि के बाद वह शक्ति पुन जनता मे लौट जाती थी। लघु एशिया के क्रिडस (Cridus) नामक प्राचीन यूनानी राज्य मे भी यही बात थी। वहाँ के निवासियो द्वारा प्रति वर्ष 60 एमीमोन (Amymone) निर्वाचित किए जाते थे.... लेकिन उनमे प्रभुसत्ता का निवास नही था। एक वर्ष की अवधि पूरी होने पर उनके अधिकार वापिस जनता को सौंप दिए जाते थे।"[1]

बोदाँ प्रभुसत्ता के प्रयोग से विधि-सगत होने के पक्ष मे था। विधि सगत का अर्थ न्यायपूर्ण होना अथवा प्राकृतिक विधि के अनुरूप होना है। बोदाँ डाकुओ के एक गिरोह की निरकुशता और प्रभुसत्ता मे अन्तर स्वीकार करता था। उसकी मान्यता थी, प्रभुसत्ता का प्रयोग प्राकृतिक कानून, नैतिकता एव न्याय के अनुसार होना चाहिए।

बोदाँ के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारो के विश्लेषण से प्रकट है कि—

(1) सार्वभौमिकता अथवा प्रभुता सर्वोच्च शक्ति है।

(2) प्रभुता शाश्वत एवं स्थाई है। सम्प्रभु शक्ति-सत्ताधारी मर सकता है लेकिन सम्प्रभुता नही मर सकती।

1 *Coker*: Readings in Political Philosophy, p 375.

(3) प्रभुता कानूनो का स्रोत है और इसलिए कानूनों के क्षेत्र से परे है। दूसरे शब्दो मे यह मानवीय अथवा विधेयात्मक कानूनों के बन्धन से मुक्त है।

(4) यह राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है जिसके अभाव मे राज्य की कल्पना करना भी असम्भव है। प्रभुता आन्तरिक एव वाह्य दोनो तरह की होती है।

(5) यह अविभाज्य होती है। यह केवल एक शक्ति मे ही निहित होती है। राज्य मे दो प्रभुता-सम्पन्न शक्तियो का निवास असम्भव है।

(6) प्रभुत्व शक्ति किसी दूसरी शक्ति को हस्तान्तरित नही की जा सकती।

बोदाँ ने कहा कि प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य मे अविभाज्य शक्ति का होना परम आवश्यक है ताकि अराजकता की स्थिति उत्पन्न न होने पाए। उसके अनुसार राजतन्त्रात्मक शासन मे यह अविभाज्य सार्वभौमिक शक्ति राजा मे निहित होती है। इतना अवश्य हो सकता है कि राजा सलाहकार समिति की राय ले ले लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह उस राय को माने ही। यदि राजा अन्य व्यक्तियो की राय को मानने के लिए वाध्य है तो प्रभुता-शक्ति का निवास समूहगत हो जाता है तथा शासन का स्वरूप राजतन्त्र से परिवर्तित होकर कुलीनतन्त्र हो जाता है। जब सम्प्रभुता-शक्ति का क्षेत्र किसी व्यक्ति-विशेष या समूह मे न रहकर जन-साधारण के हाथो मे चला जाता है तो शासन का स्वरूप प्रजातान्त्रिक हो जाता है। अत शासन के परिवर्तन का एकमात्र कारण सम्प्रभुता-शक्ति का निवास है। कभी यह शक्ति एक व्यक्ति के हाथ मे होती है, कभी वर्ग विशेष मे और कभी जन-साधारण मे। इस तरह राज्य चाहे राजतन्त्रीय हो, कुलीनतन्त्रीय हो या प्रजातन्त्रीय हो उसमे प्रभुसत्ता अवश्य होगी। प्रभुसत्ता की अनुपस्थिति मे हम किसी राज्य को राज्य नही कह सकते। यह अदेय है और इसे राज्य से अलग करना राज्य को नष्ट कर देना है यह अप्रयोग द्वारा भी नष्ट नही होती।

प्रभुसत्ता की सीमाएँ और उसके अन्तर्विरोधी
(Limitations of Sovereignty or its Inherent Contradictions)

(1) बोदाँ की प्रभुसत्ता पर पहली सीमा ईश्वरीय एव प्राकृतिक नियमो की है। "यद्यपि उसने विधि-को प्रभु की इच्छा का कार्य वतलाया-है लेकिन उसका यह विचार नही था कि प्रभु केवल आदेश के द्वारा ही अधिकार का निर्माण कर सकता है। समस्त समसामयिको की भाँति उसके लिए भी प्राकृतिक विधि मानवीय विधि से ऊपर है और वह न्याय के कुछ अपरिवर्तनशील मानको को निर्धारित कर देती है। इस विधि का पालन ही वास्तविक राज्य और कारगर हिंसा के वीच भेद स्थापित करना है। यदि प्रभु प्राकृतिक विधि का उल्लघन करे तो उसे वैधानिक रीति से उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता लेकिन प्राकृतिक विधि उसके ऊपर कुछ प्रतिवन्ध तो लगा ही देती है। प्राकृतिक विधि के अनुसार यह आवश्यक है कि करारो की रक्षा की जाए और व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान किया जाए। प्रभु के करारो का अभिप्राय यह हो जाता है कि प्रभु-का अपने प्रजाजनो के प्रति और दूसरे प्रभुओ के प्रति कुछ राजनीतिक दायित्व है जिनसे वह बँधा होता है। बोदाँ का विचार था कि प्रभु इन दायित्वो से बँधा है।"[1] स्पष्ट है कि बोदाँ के प्रभुसत्ताधारी पर ईश्वरीय कानून और प्राकृतिक कानून की सीमाएँ लगी हुई हैं। प्रकृति के कानूनो को न मानने वाला राज्य 'सगठित हिंसा' मात्र है किन्तु इस प्रकार के कानून की व्याख्या करने का अधिकार स्वय शासक को है। नागरिको के पास ऐसे कोई साधन नही है कि वे उन्हे शासक पर लागू कर सकें। इसका स्वाभाविक अर्थ यही निकलता है कि इन कानूनो द्वारा लगाए गए प्रतिवन्ध कोई वैधानिक एव राजनीतिक महत्त्व नही रखते। वे स्वेच्छा से लगाए गए नैतिक प्रतिवन्ध है जिन्हे पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नही कहा जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि प्रभुसत्ताधारी पर प्राकृतिक या ईश्वरीय कानून का वन्धन प्रदर्शन-मात्र ही है, व्यवहार मे उसका अस्तित्व नहीं है।

1 सेवाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास खण्ड 1, पृष्ठ 370

(2) बोदाँ के प्रभुत्व सिद्धान्त का दूसरा अन्तर्विरोध यह है कि वह सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक और अलघनीय मानता है जो प्रभु किसी व्यक्ति से उसकी सम्मति के बिना छीन नही सकता। उसके अनुसार कर लगाने के लिए देश की प्रतिनिधि सभाओ की सम्मति ली जानी चाहिए। अन्य प्रकार के कानूनो को बनाने मे वह ऐसी किसी सम्मति की आवश्यकता नही समझता। बोदाँ निजी सम्पत्ति को पवित्र और अपहरणीय मानता है। सम्पत्ति परिवार का गुण है और परिवार का क्षेत्र व्यक्तिगत है। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार होता है, प्रभुसत्ता पर शासक का।

वास्तव मे परिवार मे अन्तर्निहित सम्पत्ति का अधिकार प्रभुसत्ता पर जो निश्चित सीमा आरोपित कर देता है वह एक बड़ा ही अस्पष्ट और समझ मे न आने वाला विचार है। बोदाँ की ये दोनो ही धारणाएँ परस्पर विरोधी हैं। सेबाइन के शब्दो मे—"इस अवस्था मे बोदाँ का भ्रम अन्तर्विरोध का रूप धारण कर लेता है। इसका कारण सिद्धान्त का त्रुटिपूर्ण सगठन है। सम्पत्ति का अधिकार परिवार का अनिवार्य गुण है। परिवार वह स्वतन्त्र जीवी इकाई है जिससे राज्य का जन्म होता है। सुव्यवस्थित राज्य के लिए एक ऐसे प्रभु की आवश्यकता है जिसकी वैधानिक शक्ति असीम हो। इस प्रकार बोदाँ के राज्य मे दो निरकुश शासक हो जाते है। उसका यह कहना कि 'परिवार के अकाट्य अधिकार-अधिकारभूत थे' उसी के शब्दो मे व्यक्त कर देना अधिक उचित होगा। इन अधिकारो के बारे मे वह इतना अधिक विश्वस्त था कि उसे इनके बारे मे तर्क देने की कोई जरूरत नही पड़ती थी। प्रभु की असीम शक्ति की उत्पत्ति धार्मिक युद्धो के खतरो के आधार पर हुई थी। यदि बोदाँ ने कभी दोनो स्थितियो की विषमता को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया तो ऐसा करने मे उसने साम्राज्यिक विधि की विचार पद्धति का ही अनुसरण किया। सम्पत्ति के अधिकार परिवार के लिए आवश्यक हैं और परिवार राज्य के लिए आवश्यक है लेकिन कर लगाने की शक्ति नष्ट करने की शक्ति है। राज्य के पास अपने ही सदस्यो को नष्ट करने की शक्ति नही हो सकती। बोदाँ ने यह बारम्बार कहा है कि कराधान के लिए स्वीकृति की आवश्यकता होती है और यह साम्राज्यिक विधि की भाँति ही प्रभुसत्ता के ऊपर एक आवश्यक नियन्त्रण हो जाता है। तर्क की दृष्टि से बोदाँ का सिद्धान्त उस समय कमजोर मालूम पड़ने लगता है जब उसका परिवार का सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्त के साथ समीकृत होता है।"[1]

(3) तीसरा प्रतिबन्ध देश के मौलिक कानूनो का है। बोदाँ का विचार है कि प्रत्येक देश मे सविधान सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनका उल्लंघन राजा को नही करना चाहिए। कुछ ऐसे सांविधानिक कानून होते है जिन पर स्वय प्रभुत्व आधारित होता है, अत प्रभु उनका उल्लघन नही कर सकता। बोदाँ के इस विचार को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। फ्रांस की एक प्राचीन जाति सेलियम फ्रैंको के विख्यात 'सैलिक कानून' (Salic Law) के अनुसार ज्येष्ठतम पुत्र को अपने पिता का सिंहासन उत्तराधिकार में मिलता था। स्त्रियाँ भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित थीं, अत उन्हे भाई न होने पर भी सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार न था। बोदाँ ने कहा कि फ्रांस का कोई भी राजा इस कानून का उल्लघन नही कर सकता था। बोदाँ द्वारा यह प्रतिबन्ध इसलिए स्वीकार कर लिया गया कि प्रथम तो उस युग मे प्रचलित विधि-धारणा के अनुसार राजसत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित, कुछ ऐसे कानून थे जिन्हे राज-सत्ताधारी बदल नही सकता एव दूसरे, बोदाँ कानूनी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होने के नाते सविधानवादी और राज्य की प्राचीन सस्थानो को बनाए रखने के पक्ष मे था।

इस तरह हम देखते है कि बोदाँ एक ओर तो सम्प्रभुता को असीम बतलाता है तथा दूसरी ओर उसे विभिन्न बन्धनो से बाँध देता है। उसके सिद्धान्त मे व्यावहारिकता की कमी के कारण कुछ दोष गम्भीर रूप से प्रवेश कर गये हैं। वह सम्भवत यह नही समझ सका था कि वैधानिक सिद्धान्त निरूपण मे राजनैतिक एव नैतिक मर्यादाओ का कोई स्थान नही होता। उसका प्रभु एक ओर तो राज्य

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 371-73.

मे स्वेच्छापूर्वक कानूनो का निर्माण करता है तथा दूसरी ओर उसे दैवी एव प्राकृतिक विधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधियो का भी ध्यान रखना पडता है। एक तरफ प्रभुनिर्मित विधियाँ आज्ञाएँ है जो प्रजा पर व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी रूप मे लागू हो सकती है, दूसरी तरफ दैवी ओर प्राकृतिक विधानो के विपरीत कार्य करने के उसके आदेशो को मानने से राज्य-कर्मचारी इन्कार कर सकते हैं। इस प्रकार बोदाँ का सिद्धान्त उलझा हुआ है। उसने अपने सिद्धान्त को स्वय काटा है पर त्रुटिया के बावजूद बोदाँ के प्रभुता-सिद्धान्त मे विचारों की स्पष्टता भी है। वही प्रथम विचारक था जिसने सम्प्रभुता को राज्य का आवश्यक अग माना ओर सामान्य रूप से उसकी शाश्वतता, सर्वोच्चता, अविभाज्यता आदि पर विस्तार से विचार प्रकट किए। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि बोदाँ ने अपने प्रभुता-सिद्धान्त का निर्माण फ्रांस की तत्कालीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे किया। दुर्बल देश मे एक सुदृढ शक्ति का सगठन करने के लिए ही उसने इस सिद्धान्त की रचना की। उसका प्रभुसत्ता का विचार ही आगे चलकर राष्ट्रीय राज्य के विकास का आधार बना।

बोदाँ के सुव्यवस्थित राज्य सम्बन्धी अन्य विचार
(Bodin's Other Thoughts on the Well-ordered State)

नागरिकता सम्बन्धी विचार (Citizenship)

बोदाँ की नागरिकता सम्बन्धी धारणा से व्यक्ति ओर राज्य के सम्बन्धो पर उसका चिन्तन स्पष्ट होता है। बोदाँ के लिए राजनीतिक समाज मे नागरिक प्राथमिक तत्त्व नहीं है अपितु परिवार है। "नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो दूसरो की प्रभुत्व-शक्ति के अधीन है।"[1] इसके अतिरिक्त नागरिको के मध्य अनेक प्रकार के ओर भी सम्बन्ध हो सकते है। उसकी भाषा ओर धर्म मे समानता हो भी सकती है ओर नही भी। नागरिको के विभिन्न समुदायो की अलग-अलग विधियाँ होना सम्भव है ओर उनके स्थानीय आचार हो सकते हैं। प्रभु इन सबको स्वीकार करता है। विदेशी नागरिको को भी कुछ मान्य विशेषाधिकार मिलना ओर विमुक्तियो का प्राप्त होना सभव है। बोदाँ दासो को छोडकर राज्य की जनसख्या को दो भागो मे विभक्त करता है—प्रभु ओर नागरिक। उसके लिए नागरिको की समानता का विचार अमान्य है। थोक व्यापारी नागरिकता प्राप्त कर सकते है किन्तु छोटे या फुटकर व्यापारी नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार नही रखते। साथ ही निर्धनो के धनियो से ओर ग्रामीणो के शहरी लोगो से अलग अधिकार ओर विशेषाधिकार हो सकते है। स्त्रियाँ घर के बाहर के कार्यों के लिए अनुपयुक्त हैं। वैभव, शक्ति एव पद की दृष्टि से व्यक्ति असमान है किन्तु एक सामान्य प्रभुसत्ता के प्रति अधीनता के नाते वे सब समान हैं। व्यक्ति राज्य मे अपना भाग आधारभूत सामाजिक समुदायो की सदस्यता द्वारा अदा करते है। बोदाँ के मतानुसार परिवार का मुखिया घर से बाहर निकलकर दूसरे परिवार के मुखियाओ के साथ जब मिलकर कार्य करता है तब नागरिक बन जाता है।

राज्य एव शासन के स्वरूपो पर विचार
(Forms of States and Governments)

यहाँ बोदाँ अरस्तू से प्रभावित है। राज्य ओर सरकार के रूप सम्बन्धी विचारो मे वह स्पष्ट है। वह लिखता है—"सर्वोच्च सत्ता किसके हाथ मे है? इससे राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है, किन्तु जिस पद्धति एव व्यवस्था से सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग होता है, उससे शासन का स्वरूप निर्धारित होता है।" बोदाँ इस प्रकार, राज्य एव सरकार मे विभेद करता है।[2] राज्यो के स्वरूपो का उसका वर्गीकरण राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र एव प्रजातन्त्र है। जब सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति मे निहित है तो राजतन्त्र है, जब सत्ता कुछ व्यक्तियो के हाथो मे होती है तो कुलीनतन्त्र है ओर जब शासन सत्ता अनेक व्यक्तियो के हाथो मे होती है तो वह प्रजातन्त्र है।

1 "*A citizen is a free man, who is subject to the sovereign power of another*" —*Bodin*
2 *Dunning* Op Cit., p 104

अरस्तू और रोमन विचारको के मिश्रित राज्य की कल्पना बोदाँ को मान्य नही है । सम्प्रभुता अविभाज्य है, अत मिश्रित राज्य की कल्पना ही नही की जा सकती ।[1] पर वह यह मानता है कि एक ही प्रकार की शासन पद्धति में विभिन्न शासन-प्रणालियो के गुण हो सकते है । उदाहरण के रूप मे उसने कहा कि "इग्लैण्ड मे राज्य का स्वरूप राजतन्त्र है, परन्तु राज्य की व्यवस्था एव पद्धति प्रजातन्त्रात्मक है ।" उसका अभिप्राय यही है कि सरकार का रूप राज्य के रूप पर निर्भर नही करता । एक राजतन्त्रीय राज्य मे एक कुलीनतन्त्रीय अथवा प्रजातन्त्रीय सरकार का होना सम्भव है ।

बोदाँ राजतन्त्र को सर्वोत्तम मानता है क्योकि इसमे व्यक्ति को सम्पत्ति और जीवन का भय नही रहता । इसके विपरीत यदि सर्वोच्च सत्ता को कुछ नागरिको अथवा समस्त नागरिकों को सौप दिया जाए तो देश मे अराजकता और प्रजा के विनाश का भय विद्यमान रहेगा । एक अच्छा राजा प्राकृतिक एव दैवी विधियो का सम्मान करते हुए शासन करता है जिससे राज्य शान्ति और प्रगति की ओर अग्रसर होता है । वस्तुत. 16वी शताब्दी के फ्राँस मे राजतन्त्र को समर्थन देना बोदाँ के लिए कुछ स्वाभाविक न था ।

क्रान्ति पर विचार (Revolution)

अरस्तू की भाँति बोदाँ ने भी क्रान्तियो (Revolutions) का बडा रोचक वर्णन किया है । वह राज्य के परिवर्तन मे विश्वास करता है और उसके विचार इतने ही मौलिक हैं जितने अरस्तू के । बोदाँ ने प्रभुसत्ता के विस्थापन को क्रान्ति बतलाया है । विधियाँ कितनी ही बदल जाएँ, क्रान्ति तब तक नही होती जब तक प्रभुसत्ता उसी स्थान पर रहे । अरस्तू ने क्रान्तियो को असाधारण माना है, बोदाँ ने सर्वथा सामान्य । उसके अनुसार मनुष्यो के जीवन-चक्र की भाँति राज्यो मे भी परिवर्तन होते रहते है । राज्य भी जन्म लेते हैं, युवा होकर परिपक्वता प्राप्त करते हैं, शनै -शनै. क्षीण होते है और अन्तत. नष्ट हो जाते है । राज्यो मे परिवर्तन होना मानव-जीवन के परिवर्तनो के समान ही अवश्यम्भावी है । अत. उचित है कि बुद्धिमान शासक इन परिवर्तनो को नियमित करता रहे, इन्हे रोके नही । बोदाँ का मत है कि क्रान्तियो का पहले से ही पता लगाया जा सकना है और इसके लिए ज्योतिष का उपभोग सम्भव है कि राज्यो मे होने वाले परिवर्तन सदैव मथर गति से ही हो, ऐसा नही है । ये शनै.-शनै. अज्ञात रीति से एव शान्तिपूर्वक भी हो सकते है और सहसा ही बडे आकस्मिक, उग्र एव हिंसात्मक रूप मे भी हो सकते है । इन परिवर्तनो की प्रकृति मानव जीवन मे होने वाले मन्द एव उग्र परिवर्तनो से मिलती-जुलती है । राज्य क्रान्तियो का प्रभाव बडा व्यापक होता है । इनसे न केवल कानून, धर्म, सामाजिक एव राजनीतिक संस्थान ही प्रभावित होते हैं, बल्कि प्रभुसत्ता का निवास-स्थान कुलीनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र द्वारा लिया जा सकता है या इसकी विपरीत अवस्था भी हो सकती है ।

बोदाँ ने क्रान्ति के कारण भी बतलाए हैं जो मुख्यतया तीन प्रकार के है—दैविक, प्राकृतिक एव मानवीय । दैविक कारण सदैव अदृश्य और अज्ञात रहते हैं । प्राकृतिक कारणो मे नक्षत्रो का प्रभाव भी होता है, अत. विवेक द्वारा इनका पता लगाया जा सकता है पर अधिकाँशत. ये भी अज्ञेय ही हैं । मानवीय कारणो के विश्लेषण मे बोदाँ बडी दूरदृष्टि और बुद्धिमत्ता का परिचय देता है । इनकी रोक-थाम के प्रसग मे उसने प्रशासन की प्रत्येक शाखा पर विचार किया है ।[2] उसका कहना है कि राजा को किसी गुट विशेष के साथ मेल नही करना चाहिए । उसे सदैव मेल-मिलाप की नीति अपनानी चाहिए । दमन का आश्रय केवल वही लेना चाहिए जहाँ सफलता की पूरी आशा हो । बोदाँ ने इस सम्बन्ध मे भी मूल्यवान सुझाव दिए हैं कि अगरक्षको की नियुक्ति में, धार्मिक मतभेद के विषय मे एव अन्य प्रशासकीय बातो मे शासक को कैसा आचरण करना चाहिए । उसके मतानुसार, धार्मिक एकता को

1 *McDonald* · Op. Cit , p 259.
2 *Sabine* . Op. Cit., p. 411

शक्ति के बल पर नही थोपा जा सकता । धार्मिक विषयो मे लोगों को आपस की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए लेकिन एक बार धर्म की प्रतिष्ठा हो जाने पर फिर इस स्वतन्त्रता को समाप्त कर देना चाहिए ताकि लोगो मे धर्म के प्रति अविश्वास न उत्पन्न होने पाए । उसने सम्पत्ति के निजी अधिकार को सम्मान देते हुए कहा कि सम्पत्तिवान लोग प्राय. हिंसक क्रान्ति के विरुद्ध होते है ।

क्रान्तियों का विवेचन करते समय बोदाँ गृह-नक्षत्रो, जलवायु एव भौतिक परिस्थितियो के प्रभाव का भी विस्तार से वर्णन करता है । जलवायु पर लोगो का चरित्र निर्भर करता है । उत्तरी भाग के निवासी शारीरिक दृष्टि से बलवान होते है, दक्षिणी लोग ज्ञान और कला मे आगे होते हैं तथा बीच के लोगो मे दोनो गुणो का सम्मिश्रण होता है । शासन मे व्यवस्था एव न्याय की स्थापना बीच वाले लोग ही ठीक कर सकते है । शासक को कानून बनाते समय इन भौतिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखना चाहिए ताकि वह कानून लोगो के चरित्र और स्वभाव के अनुकूल रहे । जहाँ तानाशाही शासन बलवान व्यक्तियों को भाव-विहीन एव दुर्बल बना सकता है वहाँ प्रजातन्त्रीय शासन ऐसे लोगो को भी ऊपर उठा सकता है जो पहले केवल दास रहे हो । बोदाँ बीच के प्रदेशो को सर्वोत्तम इसलिए मानता है कि एक तो यहाँ दोनो तरफ के गुण प्राप्य हैं और दूसरे विशाल राज्यो तथा राजनीतिक विज्ञान के जन्म-स्थल भी ये ही रहे हैं । प्रो. डनिग का मत है कि जलवायु एव भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का अध्ययन सच्चे अर्थों मे वैज्ञानिक है और इस दृष्टि से पर्याप्त मौलिक है । बोदाँ की रचना का वह अग उसके सम्पूर्ण राजदर्शन का एक अभिन्न भाग था और आगे चलकर मान्टेस्क्यू ने इस विचार पद्धति को अपनाया तथा विकसित किया । बोदाँ द्वारा क्रान्तियो के कारणो और उनके निवारण के उपायो के वर्णन पर टिप्पणी करते हुए मैक्सी ने लिखा है कि "वह (बोदाँ) वास्तव मे अनेक आधुनिक विचारो से कही अधिक आधुनिक था ।"[1]

सहिष्णुता (Toleration)

बोदाँ ने धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त के रूप मे नही अपितु एक नीति के रूप मे समर्थन किया । इसका प्रचार उसने तब किया था जब फ्रांस मे धार्मिक दमन चरम सीमा पर था और प्रोटेस्टेन्टो तथा कैथोलिको मे सघर्ष चल रहा था । फ्रांस धर्म-युद्धो का अखाडा बन चुका था—इतना कि सन् 1562 से लेकर 1598 तक वहाँ 9 धर्म-युद्ध हो चुके थे । बोदाँ के मत मे फ्रांस को गृह-युद्ध के सकट से उबारने का सर्वोत्तम उपाय यही था कि निरकुश राजतन्त्र की स्थापना हो, जो धार्मिक विश्वासो की विभिन्नताओ को सहन करे । बोदाँ को यह स्वीकार न था कि राज्य को धार्मिक सम्पीडन का अधिकार है । लेकिन यह नास्तिको को भी सहन करने को उद्यत नही था । उसका विश्वास था कि नास्तिक कभी अच्छे नागरिक नही बन सकते । उसका यह भी विचार था कि राज्य को नित नवीन सम्प्रदायो को नही पनपने देना चाहिए क्योकि इससे सामाजिक अव्यवस्था का भय रहता है । उसकी दृष्टि मे धार्मिक दमन तभी ठीक था जब सफलता मिलने की आशा हो ।

शासक द्वारा सन्धियो एव वचनों का पालन (Sovereign's Promises and Treaties)

बोदाँ का विचार था कि शासकों को अपने वचन निभाने चाहिए अन्यथा उन्ही को हानि होती है पर उनकी यह वचन-प्रियता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही अधिक महत्त्वपूर्ण है । शासक प्रजा के प्रति ली हुई शपथ से बाध्य नही है, अन्यथा प्रभुसत्ता सीमित हो जाएगी । सन्धियो एव सविदा की बात दूसरी है । ये दो पक्षो के मध्य होते हैं, अत दोनो के लिए बाध्यकारी हैं । बोदाँ के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वह निरकुश प्रभुओ के आचरण पर अकुश का समर्थन करता है पर राष्ट्रीय क्षेत्र मे नही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे शासको के आचरण सयत रखने के विचार पर ही 50 वर्ष बाद ग्रोशियस (Grotius) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) का निर्माण किया ।

1 "Bodin was, in reality, more modern than many moderns." —*Maxey* : Op. Cit , p. 170,

बोदाँ और मैकियावली की आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना
(Bodin and Machiavelli as the Pioneer of Modernity)

प्रायः प्रश्न किया जाता है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे मैकियावली आधुनिकता का अग्रदूत था अथवा बोदाँ ? निष्पक्ष दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि दोनों ही विचारकों मे आधुनिकता के लक्षण पाए जाते हैं। पर चूँकि, बोदाँ ने मैकियावली के विचारो को विकसित किया, अतः वह उससे अधिक आधुनिक था।

मैकियावली ने मध्ययुगीन मान्यताओ और परम्पराओ का खण्डन करके राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया। आधुनिक युग की राजनीतिक मान्यताओ को हम सरलता से उसके ग्रन्थो मे ढूंड सकते हैं। मैकियावली ने अनेक आधुनिक सिद्धान्तो का सृजन किया, जैसे ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करना, राजनीति को नैतिकता से अलग करना, राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त की परिकल्पना करना आदि। इसीलिए डनिंग ने कहा है कि—"यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भ-कर्त्ता है उसी प्रकार सही है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करता है।" लेकिन हमे यह मानना होगा कि मैकियावली के युग मे बीज-रूप मे जो आधुनिक विचार आए उनका विकास बोदाँ के युग मे ही हुआ। राज्य के सम्बन्ध मे भी बोदाँ ने ही आवश्यक तत्त्वों को दर्शाते हुए मैकियावली के शाब्दिक प्रयोग को सार्थक सिद्ध किया। उसने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल अपने विचारों को साँचे में ढाल कर मैकियावली के विचारो को विकसित किया और राज्य के आवश्यक तत्त्वो को दर्शाया। बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया और राजनीति शास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियो को सुप्रतिष्ठित किया। इन दोनो की आधुनिकता पर स्पष्टता से निम्नलिखित शीर्षको में विचार करना अधिक उपयुक्त होगा—

(1) अध्ययन पद्धति (Method)—मैकियावली ने विशुद्ध धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाते हुए प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन से अपने परिणामों को पुष्ट किया और उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति को अपनाया। पर उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नही किया बल्कि अपने पूर्व-निश्चित विचारो की पुष्टि मे इतिहास से प्रमाण ढूंढने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त मैकियावली ने राज्य के कुछ ऐसे नियम प्रतिपादित किए जो शासन-संचालन के क्षेत्र तक ही सीमित थे, जिनका राज्य के मौलिक सिद्धान्तो से कोई सम्बन्ध न था। बोदाँ ने मैकियावली के इन दोषो को दूर किया। उसने ऐतिहासिक पद्धति को बडे विकसित और व्यापक रूप मे अपनाया। उसने मैकियावली द्वारा प्रायोजित वैज्ञानिक पद्धति को भी विस्तार मे ग्रहण किया। उसने विधि-शास्त्र मे तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का समारम्भ किया। ऐतिहासिक अध्ययन में तुलनात्मक दृष्टिकोण को व्यापक रूप से अपनाने के फलस्वरूप उसके विचार अधिक वैज्ञानिक हो गए। मैक्सी के शब्दो मे, "बोदाँ ने इतिहास के सार्वभौमिक दृष्टिकोण को ग्रहण नही किया और न ही ब्रह्माण्ड के अस्तित्व के कारणो तथा उसका नियन्त्रण करने वाली विधियो को ही जानने की चेष्टा की बल्कि उसकी रुचि इस बात में अधिक रही कि इतिहास विवेकपूर्वक कैसे लिखा जाए और उसकी व्याख्या बुद्धिपूर्वक कैसे की जाए ?"[1]

(2) प्रभुसत्ता (Sovereignty)—मैकियावली ने आधुनिक युग का प्रथम विचारक होते हुए भी प्रभुसत्ता पर स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा। इसमे सन्देह नही कि वह जिस राज्य का वर्णन करता है प्रभुत्ता-सम्पन्न है, किन्तु उसने इस प्रभुत्ता का कहीं भी विवेचन नही किया। इसके विपरीत बोदाँ वह पहला विचारक था जिसने राज्य का आधुनिक रूप मे सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए प्रभुसत्ता पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला। उसकी प्रभुसत्ता सम्बन्धी परिभाषा आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक नवीन

1 *Maxey*: Political Philosophies, p. 163.

एवं मौलिक देन है। प्रभुसत्ता के स्वरूप और कार्यों का पहली बार उसी ने विस्तृत विवेचन किया। यद्यपि उसकी प्रभुसत्ता अनेक स्थलों पर अस्पष्ट और बोझिल है किन्तु इससे सिद्धान्त की मौलिकता को नहीं ठुकराया जा सकता। जॉर्ज केटलिन के अनुसार आधुनिक युग में इस शब्द (Sovereignty) का प्रयोग सर्वप्रथम बोदाँ के ग्रन्थ 'Republic' में ही हुआ है। बोदाँ ने प्रभुता-सम्पन्न शासक के गुण बतलाते हुए प्रभुता के तत्त्व भी बतलाए हैं। बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार उसे मैकियावली की अपेक्षा अधिक आधुनिक बना देते हैं। प्रभुसत्ता के दृष्टिकोण से तो उसे आधुनिकता का अग्रदूत ही माना जाना चाहिए।

(3) नागरिकता (Citizenship)—मैकियावली नागरिकता पर अस्पष्ट है जबकि बोदाँ की नागरिकता आधुनिकता के बहुत निकट है। उसके अनुसार राज्य में नागरिकों का निवास होता है और सभी नागरिक एक ही सार्वभौम की आज्ञा का पालन करते हैं। बोदाँ के इस विचार में सम्प्रभुता के प्रति भक्ति एव श्रद्धा के भाव निहित है।

(4) राजनीति और नीतिशास्त्र (Politics and Ethics)—मैकियावली मध्य-युग का अन्तिम और आधुनिक युग का प्रथम विचारक अधिकांशत इसीलिए माना जाता है कि उसने ही सर्वप्रथम राजनीति का नैतिकता से पृथक्करण किया। उसने राज्य को नैतिकता और धर्म से ऊपर उठाया। मैकियावली ने नैतिकता की आवश्यकता से अधिक उपेक्षा की और इसलिए वह कुछ बदनाम भी हुआ। बोदाँ ने मैकियावली से अधिक स्पष्ट एव सशोधित मार्ग अपनाया। उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त द्वारा राज्य की सर्वोच्चता को वैधानिक ढग से प्रस्तुत किया और साथ ही राज्य की निरकुशता पर, उसके अनाचारों पर, प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा की।

(5) राज्य (State)—मैकियावली ने केवल राज्य-सचालन और राज्य-विस्तार के उपायों का निर्देशन किया, उसने राज्य के मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा की। एलन महोदय के मतानुसार तो वह राज्य की कल्पना भी ठीक-ठीक कर पाया था या नहीं यह भी सदिग्ध है लेकिन बोदाँ ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना को सुविकसित रूप में प्रस्तुत किया। प्राचीन एव मध्यकालीन सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके राष्ट्रीय राज्य को प्रतिष्ठित करने का श्रेय वास्तव में बोदाँ को ही था। मुरे ने लिखा है, "यह कार्य बोदाँ के लिए ही सुरक्षित था कि वह यह बतलाए कि विश्व-व्यापी साम्राज्यों के दिन चाहे, वे रोमन हों या फ्रेंच, अब बिल्कुल लद चुके हैं। नवजात राष्ट्रीयता का दिन आ गया है। इसके साथ ही प्रभुसत्ता का सिद्धान्त बनाने का समय आ गया था। बोदाँ ने अपने 'रिपब्लिक' में यही कार्य किया है और यही उसकी सबसे स्थाई उपलब्धि है।"[1]

(6) भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव (Effect of Geographical Conditions)—बोदाँ ही वह प्रथम विचारक था जिसने राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभावों का विशद रूप से प्रतिपादन किया। उससे पहले प्लेटो और अरस्तू ने इस विषय का स्पर्शमात्र किया था। प्रो० डनिंग की मान्यता है कि जलवायु और भौगोलिक स्थिति के सामाजिक एव राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का अध्ययन सच्चे अर्थ में वैज्ञानिक है और इस क्षेत्र में बोदाँ मौलिकता का दावा कर सकता है। मैकियावली ने इस विषय का कोई वर्णन नहीं किया था।

अत स्पष्ट है कि बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया, बीजरूप में बिखरे हुए उसके विचारों को विकसित किया और अनेक रूपों में सर्वथा मौलिकता का परिचय दिया अतः मैकियावली की अपेक्षा वह आधुनिक था। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बोदाँ स्वयं को मैकियावली के समान मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त नहीं रख सका, अतः उसके ग्रन्थों में बड़ा विरोधाभास पाया जाता है। इसके विपरीत मैकियावली ने मध्य-युग से नाता पूरी तरह तोड दिया। बोदाँ ने

1 *Murray* The History of Political Science from Plato to the Present, p 179

मैकियावली के 50 वर्ष बाद लिखा, फिर भी स्वयं को मैकियावली के समान मध्य युगीन प्रभाव से मुक्त नही कर सका। इसी से हम मैकियावली की प्रतिभा का अनुमान लगा सकते हैं।

अन्त मे बोदाँ के सम्पूर्ण राजदर्शन पर अध्ययन की समाप्ति सेबाइन के इन शब्दो के साथ करना उपयुक्त होगा कि—

"बोदाँ का दार्शनिक विवेचन प्रथम श्रेणी का नही था। इस दर्शन के दो पक्ष थे—सविधानवाद (Constitutionalism) और केन्द्रीकृत शक्ति (Centralized Power) और बोदाँ इन दोनो पक्षो मे उचित सन्तुलन स्थापित नही कर सका। बोदाँ का सम्पूर्ण दर्शन प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त पर आधारित था। उसने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को एक परम्परा के रूप मे ही स्वीकार किया था, उसने विश्लेषण करने की कोशिश नही की थी। बोदाँ का प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त सोलहवी के शताब्दी प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त मे सबसे स्पष्ट था, लेकिन उसका सिद्धान्त हवाई सिद्धान्त है। उसने इस सिद्धान्त की केवल परिभाषा ही दी है, कोई स्पष्टीकरण नही दिया। सुव्यवस्थित राज्य के साध्य क्या हो, प्रजाजनो की आज्ञापालन का दायित्व कैसा है, राज्य तथा उसके घटक परिवारो के सम्बन्ध कैसे हो ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके और विश्लेषण की आवश्यकता है। इस अस्पष्टता ने दो ऐसी समस्याओं को जन्म दिया जिनके समाधान मे बोदाँ के बाद की शताब्दी का राजनीतिक दर्शन लगा रहा। इनमे से एक समस्या शक्ति की शब्दावली मे प्रभुत्ता का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त का अभिप्राय था कि राजनीतिक 'छोटो' और राजनीतिक 'उच्च' का सम्बन्ध ही राज्य है और प्रभु का आदेश ही विधि है। हॉब्स ने इस सकल्पना का व्यवस्थित रूप से विकास किया। दूसरी समस्या थी, प्राकृतिक विधि सिद्धान्त को आधुनिक तथा लौकिक रूप देना जिससे कि यदि सम्भव हो तो राजनीतिक शक्ति का केवल सत्तावादी आधार नही प्रत्युत नैतिक आधार प्राप्त किया जा सके। यह सशोधन मुख्य रूप से ग्रोशियस और लॉक ने किया। उनका सशोधन इतना सफल हुआ कि सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो मे यह राजनीतिक सिद्धान्त का मान्य वैज्ञानिक हो गया।"[1]

ह्यूगो ग्रोशियस
(Hugo Grotius, 1583–1645)

जीन बोदाँ की 1596ई. मे मृत्यु के बाद 1583 ई मे हॉलैण्ड मे डेफ्ट नामक स्थान पर एक कुलीन परिवार मे ह्यूगो ग्रोशियस का जन्म हुआ जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता के आधार को दृढता से प्रतिपादित किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की उस धारणा को जन्म दिया जिसके सभी स्वाधीन राष्ट्र-राज्य सदस्य हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-शास्त्र का प्रवर्तक बन गया। ह्यूगो ग्रोशियस का क्रिश्चियन नाम हुइग्वान ग्रुट (Huig-van Groot) था। वान ग्रुट परिवार मे जन्मा, ग्रोशियस बचपन से ही बड़ा प्रतिभाशाली और अपने साथियो से ज्ञान मे कही आगे था। 8 वर्ष की अल्पायु मे ही उसके लैटिन पद्य लोगो का ध्यान आकर्षित करने लगे। 11 वर्ष की आयु मे उसने मैट्रिक पास कर ली और तत्पश्चात् लीडन विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया। 16 वर्ष की अवस्था मे उसने डॉक्टर ऑफ लॉ तथा 1604 ई. मे 21 वर्ष की अवस्था मे ही एल-एल डी की उपाधि प्राप्त की। इससे प्रकट है कि वह कितना योग्य व्यक्ति था। कहा जाता है कि वह स्वयं एक विश्व-शब्दकोश था। डॉक्टर ऑफ लॉ उपाधि प्राप्त करने के बाद ही ह्यूगो ग्रोशियस वकालात करने लगा। उसकी गणना यूरोप के सर्वश्रेष्ठ वकीलो मे की जाती थी। 30 वर्ष की अवस्था मे वह रॉटरडम (Rotterdom) का अंगरक्षक नियुक्त किया गया। इस स्थिति मे उसे आर्मीनियनिज्म (Arminianism) तथा गोमेरिज्म (Gomarism) नामक दो सम्प्रदायो के विवाद मे फंस जाना पडा। ग्रोशियस ने सैनिक बल द्वारा विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया। प्रिन्स मॉरिस ऑफ आरेन्ज ने गोमेरिस्टो का पक्ष लेते हुए ग्रोशियस एव बोर्नेवेल नामक एक अन्य

1 सेबाइन. राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 175-76

अंग-रक्षक को गिरफ्तार करा लिया। ग्रोशियस पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उसे आजीवन कारावास की सजा दे दी गई तथा बोनवेल को प्राण दण्ड मिला। ग्रोशियस अपनी पत्नी के साहस एवं चातुर्य के कारण किसी प्रकार जेल से भाग निकला। उसने जीवन के शेष दिन निर्वासित के रूप मे एकान्त मे बड़ी दरिद्रता से काटे और इसी दौरान अपने महान् ग्रन्थ की रचना की जो बाद मे 'दि लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' (The Law of War and Peace) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ह्यूगो की समकालीन परिस्थितियो का उस पर प्रभाव—ह्यूगो की समकालीन परिस्थितियो का उसकी रचनाओ और विचारो पर व्यापक प्रभाव पडा। ये परिस्थितियाँ बडी ही दु.खमय थी। 1599 ई मे स्पेनिश जेसुइट मेरियाना ने अपने ग्रन्थ 'De Regeet Regis Institutione' (राजत्व और राजा की शिक्षा) नामक पुस्तक मे यह दावा किया कि प्रभुसत्ता जनता मे निहित होती है और जनता को निरकुश शासक के विरुद्ध विद्रोह का ही नही बल्कि उसकी हत्या का भी अधिकार है। इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर यूरोप के अनेक राजाओ की हत्या करने के प्रयत्न किए गए। 1605 ई. मे इग्लैण्ड मे गाई फॉक्स ने ससद् भवन को उडाने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध गन-पाउडर षड्यन्त्र (Gun Powder Plot) रचा। 1610 ई. में फ्रांस मे हेनरी चतुर्थ की हत्या की गई। ग्रोशियस पर जन-साधारण के इन कार्यों का बडा बुरा प्रभाव पडा। वह जनता के अधिकारो का विरोधी तथा निरकुश राज्यसत्ता का प्रबल पोषक बन गया।

ग्रोशियस पर तत्कालीन युद्धो और अराजक अवस्था का भी गहरा प्रभाव पडा। उसने देखा कि समस्त यूरोप मे अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई थी। प्रत्येक राज्य अपनी सीमाओ का विस्तार करने, अपने व्यापार को बढाने एव अन्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए छल-बल के तरीको का प्रयोग करने को तैयार था। शासक लोग सन्धियाँ करते और तोड देते थे। युद्धो मे बर्बरता की थाह न थी। ग्रोशियस के जीवनकाल मे फ्रांस मे गृह-युद्ध हुए, हालैण्ड मे धार्मिक और राजनीतिक सघर्ष हुए—जिनमे से एक के परिणामस्वरूप उसका सुखी जीवन बर्बाद हो गया, तथा जर्मनी मे 30 वर्षीय युद्ध (1618–1648) चला। ग्रोशियस के शब्दो मे "सम्पूर्ण ईसाई जगत् मे युद्ध छेड देने की खुली छूट थी, छोटी-छोटी बातो पर बिना किसी बात के म्यान से तलवारें निकाल ली जाती थी। एक बार शस्त्र उठ जाने पर दैवी एव मानवीय सभी कानूनो के प्रति सारा सम्मान समाप्त हो जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उस समय मनुष्य को किसी भी अपराध को कराने का अधिकार मिल गया था।" ग्रोशियस के चारो ओर एक युद्ध-शिविर लगा हुआ था जिसमे सर्वाधिक कठिनाई तटस्थ एव छोटे राज्यो की थी जो स्वय को बडे राष्ट्रो के आक्रमण मे बचाने मे असमर्थता अनुभव करते थे। ग्रोशियस ने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के निर्धारण से ही उस अराजक स्थिति का प्रतिकार हो सकता था। अतः उसने 'लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' मे राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था की। उसने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि युद्ध-सचालन एव शान्ति-स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून विद्यमान है जिसका सभी राष्ट्रो द्वारा पालन होना चाहिए। इस प्रकार के विचार प्रकट करने वाला वह प्रथम विचारक नही था, कुछ स्पेनिश धर्म-शास्त्रियो ने 16वी शताब्दी मे, मानवीय आचरण के व्यावहारिक प्रश्नो पर विचार करते समय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर चिन्तन किया था। इन धर्म-शास्त्रियो में फ्रांसिस्को विक्टोरिया एव फ्रांसिस्को सुवारेज के नाम उल्लेखनीय हैं। और भी कुछ कैथोलिक एव प्रोटेस्टेंट न्यायविद् इस दिशा में अग्रसर थे। लेकिन सर्वाधिक विवेकपूर्ण, सुनिश्चित एव उदारवादी विचार ग्रोशियस ने ही प्रकट किए। प्राकृतिक कानून के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र का ढाँचा खडा करने मे उसे अपनी महान् बौद्धिक प्रतिभा एव मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण सबसे अधिक सफलता मिली।

रचनाएँ—ग्रोशियस की विलक्षण प्रतिभा ने उसके जिन ग्रन्थो को जन्म दिया वे मुख्यत. कानून सम्बन्धित हैं। उसके प्रमुख ग्रन्थ अग्राङ्कित हैं—

1. De Jure Praedea, 1604
2. Mare Liberum, 1609
3. De Jure Belliac Pacis या The Law of War and Peace, 1625.

प्रथम पुस्तक मे ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियो का विवेचन किया। परन्तु इसमे वर्णित सिद्धान्तो की विस्तृत व्याख्या और प्रकृति एव अन्तर्राष्ट्रीय विधियो का पूर्ण विवेचन उसने अपने ग्रन्थ 'डी जुरे बेलीएक पेसीस' मे किया जिसके आधार पर ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-शास्त्र के संस्थापक का सम्मान प्राप्त हुआ। अपने ग्रन्थ 'मेयर-लायबेरम' मे उसने व्यापारिक एव सामुद्रिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया।

ग्रोशियस ने काफी अन्वेषण के बाद राजनीति के सिद्धान्त के तीन अंग स्थापित किए—

(1) प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae or Natural Laws)
(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium or International Law)
(3) सार्वभौमिकता (Sovereignty)

आगे हम ग्रोशियस द्वारा प्रतिपादित इन्ही तीनो सिद्धान्तो पर विस्तार से विचार करेंगे।

ग्रोशियस के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार
(Grotius on Natural Law)

अरस्तू की भाँति ग्रोशियस ने मानव को एक सामाजिक प्राणी माना और समाज की सत्ता बनाए रखने के लिए कानून की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। उसने दोनो का चोली-दामन का साथ बतलाते हुए कहा कि एक के बिना दूसरा जीवित नही रह सकता। साथ ही उसने मानव को तर्कशील बुद्धिमान प्राणी मानते हुए मानव-समाज को मानव-बुद्धि की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति बतलाया तथा यह तर्क पेश किया कि जब समाज तर्क और बुद्धि का परिणाम है तो स्वभावतः कानून भी बुद्धि से ही प्रादुर्भूत होते हैं। जहाँ भी सामाजिक जीवन है वहाँ बुद्धि एव बुद्धि पर आधारित कानून का अस्तित्व होना स्वाभाविक है। चूंकि ग्रोशियस एक चिन्तनशील व्यक्ति था, अत. उसने अपने चिन्तन मे प्राकृतिक कानूनो को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। वह प्राकृतिक विधि की ओर क्यो उन्मुख हुआ ? इसे बतलाते हुए सेबाइन ने कहा है कि—

"सत्रहवी शताब्दी मे यह एक मानी हुई बात थी कि वह एक मूल विधि अथवा प्राकृतिक विधि की दुहाई देता। यह विधि प्रत्येक राष्ट्र की सिविल विधि के मूल मे विद्यमान है। अपनी अन्तर्निहित न्याय भावना के कारण वह समस्त प्रजाजनों, लोगो और शासको के ऊपर समान रूप से लागू होती है। ईसाई राजनीतिक चिन्तन की लम्बी परम्परा मे इस विधि के औचित्य को किसी ने अस्वीकार नही किया था, किसी ने उन पर सन्देह तक नही किया था। ग्रोशियस के लिए यह आवश्यक नही था कि वह इसके औचित्य पर जोर देता। लेकिन अब ईसाईयो की एकता टूट चुकी थी और ईसाई धर्म की सत्ता का भी पतन हो गया था इसलिए ग्रोशियस के लिए उसके आधारो की पुनर्परीक्षा आवश्यक हो गई थी। अब चर्च की सत्ता, धर्मशास्त्र की सत्ता अथवा धर्म का आदेश एक ऐसी विधि की बुनियाद नही बन सकता था जो प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक, ईसाई और गैर-ईसाई शासको के रूप से बन्धनकारी होता। मानववादी प्रशिक्षण की अपनी पृष्ठभूमि के कारण ग्रोशियस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह प्रकृतिक विधि की उस परम्परा की ओर मुडता जो ईसा से भी पहले की और जिसके बारे मे उसे प्राचीनकाल के विद्वानो की रचनाओ मे अच्छी जानकारी मिली थी थी। अस्तु उसने प्राकृतिक विधि के आधारो की परीक्षा स्टोईक दर्शन के एक सन्देहवादी आलोचक कार्नियाडीज

(Carneades) के साथ वाद-विवाद के रूप मे की । ग्रोशियस से पूर्व सिसरो (Cicero) भी यही कर चुका था ।'[1]

जहाँ सुग्रारेख एव अन्य लेखक प्राकृतिक कानून को ईश्वरीय कानून मानते थे, वहाँ ग्रोशियस ने इसे विवेक की अभिव्यजना समझा है। उसने वतलाया कि प्राकृतिक विधि की मानव-विवेक के साथ एकात्मकता होती है । सम्यक् विवेक का समावेश ही प्राकृतिक विधि है । विवेक-युक्त स्वभाव के अनुसार ही प्राकृतिक विधि होती है । कोई कार्य बुद्धि-सगत विवेक के अनुसार है या नही है, उनके अन्दर नैतिक अक्षमता है या नैतिक उच्चता इसी आधार पर प्रकृति का स्वामी किसी कार्य को स्वीकार या अस्वीकार करता है ।

ग्रोशियस के लिए ईश्वर का निर्देश महत्त्वपूर्ण है किन्तु ईश्वर न होता, तब भी प्राकृतिक विधि का वही अमर होता । "ईश्वर अपनी मनमानी से प्राकृतिक विधि को नही बदल सकता । इसका कारण यह है कि ईश्वर की शक्ति किसी ऐसी प्रस्थापना को सही सिद्ध नही करेगी, जो गलत हो । इस तरह की शक्ति, शक्ति न रह कर दुर्वलता हो जाएगी ।" स्वय ग्रोशियस के शब्दो मे, "जिस प्रकार ईश्वर यह नही कह सकता कि दो और दो मिलकर चार हो, उसी प्रकार ईश्वर यह नही कह सकता कि जो चीज गलत है, उसे वह गलत न कहे ।"

स्पष्ट है कि ग्रोशियस के अनुसार प्राकृतिक विधि अपरिवर्तनशील है । इसमे स्वय भगवान भी कोई परिवर्तन नही कर सकता । प्राकृतिक नियम ईश्वरीय नियम से किसी भी दशा मे हीन नही है और साथ ही ईश्वरीय नियम प्रकृति के कानून को विवेक-सम्मत समझने एव उसे ईश्वरीय-वाक्य से अलग रखने मे ग्रोशियस ने सन्त टॉमस एक्वीनास का अनुसरण न करके स्टोइक्स (Stoics) तथा सिसरो की परम्परा का निर्वाह किया है ।

विवेक-सम्मत होने के कारण प्रकृति का कानून विश्व व्यापक है । यह समस्त मनुष्यो एव राज्यो पर समान रूप से लागू होता है । एक व्यवस्था-सम्पन्न समाज बनाए रखने के लिए जरूरी है कि मानव प्रकृति की सीमाग्रो को ध्यान मे रखते हुए कुछ न्यूनतम शर्तों को कार्यान्वित किया जाए । इनमे मुख्य शर्तें है—सम्पत्ति की सुरक्षा, सद्विश्वास, न्यायपूर्ण व्यवहार आदि । ये शर्तें न तो मनुष्य की ऐच्छिक पसन्दगी हैं और न रूढि की सृष्टि ही । वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, पसन्द और रूढि स्थिति की आवश्यकताओ को अनुसरण करती है । वस्तुत "हमारे पास और कोई वस्तु होती या न होती, इस तरफ कोई ध्यान दिए बिना ही मानव-प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की है कि समाज के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्माण हो जाता है । मनुष्य की यह प्रकृति ही विधि की जननी है ।"

ग्रोशियस प्राकृतिक विधि मे उपयोगिता का बडा क्षेत्र पाता है । यह उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रो के लिए विभिन्न प्रकार की हो सकती है । जिस तरह अनेक व्यक्ति ईमानदारी को एक नीति के रूप मे ग्रहण करते है उसी तरह राष्ट्र भी यह विचार अपना सकते हैं कि प्राकृतिक विधि की उपेक्षा न करना स्वय उनके लिए हितकारी है, क्योंकि इस विधि का अधिक उल्लघन करने वाला राष्ट्र शीघ्र ही कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रो का विश्वास खो वैठेगा । शक्ति-सम्पन्न राज्य भी दूसरो के साथ सन्धियाँ करते हैं । यदि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार आचरण नही करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय सधियो का कोई मूल्य नही रहेगा । अन्तर्राष्ट्रीय विधि शासको के मध्य बुद्धि-सगत एव विवेकपूर्ण आचरण पर निर्भर है ।

वास्तव मे ग्रोशियस द्वारा स्वतन्त्र राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को विनियमित करने के लिए प्राकृतिक कानून को जो एक नवीन एव धर्म-निरपेक्ष मापदण्ड के रूप मे प्रस्तुत किया गया है,

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 383-84

उसका बडा महत्त्व है। ग्रोशियस के समय की अराजकतापूर्ण स्थिति का अन्त करने के लिए प्राकृतिक कानून की इस धारणा ने इसमे महान् योग दिया। प्राकृतिक विधि ने ही आगे चलकर राज्यो की सकारात्मक विधि (Positive Law) को जन्म दिया जिसका आधार यह है कि मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वो को समझते रहे और रूढियो की प्राणपण से रक्षा करें। प्राकृतिक विधि ने विधि और राजनीति में आदर्श का पुट दिया।

ह्यूगो ग्रोशियस ने यह भी बतलाया कि प्राकृतिक नियमों को किस प्रकार जाना जा सकता है। इसके निम्नलिखित तीन नियम है—

(1) प्राकृतिक नियम साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा दूसरो को विदित होते हैं।
(2) बडे-बडे विद्वानो के मस्तिष्को के विचार सामान्य समझौते के द्वारा लोगो के समक्ष आते है।
(3) श्रेष्ठ पुरुषो के कार्य प्रकृति के नियमो का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकरण कर सकते है।

विधियो का वर्गीकरण (Classification of Law)—ह्यूगो ग्रोशियस ने दो प्रकार के प्राकृतिक कानून माने हैं—(क) राजनीतिक समाज से पूर्व प्रकृति की आदिम दशा का विशुद्ध प्राकृतिक कानून (Pure Law of Nature), एव (ख) समाज के निर्माण के बाद एव राजनीतिक कानून बनने से पहले के प्राकृतिक कानून।

ग्रोशियस ने कानून को दो भागो मे बाँटा है—(1) प्राकृतिक कानून और (2) इच्छा-मूलक कानून। प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के कानून इच्छा (Volition) पर आधारित हैं। ये इच्छामूलक कानून (Jus Voluntarium or Volitional Law) भी तीन भागो मे विभक्त हैं—(i) दैवी या ईश्वरीय कानून, (ii) राजकोषीय कानून, एव (iii) राष्ट्रो के अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून। ग्रोशियस का यह विभाजन निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट है—
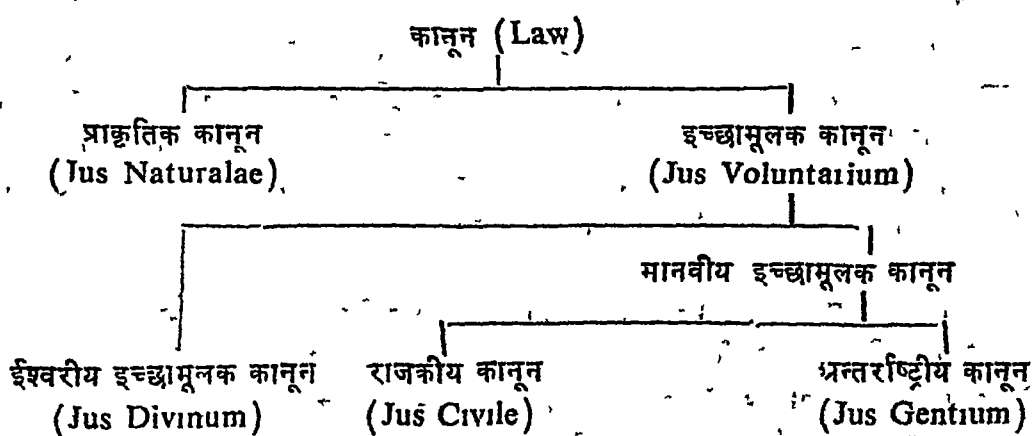
ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार
(Grotius on International Law)

ग्रोशियस ने अपने ग्रन्थ 'दी लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विवेचन क तत्कालीन और भावी समाज की बहुत बडी सेवा की। इसमे "वे समस्त व्यवहार सम्मिलित हैं जिनक पालन सभ्य राष्ट्र एक दूसरे के साथ बर्ताव करने में करते हैं। उनका मूल मानव की स्वतन्त्र इच्छा है सद्विवेक के सिद्धान्तों मे से तर्क द्वारा उनको नियमित नही किया जा सकता। इस प्रकार ये कानू ऐच्छिक होते है, अर्थात् ये स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यजना होते हैं, विवेक की नही।" डनिंग के शब्द मे, "इनका तत्त्व वह है जिसे सभी अथवा अनेक राष्ट्रो ने मान्य होना स्वीकार कर लिया है। इसक

सामग्री मे उन बातो को सम्मिलित किया गया है जो निरन्तर प्रयोग एव विद्वानो के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित हुई हैं। ऐसे नियमो का उद्देश्य समस्त अथवा अनेक राष्ट्रो के समूह का कल्याण है—यह ठीक वैसे ही हैं जैसे कि नागरिक विधि का उद्देश्य उस समूह का कल्याण होता है जो अनेक व्यक्तियो से मिलकर बनता है।"[1] स्पष्ट है कि ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium) को ऐच्छिक या इच्छा-मूलक कानून माना है जिसमे सम्मिलित किए जाने वाले नियम दो प्रकार के हैं—(i) निरन्तर चली आने वाली प्रथाओ से प्रमाणित और पुष्ट होने वाले नियम, एव (ii) विद्वानो की साक्षी से प्रमाणित होने वाले नियम। इस प्रकार के नियमों को बनाने का उद्देश्य समस्त अथवा अधिकांश राष्ट्रो की कल्याण-कामना है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। प्राकृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही कानूनो का पालन सामाजिक जीवन के लिए किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो की सहमति पर आधारित हैं। इनसे राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार का नियमन होता है। प्राकृतिक कानून वह आधार तैयार करते हैं जिसमे अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय आचरण निश्चित होता है। मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है और उसमे अच्छाई नैतिकता का समावेश है अत मानव की यह प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियमन प्राकृतिक कानून से नही होता, फिर भी प्राकृतिक कानून का और उसके मूल सिद्धान्तो का उल्लघन नही किया जाना चाहिए। प्राकृतिक विधि की अधिक उपेक्षा करने से राष्ट्रो का अहित ही होगा। इस विधि का उल्लघन करने वाला राष्ट्र शीघ्र ही कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रो का विश्वास खो बैठेगा। शक्ति-सम्पन्न राज्य भी दूसरों के साथ सन्धियाँ करते हैं। यदि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार आचरण नही करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय सधियो का कोई मूल्य नही रहेगा। अत स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधियो को प्राकृतिक कानून के अनुकूल ही चलना चाहिए, उस पर यथासम्भव आधारित होना चाहिए और उससे दूर नही भागना चाहिए। राज्यो को अपने वचनो का सद्भावना से पालन करना चाहिए। मानव-अधिकारो की रक्षा के लिए मानवीय आधार पर राज्यो को हस्तक्षेप करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति के लिए अपराधियो का हस्तान्तरण करना चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यातायात सम्बन्धी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियो के सम्बन्ध मे न्याय-युद्ध के लक्षण और कारण एव युद्ध-संचालन के तरीको का ही विवेचन नही किया बल्कि जन-धन पर युद्ध के प्रभाव, प्रसार के अधिकार, उन्नत जातियो के असभ्य जातियो से सम्बन्ध, दासत्व आदि पर भी विचार प्रकट किए।

उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए 'जस जेन्टियम' (Jus Gentium) शब्द प्रयुक्त हुआ है। वास्तव मे इस शब्द का प्रयोग उन नियमो एव कानूनो के लिए किया जाता था जो रोमन लोगो एव विदेशियो पर सामान्य रूप से लागू किए जाते थे। लेकिन 16वी शताब्दी मे सुआरेज एव जेन्टाइलिस जैसे लेखको के प्रभाव मे इस शब्द का अभिप्राय उन रीतियो एवं परम्पराओ से लिया जाने लगा जिनसे विभिन्न राष्ट्रो के मध्य आचरण विनियमित होता था। यही कारण था कि ग्रोशियस ने भी जस जेन्टियम का अर्थ उन नियमो एव परम्पराओ से लिया जो समस्त अथवा अधिकांश राष्ट्रो के लिए सामान्य थी और जिनसे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण होना चाहिए था। ग्रोशियस के हाथो मे पडकर जस जेन्टियम 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तद्रूप' बन गया। वस्तुतः ग्रोशियस ही वह प्रथम विचारक था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि का बडा सूक्ष्म, क्रमबद्ध, विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन किया। इसीलिए मैक्सी ने लिखा है कि "ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जनक कहा जाने लगा है।"[2]

1 *Dunning* · History of Political Theories, Vol II, p. 174
2 Quoted by *Maxey* . Modern Philosophies, p 180–181.

ग्रोशियस के प्रभुता-सम्बन्धी विचार
(Grotius on Sovereignty)

ग्रोशियस को सम्भवतः राज्य की सम्प्रभुता से मूलतः कोई रुचि नहीं थी, किन्तु तत्कालीन परिस्थिति जनित प्रश्नों ने उसे इधर आकर्षित कर लिया। ग्रोशियस ने यह समझ लिया था कि युद्ध जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिस पर नियन्त्रण पाया जा सकता है किन्तु जिससे सदैव बचा नहीं जा सकता। अतः उसने युद्धों को कुछ दशाओं में प्राकृतिक कानून के आधार पर उचित एवं न्यायसंगत ठहराने का प्रयास किया। उसने यह विचार रखा कि प्रत्येक राज्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनकी रक्षा की जानी चाहिए। यदि कोई राज्य दूसरे राज्य के प्राकृतिक अधिकार पर आक्रमण करता है तो रक्षा के लिए युद्ध करना अनुचित नहीं है। उदाहरणार्थ राज्य का यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपने क्षेत्र के निवासियों का विवेकपरक कल्याण करे। यदि कोई राज्य इस कल्याण में बाधा डाले तो यह अविवेकपूर्ण कार्य है जिसके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करना पूर्णतः विधि-सम्मत होगा। ग्रोशियस के स्वयं के शब्दों में, "युद्ध का लक्ष्य जीवन की रक्षा करना और जीवन के लिए लाभदायक वस्तुओं की रक्षा और प्राप्ति है। युद्ध प्रकृति के इन प्रथम सिद्धान्तों के अनुकूल है। यदि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाए तो इससे प्रकृति के प्रथम सिद्धान्तों की कोई अवहेलना नहीं होती क्योंकि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को आत्म-रक्षा एवं स्वयं की सहायता के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान की है"... ..."इसके अतिरिक्त सद्विवेक और समाज का स्वभाव शक्ति के समस्त प्रयोग का निषेध नहीं करते बल्कि केवल उस शक्ति-प्रयोग से इन्कार करते हैं जो समाज के प्रतिकूल हो।"

ग्रोशियस के इन विचारों से कुछ प्रश्न उठते हैं। प्रथम, इस बात का निर्णय कौन करेगा कि शक्ति-प्रयोग समाज के अनुकूल है अथवा नहीं? द्वितीय, राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध एवं शान्ति के प्रश्नों के निर्णय करने का किसे अधिकार है? इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों ने ग्रोशियस को विवश कर दिया कि वह शक्ति-प्रयोग करने की अधिकारी एकमात्र सामाजिक शक्ति की व्यवस्था करे और उसका स्थान निश्चित करे। इस प्रयत्न में ही ग्रोशियस राज्य के सम्प्रभुता के सिद्धान्त की ओर उन्मुख हुआ। उसने यह मत प्रकट किया कि राज्य के प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति के अधिकार के अन्तर्गत लड़े जाने वाले और कुछ निश्चित नियमों के अनुसार संचालित होने वाले युद्ध ही विधि-विहित हो सकते हैं।

ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को राज्य का शासन करने वाली 'सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति' बतलाया उसने कहा कि "प्रभुत्व शक्ति उसमें ही निहित है जिसके कार्यों पर न तो किसी दूसरी सत्ता का नियन्त्रण है और न ही जिसकी इच्छा का कोई और विरोध ही कर सके। राज्य में शासन करने की यह नैतिक क्षमता है।"

स्पष्ट है कि ग्रोशियस ने प्रभुता सम्बन्धी धारणा का निश्चय प्राकृतिक नियमों-अन्तर्देशीय सम्बन्धों एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर किया है। ग्रोशियस की प्रभुसत्ता प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत एक सीमित अधिकार है। परन्तु यह सीमा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निर्धारित नहीं की जाती। सम्राट को प्राकृतिक कानून, संवैधानिक एवं राष्ट्रीय कानून को मानना चाहिए परन्तु वह किसी मानवीय कानून से सीमित नहीं है। ग्रोशियस प्रभुसत्ता को व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति के समान एक अधिकार समझता है। प्रभुसत्ता पाने वाला व्यक्ति इस प्रकार अनेक तरह से अधिकार रखता है। अनेक बार उसे भू-सम्पत्ति के अधिकारों की भांति पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ न्याय-सम्मत युद्ध में जीते हुए को विजित प्रदेशों पर पूर्ण अधिकार होता है। कभी कुछ निश्चित अवधि के लिए सर्वोच्च सत्ता रखी जाती है। उदाहरणार्थ रोमन गणराज्य में डिक्टेटर को अवधि-विशेष के लिए ही सर्वोच्च सत्ता मिलती थी। ग्रोशियस की दृष्टि में यह सत्ता तभी वास्तविक है जब प्रजा अथवा ईश्वर के प्रति शपथ ग्रहण करके इसे प्राप्त किया जाय। ग्रोशियस के अनुसार सर्वोच्च शक्ति एक होते हुए भी राजा एवं प्रजा में विभक्त हो सकती है। इस प्रकार बोदाँ के सर्वथा विपरीत ग्रोशियस एक विभाजित एवं सीमित

प्रभुसत्ता की सम्भावना को स्वीकार करता है। वह राजा की प्रभुसत्ता पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो और प्राकृतिक कानून की सीमा लगाता है। इस तरह वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुता के प्रतिपादन करता है। प्रत्येक विचार का राज्य की स्वेच्छा से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का आदर करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रभुता माननी चाहिए।

सम्प्रभुता की चर्चा करते हुए ग्रोशियस ने राज्य की उत्पत्ति पर भी विचार प्रकट किए हैं। इस सम्बन्ध मे उसने दो विरोधी सिद्धान्तो का सम्मिश्रण किया है। प्रथम तो वह यह मानता है कि मानव स्वाभाविक रूप से सामाजिक है और अपनी सहज सामूहिक प्रवृत्ति द्वारा समाज का निर्माण करता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार ग्रोशियस राज्य की उत्पत्ति की समझौता सम्बन्धी धारणा का समर्थन करता है। उसके अनुसार "आरम्भ मे मनुष्यो ने ईश्वर की आज्ञा से नही, बल्कि अपनी इच्छा से यह अनुभव करने के बाद राजनीतिक समाज का सगठन किया कि वे पृथक्-पृथक् परिवारो मे रहते हुए हिंसा से अपनी रक्षा नही कर सकते। इसी से शासन-शक्ति का आविर्भाव हुआ।"[1] यहाँ समाज का अर्थ सम्पूर्ण मानव-समाज है तथा राज्य इस मानव-समाज के कुछ व्यक्तियो द्वारा बनाया गया राजनीतिक संगठन है। ग्रोशियस का सम्भवत यह विचार है कि राज्य की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक दशा मे विशुद्ध प्राकृतिक कानून का साम्राज्य था और प्रत्येक व्यक्ति अपने इस अधिकार की रक्षा के लिए प्रतिरोध करता था। कालान्तर मे सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था के लिए जब राज्य का निर्माण हुआ तो प्रतिरोध (Resistance) का यह अधिकार सर्वोच्च शासक को मिल गया। अब राज्य में सर्वोच्च शासक के विरुद्ध किसी को प्रतिरोध नही रहा क्योकि समाज का निर्माण करते समय सभी ने स्वेच्छा से अपने अधिकार सर्वोच्च शासक अथवा प्रभु को सौंप दिए। ग्रोशियस प्रभुता को इसी उच्चतम राजनीतिक शक्ति के तदनुरूप मानता है जिसका प्रयोग किसी व्यक्ति के नियन्त्रण के अधीन नहीं है।

ग्रोशियस जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का घोर विरोधी है। जनता एक बार स्वेच्छा से अपनी शासन-प्रणाली चुनने की अधिकारिणी है, पर बाद मे शासक पर उसका कोई नियन्त्रण नही रहता। तब जनता पूर्ण रूप से अपने प्रभु के अधीन हो जाती है और प्रभुता को प्रभु से वापिस नही लिया जा सकता। फिर जनता शासन-सत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह नही कर सकती। ग्रोशियस प्रभुसत्ता और जनता के हितो के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नही मानता। प्रभु की इच्छा सर्वोच्च है। यदि प्रभु अपनी प्रजा को राजनीतिक स्वतन्त्रता से वचित भी कर देता है तो भी उसके विरुद्ध कोई विद्रोह अनुचित है। शासक को प्रभुसत्ता हस्तान्तरित करने के बाद प्रजा स्थाई रूप से उसके वशीभूत हो जाती है। राजा के लिए यह आवश्यक नही है कि वह प्रजा-हित की दृष्टि से ही शासन करे। उसे प्रजा पर वैसा ही अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसा व्यक्ति का अपनी निजी सम्पत्ति पर होता है। राजा को व्यक्तिगत सम्पत्ति की भाँति ही प्रभुसत्ता के विक्रय, दान अथवा विरासत को दूसरे को दे डालने का अधिकार है।

ग्रोशियस के इस सिद्धान्त से स्पष्ट ही राजा की निरकुश अधिकार शक्ति का पोषण होता है। उसका मन्तव्य यही है कि प्रजा को राजा का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है। उसे राजा के अत्याचारों को मौन होकर सह लेना चाहिए। यदि राजा के आदेश ईश्वरीय अथवा प्राकृतिक नियमों को भंग करने वाले हों तो प्रजा को इन आदेशो का पालन नही करना चाहिए, पर साथ ही विद्रोह भी नहीं करना चाहिए। इस स्थिति मे प्रजा का कर्त्तव्य यही है कि वह आज्ञा भग के दुष्परिणामो को चुपचाप सह ले। ग्रोशियस राजा को मानवीय इच्छाओ एव राजकीय कानूनो से सर्वथा स्वतन्त्र एव एव मुक्त मानता है। वह राजा पर प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून, वैधानिक कानून एवं

1 Quoted by *Dunning*. Political Theories from Luther to Montesque, p. 181.

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार इन कानूनों की व्यवस्था का पालन होना चाहिए।

ग्रोशियस के उपरोक्त विचारों का दूरगामी प्रभाव हुआ। लगभग 100 वर्ष तक यूरोप में राजाओं की निरंकुश राजसत्ता का प्रबल समर्थन बना रहा पर साथ ही उसके समझौते सिद्धान्त के कारण निरंकुश राजसत्ता के विरोधियों के हाथ भी मजबूत हुए। डनिंग के शब्दों में, "अतः एक ओर जहाँ ग्रोशियस के ग्रन्थ ने निरंकुश राजसत्ता के पक्ष को प्रोत्साहित किया, वहाँ दूसरी ओर इसने सीमित (वैध) शासन के पक्षपातियों को भी सहायता एवं सान्त्वना प्रदान की।"[1]

ग्रोशियस की देन और उसका महत्त्व

(Contribution and Importance of Grotius)

ग्रोशियस की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिपादन करके राज्यों के एक-दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्त्तव्यों एवं सम्बन्धों पर समुचित प्रभाव डालना है। इसीलिए वह 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक' कहा जाता है पर इस क्षेत्र में उसकी मौलिक देन नहीं है। उसको श्रेय यही है कि उसने "प्रत्येक पीढ़ी के न्यायविदों एवं धर्मशास्त्रियों, आचारशास्त्रियों एवं दार्शनिकों, कवियों एवं इतिहासज्ञों के परिश्रम के परिणामों को संगतिबद्ध किया। उसका ग्रन्थ 'लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' पुरानी पीढ़ियों की बुद्धि का सार था और वह उसे पुनर्जागरण' एवं 'सुधार युग' के संसार की अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। जो कुछ भी स्टोइक दार्शनिक, रोमन न्यायवेत्ता, स्कॉलिस्टिक धर्मशास्त्री तथा जेसुइट लोग प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में लिख चुके थे, उन सबका लघु रूप इसमें मिलता था और इन सबके सम्मिश्रण से वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा परम्पराओं के लिए एक अत्यन्त मूल्यवान भवन के लिए एक ठोस आधार तैयार करता था।" वास्तव में ग्रोशियस का महत्त्व इस बात में है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नवीन व्यवस्था प्रदान की। वह इस क्षेत्र में स्पष्टता और निश्चितता लाया। डनिंग के अनुसार, 'राजनीति विज्ञान को ग्रोशियस की महानतम निश्चित देन यह है कि उसने अधिकारों और कर्त्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की जिसे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लागू किया जा सकता था।" ग्रोशियस के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार हॉब्स के अग्रगामी सिद्ध हुए जिनके आधार पर उसने लेवियाथान (Leviathan) का ढाँचा निर्मित किया। ग्रोशियस ने सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की नींव डाली। यद्यपि उसके विचार अस्पष्ट एवं अविकसित थे लेकिन उनसे भावी अनुबन्धवादियों के लिए संकेत अवश्य मिल गया।

17 सामाजिक अनुबन्ध का युग : हॉब्स

(Age of Social Contract : Hobbes)

अनुबन्धवादी विचारको मे हॉब्स, लॉक तथा रूसो के नाम एक साथ चलते हैं, भले ही उनमें व्यापक मतभेद रहा हो। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनुबन्धवादी सिद्धान्त की प्रधानता 17वीं और 18वीं शताब्दी में रही। राज्य के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर किसी न किसी प्रकार का कोई प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष समझौता होता है, यह बात टॉमस हॉब्स से पहले मानी जाती रही है। प्राचीन यूनान मे इसका समर्थन सबसे पहले सोफिस्ट विचारको ने किया था। उनका कहना था कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है और वह समझौते का परिणाम है। सोफिस्ट विचारको के विपरीत महान् दार्शनिक प्लेटो एव अरस्तू ने राज्य को एक स्वाभाविक सस्था स्वीकार किया। एपीक्यूरियन विचारको ने यह मत प्रस्तुत किया कि मनुष्य के सामाजिक एव वैधिक या कानूनी सम्बन्धो के मूल मे परस्पर समर्थित स्वार्थ होते हैं और न्याय उसके पारस्परिक लाभ की वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नही होता। रोमन विचारकों ने भी जनता को राज्य-सम्प्रभुता का स्रोत माना। मध्ययुग मे भी इस सिद्धान्त को मान्यता मिलती रही। ग्यारहवी शताब्दी मे मनीगोल्ड ने यह विचार प्रस्तुत किया कि राजा राजपद पर प्रजा के समझौते से बैठा हुआ माना जाता है और यदि प्रजा न चाहे तो उसे अपने पद से हट जाना चाहिए। तेरहवी शताब्दी मे एक्वीनास ने भी इस मत का समर्थन किया और आगे चलकर 16वीं और 17वी शताब्दी मे इस विचार को समर्थन प्राप्त हुआ। इग्लैण्ड के रिचार्ड हूकर ने यही मत प्रतिपादित किया कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अशान्त और सघर्षपूर्ण थी जिससे छुटकारा पाने के लिए उसने समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। ग्रोशियस ने अपनी कृति 'On the Law of War and Peace' मे बताया कि राज्य का रूप एक समझौते का परिणाम है। जॉन मिल्टन ने राज्य-शक्ति का मूल जन-समर्थन को माना और जर्मनी मे सेम्युअल प्यूफेण्डार्ड ने यह विचार प्रस्तुत किया कि अपनी अशान्त और कष्टमय प्राकृतिक अवस्था से छुटकारा पाने के लिए जनता ने समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। स्पीनोजा ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। इस प्रकार राज्य के सम्बन्ध मे अनुबन्धवादी-सिद्धान्त शताब्दियो तक समर्थन पाता रहा, तथापि पूर्ण व्यवस्थित ढग से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हॉब्स, लॉक एवं रूसो ने ही किया और उनमें भी हॉब्स का नाम अग्रणीय है।

हॉब्स : जीवन चरित्र, कृतियाँ एवं पद्धति
(Hobbes Life, Works & Method)

टॉमस हॉब्स पहला दार्शनिक था जिसने राजनीतिक चिन्तन मे निरकुशतावाद एवं धर्म-निरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार बनाया तथा भौतिक विज्ञानों मे प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन और राजनीतिक चिन्तन का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का रूप दे दिया। वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली, ऐतिहासिक एव भौतिकवादी समीक्षा, तर्क-सिद्ध व्याख्या, सुतीक्ष्ण शैली एव विचारोत्तेजक लेख—ये सब हॉब्स की ही देन हैं।

हॉब्स का जन्म 5 अप्रैल, 1588 ई. को इंग्लैण्ड के दक्षिणी तट पर स्थित माम्सबरी (Malmesbury) नामक नगर में हुआ था। अपने बाल्यकाल में ही वह अध्ययनशील एवं अनुशासित स्वभाव का, किन्तु डरपोक था। युद्ध और अशान्ति से भय खाने वाला हॉब्स गृह-युद्ध के समय इंगलैण्ड से भाग कर फ्रांस चला गया जहाँ उसे चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हॉब्स ने राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित, दर्शनशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया। फ्रांस में उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथान' (Leviathan) लिखा जो सन् 1651 में प्रकाशित हुआ। इसमें हॉब्स ने राजा के निरंकुश राजतन्त्र को न्यायोचित ठहराने के लिए सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, किन्तु उसके उस प्रयास से दरबारीगण एवं अनेक सामन्त उसके विरोधी हो गए, अतः उसे पुनः इंगलैण्ड भाग जाना पड़ा। 1660 में जब इंगलैण्ड में पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई तो हॉब्स के विचारों का राजदरबार में स्वागत हुआ लेकिन हॉब्स अपने जीवनकाल में अधिक समय सम्मानित न रह सका। उसके ऊपर राजनीतिक कार्यवाही के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगा दिया गया फलतः अपने जीवन के शेष 20 वर्ष उसने इतिहास, कानून, भौतिकशास्त्र आदि के अध्ययन में व्यतीत किए और तब 1679 में 91 वर्ष की आयु में यह पुरुषश्रेष्ठ चल बसा। हॉब्स का दैहिक शरीर आज विद्यमान नहीं है किन्तु अपनी कलम के प्रताप से राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसका नाम आज भी अमर है। हॉब्स के द्वारा रचे गए प्रमुख ग्रन्थ, जिन्होंने उसके नाम को अमर कर दिया, निम्नलिखित हैं—

1. डी सिवे (De Cive, 1642)—इस ग्रन्थ में हॉब्स ने सम्प्रभुता की परिभाषा और उसका स्पष्टीकरण किया है।

2. डी कारपोरे (De Corpore, 1642)—इस ग्रन्थ में हॉब्स ने प्रकृति का विवेचन प्रस्तुत किया है और यह भी स्पष्ट किया है कि जनता को सम्प्रभु शासक का विरोध क्यों नहीं करना चाहिए?

3. लेवियाथान (Leviathan, 1651)—अपनी इस प्रतिनिधि रचना में हॉब्स ने निरंकुशतावादी राजतन्त्र का समर्थन किया है। इस ग्रन्थ को उसने 4 भागों में बाँटा है। प्रथम भाग में प्राकृतिक अवस्था का स्पष्टीकरण है, द्वितीय में राज्य की उत्पत्ति और सम्प्रभुता को लिया गया है तृतीय और चतुर्थ भाग में धर्म एवं राज्य के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।

4. एलीमेंट्स ऑफ लॉ (Elements of Law, 1650)—इसमें हॉब्स ने विधि की व्याख्या तथा उसके प्रकारों का विवेचन किया है। Resolutive Composit System

हॉब्स ने अपने विचारों को वैज्ञानिक भौतिकवाद के सहारे प्रक्रिया एवं प्रतिक्रिया के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अपने विचारों को प्रस्तुत करने में उसने वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की सी तटस्थ दृष्टि रखी है। हॉब्स ने 'रिजाल्यूटिव कम्पोजिट प्रणाली' को अपनाया है जिसके अनुसार सर्वप्रथम किसी वस्तु के दोषों का पूर्ण विश्लेषण किया जाता है और तत्पश्चात् उन दोषों को दूर करके उस वस्तु को कार्य करने योग्य बनाया जाता है।

हॉब्स ने ब्रिटिश क्रान्ति के युग को अपनी आँखों से देखा था। गृह-युद्ध, क्रामवेल के गणतंत्रीय शासन की असफलता, चार्ल्स द्वितीय के साथ 1660 ई. में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना आदि की घटनाओं ने उसके मन में यह बात बैठा दी कि प्रगतिशील और शान्त जीवन के लिए एक सुदृढ़ शासन का होना पहली शर्त है तथा राजतन्त्र ही सबसे स्थिर और सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली है। एक शक्तिशाली सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निरंकुश सत्ता ही अराजकता को समाप्त कर सकती है। हॉब्स पर तत्कालीन वैज्ञानिक खोजों और घटनाओं का भी भारी प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप उसने वैज्ञानिक भौतिकवादी पद्धति को अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार बनाया।

हॉब्स का वैज्ञानिक भौतिकवाद
(Scientific Materialism of Hobbes)

हॉब्स का महत्त्व राजनीतिक दर्शन को एक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने मे है। उसने अपने राज-दर्शन में निरंकुशतावाद तथा धर्म-निरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार तैयार किया और भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिन्तन का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का स्वरूप दिया।

वैज्ञानिक मानवतावाद का हॉब्स पर बडा प्रभाव पड़ा। यह इसी बात से स्पष्ट है कि हॉब्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भौतिक नियमो की भाँति मानवीय व्यवहार के बारे मे भी नियम बनाए जा सकते हैं। मनुष्य बुद्धिमान है, जिसमें स्वहित के लिए कार्य करने की क्षमता है और स्वार्थी होते हुए भी आपस में स्वयं समझौता कर अपनी भलाई के लिए इन्होने राज्य का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त हॉब्स ने बतलाया कि समझौता करने की मनुष्य में क्षमता है और वह राजाज्ञा-पालन अपनी इच्छा से करता है। वास्तव में वैज्ञानिक मानवतावाद ने व्यक्ति को स्वतन्त्रतावाद देकर राजनीतिक विचार का केन्द्र बनाया था और हॉब्स में यही व्यक्तिवाद काफी सीमा तक अभिव्यक्ति पाता है।

हॉब्स पर डेकार्ट का बहुत बडा प्रभाव पड़ा जो वैज्ञानिक पद्धति का प्रणेता माना जाता है। उसका मत था कि भौतिक विज्ञानो की भाँति सामाजिक विज्ञानो की भी एक निश्चित पद्धति होनी चाहिए। उसकी वैज्ञानिक पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त थे—निर्णय लेने मे शीघ्रता, निष्पक्षता, वस्तु को छोटे-छोटे भागो मे बाँट कर व्याख्या से सम्पूर्ण हल निकालना, तथ्यो को देखते हुए आगे बढना, सरलता से जटिलता की ओर बढना, तथ्य एकत्रित कर फिर परीक्षण और तत्पश्चात् निष्कर्ष निकालना आदि। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे इस पद्धति को प्रयोग मे लाने के प्रभाव-स्वरूप हॉब्स के दर्शन मे शुष्क बौद्धिक दृष्टिकोण का परित्याग हुआ।

हॉब्स वस्तुत वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर एक सम्पूर्ण दर्शन की रचना करना चाहता था। राजनीतिक दर्शन उसके इस सम्पूर्ण चिन्तन का एक अग-मात्र था और उसके इस सम्पूर्ण-दर्शन को ही भौतिकवाद (Materialism) कहा गया है। गैलीलियो की भाँति ही हॉब्स ने पुराने विषय मे से एक नए विज्ञान को जन्म दिया और यह नया विज्ञान 'गति' का था। हॉब्स ने इसी गति सम्बन्धी सिद्धान्त को अपने दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। उसका विचार था कि मूल मे प्रत्येक घटना एक गति के रूप मे होती है और प्राकृतिक प्रक्रियाएँ विभिन्न सश्लेषणो के मेल से गठित होती हैं। इन सश्लेषणो के मूल मे भी कुछ गतियाँ हो रही हैं। यदि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओ को समझना चाहते है, तो हमें इन मूल गतियो को समझना चाहिए। प्राकृतिक व्यापार को समझने का एक और सन्तोषजनक उपाय है। प्रत्येक घटना के मूल मे पिण्डो की सरलतम गति रहती है। बाद मे यह गति अधिकाधिक जटिल होती जाती है और प्रकृति का प्रत्येक व्यापार किसी न किसी रूप मे इसी गति का द्योतक है। हॉब्स के इन विचारो का विवेचन करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि, "उसके दर्शन के तीन भाग माने जाते हैं—पहला भाग पिण्ड से सम्बन्ध रखता है और उसमे ज्योमिति तथा यान्त्रिकी (अथवा भौतिकी) का समावेश है, दूसरा भाग मानव-प्राणियो, शरीर-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है तथा तीसरा भाग सबसे कठिन है। वह समाज अथवा राज्य के नाम से प्रख्यात कृत्रिम पिण्ड से सम्बन्ध रखता है।.. हॉब्स के दर्शन मे सारी वस्तुओ का मूल आधार ज्योमिति और यान्त्रिकी है।"[1]

हॉब्स के दर्शन का उद्देश्य यह था कि मनोविज्ञान तथा राजनीति को विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानो के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाए। उसने मनोविज्ञान और राजनीति मे उन्ही पद्धति का प्रयोग किया। 17वी शताब्दी के सम्पूर्ण विज्ञान पर ज्योमिति का जादू छाया हुआ था। हॉब्स भी

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 416-417.

इसका अपवाद नहीं था। उसके विचार में श्रेष्ठ पद्धति वह थी जिसमें वह अपने चिन्तन को दूसरे विषयों में भी ले जा सके। ज्योमिति के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से सत्य थी। ज्योमिति, सर्वप्रथम सरल वस्तुओं को लेती है और जब आगे चल कर वह जटिल समस्याओं से उलझती है, तब उन्हीं चीजों का प्रयोग करती है जिन्हें वह पहले प्रमाणित कर चुकी होती है। ज्योमिति में किसी वस्तु को स्वयं-स्वीकृत नहीं माना जाता। हॉब्स ने भी अपने दर्शन का इसी प्रकार निर्माण किया।

भौतिक शास्त्र के आधार पर हॉब्स ने अपने मनोविज्ञान की रचना की और मनोविज्ञान के आधार पर राजनीति शास्त्र की स्थापना की। समुदायवादी मनोविज्ञान (Associationist Psychology) के एक प्रणेता के रूप में विलियम जेम्स ने हॉब्स का नामोल्लेख किया है। हॉब्स के अनुसार भय-त्रस्त स्वार्थ-साधक मानव निरन्तर शक्ति की प्राप्ति और प्राप्त शक्ति की वृद्धि में लगा रहता है। जगत में निरन्तर गति-प्रवाह है और मानव कहीं भी स्थिरता तथा शान्ति का अनुभव नहीं करता। प्रकृति में सर्वत्र ही गति व्याप्त है और मानवीय व्यवहार गति के ही प्रकार हैं। शासन-कला मानव के सामाजिक व्यवहार पर निर्भर है और सामाजिक व्यवहार में मानव एक-दूसरे से व्यवहार करते हैं, अतः राजनीति-विज्ञान मनोविज्ञान पर आधारित है। "हॉब्स का लक्ष्य यह प्रकट करना नहीं था कि शासन वास्तव में क्या होता है? उसका लक्ष्य तो यह था कि शासन को कैसा होना चाहिए ताकि वह प्रणालियों पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण कर सके जिनकी अभिप्रेरणा मानव-मात्र की भाँति ही होती है।"

मनोविज्ञान भी भौतिक शास्त्र के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है या नहीं, यह एक भिन्न प्रश्न है? लेकिन हॉब्स ने गति के नियमों से संवेदन भावनाओं और मानवीय आचरणों को पहचानने की कोशिश अवश्य की। उसने सामान्य रूप से मानवीय व्यवहार के लिए एक सिद्धान्त निकाला और यह बतलाने का प्रयास किया कि विभिन्न परिस्थितियों में यह सिद्धान्त किस प्रकार क्रियाशील होता है? इस पद्धति द्वारा ही वह मनोविज्ञान से राजनीति पर पहुँचा। हॉब्स ने बतलाया कि मानव-प्रकृति एक मूल नियम से शासित होती है। उसने यह प्रदर्शित किया कि राजनीति में यह नियम किस भाँति कार्य करता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का शाब्दिक अर्थ दो पद्धतियों का सम्मिश्रण है। 'वैज्ञानिक' शब्द का अर्थ है व्याख्या, कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause and effect relationship), व्यवस्था और निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति—हॉब्स में हम ये सब पाते हैं। वह इन्हीं आधारों पर अपने राजदर्शन का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ वह सर्वप्रथम मानव-स्वभाव और उसके चरित्र का अध्ययन करता है, उसकी भावना, इच्छा एवं विचारों का विश्लेषण करता है और तब इस परिणाम पर आता है कि ऐसे प्राणी के साथ व्यवहार करने और उसके कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य को कैसा होना चाहिए? वह समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति बतलाता है पर इसके पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी करता है जिसके बाद नागरिक समाज का निर्माण आवश्यक हुआ था। इस प्रकार हॉब्स, व्यवस्थित और क्रमबद्ध आधार पर सर्वप्रथम मानव-स्वभाव का विश्लेषण, फिर प्राकृतिक कानून, तदुपरान्त प्राकृतिक अवस्था और अन्त में समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करता है। कारण एवं प्रभाव उसके सम्पूर्ण दर्शन में देखे जा सकते हैं। वह राज्य से आरम्भ करके नियामक तत्वों को पृथक् कर उसके स्वरूप की व्याख्या कर सकता था। लेकिन ऐसा न करके वह राज्य के निर्णायक अंगों अर्थात् व्यक्तिगत मानव-प्राणियों से अपना दर्शन आरम्भ करके बतलाता है कि किस प्रकार मानव-स्वभाव मनुष्य के लिए राज्य की सृष्टि आवश्यक बना देता है और उसका स्वरूप भी क्या होना चाहिए? वह व्यक्ति को महत्त्व देता है। उसके मनोविज्ञान के कारण ही समझौते और शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना होती है। हॉब्स के अनुसार, "संसार में पदार्थ के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। उसके लिए आध्यात्मिक

सत्ता एक काल्पनिक अनुमान है। वह यह नहीं कहता कि अनुभूति नहीं होती या आध्यात्मिक सत्य नहीं होते। लेकिन उसका स्पष्ट मत है कि उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।"

अतः हॉब्स की सम्पूर्ण प्रणाली संसार के तीनों भाग—प्रकृति, पदार्थ और मनुष्य तथा राज्य की व्याख्या भौतिक सिद्धान्त के आधार पर हुई है। वह भौतिक वातावरण को बहुत महत्त्व देता है। उसके अनुसार यही मानव मनोविज्ञान का आधार और आरम्भ बिन्दु है। वैज्ञानिक भौतिकवाद से वह सिद्ध करता है कि वातावरण मानव-मनोवृत्तियों को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण है। यहाँ वह मॉन्टेस्क्यू का पथ-प्रदर्शक है। बाह्य वातावरण के प्रभाव में ही मानव की आन्तरिक शारीरिक व्यवस्था प्रभावित होती है और फिर उनमें भावना, इच्छा, प्रेम, घृणा आदि का जन्म होता है।

भौतिकवाद हॉब्स द्वारा दिए गए प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का मूल्य है। वह प्राकृतिक कानून का यन्त्रवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो प्राकृतिक कानून के दैविक या अति भौतिक रूप से पृथक् है और मनुष्य की व्याख्या और समझ से परे की वस्तु नहीं है। प्राकृतिक कानून विधि और परिणाम की संगठित व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार प्रकृति की प्रक्रिया जिन कारणों और परिणामों से मिलकर बनी है, वही प्राकृतिक कानून है।

मानव स्वभाव का विश्लेषण भी हॉब्स वैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर ही करता है। मनुष्य तत्त्वतः शरीर है, एक ऐसा यन्त्र है जो पौधों और पशुओं के समान गतिमान अणुओं का सम्मिश्रण है जिसे मृत्यु-पर्यन्त क्रियाशील रहना है। मनुष्य जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे अच्छा और नापसन्द करता है उसे बुरा कहता है। हॉब्स मानव-भावनाओं का विवेचन करते हुए अन्त में उन्हें दो भौतिक तथा प्रारम्भिक भावनाओं-इच्छा एवं अनिच्छा तक सीमित कर देता है। इच्छा वह भावना है जो किसी बाह्य वस्तु द्वारा जनित -गति शरीर में चल रही प्राण प्रक्रियाओं को तीव्र करती है। अनिच्छा वह भावना है जो उन प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करती है। इच्छा ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास है जबकि अनिच्छा उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न। प्रिय वस्तु को पाने में हर्ष होता है और उसके खो जाने पर दुःख होता है। हॉब्स वैभव, ईर्ष्या, दया, नम्रता आदि भावनाओं का आधार भी उन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों—इच्छा और अनिच्छा को मानता है। वह समस्त भावनाओं का केन्द्र मनुष्य का निजत्व बतलाता है। ये मनुष्य के अहंकार और स्वार्थपरता के विभिन्न रूप हैं। हॉब्स की धारणा थी कि मनुष्य पूर्ण रूप से स्वार्थी है। समस्त मानव-व्यवहार को अहम् पर आधारित करने के प्रयास ने ही हॉब्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है जो उसे मैकियावली से श्रेष्ठतर बनाता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की दृष्टि से हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान विवादास्पद है। लेवियाथान (Leviathan) के प्रकाशित होने पर हेनरी मोर तथा कडवर्थ जैसे दार्शनिकों, कैरलैण्ड जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिलमर जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने उसके नास्तिकवाद तथा भौतिकवाद के सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की थी।

यद्यपि हॉब्स ने अपने दर्शन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया परन्तु इस दृष्टि से उसका लेवियाथन एक प्रभावहीन ग्रन्थ रहा। सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक पद्धति को ज्योमिति की पद्धति या निगमन पद्धति (Deductive Method) के अनुरूप समझा जाता था। हॉब्स के बाद यह सिद्ध हो गया कि ज्योमिति के नमूने पर राजनीतिक विज्ञान या मानव-विज्ञान के निर्माण का प्रयास भ्रम है। राजनीतिक कल्प-विकल्प के क्षेत्र में इस पद्धति का अनुकरण स्पिनोजा के अतिरिक्त और किसी विचारक ने नहीं किया था। परन्तु हॉब्स की पद्धति को हमें इस कसौटी पर नहीं कसना चाहिए कि उसके परिणाम कहाँ तक सही अथवा गलत निकले या वह मानव तथा राजनीति विज्ञान के बीच सम्पर्क स्थापन में सफल रहा अथवा विफल? उसकी विशेषता तो इस बात में है कि उसका चिन्तन क्रमबद्ध तथा समन्वित है, उसने संगतिबद्ध युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं और अपने निष्कर्ष पर वह दृढ़ता से

कायम है। यदि हम उसके प्रारम्भ विन्दु को स्वीकार कर लें तो उसके अन्तिम परिणाम को ठुकराना असम्भव होगा।

सेबाइन का कहना है कि "यह पद्धति मूलतः निगमनात्मक (Deductive) थी।" उसमे अनुभव-प्रधानता का अभाव है और वास्तविकता का पुट नही आ पाया है। "हॉब्स का राजनीतिक दर्शन यथार्थपरक निरीक्षण पर आधारित नही है। मनुष्य के नागरिक जीवन में प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से रहते हैं? इससे हॉब्स पूरी तरह परिचित नही था। उसका मनोविज्ञान भी निरीक्षण पर आधारित नही है। वह इस बात का विवरण नही कहा जा सकता कि वास्तव में क्या है, प्रत्युत वह इस बात का विवरण था कि सामान्य सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए मनुष्य को कैसा होना चाहिए।" आज अनुभववाद (Pragmatism) वैज्ञानिक पद्धति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसका तात्पर्य है—जीवन के निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर विश्लेषणात्मक ढंग से निष्कर्ष निकालना। परन्तु हॉब्स अपने मस्तिष्क द्वारा पूर्व-निर्धारित उपकल्पनाओ (Hypothesis) से आरम्भ कर निष्कर्ष निकालता है, जीवन की व्यावहारिकताओ से नही। वे स्वय एक सिद्ध सत्य से आरम्भ होती हैं और उनसे परिणाम निकाले जाते हैं। परन्तु इस आलोचना के बावजूद भी यह स्मरणीय है कि सत्रहवी शताब्दी की वैज्ञानिक पद्धति मे, जो उस समय विकसित हो रही थी, अनुभववाद पर उतना बल नही दिया जाता था जितना आज दिया जाता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक पद्धति गणितीय और भौतिक विज्ञानों की भाँति अधिक थी। अतः यहाँ हॉब्स की यह युक्ति ठीक होगी कि वह वैज्ञानिक पद्धति की खोज मे अपने समय की सीमाओ से आगे नही बढ सका। इस सबन्ध मे वह सत्रहवी शताब्दी का शिशु था।

सेबाइन ने एक अन्य आलोचना करते हुए लिखा है कि "हॉब्स स्वयं अपनी पद्धति को व्यवहार मे लाने मे असफल रहा है। उसने अपनी पद्धति कुछ ऐसी मान्यताओ से आरम्भ की जो तर्क की दृष्टि से तो सही थी, किन्तु व्यावहारिकता की कसौटी पर खरी नही उतरती थी। वह गणितीय पद्धति मे इतना अधिक विश्वास करता है कि गणितीय ज्ञान और ज्योमित पद्धति तथा अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान के सम्बन्ध में भ्रम मे पड़ जाता है तथा मान बैठता है कि जिन निष्कर्षों पर वह अपने गणितीय ज्ञान और ज्यौमिति पद्धति से पहुँचा है वे व्यावहारिक जीनव मे भी सही होगे। दूसरे, हॉब्स मानव जगत और भौतिक जगत के अन्तर को भी भुला बैठता है और दोनो मे अपनी एक ही पद्धति से व्यवहार करने का असफल प्रयास करता है। उसकी धारणा है कि जिस प्रकार ज्योमिति की सहायता से हम जटिल वस्तु का अध्ययन कर सकते हैं, वैसा मानव के जटिल व्यवहार के सम्बन्ध मे किया जा सकता है। हॉब्स ज्योमिति की सहायता से केवल मानव-मनोविज्ञान का अध्ययन ही नही करता वरन् उसका विचार है कि भौतिक विज्ञानो के नियम (Law of Physics) की भाँति 'मानवीय व्यवहार के निगम' (Law of Human Behaviour) भी बनाए जा सकते हैं जबकि वस्तुत मानव-व्यवहार के बारे मे ऐसा करना निश्चय ही कठिन है।"

सेबाइन ने हॉब्स के दर्शन पर केवल उपयोगितावादी होने का आरोप लगाया है। हॉब्स के लिए विज्ञान का यही अभिप्राय है कि सरल वस्तुओ के आधार पर जटिल वस्तुओ का निर्माण किया जाए। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ज्योमिति है। परिणामत हॉब्स ने शासन को पूरी तरह से लौकिक और उपयोगितावादी माना है। शासन का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि वह क्या कार्य करता है? शासन का विकल्प अराजकता है, अतः उपयोगितावादी चुनाव मे भावना का कोई स्थान नही है। शासन के लाभ ठोस हैं जो व्यक्तियो को ठोस तरीके से ही प्राप्त होने चाहिए—शान्ति, सुविधा, सुरक्षा और सम्पत्ति के रूप मे। यही एकमात्र आधार है जिस पर शासन का औचित्य निर्भर है। सार्वजनिक इच्छा की भाँति ही सामान्यहित कल्पना मात्र है। केवल व्यक्ति ही अपने जीवन-साधनों के लिए रहता और संरक्षण का उपयोग करना चाहता है। राज्य का अस्तित्व मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी सुरक्षा की कल्पना के लिए है। उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। उसके भौतिक

अधिकारो का स्रोत शासित जनता की अनुमति है। जनता की सामान्य इच्छा (General Will) जैसी किसी चीज का अस्तित्व नही है। अस्तित्व केवल व्यक्तियो का है। उनकी रक्षा करना उनका अपना कर्त्तव्य है। उनके निजी हितो का योग ही सामाजिक हित है। हॉब्स के सिद्धान्त के इसी पहलू को बैन्थम तथा उसके अनुयायियो ने विकसित किया। राज्य को व्यक्तियो के परस्पर विरोधी हितो का मध्यस्थ बनाकर वह उपयोगितावादियो का पूर्व-सूचक बन गया।

उपर्युक्त आलोचनाओ के बावजूद भी यह स्वीकार करना होगा कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानो मे वैज्ञानिक पद्धति के विकास मे महान् योग दिया है। इस दिशा मे निर्देशन देने वाला वह सर्वप्रथम विचारक था। उसकी मान्यता थी कि राजनीतिक पद्धति मे भौतिक विज्ञानो की पद्धतियो से बहुत कुछ लिया जा सकता है। उसने राजनीति के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रारम्भ किया। दूसरे शब्दो मे उसने अपने राजनीतिक परिणामो का आधार उस पद्धति पर रखा जिसे उस युग मे पूर्ण वैज्ञानिक समझा जाने लगा था। इस पद्धति का सार यह है कि समस्त दार्शनिक खोज ज्योमिति की पद्धति पर होनी चाहिए और भौतिक जगत को एक विशुद्ध यान्त्रिक प्रणाली के समान समझना चाहिए, जिसे प्रत्येक घटना की व्याख्या उसकी पूर्ववर्ती घटना अथवा घटनाओ के प्रकाश मे की जा सके। वह राजनीति विज्ञान का मनन मनोविज्ञान की भित्ति पर करना चाहता है। उसकी पद्धति मे अधिकारपूर्ण व्यक्तियो के उद्धरण देने के लिए या इतिहास की शिक्षाओ के लिए या धर्म-ग्रन्थो के लिए कोई स्थान नही है। यही कारण है कि हॉब्स आधुनिक माना जाता है। उसने भूत से अपना पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है।

आज 20वी शताब्दी मे हॉब्स की पद्धति मे आसानी से दोष निकालते हुए कह सकते है कि गत सौ वर्षों के सामाजिक विज्ञानो के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक घटनाओ के अध्ययन मे भौतिक विज्ञानो की पद्धति का प्रयोग एक मानव-विज्ञान की रचना करने का प्रयास हॉब्स का एक कोरा भ्रम था। पर यदि हॉब्स के प्रति हम न्याय से काम लें तो हमे यह नही भूलना चाहिए कि 17वी शताब्दी मे समस्त विज्ञान पर ज्योमिति का जादू छाया हुआ था। इस पद्धति को अपनाकर ही ज्योमिति सफल हुई थी और उसे सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र मे अपना लेना उस समय के डेमार्टे, स्पिनोजा आदि महान् विचारको की आकाँक्षा थी। यहाँ तक कि लॉक भी, जिसे सामान्यत अनुभव प्रधान प्रणाली का जनक माना जाता है, राजनीति को ज्योमिति की भाँति एक प्रदर्शनात्मक विज्ञान बनाना चाहता था। फिर हॉब्स ने यदि ऐसा किया तो हमे आश्चर्य नही करना चाहिए।

हॉब्स ने अपने परवर्ती अनेक राजनीतिक चिन्तको और राजनीतिक विचारधाराओ को प्रभावित किया। उसके भौतिकवाद की छाप मॉन्टेस्क्यू और कार्ल मार्क्स पर देखी जा सकती है। इसमे उपयोगितावाद का भी आरम्भ मिलता है और बावजूद इस सत्य के—कि समझौता नागरिक का स्वतन्त्रता-पत्र न होकर दासता का बन्धन है। हॉब्स को उदारवाद का दार्शनिक और बैन्थम तथा मिल का पूर्वज समझा जाता है। वह एक ऐसी राजनीति तथा आचार-शास्त्र का प्रतिपादन करता है जिसका आधार मनुष्य है और जहाँ से व्यक्तिवादी विचार-पद्धति प्रजाजन को अपने 'शासको' को तोलने के लिए आधार प्रस्तुत करती है। हॉब्स के दर्शन को उसके युग का सबसे क्रान्तिकारी सिद्धान्त बनाने वाला तत्त्व उसका व्यक्तिवाद है। उसने 'लसेज फेयर' (Laissez faire) की उस भावना को पकड़ लिया था जिसने सामाजिक चिन्तन को दो शताब्दियो तक अनुप्राणित रखा।

हॉब्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार
(Hobbes' Conception of Human Nature)

हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव स्वभाव के विश्लेषण से करता है। उसने मानव-स्वभाव की व्याख्या की है और अपने सभी सिद्धान्त उस पर आधारित किए हैं। अरस्तू के विपरीत वह मानता है कि "मनुष्य असामाजिक प्राणी है। मानव को वस्तुएँ या तो आकर्षित करती है या विकर्षित।

आकर्षण को इच्छा (Appetite of Desire) कहा जाता है, विकर्षण को घृणा (Aversion) ।" मनुष्य की प्रत्येक इच्छा में उसका स्वार्थ निहित है। 'जिन वस्तुओं से वह आकर्षित होता है, उन्हे अच्छी कहता है, जिन्हे वह नापसन्द करता है, उन्हे बुरी कहता है। अच्छाई या बुराई वस्तुओ मे नही बल्कि मानव-भावना मे है।"[1] मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप स्वार्थ-भावना से प्रेरित तथा संचालित हैं। सामान्यतः सामाजिक तथा लौकिक व्यवहार मे मनुष्य सदैव यह प्रयत्न करता है कि उसकी सम्पत्ति आदि सुरक्षित रहे, उसका जीवन निर्बन्ध तथा निर्द्वन्द्व रहे और उसकी एषणाएँ-वासनाएँ एव क्षुधा पूरी होती रहे। युगो से भूखा और अतृप्त मानव अपनी अभिलाषाओं की तुष्टि में ही सतत् सलग्न रहता है। अवसर पाते ही सर्वग्राही पिशाच की तरह टूट पड़ता है और स्वय को जीवित रखने तथा स्वय की इच्छा-पूर्ति के लिए दूसरे को ध्वस्त करने से नही हिचकता। हॉब्स के ही शब्दों में "प्रकृति ने सभी मनुष्यो को शारीरिक शक्तियो, मानसिक बुद्धि आदि में समान बनाया है अत. जिस लाभ-विशेष की माँग एक व्यक्ति करता है, उसकी माँग दूसरा भी करता है। शारीरिक शक्ति में एक मनुष्य दूसरे से शक्तिशाली हो सकता है, परन्तु दूसरे लोग गुप्त छल से या गुटबन्दी करके उसे मार सकते हैं।"[2] एक ही वस्तु को प्राप्त करने के दो अभिलाषी व्यक्ति परस्पर शत्रु बन कर एक-दूसरे पर विश्वास नही करते। हॉब्स का कहना है कि लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता सभी में लगभग बराबर होती है। शारीरिक बल की कमी की पूर्ति बौद्धिक योग्यता और बौद्धिक योग्यता की कमी की पूर्ति शारीरिक बल द्वारा हो जाती है। सामर्थ्य की कमी की इसी समता के कारण लक्ष्य-प्राप्ति की आशा की समता का उदय होता है और बराबरी मे मनुष्यो मे जब प्रतिद्वन्द्विता होती है तो एक-दूसरे को विनष्ट किए बिना ही वे अपनी कीर्ति की स्वीकृति करा देना चाहते हैं। फलत. निरन्तर सघर्ष चलता है। दोनों प्रतिद्वन्द्वी आहत होकर मौत के भयानक साये मे छटपटाते हैं। इस निरन्तर सघर्ष के तीन प्रमुख कारण हैं। हॉब्स के ही शब्दो मे—"हम मानव-स्वभाव में झगड़े के तीन प्रमुख कारण देखते हैं। पहला प्रतिस्पर्द्धा, दूसरा पारस्परिक अविश्वास और तीसरा वैभव। प्रतिस्पर्द्धा के कारण वे लाभ के लिए, विश्वास के अभाव के कारण रक्षा के लिए तथा वैभव-प्राप्ति के कारण प्रसिद्धि के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। उनको वशवर्ती बनाए रखने वाली किसी शक्ति के अभाव मे मनुष्य स्वभावतः निरन्तर संघर्ष में उलझे रहते हैं। मनुष्य पूर्णतया अहं-केन्द्रित है और जीवन की यह यथार्थ वास्तविकता (Objective actuality) सभी सवेगो-आवेगो को जन्म देती है।"

हॉब्स मनुष्य की विविध भावनाओं की विवेचना करता हुआ अन्त मे उन्हे दो भौतिक एवं प्रारम्भिक भावनाओ—इच्छा तथा अनिच्छा तक सीमित कर देता है। वह वैभव, ईर्ष्या, द्वेष, दया, नम्रता आदि सभी भावनाओं का आधार इन्ही दो मूल प्रवृत्तियो को मानता है। "इस निश्रेयण (Derivation) की आधारभूत विशेषता यह है कि इसमें समस्त भावनाओ का केन्द्र स्वयं मनुष्य के अहकार और स्वार्थपरता के ही विभिन्न रूप हैं। हॉब्स की धारणा का मनुष्य पूर्णत स्वार्थी है। समस्त मानव-व्यवहार को अहंभाव पर आधारित करने के प्रयास ने ही हॉब्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है। हॉब्स का इस निश्रेयण पद्धति (Derivation method) की दो मुख्य विशेषताएँ है—प्रथम तो यह है कि निश्रेयण पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है और द्वितीय यह है कि हॉब्स का सिद्धान्त सुखवाद (Hedonism) से एकदम भिन्न है। वह सुख देने वाली वस्तु या बात को शुभ और पीडादायक वस्तु या बात को अशुभ नही बतलाता और न ही यह कहता है कि हम केवल सुख की कामना करते हैं और दुःख से त्राण चाहते हैं। उसकी दृष्टि से आधारभूत बात तो यह है कि मनुष्य सुखान्वेषी न होकर अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करने वाली वस्तुओ की इच्छा

1-2 *Hobbes :* Leviathan, Part I, Chapter 6 (38ff).

करते है। इस तरह हॉब्स "सुख-दुःख की परिभाषा मे न पड़कर उत्प्रेरणा सहोद्गार (Stimulus-response) की परिभाषा मे विचार करता है। प्रत्येक विस्फुरण जीव (Organism) पर अनुकूल प्रभाव डालता है। यदि विस्फुरण अनुकूल है तो जीव की इच्छा होती है कि वह जारी रहे, यदि विस्फुरण प्रतिकूल है तो वह उसमे मुक्ति चाहता है।" सेबाइन के शब्दों मे—"समस्त व्यवहार के पीछे एक नियम है और वह यह कि जीवित शरीर स्वभावतः ही अपनी प्राण-शक्ति को बनाए रखना अथवा उसे सम्वर्द्धन पहुँचाना चाहता है—सारांश यह है कि समस्त व्यवहार के पीछे शरीर शास्त्र का एक सिद्धान्त रहता है और वह है आत्म-संरक्षण, जिसका अर्थ है है व्यक्तिगत जैविक अस्तित्व का बना रहना। शुभ वह है जो इस उद्देश्य की पूर्ति करे और अशुभ वह है जो उसके विपरीत हो अथवा जिसका प्रभाव उसके विरुद्ध हो।" इस आत्म-संरक्षण के लिए ही व्यक्ति शाश्वत संघर्ष मे व्यस्त रहता है और उसका जीवन 'अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की एक निरन्तर और निर्विश्राम इच्छा बन जाता है। अतः स्पष्ट है कि मानव-स्वभाव की मुख्य विशेषता शक्ति की प्राप्ति और प्राप्त शक्ति का निरन्तर सवर्द्धन है।

हॉब्स के विचारो मे हमारे समक्ष मानव-स्वभाव के आसुरी लक्षणो का पहलू स्पष्ट हो जाता है लेकिन हॉब्स ने मानव-स्वभाव के दैवी लक्षणो वाले दूसरे पहलू की कल्पना भी की है। उसने कहा है—"मनुष्य मे कुछ ऐसी इच्छाएँ भी होती हैं जो उसे युद्ध के लिए नही अपितु शान्ति एव मैत्री के लिए प्रेरित करती हैं। आराम की इच्छा, ऐन्द्रिक सुख की कामना, मृत्यु का भय, परिश्रम से अर्जित वस्तुओ के भोग की लालसा-मनुष्य को एक शक्ति की आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर देती है।"[1] इसका कारण यही है कि उसी (सामान्य शक्ति) के नियन्त्रण मे रह कर ही मनुष्य की स्वार्थपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति हो सकती है।

यद्यपि हॉब्स ने मानव-स्वभाव के दैवी लक्षणो का आभास दिया है किन्तु प्रधानता उसने पूर्णत: आसुरी लक्षणो को ही प्रदान की है। मनुष्य सामान्यत आसुरी लक्षणो के प्रभाव मे ही रहता है। यदि उसमे दैवी लक्षणों का अश है तो वह भी केवल इसीलिए कि उनसे उसकी स्वार्थ-सिद्धि मे सहायता मिलती है। अतः मनुष्य मे आधारभूत मूल प्रवृत्ति स्वार्थ की ही है और स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही बौद्धिक, मानसिक एव शारीरिक सभी व्यापार केन्द्रित हैं। सहयोग का कोई स्थान जीवन मे नही है, यदि है तो वह स्वार्थ-सिद्धि के लिए है। स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही मनुष्य मे शक्ति-सचय की ऐसी प्रबल इच्छा वर्तमान रही है जो उसकी शान्तिप्रियता की कब्र खोदती रहती है और जिसका अवसान उसकी (मनुष्य की) मृत्यु के साथ ही होता है। सघर्ष आधिपत्य-स्थापना की चेष्टा, भोग-लालसा, धन, ज्ञान, यश कामना, आपेक्षिक शौर्य आदि सभी इस मूल प्रवृत्ति के परिणाम हैं। मानव-स्वभाव मे यदि सद्गुणो का कभी उदय होता भी है तो वह किसी स्वार्थ की पूर्ति की लालसा मे ही होता है, अन्यथा नही। मूलतः मनुष्य स्वार्थी है और उसकी समस्त भावनाओ का केन्द्र उसका अहम् है। हॉब्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों पर टिप्पणी करते हुए जोन्स ने लिखा है कि "हॉब्स जो बातें कहता है उनमे नहीं पर जो बातें अस्वीकार करता है उनमे गलत है। मानव-दोषो की अतिरंजना करके और उन पर अतिशय बल देकर उसने मानव-स्वभाव का मानव-द्वेषी चित्र अंकित किया है।"[2]

प्राकृतिक अवस्था के विषय में हॉब्स के विचार
(Hobbes on the State of Nature)

राज्य-सस्था के अस्तित्व मे हॉब्स ने एक अराजकता अथवा प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) की कल्पना भी की है। उसने मानव प्रकृति को पूर्व सामाजिक दशा कहा है जिसमें मानव-जीवन नारकीय, असह्य तथा दुर्वह भार-स्वरूप था। प्राकृतिक दशा का जीवन हिंसा प्रधान था।

1 *Hobbes* Leviathan, Part I, Chapter II (867-87)
2 *Jones W. T.* Masters of Political Thought, Vol ... p 147.

और प्राकृतिक नियम का अन्तर स्पष्ट किया है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक अवस्था को निरन्तर संघर्ष की स्थिति बना देते है जबकि प्राकृतिक नियम पर आचरण करके मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से बच सकते हैं और आत्म-परीक्षण के उद्देश्य को सुगमता से प्राप्त कर सकते है। हॉब्स ने इस प्रकार के 19 प्राकृतिक नियम गिनाए है जिनमे से कुछ ये है—

1 "प्रत्येक मनुष्य को शान्ति के लिए वहाँ तक प्रयत्न करना चाहिए जहाँ तक सफलता की आशा हो, और यदि वह उसे प्राप्त नही कर सकता हो तो उसे अधिकार है कि वह सभी उपायो यहाँ तक कि युद्ध का भी प्रयोग करे।"

2 "मनुष्य को शान्ति तथा आत्मरक्षा के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारो को उस सीमा तक त्यागने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए जहाँ तक दूसरे लोग भी इसके लिए प्रस्तुत है, और दूसरो के विरुद्ध उसे ही स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट रहना चाहिए, जितनी वह दूसरों को अपने विरुद्ध देने के लिए तैयार हो।"

3 "व्यक्तियो को अपने समझौतो का पालन करना चाहिए।"

उपरोक्त तीनो नियमो का सार हॉब्स के ही शब्दो मे यह है कि "दूसरो के साथ तुम वैसा ही करो जैसा अपने लिए उनसे चाहते हो।"

4 "जिस मनुष्य को दूसरे की कृपा से कोई लाभ प्राप्त होता है, उसे चाहिए कि वह उस मनुष्य को, जिससे लाभ हुआ है, ऐमा न्यायोचित अवसर न दे कि उसे अपनी सद्भावना के लिए पछताना पड़े।" इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को कृतघ्न नही होना चाहिए।

5 "प्रत्येक व्यक्ति को अन्य लोगो के साथ निभा कर चलना चाहिए।"

6 "भविष्य का ध्यान रखते हुए प्रत्येक को उन दूसरे मनुष्यो की पिछली त्रुटियो को क्षमा कर देना चाहिए जो पश्चाताप करके क्षमा चाहते हैं।"

7 "प्रतिशोध लेने मे मनुष्य को विगत बुराई की महत्ता को नही वरन् भविष्य मे उससे होने वाली अच्छाई की महत्ता देखनी चाहिए।"

8 "किसी व्यक्ति को कर्म, शब्द, मुद्रा या सकेत द्वारा दूसरे के प्रति घृणा प्रकट नही करनी चाहिए।"

9 "प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे को अपने समान समझना चाहिए।"

10 "किसी भी व्यक्ति को शान्ति की शर्तो को मानते समय स्वय के लिए ऐसे अधिकार सुरक्षित नही रखने चाहिए जिन्हे वह दूसरे के लिए सुरक्षित नही रहने देना चाहता।"

हॉब्स द्वारा गिनाए गए उपर्युक्त प्राकृतिक नियमो मे से प्रथम तीन ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रथम नियम मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था की विपत्तियो से बच निकलने को प्रेरित करता है। 'शान्ति की प्राप्ति पर उसकी रक्षा के लिए युद्ध' इस नियम का सार है। द्वितीय नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि दूसरे व्यक्ति उसकी शान्ति और सुरक्षा की इच्छा का आदर करें तो उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरो की भी इस प्रकार की इच्छा का आदर करे। इससे यह स्पष्ट है कि सभी को शक्ति-प्रयोग के अपने प्राकृतिक अधिकार पर समान सीमाएँ लगाने को तैयार रहना चाहिए अथवा प्राकृतिक अधिकार का परित्याग सामान्य एव सबकी ओर से होना चाहिए। तृतीय नियम, सामाजिक जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शर्त 'विश्वास' का प्रतिपादन करता है। परस्पर की गई सविदाओ का पालन करने से ही विश्वास की भावना पनप सकती है। इसके अभाव मे समाज टिक नही सकता लेकिन यह तभी सम्भव है जब अन्य व्यक्ति भी आपके साथ समानता का व्यवहार करने के लिए तैयार हो।

प्राकृतिक नियम ही वे सिद्धान्त है जिनके आधार पर हॉब्स अपने समाज का निर्माण करता है। सेबाइन के अनुसार, "वे एक साथ ही पूर्ण दूरदर्शिता के सिद्धान्त भी है और सामाजिक नैतिकता

के सिद्धान्त भी हैं इसलिए वे व्यक्तिगत स्वार्थ के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों से एक कदम आगे बढ़कर सभ्यता की स्थिति तथा नैतिकता के मूल्यों तक जाना सम्भव बनाते हैं।"[1] पुनश्च, हॉब्स के विचार से प्राकृतिक विधि या नियम वे नियम हैं जिनके अनुसार कोई भी बुद्धिमान प्राणी यदि उसे अपने वातावरण की परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान हो और वह क्षणिक भावनाओं या उद्वेगों से प्रभावित न हो, तो कार्य करेगा। हॉब्स का विचार है कि अधिकतर मनुष्य इस तरह के काम नहीं करते। फलत प्राकृतिक विधि कुछ ऐसी व्यावहारिक परिस्थितियों का निरूपण कर देती है जिनके आधार पर मनुष्य भलाई मानव के निर्माण का प्रयास करते हैं। ये परिस्थितियाँ किन्हीं मूल्यों का निरूपण नहीं करती बल्कि इस बात को निश्चित करती हैं कि कानूनी तथा नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत किन-किन चीजों को मूल्य का रूप दिया जा सकता है?

हॉब्स ने प्राकृतिक नियमों के रूप में 'शान्ति की ऐसी धाराएँ' (Articles of Peace) प्रस्तुत की हैं जिनका अनुसरण करके व्यावहारिक रूप से मनुष्य सुखी और शान्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं, पर इन नियमों का आधार भी स्वार्थ है। फिर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्राकृतिक नियमों को 'कानून' (Laws) केवल वैधानिक अर्थ में ही कहा जा सकता है। कानून में सदैव निषेधकारी शक्ति होती है, यह सम्प्रभु का आदेश होता है। इसके विपरीत प्राकृतिक नियम केवल विवेकपूर्ण परामर्शमात्र हैं जो आवश्यक नहीं कि प्रवर्तित हो सकें और जिनका मानना या न मानना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। हॉब्स ने इन नियमों के लिए 'कानून' (Laws) शब्द का प्रयोग निश्चय ही 'कानून' के वर्तमान अर्थ में नहीं किया है। उसके लिए 'प्रकृति का कानून' केवल एक साधन है जिसे मानव-बुद्धि आत्म-परीक्षण तथा मनन के बाद सुख को प्राप्त करने के लिए उपयोगी समझती है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियम प्राकृतिक अवस्था में और राज्य-व्यवस्थान्तर दशा में, अन्तरात्मा की दृष्टि से अवश्य बाध्यकारी हैं किन्तु उनका पालन करने के लिए कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। सम्प्रभु के ऊपर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु प्राकृतिक नियम आन्तरिक दृष्टि से उसे भी बाधित करते हैं। हॉब्स ने इन प्राकृतिक नियमों को शाश्वत और अपरिवर्तनशील माना है क्योंकि अन्याय, अकृतज्ञता, दम्भ, मद-पावानरण आदि कभी भी विधि-विहित स्वीकार नहीं किए जा सकते। यह कभी सम्भव नहीं हो सकता कि युद्ध से जीवन धारण हो और शान्ति से जीवन का अपहरण। इन प्राकृतिक नियमों का शास्त्र ही सच्चा और एकमात्र आचारशास्त्र माना जा सकता है।

आत्म-रक्षा की प्रकृति और बुद्धिसंगत आत्म-रक्षा
(The Instinct of Self Preservation and Rational Self-Preservation)

मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक नियम पर विचार करते समय हॉब्स द्वारा दी गई मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रकृति और बुद्धिसंगत आत्मरक्षा का आभास हम पा चुके हैं। किन्तु उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार पर पृथक् रूप से चर्चा करना आवश्यक है। हॉब्स के अनुसार "मनुष्य अपनी जीवन-शक्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। आत्म-रक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जैविक अस्तित्व को कायम रखना है। जो बात उसमें सहायक है वह शुभ है और जो असहायक है वह अशुभ है।" हॉब्स को यह स्पष्टत मालूम था कि आत्म-रक्षा का सिद्धान्त इतना आसान नहीं था जैसा कि वह अब तक माना गया है। जीवन एक ऐसा अवकाश नहीं है जिसमे साध्य को एक बार में ही हमेशा के लिए प्राप्त कर लिया जाए। जीवन में आत्म-रक्षा के साधनों की पग-पग पर खोज करनी पड़ती है। चूँकि सुरक्षा के साधन कम हैं इसलिए जीवन-संघर्ष अनन्त है। मानव प्रकृति की मूल आवश्यकता सुरक्षा की इच्छा है। उस इच्छा को शक्ति की इच्छा से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम में आज सुरक्षा की जितनी भावना है—उसे नित्यप्रति सशक्त करने की जरूरत है।[2] हॉब्स के शब्दों में

1 *Sabine* History of Political Theory, p 465-66
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 421.

"सम्पूर्ण मानव-जाति शक्ति की शाश्वत और अविश्रान्त इच्छा से प्रेरित है। इस लालसा का अन्त मृत्यु के साथ ही होता है। कारण यह नहीं है कि मनुष्य के पास इस समय जितनी खुशी है वह उससे अधिक खुशी चाहता है अथवा उसका कुछ कम शक्ति से काम नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के पास इस समय जीविका के जो साधन हैं, जो शक्ति उनसे बिना अधिक ... हुए उसकी रक्षा का आश्वासन नहीं होता।"

हॉब्स के विचार का स्वाभाविक अर्थ है कि मनुष्य निरन्तर सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करता है। वह शक्ति, धन, पद, सम्मान आदि को इसलिए प्राप्त करना चाहता है कि अपनी सुरक्षा के साधन जुटा सके और उस विनाश को रोक सके जो किसी न किसी दिन अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति पर आता है। मनुष्य के सामने प्रधान लक्ष्य अपनी सुरक्षा का होता है, अतः उसके लिए अन्य मनुष्यों का वहीं तक महत्त्व है जहाँ तक वे इस पर प्रभाव डालते हैं।

हॉब्स मानव-प्रकृति में अभिलाषा और विवेक—इन दो सिद्धान्तों की चर्चा करता है। इच्छा अथवा अभिलाषा के कारण मनुष्य उन सभी वस्तुओं को स्वयं प्राप्त करना चाहता है जिन्हें अन्य व्यक्ति चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। लेकिन विवेक अथवा बुद्धि द्वारा मनुष्य पारस्परिक संघर्षों को भूलना सीखते हैं। "विवेक एक प्रकार की नियामक शक्ति है जिससे सुरक्षा की खोज आत्म-रक्षा के सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण किए बिना ही अधिक कारगर हो जाती है।" विवेक बतलाता है कि आत्म-रक्षा का उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब शान्ति हो। विवेक का प्रथम आदेश यह है कि मनुष्य को शान्ति की खोज और शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। विवेक शान्ति-स्थापना पर इतना अधिक बल इसलिए देता है कि 'प्रत्येक का प्रत्येक के विरुद्ध युद्ध' की स्थिति मानव-जीवन को दीन-हीन-क्षीण और लघु बनाती है। विवेक प्राकृतिक अवस्था की विपत्तियों से बचने का मार्ग दिखलाता है।

मानव-प्रकृति के दो विरोधी तत्त्वों आदिम इच्छा और विकर्षण से सभी प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ पैदा होती हैं। विवेक का भी यही स्रोत है। "विवेक द्वारा ही मनुष्य आत्म-रक्षा के कार्य में बुद्धिमत्तापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है। विवेक की नियामक शक्ति के द्वारा ही मनुष्य अपनी जंगली और एकाकी स्थिति से निकल कर सभ्य और सामाजिक स्थिति में प्रवेश करता है। यह परिवर्तन प्रकृति की विधियों द्वारा होता है। ये विधियाँ बतलाती हैं कि यदि एक विवेकशील प्राणी अपनी सुरक्षा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के बारे में अन्य मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्धों की समस्या पर निष्पक्षता से विचार करे तो वह क्या करेगा।" हॉब्स के अनुसार, "इसीलिए प्रकृति की विधि उचित विवेक का आदेश है। वह उन वस्तुओं की निरन्तर अभ्यस्त है जिन्हें जीवन की सतत रक्षा के लिए या तो करना पड़ता है या छोड़ना पड़ता है।"

स्पष्ट है कि हॉब्स के अनुसार संकुचित और विवेकहीन स्वार्थ वैर-भाव को उत्पन्न करता है जबकि विवेकपूर्ण स्वार्थ समाज के अस्तित्व को सम्भव बनाता है। विवेक की माँग है कि व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है तो दूसरे के हितों में हस्तक्षेप नहीं करे। विवेक में स्वयं शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है, वह केवल मनुष्य को इतनी दूरदर्शिता प्रदान करता है कि वह अपने और दूसरों के हितों में इस तरह समन्वय स्थापित कर सके जिसमें उसके स्वयं के हित सुरक्षित रहें।

हॉब्स का विचार है कि हमारी भावनाएँ विवेक की भाषा को नहीं समझतीं अधिकांश मनुष्य विवेक के प्रत्यादेशों, प्राकृतिक विधियों के अनुसार काम नहीं करते। मनुष्य अपनी क्षणिक भावनाओं के उद्वेगों से प्रभावित होता रहता है। वह अपनी भावनाओं को नियन्त्रित नहीं कर सकता। अतः एक ऐसी सर्वशक्तिमान, प्रभुत्व-सम्पन्न और विवशकारी शक्ति की आवश्यकता है जो मनुष्य को विवेक अथवा प्राकृतिक विधियों के अनुसार आचरण करने को विवश कर सके। ऐसा तभी हो सकता है जब एक प्रभावशाली शासन हो, क्योंकि सुरक्षा शासन पर निर्भर है।

राज्य की उत्पत्ति तथा उसका स्वरूप
(The Origin of the State and its Nature)

हॉब्स बुद्धिवादी है। उसके मतानुसार एक बार जब मनुष्य जान जाता है कि उसकी मृत्यु का भय पाशविक प्रतियोगिता के कारण है तो विवेक उसे मार्ग दिखलाता है। जब वह यह सिद्धान्त मान लेता है कि "तू भी दूसरो के साथ वैसा न कर जो तू अपने साथ दूसरो द्वारा किया जाना अन्यायपूर्ण समझता है (Do not do that to another which thou thinketh unreasonable to be done by another- to yourself)।" हॉब्स यह भी मानता है कि यदि मनुष्य स्वभाव से ही शान्तिपूर्ण होता और बिना किसी सर्वोच्च शक्ति या संविदा के ही रह लेता तो शासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पर मनुष्य ऐसा नहीं है। वह अपनी भावनाओ और अपने संवेगो को नियन्त्रण मे नही रख सकता। उसकी स्वार्थी वृत्तियाँ संघर्ष के बीज बोती रहती है। अत स्वभावत एक ऐसे व्यक्ति य व्यक्ति-समुदाय की आवश्यकता पड़ती है जो मनुष्यो को नियन्त्रण मे रख कर उनको अनुशासनबद्ध करे। विवेक के आदेशो का समस्त मनुष्यो से पालन कराने और उनके उल्लघन का दण्ड देने के लिए किसी सबल शक्ति का होना जरूरी है जिसमे इतनी सामर्थ्य हो कि वह "मानव भावनाओ से उस भाषा मे बात कर सके जिसे वे समझती है, और वह है भय तथा स्वहित की भाषा।" ऐसी सामान्य सत्ता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अनेक इच्छाओ के स्थान पर एक इच्छा का प्रभाव स्थापित करने के लिए प्राकृतिक नियम के अनुसार सब व्यक्ति अपने अधिकारो और शक्तियो को एक व्यक्ति या व्यक्ति-सभा को प्रदान करें, वे अपनी सम्पूर्ण इच्छाएँ एक व्यक्ति की इच्छा को समर्पित कर दें। हॉब्स ऐसी सत्ता अथवा शक्ति राज्य मे पाता है जिसकी इच्छा समस्त व्यक्तियो की इच्छाओं की प्रतिनिधि होती है और जिसमे यह सामर्थ्य होती है कि वह सबमे विवेक के अनुसार आचरण कराए और ऐसा न करने वालों को दण्ड दे। हॉब्स के मतानुसार राज्य एक सामाजिक समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व मे आता है। राज्य की स्थापना का वर्णन 'लेवियाथान' के 18वें अध्याय में किया गया है—

एक राज्य की स्थापना तब होती है जब अनेक व्यक्ति एक दूसरे से यह समझौता करते है कि समस्त व्यक्ति उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के कार्यो को अपना कार्य समझेंगे जिसे उनके अधिकाँश भाग ने अपना प्रतिनिधि चुना है, चाहे उनमे से किसी ने उसके पक्ष मे मत दिया हो या विरोध मे। इस समझौते का उद्देश्य यह है कि मनुष्य शान्तिपूर्वक और दूसरो के विरुद्ध सुरक्षित रहें। इस तरह से जो भी चीज उत्पन्न होती है वह केवल रजामन्दी से कुछ बढ़कर है—यह समस्त व्यक्तियो का वास्तविक इकाई मे एकीकरण है जिसकी सिद्धि प्रत्येक के समझौते द्वारा हुई है। यह समझौता इस प्रकार हुआ है मानो प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक व्यक्ति से यह कहा हो कि "मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियो के इस समूह को अपना शासन स्वय कर सकने का अधिकार और शक्ति इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने इस अधिकार को इसी तरह (इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को) समर्पित कर दो।"

इस तरह सारा जन समुदाय एक व्यक्ति मे संयुक्त हो जाता है। इसे राज्य (Commonwealth) या लेटिन मे 'सिविटस' (Civitas) कहते हैं। हॉब्स के अनुसार यही उस महान् लेवियाथान या देवता (Mortal God) का जन्म है जिसकी कृपा पर, अविनाशी-ईश्वर की छत्रछाया मे हमारी शान्ति तथा सुरक्षा निर्भर है।

हॉब्स के समझौता सिद्धान्त (Social Contract Theory) से स्पष्ट है कि व्यक्तियो ने अपने प्राकृतिक अधिकारो को किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियो की सभा को समर्पित कर दिया जो प्रभुसत्ता से विभूषित हुई और समर्पण करने वाले व्यक्ति उसकी प्रजा हो गए। प्रभुसत्ता उस समझौते मे किसी दल के रूप मे नही थी। उसके अधिकार असीमित ही रहे। हॉब्स का मत था कि प्रभुसत्ता के अबाध अधिकार के फलस्वरूप ही एक वास्तविक सुदृढ़ शासन (Commonwealth) की स्थापना हो सकती थी। किसी प्रकार की 'शर्तें' लगाने से अनिश्चय और अविश्वास की सम्भावना हो सकती थी

जिससे इस प्रकार के झगडे उत्पन्न हो जाते जिसका निपटारा सम्भव नही होता और तब पुन: अराजकता (Anarchy) फैल जाती और प्राकृतिक अवस्था का दृश्य उपस्थित हो जाता। इस प्रकार सम्राट या प्रभुसत्ता लाभ की स्थिति मे रही क्योकि सामाजिक समझौते मे उसने कोई वचन नही दिया। इस रियायत का फल यह हुआ कि शासन खराब होने पर भी प्रजा को शासक के विरुद्ध बोलने का अधिकार नही रहा। शासन के विरुद्ध जाने का अभिप्राय: प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटना था जो हो नही सकता था, अत. उसकी सत्ता और इच्छा अन्तिम रही।

स्पष्ट है कि हॉब्स के समझौते का यदि विश्लेषण करें तो उसकी ये विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

(1) समझौता एक साथ ही सामाजिक एवं राजनीतिक दोनो प्रकार का है। मानव द्वारा अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति त्याग कर सामाजिक बन्धन स्वीकार कर लेने से वह सामाजिक और उसके परिणामस्वरूप राजसत्ता की स्थापना होने से यह राजनीतिक है।

(2) यह सामाजिक समझौता (Social Contract) है, सरकारी समझौता नही। समझौता सम्प्रभु और व्यक्तियों के मध्य न होकर केवल व्यक्तियो के ही मध्य हुआ है। प्रभुसत्ता समझौते मे सम्मिलित नही है।

(3) समझौते मे किसी पक्ष के रूप मे सम्मिलित न होने से प्रभुसत्ता की शक्ति असीमित और उसके अधिकार निरंकुश हैं। प्रभुसत्ता किसी शर्त के साथ नही सौंपी गई है। प्रभुसत्ताधारी ऐसा कोई इकरार नही करता कि वह अपनी शक्ति का उपयोग लोगो की इच्छा के अनुसार या उनकी सम्मति से करेगा। अत यदि वह निरकुश आचरण करता है तो उसे दोष नही दिया जा सकता।

(4) प्राकृतिक दशा मे अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार और शक्ति को त्यागने तथा राज-संस्था के प्रादुर्भाव के बाद व्यक्तियो के किसी अधिकार, स्वतन्त्रता आदि का अस्तित्व नही रहता। अत. वे अवांछित तथा अत्याचारी राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह नही कर सकते। राजसत्ता की स्वेच्छाचारिता से समझौते की कोई शर्त भग नही होती। अतः समझौते के बाद किसी को उससे अलग होने का अधिकार नही रहता।

(5) समझौते से केवल एक सम्प्रभु की स्थापना हुई है, चाहे वह कोई व्यक्ति हो या व्यक्तियों की कोई सभा। अत. सम्प्रभुता अविभाज्य है।

(6) प्रभुसत्ता ही विधियों की स्रोत है। नियम या विधि उसका आदेश है। प्रभुसत्ता के आदेशो को अनियमित नहीं ठहराया जा सकता क्योकि वे विवेक और नैतिक आचरण का सार है। न्याय करने का, राष्ट्रों तथा शक्तियों से युद्ध अथवा संन्धि का अधिकार पूर्णत. प्रभुसत्ता को प्राप्त है। राजकीय अधिकारियो को चुनने और नियुक्त करने का भी अधिकार उसी को है।

हॉब्स शासन की आज्ञापालन के प्रजा के अपरिमित कर्त्तव्यपालन के कतिपय अपवादों का भी उल्लेख करता है। वह कुछ परिस्थितियो मे प्रजा को राजा की अवहेलना का अधिकार देता है। यदि राजा व्यक्ति को 'अपने-आपको मारने, घायल करने या अपने पर आक्रमणकर्त्ता का विरोध न करने, वायु, औषधि या जीवनदाता अन्य किसी वस्तु का प्रयोग न करने' की आज्ञा देता है तो वह ऐसी आज्ञा की अवहेलना कर सकता है क्योकि "प्रजाजन सुरक्षा के लिए ही शासन के अधीन होते है" यदि शासन सुरक्षा प्रदान नही कर सकता तो शासन का विरोध आवश्यक हो जाता है। शासन के पक्ष में एकमात्र तर्क यह है कि उसे शासन करना चाहिए। यदि विरोध सफल हो जाता है और प्रभु के हाथ से उसकी शक्ति निकल जाती है तो प्रभु तथ्येन प्रभु नहीं रहता और उसके प्रजाजन, प्रजाजन नहीं रहते। इस अवस्था में प्रजाजन अपनी रक्षा के लिए विवश हो जाते है। वे एक नए प्रभु की आज्ञापालन के लिए तैयार हो सकते हैं जो उनकी रक्षा करे। हॉब्स के सिद्धान्त मे शक्तिविहीन वैधता (Legitimacy)

के लिए कोई अवकाश नही है ।"[1] हॉब्स के मतानुसार मनुष्य अपनी जीवन-रक्षा के प्राकृतिक अधिकार' को राजा के विरुद्ध भी सुरक्षित रखते है ।

हॉब्स के सिद्धान्त से प्रकट होता है कि राज्य दैविक उत्पत्ति या स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है वरन् मानव-निर्मित एक ऐसा कृत्रिम साधन है जिसे अपनी निश्चित आवश्यकता की पूर्ति हेतु रचा गया है । "यह साध्य पर ले जाने के लिए एक साधन-मात्र है, स्वय साध्य नही है ।" हॉब्स के अनुसार, "राज्य का उद्देश्य व्यक्तियो के व्यक्तिगत हितो का योग-मात्र है, इसके अतिरिक्त उसका कोई सामूहिक लक्ष्य नही है ।" हॉब्स का सिद्धान्त राजशक्ति के प्रति सम्मान एव भक्ति को कोई महत्त्व नहीं देता, वह तो राज्य को केवल उपयोगिता के स्तर पर ले आता है । राज्य इसीलिए श्रेष्ठ है कि उससे हम लाभान्वित होते है अन्यथा उसकी स्थिति मनुष्य की सुरक्षा के एक साधन अथवा यन्त्र की सी ही है । मनुष्य राजाज्ञा का पालन इस विवेकपूर्ण भय से करता है कि आत्म-रक्षण के उद्देश्य की राज्य द्वारा ही सर्वाधिक सुगमता से पूर्ति हो सकती है । राज्यादेशो का पालन बुद्धिमान व्यक्ति इसलिए करता है कि राज्य सभी व्यक्तियो उन जिसमे वह भी शामिल है, प्रतिनिधित्व करता है ।

प्रभुसत्ता
(Sovereignty)

हॉब्स प्रभुसता का प्रचण्ड समर्थक है । उसकी प्रभुसत्ता का आधार है सामाजिक संविदा । स्पष्ट या अस्पष्ट किसी भी रूप मे हो, सविदा या अनुबन्ध से ही प्रभुसत्ता प्राप्त होती है ।

हॉब्स का 'लेवियाथान' अथवा सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शासक पूर्णत निरकुश है । उसका आदेश ही कानून है । उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है । प्रभुसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, स्थाई एव अदेय है । राज्याज्ञा न्याय-सम्मत और कानून-सम्मत दोनो है । उसका हस्तक्षेप कार्यों और विचारो दोनों पर है । बोदाँ ने प्रभुसत्ता पर जो मर्यादाएँ लगाई है, हॉब्स ने उन्हे हटा दिया है । गैटल के अनुसार, 'हॉब्स के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा लेखक नही हुआ है जिसने प्रभुसत्ता के बारे मे इतना अतिवादी दृष्टिकोण अपनाया हो ।'[2]

सेवाइन के अनुसार हॉब्स की दृष्टि मे निरकुश शक्ति और पूर्ण अराजकता, सर्वशक्ति-सम्पन्न शासक और समाजहीनता इन दोनो के बीच कोई विकल्प नही है । किसी भी सामाजिक सस्था का अस्तित्व उसकी सविहित सत्ताओ के माध्यम से ही हो सकता है । उसके सदस्यो को जो भी अधिकार मिलते हैं, वे केवल प्रत्यायोजन के द्वारा मिलते है । इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक सत्ता शासक मे केन्द्रित होनी चाहिए । विधि और आचार केवल उसकी इच्छा है । उसकी सत्ता असीमित होती है । यदि वह सीमित भी होती है, तो केवल उसकी शक्ति के द्वारा । इसका कारण यह है कि उसकी सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता केवल उसकी अनुमति द्वारा ही होती है । यह भी स्पष्ट है कि प्रभुसत्ता दिखाई नही देती और उसे काटा नही जा सकता । इसका कारण यह है कि या तो उसकी सत्ता का स्वीकार किया जाता है और राज्य का अस्तित्व होता है अथवा राज्य को अभिज्ञात नही किया जाता और अराजकता रहती है । शासक की सम्पूर्ण शक्तियाँ, उदाहरणार्थ विधि-निर्माण, न्याय-व्यवस्था, शक्ति-प्रयोग, निम्न प्रशासनिक इकाइयो का सगठन-सम्प्रभु मे ही निहित होनी है ।

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुत्ता सभी विधेयात्मक कानूनों की स्रोत है । लोग सुरक्षा के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारो तथा वैयक्तिक शक्तियो का परित्याग कर देते है, अत स्वाभाविक रूप से उन सबकी तरफ से विधि-निर्माण की शक्ति केवल सम्प्रभु के पास रह जाती है । सम्प्रभु ही महत्वपूर्ण समाज की ओर से यह निर्णय करता है कि सामाजिक शान्ति और सुरक्षा के लिए क्या किया जाना चाहिए ?

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 428.

2 "No writer has taken a more extreme view than Hobbes of the absolute nature of Sovereignty." —Gettle op cit, p. 220.

सम्प्रभु को सर्वसाधारण पर अपरिमित अधिकार प्राप्त हैं। वह निरपेक्ष है। उसकी विधि-निर्माण शक्ति किसी भी मानवीय शक्ति से अप्रतिबन्धित है। राज्य में सम्प्रभु का कोई भी समकक्ष अथवा प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। सम्प्रभु ही कानूनों का व्याख्याता भी है। प्राकृतिक कानून भी उस पर बन्धन नहीं लगा सकते क्योंकि वे वस्तुत: कानून न होकर विवेक के आदेश होते हैं जिनके पीछे किसी विवशकारी शक्ति का अभाव होता है। दैवी कानून भी सम्प्रभु को प्रतिबन्धित नहीं करते क्योंकि वही उनका व्याख्याता होता है।

हॉब्स की प्रभुसत्ता की धारणा में यह एक गम्भीर असंगति है कि वह एक ओर तो सम्प्रभु की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करता है तथा दूसरी ओर सम्प्रभु की ऐसी आज्ञाओं के उल्लंघन की स्वीकृति देता है जिनमें व्यक्ति के आत्म-रक्षण का उद्देश्य नष्ट होता हो। राजाज्ञा-पालन के अपवाद की यह बात प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के मार्ग में गम्भीर कठिनाई है। हॉब्स यह भी स्पष्ट नहीं करता कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि वस्तुत: ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राजाज्ञा की अवहेलना करना उचित है।

हॉब्स के प्रभुता-सिद्धान्त में यह भी प्रकट है कि राज्य-निर्मित कानूनों के अनुकूल सभी बातें उचित हैं और उनके प्रतिकूल बातें अनुचित हैं। आशय यह हुआ कि केवल राज्य में ही नीति के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जो अधिकार हैं उन्हें छीन कर कर्त्तव्यों की व्यवस्था कानून द्वारा की जाती है और यह कानून सम्प्रभु का आदेश है। अतः हम किसी भी कानून को अन्यायपूर्ण नहीं कह सकते। सम्प्रभु ही न्याय का व्यवस्थापक है और उसके निर्देश ही नीति शास्त्रात्मक भेदों के आधार हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के नाम पर सत्य-असत्य का निर्णय करने लगेगा तो अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी। अत: कानून को ही 'सार्वजनिक अन्तरात्मा' की संज्ञा दी जा सकती है। यह स्वीकार करना होगा कि शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, नैतिक-अनैतिक सभी का स्रोत केवल सम्प्रभु है।

हॉब्स ने बोदाँ द्वारा सम्प्रभुता पर लगाए गए सम्पत्ति सम्बन्धी बन्धन को ठुकरा दिया है। उसके अनुसार सम्प्रभु ही सम्पत्ति का सृजनहार है क्योंकि वही समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है जिसके फलस्वरूप लोग धनोपार्जन कर पाते हैं। धन-संग्रह से ही सम्पत्ति का उत्पादन होता है, अत: सम्प्रभुता को सम्पत्ति सम्बन्धी विधायन का अधिकार है। वह सम्पत्ति का विधाता है तथा करारोपण और प्रजा की सम्पत्ति लेने तक का अधिकारी है। उसके लिए आवश्यक नहीं है कि वह करारोपण के बारे में जन-स्वीकृति ले।

पुनश्च, सम्प्रभु ही सब अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत है। दूसरे देशों से युद्ध अथवा सन्धि करने तथा अपनी नीति के क्रियान्वयन के लिए लोगों के सम्पूर्ण साधनों पर नियन्त्रण रखने का वह अधिकारी है। वही सेना का सर्वोच्च कमाण्डर है और न्याय का सर्वोच्च स्रोत है। समस्त विधायिनी और कार्यपालिका शक्तियाँ सम्प्रभु में ही केन्द्रित हैं। हॉब्स के चिन्तन में शक्ति-विभाजन, नियन्त्रण एवं संतुलन के सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं है।

अन्त में, सम्प्रभु के अधिकार अपरिवर्तनीय, अहस्तान्तरणीय और अविभाज्य हैं। सम्प्रभुता के प्रयोग में किसी को भागीदार नहीं बनाया जा सकता। ऐसा करना सम्प्रभुता को नष्ट करना है। गृह-युद्ध का उद्देश्य सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध लगाना अथवा उसमें भागीदार होने का प्रयत्न करना नहीं होता बल्कि यह निर्धारित करना होता है कि सम्प्रभुता पर किस का अधिकार हो और कौन उसका प्रयोग करे?

बोदाँ की भाँति ही हॉब्स ने भी शासन-प्रणालियों का अन्तर इस बात पर आधारित किया है कि प्रभुसत्ता का निवास कहाँ है? यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में निहित है तो शासन का स्वरूप राजतन्त्र है, कुछ व्यक्तियों में निहित है तो कुलीनतन्त्र है और सब लोगों में निहित है तो लोकतन्त्र है। मिश्रित

प्रजा सीमित शासन-प्रणाली की बात करना व्यर्थ है क्योंकि प्रभुसत्ता अविभाज्य है। लोग राजतन्त्र को पसन्द करते हैं, अतः इसे अन्य शासन-व्यवस्थाओं से अच्छा बताते हैं। शासन-व्यवस्था जो भी हो, उसमें कहीं न कहीं प्रभुसत्ता अवश्य रहती है। कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होना चाहिए जो अन्तिम निर्णय करता हो और जो ऐसा कर सकता है वही सम्प्रभु है। लोग जब अत्याचारी शासन का विरोध करते हैं तो उसका अभिप्राय केवल यही है कि वे सत्ता के एक विशेष प्रयोग को पसन्द नहीं करते। इसी प्रकार यदि लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति उत्साह है तो इसका मतलब है कि वे या तो भावात्मक उद्वेग का परिचय दे रहे हैं या पाखण्ड रच रहे हैं। हॉब्स ने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ इसलिए माना है कि प्रथम तो इसमें राजा का और राज्य का वैयक्तिक तथा सार्वजनिक हित एक होता है एवं द्वितीय, इसमें शासन का स्थायित्व अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। यद्यपि राजतन्त्र में कृपापात्रों को धन और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, तथापि कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र में यह प्रवृत्ति अथवा बुराई अधिक बढ़ जाती है। इन शासन-व्यवस्थाओं में शासकों की संख्या अधिक होती है, अतः उसी अनुपात में कृपा-पात्रों की संख्या भी बढ़ जाती है।

हॉब्स की प्रभुसत्ता की धारणा से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह इसे पूर्ण, अविभाज्य और असीम मानता है। प्रभुसत्ता पर जो बन्धन लगाए गए हैं वे वैधानिक नहीं हैं। बोदाँ के समान ईश्वरीय नियमों (Divine Laws), प्राकृतिक नियमों (Natural Laws), तथा राज्य के मौलिक नियमों (Fundamental Laws) के प्रतिबन्ध हॉब्स स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार वह बोदाँ के समान यह भी नहीं मानता कि राजा को प्रजा की वैयक्तिक सम्पत्ति छीनने का अधिकार नहीं है। सारांशतः हॉब्स की प्रभुसत्ता बोदाँ की प्रभुसत्ता की तुलना में अधिक निरंकुश और सर्वाधिकार-सम्पन्न है।

नागरिक कानून पर हॉब्स के विचार
(Hobbes on Civil Laws)

हॉब्स के अनुसार सामान्य नागरिक विधियाँ सम्प्रभु की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हैं। विधियों में पुरातन नियमों अथवा ऐतिहासिक परम्पराओं का नहीं वरन् सम्प्रभु की दृढ़ संकल्प-क्रिया ही प्रधान है। विधि सम्प्रभु की शक्ति की द्योतक है जो प्रजाजन के लिए कर्त्तव्यों की घोषणा करती है। इन विधियों से ही व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि किसे उसका कहें और किसे दूसरे का, क्या न्यायपूर्ण है और क्या अन्यायपूर्ण, क्या ईमानदारी है और क्या बेईमानी तथा क्या शुभ है और क्या अशुभ ? इस प्रकार विधियाँ मानव व्यवहार को विनियमित करने के साथ ही उसका मानदण्ड भी प्रस्तुत करती हैं। साथ ही ये उस सम्प्रभु का आदेश है जिसमें अपने आदेशों का पालन कराने की क्षमता है। प्रजा इन विधियों को नैतिक मूल्य की दृष्टि से नहीं बल्कि इसलिए मानती है कि वे सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। हॉब्स के अनुसार विधि के दो विभाग हैं—वितरणात्मक या निषेधात्मक एवं आज्ञात्मक या दण्डात्मक। प्रथम विभाग में नागरिकों का वैध-अवैध कार्यों का ब्यौरा बतलाया जाता है और दूसरे विभाग में राज्य के मन्त्रियों को, जनता के प्रति अपराधानुसार क्या दण्डविधान है, इसकी व्याख्या की जाती है ? सम्प्रभु ही विधि का एकमात्र स्रोत और व्याख्याकार है। ..

हॉब्स ने नागरिक विधि और प्राकृतिक विधि में अन्तर किया है। सेबाइन के शब्दों में "नागरिक विधि प्रभुसत्ता का आदेश है जिसे बलपूर्वक लागू किया जा सकता है जबकि प्राकृतिक विधि विवेक का आदेश है जिसका केवल आलंकारिक महत्त्व है। नागरिक विधि का मूल तत्त्व यह है कि उसमें आदेश का अथवा बल-प्रयोग का भाव निहित है। हॉब्स के मतानुसार संसदज्ञों तथा कोक जैसे सामान्य विधि-वेत्ताओं की स्थिति में यही भ्रम है। संसदज्ञ समझते हैं कि प्रतिनिधिक-संस्था की सहमति में कुछ गुण हैं और सामान्य विधि-वेत्ताओं का विचार है कि प्रथा में कुछ वैधता है। वस्तुस्थिति यह है कि बल-प्रयोग करने वाली शक्ति ही विधि को बंधनकारी बनाती है। विधि उसी की है जिसके हाथ में शक्ति है। सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति प्रथा को जारी रहने दे सकता है किन्तु उसकी गर्भित स्वीकृति की प्रथा को

विधि शक्ति देती है। कोक का यह अन्धविश्वास मूर्खतापूर्ण है कि सामान्यविधि का अपना विवेक होता है।"[1]

हॉब्स द्वारा विधियो के उचित-अनुचित होने के अधिकार से जनता को वचित कर देना किसी दृष्टि से न्याय-सगत नही माना जा सकता। फिर यह भी समझ से परे है कि मनुष्य का वह सद्विवेक, जिसे वह प्राकृतिक अवस्था मे व्यवहार मे लाता था, राज्य की स्थापना होते ही एकाएक लुप्त कैसे हो गया ? राज्य मे तो उस सद्विवेक को अधिक प्रभावशाली होना चाहिए था क्योकि मनुष्य तब प्राकृतिक अवस्था की अपरिष्कृत भावनाओ से बहुत ऊपर उठ चुका था। सम्प्रभु की इच्छा को ही सद्विवेक की अभिव्यक्ति मानना और प्रजा को इस दृष्टि से कोई महत्व न देना आज के प्रजातान्त्रिक युग मे स्वीकार नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि मान भी लिया जाए कि सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानून उसकी इच्छा को नही वरन् उसके विवेक को अभिव्यक्त करते है तो इसका अर्थ यह होगा कि सम्प्रभु विधि-निर्माण में पूर्ण स्वतन्त्र नही है, क्योकि उसे यह ध्यान रखना पडता है कि निर्मित-विधि सद्विवेक के अनुरूप हो। पुनश्च, हॉब्स ऐसे राज्यादेशो की अवहेलना का अधिकार देता है जो व्यक्ति की आत्म-रक्षा के उद्देश्य का हनन करने वाले हो। हॉब्स के इस विचार मे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्प्रभु का विवेक सद्विवेक ही हो यह आवश्यक नही है, वह केवल दुराग्रह हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप में सम्प्रभु को विधि का अन्तिम स्रोत और व्याख्याकार मानना तथा परोक्ष रूप मे विधि के औचित्य-अनौचित्य के निर्णय का अधिकार व्यक्ति को देना (क्योकि तभी तो व्यक्ति राज्यादेश को अपनी आत्म-रक्षा के उद्देश्य के विपरीत मानते हुए इसकी अवहेलना करने का निश्चय करता है) हॉब्स के चिन्तन मे एक गम्भीर दोष है।

हॉब्स का सम्प्रभु को यह भी परामर्श है कि उसे बहुत अधिक विधियो का निर्माण नही करना चाहिए क्योकि एक तो उन्हें लागू करना बडा कठिन हो जाता है और दूसरे जनता के हृदय मे विधियों के प्रति सम्मान मे कमी आ जाती है। हॉब्स के इन विचारो से उसका यह सन्देह छिपा नही रहता है कि राजकीय विधि और प्राकृतिक-विधि मे पूर्ण तदनुरूपता नही भी हो सकती है। वह इस बारे मे सुनिश्चित नही था कि क्या प्रजा को सम्प्रभु के प्रत्येक कानून को शुभ मानना चाहिए। वस्तुत. हॉब्स का निरकुशतावाद उतना निरपेक्ष (Absolute) और अशर्त (Unconditional) नही है जितना सामान्यत. वह दिखलाई देता है। "उपयोगितावाद के आधार पर निरकुशतावाद का समर्थन करके वह उदारवाद (Liberalism) के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है।" उसके चिन्तन से सविधानवाद के तन्तु विद्यमान हैं जिनका वह स्वय आदरपूर्वक खण्डन करना चाहता है।

राज्य तथा चर्च
(The State and the Church)

सम्प्रभुतावादी हॉब्स यह स्वीकार नही करता कि अन्य कोई सस्था राज्य के समकक्ष है अथवा उसके मुकाबले खडी हो सकती है। हुड (Hood) के शब्दो मे, "हाब्स ने एक ऐसे राज्य का निर्माण किया जो केवल सर्वोच्च सामाजिक शक्ति के रूप मे ही नही वरन् सर्वोच्च-आर्थिक शक्ति के रूप मे भी निरपेक्ष था।" सभी सस्थाएँ-निगम, न्यास, सघ राज्य के अन्तर्गत है, उसकी कृपा पर आश्रित हैं। हॉब्स प्रत्येक क्षेत्र को सम्प्रभुता के अधीन लाना चाहता है, चाहे वह कोई धार्मिक सस्थान ही क्यों न हो। सर्व-प्रभुत्वपूर्ण राज्य मे स्थानीय और स्वतन्त्र चर्च के लिए जो राज्य का प्रतिद्वन्द्वी हो, कोई स्थान नही हो सकता। हॉब्स की दृष्टि मे चर्च, राज्य की समशक्तिमति (समान शक्तिवाली) सस्था न होकर उसके अधीनस्थ एक विभाग था। जिस सार्वभौमिक चर्च का स्वप्न ग्रेगरी सप्तम, इन्नोसेन्ट तृतीय और बोनीफेस अष्टम देखा करते थे, हॉब्स ने उसका बौद्धिक निराकरण किया। उसने कहा "पोपशाही,

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 429–430.

रोमन साम्राज्य का प्रेत है और उसकी कब्र पर बैठा है।" उसकी मान्यता थी कि यदि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को स्वच्छन्द रूप से मत-प्रचार की छूट दी जाएगी तो राज्य की सुरक्षा और कल्याण के प्रति संकट उत्पन्न हो जाएगा। वह इस बात से अपरिचित न था कि तत्कालीन पादरी और पोप अपने असीमित दावों द्वारा समाज में अव्यवस्था फैलाएँ। धार्मिक क्षेत्र से आगे बढ़कर वे शासकों को पदच्युत करने का अधिकार भी अपने हाथ में रखना चाहते थे। उनके ऐसे अप्रतिबन्धित विचारों और प्रयासों ने सम्पूर्ण यूरोप में अराजकता की सी स्थिति पैदा कर दी थी। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के आपसी खूनी-संघर्ष ने सम्पूर्ण फ्रांस को अशान्त बना दिया था। इन परिस्थितियों में यह अस्वाभाविक न था कि हॉब्स ने चर्च पर सम्प्रभु के पूर्ण अधिकार का समर्थन किया। उसे यह स्वीकार्य नहीं हुआ कि सम्प्रभु के कानूनों पर शक्तिधारक के रूप में बाइबिल के नियमों की प्रमुखता रहे। उसने यही माना कि धार्मिक सत्ता पूरी तरह राजसत्ता के वशवर्ती है आध्यात्मिक शासन जैसी कोई वस्तु नहीं है। राज्य में केवल राजनीतिक प्रभुता रखने वाले का ही शासन होता है। राज्य में सम्प्रभु ही सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति है और बिशप उसकी ही कृपा से (ईश्वर की कृपा से नहीं) आध्यात्मिक सत्ता ग्रहण करते हैं। जब लोग शिक्षा और बुद्धि की उपेक्षा करते हुए यह आग्रह करते हैं कि केवल अलौकिक (Supernatural) अनुभवों से ही सत्य-असत्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो राज्य में अव्यवस्था और अराजकता का वातावरण पनपता है। हॉब्स ने रोमन कैथोलिक चर्च को अन्धकार का राज्य (The Kingdom of Darkness) कहा तथा स्कॉटिश प्रेसबिटेरियनिज्म (Scottish Presbyterianism) एवं साधारण एग्लीकन हाई चर्च का विरोध किया।

हॉब्स ने कहा कि धर्म का आधार अदृष्ट शक्ति का भय है। मनुष्य शाश्वत नरक के भय में काँपता है और आध्यात्मिक सत्ता उसकी इस कमजोरी से लाभ उठाती है। अतः राज्य को इस खतरे से अपनी तथा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत हैं, उनसे भय करना धर्म है और जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं हैं उनसे भय का नाम अन्धविश्वास है।

हॉब्स के इन विचारों ने क्रान्तिकारी विस्फोटक चिंगारी छोड़ दी। हॉब्स को नास्तिक गिना जाने लगा जबकि उसका कहना केवल यही था कि ईश्वर का वस्तुगत ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी पूजा हो सकती है। वह भौतिकवादी अथवा गतिवादी था किन्तु उसने खुल्लम-खुल्ला निरीश्वरवाद का समर्थन कदापि नहीं किया।

स्पष्ट है कि हॉब्स ने चर्च को पूरी तरह नागरिक शक्ति के अधीन कर दिया। मार्सीलियो ऑफ पेडुआ ने आध्यात्मिक एवं लौकिक शक्तियों को एक-दूसरे से पृथक् करके चर्च को नागरिक शासन की अधीनता में रखने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी थी। हॉब्स ने इस प्रक्रिया को पूरा कर दिया। उसने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया—"यदि धार्मिक विधि-निषेधों, धार्मिक पुस्तकों के सिद्धान्तों, धर्म-तत्त्वों और चर्च शासन को कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती है तो वह प्रभु द्वारा प्राधिकृत होती है। चूँकि धार्मिक विधि का कोई वस्तुपरक मापक नहीं है, अतः किसी धर्म अथवा उपासना पद्धति की स्थापना प्रभु की इच्छा के ऊपर आधारित होनी चाहिए एवं चर्च एक निगम मात्र है। किसी भी निगम की भाँति उसका एक प्रधान होना चाहिए और उसका यह प्रधान प्रभु है। यह कई व्यक्तियों की एक कम्पनी है जो प्रभु के व्यक्तित्व में संगठित है और इसलिए इसे स्वयं राज्य से भिन्न अथवा अलग नहीं किया जा सकता। लौकिक एवं आध्यात्मिक शासन समरूप (Identical) है।"[1] धर्म-ग्रन्थ की व्यवस्था करने का एकमात्र उचित अधिकार शासक को ही है। राजकीय विधि और दैवी विधि में कोई विरोध नहीं हो सकता। दैवी विधि वही है जिसकी सम्प्रभु व्याख्या करे।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 431.

सारांशतः हॉब्स के अनुसार, चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाए, धर्म पूरी तरह से विधि एवं शासन के नियन्त्रण मे है। मार्सीलियो की भाँति वह चर्च का काम शिक्षा देना मानता है, लेकिन वह यह भी कहता है कि कोई भी शिक्षण तभी विधि-संगत है जब सम्प्रभु उसे प्रमाणित कर दे। धर्म-बहिष्कार का अथवा चर्च द्वारा दिया जाने वाला कोई अन्य दण्ड सम्प्रभु ही आरोपित करता है। हॉब्स ने अपने ग्रन्थ 'लेवियाथान' के लगभग आधे भाग मे धर्म-शास्त्र और चर्च से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नो की मीमांसा की है और उन्हे विशुद्ध तर्क की कसौटी पर कसा है।

हॉब्स का व्यक्तिवाद
(Hobbes' Individualism)

हॉब्स के राजदर्शन के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि निरपेक्ष सम्प्रभुता का कट्टर समर्थक होते हुए भी वह कई अर्थों मे व्यक्तिवादी है। प्रथम, वह मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी है जिसके राजदर्शन का प्रारम्भिक सूत्र व्यक्ति है, अरस्तू के समान समाज नहीं। "उसकी विचारधारा में व्यक्ति बिलकुल अलग-अलग इकाइयाँ हैं और राज्य बाहर की एक ऐसी शक्ति है जो उन्हे एकता के सूत्र मे बाँधती है और उनके समान स्वार्थों में सामजस्य स्थापित करती है।" प्रायः समशक्तिमान स्वार्थी बिखरे हुए अणुव्रत-मनुष्य हॉब्स के राजदर्शन की प्रारम्भिक इकाई हैं। उनकी जीवन-रक्षा तथा सुख-शान्ति का सरक्षक राज्य पारस्परिक समझौते का परिणाम है और तब तक चलता जाता है जब तक वह अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति से सलग्न है। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति के स्वार्थ से भिन्न किसी संस्था का उद्देश्य न हो सकता है और न होना चाहिए। जब तक राज्य प्रजाजन की जीवन-रक्षा के उद्देश्य को अथवा उस उद्देश्य को जिसकी पूर्ति के लिए राज्य का समझौते द्वारा उदय होता है, चलाता है तभी तक प्रजाजन में राजभक्ति है, आदेश-पालन है, आत्म-समर्पण है अन्यथा विद्रोह के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। हॉब्स प्रजा को राज्यादेश की अवहेलना करने की अनुमति उसी स्थिति मे देता है जब राज्य द्वारा कोई ऐसा कार्य करने का आदेश दिया जाए जिससे व्यक्ति का जीवन ही खतरे में पड जाता हो। समाज अथवा राज्य को कृत्रिम मानना और व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिए उसके अस्तित्व को स्वीकार करना हॉब्स को प्रथम श्रेणी का व्यक्तिवादी घोषित करता है। जहाँ आत्मरक्षा पर आघात पहुँचता हो वहाँ सम्प्रभु की आज्ञा की अवहेलना हो सकती है। इस विचार मे सामाजिक या सामूहिक कल्याण की भावना कारणात्मक स्रोत नहीं है। "समाज की स्थापना, सम्प्रभुतामय राजशक्ति का समझौते से उदय और आत्मरक्षा के अभाव मे सम्प्रभु की आज्ञा की अवहेलना इन सभी के पीछे हॉब्स का व्यक्तिवाद ही प्रधान रूप मे कारणभूत है।"

वास्तव में हॉब्स ही पहला दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के हित को उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना। उसकी दृष्टि मे यही राज्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है कि वह अराजकता का अन्त करके व्यक्तियों के जीवन-सकट को दूर करे। राज्य का निरकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिए गए हैं कि वह समाज मे शान्ति की व्यवस्था करे तथा व्यक्तियों के जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षित रखे। इस तरह हॉब्स के व्यक्तिवादी दर्शन मे उसका उपयोगितावाद भी जुड़ा है। हॉब्स का विचार है कि राज्य व्यक्ति की स्वार्थसिद्धि का साधन-मात्र है। साध्य तो व्यक्ति ही अपने आप में है। किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य बात है कि हॉब्स व्यक्ति को निजी सम्पत्ति, अभिव्यक्ति और विश्वास की स्वतन्त्रता के तथा ऐसे ही अन्य अधिकार लगभग बिल्कुल ही नही देता। कुछ दशाओं को छोड़कर (जिनका उल्लेख पहले अनेक बार किया जा चुका है), जैसे कि आत्मरक्षा की, प्रजाजन को अन्य किसी भी दशा में शासक के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नही है। उनकी स्वाधीनता उसी मे निहित है कि जिसकी राज्यसत्ता स्वीकृति दे।

हॉब्स का निरंकुशवाद वास्तव में एकदम कट्टर नही है। नागरिक विधियों के सरक्षण में स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं। 'लेवियाथान' को अनुचित हस्तक्षेप का कोई शौक नही है। हॉब्स के अनुसार विधियों का उद्देश्य प्रजाजन के सम्पूर्ण कार्यों पर रोक लगाना नही है अपितु केवल "उनका

निर्देशन करना एव उन्हें इस तरह रखना कि वे अपनी अनियन्त्रित इच्छाओ, जल्दबाजी अथवा अविवेक के कारण स्वय को ही आघात न पहुँचा लें। विधि उस बाढ़ के समान है जिसे यात्रियो को रोकने के लिए नही प्रत्युत सन्मार्ग पर रखने के लिए खडा किया जाता है।"

हॉब्स के व्यक्तिवाद पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन महोदय ने लिखा है—"हॉब्स के चिन्तन मे व्यक्तिवाद का तत्त्व पूर्ण रूप से आधुनिक है। इस दृष्टि से हॉब्स ने आगामी युग का सकेत अच्छी तरह से समझ लिया था। उसके दो शताब्दियो वाद तक अधिकाँश विचारको को स्वार्थ, उदासीनता की अपेक्षा कही अधिक प्रेरक तत्त्व लगा था। वे किसी सामूहिक कार्यवाही की अपेक्षा प्रबुद्ध स्वार्थ के आधार पर सामाजिक बुराइयो को अधिक आसानी से दूर कर सकते थे। हॉब्स का नाम प्रभु की निरकुश शक्ति के सिद्धान्त के साथ विशेष रूप से सयुक्त है। यह सिद्धान्त उसके व्यक्तिवाद का ही एक पूरक तत्त्व है। हॉब्स के दर्शन मे एक मूर्त उच्च-मानव के अतिरिक्त जिसकी आज्ञा का मनुष्य पालन करते है और जो आवश्यकता पडने पर अपनी आज्ञा का पालन करा सकता है, अन्य सब केवल व्यक्ति है और ऐसे व्यक्ति हैं जो केवल अपने स्वार्थो से प्रेरित है।"[1] डनिंग का मत है कि "उसके (हॉब्स के) सिद्धान्त मे राज शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी मूल आधार पूर्णत. व्यक्तिवादी है। यह सिद्धान्त समस्त व्यक्तियो की प्राकृतिक समानता पर उतना ही वल देता है, जितना मिल्टन अथवा किसी अन्य क्रान्तिकारी विचारक ने दिया है। हॉब्स ने सर्व-शक्तिशाली राज्य के विचार को स्वतन्त्र और समान व्यक्तियो के समुदाय से तार्किक ढग से निकालने के लिए ही अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल व्यक्ति के साथ-व्यक्ति के समझौते मे जन्म ग्रहण करता है।"[2]

अतः ऊपर से देखने मे ऐसा लगता है कि हॉब्स पूर्ण निरकुश सत्ता का समर्थक है लेकिन वास्तव मे व्यक्ति के हित का समर्थक होने के कारण वह प्रबल व्यक्तिवादी भी है।

हॉब्स के विचारों की आलोचना और मूल्याँकन
(The Criticism and Estimation of Hobbes' Conception)

हॉब्स के विचारो को समर्थन मिलना तो दूर रहा, सर्वत्र उनकी तीव्र आलोचना की गई। समकालीन कोई भी पक्ष उसकी तरफ न था। राजतन्त्रवादी, ससद्ज्ञ, धार्मिक विचारक सभी उसके आलोचक हो गए। "निरकुश राजतन्त्र के समर्थक उसके व्यक्ति-स्वेच्छा के सिद्धान्त तथा दैवी सिद्धान्त के निराकरण के कारण सदिग्ध थे। संसद् के समर्थक उसकी अमर्यादित अनुदार राजतन्त्रीय निष्ठा के कारण नाराज थे। धार्मिक विचारक उसकी धर्म-विरोधी धारणा तथा व्यवस्था से क्षुब्ध थे। जनतन्त्र-वादी उसे अनैतिक तथा विचार-भ्रष्ट मानते थे। व्यक्तिवादी राज्य मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मौलिक अधिकारो की घोषणा के अभाव मे उससे भयभीत थे। तर्कवादी उसके सिद्धान्तो मे बौद्धिकता की अतिशयता (Ultrarationalistic) से खिन्न थे। वैज्ञानिक उसकी बातो को भानुमती का पिटारा समझते थे। मनोवैज्ञानिक उसके मानव-स्वभाव के चित्रण को भ्रामक, अतिरजित, त्रुटिपूर्ण मानते थे। विधि-शास्त्री उसे सकीर्ण, अनभिज्ञ तथा उत्पीडक मानते थे। लॉक और रूसो भी उसके विरुद्ध थे।" उसके ग्रन्थ 'लेवियाथान' की विचारको द्वारा कटु आलोचना की गई। वाहन का विचार है कि "जहाँ तक राजनीतिक चिन्तन के सजीव विकास का प्रश्न है, लेवियाथान एक प्रभावहीन और परिणामहीन (निष्फल) ग्रन्थ रहा। वह एक प्रभावपूर्ण वर्णसंकर है जिसमे प्रजाजन की कोई सामर्थ्य नहीं है और वह इस उपेक्षा का पात्र भी है।[3] क्लेरेडन ने हॉब्स की पुस्तक को जलाकर यहाँ तक कह डाला "मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमे इतना राजद्रोह, विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।"

1 सेबाइन ' राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 432.
2 *Dunning* : Political Theories from Luther to Montesque, p. 302.
3 *C. E Vaughan* History of Political Philosophy, Vol 1, p. 37.

मुरे के अनुसार "हॉब्स की जीवनी लिखने वाले को एक ही समर्थक मित्र सका जबकि उसके श‍ अनेक थे ।"[1]

पर कुछ विचारक ऐसे भी हुए और आज भी है जिन्होने हॉब्स की महत्ता को स्वीकार किया सेवाइन ने हॉब्स की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "अग्रेजी भाषा भाषी जातियो ने जितने भी राजनीति दार्शनिक उत्पन्न किए है उन सब मे हॉब्स सम्भवतः महानतम् है ।" प्रो ऑकशॉट (Prof. Oakshott) के अनुसार, "हॉब्स का 'लेवियाथान' सबसे अधिक ही नही, बल्कि केवलमात्र एक राजनीतिक ग्रन्थ है जो अग्रेजी भाषा मे लिखा गया था ।" चाहे इन कथनो मे कुछ अतिशयोक्ति हो फिर भी कटु आलोचनाओ के बावजूद यह मानना पडेगा कि हॉब्स का सारे ससार के विचारको मे आदरपूर्ण स्थान है । सेबाइन और ऑकशॉट की प्रशसा तथा वाहन की निन्दा से यद्यपि कोई सगति नही है, फिर भी इन दोनों ही विपरीत धारणाओ के पक्ष मे कुछ कहा जा सकता है ।

(1) हॉब्स पर प्रथम दोष यह लगाया जाता है कि उसका मानव-स्वभाव का चित्रण अनुचित, अतिरजित और एकपक्षीय है । हॉब्स द्वारा मनुष्य को असामाजिक और समाज-विरोधी कहना अरस्तू के इस स्वाभाविक सत्य सिद्धान्त के विरुद्ध है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो समाज मे रहना पसन्द करता है और समाज मे रहकर ही अपनी उन्नति कर सकता है । मनुष्य की आत्म-भावना केवल अपने तक ही सीमित नही रहती । वह पत्नी, सन्तान और सजातीय मनुष्य से स्नेह करता है, उन्हें अपना समझता है । मनुष्य मे यह प्रवृत्ति होती है कि अपनी आत्मबुद्धि को अधिकाधिक विकसित एव विस्तृत करे । उसमे दया, सहानुभूति, सहयोग, प्रेम, त्याग आदि दैवी गुण भी होते है ।

(2) हॉब्स की सामाजिक अनुबन्ध की कहानी नितान्त भ्रमपूर्ण है । मनुष्य अपनी स्थिति ठीक करने पर ही किसी प्रकार के समझौते करने की अवस्था मे आता है । सामाजिक समझौते की बात तो मनुष्य के अपेक्षाकृत विकसित होने पर ही समझ मे आ सकती है । जब मनुष्य पूर्णतः असामाजिक, स्वार्थी, झगडालू और हिंसक हैं तो उनमें समझौते की सामाजिक भावना का उदय कैसे हो गया और वे कानून-प्रिय एव विनम्र नागरिक कैसे बन गए ? वाहन के शब्दों मे, "हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था सघर्ष की वह अवस्था है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियो के प्रति युद्धरत रहता है । पशुबल और धोखा इस अवस्था के विशेष गुण है । इस स्थिति मे सही और गलत न्याय और अन्याय की धारणाओ के लिए कोई स्थान नही हो सकता । इन सब मे कोई पारस्परिक सगति नही है लेकिन इसके अवसान की तो इससे कोई सगति हो ही नही सकती । यह कैसे माना जा सकता है कि ऐसे गुणो से विभूषित दानव-रूपी व्यक्ति किसी ऐसी अवस्था मे प्रवेश कर सकते है अथवा प्रवेश करने की इच्छा भी कर सकते हैं कि जिसमे उनकी पूर्व-स्थिति एकदम विपरीत हो जाए अर्थात् ऐसी स्थिति या अवस्था जिसमे युद्ध की जगह शान्ति का साम्राज्य हो, पशुबल और धोखाधडी का परित्याग कर दिया गया हो और सत्य एव न्याय जिनके आधार हो । जिस तरह एक हब्शी अपना रग नही बदल सकता उसी तरह हॉब्स द्वारा वर्णित रक्त-पिपासु व्यक्ति शान्तिप्रिय श्रमिक नही बन सकता ।"[2] वाहन की आलोचना मे सत्य के गहरे बीज है । वास्तव मे दानवो को एक ही क्षण मे देवताओ के कायाकल्प करने की कपोल-कल्पना तो पौराणिक साहित्य मे भी उपलब्ध नही होती ।

इसमे कोई सन्देह नही कि हॉब्स की मानव-स्वभाव मे कृत्रिम त्रिभाजन की व्यवस्था नितान्त दोषपूर्ण है । यदि मान लिया जाए कि हॉब्स सचमुच मे ऐसी प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता मे विश्वास करता था तो वाहन द्वारा की गई आलोचना उसके तर्क को खण्ड-खण्ड कर देती है । पर वास्तव मे ऐसी प्राकृतिक अवस्था की सत्ता को हॉब्स किसी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नही करता । अतः

1 *Murray* · History of Political Science, p. 216

2 *Vaughan :* History of Political Thought, Vol. I, p 31-3

हमारे लिए यह मानना आवश्यक नही है कि हॉब्स का यह विश्वास था कि मनुष्य कभी सचमुच ही ऐसी प्राकृतिक अवस्था मे रहते थे। प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी विचार से हॉब्स का यह मन्तव्य प्रतीत होता है कि किसी नियन्त्रक शक्ति के अभाव मे मनुष्य का जीवन वैसा ही हो सकता है जैसा प्राकृतिक दशा मे उसने चित्रित किया है। हॉब्स समझता है कि यह प्राकृतिक दशा यथार्थ है क्योंकि जब-जब राज्य-शक्ति निर्बल रही है, तब-तब समाज मे इसी प्रकार की प्राकृतिक दशा का अस्तित्व रहा है। हॉब्स के कहने का उद्देश्य यही है कि एक शक्तिशाली राज्य के अभाव मे मानव-जीवन दुःखी एव असहनीय हो जाता है। उसने दैनिक जीवन के ऐसे तथ्य उपस्थित किए है जिनके आधार पर इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इनकी चर्चा 'प्राकृतिक अवस्था' के चित्रण मे की जा रही है, अतः यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि "हॉब्स का उद्देश्य राज्य के काल-गत जन्म का वर्णन करना नही है, उसका ध्येय तो राज्य के स्वरूप का विश्लेषण करना तथा उसका औचित्य सिद्ध करना है। वह बतलाना चाहता है कि शान्ति और सहयोग आत्मरक्षा के लिए हिंसा और प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसके लिए प्रभुसत्ता निरपेक्ष एव असीमित होनी चाहिए।

(3) हॉब्स समाज को अराजकता से बचाने का एकमात्र विकल्प सर्वोच्च एव निरंकुश शासन-सत्ता को समझता है पर यह धारणा सही नही है। उसके सामने मध्ययुगीन यूरोप का इतिहास था जिसमे शासन-सत्ता चर्च एव राज्य के मध्य विभाजित थी। उस समय सघर्ष होते थे किन्तु प्राकृतिक अवस्था-सी अराजकता नही थी। प्राकृतिक दशा की तुलना मे स्थिति अत्यन्त ही सुधरी हुई थी। उस समय प्रभुसत्ता की अविभाज्यता का सिद्धान्त विद्यमान नही था। आज अमेरिका में प्रभुसत्ता शासन के तीन प्रधान अगो मे बँटी हुई है, किन्तु वहाँ अराजकता नही है। आधुनिक इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मिश्रित तथा सांविधानिक शासनो मे अराजकता नही रहती।

(4) राजसत्ता को निरकुश एव असीमित रूप से शक्तिशाली बनाए रखने के लिए हॉब्स ने उसे समझौते मे सम्मिलित पक्षो से अलग रखा है। तार्किक दृष्टि से ऐसा एक-पक्षीय समझौता असगत है। समझौता तो सदैव दो पक्षो मे होता है। फिर यह समझौता भग भी नही किया जा सकता, यह बात मानव-युक्ति के विपरीत है। हॉब्स ने इस बात पर भी कोई विचार नही किया कि प्राचीन जीवन की इकाई व्यक्ति न होकर कुटुम्ब थी।

(5) हॉब्स राज्य और सरकार के बीच कोई भेद नही करता जबकि ये दो भिन्न सत्ताएँ है। यदि जनता विद्रोह द्वारा किसी निरंकुश राजा का अन्त करने का प्रयत्न करती है तो वह राज्य सस्था की जड़ पर कुठाराघात नही करती। वह केवल सरकार मे परिवर्तन करती है। हॉब्स राज्य की स्वेच्छाचारिता और सरकार की स्वेच्छाचारिता मे कोई अन्तर नही देखता।

(6) हॉब्स के अनुसार अराजक दशा के जीवन से भयभीत होकर आत्म-रक्षा एव शान्ति की स्थापना के लिए समझौते द्वारा राज्य को जन्म दिया गया। दूसरे शब्दो मे, राजसत्ता की स्थापना एक अनुचित भय के आधार पर और एक अनैतिक उद्देश्य—मानव-स्वार्थ-पूर्ति के लिए हुई। भय एवं स्वार्थ जैसी हेय-भावनाओं पर राज्यरूपी कल्याणकारी सस्था की नीव खड़ी करना उचित नही कहा जा सकता। वास्तव में राज्य अथवा समाज भय एव स्वार्थ पर नही बल्कि अनुमति, सद्भावना, सहप्रेम एव सामाजिक हित की भावना पर आधारित हैं। हॉब्स भूल जाता है कि लोकमत, बुद्धि और धार्मिक विश्वास, जिसका आधार ही भय हो, केवल पुलिस राज्य ही हो सकता है। हॉब्स के राज्य का नैतिक एव भौतिक विकास, शिक्षा एव सस्कृति मे योग आदि कर्त्तव्यो से कोई सम्बन्ध नही है। इस तरह उसके राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। गूच के शब्दो मे, "लेवियाथान केवल अतिमानवीय आकार का पुलिसमैन है जो अपने हाथ में दण्ड लिए है"... उसका राज्य अनिवार्य बुराई है, दबाव का यन्त्र है—स्वतन्त्र विकासोन्मुख सभ्यता की प्राप्ति का अपरिहार्य साधन नही।" रूसो के अनुसार भी हॉब्स का सबसे बडा दोष यह है कि वह एकदम निरकुश शासन स्थापित करता है। उसका कहना है कि "जो

व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करता है वह अपने मनुष्यत्व को भी छोड़ देता है। उसके समझौते से बना हुआ समाज वस्तुतः समाज नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण जीवन केवल एक ही व्यक्ति 'लेवियाथान' में केन्द्रित है और शेष सभी व्यक्ति इस धरती पर निरर्थक भार-मात्र हैं।" हॉब्स के समाज में वे सब लेवियाथान के समक्ष नतमस्तक हैं, करबद्ध दास-मात्र हैं। हॉब्स अपने राज्य में मनुष्यों को सर्वथा अधिकार-शून्य करके लेवियाथान रूपी चरवाहे द्वारा हाँके जाने वाले पशुओं की श्रेणी में ला खड़ा करता है। यह अवस्था तो हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से भी अधिक शोचनीय है।

(7) हम हॉब्स की वैज्ञानिक पद्धति की चर्चा कर चुके हैं। 17वीं शताब्दी में वैज्ञानिक पद्धति को ज्योमिति पद्धति अथवा निगमन पद्धति के तद्रूप माना जाता था। लेकिन बाद के विकसित विचारों से यह प्रमाणित हो गया कि ज्योमिति के नमूने पर राजदर्शन का महल बनाने का प्रयास भ्रम-मात्र है। जो भी हो, हम हॉब्स के इस महत्त्व से इन्कार नहीं कर सकते कि उसने अपने चिन्तन को एक क्रमबद्ध और समन्वित रूप प्रदान किया।

(8) हॉब्स के विधि सम्बन्धी विचार भी अति सकीर्ण हैं। वह विधि के केवल ऊपरी पालन से ही सन्तुष्ट प्रतीत होता है। लोग चाहे विधि में विश्वास करें या न करें, उन्हें विधि को मानना ही होगा पर होना यह चाहिए कि लोग विधि में भी विश्वास करें और उसका पालन भी करें।

हॉब्स की चाहे कितनी भी आलोचना की गई हो, राजनीतिक चिन्तन को उसकी महान् देन है। वह राजनीतिशास्त्र की विस्तृत और व्यवस्थित पद्धति का निर्माण करने वाला पहला अंग्रेज विचारक है। प्रभुसत्ता का प्रतिपादन चाहे पहले किया जा चुका था, किन्तु एक निरपेक्ष और असीम प्रभुसत्ता का स्पष्ट विवरण सर्वप्रथम उसने ही दिया। प्रभुसत्ता और कानून पर उसके विचार बोदाँ से आगे बढ़े हुए थे। उसकी प्रभुसत्ता और विधेयात्मक कानून सम्बन्धी धारणा का ही विकास 19वीं सदी के महान् विचारक जॉन ऑस्टिन ने किया। वास्तव में हॉब्स ने ही प्रभुसत्ता को वह स्वरूप दिया जो आज तक चला आ रहा है। हॉब्स के अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा ही यह सुनिश्चित हुआ कि राजसत्ता सर्वोपरि है जिसके आदेशों का पालन राज्य के नागरिकों और निवासियों के लिए अनिवार्य है। इस मत की व्यावहारिकता से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए दृढ़ तथा शक्ति-सम्पन्न शासन की आवश्यकता होती है।

हॉब्स ही वह प्रथम विचारक था जिसने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का अभिनवीकरण किया। यद्यपि पहले भी अनुबन्ध द्वारा राज्य की उत्पत्ति का चित्रण किया गया था लेकिन साथ ही इसकी उत्पत्ति को दैवी भी माना जाता था। हॉब्स ने दैवी सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा प्रस्तुत राज्य के रहस्यात्मक ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र को नष्ट-भ्रष्ट करने का महान् कार्य किया। उसने ही स्पष्ट रूप में बतलाया कि राज्य दैवी इच्छा का नहीं बल्कि मानवीय इच्छा का परिणाम है। इस प्रकार उसने राज्य को एक मानवीय संस्था घोषित किया। धीरे-धीरे उसके ये विचार आज के कल्याणकारी राज्य के रूप में प्रस्फुटित हुए। जेगोरिन ने ठीक ही लिखा है कि हॉब्स के दर्शन में हमें जो मिलता है वह है—'अतिक्रमणवाद के प्रत्येक रूप का निषेध।' प्राकृतिक विधि की परम्परागत प्रतिष्ठा को समाप्त किया गया है, दैविक ज्ञान की सम्भावना से इन्कार किया गया है और वहाँ केवल स्वतन्त्र प्राणी रह गया है जो सामाजिक जीवन के आदेशों का स्वयं अन्वेषी है। राजनीतिक व्यवस्था को पवित्र चरित्र से वर्जित कर दिया गया है। उसमें अब वह दैविक चमत्कार नहीं रहा है जो सन्त पॉल ने अपने इस उपदेश द्वारा कि—"जो भी शक्ति है, परमात्मा द्वारा प्रदत्त है", समस्त ईसाइयों के हृदय पर अंकित कर दिया था। एक भावुकता अपाकर्षण उस धार्मिक आतंक का स्थान ले लेता है जिससे शासकों को देखा जाता था। अब राज्य मनुष्य की सृष्टि है और उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। जब राज्य मानव आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में विफल रहता है तो वह अपने उस एकमात्र औचित्य को गँवा देता है।[1]

1 *Zagorin* · Political Thought in the English Revolution, p 188.

हॉब्स की बहुत बड़ी देन उसके व्यक्तिवाद की है। सम्प्रभुतावादी हॉब्स के विचारो मे हमे व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन मिलता है। उसने व्यक्ति के कल्याण और उसकी सुरक्षा को साध्य घोषित किया है। उसने राज्य को निरकुश अधिकार इसीलिए दिए है कि वह समाज मे शान्ति स्थापित रखे, व्यक्तियो का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रखे। सेबाइन ने इसीलिए कहा है कि, "हॉब्स के प्रभु की सर्वोच्च शक्ति उसके व्यक्तिवाद का आवश्यक पूरक (Necessary Complement) है।" उसने बतलाया कि राज्य का एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। स्मरणीय है कि "हॉब्स कोई जनतन्त्रवादी नही था। उसके लिए जनता, सामान्य इच्छा (General Will) अथवा सामान्य हित जैसी किसी चीज का अस्तित्व नही है। अस्तित्व केवल व्यक्तियो का है। उनकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। उनके निजी हितो का योग ही सामाजिक हित है।" हॉब्स के विचारो से उपयोगितावादियो ने बहुत कुछ प्राप्त किया। "राज्य को व्यक्तियो के परस्पर विरोधी हितो का मध्यस्थ बना कर वह उपयोगितावादियो का पूर्व सूचक बन गया।" प्रो वेपर के अनुसार—"यह कोई आकस्मिक घटना नही है कि बैन्थम यहाँ भी उसका उतना ही ऋणी है जितना सुख विषयक हॉब्स के विचारो का। आने वाली सन्तति का प्राय: उससे मतभेद रहा है किन्तु यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति न होगी कि उन्हे उसमे एक ऐसी खान मिली जिसका खोदना उनके लिए श्रेयस्कर है क्योकि उसमे से एक मूल्यवान धातु निकलती है।"[1]

हॉब्स का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि उसने न्याय सम्बन्धी पुरानी मान्यता का खण्डन किया और बतलाया कि न्याय की रचना विधि द्वारा होती है तथा न्याय विधि का प्रतिविम्ब नही है। वास्तव मे उसने अपने प्रबल तर्कों द्वारा तत्कालीन राजनीतिशास्त्र-वेत्ताओ और विद्वानो को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्हे अपने सिद्धान्तो की तह मे जाने के लिए विवश कर दिया है।

18 लॉक

(Locke)

जीवनी, कृतियाँ एवं पद्धति
(Life, Works and Method)

लॉक ने अनुबन्धवाद पर पुनः विचार किया और उसे उदार, सन्तुलित तथा व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की। लॉक का सर्वाधिक महत्त्व इस बात में है कि उसने आधुनिक स्वतन्त्रता की धारणा का, सीमित और वैधानिक राजतन्त्र का तथा वर्तमान युग के प्रजातन्त्र का समर्थन किया।

जॉन लॉक का जन्म इंग्लैण्ड में समरसेट केरिंगटन नामक स्थान पर 29 अगस्त, 1632 ई. को हुआ था। उसके पिता मध्यम-वर्गीय परिवार के एक क्लर्क थे, किन्तु उन्होंने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने में कसर नहीं छोड़ी। इस मेधावी छात्र ने ऑक्सफोर्ड से एम. ए. की उपाधि प्राप्त की और तब वहीं 1659 ई. में उसे अध्यापन कार्य मिल गया। अध्यापन-काल में ही उसका सम्पर्क लॉर्ड शेफ्ट्सबरी से हुआ जिसने उसे अपना गुप्त सचिव बना लिया। अब लॉक ने राजनीति का पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। थोड़े समय पश्चात् वह ह्विग दल (Whig Party) में कार्य करने लगा, किन्तु अत्यधिक परिश्रम और अध्ययन से वह क्षय रोग से ग्रस्त हो गया। क्षय रोग से निवृत्त होने के लिए उसे फ्रांस जाना पड़ा जहाँ उसने अपने राजनीतिक विचारों का प्रकाशन किया। 1683 ई. में कुछ राजनीतिक कारणों की वजह से वह हॉलैण्ड गया, जहाँ सन् 1688 ई. तक उसे रहना पड़ा। जब इंग्लैण्ड में सन् 1688 ई. में क्रान्ति हुई तो लॉक ने इसका समर्थन किया। क्रान्ति के इस समर्थन के कारण ही उसे क्रान्ति का दार्शनिक कहा जाता है। लॉक अधिक समय तक जीवित न रह सका और 72 वर्ष की अवस्था में सन् 1704 ई. में यह विद्वान् सदा के लिए चल बसा।

लॉक के जीवन पर तत्कालीन परिस्थितियों ने बड़ा प्रभाव डाला। उसने अपने जीवन के प्रथम भाग में महान् राजनीतिक उथल-पुथल को देखा, उदाहरणार्थ अपने शैशव में गृह-युद्ध तथा यौवन में क्रॉमवेल का शासन और राजतन्त्र की पुनर्स्थापना के दर्शन किए। वृद्धावस्था में उसने 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रान्ति को देखा। लॉक को अपने प्रारम्भिक अनुभवों के कारण हिंसा तथा अतिवाद के प्रति गम्भीर अरुचि उत्पन्न हो गई। दीर्घकाल तक ह्विग विचारक शेफ्ट्सबरी के साथ रहने के कारण उसका भी उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। लॉक पर अन्य विशेष प्रभाव 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में जाग्रत होने वाले नवीन बौद्धिक वातावरण का पड़ा। इस नवीन युग में धार्मिक और राजनीतिक कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता की विशेष छाप थी। जहाँ पुराने युग का राजनीतिक चिन्तन मानव-स्वभाव को बुरा और दुष्ट मानते हुए आरम्भ होता था, वहाँ इस नवीन युग में मानव-स्वभाव के प्रति आशावाद की झलक देखने को मिलती थी और मानव-स्वभाव की अच्छाई में विश्वास किया जाने लगा था। मानव-स्वभाव सम्बन्धी मूल मान्यताओं में इस परिवर्तन का प्रभाव लॉक पर पड़ना स्वाभाविक

था, और इसीलिए वह एक उदारवादी विचारक बन सका। उसने ऐसी अध्ययन पद्धति निकाली जिसके आधार पर व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी, प्रजातन्त्रवादी, समाजवादी अपने-अपने पक्ष मजबूत करते हैं।

रचनाएँ—लॉक ने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा, दर्शन, विज्ञान आदि विषयों पर 30 से भी अधिक ग्रन्थ लिखे। सभी कृतियाँ उसकी 50 वर्ष की आयु हो जाने के उपरान्त ही प्रकाशित हुईं। हॉलैण्ड से लौटने के बाद ही वह सर्वप्रथम एक लेखक के रूप में प्रकट हुआ। राजनीति-शास्त्र पर लिखे गए उसके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

1. Letter on Toleration, 1689.
2. Two Treatises on Government, 1690
3. Essay Concerning Human Understanding, 1690.
4. Second Letter on Toleration, 1690.
5. Third Letter on Toleration, 1692
6. Fourth Letter on Toleration, 1692
7. The Fundamentals of Constitution of Caroline, 1692.

इन सभी ग्रन्थों में लॉक का सबसे प्रमुख ग्रन्थ 'Two Treatises on Government' है। इसके प्रथम खण्ड में लॉक ने राजा के दैवी अधिकारों और पदाधिकारों का खण्डन किया है। दूसरे खण्ड में उसने सरकार की उत्पत्ति, स्वभाव और कार्य-क्षेत्र का विशद विवेचन किया है। प्रच्छन्न रूप से उसका उद्देश्य हॉब्स का खण्डन करना था, किन्तु स्पष्टतः लॉक ने 'लेवियाथान' के तर्कों का जान-बूझकर उत्तर नहीं दिया। स्मरणीय है कि लॉक अपने बहुत से विचारों के लिए 'The Laws of Ecclesiastical Polity' के लेखक रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) का ऋणी था और वह इसे स्वीकार भी करता था। लॉक हॉब्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और सामाजिक संविदा के सिद्धान्त से सहमत था, लेकिन हॉब्स के दर्शन के लगभग प्रत्येक आधार-सिद्धान्त का विरोधी था। प्रो वॉहन (Vaughan) के अनुसार, "लॉक की 'ट्रीटाइज' एक दोनाली बन्दूक है जिसमें से एक फिल्मर (Filmer) तथा दूसरी हॉब्स के विरुद्ध तनी हुई है।" लॉक ने इस ग्रन्थ को राजा के दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थन करने वाले सर रॉबर्ट फिल्मर के ग्रन्थ 'Patriarcha' का खण्डन करने के लिए लिखा था। फिल्मर ने अपने ठोस तर्क अधिकतर हॉब्स से ग्रहण किए थे। लेकिन जहाँ लॉक ने प्रथम 'ट्रीटाइज' में फिल्मर की खुलकर आलोचना की, वहाँ दूसरी 'ट्रीटाइज' में उसने हॉब्स की वैसी आलोचना नहीं की। इस पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने कहा है कि "यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि लॉक ने अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से नहीं समझा।" यद्यपि अपने तर्कों का विकास करते समय लॉक सदैव हॉब्स पर दृष्टि जमाए रहा, लेकिन उसने हॉब्स का नाम लेकर खुल्लम-खुल्ला उसके मत का खण्डन कभी नहीं किया। सेबाइन के ही शब्दों में, "यदि वह अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से समझ लेता तो वह समाज और शासन के सिद्धान्तों में गहराई से प्रवेश करता है। इससे उसके दर्शन का बहुत-सा भ्रम दूर हो जाता।" पर "तत्कालीन प्रभाव की दृष्टि से यह अधिक हितकर था कि वह गरीब फिल्मर का खण्डन करता।"

लॉक की इस पुस्तक का प्रकाशन यद्यपि 1690 ई. में हुआ, लेकिन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो. पीटर लॉस्लेट के नवीन अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह सम्पूर्ण रचना 1683 ई. से पहले ही तैयार हो गई थी। लॉक ने इसे 7 वर्ष पश्चात् ग्रन्थ लेखक का नाम न देते हुए इसलिए प्रकाशित किया कि उसे यह भय था कि यदि स्टुअर्ट शासक पुनः सिंहासनारूढ़ हुए तो लेखक को दण्ड भोगना पड़ेगा। लॉक के जीवन-काल में ही 1690, 1694 और 1698 ई में इस ग्रन्थ के तीन संस्करण प्रकाशित हुए, यद्यपि तीनों ही में अशुद्धियाँ थीं। उसकी मृत्यु के बाद ही उसके द्वारा संशोधित प्रति के आधार पर इस ग्रन्थ का शुद्ध संस्करण प्रकाशित हुआ। लॉक के ग्रन्थ ने (जो काफी पहले तैयार हो चुका था) 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रान्ति के लिए सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया था। इस पुस्तक

की भूमिका मे ही उसने लिख दिया था कि यह पुस्तक विलियम ऑफ ओरेंज के सिंहासनारूढ़ होने का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस पुस्तक ने अमेरिका के क्रान्तिकारियों के लिए भी औचित्य प्रस्तुत किया। पुस्तक की भूमिका में लिखे गए शब्दों से यद्यपि यह आभास होता है कि इसकी रचना 1688 ई के बाद हुई और ये शब्द बाद ही मे लिखे गए, लेकिन आधुनिक अन्वेषणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पुस्तक का लेखन 1683 ई. में ही पूरा हो चुका था। लॉस्लेट के अनुसार "इसमें भावी क्रान्ति की माँग की गई है, न कि घटित क्रान्ति को उचित सिद्ध करने का प्रयास है।"

मानव स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था एवं प्राकृतिक अधिकार
(Human Nature, State of Nature and Natural Rights)

अन्य दर्शन-पद्धतियों के अनुसार लॉक का दर्शन भी उसके मानव-स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है। हॉब्स और लॉक के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों मे आकाश-पाताल का अन्तर है। यद्यपि लॉक को भी मानव-स्वभाव के दुष्टतापूर्ण पहलू का साक्षात्कार हुआ था तथा शेफ्ट्सबरी के पतन और दुखपूर्ण दिनों में एवं अपने देश-निर्वासन के समय उसने कष्टमय जीवन व्यतीत किया था, फिर भी मनुष्यों की स्वाभाविक अच्छाई, दया आदि गुणों का ही प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा और इनका उनकी राजनीतिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा। एक ओर तो उसके पिता के स्नेहमय व्यवहार और मित्रों की सहानुभूति ने उसके हृदय मे मानव-स्वभाव की श्रेष्ठता के प्रति निष्ठा उत्पन्न की और दूसरी ओर यूरोप मे छा रहे नवीन बौद्धिक वातावरण से भी वह अप्रभावित न रहा। उस युग में धर्म-सुधार (Reformation) एव धार्मिक युद्धों के सकटग्रस्त समय की धार्मिक और राजनीतिक कट्टरता कम हो गई थी तथा पुराने युग की यह मान्यता धूमिल पड़ती जा रही थी कि मनुष्य मूलतः एवं स्वभावतः बुरा होता है। उस समय मैकियावली से लेकर हॉब्स तक के राजदर्शन के मूल मे मानव-स्वभाव सम्बन्धी जो धारणाएँ थी उनमे परिवर्तन आकर यह आशावाद प्रस्फुटित हो चुका था कि मानव स्वभाव की अच्छाई में विश्वास किया जा सकता है और सहिष्णुता एक अनुकरणीय बात है। लॉक पर ऐसे वातावरण का प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक न था। आगे रक्तहीन क्रान्ति ने भी इस प्रभाव को और पुष्ट कर दिया। उसका यह विचार दृढ हो गया कि मनुष्य सामान्यतः शान्तिपूर्ण जीवन की उत्तमता प्राप्त करना चाहते है। "रक्तपात किए बिना जनता को एक राजा को सिंहासन से हटाते हुए और दूसरे को इस आधार पर कि उनकी इच्छाओं को ध्यान मे रखते हुए शासन करेगा, सिंहासन पर बिठाते हुए उसने देखा और इस कारण यह विश्वास उसके हृदय में घर कर गया कि शासन का आधार जनता की सहमति एव जनमत है तथा शासन का उद्देश्य जन-कल्याण है।" लॉक ने बारम्बार इसी बात पर आग्रह किया कि शासन का ध्येय समाज का हित है।

हॉब्स ने मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों के दर्शन किए, जबकि लॉक ने उसके मानवीय गुणों पर बल दिया। हॉब्स ने कहा कि मनुष्य मे सामाजिकता जैसी कोई वस्तु नही होती। वह जन्म से लड़ाकू, स्वार्थी और असामाजिक प्राणी होता है। दया और सहानुभूति उसके मौलिक स्वभाव से मेल नहीं खाती। मनुष्य केवल उन्ही वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है जिनसे उनकी कोई स्वार्थसिद्धि होती है। लेकिन हॉब्स के सर्वथा विपरीत लॉक ने मनुष्य की एक बड़ी विशेषता उसका बुद्धिमान (Rational) एवं विचारशील प्राणी होना स्वीकार किया और बतलाया कि मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता को स्वीकार करके उसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है। मनुष्य सहयोगी तथा सामाजिक होता है। वह समाज-प्रिय एव प्रेम तथा दया का पोषक होता है। शान्तिप्रियता और नैतिकता मे उसकी आस्था होती है तथा एकता और अच्छाई में वह विश्वास करता है। लॉक के शब्दों मे, "सब मनुष्य प्रकृति से एक समानता की अवस्था मे हैं, जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार-क्षेत्र पारस्परिक हैं तथा किसी को एक-दूसरे से अधिक प्राप्त नहीं है क्योंकि इससे अधिक स्पष्ट और कोई बात नही है कि एक ही नस्ल एव वंश की सन्तान, जिन्हें प्रकृति के सब लाभ समान रूप से प्राप्त

होते हैं, बिना किसी आधिपत्य अथवा अधीनता के परस्पर भी समान हों।"[1] लॉक के इस कथन का अभिप्राय यह नहीं कि मनुष्य शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों में ही समान हैं, बल्कि इसका अर्थ यह है कि चूंकि सभी व्यक्ति मनुष्य हैं, अतः नैतिक दृष्टि से वे परस्पर समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं। 18वीं शताब्दी में कांट (Kant) ने भी अपने निरपेक्ष आज्ञा (Categorical Imperative) में कहा था कि "विवेकी प्राणी 'मनुष्य' कहलाते हैं क्योंकि उनका स्वभाव ही उनके स्वयं साध्य होने की ओर संकेत करता है और वे केवल साधन की ही भांति प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। वे केवल आत्मगत साध्य ही नहीं हैं जिनके अस्तित्व का मूल्य हमारे लिए हमारे कार्यों के परिणाम के रूप में ही हो, अपितु वे विषयगत साध्य भी हैं, जिनका अस्तित्व ही स्वयं साध्य है। अतः निरपेक्ष आज्ञा यह है कि इस प्रकार कार्य करो कि मानवता को, चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व में हो अथवा दूसरे के में, प्रत्येक दशा में, साध्य समझो, केवल साधन कभी भी नहीं।"[2] लॉक के विचार में भौतिक एवं बौद्धिक असमानता से मनुष्यों की नैतिक समानता पर प्रभाव नहीं पड़ता।

स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति की धारणा में जहाँ हॉब्स का मनुष्य कोरा पशु है वहाँ लॉक का मनुष्य एक नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने वाला एवं तदनुसार आचरण करने वाला प्राणी है।[3] यद्यपि हॉब्स के समान लॉक भी यह स्वीकार करता था कि सम्पूर्ण मानव-क्रियाओं का स्रोत इच्छा है और इच्छा की सन्तुष्टि से सुख एवं इच्छा-पूर्ति में बाधा से दुःख की अनुभूति होती है एवं मानवीय कर्म का उद्देश्य सुख की प्राप्ति करना है, तथापि वह हॉब्स की इस मौलिक धारणा से बहुत दूर था कि मनुष्य संघर्षशील, अहंकारवादी और आक्रान्ता प्राणी है। लॉक यह मानता था कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, सदैव सत्य नहीं बोलते, आदमियों की हत्या भी करते हैं, लेकिन उसकी दृष्टि में मूल रूप में वे सौजन्यपूर्ण शान्तिप्रिय एवं सामाजिक होते हैं तथा उनमें स्वशासन की सामर्थ्य होती है। मनुष्य को यह ज्ञान है कि सत्य बोलना चाहिए, हत्या नहीं करनी चाहिए। यह विवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है। लॉक की दृष्टि में यह विवेकशीलता मनुष्य का व्यापक गुण था। उसने प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिए गए विवेक अथवा बुद्धि के प्रकाश को 'दैविक प्रकृति स्फुलिंग' कहकर पुकारा। उसके अनुसार यह प्रकाश ही मानव को उस प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक नियम के अनुसार आचरण करने की शक्ति देता है जो सम्पूर्ण वस्तुओं में निहित है।

हॉब्स का मनुष्य घोर स्वार्थी एवं संघर्षप्रिय होने के कारण प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में आसुरी गुणों को व्याप्त किए रहता था। इसी कारण प्राकृतिक अवस्था में 'प्रत्येक का सबके विरुद्ध युद्ध' की अवस्था थी। इसके विपरीत लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था, "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और रक्षा की अवस्था" थी। मनुष्य शान्ति के साथ निवास करते थे। वे उस समय पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे और अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते थे किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता अथवा स्वेच्छाचारिता में ही थी क्योंकि प्राकृतिक विधि मानवीय अधिकारों और कर्त्तव्यों की पूरी तरह से व्यवस्था करती थी। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक विधि (Natural Law) द्वारा होता था। लॉक की भी यही मान्यता थी कि विवेक पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है क्योंकि व्यक्ति स्वयं जैसे अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरों के जीवन को नष्ट नहीं कर सकता। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता उसे वैसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। प्राकृतिक अवस्था में "मनुष्यों को अपना कार्य करने एवं अपनी सम्पत्ति तथा अपने शरीर का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यद्यपि यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक नियमों की

1 *Locke* : Of Civil Government (vide supra. p. 152 note 2)
2 *Kant* . Theory of Ethics, pp. 44-46, Translated by P. K Abbott.
3 *Jones* . Masters of Political Thought, p 162

सीमाओ के अन्दर होती थी, तथापि उसके लिए किसी दूसरे मनुष्य की अनुमति नही लेनी पड़ती थी और उसे किसी की इच्छा पर निर्भर नही रहना पड़ता था।"

इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृतिक नियमो से नियन्त्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक अवस्था हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था की भाँति भयावह एव सघर्षमय नही थी, वरन् यह भ्रातृत्व तथा न्याय-भावना से आच्छादित थी। हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था मे भय और हिंसा का साम्राज्य था तथा जीवन दीन-हीन, एकांगी, कुत्सित, पाशविक एव लघु था जबकि लॉक के मतानुसार यह अवस्था न स्वार्थपूर्ण थी, न जगली और न आक्रान्ता। लॉक की प्राकृतिक अवस्था वैसी अन्धकारपूर्ण स्थिति वाली नही थी जैसी कि हॉब्स की थी। सेबाइन के अनुसार उसकी "प्राकृतिक अवस्था का एकमात्र दोष यह है कि इसमे मजिस्ट्रेटो, लिखित नियमो और नियत दण्डो की कोई व्यवस्था नही है जिससे कि अधिकार सम्बन्धी नियमो को मान्यता दी जा सके। जो चीज सही है या गलत है, वह हमेशा ही ऐसी रहती है। भावात्मक या सकारात्मक विधि आचरण के विभिन्न प्रकारो मे किसी नैतिक गुणवत्ता का समावेश नही करती। वह उन्हे कार्यरूप मे परिणत करने का साधनमात्र प्रस्तुत करती है। प्राकृतिक अवस्था मे प्रत्येक मनुष्य अपने स्वत्व की, जिस प्रकार भी हो सकता है, रक्षा करता है। इस अवस्था में उसे अधिकार होता है कि वह अपनी चीज को प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था मे उसे अधिकार होता है कि वह अपनी चीज़ की तो रक्षा करे और उसका कर्त्तव्य होता है कि वह दूसरे की चीज का सम्मान करे। उसका यह अधिकार उतना ही पूर्ण होता है जितना कि किसी शासन के अन्तर्गत।"[1]

प्राकृतिक अवस्था के इस वर्णन मे प्राकृतिक नियम का बार-बार उल्लेख आया है, अतः इसके बारे मे भी दो शब्द लिखना आवश्यक है। लॉक के अपने ही शब्दों मे, "प्राकृतिक अवस्था मे उसे (मनुष्य को) शासित करने के लिए प्राकृतिक नियम होता है जो प्रत्येक को विवश करता है और प्रज्ञा (विवेक) जो कि उस कानून का ही दूसरा नाम है, सम्पूर्ण मानव-जाति को जो उससे काम लेना चाहे, यह सिखाता है कि सब लोग समान तथा स्वतन्त्र है, इसलिए किसी को भी दूसरो के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता एव सम्पत्ति को क्षति नही पहुँचानी चाहिए और समस्त मनुष्यो को दूसरो के अधिकारो पर आक्रमण करने और हानि पहुँचाने से रोका जाना चाहिए। उन सब को उस प्राकृतिक नियम को मानना चाहिए जो शान्ति और सम्पूर्ण मानवता की सुरक्षा चाहता है। प्राकृतिक अवस्था मे प्राकृतिक कानून के क्रार्यान्वित होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह व्यवस्था अथवा कानून का उल्लघन करने वाले को उतना दण्ड दे सके जितना उसका उल्लघन रोकने के लिए आवश्यक हो।"[2]

लॉक ने प्राकृतिक नियम की नैतिक एव तर्कमूलक व्याख्या उपस्थित की। प्राकृतिक अवस्था मे यह नियम प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य करता था और राजनीतिक समाज मे भी यह मानव-जीवन का निर्देशन करता है। विवेक ही प्राकृतिक नियम है। ग्रोशियस ने भी स्पष्ट घोषणा की थी कि सद्विवेक के निर्देश ही प्राकृतिक नियम है। लॉक ने भी बतलाया कि यदि विवेक से हम पूछें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर किसी प्रकार का आघात नही करना चाहिए। लॉक ने यह भी कहा कि प्राकृतिक नियम अथवा विवेक को जानने के लिए मनुष्य को केवल अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करना होगा, क्योकि ईश्वर ने उसे प्रत्येक के हृदय मे आरोपित कर दिया है। ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि करके पृथ्वी पर उसे अवतरित करते समय उसके पथ-प्रदर्शक के रूप मे विवेक प्रदान किया, और वह विवेक ही समस्त मनुष्य को समान, स्वतन्त्र और समाजप्रिय बनाता है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 487
2 *Locke* Essay of Civil Government, Chapter II, Section 6 and 7.

लॉक ने यह स्पष्ट मान्यता प्रकट की कि शान्ति और मानव समाज की रक्षा की आकांक्षा व्यक्त करने वाले प्राकृतिक नियम प्राकृतिक अवस्था मे वर्तमान थे और इन्ही नैतिक प्राकृतिक नियमो की अधीनता मे व्यक्ति को अपने प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। प्राकृतिक नियम की उपस्थिति ही प्राकृतिक अवस्था को सहनीय और सामाजिक बनाती थी। लॉक के अनुसार तीन अधिकार प्राकृतिक अवस्था मे वर्तमान थे—(i) जीवन का अधिकार, (ii) स्वतन्त्रता का अधिकार, एव (iii) सम्पत्ति का अधिकार।

सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार—लॉक ने अपने ग्रन्थ 'ट्रीट'इज़' मे आद्योपान्त इस बात पर सर्वाधिक बल दिया कि राज्य के निर्माण का मुख्य उद्देश्य ही नागरिको के जीवन, उनकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के उन प्राकृतिक अधिकारो को सुरक्षित करना है जिनका उपभोग वे प्राकृतिक अवस्था मे करते थे। जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकारो पर प्रकाश पूर्वोक्त वर्णन मे पड़ चुका है। अतः हम लॉक द्वारा प्रतिपादित सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर ही यहाँ विस्तार से चर्चा करेंगे। यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—इतना कि लॉक ने इसमे (सम्पत्ति शब्द मे) कभी-कभी तो जीवन और स्वतन्त्रता को भी सम्मिलित कर दिया है।

लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था मे भी सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित था और क्रियान्वित होता था। उस युग मे सम्पत्ति इस अर्थ मे समझी जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति से अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री प्राप्त करता था। सेबाइन के अनुसार, "यहाँ भी वह सुदूरभूत के विचारो को ला रहा था।" मध्ययुग मे यह विचार असामान्य न था कि समान स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा अधिक पूर्ण और इसीलिए अधिक स्वाभाविक होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति तो मनुष्य के पतन का उसके पाप का चिह्न है। रोमन विधि मे इससे बिल्कुल भिन्न सिद्धान्त पाया जाता था जो यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म उसी समय हुआ जब लोगो ने वस्तुओ पर अनाधिकार कब्जा करना आरम्भ कर दिया। इससे पूर्व सब लोग मिल-जुल कर चीजो का इस्तेमाल करते थे यद्यपि उस समय भी सामुदायिक स्वामित्व नही था। लॉक ने इन दोनो सिद्धान्तो से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि "जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है।" लॉक ने इस तरह वैयक्तिक स्वामित्व का सिद्धान्त प्रकट किया। उसने बतलाया कि ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियो को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। व्यक्ति का शरीर ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है जिस पर एकमात्र उसका अधिकार होता है। जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओ के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना देता है। उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति किसी जमीन पर चहार-दीवारी बनाता है या उसे जोतता है तो वह उसकी हो जाती है। लॉक के ही शब्दो मे, "उस ईश्वर ने, जिसने विश्व को मनुष्य की सामान्य सम्पत्ति बनाया है, मनुष्यो को बुद्धि भी प्रदान की है ताकि वे जीवन के अधिकाधिक लाभ एव सुविधा के लिए उसका प्रयोग कर सकें।" यद्यपि संसार में जो फल स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं और जो पशु इसमे पाए जाते हैं, वे मानव-जाति की सामान्य सम्पत्ति होते हैं, और किसी भी व्यक्ति का उन पर एकाकी निजी अधिकार नही होता, तथापि प्रकृति की जिन वस्तुओ को वह अलग कर लेता है और जिनके साथ वह अपना श्रम मिला देता है और उनमे एक ऐसी चीज का सम्मिश्रण कर देता है जो उसकी निजी है; तो वे वस्तुएँ उसकी निजी सम्पत्ति बन जाती हैं। लॉक के समय मे अमेरिका जैसे नए उपनिवेशो मे यही हो रहा था और उस पर वहाँ के उदाहरणो का प्रभाव पडा था। लॉक ने यह भी कहा कि श्रम से ही मूल्य का निर्धारण होता है किन्तु वह श्रम को मूल्य का मुख्य स्रोत मानता था, विनियम हेटी तथा कार्ल मार्क्स की तरह उसने मूल्य का माप नहीं, उसका कहना था कि श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है और इसी से वस्तुओ का मूल्य निश्चित होता है। सामान्यतः वस्तुओ की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि उनके सम्बन्ध मे कितना परिश्रम किया गया है। लॉक के सिद्धान्त ने परवर्ती

शास्त्रीय और समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओ के श्रम सम्बन्धी मूल्य सिद्धान्तों (Labour Theories of Value) का मार्ग प्रशस्त किया। लॉक ने यह विश्वास प्रकट किया कि "व्यक्तिगत कृषि-अर्थ-व्यवस्था मे आदिम काल की सामूहिक काश्त की अपेक्षा उत्पादन अधिक अच्छा होता है।"

लॉक ने यह कहा कि सम्पत्ति उतनी ही उचित है जितनी किसी के निर्वाह के लिए आवश्यक है। जमीन की सम्पत्ति उतनी ही अपेक्षित है जितनी कोई जोत सके और जिसकी उपज को वह अपने उपयोग में ला सके। लॉक असीम सम्पत्ति के पक्ष में कदापि नहीं था।

लॉक के व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त से स्पष्ट है कि व्यक्ति का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदिम समाज से, जिसे लॉक ने प्राकृतिक अवस्था कहा, पहले का है। लॉक के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए सेबाइन ने लिखा है, "यह एक ऐसा अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज मे आता है। इस प्रकार समाज अधिकार की सृष्टि नही करता और कुछ सीमाओ को छोड़कर उसका विनियमन भी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि समाज और शासन दोनों का उद्देश्य सम्पत्ति के पूर्ववर्ती अधिकार की रक्षा करना है।"[1]

सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार का लॉक ने नैतिक दृष्टि से पोषण किया है क्योकि उसका कथन है कि सम्पत्तिवान ने सम्पत्ति के साथ अपना श्रम 'मिश्रित' कर लिया है। सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार के पोषक के रूप में लॉक मध्यम वर्ग के हित-चिन्तको के रूप मे हमारे सामने आता है। लॉक के प्राकृतिक अधिकारवाद के पोषण का इङ्गलैण्ड और तत्पश्चात् अमेरिका मे बड़ा प्रभाव पड़ा क्योंकि इस सिद्धान्त के सहारे मध्यम वर्ग ने चर्च और सामन्तशाहो के परम्परागत अधिकारो के विरोध में सम्पत्ति प्राप्त करने और आवश्यक हस्तक्षेप से उसको सुरक्षित करने में बड़ी सहायता प्राप्त की। आज के युग में प्राकृतिक अधिकारवाद भले ही अनैतिहासिक, कृत्रिम और अप्रासंगिक प्रतीत हो किन्तु उस समय यह एक क्रान्तिकारी अस्त्र था। राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य सम्पत्ति का रक्षण बतलाकर लॉक ने पश्चिमी सभ्यता की भौतिकवादी दृष्टि को पुष्ट किया।

अन्त में यह भी स्मरणीय है कि प्राकृतिक अधिकारों को प्रकट करने के लिए लॉक ने 'जीवन स्वतन्त्रता और सम्पदा' शब्दावली प्रयुक्त की है। सेबाइन का मत है कि "उसने न तो यह कभी कहा और न उसका यह विश्वास ही था कि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृतिक अधिकार नही है, किन्तु 'लॉक' जहाँ कहीं किसी अधिकार के सम्बन्ध मे कुछ कहना चाहता है, वह 'सम्पत्ति' शब्द का प्रयोग करता है चूँकि सम्पत्ति ही एकमात्र ऐसा अधिकार है जिसकी उसने विस्तार से परीक्षा की है, अतः स्पष्ट है कि इस अधिकार को उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है।" चाहे कुछ भी स्थिति हो उसने समस्त प्राकृतिक अधिकारो को सम्पत्ति के समान ही माना है। इसका अभिप्रायः यह है कि उसने प्राकृतिक अधिकारो को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार किया है अतः ये अधिकार समाज तथा शासन के प्रति व्यक्ति के अनुलंघनीय दावे हैं। इन दावों को कभी निराकृत नही किया जा सकता क्योंकि समाज का उद्देश्य ही उनकी रक्षा करना है। समाज उन पर उतना ही नियन्त्रण रख सकता है। जितना उनकी रक्षा के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दो में "एक व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा पर उसी सीमा तक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है जिस सीमा तक इस कार्य से दूसरे व्यक्तियो के ऐसे ही अधिकारों की रक्षा करने मे सहायता प्राप्त होती है।"

प्राकृतिक अधिकारों, विशेषकर सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर चर्चा करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य बुद्धिपूर्वक प्राकृतिक विधान का पालन करते हुए एक-दूसरे के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के तीनों अधिकारो का सम्मान करते हैं और इसलिए यह अवस्था हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से मौलिक रूप से भिन्न हो जाती है क्योंकि हॉब्स

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 488.

के अनुसार इस अवस्था मे मनुष्य अपने स्वार्थ मे अन्धा होकर बुद्धि और विवेक को तिलाञ्जलि देते हुए हिंसा, हत्या और युद्ध का वातावरण व्याप्त किए रहते है।

अब लॉक के अनुसार जब प्राकृतिक अवस्था सुन्दर, सुखदायक और शान्तिमय थी तो प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थिति का अन्त करके राज्य का निर्माण करने तथा स्वयं को अपने ही साथियों के अनुशासन के अधीन रख देने की इच्छा व्यक्ति मे क्यों जाग्रत हुई? जहाँ तक हॉब्स का प्रश्न है, उसके द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था से राज्य का निर्माण करने का उद्देश्य छिपा नही है किन्तु लॉक के समक्ष हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करके शान्ति की खोज जैसा कोई उद्देश्य प्रतीत नही होता। लॉक ने 'द्वितीय ट्रीटाइज' जिसे 'Essay of Civil Government' भी कहते हैं, के 7वें अध्याय मे लिखा है कि "भगवान ने मानव रूपी एक ऐसे प्राणी की रचना करके, जिसका उसके मतानुसार अकेला रहना श्रेयस्कर न था, उसे आवश्यकता सुविधा और सामाजिक जीवन-यापन करने की प्रवृत्ति की तीव्र भावनाओं से ओत-प्रोत कर दिया और इसके साथ ही साथ उसे समाज को कायम रखने तथा उसका आनन्दोपभोग करने के लिए बुद्धि एव भाषा भी प्रदान की।" तात्पर्य यह हुआ कि लॉक का विश्वास था कि मनुष्य का आन्तरिक स्वभाव उसे सामाजिक समूह बनाने को प्रेरित करता है और ऐसा प्रथम समूह परिवार है। राज्य और सरकार का उदय तो परिवार के बाद हुआ। यद्यपि अरस्तू के समान ही लॉक मनुष्य को एक सामाजिक अथवा राजनीतिक प्राणी स्वीकार करने से इन्कार नही करता लेकिन मनुष्य की सामाजिकता को वह राज्य की उत्पत्ति का कारण नही मानता। चूंकि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का जीवन उसके सामाजिक स्वभाव की आवश्यकताओ को पूरा करने मे समर्थ था, अत. लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के कारणो की खोज दूसरे ही क्षेत्र मे की। उसने अनुभव किया कि प्राकृतिक अवस्था के सौम्य जीवन मे भी कुछ बडी कमियाँ थीं जिनके कारण अन्तत: वह अवस्था असह्य हो गई और अनुबन्ध जनित राज्य कायम हुआ तो अब हमे देखना चाहिए कि प्राकृतिक अवस्था की वे कौन-सी असुविधाएँ थी जिनके कारण राज्य के निर्माण की आवश्यकता हुई?

प्राकृतिक अवस्था की असुविधाएँ—लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था का समाज सतत् युद्धरत समाज नही था फिर भी दुर्भाग्यवश वह ऐसा समाज अवश्य था जिसमे शान्ति की पूर्ण व्यवस्था नही थी। उस समाज के कुछ व्यक्ति नीच और क्षुद्र थे जो समय-समय पर उस समाज की शान्ति भग कर देते थे। प्राकृतिक अवस्था मे सभी स्वतन्त्र थे तथापि स्थिति कुछ ऐसी थी कि सभी को भय बना रहता था। उस समय सभी की निम्नलिखित तीन प्रमुख असुविधाएँ थी—

(1) प्राकृतिक नियम की कोई स्पष्ट परिभाषा नही थी,
(2) उसकी परिभाषा करने वाला कोई योग्य अधिकारी नही था, एवं
(3) कोई भी ऐसा नही था जो प्रभावशाली रूप में उसे लागू करता।

स्पष्ट है कि प्राकृतिक अवस्था मे विभिन्न व्यक्ति अपनी विभिन्न बुद्धियो और स्वार्थ-भावनाओ के वशीभूत होकर प्राकृतिक नियमो की विविध-रूपो मे व्याख्या करते थे, अत. प्राकृतिक नियम की कोई सुनिश्चित परिभाषा नही हो पाती थी। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक नियम एव इसके अनुरूप निर्णयो को लागू करने की दृष्टि से किसी साधन अथवा संस्था का अभाव भी था। स्थिति यह भी थी कि, प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक नियम को लागू करने और उसे भग करने वाले को दण्ड देने का अधिकारी था। वह स्वय अपने ही मामले मे किसी का भी न्यायाधीश बन जाता था। ऐसी स्थिति मे निष्पक्ष न्याय एव न्याय-पद्धति की एकरूपता सम्भव न थी। परिणामत: जीवन असुरक्षित एव अनिश्चितता का सा होने लगा था। इन्ही असुविधाओ का अन्त करने के लिए, अनिश्चितता और गडबडी को रोकने के लिए, नियमो का उल्लघन करने वालो को दण्ड देने वाली निष्पक्ष न्यायकारी शासन-सत्ता की आवश्यकता हुई। इस तरह 'लॉक को, प्राकृतिक नियम को क्रियान्वित करने के उत्तरदायित्व को, पक्षपातपूर्ण

व्यक्तियो से हटाकर अपेक्षाकृत निष्पक्ष समाज को सौप देने का अच्छा कारण मिल गया" और सामाजिक संविदा (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्माण किया गया।

लॉक का सामाजिक संविदा
(Locke's Social Contract)

प्राकृतिक असुविधाओं से राहत पाने के लिए मनुष्य ने न्यूनतम प्रतिरोध का मार्ग (Line of Least Resistance) अपनाते हुए एक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समझौता समाज के सभी व्यक्तियो का सभी व्यक्तियो के साथ किया गया। इस प्रकार समझौते का स्वरूप सामाजिक था। अपनी बाधाओ से सम्बन्धित कुछ अधिकार व्यक्तियों ने समाज को इसलिए अर्पित कर दिए ताकि उसकी सामूहिक सतुलित बुद्धि से असुविधा सुविधा मे बदल जाए। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक व्यक्ति ने सम्पूर्ण समाज को, न कि हॉब्स के समान किसी व्यक्ति या व्यक्तियो की सभा को, अपने वे प्राकृतिक अधिकार समर्पित कर दिए गए जिनके प्रयोग से प्राकृतिक अवस्था मे अव्यवस्था फैलती थी अथवा इनका भय निरन्तर बना रहता था। समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाह्य सकटो की रक्षा करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जिन प्राकृतिक अधिकारो का परित्याग किया गया वे ये थे —स्वयमेव प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने तथा इसके उल्लघनकारी को दण्ड देने के अधिकार। व्यक्तियो ने कुछ अधिकार जो अदेय थे अपने पास ही रखे, यथा जीवनाधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि। अपने त्याग के कारण ही प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियो ने अधिकतर सुरक्षा तथा सुनिश्चित उपभोग (Greater Security and Secure Enjoyment) का लाभ पाया।

लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते के विश्लेषण से प्रतीत होता है—

(i) व्यक्ति हॉब्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारो का त्याग नही करता। वह केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने और भग करने वालो को दण्ड देने के अधिकारो को छोडता है और शेष सब अधिकार राज्य मे उसी के पास सुरक्षित रहते है और राजनीतिक नियन्त्रण को मर्यादित करते हैं। समझौते द्वारा कोई भी व्यक्ति स्वय की स्वतन्त्रता पर केवल वही बन्धन स्वीकार करता है जो दूसरे के आक्रमण से सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

(ii) हॉब्स के समान व्यक्तियो द्वारा अपने अधिकार 'लेवियाथन' जैसे व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह को न दिए जाकर सम्पूर्ण समुदाय (Community) को समष्टि रूप से प्रदान किए जाते हैं।

(iii) लॉक के समझौते से उत्पन्न समाज अथवा राज्य मे हॉब्स के 'लेवियाथान' के समान असीम अधिकार सम्पन्न, सर्वशक्तिशाली एवं प्रभुसत्ताधारी नहीं हैं अपितु वह दोहरे नियन्त्रण से युक्त हैं। एक तो व्यक्ति अपने पास जो अदेय अधिकार रखता है वे राज्य-शक्ति को मर्यादित करते हैं और दूसरे प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने और उसे लागू करने वाला राज्य स्वय भी उससे बाधित है, ठीक उसी तरह जिस तरह उससे व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था मे था। लॉक के स्वय के शब्दो मे, "प्राकृतिक कानून की बाध्यताएँ समाज मे समाप्त नही होती। इस दोहरे नियन्त्रण को इस तरह भी प्रकट किया जा सकता है कि राज्य 'व्यक्तियो के मन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारो का सम्मान करता है और साथ ही प्राकृतिक कानून का स्वय भी पालन करता है।" साराँश यह है कि लॉक के समझौते से उत्पन्न समाज हॉब्स के समान असीम और अमर्यादित अधिकार नही रखता। यह समाज लोगो के अन्य अधिकारो एव प्राकृतिक कानून का अतिक्रमण करने पर कर्त्तव्यच्युत होता है और तब जनता उसके विरुद्ध विद्रोह की अधिकारिणी है। लॉक का समाज 'दासता का पट्टा नही' स्वतन्त्रता का पत्र है।"

(iv) लॉक का समझौता सर्वसम्मति से सम्पन्न हुआ है। वह जन-इच्छा पर आधारित है। कोई भी व्यक्ति इस नवीन समाज मे सहमति (Consent) के बिना प्रविष्ट नही हो सकता। "सहमति ही जिसमें प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।"

) सविदा को मान्य होने के लिए प्रत्येक पीढ़ी द्वारा उसे पुन स्वीकार किया जाना आवश्यक है। राज्य के प्रत्येक नागरिक के बालक सर्वथा स्वतन्त्र रूप मे जन्म लेते है। उन पर राज्य की सदस्यता अनिवार्यत: नही थोपी जा सकती। उन्हे इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वे राज्य मे सम्मिलित हो अथवा न हो, चूंकि समझौता एक बार हो चुका है अत उसे पुन. दोहराने की आवश्यकता नही है। सन्तति की सहमति पाने की समस्या का लॉक यह कहकर निवारण करता है कि यदि बडे अर्थात् परिपक्व अवस्था प्राप्त होने पर वे अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओ को स्वीकार करते हैं तो उसका यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि उन्होंने मूल सविदा के समर्थन में अपनी सहमति प्रदान कर दी है। किन्तु ऐसा न करने और राज्य से बाहर चले जाने पर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नही रह सकते। वे उससे वंचित हो जाते हैं। लॉक का यह दृष्टिकोण निश्चय ही व्यावहारिक नही है, चाहे सैद्धान्तिक रूप से इसमे कुछ सार भले ही हो।

(vi) लॉक का समझौता एक बार हो जाने पर कभी रद्द न हो सकने वाला (Irrevocable) है। यहाँ वह हॉब्स के समकक्ष ही है। हाँ, यह अवश्य है कि निर्मित सरकार यदि किसी संकटवश विनिष्ट हो जाए; तो उसका पुनर्निर्माण हो सकता है।

(vii) सर्वसम्मति से निर्मित होने वाले राजनीतिक समाज (Civil Society) मे बहुमत के शासन (Majority Rule) का सिद्धान्त अनिवार्यत निहित है। अल्पसख्यको को बहुमत की इच्छा का पालन करना चाहिए, चूंकि इस सिद्धान्त को स्वीकार करना सामाजिक व्यवस्था के संचालन और सामूहिक कार्यो को सम्भव बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है। संविदा की यह महत्त्वपूर्ण शर्त है जिसके उल्लघन पर वह सर्वथा महत्त्वहीन हो जाता है। लॉक के शब्दो मे—"प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के साथ एक सरकार की अधीनता मे एक राज्य के निर्माण करने की अनुमति देता है। इस प्रकार वह अपने-आपको बहुमत के निर्णय के सामने झुकने तथा उससे संचालित होने के लिए बाधित करता है अन्यथा वह मूल सविदा जिसके द्वारा उसने दूसरो के साथ मिलकर समाज की रचना की है, निरर्थक हो जाएगी और वह सविदा ही नही रहेगी।" आगे एक स्थान पर वह कहता है—"कोई भी समुदाय अपना कार्य अपने सदस्यो की सहमति द्वारा ही कर सकता है। चूंकि यह समुदाय एक इकाई होता है, अतः समग्र समुदाय की एक निर्दिष्ट नीति होना आवश्यक है। इकाई उसी दिशा मे अग्रसर हो सकती है जिस ओर सर्वाधिक झुकाव हो। इसी प्रकार समुदाय की भी वह नीति हो सकती है, जिसको उसके अधिकांश सदस्यो का अनुमोदन प्राप्त हो।" इस सम्बन्ध मे सेबाइन ने भी लिखा है कि "लॉक के सिद्धान्त में एकता का आधार यह है कि जो कार्य समुदाय के सदस्यो के बहुमत से होता है, वह समुदाय का ही कार्य माना जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति दूसरो की सहमति में राजनीतिक समाज का निर्माण करने के लिए तैयार होता है, तब वह इस बात के लिए बाध्य हो जाता है कि वह बहुमत के निर्णय को शिरोधार्य करे। इस सम्बन्ध मे पुफेन डोर्फ ने ठीक ही कहा था कि "सामाजिक सविदा की कल्पना को पुष्ट करने के लिए सर्वसम्मति की कल्पना का प्रयोग किया जाना चाहिए। बहुमत का समझौता सम्पूर्ण समाज का समझौता माना जा सकता है।"[1]

लॉक की बहुमत वाली धारणा सही है क्योकि किसी भी मानवीय समाज के निर्णयो को पूर्णत सर्वसम्मति पर आश्रित नही किया जा सकता। यह सदैव सम्भव है कि अस्वस्थता, व्यस्तता आदि के कारणो से कुछ व्यक्ति किसी कार्यवाही मे भाग न ले पाएँ, अथवा किसी नीति विशेष से सहमत नही हो अत: सामाजिक व्यवस्था के स्वस्थ संचालन के लिए यह अपरिहार्य है कि बहुमत का अल्पमत सम्मान करे। लॉक यहाँ पर एक गम्भीर असगति का शिकार है। उसके बहुमत के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार वास्तविक हैं तो उसे उन अधिकारों से वंचित नही किया जाना चाहिए—चाहे वंचित करने वाला एक अत्याचारी हो अथवा

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 200.

बहुमत हो । सम्भवत: लॉक को यह नहीं सूझा कि बहुमत भी अत्याचारी हो सकता है । यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने निजी निर्णय की इसलिए क्यों अपेक्षा करे कि जो लोग उससे सहमत नहीं है, वे बहुमत में हैं । यदि जनता अथवा समुदाय एक इकाई है, तो यह समझ मे नहीं आता कि उसका निर्णय बहुमत के आधार पर ही क्यों हो ?

लॉक के समझौते की इस व्यवस्था के बाद हम उसके सिद्धान्त की अस्पष्टता पर आते हैं। मुख्य कठिनाई यह है कि वह बार-बार मूल समझौते (Original Contract) का उल्लेख करता है, किन्तु स्पष्ट रूप से यह कहीं नहीं बतलाता कि उसका मूल-संविदा से अभिप्राय क्या है ? यह समाज है या सिर्फ शासन ? लॉक कहता है कि राजनीतिक क्रान्ति जो शासन का विघटन कर देती है, शासन द्वारा शासित समुदाय का विघटन नहीं करती । वह यह स्पष्ट नहीं करता कि—शासन अथवा सरकार का निर्माण मूल संविदा के अतिरिक्त किसी अन्य संविदा से हुआ था अथवा कब और कैसे हुआ ? इस कठिनाई के निराकरण मे सेबाइन ने कहा है कि "एल्यूसियस तथा पुफेन डोर्फ जैसे महाद्वीपीय लेखकों ने दो संविदाओं की कल्पना की थी । एक संविदा तो व्यक्तियों मे आपस मे हुआ था जिसके परिणाम-स्वरूप समुदाय का जन्म हुआ । दूसरा संविदा समुदाय और शासन में हुआ । लॉक ने कुछ-कुछ यही दृष्टिकोण ग्रहण किया है, यद्यपि उसने इसका निराकरण कहीं नहीं किया । दो संविदाओं से कोई स्पष्टीकरण नहीं होता क्योंकि एक संकल्पना को दो अवस्थाओं मे लागू करना उचित नहीं है लेकिन इससे सिद्धान्त की औपचारिक स्पष्टता प्राप्त होती है । लॉक औपचारिक स्पष्टता को कोई महत्त्व नहीं देता था इसलिए उसने दो दृष्टिकोणों के समन्वय से ही सन्तोष कर लिया ।" इस सम्बन्ध मे वॉहन (Vaughan) का मत है कि यद्यपि लॉक ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी वह दो प्रकार के समझौते मानता है । पहले के द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त हो जाता है और उसकी जगह नागरिक या राजनीतिक समाज (Civil Society) की स्थापना होती है । जब पहला समझौता हो जाता है तो लोग सामूहिक रूप मे दूसरा समझौता करते हैं—शासन-विषयक समझौता । इसके द्वारा मूल समझौते मे स्वीकार की गई शर्तों को लागू करने के लिए एक सरकार की व्यवस्था की जाती है ।

वॉहन के विपरीत अन्य लेखकों की धारणा है कि लॉक का संविदा दोहरा नहीं है क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है । यद्यपि वह राज्य और सरकार में विभेद करता है लेकिन वह लक्षण द्वारा भी ऐसा कोई संकेत नहीं करता कि शासन का निर्माण दूसरे संविदा द्वारा होता है । एक संविदा की धारणा का समर्थन करने वालों का कहना है कि लॉक ने निश्चय ही एक मूल एवं प्रधान संविदा की चर्चा की थी जिसमे समान व्यक्तियों ने नागरिक- सभ्य समाज की स्थापना का उद्घोष किया । सरकार के निर्माण हेतु कोई दूसरा संविदा नहीं किया गया क्योंकि लॉक के अनुसार संविदा मे उभयपक्षीय समानता अपेक्षित है, पर सरकार और समाज मे यह समानता नहीं है । समाज उच्चकोटि की अवस्था है और सरकार उसके समकक्ष न होकर उसके आदेशाधीन है तब यह सोचना भ्रामक है कि लॉक द्वारा दो संविदाओं की सृष्टि की गई है । प्रो बार्कर का स्पष्टीकरण है कि "मानव-इतिहास मे एक ही सामाजिक अनुबन्ध हुआ, राजनीतिक स्वरूप उसका उपांग था । नागरिक से समाज का जन्म हुआ, अनुबन्ध के फलस्वरूप राज्य तो प्रन्यास-अभिलेख (Trust-deed) के समय आया ।"

उल्लेखनीय है कि एक राजनीतिक समाज सरकार के बिना न तो जीवित ही रह सकता है और न कार्य ही कर सकता है, अत: ऐसे समाज का प्रथम कार्य सरकार या शासन की स्थापना करना होता है ताकि वह समाज मे जीवन, सम्पत्ति आदि की रक्षा कर सके । लॉक के शब्दों मे, "कोई भी राजनीतिक समाज अपने समस्त सदस्यों को दण्डित करने की शक्ति के अभाव मे न तो हो सकता है और न अपना अस्तित्व ही बनाए रख सकता है । अत: राजनीतिक समाज केवल वहीं हो सकता है जहाँ प्रत्येक सदस्य ने अपनी प्राकृतिक शक्ति का परित्याग करके उसे सम्पूर्ण समाज के हाथों में सौंप दिया

हो ।....जो लोग एक समाज में संगठित होते हैं और एक सामान्य कानून तथा न्यायपालिका की स्थापना करते हैं, जिसे उनके झगड़ों का निर्णय करने तथा अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार होता है, वे एक राजनीतिक समाज में एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।" इससे अभिप्राय यही है कि राजनीतिक समाज का निर्माण तभी पूर्ण समझा जा सकता है जब वह सरकार की स्थापना करे। सरकार-निर्माण द्वारा ही समाज-स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति हो पाती है। परिणाम यही निकलता है कि समझौता एक हुआ या दो समझौते हुए—यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैसे प्रतीत नहीं होता कि समझौता एक हुआ। व्यक्तियों ने सभ्य नागरिक समाज को सबसे पहले नियम-निर्धारण का अधिकार दिया जो विधायक-शक्ति का पूर्वाभास है फिर उस समाज को अपराध-निर्णय, दण्डविधान तथा नीति-क्रियान्वयन के अधिकार भी सौंपे गए। इस समर्पण या हस्तान्तरण से न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के रूप स्थिर किए गए। इन अधिकारों से सुसज्जित होकर समाज अधिक व्यवस्थाबद्ध हो गया और कालान्तर में उसने शासन की स्थापना की जो इन शक्तियों (विधायिनी, कार्यकारिणी तथा न्यायदायिनी) की सन्तुलित व्यवस्था करती। इसके साथ ही यह भी मान लिया गया कि बहुमत का निर्णय ही सर्वमान्य होगा। इस प्रकार व्यक्ति के आंशिक हस्तान्तरण द्वारा अनुबन्ध का सूत्रपात किया गया। पहले व्यक्तियों ने मिलकर नागरिक समाज बनाया, फिर समाज ने सरकार बनाई और उसे केवल वे ही अधिकार दिए जो व्यक्ति ने समाज को सौंपे थे। व्यक्ति, समाज, विधानसभा, कार्यकारिणी, न्यायपालिका इस क्रम से अनुबन्ध के परिणाम विकसित हुए।

एक प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त समझौता एक ऐतिहासिक तथ्य है अथवा केवल एक दार्शनिक धारणा? लॉक इसे दार्शनिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक सत्य भी मानता है। ट्रीटाइज के 14वें वर्ग में लिखे उसके शब्दों से जाहिर है कि "मनुष्यों के बिना न संसार कभी था, न कभी होगा" संविदा को ऐतिहासिक तथ्य बनाते हैं और 15वें वर्ग के अन्त में लिखे गए शब्द—"मेरा कहना है कि समस्त मनुष्य तब तक उस अवस्था में रहते हैं जब तक कि वे अपनी अनुमति से एक राजनीतिक समाज की रचना नहीं कर लेते" संविदा की एक दार्शनिक धारणा सिद्ध करते हैं। किन्तु लॉक के राजदर्शन को तभी भली प्रकार समझा जा सकता है जब हम उसका सम्बन्ध राजनीतिक समाज के आन्तरिक न्याय (Logic) से मान लें न कि ऐतिहासिक जन्म से। लॉक स्वयं कहता है कि समाज में मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यक्तियों और समाज के सम्बन्ध को हम सर्वोत्तम रूप से तभी समझ सकते हैं जब हम राज्य को मनुष्यों के पारस्परिक समझौते का फल एवं सरकार को जनता की ओर से एक ट्रस्ट समझें।

डनिंग (Dunning) महोदय का मत है कि "लॉक के सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचारों में ऐसी कोई बात नहीं है जो उसके पूर्ववर्ती दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित न की गई हो।" लेकिन उसकी महती विशेषता यही है कि उसने इसे अत्यधिक सुनिश्चितता प्रदान की और व्यक्तिवादी बनाया। उसने सरकार की सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाकर उसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा स्वीकार किया।

सरकार के कार्य और उसकी सीमाएँ
(Functions of the Government and its Limits)

लॉक के मत में सरकार का उद्देश्य निश्चित है और इसकी शक्ति सीमित है। जनता की सम्पत्ति और नागरिक-हितों का पोषण करना ही सरकार का उद्देश्य है। लॉक ने 'द्वितीय ट्रीटाइज' के 9वें अध्याय में लिखा है कि "मनुष्यों के राज्य में संगठित होने तथा अपने-आपको सरकार के अधीन रखने का मुख्य उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।" यहाँ सम्पत्ति शब्द से अर्थ केवल भौतिक सम्पदा से नहीं है इसके अन्तर्गत जीवन एवं स्वतन्त्रता भी सम्मिलित हैं। सरकार का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह उपद्रवियों और अपराधकर्त्ताओं से समाज की रक्षा करे लेकिन लॉक यह नहीं चाहता कि सरकार के

पास अधिक सत्ता केन्द्रित हो जाए, क्योकि सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीयकरण से अत्याचारीतन्त्र या अन्यायतन्त्र का उदय हो सकता है।

लॉक के अनुसार व्यक्तियो के जीवन, स्वतन्त्रता एव सम्पत्ति की रक्षा के लिए सरकार के तीन कार्य आवश्यक हैं—

(i) न्याय एव अन्याय तथा सम्पूर्ण विवादो के निर्णय के लिए सामान्य मापदण्ड निश्चित करने के व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य।

(ii) समाज एवं नागरिको के हितो की रक्षा करने, युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, अन्य राज्यो से सन्धि करने आदि के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य।

(iii) स्थापित कानूनो के अनुसार व्यक्तियो के पारस्परिक झगडो का निष्पक्ष निर्णय देने सम्बन्धी न्यायिक कार्य।

स्पष्ट है कि लॉक ने सरकार के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी तीनो कार्य बतलाये हैं। उसने यह भी कहा है कि तीनो कार्य परस्पर एक-दूसरे से पृथक् हैं और इन्हे सम्पादित करने वाले व्यक्तियों मे विभिन्न गुणों और शक्तियो का होना अपेक्षित है। उसनें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका मे पृथकता मानते हुए कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीनस्थ बतलाया। उसने कहा "जिन व्यक्तियो के हाथ मे विधि-निर्माण की शक्ति होती है उनमें विधियो को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ मे ले लेने की भी प्रबल इच्छा हो सकती है क्योकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक महान् दुर्बलता है।" लॉक ने यह भी कहा कि कार्यपालिका का सत्र निरन्तर चलना चाहिए, लेकिन व्यवस्थापिका के लिए ऐसा होना आवश्यक नही है। कार्यपालिका पर नियन्त्रण का समर्थन करके लॉक निःसन्देह आधुनिक संविधानवाद का प्रचण्ड प्रणेता और समर्थक सिद्ध हुआ। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य सत्ता-विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार करके लॉक ने बोदाँ और हॉब्स द्वारा प्रतिपादित शक्ति केन्द्रीकरणात्मक सम्प्रभुतावाद का अप्रत्यक्ष रूप से बहिष्कार कर दिया।

लॉक ने बतलाया कि न्यायिक कार्य व्यवस्थापन एव कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों से भिन्न होते है, अतः इन्हे दोनो ही से, अन्यथा कम से कम व्यवस्थापिका से अवश्य पृथक् रखना चाहिए। यह बडा अनुचित कार्य होगा कि विधि-निर्माणकर्त्ताओ को ही विधि का व्याख्याकार बना दिया जाए। लॉक न्यायिक एव कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों मे अन्तर स्वीकार करते हुए भी दोनो कार्यों को एक ही अग को सौंपने के लिए इसलिए तैयार था क्योकि दोनो ही अग अपने कर्त्तव्य-पालन हेतु समाज की सशस्त्र शक्ति की अपेक्षा रखते हैं।

लॉक ने व्यवस्थापिका को सर्वोच्च माना, पर इसकी निरकुशता का समर्थन कदापि नही किया। उसका कहना था कि व्यवस्थापिका से ऊपर जनता है। उसे भी मर्यादा के अधीन रहकर कार्य करना पडता है। व्यवस्थापिका अपनी शक्तियो को केवल उन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रयुक्त कर सकती है जिनके लिए समाज की रचना हुई है। व्यवस्थापिका अपने अधिकार-क्षेत्र मे केवल उन्ही बातो को मान सकती है जो सरकार को समाज द्वारा सौपी जाती है। उसके द्वारा प्राकृतिक अवस्था के समान ही राजनीतिक समाज मे भी मान्य प्राकृतिक कानून के विरुद्ध कोई विधि नही बनाई जा सकती। व्यवस्थापिका के लिए लोगो के अदेय प्राकृतिक अधिकारो का सम्मान करना अनिवार्य है।

व्यवस्थापिका की शक्ति के सम्बन्ध मे लॉक के विचारों की तार्किक मीमांसा करते हुए सेबाइन महोदय ने लिखा है कि—"इगलैण्ड की क्रान्ति के अनुभव के आधार पर लॉक ने यह मान लिया था कि शासन मे विधायी शक्ति सबसे ऊँची होती है तथापि वह यह भी मानता था कि कार्यांग विधि-निर्माण मे भाग ले सकता है। लेकिन, दोनो शक्तियाँ सीमित होती हैं। विधायी शक्ति स्वेच्छाचारी नहीं हो सकती। स्वेच्छाचारी शक्ति तो उन लोगों के पास भी नहीं थी, जिन्होंने उसकी स्थापना की।

थी। वह मनमानी मौखिक आज्ञप्तियो द्वारा शासन नही कर सकती। इसका कारण यह है कि शासन को आज्ञापालन करने वाले ज्ञात विधि और न्यायाधीश से परिचित होते हैं। वह सम्मति का अर्थ बहुमत का निर्णय है। वह अपनी विधायी शक्ति किसी दूसरे को भी नही सौप सकती। यह शक्ति तो वही रहती है जहाँ समुदाय ने उसे प्रतिष्ठित किया है। संक्षेप मे उसकी शक्ति अमानतदारी की है। सर्वोच्च शक्ति जनता के पास रहती है। जब विधान मण्डल जनता की इच्छा के विरुद्ध चलता है, तब जनता उस शक्ति को वापिस ले सकती है। कार्यपालिका की शक्ति और भी सीमित होती है—कुछ तो वह विधानमण्डल के ऊपर निर्भर रहती है और कुछ उसके ऊपर विधि का नियन्त्रण रहता है। स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विधायी और कार्यकारी शक्ति एक ही हाथो मे केन्द्रित न रहे। लॉक ने विधानमण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धो का जो विवरण दिया है, वह राजा और ससद् के वाद-विवाद के किसी न किसी पहलू को प्रकट करता है।"

इस सम्पूर्ण विवरण से प्रकट है कि लॉक उस निरकुश शासन के विरुद्ध था हॉब्स जिसका घोर समर्थक था। सर्वाधिकारी व्यक्ति को बनाकर लॉक ने क्रमश समाज, विधानमण्डल, कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका के अधिकार से समन्वित राज्य की कल्पना की किन्तु अधिकारो के एकत्रीकरण का विरोध किया। उसने सीमित राज्यतन्त्र का समर्थन किया। उसने राज्य को उस जन-सेवक या सरक्षक-संस्था के रूप मे बनाया जिसका स्वामी व्यक्ति था। जन स्वीकृति के आधार पर जन-सेवा का लक्ष्य लेकर राज्य मनुष्यो द्वारा निर्मित साधन था—यह मन्तव्य उसने प्रकट किया।

उल्लेखनीय है कि समाज तथा सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए लॉक ने ट्रस्ट (Trust) शब्द का प्रयोग किया क्योकि वह सरकार को समाज के अधीन रखने का समर्थक था और इस बात पर बल देना चाहता था कि जन कल्याण के लिए स्थापित सरकार ट्रस्ट की अवहेलना करने पर पदच्युत् की जा सकती है। वॉहन (Vaughan) के शब्दो मे, "सविदा के स्थान मे ट्रस्ट की धारणा को अपनाकर लॉक न केवल सरकार के ऊपर जनता के नियन्त्रण की व्यवस्था करता है, बल्कि एक उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात की प्रस्थापना करता है और वह है अनुभव के अनुसार उस नियन्त्रण का दिन प्रतिदिन प्रसरण।"

लॉक के कुछ अन्य विचार
(Some Other Thoughts of Locke)

सरकार के रूप (Forms of Govt)

लॉक ने इस सम्बन्ध मे कुछ अधिक नही लिखा है। वह प्रसगवश सरकार के तीन रूपो की चर्चा करता है। सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि बहुमत अथवा समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। बहुमत या समुदाय सत्ता अपने पास भी रख सकता है अथवा इसे किसी विधायी सत्ता को भी सौप सकता है। यदि विधायी शक्ति वह स्वय अपने हाथ मे रखता है और अपने द्वारा निर्मित कानूनो की क्रियान्विति के लिए कुछ अधिकारियो की नियुक्ति भर कर देता है तो वह सरकार जनतन्त्रवादी है। यदि समाज अथवा बहुमत विधायी-शक्ति कुछ गिने-चुने लोगो एव उनके उत्तराधिकारी को सौंप देता है तो वह सरकार वर्गतन्त्री या कुलीनतन्त्रात्मक (Oligarchic) होती है। यदि विधायी-शक्ति केवल एक व्यक्ति मे निहित है तो वह सरकार राजतन्त्रात्मक (Monarchic) कहलाती है। लॉक सांविधानिक राजतन्त्र को सरकार का सर्वोत्तम रूप मानता है किन्तु उसका यह भी कहना है कि विधायिका चाहे जो रूप धारण करले उसे पवित्र रहना चाहिए और जहाँ जनता ने उसे रखा है वही बनी रहनी चाहिए।

सहिष्णुता (Tolerance)

लॉक का एक महत्त्वपूर्ण योगदान सहिष्णुता के समर्थन मे है। 17वी शताब्दी के धार्मिक सघर्षों की पृष्ठभूमि मे लॉक अत्यन्त उदार वृत्ति का था। धर्म के सम्बन्ध मे उसके पूर्व दो विचारधाराएँ

प्रचलित थी। एक तो हॉब्स की भाँति निरकुश राज्य का समर्थक दल था जो राज्य को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न बनाकर धर्म को अधीनस्थ बनाना चाहता था। दूसरा दल पोप, पादरियो, सामन्तो, आदि का था जिसके अनुसार धर्म राज्य-शक्ति से परे की वस्तु थी। यह दल मानता था कि राजा को केवल प्रशासकीय अधिकार थे, धार्मिक नही। "एक पक्ष के पास शासन की तलवार (Sword of the Imperium) थी जो दैवी कृपा से प्राप्त थी और दूसरे के पास पवित्रता की तलवार (Sword of the Sacredotum) थी और वह भी भगवद् कृपा से आई थी। एक ऐसा दल भी था जो दोनो तलवारो को एक ही शासक के दोनो हाथो के अस्त्र मानता था।"

धार्मिक कट्टरता का युद्ध बहुत दिनो तक चलता रहा और धर्म के नाम पर भीषण अत्याचार किए गए। अन्ततः धार्मिक सहिष्णुता के विचार प्रस्फुटित होने लगे और जब लॉक ने अपने विचार प्रसिद्ध 'Letters on Toleration' मे लिखे तब तक सहिष्णुता के सिद्धान्त का काफी प्रसार हो चुका था।

लॉक ने अपने ग्रन्थ मे सिद्ध किया कि धर्म वैयक्तिक वस्तु है जिससे राज्य का तब तक कोई मतलब नही जब तक धार्मिक गिरोह अव्यवस्था उत्पन्न न कर दे। धर्म मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिकता का सँबल है, हृदय की पवित्र अनुभूति है। व्यक्ति के विश्वास बल-प्रयोग द्वारा परिवर्तित नही किए जा सकते। धर्म-परिवर्तन अन्यायपूर्ण है अतः राज्य के लिए यही उचित है कि वह धार्मिक मान्यताओ का विरोध न करे वरन् उन्हे सन्तुलित और उपयुक्त बनाए रखे। यह कार्य हस्तक्षेप द्वारा सम्भव नही है। राज्य की कार्य-पद्धति बल-प्रयोग की है और धर्म के क्षेत्र मे बल प्रयोग करना व्यर्थ है क्योकि इस साधन से किसी के मन और हृदय को जीता तथा बदला नही जा सकता। धर्म एक बौद्धिक क्रिया है जिसका यन्त्र हृदय-परिवर्तन है। दमन से धर्म का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

लॉक ने धर्मान्धता के कारण जनता पर किए जाने वाले अत्याचारो की गाथा पढ़ी और सुनी थी। उसने अपने समय मे भी इसका अनुभव किया था अतः उसने धर्म और राज्य के मध्य समन्वय का पक्षपोषण किया। उसने कहा कि जहाँ स्वतन्त्र विचार-प्रदर्शन एव सत्यान्वेषण का कार्य राज्य को धर्म के अन्तर्गत करना चाहिए तथा लोगो को अपने विश्वासो के अनुकूल धर्म-पालन की छूट देनी चाहिए वहाँ धर्म की आड मे किए जाने वाले राज्य-विरोधी कार्यों का अन्त करने के लिए भी राज्य को तैयार रहना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि धार्मिक सहिष्णुता और उदार वृत्ति का परिचय देते हुए भी लॉक रोमन कैथोलिको को नागरिकता देने के पक्ष मे नही था। नास्तिको को भी वह अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता प्रदान करने का विरोधी था। कैथोलिको से वह इसलिए नाराज था कि उनकी आस्था एक विदेशी शक्ति के प्रति थी और नास्तिको से वह इसलिए कुपित था कि वे ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार करते थे।

विद्रोह या क्रान्ति का अधिकार (Right of Revolution)

लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त होता है। कुछ असुविधाओ को दूर करने के लिए व्यक्ति राज्य को सीमित अधिकार देकर अपने विरोध का अधिकार नही खोते। व्यक्ति के जीवन-स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति-रक्षा के मौलिक उद्देश्यो की पूर्ति न कर सकने पर राज्य के विरुद्ध कदम उठाया जाना स्वाभाविक है, हालांकि यह कदम बहुत समर्थित होना चाहिए। लॉक की दृष्टि मे व्यवस्थापिका-राज्य का सर्वोच्च अग है और कार्यपालिका उसके अधीन है पर यदि व्यवस्थापिका स्वेच्छाचारी आचरण करने लगे तो जनता को अधिकार है कि वह उसे नष्ट कर दे या बदल दे। लॉक के सिद्धान्त की यह विशेषता है कि सरकार के भग होने पर समाज ज्यों का त्यो बना रहता है, क्योकि समाज का स्थान सरकार के ऊपर है। वह सरकार के भग होने के सम्बन्ध मे केवल इतना कहता है कि "सरकार तब भग हो जाती है जब कानून-निर्माण की शक्ति उस सस्था से हट जाती है जिसको कि जनता ने यह दी थी, या तब जबकि कार्यपालिका या व्यवस्थापिका उसका प्रयोग ट्रस्ट की शर्तों के विपरीत करते हैं।" लॉक ने यह स्पष्ट नही किया कि

लोग यह कार्यवाही किस प्रकार करते है। उसने केवल यही बतलाया कि यदि स्पष्ट हो जाए तो जनता राजनीतिक सत्ता का विरोध कर सकती है किन्तु विद्रोह करने के इस अधिकार पर प्रतिबन्ध है। प्रथम, जब तक स्थिति गम्भीर न हो जाए अथवा जब तक शासक अपने कर्त्तव्यों का पालन करता रहे तब तक जनता को अपनी शक्ति का प्रयोग नही करना चाहिए। द्वितीय, केवल बहुसंख्यक लोगो को ही सरकार उलटने का अधिकार है। लॉक के क्रान्ति विषयक इन विचारो के कारण ही कहा गया है कि उसने "किसी शासन सिद्धान्त का नही बल्कि क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।" इस सिद्धान्त का जैफरसन एव अन्य राजनीतिज्ञो पर काफी प्रभाव पडा था।

व्यक्तिवाद (Individualism)

वाहन का कथन है कि "लॉक की व्यवस्था मे हर वस्तु व्यक्ति के चारो तरफ चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि व्यक्ति की सम्प्रभुता सुरक्षित रहे।"[1] वास्तव मे यह बहुत कुछ सत्य है कि लॉक ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की उसका केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है, तथापि इसका आशय यह नही है कि उसने व्यक्ति के प्रभुत्व का प्रतिपादन किया है।

(i) लॉक की व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित है। प्राकृतिक अवस्था, सभ्य समाज, संविदा, शासन-तन्त्र और राज्य क्रान्ति—ये सभी बातें व्यक्ति का गौरव बढाने वाली हैं। लॉक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को देता है। इन्हे वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध, स्वाभाविक एव प्राकृतिक अधिकार समझता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति के अधिकार मे व्यक्ति का अधिकार सम्मिलित है और यही जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकार का आधार है। लॉक मानता है कि व्यक्ति की सम्पत्ति तथा अन्य अधिकारो के अर्जन मे समाज का कोई हाथ नही है पर लॉक के विपरीत आधुनिक मत यह है कि व्यक्ति के पास जो कुछ भी है वह समाज-प्रदत्त है।

(ii) लॉक यह भी बतलाता है कि व्यक्ति की नैतिक चेतना, न्याय-अन्याय की भावना आदि प्रकृति प्रदत्त है पर आज के समाजशास्त्री मानते हैं कि मानवीय चेतना का निर्माण सामाजिक वातावरण मे होता है और समाज से ही उसे नैतिक भावना मिलती है।

(iii) लॉक के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव ही व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो की रक्षा के लिए होता है। इन अधिकारो की सुरक्षा के लिए ही वह राज्य की सत्ता पर अनेक मर्यादाएँ स्थापित करता है। मैक्सी के शब्दो मे, "लॉक का कार्य राज्य की सत्ता को ऊपर उठाना नही, बल्कि उसके प्रतिबन्धो का प्रतिपादन करना है।"[2] प्रथम तो व्यक्ति ने अपनी जिस शक्ति का त्याग किया है वह एक व्यक्ति मे नही अपितु सम्पूर्ण समाज मे निहित है, और द्वितीय, शासक 'लेवियाथन' की भाँति असीमित अधिकारसम्पन्न निरकुश प्रभु नही है, अपितु उसके अधिकार वही तक सीमित हैं, जहाँ तक समाज अथवा बहुमत ने उन्हे उसे प्रदान किया है। व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकार प्रभुत्वसम्पन्न समाज के अधिकारो को ठीक उसी भाँति सीमित करते हैं जिस भाँति प्राकृतिक अवस्था मे एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो को मर्यादित करते थे।

(iv) लॉक ने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नही किया जा सकता। पुनश्च, यदि परिपक्व अवस्था प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा की गई सेवाओ को स्वीकार करता रहे तभी यह समझना चाहिए कि उसने संविदा के प्रति अथवा राज्य का सदस्य होने के प्रति अपनी सहमति प्रकट

1 *Vaughan*. Op cit p 141

2 "It was not his concern to exalt political authority but to describe its limitation."
—*Maxey*. Political Philosophies, p. 255.

कर दी है। वह अपनी सम्मति व्यक्त अथवा मौन रूप से दे सकता है। स्पष्ट है कि लॉक व्यक्ति की सम्मति को समाज का आधार मानता है।

(v) लॉक के धर्म-विषयक विचारो मे भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानता है और व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार पूजा एव उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। वह कहता हे कि धर्म व्यक्तिगत नैनिकता का सबल है, विश्वास-बुद्धि हृदय की पावनतम अनुभूति है। लॉक ने हॉब्स की भाँति व्यक्ति के सुख को भी सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है। उसने मानव विवेक और मानव-समाज की कृत्रिमता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुए राज्य के जैविक स्वभाव की पूर्ण उपेक्षा की है।

प्रकट है कि लॉक ने व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बनाया है। बार्कर के अनुसार, "लॉक मे व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली महान् भावना थी, उसमे यह प्यूरिटन अनुभूति थी कि आत्मा को परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करने का अधिकार है।... उसमें यह प्यूरिटन सहज बुद्धि थी कि वह राज्य की सीमा निश्चित करते हुए उसे यह कह सके कि उसका कार्यक्षेत्र यहाँ तक, वह इससे आगे नही बढ सकता।"[1] डनिंग ने भी उसके व्यक्तिवादी विचारो—उसके प्राकृतिक अधिकारो को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण देन स्वीकार किया है।[2]

लॉक की व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित है, इससे सहमत होते हुए भी यह स्वीकार नही किया जा सकता कि उसने व्यक्ति को पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न माना है। पहली बात तो यह है कि वह सामाजिक समझौते मे बहुमत शासन का सिद्धान्त अनिवार्यत निहित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी व्यक्ति विशेष अथवा अल्पमत को बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लेना एक अपरिहार्य आवश्यकता है। यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार अपहरणीय हैं तो बहुमत को भी उसे उनसे वचित करने का अधिकार नही हो सकता। यदि व्यक्ति पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न है तो उसे अपने निजी निर्णय का केवल इसलिए परित्याग कर देने को बाध्य नही किया जा सकता कि बहुमत उससे सहमत नही है। दूसरी बात यह है कि लॉक ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह का जो अधिकार दिया है वह भी बहुसख्यको को दिया है व्यक्ति को अथवा अल्पसख्यको को नही। इसके अतिरिक्त उसने यह भी मान लिया है कि जब तक शासन अपने कर्त्तव्यो का पालन करता रहता है तब तक जनता अपनी शक्ति से वञ्चित रहती है। अन्त मे, उसका यह भी कहना है कि प्रारम्भ मे लोगो ने जो समझौता किया था वह उसके वशजो पर भी लागू हो सकता है। इन सब कारणो से यह कहा जा सकता है कि लॉक की व्यवस्था मे व्यक्ति प्रभुत्वसम्पन्न नही है। हाँ, इसमे कोई सन्देह नही कि उसने व्यक्तिवाद को एक अजेय राजनीतिक तथ्य के निकट ला पटका है।

लॉक की असगतियाँ
(Locke's Inconsistencies)

लॉक के राजनीतिक चिन्तन का उपसहार करने से पूर्व यह उचित है कि उसके दर्शन मे पाई जाने वाली प्रमुख असगतियो को स्पष्ट कर दिया जाए। वास्तव मे लॉक हॉब्स की भाँति सुस्पष्ट और तर्कसगत नही है। सेबाइन के अनुसार इसका प्रधान कारण यह है कि "17वी शताब्दी की राजनीति मे लॉक ने अनेक प्रश्नो को देखा था और उसने एक साथ इन सभी प्रश्नो का समाधान करने का प्रयास किया जबकि उसका सिद्धान्त इतना तर्कसम्मत नही था कि वह ऐसी जटिल विषय-वस्तु को सम्भाल सकता", एव साथ ही वह "इस बात को कभी पूरी तरह से नही समझ सका कि क्या तो मूलभूत है और क्या आनुसगिक है।" उसके दर्शन की प्रमुख असगतियाँ सक्षेप मे ये है—

1 *Barker* : Social Contract, p. 22
2 *Dunning* Political Theories from Luther to Montesquieu, p. 364

(i) ड्राइवर के शब्दों में, "लॉक फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्टे का दार्शनिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिकों की प्रयोगात्मक पद्धति तथा शेफ्टसबरी और व्यावहारिक राजनीति से ग्रहण किए हुए उपयोगितावादी अनुभूतिवाद को एक क्रियाशील धारणा में समन्वित करने की चेष्टा कर रहा था।" इस प्रयत्न से उनके दर्शन में जटिलता और असंगति का समावेश हो गया। अपनी अनुभव-प्रधान प्रवृत्ति के कारण एक ओर तो उसने अन्तर्निहित विचारों (Innate Ideas) और राजतन्त्र के दैविक मूल के सिद्धान्त को अस्वीकार किया तथा दूसरी ओर बुद्धिवाद से प्रेरित होकर उसने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जिसका कि अनुभूतिवाद से सुगमता से कोई मेल नहीं बैठता। अन्तर्निहित विचारों को ठुकराकर प्राकृतिक अधिकारों में आस्था रखने की संगतिहीनता को मैक्सी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"लॉक द्वारा अन्तर्निहित विचारों का निषेध करने पर भी अन्तर्निहित (प्राकृतिक) अधिकारों का इतनी तत्परता से समर्थन करना ऐसा विलक्षण विरोधाभास है जो महानतम् बुद्धिजीवियों के मानवीय गुण को प्रमाणित करता है।"[1] लॉक में यह विरोधाभास इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि वह राजनीतिक चिन्तन में प्राकृतिक विधि को वही स्थान देना चाहता था जो स्वयं-सिद्धियों का रेखागणित में होता है।

(ii) लॉक भी हॉब्स के समान ही मानव-स्वभाव के एक पक्ष को ही प्रधानता देता है। हॉब्स ने यदि मानव-स्वभाव के बुरे पक्ष को ही चित्रित किया है तो लॉक ने मनुष्य में केवल अच्छाइयों को ही देखा है जबकि वास्तविकता यह है कि मनुष्य अच्छाइयों और बुराइयों दोनों का सम्मिश्रण है। मानव-स्वभाव के जिस भ्रान्त दृष्टिकोण के आधार पर लॉक ने प्राकृतिक दशा का चित्रण किया है वह एक कल्पनात्मक अवस्था ही प्रतीत होती है।

(iii) लॉक एक ओर हूकर से ली हुई मध्यकालीन परम्परा के इस विश्वास को अपनाता है कि समाज एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व होता है, स्वार्थी व्यक्तियों का एक समूह नहीं तो दूसरी ओर हॉब्स से उस परम्परा को ग्रहण करता है जिसके अनुसार समाज स्वार्थी व्यक्तियों का समूह मात्र है। लॉक इन दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने में असफल रहा है जिसके परिणामस्वरूप उसके चिन्तन में एक तरफ व्यक्ति एवं व्यक्ति के अधिकार अन्तिम तत्त्वों के रूप में सामने आते हैं, तथा दूसरी तरफ व्यक्ति और उसके अधिकार समाज के बहुमत के अधीन हो जाते हैं।

(iv) लॉक का एक विभ्रम प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में भी है। एक ओर तो वह इन्हें निरपेक्ष मानता है और सरकार द्वारा अनुल्लंघनीय स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर वह बहुमत के शासन के सिद्धान्त को थोपता है। बहुमत के निर्णय को मानने के लिए व्यक्ति तथा अल्पसंख्यक वर्ग बाध्य है। इस तरह वह बहुमत अथवा समाज को सर्वोच्च बना देता है। एक अन्य स्थान पर वह व्यवस्थापिका को शासन का सर्वोच्च अंग बनाता है और दूसरी तरफ समाज को एक व्यवस्थापिका समाप्त करके दूसरी व्यवस्थापिका बनाने का अधिकार देता है। इस तरह उसका सिद्धान्त अस्पष्टता से बोझिल हो जाता है। वास्तव में यह विचित्र बात है कि एक ओर वह नैतिक व्यवस्थाओं को शाश्वत: पूर्ण और अन्तिम समझता है तथा दूसरी ओर उन्हें अस्थाई एवं समाज की विभिन्न स्थितियों का परिणाम मानता है।

(v) लॉक एक शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर एक ही अर्थ में न करने का दोषी भी है। वह कई बार सम्पत्ति को आधुनिक अर्थ में प्रकट करता है और कई बार इसका आशय, जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा से लेता है। इसके अतिरिक्त निजी सम्पत्ति सम्बन्धी उसकी भ्रान्त धारणा से पूँजीपति वर्ग को अनुचित रूप से समर्थन मिलता है।

1 "That Locke the denier of innate ideas, should be the doughty champion of inherent rights is one of those curious paradoxes which attest the human quality of even the greatest intellects." —*Maxey*. Political Philosophies, p. 245.

(vi) लॉक का 'विधि-सगत' शब्द कई बार अनावश्यक भ्रम उत्पन्न करता है। व कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के अवैध कार्यों की बार-बार चर्चा करता है जबकि वह यह अच्छी तर जानता है कि यह कोई सुधारात्मक उपाय नही है। इसी प्रकार वह अत्याचारी शासन के विधि-सग प्रतिरोध की चर्चा करता है जब कि उसका वास्तविक अभिप्राय विधि-ग्राह्य उपायो का आश्रय लेना है लॉक ने नैतिक रूप से उचित और वैधानिक रूप से व्यावहारिक के बीच कोई भेद नही माना है। य विचार इस परम्परा के आधार पर विकसित हुआ था कि प्राकृतिक और नैतिक विधियाँ एक ही वस्तु हैं और इसलिए कुछ ऐसी मूल विधियाँ भी हैं जिनकी रचना उच्चतम विधान-मण्डल तक नही कर सकते इग्लैण्ड मे इस प्रकार के नियमो की वैधता उस क्रान्ति के साथ ही समाप्त हो गई थी जिसका लॉक समर्थन करने का प्रयास कर रहा था।

(vii) समाज और राज्य के बीच अन्तर स्पष्ट करने मे लॉक असमर्थ है और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक सस्थाओ का उपयुक्त विश्लेषण भी वह नही कर पाया है। सम्प्रभुता, राज्य के सामूहिक अधिकार तथा कर्त्तव्य और सापेक्षतापूर्ण समाज-रचना के सम्बन्ध मे उसमे समुचित कल्पन का अभाव दिखाई देता है। लॉक की व्यक्तिवादिता राज्य की दृढता पर प्रहार करके अवज्ञा-जनित आन्दोलनो को आश्रय देती है और विचार-प्रौढ व्यक्तियो को राज्य की नागरिकता स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार देकर असामाजिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है पुनश्च, विरोध का अधिकार भ उसका केवल मौखिक ही लगता है क्योकि विरोध की प्रक्रिया असाधारण रूप से जटिल और अस्पष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी लॉकके दृष्टान्तो और निष्कर्षों की पुष्टि नही होती है। सक्षेप मे हर क्षेत्र से कुछ न कुछ सग्रह कर लॉक ने विचारो की बेमेल खिचडी पकाई है।

लॉक का महत्त्व और प्रभाव
(Locke's Importance & Influence)

लॉक की असगति यो के कारण यद्यपि उसके चिन्तन मे अस्पष्टता आ गई है तथापि इससे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे उसके प्रभाव को कम नही आँका जा सकता। अपनी महत्त्वपूर्ण देनो के कारण उसका नाम राजदर्शन के इतिहास मे अमर है। जहाँ हॉब्स के सिद्धान्तो को उसके जीवन-काल मे बहुत कम समर्थन मिला और भावी राजदर्शन पर भी उसका कम प्रभाव पडा, वहाँ लॉक के विचारो को उसके जीवन-काल मे ही न केवल बहुत सम्मान मिला बल्कि भविष्य मे भी दो शताब्दियो से अधिक समय तक यूरोप और अमेरिका के जन-मानस पर उनका प्रभाव छाया रहा। फ्रांस और अमेरिका की जन-क्रान्तियो तथा आन्दोलनो पर उसके विचारो का प्रभाव पडा। 1765-71 तथा अमेरिकन स्वातन्त्र्य युद्ध के नेता और सन् 1789 मे फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के प्रवर्तक लॉक द्वारा प्रदर्शित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व्यक्तिगत सम्पत्ति, जनमत स्वीकृति, बहुमत-शासन, शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त आदि से प्रेरित होकर कार्य करते रहे। अमेरिका के सविधानवेत्ता लॉक की 'ट्रीटाइजेज' को बाइबिल की तरह पुनीत मानते रहे। उसके ये दोनो प्रशासन-निबन्ध अमेरिकन क्रान्ति के पाठ्यग्रन्थ बन गए। अमेरिका की 'स्वतन्त्रता की घोषणा' (Declaration of Independence) इसी महान् ग्रन्थ का लगभग प्रतिलेख है। प्रजातान्त्रिक नीतिशास्त्र के प्रणयन मे लॉक की गौरवपूर्ण विशिष्टता को भुलाया नही जा सकता। राजसत्ता सहमति पर ही आधारित रह सकती है, इस घोषणा द्वारा उसने साम्राज्यवाद और निरकुश शासन-प्रणाली का प्रबल विरोध किया। बहुमत शासन का जितना सुन्दर पक्ष-पोषण उसने किया, उतना अन्य किसी भी लेखक ने नही। क्रान्ति के अधिकार का पोषण करके उसने समस्त एकतन्त्रो को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे भारी चुनौती दी जिसे फिर रूसो ने और भी अधिक भावपूर्ण शब्दो में व्यक्त किया। सहिष्णुता का समर्थन करके लॉक ने केवल उदारवाद की ही सूचना नहीं दी बल्कि यह भी बताया कि तत्कालीन युग मे वैज्ञानिक अन्वेषणो के कारण परम्परागत धार्मिक विश्वासो के प्रति एक उपेक्षाभाव जाग रहा था। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन बनाकर सविधानिक शासन क्रिया के समर्थक के रूप मे लॉक

हमारे सामने आया। उसके विचारों का प्रभाव इंग्लैण्ड मे ह्विग दल के क्रिया-कलापों पर पडा। यह विस्मयजनक है कि लॉक का महान् प्रभाव इस बात के बावजूद भी पडा कि वह न तो नवीन विचारों का प्रवर्तक था और न ही उसके विचारों में संगतिवद्धता थी। सेबाइन के अनुसार, "उसकी प्रतिभा की विशेषता न तो विद्वता थी और न तर्क शक्ति, यह उसकी अतुलनीय सहज बुद्धि थी जिसके प्रयोग से उसने दर्शन राजनीति, आचरण शास्त्र तथा शिक्षा के क्षेत्र मे उन मुख्य विचारधाराओ का एक स्थान पर सग्रह किया, जिन्हे भूतकाल के अनुभव ने उसकी समकालीन पीढी के जो अधिक ज्ञानवान थी, मतिष्क में उत्पन्न कर दिया था। उसने उनको एक सरल, गम्भीर किन्तु हृदयग्राही भाषा मे अभिव्यक्त करके 18वी शताब्दी के लोगो के सम्मुख प्रस्तुत किया, जहाँ जाकर वे ऐसी सामग्री बने जिससे इंग्लैण्ड तथा यूरोप के राजदर्शन का विकास हुआ।"[1]

"लॉक के अनुभववाद का प्रभाव बर्कले (1685–1753) और ह्यू म पर पड़ा। इन दोनों ने उसकी स्थापना और मान्यताओ की पुष्टि करके अनुभववादी दर्शन का विशद् रूप कायम किया। आर्थर कौलियर (1680–1732) तथा विशप पीटर ब्राउन के मन्तव्यो पर भी लॉक का असर पड़ा। डेविड हार्टले (1704–1757) एव जोसेफ प्रिस्टले ने भी लॉक की स्थापनाओ को विशेष रूप से पल्लवित किया। हार्टले की रुचि भौतिकवाद की ओर थी तथा प्रिस्टले की ईसाईयत की ओर। लॉक के व्यवहारवाद और अनुभववाद से फ्राँस मे मॉण्टेस्क्यू प्रभावित हुआ। हेल्वेशियस भी एक अश मे लॉक का ऋणी था। हेल्वेशियस की विचारधारा से बेन्थम का उपयोगितावाद प्रभावित था। हम कह सकते हैं कि 18वी शताब्दी मे लॉक के जिन विचारों का फ्राँस मे असर हुआ था, उन विचारो को बेन्थम और उसके अनुयायी पुन: इंग्लैण्ड मे ले आए।"

प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त यद्यपि आज अमान्य ठहराया जा चुका है किन्तु प्रो. डनिंग के मतानुसार यह सिद्धान्त राजदर्शन को लॉक की एक अति महत्त्वपूर्ण देन है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को व्यक्ति के जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकार मानते हुए उसने कहा कि राज्य का कर्त्तव्य उनकी रक्षा करना है और वह मनुष्य को इनसे वचित नही कर सकता। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। ऐसी घोषणा करके लॉक ने व्यक्तियो को राज्य की मनमानी और निरकुश शक्तियो के मार्ग मे रुकावटो के रूप मे खडा कर दिया। आज सभी देशों के संविधानो मे नागरिको के मौलिक अधिकारो की रक्षा को प्रथम स्थान दिया जाता है। यह वर्तमान प्रजातन्त्र और उदारवाद (Liberalism) की आधारशिला है। इसमे कोई सन्देह नही कि लॉक ने अपने पूर्ववर्ती विचारको की अपेक्षा प्राकृतिक अधिकारो की व्याख्या और उनके निरूपण मे निश्चित प्रगति की। प्रो डनिंग के शब्दो मे "पफेन्डोर्फ द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक कानून एवं मिल्टन तथा स्पिनोजा द्वारा प्रशसित स्वतन्त्रता मे निरकुशता के ऊपर वास्तविक रोग लगाने वाले लेखको के लक्ष्य होते हुए भी साधारणत अव्यावहारिकता प्रतीत होती है। हमारे ऊपर उनका अधिक से अधिक प्रभाव पडता है कि ये लेखक अत्यधिक बुद्धिमान एव प्रतिभावान व्यक्तियो की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना चाहते हैं, प्रत्येक व्यक्ति की नही। परन्तु लॉक के समान अधिकार राजनीतिक सस्थाओं की विवेचना में इतना अधिक ओतप्रोत है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके बिना वास्तविक राजनीतिक समाज का अस्तित्व ही नही हो सकता।"[2]

आर्थिक क्षेत्र मे भी लॉक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। सम्पत्ति के विषय में श्रम को जो महत्त्व उसने प्रदान किया उसका असर दो प्रकार का हुआ। एडम् स्मिथ और रिकार्डो ने मूल्य के श्रम-मूलक सिद्धान्त को पूँजीवाद के पोषण में और कार्ल मार्क्स ने श्रमिक वर्ग के हितो के अभिवर्द्धन में प्रयुक्त किया। लॉक के उदारवाद ने भी उसके प्रभाव को बढाने में मदद की। हॉब्स ने मनुष्य को घोर स्वार्थी

1 *Sabine* : A History of Political Theory, p. 523
2 *Dunning* : A History of Political Theories, p 364,

माना था, किन्तु लॉक ने मानव-स्वभाव में कर्त्तव्यशीलता, परमार्थ-वृत्ति और नैतिकता के लिए भी स्थान रखा। इस कारण तत्कालीन शिक्षित समाज उसके विचारों से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। शिक्षा-शास्त्री के रूप में लॉक का महत्त्व सामने आया। उसने स्वतन्त्रता का पोषण और परम्परावाद का खण्डन किया। शिक्षा को उसने चारित्रिक विकास के लिए आवश्यक माना और संस्कृति की प्राप्ति के लिए मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्ति को उचित ठहराया। विश्वविद्यालय की उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी उसने स्वयं यह स्वीकार किया कि जीवनयापन के क्रम में जो शिक्षा मिलती है वह बौद्धिक शिक्षा से श्रेयस्कर है। धार्मिक शिक्षा का पक्ष लेने पर भी उसने अन्धविश्वासों को प्रश्रय देना सर्वथा अनुचित बताया।

लॉक ने व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका शक्तियों के विभाजन (Separation of Powers) के सिद्धान्त का बीजारोपण किया। पॉलिबियस के बाद लॉक ने ही इसका स्पष्ट और तर्कसंगत प्रतिपादन किया था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के रूप में इस सिद्धान्त का प्रयोग करने वाला वह सम्भवतः सर्वप्रथम आधुनिक विचारक था। मॉन्टेस्क्यू ने इसी के आधार पर अपने शक्ति-विभाजन तथा शासन सम्बन्धी कार्यों के त्रिवर्गीय विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया और अमेरिका के संविधान-निर्माताओं ने लॉक एवं मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए ही अपने विधान की रचना की।

19 रूसो
(Rousseau)

सामाजिक अनुबन्ध के विचारकों मे रूसो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक प्रख्यात दार्शनिक एवं क्रान्तिकारी विचारों का प्रणेता था, सुलझा हुआ शिक्षा-शास्त्री था, आदर्शवादी, मानवतावादी और युग-निर्माता साहित्यकार था। उसके ग्रन्थों ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे को झकझोर दिया और एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था के लिए मार्ग तैयार कर दिया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अद्वैतवादी लोकप्रिय सम्प्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी लेखनी से नया समर्थन और नया दिशा निर्देशन मिला। सर्वव्यापी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति मे स्थायी सावयवी समाज की कल्पना को बल दिया। लोकप्रियता, सम्प्रभुता, विधि, सामाजिक स्वीकृति, प्रशासन, क्रान्ति आदि विषयों पर अपने निर्भीक और स्पष्ट विचारों के कारण रूसो ने अमर ख्याति अर्जित की।

जीवन-परिचय, कृतियाँ एवं पद्धति
(Life, Works and Method)

रूसो का जन्म सन् 1712 मे निर्धन आइजक नामक घडी-साज के यहाँ जेनेवा मे हुआ। जन्म के समय ही माता का देहान्त हो गया और पिता ने पुत्र को अपने दुर्व्यसनों का साथी बना दिया। इस प्रकार जन्म से ही वह उपेक्षित और स्नेहविहीन रहा। लगभग 12 वर्ष की अल्पावस्था मे ही रूसो को एक कठोर सगतराश (खुदाई का काम करने वाला) के पास काम करना पड़ा जो उसके साथ बडा ही पाशविक व्यवहार करता था। वहाँ रूसो को पेट भरने के लिए केवल कठोर परिश्रम ही नहीं करना पडा बल्कि उसने चोरी करने और झूठ बोलने की कला भी सीखी। आखिर अपने मालिक से तंग आकर रूसो घर से भाग निकला। तब उसकी आयु 16 वर्ष की थी।

जीवन के अगले कुछ वर्ष रूसो ने फ्रांस मे आवारागर्दी में बिताए। वह न केवल बुरी संगति मे पड गया बल्कि उसका स्वभाव ऐसा बन गया कि वह हमेशा वर्तमान में ही रहता था, न भूत के लिए पछताता था और न भविष्य के लिए चिन्ता करता था। बाजारू औरतों के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध चले, किन्तु ये सम्बन्ध स्थायी मैत्री का रूप कभी नहीं ले सके। पेरिस में उसका मित्र-वर्ग उसे आर्थिक सहायता देता रहा। वह मजदूरों की गन्दी बस्तियों में जीवनयापन करने लगा। जीवनभर वह अविवाहित ही रहा, किन्तु उसके अवैध सम्बन्ध सदा बने रहे। उसे वेनिस मे फ्रैन्च दूतालय मे नौकरी भी मिली किन्तु अपने खराब मिजाज के कारण उसे पदच्युत होना पडा।

आवारा, प्रताड़ित और पीडित होने पर भी रूसो बहुत करीब से जीवन के हर पहलू को देखता रहा। "भावुकता की अक्षय-निधि लेकर अपनी सहमी, डरी-भूखी आँखो से उसने समाज की कुरूपता और व्यक्ति के कोढ़ के धब्बे देखे। अनुभव की इस विस्तृत बहुमुखी पाठशाला में उसका

अध्ययन चलता रहा। स्वाध्याय के बल पर उसने ज्ञान प्राप्त किया।" धर्म के सम्बन्ध में रूसो अस्थिर रहा। उसने कभी कैथोलिक धर्म को अपनाया तो कभी प्रोटेस्टेन्ट मत को। इतना सब होने के बाद आखिर उसके भाग्य ने पलटा खाया। सन् 1749 मे उसने एक प्रतियोगिता का समाचार पढ़ा। प्रतियोगिता का विषय था "Has the revival of the Sciences and the Arts helped to purify or to corrupt morals" रूसो ने इस प्रतियोगिता मे भाग लिया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। अपने निबन्ध में बिलकुल मौलिक और सनसनीखेज विचार प्रकट करते हुए उसने लिखा कि विज्ञान तथा कला की तथाकथित प्रगति से ही सभ्यता का ह्रास नैतिकता का विनाश और चरित्र का पतन हुआ है। अब रूसो एकाएक ही प्रसिद्ध हो गया। पेरिस के साहित्यिक क्षेत्रों मे उसे सम्मान मिला, किन्तु उसने भद्र समाज और धनाढ्य महिलाओं के संसर्ग मे लौटने की कोशिश नही की।

अब रूसो की सुप्त साहित्यिक प्रतिभा और बौद्धिक चेतना जाग्रत हो गई। अब लिखना ही उसका व्यवसाय और जीवन बन गया। सन् 1754 मे उसने 'डी जॉन की विद्यापीठ' (Academy of Dijon) की ही एक अन्य निबन्ध-प्रतियोगिता मे भाग लिया जिसका विषय था "मनुष्यों मे विषमता उत्पन्न होने के क्या कारण है? क्या प्रकृति कानून इसका समर्थन करता है।" यद्यपि रूसो पुरस्कार नहीं जीत सका, तथापि उसने निजी सम्पत्ति और तत्कालीन फ्रांस के कृत्रिम जीवन पर कठोर प्रहार किये। सन् 1754 मे रूसो पुन. जेनेवा लौट गया जहाँ वह कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट बन गया और उसे फिर से जेनेवा गणतन्त्र की नागरिकता दे दी गई।

कुछ समय बाद रूसो पुन पेरिस चला गया। विख्यात लेखिका मदाम ऐपिने (Madam Epinay) द्वारा पेरिस के निकट मौण्ट मेरेन्सी मे रूसो के लिए निवास और भोजन की व्यवस्था कर दी गई। पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्रकृति की गोद मे रहते हुए रूसो ने Lock Nouvelle Heloise, The Emile तथा Social Contract नामक विख्यात ग्रन्थों की रचना की जिनसे उनका नाम चारो ओर फैल गया। उसके 'इमाइल' ग्रन्थ ने तो फ्रांस मे क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी। उसके क्रान्तिकारी विचारो से शासक और पादरीगण क्रुद्ध हो गए। सन् 1762 मे उसकी गिरफ्तारी का आदेश निकाला गया। रूसो ने पेरिस छोड दिया तथा जीवन के अन्य 10 वर्ष एक खानाबदोश के रूप मे बिताए। उसका स्वास्थ्य गिरता रहा, किन्तु लेखन-कार्य जारी रहा। प्राण रक्षा के लिए वह जर्मनी इंग्लैण्ड आदि देशो मे भटकता रहा। 1766 मे इंग्लैण्ड के दार्शनिक ह्यूम ने उसे शरण दी। वहाँ बर्क भी उसका मित्र बन गया। लेकिन रूसो के मित्र उसकी अभिमानशीलता को सहन नही कर सके। अतः मित्रों के प्रति शकालु होकर रूसो पुन गुप्त रूप से फ्रांस भाग गया। ह्यूम ने अपने प्रभावशाली मित्रो की सहायता से यह व्यवस्था कर दी कि रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा क्रियान्वित न की जाए। अत जीवन के शेष 11 वर्ष पेरिस मे ही व्यतीत करते हुए उसने Confessions, Dialogues तथा Reveries ग्रन्थो का प्रणयन किया। 2 जुलाई, 1779 को 66 वर्ष की आयु मे वह चल बसा और छोड गया "जिन्दगीभर का लादा गया लबादा और अपनी फटी हुई गुदडी जिसमे असख्य लाल (विचार-रत्न) छिपे पड़े थे।" यूलिच ने ठीक ही लिखा है कि "विचारो के इतिहास में ऐसे व्यक्ति को खोज पाना कठिन है जिसने इतने अर्द्ध-सत्यों के बावजूद मानव जाति पर इतना गहरा प्रभाव डाला हो जितना कि रूसो ने।"[1]

रूसो ने 1749 मे पहला लेख लिखा और 1754 मे एक दूसरा निबन्ध लिखा। तत्पश्चात् उसने अपने जीवनकाल में कुछ ऐसे ग्रन्थो का प्रणयन किया जिनके कारण वह अमर हो गया। सन् 1758 मे उसने अपने प्रथम ग्रन्थ 'An Introduction to Political Economy' की

1 *Robert Ulich* : History of Educational Thought, p. 211.

रचना की। इसमें आदर्श राज्य के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया। सन् 1762 में उसका सुविख्यात ग्रन्थ 'Social Contract' प्रकाशित हुआ जिसमें उसके राजदर्शन सम्बन्धी गम्भीर विचारों का विवेचन है। इसी वर्ष 'The Emile' ग्रन्थ प्रकाश में आया जिसने शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसी ग्रन्थ के कारण रूसो को 'Progressive Education' का जनक माना जाता है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसने अपनी आत्मकथा 'Confessions' तथा 'Dialogues' और 'Reveries' का प्रणयन किया।

रूसो की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ हॉब्स के समान थी। उसने इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति (Empirical Method) का अनुगमन किया। उसकी पद्धति हॉब्स ही की तरह [illegible] ज्ञानयुक्त थी। मैकियावली, बोदाँ, अल्थूसियस, हॉब्स, लॉक, ग्रोशियस, हैरिंगटन, सिडनी, पुफेंडर्फ, माण्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यूनानी और रोमन साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी वह प्रभावित हुआ।

मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था पर रूसो के विचार
(Rousseau on Human Nature and State of Nature)

मानव-स्वभाव

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो के विचार प्लेटो तथा लॉक के अधिक निकट हैं। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः सदाशय और अच्छा होता है। अतः सच्ची कला का उद्देश्य स्वाभाविक अच्छाई का विकास करना है। वह मनुष्य को स्वभावतः भोला मानता है जिसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। उसका जीवनयापन प्रकृति की जीवनदायिनी गोद में होता रहता है। संसार में पाए जाने वाले पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता आदि गलत एवं भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दूषित सामाजिक संस्थाएँ दोषी हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं होता अपितु भ्रष्ट कला के कारण बुरा बन जाता है।

अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ बताता है। मानव-स्वभाव के निर्माण में सहायक प्रथम प्रवृत्ति है आत्म-प्रेम अथवा आत्म-रक्षा की भावना जिसके अभाव में वह कभी का नष्ट हो गया होता। मानव स्वभाव निर्माण में दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यों में पाई जाती है और जो सम्पूर्ण जीवधारी सृष्टि का सामान्य गुण है। इसके कारण ही जीवन संग्राम इतना कठिन प्रतीत नहीं होता। ये सभी भावनाएँ शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिए।

रूसो का कहना है कि मनुष्य की उपरोक्त दोनों मूलभूत भावनाओं से कभी-कभी संघर्ष होना स्वाभाविक ही है। पारिवारिक हित की कामना कभी-कभी ऐसे कार्यों की माँग करती है जो समाज के हितों से तालमेल नहीं खाते। चूँकि ये दोनों भावनाएँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, अतः व्यक्ति इससे समझौता करने के लिए विवश होता है। आत्म रक्षा और परमार्थ के कार्यों में संघर्ष होने से पैदा होने वाली नई समस्या का समाधान वह समझौतावादी प्रवृत्ति से करना चाहता है। इस प्रकार के समझौतों से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण (Conscience) कहते हैं। अन्तःकरण प्रकृति का उपहार है, यह केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति को विवेक नामक स्वयं में विकसित होने वाली एक अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए। सरल रूप से उदाहरणात्मक रूप में हम कह सकते हैं कि अन्तःकरण मनुष्य को प्रेरित करता है—सत्य से प्रेम करे, असत्य से घृणा, लेकिन अन्तःकरण में स्वतः अच्छा या बुरा पहचानने की शक्ति नहीं होती। यह तो

एक प्रेरणा शक्ति है जो मनुष्य को अच्छाई की ओर ले जाती है। सत्य और असत्य की पहिचान मनुष्य विवेक द्वारा करता है। विवेक मनुष्य का नैतिक पथ-प्रदर्शन करता है और अन्तःकरण उसको उस मार्ग पर प्रेरित करता है। रूसो इस तरह बतलाता है कि आत्म-रक्षा एव सहानुभूति इन दो भावनाओ मे सामञ्जस्य और अन्य भावनाओ के विकास करने मे अन्तःकरण तथा विवेक (Conscience and Reason) दोनो का योग होता है। अन्त करण सदैव सत्य से प्रेम और असत्य से घृणा करता है अत वह कभी भी भूल नहीं करता। व्यक्ति यदि कुमार्ग पर बढता है तो दोष अन्तःकरण का नही वल्कि विवेक का, जिसने सत्य-असत्य को पहिचानने मे भूल की है। रूसो ने विवेक की अपेक्षा अन्त करण को अधिक महत्त्व सम्भवत इसलिए दिया है कि उस युग मे अन्त.करण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। अन्त करण पर इतना अधिक बल देने के कारण ही उसे विवेक-विरोधी (Anti-rational) एवं रोमाँचकारी (Romantic) तक कह दिया गया है। वास्तव मे रूसो ने विवेक पर बडे आक्षेप किए है। उसने बुद्धि एव विज्ञान का विरोध करके इसके स्थान पर सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है। उसके अनुसार बुद्धि भयानक है क्योकि वह श्रद्धा को कम करती है, विज्ञान विनाशक है क्योकि वह विश्वास को नष्ट करता है, और विवेक बुरा है क्योकि वह नैतिक सहज-ज्ञान के विरोध मे तर्क वितर्क को प्रधानता देता है। किन्तु विवेक के प्रति उसका विरोध पूर्ण अथवा निर्मम नही। वह मानव व्यक्तित्व के विकास मे विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे असीम अधिकार नही देता। राइट के शब्दो में उसे सुरक्षा केवल उस सघ में दिखाई पडती है जिसमें भावना विवेक को सन्मार्ग की ओर ले जाती है और जिसमें विवेक हमें उसके सहारे पूर्णता की ओर ले जाता है।

स्पष्ट है कि रूसो के विवेचन का आधार मुख्यतया यह सिद्ध करना है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छा होता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि वह पथ-भ्रष्ट क्यो हो जाता है? रूसो का तर्क है कि मनुष्य पथ-भ्रष्ट उस समय होता है जब उसका आत्म-प्रेम (Self love), दम्भ (Vanity) मे परिवर्तित हो जाता है। अत शुभ एव स्वाभाविक बने रहने के लिए दम्भ का परित्याग कर देना आवश्यक है। विवेक को दम्भ के चगुल में नही फँसने देना चाहिए।

प्राकृतिक अवस्था

रूसो द्वारा चित्रित मानव-स्वभाव की व्याख्या के बाद अब उसके द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था को समझना बडा सुगम होगा। उसकी प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवनयापन करता था। वह अवस्था भय और चिन्ता से मुक्त थी। प्राकृतिक अवस्था मे रूसो का मनुष्य 'भला असभ्य जीव' (Noble Savage) था जो प्रारम्भिक सरलता और सुखपूर्ण रीति मे जीवन-बसर करता था। वह स्वतन्त्र, सतुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एव निर्भय था। उसे न तो साथियो की आवश्यकता थी और न वह समाज के व्यक्तियो को दुःख देना चाहता था। उसकी सहज वृत्ति और सहानुभूति की भावना ने ही उसका दूसरो के साथ गठबन्धन किया। वह न तो सही को जानता था और न ही गलत को। वह गुण और अवगुण की सब भावनाओ से अछूता था। उस दशा में केवल नैसर्गिक शक्तियो से युक्त था। बुद्धि एव विवेक की करतूतो का उसमें अभाव था। प्राकृतिक अवस्था मे ऊँच-नीच तथा मेरे-तेरे का कोई भेद-भाव नहीं था। व्यक्ति स्वय अपना स्वामी था। वह आत्मनिर्भर होता था। सभ्यता का विकास न होने की उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थी और जो थी वह प्रकृति के माध्यम से सहज ही पूरी हो जाती थी। अत वस्तुओ के प्रति ममत्व की भावना या व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय उस समय नही हुआ था। ज्ञान-विज्ञान, कला, विद्या आदि का विकास भी नही हो पाया था। मनुष्य अपने वर्तमान से ही सन्तुष्ट था, उसे भविष्य के लिए सचय की चिन्ता नही थी। प्रकृति का यह नियम व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करता था कि "अपने हितो को देखो, किन्तु दूसरे की कम से कम सम्भव हानि हो।" रूसो की प्राकृतिक अवस्था वाला समाज सभ्यता के

प्रभावो से सर्वथा मुक्त था। वह समाज ऐसी प्रसन्नता का इच्छुक था जिसमे सामाजिक नियम और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव बिलकुल न हो।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था ऐसे स्वर्णिम युग-सी थी जिसमे नियन्त्रणों से मुक्त व्यक्ति एक भोले और निर्दोष पक्षी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ मस्ती से स्वच्छन्दतापूर्वक विचरता रहता था। उसे जगली कहना आसान था, क्योंकि वह पहाडो-जगलो मे ही अधिवास करता था। लेकिन जगली होते हुए भी वह सज्जन तथा नेक था। वह हॉब्स द्वारा समर्थित अह-प्रेरणा से परे और लॉक द्वारा प्रशसित नैतिकता की गुण-सूची से अपरिचित था। वस्तुएँ सर्व सुलभ थी और स्पर्धा का नाम न था इसलिए युद्ध असम्भव से थे। मेरे और तेरे का भेद न रखने से उस युग के मनुष्य को बुद्धिहीन भले ही कहे, पर वह चरित्रहीन और भ्रष्ट नही था। सादगी उसका गुण था और भोलापन उसका जीवन।

किन्तु स्वर्णिम युग छिन्न-भिन्न हो गया। प्राकृतिक दशा की अवस्थाएँ चिरकाल तक स्थिर नही रह सकी। रूसो की प्राकृतिक दशा को नष्ट करने के लिए दो तत्त्व उत्पन्न हुए। एक तो जनसख्या की वृद्धि था और दूसरा था तर्क का उदय। जनसख्या की वृद्धि से आर्थिक विकास तेजी से होने लगा। सरलता और प्राकृतिक प्रसन्नता के प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। सम्पत्ति रूपी साँप ने प्रवेश किया और मनुष्यो मे परिवार एवं वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परिव्राजक की तरह स्वच्छन्द घूमने वाले वनवासी ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार सहज स्नेहवश या अस्थायी आवास की तरह जमाया। धीरे-धीरे वहाँ उसका स्थाई आवास बन गया। आने वाली सन्तानो तथा परिवार के सदस्यो के लिए वह एक सुनिश्चित आश्रम तथा विश्राम-स्थल हो गया। दूसरे सदस्यो ने, जो निश्छल थे, व्यक्ति-विशेष के इस आधार को निःसकोच मान लिया। वाद-विवाद या प्रतिरोध उनकी प्रकृति से परे था। जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह प्रक्रिया बढती गई। परिवार और सम्पत्ति की व्याख्या घर कर गई। अब विषमता का जन्म हुआ। मानवीय समानता नष्ट होने लगी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव से सोचना आरम्भ किया जिससे निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। रूसो के अनुसार, "वह प्रथम मनुष्य ही नागरिक समाज का वास्तविक सस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकडे को घेर लेने के बाद यह कहा था कि यह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था जब अन्य लोगों ने उनकी देखा-देखी स्थानो और वस्तुओ को अपना समझना प्रारम्भ किया।" इस विकास की सम्पूर्ण विधि को डनिंग के इन शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है कि "कृषि और धातु-विषयक कलाओ की खोज हो गई और उन्हे लागू करने मे आदमियो को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी। सहयोग का प्रादुर्भाव हुआ और उसमे मनुष्यों की विभिन्न योजनाओ को बल मिला और इस प्रकार अनिवार्य परिणाम अर्थात् आधुनिक समाज के निर्माण की तैयारी हो गई। अपेक्षाकृत बलवान आदमी अधिक मात्रा मे काम करता था, किन्तु दस्तकार को अधिक अश मिलता था। इस तरह धनी और निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ जो असमानता के स्रोतो का जनक है।" अब एक विकृति-सी सारी दशा पर छा गई। मनुष्य सहज सुख-शान्ति से हाथ धो बैठा। जीवन कलुषित हो उठा।

उल्लेखनीय है कि रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के तीन प्रकार माने है। सबसे पहले आदिम प्राकृतिक अवस्था थी। उस समय मनुष्य निपट जगली था। फिर मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था आई। तब असमानता का प्रारम्भ हुआ और सचयवृत्ति बढ गई। तत्पश्चात् दमन एव अत्याचार की पोषिका अन्तिम अवस्था आई जो असहनीय थी और जिसमे मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर (From bad to worse and still worse) थी। इस कुचक्र को रोकने के लिए ही सामाजिक सविदा की अवतारणा हुई। इसी समय मनुष्य ने 'प्रकृति की ओर वापिस' (Back to nature) चलने का नारा दिया। राइट महोदय के अनुसार, इस नारे का अर्थ था—"हम दम्भ का परित्याग कर सकते हैं। हम दूसरो के साथ तुलना करना छोडकर केवल अपने ही कार्य मे लगे रह सकते हैं। हम बहुत-सी कल्पनात्मक

इच्छाओ का परित्याग करके अपने स्वरूप को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। हम विनम्र हो सकते हैं और अपनी आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। एक शब्द मे हम प्रकृति की ओर लौट सकते हैं। इस प्रसिद्ध वाक्य का यही अर्थ है।" स्पष्ट है कि रूसो हमे सभ्यता की समस्त देनो का परित्याग करके पूर्व-राज्य की अवस्था मे नही ले जाना चाहता अपितु प्राकृतिक दशा की आदर्श अवस्था तक पहुँचाना चाहता है। वह जानता है कि समाज में आगे बढे हुए रथ को पीछे लौटना सम्भव नही है पर साथ ही वह प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य, सरलता और सहानुभूति का उपासक है। 'विवेक तथा तार्किक बुद्धि' को वह प्रकृति के प्रतिकूल मानता है। रूसो का 'Natural Men' वह आदर्श है जिसको विकास करते-करते हम प्राप्त करना है। रूसो के अनुसार लास्की (Laski) के शब्दो में, "हमे एक ऐसे प्रतिष्ठान की आवश्यकता है जो एक ही साथ व्यक्ति तथा उन सस्थाओ का जो आज उसे पतित कर रहे हैं, पुनर्निर्माण करेगी।"

रूसो ने प्राकृतिक दशा के बारे मे यह दावा नहीं किया है कि निश्चित रूप से कभी किसी जगह वैसी दशा रही होगी। अनुमान से वह उस दशा की कल्पना करता है। अपने विचारो मे आगे चलकर वह सशोधन-परिवर्तन करता है जिसमे कई असगतियाँ पैदा हो गई हैं लेकिन रूसो स्वयं कहता है, "मैं पक्षपात या पूर्वाग्रह की बजाय विरोधाभास (Paradoxes) का प्रेमी हूँ।"

रूसो की सामाजिक संविदा सम्बन्धी धारणा
(Rousseau's Conception of Social Contract)

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता से जब व्यक्ति दुखी हो गए तब उन्होने स्वय को एक ऐसी सस्था मे संगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान-माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियो की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे। अतः उन्होने परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति समाज को अर्पण कर दे। रूसो के शब्दों मे व्यक्तियो ने समझौते की शर्तो को इस प्रकार व्यक्त किया—"हम मे से प्रत्येक अपने शरीर को और अपनी समूची शक्ति को अन्य सबके साथ संयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन मे रखते हैं और अपने सामूहिक स्वरूप मे हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार करते है।" आगे वह लिखता है, "समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया मे, एकदम नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यो से मिलकर बना है जितने कि उसमे मत होते हैं। समुदाय बनाने के इस कार्य से ही निकाय को अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियो के सगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो उसे राज्य कहते है और जब सक्रिय होता है तो सम्प्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायो से इसकी तुलना करने में इसे शक्ति कहते हैं।"

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार मनुष्य अराजक दशा को दूर करने के लिए जो समझौता करते है, वह दो पक्षो के बीच किया जाता है। एक पक्ष मे मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप मे होते हैं और दूसरे पक्ष मे मनुष्य अपने सामूहिक रूप मे होते है। क, ख, ग, घ, आदि अलग-अलग मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप मे दृढ़ निश्चय के साथ उस समुदाय अथवा समाज के साथ समझौता करते हैं जिसका निर्माण क, ख, ग, घ आदि मनुष्यो ने मिलकर किया। इस तरह समझौते के परिणामस्वरूप राज्य-संस्था के सगठित हो जाने पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एव शक्ति को अपने से पृथक् नहीं कर देते। वे इन्हे अपने पास रखते हैं। पर व्यक्ति रूप से नही अपितु सामूहिक रूप से अर्थात् समाज के अंग होने के कारण। अब मनुष्य की जान और माल की रक्षा का उत्तरदायित्व अकेले अपने ऊपर नही रह जाता, वरन् सम्पूर्ण समाज का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारो की रक्षा करे। राज्य-सस्था के सचालन की शक्ति जनता मे निहित रहती है क्योकि जनता स्वयं प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न होती

है। राज्य-शक्ति के प्रयोग का अधिकार जिस शासक वर्ग को दिया जाता है, वह जनता की आकांक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि वह जनता की इच्छा को क्रिया रूप मे परिणत करने का साधन मात्र है और अपने कर्त्तव्यों का भली-भांति पालन न करने पर अपने पद से पृथक् किया जा सकता है तथा उसके स्थान पर दूसरे शासक वर्ग को नियुक्त किया जा सकता है यदि वह जनता की इच्छानुसार कार्य करने का वचन दे।

रूसो ने समझौता सिद्धान्त को जिस ढग से प्रतिपादित किया है उसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण मे सभी व्यक्ति निश्छल और सरल होते हैं, किन्तु कालान्तर मे जनसख्या मे वृद्धि, तर्क के उदय और सम्पत्ति के प्रवेश के कारण वे सघर्षरत होते हैं। इस अराजकता को समाप्त करने और पुनः अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वे एक समझौता करते हैं।

(2) सामाजिक समझौते के क्रियाशील एव केन्द्रीय भाग का अर्थ है कि प्रत्येक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एव शक्तियाँ समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तान्तरण की शर्त है समता, अर्थात् सभी के साथ एक ही-सी शर्त। अत इस समझौते से प्रत्येक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज कभी भी दमनकारी एवं स्वतन्त्रता-विरोधी नहीं हो सकता।

(3) यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारो का पूर्ण समर्पण करते हैं, तथापि, जो अधिकार विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत है, मनुष्य उन्हें अपने पास रख सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज का इस बात से कोई सम्बन्ध नही होता है कि व्यक्ति क्या खाता है, अथवा क्या पहिनता है। पर कोई विषय सार्वजनिक महत्त्व का है अथवा नही, इसका निर्णय समाज ही करता है अर्थात् सार्वजनिक महत्त्व की दृष्टि से आवश्यक परिस्थितियो मे सामान्य हितो की रक्षा करने के लिए समाज विशुद्ध व्यक्तिगत मामलो मे भी हस्तक्षेप कर सकता है—अपने सदस्यो के भोजन, वस्त्र आदि को नियन्त्रित कर सकता है।

(4) इस समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है, क्योंकि "प्रत्येक व्यक्ति सबके हाथो मे अपने आपको समर्पित करते हुए किसी के भी हाथो मे अपने को समर्पित नही करता," एव "प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है और एक समूह के अविभाज्य अग के रूप मे उन्हे प्राप्त कर लेता है। अत समाज की सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियो के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन हो जाता है।" रूसो के समाज मे किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नही है, सबका स्थान समान है। इस तरह राज्य मे नागरिक स्वतन्त्रता ही नही अपितु समानता भी प्राप्त करते हैं।

(5) समझौता कोई ऐसी घटना नही है जो कभी एक बार घटी हो। यह एक निरन्तर चलने वाला क्रम है जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा मे निरन्तर भाग लेता रहता है और इस तरह राज्य को निरन्तर सहमति प्रदान करता रहता है।

(6) सविदा के कारण मनुष्य अपने शरीर को और अपने अधिकारो और शक्तियो को जिस सार्वजनिक सत्ता को समर्पित करता है, वह सब व्यक्तियो से मिलकर ही निर्मित होती है। इसी को प्राचीनकाल मे नगर राज्य कहते थे और अब गणराज्य या राज्य सस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियो से मिलकर होता है, उन्ही को सामूहिक रूप से 'जनता' कहा जाता है। जब हम उन्हे राजशक्ति की अभिव्यक्ति मे भाग लेते हुए देखते हैं तब हम उन्हे 'नागरिक' कहते हैं, और जब राज्य के कानून-पालको के रूप मे देखते है तो उन्हे हम 'प्रजा' की सज्ञा देते हैं। सक्षेप मे, रूसो के अनुसार सामूहिक एकता 'राज्य', 'प्रभु' 'शक्ति', 'जनता', 'नागरिक' एव 'प्रजा' सब कुछ है।

(7) रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वरूपो के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी है और क्रियाशील सम्प्रभु भी। एक सम्प्रभुता पूर्ण संघ का सदस्य होने के

नाते प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नही रहता जितना वह पहले था बल्कि सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत उनकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है।

(8) समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न समाज अथवा राज्य का स्वरूप सावयविक (Organic) होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार अलग नही हो सकता और न वह राज्य के विरुद्ध आचरण ही कर सकता है। रूसो का समाज हॉब्स एव लॉक की धारणा के समान व्यक्तिवादी नही है। समझौता एक नैतिक तथा सामूहिक प्राणी का निर्माण करता है जिसका अपना निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना निजी अस्तित्व है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति (Public Person) कहकर पुकारता है। राज्य या समाज का सावयविक रूप बतलाते हुए रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि विधि-निर्माण-शक्ति सिर के समान, कार्यकारिणी-धातु के समान न्यायपालिका मस्तिष्क के समान, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य पेट के समान और राजस्व रक्त-प्रचार के समान है।

(9) समझौते द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा आ जाती है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का सर्वाधिक विशिष्ट अग है। सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित इसका लक्ष्य होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जनता की राय सदैव ही ठीक होती है। मनुष्य का हित यद्यपि सामान्य इच्छा का अनुसरण करने मे ही है, किन्तु सामान्य इच्छा सबको नही होती।

(10) सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज अथवा राज्य ही स्वय सम्प्रभुता-सम्पन्न होता है। अपने निर्माण की प्रक्रिया मे समाज स्वय सम्प्रभुताधारी बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रभुता-सम्पन्न निकाय का एक निर्णायक भाग होता है। समझौते से किसी सरकार की स्थापना नही होती, अपितु सामान्य इच्छा पर आधारित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार इस प्रभुत्व शक्ति द्वारा नियुक्त यन्त्रमात्र होती है।

इस तरह हम देखते है कि रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के समझौते से भिन्न होते हुए भी प्रभावी अवश्य है। हॉब्स की भाँति रूसो ने माना है कि समझौते के लिए उत्सुक व्यक्तियो ने अपने सम्पूर्ण अधिकार बिना किसी शर्त के व्यक्ति या व्यक्ति समूह को नही सौंपे। लॉक की भाँति रूसो ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद सम्पूर्ण सत्ता समाज मे ही निहित रही।

प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक सविदा की आलोचना

(1) रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निराधार एव काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित नही करते कि मनुष्य कभी ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवनयापन करते थे। साथ ही रूसो की प्राकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है। यह कहना भ्रामक है कि मनुष्य लौकिक रूप से श्रेष्ठ एव गुणी है और उसके सम्पूर्ण दोष केवल बाह्य परिस्थितियो द्वारा उत्पन्न हुए है। वस्तुत, मनुष्य तो अच्छाई और बुराई दोनो का सम्मिश्रण है। उसमे पशुता का अश भी है और देवत्व का भी। पुनश्च, यदि व्यक्ति मूलत. उच्च श्रेष्ठ है तो यह समझ मे नही आता कि केवल सम्पत्ति के प्रवेश से ही उसके समस्त गुण क्योकर लुप्त हो गए।

(2) रूसो प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है किन्तु यह विचार तर्क-सम्मत नही है। मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नही। सभ्यता और वैज्ञानिक प्रगति के पथ पर जितना मनुष्य चल चुका है, उतना आज से पूर्व कभी नही चल पाया था। मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति उसे नित्य नवीन क्षेत्रो की ओर उन्मुख करती है, पीछे की ओर नही धकेलती।

(3) रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति एव समाज मे होता है, किन्तु दूसरी ओर समाज समझौते का परिणाम है—यह स्पष्टत: एक विरोधात्मक है और इस दृष्टिकोण से समझौता असगत

हो जाता है । रूसो के वर्णन मे एक अन्य असगत तथ्य यह है कि कही तो वह समझौते को ऐतिहासिक घटना कहता है और कही उसे एक निरन्तर चलने वाला क्रम ।

(4) रूसो की यह धारणा भी गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते का परिणाम है । राज्य का जन्म तो मानव के क्रमिक विकास द्वारा हुआ है ।

(5) रूसो के अनुसार समझौते के द्वारा व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अपने अधिकार समाज को सौंप देता है । इस तरह उसके पास समझौता हो जाने के बाद स्वतन्त्रता एव अन्य अधिकार रह ही नही जाते । रूसो इसकी सफाई यह कहकर देता है कि सामूहिक रूप से व्यक्ति स्वतन्त्रता एवं अधिकारो को पुन प्राप्त कर लेता है, पर अधिकारो और स्वतन्त्रता की यह पुन प्राप्ति एक सैद्धान्तिक कथन मात्र है । वास्तविकता तो यह है कि समझौते से निर्मित राज्य निरकुश है जिसकी हर आज्ञा का पालन करना व्यक्ति का धर्म है । रूसो व्यक्ति की खुशियो, कामनाओ और स्वतन्त्रता को, सामान्य इच्छा की आड मे राज्य की इच्छा पर न्योछावर कर देता है ।

(6) रूसो ने व्यक्ति को प्रजा और नागरिको दोनो का स्थान प्रदान किया है । व्यक्ति नागरिक इस दृष्टि से है कि वह राज्य-शक्ति का एक भाग है और प्रजा इसलिए है कि वह राज्य की आज्ञाओ का पालन करता है । इस व्यवस्था का व्यावहारिक रूप यह बनता है कि यदि आज्ञानुसार किसी व्यक्ति को फाँसी दी जाती है तो यह कहना चाहिए कि वह व्यक्ति स्वय अपनी आज्ञा से फाँसी पर लटकाया जाता है । यह बडी हास्यास्पद स्थिति है । समझौता भी राज्य-सस्था के अभाव मे सम्भव नही है । समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपादन करा सकने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो अत राज्य-सस्था के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य आपस मे कोई समझौता कर सकते है, उसके पहले नही । अराजक दशा मे भी मनुष्य परस्पर मिलकर कोई समझौता कर सकते है, यह कतई युक्ति-सगत प्रतीत नही होता । इसके अतिरिक्त किसी अज्ञात काल मे किया गया समझौता वर्तमान युग के लोगो के लिए कैसे लागू हो सकता है, यह बात भी समझ से परे है ।

(7) रूसो ने सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, वह राज्य को स्वेच्छाचारी बना देती है । चूंकि विधि-निर्माण इसी सामान्य इच्छा का अबाध अधिकार है, अत यह अन्याय भी कर सकती है । इसकी आड मे निरकुशता एवं अन्याय को प्रोत्साहन मिल सकता है ।

रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा

(Rousseau's Conception of General Will)

रूसो ने जिस ढग से सामाजिक सविदा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसमे 'सामान्य इच्छा' का बहुत अधिक महत्त्व है । 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के लिए रूसो की अमर देन है ।[1] कुछ विचारको के मतानुसार तो यह जनतन्त्रवाद की आधारशिला है । काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि दार्शनिको का विचारवाद (Idealism) भी इसी पर आधारित है लेकिन जहाँ जनतन्त्र के समर्थको ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया है वहाँ निरकुश शासको ने इसका दामन पकड कर जनता पर मनमाने अत्याचार भी ढाए है । शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा है जितना कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त ।

रूसो की सामान्य इच्छा को भली-भांति समझने के लिए सबसे पहले हमे इच्छा के स्वरूप को समझना चाहिए । रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की दो प्रमुख इच्छाएं होती है—

(1) यथार्थ इच्छा (Actual Will), एव
(2) आदर्श इच्छा (Real Will) ।

1 *Jones :* op cit, p 318

यथार्थ इच्छा (Actual Will) वह इच्छा है जो स्वार्थगत, संकीर्ण एवं परिवर्तनशील है। जब मनुष्य केवल अपने लिए ही सोचता है तब वह यथार्थ इच्छा के वशीभूत होता है। रूसो के अनुसार मनुष्य की यह भावना-प्रधान इच्छा होती है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य विवेकहीनता से कार्य करता है। वह सर्व-साधारण के हित की कल्पना नहीं करता, केवल अपने स्वार्थ में डूबा रहता है। व्यक्ति की यह क्रान्तिकारी इच्छा होती है और इसमें व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण तथा अन्तर्द्वन्द्वमयी होता है।

इसके विपरीत आदर्श इच्छा (Real Will) वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो के अनुसार यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है तथा स्वतन्त्रता की द्योतक है। यह व्यक्ति की उत्कृष्ट इच्छा है जो सुसंगठित, स्वार्थविहीन, कल्याणकारी एवं सुसंस्कृत होती है। यह इच्छा व्यक्ति में स्थाई रूप से निवास करती है। इस इच्छा के वशवर्ती होकर व्यक्ति यथार्थ इच्छा (Actual Will) की भाँति अस्थाई परिणामों की ओर आकर्षित न होकर स्थाई निर्णयों को स्वीकार करता है। इसके द्वारा व्यक्ति सार्वजनिक हित का चिन्तन करते हुए स्वार्थ को निम्न स्थान देता है। मनुष्य की इस इच्छा का अभिव्यक्तिकरण व्यक्ति और विवेक से काम लेकर समाज के मध्य होता है।

रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' (Lower Self) पर आधारित होती इच्छा उसके 'श्रेष्ठ स्व' (Higher Self) पर। यथार्थ और आदर्श इच्छा में अन्तर एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक प्रशासकीय अधिकारी को रिश्वत देकर कोई व्यक्ति उससे अपना अवैध कार्य करवाना चाहता है। यदि धन के लोभ में वह अधिकारी उस व्यक्ति का कार्य करने को तैयार हो जाए, तो यह उसकी यथार्थ इच्छा है, किन्तु यदि अधिकारी रिश्वत न ले तो यह उनकी आदर्श इच्छा है।

यथार्थ और आदर्श इच्छा के भेद पर ही 'सामान्य इच्छा' का विचार आधारित है। वास्तव में सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का निचोड़ अथवा उनका संगठन और समन्वय है। ओसांकि के शब्दों में यह "पूर्ण समाज की इच्छा है अथवा सब व्यक्तियों की इच्छा है, यदि उसका ध्येय सामान्य हित हो।" यह सामान्य हित की सामूहिक चेतना है। वेपर के अनुसार, 'सामान्य इच्छा सब नागरिकों की इच्छा है, जबकि वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं बल्कि सामान्य कल्याण के इच्छुक होते हैं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है।" सामान्य इच्छा का असाधारण रूप यह है कि वह अपने सदस्यों के निजी हितों से भिन्न रूप में सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है। सभी लोग अपने सम्मिलित लाभों को सामान्य इच्छा के प्रति समर्पित करते हैं। सामान्य इच्छा में व्यक्तिगत लाभों को कोई स्थान नहीं है। इसका अनुबन्ध सभी के लाभ का अनुबन्ध है। मेवाइन के अनुसार "सामान्य इच्छा समाज का एक विचित्र प्रतिनिधित्व करती है। इसका उद्देश्य स्वार्थपरता और कुछ इने-गिने हितों की रक्षा न होकर सर्वसाधारण के हित की रक्षा करना होता है।"

सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है—'मेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग अपना सर्वस्व राज्य को सौंप देते हैं। राज्य का हित सभी नागरिकों का सर्वश्रेष्ठ हित है।" वह आगे कहता है—"हमारे समस्त क्रियाकलाप हमारी इच्छा के परिणाम हैं किन्तु राज्य के कल्याणार्थ जो मेरी इच्छा है वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा से या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक नैतिक है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लाभों की इच्छा का ध्येय बदल सकता है। चूँकि 'सामान्य इच्छा' समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः वह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न इच्छा (Sovereign Will) ही है।" आगे चलकर रूसो पुनः लिखता है "चूँकि सामान्य इच्छा मेरी ही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है अतः मुझे इस इच्छा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यदि मैं किन्हीं स्वार्थोंवश उस इच्छा को पूरा नहीं करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं तदनुसार आचरण करूँ। वास्तव में सामान्य इच्छा ही एक ऐसी शक्ति है जो मेरे ऊपर दबाव डाल सकती है क्योंकि वह मेरी अपनी ही इच्छा है। चाहे मैं कभी अपनी इच्छा (या सामान्य इच्छा) को न

भी पहचानूँ तो भी मेरे लिए यह आवश्यक है कि मैं उक्त सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करूँ। सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करने में स्वयं अपने आदर्शों का ही पालन कर रहा हूँ और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हूँ।" इसी सम्बन्ध में रूसो पुनः बल देकर कहता है कि—"यदि कोई व्यक्ति सामान्य इच्छा की अवहेलना करेगा तो समस्त समाज उसके ऊपर दबाव डालेगा।"

रूसो के मत में सामान्य इच्छा न तो बढ़ सकती है और न वह दूर की जा सकती है। संसदीय प्रशासन प्रणाली में सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि "ज्यों ही राष्ट्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है त्यों ही सामान्य इच्छा स्वतन्त्र नहीं रह जाती। सत्य यह है कि सामान्य इच्छा का अस्तित्व ही नहीं रहता।" रूसो का कहना है कि निर्वाचनों के समय इंग्लैण्ड स्वतन्त्र नहीं रहता और निर्वाचनों के बाद तो वह गुलाम देश हो जाता है, क्योंकि सामान्य इच्छा किसी को प्रदान नहीं की जा सकती। प्रदत्त सामान्य इच्छा का अर्थ तो मृत सामान्य इच्छा है।

प्रकट है कि रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्ति का ही विशिष्ट रूप नहीं है वरन् राज्य का भी है। प्रत्येक समुदाय एवं संस्थान, जिसके सदस्यों में सार्वजनिक भावना होती है, एक सामूहिक मस्तिष्क की विद्यमानता को इंगित करता है। यह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्तियों के मस्तिष्कों के योग से उच्चतर होता है। इस प्रकार राज्य को, जो कि सबसे उच्च समुदाय है, सामूहिक मस्तिष्क भी एक नैतिक अस्तित्व रखता है। रूसो का विचार है कि जिस अनुपात में लोग सार्वजनिक हित को सामने रख सकेंगे और जिस अनुपात में वे अपने व्यक्तिगत हितों को भुला सकेंगे उसी अनुपात में सामान्य इच्छा पूर्ण होगी।

सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'Will of All' (सर्वसाधारण की इच्छा) से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओं को प्रथम स्वयं के, दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमें उनकी यथार्थ एवं आदर्श दोनों इच्छाएँ शामिल रहती हैं, किन्तु राजनीतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में इन इच्छाओं का अशुद्ध और अनैतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल आदर्श इच्छा ही बची रहती है। इच्छाओं का ऐसा शुद्ध समन्वय ही सामान्य इच्छा बन जाती है। उदाहरणार्थ अ, ब, स, द व्यक्तियों की इच्छाएँ क्रमशः $अ_1$ $अ_2$ $ब_1$ $ब_2$ $स_1$ $स_2$ $द_1$ $द_2$ हैं। इनमें $अ_1+ब_1+स_1+द_1$ भावना प्रधान यथार्थ इच्छाएँ हैं, परन्तु ये आपस में मिलकर नष्ट हो जाती है और शेष $अ_2+ब_2+स_2+द_2$ रह जाती है जो सामान्य इच्छा है। मनुष्य में इसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति निहित है। सामान्य इच्छा के निर्णय आदर्श होते हैं जिनका पालन सभी व्यक्ति करते हैं। सार्वभौमिकता का प्रतिनिधित्व सामान्य इच्छा ही करती है। जब सार्वभौमिकता लोककल्याण के हित में कार्य करती है तो सामान्य इच्छा का पालन होता है। जब तक विधियाँ लोक-मंगल का ध्यान रखती हैं साधारण इच्छा का पालन होता है। इस समय वे भी साधारण इच्छा का अभिव्यक्तिकरण होती है तथा स्वशासन को प्रोत्साहित करती है।

सामान्य इच्छा और जनमत एवं समस्त की इच्छा में अन्तर

सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत में संख्या बल पर। सामान्य इच्छा के पीछे जनता का कितना भाग है—इस पर महत्त्व नहीं दिया जाता। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या थोड़े व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता को कितना समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त सामान्य इच्छा में बल दिए जाने वाले सामान्य हित में अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक दोनों ही वर्गों के हित शामिल होते हैं जबकि अल्पसंख्यक वर्ग का अहित भी हो सकता है और बहुसंख्यक वर्ग की स्वार्थसिद्धि भी।

'सामान्य इच्छा' तथा 'समस्त की इच्छा' (Will of All) मे भी अन्तर है। सामान्य इच्छा का अर्थ समाज के समस्त सदस्यो की इच्छाओ का कुल योग नहीं होता। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितो का विचार करती है, समस्त अथवा सबकी इच्छा वैयक्तिक हितो का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। सामान्य इच्छा एक ऐसी एकता है जैसी 'समस्त की इच्छा' कभी नही हो सकती। सामान्य-इच्छा एक 'सम्पूर्ण' के रूप मे (व्यक्तियो के एक समूह-मात्र के रूप मे नहीं) समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, यह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नही है बल्कि यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है। हॉब्स का यह कथन कि 'लेवियाथन' की सर्वोच्च इच्छा सबकी इच्छाओं से कही अधिक है और वह एक ही व्यक्ति मे उन सबका एकीकृत हो जाना है, रूसो की सामान्य इच्छा पर भी लागू होता है। सामान्य इच्छा एकात्मक है क्योंकि इसे अभिव्यक्त करने वाला सम्प्रभुताधारी निकाय एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय होता है, जिसका अपना जीवन, अपनी इच्छा तथा अपना उद्देश्य होता है। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की इच्छा भी हो सकती है और अनेक व्यक्तियो की भी। यह केवल आदर्श इच्छा का सार है और सदैव सामान्य हित की ओर ही सकेत करती है। सामान्य इच्छा समस्त इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के निराकरण मात्र से नहीं बनती, किन्तु समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है और यह आवश्यक नही है कि समाज की बहुसख्या द्वारा यह निर्धारित हो। सामान्य इच्छा मे भावना की प्रधानता है जबकि सर्वसम्मति अथवा समस्त की इच्छा मे सम्मति देने वाले व्यक्तियों की सख्या का महत्त्व है। इसमे आदर्श इच्छा की प्रधानता होने पर जनहित मे वृद्धि होगी और यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर केवल वर्ग विशेष की स्वार्थ-सिद्धि होगी लेकिन सामान्य इच्छा मे अहित की कोई गुंजाइश ही नही है। वह तो सदा श्रेष्ठ और शुभ है। वह एक राजनीतिक जीव रूपी सम्पूर्ण समाज की इच्छा है, एक ऐसी सामूहिक इच्छा है जो केवल एक सामान्य जीवन वाले निकाय की हो सकती है। हाथ गिन कर इसका पता नहीं लगाया जा सकता। यह सबके लिए सामान्य है और इसके निर्माण में समाज के प्रत्येक सदस्य का योगदान होता है। भ्रष्ट व्यक्तियो के सामान्य हित की कामना रखते हुए भी उस कार्य मे वास्तविक रूप से सामान्य हित न होने के कारण उनकी इच्छा सामान्य इच्छा नही कही जाएगी। यह समस्त की इच्छा होगी। यदि अमेरिका मे सभी श्वेत व्यक्ति नीग्रो लोगो के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार करें तो यह समस्त की इच्छा (Will of All) हो सकती है, सामान्य इच्छा (General Will) नही। रूसो का मत है कि मनुष्य यदि बहकाया न जाए और उसकी विचार-स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप न हो तो वह सदा ही अपने व्यक्तिगत हितो को सामाजिक हितो के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध कर देगा। इस दशा मे समस्त की इच्छा और सामान्य इच्छा एक ही होगी।

रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

1 एकता—सामान्य इच्छा सदैव व्यक्तिसगत होती है, अत उसमे कभी परस्पर विरोध नही हो सकता। विवेकयुक्त एवं बुद्धिजन्य होने के कारण यह आत्म-विरोधी नहीं होती। इस इच्छा का अभिप्राय ही यह है कि विभिन्नता में एकता स्थापित हो जाए। रूसो के स्वय के शब्दो मे —"यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों मे प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों मे होने की आशा की जाती है।"

2 स्थायित्व—सामान्य इच्छा स्थायी एव शाश्वत है। यह इच्छा भावनाओं की उत्तेजना मे तथा वक्ताओं के भाषण मे नही पाई जाती और इसीलिए क्षणिक अथवा अल्पकालीन नही होती। यह लोगो के स्वभाव और चरित्र का एक अंग बन जाती है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमे स्थिरता होती है। रूसो के शब्दो में—"इसका कभी अन्त नही होता, यह कभी भ्रष्ट नही होती, यह अनित्य, अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।"

3. **औचित्य**—सामान्य इच्छा सदैव शुभ, उचित तथा कल्याणकारी होती है और सदैव जन-हित को लेकर चलती है। यह इच्छा सबकी श्रेष्ठ इच्छा है क्योंकि यह सबकी आदर्श इच्छाओं का योग है। यह हो सकता है कि जनता के निर्णय सदा उचित न हो क्योंकि मनुष्य सदैव अपना हित सोचता है, पर वह यह नहीं जानता कि उसका हित वास्तव में क्या है? यद्यपि जनता भ्रष्ट नहीं होती, पर उसके निर्णय भ्रमपूर्ण हो जाते हैं और उसकी इच्छा गलत हो जाती है पर सामान्य इच्छा कभी गलत नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा के होते हुए प्रथम तो कोई दोषपूर्ण निर्णय हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा हो भी जाए तो दोष सामान्य इच्छा का नहीं वरन् उसके सचालन करने वालों का है।

4. **सम्प्रभुताधारी**—सामान्य इच्छा सम्प्रभुताधारी है। सम्प्रभुता के समान ही यह अविभाज्य, अदेय है। यह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं हो सकती जैसा कि आधुनिक बहुलवादी (Pluralists) उसे करना चाहते हैं। इसे सरकार के विभिन्न अंगों—कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। इसके विभाजन का अर्थ इसे नष्ट करना है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व भी इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। सम्प्रभुता के समान ही सामान्य इच्छा भी निरपेक्ष है। रूसो के अनुसार सम्प्रभुता का प्रमुख गुण बाह्य शक्ति का प्रयोग नहीं बल्कि निष्काम भावना है और सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित कार्य सदैव निष्काम होते हैं। यह निष्काम दो प्रकार से होती है—प्रथम, इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है और द्वितीय, यह सामान्य हित की बातों में जन-सेवा भाव से प्रेरित होती है।

5 **रचना में भी सामान्य**—सामान्य इच्छा उद्देश्य की दृष्टि से ही नहीं बल्कि रचना में भी सामान्य होती है। अभिप्राय यह हुआ कि इसे समाज के प्रत्येक सदस्य की इच्छा को ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही इसका पालन करने के लिए व्यक्तियों को बाधित किया जाना चाहिए।

6 सामान्य इच्छा को राज्य का अधिकार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, अपितु जनता की सहमति से सचालित होता है।

सामान्य इच्छा और विधि-निर्माण

सामान्य इच्छा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माण करना है। विधि-निर्माण अथवा व्यवस्थापन सामाजिक सविदा द्वारा उत्पन्न राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। रूसो के ही शब्दों में—"सविदा राज्य को अस्तित्व एव जीवन प्रदान करता है, अब व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे गति तथा इच्छा प्रदान करनी है, क्योंकि वह मूल सविदा, जिसके द्वारा राज्य का निर्माण तथा सगठन होता है, किसी भी प्रकार यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने प्रतिरक्षण के लिए क्या करना चाहिए।"

विधि-निर्माण का कार्य सम्प्रभुताधारी का है और सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है, अतः विधि-निर्माण एकमात्र सामान्य इच्छा का ही कार्य होना चाहिए। सामान्य इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा विधायी कार्य नहीं किया जा सकता और चूंकि विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। राज्य यदि एक नैतिक व्यक्ति है तो यह जरूरी है कि उसका कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रत्येक अवयव उसकी इच्छानुसार कार्य करे। विधि अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि यह उस सामान्य इच्छा का आदेश होती है जो समस्त समाज की इच्छा होती है और जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण का वास्तविक कल्याण होता है। कोई भी अथवा सम्पूर्ण समाज स्वयं अपने प्रति अन्याय नहीं कर सकता। रूसो के अनुसार विधि के अधीन रहने पर भी हम स्वतन्त्र रह सकते हैं, यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती हो। विधि का अस्तित्व भी तभी है जब सब लोग तदनुसार कार्य करते रहें। रूसो के विचारों में यहाँ एक विरोधाभास है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त विधि की सर्वोच्चता को भी स्वता

ही समर्थक है जितना व्यक्तिगत अधिकारो का । वह स्वय कहता है, "राज्य अपने सदस्यो पर ऐसा कोई बन्धन नही लगा सकता जो समाज के लिए बेकार हो ।"

चूंकि सामान्य इच्छा सदैव सद् होती है, किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णयबुद्धि पूर्ण ज्ञानयुक्त नहीं होती अत: जनता को सद्-असद् या शुभ-अशुभ का ज्ञान कराने के लिए और दूरदर्शितापूर्ण एवं विवेक-सम्मत विधि-निर्माण करने के लिए रूसो विधि निर्माता या विधायक (Legislator) की भी व्यवस्था करता है । इस विधायक को अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न और उचित विधियो एवं संस्थाओ की व्यवस्था करने मे समर्थ होना चाहिए । उसे एक ऐसा विद्वान् दार्शनिक होना चाहिए जो जन-साधारण की विभिन्न आवश्यकताओ को समझता हो और परिस्थितियो के अनुरूप विधियो की रूपरेखा बना सकता हो । यह विधि-निर्माता केवल उपरोक्त कार्य कर सकने की दृष्टि से ही मेधा-सम्पन्न होना चाहिए, विधियो को पारित करने और उन्हें कार्यान्वित करने के कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध नही है क्योंकि न तो वह सम्प्रभुताधारी होता है और न ही न्याय-रक्षक । उसका कार्य तो मात्र एक विशेषज्ञ परामर्श-दाता का है जो जन-साधारण को यह बतलाए कि उनके लिए सर्वोत्तम क्या है और फिर उन्हे अपने परामर्श को स्वीकार करने के लिए तैयार करे ।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा राजदर्शन को एक अमूल्य देन है, तथापि इस सिद्धान्त की निम्न-लिखित आधारो पर कटु आलोचना की गई है—

(1) अस्पष्ट—रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बडा अस्पष्ट और जटिल है ।[1] यह बताना कठिन है कि यह सामान्य इच्छा कहाँ है । "रूसो ने भी सामान्य इच्छा का भौतिक रूप प्राप्त करने का कोई साधन नही बतलाया है । कही तो रूसो का मत है कि सबके एकमत मे सामान्य इच्छा निवास करती है, किन्तु अन्य स्थलो पर वह यह भी कहता है कि सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा (Will of All) मे बडा अन्तर है । इसी प्रकार कही तो वह यह बतलाता है कि सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा है, किन्तु दूसरे स्थल पर यह भी कहता है कि ऐसा अर्थ तब ही लिया जा सकता है, जब सामान्य इच्छा की सभी विशेषताएँ बहुमत की इच्छा मे पाई जाती हो कभी-कभी रूसो का ऐसा मत भी प्रतीत होता है कि सभी नागरिको के मतो की विभिन्नताओ को निकाल कर जो शेष सामान्य इच्छा बचती है वही वास्तविक सामान्य इच्छा है । इस प्रकार सामान्य इच्छा की परिभाषा मे हमको रूसो से कही भी स्पष्ट प्रकाश नही मिलता ।" वेपर (Wayper) कहता है कि "जब सामान्य इच्छा का पता ही हमको रूसो नही दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ ? यद्यपि रूसो ने हमको सामान्य इच्छा के बारे मे बहुत कुछ बतलाया है फिर भी जो कुछ बतलाया गया है वह पूर्ण अपर्याप्त है । सत्य यह है कि रूसो ने हमको ऐसे अन्धकार मे छोड दिया है जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे मे अच्छी तरह सोच भी नही सकते ।"

रूसो के बचाव मे हम यही कह सकते हैं कि वह पूर्णत: दोषी नही है । प्रथम तो यह विषय ही बडी बारीकी लिए हुए है और दूसरे रूसो इस कठिन कार्य-क्षेत्र मे प्रारम्भिक विचारक था । 'सामान्य इच्छा' कितनी भी वास्तविक क्यों न हो, वह साकार नही हो सकती और उसका यह निराकार स्वरूप ही उसके विश्लेषण को बडा कठिन बना देता है ।

(2) सार्वजनिक हित को जानना कठिन—सामान्य इच्छा जिस सार्वजनिक हित पर आधारित है उसे जानना कठिन है । सार्वजनिक हित की व्याख्या शासकगण अपनी इच्छानुसार करते है । एक अत्याचारी शासक सार्वजनिक हित की दुहाई देकर अपने किन्ही कार्यों को उचित ठहरा सकता है । तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक कार्य का परिणाम सार्वजनिक हित ही होगा, क्योंकि

1 *Maxey* : Op. cit., p. 357.

प्रत्येक कार्य का परिणाम कार्य के पूर्ण होने पर ही ज्ञात होता है। केवल परिणाम द्वारा ही यह निश्चय किया जाता है कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित।

(3) इच्छा का विभाजन सम्भव नहीं—मानवीय इच्छा को यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा मे बांटना सम्भव नही है। यह तो मानवीय इच्छा का कृत्रिम विभाजन है। मानवीय इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसके बीच विभाजन की दीवार नही खीची जा सकती और यदि ऐसे विभाजन की कल्पना कर भी ली जाए तो यह निर्णय करना असम्भव-सा होगा कि कौनसी इच्छा यथार्थ है और कौनसी आदर्श।

(4) भयावह—'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त एक ओर तो राज्य की निरकुशता की स्थापना करता है और दूसरी ओर क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करता है। रूसो के सिद्धान्त मे व्यक्ति अपने समस्त अधिकार 'सामान्य इच्छा' को समर्पित कर देता है जो सर्वोच्च शक्ति के रूप मे शासन करती है। रूसो व्यक्ति के लिए किसी की व्यवस्था नही करता। यद्यपि उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना है तथापि वह बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को बहुमत के आगे झुकने के लिए विवश कर देता है। बहुमत से असहमत होने वाले व्यक्तियो के लिए बचाव के सभी मार्ग बन्द हैं। कोल (Cole) के शब्दो मे, "हमे बताया जाता है कि 'सामान्य इच्छा' मे जिस स्वतत्रता की अनुभूति होती है वह सम्पूर्ण राज्य की स्वतन्त्रता होती है, परन्तु राज्य अपने घटको को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए कायम है। एक स्वतंत्र राज्य अत्याचारी हो सकता है, इसके विपरीत एक निरकुश शासक अपनी प्रजा को प्रत्येक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस बात की क्या गारण्टी है कि राज्य स्वय अपने को स्वतन्त्र बनाने मे अपने घटको (Members) को दास नही बना डालेगा।"[1] रूसो ने वैयक्तिक हित को सार्वजनिक हित से सर्वथा भिन्न समझते हुए राज्य को इसका करने वाले तत्वो मे अधिक ऊँची, पवित्र और पूजनीय सत्ता बना दिया है जिसके लिए व्यक्तियो को अपने हितो का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इससे सरकार के हाथ मे असाधारण सत्ता और शक्ति आ जाती है। पुनश्च, रूसो ने स्वंयमेव लिखा है कि, "जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे नही देख सकती।" अतः जनता को उसका हित बतलाने वाले नेता और पथ-प्रदर्शक सम्पूर्ण सत्ता हथियाकर निरकुश शासक बन सकते है। स्पार्टा मे लाइकरगस एव एथेन्स मे सोलन और आधुनिक जर्मनी तथा इटली मे हिटलर और मुसोलिनी इसी प्रकार के नेता थे। जोन्स का कहना है कि "सामान्य इच्छा की धारणा के प्रयोग मे मुख्य भय यह है कि राज्य मे तानाशाही की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है।"[2]

रूसो के विरुद्ध ये सभी आपत्तियाँ उठाना इस दृष्टि से उचित नही है कि वह एक ऐसा विचारक था जिसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता से गहरा प्रेम था। 'The Emile' के कुछ अश निर्विवाद रूप से रूसो के वैयक्तिक मूल्य मे दृढ विश्वास को स्थापित करते है। उदाहरणार्थ एक जगह वह लिखता है कि "व्यक्ति इतना महान् है कि उसे दूसरो का काम करने के लिए एक यन्त्र-मात्र नही बनाया जा सकता" और एक दूसरे स्थान पर वह घोषित करता है कि "छात्र की शिक्षा राज्य के हित के लिए नही, उसके स्वय के हित के लिए दी जानी चाहिए और उसे सदैव यह सिखाना चाहिए कि वह अपने आपको हमेशा एक साध्य (End) समझे, एक साधन (Means) कभी नही।" राज्य को साध्य मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उसने यह विश्वास अभिव्यक्त किया है कि वैयक्तिक सुरक्षा के बिना जन-सुरक्षा निरर्थक है। स्पष्ट है कि इन उद्धरणों के प्रकाश मे रूसो पर निरकुशवाद एवं सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन देने का आरोप लगाना न्यायसंगत नही है। रूसो पर प्रायः यह आरोप भी लगाया जाता है कि वह एक ऐसे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करने वाला है जिसकी परिणति अराजकता हो सकती है।

1 *Cole* : Introduction in Everyman's Library Series, Page 35
2 *Jones* : Op. cit, p 322

ये दोनो आरोप स्वय ही एक-दूसरे को काटने वाले हैं। तब फिर वस्तु-स्थिति क्या है—इसका उत्तर हमे राइट (Wright) के इन शब्दो मे मिलता है—

"यह पुस्तक न तो व्यक्तिवादी के लिए है और न निरकुशवादी के लिए। राज्य और व्यक्ति के मध्य उस सघर्ष मे जो अरस्तू से लेकर आज तक राजदर्शन के सामने एक सकटपूर्ण समस्या के रूप मे उपस्थित रहा है, यह ग्रन्थ शान्ति का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।""प्रगति के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए किन्तु राज्य को, जो प्रगति का पोषण करता है, अपना कार्य करने के लिए शक्ति भी रखनी चाहिए। स्वतन्त्रता सुरक्षित होनी चाहिए, क्योकि सदिग्ध स्वतन्त्रता कोई स्वतन्त्रता नही होती, किन्तु साथ ही शक्ति को भी सर्वोच्च होना चाहिए क्योकि सशर्त शक्ति निरर्थक है अत. दोनो को पूर्ण रहना चाहिए, उनमे कोई संघर्ष नही होना चाहिए और हमारा लेखक उन दोनो का एक ऐसे कानून मे सामजस्य करना चाहता है जिसमे न तो सर्वोच्चता का अभाव हो और जो न ही स्वतन्त्रता को सीमित करता हो। जिस तर्क के द्वारा वह ऐसे कानून पर पहुँचता है उसकी यह कहकर आलोचना की जा सकती है कि वह एक थोथी कल्पना है, एक निरादर्श है अथवा वह कदाचित् आध्यात्मिक है, किन्तु उसे न तो व्यक्तिवादी ही कहा जा सकता है और न निरकुशवादी ही।"[1]

यह भी स्मरणीय है कि रूसो व्यक्ति को अपनी शक्तियाँ सामान्य इच्छा के सामने समर्पित करने का आग्रह इसलिए करता है कि यह आंशिक (Partial) समर्पण वास्तव मे कोई समर्पण नही है। अपने शरीर और अपनी शक्तियो को सामान्य उद्देश्य के लिए समर्पित करके हम दरअसल राज्य को-ऐसे राज्य को जो हमारे अधिकारो को सर्वाधिक सुरक्षित रख सकने मे समर्थ होता है—शक्तिमान बनाते हैं। अपनी स्वतन्त्रता और अपनी शक्तियो की रक्षा के लिए किसी सामान्य शक्ति को जन्म देना अनुचित नही कहा जा सकता। जब हम रूसो पर यह आरोप लगाते हैं कि उसने इस बात का कोई मार्ग या रक्षण प्रस्तुत नहीं किया कि स्वतन्त्र राज्य निरकुश नही बनेगा तो हम यह भूल जाते है कि उसने यथार्थ और आदर्श इच्छा मे विभेद किया है और यह विभेद उसकी इस मूल भावना का द्योतक है कि वह अधिनायकवादी और सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति का विरोधी है। रूसो यह स्पष्ट बतलाता कि "सामान्य इच्छा से निर्दिष्ट होने वाले एक राज्य के हित व्यक्ति के ही हित होते है बशर्ते कि व्यक्ति अपनी सच्ची इच्छा द्वारा प्रेरित हो, अर्थात् विश्व-हित को ध्यान मे रखते हुए विवेकपूर्वक और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करे।"[2]

फिर भी, रूसो की मूल भावना का सम्मान करते हुए भी, यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आड मे बहुमत ने अल्पमत का दमन किया है। बहुमत प्रायः यह भूल जाता है कि सामान्य इच्छा का आधार न्याय और नैतिकता है। अतः यही कहना होगा कि रूसो का सिद्धान्त एक हवाई उडान है। यह एक ऐसी धारणा है जो तथ्यो की पहुँच से परे और परिणामो की चिन्ता से मुक्त रहकर ऊपर शून्य मे उडान भरती है।

(5) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त छोटे राज्यो मे भले ही सफल हो सके, पर आधुनिक विशाल और विविध हितो से परिपूर्ण जनसख्या वाले राज्यो मे सफल नही हो सकता। आधुनिक राज्यो मे सामान्य हित का निर्धारण करना लगभग असम्भव ही है।

(6) रूसो सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलो की सत्ता और प्रतिनिधि-मूलक शासन-व्यवस्था का विरोध करता है जबकि इनका होना आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यो की सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

(7) "रूसो की सामान्य इच्छा न तो सामान्य है और न इच्छा ही वरन् निराधार एव अमूर्त चिन्तन है।"

1 *Wright*: Meaning of Rousseau, p 103.
2 *Cole*: Op. cit, p 38.

वस्तुतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की गम्भीरतम आलोचना यही लगती है कि न तो "यह सामान्य है और न इच्छा ही (In so far as it is General, it is not Will, and so far as it is not General)।" इस आपत्ति का अर्थ यह है कि इच्छा सामान्य होने पर इच्छा ही नहीं रहती। दूसरे शब्दों में इच्छा किसी व्यक्ति विशेष की ही हो सकती है। व्यक्ति अपनी जन्मजात शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए तथा अपनी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ कामना करता है और कुछ चीजें चाहता है और यही वास्तव में उसकी इच्छा है। इस प्रकार की इच्छा अलग-अलग व्यक्तियों में निवास करती है क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों का अपना-अपना जीवन होता है। वास्तव में सामान्य जीवन जैसी कोई चीज नहीं है और जब सामान्य जीवन ही नहीं है तो सामान्य इच्छा कैसे हो सकती है। हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने कल्याण की इच्छा करे और अपने ही सरीखे दूसरे लोगों के कल्याण की इच्छा करे किन्तु इन दोनों ही सूरतों में इच्छा विशिष्ट होगी, सामान्य नहीं।

रूसो की कुछ ऐसी कल्पना है कि विभिन्न व्यक्तियों के मिलने से जो समाज बनता है वह एक पुरुष के समान होता है और उस समाज-पुरुष का कल्याण ही सामान्य कल्याण है तथा उस सामान्य कल्याण की इच्छा ही सामान्य इच्छा है। किन्तु समाज-पुरुष की यह कल्पना ही निराधार है। विशिष्ट व्यक्तियों के अलग जीवन का कोई केन्द्र नहीं होता। सुख-दुःख का अनुभव विशिष्ट व्यक्ति को ही होता है किन्तु यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि समाज-पुरुष होता है और उसकी इच्छा भी होती है जिसे हम सामान्य इच्छा कहते हैं तो सही अर्थ में हम उसे इच्छा नहीं कहेंगे क्योंकि इच्छा के साथ तो राग-द्वेष लगा रहता है। इच्छा की उत्पत्ति ही तब होती है जबकि अपने और पराए का भेद नष्ट हो जाए। अतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की यह आलोचना ठीक ही प्रतीत होती है कि न तो यह सामान्य है और न यह इच्छा ही है।

रूसो के राजदर्शन में इतना विभ्रम मुख्यतः इसलिए कि वह शक्ति अथवा रक्त-सम्बन्ध की अपेक्षा सदस्यों की स्वतन्त्र अनुमति, राजनीतिक सगठन का सच्चा आधार मानता था। राज्य की उत्पत्ति में समझौता-सिद्धान्त की परम्परागत कल्पना करते हुए भी उसने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को महत्त्व दिया। उसने इन दोनों में समन्वय का असफल प्रयत्न किया। दो विरोधी धारणाओं को मिलाने के प्रयास में उसके दर्शन में भ्रान्तियाँ और असगतियाँ घर कर गई।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का महत्त्व

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की जो भी आलोचनाएँ की जाएँ हम इसके महत्त्व से इन्कार नहीं कर सकते। निम्नलिखित तथ्य इसकी पुष्टि करते हैं—आदर्शवादी विचारधारा

(1) रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने आदर्शवादी विचारधारा की नीव डाली, जिसे आधार मानकर टी एच ग्रीन ने राज्य का मुख्य आधार बल न मानकर इच्छा को माना (Will not force is the basis of State)। उसने इसी सिद्धान्त की सहायता से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जनतन्त्र बहुमत की शक्ति का परिणाम नहीं है वरन् सक्रिय नि स्वार्थ इच्छा का फल है।

(2) रूसो की सामान्य इच्छा राजनीतिक कार्यों में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का प्रमुख कार्य विधि-निर्माण और शासनतन्त्र की नियुक्ति और उसे भग करना है।

सामान्य हित की महत्ता प्रतिपादित करना

(3) अपने सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामान्य हित को उभारा है और बतलाया है कि सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना ही समाज को स्वस्थ और परिष्कृत बनाती है।

(4) रूसो ने एक ऐसे राज्य की स्थापना की जिसमें नागरिक नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। रूसो के अनुसार व्यक्ति के अधिकार—स्वतन्त्रता एव नैतिकता, सामान्य इच्छा के द्वारा प्राप्त हो

सकते है। रूसो के इस सिद्धान्त ने आगे चलकर कल्याणकारी राज्य-सिद्धान्त के विकास मे बडा योग दिया। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने इस विचार का पोषण किया कि राज्य एक नैतिक सगठन है जो मानव की असामाजिक एवं स्वार्थी प्रवृत्तियो का परिष्कार करते हुए सामूहिक कल्याण पर ध्यान देता है।

(5) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एव व्यक्ति मे शरीर तथा उसके अगो का सम्बन्ध स्थापित करके मानव के सामाजिक स्वरूप को दृढ करता है।

(6) रूसो की सामान्य इच्छा स्पष्ट करती है कि राज्य एक प्राकृतिक सस्था है और हम इसका पालन इसलिए करते हैं क्योकि सामान्य इच्छा हमारी आन्तरिक इच्छा का प्रतिनिधित्व-मात्र है।

रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा
(Rousseau's Conception of Sovereignty)

रूसो का सम्प्रभुता-सिद्धान्त हॉब्स, लॉक तथा बोदाँ के विचारो से प्रभावित है। उसने सम्प्रभुता की व्याख्या हॉब्स की पूर्णता और सक्षिप्तता के साथ तथा लॉक की विधि के आधार पर की है।

रूसो ने सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा मे केन्द्रित माना है। यह समाज अथवा समुदाय मे निवास करती है। सम्प्रभुता को जनता मे प्रतिष्ठित करके रूसो निरकुशवाद के विरुद्ध एक बहुत बडा शस्त्र प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रभु-शक्ति का हिस्सेदार है। चूंकि समाज स्वय सम्प्रभु है, अत वही सर्वोच्च शक्ति है और उस शक्ति का कोई शत्रु नही हो सकता। जनता सरकार के कार्यों पर कडी और सचेत निगाह रखती है। यहाँ विद्रोह का कोई प्रश्न ही नही उठता, क्योकि जनता स्वय सम्प्रभु है।

रूसो ने सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' मे निहित करके एक असीम, अविभाज्य और अदेय सार्वभौमिकता का समर्थन किया है। हॉब्स की भाँति निरकुशता के स्तर मे उसने कहा है "जिस प्रकार प्रकृति मनुष्य को अपने अगो पर निरकुश सत्ता देती है उसी प्रकार सामाजिक समझौता भी राज्य को अपने अगो पर सम्पूर्ण निरकुश सत्ता प्रदान करता है।" किन्तु हॉब्स की निरकुशता और रूसो की निरकुशता मे एक बहुत बडा अन्तर है। जहाँ हॉब्स की निरकुशता शासक से सम्बद्ध है वहाँ रूसो की जनता मे। रूसो ने हॉब्स की निरकुशता प्रभुता और लॉक की सार्वजनिक इच्छा को एक साथ मिलाकर लोकप्रिय प्रभुता को जन्म दिया है।

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता मे सामूहिक रूप से निवास करती है अथवा यह 'सामान्य इच्छा' को प्रदर्शित करती है, अत इसका प्रतिनिधित्व नही हो सकता। यह सम्प्रभुता ही विधियो का मूल स्रोत है।

रूसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विरोधाभासो से पूर्ण है। एक ओर तो वह सम्प्रभुता को असीमित बतलाता है और कहता है कि कोई भी ऐसा क्षेत्र नही है जहाँ सम्प्रभुता का प्रसार न हो तथा दूसरी ओर यह भी विचार रखता है कि सम्प्रभुता कोई ऐसा कार्य नही कर सकती जो सामान्य हित के विरोध मे हो। सम्प्रभु को सर्वोच्च शक्तियाँ देने पर भी रूसो का आग्रह है कि शासक को उचित प्रकार से शासन करना चाहिए तथा न्याय और समानता का नियम सदैव लागू होना चाहिए। यह विरोधाभास लोकप्रिय शासन के प्रति रूसो के अगाध प्रेम के कारण ही है। वास्तव मे रूसो सम्प्रभुता पर जिस प्रकार की सीमा लगाना चाहता है, वह कोई बाह्य सीमा नही है वरन् स्वतः अपने ऊपर लगाई गई सीमा है। सामान्य इच्छा आन्तरिक गुण के कारण सर्वमान्य है, अत. सम्प्रभु के कार्य और जनता के कार्यों मे उद्देश्यो की एकता रहती है—यह रूसो का विश्वास है। सविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी इच्छा को सामान्य इच्छा के साथ मिला दिया और यही सामान्य इच्छा हमारे समक्ष सम्प्रभुता का ठोस स्वरूप है। "अपनी व्यक्तिगत इच्छा को सामान्य हित की दृष्टि से सामान्य इच्छा मे मिलाने को सहमत होकर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को कोई धोखा नही देता। सामान्य इच्छा ऐसी कभी नही हो सकती जो

व्यक्ति के विरुद्ध हो ।" स्पष्ट है कि रूसो के विचारों के अनुरूप निर्मित समाज मे सम्प्रभुता, स्वाधीनता और समानता इन सब मे समन्वय स्थापित हो जाता है । रूसो का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित को सामान्य हित से पृथक् समझे तो यह वाञ्छित है कि उसे सामान्य इच्छा की आज्ञा मानने के लिए विवश किया जाए । सामान्य इच्छा की अवज्ञा का अर्थ होगा सामाजिक समझौते का टूटना और इस प्रकार पुन: पहले की प्राकृतिक अवस्था मे पहुँच जाना । रूसो का तर्क है कि इस बाध्यता मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है क्योकि पूरा राजनीतिक समाज उसे दूसरे व्यक्तियो के आक्रमण से बचाता है ।

निष्कर्ष रूप मे रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का भक्त है । उसके राजनीतिक दर्शन का रहस्य 'एक राजा के स्थान पर लोक-प्रभुत्व को स्थापित करने में है । सिजविक के अनुसार रूसो की लोक-सम्प्रभुता अथवा लोक-प्रभुत्व का सिद्धान्त इन तीन बातो पर आधारित है—(1) मनुष्य स्वभावत स्वतन्त्र और समान है, (2) सरकार के अधिकार किसी सन्धि पर आधारित होने चाहिए जिसे इन समान और स्वतन्त्र व्यक्तियो ने स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किया हो, (3) यह सन्धि जो एक बार व्यक्तियो के लिए न्याय थी, किसी समाज का अविभाज्य अग बन जाती है और वह समाज अपने आन्तरिक सविधान तथा नियम-निर्धारण को निश्चित करने का अविच्छेद अधिकार बनाए रखता है । आशय यह हुआ कि समाज ही सम्प्रभुता का स्रोत और स्वामी है ।

रूसो के शासन सम्बन्धी विचार
(Rousseau's Views on Government)

लॉक की भाति ही रूसो भी राज्य और शासन अथवा सरकार के मध्य अन्तर स्पष्ट करता है । उसके शब्दो मे "सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज जिसमे कि सामान्य इच्छा का वास होता है राज्य है जबकि शासन अथवा सरकार केवल वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह है जिसको समाज द्वारा यह अधिकार दिया जाता है कि वह सम्प्रभुता की इच्छा पूर्ण करे ।" स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार शासन एक साधन है जिसके माध्यम से लोकप्रिय सम्प्रभुता के निर्देशों को कार्य रूप मे परिणत किया जाता है । व्यक्ति एक बुरे शासक का विरोध कर सकता है, राज्य का नही ।

रूसो के विचार से स्पष्ट है कि सामाजिक समझौते द्वारा राज्य अथवा सम्प्रभुता का जन्म होता है, शासन या सरकार का नही । शासन तो एक मध्य की सस्था (An Intermediate Body) है जिसकी स्थापना सम्प्रभुता और जनता के बीच की जाती है ताकि लोगो की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके । शासन का आरम्भ किस प्रकार हुआ, रूसो का वर्णन इस सम्बन्ध मे कुछ अस्पष्ट-सा है । उसका विचार है कि सामाजिक समझौते द्वारा उत्पन्न सम्प्रभु को पूर्ण अधिकार था कि वह किसी भी प्रकार का शासन स्थापित करदे । अतः शासन के निर्माण के लिए उसने अर्थात् 'एकत्रित सम्प्रभु जनता' ने पहले शासन का स्वरूप निर्धारित किया और तब यह निश्चय किया कि इस प्रकार स्थापित पदो पर किन व्यक्तियो की नियुक्ति की जाए । रूसो के अनुसार इन दोनो मतो मे भेद था—पहला मत सामान्य इच्छा को प्रदर्शित करता था जबकि दूसरा मत केवल शासन का निर्माण करता था । दोनो मतो के मध्य जन-सभा के चरित्र मे परिवर्तन होता था । पहली सभा सम्प्रभुता थी जबकि दूसरी सभा जनतन्त्रीय शासन का स्वरूप धारण कर लेती थी । रूसो का विश्वास है कि प्रत्येक शासन का रूप जनतन्त्र से ही आरम्भ होता है ।

रूसो की विवेचना से प्रकट है कि राज्य पूरे समाज का सूचक है जो अनुबन्ध द्वारा बना है और सामूहिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है । इसके विपरीत शासन केवल शक्ति या व्यक्ति-समूह का सूचक है जो समाज द्वारा आदेश पाकर सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने मे तत्पर है । रूसो ने सरकार को न्याय-रक्षक मण्डल (Magistracy) अथवा राजा (Prince) कहकर पुकारा है । सरकार या शासन सम्प्रभु सम्पन्न जनता की नौकर मात्र है और सम्प्रभु जनता द्वारा दी गई शक्तियो को प्रयोग

ही कर सकता है। जनता अपनी इच्छानुसार सरकार की शक्ति को सीमित या संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। यहाँ हॉब्स और रूसो की धारणा मे स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के अनुसार शासन को न तो बदला जा सकता है और न उसके विरुद्ध विद्रोह ही हो सकता है क्योंकि जनता और शासन के सम्बन्ध का आधार संविदा है। इसके विपरीत रूसो के शासन या सरकार का निर्माण किसी संविदा द्वारा नही बल्कि सम्प्रभु सम्पन्न जनता के पथ्यादेश द्वारा होता है।

रूसो ने शासन का वर्गीकरण भी किया है, पर यह उसके दर्शन का सबसे निराशाजनक भाग है। उसने माण्टेस्क्यू की भाँति जलवायु, जमीन और भौगोलिक परिस्थितियो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यह माना है कि इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर यह बताया जा सकता है कि किसी प्रदेश के लिए कौन-सी सरकार सर्वोत्तम है। सरकार की अच्छाई या बुराई उसके रूप से नही बल्कि परिणामो से मानी जाती है। रूसो के अनुसार शासनो के ये रूप हो सकते है—

(1) राजतन्त्र (Monarchy) (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
(3) जनतन्त्र (Democracy) (4) मिश्रित (Mixed)

जिस सरकार की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ मे होती है तो उसे राजतन्त्र, कुछ व्यक्तियो के हाथ मे होती है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता या उसके बहुमत के हाथ मे होती है उसे जनतन्त्र कहा गया है। सरकार के इन तीनो प्रकारो की रूपरेखा बदलती रहती है। चौथा वर्ग मिश्रित सरकार का है। सरकार के इन रूपो मे सर्वोत्तम कौन-सा है, सैद्धान्तिक रूप से यह बताना असम्भव है। परिस्थितियो और देशकाल के अनुसार कोई भी शासन सर्वोत्तम या निकृष्टतम हो सकता है। हाँ यह अवश्य है कि शासन की प्रगति का निश्चित चिह्न जनसख्या है। जिस राज्य मे जनसख्या बढती जाएगी, समझना चाहिए कि वह प्रगति की ओर बढ रहा है। रूसो की यह बात आज के युग मे निश्चय ही विचित्र लगती है।

उल्लेखनीय है कि शासन के विविध प्रकारो मे रूसो का झुकाव यूनानी नगर राज्यो के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर है। वह प्रतिनिधि सभाओ को राजनीतिक पतन का चिह्न मानता है। प्रतिनिधित्व का अर्थ है—स्वतन्त्रता का हनन। ब्रिटेन की निर्वाचन प्रथा के विषय मे उसका मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल मे ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते है। रूसो ने देखा था कि सरकारो मे लोक नियन्त्रण से बचने और अपनी शक्तियो का प्रसार करने की प्रकृति होती है। अत उसने यह मत प्रकट किया कि छोटे राज्यो मे और सरल जीवन के बीच ही सामान्य इच्छा अपनी सर्वोच्चता स्थायी रूप से कायम रख सकती है। बडे और जटिल राज्यो मे सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि प्रभुत्व सम्पन्न जनता की समय-समय पर सभाएँ हुआ करें जो यह निश्चित करें कि वर्तमान शासन व्यवस्था और अधिकारियो मे कोई परिवर्तन किया जाना उचित है अथवा नही। उसका यह भी कहना था कि जब जनता प्रभुत्व-सम्पन्न सभा के रूप मे एकत्रित होती है तो सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। रूसो के दृष्टिकोण से इस विचार का पूर्वाभास मिलता है कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियो के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए। इस आधार पर जेफरसन ने कहा था कि प्रत्येक पीढी को अपने संविधान की पुन परीक्षा करने का अधिकार है। यही नही, अमेरिका के अनेक राज्यो ने तो निश्चित अवधि के बाद संविधान सभाओ को बुलाने के सिद्धान्त को अपने अपने संविधानो मे स्थान दिया है।

रूसो के कुछ अन्य प्रमुख विचार

(Some Other Important Thoughts of Rousseau)

कानून सम्बन्धी विचार (Political Economy)

रूसो ने अपने निबन्ध 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' मे कानून का विशेष महत्त्व दर्शाया है। मनुष्यो की प्राकृतिक समानता को कानून द्वारा नागरिक का रूप प्राप्त होता है। कानून ही से प्रत्येक व्यक्ति को

यह शिक्षा मिलती है कि वह अपने निर्धारित विचारों के अनुकूल कार्य करे और अपने से असगत रूप के कार्य से बचे । यदि कानून का पालन नहीं किया जाएगा तो नागरिक समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी और मनुष्य को पुनः प्राकृतिक अवस्था में लौट जाना पड़ेगा । अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सामाजिक अनुबन्ध' (Social Contract) में रूसो ने चार प्रकार के कानूनों का वर्णन किया है—(1) राजनीतिक या आधारभूत कानून जिनके द्वारा सम्प्रभुता का राज्य के साथ सम्बन्ध निर्धारण होता है, (2) दीवानी कानून जिनसे नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, (3) फौजदारी कानून जो कानून की आज्ञा के उल्लघन का दण्ड निश्चित करते हैं, और (4) जनमत नैतिकता तथा रीति-रिवाज । रूसो के मतानुसार ये ही राज्य के वास्तविक सविधान हैं और नागरिकों के हृदय पटल पर अंकित हैं ।

रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है । 'एक कानून सम्पूर्ण जनता का सम्पूर्ण जनता के लिए प्रस्ताव है जिसका सम्बन्ध ऐसे विषय से होता है जिसका सम्बन्ध सबसे होता है ।' कानून का सम्बन्ध सामान्य हित से होता है और उसका स्रोत समस्त समाज होना चाहिए । कानून का निर्माण न तो व्यक्ति-विशेष के लिए है, न कार्य विशेष के लिए । व्यक्ति की सत्ता, पक्षपात, सकीर्णता आदि की कोई गुंजाइश इसमें नहीं है । व्यापकता के आधार पर ही कानून बनता है अन्यथा वह कोरा आदेश है । कानून की मर्यादा केवल व्यापक स्वरूप दर्शाने की है, उसके बाहर वह नहीं जा सकता । सरकार या कोई राजकुमार किसी भी अर्थ में कानून के ऊपर नहीं माना जा सकता । सामान्य इच्छा सदैव जनता के कल्याण की कामना करती है, अतः वह कभी भी कानून द्वारा अन्याय करने की इच्छा नहीं कर सकती । "कानून हमारे आन्तरिक सकल्प की अभिव्यक्ति है अतः स्वतन्त्रता और कानूनों की प्रमाणिकता में कोई विरोध नहीं है ।" रूसो के इस महत्त्वपूर्ण मन्तव्य का कि सामान्य इच्छा या सकल्प ही कानून का निर्माण करता है , व्यावहारिक परिणाम भी निकला । सन् 1795 ई में फ्रांसीसी सविधान की धारा 6 में यह घोषणा की गई कि कानून सामान्य सकल्प है और नागरिकों के बहुमत अथवा उनके प्रतिनिधियों द्वारा यह प्रकट होता है ।

रूसो का विश्वास है कि कानून ही समाज में समानता स्थापित करता है और कोई भी राज्य केवल तभी तक वैध है जब तक वह कानून के अनुसार कार्य करता है । स्पष्ट है कि रूसो भी कानून को उसी प्रकार सर्वोच्चता देता है जिस प्रकार प्लेटो ने दी थी । अन्तर केवल यही है कि रूसो अपने कानून रूपी प्रभु को सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है । कर्त्तव्य और अधिकार का योग भी कानूनों द्वारा ही सम्भव है और कानून द्वारा ही न्याय अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है । जब नागरिक समाज की व्यवस्था होती है तब समस्त अधिकारों का निर्धारण कानून द्वारा ही हो सकता है ।

कानून पर विचार करते समय रूसो ने विधि-निर्माता की आवश्यकता को नहीं भुलाया है । सही रूप में कानून की व्यापकता का उद्घाटन करने के लिए विधि-निर्माता तथा विधायक का होना जरूरी है । रूसो के अनुसार ल्यूमा, लाइकरगस, सोलेन मोजेस, काल्विन आदि की तरह प्रख्यात दार्शनिक ही कानून का सही अर्थ में निर्माण कर सकते हैं क्योंकि सामान्य इच्छा पहिचानने की अद्वितीय बौद्धिक क्षमता तथा प्रतिभा ऐसे व्यक्तियों में ही हो सकती है ।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो स्वतन्त्रता का महान् पैगम्बर था । जिस ओजस्वी भाषा में उसने स्वतन्त्रता का महत्त्व घोषित किया है उसका शिक्षित वर्ग पर सदैव प्रभाव बना रहेगा । 'Social Contract' में उसने लिखा है—"स्वतन्त्रता मानव का परम् आन्तरिक तत्त्व है ।" स्वतन्त्रता मानवता का प्राण है जिसके अपहरण का अर्थ है मानवता का विलोप होना । स्वतन्त्रता ही नैतिकता का आधार है । स्वतन्त्र भाव से काम करने पर ही उत्तरदायित्व अभिव्यक्त होता है । जडवत् कार्य करने में नैतिकता की अभिव्यञ्जना नहीं हो सकती । व्यक्ति यद्यपि सामाजिक अनुबन्ध करते हुए अपने अधिकार एक सामूहिक सस्था को

अर्पित कर देते हैं किन्तु यह सामाजिक संस्था कोई वाह्य सत्ता न होकर अनुबन्ध-कर्ताओं का समुदाय मात्र होती है जिसके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगाए गए प्रतिबन्ध वास्तविक नही होते। इनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई क्षति नही पहुँचती, क्योंकि जिस कानून को हम स्वय ही बनाते हैं उसके पालन से हमारी स्वतन्त्रता का हनन नही होता। इसका पालन करते हुए तो हम स्वय की इच्छा का पालन करते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि रूसो सम्प्रभु और सरकार मे विभेद करता है। यदि सरकार सम्प्रभु की शक्ति का अपहरण करले तो सामाजिक अनुबन्ध टूट जाता है और समस्त नागरिक अपनी उस नैसर्गिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेते हैं जिसे नागरिक समाज मे आने पर उन्होंने त्याग दिया था। पर चूंकि अनुबन्ध सहमति पर आश्रित है अतः अनुबन्धवाद का समर्थन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुमोदन है।

रूसो स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या मनमाना कार्य करने की आजादी से नहीं लेता। समाज द्वारा सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए नियमो का पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। यदि यातायात मे व्यवस्था स्थापित करने के लिए और सम्भावित दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सड़क पर बाईं ओर चलने का नियम बनाया जाता है तो इस नियम का पालन करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नही होता। यदि व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुचित अर्थ लेते हुए अपनी गाडी सड़क पर इधर-उधर घुमाते हुए चले तो इस आचरण से न केवल वह स्वय को ही खतरे मे डाल देगा अपितु दूसरों के जीवन को भी खतरा पैदा कर देगा। उसका यह आचरण सामान्य इच्छा की अवहेलना करने वाला होगा। यह स्वतन्त्रता नही उच्छृंखलता होगी। स्मरणीय है कि रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पति के अधिकार को मनुष्य के प्राकृतिक नही अपितु राज्य-प्रदत्त नागरिक (Civil) अधिकार मानता है।

समानता विषयक विचार

रूसो की मान्यता है कि समानता के अभाव मे स्वतन्त्रता नही टिक सकती। प्रकृति मे सर्वत्र असमानता है और रूसो इस प्राकृतिक असमानता के बदले हमें सामाजिक अनुबन्ध-जनित नैतिक एवं विहित समानता के दर्शन कराता है। यद्यपि भौतिक असमानताएँ नष्ट नही हो सकती किन्तु मनुष्य कानूनी दृष्टि से समान बनाए जा सकते हैं। रूसो यह भी नही चाहता कि किसी को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह उसका निरकुश प्रयोग कर सके। शक्ति का प्रयोग तो कानून और पद के अनरूप ही करना होगा। धनिको के लिए अपेक्षित है कि वे अपने धन और पद का प्रयोग सयम और समभाव से करें। इसी तरह सामान्य जन-समूह को भी चाहिए कि वह तृष्णा और लोलुपता के मार्ग पर न चलें। राज्य का आर्थिक स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है जब न कोई नागरिक इतना धन-सम्पन्न हो कि वह दूसरे को खरीद ले और न गरीब एव साधनहीन हो कि वह स्वयं को बिक जाने दे। रूसो के इन विचारो से धन की भयावह विषमताओ के प्रति उसकी घृणा प्रकट होती है। हमे यह मानने मे दुविधा नही होती कि वह आर्थिक असमानताओं का अन्त चाहता था।

धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार

रूसो के धर्म सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी हैं। वह हॉब्स की तरह धर्म को राज्याधीन मानता है। उसने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं—(1) वैयक्तिक धर्म, (2) नागरिक धर्म, एव (3) पुरोहित धर्म।

वैयक्तिक धर्म मनुष्य की अपनी सस्थाओ और अपने आन्तरिक विश्वासो पर आधारित है। यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है किन्तु सांसारिक दृष्टि से अव्यावहारिक है, अतः इसमें व्यक्ति अपने नागरिक कर्त्तव्यो का दुर्लक्ष्य करता है। वैयक्तिक धर्म ईश्वरीय नियमो पर आधारित आडम्बरहीन सहज धर्म है।

नागरिक धर्म राष्ट्रीय तथा वाह्य है और संस्कारो, रूढियो तथा विधियो से निश्चित है। नागरिक धर्म रूसो की एक निराली कल्पना है जो सम्भवत उसके मस्तिष्क मे प्लेटो के 'लॉज' एवं अन्य

यूनानी विचारको के चिन्तन मे आई है । यूनानियो का विश्वास था कि सामूहिक चेतना की पुष्टि एव तेजस्विता के लिए कुछ मौलिक अवस्थाओ का होना आवश्यक है और हम देखते हैं कि रूसो ने भी समाज को दृढ करने के लिए नागरिक धर्म की कल्पना की है । रूसो ने इस धर्म के पाँच विधेयात्मक सूत्र बताए है—(1) ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करना और यह मानना की वह परम ज्ञानी, दूरदर्शी और दयालु है, (2) पुनर्जन्मवाद में विश्वास, (3) पुन्यात्मा सुख पायेगे, (4) पापात्मा दण्ड भोगेंगे, तथा (5) सामाजिक अनुबन्ध और विधियो की पवित्रता की रक्षा करना महत्व कर्त्तव्य है । रूसो ने नागरिक धर्म का केवल एक निषेधात्मक सूत्र बतलाया है और वह है असहिष्णुता । इसका अभिप्राय है कि असहिष्णु व्यक्तियो के लिए राज्य मे स्थान नही होना चाहिए । यह आश्चर्य की बात है कि रूसो नागरिक धर्म पर पूर्व सम्मति देकर फिर उसके प्रतिकूल आचरण करने वालो का वध करने का समर्थन करता है । "स्वतन्त्रता के महान् पैगम्बर का धर्मान्धता के नाम पर यह कहना कि जो व्यक्ति नागरिक धर्म को स्वीकृति देकर उसके विरोध मे आचरण करे उसकी हत्या उचित है, सर्वथा असगत और निन्दनीय है । यह तानाशाही और सर्वाधिकारवाद का सूचक है । यह ठीक है कि रूसो का उद्देश्य पवित्र है और वह समाज के आधार को मजबूत करना चाहता है किन्तु सामाजिक सगठन के नाम पर नागरिक धर्म नामक विश्वास को प्रश्रय देने वाले मन्तव्यो को मजबूत करना सर्वथा कृत्रिम और उपहासास्पद मालूम पडता है । ऐसा प्रतीत होता है कि विशिष्ट सकल्पो (इच्छाओ) के सामान्य सकल्प द्वारा दमन का प्रस्ताव उपस्थित कर तथा नागरिक धर्म का सदेश घोषित कर रूसो उदारवाद का सर्वथा नाश कर रहा है ।"

पुरोहित धर्म वह धर्म है जो पुरोहितो-पादरियो द्वारा दिया जाता है । यह धर्म सबसे निकृष्ट है क्योकि यह दो तरह के प्रधानो अथवा दो सत्ताओ को जन्म देता है और जनसाधारण को परस्पर विरोधी कर्त्तव्यो मे फँसा देता है । फलस्वरूप सघर्ष और कलह का वातावरण उत्पन्न होता है और राज्य की प्रगति को बाधा पहुँचती है ।

रूसो के अनुसार इन सब धर्मों मे दोष हैं अतः राज्य को नागरिक विश्वासो का धर्म (Civil religion) पर जो सामाजिकता और सज्जनता पर बना है चलना चाहिए ।

रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके 'Emile' नामक ग्रन्थ मे हैं जिसमे शिक्षा का उद्देश्य 'मनुष्य की निर्वासित प्रकृति का पुनर्स्थापन' (Effectual rehabilitation of human nature) बतलाया गया है । इस ग्रन्थ के कारण उसे प्रगतिवादी शिक्षा (Progressive Education) का जनक माना जाता है । रूसो ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया है जो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को सवार कर उसे वैभवशाली बनाए । उसका आग्रह है कि बचपन से युवावस्था तक गृह-शिक्षा और नागरिक शिक्षा दी जानी चाहिए । रूसो ने 'एमिल' (Emile) नामक व्यक्ति के शिक्षण का रूपक लेकर अपने ग्रन्थ मे शिक्षा-दर्शन व्यक्त किया है । एमिल को पठन, लेखन, गायन, गणित, राष्ट्रीय इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है । उसे शारीरिक एव तकनीकी शिक्षा भी मिलती है । रूसो ने शिक्षा-योजना और शिक्षण विधि सम्बन्धी जो विचार दिए हैं, वे आज भी शिक्षा के क्षेत्र मे पथ-प्रदर्शन कर रहे है । उल्लेखनीय है कि अपने समय की शिक्षा-व्यवस्था का विरोधी होने के कारण रूसो को कठोर प्रतिरोध का सामना करना पडा । उसके अनेक शत्रु हो गए । उसने लिखा था कि तत्कालीन शिक्षा ऐसे व्यक्तियो का निर्माण करती है जिनके पास न प्राकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक आश्रय । बाल-शिक्षा को पादरियो के हाथ से निकाल लेने तथा किशोरावस्था तक धर्म-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्थापनाओ से पादरी वर्ग बहुत क्रोधित हो गया है, उसके ग्रन्थ 'एमिल' को अग्नि के भेंट चढा दिया गया और फ्रांस की संसद तथा जेनेवा की सरकार ने भी उसकी निन्दा की । इसी कारण उसे फ्रांस छोडकर भी भागना पड़ा ।

रूसो का मूल्यांकन एव प्रभाव
(Rousseau's Estimate and Influence)

रूसो के मूल्यांकन के विषय मे आलोचको मे घोर मतभेद है । जहाँ वेपर, लैमन आदि ने रूसो

की खुलकर प्रशसा की है वहाँ वाल्टेयर, मार्ले आदि रूसो को अपने व्यग-बाणों का निशाना बनाया है। एक ओर रूसो को महान् दार्शनिक पुकारा गया है और दूसरी ओर उसे मिथ्यावादी तथा सभ्यताहीन कहा गया है। जी डी. एच. कोल ने रूसो को राज-दर्शन का पिता कहा है और उसके 'सोशियल कॉन्ट्रेक्ट' को राज-दर्शन के ऊपर महानतम ग्रन्थ बताया तो कॉन्सटेन्ट ने रूसो को प्रत्येक प्रकार के अधिनायकवाद का सबसे भयानक मित्र कहा है। इसी तरह कुछ विद्वानो ने रूसो को व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है तो कुछ ने उसे सर्वाधिकारवाद का पोषक बतलाया है।

इन परस्पर विचारो के लिए रूसो स्वय उत्तरदायी है। उसने विरोधाभास सयुक्त (Paradoxial) वाक्यो का प्रयोग इतनी अधिकता से किया है कि वे पाठक के मस्तिष्क मे भ्रम उत्पन्न कर देते है। साथ ही उसने अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दो की कोई सुनिश्चित परिभाषा भी नही दी है उल्टे किन्ही-किन्ही शब्दो को उसने अनेक स्थानो पर विभिन्न अर्थों के लिए प्रस्तुत किया है। वह बहुधा एक स्तर पर बात करते-करते, पाठक को बिना कोई पूर्व-सूचना दिए हुए ही दूसरे स्तर पर पहुँच कर भिन्न भिन्न बातें करने लगता है और तब पाठक के लिए उन परस्पर असम्बम्द्ध बातो मे सगति स्थापित करना बडा कठिन हो जाता है। मिथ्या उक्तियो तथा 'वाग्वीरता' ने जनता को जितना अधिक प्रभावित किया है उतना मॉण्टेस्क्यू की 'सतुलित तर्कना' और उसके गम्भीर पर्यवेक्षण तक ने नही किया।

जो भी हो, इससे इन्कार नही किया जा सकता कि विरोधाभासी विचारो को प्रकट करते हुए भी रूसो ने राजदर्शन के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है। उसने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा हमारे सम्मुख एक ऐसा राजनीतिक आदर्श उपस्थित किया है जिसकी प्राप्ति मे हमे सलग्न होना चाहिए। वह इस सिद्धान्त द्वारा प्रभुसत्ता और स्वाधीनता मे समन्वय स्थापित करता है और इस प्रकार प्रजातन्त्र के लिए बहुत बडा नैतिक आधार प्रदान करता है। उसका यह सिद्धान्त कितना भी अस्पष्ट क्यो न हो, इसमे सन्देह नही कि जो चीज समाज को सम्भव बनाती है वह सामान्य इच्छा ही है जिसे हम 'सामान्य उद्देश्यो की सामान्य चेतना' भी कह सकते हैं। उसका यही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता हैं कि 'शक्ति नही, इच्छा राज्य का आधार है।' रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नीव डाली है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि एक के बाद एक सम्प्रभुता सम्बन्धी विभिन्न विचार खण्डित होते गए किन्तु राजनीतिक सत्ता को अपने बचाव के लिए रूसो की सामान्य इच्छा द्वारा व्यक्त लोकप्रिय सम्प्रभुता से अधिक शक्तिशाली विचार नही मिला है। रूसो ने ही यह स्पष्ट घोषित किया कि चाहे राजनीतिक संस्था का स्वरूप कुछ ही हो, उसमे जनता की सम्प्रभुता एक तथ्य है। रूसो ने राज्य और शासन के मध्य तथा सम्प्रभु कानून (Sovereign Law) एव सरकारी कानून (Government Decree) के बीच भेद स्पष्ट किया किया है। उसका सम्प्रभु कानून ही आधुनिक मौलिक अथवा सांविधानिक कानून का स्रोत है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप ही आधुनिक युग मे इस बात पर बल दिया जाता है कि शासन के विधेयात्मक कानून (Positive Law) देश के मौलिक कानून के अनुकूल होने चाहिए। यह ठीक है कि रूसो के विचार मौलिक नही है किन्तु उसका विशेष महत्त्व इस बात मे है कि वह पुराने विचारो का नया प्रयोग करता है। रूसो के प्रभुता और कानून सम्बन्धी विचारो का सयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीतिक सस्थाओं पर जो प्रभाव पडा उसे हमे नजरअन्दाज नही कर सकते; फिर यह भी नही भुलाया जा सकता कि रूसो के ग्रन्थ फ्रांस की क्रान्ति की पाठ्य-पुस्तकें बन गई। उसके वाक्य 'भावनाओ को गुदगुदाने वाले गुंजारमय' वाक्य थे जिनसे जनसाधारण को प्रभावित करना कोई कठिन कार्य न था। फ्रेंच क्रान्ति के समय रूसो के प्रभाव की तुलना उस प्रभाव से की जा सकती है जो धर्म-सुधार युग मे बाइबिल का जनता पर पडा था अथवा 20वी शताब्दी मे रूसी जनता पर मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Capital) ने डाला था। डॉयल (Doyle) ने ठीक ही लिखा है—रूसो ने घोर दुविधा एव असन्तोष के समय मे यूरोप के सामने एक प्राचीन और जर्जर ढाँचे को तोड डालने का

औचित्य प्रदर्शित किया तथा एक ऐसे आदर्श को उसके सामने रखा जिसे वह विनाश के पश्चात् प्राप्त कर सकता था।[1]

रूसो यद्यपि राष्ट्रवाद का समर्थक नही था किन्तु समूह की एकता और दृढता की भावना पर बल देकर उसने राष्ट्र-भक्ति को एक आदर्श रूप दिया। सेबाइन के शब्दो मे, "रूसो स्वय राष्ट्रवादी नही था किन्तु उसने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप प्रदान किया जिससे राष्ट्रीय भावनाओं के लिए उसे अपनाना सम्भव हो सका।"

रूसो के विचारो का जर्मन विज्ञानवाद पर भी गहरा असर हुआ। वह मानव की नैतिकता का समर्थक था। स्वतन्त्रता को वह जीवन का परम तत्त्व मानता था और इस कारण नीतिशास्त्र के क्षेत्र मे भी उसका क्रान्तिकारी असर रहा। कांट (Kant) कहता था कि सरल मानव की नैतिक वृत्तियो का महत्त्व उसे रूसो के ग्रन्थो से ही विदित हुआ। तार्किक वाग्जाल के बदले हृदय की सरलता पर जो ध्यान रूसो ने दिया वही मानववादी नीति-शास्त्र का आधार हो सकता है। स्वतन्त्रता की विराट उद्घोषणा रूसो ने की और नैतिकता का इसे आधार बतलाया। इस प्रस्ताव का गहरा असर जर्मनी के दार्शनिको पर पडा। इस कारण हीगल (Hegel) ने कहा था कि रूसो के ग्रन्थो मे ही स्वतन्त्रता की बुद्धिपूर्वक अभिव्यक्ति हुई। स्वतन्त्रता के साथ ही समानता पर रूसो ने जो बल दिया है, इस कारण कहा जा सकता है कि न केवल लोकतन्त्र का ही अपितु समाजवाद का बीज भी रूसो के ग्रन्थों मे निहित है। यह घोषणा कर कि अधिकार सहमति से प्राप्त होता है और निरा सैन्य बल किसी एक चिरकालीन महत्त्व का स्थान बना लिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की विचारधारा से तीन दृष्टि-बिन्दुओ व्यक्तिवाद, समूहवाद और नैतिक स्वातन्त्र्यवाद को गहरा प्रश्रय प्राप्त हुआ।

1 *Doyle*. History of Political Thought, p. 218.

20 मॉण्टेस्क्यू
(Montesquieu)

18वी शताब्दी मे फ्रांस मे जितने भी दार्शनिक हुए, उनमे रूसो को छोडकर मॉण्टेस्क्यू सबसे महत्त्वपूर्ण था। उसे सामाजिक दर्शन की जटिलताओ का अन्य दार्शनिको की अपेक्षा अधिक स्पष्ट ज्ञान था। यद्यपि उसने समाज एव शासन पर विस्तार से व्यावहारिक अध्ययन किया, तथापि उसकी अधिकांश धारणाएँ ऐसी थी जिनके लिए प्रमाण एकत्र करने का उसने प्रयत्न नही किया। "उसने एक ऐसे राजनीतिक दर्शन का निरूपण किया जो व्यापक से व्यापक परिस्थितियो पर लागू हो सकता था, लेकिन उसका सम्पूर्ण साहित्य फ्रांस की परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर लिया गया था। फलस्वरूप मॉण्टेस्क्यू अपने युग की वैज्ञानिक आकांक्षाओ को और अपरिहार्य सभ्रमो को बहुत अच्छी तरह व्यक्त करता है। उसने न्याय, प्राकृतिक विधि और सविदा जैसे तर्क-सम्मत सिद्धान्तो को बिल्कुल नही त्यागा, लेकिन सविदा की उपेक्षा की और उसके स्थान पर एक एक ऐसे समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद (Relativism) का सुझाव दिया जो स्वत. स्पष्ट नैतिक विधियो से असगत था। उसने भौतिक तथा सामाजिक सन्दर्भ से शासन के अध्ययन की योजना प्रस्तुत की। इसके लिए व्यापक पैमाने पर सस्थाओ की तुलना करने की जरूरत थी। लेकिन, न तो उसमे इतना परिशुद्ध ज्ञान ही था और न इतनी तटस्थता ही थी वह अपनी योजना को कारगर कर सकता। उसका राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम और अपूर्व उत्साह 18वी शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ परम्परा के अन्तर्गत आता था।"[1]

जीवनी, कृतियाँ एवं पद्धति
(His Life, Works and Method)

मॉण्टेस्क्यू का जन्म एक विख्यात फ्रांसीसी वकील के घर मे सन् 1689 मे हुआ था। 66 वर्ष की अवस्था मे 10 फरवरी, 1755 ई को वह इस असार ससार से विदा हो गया। उसके जीवन में रूसो के समान विलक्षणता का अस्तित्व नही था, किन्तु अपनी रचनाओ, विशेपकर 'The Spirit of Law' के कारण वह शिक्षित समाज मे सदा के लिए अमर हो गया। उसके देहान्त पर यह बडी सुन्दर टिप्पणी है कि "यदि हम उसकी जीवन-गाथा मे से उसकी साहित्यिक कृतियो को निकाल दें और उसकी रचनाओ से अलग उसके जीवन-चरित्र को लें तो वह यहाँ समाप्त हो जाता है और उसके बारे मे यह कहा जा सकता है, जैसा कि कुछ राजाओ के बारे मे ठीक ही कहा गया है कि उसने जन्म लिया, वह जीवित रहा और वह मर गया।"[2]

मॉण्टेस्क्यू को अपने जीवन मे रूसो की भाँति अभाव के दिन नही देखने पडे। उसे अपनी माता से और तत्पश्चात् अपने ताऊ से विरासत मे विशाल सम्पत्ति मिली, और जिस महिला से उसने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 512
2 The Spirit of Laws, Worlds' Great Classics Series, Special Introduction; Page III.

विवाह किया वह भी पर्याप्त पैतृक सम्पत्ति लाई। यही कारण था कि वह सुख एवं शान्ति की जिन्दगी बसर करते हुए सामाजिक एवं बौद्धिक कार्यों को करते हुए निश्चिन्त रूप से रह सका। उसने सन् 1728 मे ऑस्ट्रिया, स्विट्ज़रलैण्ड, इटली, हालैण्ड, हगरी आदि अनेक देशों का भ्रमण करके अपने ज्ञान को समृद्ध बनाया। उसने इन देशों के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत कर समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1729 से 1731 ई. तक वह इगलैण्ड मे रहा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक शक्तियों का विभाजन ही वहाँ की राजनीतिक प्रमुखता का स्रोत है। अपने भ्रमण से लौटकर वह लाब्रीडी (अपने जन्म-स्थान) मे रहने लगा। यदा-कदा वह पेरिस भी चला जाता था।

मॉण्टेस्क्यू को फ्रांस की दुर्दशा देखकर बड़ा दुख होता था। वास्तव मे उसका आविर्भाव एक ऐसे समय हुआ था जब फ्रांसीसी जनता करो के बोझ से पिस रही थी। जनता के पास तन ढकने को वस्त्र और पेट भरने को पूरा भोजन न था। राजा एव उसके सामन्तो का जीवन ऐश्वर्य और विलास से परिपूर्ण था। कृषक वर्ग सामन्तों की दमनकारी नीति से और मध्यम वर्ग करों के बोझ से पीड़ित था। मॉण्टेस्क्यू तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का अन्त करके फ्रांस में एक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहता था। अपने भ्रमण और इगलैण्ड के दो वर्षीय प्रावास से लौटकर उसने शासन-व्यवस्था के बारे मे अपने विचारों को जनता के सामने रखा। शासन-सत्ता के विकेन्द्रीकरण अथवा विभाजन का समर्थन करते हुए उसने विधियो की परिभाषा एव उत्पत्ति, सरकार की प्रकृति एव उसका वर्गीकरण, राजस्व, सैनिक व्यवस्था आदि विभिन्न विषयो पर विचार प्रकट किए। उसके राजनीतिक विचारो का प्रभाव विदेशों पर व्यापक रूप से पड़ा किन्तु स्वय फ्रांस के निवासियो ने उनसे कोई लाभ नही उठाया।

कृतियाँ

मॉण्टेस्क्यू के समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उसके विदेश भ्रमण से लौटने के बाद ही लिखे गए, तथापि सन् 1721 ई. मे जब कि वह केवल 32 वर्ष का था, उसकी एक कृति 'Persian Letters' प्रकाशित हो चुकी थी जिसमे कुछ ऐसे कल्पित पत्रो का सग्रह था जिसके द्वारा फ्रांस के सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक जीवन की स्वतन्त्र आलोचना की गई थी। चर्च, राज्य, राजा एवं देश की अन्य सस्थाओ पर व्यग कसे गए थे और फ्रेंच समाज की मूर्खताओ तथा अन्धविश्वासो का मजाक उडाया गया था। यद्यपि यह पुस्तक बिना लेखक का नाम दिए ही प्रकाशित कराई गई थी, किन्तु यह बात छिपी नहीं रह सकी थी कि इसका लेखक मॉण्टेस्क्यू ही था। फ्रांस की पीडित सामान्य जनता मॉण्टेस्क्यू के इस चित्रण से मोहित हो उठी थी।

सन् 1734 ई मे मॉण्टेस्क्यू ने अपना ग्रन्थ 'Reflection on the Causes of the Greatness and Decline of the Romans' प्रकाशित कराया जिसमे उसने उन प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया जो विभिन्न देशो के इतिहासो के अध्ययन के कारण उस पर हुई थी। यह ग्रन्थ उसके दर्शन के स्वरूप एव पद्धति को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। इस ग्रन्थ से उसका यह विश्वास झलकता है कि सामान्य कारणो मे से घटनाओ का उदय होता है और ऐतिहासिक घटनाएँ एव प्रक्रियाएँ सयोग से नही प्रत्युत् कुछ निश्चित सिद्धान्तो द्वारा अनुशासित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू ने रोमन इतिहास का अध्ययन रोम के पतन के कारणो को ज्ञात करके भविष्य के लिए सबक सीखने की दृष्टि से किया था और इसलिए यह मानने मे कोई असगति प्रतीत नही होती कि उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्त्वो मे रोमन इतिहास और ब्रिटिश सस्थानो का स्थान अग्रणी था।

सन् 1748 में मॉण्टेस्क्यू का अमर ग्रन्थ 'The Spirit of Laws' प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ मे उसने सरकार के भेद, विधि, आर्थिक एव सैनिक व्यवस्था, सामाजिक परम्पराओ एव नागरिक चरित्र; धार्मिक समस्याओ आदि पर अपने विचार प्रकट किए। मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ 18वी शताब्दी के गद्य की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है जो अपनी शैली और विषय-सामग्री दोनो ही दृष्टियो से अद्वितीय है।

मैक्सी के अनुसार "यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राजनीतिक विज्ञान को उन पुस्तको में जो कभी भी लिखी गई हैं 'स्प्रिट ऑफ लॉज' सबसे अधिक पठनीय ग्रन्थ है।"[1] डनिंग ने लिखा है कि इस पुस्तक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यह विशुद्ध राजनीति की बजाय समाजशास्त्र की पुस्तक बन गई है।[2] 'स्प्रिट ऑफ लॉज' 31 अध्यायो मे विभक्त है। विचारो की दृष्टि से इसे मोटे तौर पर छः भागों मे विभाजित किया जा सकता है—पहले भाग मे कानून और सरकार का चित्रण है, दूसरे भाग मे राजस्व तथा सैनिक व्यवस्था आदि पर विचार किया गया है, तीसरा भाग सामाजिक परम्पराओ की व्याख्या करता है और बतलाता है कि एक देश के नागरिको के चरित्र-निर्माण मे वहाँ के भौगोलिक वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, चौथे भाग मे आर्थिक विषयों की, पाँचवें भाग में धर्म सम्बन्धी समस्याओ की और छठे भाग मे विभिन्न देशो के कानूनो की चर्चा की गई है। सक्षेप मे, यह ग्रन्थ सभी प्रकार के पाठको को चिन्तन की कुछ न कुछ सामग्री प्रदान करता है। इसीलिए, मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि दो वर्ष मे ही इसके 22 सस्करण छपे और यूरोप की विभिन्न भाषाओ मे उसके अनुवाद हुए।

मॉण्टेस्क्यू की पद्धति

मॉण्टेस्क्यू समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धति का समर्थक था। अनेक समालोचको की दृष्टि मे उसकी देन पद्धति के क्षेत्र में है, सैद्धान्तिक क्षेत्र मे नहीं। 'The Spirit of Laws' की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रधान कारण उसकी यह पद्धति ही थी जो समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न थी। उसने प्लेटो, हॉब्स और रूसो के समान बुद्धिवादियो द्वारा अपनाई गई उस पद्धति का तिरस्कार किया जिसके अनुसार वे मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओ को लेकर चले और इन पूर्व निर्धारित मान्यताओ के आधार पर उन्होने एक आदर्श राज्य का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया। मॉण्टेस्क्यू ने अनुभूतिमूलक (Empirical) दृष्टिकोण तथा निरीक्षण (Observation) पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। वह ऐतिहासिक घटनाओ के विश्लेषण के द्वारा निष्कर्ष निकालकर इतिहास से उनको पुष्ट करता था। उसने राजनीतिक प्रश्नो का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तो के आधार पर नहीं, बल्कि वास्तविक परिस्थितियो को ध्यान में रखकर विवेचन किया। उसने वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा अपने मार्गों को पुष्ट किया और तुलनात्मक पद्धति द्वारा उनके अपेक्षित महत्त्व का पता लगाया। उस समय के अधिकाँश लेखको की भाँति उसका भी विश्वास था कि विधि-न्याय के आधारभूत सिद्धान्त प्रकृति में विद्यमान हैं, परन्तु उसका कहना था कि प्रकृति के सिद्धान्तो को हम विवेक पर आधारित अभिधारणाओं का सहारा लेकर नही निकाल सकते, उसके लिए हमे इतिहासो के तथ्यो और राजनीतिक जीवन की वास्तविकता का अनुगमन करना होगा। मॉण्टेस्क्यू की पद्धति के स्वरूप को 'Persian Letters' से उद्धृत उसके इस कथन से बहुत कुछ जाना जा सकता है—"मैंने इस बात पर प्राय. विचार किया कि सरकार के विभिन्न रूपो मे से कौन सा रूप बुद्धि के सबसे अधिक अनुकूल है और मुझे यह प्रतीत होता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियो के अधिकाधिक अनुकूल उसका पथ प्रदर्शन करे।" इस कथन का अभिप्राय यही है कि वह आगमन तर्कशास्त्रीय विद्वानो द्वारा अपनाई गई पद्धति का विरोध था और सरकार की किसी ऐसी अमूर्त योजना की रचना मे विश्वास नही करता था जो समस्त देश और काल के लिए अनुकूल हो। वह समकालीन प्रवाह के प्रतिकूल अरस्तू का अनुसरण करते हुए प्राचीन और समकालीन मानव-समाज के इतिहास के अध्ययन और अनुभव की नीव पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तो का महल खड़ा करने को प्रयत्नशील हुआ था। डनिंग के शब्दो में "राजनीतिक समस्याओ का समाधान की दृष्टि से उसकी पद्धति अरस्तू की है, प्लेटो, बोदाँ, हॉब्स या

1 *Maxey :* Op cit., p. 306.
2 *Dunning :* Op. cit , p. 394.

लॉक की नही अपने समकालीन सब विचारको की भांति वह अपने न्याय के लिए विचार की कसौटी के लिए प्रकृति की ओर देखता है, किन्तु उसकी प्रकृति की शिक्षाएँ अथवा नियम विशुद्ध तर्क की अमूर्त कल्पनाओ पर आधारित नही हैं, अपितु वर्तमान और अतीत के जीवन के ठोस तथ्यो पर अवलम्बित है।"[1] अरस्तू की लुप्तप्राय पद्धति को पुन. जीवनदान करने के कारण ही उसे 18वी शताब्दी का अरस्तू तक कहा जाता है। मॉण्टेस्क्यू के विषय मे यह अवश्य उल्लेखनीय है कि इतिहास की घटनाओ का वैज्ञानिक पक्षपात-रहित प्रयोग करने मे वह पूर्णत समर्थ नही रहा, क्योंकि वह एक निष्णात तटस्थ इतिहासवेत्ता नही था। फिर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि उसकी पद्धति इतिहास की घटनाओ के अत्यधिक उल्लेख पर ही आश्रित है इसलिए हम उसे ऐतिहासिकतावादी मानते हैं। माइन्के ने तो उसे ऐतिहासिकतावाद का एक सस्थापक ही माना है। दुर्खीम ने मॉण्टेस्क्यू के दर्शन पर लिखे गये अपने शोध ग्रन्थ मे बतलाया है कि वह विधेयात्मवादी समाजशास्त्र का एक मूल प्रवर्तक था और कौन-सी राज-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रश्न की काल्पनिक मीमांसा मे प्रवृत्त नही होता था। इसमे कोई सदेह नही कि सामाजिक घटनाओ और इन्हे सचालित करने वाले नियमो की खोज उसने इतिहास के निरीक्षण और पर्यवेक्षण के आधार पर ही की। रोमन इतिहास और ब्रिटिश सस्थान वे मुख्य तत्त्व थे जिन्होने उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित किया। इनके अध्ययन और अनुभव से उसने निगमनात्मक (Inductive) प्रणाली की ऐतिहासिक पद्धति से अपने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले।

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था कि मानवीय परम्पराओ एव सस्थाओ मे जलवायु, भूमि की भौगोलिक दशाओ तथा भौतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियो के कारण बहुत भेद पाया जाता है और इस विभिन्नता के मूल मे कुछ निश्चित सार्वभौमिक सिद्धान्त एव आचरण के सामान्य आदर्श मिलते हैं जिन्हे जाना जा सकता है। इसलिए प्रो जोन्स (Jones) का कथन है कि, "मॉण्टेस्क्यू जो कार्य चाहता था, उसके दो पहलू थे। प्रथम, वह यह निर्धारित करना चाहता था कि ये आधारभूत एव मूल सामान्य सिद्धान्त क्या हैं ? द्वितीय, यह ज्ञात करना चाहता था कि यथार्थ जगत् मे पाई जाने वाली विविधता को लाने वाले कौन से तत्त्व हैं ? अन्त मे, उसकी यह जानने की भी इच्छा थी कि वास्तव मे इन विभिन्नताओ का उदय क्यो होता है, ताकि राजनीतिज्ञ और विधि निर्मातागण प्रत्येक प्रकार की सरकार को अधिकाधिक आदर्श के निकट लाने हेतु उन विभिन्नताओ को नियन्त्रित कर सकें।"

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था कि मानवीय सस्थाओ, परम्पराओ और कानूनो का उद्भव एकदम किसी दैविक स्रोत से नही होता बल्कि पेड-पौधो की भांति अनुकूल स्थितियो मे इनका शनै-शनै विकास होता है और इसलिए राजनीतिशास्त्र का उसका सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धो के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए, जिनमे धर्म, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि सभी विज्ञानो का अध्ययन सम्मिलित है। सरल रूप मे यह कहना चाहिए कि मॉण्टेस्क्यू ने उन सभी विज्ञानो को राजनीति-शास्त्र के अन्तर्गत समझा था जिन्हे आजकल समाजशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता है।

वास्तव मे मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक पद्धति अरस्तू, मैकियावली आदि पूर्ववर्ती विचारको की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि की थी क्योकि जहाँ उनकी दृष्टि यूरोप के सभ्य राज्यो तक ही सीमित थी वहाँ मॉण्टेस्क्यू का अध्ययन और ज्ञान बहुत अधिक व्यापक था। जोन्स के इस कथन मे कोई अत्युक्ति प्रतीत नही होती कि "माण्टेस्क्यू का विशेष महत्त्व राजनीतिक सिद्धान्तो मे नई देन के कारण इतना नही है जितना राजनीतिक और सामाजिक अध्ययन के पद्धति-शास्त्र (Methodology) का विकास करने मे है।"[2]

1 *Dunning* : A History of Political Theories from Luther to Montesquieu, p. 395.
2 *Jones* Masters of Political Thought, Part II p 218

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
(Ideas about the Origin of the State)

मॉण्टेस्क्यू ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए राज्य की उत्पत्ति का कारण उपयुक्त वातावरण एव परिस्थितियो को माना है। उसका विचार था कि प्रत्येक सामाजिक एवं राजनीतिक सस्थान के लिए व्यक्तियों की सदस्यता अनिवार्य होती है। सामाजिक एव राजनीतिक सस्थान परस्पर एक-दूसरे से स्वाभाविक रूप से इसी प्रकार सम्बन्धित होते है जिस प्रकार एक व्यक्ति का अस्तित्व अन्य व्यक्तियो से उसके सम्बन्धो पर आधारित है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार मानव का आरम्भिक अवस्था मे निवास राज्यहीन वातावरण मे था। अन्य विचारको की भाँति मॉण्टेस्क्यू भी प्राकृतिक अवस्था की संज्ञा देता है। वह यह भी मत प्रकट करता है कि मनुष्य की यह प्राकृतिक अवस्था शान्त एवं उत्तम न थी। मनुष्य इस अवस्था मे सदैव भयभीत रहता था किन्तु शनै-शनै परिस्थितियाँ बदली, मनुष्य में बुद्धि एव ज्ञान का विकास हुआ और भय की अवस्था से वह मुक्त होने लगा। उसमे ऐसी भावनाएँ जाग्रत होने लगी कि अपने से निर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने नियन्त्रण मे रखा जाए। दूसरे शब्दो में मनुष्यो मे अपने से निर्बलो पर शासन करने की भावना का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि युद्ध और संघर्ष की भावनाएँ उत्तरोत्तर बढती गई क्योकि सभी लोग एक-दूसरे को दबाकर उन पर शासन करने की दिशा में सोचने लगे। मनुष्य की शासन की प्रवृत्ति अब प्रवृत्ति-मात्र न रहकर कार्य रूप मे परिणत होने लगी और कालान्तर मे स्थिति यह आई कि कुछ बलवान लोगो ने निर्बलो को दबाकर उन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस तरह मानव-इतिहास मे एक ऐसी अवस्था आई जिसमे शासक और शासित इन दो वर्गों का आरम्भ हुआ। इस प्रकार, शासन करने की बढती हुई प्रवृत्ति, विशेष परिस्थितियो और उपयुक्त वातावरण के कारण ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

मॉण्टेस्क्यू ने मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था और राजकीय उत्पत्ति का जो चित्रण किया है, वह हॉब्स और लॉक के विचारो से सर्वथा भिन्न है। हॉब्स जहाँ प्राकृतिक अवस्था के मानव को जगली, स्वार्थी और निर्दयी बतलाता है वहाँ लॉक ने व्यक्ति को शान्ति-प्रिय एव बुद्धिमान माना है पर मॉण्टेस्क्यू ने प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य को भीरु एव मूर्ख स्वीकार किया है। हॉब्स एव लॉक मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था के अपने चित्रण के आधार पर सामाजिक सविदा द्वारा राज्य की स्थापना की बात कहते हैं जबकि मॉण्टेस्क्यू सामाजिक सविदा के सिद्धान्त को पूर्णतया ठुकराकर राज्य की एक सावयविक कल्पना प्रस्तुत करता है और राज्य को वातावरण की उपज तथा स्वत विकसित होने वाली सस्था मानता है। डॉयल ने लिखा है कि "मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य, उसके सदस्यो मे सविदा अथवा समझौते का परिणाम नही था अपितु अपने वातावरण की उपज था और प्रकृति के कानून से अनुशासित था। इस प्रकार, मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य का स्वरूप सावयविक था।"[1]

मॉण्टेस्क्यू के विधि सम्बन्धी विचार
(Montesquieu's Conception of Law)

मॉण्टेस्क्यू के कानून अथवा विधि की धारणा ही वास्तव मे वह सूत्र है जो शिक्षा, फ्रांसीसी राजतन्त्र के इतिहास, अर्थशास्त्र, जलवायु, भूगोल, ब्रिटिश सविधान एव बहुत से अन्य विषयो पर प्रकट किए गए असम्बद्ध विचारो को एकता के बन्धन मे बाँधता है। मॉण्टेस्क्यू की विधि सम्बन्धी धारणा उसकी अन्य सभी धारणाओं मे सबसे अधिक कठिन किन्तु सबसे अधिक रोचक और महत्त्वपूर्ण है।"[2]

1 "The State was not, to Montesquieu, the result of a contract between its members It was the product of its environment and obeyed the law of nature. So, the nature of the State became in his eyes organic" —*Phyllis Doyle* : Op cit., p. 204.

2 *Jones* : Op. cit., p. 220.

मॉण्टेस्क्यू से पहले कानून के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थी। कुछ विचारक इसे विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of Reason) समझते थे, जैसे कि प्लेटो एव अरस्तू तो दूसरे विचारक इसे उच्चतर शक्ति का आदेश (Command of the Superior) मानते थे, जैसे कि बोदाँ एव हॉब्स। मॉण्टेस्क्यू ने इन दोनो ही मतो से असहमति प्रकट करते हुए कानून का अपना अलग ही लक्षण माना। उसने कहा कि कानून अपने विस्तृत अर्थ मे 'वस्तुओ की प्रकृति या स्वरूप से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध है' (Laws are the necessary relations arising from the nature of things) कानून को इतना व्यापक रूप देकर और कारण तथा कार्य के सामान्य सम्बन्ध (General relationship of cause and effect) को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करके मॉण्टेस्क्यू ने वस्तुत. अपने ग्रन्थ 'स्प्रिट ऑफ लॉज' मे कानून के एक नए दर्शन का निर्माण किया। यही कारण है कि कतिपय समालोचकों ने कहा है कि "ऐतिहासिक विधि-शास्त्र का अध्ययन 'स्प्रिट ऑफ लॉज' से आरम्भ होता है।"[1]

मॉण्टेस्क्यू द्वारा कानून का उपरोक्त लक्षण बहुत व्यापक है और विश्व की समस्त जड-चेतन वस्तुओ के सम्बन्ध में है। इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तु से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है और प्रत्येक वस्तु के अलग-अलग नियम अथवा कानून होते है जैसे ईश्वरीय कानून, पशुओ के कानून, भौतिक कानून, मानवीय कानून आदि। वस्तु के सम्बन्ध ही उसके स्वरूप को बताते हैं और ये सम्बन्ध ही वे कानून है जिनके अधीन वह वस्तु होती है। उदाहरणार्थ आग और कागज का एक निश्चित सम्बन्ध है। आग के सम्पर्क मे आने पर कागज अवश्य जलता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आग का स्वभाव जलाना है और इसी से यह कानून या नियम बन गया है कि आग प्रत्येक वस्तु का जलाती है। मॉण्टेस्क्यू यह मानता है कि प्रकृति-जगत बुद्धिहीन है क्योकि उसमे सोचने-समझने की शक्ति नही है। यह युगयुगान्तर से चला आ रहा था तथा उसे अनुशासित करने वाले नियम स्थायी, अविकारी और अपरिवर्तनशील है। अग्नि सदैव वस्तुओ को जलाएगी और पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति वस्तुओ को अपनी ओर आकृष्ट करेगी। कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति की विविधता एव निरन्तर उथल पुथल के मूल मे एक निश्चित एकरसता और स्थिरता रहती है और इसीलिए प्रकृति कानूनो के अधीन एक व्यवस्थित इकाई है।

प्रकृति-जगत के सार्वभौम और अपरिवर्तनशील नियमो के सर्वथा विपरीत मनुष्य सम्बन्धी नियम परिवर्तनशील होते है। वे शाश्वत एव अविकारी नही होते। इसका कारण यह है कि मनुष्य बुद्धियुक्त प्राणी है जिसकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा और कर्त्तव्य-शक्ति होती है। उसमे यह सामर्थ्य है कि मनोवाञ्छित उद्देश्य चुने और उस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मनचाहे साधन अपनाए। वह इतना शक्ति-सम्पन्न है कि प्रकृति के कानूनो के द्वारा अपने पर लादे गए आचरण के तरीको का जुआ उतार फैके और उसके सर्वथा विपरीत आचरण करने लगे। इन बातो के होने से मानवीय नियमो मे समानता, सार्वभौमता और अपरिवर्तनशीलता नही आ सकती। मॉण्टेस्क्यू यह अवश्य मानता है कि भौतिक नियम आचरण को प्रभावित जरूर करते है, उदाहरणार्थ आग मे अँगुली डालने से वह जलेगी और विषपान करने से, उपचार न हो सकने की सूरत मे, मनुष्य की मृत्यु होगी।

मॉण्टेस्क्यू मनुष्य को अज्ञानी और काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओ के भँवर मे फँस जाने वाला प्राणी स्वीकार करते हुए कहता है कि वह ईश्वर द्वारा प्रदान की गई वाक् शक्ति एव अन्य शक्तियो का दुरुपयोग करता है। वह अपनी प्रजनन-शक्ति का दुरुपयोग अपनी कामुकता को सन्तुष्ट करने के लिए करता है। मनुष्यो के लिए यह स्वाभाविक है कि वह आवेगो मे बहकर ईश्वर के प्रति अपने

1 "Montesquieu's formulation of a philosophy of law has led one analyst to state that the study of historical jurisprudence begins with *The Spirit of Laws.*" —*Harmon* Op cit., p. 271

सम्बन्धो को विस्मृत कर दे अतः उसे इनका स्मरण कराने हेतु धर्म के कानून हैं'। उसी के शब्दों में, "ऐसा प्राणी प्रत्येक क्षण अपने रचयिता को विस्मृत कर सकता है अतः धर्मों के कानूनो द्वारा ईश्वर ने मनुष्य को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाई है। ऐसा प्राणी स्वय अपने आपको भूल सकता है, दर्शनशास्त्र आचार के नियमो द्वारा उसे ऐसा करने से रोकता है। उसे समाज मे रहने के लिए बनाया गया है किन्तु वह अपने साथियो को भूल सकता है इसीलिए विधि-निर्माताओ ने नागरिक तथा राजनीतिक कानून बनाकर उसे अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए आरूढ किया है।"[1] अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रकृति-जगत एक ही प्रकार के कानूनो से अनुशासित है जिन्हे कि प्राकृतिक कानून कहा जा सकता है, वहाँ मनुष्य दो विभिन्न प्रकार के कानूनो के अधीन है—ईश्वर-निर्मित कानूनो और स्वनिर्मित कानूनो के।

मॉण्टेस्क्यू का कहना है कि अन्य सब नियमो के बनने से पहले मनुष्य प्राकृतिक दशा के प्राकृतिक नियमो से अनुशासित होता था। उसके विचार से प्रकृति का प्रथम नियम आत्म-रक्षा, शान्ति एव सुरक्षा की आकांक्षा है। प्राकृतिक दशा का मानव डरपोक था। आत्मरक्षा की भावनाओं और सकटो से बचने के लिए तथा भोजन, वस्त्र एव आवास की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मानव-स्वभाव ने उसे सम्भवतः शीघ्र ही अन्य मनुष्यो के साथ सगठित होने के लिए उत्प्रेरित किया। यह सगठन-सूत्र दूसरे लिंग के प्रति आकर्षण से और सामूहिक आवास के आनन्द से सम्भवतः और भी अधिक दृढ़ हो गया। प्रकृति का दूसरा नियम यह है कि "जीवन-निर्वाह और सुरक्षा के लिए मनुष्य को अपने अन्य साथियो के साथ संगठित होना चाहिए।" मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार, मनुष्य परस्पर दूसरे व्यक्तियो के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढाने लगे और इस प्रकार समाज मे युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। मानवीय आचरण केवल प्रकृति के नियमो से अनुशासित नही रह सका। तब इस अवस्था मे प्राकृतिक नियमो की पूर्ति मानव-कृत कानूनो (Positive Laws) द्वारा करनी पड़ी। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रकृति-जगत मे केवल एक ही प्रकार के कानून होते हैं जबकि मानव-जगत मे दो प्रकार के कानून होते हैं—जैसा कि जोन्स ने लिखा है "मानव कार्यों के क्षेत्र मे प्राकृतिक कानून के अलावा एक प्रकार का कानून और होता है, जिसे मॉण्टेस्क्यू विधेयात्मक अथवा मानव-कृत कानून कहता है।"[1]

मॉण्टेस्क्यू इन मानवीय कानूनो की प्रकृति को बतलाते हुए प्राकृतिक कानूनो से इनके अन्तर को प्रकट करता है। उसके अनुसार—

(i) मानव-कृत कानून "विधायक द्वारा बनाए हुए विशिष्ट और सुनिश्चित सस्थान होते है।"[2]

(ii) ये कानून सार्वभौम नही होते और न ही यह आवश्यक है कि वे अविकारी हो।

(iii) ये कानून परिवर्तनशील होते हैं, इन पर समाज के स्वरूप, जलवायु, धर्म नैतिक नियमो आदि का प्रभाव पडता है।

(iv) समाज मे होने वाले परिवर्तनो और विकास से मानव-सम्बन्धी कानून प्रभावित होते रहते है। देश, काल और समाज विशेष के चरित्र इनके स्वरूप मे परिवर्तन लाते रहते हैं।

स्पष्ट है कि माण्टेस्क्यू समाज-विशेष के कानून को बाहर से थोपा गया कोई कृत्रिम कानून नही मानता। उसकी दृष्टि मे तो यह बहुत से जटिल, विकासशील और परिवर्तनशील सम्बन्धो का समूह है जो एक समाज मे विभिन्न घटको मे परस्पर सम्बन्ध पाए जाते है। अपने सम्पूर्ण रूप में कानून वह चीज है जो समाज को उसका विशिष्ट और अद्वितीय चरित्र प्रदान करता है।

मानवीय अथवा सामाजिक कानूनो को मॉण्टेस्क्यू ने तीन वर्गों मे विभाजित किया है—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून जो एक राज्य तथा दूसरे राज्य के सम्बन्ध में होते हैं। इनकी

1 *Jones* : Masters of Political Thought, Vol II.
2 "In the sphere of human affairs, we have besides natural law, what Montesquieu calls 'positive' or man-made-Law." —*Jones* : Op. cit., p 225

समीक्षा करने मे मॉटेस्क्यू ने गोशियस का अनुकरण किया है, तथापि दोनो मे अन्तर यह है कि मॉण्टेस्क्यू ने युद्ध के कानून की अपेक्षा शान्ति-धर्म पर अधिक बल दिया है।

(ख) राजनीतिक कानून जो शासक तथा शासित वर्ग के बीच होते हैं; इनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का राज्य और सरकार से सम्बन्ध निश्चित होता है। ये कानून सरकार की शक्तियो को सीमित करके नागरिक-अधिकारो की रक्षा करते हैं।

(ग) नागरिक कानून जो एक नागरिक का दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध बताते हैं।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार इन तीनो प्रकार के कानूनो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून सब देशो और समाज के लिए एक सा होता है किन्तु राजनीतिक और दीवानी कानून सब देशो मे वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसका मत था कि कानून सापेक्ष होते है और आवश्यकतानुसार उनमे परिवर्तन भी होता है तथा होना भी चाहिए। कल्पना की अपेक्षा व्यावहारिकता मे अधिक विश्वास करने वाले मॉण्टेस्क्यू का कहना था कि कानून उन सम्बन्धो का प्रतिनिधित्व करते हैं जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते है। प्राकृतिक, नागरिक, अन्तर्राष्ट्रीय एव राजकीय सभी प्रकार के कानून परस्पर सम्बन्धित है और कानून द्वारा मानव-जाति के पारस्परिक सम्बन्धो एव वुद्धि पर प्रकाश पडता है। कानूनो मे भिन्नता इसलिए आती है क्योकि देश, काल, भौगोलिक स्थिति आदि मे भिन्नता है। कानून समाज मे व्यवस्था उत्पन्न करते है। वे मानव से सम्बन्धित आवश्यक नियम है जिनके अनुकूल मनुष्य को चलना होता है। कानूनो का सम्बन्ध, विशेषकर राजनीतिक कानूनो का, नागरिको की चारित्रिक उच्चता से होता है। यदि कानून के पालन मे व्यक्ति असमर्थता प्रकट करते हैं तो यह अवैधानिक जीवन है जो सर्वथा अनुचित है। मॉण्टेस्क्यू ने कहा कि सभी प्रकार के राजकीय कानूनो को राष्ट्रीय प्रथाओ पर आधारित होना चाहिए। राजकीय कानून ऐसे होने चाहिए जिनसे भौगोलिक एव सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो।

सरकारों का वर्गीकरण
(Classification of Government)

मॉण्टेस्क्यू ने यूनानी दार्शनिको का अनुसरण करते हुए सरकारो का वर्गीकरण किया है, किन्तु वह राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र के परम्परागत वर्गीकरण के स्थान पर एक नवीन योजना प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार सरकार के तीन मूल रूप हैं—गणतान्त्रिक (Republic), राजतन्त्रात्मक (Monarchic) एव निरकुशतन्त्र (Despotic)। गणतान्त्रिक सरकार के उसने पुनः दो भेद किए है—

लोकतन्त्र (Democracy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy)। गणतन्त्र वह राज्य होता है जिसमे सर्वोत्तम शक्ति समस्त नागरिको अथवा उनके एक भाग मे निहित होती है। राजतन्त्रात्मक राज्य वह है जिसमे राज्य पर एक ही व्यक्ति कुछ सुनिश्चित कानूनो द्वारा शासन करता है। यदि वह व्यक्ति स्वेच्छाचारी रूप से गैर-कानूनी आचरण करते हुए शासन करने लगता है तो वह राज्य निरकुशवादी हो जाता है। गणतन्त्र-राज्य मे जब राजनीतिक सत्ता समूची जनता मे होती है तो वह लोकतन्त्र होता है किन्तु जब सत्ता कुछ व्यक्तियो के अल्पसख्यक वर्ग मे होती है तो शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रत्येक प्रकार की शासन-पद्धति का अपना मौलिक सिद्धान्त (Principle) होता है। 'सिद्धान्त' से उसका आशय है सरकार को गति प्रदान करने वाली मानव-भावना अथवा एक विशेष प्रेरक शक्ति (Motive Force)। गणतन्त्र मे वह शील या सदाचार (Virtue) के सिद्धान्त की प्रधानता बतलाता है। 'शील' (Virtue) से उसका तात्पर्य किसी आध्यात्मिक विराट् नियम से नही है वरन् देश-प्रेम, राजनीतिक ईमानदारी और समानता की भावना से है। दूसरे शब्दो मे शील प्रलोभन एव स्वार्थी महत्त्वाकांक्षा से बिल्कुल उल्टा है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार 'शील' ज्ञान और विचार की उत्पत्ति नही है प्रत्युत् तुरन्त और स्वत ही उत्पन्न होने वाली ऐसी भावना है जो राज्य के किसी भी निम्न स्तर के या उच्च स्तर के व्यक्ति मे उदित हो सकती है। 'शील' की भावना से अनुशासित व्यक्ति शिष्टता

और संतुलन के उदाहरण होते हैं। न उनमें अभिमान की विशेषता होती है और न ही मिथ्याचार की। चूंकि लोकतन्त्र और कुलीनतन्त्र गणतन्त्र के ही उपविभाग हैं, अतः उनमें भी यही 'सिद्धान्त' पाया जाता है। लोकतन्त्र का 'सिद्धान्त' है 'शील' का पूर्ण रूप से संस्थापन और पालन। कुलीनतन्त्र में 'शील' संयम (Moderation) की भावना में व्यक्त होता है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार राजतन्त्र का सिद्धान्त है 'सम्मान' (Honour) अथवा गौरव की भावना। यही भावना राज्य के प्रत्येक वर्ग को गति प्रदान करती है और उन्हें परस्पर सम्बद्ध रखती है। 'सम्मान' (Honour) की यह वृत्ति वर्ग के अधिकारों की रक्षा के प्रति जागरूकता में व्यक्त होती है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों के बारे में सोचते हुए भी समस्त के कल्याण के लिए कार्य करता है। कहना चाहिए कि यह राज्य के प्रमुख व्यक्तियों और वर्गों द्वारा भोगी जाने वाली अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की वह उत्कृष्ट भावना है जिससे स्वयं के हित के साथ ही समष्टि के कल्याण की भावना व्याप्त रहती है। निरकुश शासन का सिद्धान्त है भय (Fear)। निरकुश नरेश की दण्ड-शक्ति सर्वत्र अपना आतंक फैलाती है। राजतन्त्र और निरकुशतन्त्र में मूल अन्तर यह है कि जहाँ राजतन्त्र कानून-सम्मत शासन होता है वहाँ निरकुशतन्त्र कानून-विहीन शासन हो जाता है जिसमें शासक की स्वेच्छाचारिता पर कोई अंकुश नहीं रह पाता। प्रत्येक व्यक्ति शासक की इच्छा के अधीन होता है। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू द्वारा व्यक्त ये सिद्धान्त उन मनोवैज्ञानिक भावनाओं और वासनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनसे सरकार को क्रिया-शक्ति प्राप्त होती है। इन मानव-वासनाओं से ही सरकार परिचालित है। सरकार के 'सिद्धान्तों' की विवेचना में 'शील' पर बल प्रदान करना मॉण्टेस्क्यू की यूनानी-रोमन विचारधारा की निष्ठा को पुष्ट करता है। यूनान और प्राचीन रोमन गणतन्त्र में राजनीतिक अनुरक्ति और समष्टिक शक्ति को महत्त्वपूर्ण माना गया था।

जिस प्रकार सरकार के 'सिद्धान्त' की विवेचना माण्टेस्क्यू ने की है उसी प्रकार सरकार के 'स्वरूप' की भी की है। सिद्धान्त से उसका तात्पर्य मनोवैज्ञानिक वासनाओं से है, स्वरूप से वह सरकार की बनावट का अभिप्राय ग्रहण करता है। मॉण्टेस्क्यू ने किसी भी शासन को आदर्श नहीं माना है। उसने आदर्श रूप में सर्वोत्तम राज्य की धारणा को असम्भव और प्रभावपूर्ण कहकर ठुकरा दिया है। किसी भी प्रकार की विधियाँ सार्वभौमिक आधार पर अच्छी नहीं मानी जा सकती। इसका निश्चय तो ऐतिहासिक एवं सापेक्षिक आधार पर किया जा सकता है।[1] मॉण्टेस्क्यू सापेक्षतावाद का उपासक है और यह विश्वास करता है कि विशेष परिस्थितियों में तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है और इनके बदल जाने पर वह निष्प्रभावी हो जाती है। उदाहरणार्थ लोकतन्त्र की मौलिक भावना समानता है, यदि वह लुप्त हो जाए तो इसका अस्तित्व मिट जाएगा। इसी तरह कुलीनतन्त्र का प्राण संयम (Moderation) है और शासक वर्ग द्वारा इसका पालन न होने पर इस प्रणाली का अन्त हो जाएगा। शासन का रूप भौतिक परिवेश पर निर्भर करता है जो देश-देश में भिन्न-भिन्न होता है। कानूनों में भी इसीलिए विविधता होती है। "यदि यह सत्य है कि मनुष्य का स्वभाव और उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न जलवायु में एकदम भिन्न होती हैं तो कानूनों को भी भावनाओं तथा स्वभाव की विविधता के अनुरूप ही होना चाहिए।" जो कानून एवं राजनीतिक संस्थान ठण्डे प्रदेशों के निवासियों के अनुकूल हो सकते हैं, उनका गर्म प्रदेशों के निवासियों के लिए उपयुक्त होना अधिकांशतः सम्भव नहीं है।

मॉण्टेस्क्यू ने गणतन्त्र, राजतन्त्र एवं निरकुशतन्त्र को क्रमशः 'प्रकाश, गोधूलि एवं अन्धकार' (Light, Twilight and Darkness) बतलाया है। गणतन्त्र 'प्रकाश' इसलिए है कि इसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर बल दिया जाता है। गणतन्त्रीय शासन व्यावहारिक नहीं है क्योंकि आधुनिक विशाल राज्यों में उसका प्रयोग नहीं हो सकता यह केवल यूनान के नगर-राज्यों या कम क्षेत्र वाले राज्यों में

1 *Sidgewick E M* Lectures on the Development of European Polity, p 372

ही सम्भव था। मॉण्टेस्क्यू का राजतन्त्र आधुनिक बडे राज्यो मे भली भाँति हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह फ्रांसीसी राजतन्त्र से प्रेम करता था। राजतन्त्र के समर्थन का एक बडा कारण यह भी था कि मॉण्टेस्क्यू यथार्थवादी था और यह जानता था कि राजतन्त्र की जडो को उखाड़ फेंकना सरल कार्य नही है। निरकुशतन्त्र का मॉण्टेस्क्यू कट्टर विरोधी था क्योकि इस शासन मे धन, वाणिज्य, उद्योग सभी कुछ खतरे मे पडे रहते हैं और प्रजा की स्थिति दास जैसी होती है।

मॉण्टेस्क्यू के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

(Montesquieu's Conception of Liberty)

मॉण्टेस्क्यू पर इग्लैण्ड के सविधान का व्यापक प्रभाव पडा था। अधिकारी-वर्ग की सत्तारूढता के बदले ब्रिटेन मे स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था। सत्ता का मद पतन का निश्चित मार्ग है इसका मॉण्टेस्क्यू को विश्वास हो गया था। यही कारण था कि 'Spirit of Laws' मे स्वतन्त्रता की धारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। अंग्रेजो के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारो की अनुभूति वह फ्रांस मे देखना चाहता था। उसने ब्रिटिश शासन-प्रणाली का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके स्वतन्त्रता की व्यापक अर्थ मे परिभाषा करते हुए कहा—"यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास था कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहा है।"[1] जब व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है तो वह स्वतन्त्र नही रह जाता।

मॉण्टेस्क्यू ने स्वतन्त्रता के दो स्वरूप बतलाए हैं—

1. राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty), एवं
2. नागरिक या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Civil Liberty)।

राजनीतिक स्वतन्त्रता राजकीय कानून द्वारा अनुमोदित कोई भी कार्य करने की स्वाधीनता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता मे राज्य और प्रजा का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। जहाँ मनुष्य विधियो के अनुकूल आचरण नही करते वहाँ किसी की भी, चाहे वह व्यक्ति हो या सस्थान, स्वतन्त्रता सुरक्षित नही रहती। राजनीतिक स्वतन्त्रता अनियन्त्रित स्वाधीनता कभी नही हो सकती। मॉण्टेस्क्यू के ही शब्दों मे "राज्य मे, अर्थात् कानून द्वारा निर्देशित समाज मे स्वतन्त्रता का अर्थ है कि एक व्यक्ति को उन कामो के करने की स्वाधीनता हो जो करने योग्य हैं और जो काम नही करने चाहिए, उनको करने के लिए उसे विवश न किया जाए।" व्यक्ति को क्या इच्छा करनी चाहिए इसके सर्वश्रेष्ठ सूचक राजकीय कानून है, और इसीलिए "स्वतन्त्रता वह कार्य करने का अधिकार है जिसकी कानून इजाजत देते है और यदि नागरिक ऐसे कार्य कर सकता है जिनका कानन विरोध करते हैं तो उसके पास स्वतन्त्रता नही रह पाएगी, क्योकि अन्य सब नागरिको को भी वैसी ही शक्ति प्राप्त होगी।" स्पष्टतः मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु यह है कि स्वतन्त्रता कानूनो के प्रति अधीनता मे है मनुष्य के प्रति अधीनता मे नही। स्वतन्त्रता का अर्थ कानून की मर्यादा मे रहते हुए कोई भी काम कर सकने की आजादी है। जहाँ कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानून से ऊपर उठकर मनमानी करने का अधिकार रखता है वहाँ स्वतन्त्रता नही हो सकती। यही कारण है कि निरकुशवाद मे व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता नही रह पाती।

मॉण्टेस्क्यू के इस विचार मे कि जब मनुष्य को अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है तो वह स्वतन्त्र नही रहता, एक कठिन समस्या तब खडी हो जाती है जब राज्य के कानून और व्यक्ति के नैतिक विश्वास मे सघर्ष उठ जाता है। मॉण्टेस्क्यू इन कठिनाई से परिचित था। अत. उसने स्पष्ट कर दिया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नही है कि राजकीय कानून, जो हमारे आचरण को विनियमित करते हो, 'मद' के मौलिक सिद्धान्तो पर आश्रित रहने वाले और जनता के

1 "In its broadest sense, Liberty consists in the belief that one has that he is acting according to his own will" —Montesquieu

नैतिक विश्वासो से सामजस्य किए जा सकने वाले हो, प्रत्युत् आवश्यक यह है कि नागरिक कानूनों से परिचित हो और कानून का उल्लघन करने पर दण्डनीय हो। नागरिकों द्वारा उपभोग की हुई स्वतन्त्रता की मात्रा और स्वरूप कानून के स्वरूप के अनुसार विभिन्न हो सकते हैं किन्तु कानून के अभाव मे तो किसी भी प्रकार की कोई सुरक्षा और स्वतन्त्रता नहीं रह जाएगी, व्यक्ति अपने को एक अथाह सागर मे पाएगा।

मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक स्वतन्त्रता के विश्लेषण से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

(1) राजनीतिक स्वतन्त्रता मे शासक एव शासितों के सम्बन्धों का स्थायित्व अभिहित है।
(2) राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा विधि-सम्मत-शासन मे निहित है।
(3) इस स्वतन्त्रता मे विधि का उल्लघन नहीं किया जा सकता।
(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता विधि द्वारा अनुमोदित व्यवहार का ही नाम है।

मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता को ठीक प्रकार से परिभाषित नहीं किया है। डॉन। के अनुसार, "मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता की परिभाषा स्पष्ट रूप से नहीं की है, किन्तु उसके विचारो से यह स्पष्ट है कि शासनतन्त्र ऐसा होना चाहिए जिसमे व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्तियों को पूर्णरूपेण प्राप्त हो सके। पूर्ण स्वतन्त्रता व्यक्तियो को तभी मिल सकती है जब शासनतन्त्र असीमित शक्ति-सम्पन्न या निरकुश न हो।" मॉण्टेस्क्यू के मत मे नागरिक स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है। दासता के साथ इसका वही सम्बन्ध है जो निरकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त द्वारा मॉण्टेस्क्यू ने दास-प्रथा पर कठोर प्रहार किया है और इसे नितान्त अमानवीय, अप्राकृतिक एव ईसाई धर्म विरोधी माना है।

मॉण्टेस्क्यू का शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त
(Montesquieu's Theory of Separation of Powers)

सेबाइन ने लिखा है, "मॉण्टेस्क्यू के समसामयिको विचार से उसके महत्त्व का कारण यह था कि उसने ब्रिटिश सस्थाओ को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन बतलाया और इस रूप मे इसका प्रचार किया। मॉण्टेस्क्यू कुछ समय इगलैण्ड रहा था। वहाँ रहने से उसकी यह पूर्वधारणा दूर हो गई थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता एक उच्चतर सद्गुण के ऊपर आधारित है। यह सद्गुण केवल रोमनो को ही ज्ञात था और इसे केवल नगर-राज्य मे ही सिद्ध किया गया था। उसने निरकुशता के प्रति उसकी बद्ध अरुचि को सार प्रदान किया और एक ऐसे उपाय का निर्देश किया जिसके द्वारा फ्रांस के निरकुशतावाद से दुष्परिणामो को दूर किया जा सकता है। यह कहना सही नही है कि मॉण्टेस्क्यू फ्रांस मे इगलैण्ड के शासन का अनुकरण सम्भव मानता था। तथापि इसमे कोई सन्देह नही है कि 'स्प्रिट ऑफ दी लॉज' की सुप्रसिद्ध ग्यारहवी पुस्तक ने उदार सविधान निर्माण के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तो ने आगे चलकर रूढियो का रूप धारण किया। इस पुस्तक मे शासन की विध यी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियो का पृथक्करण का और एक दूसरे के विरोध मे इन शक्तियो के सन्तुलन का निरूपण किया गया था।"[1]

शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की प्रथम सुन्दर और वैज्ञानिक व्याख्या मॉण्टेस्क्यू द्वारा की गई। इस फ्रांसीसी विचारक ने कहा कि सत्ता का मद पतन का निश्चित मार्ग है अत' इसके लिए रोक और समतोलन आवश्यक है। स्वतन्त्रता तभी बनी रह सकती है जब कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका अलग-अलग अपना कार्य सम्पादन करें तथा एक दूसरे के क्षेत्र पर हावी न हो।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 519.

शक्ति का एक अंग यदि दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप न करे तो शक्ति का समतोलन रह सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने यह मत प्रकट किया कि जहाँ विधि-निर्माण और कार्यकारी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होंगी वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि एक ही व्यक्ति कानून-निर्माता भी होगा और कानून को क्रियान्वित करने वाला भी। इसी प्रकार यदि विधायी और न्यायिक शक्तियों का संचय भी एक ही व्यक्ति के हाथों में कर दिया जाएगा तो प्रजा अपने जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकेगी क्योंकि विधियों का निर्माण करने वाला ही विधियों की व्याख्या करके न्याय का निर्णायक बन जाएगा। इसी तरह यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों का भी एक ही व्यक्ति स्वामी रहेगा तो स्वतन्त्रता की रक्षा असम्भव है, क्योंकि एक ही संस्था अभियोक्ता भी होगी और न्यायाधीश भी। पुनश्च, यदि विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सभी कार्यों का समर्पण एक व्यक्ति के हाथों में होगा तो विनाश अवश्यम्भावी है। संक्षेप में, मॉण्टेस्क्यू का सूत्र यह था कि कानून-निर्माण, प्रबन्धकारी तथा न्याय विभागीय कृत्यों का एकमात्र व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह में केन्द्रीकरण का अधिकार दुरुपयोग करने वाला होता है और सरकार का इस प्रकार का संगठन घातकपूर्ण है। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू के अनुसार यह परम आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न अंग पृथक्-पृथक् रहें और कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे।

मॉण्टेस्क्यू पूर्ण पृथक्करण का पक्षपाती था अथवा आंशिक पृथक्करण का, इस सम्बन्ध में यही कहना उचित होगा कि वह 'शक्ति-शक्ति का विरोध करती है' में विश्वास करता था। वह चाहता था कि सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ इस प्रकार रखी जाएँ कि एक शक्ति दूसरी शक्ति के मुकाबले सन्तुलन और प्रतिरोध उत्पन्न करती रहे। फाइनर के अनुसार, "मॉण्टेस्क्यू की इच्छा थी कि क्राउन की शक्तियाँ सीमित रहें और संविधान ऐसा साधन बने जिसके माध्यम से शक्ति का स्रोत बहे। पर ये स्रोत अपनी सीमाएँ पार न कर पाएँ, अन्यथा लोगों में त्राहि-त्राहि मच सकती है। वस्तुतः माण्टेस्क्यू चाहता था कि ऐसे अन्तर्वर्ती निकाय बनें जो एक ओर तो स्वेच्छाचारी कार्यपालिका को संयमित रखें तथा दूसरी ओर न्यायपालिका एवं व्यवस्थापिका भी अपनी सीमाओं में रहे। परन्तु अपनी इन मान्यताओं के बावजूद भी मॉण्टेस्क्यू पूर्ण लोकतन्त्र की मान्यताओं से दूर न रहने का प्रयास कर रहा था।"

मॉण्टेस्क्यू चाहता था कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका को आहूत करे, उसका कार्यकाल निश्चित करे और व्यवस्थापन की व्यवस्था करे। वह इस पक्ष में भी था कि व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर महाभियोग लगा सकती है। आगे चलकर उसने कहा कि चाहे व्यवस्थापिका कार्यपालिका-प्रधान पर दोषारोपण न कर सके, पर चूँकि समस्त कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग केवल कार्यपालिका का प्रधान ही बिना अपने सहयोगियों की मदद के अकेला नहीं कर सकता, अतः जिन सहयोगियों को विधिवत् मन्त्री कहा जाता है उन पर व्यवस्थापिका द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है, चाहे विधियाँ उसको प्रथा होने के नाते बचाने वाली ही क्यों न हों।

शक्ति-विभाजन सिद्धान्त की आलोचना

(1) व्यावहारिक दृष्टि से शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। सरकार के तीनों अंग पृथक् रहने पर भी परस्पर एक-दूसरे के सहयोग पर आश्रित हैं। पूर्ण पृथक्करण का अर्थ होता है प्रत्येक अंग को निरंकुश बना देना। शासन इस प्रकार के तीन सम्प्रभु शक्तियों के रहते हुए चल ही नहीं सकता। बार्कर के अनुसार "शासक के तीन विभाग यद्यपि तीन विभिन्न क्रियाओं के परिचायक हैं, किन्तु वे अपने कार्य करने में पूर्ण प्रशिक्षित नहीं होते। अतः स्वाभाविक है कि वे एक-दूसरे के अधिकार-क्षेत्र का खुलकर अतिक्रमण करने लगें।" सन् 1971 में फ्रांस में इस सिद्धान्त को उसके विशुद्ध रूप में लागू करने की चेष्टा को क्रियात्मक दृष्टि से 'आदर्श' माना जाता है तथापि वहाँ भी

नियन्त्रण और सन्तुलन की पद्धति सहित शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया गया है।

(2) शासन के तीनो अगो मे इतनी व्यापक घनिष्ठता पाई जाती है कि उनका पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक है। सरकार के विभिन्न अगो द्वारा, शासन का चाहे जो भी स्वरूप हो, मिश्रित प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करते समय स्व-विवेक से कुछ ऐसे निर्णय लेते हैं और ऐसे नियमो का निष्पादन करते हैं जो आगे चलकर कानून बन जाते हैं। कार्यपालिकाध्यक्ष सकटकालीन परिस्थितियो का सामना करने के लिए चाहे जो अध्यादेश निकालते हैं वे भी व्यवहार मे कानून के समान ही प्रभावी होते है। व्यवस्थापिका द्वारा कई प्रकार के कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी न्याय किए जाते हैं। ससदीय व्यवस्था मे तो कार्यपालिका ही व्यवस्थापन के क्षेत्र मे नेतृत्व ग्रहण किए रहती है। वस्तुत: राजनीति का कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के स्पर्श से अछूता नही होता। फाइनर के अनुसार "पृथक्करण का सिद्धान्त शासन को कभी प्रलाप की ओर तथा कभी बेहोशी की ओर (Into alternating conditions of coma and convulsions) धकेलता रहता है।"

(3) मॉण्टेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या भ्रामक आधार पर प्रस्तुत की थी। स्ट्रॉंग के शब्दो मे "शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे सबसे विचित्र बात यह है कि प्रारम्भ मे इसे ब्रिटिश सविधान की स्थिरता के विशेष आधार के रूप मे प्रस्तुत किया गया था जो बिलकुल ही असत्य है और जो उस पर बिलकुल भी लागू नही होता।" ब्रिटिश ससदीय प्रणाली का अवलोकन करके मॉण्टेस्क्यू ने अनुभव किया था कि ब्रिटेन मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मूल कारण शक्तियो का पृथक्करण है। पर आज इस मत से कोई असहमति प्रकट करना कठिन है कि मॉण्टेस्क्यू ब्रिटिश सविधान की आत्मा का पर्यवेक्षण करने मे असफल रहा था।

(4) शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त अपने विशुद्ध अथवा पूर्ण रूप मे सरकार की कार्य-क्षमता को नष्ट करने वाला है। फाइनर (Finer) ने लिखा है कि "यह शासन को निद्रित एव ऐंठने वाली अवस्था मे डाल देता है।" सरकार के अंगो के पारस्परिक सन्देहो और आन्तरिक सघर्ष के कारण प्रशासकीय योग्यता कुण्ठित हो कर मर जाएगी और प्रत्येक विभाग मे स्थानीय स्वार्थ का बोल-बाला हो जाएगा। जे एस. मिल ने 'प्रतिनिधि सरकार' में इसी तथ्य की ओर सकेत किया है कि कठोरता से लागू किया गया शक्ति-पृथक्करण सघर्ष को प्रोत्साहन देगा और जनमानस पर विपरीत प्रभाव डालेगा।

(5) इस सिद्धान्त को अधिनायकवादी शक्तियो ने भी अपनी प्रवृत्तियो के अनुकूल नही माना है शक्तियो के पृथक्करण के माध्यम से उन्हे वांछित योग्यता और कार्यकुशलता उपलब्ध नही हो सकती। अधिनायकवादी शासन-व्यवस्थाएँ तो शक्तियो के केन्द्रीकरण को ही उपयुक्त समझती हैं। इसमे शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को पूँजीवादी धारणा कहकर ठुकरा दिया गया है। विशिस्की के कथनानुसार, "अखिल साम्यवादी दल का कार्यक्रम पूँजीपतियो के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है।"

(6) नागरिक स्वतन्त्रता के विचार से भी अधिकारो का पूर्ण विभाजन आवश्यक नही है क्योकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारो के विभाजन पर इतनी आश्रित नही रहती जितनी सविधान की आत्मा पर। इगलैण्ड में पृथक्करण का सिद्धान्त न होते हुए भी अमेरिका से कम स्वतन्त्रता नहीं है।

(7) यह धारणा भ्रामक है कि सरकार के सब अंग समान है और अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हैं। वास्तव मे व्यवस्थापिका तीनो अगो मे अधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह जनता का प्रतिनिधित्व करती है तथा विधायी और वित्तीय शक्तियो द्वारा दूसरे अगो पर नियन्त्रण करती है।

(8) आज के युग मे पृथक्करण के सिद्धान्त का कोई वास्तविक मूल्य नही रहता है क्योंकि दलवन्दी की भावना ने मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापिका को जोड दिया है।

(9) मॉण्टेस्क्यू ने अपने सिद्धान्त को शक्तियो का विभाजन कहा है। किन्तु वास्तव मे 'शक्ति' के स्थान पर कार्य का प्रयोग किया जाना चाहिए था क्योंकि प्रजातन्त्रीय राज्य मे शक्ति तो जनता के पास होती है। सरकार तो वही कार्य करती है जो जनता उसे करने के लिए कहती है।

(10) यह सिद्धान्त असामयिक है जिन परिस्थितियो मे इसका जन्म हुआ है वे आज वदल गई हैं। आज राष्ट्र शक्ति के लिए शासन मे विभाजन की नही, एकता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त आज के लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार भी शक्ति-विभाजन सिद्धान्त के अनुरूप प्रतीत नही होता।

(11) पूर्ण पृथक्करण के लिए न्यायाधीशो का चुनाव करना पडेगा, जो न्याय की दृष्टि से बड़ी खतरनाक पद्धति होगी। ऐसी स्थिति मे न्यायाधीश अपने मतदाताओ के इशारो की कठपुतली वन जाएँगे और न्याय की निष्पक्षता तथा गम्भीरता मिट जाएगी।

मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव और मूल्यांकन—मॉण्टेस्क्यू के शक्तियो के विभाजन के सिद्धान्त मे एक महान् जनतान्त्रिक आकर्पण था जिसने फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रोत्साहन प्रदान किया और क्रान्तिकारी काल की प्राय: सभी सरकारें शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर संगठित की गईं। नेपोलियन के शासन मे इस सिद्धान्त की अवज्ञा की गई, किन्तु सर्वसाधारण के हृदय मे यह सिद्धान्त अपना घर किए रहा और सांविधानिक सूत्र के रूप मे आज भी इसकी प्रशसा की जाती है।

अमेरिका मे मॉण्टेस्क्यू के इस सिद्धान्त का प्रभाव निर्णायक सिद्ध हुआ। डॉ फाइनर का कथन है कि "हम नही कह सकते कि अमेरिकन सविधान के निर्माताओ ने सविधान मे शक्तियो से पृथक्करण मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त से प्रभावित होकर किया था, या उनका उद्देश्य यह था कि नागरिको की सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियो से पृथक्करण का आश्रय लेना ही चाहिए। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि अमेरिकावासी एव अमेरिकन सविधान-निर्माता मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे यद्यपि साथ ही वे स्वेच्छाचारिता को भी सीमित करना चाहते थे। वाद के इतिहास ने भी अमेरिकन सविधान मे शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त को मान लेने मे हाथ वँटाया पर फिर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि अमेरिकन सविधान पर मॉण्टेस्क्यू की स्पष्ट छाप पड़ी थी। इसी कारण मेडिसन वार-वार कहा करता था कि निरन्तर मॉण्टेस्क्यू की अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हे।"

व्यावहारिक दृष्टि से हम यह स्वीकार नही कर सकते कि विधान-निर्माण एक वस्तु है, प्रशासन दूसरी चीज है और न्याय करना तीसरी चीज है। शक्तियो का विभाजन कृत्यों को शासन के तीन विभिन्न विभागो को सौंप दें तो उससे शक्तियो का विभाजन प्राप्त हो जाएगा। इस सिद्धान्त की उपयोगिता यह वल देने में है कि शासन के तीन अगो के वीच अधिकार-विभाजन शासन की अच्छाई को वनाए रखने के लिए आवश्यक है। किन्तु यह विभाजन उसी सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक इन अगो मे सहयोग के लिए पूरा अवसर मिलता रहे। शक्तियो के विभाजन पर सी एफ स्ट्रांग (C F. Strong) का यह विचार उचित ही है कि आत्यतिक व्याख्या के अनुसार इस सिद्धान्त का तात्पर्य तीनो विभागो का एक दूसरे मे पूर्ण पृथक्करण है, परन्तु व्यापक रूप मे इसका तात्पर्य केवल यही है कि ये तीनो शक्तियाँ पृथक्-पृथक् अधिकारियो के पास होगी। आधुनिक दशाओ मे इसके आत्यन्तिक अर्थ को व्यावहारिक रूप देना असम्भव है क्योंकि सांविधानिक सरकार का कारोवार इतना जटिल होता है कि प्रत्येक विभाग के क्षेत्र का ऐसी रीति मे निरूपण नही हो सकता कि प्रत्येक विभाग

अपनी निर्दिष्ट सीमा मे स्वतन्त्र तथा सर्वोच्च रह सके, क्योंकि जैसा कि एच. जे लास्की का कथन है, "शक्तियो के पृथक्करण का तात्पर्य शक्तियो का समान, सन्तुलन नही है। एक सच्चे सांविधानिक राज्य मे असंसदीय होते हुए भी कार्यपालिका विधानमण्डल को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए तथा वह ऐसा सुनिश्चित करता भी है कि कार्यपालिका के कार्य मोटे तौर पर उसकी इच्छा को कार्यान्वित करें।.... इसके अतिरिक्त, सरकार की एक अच्छी प्रणाली मे कार्यपालिका के पास क्षमा अथवा प्रविलम्बन के विशेषाधिकार होने चाहिए तथा होते हैं जिससे कार्यपालिका न्यायपालिका के अत्यन्त कठोर निर्णयो को रोक सके अथवा निष्फल कर सके। इसके अलावा, अपनी क्षमता की सीमाओं के भीतर विधानमण्डल का यह सुनिश्चित करना हमेशा ही एक कार्य कर रहा है कि यदि न्यायपालिका की प्रवृत्ति अच्छी नीति के विरुद्ध मालूम हो तो वह विधान द्वारा उलट दी जाए।....अपने व्यापक अर्थ मे कि तीन शक्तियाँ पृथक् अधिकारियो के पास होगी, समस्त आधुनिक सांविधानिक राज्य-शक्तियो के पृथक्करण के अनुकूल हैं, क्योंकि आज कही भी इनमे से एक कृत्य का सम्पादन करने वाला निकाय अन्य दो कृत्यों का सम्पादन करने वाले निकायो से अभिन्न नहीं है।"

स्मरणीय है कि मॉण्टेस्क्यू ने अपने सिद्धान्त का अधिकांश विचार लॉक की पुस्तक 'Treatise on Civil Government' से लिया था। लॉक ने अपनी पुस्तक मे सरकार की शक्तियों को व्यवस्थापिका सघकारी और कार्यपालिका मे विभाजित किया था, जबकि माण्टेस्क्यू ने इन नामो को बदलकर इन्हे व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एव न्यायपालिका कहकर पुकारा है, और ये नाम आज भी प्रचलित हैं। सेबाइन का कथन है कि शक्ति-विभाजन का यह विचार राजनीतिक दर्शन मे बहुत पुराना था। प्लेटो ने लॉज' मे मिश्रित राज्य के विचार का प्रतिपादन किया था। पालिबियस ने रोमन-शासन की कथित स्थिरता का यही कारण बतलाया था। मर्यादित अथवा मिश्रित राजतन्त्र मध्ययुग की एक सुपरिचित सकल्पना थी। मध्ययुग का सविधान शक्तियो के विभाजन पर आधारित था।.. शक्ति-विभाजन के प्राचीन सिद्धान्त को मॉण्टेस्क्यू की देन यह थी कि उसने इस सविधान के विभिन्न भागो के बीच वैधानिक प्रतिबन्धो और सन्तुलनो की व्यवस्था का रूप दिया।[1]

मॉण्टेस्क्यू के कुछ अन्य विचार
(Some Other Thoughts of Montesquieu)

मॉण्टेस्क्यू के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो पर विचार कर लेने के बाद प्रसगवश उसके कुछ अन्य कम महत्त्वपूर्ण विचारो को भी सांकेतिक रूप मे जान लेना उपयोगी है।

सबसे पहले हम भौतिक परिस्थितियो के प्रभाव के बारे मे मॉण्टेस्क्यू के विचारो को लेते हैं। उसका विश्वास था कि किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक सस्थाओ पर भौतिक परिस्थितियो का बडा प्रभाव पडता है। जिस देश की जलवायु गर्म होती है उस देश के निवासियो मे आलस्य-वृत्ति अधिक होती है। शीत-प्रधान देशो के निवासियो मे क्रियाशीलता, स्फूर्ति और मद्यपान की प्रवृत्ति अधिक रहती है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है वैसी ही वहाँ के मनुष्यो की आवश्यकताएँ और जीवन-पद्धतियाँ होती है। स्वतन्त्रता और जलवायु मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ गर्म जलवायु एशियायी देशो मे निरकुश शासन सस्थाओं को पुष्ट करती है जबकि यूरोप की ठण्डी जलवायु निरकुश शासन को सहन नही कर सकती और इसी कारण वहाँ स्वतन्त्रता एव आत्मनिर्भरता की भावनाएँ अधिक विकसित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू का मत था कि ब्रिटेन का सविधान वहाँ की जलवायु और लन्दन के कुहरे का परिणाम है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार भूतल की रचना भी राष्ट्रीय सस्थाओं को प्रभावित करती है। पर्वतीय प्रदेश स्वतन्त्र सरकार के लिए तथा समतल मैदान निरकुश शासन के लिए अच्छा आधार प्रस्तुत करते है। गहरी नदियो और ऊँची पर्वत श्रेणियो से रहित प्रदेशो में निरकुश शासन इसलिए पनपते है क्योंकि ऐसे प्रदेशो को अर्थात् मैदानो को विजय करना आसान होता है। पर्वतीय प्रदेशो को

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 519–20

विजय करना अपेक्षाकृत कठिन होता है, इसलिए वहाँ स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन विकास पाता है। चूँकि पर्वतीय प्रदेशो मे खेती करना कठिन होता है अत लोग पुरुषार्थी होते है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार महाद्वीपो के निवासियो की अपेक्षा द्वीपवासियो मे लोकतन्त्रात्मक भावनाएँ अधिक होती हैं। महाद्वीपो मे आक्रमणो का भय सदैव विद्यमान रहता है। वैधानिक शासन और प्रजातन्त्र छोटे राज्यो मे उपयुक्त एव सम्भव है जबकि विशाल राज्यो का शासन निरकुश नरेश ही अच्छी तरह कर सकते है।

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि मानव-स्वभाव एव प्रवृत्ति के निर्माण मे भौतिक परिस्थितियो का विशेष प्रभाव होता है, लेकिन इन्हे इतना महत्त्व नही दिया जा सकता जितना मॉण्टेस्क्यू ने दिया है। यदि मॉण्टेस्क्यू की जलवायु और भू-रचना सम्बन्धी धारणा को सही मान लिया जाए तो फिर क्या कारण है कि भारत और अन्य गर्म जलवायु वाले मैदानी देशो मे स्वतन्त्र सस्थाएँ सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे विशाल देशो मे लोकतन्त्रीय सरकारो की सफलता भी मॉण्टेस्क्यू की धारणाओ का खण्डन करती है। जो भी हो मॉण्टेस्क्यू के भौतिक परिस्थितियो के प्रभाव के विचारो से हमे उसके मस्तिष्क की क्रियाशीलता और विचारो की प्रौढ उडान की सुन्दर झलक मिलती है।

मॉण्टेस्क्यू ने सामाजिक परिवेश के प्रभाव की भी चर्चा की है। सामाजिक रीतियाँ, व्यवहार, आचार, विश्वास आदि मिलकर सामाजिक परिवेश का निर्माण करते हैं और एक देश के कानूनो तथा राजनीतिक सस्थानो पर इसका बडा प्रभाव पडता है। जन-रीतियो और जन-आचरण (Folkways and Mores) के विपरीत जाने वाले राजकीय कानूनो का न तो सम्मान ही हो सकता है और न प्रजा उनका स्वेच्छा से पालन ही करती है। अत विधि-निर्माताओ को चाहिए कि वे सामाजिक परिवेश को ध्यान मे रखते हुए विधियो का निर्माण करें। यदि विधियाँ राष्ट्रीय जन-रीतियो पर प्रहार करने वाली होगी तो यह अनाचार होगा। जन-रीतियो को बदलना यदि आवश्यक ही हो तो सर्वोत्तम उपाय यह है कि पहले से अधिक श्रेष्ठ और व्यावहारिक रीति-रिवाजो का प्रचलन कर दिया जाए।

मॉण्टेस्क्यू ने धर्म को व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु माना है। राज्य को धर्म के क्षेत्र मे कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए, तभी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी और राज्य के स्थायित्व मे भी वृद्धि हो सकेगी। किसी समाज मे कौनसा धर्म प्रचलित हो, इसका निर्धारण उस समाज की विशिष्ट स्थितियो द्वारा ही होना चाहिए। मॉण्टेस्क्यू ने धर्म पर विचार करते समय अपना यह रोचक विश्वास व्यक्त किया है कि सीमित सरकार वाले देश मे ईसाई धर्म, निरकुशवादी राज्य मे इस्लाम धर्म, राजतन्त्र मे कैथोलिक धर्म और गणतन्त्र मे प्रोटेस्टेन्ट धर्म सर्वाधिक उपयुक्त है। मॉण्टेस्क्यू रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भिक्षु-प्रणाली तथा पादरियो द्वारा विवाह न करने सम्बन्धी नियम का भी कठोर आलोचक था।

मॉण्टेस्क्यू का मूल्यॉकन एव प्रभाव
(Estimate and Influence of Montesquieu)

मॉण्टेस्क्यू के सभी प्रमुख सिद्धान्तो की आलोचना यथा-स्थान पूर्व पृष्ठो मे की जा चुकी है। प्राय: कहा जाता है कि उसका राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट और उलझा हुआ है। यद्यपि उसने व्यष्टिमूलक एव ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है तथा व्यावहारिक राजनीतिक प्रश्नो की समीक्षा की है तथापि राज्य की उत्पत्ति और स्वभाव के सम्बन्ध मे उसकी व्याख्या सन्तोषजनक नही है। उसके निष्कर्ष अप्रमाणित और सदिग्ध सूचनाओ पर आधारित है। विचार-व्यवस्था की शैली भी बिखरी और उलझी हुई है। ये दोष सम्भवत: इसीलिए रह गए हैं क्योकि मॉण्टेस्क्यू का प्रतिपाद्य विषय बडा व्यापक था। जिसे स्पष्ट करने मे वह समुचित सन्तुलन और अनुशासन नही निभा पाया। इस कारण मॉण्टेस्क्यू की प्रतिभा को 'Genious of hasty generalisation' कहा गया है।

मॉण्टेस्क्यू के दर्शन मे मौलिक प्रतिभा की कमी भी खटकती है। अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा मे उसने विवेक, परम्परा, धर्म, मानव-प्रवृत्ति आदि का इस तरह एकीकरण कर दिया है कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार शिथिल हो गया है। सरकारो के वर्गीकरण मे भी मौलिकता का अभाव है। मॉण्टेस्क्यू यह भी नही बतलाता कि भ्रष्ट शासन द्वारा उत्पन्न अराजकता से बचने के क्या उपाय हैं। उसने राज्य-क्रान्तियो के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है और न ही निरंकुशतन्त्र को सुधारने के उपाए बतलाए हैं।

किन्तु इन सब कमियो के बावजूद मॉण्टेस्क्यू के महान् अनुदान और प्रभाव की उपेक्षा नही की जा सकती। उसके ग्रन्थ 'The Spirit of Laws' ने चाहे अठारहवी और प्रारम्भिक उन्नीसवी शताब्दी के राजदर्शन पर विशेष प्रभाव नही डाला, किन्तु बाद के राजनीतिक विचारको ने उसके महत्त्व को समझा। मॉण्टेस्क्यू के दर्शन को उसके समकालीन समय मे सम्भवत इसलिए नहीं समझा जा सका कि वह राजनीति-शास्त्र के अध्ययन को न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि सामान्य सामाजिक शास्त्रो से मिलाना चाहता था जबकि उसके समकालीन और कुछ परवर्ती विचारक राजनीति शास्त्र को अन्य शास्त्रो से सर्वथा पृथक् रखना चाहते थे। समकालीन चिन्तन से मॉण्टेस्क्यू का एक अन्तर यह था कि वह फ्रेंच राजतन्त्र को सुधारने का आकांक्षी था, वाल्टेयर तथा रूसो की भांति उस पर आक्षेप करने वाला नही। जहाँ उसके समकालीन विद्वानो ने नागरिक-अधिकारो तथा राजा के विशेषाधिकारो पर बल दिया वहाँ मॉण्टेस्क्यू ने न्याय, स्वतन्त्रता, राज्य की कार्यक्षमता आदि व्यावहारिक प्रश्नो पर अधिक विचार किया।

मॉण्टेस्क्यू ने राजदर्शन के क्षेत्र मे अनेक प्रकार से अमूल्य योग दिया। उसका सबसे महान् अनुदाय 'स्वतन्त्रता का सिद्धान्त' है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए ही उसने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका विश्व की अनेक शासन-व्यवस्थाओ पर प्रभाव पड़ा। मॉण्टेस्क्यू ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रहस्य शक्ति-पृथक्करण मे पाया, प्राकृतिक अधिकारो मे नही। पर हमे यह नही भूलना चाहिए कि स्वतन्त्रता का महान् समर्थक होते हुए भी मॉण्टेस्क्यू लोकतन्त्रवादी नहीं था। अपने स्वभाव और विचार से वह संविधानवादी था। जनता की भी भावना को उत्तेजना देना उसे एकदम अरुचिकर था। स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी वह सम्पूर्ण जनता को राजनीतिक और साम्पत्तिक समानता देने की उदारता प्रदर्शित न कर सका।

मॉण्टेस्क्यू ने अरस्तू और मैकियावली से बढकर अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप में ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया, यद्यपि साथ ही वैज्ञानिक और पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली का सहारा लिया। उसने भौगोलिक वातावरण को राजनीति का अंग मानकर मानसिक व्यक्तित्व का गौरव प्रदान किया। उसने केवल उन्ही विचारो को अपनाया जो उसकी दृष्टि मे व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरे। मॉटेस्क्यू ने कानून की महत्ता स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि कानून द्वारा ही शासन सुचारु रूप से चलाया जा सकता है। उसने विधियो के आन्तरिक तत्त्व की विवेचना की तथा कहा कि विधि-निर्माण प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा ऐतिहासिक रीति-रिवाजो और धार्मिक मान्यताओ को ध्यान मे रखकर किया जाना चाहिए। विधियो की यह समाजशास्त्रीय मीमांसा निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। मॉण्टेस्क्यू का महत्त्व इस बात मे भी है कि निरंकुशता का खण्डन करके उसने प्रतिनिधिक संसदीय शासन का अनुमोदन किया तथा राजा पर सांविधानिक रोकथाम का समर्थन किया। उसके प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए मैक्सी ने ठीक ही लिखा है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे मॉण्टेस्क्यू प्लेटो, अरस्तू, मैकियावली और बोदाँ के समान विशिष्ट महत्त्व रखता है। वह यद्यपि 18वी शताब्दी का फ्रांसीसी था किन्तु उसके सिद्धान्तो और अध्ययन पद्धति का सार्वभौमिक महत्त्व है। उपयोगितावादियो ने उसके विचारो को बहुत हद तक ग्रहण किया। बेन्थम तो उसकी अनुभूतिमूलक पद्धति से बड़ा प्रभावित था।

21 ऐतिहासिक अनुभववादी : ह्यूम और बर्क

(The Historical Empiricists : Hume and Burke)

18वीं शताब्दी मे, जो ज्ञान का युग कहा जाता है, पश्चिमी यूरोप मे अनेक महान् विचारक पैदा हुए जिनके उपदेशो से सामाजिक एव राजनीतिक सस्थाओ मे कोई शुभ परिवर्तन होने की बजाए क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। फलस्वरूप इस आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई जिसकी चरम सीमा डेविड ह्यूम मे देखने को मिली। उसके प्रबल सन्देहवादी दर्शन ने 18वी सदी मे प्रचलित अनेक निरपेक्ष विश्वासो को समाप्त कर दिया। ह्यूम और रूसो समसामयिक थे और मित्र भी। रूसो भावनावादी और उत्साहवादी था किन्तु ह्यूम विलक्षण तीक्ष्ण बुद्धि का दार्शनिक था जिसने अपनी विचारधारा से उपयोगितावाद को पुष्ट किया। कहा जा सकता है कि 17वी शताब्दी के हॉब्स और लॉक की व्यक्तिवादी विचारधारा तथा 19वी सदी के रिकार्डो एव जॉन स्टुअर्ट मिल की विचारधारा के दर्शनशास्त्र ने एक प्रकार का अन्तर्वर्ती सक्रमणकाल उपस्थित किया।

डेविड ह्यूम की जीवनी और कृतियाँ
(David Hume : Life and Works)

डेविड ह्यूम का जन्म 1711 ई० मे, अर्थात् रूसो से एक वर्ष पूर्व स्कॉटलैण्ड मे हुआ। 1776 ई मे, अर्थात् रूसो से दो वर्ष पूर्व, वह संसार से विदा हो गया। कानून और तत्पश्चात् व्यापार मे असफल होने पर उसने साहित्य की ओर ध्यान दिया जिसका वह बचपन से ही प्रेमी था। कुछ समय घर पर व्यतीत करने के बाद उसने फ्रांस की यात्रा की जहाँ वह कुछ वर्ष तक रहा और उसने 'Treatise of Human Understanding' नामक विख्यात ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1737 ई० मे, जब वह केवल 26 वर्ष का था, हुआ। आज तो यह ह्यूम का सर्वश्रेष्ठ युग-निर्माता ग्रन्थ समझा जाता है, किन्तु प्रकाशन के समय इसे बहुत कम व्यक्तियो ने खरीदा, उनसे भी कम व्यक्तियो ने इसे पढा और समझ तो कोई भी न सका। इस असफलता से ह्यूम का उत्साह कम नही हुआ। सन् 1771 मे दूसरा ग्रन्थ 'Essays Moral and Political' प्रकाशित हुआ। ह्यूम के इन निबन्धो का उसकी पूर्व पुस्तक की अपेक्षा कुछ अधिक स्वागत हुआ और उसे धन तथा सम्मान भी मिला। कुछ समय बाद ह्यूम ने अपने विफल पूर्व-ग्रन्थ को 'Enquiry Concerning Human Understanding' शीर्षक से प्रकाशित करवाया। इस पुस्तक के अध्ययन ने काण्ट (Kant) के उस समय के प्रचलित विश्वास को आघात पहुँचाया और उसके आलोचनात्मक दर्शन के विकास मे निर्णायक योग दिया। ह्यूम ने कुछ और भी ग्रन्थ लिखे जैसे—

History of England, Enquiry Concerning the Principles of Morals, Political Discourses, Original Contract, and A Natural History of Religion.

ह्यूम के लेख आलोचनात्मक है, रचनात्मक नही। उसके सभी ग्रन्थो मे, विशेषकर धर्म और नीति सम्बन्धी ग्रन्थो मे, वह एक विध्वसक आलोचक के रूप मे प्रकट हुआ है। लोकप्रिय सिद्धान्तो पर

कुठाराघात करने के फलस्वरूप ही उसे राजनीतिक कलाबाज, धर्म-विरोधी आदि निन्दासूचक उपाधियों से अलंकृत किया गया है। अपने विरोध को देखकर ही उसने अपनी स्थिति एडम् स्मिथ के सामने इन शब्दों में रखी थी, "मैं ही एक ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने सब विषयों पर, जिन पर समाज में कुछ विवाद उठ सकता है, लिखा है। मेरे, सारे टोरियों, ह्विगों और ईसाइयों के अतिरिक्त और कोई शत्रु नहीं है।"[1]

ह्यूम का संशयवाद
(Hume's Scepticism)

ह्यूम संशयवादी (Sceptic) था अर्थात् वह प्रत्येक कल्पनीय बात के बारे में संशयपूर्ण प्रश्न पूछता था।[2] उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक और आलोचनात्मक थी। उसने आध्यात्म, धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में जनता के दीर्घकालीन विश्वासों और विचारों पर प्रहार किया, अतः चारों ओर उसकी कटु आलोचना हुई। उसने तत्कालीन आध्यात्मवादी दर्शन और धर्म-शास्त्र में कोई आस्था प्रकट नहीं की, अतः धर्म-विरोधी कहकर उसकी भर्त्सना की गई। उसने खण्डन किया तथा अति प्राकृतिक घटनाओं, स्वर्ग, नरक आदि से सम्बन्धित विचारों का उपहास उड़ाया।

"प्राकृतिक विधि की आलोचना और क्रमिक पतन की परिणति ह्यूम की 'ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमेन नेचर' ग्रन्थ में दृष्टिगत होती है। यह ग्रन्थ 1939-40 ई. में प्रकाशित हुआ था। आधुनिक दर्शन में इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है। ह्यूम के दर्शन का एक विशेष-लक्षण-प्रखर दार्शनिक विश्लेषण था। यदि इस विश्लेषण को स्वीकार किया जाए, तो वह प्राकृतिक विधि की वैज्ञानिकता के समस्त दावों का खण्डन कर देता है। नीतिशास्त्र, धर्म और राजनीति में प्राकृतिक विधि का जिस प्रकार प्रयोग होता था, ह्यूम ने उसकी भी आलोचना की।"[3] इस पुस्तक का आधुनिक दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है; किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। इस पुस्तक में बुद्धि के स्वरूप के सम्बन्ध में जो धारणाएँ विकसित की हैं उनका सभी सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ह्यूम ने बुद्धि के स्वरूप सम्बन्धी जिस नवीन सिद्धान्त में आस्था रखी उसी के फलस्वरूप उसमें आध्यात्मवाद और धर्मशास्त्र के प्रति अनास्था पैदा हो गई। ईश्वर और ईश्वर प्रदत्त धर्म में उसका विश्वास जाता रहा तथा धर्म को भी उसने उपयोगितावाद पर आधारित कर दिया। इतना ही नहीं, उसने आचार-शास्त्र के क्षेत्र से उस वस्तु-प्रधान तथा सार्वभौमिक नैतिक कानून की धारणा को भी निरस्त किया जो अनुभव से स्वतन्त्र है तथा हमारे नैतिक अनुभव की आदर्श रूपरेखा का निर्धारण करती है। ह्यूम का तर्क था कि नैतिक अनुभव के स्वरूप को बौद्धिक नहीं बल्कि भावात्मक और इच्छा-प्रधान मानना चाहिए। ह्यूम का तर्क था कि नैतिक निर्णयों को बाह्य तथ्यों पर नहीं वरन् भावनाओं पर आधारित करना चाहिए। मानव स्वभाव के मुख्य भाग दो हैं—भावनाएँ एवं बुद्धि। बुद्धि द्वारा गति प्राप्त होती है और भावनाओं में मानो अन्धा वेग है। भावनाओं अथवा इच्छाओं से ही मानव का उद्देश्य निश्चित होता है और तब विचारात्मक बुद्धि उन उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों पर ध्यान देती है। अतः भावनाओं या वासनाओं का ही मानव जीवन में प्राधान्य है। ह्यूम की विशेषता इस बात में है कि जहाँ सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में विचारकगण तर्क और बुद्धि की अतिशयता प्रकट कर रहे थे वहाँ ह्यूम ने भावनाओं और इच्छाओं का भी मानव-स्वभाव की यथार्थवादी मीमांसा में समुचित स्थान स्वीकार किया। इस दृष्टि से ह्यूम और हॉब्स में समानता थी। ह्यूम ने कहा कि कोई भी कार्य अथवा भाव पापमय या धर्ममय इसलिए होता है क्योंकि उसके देखने से हमारे हृदय में

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 327.
2 "Hume was a sceptic, which meant that he asked doubting questions about every thing imaginable." —*McDonald* : Western Political Theory, p. 401.
3 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 561.

एक विशेष प्रकार के सुख या दुःख की उत्पत्ति होती है। ह्यूम के इस विचार का राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में यह अर्थ था कि सामाजिक संविदा और दैविक मूल के सिद्धान्तों को अमान्य ठहरा कर राजनीतिक कर्त्तव्य को उपयोगिता पर आधारित किया जाए।

ह्यूम ने मानव-बुद्धि के स्वरूप का जो विश्लेषण किया उसके मुख्य परिणामों पर विचार करने से हम यह पाते हैं कि उसके 'विचारों के सम्बन्धों' (Relations of Ideas) तथा 'तथ्यों के विषयों' (Matters of Fact) में अन्तर क्या है। विचारों के सम्बन्धों का सर्वोत्तम उदाहरण गणित शास्त्र में मिलता है और 'तथ्यों के विषयों' के उदाहरण भौतिक-शास्त्रों में। जब हम यह कहते हैं कि एक वृत्त के सभी अर्द्ध-व्यास बराबर होते हैं तो हम केवल एक 'सम्बन्ध' ही स्थापित करते हैं जो बुद्धि द्वारा दो विचारों—वृत्त तथा अर्द्ध-व्यास—में बतलाया गया है। इसी तरह जब हम यह कहते हैं कि दो और दो चार होते हैं तो हम दो निश्चित इकाइयों में 'समानता का सम्बन्ध' सिद्ध करते हैं। स्पष्ट है कि इन सभी उदाहरणों में 'सम्बन्ध' सम्बन्धित विचारों से उत्पन्न होता है और प्रतिस्थापित तथ्य एक अनिवार्य तथा अपरिवर्तनीय सत्य को प्रकट करता है जिसके विपरीत कल्पना ही नहीं की जा सकती। हम यह सोच ही नहीं सकते कि किसी वृत्त के अर्द्धव्यास बराबर नहीं होंगे अथवा दो और दो चार नहीं होंगे। यहाँ जो भी प्रतिस्थापनाएँ हैं वे तथ्यों पर निर्भर नहीं हैं और न ही उनका स्वरूप अनुभव-प्रधान है। ह्यूम की मान्यता है कि अनुभव-सिद्ध सामग्री से हम 'विचारों का सम्बन्ध' कभी प्रमाणित नहीं कर सकते। इसी तरह विचारों की तुलना से कोई 'तथ्य' सिद्ध नहीं किया जा सकता। ह्यूम का यह भी तर्क है कि "विचारों के मध्य तार्किक सम्बन्ध जितना अपरिवर्तनीय और आवश्यक होता है उतना 'तथ्यों' का मध्य 'सम्बन्ध' नहीं हो सकता।"

ह्यूम का विश्वास है कि चूँकि गणितशास्त्रों में ही 'विचार सम्बन्ध' (Relations of Ideas) पाए जाते हैं, अत आवश्यक एवं सार्वभौमिक सत्य इसी क्षेत्र तक सीमित हैं। हम भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में सार्वभौमिक अथवा विश्व-व्यापक सत्य नहीं पा सकते। भौतिक विज्ञान, आचार-शास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, धर्म एवं आध्यात्म शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि जो भी सामाजिक विज्ञान हैं उनमें हम केवल सम्भावनाओं अर्थात् अनुभव सिद्ध सत्य को ही ढूंढ सकते हैं।

ह्यूम के राजनीतिक विचार
(Hume's Political Ideas)

1. अनुभववादी और संशयवादी होने के बावजूद ह्यूम का दृढ मत था कि राजनीतिशास्त्र को एक गणितशास्त्रात्मक विज्ञान का रूप दिया जा सकता है तथा उसके ऐसे व्यापक स्वयसिद्ध सिद्धान्त हो सकते हैं जिनकी तुलना गणितशास्त्रीय सिद्धान्तों से की जा सके। ह्यूम ने राजनीति को वैज्ञानिक रूप देने का समर्थन करते हुए भी प्राकृतिक नियमों के उस सिद्धान्त का कट्टर विरोध किया जो सत्रहवीं शताब्दी में मान्य था।

2. 17वीं और 18वीं शताब्दी के बुद्धिवादियों का विश्वास था कि 'प्रज्ञा' मानव-चरित्र तथा साध्य और उसके साधनों का निर्धारण करती है। इसके विपरीत ह्यूम की मान्यता थी कि प्रज्ञा साध्य को निर्धारित नहीं करती, वह भावनाओं की आज्ञा पालन मात्र करती है, उसका निर्धारण भावनाओं और प्रवृत्तियों द्वारा होता है; फलस्वरूप बौद्धिक मूल्य सापेक्ष होते हैं। अत एक्वीनास, ग्रेशियस, वाइकों आदि द्वारा कल्पित प्राकृतिक कानून और प्रज्ञा की धारणा निरर्थक है। मानव-चरित्र का निर्धारण अभिसमयों द्वारा होता है। अपनी इसी धारणा को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में प्रयोग करते हुए ह्यूम ने कहा कि समाज का कोई बौद्धिक आधार नहीं होता। हम समाज में इसलिए रहते हैं क्योंकि समाज में रहना हमारे लिए सुविधाजनक और हितकारी है। हमारी आदत और सहज प्रवृत्ति हमें ऐसा करने के लिए प्रेरित करती है। इसके मूल में किसी दैविक स्वीकृति अथवा संविदात्मक आधार की कल्पना करना व्यर्थ है।

3 ह्यूम अनुभववादी था, अतः उसके चिन्तन में अनुभव, ऐतिहासिक परम्परा, अभ्यास या आदत, सहज प्रवृत्ति, रीति-रिवाज आदि को प्रश्रय मिला। 18वीं शताब्दी के अतिशय तर्कवाद और बुद्धिवाद के विरोध मे उसने ऐतिहासिकवाद का अनुमोदन किया। उसने कहा कि सरकार का आधार मत अथवा अभिप्राय (Opinion) है। सरकार तीन प्रकार के मत पर आधारित होती है—(i) जन-हित सम्बन्धी मत, (ii) सत्ता का अधिकार सम्बन्धी मत, एव (iii) साम्पत्तिक अधिकार सम्बन्धी मत। भय, प्रेम आदि दूसरे तत्त्वो से इन तीन "आधारभूत मतो को दृढता प्राप्त होती है। मनुष्य परिवार मे जन्म लेता है और इन तत्त्वों के कारण समाज को बनाए रखने को बाध्य होता है। आवश्यकता, सहज प्रवृत्ति और आदत—इन तत्त्वो द्वारा समाज व्यवस्थित और संचालित होता है। मानव-स्वभाव के अन्य तत्त्वों के आधार पर जिस व्यवस्था मे कसावट रहती है अथवा कमजोरी रहती है उसे आदत मजबूत बनाती है। आदत ही के कारण व्यक्ति में आज्ञा-पालन की भावना आती है और फलस्वरूप वह अपने पूर्वजो की लीक से प्रायः नही हटना चाहता। सामाजिक प्रक्रिया के अध्ययन मे अभ्यास अथवा आदत को आधारभूत और प्रबल समर्थन देने के कारण ह्यूम की दैविक मूल तथा सामाजिक संविदा के सिद्धान्तो मे आस्था नही हुई। उसे सामाजिक संविदा की धारणा अनैतिहासिक और कृत्रिम लगी।

4. संशयवादी प्रवृत्ति के कारण ह्यूम ने सर्वत्र आलोचना और व्यंजना का सहारा लिया। उसने राजदर्शन को कोई विशिष्ट देन प्रदान नही की, किन्तु एक नवीन दिशा अवश्य दी। राज्य के प्रारम्भ के विषय मे उसने दैवी सिद्धान्त (Divine Theory) और संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की कटु आलोचना की। दैवी सिद्धान्त का उसने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर खण्डन किया—

(क) ईश्वर के अस्तित्व को बौद्धिक आधारो से प्रमाणित किया जा सकता है।

(ख) ईश्वर राज्य के अपहर्ता, वंशानुगत शासक, एक सामान्य सिपाही और गौरवपूर्ण नरेश को—अर्थात् सबको ईश्वरीय कार्य सौंपता है एवं उनकी रक्षा करता है।

(ग) दैवी सिद्धान्त शासक को इतना पवित्र बना देता है कि वह आलोचना और आपत्ति से परे हो जाता है, चाहे वह अनाचारी और अत्याचारी ही क्यो न हो?

5. संविदा सिद्धान्त पर ह्यूम ने ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनो ही दृष्टिकोणो से आक्रमण किया। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन मनुष्य मे संविदा सम्भव नहीं थी क्योकि उनमें इतनी योग्यता नही थी कि वे संविदा के महत्त्व पर विचार कर सकते और एक बार समझौता करने के बाद उस पर स्थिर रहते। ऐसे किसी भी समझौते का इतिहास मे प्रमाण नही मिलता। इसके अतिरिक्त यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि कुछ मनुष्यो ने समझौता किया तो उनके उत्तराधिकारी उस समझौते को मानने के लिए बाध्य नही हो सकते। इस विषय मे ह्यूम के ये शब्द निश्चय ही बडे तर्कपूर्ण हैं कि—"विश्व के अधिकांश भागो मे यदि आप यह उपदेश दें कि राजनीतिक सम्बन्धो का आधार पूर्णतया स्वेच्छाचारी सम्मति या पारस्परिक-समझौता है तो न्यायकर्त्ता तुरन्त ही आपको राजाज्ञा के आधार को हिलाने वाले राजद्रोह के अपराध मे बन्दी बना लेगा, यदि आपके मित्रो ने उसके पूर्व ही असंगत बातो पर या ऐसी ऊटपटांग बातें करने पर दीवाना समझकर आपको बन्द न कर लिया हो।" ह्यूम ने संविदा-सिद्धान्त का अन्य आधार पर भी खण्डन किया। उसने कहा कि यह सिद्धान्त राजनीतिक कर्त्तव्य पालन की कोई समुचित व्याख्या प्रस्तुत नही करता। उसी के शब्दो में—"सरकार की आज्ञाओ का हमे जो पालन करना पडता है, उसका यदि मुझ से कारण पूछा जाए तो मैं यह उत्तर दूंगा कि 'क्योकि समाज इसके बिना जीवित नही रह सकता' और मेरा यह उत्तर इतना स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव-जाति इसे समझ सकती है। तुम्हारा उत्तर यह है कि हमको अपने वचन का पालन करना चाहिए। लेकिन इस उत्तर को केवल दार्शनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को छोडकर अन्य कोई न तो समझ सकता है और न ही

पसन्द कर सकता है। इसके अतिरिक्त मेरा तो यह भी कहना है कि आप उस समय चक्कर में पड़ जाएँगे जब आपसे यह प्रश्न किया जाएगा कि हम अपने वचन का पालन करने के लिए विवश क्यों हैं ? वास्तव में कोई भी व्यक्ति ऐसा उत्तर नहीं दे सकता जो सीधे तौर से हमारे राजभक्ति के कर्त्तव्य की व्याख्या कर दे।" राजनीतिक कर्त्तव्य-पालन और राज्य के स्वरूप के सिद्धान्त के रूप में संविदा-सिद्धान्त की अपूर्णता बतलाते हुए ह्यूम ने लिखा है—"यह कहना व्यर्थ है कि समस्त सरकार जन-अनुमति के ऊपर आधारित होती है अथवा होनी चाहिए।" उनका यह स्पष्ट और वास्तव में सही विश्वास है कि यथार्थ जीवन में इस जन-अनुमति का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। ह्यूम का कहना है कि यदि राज्य संविदा पर आधारित होता तो मनुष्य कभी भी उस संविदा को भंग कर सकते थे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। "प्रत्येक वर्तमान सरकार, वह सरकार जिसका इतिहास में कोई चिह्न शेष रह गया है, मूल रूप में शक्ति-अपहरण अथवा विजय या दोनों का परिणाम है जिसमें शासित की स्वेच्छापूर्ण अनुमति का बहाना तक नहीं किया गया।" मनुष्य राजाज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि ऐसा करने में वे अपनी भलाई देखते हैं। सुख तथा शान्ति की व्यवस्था बनाए रखने के लिए मनुष्य राज्य की आज्ञा मानना आवश्यक समझते हैं। सरकार अथवा राज्य के लिए मनुष्य भक्ति रखते हैं। यह उनके अभ्यास की बात है। राजा मनुष्यों की उन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जिनकी वह भूतकाल में अनुभूति करता रहा है। स्पष्ट है कि राजनीति में ह्यूम ने अभ्यास एवं उपयोगिता के महत्त्व को स्वीकार करके राज्य की समाजवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

6. ह्यूम जनतन्त्र शासन-प्रणाली के विरुद्ध था क्योंकि उसके विचार में स्वतन्त्र शासन बहुत अधिक सीमा में प्रान्तों को नष्ट करने वाला होता है। गणतन्त्र-शासन में विज्ञान को प्रोत्साहन मिलता है तथा राजतन्त्र-शासन में कला को। ह्यूम छापेखानों की स्वतन्त्रता तथा धार्मिक सहनशीलता के पक्ष में था। वह नागरिक स्वतन्त्रता का पोषक था। किन्तु समाज की पूर्णता के लिए स्वतन्त्रता अभिवांछित है, यह मानते हुए अधिकार के साथ राजशक्ति को भी समाज की रक्षा के लिए आवश्यक समझता था। उसका यह भी विश्वास था कि शासन यन्त्र को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य को मितव्ययी होना चाहिए। जनता के धन का अपव्यय करने से अन्ततः जनता पर गुलामी लादनी पड़ती है। उल्लेखनीय है कि स्वतन्त्रता का समर्थक होते हुए भी ह्यूम अनुदारवादी परम्परा का हिमायती था। सामाजिक व्यवस्था और स्थायित्व का बीज ऐतिहासिक परम्परा और अभ्यास में होना मानकर उसने उस प्राकृतिक नीतिशास्त्र की कल्पना का उपहास उड़ाया जो मानती थी कि मानवता के लिए सनातन शाश्वत आचारशास्त्र के नियम बनाए गए हैं। सनातन नीति-शास्त्र के बदले समाज-विशेष के लिए उपयुक्त नीति-शास्त्र सिद्धान्त का उसने समर्थन किया।

7. ह्यूम ने आर्थिक सिद्धान्तों पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे। उसने व्यापार, वाणिज्य, द्रव्य, सूद-खोरी आदि पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए। उसने कहा कि मुद्रा की मात्रा से बाहर बाजार-दर का निर्धारण होता है। विनिमय के लिए जितनी मुद्रा बाजार में उपलब्ध है, उसकी मात्रा में परिवर्तन होने पर वस्तुओं की दर पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। ह्यूम ने बतलाया कि मुनाफा और सूद अन्योन्याश्रित हैं। उसने राज्य द्वारा सूदवृत्ति के नियन्त्रण का विरोध किया और व्यापार-स्वातन्त्र्य का पक्ष लिया। उसने व्यापारियों और वाणिज्यकारों की प्रशंसा की क्योंकि वे प्रचुर मात्रा में पूंजी उत्पन्न करते हैं और सूद की दर भी घटाते हैं। पूंजीवाद की हिमायत करते हुए ह्यूम ने कहा कि इससे आर्थिक और नैतिक गुण उत्पन्न होते हैं। व्यापार-वाणिज्य से धन आता है, फलस्वरूप पूंजी-संचय सुगमतापूर्वक हो पाता है। वणिक्-समाज में मितव्ययिता का गुण पाया जाता है जबकि भू-स्वामियों में आलस्य और अपव्यय के अवगुण होते हैं। ह्यूम ने न्याय और सम्पत्ति में गहरा सम्बन्ध माना है। न्याय उपयोगिता पर आधारित है और इसीलिए वह जनता का प्रिय होता है।

है। सम्पत्ति के आधार के प्रति अवमानना से न्याय की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह तो अन्याय है। लॉक के विपरीत ह्यूम न्याय की शब्दावली में सम्पत्ति को परिभाषित करता है।

प्राकृतिक विधि का विनाश
(The Destruction of Natural Law)

ह्यूम ने अपनी आलोचना को प्राकृतिक विधि अथवा कानून (Natural Law) की विविध शाखाओं के ऊपर लागू किया। उसने प्रतिपाद्य विषय पर पूरी तरह से विवेचन नहीं किया। उसके तर्कों के पूरे निष्कर्ष बाद में सामने आए। लेकिन, उसने इस प्रणाली की कम से कम तीन शाखाओं पर आक्षेप किया—

(1) प्राकृतिक अथवा विवेकपूर्ण धर्म,
(2) विवेकपूर्ण नीतिशास्त्र,
(3) राजनीति का संविदागत अथवा सम्मतिगत सिद्धान्त।

सेबाइन ने उपरोक्त शाखाओं पर ह्यूम के आक्षेपों का बड़ा तर्क-संगत विश्लेषण किया जिसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

"उसका तर्क था कि विवेकपूर्ण धर्म का विचार ही झूंठा होता है क्योंकि तथ्य के किसी मामले का निगमनात्मक प्रमाण असम्भव होता है। इसी आधार पर उसका कथन था कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुत. इसका निष्कर्ष अधिक सामान्य है। किसी भी वस्तु के आवश्यक अस्तित्व को सिद्ध करने वाली सविवेक तत्त्व मीमांसा सम्भव है। धर्म के तथाकथित सत्यों में वैज्ञानिक सामान्यीकरण की व्यावहारिक निर्भरता भी नहीं होती। वे शुद्ध रूप से भावना के क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए, धर्म का एक प्राकृतिक इतिहास हो सकता है। इस कथन का आशय यह है कि धर्म के बहुत से विश्वासों और प्रथाओं की मनोवैज्ञानिक अथवा मानवशास्त्रीय व्याख्याएँ की जा सकती हैं। लेकिन, उसकी सच्चाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार आचारों और राजनीति के क्षेत्र में मूल्य मनुष्य की कार्य-विषयक प्रवृत्तियों पर निर्भर रहते हैं। अतः यह असम्भव है कि विवेक खुद ही किसी दायित्व का निर्माण करे। फलत सद्गुण केवल मस्तिष्क की एक विशेषता अथवा कार्य है और वह भी ऐसा जो कि सामान्य रूप से अनुमोदित हो। धर्म की भाँति ही उसका भी एक प्राकृतिक इतिहास हो सकता है। लेकिन. नैतिक दायित्व का वल प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं तथा कार्य की प्रेरणाओं की स्वीकृति पर निर्भर है। इसका सिर्फ यही औचित्य है और कुछ नहीं।"

ह्यूम की नैतिक आलोचना का बहुत-सा अंश तत्कालीन उपयोगितावाद के विरुद्ध था। उपयोगितावाद के अनुसार मनुष्य के समस्त कार्यों का प्रेरक तत्त्व सुख को प्राप्त करने और दु.ख के निवारण की चेष्टा थी। ह्यूम ने उपयोगितावाद का व्यावहारिक आधार पर विरोध किया है। ह्यूम का कहना है कि उपयोगितावाद मानवीय-प्रेरणाओं की बहुत सरल व्याख्या करता है, इतनी सरल कि वह व्याख्या झूठी मालूम पड़ने लगती है। ह्यूम के विचार से मानव प्रकृति इतनी सरल नहीं है कि वह केवल एक प्रवृत्ति से ही अनुशासित हो। मनुष्य की बहुत सी आदिम प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो सुख से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती। हो सकता है कि वे उदार हों। उदाहरण के लिए हम एक सीमित क्षेत्र में माता-पिता का प्रेम ले सकते हैं। यह भी सम्भव है कि ये प्रवृत्तियाँ न स्वार्थपूर्ण हों और न उदार। मनुष्य की प्रकृति जैसी है हमें वह उसी ही रूप में ग्रहण करनी चाहिए। यह प्रचलित धारणा है कि स्वार्थपूर्ण प्रेरणाएँ कुछ विवेकपूर्ण होती हैं, इस कल्पना का ही एक भाग है जिसके आधार पर विवेकवादी यह सोचने लगे थे कि न्याय विवेकपूर्ण होता है। उस समय के सभी श्रेणियों के नीतिवादी मनुष्य की प्रकृति को अन्तर्दृष्टि और बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण मानते थे लेकिन ह्यूम का ऐसा कोई विचार नहीं था। उसने कहा है कि मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि में या अन्य किसी में बहुत अधिक सोच-विचार नहीं करते। वे उसी समय दूरदृष्टि से काम लेते हैं जबकि उनकी भावनाएँ और प्रेरणाएँ सीधे प्रभावित नहीं होतीं।

लेकिन मनुष्य की प्रवृत्ति स्वार्थ मे भी उतना ही हस्तक्षेप करती है जितना कि उदारता मे। ह्यूम के उपयोगितावाद ने अहंकारिता को विशेष महत्त्व नही दिया था। उसने मानवीय बुद्धि को भी बहुत ऊँचा दर्जा नही दिया। इस दृष्टि से वह बेन्थम की अपेक्षा जॉन स्टुअर्ट मिल के अधिक नजदीक था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने मानव प्रकृति को अधिक सरल माना था। फ्रांस के उपयोगितावादियो का भी बहुत-कुछ ऐसा ही विचार था।

ह्यूम ने सहमति के सिद्धान्त की भी कठोर आलोचना की और कहा कि राजनीतिक दायित्व केवल इसलिए बन्धनकारी होता है कि वह ऐच्छिक रूप से स्वीकृत हो जाता है। यद्यपि ह्यूम बर्क की भाँति यह स्वीकार करने को तैयार था कि सम्भवत. सुदूरभूत-काल मे पहला आदिम-कालीन समाज समझौते द्वारा बना हो, पर उसका तर्क था कि वर्तमान समाजो मे ऐसे समझौते का कोई सम्बन्ध नही होता। ह्यूम का कहना था कि कोई भी सरकार अपने प्रजाजनो से यह नही कहती कि वे सहमति दें। सरकार राजनीतिक अधीनता और सविदा की अधीनता मे भी कोई भेद स्थापित नही करती। मनुष्य की प्रेरणाओ मे शासन के प्रति निष्ठा अथवा भक्ति भावना उतनी ही पाई जाती है जितनी कि यह प्रवृत्ति की समझौतो का पालन होना चाहिए। सम्पूर्ण राजनीतिक ससार मे वे निरकुश सरकारें जो सहमति के सिद्धान्त को रच मात्र भी नही मानती, स्वतन्त्र सरकारो की अपेक्षा अधिक पाई जाती हैं। उनके प्रजाजन अपनी सरकारो के अधिकार की आलोचना भी नही करते। यदि वे आलोचना करते है तो केवल उसी समय जबकि अत्याचारी शासन बहुत दमन करने लगता है। अन्ततः इन दोनो चीजो का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। राजनीतिक निष्ठा व्यवस्था कायम रखती है और शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखती है। सविदाओ की पवित्रता प्राईवेट व्यक्तियो के बीच पारस्परिक विश्वास को जन्म देती है। ह्यूम का निष्कर्ष था कि नागरिक आदेश पालन का कर्त्तव्य और समझौते को कायम रखने का कर्त्तव्य ये दो भिन्न चीजें है। एक को दूसरे पर आधारित नही किया जा सकता। यदि ऐसा किया भी जाए, तो एक दूसरे की अपेक्षा अधिक बन्धनकारी नही है। तब फिर कोई भी क्यों बन्धनकारी हो ? वह इसलिए बन्धनकारी होना चाहिए क्योकि उसके बिना एक ऐसे शान्तिपूर्ण तथा व्यवस्थापूर्ण समाज का निर्माण नही हो सकता जिसमे अमन-चैन रहे, सम्पत्ति की रक्षा हो और पदार्थों का विनिमय किया जा सके। दोनो प्रकार के दायित्व इस एक मूल से आगे बढते है। यदि प्रश्न पूछा जाए कि मनुष्य व्यवस्था कायम रखने और सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए क्यो तैयार होते है तो इसके दो उत्तर है—कुछ तो वे इसलिए होते है क्योकि इससे मनुष्य की स्वार्थ-पूर्ति मे सहायता मिलती है और कुछ इसलिए कि निष्ठा एक ऐसी आदत है जो शिक्षा के द्वारा लागू की जाती है और इसलिए वह अन्य किसी प्रेरक उद्देश्य की भाँति ही मनुष्य की प्रकृति का एक अग बन जाती है।

ह्यूम का प्रभाव
(Influence of Hume)

राजनीतिक चिन्तन को ह्यूम का कोई विशिष्ट अनुदाय नही है तथापि राजनीतिक कर्त्तव्य की विशुद्ध रूप से मानवीय एव सापेक्षिक व्याख्या करके उसने राज-दर्शन को एक नवीन दिशा अवश्य प्रदान की है। राजभक्ति की भावना के पोषण मे अभ्यास और उपयोगिता पर बल देकर उसने राजनीतिक समस्याओ के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की नीव रखी। इस प्रकार वह उपयोगितावादी विचारधारा का पूर्व-सूचक बन गया। सेबाइन के शब्दो मे "यदि ह्यूम के तर्क की बुदियादी बातो को स्वीकार किया जाए तो इस बात को मुश्किल से ही अस्वीकार किया जा सकता है कि उसने प्राकृतिक अधिकार, स्वतः स्पष्ट शक्तियो और शाश्वत तथा अविनाशी नैतिकता के नियमो के सम्पूर्ण विवेकवादी दर्शन को नष्ट कर दिया। अविचल अधिकारो अथवा प्राकृतिक न्याय और स्वतन्त्रता के स्थान पर अब केवल उपयोगिता रह जाती है। यह उपयोगिता या तो स्वार्थ के के रूप मे अथवा सामाजिक स्थिरता के रूप मे ग्रहण की जा सकती है और आचरण के कुछ ऐसे रूढिगत मानको के रूप मे व्यक्त होती है

जो मानवीय प्रयोजनो को सिद्ध करते हैं।" सामाजिक अनुबन्ध और नैसर्गिक अधिकारवाद का खण्डन करके ह्यूम ने तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा के सम्पूर्ण धरातल को ही हिला दिया और विचारको को नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर कर दिया।

यद्यपि राज-दर्शन मे ह्यूम का योगदान विधेयात्मक न होकर खण्डनात्मक है और हॉब्स, लॉक तथा रूसो के समान उसने कोई स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ नही दिया है, तथापि उसके कुछ निबन्ध नि-सन्देह बड़े उच्चकोटि के और मौलिक सिद्ध हुए हैं। ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिको में उसका स्थान शीर्षस्थ है। लॉक तथा बर्कले ने जिस अनुभववाद की पुष्टि की थी, उसकी परिणति ह्यूम मे देखने को मिलती है। ह्यूम के तीव्र अनुभववाद और सशयात्मक परिणामो ने यद्यपि आध्यात्मवाद, आत्मवाद और बाइबिलवाद को खतरे मे डाल दिया, तथापि एक शुभ परिणाम यह निकला कि विचारक इन समस्याओं पर अधिक गहराई से सोचने को विवश हो गए। स्वय काण्ट ने यह स्वीकार किया था कि ह्यूम के चिन्तन ने उसे (काण्ट को) अन्धविश्वास की निद्रा मे जगाया। यदि ह्यूम धर्म पर आक्रमण न करता तो उसका तात्कालिक प्रभाव कम नही होता। पर तत्कालीन लोकप्रिय धार्मिक विश्वासों और ईसाईयत के सिद्धान्तो मे उसने इतनी अनास्था प्रकट की कि बुद्धिजीवी वर्ग उसके विचारो से सहमति व्यक्त करने मे घबराता रहा।[1]

एडमण्ड बर्क (Edmund Burke)

एडमण्ड बर्क अपने समय की ब्रिटिश राजनीति में भाग लेने वाला महान् विचारक था। उसके महत्त्व को इंगित करते हुए सेबाइन ने लिखा है, "दर्शन की भारी भरकम किन्तु भव्य अट्टालिका जो हीगल के आदर्शवाद मे परिणति को पहुँची और जिसने 18वी शताब्दी मे प्राकृतिक विधि का स्थान ग्रहण किया, बर्क की महत्त्वपूर्ण देन है। 18वी शताब्दी का वही एकमात्र ऐसा विचारक था जिसने राजनीतिक परम्पराओ को धर्म की आस्था से ग्रहण किया तथा उसे (राजनीतिक परम्परा को) एक ऐसी देव-वाणी माना जिससे राजमर्मज्ञो को अवश्य ही परामर्श करना चाहिए।"[2]

बर्क की जीवनी और कृतियाँ

बर्क कब जन्मा, यह विवादास्पद है। पर अधिकांशतः उसका जन्म आयरलैंड मे 12 जनवरी, सन् 1729 को डबलिन मे हुआ माना जाता है। बर्क का पिता प्रोटेस्टेन्ट था और माँ कैथोलिक। उस पर माँ का ही स्पष्ट प्रभाव पडा। पारिवारिक सहिष्णुता और सुधारवादी गुण बर्क को अपने माता-पिता से विरासत मे मिले। ट्रिनिटी कॉलेज से स्नातक होने के बाद उसे वकालत की शिक्षा पाने के लिए 1750 ई. मे लन्दन भेजा गया किन्तु बर्क की रुचि साहित्य मे थी। अतः नाराज होकर पिता ने उसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी और बर्क लेखन तथा पत्रकारिता से अपनी आजीविका चलाने लगा। सन् 1756 मे उसके दो निबन्ध 'A Vindication of Natural Society' तथा 'Philosophical Inquiry into the origin of our Ideas on the Sublime and Beautiful' गुमनाम प्रकाशित हुए। उसने राजनीतिक और आर्थिक घटनाओ का संक्षिप्त वार्षिक विवरण देने वाले 'Annual Register' नामक शब्दकोष का प्रकाशन आरम्भ किया। इससे बर्क को आजीविका तथा साहित्यिक ख्याति प्राप्त हुई और साथ ही राजनीतिक क्षेत्र मे उसका सम्पर्क बढा।

सन् 1759 के आस-पास वह आयरलैण्ड के मन्त्री विलियम हेमिलटन का और सन् 1765 मे प्रधानमन्त्री लॉर्ड राकिंघम का निजी सचिव बना। 1765 ई. मे ही वह ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया और अगले 30 वर्षो तक ह्विग पार्टी का नेतृत्व करता रहा। जबरदस्त भाषण-कर्त्ता

1 डॉ. वर्मा : पूर्वोक्त, पृष्ठ 301-302

2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 569.

और अपने दल के 'मस्तिष्क' के रूप मे उसने भारी ख्याति अर्जित की। पुत्र की मृत्यु और पारिवारिक अशान्ति के कारण 1794 ई. मे उसने ससद् की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। जीवन के शेष तीन वर्ष उसने शान्तिपूर्वक व्यतीत किए, किन्तु फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की घटनाओं से वह अप्रभावित न रह सका और 8 जुलाई सन् 1797 को मृत्यु तक उसकी लेखनी क्रान्ति के विरुद्ध लिखती रही।

वर्क एक लेखक के रूप मे उतना सफल नही हुआ जितना व्याख्यान-दाता के रूप में। उसने जो कुछ भी लिखा, उनमे अधिकांश उसके भाषण ही है। इन्ही से हमे उसके राजनीतिक विचारों का आभास होता है। उसके भाषणो और कृतियो में निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

(1) Speech on Conciliation with America, 1775.
(2) Speech on American Taxation.
(3) Vindication on Natural Society, 1756.
(4) Causes of our Present Discontents, 1770.
(5) Reflections on the Revolution in France, 1790.
(6) Appeal from Old to New Whigs, 1791.
(7) Thoughts on French Affairs, 1791

वर्क ने ऐतिहासिक एवं आगमनात्मक अध्ययन पद्धतियो का आश्रय लिया। अनेक समस्याओ के समाधान के लिए उसने इतिहास के पृष्ठो का निरीक्षण किया। उसका विश्वास था कि ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा सम्पूर्ण समस्याओ को सुलझाया जा सकता है। वर्क अनुभूतिवाद मे भी विश्वास करता था और इस तरह वह उपयोगितावादी भी था।

बर्क की समकालीन परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव
(Burke's Contemporary Conditions & Their Influence)

वर्क पर अपनी समकालीन परिस्थितियो का बड़ा प्रभाव पडा। विशेष रूप से निम्नलिखित वातो ने उसके राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया—

प्रथम, जिस समय वर्क ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य बना, संसद् और राजा के सम्बन्ध मधुर नहीं थे। राजा ससद् को प्रभावशून्य बनाना चाहता था और विरोधी ससद् सदस्य राजा की इस प्रवृत्ति मे क्षुब्ध थे। उनकी माँग थी कि मताधिकार विस्तृत किया जाए और राजा अपने समर्थको को पद-लाभ पहुँचाने के अधिकार का दुरुपयोग न करे। दुर्भाग्यवश इस समय ह्विग दल की नई पीढी के युवको मे पुरानी पीढी की-सी नैतिकता नही रही थी। राजा ने घूँस और लालच देकर ससद् मे अपने समर्थको का बहुमत स्थापित कर लिया था। वर्क इस सम्पूर्ण वातावरण से बहुत ही दु.खी हुआ। एक ओर उसके लिए राजा का आचरण आपत्तिजनक था तो दूसरी ओर उसे यह भी विश्वास था कि संसद् सदस्य देश और जनता के प्रति हृदय से अपना कर्त्तव्य नही निभा रहे हैं। वर्क का विचार था कि विरोधी पक्ष की माँगें भी बहुत-कुछ उतनी ही घातक थी जितनी राजा की इच्छाएँ। वह राजतन्त्र और लोकतन्त्र दोनो के अतिवादी विचार के खिलाफ था और मध्यम मार्ग का समर्थक था।

द्वितीय, तत्कालीन ब्रिटिश नीति अमेरिकन उपनिवेशो के प्रति बड़ी अन्यायपूर्ण थी। ब्रिटिश अनाचार के कारण ही उपनिवेशो मे विद्रोह भड़क उठा था। वर्क को अन्याय और अत्याचार से घृणा थी, अत: उसने उपनिवेशो का पक्ष लिया तथा ब्रिटिश सरकार की नीति की आलोचना की।

तृतीय, भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी निरंकुश आचरण पर चल रही थी। वर्क की अन्तरात्मा कम्पनी के काले कारनामो के विरुद्ध विद्रोह कर वैठी। उसने ब्रिटिश ससद् मे कम्पनी की कठोर आलोचना की और भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हैस्टिंग्ज के ब्रिटेन लौटने पर उसके विरुद्ध ससद् मे चलाए गए अभियोग में प्रमुख भाग लिया।

अन्त मे, फ्रांसीसी क्रान्ति के आतंक और हत्याकाण्ड ने वर्क के धर्म-प्राण हृदय को जबरदस्त ठेस पहुँचाई। उसे इस बात से और भी अधिक आघात पहुँचा कि ब्रिटिश ह्विग पार्टी के कुछ सदस्य क्रान्तिकारियो से सहानुभूति रखने लगे थे। वर्क ने बडे प्रभावपूर्ण शब्दो मे फ्रांस की हिंसक क्रान्ति का विरोध किया और घोषणा की कि फ्रांसीसी जिस स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए पागल हैं, वह स्वतन्त्रता नही वल्कि स्वच्छन्दता और अराजकता है। वर्क का स्पष्ट मत था कि सामाजिक संस्थाएँ सुदीर्घ ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती हैं जिनका व्यवहार-शून्य आदर्शवादियो की कल्पनामूलक योजनाओ द्वारा सहसा विच्छेद या विध्वंस नही किया जा सकता।"

वर्क के राज्य अथवा समाज और सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार
(Burke's Ideas about the State or the Society and Social Contract)

वर्क के राजनीतिक चिन्तन पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "वस्तुतः वर्क का अपना कोई राजनीतिक दर्शन नही था। उसके अपने विचार विभिन्न भाषणो और पैम्फलेटो मे विखरे मिलते हैं। इन विचारो को उसने कुछ विशिष्ट घटनाओ के प्रसग मे व्यक्त किया था। तथापि, इन विचारो मे एक सगति है। यह सगति इस बात का परिचय देती है कि वर्क की निष्ठा वडी प्रवल थी और उसके कुछ निश्चित नैतिक विश्वास थे। वर्क के दर्शन का आधार सिर्फ यह था कि उसने अपने समय की कुछ प्रमुख घटनाओ मे भाग लिया था और इनके वारे मे उसके अपने कुछ विचार थे।"

वर्क के राज्य सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करते समय हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि "उसने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजन-रेखा नही खींची है।" दूसरे शब्दों मे इसका अभिप्राय यह है कि वर्क ने 'राज्य' और 'समाज' शब्दो का प्रयोग सामान्यतः एक ही अर्थ मे किया है।

राज्य का उदय, उसका सावयविक स्वरूप, संविदा-सिद्धान्त का खण्डन

अपने ऐतिहासिक अध्ययन से वर्क ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटनावश अथवा समझौते द्वारा नही हुई वल्कि उसका क्रमिक विकास हुआ है। राज्य सावयविक रूप से विकास करते हुए अपने वर्तमान स्तर को पहुँचा है। इसकी जडें सुदूर भूत मे पाई जाती हैं और शाखाएँ असीम भविष्य में फैली हुई हैं। चूंकि राज्य की उत्पत्ति क्रमिक विकास द्वारा ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार मानव-शरीर का विकास होता है, अतः राज्य का सम्बन्ध भूत वर्तमान और भविष्य तीनो कालो से है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। अति प्राचीन काल मे भी वह समाज और राज्य मे सगठित रहा। हम राज्य अथवा समाज के वाहर उसके अस्तित्व की सम्भावना स्वीकार नही कर सकते। वर्क ने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजक रेखा नही खीची। व्यक्ति समाज मे रहकर ही अपने उत्तरदायित्वो का निर्वाह करता है। वर्क के ही शब्दो मे, "समाज अथवा राज्य एक साझेदारी है जो सभी विज्ञानो मे, सभी कलाओ मे, प्रत्येक सद्गुण मे और समस्त पूर्णत्व मे होती है। इस प्रकार की साझेदारी के लक्ष्यो की प्राप्ति एक तो क्या अनेक पीढ़ियो मे भी नही की जा सकती, अतः राज्य केवल जीवित व्यक्तियो के वीच की ही नहीं, वल्कि मृतको और आगे आने वालो के वीच की भी एक साझेदारी हो जाती है।"

वर्क राज्य और व्यक्ति अथवा समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध को अति प्राचीन काल से चलता आ रहा मानता है। समाज अथवा राज्य एक शाश्वत संस्था है तथा व्यक्ति की समस्त आध्यात्मिक सम्पदाएँ सगठित समाज की सदस्यता से ही प्राप्त होती हैं। जाति ने अब तक जो कुछ अर्जित किया है, चाहे वह नैतिक आदर्श हो या कला हो या ज्ञान-विज्ञान हो, उस सबका रक्षण समाज और सामाजिक परम्परा द्वारा होता है। समाज की सदस्यता का आशय है कि "मनुष्य संस्कृति के समस्त कोषो तक पहुँच जाए। यही सभ्यता और वर्वरता के वीच का अन्तर है। यह कोई भार या वोझ नहीं है वरन् मानव-मुक्ति का खुला द्वार है।"[1]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 577,

बर्क के राज्य के सावयविक विकास की धारणा उस सविदा सिद्धान्त से मेल नही खाती थी जिसे ह्विग दल राजा के दैविक अधिकार की टोरी-धारणा के उत्तर मे प्रस्तुत करते थे। ह्विग होने के नाते बर्क ने यद्यपि सविदा सिद्धान्त को पूरी तरह नही ठुकराया तथापि अपने विचार इस ढग से प्रस्तुत किए कि वह सिद्धान्त निरर्थक और महत्त्वहीन हो गया। इस सम्बन्ध मे स्वय बर्क के ही शब्द उल्लेखनीय है—

"समाज वास्तव मे एक समझौता है। सामाजिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए किए जाने वाले छोटे मोटे समझौतो को इच्छानुसार भग किया जा सकता है। लेकिन, राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी को समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे लोग अस्थाई स्वार्थ के लिए कर लेते हैं और जब दोनो पक्षो मे से कोई चाहता है तो भंग कर देते हैं। इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना चाहिए। इसका कारण यह है कि यह अस्थाई और अस्थिर पशु जीवन के लिए अधीन रहने वाली वस्तुओ मे हिस्सेदारी नही है। यह हिस्सेदारी पूर्ण वैज्ञानिक है। यह हिस्सेदारी पूर्ण कलात्मक है। यह हर प्रकार से और हर उपाय से पूर्ण हिस्सेदारी है। चूंकि इस प्रकार की हिस्सेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियो मे भी प्राप्त नही किया जा सकता इसलिए यह हिस्सेदारी न केवल उन लोगो मे ही की जाती है जो जी रहे हों बल्कि उनमे भी की जाती है जो मर चुके हैं अथवा जिन्हें जन्म लेना है। प्रत्येक विशिष्ट राज्य का प्रत्येक समझौता शाश्वत समाज के महान् आदिकालीन समझौते मे एक धारा-मात्र है। एक स्थिर समझौते के अनुसार यह निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति से, दृश्यमान जगत् को अदृश्यमान जगत् से जोड देता है। यह स्थिर समझौता एक ऐसी अलघ्य शपथ द्वारा स्वीकृत होता है जो समस्त भौतिक तथा समस्त नैतिक प्रकृति को अपने-अपने नियत स्थान पर रखती है।"[1]

स्पष्ट है कि इस अवतरण मे बर्क सविदा के विचार को नाममात्र के लिए ही और वह भी ऊपरी तौर पर मानता है अन्यथा वास्तव मे तो वह उसका खण्डन ही करता है और सावयविक धारणा को स्वीकार करता है। यह कथन कि राज्य की हिस्सेदारी न केवल उन लोगो मे की जाती है जो जी रहे हो बल्कि उनमे भी की जाती है जो मर चुके हैं अथवा जिन्हे जन्म लेना है और यह स्वीकार करना कि मनुष्य ज्ञान और सदाचार की प्राप्ति हेतु, न कि क्षणिक भौतिक हित-साधना की दृष्टि से राजनीतिक साझेदारी करते हैं, संविदा (Contract) शब्द को पूर्णत निरर्थक कर देता है। इससे तो राज्य के सावयविक स्वरूप का प्रतिष्ठापन होता है।

हमने देखा है कि बर्क राज्य को एक अवयव की भाँति मानता है। उसके अनुसार राज्य का विकास भी अवयव की भाँति ही होता है और उसमे एक प्रकार का जीवन होता है जो समयानुसार एव परिस्थितियो के अनुरूप विकसित एव परिवर्तित होता रहता है। प्राचीनकाल की सस्थाएँ प्राचीनकालीन परिस्थितियो के अनुकूल थी। वर्तमान काल की सस्थाओ को वर्तमानकालीन परिस्थितियो के अनुकूल होना चाहिए। उनमे नवीन वातावरण, नवीन समस्याओ एव नवीन परिस्थितियों के अनुसार सुधार और परिवर्तन हो जाना आवश्यक है। सभी सस्थाओ, कानूनो और मनुष्यो के अधिकारो मे वर्तमान काल की परिस्थितियो के ही अनुरूप परिवर्तन किए जाने चाहिए। किन्तु ये परिवर्तन अकस्मात् क्रान्तिकारी ढग से न होकर धीरे-धीरे होने चाहिए। बर्क आमूल परिवर्तन से सहमति प्रकट नही करता। वह आवश्यकतानुसार थोडे बहुत हेर-फेर का पक्षपाती है क्योकि पूर्ववर्ती विचारो मे कुछ न कुछ तथ्य अवश्य हुआ करता है, चाहे वे विकृत भले ही हो जाएँ। इसी दृष्टि से उनमें आमूल एव क्रान्तिकारी परिवर्तन करना दैवी आचरणो के विरोध मे जाना है। पुरातन मर्यादाओ एव प्रथाओ को एकदम तिरस्कृत कर देना किसी प्रकार भी उचित नही है। उनमे तो आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 578.

सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। बर्क के इन विचारों से हम उसे उदारवादी सुधारकों की श्रेणी में रख सकते हैं। इन विचारों के कारण ही उसने जॉर्ज तृतीय द्वारा की गई ससदीय शासन के स्वाभाविक विकास को रद्द करने की नीति का विरोध किया और फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों के उन प्रयत्नों का पागलपन बतलाया जिनके द्वारा वे प्राचीन व्यवस्था को नष्ट करके एक सर्वथा नवीन सरकार और समाज का निर्माण करना चाहते थे। बर्क के अनुसार राजनीतिक कला तो इस बात में है कि एक संस्था में परिवर्तन करके उसे कायम रखा जाए और जो लोग परिवर्तनों की योजना बनाते हैं तथा उनका निर्देशन करते हैं, वे अपने सिद्धान्त भूतकाल के अनुभव से लें।

बर्क ने समाज अथवा शासन को एक दिव्य नैतिक व्यवस्था का अंग माना और इस प्रकार 'इतिहास की दैवी योजना' (The Divine Tactics of History) प्रस्तुत की। इस सम्बन्ध में बर्क के विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि—

"बर्क राज्य के प्रति श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण के कारण ह्यूम तथा उपयोगितावादियों से बिल्कुल अलग श्रेणी में था। उसके होठों पर कार्य-साधकता शब्द अवश्य रहता था लेकिन इसका अर्थ उपयोगिता नहीं था। बर्क ने व्यवहारतः राजनीति का धर्म के साथ समन्वय कर दिया था। यह बात केवल इसी अर्थ में सही नहीं थी कि वह खुद एक धार्मिक व्यक्ति था, उसका विश्वास था कि श्रेष्ठ नागरिकता धार्मिक पवित्रता से अभिन्न है। उसने अंग्रेजी चर्च की स्थापना को राष्ट्र के लिए अत्यन्त हितकारी माना था। यह बात इस अर्थ में ज्यादा सही थी कि वह सामाजिक संगठन, उसके इतिहास, उसकी संस्थाओं, उसके बहुमुखी कर्त्तव्यों और निष्ठाओं को धार्मिक श्रद्धा के भाव से देखता था। उसकी यह भावना केवल इंग्लैण्ड के प्रति ही नहीं थी, प्रत्युत् किसी भी प्राचीन सभ्यता के प्रति थी। उसने इसी विश्वास के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी और वारेन हेस्टिंग्स की कठोर आलोचना की। बर्क के मन में भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति आदर का भाव था और वह चाहता था कि भारतीयों का शासन उनके अपने सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए, अंग्रेजों के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं। बर्क का यह भी विश्वास था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने केवल शोषण किया है और प्राचीन संस्थाओं को नष्ट किया है। फ्रांस की संस्कृति के प्रति भी बर्क में यही आस्था भाव था। यद्यपि फ्रांस कैथोलिक धर्मावलम्बी था और बर्क ने यह कभी नहीं माना कि कोई भी समाज अथवा शासन केवल मानवीय चिन्ता का ही विषय है। वह उसे एक ऐसी दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग मानता था जिसका अधिष्ठाता ईश्वर है। वह यह भी नहीं समझता था कि प्रत्येक राष्ट्र पूरी तरह स्वतन्त्र है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का अपने राष्ट्र की स्थायी और अनवरत् अवस्था में स्थान होना चाहिए, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का उस विश्व-व्यापी सभ्यता में एक स्थान होना चाहिए जो 'दैवी योजना' के अनुसार अपना उद्घाटन करती है। इतिहास की इस दैवी योजना में बर्क की यह आस्था बड़ी गहरी थी। जब वह फ्रांसीसी क्रान्ति की आलोचना करते-करते थक गया, तब एक स्थल पर इतिहास की दैवी योजना में उसकी यह आस्था क्रान्ति के प्रति उसके अदम्य घृणा-भाव से भी आगे बढ़ गई और उसने बड़ी विरक्ति के साथ लिखा, "यदि कोई महान् परिवर्तन आने को ही है तो लोग मानव-कार्य व्यापारों की इस शक्तिशाली धारा को रोकने की चेष्टा करते हैं, वे केवल मनुष्य की योजनाओं का ही नहीं...प्रत्युत् सम्पूर्ण आसक्तियों का भी विरोध करते हैं।" सामाजिक व्यवस्था और उसके विकास में दैवी भूमिका के बारे में बर्क के विचार हीगल के विचारों से बहुत मिलते-जुलते थे।"[1]

वास्तव में बर्क ऐसा उदार रूढ़िवादी विचारक था जिसके हृदय में भूतकाल के प्रति श्रद्धा के भाव थे और जो उस ब्रिटिश प्रणाली का समर्थक था जिसमें शक्ति अभिजात्य कुलों के कुलीन व्यक्तियों के हाथों में निहित थी लेकिन जो साथ ही जनता की स्वतन्त्रता का हिमायती था और उस...

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ. 579.

अनाचार तथा भ्रष्टाचार का शत्रु था। बर्क ने हिंसक और विनाशक फ्रेंच क्रान्तिकारियों की जिन कठोर शब्दों में भर्त्सना की, उनमें हमें उसके रूढ़िवाद के सुन्दरतम दर्शन होते हैं और ब्रिटिश अनाचारी नीति के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए अमेरिकन औपनिवेशिक विद्रोह का जो उसने समर्थन किया तथा भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काले कारनामों पर जो उसने करारे प्रहार किए, उनमें हम उसके उदारवाद को साकार कर पाते हैं।

संविधान, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल
(Constitution, Parliamentary Representation and Political Parties)

बर्क ने संविधान के स्वरूप, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दलों के महत्त्व के बारे में भी विचार प्रकट किए हैं। उसका कहना था कि संविधान तथा समाज की परम्परा को धर्म-भावना से देखना चाहिए क्योंकि उनमें सामुदायिक बुद्धि और सभ्यता निहित है। ब्रिटिश संविधान के विषय में वह लॉक से सहमत था कि यह संविधान क्राउन, लॉर्ड सभा और लोकसभा का सन्तुलन है। उसी के शब्दों में "हमारा संविधान प्रयोग-सिद्ध (Prescriptive) है। यह ऐसा संविधान है जिसका एकमात्र प्रमाण यह है कि यह चिरकाल से हमारे मस्तिष्क में रहा है। आपके नरेश, लॉर्ड, न्यायाधीश, ज्यूरी—छोटे और बड़े ये सब परम्परा पर आधारित हैं। चिर-भोगाधिकार समस्त अधिकारों में महत्त्वपूर्ण है। यह बात केवल सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही नहीं है बल्कि शासन के सम्बन्ध में भी सही है। यदि कोई शासन-प्रणाली स्थिर है तो उसके सम्बन्ध में यह धारणा की जा सकती है कि उसके अधीन राष्ट्र काफी दीर्घकाल से रहा है और उसने उन्नति की है। यह बात उस शासन-प्रणाली के विरोध में विशेष रूप से लागू होती है जिसको आत्मसात् न की गई हो। आकस्मिक निर्वाचनों द्वारा केवल स्थायी शासनों का निर्माण होता है। अतः राष्ट्र भी प्रयोग-सिद्ध संविधान को ही पसन्द करता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र केवल स्थानीय महत्त्व का ही विचार नहीं है। उसमें व्यक्तियों के अल्पकालिक समुच्चय का भाव नहीं है। राष्ट्र में निरन्तरता का भाव होता है। राष्ट्र समय, संख्या और स्थान इन तीनों में फैला होता है। वह एक दिन अथवा एक तरह के लोगों की पसन्द नहीं है। वह किसी अनुशासनहीन और चंचल पसन्द के परिणामस्वरूप नहीं बनता। संविधान ऐसी चीजों से मिलकर बनता है जो पसन्द से 10 हजार गुनी बेहतर होती हैं। वह कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, अवसरों, स्वभावों, प्रवृत्तियों और जनता की नैतिक, नागरिक तथा सामाजिक आदतों के फलस्वरूप बनता है। ये सारी चीजें दीर्घकालावधि में ही अपने विचार व्यक्त कर पाती हैं। जब व्यक्ति और समुदाय दोनों ही बिना सोच-विचार के कार्य करते हैं तो मूर्ख होते हैं। लेकिन जाति सदैव बुद्धिमान होती है। जब उसे समय मिल जाता है और वह जाति के रूप में कार्य करती है तो सदैव ही सही होती है।"[1] बर्क के संविधान सम्बन्धी विचार, उस परम्परा में थे जो लॉक ने हुकर से ग्रहण की थी।

बर्क सांविधानिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को अवरुद्ध करने का पक्षपाती नहीं था। इसलिए उसने जॉर्ज तृतीय के ऐसा करने के प्रयासों का विरोध किया। अपने प्रतिरोध में बर्क ने जो शब्द कहे वे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं—"हमारा संविधान एक ऐसे सूक्ष्म सन्तुलन पर खड़ा हुआ है जिसके चारों ओर ढालू चट्टानें हैं और अगाध सागर है। यदि हम इसे एक ओर कुछ अधिक झुकने के खतरे से बचाते हैं तो इसके दूसरी ओर झुक जाने का खतरा पैदा हो जाता है। हमारी जैसी जटिल शासन-व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन करना ऐसी कठिनाइयों से परिपूर्ण है जिनसे कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्णय करने को और कोई दूरदर्शी व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने को और कोई ईमानदार व्यक्ति उसका वचन देने को एकदम तैयार नहीं हो सकता।" मुरे (Murray) का

1 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 570–571.

कहना है कि "इन शब्दो मे वर्क ने अपने इस मौलिक विश्वास को प्रस्तुत किया है कि राज्य मे कोई मानव-कृत यन्त्र न होकर एक अति-जटिल ऐसा सावयव है जिसके स्वरूप को निर्धारित करने मे व्यक्तियो के प्रत्यनो ने निश्चय ही सहायता पहुँचाई है किन्तु जिसके विकास एव लक्ष्य को कोई व्यक्ति पूर्णत नही समझ सकता। वर्क का विश्वास था कि राज्य के विकास का ढग एक वडी सीमा तक ऐसी शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है जिसे कोई भी व्यक्ति पूर्णरूपेण नही समझ सकता और जब व्यक्ति किसी परिवर्तन के इच्छुक होते हैं तो उन्हे चाहिए कि वे ऐसा कार्य वडे सोच-विचार कर तथा सयम के साथ करें क्योकि यह कोई नही कह सकता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होगे—हो सकता है कि उनके परिणाम सम्पूर्ण समाज के अत्यन्त आधारभूत हितो के विरुद्ध हो।"[1]

जनहित का अनुमोदन करने के बावजूद भी वर्क मानता था कि निर्वाचक-मण्डल का विस्तार नही होना चाहिए। विरोधियो को मखौल का मसाला देते हुए भी उसका विचार था कि संसद् में मौलिक सुधारो की आवश्यकता नही है। उसने ब्रिटिश सविधान मे मौलिक परिवर्तन करने वाले ऐसे सभी प्रस्तावो का विरोध किया जिनमें मताधिकार को व्यापक बनाने, ग्रामीण क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बढाने और उजड़ी वस्तियो (Rotten Boroughs) मे संसद् मे दो प्रतिनिधित्व भेजने की व्यवस्था की समाप्त करने पर वल दिया गया था। ससद् मे एक भाषण देते हुए उसने ये शब्द कहे थे— 'न तो इस समय और न किसी समय में यह वात दूरदर्शितापूर्ण होगी कि हम अपने सविधान के मौलिक सिद्धान्तो और प्राचीनकाल से सुपरीक्षित परम्पराओ में कोई हस्तक्षेप करें। हमारे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लगभग उतनी ही पूर्ण है जितनी मानवीय मामलो मे आवश्यक अपूर्णता के साथ सम्भव है।"[2] वर्क के अनुसार प्रतिनिधित्व का अर्थ यह कभी नही होता कि जनता के अधिकांश भाग को प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने के लिए मतदान का अधिकार प्राप्त हो। "व्यक्तिगत नागरिको का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और देश के परिपक्व लोकमत मे संख्या सम्बन्धी वहुमत का कोई स्थान नही होता। उसका कहना था कि वास्तविक प्रतिनिधित्व वह है जिसमे हितो की एकता हो और भावनाओ तथा इच्छाओ की सहानुभूति हो।.......सक्षेप मे वर्क ने एक ऐसी ससदीय शासन की कल्पना की थी जो एक सुसंगठित लेकिन सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित अल्पसंख्यक वर्ग के नेतृत्व मे सचालित हो।.......वर्क ने ब्रिस्टल के निर्वाचको के सामने जो भाषण दिया था उसमे उसने वतलाया कि निर्वाचित सदस्य अपने निर्णय तथा कार्य में आजाद होता है। जब प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित हो जाता है तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र और साम्राज्य के हितो के प्रति उत्तरदायी होता है। उसका यह अधिकार होता है कि वह अपनी वुद्धि का स्वतन्त्रतापूर्ण प्रयोग करे, चाहे यह उसके निर्वाचको की इच्छा के अनुकूल हो या न हो। सदस्य अपने निर्वाचको के पास विधि तथा शासन के सिद्धान्तो को सीखने के लिए नही जाता। सदस्य का निर्वाचन-क्षेत्र उसके लिए पाठशाला नही है।"[3]

राजनीतिक दलो के वारे मे वर्क के विचारो का इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि उसने ससदीय शासन-प्रणाली मे राजनीतिक दलो के महत्त्व को पहचाना और जॉर्ज तृतीय की उन योजनाओं का डट कर विरोध किया जिनसे वह दल-प्रणाली पर घातक चोट करना चाहता था। वह ह्विग दल का शीर्षस्थ नेता था जिसने दल को समुचित रूप से सगठित किया। वर्क ने दलीय सरकार का ध्येय सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण वतलाया। उसने राजनीतिक दल की यह सुविख्यात परिभाषा दी—"दल उन व्यक्तियो का एक समुदाय है जो अपने सयुक्त प्रयत्नो मे किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं।"

1 *Murray* · Introduction of Political Philosophy, p. 143.
2 *Murray*. The History of Political Science from Plato to the Present, p. 295.
3 सेवाइन; राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 573

बर्क ने दलीय प्रणाली के इस आधारभूत सिद्धान्त को प्रस्थापित किया कि दल के सभी सदस्यो को एक इकाई के रूप मे कार्य करना चाहिए तथा ऐसे किसी गठबन्धन एव नेतृत्व को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो दलीय सिद्धान्तों के विपरीत हो । दल के प्रति अपनी निष्ठा के मार्ग मे व्यक्तिगत विचारों को बाधक नहीं बनने देना चाहिए । राजनीतिक दलों की आवश्यकता पर बल देते हुए बर्क ने कहा कि व्यवस्थापिका के सदस्य अपने सगठित प्रयासो से ही राष्ट्रीय हितो की अभिवृद्धि कर सकते है । यदि समान विचार वाले व्यक्ति परस्पर मिल जाते है तो वे राष्ट्रीय समस्याओ पर प्रभावपूर्ण ढग से विचार व्यक्त कर सकते हैं । अपने को समान विचार वालो से पृथक् रखकर तो व्यक्ति अपनी प्रतिभा और अवसर का व्यर्थ विनाश ही करते है । बर्क ने चेतावनी दी कि दलो का निर्माण स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाना घातक होगा । सदैव यही वांछित है कि सामान्य सिद्धान्तो के आधार पर और उन सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही दल सगठित किए जाएँ । बर्क ने गुटो का विरोध किया क्योकि उनका आधार सिद्धान्त प्रेम नही वल्कि व्यक्ति-भक्ति होता है । बर्क को सिद्धान्तहीनता से चिढ थी । अत: उसने सयुक्त सरकारो का भी विरोध किया । उसने कहा कि "सयोजन (Coalition) में प्राय. सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया जाता हे । सिद्धान्त छोड बैठने पर सयोजन प्रभावशून्य और शक्तिहीन हो जाता है । दुर्भाग्यवश यदि उनका ध्येय शोषण करना हो जाए तो वह राष्ट्र और समाज के लिए खतरनाक बन जाता है ।"

अधिकार, सम्पत्ति, क्रान्ति आदि पर बर्क के विचार
(Burke on Rights, Property, Revolution etc)

अधिकार

बर्क के अनुसार मानव स्वभाव से राजनीतिक होता है और राज्य से बाहर रहकर अपना जीवन व्यतीत नही कर सकता । इस स्थिति मे उसके सभी अधिकार राज्य द्वारा सीमित है । हम ऐसे किन्ही प्राकृतिक अधिकारो की कल्पना नही कर सकते हैं जो राज्य की परिधि से बाहर हो । अधिकार वे ही वैध है जो राज्य की ओर से प्राप्त होते हो । केवल शर्त यह है कि राजकीय नियम ईश्वरीय नियमो के विरुद्ध नही होने चाहिए । ईश्वरीय नियम सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च होते है ।

बर्क ने कहा कि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार और सभ्य राज्य के अधिकार दोनो प्राप्त नही हो सकते क्योकि प्राकृतिक अधिकारो का आधार तो राज्य का अभाव था । वह राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारो की चर्चा आधारहीन मानता है । मनुष्य के जो कोई भी प्राकृतिक अधिकार है वे राज्य में ही निहित हैं । वह इस विचार को भी स्वीकार नही करता कि राज्य के निर्माण से पूर्व मनुष्य को जो प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे उन्हें राज्य की रचना द्वारा आगे बनाए रखने की स्वीकृति प्रदान की गई । राज्य प्राकृतिक अधिकार जैसे किसी भी अधिकार का व्यक्ति को आश्वासन नही देता और समाज के बाहर व्यक्ति के अधिकारो का कोई अस्तित्व नही होता । प्राकृतिक अधिकार राज्य-विरोधी है जिन्हे मान्यता देने का अभिप्राय अराजकता व क्रान्ति और अव्यवस्था को निमन्त्रण देना है । फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के नेता प्राकृतिक अधिकारो के कपोल कल्पित सिद्धान्तो को प्राकृतिक मूर्त रूप देने के प्रयत्नो मे ही सम्पूर्ण देश को आतक और हत्याकाण्ड की ज्वाला मे भस्म कर रहे थे ।

बर्क व्यक्ति के अधिकारो का सम्बन्ध परिस्थितियो से मानता है । परिस्थितियो के अनुकूल ही व्यक्ति को अधिकार प्रदान किए जाते हैं । राजकीय विधियों पर निर्भर रहने वाले अधिकार ही वैध हैं । राजकीय विधियाँ, दैवी विधियो के अनुरूप है ।

बर्क ने दो प्रकार के अधिकारो की चर्चा की है—(1) नागरिक अधिकार (Civil Rights) तथा (2) राजनीतिक अधिकार (Political Rights) । नागरिक अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रूप से मिलने चाहिए । राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारो का

उपभोग कर सके। राज्य को यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति इन अधिकारों के उपभोग के प्रति उदासीन तो नहीं है। राजनीतिक अधिकार बहुत ही प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण होते हैं अत. ये कुछ ही व्यक्तियों को दिए जाने चाहिए। अयोग्य व्यक्तियो के हाथो मे इन अधिकारों के चले जाने से समाज और राज्य को हानि पहुँचने का डर है। बर्क ने अधिकारों के स्थायित्व का भी विरोध किया है। अधिकार समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित तथा संशोधित होते रहने चाहिए।

धर्म

बर्क धर्म-प्राण व्यक्ति था जिसका इगलैण्ड के चर्च मे पूर्ण विश्वास था। बर्क प्रत्येक क्षेत्र में धार्मिक भावना का महत्त्व स्वीकार करता था। राजनीति को भी वह धर्म से मिलाता था। उसकी मान्यता थी कि धार्मिक भावना से ही कोई व्यक्ति अच्छा नागरिक नहीं बन सकता। धर्म-भावना समाज के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार न्याय और व्यवहार-कुशलता। धर्म का भावनात्मक अनुराग मानवीय व्यापारो को सौम्यता और अस्थिरता प्रदान करता है। समाज, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक क्रियाकलापो आदि के प्रति हमे धार्मिक श्रद्धा रखनी चाहिए। दीर्घकाल से चलती आ रही सामाजिक संस्थाओ और परम्पराओ का उन्मूलन करने की चेष्टा अधार्मिक वृत्ति है। बर्क ने कहा कि प्रत्येक सरकार और समाज विश्व की दैविक नैतिक व्यवस्था का अग है। अपने धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ही बर्क उपयोगितावादियो से बहुत भिन्न हो गया।

क्रान्ति

बर्क के क्रान्ति सम्बन्धी विचार 1790 मे प्रकाशित उसके ग्रन्थ 'Reflections on the Revolution in France' मे मिलते है। इसमे उसने फ्रेंच क्रान्ति का विरोध किया है। धार्मिक भावनाओ से ओत-प्रोत बर्क शक्तिवाद का विरोधी था और सत्ता की तृष्णा का दमन चाहता था। जहाँ उसके अनेक दलीय साथियो ने फ्रेंच राज्य और समाज दोनो को सकट मे डाल दिया था तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को शोचनीय बना दिया था। इन क्रान्ति-विरोधी विचारो के कारण ही बर्क को उसके साथी प्रतिक्रियावादी समझने लगे थे।

बर्क का विश्वास था कि प्रभुत्व-प्राप्ति की उद्दाम लालसा और अनियन्त्रित प्रयोग पर रोक लगाना अनिवार्य है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति उसे एक विनाशकारी दानव के समान प्रतीत हुई जो चारो ओर अराजकता तथा अमानवीयता का प्रसार कर रही थी। यह क्रान्ति राजतन्त्र और अभिजाततन्त्र के नाश पर तुली हुई थी और इस प्रकार समस्त भूतकालीन संस्कृति से संघर्ष कर रही थी। ध्वस, न कि निर्माण ही, इसका मूल उद्देश्य हो गया था। चर्च के साथ भी क्रान्ति ने छेड-छाड की थी। इस प्रकार क्रान्ति अनीश्वरवाद की ओर बढ रही थी। बर्क को क्रान्तिकारियो के सभी कार्य बडे कष्टकर लगे। उसका कोमल हृदय फ्रांसीसी आतकवादियो के कारनामो से कॉप उठा। उसने फ्रेंच क्रान्तिकारियो को आक्रमणकारी, हिंसक, दस्यु, दुष्ट और आचरणहीन तक कह डाला। उसने कहा कि ये क्रान्तिकारी अपने कुकृत्यो को छिपाने के लिए नीति और आचार का गीत गा रहे थे। तर्क, विशुद्ध बुद्धि और रेखा-गणित का आश्रय लेकर वे नए सिरे से फ्रेंच समाज का निर्माण करने मे लगे थे, जो विनाशकारी कदम था। बर्क ने यह दृढमत प्रकट किया कि एक सदन मे बैठकर पूर्व-निर्दिष्ट बौद्धिक ढाँचे पर नूतन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। कोरे गगनचुम्बी सैद्धान्तिक आदर्शों पर समाज की रचना का प्रयास दुस्साहस है जो कभी सफल नहीं हो सकता।

यदि हम गहराई से बर्क के विचारो का अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि उसे क्रान्तिकारी विचारों से घृणा नहीं थी बल्कि हिंसात्मक अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोग से घृणा थी। वह आमूल परिवर्तन का विरोधी था। वह नहीं चाहता था कि किसी भी परिस्थिति अथवा अवस्था का समूल नाश करके नए सिरे से प्रारम्भ किया जाए। पुरातन को एकदम उखाड फेंकने के प्रयत्न न्यायोचित नहीं कहे जा सकते। अमेरिकन क्रान्ति का समर्थन उसने केवल इसलिए किया था कि उपनिवेशवासियों की माँगें न्यायोचित और आवश्यक थीं तथा उस क्रान्ति में वैसा निर्मम हत्याकाण्ड नहीं हुआ था जैसा फ्रेंच क्रान्ति मे।'

वर्क का मूल्यांकन एव प्रभाव
(Estimate and Influence of Burke)

लोचको के अनुसार वर्क के राजनीतिक विचार यह वताते है कि उसमे राजदर्शन को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने की कमी थी। सेवाइन ने लिखा है कि "वर्क के राजनीतिक दर्शन की सुसम्बद्धता के वारे मे काफी वाद-विवाद हुआ है। वर्क ह्विग सिद्धान्तो को मानने वाला था लेकिन इसके साथ ही उसने फ्रास की क्रान्ति का विरोध किया था। उसकी इन दो प्रवृत्तियो मे क्या सगति थी, इस प्रश्न को लेकर भी काफी वाद-विवाद हुआ है। वर्क के फ्रासीसी क्रान्ति के सम्बन्ध मे इस प्रतिक्रिया ने उसके जिन्दगी भर के सम्बन्धो और मित्रताओ को समाप्त कर दिया। उसके समसामयिक यह न समझ सके कि जिस व्यक्ति ने अमेरिकन स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, ससद के ऊपर राजा के नियन्त्रण की आलोचना की थी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विहित अधिकारो को समाप्त करने की कोशिश की थी, वही व्यक्ति अव फ्रासीसी क्रान्ति के कैसे विरुद्ध हो गया। किन्तु वास्तव मे यह गलत धारणा है। वर्क का दर्शन कोई क्रमवद्ध दर्शन न था। उसके कुछ रूढिवादी सिद्धान्त थे। उसने जिन सिद्धान्तो से प्रेरित होकर क्रान्ति पर आक्षेप किया था, उन्ही सिद्धान्तो से प्रेरित होकर उसने फ्रास की क्रान्ति से पहले सारे कार्य किए थे। यह सही है कि फ्रास की घटनाओ ने उसे डरा दिया था, उसकी वुद्धि को असतुलित कर दिया था, ऐसी घृणा को प्रकट किया था जो अब तक वडी सुन्दरता से छिपी हुई थी और इसके कारण उसकी लेखनी में ऐसा अनावश्यक अलकार आ गया था जिसने निष्पक्षता, इतिहास-बोध और तथ्यो पर अधिकार को नष्टप्राय कर दिया था लेकिन क्रान्ति ने उसे न तो कुछ नए विचार दिए और न उसके पुराने विचारो को वदला। उसके मुख्य राजनीतिक विचार हमेशा एक से रहे।"[1]

वर्क के विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह लगाया जाता है कि वह परम्पराओ का पुजारी था और ऐसे परिवर्तनो का समर्थक न था जिनमे पुरातन परम्पराओ एव मान्यताओ को ठेस पहुँचे। किन्तु इस सम्बन्ध मे हमे उसके ये शब्द नही भूलने चाहिए कि "मेरे मापदण्ड से पूरे उतरने वाले राजनीतिज्ञ मे प्राचीन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति तथा साथ ही सुधार करने की योग्यता होनी चाहिए।" पुनश्च, उसने यह भी कहा था कि यदि किसी प्राचीन सस्था का विवेक नष्ट हो जाता है तो उसके शवमात्र को वनाए रखना मूर्खता है। वास्तव मे वर्क ठेठ रूढिवादी नही था वल्कि उदार रूढिवादी था।

वर्क ने राजनीतिक और सामाजिक अधिकारो का जो विभाजन किया वह न्यायसगत नही कहा जा सकता पर साथ ही यह भी है कि सम्पत्ति सम्बन्धी उसके विचार यथार्थ की भूमि पर टिके थे। सम्पत्ति के क्षेत्र मे समानता का इतिहास मनुष्य ने अभी तक दुर्भाग्यवश साकार रूप मे नही देखा है। वर्क ने प्रजातन्त्रीय शासन को अस्वीकार करके अपने सम्मान को ठेस पहुँचाई है। अपने इन विचारो से उसने वर्तमान जनतन्त्रीय युग के लोगो को अपना विरोधी वना लिया है। वर्क ने अपने विचारो से यह प्रकट कर दिया कि उसने इस वात को कभी नही समझा कि वह किस युग मे रहता है। वर्क के युग मे प्रजातन्त्रीय विचार दिन-प्रतिदिन तीव्र होते जा रहे थे किन्तु वह फिर भी राजतन्त्र और अभिजातयतन्त्र के गीत गा रहा था।

यदि वर्क मे ये कमियाँ न होती तो निसदेह उसका स्थान अत्यन्त ही श्रेष्ठ होता। वर्क मे यद्यपि दोषो की कमी न थी किन्तु राजदर्शन के क्षेत्र मे उसका अनुदाय और प्रभाव कम महत्त्वपूर्ण नही है। उसकी कृतियो और उसके विचारो से प्रभावित होकर ही केनिंग ने इगलैण्ड के शासन मे व्यवस्था लाने का प्रयास किया और डिजरैली ने उसके अनुदारवादी विचारो से प्रेरणा ग्रहण की। वर्क ने ऐतिहासिक पद्धति को अपने उचित स्थान पर पुन. प्रतिष्ठित करके राजनीतिक इतिहास और आधुनिक काल की महान् सेवा की। उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का खण्डन करके राज्य के स्वरूप की

1 सेवाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 570.

सावयविक विवेचना की। उसने विकासवादी और उपयोगितावादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त किया। उसने मध्यम मार्ग और सहिष्णुता व संयम का प्रतिपादन किया और बताया कि सुधार करते समय कट्टरता की तथा उदारता की दोनो अतियो (Extremes) से बचते हुए मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। बर्क का अन्य प्रशसनीय कार्य प्राकृतिक तथा जटिल अधिकारी के सिद्धान्त का खण्डन करना था। उसने कहा कि उन्ही अधिकारो का महत्त्व है जो ठोस हो और जो समाज के अभिसमयों से उत्पन्न हो। सेबाइन ने बर्क की एक अन्य देन की ओर सकेत करते हुए लिखा है कि "फ्रांस की क्रान्ति के विरुद्ध उसने जिस प्रतिक्रिया का झण्डा खडा किया उससे एक नवीन परिवर्तन का सूत्रपात हुआ जिसके कारण तत्कालीन प्रचलित सामाजिक दर्शन को आक्रमण छोडकर अपना बचाव करने के लिए विवश होना पडा और इसीलिए स्थिरता के मूल्य तथा परम्परा की शक्ति पर, जिसके ऊपर स्थिरता निर्भर करती है, एक नया बल दिया गया।"

बर्क के सुधारवादी विचारो से जिस नवीन सुधारवादी भावना का श्रीगणेश हुआ, उसका प्रभाव जॉनसन पर भी पडा। वर्ड्स्वर्थ और कॉलरिज जैसे साहित्यकार बर्क से प्रभावित हुए। फलस्वरूप साहित्य में 'Romantic Reaction' की धारा का शिलान्यास हुआ। जॉनसन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, "उसकी मानसिक धारा शाश्वत है।" बर्क से प्रभावित होकर लार्ड मैकाले ने कहा था— "मिल्टन के बाद वही हमारे देश का महानतम पुरुष है और लॉर्ड मोर्ले के पश्चात् वही हमारे देश का प्रथम श्रेणी का निर्माता है।" मैक्सी ने लिखा है—"यह उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी के अनुदारवादी तथा ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है। मेन, फ्रीमैन, सीले, सिजविक, नीत्शे जैसे अनुदारवादी विचारको की कृतियो पर उसका गहरा प्रभाव पडा।"[1] लॉस्की ने बर्क के महत्त्व को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—'बर्क की प्रशसा करना सरल है और उसके प्रयास के महत्त्व को समझ पाना और भी सरल है। उसके पूर्ण मूल्यांकन को छोड भी दिया जाए तो भी इतना निश्चित है कि एक विचार-पद्धति के जनक की अपेक्षा उसे कुछ ऐसी लोकशक्तियो के रचयिता के रूप मे अधिक याद किया जाएगा जिन्हें भुला देने का साहस बहुत कम राजनीतिज्ञो को होगा। उसकी विचार-पद्धति अपनी अपूर्ण अभिव्यजनाओ मे भी हॉब्स एव बेन्थम की प्रणालियो से कुछ कम महाकाव्य नही है।' लॉस्की ने ही आगे लिखा है—"बर्क के दोष भी हमे सबक सिखाते है। उसका यह न देख पाना कि सम्पत्ति का कुछ हाथो मे केन्द्रीकरण इतना खतरनाक होता है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह मनुष्य ससद् का निर्णय अपनी निजी इच्छाओ के मापदण्ड के करने के लिए कितना उत्सुक रहता है।...... जन-इच्छा का जो उसने निरादर किया है वह उस घातक उपेक्षा की ओर सकेत करता है जिसके साथ हम उन लोगो की इच्छा की अवहेलना कर देते हैं जो राजनीतिक सघर्ष के सक्रिय केन्द्र से बाहर खडे हैं।" लॉस्की की मान्यता है कि इन सब कमियो के बावजूद इग्लैण्ड के राजदर्शन के इतिहास मे बर्क से महान व्यक्ति और कोई नही दिखाई पडता। अपने समकालीन राजदर्शन को उसने ऐसी दिशा, भावना तथा ओजस्विता प्रदान की जैसी किसी भी राजनीतिज्ञ ने नही की।[2] शक्तिवाद पर नैतिक प्रतिबन्ध लगाने का आजीवन समर्थन करते रह कर बर्क ने उदारवाद के नैतिक अधिकार को बहुत संबल प्रदान किया। यह अनुदारवादी बर्क की बहुत बडी देन है।

1. *Maxey* : Political Philosophies, page 384.
2. *Laski* : Political Thought from Locke to Bentham, page 213-14

22 उपयोगितावादी : जेमी बेन्थम

(The Utilitarians : Jeremy Bentham)
(1748-1832)

अपने मौलिक रूप मे उपयोगितावाद ब्रिटिश राजनीतिक दार्शनिकता की उपज है । इसके सभी मूल लेखक इंगलैण्ड के निवासी थे । 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे इस दर्शन की इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही कि इस युग को उपयोगितावादी युग (The Utilitarian Age) कहा जाता है । इगलैण्ड मे 19वी शताब्दी के अधिकांश भाग मे उपयोगितावादी चिन्तन की प्रधानता रहने से मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान और नैतिक तर्क-वितर्क मे लोगो की रुचि बढी तथा व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र मे सामाजिक सुधार-कार्य और कल्याणकारी विधायन इतने बडे पैमाने पर हुआ जितना पहले कभी सोचा भी नही गया था । डॉ वेपर के अनुसार, 'उपयोगितावाद के प्रवर्तक डेविड ह्यूम, प्रीस्टले और हुचिसन थे । पेले ने इसका प्रतिपादन किया तथा हैलविटियस और बकेरिया के विदेशी विचार-स्रोतो से इसका पोषण हुआ ।" किन्तु इसको शास्त्रीय और व्यवस्थित रूप देने तथा राजनीति के क्षेत्र मे इसे लागू करने का श्रेय जर्मी बेन्थम को ही था । उपयोगितावादियो मे सर्वाधिक विलक्षण और प्रतिभा-सम्पन्न वेन्थम ने ही राज्य द्वारा 'अधिकतम सख्या के अधिकतम हित' के पुराने सिद्धान्त को लोकप्रिय और शक्तिशाली बनाया । यही कारण है कि इसे कई बार वेन्थम के नाम से 'बेन्थमवाद' की भी सज्ञा दी जाती है ।

उपयोगितावाद का विकास
(Development of Utilitarianism)

उपयोगितावाद अपने नूतन रूप मे 19वी शताब्दी का ही दर्शन है तथापि आचारशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप मे इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान के ऐपीक्यूरियन सम्प्रदाय (Epicurian-School) से माना जा सकता है । एपीक्यूरियन चिन्तन के अनुसार मनुष्य पूर्णतया सुखवादी है, वह सुख की ओर दौडता है तथा दु ख से बचना चाहता है । यूनानियो ने राज्य को एक नैतिक सस्था मान कर भी उसके उपयोगी रूप को अस्वीकार नही किया तथा उसे मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक माना । 17वी शताब्दी मे सामाजिक-अनुबन्धवादियो ने उपयोगितावादी परम्परा का कुछ विकास किया । हॉब्स ने मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर मनुष्य को पशुवत् आचरण करने वाला एक सुखवादी प्राणी (Hedonistic Being) बताया जिसमे नैतिक भावनाओ का अभाव पाया जाता है । लॉक ने भी राज्य के अस्तित्व को आवश्यक बताया, क्योकि उसके बिना प्राकृतिक अवस्था के कष्ट नहीं मिट सकते । पाश्चात्य-दर्शन के सिरेनायक वर्ग के प्रचारको (Cyranaics School) ने भी उपयोगितावाद का प्रचार किया । 18वी शताब्दी के एक प्रमुख विचारक कम्बरलैण्ड (Comberland) ने राज्य की उपयोगिता की तुलना मे उसके नैतिक अस्तित्व (Moral Existence और विवेकपूर्ण चेतना (Rational Consciousness) के सिद्धान्तो को गौण बतलाया । लेस्ली

स्टीफेन के अनुसार, उपयोगितावाद का जैसा युक्तिसगत रूप डेविड ह्यूम ने प्रस्तुत किया वैसा 19वी शताब्दी का अन्य कोई विचारक नही कर सका। उसके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तो मे स्टुअर्ट मिल तक कोई आधारभूत परिवर्तन नही हुए। 19वी शताब्दी के इंग्लैण्ड की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों ने इस सिद्धान्त को बहुत कुछ निश्चित स्वरूप प्रदान किया तथा मिल, बेन्थम, ऑस्टिन आदि के हाथों यह 19वी शताब्दी का एक महत्त्वपूर्ण दर्शन बन गया। वर्तमानकाल मे बुद्धिवादी विकास के साथ-साथ भौतिक सुखवाद का दर्शन राजनीति के क्षेत्र मे पुनः प्रवेश करने लगा है।

उपयोगितावाद के सिद्धान्त

(Principles of Utilitarianism)

उपयोगितावाद मे सार्वजनिक कल्याण की भावना निहित है। यह कोई दार्शनिक सिद्धान्त न होकर अपने समय का एक प्रकार का व्यावहारिक आन्दोलन था जिसमे समाज और राज्य की परिस्थितियो के अनुसार समय-समय पर सशोधन होते रहे। यही कारण है कि इसकी कोई एक सुनिश्चित परिभाषा करना कठिन है, तथापि सुख-दुःख की मूल विचारधारा वही है। उपयोगितावाद अधिकाधिक व्यक्तियो को सुख पहुँचाने मे रुचि रखता है तथा व्यावहारिक कार्यों द्वारा बौद्धिक आधार पर लोगों की दशा सुधारने एव सक्रिय राजकीय कानूनों द्वारा जन-समूह के स्तर को ऊँचा उठाने मे विश्वास करता है।[1] 'एनसाइक्लोपेडिया अमेरिकाना' (Encyclopaedia Americanna) के अनुसार, "उपयोगितावाद आचारशास्त्र का एक सिद्धान्त है, जो यह प्रतिपादित करता है कि जो कुछ उपयोगी है, वही श्रेष्ठ है और उपयोगिता विवेकपूर्वक निर्धारित की जा सकती है। सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक सिद्धान्त और नीतियाँ उपयोगिता के सिद्धान्त पर ही आधारित होनी चाहिए।"[2] उपयोगितावाद दार्शनिक जगत् अथवा कल्पनालोक मे विचरण करने की अपेक्षा इसी सघर्षमय जीवन मे व्यावहारिक बनने की आकांक्षा रखता है। हैलोवेल (Hallowell) ने इसे "नीति-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र को एक व्यापक वैज्ञानिक अनुभववाद के आधार पर प्रतिष्ठित करने का एक प्रयास"[3] कहा है जो भावनाओ से आकर्षित नही होता अपितु ऐसे ठोस सुधारो का समर्थक है जिससे मानव-कल्याण की अभिवृद्धि हो, मानव के भाग्य-निर्माण मे सहायता मिले।

उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्त बहुत सरल और स्पष्ट हैं—

1. उपयोगितावाद एक ऐसा दर्शन है जो किसी वस्तु के नैतिक और भावात्मक पक्ष पर ध्यान न देकर उसके यथार्थवादी पक्ष को ही देखता है। इसने सुखवाद (Hedonism) से प्रेरणा ली है जिसका आशय है—प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और दुःख से सदैव बचना चाहता है। उपयोगिता को सुख-दुःख की मात्रा से आँका जाता है। किसी कार्य के अच्छे या बुरे होने की परीक्षा उससे प्राप्त होने वाले सुख या दुःख की मात्रा से की जाती है। बुरा काम वह है जिसके करने से दुःख होता है और अच्छा काम वह है जिसके करने से सुख मिलता है। यद्यपि जीवन मे दूसरी बातो का भी अपना महत्त्व है तथापि मुख्य सघर्ष सुख और दुःख मे ही है। उपयोगितावादी सिद्धान्त 'व्यक्ति के आनन्द' के आधार-बिन्दु पर ही आगे बढ़ता है। व्यवस्थापकों और राजनीतिज्ञो का कर्त्तव्य ऐसे नियमो का निर्माण करना है जिनसे अधिकाधिक व्यक्तियो को सुख पहुँचे और उनके दुःख कम हो। स्पष्ट है कि उपयोगितावाद 'आत्मानुभूतिवाद' (Intuitionism) से भिन्न हैं, जिसके अनुसार कुछ कार्य अपने परिणामों से अलग भी स्वभावतः अच्छे अथवा बुरे होते हैं।

1 *Davidson* Political Thought in England, p 2.
2 Encyclopaedia Americanna, Vol 27, p 620.
3 *Hallowell :* Main Currents in Modern Political Thought, p. 215.

उपयोगितावाद, प्रयोगात्मक और व्यवहार-प्रधान (Pragmatic) है। इसकी पद्धति कल्पनावादियों की निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) न होकर (Inductive) और अनुभूतिमूलक (Empirical) है। अनुभव ही इसका मुख्य आधार है। उपयोगितावाद का सम्बन्ध जीते-जागते व्यक्तियों और जीवन की ठोस वास्तविकताओं से है, काल्पनिक व्यक्तियों तथा अमूर्त सिद्धान्तों से नहीं। यह जीवन-संघर्ष और कर्मशीलता का प्रतीक है, जो प्रत्येक वस्तु को वास्तविक उपयोगिता की कसौटी पर कसता है और प्रत्येक विचार अथवा सिद्धान्त को व्यावहारिकता की तराजू में तोलता है। इसका व्यावहारिक नीति-शास्त्र और राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3 उपयोगितावादी सिद्धान्त को मानने वाले सभी लोग व्यक्तिवादी हैं जो यह मानते हैं कि 'राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए।' उनके मतानुसार राज्य का औचित्य इसी में है कि वह अपने नागरिकों को शान्ति और सुरक्षा प्रदान करता है तथा इच्छाओं की तुष्टि में उनका सहायक होता है। मानव की आकांक्षाओं और उसके अन्तिम लक्ष्य 'आनन्द' का राज्य के क्रिया-कलापों से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी राजनीतिक कार्य का महत्त्व तभी है जब उससे जन-कल्याण होता हो। उपयोगितावाद के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक कल्याण लोगों के वैयक्तिक सुखों का संग्रह-मात्र है। उपयोगितावादी दर्शन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर केवल सार्वजनिक व्यवस्था और शान्ति की सीमा है।

4 उपयोगितावाद की माँग है कि राज्य नागरिकों के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं के निराकरण के लिए विधि-निर्माण करे। उस विधि का कोई मूल्य नहीं है जिससे राज्य के अधिकतम लोगों का कल्याण न होता हो। उपयोगितावादियों के अनुसार विधियों के दो पक्ष हैं—निषेधात्मक और विधेयात्मक। जिन विधियों से बुरी परिस्थितियों और विपरीत वातावरण का अन्त हो वे निषेधात्मक (Negative) हैं और जिनसे निर्माण-कार्य सम्पन्न होते हों, वे विधेयात्मक अथवा रचनात्मक (Positive) हैं।

5 उपयोगितावाद की मान्यता है कि व्यक्ति दूसरों से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर सुखी नहीं रह सकता। यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ मानव-प्रेम और सह-अस्तित्व के बन्धनों से बँधा रहे। व्यक्ति के विकास के लिए समाज का अस्तित्व आवश्यक है। स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का संघवाद (Associationism) पर बल है। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए संघवाद की धारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है।

6. उपयोगितावाद एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जो मनोवैज्ञानिक विधि से मानव मस्तिष्क के तत्त्वों का विश्लेषण करता है। इसके अनुसार मनुष्य को बाहरी वस्तुओं का ज्ञान मस्तिष्क में उत्पन्न अनेक प्रकार की संवेदनाओं (Sensations) द्वारा होता है। ये संवेदनाएँ या तो सुखदायक होती हैं या दुःखदायक और स्वभावतः मनुष्य सुखदायक वस्तुओं को पसन्द करता है तथा दुःखदायक वस्तुओं से घृणा। चूँकि कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दुःख-मुक्त नहीं हो सकता, अतः हमें सदैव यही प्रयत्न करना चाहिए कि अधिकाधिक मात्रा में सुख और कम से कम दुःख मिले।

सामान्यतः सभी उपयोगितावादी यह मानते हैं कि लोग सुख की आकांक्षा रखते हैं तथा सुख अपने में ही एकमात्र वांछनीय वस्तु है। बुद्धि जीवन के साध्य का निर्धारण न कर उन साधनों का निरूपण करती है जिन्हें अपनाकर हम साध्य की प्राप्ति कर सकते हैं। वह कार्य सद् है जो दुःख की अपेक्षा अधिक सुख देने वाला है और वह असद् है जो दुःख की वृद्धि करता है। सार्वजनिक नीतियों एवं प्रशासकीय विधियों के औचित्य की कसौटी उपयोगिता अथवा 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (Greatest good of the greatest number) का सिद्धान्त है। राज्य स्वयं साध्य (End) न होकर नागरिकों के कल्याण में सहायक होने वाला साधन (Means) है।

वेपर (Wayper) के अनुसार, "उपयोगितावादी सदैव अल्पमत में रहते थे और वे कभी भी लोकप्रिय नहीं हुए। वे बहुत ही भाग्यहीन, बुद्धिवादी, अत्यन्त कठोर और विद्वतावादी थे तथा मानव-स्वभाव सम्बन्धी उनकी धारणा लोगो को आकर्षित करने वाली नही थी, पर काफी समय तक उनका कोई गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी पैदा नही हुआ। उनके समकालीन महान् विचारको—रूसो, काण्ट, सन्त साइमन, मार्क्स को इंग्लैण्ड मे कोई आदर नही मिला। इंग्लैण्ड मे ही इसके आलोचक अपनी किसी बात को अपने विश्वास मे न ले सके। इसके परिणामस्वरूप उनका प्रभाव उनकी संख्या के अनुपात मे कहीं अधिक रहा।"[1]

उपयोगितावाद के प्रतिपादन और विकास में जिन प्रमुख विचारको का योगदान रहा और जिनका इस पुस्तक मे अध्ययन किया गया है, वे हैं—

(1) जर्मी बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748–1832)
(2) जेम्स मिल (James Mill, 1773–1836)
(3) जॉन ऑस्टिन (John Austin, 1790–1859)
(4) जॉर्ज ग्रोट (George Grote, 1794–1871)
(5) जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill, 1806–1873)
(6) एलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain, 1818–1903)

जर्मी बेन्थम
Jeremy Bentham

जीवन-परिचय

जर्मी बेन्थम का जन्म 15 फरवरी, 1748 को लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार मे हुआ था। परिवार की परम्परा के अनुसार बेन्थम ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। 15 वर्ष की अल्पायु मे ही सन् 1763 मे उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त कर ली और तत्पश्चात् 'लिंकन्स इन' (Lincoln's Inn) मे कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। बैरिस्ट्री पास करने के उपरान्त उसने सन् 1772 में वकालत शुरू कर दी। परीक्षाओ मे आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करने पर भी उसने नौकरी करना स्वीकार नही किया।

बेन्थम अपने युग का एक बौद्धिक-आश्चर्य था जो वकालत करने के कुछ ही समय बाद इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि प्रचलित कानूनो मे भारी त्रुटियाँ हैं और उनके रहते तत्कालीन न्याय-व्यवस्था निरर्थक है। सन् 1776 में प्रकाशित उसकी पुस्तक 'Fragments on Government' ने, जिसमे ब्लैकस्टोन की इंगलिश कानून की 'टीकाओ' (Commentaries) में प्रतिपादित सिद्धान्तो की धज्जियाँ उडाई गई थी, तत्कालीन कानूनी-क्षेत्र मे हलचल मचा दी। विधि-शास्त्र के इस प्रकाण्ड पण्डित ने विधि-सुधार के महत्त्वपूर्ण आन्दोलन का सचालन किया जिसमे उसे सफलता भी मिली। वह एक ऐसा सुधारवादी सिद्ध हुआ जिसने इंग्लैण्ड के सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक क्षेत्र को अत्यधिक प्रभावित किया। उसकी रुचि आरम्भ से ही सामाजिक समस्याओ के हल खोजने मे रही थी अत वह एक श्रेष्ठ समाज-सुधारक बन गया। उसने अपने विचारो को नियमित रूप से लेखबद्ध किया। उसका लगभग सम्पूर्ण जीवन ही ग्रन्थ-रचना, ससार भर से पत्र-व्यवहार तथा कानूनी-सुधार के लिए सामग्री के एकत्रीकरण में व्यतीत हो गया। मेरी पी. मैक के अनुसार सन् 1770 से 1832 तक अर्थात् अपने मृत्यु-पर्यन्त वह प्रतिदिन लगभग 15 बडे पृष्ठ लिखता रहा।[2] अनुमानत उसने अपने जीवन-काल मे एक लाख से भी अधिक पृष्ठ लिखे। उसके लेखो की पाण्डुलिपियाँ, जो 148 बक्सो मे बन्द है, आज भी लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूजियम मे सुरक्षित हैं। बेन्थम ने नियमित रूप से लिखा, किन्तु

1 *Wayper* : Political Thought, p. 83.
2 *Mary P. Mack* : Jeremy Bentham, p 5.

अपने लेखो के लिपिबद्ध संकलन और उनकी उपयोगिता के प्रति वह उदासीन रहा। प्रतिदिन लिखे जाने वाले पृष्ठो का स्थान वह अपनी योजना मे इगित कर देता था और फिर उन्हे उठा कर एक ओर रख देता था। उसके लेखो के चयन, पुनरावलोकन, प्रकाशन आदि का कार्य उसके कुछ घनिष्ठ मेधावी व्यक्तियो, शिष्यो आदि द्वारा किया गया।

बेन्थम ने यूरोप का भ्रमण तथा फ्रांस के उपयोगितावादियो से प्रभावित होकर अपने विचार मे सुधार किया। जातीय और वर्गीय विभेदो मे अविश्वास रखने वाले इस विद्वान् ने इग्लैण्ड, फ्रांस, भारत, मैक्सिको, चिली आदि के लिए एक विधि-सहिता (Legal Code) निर्माण करने का अथवा संकलित करने का प्रयास किया। बेन्थम के विचारो का सर्वत्र सम्मान किया गया और प्रत्येक क्षेत्र मे उसे समर्थन तथा सहयोग प्राप्त हुआ। सन् 1792 मे फ्रांस की राष्ट्रीय ससद् ने उसे 'फ्रांसीसी नागरिक' की उपाधि से विभूषित किया। विधि (कानून) और कारागारो के सुधार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखने के कारण वह यूरोप मे ही नही, अन्य देशो मे भी प्रसिद्ध हो गया। सन् 1820–21 मे पुर्तगाल के विधायक दल ने वैधानिक समस्याओ पर उसके सुझाव आमन्त्रित किए। सन् 1828 मे उसने मिस्र की स्वेज नहर के निर्माण का सुझाव दिया। उसने जार द्वारा रूस के लिए विधि-नियमावली बनाने की इच्छा व्यक्त की।

अपने 84 वर्ष के दीर्घकालीन जीवन मे बेन्थम ने उपयोगितावाद के साथ ही सुधारवाद की नीव सुदृढ की। उपयोगितावाद की परम्परा उसकी मृत्यु के बाद भी सफलतापूर्वक चालू रही। उपयोगितावादी सिद्धान्त का आदि-प्रवर्तक न होते हुए भी वह उसका सस्थापक माना गया क्योकि उसने उसके महत्त्व को समझकर उसे अपने चिन्तन का मूल सिद्धान्त बनाया और उस पर एक सुनिश्चित एव सुव्यवस्थित विचार-प्रणाली का भवन खडा किया। बेन्थम से पहले उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन इंग्लैण्ड मे ह्यूम एव प्रीस्टले द्वारा हो चुका था। बेन्थम ने ह्यूम के ग्रन्थ 'Treatise of Human Nature' का अध्ययन किया और मानव-व्यवहार के लिए उपयोगितावादी धारणा के महान् मूल्य को समझा। प्रीस्टले के ग्रन्थ 'Essay on Government' मे 'अधिकतम सख्या का अधिकतम सुख' वाक्यांश पढकर उसका हृदय भाव-विभोर हो उठा। प्रो सोरले (Sorley) ने इस विचार से असहमति प्रकट की है कि बेन्थम ने यह वाक्यांश प्रीस्टले से लिया था पर यदि इस विवाद को छोड दिया जाए तो भी इसमे कोई सशय नही कि बेन्थम ने 'उपयोगिता' एव 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' की पूर्व-स्थित धारणा को विकसित किया और उसके आधार पर उपयोगितावादी राजदर्शन का विशाल वट-वृक्ष खडा कर दिया।

बेन्थम स्वय अपने लेखो के प्रति बेपरवाह था, किन्तु उसके योग्य सहकारियो और शिष्यो ने उसकी शिक्षाओ का पूर्ण अध्ययन और प्रचार किया। उनमे प्रमुखतम शिष्य जेम्स मिल (James Mill) था। प्रसिद्ध वकील सर सेमुअल रोमिले ने भी बेन्थम की सेवा की। महान् अर्थशास्त्री रिकार्डो भी उसका अनुयायी था। रिकार्डो के बारे मे बेन्थम ने लिखा है, "मै मिल का आध्यात्मिक पिता था और मिल रिकार्डो का आध्यात्मिक पिता था, इस प्रकार रिकार्डो मेरा आध्यात्मिक पौत्र था।" बेन्थम के उत्साही शिष्यो मे स्विस नागरिक ड्युमोण्ट (Dumont) का नाम भी उल्लेखनीय है जिसने बेन्थम की पुस्तको का अनुवाद फ्रांसीसी भाषा मे किया, उन्हे सक्षिप्त रूप दिया और उनमे रह जाने वाली आवश्यक बातो की पूर्ति की। ड्युमोण्ट ने बेन्थम के यश को सम्पूर्ण यूरोप मे फैलाया।

बेन्थम 18वी शताब्दी के अपने जीवनकाल मे उपयोगितावादी विचारधारा पर आधारित अपने नवीन दर्शन के प्रकाश मे प्रचलित विचारो से जूझता रहा और रूढिवादी बना रहा, किन्तु 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे वह नवीनतावादी बन गया। उसकी न्यायिक सुधार-योजनाओ और आदर्श कारागार की स्थापना के विचारो का विरोध किया गया जिससे उसके हृदय को बड़ी ठेस पहुँची और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि ब्रिटेन का शासक-वर्ग शासितो के हितो का ध्यान न रखकर स्वहितो

का ध्यान रखता है। बेन्थम और जेम्स मिल के सहयोग से 'दार्शनिक नवीनतावादी' नामक एक नवीन सगठन का उदय हुआ जिसके माध्यम से बेन्थम मे उन सुधारो को, जिनका वह प्रचार कर रहा था, क्रियान्वित रूप देने का प्रयत्न किया। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे रूढिवादी बेन्थम जनतन्त्रवादी बन गया और देश के राजनीतिक जीवन मे अधिकाधिक भाग लेने लगा। 6 जून, 1832 मे जब इस महान् दार्शनिक विचारक की मृत्यु हुई तो डॉयल (Doyle) के शब्दो मे, "इसके शिष्य-समूह ने एक पितामह और एक आध्यात्मिक नेता के रूप में उसका सम्मान किया। उसकी एक देवता के रूप मे प्रतिष्ठा हुई।"

बेन्थम की रचनाएँ (Works of Bentham)

बेन्थम एक महान् लेखक था, जिसने अपनी मृत्यु से पूर्व तक लेखन कार्य जारी रखा। उसने सबसे पहले सामयिक पत्र-पत्रिकाओ (यथा 'लन्दन रिव्यू', 'वेस्ट मिनस्टर रिव्यू' आदि) मे निबन्ध लिखे जिनमे उसका अभ्यास बढा और उसे ख्याति प्राप्त हुई। 1776 ई. से 1824 ई. तक उसकी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हो गईं। उसके मूल ग्रन्थो के प्रसार के साथ ही उनका विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद भी हुआ और बहुत-सी प्रकाशनीय सामग्री उसकी मृत्यु के बाद प्राप्त हुई। लन्दन के यूनिवर्सिटी कॉलेज मे बहुत-सी मजूषाएँ उसकी पाण्डुलिपियो से भरी हुई सुरक्षित हैं, जिनमें से अनेक अभी तक प्रकाशित नही हो पाई हैं। ब्रिटिश सग्रहालय मे भी उसके अप्रकाशित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। उसके ग्रन्थ विधि, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, धर्म, बैंक-प्रशासन, जनगणना, समाजसेवा, आन्तरिक शासन आदि विविध विषयो पर हैं। उसके प्रमुख ग्रन्थो मे इनकी गणना की जाती है—

(1) Fragments on Government, 1776, (2) A Defence of Usury, 1787, (3) An Introduction to the Priniciples of Morals and Legislation, 1789, (4) Discources on Civil and Penal Legislation. 1802, (5) A Theory of Punishments and Rewards, 1801, (6) A Treatise on Judicial Evidence, 1813. (7) Papers Upon Codification of Public Instruction, 1817, (8) The Book of Fallacies, 1824, (9) Rationale of Evidence, 1827 (10) Constitutional Code, 1830, (11) Essay on Political Tactics, 1791, (12) Catechism of Parliamentary Reforms, 1809 (13) Radicalism not Dangerous, 1819, (15) A Table of Springs of Action, (15) Manual of Political Economy, (16) Principles of International Law

इनमे 'An Introduction to the Principles of Moralrs and Legislation' बेन्थम की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। बेन्थम ने अपनी कृतियो मे कानून, सम्प्रभुता, न्यायिक प्रक्रिया, दण्ड, अधिकार, संसदीय सरकार आदि पर उपयोगितावाद पर आधारित विभिन्न रोचक सुझाव प्रस्तुत किए। वेपर के अनुसार 'बेन्थम की कृतियाँ महत्त्वपूर्ण, सरल तथा मनोरजक हैं। उनकी लेखनी मे लालित्य और प्रवाह है। आवश्यकतानुसार विस्तारप्रियता तथा व्याख्या के आधिक्य ने उसकी अन्तिम रचनाओ को नगण्य तथा मूल्यहीन बना दिया है। वैज्ञानिक औचित्य की दृष्टि से उसने उसके विकास को आवश्यक समझा जिसे वह 'नवीन शब्द' (New Lingo) की संज्ञा देता है। उसके आलोचको ने इसका 'महान् कला की एक अभिनव, विचित्र शाखा के पुनरुत्थान' के रूप मे उल्लेख किया है। उसकी रचनाओं मे क्लिष्ट, अशिष्ट तथा भौंडे शब्दो की भरमार है। भाषा के सम्बन्ध मे उसके आलोचको द्वारा की गई आलोचनाएँ गलत नही हैं।"[1]

बेन्थम का उपयोगितावाद एवं सुखवादी मापक-यन्त्र
(Bentham's Utilitarianism and Hedonistic Calculus)

बेन्थम के उपयोगितावाद की नीव सुख-दुःख की मात्रा पर आधारित है। जिस कार्य से मानव-सुख में वृद्धि होती है वह उपयोगी और उचित है; जिस कार्य से मानव को दुःख प्राप्त होता है

1 वेपर : वही, पृष्ठ 112.

वह अनुपयोगी और अनुचित है। मानव के सभी कार्यों की कसौटी उपयोगिता है। वह व्यक्ति के सुख मे वृद्धि या कमी, कार्य के औचित्य-अनौचित्य, आनन्ददायक या आनन्दरहित व्यक्तियो की स्थिति आदि का निर्णय करने का प्रभावशाली सिद्धान्त है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से ही नही अपितु प्रशासनिक कार्यों से भी है। मनुष्य के कार्य सुख-दुख पर आश्रित है और यही सुख-दुखवादी उपयोगिता है। सारे भौतिक कार्य उपयोगिता से ही निर्धारित होते हैं। उपयोगितावादी सिद्धान्त को समझाते हुए बेन्थम का कथन है कि "उपयोगितावादी सिद्धान्त से हमारा आशय उस सिद्धान्त से है जिससे सम्बन्धित व्यक्ति की प्रसन्नता बढती या घटती है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को उचित या अनुचित ठहराता है अथवा दूसरे शब्दो मे जिससे सुख मिलता है या सुख नष्ट होता है। मैं यह बात प्रत्येक कार्य के लिए कहता हूँ और इसीलिए मेरी यह बात केवल किसी व्यक्ति पर ही नही, वरन् प्रत्येक सरकारी कार्य के सम्बन्ध मे लागू होती है।"[1] बेन्थम के अनुसार, "सुख और दुख ही मानव-जीवन को गति प्रदान करते हैं। प्रकृति ने मानव-समाज को दो सर्वाधिक-सम्पन्न स्वामियों—सुख और दुःख के अधीन रख दिया है। इन स्वामियों का यही कर्त्तव्य है कि वे हमें निर्देश दें कि हमे क्या करना चाहिए तथा निर्णय करें कि हम क्या कर सकते हैं?"[2]

प्रकट है कि बेन्थम के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एकमात्र मापदण्ड यह है कि वह कहाँ तक सुख में वृद्धि करती है और दुख को कम करती है। बेन्थम और उसके अनुयायियों ने उपयोगितावाद की एकदम सुखवादी (Hedonistic) व्याख्या की है। बेन्थम के अनुसार, "उपयोगिता का सिद्धान्त इस बात मे है कि हम अपने तर्क की प्रक्रिया मे सुख और दुख के तुलनात्मक अनुमान को अपना आरम्भ बिन्दु मानकर चलते हैं। जब मैं अपने किसी कार्य (व्यक्तिगत या सार्वजनिक) की अच्छाई अथवा बुराई का निर्णय इस बात से करता हूँ कि उसकी प्रवृत्ति सुख-वृद्धि की है या दुख की, जब मैं न्यायपूर्ण, अन्यायपूर्ण, नैतिक, अनैतिक एव अच्छे अथवा बुरे शब्दो को प्रयुक्त करता हूँ जिससे किसी निश्चित सुख के तुलनात्मक माप का ही बोध होता है और जिनका कोई दूसरा अर्थ नही होता तो मैं उपयोगितावादी सिद्धान्त का ही अनुसरण करता हूँ। इस सिद्धान्त का अनुयायी किसी कार्य-विशेष को केवल इसलिए अच्छा समझता है कि इसके फलस्वरूप सुख की वृद्धि होती है और इसी भाँति वह किसी कार्य-विशेष को बुरा भी इसलिए समझता है कि उसका परिणाम दुख होता है।" स्पष्ट है कि उपयोगितावादियो के विचारो मे सुख स्वय ही जीवन का साध्य है, शेष सब भौतिक वस्तुएँ यहाँ तक कि सदाचार भी सुख-प्राप्ति के साधन-मात्र है।

बेन्थम के अनुसार सुख चार प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है—(1) धर्म द्वारा, (2) राजनीति द्वारा (3) नीति द्वारा, एव (4) भौतिक साधनो द्वारा।[3] यदि किसी मनुष्य को धर्म मे विश्वास करने मे सुख मिलता है तो उसे 'धर्म प्रदत्त' सुख कहा जाएगा; यदि किसी व्यक्ति को राजनीति मे सुख की उपलब्धि होती है तो उसे 'राजनीति-प्रदत्त' सुख की सज्ञा दी जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी को नैतिक कार्य करने से सुख की अनुभूति होती है तो उसे 'नैतिक सुख' कहा जाएगा एव यदि आँधी, जल, वर्षा आदि से कोई लाभ होता हो तो वह 'प्राकृतिक सुख' कहलाएगा। बेन्थम की मान्यता है कि अपने-आप मे कोई चीज भली-बुरी नही होती, उपयोगिता के आधार पर वह भली-बुरी हो जाती है। मनुष्य के कार्य करने का प्रयोजन सुख की प्राप्ति है। मनुष्य सदैव सुख से प्रेरित होता है और दुख से बचना चाहता है। बेन्थम की यह भी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख की गुणात्मकता मे कोई अन्तर नही होता, सुख-दुख के भेद केवल मात्रात्मक हैं। उनका कथन है कि "सुख की मात्रा बराबर होने पर बच्चो का खेल और काव्य का अध्ययन एक ही कोटि के है।"[4]

1–2 *Bentham* Principles of Morals and Legislation, p 2
3 *Jones* Masters of Political Thought, Vol 2, p 372
4 "Quantity of Pleasure being equal pushpin is as good as poetry"

तर्क प्रधान अथवा वैज्ञानिक पद्धति अपनाने के कारण बेन्थम की धारणा है कि जिस प्रकार एक भौतिकशास्त्री भौतिक व्यापार की सुनिश्चित नाप-तोल करता है, उसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक घटना की भी नाप-तोल की जानी चाहिए। बेन्थम की हार्दिक इच्छा थी कि सुख-प्राप्ति के लिए मानवीय कार्यों को अनुशासित करने वाले नियमों की खोज की जाए और उन्हें एक गणितीय सूत्र की तरह सुनिश्चित रूप प्रदान किया जाए। बेन्थम ने इसी दिशा में प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप उपयोगितावादी सिद्धान्त ने 'नैतिक एवं राजनीतिक घटना-व्यापार के मात्रा-प्रधान निर्धारण को जन्म दिया।'[1] बेन्थम की यह धारणा सभी उपयोगितावादियों के विश्वास का केन्द्र बन गई कि मानव-समाज के सम्पूर्ण कार्यकलापों का संचालन पूर्णतः तार्किक नाप-तोल द्वारा होना चाहिए। इसी धारणा ने बेन्थम अपना सुखवादी मापक-यन्त्र (Hedonistic Calculus) विकसित करने की दिशा में प्रेरित हुआ।

सुख-दुःख का वर्गीकरण और उनका मापदण्ड

हीडोनिस्ट आचारशास्त्रियों की भाँति बेन्थम का भी यह मत था कि सुख और दुःख को नापा जा सकता है। एक की कुछ निश्चित मात्रा दूसरे की उसी तरह की मात्रा का निराकरण कर सकती है। सुख और दुःख को जोड़ा भी जा सकता है। इस तरह से हम सुखों की गणना कर सकते हैं जिससे व्यक्ति के अधिकतम सुख की भी अभिव्यक्ति होगी और मानव समुदाय के अधिकतम सुख की भी। इस गणना में बेन्थम ने सुख अथवा दुःख के चार रूप माने हैं—(i) बहुलता, (ii) स्थिरता, (iii) निश्चितता जिससे वह किसी कार्य को करेगा, तथा (iv) समय की दूरी जिसके अनुसार वह घटित होगा। चूँकि एक का सुख या दुःख दूसरे को प्रभावित करेगा, अतः इसकी ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। सामाजिक गणना में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सुख अथवा दुःख का कितने व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है। बेन्थम प्रायः इस तरह की बात किया करता था मानो उसको यह विश्वास हो कि मनुष्य सदैव ही सुख और दुःख की मानसिक शक्तियों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। लेकिन कभी-कभी वह यह भी कहता था कि सुखों को जोड़ने की बात और विशेषकर विभिन्न व्यक्तियों के सुखों को जोड़ने की बात काल्पनिक है तथापि यह निश्चित है कि वह इस कल्पना को "एक प्रकार की आवश्यकता समझता था जिसके बिना समस्त राजनीतिक चिन्तन जड़ हो जाता है।" उसमें मनोवैज्ञानिक निरीक्षण की न तो कोई विशेष योग्यता ही थी और न विशेष रुचि ही। वस्तुतः, वह "आचार-विज्ञानों का न्यूटन बनना चाहता था। वह अपनी मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं को उन कल्पनाओं से अधिक उच्च नहीं मानता था जो यन्त्र-विज्ञान में उपयोगी प्रमाणित हुई थीं।"[2]

बेन्थम ने सुख और दुःख को दो भागों में विभाजित किया है—

(1) सामान्य, एवं (2) जटिल।

बेन्थम ने सामान्य सुख के निम्नलिखित 14 भेद बताए हैं—(1) भार से मुक्ति सम्बन्धी सुख, (2) संगति सम्बन्धी सुख, (3) आशाजन्य सुख, (4) काल्पनिक सुख, (5) स्मरण सुख, (6) निर्दयता सम्बन्धी सुख, (7) दया सम्बन्धी सुख, (8) धर्म से उत्पन्न सुख, (9) शक्ति सुख, (10) पद का सुख, (11) मित्रता का सुख, (12) कुशलता का सुख, (13) सम्पत्ति-जन्य सुख, एवं (14) ऐन्द्रिक सुख।

बेन्थम के अनुसार सामान्य दुःख के निम्नलिखित 12 भेद हैं—(1) सम्पर्क, (2) आशा, (3) कल्पना, (4) स्मरण, (5) निर्दयता, (6) दया, (7) धार्मिकता, (8) कुयश, (9) शत्रुता, (10) परेशानी, (11) दुर्भावना एवं (12) दरिद्रता।

बेन्थम के अनुसार परिणाम अथवा मात्रा को ध्यान में रखते हुए सुख या दुःख उसी अनुपात में कम या अधिक हो सकता है। सुख-दुःख की मात्रा निर्धारित करने के लिए बेन्थम ने एक सुखवादी

1 वेपर : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 637.

मापदण्ड प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार मापतोल करके सरकार यह जान सकती है कि उसके कानून द्वारा लोक-कल्याण की वृद्धि होगी अथवा नहीं। सुख-दुःख का मापदण्ड स्थापित करने के लिए उसने निम्नलिखित सात बातों को आधार स्वीकार किया है—

(1) तीव्रता (Intensity), (2) स्थायित्व (Duration), (3) निश्चितता (Certainty), (4) समय की निकटता (Propinquity) अथवा दूरी (Remoteness), (5) जनन-शक्ति (Fecundity), (6) विशुद्धता (Purity), तथा (7) विस्तार (Extent)।

सुख-दुःख के इन मापदण्डों के आधारों में जनन-शक्ति (Fecundity) और विशुद्धता (Purity) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। किसी सुख की जनन-शक्ति का आशय है उसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख भी हों। बौद्धिक सुखों में यह गुण एक बड़ी सीमा तक होता है, ऐन्द्रिक सुखों में नहीं। किसी सुख की विशुद्धता का अभिप्राय है उसके पीछे उसकी विपरीत भावनाएँ उत्पन्न न हों। बौद्धिक सुख इसी प्रकार का विशुद्ध सुख है क्योंकि उससे दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती। इसके विपरीत ऐन्द्रिक सुख अशुद्ध होते हैं क्योंकि उनका अधिक भोग करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। उनका अधिक रसास्वादन हमारी जनन-शक्ति को दुर्बल बनाता है।

बेन्थम के अनुसार, प्रथम 6 बातें तो व्यक्तिगत सुख-दुःख की मापदण्ड हैं, किन्तु समूह अथवा अनेक व्यक्तियों के सुख का जब परिणाम ज्ञात करना होता है तो उसमें हम 'विस्तार' (Extent) पर ध्यान देते हैं। व्यक्ति को कौन-सा कार्य करना उपयोगी होगा—इसके लिए उपर्युक्त सातों आधारों पर गणना करके, अधिक सुख वाले आधार से कार्य करना होगा। बेन्थम के अनुसार उपर्युक्त कारकों का प्रयोग करके हम न केवल सुख-दुःख माप सकते हैं, बल्कि इनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक विश्वासों तथा मूल्यों का निर्णय भी कर सकते हैं। सुख-दुःख की गणना करने के बेन्थम के इस सिद्धान्त को राजदर्शन के इतिहास में 'Hedonistic Calculus' कहते हैं। बेन्थम की मान्यता है कि प्रत्येक का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना है, अतः उसे सदैव ऐसा आचरण करना चाहिए जिसमें निश्चित, विशुद्ध, लाभदायक, स्थिर और तीव्र सुख उत्पन्न हो।

बेन्थम ने सुख-दुःख का व्यापक अन्तर बताने के लिए 32 लक्षणों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। इनमें प्रमुख शारीरिक रचना, संवेदनशीलता, चरित्र-निर्माण, शिक्षा, जाति, लिंग आदि हैं जिनका सुख की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है।

अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए बेन्थम ने आगे कहा है कि सुख ऐसे होते हैं जिनमें तीव्रता होती है किन्तु स्थायित्व नहीं होता अतः उनसे कुछ दुःख उत्पन्न होता है इसके विपरीत कुछ सुख विशुद्ध होते हैं और उनका स्थायित्व भी अधिक होता है, उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती। इन विशुद्ध सुखों का परिणाम प्रायः दुःख नहीं होता, अतः हमें सुख को विशेष मूल्यवान् बनाने की ओर ही सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। सुख-दुःख की गणना करके किसी एक निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिए बेन्थम ने जो प्रक्रिया बताई है वह इस प्रकार है—"समस्त सुखों के समस्त मूल्य को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्य को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटा कर सुख शेष रह जाए तो उसका अभिप्राय यह होगा कि अमुक कार्य ठीक है (अथवा सम्बन्धित कार्य की प्रवृत्ति सुख की ओर है) और यदि दुःख शेष रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम दुःख होता है।"[1] बेन्थम के अनुसार, यदि किसी कार्य का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता हो तो यह उचित है कि हम उपर्युक्त प्रक्रिया को उनमें से प्रत्येक पर भी लागू करें और उनके हितों को भी ध्यान में रखें। यही 'सुख का विस्तार' (Extent of Happiness) है।

1 *Bentham* Principles of Morals and Legislation, p. 31.

जब प्रत्येक सम्बन्धित और प्रभावित व्यक्ति पर इस प्रक्रिया का प्रयोग कर लिया जाए तो दु:खो के योग को सुखो में से घटा लेने पर जो सुख शेष रहेगा, वह इस बात का प्रमाण होगा कि अमुक कार्य शुभ और कल्याणकारी है। इसके विपरीत यदि सुख की अपेक्षा दु:ख अधिक निकले तो इसका स्वाभाविक अर्थ होगा कि अमुक कार्य या घटना अशुभ और अवांछनीय है। विधायक (Legislator) को कानून बनाते समय चाहिए कि वह सुखो के सम्पूर्ण महत्त्व को एक ओर तथा दु:खो के महत्त्व को दूसरी ओर रखकर उनकी परस्पर तुलना करे। जो शेष रहे, यदि वह सुख के पक्ष मे है तो यह मानना चाहिए कि कानून प्रत्येक नागरिक के लिए सुखदायक है। इसके विपरीत शेष दु:ख के पक्ष मे हो तो यह समझ लेना चाहिए कि कानून जन-साधारण के लिए कष्टकारक है। बेन्थम की यह भी मान्यता थी कि "यह आशा नही की जानी चाहिए कि इस पद्धति को सब प्रकार के सदाचार, सांविधानिक अथवा न्याय-सम्बन्धी आधारो से अधिक महत्त्व दिया जाए। यह सदा ध्यान मे रखना होगा कि इस पद्धति को ऐसे अवसरो पर जितना अधिक अपनाया जाएगा उतना ही अधिक इसके आधार पर किया गया निर्णय सही होगा।"

बेन्थम ने व्यक्तिगत सुख को अधिक महत्त्व देने के बाद सामाजिक सुख को भी महत्त्व दिया। इस प्रकार उसने उपयोगितावाद को व्यक्ति से ऊपर उठाकर विकसित किया क्योकि व्यक्ति ही सब कुछ नही है, उसे सर्वसाधारण की भलाई का भी ध्यान रखना चाहिए। एक व्यक्ति के सुख की अपेक्षा अधिक लोगो का सुख अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य 'अधिक व्यक्तियो का अधिकतम सुख' (Greatest Happiness of the Greatest Number) होना आवश्यक है। उपयोगिता का सिद्धान्त ही सब कार्यों के औचित्य का मापदण्ड है। राज्य के वही कार्य उपयोगी हैं जो अधिकाधिक व्यक्तियो को सुख पहुँचाते हैं।

बेन्थम का राजदर्शन

(Bentham's Political Philosophy)

बेन्थम कोई राज-दार्शनिक नही था और न ही उसका ध्येय किसी राजदर्शन को प्रतिपादित करना था इसलिए एक महान् दार्शनिक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक 'राज्य-सुधारक' कहना अधिक उपयुक्त है, जिसने अपने सुधारवादी कार्यक्रम की पृष्ठभूमि के लिए राज्य सम्बन्धी कतिपय विचारो का प्रतिपादन किया। उसके इन राज्य-विषयक विचारो को ही हम उसके राजदर्शन के मूल तत्त्व की संज्ञा दे सकते हैं। राज्य के सम्बन्ध मे विचार प्रकट करते हुए बेन्थम ने राज्य के स्वरूप, सम्प्रभुता, विधि एवं दण्ड आदि विषयों को स्पर्श किया।

बेन्थम के राजदर्शन के दो भाग—बेन्थम के सम्पूर्ण राजदर्शन को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—निषेधात्मक एवं विधेयात्मक। निषेधात्मक भाग का सम्बन्ध उन विचारो से है जिनके द्वारा उसने अपनी पूर्ववर्ती राजनीतिक धारणाओं का खण्डन किया है। इस पक्ष मे हम उसे एक क्रान्तिकारी विचारक के रूप में देखते हैं और इसीलिए उसे क्रान्तिकारी 'Radical' तक कह दिया जाता है। विधेयात्मक भाग का सम्बन्ध उन विचारो से है जो उसने कतिपय राज्य सम्बन्धी विषयो पर प्रकट किए है। इस भाग में विधि, सम्प्रभुता आदि से सम्बन्धित विचार सम्मिलित हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन

आदर्शवादी और काल्पनिक सिद्धान्त में बेन्थम कोई रुचि नहीं थी। उसने जीवन की व्यावहारिक समस्याओ को अधिक महत्त्व दिया और अपने समकालीन समाज की समस्याओ का हल खोजने की चेष्टा की। उसने ब्रिटिश कानून और न्यायिक प्रक्रिया की अनेक अस्पष्टताओ और अनुपयोगी औपचारिकताओं को खोज निकाला और उन्हे दूर करने की माँग की पर अपनी उचित माँगो का उसे यही प्रत्युत्तर मिला कि ब्रिटिश कॉमन लॉ (British Common Law) अति प्राचीन

श्रौर शताब्दियो के विकास का फल है तथा विख्यात न्यायविदो ने उसे विकसित करने मे योग दिया है, अतः ऐसे कॉमन लॉ के के बारे मे आपत्ति उठाना हास्यास्पद है। बेन्थम की आत्मा विद्रोह कर उठी क्योकि उसकी मान्यता थी कि किसी सस्थान की प्राचीनता तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियो की ख्याति उस सस्थान की श्रेष्ठता का न्याय-सगत एव निश्चित प्रमाण नही हो सकती। उसने घोषणा की कि विधियाँ समाज की वर्तमान आवश्यकताओ के अनुरूप होनी चाहिए। प्राचीन विधियो के मूल्यांकन और नवीन विधियो के निर्माण की उचित कसौटी सामाजिक हित है।

अपनी इस व्यावहारिक बुद्धि एव धारणा से प्रेरित होकर बेन्थम ने लॉक द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारो (Natural Rights) के सिद्धान्तो को पूर्णत अमान्य ठहरा दिया। उसने प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचारधारा को 'मूर्खतापूर्ण', 'कल्पित तथा आधारहीन अधिकार' एव 'आध्यात्मिक तथा विभ्रम और प्रमाद का एक गड़बड-घोटाला' बताया। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करते हुए उस दशा को 'शान्ति', 'सहयोग' और 'स्थिरतापूर्ण' माना था। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे कुछ प्राकृतिक नियम (Natural Laws) तथा प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) प्रचलित थे। ये व्यक्ति की प्रारम्भिक दशा के मौलिक अधिकार थे। लॉक की मान्यता थी कि प्राकृतिक अधिकार राज्येतर है और उनकी रक्षा करने के लिए ही मनुष्य ने राज्य को जन्म दिया है। राज्य द्वारा प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्तो के विरुद्ध आचरण करने पर व्यक्ति को यह भी अधिकार है कि वह राज्य के प्रति विद्रोह कर दे। पर बेन्थम ने लॉक के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि इससे व्यक्तियो के सुख मे कोई वृद्धि नही होती। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तो का खण्डन करने मे बेन्थम ने 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' वाले उपयोगितावादी सूत्र का आश्रय लिया। तदनुसार केवल वही सिद्धान्त मान्य और उचित है जो समाज के अधिकाधिक व्यक्तियो को अधिकाधिक सुख प्रदान करे। 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' मे कोई रचनात्मक योग न दे सकने वाला सिद्धान्त व्यर्थ और त्याज्य है। बेन्थम ने कहा कि अधिकारो का निर्माण तो सामाजिक परिस्थितियो से होता है। "अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं जिन्हे राज्य के कानून द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। राज्य ही सम्पूर्ण अधिकारो का स्रोत है और नागरिक राज्य के-विरुद्ध अपने किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अधिकारो का दावा नही कर सकते। कोई भी अधिकार राज्य के सीमा-क्षेत्र के बाहर नही है। सभी अधिकार राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है। बेन्थम का कहना था कि वही अधिकार श्रेष्ठ हैं जो समाज के अधिकाधिक व्यक्तियो के लिए उपयुक्त हो।"[1]

सैद्धान्तिक रूप से प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त बहुमत की निरकुशता को मर्यादित करने वाला प्रतीत होता है, किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही है। फ्रांस मे मानव-अधिकारो की घोषणा उन हजारो व्यक्तियो मे से किसी की भी प्राण-रक्षा नही कर सकी जिन्हे फ्राँस के क्रान्तिकारी न्यायालयो के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। इसी प्रकार अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा ने भी एक हब्शी की दासता से मुक्ति प्रदान नही की। आदर्शवादी काल्पनिक विचारो से चिढे हुए बेन्थम ने 'समानाधिकार' के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए लिखा है, "पूर्ण समानता नितान्त असम्भव है और यह सब प्रकार के शासन-तन्त्र की विरोधी है। क्या वास्तव मे सब मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं? क्या वास्तव मे सब मनुष्य स्वतन्त्र रहते हैं? वास्तव मे, सब मनुष्य, बिना एक भी अपवाद के दासता की स्थिति मे जन्म लेते है।"[2]

अनुबन्धवादी धारणा का खण्डन

बेन्थम ने राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्धवादी और सावयव सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। समझौता-सिद्धान्त द्वारा आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य का कोई निश्चित प्रतिपादन नही होता। व्यक्ति राजाज्ञा

1 *Bentham* op cit, p 1
2 *Jones*. Masters of Political Thought, Vol. II.

का पालन इसलिए नहीं करता है कि उसके पूर्वजों ने इसके लिए कोई समझौता किया था। व्यक्ति इसके लिए किसी ऐतिहासिक समझौते द्वारा बाध्य नहीं है। वह राज्य की आज्ञा इसलिए मानता है क्योंकि ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है। राजनीतिक समाज, राज्य, अधिकार, कर्त्तव्य आदि किसी समझौते या सहमति से उत्पन्न नहीं हुए हैं। उनके उत्पन्न होने, चालू रहने और सफल होने में वर्तमान रुचि तथा उपयोगिता की भावना प्रबल रही हैं। सामाजिक उपयोगिता के विचार से ही राज्य का जन्म हुआ। मनुष्य राज्य और उसकी आज्ञा को इसलिए शिरोधार्य करता है जिससे उसके द्वारा उसकी सुख-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो इसीलिए वह विधियों का पालन करता है। इस प्रकार राजाज्ञा-पालन की वह एक आदत डाल लेता है।[1] जिस समूह मे इस प्रकार की आदतें बन जाती हैं, अथवा बनती जाती हैं, वह राजनीतिक समाज कहा जाने लगता है अतः आदत ही समाज और राज्य का आधार है, समझौता नहीं।

बेन्थम की राज्य-सम्बन्धी धारणा का उपयोगितावादी आधार

बेन्थम के राजदर्शन का निर्माण उपयोगितावादी आधार पर हुआ है। वह राज्य को मनुष्यो का ऐसा समूह समझता है, जिसे मनुष्य ने अपनी सुख-वृद्धि के लिए सगठित किया है। वह राज्य के उद्देश्य की व्याख्या सर्वप्रथम सकुचित रूप मे करता है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य है 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' (The Greatest Happiness of the Greatest Number)। व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास करना राज्य का कोई कर्त्तव्य नहीं है। इस प्रकार बेन्थम प्लेटो एव अरस्तू की इस धारणा का विरोधी है कि राज्य का उद्देश्य एक अच्छे अथवा नैतिक जीवन का विकास करना है। साथ ही, वह रूसो के इस विचार से भी सहमत नहीं है कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति को 'अधिकतम वास्तविक स्वतन्त्रता' प्रदान करना है।

बेन्थम की राज्य सम्बन्धी धारणा मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि-"अधिकतम सुख राज्य के सदस्यो के व्यक्तिगत सुखो का एक योग मात्र है जिसमे समस्त समाज का सामूहिक हित शामिल नहीं है।" इस प्रकार बेन्थम के लिए व्यक्ति ही अन्तिम सत्य है। समाज उसकी दृष्टि मे एक ऐसा काल्पनिक निकाय है जिसकी उसके घटक नागरिको के अस्तित्व के अतिरिक्त अपनी कोई निजी सत्ता नहीं है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है व्यक्ति का राज्य के लिए नहीं। यद्यपि बेन्थम का मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई मे विश्वास नहीं है, तथापि वह पेन, रूसो अथवा लॉक आदि के स्तर के व्यक्तिवाद का समर्थक है। उसके शब्दो मे, "समाज एक कृत्रिम सगठन है, जो इसके सदस्य माने जाने वाले व्यक्तियो से बना है। व्यक्ति के कल्याण की बात समझे बिना समाज-कल्याण की चर्चा करना व्यर्थ है। किसी भी वस्तु को हितकारी अथवा किसी व्यक्ति के लिए लाभदायक तभी कहा जाता है जब वह उसके सुखो के योगफल मे वृद्धि करे अथवा दूसरे शब्दो मे उसके दु खो के योगफल मे कमी करने मे सहायक हो।"[2]

बेन्थम के अनुसार राजाज्ञा के पालन का वास्तविक कारण यह नहीं है कि "हमारे पूर्वजो मे आज्ञा-पालन करने का कोई समझौता हुआ था, और न ही उसका कारण हमारी अनुमति है।" उसके अनुसार राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिए करते हैं कि ऐसा करना उनके लिए उपयोगी है और आज्ञा-पालन के सम्भावित दोष अवज्ञा के सम्भावित दोषो की अपेक्षा कहीं कम हैं।

बेन्थम के मत मे कोई भी सरकार तभी तक अस्तित्व मे रह सकती है जब तक प्रजा उसका साथ देती है। राज्य नागरिकों को सामान्य हित मे निजी हित बलिदान करने के लिए पुरस्कार एव दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रेरित कर सकता है। यदि सरकार अपने प्रमुख कर्त्तव्य अर्थात् समाज के सामान्य

1 *Dunning* Political Theories from Rousseau to Spencer, p. 218.
2 *Bentham :* op. cit., p. 1.

प्रस्तुत किया है—

"कानून का मुख्य उद्देश्य सुरक्षा है और सुरक्षा के सिद्धान्त का आशय उन सभी आशाओं को कायम रखना है जिन्हें स्वयं कानून उत्पन्न करता है। सुरक्षा सामाजिक जीवन और सुखी जीवन की एक आवश्यकता है जबकि समता (Equality) एक प्रकार की विलासिता है जिसे कानून केवल उसी सीमा तक प्राप्त करा सकता है जहां तक उसका सुरक्षा से कोई विरोध न हो। जहाँ तक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है यह कानून का कोई मुख्य उद्देश्य नहीं है, बल्कि यह तो सुरक्षा की एक ऐसी शाखा मात्र है जिसमें कानून काट-छांट किए बिना नहीं रह सकता।"[3]

बेन्थम ने विधि-निर्माण के लिए अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को प्रयोग करने की राय दी है। प्रत्येक विधि को सर्वाधिक लोगों के सर्वाधिक कल्याण के उद्देश्य से ही बनाना चाहिए। सेबाइन (Sabine) के अनुसार, "बेन्थम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धान्त एक कुशल विधायक

1, "Law is the expression of the sovereign will in the form of a command of a political society which gets the natural obedience of its members" —*Bentham*

2 "Happiness is the only ultimate criterion and liberty must submit itself to the criterion. The end of the state is the maximum happiness not the maximum liberty" —*Wayper*: op cit., p. 96.

3 *Sorley*: History of Political Philosophy, p. 277.

के हाथो मे एक प्रकार का सार्वभौम साधन प्रदान करता है। इसके द्वारा वह 'विवेक तथा विधि के हाथो सुख के वस्त्र' बनवा सकता है।"[1] बेन्थम ने राजसत्ता द्वारा निर्मित प्रत्येक विधि को उसकी उपयोगिता की कसौटी माना है। विधियो की उपयोगिता तीन प्रकार से सिद्ध होती है—(1) वह राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नही, (2) उससे लोगो की आवश्यकता की वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होने लगती हैं या नही, एव (3) प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के साथ समानता का अनुभव करता है या नही। यदि विधियाँ इन कसौटियो पर उपयोगी सिद्ध होती हैं, तो विधि का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। विधियाँ अपने स्थायित्व और अपनी समाजव्यापी मान्यता से नागरिको को सुख देती हैं। किसी विधि की उपयोगिता की जाँच करने के लिए यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि (क) जिस बुराई को दूर करने के लिए विधि-निर्माण होता है वह वास्तव में बुराई है, और (ख) यदि एक बुराई को रोकने के लिए दूसरा साधन अपनाना ही पडे, तो साधन की बुराई अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए। बेन्थम का विचार था कि प्रत्येक विधि व्यक्तियो को, जिन्हे वह प्रभावित करती है, कुछ न कुछ असुविधा तो पहुँचाती ही है—उनकी स्वच्छन्दता मे कमी होती है जिससे उन्हे दुःख होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से प्रत्येक विधि एक बुराई है।[2] लेकिन चूँकि इस असुविधा मे भी लोगो की भलाई निहित है और एक बड़ी बुराई इससे दूर होती है, अतः विधि-निर्माण उपयोगी निर्माण है। राज्य का उद्देश्य वही होना चाहिए जो व्यक्ति के जीवन का है' अर्थात् उपयोगिता मे वृद्धि।[3]

बेन्थम ने 'यदभाव्यम् या अहस्तक्षेप की नीति' (Laissez Faire) को अपनाकर मुक्त-व्यापार एव स्वच्छन्द प्रतियोगिता आदि का समर्थन किया है। सत्ता का आधार उपयोगिता है, अत लोकतन्त्रात्मक राज्यो मे कानून को सरल होना चाहिए ताकि लोग उसे समझ सके। साथ ही ऐसे कानूनो मे लोगो के अधिकतम सुख का ध्यान रखा जाना चाहिए। बेन्थम ने कानून के दो कार्य बतलाए हैं --स्वहित तथा परहित। कानून का सर्वप्रथम कार्य "सर्वहित की भावना को इस प्रकार अनुशासित करना है जिससे यह अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अधिकतम सुख प्राप्ति मे योग दे सके।" यदि कोई कार्य समाज-हित के विरुद्ध है तो वह दण्डनीय है। अधिकारो और कर्त्तव्यो का निर्धारण करते समय बेन्थम ने यह स्पष्ट कहा है कि विधायक को राज्य के हितो को भी अपने हितो के समान ही समझना चाहिए। उसे विधि-निर्माण मे निम्नलिखित चार बातो पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए—(1) आजीविका (Subsistence), (2) प्रचुरता (Abundance), (3) समानता (Equality) और (4) सुरक्षा (Security)। विधि-कार्य को इनके सन्दर्भ मे ही देखना चाहिए अर्थात् अधिकाधिक लोगो के हित मे इन बातो का ध्यान रखते हुए ही विधि-निर्माण करना चाहिए। बेन्थम 'स्वतन्त्रता' को सुरक्षा मे ही निहित मानता है। इन चार बातो मे से सघर्ष की अवस्था मे यह निर्णय करना विधायक का काम है कि प्रधानता किसे दी जाए। वैसे बेन्थम के अनुसार इस प्रधानता का क्रम सामान्यत: होना चाहिए—आजीविका, सुरक्षा, प्रचुरता, समानता।

बेन्थम ने इगलैण्ड के तत्कालीन कानूनो की आलोचना कर उन्हे नया रूप देने का प्रयास करते हुए कानूनो का वर्गीकरण चार भागो मे किया था—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सांविधानिक कानून, नागरिक कानून और फौजदारी कानून। उसने 'कानून मे सुधार' का आन्दोलन तीव्र कर श्रेष्ठ कानून के अपेक्षित छः लक्षण बतलाए—(1) कानून जनता की आशा-आकांक्षा या विवेक-बुद्धि के विपरीत नहीं होना चाहिए, क्योकि ऐसे कानूनो के प्रचलन से सामाजिक सन्तुलन बिगड कर विद्रोह की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है। (2) कानूनो की जनता को ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए प्रचार, उपक्रम,

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 638.
2 *Jones* : op. cit., p. 377.
3 *Bentham* · Theory of Legislation, p. 28.

[illegible]
एक प्रधान शर्त है, लेकिन उसका विचार है कि यह एक [illegible] अनुदार सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति के वितरण की कानून द्वारा रक्षा हो। उसकी यह दृढ़ नीति थी कि विधि द्वारा इस बात का प्रयास होना चाहिए जिससे सम्पत्ति का समान वितरण हो या कम से कम मनमानी असमानताओं का निर्माण न हो। व्यवहार में उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊ सन्तुलन स्थापित करना चाहिए'।"[1]

ब्रिटिश न्याय-पद्धति की कटु आलोचना करते हुए बेन्थम ने आरोप लगाया था कि 'ब्रिटेन में न्याय बेचा जाता है और वह व्यक्ति जो उसका दाम नहीं चुका पाता न्याय से वंचित रह जाता है।' बेन्थम को यह देखकर बड़ा क्षोभ होता था कि तत्कालीन ब्रिटिश न्याय प्रशासन में न्यायाधीशों से साक्षात्कार का कोई साधन नहीं था। साधन केवल वकील थे जिन्हें बड़ी बड़ी रकमें फीस के रूप में देनी पड़ती थी। जन-साधारण को न्याय बहुत विलम्ब से मिलता था। न्याय व्यय-साध्य था और उसके बारे में लोग सदैव चिन्तित रहते थे। मुकदमों में वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के लिए न्याय-प्राप्ति के मार्ग में प्रायः बाधाएँ खड़ी कर दी जाती थीं।

बेन्थम 'अदालतों की कार्य-विधि' को आसान करना चाहता था और उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाना चाहता था। इसके लिए उसने उन सब प्रतिबन्धों और परिणामों को हटाने का सुझाव दिया जो जन साधारण के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक समझे गए थे। बेन्थम ने 'फ्रेगमेंट ऑन गवर्नमेंट' में सांविधानिक विधि के बारे में जिन सिद्धान्तों की सिफारिश की थी, उसने प्रक्रिया विधि में उन्हीं सिद्धान्तों को लागू किया। उसने यह ठीक ही कहा कि साक्ष्य की ग्राह्यता से सम्बन्धित वैधिक औपचारिकताएँ और कृत्रिम नियम इस विश्वास पर आधारित हैं कि मौखिक विधि निकृष्ट है और

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 640-42.

शासन आतंकपूर्ण है। बेन्थम का तर्क था कि यदि यह विश्वास सही है तो उचित अदालतों को कमजोर करना नहीं बल्कि विधि मे सुधार करना है। उसका कहना था कि विधि मे औपचारिकता, अस्पष्टता और प्राविधिकता होने के कारण खर्चा बढ़ता है, देरी होती है, मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिलता है, बहुत से लोगों को न्याय नहीं मिल पाता और वैधानिक प्रक्रियाओं का परिणाम सदैव अस्थिर तथा अनिश्चित रहता है। बेन्थम इस पद्धति को प्राविधिक पद्धति कहता था और उसका विचार था कि "यह जनता को ठगने के लिए वकीलों का एक प्रकार का षड्यन्त्र है।" उल्लेखनीय है कि बेन्थम ने 'फ्रेगमेट ऑन गवर्नमेंट' मे ही वकीलों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी और अपने सम्पूर्ण जीवनकाल मे वह उनके प्रति इसी प्रकार के विचार प्रकट करता रहा।

बेन्थम की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील बनना चाहिए। वह एक विवाचक के सामने औपचारिक वकालत के स्थान पर अनौपचारिक कार्यवाही का समर्थक था। उसका कहना था कि विवाचक को दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का प्रयास करना चाहिए। मुकदमें में कोई भी साक्ष्य उपस्थित किए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए और असम्बद्धता के निवारण के लिए कठोर नियमों की अपेक्षा न्यायिक विवेक का आश्रय लिया जाना चाहिए। अदालतों के संगठन के बारे मे बेन्थम का विचार था कि न्यायाधीशों और अदालतों के अन्य अधिकारियों को वेतन के स्थान पर फीसें दी जाएँ। बेन्थम को यह भी पसन्द नहीं था कि अदालतों के क्षेत्राधिकार एक-दूसरे का अतिक्रमण करें। बेन्थम जूरी-प्रथा के विरुद्ध था। वह एक ही न्यायाधीश द्वारा किसी मुकदमे का निर्णय किए जाने का समर्थक था। डेविडसन (Davidson) के शब्दों में, "बेन्थम न्यायालयों के सारे पदों पर एक नया उत्तरदायित्व सौंपने का समर्थक था और इस विषय में वह 'ट्रिब्यूनल' की अपेक्षा एक ही न्यायाधीश रखने के पक्ष में था। उसकी मान्यता थी कि किसी मामले पर तीन न्यायाधीशों का निर्णय करना तीनों के ही उत्तरदायित्व मे कमी करना है।"

बेन्थम के हृदय में न्यायाधीशों के प्रति सम्मान के भाव नहीं थे। न्यायवादियों के बारे मे उनका कहना था कि, "ये लोग निष्क्रिय और अशक्त जाति के हैं जो सब अपमानों को सहन कर लेते हैं तथा किसी भी बात पर झुक जाते हैं। इनकी बुद्धि न्याय और अन्याय के भेद को समझने में असमर्थ और उदासीन रहती है। ये लोग बुद्धि-शून्य, अल्पदृष्टि, दुराग्रही और आलसी है। ये झूठे भय से काँप जाने वाले, विवेक एवं सार्वजनिक उपयोगिता की आवाज के प्रति बहरे; शक्ति के आगे नतमस्तक और साधारण से स्वार्थ के लिए नैतिकता का परित्याग करने वाले है।"[1]

बेन्थम के विधि सिद्धान्त ने विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र का दृष्टिकोण स्थापित किया। 19वीं शताब्दी में अंग्रेज और अमेरिकी विधि-वेत्ता इस विधि से परिचित थे। यह सम्प्रदाय विशेषतः जॉन ऑस्टिन के नाम से प्रसिद्ध है। "लेकिन ऑस्टिन ने केवल बेन्थम के विशालकाय ग्रन्थों मे बिखरे हुए विचारों को व्यवस्थित रूप दिया था। राजनीतिक सिद्धान्त मे ऑस्टिन के कार्य का प्रभाव यह था कि उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया। यह सिद्धान्त भी एक प्रकार से बेन्थम की ही देन है। यह सिद्धान्त बेन्थम की उस योजना का एक भाग था जिसके द्वारा वह अदालतों पर संसद् का नियन्त्रण स्थापित कर उनका सुधार करना चाहता था।"[2]

बेन्थम के विचार उसके जीवनकाल मे समुचित आदर नहीं पा सके, किन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित लगभग सभी सुधार कालान्तर मे अपना लिए गए। बेन्थम के न्यायशास्त्र के आधार पर इंग्लैण्ड की न्याय-व्यवस्था में आमूल सुधार हुआ और 19वीं शताब्दी मे उसे पूर्णरूप से संशोधित कर आधुनिक रूप दिया गया। यद्यपि उनके विचारों को एक साथ ही व्यवस्थित रूप देकर कार्यरूप मे

1 Preface ed. *F. C. Montague*, p. 101.
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 642.

परिणत नही किया गया और उसके विचार, विशेषकर अंग्रेजी-विधि को संहिताबद्ध करने सम्बन्धी विचार कभी स्वीकार नही किए गए, किन्तु इंग्लैण्ड मे एक के बाद एक अधिनियम का निर्माण कर विधि और अदालतो का पूर्ण सुधार किया गया तथा अधिकांश अवस्थाओं मे बेन्थम द्वारा निर्दिष्ट मार्ग अपनाया गया। बेन्थम ने जीवन की प्रत्येक दिशा मे नेतृत्व किया। न्याय-प्रणाली और विधि-सुधार के इतिहास में तो बेन्थम का स्थान बहुत ही ऊँचा है। सर हेनरीमेन के अनुसार—"बेन्थम के समय से आधुनिक काल तक विधि-व्यवस्था मे जितने भी सुधार हुए है, उनमे से मुझे एक भी ऐसा नही लगता जिसकी प्रेरणा बेन्थम से प्राप्त न हुई हो।" यह स्वाभाविक भी है क्योकि बेन्थम ने उपयोगिता को अधिकतम लोगो के अधिकतम हित को, सदैव प्रमुख स्थान दिया था। सेबाइन के शब्दो मे "बेन्थम का न्यायशास्त्र विषयक कार्य उसका सबसे महान् कार्य था। यह 19वी शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण बौद्धिक उपलब्धियों में से था। न्यायशास्त्र को बेन्थम की मुख्य देन यह है कि उसने अपने सम्बन्ध मे उल्लिखित दृष्टिकोण को विधि की समस्त शाखाओ, दीवानी तथा फौजदारी विधि, प्रक्रिया विधि और न्याय-व्यवस्था के संगठन पर लागू किया। सभी अवस्थाओ मे उसका प्रयोजन जैसा कि उसने प्रारम्भ मे ही ब्लैकस्टोन के विरोध मे कहा था, विवरणात्मक न होकर आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक तथा निन्दात्मक था। उसने न्याय-शास्त्र की सभी शाखाओ मे प्राविधिक पद्धति के स्थान पर स्वाभाविक पद्धति को प्रतिष्ठित किया। प्राविधिक पद्धति का अभिप्राय यह है कि विधि के परम्परागत वर्गीकरण और प्राविधिक प्रक्रियाओ, प्रयोगत शब्दावली, आदेशो और उपक्रमो को अपनाया जाए। इसके विपरीत स्वाभाविक पद्धति समस्त विधियो, प्रतिषेधो और प्रक्रियाओ को उपयोगिता की शब्दावली मे व्यक्त करती है। वह समस्त कानूनो को अधिकतम संख्या के अधिकतम हित की कसौटी पर कसती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार न्यायिक आवश्यकता यह है कि वांछनीय परिणामो को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त दण्ड व्यवस्था स्थापित की जाए।"[1]

बेन्थम के कानून सम्बन्धी विचारो से स्पष्ट है कि वह राज्य की प्रभुसत्ता का पक्षधर है। वह सम्प्रभुता को निरपेक्ष एव असीमित मानता है। उसकी दृष्टि मे सम्प्रभुता का प्रत्येक कार्य वैध है। राज्य अपने प्रभुत्व से ही व्यक्ति को अधिकतम संख्या के अधिकतम हित मे कार्य करने के लिए दण्डित अथवा पुरस्कृत करता है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे बेन्थम ने अद्वितीय, अद्भुत, सर्वोत्तम सत्ता का उल्लेख नही किया क्योंकि राज्य की अनन्त-शक्ति या उच्चतम सत्ता मे उसका विश्वास नही था। वह राज्य की विधि-निर्माण सम्बन्धी क्षमता को सम्प्रभुता मानता है, किन्तु उसे भी उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। यह उसकी दृष्टि में अनुचित है कि राज्य की सम्प्रभुता पर कोई सीमा ही नही लग सकती। लोकमत अथवा जनमत सम्प्रभुता की मर्यादा है। राज्य की सम्प्रभुता पर जिस सीमा की कल्पना की जा सकती है वह है प्रजा द्वारा सफल विरोध की सम्भावना। बेन्थम के विचार मे, "यदि विशाल जनमत किसी विधि का विरोध करता है तो सम्प्रभुता का कर्त्तव्य है कि उसे कानून का रूप कदापि न दे।"[2] सम्प्रभुता अपने आदेशो या कानूनो द्वारा ही व्यक्ति के अधिकारो का अनुमोदन अथवा संरक्षण करती है। बेन्थम सम्प्रभुता के आज्ञापालन और कानूनो के प्रति सम्मान की व्यक्ति से उसी सीमा तक अपेक्षा करता है जहाँ तक उसे लाभ हो, अथवा उपयोगिता की पूर्ति हो। यदि कानूनो की उपयोगिता नष्ट हो जाए और उनसे हानि होने लगे तो उसका प्रतिरोध करना सर्वथा उचित है। यहाँ प्रतिरोध सामान्य से लेकर क्रान्ति तक का रूप धारण करता है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र मे उपयोगिता का दृष्टिकोण रहना आवश्यक है। इन विचारो के साथ ही बेन्थम यह भी स्वीकार करता है कि राज्य से बड़ी (भीतरी या बाहरी) कोई दूसरी ऐसी शक्ति नही है जो राज्य को किसी अधिकार को मानने

1 सेबाइन : वही, पृ 639
2 *Maxey* Political Philosophies, p. 464

या उल्लघन के लिए बाध्य कर सके। बेन्थम की यह धारणा सम्प्रभुता को असीमित शक्ति-सम्पन्न बना देती है। बेन्थम सम्प्रभुता के अनिश्चित अर्थात् दूसरे शब्दो मे व्यापक अधिकारो का समर्थक प्रतीत होता है बशर्ते कि स्पष्ट परम्परागत विधियो से उन्हे सीमित न किया गया हो। इस प्रकार बेन्थम के विचारो मे एक ओर तो सम्प्रभुता के असीमित और अनिश्चित अधिकारो का व्यापक क्षेत्र स्थापित किया गया है और दूसरी ओर परम्परागत तरीको की रक्षा भी की गई है। सम्प्रभु पर प्रतिबन्ध केवल जनहित के आधार पर ही लगाना उपयुक्त है। यदि जनवादी हितो पर आधारित सामूहिक प्रतिरोध की सम्भावना हो तो सम्प्रभु इसे स्वय समझ सकता है।

बेन्थम की दण्ड-सम्बन्धी धारणा

बेन्थम की मान्यता है कि अपराध की मात्रा के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिए। छोटे-छोटे अपराधो के लिए ही गम्भीर अथवा मृत्यु-दण्ड देने से अपराधो की संख्या कम नही होती बल्कि बढ जाती है। दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति मे सुधार लाना होना चाहिए ताकि सामाजिक सुधार हो सके। केवल बदला लेने की भावना से दण्ड नही दिए जाने चाहिए। मृत्यु-दण्ड किसी को केवल तभी दिया जाना चाहिए जब उसके अतिरिक्त समाज-सुधार का कोई उपाय शेष न हो। दण्ड को मापने का पैमाना समाज-कल्याण होना चाहिए। दण्ड अपराध की गम्भीरता के उपयुक्त और परिस्थितियो के अनुसार होना चाहिए। साथ ही अपराधी को सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया जाना चाहिए ताकि सर्वसाधारण को अपराधी से भय और अरुचि हो।

बेन्थम ने कुछ मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जिनको दण्ड का निर्णय करते समय ध्यान मे रखना था। इनमे से प्रमुख ये हैं—

1. दण्ड की मात्रा अपराध के अनुपात मे हो तथा दण्ड समान भाव से दिए जायें।

2. दण्ड द्वारा अपराधी को अनावश्यक एवं निर्दयतापूर्ण पीडा न पहुँचे। एक जैसे अपराध के लिए दण्ड की मात्रा समान हो।

3 अपराध की गुरुता के अनुसार ही दण्ड का निर्धारण होना चाहिए। दण्ड आदर्श होना चाहिए अर्थात् इस प्रकार का हो तथा इस तरह दिया जाए कि अपराधी एव अन्य लोगो को उससे शिक्षा मिल सके।

4. दण्ड मे सुधार की भावना निहित हो। दण्ड द्वारा अपराधी को भविष्य मे अपराध करने के अयोग्य बना दिया जाए, किन्तु उपयुक्त सिद्धान्त का अतिक्रमण न हो।

5 अपराधी से यथा सम्भव उस व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कराई जाए जिसको उसके कारण कष्ट पहुँचा हो।

6 दण्ड जनमत के अनुकूल हो तथा अपराधी के प्रति सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न न होने दिया जाए।

7 दण्ड सदैव ऐसा होना चाहिए कि भूल का पता लगने पर उसे निरस्त किया जा सके अथवा घटाया जा सके।

8. मृत्यु-दण्ड तभी दिया जाना चाहिए जब वह सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

बेन्थम वास्तव मे उपयोगिता के आधार पर दण्डो के निर्धारण के पक्ष मे था। सेबाइन की व्याख्या के अनुसार—"बेन्थम के विचार से दण्ड-विधि के क्षेत्र मे उपयोगिता के आधार पर दण्डो के एक उचित सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता था। प्राविधिक पद्धति का आधार यह है कि जो व्यक्ति अपराध करता है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। इस सिद्धान्त को केवल वर्तमान प्रथाओ और विचारो के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। इसके विपरीत स्वाभाविक पद्धति यह है कि दण्ड सदैव ही एक बुराई होती है क्योंकि उससे कष्ट होता है। वह उसी सीमा तक सार्थक होता है जहाँ तक वह

भविष्य की किसी बडी बुराई को रोकता हो अथवा पहले की किसी बुराई को दूर करता हो। दण्ड-विधान-द्वारा अपराधो का यथार्थ वर्गीकरण होना चाहिए। अपराधो का परम्परागत वर्गीकरण परस्पर विरोधी है और दुर्बोध है। नया वर्गीकरण इस आधार पर होना चाहिए कि किस कार्य से क्या चोट पहुँचती है, कितनी चोट पहुँचती है और किन-किन को चोट पहुँचती है। अपराधो के वर्गीकरण के साथ ही दण्डो का भी वर्गीकरण होना चाहिए जिससे विशिष्ट अपराधो के लिए विशिष्ट दण्डो की व्यवस्था की जा सके और अपराध को जहाँ तक हो सके रोका जा सके या उसका निवारण किया जा सके। सामान्य रूप से नियम यह होना चाहिए कि दण्ड की पीड़ा अपराध के लाभ से अधिक हो, लेकिन उसे अपराध की बुराई से थोड़ा ही ज्यादा होना चाहिए।"[1]

इग्लैण्ड के तत्कालीन दण्ड-सम्बन्धी कानूनो के कटु आलोचक बेन्थम की दण्ड व्यवस्था 'निवारक सिद्धान्त' (Deterrent Theory) तथा सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory) का मिश्रण थी। दण्ड के अवरोधक पक्ष पर अधिक बल देने के साथ ही बेन्थम ने अपराधी के सुधार पर ध्यान देने की भी वकालत की थी। उसके अनुसार, "सभी प्रकार के दण्ड स्वयं मे एक बुराई हैं। यदि उपयोगिता के हित मे इनको प्रयोग मे लाया जाए तो यह तभी लाया जाए जब इसके द्वारा किसी बुराई का निराकरण होता हो।" बेन्थम की मान्यता थी कि व्यक्ति के जीवन मे शासन का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने भले-बुरे को सबसे अधिक समझता है। वह उपयोगिता के आधार पर ही दण्ड और अपराध की विवेचना करता है। दण्ड का उद्देश्य चेतावनी और सुधार-मात्र है। सेबाइन ने लिखा है कि "बेन्थम सर सेमुअल रोमिली की भाँति व्यवहार मे उन बर्बर और प्रभावहीन दण्डो को हटा देने के पक्ष मे था जिन्होने 19वी शताब्दी के आरम्भ मे इग्लैण्ड की दण्ड-विधि को विकृत रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि बेन्थम अपनी अन्य सुधार योजनाओ की तरह दण्ड-विधान के सुधार मे भी लोकहित की प्रेरणा से नही प्रत्युत् व्यवस्था और कार्यक्षमता की प्रेरणा से प्रवृत्त हुआ था, तथापि यह मानना न्यायोचित होगा कि बेन्थम ने अपना बहुत-सा समय और धन जेलो के सुधार पर व्यय किया। बेन्थम के व्यक्तित्व की प्रेरक-शक्ति ज्ञानोद्दीप्ति थी। उसे गरीबो की समस्याओ अथवा अपराधी बालको के सुधार की अपेक्षा सामान्य जनता के हितो की अधिक चिन्ता थी।"[2]

बेन्थम के अन्य सुधारवादी विचार

बेन्थम एक महान् सुधारवादी था जिसने और भी अनेक राजनीतिक तथा शैक्षणिक सुधारो का समर्थन किया था। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के प्रचलित वर्गीकरण को स्वीकार करते हुए उसने राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र को निकृष्ट ठहराया क्योंकि ये इतने अधिक दोषग्रस्त है कि इनका सरलता से कायाकल्प नही हो सकता। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र मे अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख की धारणा साकार नही की जा सकती। बेन्थम ने लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का समर्थन किया और चाहा कि वयस्क मताधिकार, वार्षिक ससदीय निर्वाचन, गुप्त मतदान, सार्वजनिक सेवाओ मे नियुक्तियो के लिए प्रतियोगिता परीक्षा आदि वैधानिक उपायो द्वारा स्वस्थ लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना की जाए। वह ब्रिटिश प्रणाली का इसलिए विरोध करता था कि ब्रिटेन 'कुलीनतन्त्र से ग्रस्त राजतन्त्र' था। बेन्थम को तत्कालीन राजा जॉर्ज तृतीय के आचरण से बड़ा क्षोभ था और इसलिए उसने ब्रिटेन के लिए गणतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया। उसने कुलीनतन्त्री लार्डसभा को जो उसकी दृष्टि मे सार्वजनिक हितो के प्रति उदासीन रहने वाली थी, नष्ट करने का सुझाव दिया। चाहे बेन्थम के सुझाव क्रियान्वित न हुए हो, लेकिन उनकी दूरदर्शिता इस तथ्य मे प्रमाणित होती है कि सांविधानिक सशोधनो द्वारा लार्डसभा के पर काट दिए गए और विधि निर्माण के क्षेत्र मे उसे एक तरह से 'पगु' बना दिया गया। बेन्थम ने विधायको के अधिकारो मे वृद्धि का समर्थन किया

1-2 सेबाइन : वही, पृ. 640-41.

ताकि वे नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित रखने में सहायक हों। बेन्थम के अनुसार विधायक 'नैतिक ओवरसियर और निर्देशक' होते हैं।

बेन्थम ने जेल-व्यवस्था में सुधार के रूप में कैदियों के शिल्प-शिक्षण का सुझाव दिया ताकि वे जीविकोपार्जन के योग्य बन सकें। कैदियों के चारित्रिक सुधार के लिए उसने नैतिक और धार्मिक शिक्षा का समर्थन किया। आम जनता के लिए उसने दो प्रकार की शिक्षा-योजनाएँ प्रस्तावित कीं—प्रथम गरीबों और अनाथों के लिए; तथा द्वितीय, मध्य एवं उच्च वर्गों के लिए। बालकों के लिए उसने चरित्र-निर्माण, कला-कौशल एवं व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने की योजनाएँ प्रस्तुत कीं। वह चाहता था कि शिक्षा का भार राज्य वहन करे ताकि सर्वसाधारण के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो सके। उसका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल मात्र ज्ञान की अभिवृद्धि ही न होकर जीवन को सहचारी और अनुशासित बनाना भी होना चाहिए।

बेन्थम की अधिकार सम्बन्धी धारणा

बेन्थम के अनुसार, "अधिकार, मनुष्य के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है।" अर्थात् बेन्थम विधि-सम्मत अधिकारों के अस्तित्व में ही विश्वास करता था एवं प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को बकवास मानता था। बेन्थम की दृष्टि में अधिकार अनियन्त्रित या अप्रतिबन्धित नहीं हो सकते। उनका निर्धारण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। बेन्थम के अनुसार जैसा कि सेबाइन ने लिखा है, कि "एक व्यक्ति के अधिकार का अभिप्राय यह है कि यदि दूसरा कोई व्यक्ति उसकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करेगा तो उसे दण्ड मिलेगा। दण्ड के भय से ही दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप से रोका जा सकेगा। इस प्रतिबन्ध का औचित्य इस आधार पर प्रमाणित होता है कि प्रतिबन्ध न रहने पर सम्भवतः दोनों अपनी मनमानी कर सकते हैं और दोनों को कष्ट हो सकता है। सभी अवस्थाओं में विधान की उपयोगिता को परखने का आधार यह है कि वह किस सीमा तक उपयोगी है, उसको कार्यान्वित करने में कितना व्यय होता है और वह किस सीमा तक विनियमों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करता है, जो समुदाय के अधिकांश सदस्यों के लिए लाभदायक होती है। किसी कार्य को दायित्वपूर्ण बनाने के लिए उपयोगिता ही एकमात्र उचित आधार है।"

बेन्थम ने सम्पत्ति के अधिकार की अवहेलना न करके सामान्य उपयोगिता के आधार पर उसका समर्थन किया है। निजी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए बेन्थम भी उतना ही चिन्तित प्रतीत होता है जितना लॉक। मुख्य अन्तर यही है कि जहाँ बेन्थम निजी सम्पत्ति को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है वहाँ लॉक उसे एक प्राकृतिक अधिकार मानता है। बेन्थम के मत की व्याख्या करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि सम्पत्ति के अधिकार सामान्यतः इसलिए ठीक होते हैं क्योंकि वे सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, वह अपना प्रत्येक काम सोच-समझ कर करता है। वह अनिश्चितता और निराशा से उत्पन्न होने वाली उलझनों से बच जाता है। सम्पत्ति के अधिकार से कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव पैदा होता है। बेन्थम के मत में सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है, लेकिन उसका विचार है कि यह एक अत्यधिक अनुदार सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति-वितरण को वैधानिक संरक्षण प्राप्त हो। उसका यह दृढ मत था कि विधि सम्पत्ति के समान वितरण के लिए क्रियाशील होनी चाहिए ताकि मनमानी असमानताएँ उत्पन्न न हो सकें। व्यवहार में उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊ सन्तुलन स्थापित करना चाहिए। धर्मशास्त्र के तत्त्वान्तरण (Transubstantiation) की भाँति न्यायशास्त्र में संविदा की पवित्रता को एक प्रकार का सम्मोहन माना गया है। बेन्थम संविदा की पवित्रता को इसलिए महत्त्व देता था क्योंकि वह वाणिज्यिक लेन-देन में विश्वास स्थापित करती है।

बेन्थम ने अधिकारों का निश्चय सामाजिक पृष्ठभूमि में आवश्यकताओं और परिस्थितियों के आधार पर किया । उसने दो तरह के अधिकारों का उल्लेख किया है—(1) वैधानिक अर्थात् वे अधिकार जो सम्प्रभु शक्ति द्वारा निर्मित विधि से प्राप्त होते हैं, और (2) नैतिक अधिकार । वैधानिक अधिकारों से बाह्य आचरण के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया जाता है । नैतिक अधिकारों का विषय आन्तरिक आचरण है । पूर्ण स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों की बात करना निरर्थक है क्योंकि पूर्ण स्वतन्त्र या पूर्ण समान होना असम्भव है । एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो जन्म से ही स्वतन्त्र पैदा हुआ हो । सब मनुष्य पराधीन ही पैदा होते हैं ।

बेन्थम अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी समावेश करता है । कर्त्तव्यरहित अधिकार निर्जीव हैं । अधिकारों का निर्धारण सामयिक परिस्थितियों द्वारा होता है और अधिकार तथा कर्त्तव्य अन्योन्याश्रित हैं । वैधानिक और नैतिक अधिकारों में राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य भी निहित होते हैं ।

बेन्थम के सिद्धान्तों की आलोचना
(Criticism of Bentham's Theories)

बेन्थम 18वीं शताब्दी के सक्रमण-काल का विचारक था, अत इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसके विचारों में अस्पष्टता और विरोधाभास दिखाई देते हैं । मध्ययुग से आधुनिक युग के राजनीतिक चिन्तन के सक्रमण में कुछ विद्वानों ने मैकियावली को आधुनिकता का प्रतीक माना है तो कुछ ने बोदां को । कुछ का यह विचार है कि 18वीं शताब्दी के अन्त और 19वीं शताब्दी के आरम्भ में बेन्थम ने राजनीतिक समस्याओं के क्षेत्र में जो चिन्तन-प्रणाली अपनाई, उसके कारण बेन्थम को आधुनिक चिन्तनधारा का प्रथम विचारक माना जा सकता है । लेकिन जैसा कि जोन्स ने लिखा है, "हम कई दृष्टियों से बेन्थम के अधिक निकट हैं, कई दृष्टियों से हम मैकियावली की तुलना में बेन्थम से कहीं अधिक दूर हैं । कुछ दृष्टियों से बेन्थम 18वीं शताब्दी का चिन्तक है तो कुछ दृष्टियों से उसका राज-दर्शन 19वीं और 20वीं शताब्दियों का परिचायक है ।"[1] इन तथ्यों के प्रकाश में यदि बेन्थम के विचारों में विरोधाभासों, भ्रमों और भूलों का समावेश है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बेन्थम की देन बहुमूल्य है, तथापि इस देन पर विचार करने से पूर्व बेन्थम के चिन्तन की आलोचनाओं का अवलोकन उपयुक्त होगा—

1. बेन्थम ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को इतना भौतिकवादी बना दिया है कि उसे अपनाने में व्यक्ति की उन्नति नहीं होती, वरन् व्यक्ति और समाज दोनों को आत्मत्याग करना पड़ता है । उसने नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे दी है । भौतिक आनन्द को महत्त्व देते हुए उसने अन्त -करण, धर्म-अधर्म सत्-असत् को कोई स्थान नहीं दिया है । यदि कुछ बदमाश एक सज्जन को लूटने अथवा तंग करने में सुख पाते हैं तो बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार इसमें कोई अनैतिकता नहीं होगी क्योंकि इसमें केवल एक को दुःख मिलता है जबकि अधिक लोगों को सुख । इसलिए आलोचकों ने यहाँ तर्क कह दिया है कि बेन्थम ने मनुष्यों को पशु मान लिया है । मुरे (Murray) के शब्दों में, "यदि हम बेन्थम के अनुसार मनुष्य की विवेक-शक्ति अथवा उसके अन्त करण को स्वीकार नहीं करते तो समाज में सदाचार और अनाचार के बीच कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी तथा अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे । व्यक्ति के विवेक शून्य हो जाने पर समाज में सामाजिक विवेक भी नष्ट हो जाएगा । अपराधी को सामाजिक बहिष्कार का भय ही नहीं होगा ।"[2] इस प्रकार की स्थिति समाज में घोर अव्यवस्था और अनैतिकता का प्रसार करने में सहायक होगी ।

2. बेन्थम का उपयोगितावाद केवल मात्रात्मक सुख का समर्थक है, गुणात्मक सुख का नहीं ।

1 *Jones* op cit pp 380-81
2 *Murray* History of Political Science p 314

यह एक भयावह स्थिति है खेल-कविता (Pushpin poetry) सूत्र के अनुसार बेन्थम सुखों की कसौटी के लिए एक ही तरह का मापदण्ड लेकर बैठ गया प्रतीत होता है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि ताश खेलने या सिनेमा देखने मे यदि अत्यधिक सुख प्राप्त होता है तो वह पुस्तक पढने या लिखने से कम महत्त्वपूर्ण नही है। किन्तु वास्तव मे खेल को कविता के बराबर नहीं माना जा सकता और कबड्डी के खेल का आनन्द 'शाकुन्तलम्' के आनन्द की बराबरी नहीं कर सकता। मिल (Mill) ने इसे सुधार कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"सूअर-भाव से सन्तुष्टि रहने की अपेक्षा मानव-भाव मे असन्तुष्ट रहना अच्छा है।" बेन्थम ने उपयोगिता की मात्रा पर विचार करने मे देश-प्रेम आदि को कोई महत्त्व नही दिया है। उपयोगितावादी यह तर्क कर सकते है कि ससार की सभी वस्तुएँ स्वय मे महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक का महत्त्व अपने-अपने प्रसग मे है, लेकिन केवल मात्रा का भेद मानना अव्यावहारिकता और बौद्धिक विभ्रान्ति है।

3. बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड नितान्त दोषपूर्ण है। उसकी यह मान्यता स्वीकार नही की जा सकती कि किसी भी कार्य को करने से पूर्व उस कार्य के औचित्य या अनौचित्य का सुखवादी मापदण्ड से परीक्षण कर लेना आवश्यक है। सभ्य मनुष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए तो नाना रीति-रिवाज, प्रथाएँ नियम-विनियम होते हैं, जिनसे उन्हे अनेक कार्यों के अच्छे-बुरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और तब वे उसकी सुखात्मक प्रवृत्ति से परिचित हो जाते है। बेन्थम की मान्यता है कि सुख और दु.ख मापे जा सकते है, इनका मात्रात्मक विश्लेषण और मापन हो सकता है। आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की मान्यता है कि ऐसी पद्धति मानसिक घटनाओं के अध्ययन में प्रयुक्त हो सकती है, किन्तु इससे क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। बेन्थम द्वारा प्रस्तुत सूक्ष्म विवरण उसकी कल्पना के नैतिक गणित-शास्त्र की व्यावहारिकता को सिद्ध नही करता। बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड इस दृष्टि से भी अस्वीकार्य है कि यह कर्त्ता के उद्देश्य की ओर ध्यान न देकर केवल कार्य के बाहरी परिणाम पर ध्यान देता है। अतः इस मापदण्ड का मूल्य विधि-निर्माता के लिए भले ही हो, आचार-शास्त्री के लिए कुछ भी नही है। सुख-दु:ख के मापन मे बेन्थम ने व्यक्तिगत भावना की पूर्ण उपेक्षा की है।

4. बेन्थम ने सुख-दुख का व्यापक अन्तर प्रकट करने के लिए शारीरिक रचना, चरित्र, शिक्षा, लिग आदि 32 लक्षणों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। बेन्थम के इस वर्गीकरण को देखकर प्रसन्नता तो होती है, लेकिन साथ ही पहाडो की पुस्तक याद आ जाती है। बेन्थम बतलाता है कि कौन-सा कार्य करना चाहिए—इसका निर्णय करने के लिए सुख-दु:ख की मात्रा निर्धारित करने वाले कारणो के निश्चित अक देकर उनका पूरा योग निकालना चाहिए और जिस कार्य को अधिक अंक मिलें वही करना चाहिए किन्तु बेन्थम की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया जटिल ही नही, भ्रामक और कपोल-कल्पित भी है। इस प्रकार का निर्णय करने मे यद्यपि गणितीय बारीकियों का उपयोग तो किया ही जाता है तथापि परिणाम सदिग्ध ही रहता है। गणित जैसी निश्चितता तथा यथार्थता मानसिक सामाजिक प्रक्रिया मे कदापि सम्भव नही है। मैक्कन के अनुसार, "राजनीति मे अकगणित का प्रयोग उतना ही निरर्थक है जैसे अंकगणित मे राजनीति का।"

5 बेन्थम अपनी कृति 'इन्ट्रोडक्शन टू दी प्रिंसीपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिसलेशन' का प्रारम्भ इस प्रकार करता है—"प्रकृति ने मानव-जाति को दो प्रमुखपूर्ण शक्तियो, दु:ख तथा सुख के नियन्त्रण मे रख छोडा है। ये ही शक्तियाँ सकेत देती हैं कि हमे क्या करना चाहिए और ये ही निश्चय करती है कि हम क्या करेगे। ये हमारे प्रत्येक कार्य पर शासन करती हैं। यद्यपि कहने को मनुष्य कह तो सकता है कि वह किसी साधन के अधीन नही है, किन्तु वास्तव मे वह इसके अधीन है। उपयोगिता के सिद्धान्त मे इस प्रकार के शासन के लिए पूरी गुंजाइश है।" बेन्थम के इस विचार की वेपर ने आलोचना की है कि यद्यपि यह वाक्य आकर्षक है पर "जब इसका विश्लेषण किया जाता है तो भावपूर्ण होने के स्थान पर यह एक अँगूठी की भाँति गोल हो जाता है। सुख और दुख के शासन से तात्पर्य क्या

है ? क्या मनुष्य को अपने सुख या किसी अन्य के सुख के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए ? यह कहते समय कि हमारे सभी कार्यों को सुख तथा दुख शासित करते हैं, क्या बेन्थम का आशय है कि सभी लोग सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं ? और उसका तात्पर्य क्या है कि उपयोगिता के सिद्धान्त में इस प्रकार के शासन के लिए गुंजाइश है ? यदि मनुष्य अपने सुख के लिए प्रयत्नशील है तो यह कहना व्यर्थ नहीं है कि उसे कुछ और भी करना चाहिए। मनुष्य स्व-सुख तथा मानव-जाति के सुख की तलाश एक साथ कैसे कर सकता है ?" वेपर के अनुसार बेन्थम ऐसे कितने ही प्रश्नों का उत्तर देता है। उसका कथन है कि "आदमी इन दो सुखों में से केवल एक ही सुख को महत्त्व देता है, कोई भी एक से अधिक सुखों को महत्त्व नहीं दे सकता।" वेपर की आलोचना है कि बेन्थम का एक सिद्धान्त किसी भी प्रकार आनन्द से उद्भूत नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत हित जन-कर्त्तव्य में कैसे परिणत किया जा सकता है ? यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि बेन्थम के कथन के अनुसार कोई स्वार्थी विधि-निर्माता अपने व्यक्तिगत हितों के साथ-साथ लोकहित का भी ध्यान रखेगा ? जो वस्तुएँ गुण में श्रेष्ठतर हैं, उनकी मात्रा या सुरक्षा कैसे निश्चित की जा सकती है ? और यदि बेन्थम के सभी विचारों को सही मान लिया जाय तो भी उसका मापदण्ड और सिद्धान्त दोनों निरर्थक हैं।[1]

6 बेन्थम अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में अव्यावहारिक बन जाता है। "अपने आनन्दवादी व्यक्ति के चित्रण में बेन्थम वास्तविक जीवन से विलग होकर आगे बढ़ता प्रतीत होता है। लोग हित (स्वार्थ) तथा कर्त्तव्य के बीच अन्तर मानते हैं, परन्तु बेन्थम इसे स्वीकार नहीं करता। अपने प्रामाणिक व्यक्ति के अध्ययन में बेन्थम समाज तथा इतिहास को सम्मिलित नहीं करता। इसी प्रकार यह उन सर्वोच्च क्षमताओं को छोड़ देता है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती हैं। वह केवल तीन अंगों, यथा—व्यक्ति, समाज तथा सरकार को ही ध्यान में रखता है, राज्य को ध्यान में नहीं रखता। यही नहीं, अपने तर्कसंगत व्यक्ति के प्रगाढ़ मोह में वह भावनाओं को पकड़ से निकल जाने देता है और यह कार्य इस सीमा तक करता है कि हम बेन्थम के मनुष्य को कठिनाई से ही अपनी जाति का मनुष्य मानने को तैयार हो पाते हैं।"[2]

7. बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य में केवल उन्हीं विधियों का निर्माण हो सकता है जिनके द्वारा साधारण स्वार्थ की प्राप्ति सम्भव हो, क्योंकि विरोधी तत्त्वों एवं विरोधी परिस्थितियों में इनका प्रयोग सम्भव नहीं है और इस स्थिति में न्याय के स्थान पर अन्याय होने की सम्भावना ही अधिक है। इस परिस्थिति में पूँजीपति अधिकाधिक लाभ उठा कर अपने ही पक्ष में विधि निर्माण करने को प्रेरित होंगे।

8 बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है क्योंकि मानव आकांक्षाएँ विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती हैं अतः सुख-दुःख भी समान न होकर भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्हीं दो मनुष्यों की अनुभूति परस्पर समान नहीं होती। यह सम्भव है कि जो बात एक व्यक्ति को सुखदायी प्रतीत हो, वही बात दूसरे व्यक्ति को दुखदायी प्रतीत हो। यदि एक ही अनुभूति सबको सुखदायक लगे तो भी निश्चय ही सुख की अनुभूति किसी को तीव्र होगी और किसी को मन्द।

9 यह धारणा भी त्रुटिपूर्ण है कि मनुष्य द्वारा कोई कार्य सुख की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। वस्तुतः मनुष्य किसी कार्य को सुख के लिए नहीं करता बल्कि सुख तो उसे कार्य करने पर स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त रुचि, समय, परिस्थितियों आदि के कारण मानवीय सुख-दुख की मात्रा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

10 बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त समाज के बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला है। बेन्थम ने प्रत्येक व्यक्ति के सुख पर बल न देकर बहुसंख्या के सुख पर बल दिया है। यदि बेन्थम की बात मान ली जाए तो एक अत्याचारी राजा स्वयं को अधिकतम व्यक्तियों का प्रतीक मानते

1-2 वेपर . वही, पृ 125-26.

हुए स्वयं के सुख को ही मवका समझ सकता है। इस प्रकार, एक दानवी स्थिति (Diabolic Monstrosity) पैदा हो सकती है। बेन्थम का सूत्र 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' न केवल रहस्यमय है, बल्कि संदिग्ध भी है। बेन्थम की अस्पष्टता, मूकवृत्ति, संदिग्ध व्याख्या के कारण व्यावहारिक क्षेत्र मे अनुचित तरीको का प्रयोग सम्भव हो सकता है।

11 बेन्थम केवल सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति पर ही बल देता है। वह यह भूल जाता है कि सुख की भूख कभी नही मिटती। इच्छाएँ अन्तिम रूप से कभी तृप्त नही हो सकती। हम अपनी इच्छाओ को जितना पूरा करते है, वे उतनी ही अधिक बढती है।

12 बेन्थम का राजदर्शन त्रुटियो से पूर्ण है। उसमे अन्तर्विरोध पाया जाता है। सरकार की परोपकारिता और निरपेक्ष सम्प्रभुता परस्पर असगत है। बेन्थम का उपयोगितावाद केवल शासन सम्बन्धी सिद्धान्त है, राज्य के बारे मे यह मौन है। बेन्थम ने राज्य सरकार के बीच कोई अन्तर नही किया है। उसने राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो का भी कोई विश्लेषण नही किया है। उसका आग्रह व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति मात्र पर है। वह केवल इतना ही कहता है कि राज्य को न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। उसकी अधिकार सम्बन्धी धारणा भी दोषपूर्ण है। उसने स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार की उपेक्षा की है। अधिकारो को उसने केवल तीन श्रेणियो मे विभक्त किया है जो एक अत्यन्त सकीर्ण वर्गीकरण है। उसने समाज और समुदाय की पृथक् सत्ता को भी मान्यता नही दी है। उसके अनुसार समाज व्यक्तियो का समूह-मात्र है जबकि वास्तव मे समाज एक स्वाभाविक और विकासमान सस्था है। बेन्थम के ये सभी विचार आज के युग मे ग्राह्य नही है।

13 वेपर के अनुसार बेन्थम के दर्शन मे मौलिकता का अभाव है। "वह अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तो को पूरी तरह गले के नीचे उतार तो गया था, परन्तु उनको पचा नही पाया। उसने अपने ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge) लॉक तथा ह्यूम से, सुख दुःख का सिद्धान्त हैल्वेटियस (Helvetius) से, सहानुभूति तथा विरोध का विचार ह्यूम से तथा उपयोगिता का विचार अनेक दूसरे विद्वानो से उधार लिया था। अत उसमे मौलिकता का अभाव है और ईर्ष्या की अधिकता। उसके अपने विचार भ्रमो तथा भूलो से परिपूर्ण है।"

वास्तव मे बेन्थम की सबसे बडी कमजोरी यह है कि उसने मानव-जीवन की आवश्यकता से अधिक सरल व्याख्या कर डाली और इस प्रकार समस्याओ का अधूरा निराकरण किया।

बेन्थम की राजनीतिक चिन्तन को देन
(Bentham's Contribution to Political Thought)

अभावो, भूलो और विरोधाभासो के बावजूद दर्शन और राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे बेन्थम को अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त है। यद्यपि हम उसे 'तत्कालीन युग का सबसे बडा आलोचक विद्वान्' नही कह सकते और उसका दर्शन 'तर्क, प्रेम तथा परम्परा से घृणा करने वाला है', तथापि राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रो मे उसका प्रभाव असाधारण है और उसकी उपलब्धियो का तिरस्कार करना बुद्धिमानी की बात नही होगी। एक विधि-सुधारक और मानव-कल्याण के विचारक के रूप मे बेन्थम को कभी भुलाया नही जा सकेगा। राजदर्शन को उसकी महत्त्वपूर्ण देन सक्षेप मे निम्नवत् है—

1. उपयोगितावाद के दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करने और उसे एक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय बेन्थम को ही है। हालवी (Halevy) के अनुसार बेन्थम की यह बहुमूल्य देन है कि उसने "उपयोगिता के सिद्धान्त द्वारा एक वैज्ञानिक नियम, एक क्रियाशील प्रशासन, वास्तविकता और औचित्य की खोज की है।"

2 बेन्थम ने उपयोगिता को सर्वोपरि स्थान दिया और कहा कि राज्य मनुष्य के लिए है, मनुष्य राज्य के लिए नही। जिस राज्य के नागरिक सुखी और प्रसन्न होते हैं, वही राज्य श्रेष्ठ होता है। बेन्थम का प्रश्न है कि समुदाय का हित क्या है, और उसका उत्तर है कि यह 'उन सदस्यो का हित है जो समुदाय की रचना करते हैं।' राजदर्शन के क्षेत्र मे बेन्थम की यह महान् देन है कि उसने प्रत्येक

प्रश्न का उत्तर पुरुषो और स्त्रियो दोनो को ही ध्यान मे रखकर दिया है। उसने अनाज के दानो को भूसे से अलग करके हमारे सामने रखा है' हम उसकी महान् सेवा को कभी नही भूल सकते। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि बेन्थम ने शासन के स्वरूप आदि की उलझन मे न पडकर इस बात पर बल दिया कि शासन उपयोगिता की दृष्टि से सुख-निर्माण के लक्ष्य की पूर्ति मे कहाँ तक सफल होता है। व्यावहारिक जीवन मे जनता भी उद्देश्य की पूर्ति से मतलब रखती है, तरीको के पीछे नही भागती। बेन्थम ने जीवन के इसी यथार्थ का समर्थन किया। काल्पनिक तथा आध्यात्मिक राजनीतिशास्त्र के स्थान पर वह स्पिनोजा की भाँति परीक्षणात्मक राजनीतिक विज्ञान का सूत्रपात करने के श्रेय का अधिकारी है। चाहे उसे अपने प्रयास मे पूरी सफलता न मिली हो, पर यह निश्चित है कि उसने 16वी और 17वी शताब्दियो मे विकसित हो रही राजनीतिक यथार्थवाद की परम्परा को परिष्कृत किया। मैक्सी के कथनानुसार, "कटु आलोचना और व्यग्य द्वारा उसने सामाजिक अनुबन्धवादियो द्वारा इतिहास तथा तर्क के थोथे आधार पर निर्मित राज्य-सिद्धान्त की धज्जियाँ उडा दी और ह्यूम एव स्पिनोजा से भी अधिक शक्ति तथा स्पष्टता से यह उजागर किया कि राजनीतिक समाज का आधार सदैव एक समय विशेष की परिस्थितियाँ होती हैं।"[1]

3. बेन्थम ने स्वस्थ लोकतन्त्र और लोकतान्त्रिक संस्थाओ का समर्थन किया है। वेपर के अनुसार, "बेन्थमवाद जनता के प्रतिनिधियो मे विश्वास नही करता। उन्हे तो वह जनता को लूटने वाला ही मानता है। इस प्रकार उसने ऐसे प्रतिनिधियो के बहिष्कार मे सहायता दी है जो स्वार्थी हैं, लोक-स्वतन्त्रता तथा समानता के अपहरणकर्त्ता है तथा केवल अपने निर्वाचन-क्षेत्र की ही चिन्ता करने मे विश्वास रखते हैं।" बेजहॉट (Bagehot) ने निर्वाचन-क्षेत्रो द्वारा बनाई जाने वाली सरकार को मनमानी का द्योतक बताया है, क्योकि ऐसी सरकार संसदीय सरकार का विरोध ही करती है। बेजहॉट के अनुसार, "ऐसी सरकार बेशर्मों की सरकार होती है परन्तु बेन्थम ने ससदीय प्रथा मे सुधार करके उसे बेजहॉट की खतरनाक चोट से बचाया है।"[2]

4. बेन्थम ने अपने विचारो को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की। आइवर ब्राउन के अनुसार उसने इग्लैण्ड को सुख किस प्रकार मिले—इसके लिए केवल बाते ही नही की बल्कि इग्लैण्ड को सुखी बनाने के लिए परिश्रम भी किया। बेन्थम ने तत्कालीन ब्रिटिश न्याय-पद्धति और विधि-व्यवस्था मे व्यावहारिक सुधार का तीव्र आन्दोलन छेड़ दिया। सेबाइन के अनुसार, "बेन्थम के न्यायशास्त्र के आधार पर इगलैण्ड की न्याय-व्यवस्था मे आमूल सुधार हुआ और 19वी शताब्दी मे उसे पूर्णत सशोधित करके आधुनिक रूप दे दिया गया। यद्यपि बेन्थम के विचारो को एक साथ ही व्यवस्थित रूप से कार्यरूप मे परिणत नही किया गया और उसके कुछ विचार, विशेषकर ब्रिटिश विधि को सहितावद्ध करने से सम्बन्धित विचार, कभी स्वीकार नही किए गए, तथापि इग्लैण्ड मे एक के बाद एक अधिनियम बनाकर विधि और न्यायालयो मे पूर्ण सुधार किया गया तथा अधिकांश अवस्थाओ मे बेन्थम की आलोचना द्वारा निर्दिष्ट मार्ग अपनाया गया। सर फ्रेडरिक पोलक ने ठीक ही कहा है कि उन्नीसवी शताब्दी मे इग्लैण्ड मे विधि के क्षेत्र मे जो सुधार हुए, उन पर बेन्थम का प्रभाव देखा जा सकता है।"[3] बेन्थम के प्रयत्नो से कानून मे सरलता और स्पष्टता का समावेश हुआ। विधियो के सहिताकरण पर बल देने से 19वी शताब्दी मे अनेक देशो मे विधि-सहिताएँ बनाई गई। बेन्थम के प्रयत्नो से ही शासन पर से रहस्यात्मकता का पर्दा उठा और शासन आवश्यक सुधार एक साधन अथवा यन्त्र माना जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन के अनुकरण से ससार भर मे अकुशल सस्थाओ को सुधार की प्रेरणा मिली। बेन्थम का यह विचार लोगो के मन मे घर करने लगा कि राज्य कतिपय

1 *Maxey* · op cit, p. 408

2 वेपर . वही, पृ 132.

3 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 643.

लोगो की स्वार्थसिद्धि का साधन नही होना चाहिए, वरन् उसे जन-कल्याण का साधन बनाया जाना चाहिए। बेन्थम के उपयोगितावाद का भारत पर भी प्रभाव पडा। लॉर्ड विलियम बैंटिक ने भारत मे अधिकाँश सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधार बेन्थम के विचारों से प्रभावित होकर ही किए। उसने बेन्थम को लिखा था कि "वास्तव मे भारत का गवर्नर-जनरल होकर मैं ही नहीं वल्कि आप जा रहे है।"

5. बेन्थम ने मैकियावली की भाँति ही राजनीति को नैतिकता से पृथक् किया। उसने नैतिकता के आधार पर प्रजा द्वारा राजाज्ञा-पालन अथवा विद्रोह का समर्थन नहीं किया। उसने कहा कि उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर ही यह निर्णय किया जाना चाहिए कि प्रजा कब तक राजाज्ञा का पालन करे और कब विद्रोह के लिए अग्रसर हो। बेन्थम को ही यह श्रेय है कि कानून और सम्प्रभुता पर विचार कर उसने सर्वप्रथम विधि-शास्त्र (Jurisprudence) के मौलिक सिद्धान्तो की विवेचना आरम्भ की। सेवाइन ने बेन्थम के विधि-शास्त्र को 19वी शताब्दी की एक महान् बौद्धिक उपलब्धि बतलाया है।

6. बेन्थम ने सुधारवादी आन्दोलन छेड कर ब्रिटिश राजनीतिक जीवन मे क्रान्तियो की अपेक्षा सुधारो के प्रति विश्वास उत्पन्न किया। लोगो के हृदय मे यह बात पूर्वापेक्षा अधिक अच्छी तरह बैठ गई कि क्रान्ति की तुलना मे सुधार अधिक ग्राह्य और उचित हैं। ब्रिटिश जनता समझ गई कि सिरो को फोडने की अपेक्षा उन्हे गिन लेना अधिक अच्छा है।

7. बेन्थम ने राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र मे अनुसन्धान और गवेषणा की प्रवृत्ति को महत्त्व दिया। आज यह पद्धति हमे स्वाभाविक लगती है, किन्तु बेन्थम से पहले इस पद्धति का अनुसरण नही किया जाता था। बेन्थम ही वह पहला आधुनिक लेखक था जिसने सार्वजनिक नीति के क्षेत्र मे गवेषणात्मक पद्धति लागू की और अनुभववादी तथा आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात किया। बेन्थम के विचारों के विकास तथा सशोधन द्वारा एक सम्प्रदाय की स्थापना हुई जो 'दार्शनिक-उग्रवाद' कहलाया और जिसने बेन्थम के विचारो के साथ माल्थस के जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त और हार्टले के तत्त्व-ज्ञान का समन्वय किया। बेन्थम के विचार राजनीतिशास्त्रियो के लिए प्रेरणास्पद रहे। जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन ऑस्टिन, ग्रोट, बेन, प्लेस आदि विचारक बेन्थम से बहुत अधिक प्रभावित थे।

बेन्थम के राजनीतिक अनुभववाद को स्पष्ट करते हुए प्रो. मेक्सी ने ठीक ही लिखा है कि "अपने निर्मम तर्क द्वारा बेन्थम ने नवीनतावादी और रूढिवादी विचारो की प्राचीन धारणाओ को एकदम भुला दिया तथा स्वतन्त्र तथा निरकुश राज्यो के सैद्धान्तिक मतभेदो का उसने अन्त किया। उसने यह घोषित कर दिया कि दैवी अधिकार, ऐतिहासिक अधिकार, नैसर्गिक अधिकारो, सविदात्मक अधिकार तथा सवैधानिक अधिकार सभी मूर्खतापूर्ण हैं। उसने घोषणा की कि शासन करने का किसी को कोई स्वतन्त्र अधिकार नही है। सत्य तो केवल एक बात है और वह है शक्ति तथा वे परिस्थितियाँ जिन्होने उस शक्ति को सत्य बनाया है। किसी निरपेक्ष सत्य मे विश्वास करना मूर्खता है। एक विवेकपूर्ण शासन-कला और नागरिकता के लिए हमे शक्ति के स्वरूप और कानूनो को समझना चाहिए और उनका कल्याणकारी उद्देश्य के लिए प्रयोग करना चाहिए।"

बेन्थम की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने इस महान् सिद्धान्त को पुष्ट किया कि प्रत्येक शासन-तन्त्र को अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए और समाज की अधिकाधिक सेवा करके अपनी शक्ति का औचित्य अर्जित करना चाहिए। बेन्थम ने अपनी प्रतिभा से केवल इगलैण्ड को ही प्रभावित नही किया बल्कि उसकी प्रतिभा की किरणें रूस, पुर्तगाल, स्पेन, मैक्सिको, भारत तथा दक्षिण अमेरिकी देशो तक पहुँची। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बेन्थम को भारी सम्मान प्राप्त हुआ था। आइवर ब्राउन ने बेन्थम को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि यदि "बेन्थम मे से उसका भद्दापन निकाल दिया जाए तो उसमे फिर विशुद्ध मानवतावाद के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देगा।"[1]

---

1 *Ivor Brown* : English Political Theory, p 102

23 जेम्स मिल

(James Mill, 1773–1836)

जीवन-परिचय

इतिहासवेत्ता, अर्थशास्त्री और उपयोगितावादी विचारक जेम्स मिल का जन्म सन् 1773 में स्कॉटलैण्ड के एक दरिद्र मोची के घर हुआ था। कठोर श्रम और प्रतिभा के बल पर उसने समाज मे सम्मानित स्थान प्राप्त किया। सन् 1794 मे एम. ए करने के बाद स्कॉटलैण्ड मे ईसाई धर्म का प्रचारक (Preacher of the Gospel) बन गया। अध्यवसायी जेम्स मिल के विशेष प्रयत्नों में सन् 1803 मे 'The Literary Journal' नामक पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ जिसमे उसके अनेक लेख प्रकाशित हुए। सन् 1804 मे हेरियट बरो से उसका विवाह हुआ। उसकी नौ सन्तानों मे सबसे छोटी सन्तान यशस्वी जॉन स्टुअर्ट मिल था।

सन् 1808 में जेम्स मिल का बेन्थम से परिचय हुआ। उससे प्रभावित होकर मिल ने उपयोगितावाद को शास्त्रीय रूप देने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न मे उसने उपयोगितावाद में रिकार्डो तथा माल्थस के विचारों को भी स्थान दिया। सन् 1806 से 1817 तक वह 'History of British India' लिखने में व्यस्त रहा। सन् 1818 में इस ग्रन्थ के प्रकाशन से न केवल उसे यश ही प्राप्त हुआ अपितु उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ भी दूर हो गईं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के 'इण्डिया ऑफिस' के पत्र-व्यवहार विभाग मे उसे सम्मानित पद प्रदान किया गया और सन् 1830 मे वह अपने विभाग का अध्यक्ष बन गया। इस पद पर कार्य करते हुए ही सन् 1836 मे उसकी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ

जेम्स मिल मे मौलिकता की कमी नही थी। हॉब्स, हार्टले, बेन्थम, रिकार्डो, माल्थस आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव था। निम्नलिखित ग्रन्थों ने उसे विशेष ख्याति प्रदान की—

1. History of British India (1818)
2. Analysis of the Phenomena of the Human Mind (1819)
3. Elements on Political Economy (1821)
4. Fragments on Mackintosh (1835)

मिल का मनोविज्ञान
(Mill's Psychology)

बेन्थम मनोविज्ञान के प्रति उदासीन था, लेकिन जेम्स मिल ने उपयोगितावाद को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उसकी पुस्तक 'Analysis of the Phenomena of the Human Mind' उपयोगितावाद को स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करती है मिल की विधि निष्कर्षात्मक और प्रयोगात्मक है। मानव-मस्तिष्क के अध्ययन के लिए अन्तर्दर्शन एवं प्रयोगात्मक विधि का समर्थन करते हुए

उसने कहा कि जैसे आणविक सिद्धान्त द्वारा विज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है, वैसे ही ज्ञानेन्द्रिय अणुओ द्वारा मस्तिष्क की व्याख्या सम्भव है। जेम्स मिल की गणना साहचर्यवादी मनोविज्ञान के प्रवर्तको मे की जाती है। इस क्षेत्र मे वह टॉमस, हॉब्स और डेविड हार्टले का ऋणी था। साहचर्य की धारणा द्वारा उसने कल्पना, विचार और मस्तिष्क की अन्य परिस्थितियो की तथा साथ ही आध्यात्मिक प्रकृति की व्याख्या की। मिल ने बतलाया कि किसी कार्य की नैतिकता और अनैतिकता से ही उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। सुख और दुःख नैतिकता के सार हैं। साहचर्यवादी मनोविज्ञान व्यक्ति को एक चेतन-प्राणी मानता है जो बुद्धि द्वारा अपने सुख-दु.ख की नाप-जोख करके कार्य करता है अतः स्पष्ट है कि जेम्स मिल के इन विचारो से वैयक्तिक सुखवादी उपयोगितावाद और उदारवाद को बल मिला।

मिल का सरकार सम्बन्धी सिद्धान्त
(Mill on Government)

मिल का विश्वास था कि सभी व्यक्ति सुख चाहते हैं और कष्ट से बचना चाहते हैं। चूँकि सुख की सामग्री सीमित है, अत' इसका सचय करने के लिए व्यक्तियो मे आपस में सघर्ष और स्पर्द्धा होती है। व्यवहारिक रूप मे शक्तिशाली दुर्बलो को दबाकर उनके द्वारा उत्पन्न सुख की सामग्री हथियाने मे आनन्द अनुभव करते हैं। इस प्रक्रिया मे सबको आनन्द मिलता हो, ऐसा सम्भव नही होता। अत सब व्यक्तियो की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक है कि सब मिलकर कुछ व्यक्तियो को सब की सुरक्षा के उद्देश्य से शासन की शक्ति प्रदान कर दे। उन लोगो द्वारा सरकार का निर्माण हो और वे 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' की व्यवस्था करें। मिल यह जानता था कि शासन करने का अधिकार प्राप्त होने पर व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रयोग स्व-सुख-प्राप्ति के लिए ही कर सकता है, अत उसका विचार था कि उस पर प्रतिबन्ध लगना चाहिए, क्योकि सरकार का मुख्य कार्य व्यक्ति के हस्तक्षेप से बचना है। सरकार भी आखिर व्यक्तियो से बनती है और उन व्यक्तियो मे स्वार्थ की कमजोरी आना स्वाभाविक है। यदि सरकार पर प्रतिबन्ध न लगाया जाए तो वह निरकुशता की ओर अग्रसर होगी, लोगो का दमन करने लगेगी और राज्य मे आतक फैल जाएगा। ऐसी दशा मे सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए सरकार पर नियन्त्रण लगाना अनिवार्य हो जाता है। मिल ने कहा कि इन्ही बातो को ध्यान मे रखते हुए यह निश्चय किया जाना चाहिए कि कौन-सी सरकार आदर्श है। राजतन्त्र श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र मे से किसी मे भी जनता के अधिकार वास्तविक अर्थ मे सुरक्षित नही होते। प्रत्येक मे स्वार्थ-भावना का समावेश रहता है। मिल ने यह भी कहा कि इग्लैण्ड की भाँति राजतन्त्र, श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र का समन्वय भी समस्या का सही निदान नही है, क्योकि इन तत्त्वो मे से कोई भी दो तत्त्व मिलकर जनता के अधिकारो को आघात पहुँचा सकते हैं फिर भी लोकतान्त्रिक शासन सर्वोत्तम है, क्योकि उसमे उद्देश्य से विचलित होने पर सरकार को अपदस्थ किया जा सकता है। मिल चाहता था कि ब्रिटिश लोकसभा इतनी सशक्त हो, जो राजा और लार्डसभा की सम्मलित शक्ति से टक्कर ले सके। वह लोकसभा को ही जनता की सभा मानता था। लॉर्डसभा के प्रति उसका रुख कठोर था। उसने यह भी सुझाव दिया था कि यदि लोकसभा किसी अधिनियम को लॉर्डसभा द्वारा ठुकरा दिए जाने पर तीन विभिन्न सत्रो मे पारित कर दे तो वह अधिनियम लॉर्डसभा स्वीकृति के बिना ही कानून बन जाना चाहिए। आज जेम्स मिल की धारणा बहुत कुछ सत्य हो गई है। लॉर्डसभा की शक्तियाँ लगभग इस प्रकार सीमित कर दी गई हैं और वह लोकसभा की इच्छा के सामने झुकने के लिए बाध्य है।

राज्य के कार्यक्षेत्र पर विचार प्रकट करते हुए मिल ने कहा था कि राज्य का प्रमुख कार्य ऐसी व्यवस्था करना है जिससे कोई व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरो का अहित न कर सके। राज्य को ऐसा कानून बनाना चाहिए जिसमे व्यक्ति की अवाँछनीय कुचेष्टाओ पर प्रभावकारी नियन्त्रण रहे।

यह कहना उपयुक्त होगा कि मिल ने सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य का कर्त्तव्य व्यक्तियो के कार्यों को मर्यादित करना माना था।

मिल यह भी चाहता था कि जनता के प्रतिनिधि वस्तुतः जन-भावनाओ का प्रतिनिधित्व करें और स्वय को जनता के हितो के अनुरूप ही समझें। उसने सुझाव दिया कि प्रतिनिधियो का कार्यक्रम सीमित कर दिया जाना चाहिए और जनता को समय-समय पर अपनी इच्छा व्यक्त करने का अधिकार मिलना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था से जनता मे अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजगता का विकास होगा, वह समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों से प्रश्न कर सकेगी और उनसे कार्यों का विवरण भी माँग सकेगी। मिल का विचार था कि प्रतिनिधियो की सख्या अधिक नही होनी चाहिए। प्रतिनिधि कम सख्या मे होने पर ही अपने पर योग्यतापूर्वक कार्य कर सकेंगे और उन्हे यह ध्यान रहेगा कि अच्छा कार्य करने पर ही वे पुनः निर्वाचित हो सकेंगे।

मिल ने उन व्यक्तियो को मताधिकार देने का विरोध किया जो अन्योन्याश्रित हो अथवा किसी भी रूप मे दूसरो के प्रभाव मे हो। ऐसे व्यक्ति स्वविवेक से और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मताधिकार का प्रयोग नही कर सकते। इसी अधिकार पर मिल ने स्त्रियो और पराश्रित व्यक्तियो के मताधिकार का समर्थन नही किया। उसने व्यापक वयस्क मताधिकार को भी ठीक नहीं समझा क्योकि सब व्यक्तियो मे मताधिकार का प्रयोग करने की समान योग्यता नही होती। उसने मध्यम वर्ग के लोगो को मताधिकार और शासनाधिकार प्रदान करने का पक्ष लिया। उसका विचार था कि मध्यम वर्ग ही राष्ट्र को उचित नेतृत्व दे सकता है। उसका उपयोगितावाद मध्यम वर्ग की सर्वोच्चता का दर्शन था।

जेम्स मिल ने उपयोगितावादी मापदण्ड को लोकप्रिय बनाने का पूरा प्रयास किया और अपने विचारो को मानव-प्रकृति पर आधारित किया लेकिन उसकी सबसे बडी कमी यह थी कि उसने मानव-स्वभाव की केवल एकतरफा व्याख्या की और व्यक्ति मे स्वार्थी तत्वो का ही दर्शन किया। उसने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो अपने कार्य के साथ न केवल दूसरो के हित का ध्यान ही रखता है, वरन् अनेक अवसरो पर दूसरो के हित के लिए अपना बलिदान भी कर देता है।

बेन्थम और जेम्स मिल के शासन सम्बन्धी विचारो पर तुलनात्मक टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "जेम्स मिल के शासन सम्बन्धी विचार बेन्थम के शासन सम्बन्धी विचारो से बहुत भिन्न थे। जेम्स मिल ने अपने ग्रन्थ 'ऐसे ऑन गवर्नमेंट' मे इन विचारो के दार्शनिक आधार को अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया है। उसने इस बात को विशेष रूप से सिद्ध किया है कि बेन्थम उदारवादियो का राज-दर्शन ह्यूम की अपेक्षा हॉब्स पर अधिक निर्भर था। हॉब्स की भाँति मिल का भी विश्वास था कि सभी मनुष्यो मे शक्ति प्रदान करने की एक अदम्य इच्छा होती है और सस्थाओ के प्रतिबन्ध इस इच्छा को नही रोक सकते। यद्यपि बेन्थम की भाँति उसने भी उदारवादी और स्वेच्छाचारी दोनो प्रकार की शासन-प्रणालियों के लिए शक्तियो के विभाजन अथवा सन्तुलन की कल्पना को अस्वीकार कर दिया, तथापि वह यह मानता था कि शासन-सम्बन्धी सबसे जटिल प्रश्न शासको की शक्ति को मर्यादित करने से सम्बन्धित होता है। उसके विचार से इस समस्या का एकमात्र समाधान यह था कि एक ऐसे विधानमण्डल की स्थापना की जाए जिसके हित देश के हितो के अनुरूप हो। विधानमण्डल के सदस्य अपनी शक्ति का प्रयोग केवल सर्वसाधारण के हित के लिए करें और विधान-मण्डल का कार्यपालिका पर नियन्त्रण हो। उसे आशा थी कि जब सार्वभौम मताधिकार के आधार पर प्रतिनिधि-शासन व्यवस्था की स्थापना होगी और सीमित पदावधि रखी जाएगी तब यह उद्देश्य प्राप्त हो जाएगा। यद्यपि मिल अपने प्रत्येक तर्क को इस ढग से प्रस्तुत करता था मानो वह एक सार्वभौम और शाश्वत सिद्धान्त हो, तथापि मिल के राजनीतिक चिन्तन का एक तात्कालिक उद्देश्य यह था कि औद्योगिक मध्यम वर्ग को मताधिकार प्राप्त हो। मिल इस वर्ग को सबसे अधिक बुद्धिमान् समझता

था । उसका यह भी विचार था कि निम्न वर्ग को इस वर्ग से मार्गदर्शन प्राप्त होगा । मिल ने इस सम्भावना पर कभी विचार नही किया कि मध्यम वर्ग राजनीतिक शक्ति का अपने हित के लिए भी प्रयोग कर सकता है ।"[1]

मिल का राजनीतिक अर्थशास्त्र
(Mill on Political Economy)

राजनीतिक अर्थशास्त्र मे जेम्स मिल पर एडम स्मिथ, माल्थस तथा रिकोर्डो का प्रभाव था । उसने माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त का समर्थन किया । यह उसके राजदर्शन का अग बन गया । मिल का स्पष्ट विचार था कि प्रतिबन्ध लगाकर बढ़ती हुई जनसख्या को रोका जाना चाहिए । यद्यपि प्रकृति स्वय जनसख्या-वृद्धि पर अकुश रखती है, तथापि विवेक द्वारा भी उसे नियन्त्रित किया जा सकता है । सामाजिक शान्ति के लिए मिल ने यह आवश्यक समझा कि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओ की अधिकतम मात्रा लोगो को प्राप्त हो और सरकार आर्थिक तथा अन्य सघर्षो द्वारा कमजोर पक्ष की रक्षा करे ।

कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर मिल के विचार
(Mill on Law and International Law)

तत्कालीन ब्रिटिश कानूनी व्यवस्था से जेम्स मिल बडा असन्तुष्ट था । अपने 'Jurisprudence' तथा 'Law of Nations' लेखो मे उसने कानून और न्याय के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए । उसने कहा कि न्याय का लक्ष्य लोगो के अधिकारो को सुरक्षा प्रदान करना है । न्याय को यह देखना है कि ये अधिकार सुरक्षित किस प्रकार बनाए जा सकते हैं । अधिकारो की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि उन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाए, साथ ही ऐसे कार्य दण्डनीय माने जाएँ जो अधिकारो के प्रयोग मे बाधा डालते हो । कुछ पदाधिकारियो का कार्य ही यह देखना होना चाहिए कि व्यक्तियो के अधिकारों का अतिक्रमण तो नही होता । मिल ने कहा कि जिस प्रकार माल और फौजदारी कानून होने हैं, उसी प्रकार अधिकारो के सम्बन्ध में माल-कानून को उनकी परिभाषा अथवा व्याख्या करनी चाहिए तथा फौजदारी कानून को अपराधियो के लिए दण्ड की व्यवस्था हेतु आगे आना चाहिए । कार्य-विधि की व्याख्या एक सहिता (Code or Procedure) द्वारा की जानी चाहिए ताकि न्यायालयो के सगठन और उनकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश पड सकें ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर अत्यधिक स्पष्ट और स्वतन्त्र विचार व्यक्त करते हुए मिल ने कहा कि ये कानून अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक हैं क्योकि इनसे राष्ट्रों का आचरण उसी प्रकार नियन्त्रित होता है जिस प्रकार भद्रता अथवा आचरण के नियम भद्र-जनो के व्यवहार को नियन्त्रित करते है । अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे जन-भावना की स्वीकृति निहित होती है । अति शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र भी जनमत के दबाव की अवज्ञा नही कर सकते, विशेषकर तब जबकि वे राष्ट्र प्रजातान्त्रिक हो । मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के सन्तोषजनक सचालन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून-सहिता के निर्माण और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को लागू करने के लिए एक ट्रिब्यूनल की स्थापना पर बल दिया । उसने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून-सहिता (Code of International Law) मे राज्यो के अधिकार निश्चित और परिभाषित कर दिए जाने चाहिए । उदाहरणार्थ, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शान्ति के समय राज्य का अपने क्षेत्र पर, अपनी नदियो पर और पूरे समुद्र पर व्यापार करने का अधिकार होता है । प्रत्येक देश को समुद्री मार्ग द्वारा दूसरे देशो मे जाने का अधिकार समानता के आधार पर होना चाहिए । युद्धकाल में भी सभी राष्ट्रो को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे खुले समुद्र का प्रयोग कर सके ।

मिल ने युद्ध तथा इससे सम्बन्धित अनेक बातो पर बुद्धिमत्ता-पूर्ण विचार व्यक्त किए है । उसने कहा कि युद्ध न्यायोचित भी हो सकता है और ऐसे युद्ध के बाद शान्ति की स्थापना भी हो सकती

1 सेबाइन, वही, पृ 653.

है। यदि उद्देश्य किसी राज्य को उसके अतिक्रमण का दण्ड देना हो तो वह युद्ध अन्यायपूर्ण नही कहलाएगा बशर्ते कि उद्देश्य पूरा हो जाने पर युद्ध अविलम्ब समाप्त कर दिया जाए।

मिल ने यह विश्वास प्रकट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राज्यो के पारस्परिक आचरण को तभी समुचित रूप से नियन्त्रित कर सकेगा जब न्यायाधीश अपने कार्यों और निर्णयो मे निष्पक्ष रहेंगे। यद्यपि राज्यो को मर्यादित करने वाली शक्ति अन्तिम रूप से लोकमत ही होगी तथापि नि सन्देह राज्यो के आपसी विवादो का औचित्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निश्चित किया जा सकता है। मिल चाहता था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का ऐसा सुन्दर रूप स्थापित हो जाए कि प्रत्येक राज्य किसी अन्य देश के मामले मे अनुचित हस्तक्षेप न कर अपने कार्यों का सम्पादन शान्तिपूर्वक करता रहे। राज्यो मे परस्पर मैत्री-भाव और सहयोग कायम हो। वास्तव मे जेम्स मिल के अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार बहुत कुछ मौलिक और अत्यन्त उपयोगी थे। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के पालन करने का कारण उसने लोकमत को बतलाया और यह विचार अपने आप मे आधुनिकतम है। बडे से बडे न्यायवेत्ता भी इस बात से इन्कार नही कर सकते कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मान्यता के मूल मे लोगो की शान्ति से रहने की इच्छा निहित है।

मिल का शिक्षा सिद्धान्त
(Mill on Education)

जेम्स मिल शिक्षा के महत्त्व के प्रति भी उतना ही सजग था जितना बेन्थम। उसने निम्न और उच्च दोनो ही वर्गों की शिक्षा पर समान बल दिया और यह मत व्यक्त किया कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियो तथा समाज को समग्र रूप मे सुख प्रदान करना है। बाह्य परिस्थिति और शिक्षा मानव-समाज को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। यद्यपि जन्म के समय लोगो की योग्यता समान होती है, तथापि पालन-पोषण, शिक्षा और परिस्थितिवश उनके जीवन मे परिवर्तन और असमानता का समावेश हो जाता है। व्यक्ति की शिक्षा पर समुचित ध्यान देकर हम उसकी तथा समाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते हैं, अत यह आवश्यक है कि व्यक्ति की रुचि के अनुसार ही शिक्षा दी जाए ताकि उसकी सुप्त मानसिक शक्तियो का सही ढग से विकास हो सके।

जेम्स मिल ने कहा कि शिक्षा के दो प्रमुख उद्देश्य है—(1) व्यक्ति स्वय सुख प्राप्त करे, एव (2) वह अपने अर्जित ज्ञान को दूसरो मे बाँट कर उन्हे सुख दे। अत स्पष्ट है कि मिल का दृष्टिकोण उपयोगितावादी था। उसकी आकांक्षा थी कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वैयक्तिक और सार्वजनिक दोनो प्रकार के सुखो का प्रसार हो। व्यक्ति की बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार की उन्नति होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण होना चाहिए। शिक्षा एक निश्चित आयु पर ही पूरी नही हो जाती, अत. वह जीवनपर्यन्त चलनी चाहिए। शिक्षा के उद्देश्य प्राप्ति के साधनो पर विचार करते हुए मिल ने कहा है कि बुद्धि को जितना उर्वर बनाया जाएगा और व्यक्ति के सामने विभिन्न रूपो मे जितना ज्ञान प्रस्तुत किया जाएगा, उसकी बौद्धिक प्रतिभा का उतना ही अधिक विकास होगा। जिस प्रकार खेत को जितना अधिक जोता जाता है वह उतना ही उपजाऊ हो जाता है, उसी तरह विभिन्न विचारो से मानव-मस्तिष्क को जितना परिपूर्ण किया जाएगा, उतना ही उसमे निखार आएगा और वह उद्देश्यो की प्राप्ति की दिशा मे आगे बढ सकेगा। मिल ने शिक्षा को सर्वाधिक शक्तिशाली तत्त्व मानते हुए कहा कि—"समाज म जितने भी वर्ग देखने को मिलते है, वे सब शिक्षा के ही परिणाम हैं। शायद ही कोई कार्य होगा जिसे शिक्षा न करती हो।"

मिल ने अपने समकालीन सभी विचारको को प्रभावित किया। जॉन स्टुअर्ट मिल अपने पिता के विचारो से बहुत ही प्रभावित हुआ। डेविडसन ने ठीक ही लिखा है कि—"जेम्स मिल बेन्थम के बाद आतक्वादी उपयोगितावादियो का नेता था और इस राजनीतिक सम्प्रदाय के व्यावहारिक सुधारो को कार्य-रूप देने मे वह प्रधान सक्रिय व्यक्ति था।"

———

24 जॉन ऑस्टिन

(John Austin, 1790–1859)

जीवन-परिचय

बेन्थम की उपयोगितावादी विचारधारा से प्रभावित जॉन ऑस्टिन विश्लेषणात्मक विधि-शास्त्र का नेता माना जाता है। उसने नैतिकता और कानून को पूर्ण रूप से पृथक् कर विधि-शास्त्र का गम्भीर और विपद् विवेचन प्रस्तुत किया। उसकी महत्त्वपूर्ण देन राजनीति-शास्त्र मे सम्प्रभुता का कानूनी सिद्धान्त है।

जॉन ऑस्टिन आर्थिक दृष्टि से जीवन भर असफल रहा। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद लगभग 17 वर्ष की आयु मे वह सेना मे भर्ती हो गया, किन्तु पाँच वर्ष बाद ही उसने नौकरी छोड़ दी। तत्पश्चात् वैरिस्टरी पास करके सन् 1818 मे उसने वकालत शुरू की, लेकिन इस व्यवसाय मे वह सफल नही हो सका। उसका सारा व्यय-भार उसकी अमीर पत्नी और वकील छोटे भाई ने उठाया। सन् 1826 मे उसे लन्दन विश्वविद्यालय मे अध्यापन-कार्य मिला। उन दिनो अध्यापको का वेतन छात्रो की फीस से दिया जाता था। चूँकि विधि-शास्त्र एक शुष्क विषय था, अत· कुछ ही वर्षों मे उसकी कक्षा के छात्रो की सख्या घटते-घटते पाँच रह गई और उसे अपना कार्य छोड देना पडा। सन् 1832 मे उसकी 'Province of Jurisprudence' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। ऑस्टिन न्याय-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए जर्मनी भी गया। वह दो शाही कमीशनो का सदस्य भी रहा। सन् 1859 मे उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी ने उक्त पुस्तक मे अपने पति की कुछ अन्य रचनाएँ सम्मिलित कर उसे 'Lectures on Jurisprudence' नाम से प्रकाशित किया। इस पुस्तक ने जॉन ऑस्टिन को विधि-शास्त्र (Jurisprudence) के क्षेत्र मे असाधारण महत्त्व प्रदान किया। आज विधि-शास्त्र के प्रत्येक छात्र से आशा की जाती है कि वह जॉन ऑस्टिन के सिद्धान्त से अवश्य परिचित होगा।

जॉन ऑस्टिन की कुल मिलाकर निम्नलिखित तीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(1) The Province of Jurisprudence Determined
(2) A Plea for Constitution
(3) On the Study of Jurisprudence

ऑस्टिन की अन्तिम कृति उसकी मृत्यु के चार वर्ष बाद प्रकाशित हुई। ऑस्टिन अपने समय मे लोकप्रिय नही हो सका, क्योंकि प्रथम तो उसका विषय ही बहुत शुष्क था और दूसरे उसकी शैली बड़ी नीरस थी।

ऑस्टिन के विधि-सम्बन्धी विचार
(Austin on Law)

जॉन ऑस्टिन को ब्रिटिश सामान्य विधि (The Common Law), रोमन विधि-शास्त्र और जर्मनी की कानूनी विचारधारा का गहन ज्ञान था। उसने कानून को विधेयात्मक (Positive)

बतलाया और प्राकृतिक विधियो मे अविश्वास प्रकट कर राजकीय कानून का पृथक् क्षेत्र स्थापित किया। उसने कानून को स्पष्टता और सुनिश्चितता प्रदान करने की चेष्टा की। अन्य उपयोगितावादियो की भाँति ही उसने प्राकृतिक कानून की धारणा को अमान्य ठहराया और कानून की परिभाषा इन शब्दो मे दी—"कानून सुनिश्चित सर्वोच्च शक्ति (Determinate Superior) की इच्छा की अभिव्यक्ति है जिसके अनुसार एक निश्चित आचरण (A Certain course of Conduct) किया जाना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा नही करेंगे उन्हे कठिन फल (राजदण्ड) भोगना पड़ेगा।" इस परिभाषा के अनुसार कानून प्रभुसत्ता के आदेश हैं जिन्हे न्यायालयों द्वारा लागू किया जाता है। जो नियम न्यायालयो द्वारा लागू नही किए जा सकते उन्हे कानून नही माना जा सकता। इस प्रकार सामाजिक प्रथाओ, ईश्वरीय नियमो अथवा धर्म-शास्त्रो के दैवी विधानो को कानूनी नही कहा जा सकता। कानून केवल वही है जो प्रभुसत्ताधारी सर्वोच्च व्यक्ति का निश्चित आदेश हो और जिसका उल्लघन निश्चित रूप से दण्डनीय हो।

ऑस्टिन के समय कानून के अनेक प्रकार माने जाते थे। ऑस्टिन ने उन समस्त प्रकारो को तीन वर्गों मे विभाजित किया—(1) निश्चित कानून (Proper Laws), (2) अनिश्चित कानून (Improper Laws), तथा (3) प्रतीकात्मक कानून (Metaphorical Laws)। इन तीनो के उपभेद किए गए। निश्चित विधियो को दैवी, राजकीय तथा सवासादि विधियो मे बाँटा गया। अनिश्चित विधियो मे अन्तर्राष्ट्रीय विधियो तथा परम्पराओ और सामाजिक रीति-रिवाजो को स्थान दिया गया। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि के नियमो को प्रतीकात्मक विधियाँ माना गया। ऑस्टिन की विधियो का यह विभाजन निम्नांकित चार्ट से स्पष्ट है—
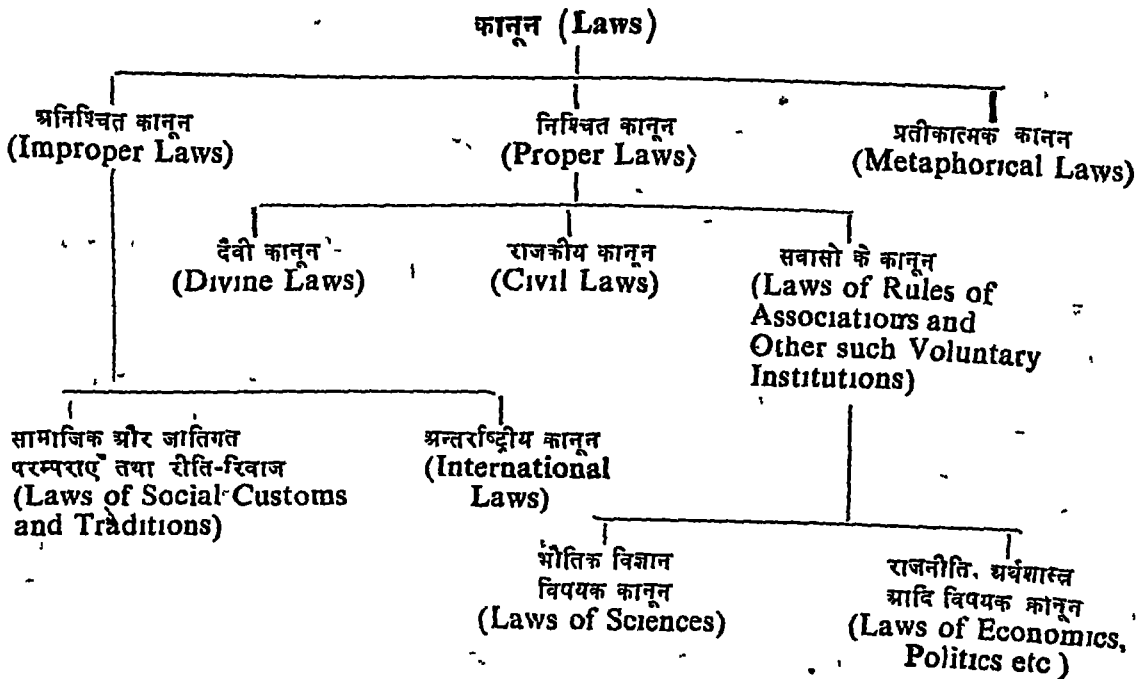
ऑस्टिन के न्यायशास्त्र का विषय केवल राजकीय विधियो तक ही सीमित था। उसका मत था कि न्यायशास्त्र का सम्बन्ध केवल राज्य-निर्मित विधियो से है और उन विधियो के निर्माण का एकमात्र अधिकार सम्प्रभु का है। ये विधियाँ सम्प्रभु के आदेश है जिनका पालन न करने पर प्रजाजन दण्ड के भागी होते हैं। अन्य विधियो को ऑस्टिन ने न्यायशास्त्र के क्षेत्र से बाहर की चीज माना था। ऑस्टिन के अनुसार परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज कानून नही हैं, उन्हे सामाजिक नैतिकता कहा जा सकता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय विधियो को भी निश्चित विधियाँ नही मानता क्योंकि उनको लागू करने

वाली कोई सम्प्रभुता-सम्पन्न शक्ति नही होती। ये किसी निश्चयात्मक सम्प्रभु का आदेश नहीं होतीं, वल्कि शिष्टाचार की ऐसी मान्य परम्पराएँ होती है जिनका पालन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के आचरण के निमित्त सम्प्रभु राज्यो द्वारा किया जाता है। ऑस्टिन के मतानुसार सांविधानिक कानून भी विधि-सम्मत कानून नही है, क्योकि स्वय सम्प्रभु की स्थापना करने वाली कोई कानूनी सत्ता नही हो सकती।

ऑस्टिन ने दैवी कानून के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "दैवी कानून ईश्वर द्वारा अपनी मानव-सृष्टि के लिए निर्धारित कानून हैं" जिनमे से कुछ का ज्ञान तो मनुष्य को हो चुका है और कुछ का नही। जिन दैवी कानूनो का ज्ञान हो चुका है उनके सम्बन्ध में हमे उनके अनुकूल आचरण करना चाहिए, लेकिन जिन दैवी कानूनो का ज्ञान हमे नही है उनके बारे में अपने मार्गदर्शन के लिए हमे अन्य विधियो का सहारा लेना चाहिए। इस व्याख्या मे ऑस्टिन का यह मन्तव्य निहित है कि हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सामान्य सुख अथवा भलाई पर हमारे आचरण का सम्भावित प्रभाव क्या पडेगा। दैवी कानूनो और आदेशो के पीछे यही उद्देश्य निहित है। ऑस्टिन के अनुसार सुख और दुःख परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, ये दोनों प्रत्येक कार्य के साथ जुडे रहते हैं, अतः किसी भी कार्य को अपनाने या छोडने से पहले हमे इन दोनो के सम्बन्ध मे उनके द्वारा होने वाले अच्छे या बुरे परिणामो पर विचार कर लेना चाहिए और उनसे होने वाली भलाई और बुराई का शेष ज्ञात कर लेना चाहिए। ऑस्टिन का विश्वास है कि इस तरह हम किसी भी कार्य की उपयोगिता ज्ञात कर सकते हैं। यद्यपि इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम हम व्यक्तिगत सुख को और वह भी अविलम्बित प्राप्त होने वाले सुख को देखते हैं, लेकिन दैवी-विधानो का अन्तिम उद्देश्य सदैव सामान्य सुख ही होता है। अतः स्पष्ट है कि ऑस्टिन ने दैवी और मानवीय दोनो ही प्रकार के कानूनो की धारणा के अनुसार सामान्य सुख अथवा लोक-कल्याण को उपयोगितावादी सिद्धान्त का आधार माना है।

ऑस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त
(Austin's Theory of Sovereignty)

ऑस्टिन ने राज्य की उत्पत्ति और सम्प्रभुता पर विचार प्रस्तुत किए हैं। उपयोगितावादियों की भाँति उसने राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का विरोध किया और कहा कि लोग राज्य के आदेशो का पालन इसलिए नही करते कि अतीत में हमारे पूर्वजों ने ऐसा कोई समझौता किया था, वल्कि इसलिए करते है कि राज्य का अस्तित्व हमारी भलाई अर्थात् उपयोगिता के लिए है। चूंकि राज्य को हम अपने लिए उपयोगी मानते है, अतः हम राज्य के आदेशो को स्वभावतः मानते रहे हैं। राज्य और सरकार का उद्देश्य यही है कि अधिकतम लोगो को अधिकतम सुख प्रदान किया जाए। ऑस्टिन का मत था कि सरकारें पूर्ण और परिपक्व अवस्था मे उत्पन्न नही होती, वरन् राजनीतिक सरकार की उपयोगिता की धारणा के आधार पर विकसित होती है, अथवा जनता का एक वडा भाग अराजकता की स्थिति की अपेक्षा सरकार के अस्तित्व को वरीयता प्रदान करता है।[1]

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे ऑस्टिन की सवसे महत्वपूर्ण देन उसका सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। ऑस्टिन हॉब्स और बेन्थम के विचारो से बहुत प्रभावित था। उसने इन्हीं विद्वानो के विचारो की पुष्टि की। उसके सुलझे हुए विचार उसकी नवीनता थी। सम्प्रभुता पर जीन वोदाँ और तत्पश्चात् ग्रोशियस अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत कर चुके थे, किन्तु उनकी सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा कुछ दृष्टियो से अपूर्ण और असगत थी। हॉब्स ने उनकी कमियो को दूर करने का प्रयत्न किया, लेकिन हॉब्स की धारणा मे मुख्य दोष यह था कि उसने सम्प्रभुता का स्रोत समझौता माना। इस

1 Quoted in *Davidson* : op. cit., p. 166

प्रकार विधि-शास्त्र और न्याय-शास्त्र की दृष्टि से सम्प्रभुता की धारणा लगभग अस्पष्ट ही रही। रूसो ने सामान्य इच्छा की भावात्मक धारणा के आधार पर सम्प्रभुता को भावना-मूलक बना दिया। ऑस्टिन ने, यद्यपि इन पूर्ववर्ती विचारकों से प्रेरणा ली थी, तथापि उसने सम्प्रभुता की धारणा को विधि-शास्त्रीय दृष्टि से अभिव्यक्ति करके इसे अधिक स्पष्टता प्रदान की। बेन्थम ने सम्प्रभुता के केवल विधेयात्मक चिह्नों (Positive Marks) की व्याख्या की थी, ऑस्टिन ने इनमें निषेधात्मक चिह्नों (Negative Marks) को जोडकर सम्प्रभुता की स्पष्ट और पूर्वापेक्षा अधिक पूर्ण परिभाषा प्रस्तुत की। उसने बतलाया कि सम्प्रभु अन्य किसी की आज्ञा के अधीन नही होता। यह वह तथ्य था जिसे बेन्थम ने प्रकट नही किया था। ऑस्टिन का यह भी मत था कि सम्प्रभु के अस्तित्व के कारण ही कोई समाज एक स्वतन्त्र राज्य बन सकता है। सम्प्रभु एक व्यक्ति भी हो सकता है अथवा एक समूह (Collegiate) भी। ऑस्टिन ने अपनी रचना 'विधि-शास्त्र पर भाषण' (लेक्चर्स ऑन ज्यूरिसप्रूडेंस) मे सम्प्रभुता की परिभाषा निम्न शब्दो मे की—

"यदि कोई निश्चित मानव-श्रेष्ठ, जो किसी अन्य समान मानव-श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन करने का आदी नही है, किसी निर्दिष्ट समाज की जनता का बडा भाग स्वतः उसकी आज्ञा का अनुपालन करता है, तो वह निश्चित मानव-श्रेष्ठ उस समाज मे सम्प्रभु है और वह समाज (जिसमे वह मानव-श्रेष्ठ भी सम्मिलित है) एक राजनीतिक और स्वतन्त्र समाज होता है।"[1]

ऑस्टिन की इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर सम्प्रभुता के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होते है—

(i) प्रत्येक राज्य में कोई निश्चित मानव या मानव-सस्था सर्वोच्च होती है और अधिकांश नागरिक उसकी आज्ञाओ का पालन करने के अभ्यस्त होते हैं। जिस प्रकार पदार्थ के एक पिण्ड मे आकर्षण-केन्द्र का होना अनिवार्य है उसी प्रकार प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज मे प्रभु-शक्ति का होना आवश्यक है। स्पष्ट है कि ऑस्टिन के मतानुसार सम्प्रभु रूसो की सामान्य इच्छा जैसी कोई भावनामूलक चीज नही हो सकती और न ही सविधान या कानून जैसी कोई अमानवीय वस्तु सम्प्रभु हो सकती है। ऑस्टिन मानव या मानव-सस्था को सम्प्रभु बनाता है और उसे निश्चयात्मक (Determinate) होना चाहिए, अर्थात् जनता जैसी किसी अनिश्चयात्मक सस्था को ऑस्टिन सम्प्रभु स्वीकार नही करता। इस प्रकार ऑस्टिन के सिद्धान्त मे लोक-प्रभुसत्ता की धारणा अमान्य है। सम्प्रभु सत्ताधारी मानव या मानव-सस्था की स्थिति अन्य समस्त सदस्यो और सस्थाओ से श्रेष्ठतर होनी चाहिए क्योंकि तभी बहुसख्यक लोगो की आज्ञाकारिता सम्भव है।

(ii) यह निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ (Determinate Human Superior) किसी अन्य उच्चाधिकारी की आज्ञा का पालन नही करता, उसकी इच्छा का ही अन्य सभी लोगो द्वारा पालन किया जाता है। सम्प्रभु की आज्ञाएँ अनैतिक, अन्यायपूर्ण और अविचारपूर्ण होने पर भी वैध होती है और उनका विरोध नही किया जा सकता। इस प्रकार ऑस्टिन की प्रभुसत्ता असीम और निरकुश है। किसी भी राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य मे उसकी सत्ता सर्वोच्च होती है जिस पर परम्पराओ, परामर्शों, रीति-रिवाजो आदि द्वारा कोई मर्यादा नही लगाई जा सकती। सम्प्रभु की मान्यता द्वारा ही उनका अस्तित्व सम्भव है, इसके अभाव मे उनका कोई वैधानिक अस्तित्व नही होता। सम्प्रभु पर यदि कोई मर्यादा हो सकती है तो वह स्वय उसके द्वारा अपने ऊपर आरोपित हो सकती है।

1 "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society and the society (including the superior) is a society, political and independent"

—*John Austin*

(iii) समाज की बहुसंख्या पूर्ण रूप से सम्प्रभु की आज्ञा का अनुपालन करती है और यह अनुपालन कभी-कभी ही या किसी दबाव के कारण नहीं होता, वरन् एक आदत के रूप में (Habitual Obedience) में होता है। थोड़े समय के लिए यदि किसी के हाथ में आज्ञा प्रदान करने की शक्ति आ जाए तो उसको सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। ऑस्टिन ने सम्पूर्ण समाज के आज्ञाकारी होने की बात नहीं कही है। उसका कहना यही है कि समाज की बहुसंख्यक सम्प्रभु के आदेशों का पालन करती रहे।

(iv) सम्प्रभु द्वारा जो भी आदेश दिए जाते हैं वे सब कानून हैं, उसके अभाव में किसी कानून का अस्तित्व नहीं हो सकता। सम्प्रभु की आज्ञा न मानने वाले दण्ड के भागी होते हैं।

(v) सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। सम्प्रभु अपने समान किसी अन्य मानव श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन करने का आदी नहीं होता और कानून-निर्माण का एकमात्र अधिकार उसी को प्राप्त होता है, अतः इसका स्वाभाविक अर्थ है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि सम्प्रभुता से सम्बद्ध कोई कार्य राज्य के किसी अन्य अधिकारी द्वारा सम्पन्न किया जाता है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रभुसत्ता बँट गई है, बल्कि इसका आशय केवल यह है कि वह अधिकारी सम्प्रभु की आज्ञानुसार ही उसके द्वारा प्रदत्त शक्ति का उपयोग कर रहा है। सम्प्रभु को अधिकार है कि वह प्रदत्त शक्ति को जब चाहे तब वापस ले ले या उसका हस्तान्तरण अन्य अधिकारी को कर दे। इससे यह स्पष्ट है कि सभी अधिकारी सम्प्रभु के अधीन होते हैं, राज्य के विभिन्न समुदाय या संगठन सम्प्रभु से ही अपने अधिकार प्राप्त करते हैं। इसी आधार पर प्रभुसत्ता अदेय भी होती है।

(vi) एक राजनीतिक समाज स्वतन्त्र होता है अर्थात् निश्चित मानव-श्रेष्ठ की प्रभुसत्ता के अधीन निर्मित समाज ही राज्य कहा जाता है। वह राजनीतिक समाज (जिसमें निश्चित मानव-श्रेष्ठ सम्मिलित है) किसी अन्य राजनीतिक समाज के अधीन नहीं होता।

स्पष्ट है कि ऑस्टिन ने सम्प्रभु को निश्चयात्मक, निरंकुश, स्थायी, सर्वव्यापी, असीमित और अविभाज्य माना है। उसका सम्प्रभुता-सिद्धान्त एक वकील के दृष्टिकोण का द्योतक है।

ऑस्टिन के सम्प्रभुता-सिद्धान्त की आलोचना

ऑस्टिन के सम्प्रभुता और विधि-सम्बन्धी सिद्धान्त पर बहुत ही तीव्र प्रहार किए गए हैं। आलोचकों में सर हेनरी मेन, क्लार्क, सिजविक, लीकॉक, ब्लंटश्ली, लास्की आदि प्रमुख हैं। इनके द्वारा ऑस्टिन की मान्यता को निराधार और अतिशयोक्तिपूर्ण बतलाया गया है। सम्प्रभुता के इस एकाकी स्वरूप और विश्लेषणात्मक सिद्धान्त पर आक्रमण के प्रमुख आधार-बिन्दु ये हैं—

1 सर हेनरी मेन के अनुसार इतिहास में शासकों का ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसे ऑस्टिन का निश्चयात्मक सर्वोच्च (Determinate Human Superior) कहा जा सके। बड़े से बड़े तानाशाह भी विभिन्न नैतिक प्रभावों लोक-परम्पराओं और रीति-रिवाजों से प्रभावित अथवा प्रतिबन्धित रहते हैं। प्राचीनकाल में तो टर्की के सुल्तानों या पंजाब के रणजीतसिंह जैसे निरंकुश राजाओं ने भी अपने शासनकाल में कुछ न कुछ मर्यादाओं का पालन किया था। रणजीतसिंह ने जब सिक्ख धार्मिक संहिता (Sikh Religious Code) का उल्लंघन किया तो अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर के उच्च पुजारियों द्वारा उसे दण्डित किया गया—इस स्थिति में सम्प्रभु कौन था—रणजीतसिंह अथवा परम्परागत कानून? यदि हम परम्परागत कानून को सम्प्रभु की मान्यता दें तो वह ऑस्टिन का 'निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ' नहीं हो सकता।[1] परम्पराएँ और रीति-रिवाज वास्तव में युगों के विकास का परिणाम हैं जिन्हें किसी भी 'निश्चयात्मक व्यक्ति या निकाय' द्वारा नहीं बदला जा सकता और जिनका सम्पूर्णतः उल्लंघन करने का साहस भी कोई नहीं कर सकता। तथ्य यह है कि समाज के वास्तविक शासक प्रायः खोजे नहीं जाते, वे तो पृष्ठभूमि में रहते हैं। ऑस्टिन ने अपनी विचारधारा में

1 [illegible] : A History of Political Theories, p. -450.

उन्हें कोई स्थान नही दिया है। आज जिस सम्प्रभुता मे विश्वास किया जाता है वह ऑस्टिन के 'निश्चयात्मक प्रभु' की धारणा से मेल नही खाती। सघात्मक राज्यो मे तो यह पता लगाना असम्भव सा हो जाता है कि 'निश्चयात्मक प्रभुसत्ता' कहाँ स्थित है ? यदि अमेरिका के सविधान मे सशोधन करने वाले निकाय को सम्प्रभु माना जाए तो यह गलत होगा क्योकि वह 'निश्चयात्मक' नही होता। एकात्मक राज्य तक मे निश्चित मानव-श्रेष्ठ को खोजना कभी-कभी कठिन होता है। उदाहरणार्थ, बेल्जियम का सविधान प्रत्येक नागरिक को कुछ अधिकारो की गारण्टी देता है और इन अधिकारो मे बेल्जियम की संसद् द्वारा सशोधन किया जा सकता है बशर्ते कि ससद् का निर्णय दूसरी ससद् द्वारा पुष्ट हो जिसे इसी उद्देश्य के लिए निर्वाचित किया जाता है। अब इस स्थिति मे कौन सम्प्रभु है—वह ससद् जिसने सशोधन प्रारम्भ किया है अथवा वह ससद् जिसने सशोधन की पुष्टि की है ? ऑस्टिन कहेगा कि बेल्जियम सम्प्रभु नही है क्योकि ससद् के पास असीमित शक्तियाँ नही हैं और यदि सम्प्रभुता का वास जनता मे है तो जनता 'निश्चयात्मक' नही है।

डायसी ने इस कठिनाई के हल के लिए सम्प्रभुता की धारणा को दो भागो मे बाँटा है—राजासहित ससद् (King-in-Parliament) और निर्वाचक मण्डल (Electorate)। इसमे प्रथम वैधानिक (Legal) है और द्वितीय राजनीतिक (Political), लेकिन यह ऑस्टिन के सिद्धान्त का कोई हल नही है क्योकि इस हल का अर्थ है कि सम्प्रभुता विभाज्य है जबकि ऑस्टिन का कहना है कि सम्प्रभुता अविभाज्य होती है।

2 ऑस्टिन अपने सिद्धान्त को ब्रिटिश और अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्थाओ पर लागू करके स्वय अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। इग्लैण्ड मे सम्प्रभुता के निवास के बारे मे उसके स्वय के तर्क परस्पर विरोधी है। एक स्थल पर वह ससद् को सम्प्रभु मानता है तो दूसरे स्थल पर सम्राट, लॉर्ड सभा और मतदाताओ को सयुक्त रूप से सम्प्रभु बताता है। एक अन्य स्थान पर उसका तर्क है कि जब लोकसभा विघटित हो जाती है तो मतदाता सम्प्रभु हो जाता है। कही तो वह कहता है कि लोकसभा मतदाताओ की ट्रस्टी मात्र है, पर साथ ही वह यह भी कहता है कि लोकसभा ट्रस्टी नही है। अमेरिकी सविधान मे ऑस्टिन के निश्चयात्मक प्रभु को खोज निकालने का प्रयास अर्थहीन ही है, क्योकि वहाँ न तो काँग्रेस सर्वोच्च है और न ही न्यायपालिका और सविधान सर्वोच्च है।

3 ऑस्टिन ने बोदाँ, हॉब्स और बेन्थम की भाँति ही सम्प्रभुता को निरपेक्ष और असीमित माना है और इस पर किसी भी प्रकार की सीमा लगाने से इन्कार किया है। पर, ब्लशली के अनुसार, "राज्य अपनी सम्पूर्णता मे भी कभी सर्वशक्तिमान नही हो सकता क्योकि बाहर से वह दूसरे राज्य के अधिकारो द्वारा और भीतर से अपनी ही प्रकृति तथा व्यक्तिगत सदस्यो के अधिकारो द्वारा सीमित होता है।" बहुलवादियो का तर्क है कि चाहे वैधानिक रूप से सम्प्रभुता असीमित मानी जाए, किन्तु व्यावहारिक रूप मे उसके प्रत्येक पहलू पर राजनीतिक और ऐतिहासिक सीमाएँ लगी रहती है। लेस्ली स्टीफेन के अनुसार सम्प्रभुता आन्तरिक और बाह्य दोनो रूपो मे सीमित है। आन्तरिक रूप मे इसलिए कि प्रत्येक व्यवस्थापिका कुछ सामाजिक परिस्थितियो का परिणाम होती है, उसके स्वरूप का निर्धारण उन तत्त्वो द्वारा होता है जो समाज के रूप को निर्धारित करते है। व्यवस्थापिका यदि यह निर्णय ले कि सभी नीली आँखो वाले बच्चो को मार दिया जाए तो कानूनी रूप से नीली आँखों वाले बच्चो की रक्षा करना चाहे गैर-कानूनी हो, लेकिन व्यावहारिक रूप से व्यवस्थापिका ऐसा कानून बनाने पर पागल कहलाएगी और जनता का ऐसे कानून के सामने झुकना जनता की मूर्खता होगी। बाह्य रूप मे आज के राज्य बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विधियो द्वारा प्रतिबन्धित है। लॉस्की के अनुसार इतिहास का वास्तविक अनुभव इस बात का प्रमाण है कि किसी भी सम्प्रभु ने कभी भी असीमित शक्ति का प्रयोग नही किया। और तो और जब कभी सम्प्रभु द्वारा शक्तियों का प्रयोग किया जाता है, तो भी वह पहले से ही सुरक्षा की व्यवस्था के लिए चिन्तित रहता है।

गार्नर एव डनिंग ने ऑस्टिन की सर्वोच्च सम्प्रभुता की व्याख्या मे स्पष्ट किया है कि यह सर्वोच्चता सांविधानिक है और तार्किक असगतियो को दूर करने की दृष्टि से वैधानिक क्षेत्र की परिभाषा है, इसे केवल प्रत्यक्ष कानून के सन्दर्भ मे परखा जाना चाहिए। ऑस्टिन ने स्वय इस बात को स्वीकार किया था कि राज्यीय कानूनो के अतिरिक्त अन्य शक्तियाँ भी हैं जो सामाजिक जीवन का सचालन करती हैं, पर उसका कहना था कि इन शक्तियो को वैधानिक नही माना जा सकता। कानून मे बाध्यता की शक्ति केवल तभी आ सकती है जब वह किसी सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रसारित हो अर्थात् यदि कानून मे बाध्यकारी शक्ति होना आवश्यक है तो उसके पीछे कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए जिसे कोई दूसरी सत्ता मर्यादित न कर सके, क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो कानून की बाध्यता समाप्त हो जाएगी और जनता के सामने यह समस्या उत्पन्न हो जाएगी कि वह किसकी आज्ञा का पालन करे। स्वाभाविक है कि जनता को कानून के पालन के बारे मे यह छूट नही दी जा सकती कि वह चाहे जिसके बनाए कानून का पालन करे। सांविधानिक शक्ति किसी एक समय मे एक ही हो सकती है, किन्तु उसकी शक्तियो की अभिव्यक्ति सरकार के विभिन्न अगों द्वारा होती है। जब लोग कानूनो का पालन करते है तो प्रश्न उठता है कि आखिर वे किसके बनाए हुए कानूनो का पालन करते हैं। उत्तर होगा कि लोग अवश्य ही उस शक्ति द्वारा निर्मित कानूनो का पालन करते हैं जिसे उन कानूनो को बनाने का अधिकार है। अब प्रश्न उठता है कि राज्य मे सर्वोच्च कानून-निर्मात्री शक्ति कौनसी है? स्पष्ट है कि यह शक्ति अवश्य ही वह है जो सविधान का निर्माण करती है तथा आवश्यकतानुसार उसमे सशोधन करने के लिए सक्षम है। यही है ऑस्टिन द्वारा इगित राजनीतिक एव स्वतन्त्र समुदाय।

4. ऑस्टिन ने अपने सिद्धान्त मे पूर्ण रूप से अमूर्त और वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया है, सम्प्रभुता के दार्शनिक पहलू को ध्यान मे नही रखा है। फिर यह भी विचारणीय है कि यदि सम्प्रभु की आज्ञाओ का पालन केवल 'आदतवश' किया जाता है तो उसे असीमित मानना अतार्किक होगा।

5 ऑस्टिन की कानूनी धारणा भी आलोचना की पात्र है। उसके अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश-मात्र हैं। लॉस्की का आरोप है कि कानूनों को केवल आदेश-मात्र मानना तो न्यायवेत्ता तक के लिए 'बाल की खाल खींचना' है। प्रत्येक समाज मे रीति-रिवाजों का महत्त्व होता है जिनकी उपेक्षा सम्प्रभु भी नही कर सकता। प्राचीन राज्यो मे तो सामाजिक प्रथाएँ और परम्पराएँ ही कानून का काम करती थी। आज भी यदि हम ब्रिटिश कॉमन-लॉ का अवलोकन करें तो पाएँगे कि यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से ससद् में राजा द्वारा उसे परिवर्तित किया जा सकता है और इच्छानुसार मोडा जा सकता है, तथापि व्यवहार मे अधिकांश कॉमन लॉ को सम्प्रभु द्वारा स्वयं की सुरक्षा को खतरे मे डाले बिना बदला नही जा सकता। अवश्य ही ऑस्टिन रीति-रिवाजों के प्रभाव और महत्त्व से अपरिचित नही था। उसका कहना केवल यह था कि परम्पराएँ तब तक केवल नैतिकताएं रहती है जब तक उनको न्यायालय द्वारा लागू न किया जाए। जब न्यायालय उन्हें जारी करते हैं तो वे सम्प्रभु के आदेश बन जाते हैं। ऑस्टिन का यह विचार यद्यपि सही है, तथापि इससे सम्प्रभु के असीमित होने का निष्कर्ष सिद्ध नही होता। वर्तमान अनुसन्धानो ने तो यह निश्चित कर दिया है कि सम्प्रभु ही कानून का एकमात्र निर्माता नही होता। कानून सामाजिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति-मात्र होते है। क्रेब, ड्यूग्वी, लॉस्की आदि का तर्क है कि राज्य कानून का निर्माण नही करता वरन् कानून द्वारा ही राज्य का निर्माण होता है।

6. कानून की अवज्ञा करने वाले को दण्ड दिए जाने की बात कह कर ऑस्टिन ने शक्ति के तत्त्व पर अधिक जोर दिया है पर वास्तविकता यह है कि हम कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं, वरन् कानून के अनुरूप आचरण करने की भावना से करते है। लॉस्की के शब्दो में, "आदेश का भाव अनिश्चित और अप्रत्यक्ष है तथा दण्ड का विचार घुमा-फिरा कर एक चक्करदार तरीके से सोचने के सिवाय बिल्कुल शून्य ही है।"

7. ऑस्टिन ने सम्प्रभुता को अविभाज्य माना है। लॉर्ड (Lord) उस मत से सहमत नहीं है। प्रत्येक राजनीतिक समाज में कार्यों का विभाजन किया जाता है। ऐसे विभाजन के बिना कोई भी सरकार प्रभावशाली रूप से सचालित नहीं हो सकती। सरकार के तीन प्रमुख अग है—कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका। इस प्रकार राज्य में केवल एक ही सम्प्रभु मानने की अपेक्षा तीन सम्प्रभु मानने होगे। पुनश्च, प्रत्येक अग भी अनेक इकाइयो से मिल कर बना होता है। सरकार के ये तीनो अंग एक-दूसरे के इतने पृथक् और स्वतन्त्र होते है कि बिना एक-दूसरे के हस्तक्षेप के कोई भी अंग अपने कार्यों का सचालन कर सकता है। इस स्थिति मे यह कैसे माना जा सकता है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है पर ऑस्टिन के समर्थक यह अवश्य कह सकते है कि विभाजन कार्यों का हुआ है न कि इच्छा का। इच्छा तो एक इकाई के रूप मे विद्यमान है क्योकि राज्य के विभिन्न अग परस्पर विरोधी रूप मे कार्य नही कर सकते।

कुछ लोगो को यह भी भय है कि ऑस्टिन का सिद्धान्त कानूनी स्वेच्छाचारिता का मार्ग प्रशस्त करता है। ऑस्टिन ने सम्भवत. इस आलोचना की कल्पना कर ली थी, किन्तु फिर भी उसने यह मत प्रतिपादित किया कि सर्वोच्चता का पद-सोपान नही हो सकता। ऑस्टिन का इसमे यह उद्देश्य था कि 19वी शताब्दी मे इग्लैण्ड भी व्यवस्थापन सम्बन्धी सुधार कर ले। अनेक रूढिवादी इन सुधारो के विपरीत थे इसलिए ऑस्टिन ने यह प्रतिपादित किया कि ये रीति-रिवाज या दैविक कानून राज्य के व्यवस्थापन से न तो सर्वोच्च हैं और न ही उससे स्वतन्त्र।

ऑस्टिन एक उपयोगितावादी के रूप मे
(Austin as a Utilitarian)

वेन्थम के उपयोगितावादी विचारो के समर्थन और प्रसार मे जेम्स मिल ने भारी योग दिया था। जे एस मिल ने उपयोगितावादी का समर्थन करते हुए भी उपयोगितावादी दर्शन को बिल्कुल नया रूप दे दिया और जॉन ऑस्टिन ने न्यायशास्त्र के आधार पर उपयोगितावादी परम्परा को स्वीकार किया। ऑस्टिन एक विधि-वेत्ता और न्यायविद् था जिसके राजनीतिक विचार रूढिवादी थे, तथापि उसने वेन्थम और जेम्स मिल के उपयोगितावादी सिद्धान्त को अपनाया और ऐसा करने मे उसने सुखवादी मनोविज्ञान तथा लोकतान्त्रिक विचारो की अपेक्षा विधिक और न्यायिक दर्शन का सहारा लिया।

ऑस्टिन ने अन्य उपयोगितावादियो की भांति ही 17वी और 18वी शताब्दियो के विवेक-वादियो की प्राकृतिक अधिकार एव अप्राकृतिक कानूनी सम्बन्धी धारणाओ को अमान्य ठहराया। उसने कहा कि अधिकार तो वही हैं जिन्हे सम्प्रभु द्वारा जनता को प्रदान किए जाएँ और जो कानून द्वारा निश्चित हो। ऑस्टिन ने यह स्वीकार किया कि अधिकारो का निर्माण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। अधिकारो को दैवी होने के कारण मानना हमारी अज्ञानता और हठधर्मी है।

स्वतन्त्रता पर भी ऑस्टिन के स्फुट विचार हैं। यहाँ भी उसके मत मे स्वतन्त्रता का औचित्य उपयोगिता है और सम्प्रभु अपने कानून द्वारा आवश्यकतानुसार स्वतन्त्रता की सीमाओ को घटा-बढा सकता है। उसके शब्दो मे, राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतन्त्रता "वह स्वतन्त्रता है जिसे एक सम्प्रभु सरकार द्वारा प्रजा के लिए अनुमोदित या स्वीकृत किया जाता है।"[1] स्वतन्त्रता की सीमा को आवश्यकतानुसार समय-समय पर निर्धारित करने के लिए अनेक बातें उत्तरदायी होती है; यथा—सर्वाधिक हित एव उपयोगिता की भावना प्रचलित परम्पराएँ तथा राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, आदि। ऑस्टिन ने इस प्रकार के विचारो को अमान्य ठहराया कि राजनीतिक या नागरिक स्वतन्त्रता का महत्त्व वैधानिक नियन्त्रणो से अधिक है। उसका कहना था कि वैधानिक नियन्त्रण भी उतने ही उपयोगी हैं जितनी स्वतन्त्रता की स्वीकृति और इसलिए इन दोनो मे प्राथमिकता की समस्या पैदा नही

1 *Dunning* Op cit, p 2?2.

होती। उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए वैधानिक नियन्त्रण और स्वतन्त्रता दोनों साधनों में जो भी अधिक लाभकारी होता है उसे सम्प्रभु सरकार द्वारा अपना लिया जाता है।

ऑस्टिन की यह भी मान्यता थी कि राज्य का अस्तित्व उसकी उपयोगिता में सन्निहित है। उसका उद्देश्य सर्वाधिक हित-सम्पादन करना है। राज्य के आदेशों का पालन इसलिए नहीं किया जाता कि वह किसी समझौते की देन है, बल्कि इसलिए कि ऐसा करना हमारे लिए हितकर है। चूँकि राज्य हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी है, अतः हम स्वभावतः राज्य के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य और राजनीतिक सरकार का मूल और सर्वोपरि उद्देश्य ही अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना है। ऑस्टिन ने, बेन्थम की भाँति ही, स्वीकार किया है कि मानव-जाति विभिन्न समुदायों में विभाजित है और समुदायों का उद्देश्य सार्वजनिक हित है। इसीलिए मानव-जाति का कुल हित विभिन्न समुदायों द्वारा प्राप्त हितों का योग है। अन्य उपयोगितावादियों और ऑस्टिन में विशेष अन्तर यह है कि जहाँ दूसरों ने किसी विशेष समुदाय के अन्दर लोगों के सुख-दुःख का हिसाब लगाकर उसके सदस्यों की 'उपयोगितापूर्ण' स्थिति का मूल्यांकन किया है वहाँ ऑस्टिन ने अपनी 'उपयोगिता' के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव-जाति को समेट लिया है। दूसरे शब्दों में, ऑस्टिन सार्वभौमिक उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए यह मानता है कि यदि कोई समुदाय दूसरे समुदाय को क्षति पहुँचाकर अपने हितों की पूर्ति करता है तो वह सही अर्थ में उपयोगी समुदाय नहीं है। दूसरे का अहित करके अपना हित करना ऑस्टिन को पसन्द नहीं था। उसने उस राष्ट्रीय हित का समर्थन नहीं किया जो दूसरे राष्ट्रों का अहित करके अर्जित किया जाए।

ऑस्टिन का महत्त्व और प्रभाव
(Significance and Influence of Austin)

ऑस्टिन के उपयोगितावादी विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वह इस बात के लिए विशेष रूप से प्रशंसा का पात्र है कि उसने उपयोगिता के सार्वभौमिक स्वरूप पर बल दिया। उसने एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय उपयोगितावाद का समर्थन किया और यह भी कहा कि केवल आर्थिक उपयोगिता को ही सम्पूर्ण उपयोगिता मान लेने के दृष्टिकोण को हतोत्साहित किया जाना चाहिए। जीवन के विभिन्न पक्षों में जो उपयोगिताएँ बिखरी हुई हैं उन सभी को प्रोत्साहन देना चाहिए।

ऑस्टिन के सम्प्रभुता-सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि उसने सम्प्रभुता के जिस कानूनी पहलू पर बल दिया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा सम्प्रभुता के लौकिक और राजनीतिक स्वरूप की अनिश्चितता निश्चितता में बदल जाती है। फिर कानून दृष्टि से प्रत्येक राज्य में किसी न किसी व्यक्ति या समुदाय की सर्वोच्च-सत्ता विद्यमान रहती है। ऑस्टिन का सिद्धान्त यद्यपि सभी प्रकार के राज्यों पर समान रूप से लागू नहीं होता, तथापि आज की राज्य-सत्ता इतनी सशक्त है कि वह निश्चय ही हमारे आन्तरिक जीवन को पर्याप्त रूप से नियन्त्रित करती है। बाह्य रूप में भी राज्य अन्तिम रूप से अपनी इच्छा का स्वामी है, चाहे उसके कार्य के कुछ भी परिणाम निकलें। वास्तव में ऑस्टिन मुख्यत विधि-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली पर विचार कर रहा था, उसका क्षेत्र राजनीतिक दर्शन नहीं था। ऑस्टिन ने सम्प्रभुता के क्षेत्र में वैज्ञानिक शुद्धता, स्पष्टता और सुबोधता स्थापित करने का सफल प्रयास किया। डायसी, जेम्स ब्राइस, हॉलैण्ड, विलोबी, कैलहूल जैसे विद्वानों ने ऑस्टिन के सिद्धान्त का अनुसरण किया है। मैक्सी का यह कथन सत्य है कि राजनीतिक बहुलवादियों की आलोचनाओं के बावजूद ऑस्टिन का सिद्धान्त प्रभावी है। यह सिद्धान्त आज भी राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बना हुआ है।

25 जॉर्ज ग्रोट तथा एलेक्जेण्डर बेन

(George Groteand Alexander Bain)

बेन्थम, जेम्स मिल और जे. एस. मिल के बाद उपयोगितावादियों में जॉर्ज ग्रोट तथा एलेक्जेण्डर बेन के नाम उल्लेखनीय हैं। जार्ज ग्रोट ने उपयोगितावाद को बिना किसी विशेष परिवर्तन अथवा संशोधन के स्पष्ट शब्दो मे प्रस्तुत किया तो एलेक्जेण्डर बेन का नाम एक मनोवैज्ञानिक, नीतिशास्त्री और शिक्षाविद् के रूप में लिया जाता है तथा नैतिकता एव मनोविज्ञान के क्षेत्र मे उसने जो वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किए उन्ही का उपयोगितावादी चिन्तन में समावेश कर लिया गया है।

जार्ज ग्रोट
(George Grote, 1795–1871)

जीवन-परिचय

जॉर्ज ग्रोट यूनान का एक प्रतिभावान इतिहासकार था। अरस्तू और प्लेटो की विचारधारा का कुशल अध्येता यह विद्वान् बेन्थमवादी के रूप मे विख्यात हुआ। चूंकि वह बहुत पहले से ही बेन्थम से प्रभावित था, अतः उसके विचार भी बेन्थम के प्रमुख राजनीति ग्रन्थो मे समान रूप से स्वतः ही स्थान पा गए थे। जार्ज ग्रोट, जो इगलैण्ड का निवासी था, न केवल एक राजनीतिक विचारक था बल्कि एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी था जो सन् 1832 से 1841 तक ब्रिटिश पार्लियामेन्ट का सदस्य रहा। ग्रोट का संसदीय जीवन बहुत सक्रिय रहा और ब्रिटिश ससद् मे उसने विभिन्न विषयो पर जो भाषण दिए वे उच्च कोटि के माने जाते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल और ग्रोट परस्पर मित्र थे, अतः मिल के विचारो का भी उस पर काफी प्रभाव था। ग्रोट ने अपने ससदीय जीवन मे गुप्त मतदान-प्रणाली के पक्ष मे प्रभावशाली वक्तव्य दिए और जनमत तैयार किया। सन् 1832 मे जो विख्यात सुधारवादी विधेयक पारित हुआ उसके पीछे जॉर्ज ग्रोट का भी अथक श्रम था। ग्रोट बेन्थम का बहुत प्रशसक था और अपनी सभी राजनीतिक कृतियो मे उसने बेन्थम के उपयोगितावादी विचारो का समर्थन किया। ग्रोट की निम्नलिखित कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय है—

1 Essentials of Parliamentary Reforms, 1831
2 Minor Works, 1876
3 Fragments on Ethical Subjects, 1876.

जॉर्ज ग्रोट के विचार

जॉर्ज ग्रोट का नाम विशेषकर 'बेलट (Ballot) द्वारा मतदान' नामक आलेख से सम्बद्ध है। उसने गुप्त मतदान के पक्ष मे शक्तिशाली तर्क प्रस्तुत किए और इस प्रश्न पर जॉर्ज स्टुअर्ट मिल मे उसका तीव्र मतभेद रहा क्योकि मिल खुले मतदान का समर्थक था। ग्रोट का तर्क था कि खुले मतदान से हजारो व्यक्ति जिस प्रकार मताधिकार का उपयोग करना चाहते है, उस प्रकार नही कर पाते क्योंकि

मतदान करने वालो पर मतदान के समय भाँति-भाँति का दबाव डाला जाता है जिसके फलस्वरूप बहुत से लोग हस्तक्षेप के भय से या तो मतदान के लिए जाते ही नही और यदि जाते हैं तो वे अपने मताधिकार का प्रयोग अपनी इच्छानुसार नही कर पाते। इस तरह दोनो ही स्थितियो में प्रतिनिधि-शासन के लक्ष्य की सिद्धि नही हो पाती और न ही संसद् को जन-विश्वास का समुचित लाभ ही मिल पाता है। ग्रोट की तार्किकता के बारे मे डेविडसन ने लिखा है कि "इस बारे मे उसका समर्थन अधिकारयुक्त और पूर्ण" था। ग्रोट ने खुले मतदान के विरोध मे यह भी कहा कि जो लोग मतदान करते हैं वे अकेले सारे मतो को (क्योंकि उस समय मतदान व्यवस्था थी) एक ही प्रत्याशी को देकर उसका दुरुपयोग करते हैं और इसके फलस्वरूप जो संसद् निर्वाचित होती है वह जनमत का सही प्रतिनिधित्व करने वाली नही होती। ग्रोट ने एक अन्य तर्क यह दिया कि यदि गुप्त मतदान किया जाए तो मतदान किसी भी प्रत्याशी के दबाव से किए गए वचन को सुगमता से तोडकर अपने विवेक और स्वेच्छा से मतदान कर सकता है जो खुले मतदान की व्यवस्था मे सम्भव नही होता। जब ग्रोट की युक्ति का इस आधार पर विरोध किया गया कि वचन तोड़कर मतदान करना तो अनैतिक है, तो ग्रोट का उत्तर था कि दबाव से किया गया कोई भी वादा या वचन सही अर्थ मे वादा नही होता और इसके अतिरिक्त जनता के प्रति कर्त्तव्य की भी माँग है कि जन-हित की उपेक्षा करके कोई मतदाता अपने निजी वादे या वचन का निर्वाह न करे, क्योकि यह तो और भी अधिक अनैतिक बात होगी। यदि यह मान लिया जाए कि निजी वादा तोड़ना बुरी बात है तो जनता के प्रति कर्त्तव्य से मुख मोड़ना उससे बुरी बात है, अत. यदि बुराई करनी ही पड़े तो एक बड़ी बुराई की अपेक्षा छोटी बुराई करना 'अधिक उपयोगी' है।

जॉर्ज ग्रोट गुप्त मतदान के अतिरिक्त मताधिकार के विस्तार (Extension of Franchise) का भी प्रबल समर्थक था। जहाँ मिल तथा अन्य लोगो का तर्क था कि मतदाता के लिए थोड़ी-बहुत शिक्षा या सम्पत्ति या कर भुगतान की योग्यता—अर्थात् ऐसी ही कोई न कोई अर्हता अवश्य होनी चाहिए, वहाँ ग्रोट का कहना था कि एक निश्चित अवधि के बाद, उदाहरण के लिए, प्रति पाँच वर्ष बाद मतदान की अर्हताओं मे थोडी-बहुत छूट देकर मतदाताओ की सख्या मे वृद्धि करना उचित होगा और इस नीति से लगभग 20–25 वर्ष मे नए मतदाता प्रशिक्षित हो जाएँगे और धनी लोगो द्वारा गरीबो को मताधिकार दिए जाने का जो विरोध है वह भी कम हो जाएगा क्योकि समय के अनुसार धनी लोग स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप तैयार कर लेंगे। यह सर्वथा उचित है कि लोकतन्त्र मे मताधिकार का लाभ अधिकाधिक लोगों को प्राप्त हो। स्पष्ट है कि ग्रोट उपयोगितावाद के आधार पर ससदीय प्रतिनिधित्व मे सुधार का समर्थक था।

जॉर्ज ग्रोट हर प्रकार के भ्रष्टाचार का विरोधी था और उसे उस समय इंग्लैण्ड मे निरन्तर बढ रहे भ्रष्टाचार से बडा क्षोभ था। वह मिल के इस विचार से असहमत था कि भ्रष्टाचार दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। वह यह भी स्वीकार नही करता था कि संसदीय चुनावों मे अनुचित दबावो का प्रयोग कुछ मात्रा मे कम हो रहा है। ग्रोट चुनाव सम्बन्धी बढ़ती हुई गुण्डागर्दी से दुखी था। वह इन बातो को चुनावो के लिए अपमानजनक मानता था और ऐसी व्यवस्था चाहता था जिसमे स्वस्थ तथा निष्पक्ष चुनाव सम्पन्न हो सके। ससदीय सुधारो के सम्बन्ध मे उसके विचार, विस्तार से उसकी सुविख्यात पुस्तक 'असेंशियल्स ऑफ पार्लियामेंटरी रिफार्म; 1831' में उपलब्ध है।

ग्रोट अनुभूतिवादी दर्शन (Experimental Philosophy) और उपयोगितावादी नैतिकता का कट्टर समर्थक था। वह बिना किसी सम्प्रदाय मे सम्मिलित हुए उपयोगितावाद को अत्यन्त रोचक रूप मे प्रस्तुत किया करता था।

एलेक्जेण्डर बेन
(Alexander Bain, 1818–1903)

जीवन-परिचय

एलेक्जेण्डर बेन भी जॉन स्टुअर्ट मिल (1806--73) का समकालीन था और मिल तथा ग्रोट दोनो से ही उसके अच्छे सम्बन्ध थे। बेन एक विख्यात मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्री और शिक्षाविद् था जो इंगलैण्ड मे सन् 1860 मे 1880 तक अबर्डीन विश्वविद्यालय में अंग्रेजी और तर्कशास्त्र का अध्यक्ष रहा था। बेन ने शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया और तर्कशास्त्र तथा शिक्षा-पद्धति पर पुस्तकें प्रकाशित की, तथापि मनोविज्ञान और आचार नीतिशास्त्र उसके मुख्य और प्रिय विषय थे। बेन ने मिल तथा ग्रोट दोनो के साथ मिलकर सम्पर्कवादी और उपयोगितावादी विचारधारा को प्रसारित करने मे बडा योग दिया। डेविडसन के मतानुसार बेन का उपयोगितावादियो मे एक निश्चित और स्पष्ट स्थान है। उसने उपयोगितावाद के मनोवैज्ञानिक और नैतिक सिद्धान्तो का विकास किया और इस तरह दार्शनिक उग्रवादियो की राजनीतिक विचारधारा को समर्थन प्रदान किया।[1] एलेक्जेण्डर बेन ग्रोट और मिल के समान न तो राजनीतिज्ञ ही था और न उसने कभी ससद् मे सदस्यता प्राप्त की। वह तो सुधारवादी दर्शन का अधिकृत विद्वान् था। उसके प्रमुख विचार उसके निम्नलिखित ग्रन्थो में उपलब्ध हैं—

1 The Senses and the Intellect (1855)
2 The Emotions and the Will (1859)
3 Mental and Moral Science
4. Education as a Science.
5 Logic

उसके राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित विचार 'Logic' ग्रन्थ की पाँचवी प्रति मे बडे विवेकपूर्ण ढंग से सम्पादित हुए हैं।

जेम्स मिल जिस तरह उपयोगितावादी दर्शन का मनोवैज्ञानिक विचारक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार बेन को उसका सच्चा उत्तराधिकारी समझा जाता है। इसी तरह जिस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावादी दर्शन को व्यापक अर्थ प्रदान किया, ठीक उसी प्रकार बेन ने उसे मनोवैज्ञानिक रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया। बेन द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान का रूप अन्य उपयोगितावादी विचारको की भाँति ही सम्पर्कवादी था और उसका प्रमुख तत्त्व 'अनुभूति' थी। किन्तु सम्पर्कवादी मनोविज्ञान को प्रस्तुत करने की अपेक्षा बेन की ख्याति एक उपयोगितावादी नीतिशास्त्री के रूप मे अधिक है। उसने आनन्द और पीडा की प्रकृति की विवेचना कर आत्मतुष्टि और उद्दीपन प्रवृत्ति (Self-satisfaction and Stimulation) के सिद्धान्तो की व्याख्या प्रस्तुत की। इससे भी आगे आनन्द का पूर्ण और तीव्र विवेचन कर उसने यह सिद्ध किया कि "आनन्द पीडा की तुलना मे सुख का अधिशेष है (The surplus of pleasure over pain) जिसे मानसिक सभावनाएँ अधिक से अधिक मात्रा में ग्रहण करती हैं और वेदना की अधिकाधिक सम्भावनाओं को नष्ट करने मे भाग लेती हैं। उपयोगितावादियो के लिए बेन का यह मत बहुत महत्त्वपूर्ण था।"[2]

बेन से उपयोगितावादी विचारधारा को दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह प्राप्त हुआ कि उसने उपयोगितावादी नैतिकता को "उस व्यर्थ की पीडाजनक और विषमदपूर्ण स्थिति से मुक्त कर दिया जो अनन्तवादी सिद्धान्त के रूप मे उसे प्रतिक्षण वहन करनी पडती थी।" बेन ने सुख की अपनी परिभाषा देने का प्रयत्न किया। सुख और दु:ख के मनोभावो का बेन द्वारा किया गया विश्लेषण उपयोगितावादी

1 *Davidson* op cit., p 249
2 *Davidson* . Political Thought in England, p. 249.

विचारकों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। जॉन स्टुअर्ट मिल उदासीन एवं निरपेक्ष आनन्द-भावना को प्रतिशोधन और अनुभूति के अन्तर्गत मानता था। वह इस पृथक् आनन्द की भावना को किसी भी रूप में छिपी हुई स्वार्थप्रियता नहीं मानता था बल्कि मानव-प्रकृति के स्वतन्त्र और प्रभावपूर्ण अस्तित्व को स्वीकार करता था। सुख और उदासीन भावना के सम्बन्ध को अपनी विचार-पद्धति के अनुसार व्यक्त करते हुए उसने लिखा है, "जहाँ तक मैं उदासीन भावनाओं का मूल्यांकन कर पाता हूँ, वे आनन्द प्राप्ति से सर्वथा भिन्न होती हैं और उनकी अभिव्यक्ति पीड़ा से बचने की प्रवृत्ति के रूप में होती है। वे हमें आनन्द से दूर कर बिना किसी प्रयोजन के पीड़ा को स्वीकार करने की ओर खींचती हैं। मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमें इस विरोधाभास का साक्षात्कार करना चाहिए क्योंकि यह सत्य है कि मनुष्य में ये गतिमान शक्तियाँ होती हैं जो हमें आनन्द से वंचित कर उसके विरुद्ध कार्य करने की प्रेरणा देती हैं। केवल यह कह देना ही पर्याप्त नहीं होगा कि चूंकि हम अमुक कार्य करते हैं, अतः हमारे आनन्द की गति भी उसी के अनुकूल होती है। इस प्रकार की चिन्तन-पद्धति समस्या में आवश्यक उलझाव पैदा कर देती है।.....मात्र यही एक तरीका है जो हमारी प्रकृति के अनुसार किसी भी शुभ-कर्म और उदार व्यवहार का मूल्यांकन कर सकता है।"

26 जॉन स्टुअर्ट मिल

(John Stuart Mill, 1806-1873)

जीवन-परिचय

विख्यात बेन्थमवादी जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद के दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। 20 मई, 1806 को लन्दन मे उत्पन्न मिल को उसके पिता ने बचपन से ही बेन्थम के आदर्शों के अनुसार ढालने का पूरा प्रयत्न किया था। जेम्स के कठोर अनुशासन मे स्टुअर्ट मिल ने बाल्यावस्था मे ही गहन अध्ययन मे रुचि ली। मात्र 8 वर्ष की अवस्था तक उसने जेनोफोन, हेरोडोट्स, आइसोक्रेट्स के ग्रन्थो का और प्लेटो के छ सवादो का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। 11 वर्ष की अवस्था मे उसे लिवी द्वारा लेटिन मे लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढने को दिया गया। 13 वर्ष की अवस्था मे उसने एडम स्मिथ और रिकार्डो की अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तको, तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान के जटिल विषयो का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वह बचपन से ही इतने कठोर बौद्धिक अनुशासन मे रहा कि उसकी भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नही हो पाई, वह प्राकृतिक सौन्दर्य से दूर रहा और बाल-सुलभ मनोरजन भी उसे नही मिल पाया। 14 वर्ष की आयु में उसे बेन्थम के छोटे भाई के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया। वहाँ उसे घूमने और प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने का अवसर मिला। बाद मे प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, आत्मा के प्रति आकर्षण और फ्रेंच भाषा के प्रति अनुराग—ये सब बातें जीवन-पर्यन्त उसके साथ रही।

अति कुशाग्र-बुद्धि और मेधावी मिल मे अध्ययन और कार्य करने की तीव्र आकांक्षा थी। फ्रांस से लौटकर उसने जॉन ऑस्टिन से रोमन कानून तथा अन्य कानूनो की शिक्षा प्राप्त की। वह विभिन्न सभा-सोसाइटियों मे भाग लेने लगा और शीघ्र ही उसने भाषण-कला मे निपुणता प्राप्त करली। 16 वर्ष की अवस्था मे वह 'उपयोगितावादी सोसाइटी' (Utilitarian Society) का सदस्य बन गया और लगभग साढे तीन वर्ष तक वह वाद-विवादो मे प्रमुख वक्ता रहा। 17 वर्ष की अवस्था मे वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी मे एक क्लर्क के रूप मे नियुक्त हुआ और सन् 1856 मे अपने विभाग का अध्यक्ष बन गया। दो वर्ष बाद ही वह पद-निवृत्त हो गया। नौकरी के व्यस्त काल मे भी उसने अपनी साहित्यिक गतिविधियो मे कोई शिथिलता नही आने दी।[1]

अनवरत श्रम और बौद्धिक व्यायाम के फलस्वरूप युवावस्था मे ही मिल को हलके हृदय रोग का सामना करना पडा। उसने वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज आदि का गहन अध्ययन किया। इन महाकवियो की रचनाओं को पढकर मिल मे जीवन की अधिक मार्मिक वस्तुओं और मानव-मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रियाओं के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। उसके स्वभाव और चिन्तन मे एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। डेविडसन के अनुसार "उसके हृदय मे एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ जिसमे अधिक गहरी-

1 *William Ebenstein*: Great Political Thinkers, p 530-31.

सहानुभूति थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था, जिसने मानव की आवश्यकताओ को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ-साथ भावनाओ की तृप्ति के महत्त्व को भी अनुभव किया था।"[1]

सन् 1830 मे 25 वर्ष की अवस्था मे मिल का परिचय अति प्रतिभाशालिनी और मेधावी सुन्दरी श्रीमती हेरियट टेलर (Harriet Taylor) से हुआ। उनकी मैत्री लगभग 20 वर्ष तक चली। अनेक रचनाओ मे दोनो प्रतिभाओ ने परस्पर सहयोग किया। श्रीमती टेलर के पति की मृत्यु के बाद सन् 1851 मे दोनो विवाह-सूत्र मे बँध गए। 7 वर्ष बाद ही सन् 1858 मे पत्नी की मृत्यु हो गई। मिल ने अपना विख्यात निबन्ध 'On Liberty' उसी (श्रीमती टेलर) को समर्पित किया। उसके प्रति मिल का अनुराग और आदरभाव जीवन-पर्यन्त बना रहा। फ्रांस के 'एविग्नॉन' नामक नगर में पत्नी की कब्र के पास ही एक छोटे-से मकान मे मिल ने जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत किए। वही सन् 1873 मे उसकी मृत्यु हो गई और उसे भी अपनी पत्नी के पास ही कब्र मे दफना दिया गया।

यशस्वी मिल 59 वर्ष की अवस्था मे ससद् का सदस्य निर्वाचित हुआ। वह सन् 1865 से 1868 तक ससद् सदस्य के रूप मे आयरलैण्ड में भूमि-सुधार, किसानो की स्थिति, महिला मताधिकार, बौद्धिक कार्यकर्ताओ की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे अत्यन्त क्रियाशील रहा। लोकसभा में उग्र विचारक के रूप मे उसने विशेष ख्याति अर्जित की। उसने समस्याओ पर स्वतन्त्र और निर्भीक विचार व्यक्त किए। शासक और विरोधी दलो ने उसे पूरा सम्मान दिया। प्रधान मन्त्री ग्लेडस्टन ने एक बार कहा था, "जब मिल का भाषण होता था तो मुझे सदैव यह अनुभूति होती थी कि मैं किसी सन्त का प्रवचन सुन रहा हूँ।"

रचनाएँ और पद्धति

मिल ने अपने सघर्षपूर्ण जीवनकाल मे न्यायशास्त्र, अध्यापन-शास्त्र, आचार-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र—सभी महत्त्वपूर्ण विचारो पर बहुत-कुछ लिखा। उसकी बहुत-सी कृतियाँ तो उसके जीवनकाल मे ही प्रकाशित हो गई थी और कुछ उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। उसके नाम को अमर कर देने वाले कुछ ग्रन्थ ये है—

1. Plato's Dialogues, 1834.
2. The System of Logic, 1841.
3. Some Unsettled Questions in Political Economy, 1844.
4. The Principles of Political Economy, 1848.
5. Enfrenchisement of Women, 1853.
6. On the Improvement in the Administration of India, 1858.
7. A Treatise of Liberty, 1859.
8. Parliamentary Reforms, 1859.
9. Considerations of Representative Government, 1860.
10. Utilitarianism, 1861
11. Examination of Hamilton's Philosophy, 1865.
12. Auguste Comte and Positivism
13. Subjection of Women, 1869
14. Autobiography, 1873.
15. Three Essays on Religion, 1874.
16. Letters, 1910

1 *Davidson* op cit, p 162.

मिल का ग्रन्थ 'The System of Logic' न्यायिक अनुसन्धान मे एक युग का सूचक है तो 'A Treatise of Liberty' राजनीतिशास्त्र पर उसकी एक अति महत्त्वपूर्ण कृति है जो पाँच वर्ष के परिश्रम के बाद तैयार हुई थी। मिल की रचनाओ के अध्ययन से प्रकट होता है कि अपने पिता के बाद बेन्थम का उस पर सबसे अधिक प्रभाव पडा था। जेम्स मिल की धर्मनिरपेक्षता ने स्टुअर्ट मिल मे धार्मिक अनुभूति की गहरी छाप नही पडने दी, अतः उसके व्यक्तित्व मे सशयवाद की झलक सदा विद्यमान रही तथा उसकी रचनाओ मे धर्म की रागात्मक अनुभूति का पूर्ण अभाव रहा। बेन्थम के ग्रन्थो के अनुशीलन से मिल की मानसिक शक्ति को प्रेरणा मिली। जॉन ऑस्टिन तथा उसके भाई ने भी प्रारम्भिक अवस्था मे स्टुअर्ट मिल के बौद्धिक जीवन को काफी प्रभावित किया। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, एडम फर्गुसन आदि के आर्थिक उदारतावाद ने भी उसको प्रभावित किया। रोमांटिक विचारधारा के विख्यात कवि कॉलरिज का भी उस पर उल्लेखनीय प्रभाव पडा। कॉलरिज के राष्ट्रीय एकता और शिक्षा के महत्त्व सम्बन्धी विचारो की भी उस पर गहरी छाप पड़ी। अपनी पत्नी (श्रीमती टेलर) से वह इतना अनुप्राणित हुआ कि उसने 'On Liberty' नामक निबन्ध उसी को समर्पित किया जो उसके शब्दो मे, "मेरे लेखो मे जो भी सर्वोत्तम है उसकी वह प्रेरक थी और आंशिक रूप से उसकी लेखिका भी थी। वह मेरी मित्र और पत्नी थी जिसकी सत्य और शिव की उत्कृष्ट-भावना मेरी सबसे प्रबल प्रेरणा रही थी, जिसकी प्रशसा ही मेरा प्रथम पुरस्कार था।" जीवन के अन्तिम दिनो मे स्टुअर्ट मिल ने फ्रांसीसी साहित्य और दर्शन का विशेष अध्ययन किया तथा वह काम्टे और सेंट साइमन से प्रभावित हुआ। विभिन्न विचारधाराओ का समन्वय कर स्टुअर्ट मिल ने उनमें अपनी विशिष्ट मौलिक प्रतिभा का पुट दिया और एक विशद् दर्शनशास्त्र की रचना की। उसकी मौलिक प्रतिभा ने विभिन्न क्षेत्रो मे व्यावहारिक सुधार के भी अनेक सुझाव प्रस्तुत किए।

मिल की रचनाओ पर मत व्यक्त करते हुए सेबाइन ने लिखा है—"अपनी लगभग सभी कृतियों मे, विशेषकर उसकी आचार-शास्त्र एव राजनीति-शास्त्र सम्बन्धी कृतियो मे, मिल ने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त वर्णन किया है, किन्तु सिद्धान्त को व्यक्त करने के उपरान्त उसने कुछ रियायतें देना और कुछ बातो को इस प्रकार व्यक्त करना आरम्भ किया कि अन्त मे पुराना सिद्धान्त समाप्त हो गया और उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त की भी स्थापना नहीं हुई।"[1] इसी धारणा को व्यक्त करते हुए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है कि अपने आचार-शास्त्र एवं राजनीति सम्बन्धी विचारो मे, "मिल में हमे एक संघर्ष दिखाई देता है और यह संघर्ष है उसकी बौद्धिक सामग्री जो उसने अपने उन उपयोगितावादी गुरुजनो से विरासत मे प्राप्त की थी जिनके लिए उसके हृदय मे प्रेम था और जिस पर वह खुले मस्तिष्क तथा संवेदनात्मक पर्यवेक्षण के कारण पहुँचा था।"[2]

मिल ने विविध पद्धतियो (Methods) का अध्ययन और विश्लेषण करके बतलाया कि पद्धतियाँ मुख्यतः चार तरह की होती है—(1) रासायनिक पद्धति (Chemical Method), (2) ज्यामितिक पद्धति (Geometrical Method), (3) भौतिक पद्धति (Physical Method), एव (4) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)। रासायनिक पद्धति को केवल रसायन शास्त्रियों के लिए उपयुक्त मानते हुए राजनीति और राजदर्शन के क्षेत्र में मिल ने इसे निरर्थक बताया। उसने कहा कि प्रयोगशाला मे विभिन्न तत्त्वो और पदार्थों के मिश्रण से परीक्षण किया जाता है, लेकिन सामाजिक तत्त्वो के परीक्षण मे अन्य पदार्थों की तरह उनका मिश्रण करके प्रयोग नही किया जा सकता। ज्यामिति पद्धति को मिल राजदर्शन, अर्थ-शास्त्र आदि विषयो के क्षेत्र मे इस आधार पर अस्वीकार करता है कि यह पद्धति निगमनात्मक (Deductive) आधार पर चलती है और सामाजिक क्षेत्र मे पहले से हो

1 *Sabine* A History of Political Theory, p. 655
2 *Maxey* Political Philosophies, p. 477.

से ही निर्धारित नियम नहीं होते। मिल के अनुसार भौतिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियो का प्रयोग राजनीति शास्त्र मे किया जा सकता है। भौतिक पद्धति में निगमनात्मक (Deductive) और आगमनात्मक (Inductive) दोनो प्रणालियों का योग होता है और ऐतिहासिक पद्धति आगमनात्मक (Inductive) होती है। भौतिक पद्धति मे सर्वप्रथम प्रकृति के पदार्थों का परीक्षण किया जाता है और उनसे प्राप्त परिणामो मे पुनः शोधन के निष्कर्ष निकाले जाते है। समाजशास्त्र में मानव-प्रकृति के आधारभूत नियम होते है जिनके परीक्षण से कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए जाते है। उन सिद्धान्तो का विशेष परिस्थितियों में परीक्षण कर उनको निश्चयात्मक रूप दिया जाता है तथा उन पर प्रयोग किए जाते है। समाज-विज्ञान के साथ एक कठिनाई यह है कि यह नक्षत्र-विज्ञान की तरह सदैव अपने पूर्व विचार नही दे सकता फिर भी इस विधि का राजनीति-शास्त्र के अध्ययन मे प्रयोग किया जा सकता है। ऐतिहासिक पद्धति से मानव-प्रकृति के नियम खोज निकाले जाते हैं।

मिल ने अपनी रचनाओ मे भौतिक और ऐतिहासिक पद्धति का मिश्रित प्रयोग किया है। इन दोनो के समन्वय को समाजशास्त्रीय पद्धति भी कह सकते हैं, जिसमे आगमनात्मक और निगमनात्मक पद्धतियो का सम्मिश्रण और मनोविज्ञान का प्रयोग है। इसकी विशेषता यह है कि आग्रह या कट्टरता के बिना ही मिल युक्तिपूर्वक अपने विचारो की अकाट्य प्रामाणिकता सिद्ध करता है। मिल ने अनुभूति और पर्यवेक्षण पर भी बल दिया है। मिल की पद्धति के बारे मे सेबाइन (Sabine) के ये शब्द उद्घृत करने योग्य हैं—

"मिल ने अपने ग्रन्थ 'लॉजिक' की छठी पुस्तक मे सामाजिक शास्त्रो की वैज्ञानिक पद्धति के बारे मे विचार किया है। अर्थशास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ मे जिसमे मुख्य रूप से आगमनात्मक प्राकृतिक विद्वानो की पद्धति के बारे मे विचार किया गया है, इस विषय का समावेश महत्त्वपूर्ण है। इससे यह प्रकट होता है कि मिल सामाजिक शास्त्रो के क्षेत्र के विस्तार की आवश्यकता अनुभव करता था। वह यह चाहता था कि सामाजिक शास्त्रो की पद्धति को अधिक कठोर बनाया जाए और उन्हे प्राकृतिक विज्ञानो के समकक्ष स्थान दिया जाए। सामान्य रूप से उसका विचार यह था कि सामाजिक विज्ञानो के आगमन और निगमन दोनो की जरूरत है। यह बात सही थी लेकिन इसके आधार पर सामाजिक शास्त्र अन्य विषयो से पृथक् नही हो पाते थे। यह निष्कर्ष दार्शनिक उग्रवादियो की निगमनात्मक पद्धति की आलोचना के प्रति एक रियासत के रूप मे था। इसके साथ ही इसमे इस प्रक्रिया की आवश्यकता और सार्थकता की बात भी कही गई थी।... 'मिल ने 'लॉजिक' मे दोनो एकाकी दृष्टिकोणो को त्यागकर यह दृष्टिकोण अपनाया था कि आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनो पद्धतियो का प्रयोग होना चाहिए। उनका कहना था कि राजनीति आचरण के मनोवैज्ञानिक नियमो का अनुसरण करती है। यह मनोवैज्ञानिक आचरण केवल आगमनात्मक पद्धति पर आधारित हो सकता है। लेकिन राजनीतिक घटनाओ की व्याख्या अधिकतम निगमनात्मक होती है क्योकि उनकी व्याख्या का अर्थ मनोविज्ञान का आधार होता है। मिल ने अपनी प्रक्रिया को काम्टे की प्रक्रिया के अनुकूल बनाने के लिए ही इस तर्क का प्रयोग किया था। उसने यह स्वीकार किया कि ऐतिहासिक विकास के कुछ नियम आगमनात्मक पद्धति के आधार पर निर्धारित किए जा सकते हैं। यद्यपि उसे इस प्रक्रिया के विस्तार और इस की निश्चितता के बारे मे सन्देह था, फिर भी वह यह अनुभव करता था कि मनोविज्ञान के आधार पर इन नियमो की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए मिल का सामान्य निष्कर्ष यह था कि सामाजिक शास्त्रो के अध्ययन के लिए दोनों पद्धतियाँ उपयुक्त है और इन दोनों पद्धतियो को एक-दूसरे का पूरक होना चाहिए। एक पद्धति को वह प्रत्यक्ष निगमनात्मक पद्धति और दूसरी को परोक्ष निगमनात्मक पद्धति कहता था। वह दूसरी पद्धति का श्रेय कॉम्टे को देता था।"[1]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 675-76.

मिल के उपयोगितावादी विचार
(Mill on Utilitarianism)

जेम्स मिल के प्रयत्नों और बेन्थम के प्रति उनकी श्रद्धा ने स्टुअर्ट मिल को कट्टर उपयोगितावादी बना दिया। बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त पर आलोचकों ने निकृष्टता और हेयता के आरोप लगाये थे। मिल ने आलोचकों के प्रहारों का जोरदार उत्तर देते हुए उपयोगितावाद में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन किए तथा उनमें अनेक नए गुणवादी तत्त्वों का समावेश कर दिया जिसके फलस्वरूप मूल सिद्धान्त प्रायः समाप्त-सा हो गया। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कॉम्टे, डार्विन, स्पेंसर आदि के प्रभाव तथा इंग्लैण्ड की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण मिल के प्रारम्भिक बेन्थमवादी विचारों में शनैः-शनैः परिवर्तन आता गया और उसने नवीन सिद्धान्तों पर बल देना शुरू कर दिया। उपयोगितावाद की रक्षा करने के प्रयत्नों में उसने इतने संशोधन कर दिए कि उनका स्वरूप ही बदल गया। वेपर के अनुसार "उपयोगितावाद पर लगाए गए आरोपों से उनकी रक्षा करने की इच्छा से मिल ने सम्पूर्ण उपयोगितावाद को ही एक तरफ फेंक दिया।"[1] उसने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद पर अधिक बल दिया और इसलिए राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसे प्रायः 'अन्तिम उपयोगितावादी' तथा 'प्रथम व्यक्तिवादी' दार्शनिक माना जाता है। मिल ने उपयोगितावाद पर जो विचार प्रकट किए वे उसके प्रख्यात निबन्ध 'Utilitarianism' में उपलब्ध हैं।

मिल द्वारा उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा
(Mill's Restatement of Utilitarianism)

आरम्भ में मिल बेन्थम के सिद्धान्त के आधार पर ही आगे बढ़ा। उसने बेन्थम के समान ही सुख की प्राप्ति और दुःख की विमुक्ति को व्यक्ति का अभीष्ट माना। उपयोगितावाद की परिभाषा देते हुए उसने लिखा—"वह मत, जो उपयोगिता अथवा अधिकतम सुख के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार समझता है, यह मानता है कि प्रत्येक कार्य उसी अनुपात में सही है जिस अनुपात में वह सुख की वृद्धि करता है और जो भी कार्य सुख में विपरीत दिशा में जाता है वह गलत है। सुख का अर्थ है आनन्द की प्राप्ति और दुःख का अभाव। दुःख का अर्थ है पीड़ा या कष्ट तथा आनन्द का अभाव। इस सिद्धान्त द्वारा स्थापित नैतिक मापदण्ड को अधिक स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक कहना अनावश्यक है, विशेष रूप से यह कि सुख और दुःख की धारणाओं में क्या बातें सम्मिलित हैं और उनका उद्देश्य क्या है? यह एक खुला प्रश्न है। परन्तु ये पूर्ण व्याख्याएँ जीवन के उस सिद्धान्त को प्रभावित नहीं करती जिस पर नैतिकता का यह सिद्धान्त आधारित है कि सुख और दुःख से मुक्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है तथा समस्त वांछनीय वस्तुएँ, जिनका उपयोगितावादी योजना में भी वही स्थान है, जितना अन्य किसी योजना में वांछनीय इसलिए है कि या तो उनमें ही सुख का निवास है अथवा वे सुख-वृद्धि या दुःख निवृत्ति का साधन है।"[2]

स्पष्ट है कि मिल ने बेन्थम के सुखवाद को स्वीकार किया, किन्तु कालान्तर में उसके विचारों में शनैः-शनैः एक क्रान्ति हुई तथा उसका विवरण ऐसा हो गया जिसमें बेन्थम तथा उसके उपयोगितावादी चिन्तन में गहरे अन्तर उभर आए। यह देखना उपयुक्त होगा कि कहाँ तक वह बेन्थम के साथ और कहाँ तक उससे पृथक् रहा। उसके द्वारा किया गया बेन्थम के सिद्धान्त का रूपान्तर निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट हो सकेगा—

1. सुखों में मात्रात्मक ही नहीं, गुणात्मक अन्तर भी है—बेन्थम सुखों और दुःखों के मात्रात्मक भेद को ही स्वीकार करता था, गुणात्मक भेद को नहीं। किन्तु मिल ने इन दोनों भेदों को

1 *Wayper* : Op cit (Hindi), p. 141.
2 *Wayper* Political Thought, p 115

स्वीकार किया। उसने कहा कि सुख और दुःख के गुणात्मक अन्तर को मानना पूर्णत उचित है। कुछ सुख मात्रा मे कम होने पर भी इसलिए प्राप्त करने योग्य है क्योकि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है। निश्चय ही तुलसी और कीट्स के कार्यों का आनन्द गुल्ली डण्डा खेलने के आनन्द से अधिक उत्तम है। शारीरिक सुखो की तुलना मे मानसिक सुख अधिक श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि वे अधिक स्थायी और सुरक्षित होते हैं। मिल ने बतलाया कि सुखो मे केवल कम या अधिक का ही अन्तर नहीं होता, बल्कि उनके गुणो का भी अन्तर होता है। वे अपने महत्त्व के आधार पर उच्च अथवा निम्न भी हो सकते हैं। सुसस्कृत और परिमार्जित रुचियो वाले व्यक्तियो को जिन बातो मे सुख मिलता है वह सुख मूढ व्यक्तियो के इन्द्रियोन्मुख आनन्द से निश्चय ही अधिक श्रेष्ठ होता है। सुखो के गुणात्मक अन्तर की हम उपेक्षा नही कर सकते। सुख का मूल्यांकन केवल मात्रा के ही आधार पर करना अनुचित और अवांछनीय है। मिल के ही शब्दो मे, "एक सन्तुष्ट शूकर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना कही अच्छा है, एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात होना कही अच्छा है और यदि मूर्ख और शूकर का मत इसके विपरीत है तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपना पक्ष ही जानते है, जबकि दूसरा पक्ष (सुकरात, मानव) दोनो ही पक्षो को समझता है।" मिल ने सुख और दुःख के मध्य गुणात्मक भेद मानकर उपयोगितावाद को अधिक तर्कसगत अवश्य बना दिया किन्तु इससे बेन्थम का उपयोगितावादी दर्शन छिन्न-भिन्न हो गया।

2 **सुखो की गणना-पद्धति मे परिवर्तन**—मिल द्वारा सुखो मे गुणात्मक भेद मान लेने से बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड पूर्णत खण्डित हो जाता है। सुखो को नापने अथवा निष्पक्ष रूप मे उनका मूल्यांकन करने के बेन्थमवादी प्रयत्नो का कोई मूल्य नही रहता। बेन्थम सुख की मात्रा को सुखवादी गणना-पद्धति से मापना/चाहता था जबकि मिल का मत था कि विद्वानो के प्रमाण ही सुखो की जांच अथवा निर्णय के सही आधार हैं। "दो सुख प्रदान करने वाली विभूतियो की प्रगाढता का निर्णय उन्ही व्यक्तियो द्वारा हो सकता है जिन्हे दोनो अनुभूतियो का ज्ञान हो।"[1]

3 **बेन्थम के सिद्धान्त का उद्देश्य सुख या आनन्द-प्राप्ति था और मिल का शालीनता और सम्मान पर बल**—वेपर के अनुसार, "मिल की धारणा थी कि आनन्द गुण तथा मात्रा दोनो मे ही भिन्न होते हैं।" उसके अनुसार जीवन का अन्तिम उद्देश्य उपयोगितावादी नही, वरन् शालीनता (Dignity) है। अपनी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' मे वह लिखता है कि व्यक्तिवाद का प्रभाव सामान्य विचारधारा द्वारा कठिनाई से ही पहचाना जाता है। वह हम्बोल्ड (Humbold) के 'स्वय अनुभूति' (Self realisation) के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। मिल का कथन है, "केवल यही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य क्या करता है, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके वह खास काम करने के तरीके क्या है।" बेन्थम आदि के सिद्धान्तो का उद्देश्य आत्मानुभूति नही वरन् आनन्द-प्राप्ति है, जबकि मिल इसके विपरीत यह बताता है कि "वह आनन्द, जो शालीनता अथवा सम्मान की वृद्धि करे, दूसरे आनन्द से श्रेष्ठ है। इस प्रकार श्रेष्ठता का मापदण्ड उपयोगिता का सिद्धान्त नही। अत हमे यह कहना चाहिए कि शालीनता अथवा सम्मान की वृद्धि करने वाले श्रेष्ठ होते है। मिल यहाँ श्रेष्ठ जीवन का विचार प्रस्तुत कर रहा है। उसके लिए जीवन आनन्द-प्राप्ति के साधन से कुछ अधिक है।"[2] वेपर के अनुसार, "मिल नैतिक उद्देश्यो को सुख या प्रसन्नता से ऊँचा मानता है। जब कोई व्यक्ति नैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति कर लेता है तो प्रसन्नता स्वय उसके कदम चूमती है। उपयोगितावाद मे मिल की नैतिकतावाद की अवधारणा से बेन्थम की विचारधारा मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। मिल ने राज्य को नैतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक नैतिक सस्थान घोषित किया है। राज्य का उद्देश्य उपयोगिता नही, वरन् व्यक्ति मे नैतिक गुणो

1 *Mill* Utilitarianism, p 10
2 वेपर, वही, पृ 137

का विकास करना है। इस प्रकार मिल उपयोगितावाद की रक्षा इसमे पूर्ण परिवर्तन लाकर ही कर सका है।"

4 मिल की नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक—सम्मान अथवा शालीनता का उपयुक्ततावादी विचार मिल को नैतिक बाधा के अनुपयोगितावादी विवेचन की भी प्रेरणा देता है। बेन्थम ने नैतिक बाधा का कारण केवल मनुष्य की स्वार्थपरता को माना है, परन्तु मिल का विचार इससे भिन्न है। उसके अनुसार भय, स्मृति, स्वार्थ, नैतिकता मे उसी प्रकार बाधा पहुँचाते हैं जिस प्रकार प्रेम, सहानुभूति तथा धार्मिक भावनाएँ। मिल कुछ अधिक यथार्थवादी प्रतीत होता है। वह टी एच ग्रीन के विचार को स्वीकार करता है जिसके अनुसार सार्वजनिक कर्त्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो का जन्म तार्किक आधार पर व्यक्तिगत अधिकारो तथा हितो से नही हो सकता। मिल के अनुसार नैतिक बाधा की भावना उपयोगितावादी सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नही की जा सकती। इस प्रकार उसकी नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक है।

5. स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और मौलिक—बेन्थम के उपयोगितावाद मे मिल एक और भी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। जैसाकि वेपर ने लिखा है—"मनुष्य की आत्मा को श्रेष्ठ बनाने का विचार उसे स्वतन्त्रता के अनुपयोगितावादी विश्लेषण की ओर अग्रसर करता है। सच्चे उपयोगितावादियो के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से निम्न है, परन्तु मिल के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और अधिक मौलिक है।"

6 सुखो की प्राप्ति अप्रत्यक्ष ढग से होती है—मिल ने 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' की कल्पना को स्वीकार करते हुए इसमे बेन्थम की व्याख्या की त्रुटि को दूर करने की चेष्टा की। बेन्थम ने कहा था कि राज्य के कार्यो की नाप-तौल करते समय अन्य बातो के साथ ही विस्तार पर भी बल दिया जाना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि राज्य की कितनी अधिक जनसख्या को उस कार्य से सुख पहुँचेगा। पर यह प्रश्न अविचारित रह गया था कि एक व्यक्ति के सुख की खोज मे लगे रहने पर वह अन्य व्यक्तियो को सुख किस तरह पहुँचा सकेगा। मिल ने इसका समाधान करते हुए बतलाया कि यद्यपि अपना ही अधिकतम सुख प्राप्त करने की लालसा व्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य रहता है, तथापि तुरन्त ही वह सामाजिक हित के रूप मे प्रत्येक व्यक्ति के अधिकतम सुख का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ मे व्यक्ति किसी कार्य को इसलिए करता है कि उसे उससे सुख प्राप्त होता है, किन्तु बाद मे वही सुख साध्य बन जाता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को कष्ट मे देखकर मनुष्य उसकी सहायता करता है और इस कार्य से उसको स्वय सुख प्राप्त होता है। इससे उसे दूसरे व्यक्ति की सेवा मे सुख मिलने लगता है और कालान्तर मे वह निजी सुख को भुलाकर भी दूसरो की सेवा मे लगा रहता है।

7 मिल का सिद्धान्त नैतिक, बेन्थम का राजनीतिक—एक अन्य दृष्टिकोण से भी मिल की धारणा बेन्थम की धारणा से भिन्न है। बेन्थम अधिकतम सुख के सिद्धान्त को एक राजनीतिक सिद्धान्त समझता था, नैतिक नही। उसकी रुचि इस बात मे अधिक थी कि "विधि-निर्माता और शासक सामाजिक नीतियो के निर्धारण तथा विधि-निर्माण मे इसका प्रयोग करें।" उसे इसे व्यक्तिगत आचरण का सिद्धान्त बनाने मे विशेष रुचि नही थी। बेन्थम की मान्यता थी कि यदि कानून को निष्पक्ष होना है तो वह गुणात्मक भेद की बारीकियो में नही जा सकता। एक ईमानदार और नेक विधि-निर्माता के सामने इसके अलावा और कोई उपाय नही है कि वह यह मान कर चले कि विभिन्न व्यक्तियो के सुखो की तुलना केवल मात्रा की दृष्टि से ही की जा सकती है। पर मिल के हाथो मे स्थिति उल्टी हो गई। उपयोगिता का सिद्धान्त विधि-निर्माता के लिए व्यक्तिगत नैतिकता का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त बन गया। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को स्वय यह निर्णय करना है कि उसके लिए क्या करना उचित है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का राजनीतिक पहलू धूमिल होकर पृष्ठभूमि मे पड़ गया।

अपने विचार को मिल ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—"जहाँ तक व्यक्ति के अपने और दूसरों के आनन्द की तुलना का प्रश्न है, उपयोगितावाद की माँग है कि व्यक्ति को पूर्ण रूप से निष्पक्ष रहना चाहिए जैसे कि एक निष्काम तथा करुणाशील दर्शक को। ईसा मसीह के स्वर्णिम नियम मे हमें उपयोगितावादी आचार-शास्त्र की पूर्ण आत्मा के दर्शन होते है। जैसा आचरण आप दूसरे से चाहते है वैसा ही आचरण दूसरो के साथ करना और अपने पड़ोसियो से वैसा ही प्रेम करना जैसा आप स्वय अपने से चाहते हैं, यही उपयोगितावादी नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।"

उपर्युक्त विचारो मे इस सिद्धान्त के राजनीतिक पहलू का जिसमे बेन्थम की इतनी अधिक रुचि थी, उल्लेख तक नही किया गया है। वास्तव मे मिल के उपयोगितावाद मे बेन्थम का राजनीतिक चरित्र धुंधला पड गया है। बेन्थम के 'अधिकतम सख्या के अधिकतम सुख' का राजनीतिक सिद्धान्त मिल के हाथो मे पहुँच कर व्यक्तिगत नैतिकता का सिद्धान्त बन गया है।

8. मिल द्वारा अन्त करण के तत्त्व पर बल—बेन्थम ने उपयोगितावाद के भौतिक पक्ष पर बल देते हुए बाह्य बातो पर अधिक ध्यान दिया जबकि मिल ने आन्तरिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया। उसने बेन्थम के व्यक्तिगत और सामाजिक हितो मे एकता एव सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। बेन्थम ने व्यक्ति को सुख प्राप्ति के लिए प्रेरित करने वाले चार बाह्य दबावो—शारीरिक, सार्वजनिक, धार्मिक और नैतिक की चर्चा की थी। उसने यह सब अति विशेष सुखो और दुःखों तथा व्यक्तिगत एव सार्वजनिक हितो मे एकरूपता स्थापित करने की समस्या के निराकरण के लिए किया था। किन्तु मिल ने इस निराकरण को अपर्याप्त मानते हुए विश्वास प्रकट किया कि इस प्रकार कृत्रिम साधना द्वारा स्थापित की हुई हितो की एकरूपता स्थायी नही हो सकती। उसने ऐसा आधार ढूंढने के प्रयत्न में, जो व्यक्ति को अपने स्वार्थों की बलि देकर भी सामान्य हित-साधना की ओर उन्मुख करे, अन्तः-करण के तत्त्व पर विशेष बल दिया। जहाँ बेन्थम ने इस तत्त्व की उपेक्षा की वहाँ मिल ने दृढतापूर्वक कहा कि हमारा अन्त करण सुख-दुःख का अनुभव करता है। नैतिक एवं शुभ कार्यों से हमारे अन्तः-करण को शान्ति और सुख प्राप्त होता है जबकि नीच और पापपूर्ण कार्यों से उसे पश्चाताप की अग्नि में जलना पडता है। सुख केवल सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और शारीरिक ही नही, वरन् आत्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक भी होता है। आखिर प्रभु ईसा मसीह को हँसते-हँसते सूली पर चढ़ने मे कौन-सा सुख मिला? क्या वे बाह्य सुख की प्राप्ति के लिए सूली पर चढ़े? नही, उनका सुख आन्तरिक था और यही वास्तविक सुख होता है।

मिल ने अन्त करण का अर्थ आत्मानुभूतिवादियो (Intuitionists) की तरह किसी अन्त-नैतिक शक्ति से नही लिया। उसने कहा कि अन्त करण तो भावनाओ का एक पिण्ड है जिसे हमारे पापाचार के कारण दुःख पहुँचता है व सदाचार के नियमो का उल्लघन करने से हमे पश्चाताप की आग मे जलना पड़ता है। यही अन्तःकरण का तत्त्व है चाहे उसके स्वरूप और मूल के बारे मे हमारे विचार कुछ भी हो। मिल ने अन्त करण के तत्त्व को 'मानवता के कल्याण की भावना' की सज्ञा दी और इसे दूसरो के दुःख-सुख की चिन्ता कहकर पुकारा। उसने इसे एक स्वाभाविक भावना माना।

मिल द्वारा अन्त करण के तत्त्व पर बल दिए जाने मे निहित अर्थ यह है कि व्यक्ति को केवल स्वार्थी समझना भ्रामक है, वह परमार्थ-भावना से भी कर्म के लिए प्रेरित होता है। मिल का यह विचार बेन्थम की इस धारणा के विपरीत है कि समाज स्वार्थी लोगो का समूह है और मनुष्य अपनी अहवादिता के कारण अपने निजी लाभ के लिए ही कर्म करता है। मिल ने बेन्थम के समान वैयक्तिक सुख पर अधिक बल न देकर सामाजिक हित को उच्चतर माना और सामाजिक सुख की स्थिति मे ही व्यक्तिगत सुख की कल्पना की है। सुख साध्य है और उसकी प्राप्ति का साधन है नैतिकता/नैतिकता पूर्णत: सामाजिक है। न्याय और सहानुभूति उसके आधार हैं। स्वस्थ सामाजिक वातावरण मे ही 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' सम्भव है। अतः एक व्यक्ति को अपना सुख वांछित है तो उसे सामान्य

सुख के लिए प्रयास करना चाहिए। एक व्यक्ति का सुख अच्छा है, हरेक व्यक्ति का सुख अच्छा है और इसलिए सामान्य सुख सभी व्यक्तियो के लिए सामूहिक रूप मे अच्छा है। अपने विचार को अधिक स्पष्ट करते हुए उसने 'Letters' मे एक स्थल पर लिखा है, जब मै यह कहता हूँ कि सामान्य सुख सयुक्त रूप से सभी व्यक्तियो का सुख है, तो यह मेरा आशय नही है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख प्रत्येक अन्य व्यक्ति का सुख है। यद्यपि मैं अच्छे समाज और शिक्षित अवस्था मे इसे ऐसा मानता हूँ, तथापि मेरा अभिप्राय केवल यह है कि 'अ' का सुख अच्छा है, 'ब' का सुख अच्छा है, 'स' आदि का सुख अच्छा है, और इस प्रकार इन सभी की अच्छाइयो का योग अवश्य ही सामान्य रूप से अच्छा होगा।"

मिल के उपयोगितावादी विचारों का मूल्यांकन

स्पष्ट है कि मिल और बेन्थम के उपयोगितावादी विचारो मे गहरा अन्तर है। मिल बेन्थम के विचारो मे परिष्कार और सशोधन करते हुए बेन्थम की मौलिक मान्यताओ पर ही कुठराघात कर देता है। मिल ने उपयोगितावाद के राजनीतिक स्वरूप को भुलाकर उसे नैतिक जीवन के अनुकूल बनाने की चेष्टा मे बेन्थम के सुखवाद के मौलिक विचारो को ही अस्वीकार कर दिया। उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा करने मे उसने उसका स्वरूप ही विकृत कर दिया। यद्यपि गुणात्मक पहलू पर जोर देने से उपयोगितावादी विचारधारा मे मानवीयता का अधिक समावेश हुआ तथापि इससे बेन्थम का मापक चक्र अस्त-व्यस्त हो गया। सुखो के गुणात्मक अन्तर को किस प्रकार नापा जाए, यह भी एक जटिल प्रश्न बन गया। प्रो. सेबाइन ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

"उसने अपने सुखवाद मे सुख के उच्च और निम्न स्तर का नैतिक सिद्धान्त और जोड दिया। इसका अभिप्राय यह था कि मिल एक मानक को नापने के लिए एक मानक की माँग कर रहा था। यह एक तरह का विरोधाभास था और इसने उपयोगितावाद का पूर्णरूप से एक अनिश्चित सिद्धान्त बना दिया। सुखों के गुण को परखने का कभी कोई मानक निर्धारित नही किया गया था और यदि यह किया भी जाता तो वह सुख नहीं होता है।"[1] इसी सन्दर्भ मे सेबाइन का कथन है कि—

"इस भ्रम की जड यह थी कि मिल बेन्थम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही था। बेन्थम का व्यावहारिक पक्ष यह था कि उसके आधार पर विधान की उपयोगिता को परखा जा सकता था। वह अधिकतम सुख के सिद्धान्त को मुख्य रूप से विधान पर ही लागू करना चाहता था। उसे इस बात की चिन्ता नही थी कि व्यक्तिगत नैतिकता मे किन मानको का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत मिल के उपयोगितावाद की विशेषता यह थी कि उसने अपने व्यक्तिगत आदर्शवाद के अनुसार ही नैतिक चरित्र की एक सकल्पना प्रस्तुत की। बेन्थम का कहना था कि "पुष्पिन (बच्चों का एक प्रकार का खेल) उतना ही अच्छा है जितना काव्य; शर्त यह है कि वह समान सुख देता हो।" मिल के अनुसार यह कथन मूर्खतापूर्ण है। उसका मत यह था कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात श्रेष्ठ है। मिल का कथन एक सामान्य नैतिक प्रतिक्रिया को अवश्य व्यक्त करता है, लेकिन वह सुखद नही है। मिल के नीतिशास्त्र का उदारवाद के लिए महत्त्व यह है कि उसने अहकारिता का त्याग किया और यह स्वीकार किया कि सामाजिक कल्याण एक ऐसा विषय है जिसके बारे मे सभी सदाशय लोगो को चिन्ता होनी चाहिए। मिल स्वतन्त्रता, ईमानदारी, आत्मसम्मान और व्यक्तिगत अभ्युदय को अपने-आप मे ही अच्छी चीजें मानता था। ये चीजें अवश्य ही सुख की वृद्धि करती है। यदि इनसे सुख वृद्धि न भी हो तब भी ग्राह्य है। मिल का इस तरह का नैतिक विश्वास उदारवादी समाज की सम्पूर्ण सकल्पना मे निहित है।"

यद्यपि बेन्थमवाद की रक्षा के प्रयत्न मे मिल अपने परिवर्तनो मे वास्तव मे उसे नष्ट करने की ओर अग्रसर होता है, तथापि यह भी सच है कि मिल बेन्थमवाद मे एक शक्तिशाली परिवर्तन लाता है जो बेन्थमवाद से कही अधिक उपयोगितावादी है। वेपर के अनुसार, "उसकी रचनाओ मे राज्य का

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 664.

नकारात्मक चरित्र लोप हो जाता है। अपनी 'पॉलिटिकल इकॉनामी' मे वह स्पष्ट कहता है कि व्यक्तिगत प्रसन्नता के अनुगमन का परिणाम सामाजिक प्रसन्नता ही होगी। यह कथन मनुष्यों की शक्ति सम्बन्धी विभिन्नताओ तथा ऐतिहासिक प्रभावों को नगण्य कर देता है। यदि मनुष्यों का वातावरण चिरकाल से असमान है, तो वे प्रतियोगिना की दौड मे बराबर नही आ सकते। भूमि, उद्योग और ज्ञान पर अल्प-सख्यको का एकाधिकार होता है। विधि सम्बन्धी सम्पूर्ण योजना उन्ही अल्प-सख्यको के द्वारा निर्धारित होती है। इस कारण मिल समाजवाद के प्रति बहुत सहानुभूति रखता है और चाहता है कि राज्य को व्यक्ति के विकास की बाधाओ को हटाकर बहुसंख्यको के जीवन को सुखमय बनाने का एक साधन बनाना चाहिए। मिल बेन्थम के धन या सम्पत्ति के महत्त्व को कोई स्थान नही देता। जमीदारी मे उसे कोई भलाई दिखाई नही देती। मिल अनिवार्य शिक्षा का समर्थन करता है। वह उत्तराधिकारजन्य अधिकार को सीमित करने को सहमत है। वह शिशुओ के लिए औद्योगिक कानून का समर्थन करता है। उसकी धारणा है कि प्रयोगात्मक एकाधिकारियो पर राज्यो का नियन्त्रण होना चाहिए। आर्थिक विषयो मे वह मजदूरो के कार्य करने के घण्टो को सीमित कर देना चाहता है। इन सब मे वह बेन्थम से अधिक उपयोगितावादी सिद्ध हुआ है।"[1]

यदि देखा जाए तो बेन्थम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओ के मूल्यांकन की कसौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे उनके बौद्धिक स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। इसीलिए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है कि "मिल की उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा मे बेन्थम की मान्यताओ का बहुत कम अंश रह गया है।"[2] अवश्य ही मिल ने अपनी विशाल-हृदयता से उपयोगितावाद को नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाया और कुछ काल के लिए जनता को मुग्ध कर लिया, किन्तु अन्त मे इसके कारण उत्पन्न असगतियो ने उसकी ख्याति को बहुत ठेस पहुँचाई। उपयोगितावाद की रक्षा मे तर्कशास्त्र का खजाना खाली करने वाले मिल से उपयोगितावाद का पक्ष प्रबल न हो सका। उसने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के आलोचको को शान्त कर दिया, परन्तु बदले मे बहुसख्यक आलोचको को जन्म दिया जो इस परिवर्तित और सशोधित उपयोगितावाद के विरुद्ध तर्कों की बौछार करने लगे। मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद मे नैतिक सिद्धान्तो का समावेश कर उसे मानवीय बनाने का सराहनीय कार्य अवश्य किया, लेकिन दार्शनिकता की ओर बढ़ने का दुष्परिणाम यह हुआ कि उपयोगितावाद की व्यावहारिकता ही समाप्त हो गई।

(8) मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception on Liberty)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारो का समावेश उसकी पुस्तक 'On Liberty' मे है। मिल के समय राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक बढ गया था और सरकार जनहित के नाम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को विनियोजित करने वाले कानून बनाने लगी थी। सामाजिक व्यवस्थापन द्वारा सामान्य जनता की सुख-वृद्धि के प्रयास मे ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने लगी थी उससे मिल को यह भय हो गया था कि जनता का बहुमत अथवा लोकप्रिय शासन भी कही भूतकालीन निरंकुश शासन के समान आततायी और स्वेच्छाचारी न बन जाए। उसका विश्वास था कि राज्य द्वारा अधिक अधिनियमो के निर्माण का अर्थ है—व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक प्रतिबन्धो का अर्थ था राज्य के समक्ष नागरिक के व्यक्तित्व का हनन। उसकी मान्यता थी कि राज्य को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन करने का कोई अधिकार नही है। 'जनता के शासन' के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाना अथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनो को थोप देना सर्वथा

1 वेपर : पूर्वोक्त पृ. 141,
2 *Maxey*, op. cit, p. 487.

अवांछनीय है। अपने इन्ही विचारो के कारण मिल ने मानव-स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी रूप का प्रतिपादन किया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में किए गए उनके तर्कों को पढने से स्पष्ट आभास होता है कि उपयोगितावादी तर्कों का अतिक्रमण हो गया है। इसलिए सेबाइन ने लिखा है—"मिल का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन उपयोगितावादी समर्थन से कुछ अधिक है।"

मिल के चिन्तन मे व्यक्ति का स्थान

मिल व्यक्ति का पुजारी है। उसका सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन व्यक्ति के मूल्य पर आधारित है। मिल व्यक्ति को सामाजिक प्राणी स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही यह विश्वास भी व्यक्त करता है कि व्यक्ति समाज के हित में स्वेच्छा से योग नही देता। "व्यक्ति के हितो को व्यक्ति ही समझ सकता है, न कि समाज। अपने सर्वोत्तम हित को व्यक्ति ही सर्वोत्तम रूप से जानता है और वही उसे सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त कर सकता है।"

मिल का विश्वास है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने और सुन्दर बनाने की स्वतन्त्रता है। इसके लिए आवश्यक है कि उसे विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए। मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है और इसलिए उसे अपने सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस क्षेत्र मे समाज अथवा राज्य को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए। व्यक्ति का सर्वतोन्मुखी विकास तभी सम्भव है जब उसे अपने लिए आवश्यक परिस्थितियो को स्वयं ही निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो। व्यक्ति चरम सत्य है। सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व व्यक्ति के हित-साधन के लिए ही है। सामाजिक संस्थाओ की कसौटी यही है कि वे व्यक्ति का हित-साधन किस सीमा तक करती हैं।

व्यक्ति की राज्य और समाज के हस्तक्षेप से रक्षा होना आवश्यक है

मिल की दृढ धारणा थी कि अपने व्यक्तित्व का विकास करना ही मनुष्य का ध्येय है, किन्तु इस ध्येय की प्राप्ति मे राज्य और समाज द्वारा कुछ बाधाएँ उपस्थित की जाती है जिनका निराकरण आवश्यक है। इन बाधाओ के निराकरण की अवस्था ही स्वतन्त्रता है। समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन अनुचित है। होता यह है कि समाज यह कदापि बर्दाश्त नही करता कि कोई उसकी मान्य परम्पराओ को तोड़कर नवीन परम्पराओ की स्थापना करे। यदि कोई ऐसा दुस्साहस करता है तो समाज के पंजे उसे पकडने के लिए तत्पर रहते है पर समाज को ऐसा कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। समाज को तो व्यक्ति के आचरण के केवल उस भाग का नियन्त्रण करना ही उचित है है जो दूसरो से सम्बन्धित हो। व्यक्ति अपना, अपने शरीर का तथा अपने मस्तिष्क का स्वयं स्वामी है अतः समाज की निरकुशता से व्यक्ति की रक्षा होनी चाहिए। समाज प्राय अपने व्यवहार और आचरण द्वारा व्यक्तियो पर एक विशिष्ट व्यवस्था को थोपने का प्रयत्न करके व्यक्तित्व के निर्माण को अवरुद्ध कर देता है। कभी-कभी तो सामाजिक नियमो के कारण व्यक्तित्व का विकास बिल्कुल ही रुक जाता है। समाज व्यक्ति को स्वविवेकानुसार कार्य करने देता है और बाध्य करता है कि वह सामाजिक दृष्टिकोण के अनुकूल ही अपने चरित्र का निर्माण करे। यह स्थिति बडी हेय है जिसे समाप्त किया जाना चाहिए। समाज के समान ही राज्य को भी कोई अधिकार नही है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करे। मिल के अनुसार, "शासकगण नियमित रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी है। राजनीतिक क्षेत्र मे बहुमत के अत्याचार जैसी बुराई से अपनी रक्षा करना आवश्यक है।" राज्य को व्यक्ति के जीवन मे कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वह व्यक्ति के जीवन मे केवल आत्म-रक्षा के लिए हस्तक्षेप कर सकता है। यदि अपने कार्यों द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे की समानता मे बाधक हो, तो राज्य का हस्तक्षेप न्यायोचित है।

मिल की स्वतन्त्रता का स्वरूप

जैसा कि कहा जा चुका है, मिल के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और अधिक

मौलिक थी। इसी भावना ने उसके 'Essay on Liberty' को अमर बना दिया। मिल ने जिस स्वतन्त्रता का पक्ष-पोषण किया है, वह एक व्यापक स्वतन्त्रता है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता के अभाव मे किसी प्रकार का आत्म-विकास नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता और आत्म-विकास का यही सम्बन्ध उसके अध्ययन का केन्द्र-विन्दु है और उसका तर्क है कि समाज की प्रसन्नता के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है। 'ऑन लिबर्टी' मे स्वतन्त्रता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मिल ने लिखा है कि—"मानव जाति किसी भी घटक की स्वतन्त्रता मे केवल एक आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकती है और वह है आत्मरक्षा। सभ्य समाज के किसी भी सदस्य के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल इसी उद्देश्य के लिए हो सकता है कि उसे दूसरो को हानि पहुँचाने मे रोका जाए। उसका अपना भौतिक या नैतिक हित इसका पर्याप्त औचित्य नहीं है। किसी भी व्यक्ति को कोई काम करने या न करने के लिए विवश करना इस आधार पर उचित नहीं माना जा सकता कि ऐसा करना उस व्यक्ति के हित में है या ऐसा करने से उसके हित मे वृद्धि होगी या ऐसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण है।......समाज मानव आचरण के केवल उसी अश को नियन्त्रित कर सकता है जो दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित हो। स्वय अपने ही कार्यों मे उसकी स्वतन्त्रता अधिकारत निरपेक्ष है।" मिल के विचारो का और अधिक स्पष्टीकरण वेपर के इन शब्दो से होता है—

"मिल के अनुसार व्यक्ति पर व्यक्ति की प्रभुसत्ता स्वतन्त्रता है। व्यक्ति के कार्यों मे किसी भी तरह का नियन्त्रण उचित नहीं है, परन्तु उसे दूसरो को हानि पहुँचाने वाले कार्यों से रोकना उचित ही है। मिल सभी तरह के कार्यों को दो श्रेणियो मे विभाजित करता है—स्वय से सम्बन्धित कार्य तथा पर-सम्बन्धी कार्य। वह बताता है कि स्वय से सम्बन्धित कार्यों पर कोई भी नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। परन्तु पर-सम्बन्धी कार्य जो दूसरों को हानि तथा दुःख पहुँचाते है, वे नियन्त्रित होने ही चाहिए। मिल का यह मत अनुपयोगितावादी है। वह इस अनुमान पर आधारित है कि नियन्त्रण एक बुराई है। यह मत उपयोगितावादी सिद्धान्त द्वारा उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह सिद्धान्त उपयोगिता का नहीं, आत्मविकास का है।"[1]

"मिल की दूसरी परिभाषा के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट ही स्वतन्त्रता है। आप यदि यह जानते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक पुल को पार करना खतरनाक है और इसलिए आप उसे पुल पार करने से रोक देते हैं तो आप उचित ही करते हैं। स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होती है तथा किसी व्यक्ति की इच्छा नदी मे डूबने की नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता की यह परिभाषा नियन्त्रण के लिए दरवाजा खुला रखती है। यदि एक बार यह मान लिया जाए कि कोई दूसरा व्यक्ति आपकी इच्छा को आपसे अच्छी तरह जान सकता है और स्वतन्त्रता उसी को कहते है जो आपकी इच्छा होती है, तब तो अन्वेषणाधिकारी मनुष्य को नर्क मे जाने से बचाने के कार्य और उसे मुक्ति दिलाने के प्रयत्न भी उचित है। मिल कहता है कि व्यक्ति पर स्वतन्त्र होने के लिए दबाव भी डाला जा सकता है। यहाँ वह अतिवादी हो जाता है। उसकी ये परिभाषाएँ भी बेन्थम की परिभाषाओं से भिन्न हैं।"[2]

मिल की स्वतन्त्रता का स्वरूप तब और भी शक्तिशाली बन जाता है जब हम देखते है कि वह अलग-अलग पुरुषो और स्त्रियो की उन्नति चाहता है क्योंकि उसका विचार है कि सभी आदर्श और तर्क सगत वस्तुएँ व्यक्तियो से ही आती है और व्यक्तियो से ही आनी चाहिए।[3]

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों के दो प्रकार

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं—

(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression), तथा

(2) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)।

1-3 वेपर: वही, पृष्ठ 139.

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)– विचारो की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे मिल के तर्क बडे प्रभावशाली है। मिल के अनुसार समाज और राज्य को व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नही है। किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए चाहे वे विचार समाज के अनुकूल हो या प्रतिकूल। बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए ही हितकर है जो उसकी अनुमति देता है बल्कि उस व्यक्ति के लिए भी हितकर है जो उसका उपभोग करता है। यदि सम्पूर्ण समाज एक ओर हो और व्यक्ति अकेला दूसरी ओर, तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मिल के ही शब्दो मे, "यदि एक व्यक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव-जाति एकमत हो जाए तो भी मानव-जाति को उसे जबरदस्ती चुप करने का उसी प्रकार अधिकार नही है जिस प्रकार यदि वह शक्ति-प्राप्त होता तो उसे मानव-जाति को चुप करने का अधिकार नही था।"

सेबाइन ने मिल के उक्त विचार पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, "जब उसने यह कहा कि सम्पूर्ण मानव-जाति को एक असहमत व्यक्ति को चुप करने का अधिकार नही है तब वह निर्णय की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहा था। इस स्वतन्त्रता का आशय यह है कि आप अपनी बात मनवाने के लिए किसी व्यक्ति के साथ जोर-जबर्दस्ती न कीजिए बल्कि उसको अपनी बात समझाइए और उसको विश्वास दिलाइए कि आपकी बात ठीक है। यह विशेषता परिपक्व व्यक्तित्व का लक्षण है। उदारवादी समाज वह है जो इस अधिकार को स्वीकार करता है और अपनी संस्थाओ को इस तरह ढालता है कि इस अधिकार को सिद्ध किया जा सके। व्यक्तित्व और व्यक्तित्व-निर्णय की अनुमति देने को सहन की जाने वाली बुराई मानना नही है। उदारवादी समाज उनको वास्तविक मूल्य देता है। वह उन्हे मानव-जाति के कल्याण के लिए आवश्यक समझता है तथा उच्च-सभ्यता का लक्षण मानता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन ने मिल के उदारवादी शासन के मूल्यांकन को अत्यधिक प्रभावित किया था।"[1]

मिल ने दृढतापूर्वक कहा कि सत्य अथवा किसी विचारधारा के दमन से सामाजिक प्रगति अवरुद्ध होती है। यदि मार्टिन लूथर से पहले धर्म-सुधार के प्रयासो तथा धार्मिक आन्दोलनकर्त्ताओ का दमन किया जाता तो धर्म-सुधार आन्दोलन बहुत पहले ही सफल हो गया होता और 16वी शताब्दी के बाद होने वाली प्रगति काफी समय पूर्व ही सम्पन्न हो जाती। दमन से सत्य का उन्मूलन नही किया जा सकता और न विचारो को कब्र मे दफनाया जा सकता है। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता सत्य की पुष्टि और समाज की प्रगति की द्योतक होती है।

मिल ने कहा कि विचार एव भाषण की स्वतन्त्रता मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इससे अधिकतम मनुष्यो को केवल अधिकतम सुख की अनुभूति ही नही होती, बल्कि इसके द्वारा सत्य की खोज भी की जा सकती है। इस राजनीतिक स्वतन्त्रता से उच्च नैतिक स्वतन्त्रता का जन्म होता है। सार्वजनिक प्रश्नो पर उन्मुक्त चर्चा हो, राजनीतिक निर्णयो मे उनका हाथ हो, नैतिक विश्वास हो और उस नैतिक विश्वास को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायित्व का भाव हो– जब ये बातें होती हैं, तभी विवेकशील मनुष्यो का जन्म होता है। इस तरह का चरित्र-निर्माण सिर्फ इसलिए जरूरी नही है कि उससे किसी स्वार्थ की पूर्ति होती है। वह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि वह मानवोचित है, क्योकि वह सभ्य है। "यदि यह अनुभूति हो जाए कि व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास कल्याण की एक प्रमुख शर्त है तथा यह सभ्यता, उपदेश, शिक्षा और संस्कृति का सहयोगी तत्त्व ही

1 सेबाइन. राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 665.

नही वरन् इन सब का एक आवश्यक अंग भी है तो स्वतन्त्रता की कम कीमत आँकने का कोई खतरा नही रहेगा।"

मिल ने वैचारिक स्वतन्त्रता के वाद मे जो तर्कसगत मत प्रकट किया है उसे निष्कर्ष रूप मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. विचारो पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ सत्य पर प्रतिबन्ध लगाना है और सत्य पर प्रतिबन्ध का अर्थ समाज की उपयोगिता का हनन करना है जिसके परिणामस्वरूप समाज का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है।

2. अभिव्यक्ति द्वारा सत्य विचारो की पुष्टि होती है। दमनकारी उपायो द्वारा सत्य को बाधित नही किया जा सकता। उसे केवल विलम्बित किया जा सकता है। हाँ, इस विलम्ब के फलस्वरूप सामाजिक प्रगति अवश्य अवरुद्ध होती है।

3. सत्य के अनेक पक्ष होते है। सामान्यत: एक पक्ष सत्य के एक पहलू को देखता है और दूसरा पक्ष एक दूसरे पहलू को। सत्य के समग्र रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोण से देखने की स्वतन्त्रता दी जाएगी उतना ही अच्छा होगा। ये विविध दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक होते हैं जिनके समन्वय से वास्तविकता का पता चलता है और सघर्षमय परिस्थितियाँ समाप्त होती हैं।

4 यदि कोई व्यक्ति आंशिक सत्य बोलता है यहाँ तक कि मिथ्या भाषण भी करता है तो भी राज्य को उसके विचार-स्वातन्त्र्य मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। समाज अथवा जनता जब उसके झूठ को समझ जाएगी, तब उसका समर्थन नही करेगी। यदि कोई व्यक्ति सनकी है तो उसे भी अपने विचारो को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए क्योकि हो सकता है कि सनकी व्यक्ति भी किसी नई चिन्तन-पद्धति का आविष्कार करने में सफल हो जाए।

5 यदि किसी व्यक्ति का विचार गलत है, तो उसको व्यक्त होने देने मे समाज की हानि नही है। इससे तो समाज द्वारा स्वीकृत सत्य का स्वरूप और अधिक निखरेगा। मिथ्या भाषणों की तुलना करके हम सत्य को परख सकते हैं। मिथ्या और सत्य मे विरोधाभास है, अतः सत्य को एक सजीव रूप से समाज मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

6. तर्क-बुद्धि से सत्य की परख होती है, ज्ञान का विकास होता है और मिथ्या एव अन्ध-विश्वासपूर्ण परम्पराओं का अन्त होता है।

इस प्रकार मिल के अनुसार किसी भी व्यक्ति को किसी भी दशा में विचार व्यक्त करने से रोकना अनुचित है क्योकि, "विचार अभिव्यक्ति को रोकने मे भारी दोष यह है कि ऐसा करना मानव-जाति की वर्तमान तथा भावी नस्लो को स्वतन्त्रता से वंचित करना है।" स्वतन्त्रता को छीनने के भीषण परिणामो का उदाहरण देने के लिए मिल सुकरात और ईसा मसीह की हत्या का उल्लेख करता हुआ कहता है—"क्या मानव-जाति कभी भूल सकती है कि कभी किसी जमाने मे सुकरात नाम का एक मनुष्य हुआ था जिसकी राज्याधिकारियो और लोकमत से एक स्मरणीय टक्कर हुई थी। विचारो का तब तो तिरस्कार ही हुआ था, यद्यपि 2000 वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी उसके विचार अमर है और भविष्य मे भी रहेंगे।"

मिल ने इस बात पर बल दिया है कि एक ऐसे लोकमत का निर्माण होना चाहिए जो सहिष्णुतापूर्वक हो, जो आपसी मतभेदो को महत्त्व देता हो और जो नए विचारो का स्वागत करने के लिए तैयार हो।

2 कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)—वैचारिक स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण पक्ष कार्य की स्वतन्त्रता है। मिल का दृढ मत है कि "विचारों की स्वतन्त्रता अपूर्ण है यदि उन

विचारो को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता न हो।" दृष्टि, सकल्प, सृष्टि—ये मनुष्य के अविभाज्य
अग हैं और कार्यों द्वारा मनुष्य अपना अनुदाय समाज को देता है। यह अनुदाय उसके व्यक्तित्व का
मानवीय तत्त्व है, साथ ही सामाजिक प्रगति का अनन्यतम साधन है। यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक
केवल सोचता ही है, पर आचरण मे सदा दूसरो की आज्ञा का अनुवर्ती रहता है, तो वह जीवित दास
(Slave) है क्योंकि उसके मन और शरीर पृथक् है, वह अपूर्ण मानव है। "सोचने, समझने, बोलने
और कार्य करने की स्वतन्त्रता एक ही प्रधान तत्त्व के सोपान हैं, इनमे से किसी की उपेक्षा नहीं की
जा सकती। स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन वैसा ही है जैसा कि पक्षी उड़ना तो चाहता है,
पर उसके प..! उडते नही।"

मिल ने कहा कि लोकमत के नाम पर शासन जनता की स्वतन्त्रता मे बाधा पहुँचाता है,
अतः यह आवश्यक है कि वैयक्तिक जीवन मे राज्य द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप समाप्त किए जाएँ,
पर कार्य-स्वतन्त्रता मे मर्यादा का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए। राज्य के विधि-निर्माणकारी
अधिकार-क्षेत्र की सीमा निश्चित करते हुए उसने लिखा है, "मानव-जाति व्यक्तिगत अथवा सामूहिक
रूप से अपने किसी भी सदस्य की स्वतन्त्रता मे केवल आत्म-रक्षा के क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकती है।
सभ्य समाज के किसी भी घटक के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल उसे दूसरो को हानि पहुँचाने से रोकने
के लिए उचित हो सकता है।" व्यक्ति के कार्यों पर, चाहे वे सही हो या गलत, समाज अथवा राज्य
को प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। पर व्यक्ति के ऐसे कार्यों पर अवश्य प्रतिबन्ध लगाए
जा सकते हैं जिनके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियो पर कोई अवांछनीय प्रभाव पडता हो। उदाहरणार्थ,
यदि मदिरा-पान एकान्त मे हो तो कोई बात नही, लेकिन सार्वजनिक रूप से यह मान्य नही हो
सकता। यदि व्यक्ति जुआ खेलता है और इसका सामाजिक प्रभाव नगण्य है तो व्यक्ति के इस कार्य मे
राज्य द्वारा हस्तक्षेप नही होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने घर मे आग लगा ले और दूसरो को
ललकार कर कहे कि आप लोग बुझाने वाले कौन होते हैं तो यह कार्य स्वतन्त्रता का नही मूर्खता का
द्योतक कहलाएगा, क्योंकि उसके घर की आग पडोसियो के घरो को भी जला सकती है। सामाजिक
क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों मे राज्य को हस्तक्षेप करना ही पडता है, लेकिन यह हस्तक्षेप भी वहीं तक
उचित है जहाँ तक उससे असामाजिक कार्यों को रोका जाना हो। वास्तव मे मिल यह स्पष्ट करना
चाहता था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक और वैधिक अधिकारो तथा दायित्वो पर निर्भर है।
सेबाइन ने मिल के विचारो पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

"विधान की उचित समस्याओ के बारे मे मिल के विचार बहुत स्पष्ट थे। उसने कुछ
वास्तविक मामलो पर जिस ढग से विचार किया उनसे यह बात प्रमाणित हो जाती है। उसके निष्कर्ष
किसी नियम पर आधारित नही थे। वे निर्णय की आत्मनिष्ठ आदतो पर निर्भर थे। उदाहरण के
लिए, मिल ने मादक द्रव्यो की बिक्री के निषेध को स्वतन्त्रता का अतिक्रमण माना है लेकिन उसने
अनिवार्य शिक्षा को स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नही माना। उसके ये दोनो विचार कुछ असगत से हैं।
इस असगति को इस आधार पर स्वीकार नही किया जा सकता कि मनुष्य की शिक्षा उसके निजी
व्यक्तित्व की अपेक्षा दूसरे व्यक्तियों को अधिक प्रभावित करती है। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य एव
कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगो पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए
तैयार था। उसने इस नियन्त्रण की ठीक-ठीक सीमाओ का उल्लेख नही किया। मिल का सिद्धान्त
चाहे कितना ही अस्पष्ट क्यो न रहा हो, इसका एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष—आर्थिक निर्हस्तक्षेप का त्याग
था। बेन्थम का कहना था कि विधान स्वभाव से ही खराब होता है और उसका उपयोग कम से कम
होना चाहिए। बेन्थम के इस कथन का वास्तविक आशय जो बेन्थम के लिए था, वह मिल के लिए
था। मिल ने आरम्भिक उदारवाद के इस सिद्धान्त को त्याग दिया कि अधिकतम स्वतन्त्रता उसी समय
सम्भव हो सकती है जबकि विधान न हो। उसने कहा कि बल-प्रयोग की विधान के अतिरिक्त और भी

अनेक विधाएँ हो सकती हैं। दो परिणामों में इसका एक परिणाम हो सकता है—या तो विधान को बल-प्रयोग कम करने के उदारवादी प्रयोजन के रूप मे नहीं परखा जा सकता या उदारवादी सिद्धान्त का इस तरह विस्तार किया जाना चाहिए कि उसमे वैधिक बल-प्रयोग तथा विधि के बाह्य-बल-प्रयोग के सम्बन्ध पर विचार हो सके। बाह्य-बल-प्रयोग राज्य के निष्क्रिय रहने से उत्पन्न होता है, ग्रीन ने सकारात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त द्वारा इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार किया। जहाँ तक मिल का सम्बन्ध है उसने तानववादी आधारों पर सामाजिक विधान की आवश्यकता को स्वीकार किया, तथापि उसने इसकी उचित सीमाओं का निर्धारण नहीं किया।"[1]

मिल के इन विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। इसके अनुरूप वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों मे विभाजित करता है—

(1) स्व-सम्बन्धी कार्य (Self-regarding Actions)

(2) पर-सम्बन्धी कार्य (Others'-regarding Actions)

व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्य वे हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं है, जैसे कपड़े पहनना, शिक्षा प्राप्त करना, सिगरेट पीना, पान खाना आदि। व्यक्ति को ऐसे कार्यों को अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इनमे राज्य का कोई भी हस्तक्षेप वांछनीय नहीं है। व्यक्ति को स्व-सम्बन्धी कार्यों की स्वतन्त्रता न देना उसे पशु बनाना है। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतन्त्रता का अभाव समाज की प्रगति के लिए खतरा बन जाता है। मिल के अनुसार, "जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति का आधार नवीन आविष्कार है, उसी प्रकार समाज मे भी जीवन और गति का आधार नवीनता मे निहित है। नवीनता (Variety) के अभाव मे जीवन शून्य हो जाएगा। अतः इस नवीनता की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत कार्यों मे व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो।"

पर-सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज अथवा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि यद्यपि व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है तथापि इसके द्वारा दूसरों की स्वतन्त्रता का बलिदान नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति समाज मे अभद्रता और अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे संगठनों का निर्माण करता है जिनसे सामाजिक शान्ति और सुरक्षा भंग होती हो, राज्य को अधिकार है कि वह उसके कार्यों मे हस्तक्षेप करे, लेकिन वहीं तक यह हस्तक्षेप व्यक्ति के सामाजिक कार्यों को रोकने के लिए आवश्यक हो। अपना पूर्ण अहित करने वाले व्यक्तिगत कार्य भी, मिल के अनुसार, राज्य द्वारा प्रतिबन्धित हो सकते हैं—जैसे आत्महत्या का कार्य।

मिल ने कार्यों की स्वतन्त्रता को चरित्र-निर्माण और सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बतलाया है। चरित्र-निर्माण मे व्यक्तिगत अनुभव तथा परीक्षण के बाद किया गया संकल्प कार्य रूप मे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही लाभ देता है। बुरी आदतों अथवा क्रियाओं को रोकने के लिए राज्य को परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। इन परोक्ष रूपों मे निवारणात्मक उपाय, शिक्षा-प्रचार, प्रोत्साहन, चित्र-प्रदर्शन आदि की गणना हो सकती है। मिल की योजना के अनुसार, "मद्य-निषेध के लिए कानून बनाकर सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती और न राज्य को मद्यशाला बन्द करानी चाहिए। मद्य निषेध तभी सफल हो सकता है जब शराबी मद्यशाला के पास जाकर अपने शीशे-पैमाने फोड़ दें और आत्म-संयम एवं विचार-मंथन द्वारा यह निश्चय कर लें कि उसे शराब छोड़नी ही है।" मिल प्रथा, परम्परा, सामाजिक रूढ़ियों आदि के नियन्त्रण से भी व्यक्ति को मुक्त करना चाहता है क्योंकि इनसे उसका विकास दब जाता है। इस प्रकार की थोपी गई एकता समाज-कल्याण की

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 668।

भावना के विरुद्ध है। मिल ने अनुसंधानकर्त्ता तथा आविष्कार को अधिक श्रेय दिया है क्योंकि वह पथ-प्रदर्शक होता है। मिल कार्यों की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते समय व्यक्तिगत विभिन्नता तथा विविधता पर जोर देता है। वह भावहीन एकरूपता (*Dull and Dead Uniformity*) का घोर विरोधी है। प्रगतिशील होने के लिए आवश्यक है कि समाज मे अलग-अलग धाराओ का समन्वय करने की सामर्थ्य हो।

मिल की स्वतन्त्रता के मूलभूत तत्त्व—मिल के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रो. डेविडसन (Prof. Davidson) ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

(क) व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओ को उचित स्थान दिया जाए। बौद्धिकता द्वारा इनका अपहरण न होने पर इसका अर्थ यह नही है कि बौद्धिकता के महत्त्व को किसी प्रकार घटाया जा रहा है।

(ख) सार्वजनिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से व्यक्तिगत दृष्टिकोण को भी उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। इससे मानव-कल्याण मे वृद्धि होगी और लोग प्रगति के लिए प्रेरित होंगे। विभिन्न दृष्टिकोणो को प्रोत्साहित करने से जीवन मे अपेक्षित विविधता और आध्यात्मिक मौलिकता उत्पन्न होगी।

(ग) समाज की ऐसी परम्पराओं का विरोध किया जाना चाहिए जिनसे विचार और भाषण की स्वतन्त्रता बाधित होती हो, ऐसे कानूनों को निरस्त कर देना चाहिए।

इस प्रकार मिल द्वारा प्रतिपादित की गई स्वतन्त्रता के प्रमुख तत्त्व ये हैं—

(1) यह नकारात्मक स्वतन्त्रता है, विधेयात्मक नही। कानून का अभाव ही स्वतन्त्र माना गया है।

(2) मिल द्वारा स्वतन्त्रता की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

(3) समाज से पृथक् रहकर व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। मिल की स्वतन्त्रता की धारणा समाज की व्यक्तिवादी धारणा पर आधारित है।

(4) मिल द्वारा स्वतन्त्रता के पक्ष मे दिए गए तर्क उपयोगितावादी सिद्धान्तो का अतिक्रमण करते हैं। जब मिल कहता है कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा सम्पूर्ण मानव-जाति के विरुद्ध भी की जानी चाहिए तो उसका उपयोगितावादी आधार से कोई सम्बन्ध नही रहता।

(5) मिल पिछड़े हुए राष्ट्र के लोगो को स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष मे नही है।

(6) राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उद्देश्य के लिए स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा सकता है।

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारो की आलोचना

दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्ष द्वारा मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की पर्याप्त आलोचना की गई है। कहा गया है कि स्वतन्त्रता और उसके पक्ष मे तर्क की दीवार खडी करने के प्रयास मे मिल स्वत भावावेश मे बह गया है और दीवार उठाने के बजाय नीव ही खोदता रह गया है।

1. अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार "मिल उसकी बचत के लिए पर्याप्त गुंजाइश छोड देने पर भी, हमे कोरे स्वातन्त्र्य और काल्पनिक व्यक्ति का ही पैगम्बर प्रतीत होता है। व्यक्ति के अधिकारो के सम्बन्ध मे उसका कोई दर्शन नही था। वह समाज की कोई ऐसी पूर्ण कल्पना नही कर पाया जिसमे 'राज्य और व्यक्ति' के मिथ्या अन्तर अपने-आप लुप्त हो जाते है।"[1] वास्तव मे मिल ने व्यक्ति को

1 *E Barker* Political Thought

समाज से पृथक् देखा है और समाज के नियमों और व्यक्ति की स्वातन्त्रता में कोई विरोध नहीं होता वे तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सम्भव बनाने में सहायक होते है।

2. मिल ने स्वतन्त्रता के लम्बे और सैद्धान्तिक उपदेश का कोई आधार स्पष्ट नहीं किया है। यह ठीक है कि व्यक्ति को व्यक्तिगत क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और बहुमत या अन्य किसी को इसमे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, पर ऐसा क्यों ? व्यक्ति को व्यक्तिगत क्षेत्र मे, विचार अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे, अपने व्यवसाय या अभिरुचियों के चुनाव के क्षेत्र मे समाज के समकक्ष अधिकार क्यो मिलने चाहिए ? मिल अपने निबन्ध मे इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता।

3. मिल ने अपने द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता का कोई औचित्य सिद्ध नहीं किया है। केवल तर्कों पर स्वतन्त्रता का स्थायी आधार प्राप्त नहीं किया जा सकता। मिल की स्वतन्त्रता का आधार उपयोगिता है लेकिन उसमे उत्तरदायित्व का अभाव है। किसी अधिकार का दायित्व के अभाव मे कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। मान लिया कि निजी क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाए, लेकिन इस क्षेत्र मे यदि व्यक्ति ऐसा कार्य करे जो दूसरो के लिए हानिकारक सिद्ध हो तो इसका उत्तरदायित्व किस पर तथा किस प्रकार निश्चित होगा ? उत्तरदायित्व के अभाव में स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता का रूप ले लेगी। मिल इस बात का कोई उत्तर नहीं देता कि यह कौन और किस प्रकार देखेगा कि व्यक्ति अपने निजी क्षेत्र मे ही अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा है।

4. मिल ने व्यक्तियों के स्व-सम्बन्धी और पर-सम्बन्धी कार्यों मे जो अन्तर किया है, वह अवैज्ञानिक है। उसमें तथ्यों का अभाव है। यथार्थतः व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिसके प्रभाव केवल उसी पर पड़े और समाज के अन्य सदस्य उससे अप्रभावित रह जाएँ। व्यवहार मे प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य का एक सामाजिक पहलू होता है और ऊपर से पूर्णतः व्यक्तिगत दिखाई देने वाले कार्य भी समाज के दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं।

5. मिल ने असाधारण, सनकी चिन्तन को अनावश्यक महत्त्व दिया है। वह झक्कियों और सनकियों को स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है क्योंकि सम्भव है कि दस सनकियों में से एक प्रतिभासम्पन्न 'गुदड़ी का लाल' निकल आए जो समाज को क्रान्तिकारी मौलिक विचार प्रदान कर सके। मिल यह भूल जाता है कि ऐसे व्यक्ति तो प्रायः विकृत मस्तिष्क के होते हैं और उनका सनकीपन चारित्रिक निर्बलता का परिणाम होता है जिसकी उपेक्षा करना ही उपयोगी है।[1] एक 'छिपा रत्न' पाने की स्वप्निल आशा मे अनेक सनकियों को प्रोत्साहन देना समाज के लिए अभिशाप है। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दी गई तो सामाजिक तालमेल (Social Harmony) का अभाव हो जाएगा।

6. मिल के अनुसार व्यक्ति के वे सब कार्य, जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और जिनसे किसी का अहित होता है, प्रतिबन्धित हो सकते हैं, किन्तु इस प्रकार तो राज्य व्यक्ति के सभी कार्यों को पर-सम्बन्धी सिद्ध करके हस्तक्षेप कर सकता है।

7. दार्शनिक और बौद्धिक सन्दर्भ में मिल का यह विचार उचित नहीं है कि बिना तर्क और अनुभव के कोई सत्य स्वीकार नहीं करना चाहिए। यह तो एक घोर संशयवाद की स्थिति होगी जिसमे व्यक्ति 'मैं हूँ या नहीं हूँ'—इस द्वन्द्व में ही डूबा रहेगा। संसार मे ऐसे अनेक क्षेत्र और विषय हैं जहाँ तर्क की अपेक्षा निष्ठा या विश्वास ही उपयुक्त रहता है। यह भी देखा जाता है कि "तर्क-वितर्क में उलझने वाले अधिकांश कुतर्क ही करते हैं और व्यर्थ के वितंडावाद में अपनी शक्ति का क्षय करते हैं।" यदि दिन-प्रतिदिन की छोटी-मोटी बातें भी तर्क की कसौटी पर कसी जाएँगी तो अनावश्यक कलह और मनोमालिन्य बढ़ने की ही अधिक सम्भावना रहेगी।

8. स्वतन्त्रता के अनेक पहलू हैं जो अनेक स्थलो पर परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। मिल इन्हें देखने में सक्षम नहीं हो सका है।

1 *Davidson* : Political Thought in England, p 155.

ल का यह कथन कि पिछड़े देशो के लोगो को स्वतन्त्रता नही देनी चाहिए, अप्रजातान्त्रिक है। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। केवल पिछड़ेपन के आधार पर ही किसी व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसरो से वंचित कर देना सर्वथा अनुचित है।

10 मिल समाज मे नवीनता का पुजारी है। वह मानता है कि समाज जिन्हे झक्की और सनकी समझता है, वे विद्वान् और दार्शनिक हो सकते हैं। निस्सदेह कुछ मामलो मे मिल का यह दृष्टिकोण सत्य हो सकता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वह सर्वत्र ही सत्य है। सनकीपन को हम दार्शनिकता का प्रतीक नही कह सकते।

11 मिल की स्वतन्त्रता नकारात्मक है, सकारात्मक नही। उसके अनुसार मानव-विकास के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो को दूर करना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता की ऐसी सीमित परिभाषा उसके महत्त्व को घटाती है।

12 मिल द्वारा प्रतिपादित कार्य-सम्पादन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। वह मानव-चरित्र की भिन्नता को ही सामाजिक विकास का मापदण्ड मानता है। लेकिन तथ्य यह है कि सामाजिक प्रकृति का मापदण्ड उसके सदस्यो की चारित्रिक उच्चता होती है, अत: मिल की निषेधात्मक एव 'यदभाव्य' की नीति के स्थान पर नागरिको की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाना श्रेयस्कर है।

यद्यपि मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्तो की अनेक प्रकार से आलोचनाएँ की गई हैं, लेकिन यह नही कहा जा सकता कि मिल का 'स्वतन्त्रता' का सिद्धान्त बिल्कुल ही खोखला है। मिल की कल्पना मनोरजक और प्रभावपूर्ण है। व्यक्तिवाद के पक्ष मे एक ही महत्त्वपूर्ण दलील मिल के ग्रन्थ का आधार है। मिल के स्वतन्त्रता-दर्शन ने व्यक्तिवाद के विकास और उसकी उन्नति मे गहरा योग दिया है। स्वतन्त्रता की भावना आज न केवल विचार, भाषण, कार्य तक ही सीमित है, बल्कि उसने विशद रूप धारण कर लिया है। अन्त:करण की स्वतन्त्रता, धार्मिक-सांस्कृतिक स्वतन्त्रता, वैचारिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा जीवन की स्वतन्त्रता, सांविधानिक उपचारो की व्यवस्था, आदि की कल्पना आज साकार हो गई है। मिल का नाम लोकतान्त्रिक जगत् मे तब तक सम्मान का अधिकारी रहेगा जब तक ससार 'व्यक्ति' को मान्यता देता रहेगा। मिल लोकतन्त्र के आधार-स्तम्भो मे प्रमुख है। उसने लोकतन्त्र मे यह शोध किया कि बहुमत भी निरंकुश हो सकता है। इस खोज का व्यावहारिक महत्त्व है। पुनश्च, मिल ने जिस स्वतन्त्रता की सराहना की है वह केवल नकारात्मक न होकर एक बहुत बडा सकारात्मक आदर्श है। मिल को शिकायत राज्य और उसके सगठन से नही है बल्कि नागरिको की दासतापूर्ण तथा असहिष्णु भावना मे है। मिल तो ऐसे राज्य की कामना करता है जिसके नागरिको को अपने व्यक्तित्व और अपनी विविधता पर गर्व हो और अपने तथा दूसरो के व्यक्तित्व का सम्मान करते हो। मिल को विश्वास है कि आध्यात्मिक विकास से ही व्यक्ति ऐसे आदर्शों के निकट पहुँच सकता है।

मैक्सी (Maxey) का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नही है कि "मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी अध्याय को राजनीतिक साहित्य मे बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। यह अध्याय उसे मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्टेयर, रूसो, पेन, जैफर्सन तथा स्वतन्त्रता के अन्य महारथियो की श्रेणी मे ला खडा करता है। जिन विचारो को हम दबाना चाहते हैं, उनके बारे मे हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि वे सर्वथा गलत हैं, और यदि इस बात का निश्चय हो भी जाए तो भी उन विचारो को दबाना बुरा है। वाद-विवाद एव अभिव्यक्ति पर कोई भी प्रतिबन्ध लगाना अपनी दुर्बलता को प्रकट करना है। जो व्यक्ति किसी विषय मे केवल अपने ही दृष्टिकोण से परिचित है उसे उस विषय का पूरा ज्ञान कभी नही हो सकता। यदि समाज के नेता किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हे व्यक्तियो को लेखन और विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। हमे सुकरात का उदाहरण याद रखना

चाहिए जिसके विचारो का तत्कालीन अधिकारियो तथा जनमत से तीव्र विरोध था। उस समय सुकरात का वध कर दिया गया, लेकिन बाद में उनके विचार-स्वातन्त्र्य से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ।"

मिल की राज्य सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception of the State)

उपयोगितावाद और स्वतन्त्रता-सिद्धान्त की व्याख्या मे मिल द्वारा सशोधन किए जाने का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि राज्य-सम्बन्धी धारणा मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मिल की मान्यता है कि राज्य स्वार्थ की अपेक्षा मानव इच्छा का परिणाम अधिक है। राज्य के यान्त्रिक सिद्धान्त (Mechanistic Principles) यदि मानव इच्छा अथवा मानव व्यक्तित्व की उपेक्षा करते है, तो वे अपूर्ण हैं। मिल ने राज्य और उसकी सस्थाओ को स्वाभाविक मानने वालों तथा उन्हे आविष्कार और मानव प्रयासो का फल समझने वालो के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उसका विश्वास है कि राज्य का विकास हुआ है, पर यह विकास जड-वस्तुओ की तरह न होकर चेतन वस्तुओ के समान हुआ है, राज्य की उत्पत्ति मानव-हित के लिए हुई है क्योकि जितने भी राजनीतिक सगठन हैं उन सबका अस्तित्व सार्वजनिक कल्याण के लिए ही है। सभी सवास अपने अस्तित्व की प्रत्येक अवस्था में अपना स्वरूप व्यक्ति के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा ग्रहण करते हैं, अतः अन्य वस्तुओ की भाँति इन्हें भी व्यक्ति द्वारा अच्छा या बुरा बनाया जा सकता है। यह सब-कुछ मनुष्य की दक्षता और बुद्धि पर निर्भर करता है। राजनीतिक यन्त्र स्वय कार्य नही करता। सामान्य व्यक्तियो द्वारा ही उसका निर्माण होता है और उन्ही के द्वारा उसका सचालन होता है। यह उनके चुपचाप रहने से नही बल्कि सक्रिय योगदान से ही क्रियाशील होना है, अतः राज्य को उन व्यक्तियो के गुणों और शक्तियो के अनुकूल ढाला जाना चाहिए जो इसके सचालन के लिए उपलब्ध हो। राजनीतिक संस्थाओ के निर्माण मे मानव-इच्छा के महत्व को दर्शाते हुए मिल ने लिखा है कि "एक निष्ठावान व्यक्ति ऐसी सामाजिक शक्ति है जो निन्यानवे कोरे स्वार्थी व्यक्तियो के बराबर है।"

राज्य के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए मिल ने व्यक्तियो के कार्यों मे राज्य के हस्तक्षेप को पूर्णत. निषिद्ध न ठहरा कर वैयक्तिक विकास की कुछ स्थितियो मे उसका हस्तक्षेप अनिवार्य माना है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख के लिए समाज का सुख आवश्यक नही है क्योकि जीवन-सघर्ष मे सभी व्यक्ति समाज मे समान नही हैं। यदि राज्य सभी व्यक्तियो के जीवन को सुखी बनाना चाहता है और प्रत्येक को आत्म-विकास की सुविधाएँ देना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह समाज मे व्याप्त विषमताओ और भिन्नताओ को दूर करें। मिल चाहता है कि भूमि, उद्योग, ज्ञान आदि पर थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार नही रहना चाहिए। समाजवादी न होते हुए भी मिल के हृदय में सम्भवतः समाजवाद के प्रति प्रच्छन्न सहानुभूति विद्यमान है, तथापि उसे उग्र समाजवाद से कोई सहानुभूति नही है जो भूमि के राष्ट्रीयकरण का समर्थक हो। वह सम्पत्ति का भी उतना प्रबल पक्षधर नही है जितना बेन्थम है।

सकारात्मक राज्य मे विश्वास होने के कारण मिल यह मानता है कि राज्य को कुछ नैतिक कार्य करने पडते हैं। उसके मतानुसार राज्य का संविधान ऐसा होना चाहिए जिससे नागरिको के सर्वोत्तम नैतिक और बौद्धिक गुणों का विकास हो सके। मिल राज्य द्वारा अनिवार्य सुख का समर्थक है और इसे स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नही मानता। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य व कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगो पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है, लेकिन उन नियन्त्रणों की ठीक-ठीक सीमाएँ उसने स्पष्ट नहीं की है। वह कारखानो के लिए कानून और कार्य के घण्टो की सीमा आदि का समर्थन करता है। इस प्रकार वह समाज के आर्थिक जीवन मे राज्य के हस्तक्षेप करने के अधिकार को स्वीकार करता है। मिल के राज्य का यह विधेयात्मक स्वरूप उसके द्वारा दी गई सविधान की परिभाषा से भी स्पष्ट होता है। उसके अनुसार, "सविधान वह साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति

को बुद्धि और ईमानदारी के सामान्य स्तर पर लाया जाता है तथा समाज के अधिक बुद्धिमान सदस्यों का शासन-कार्य में उपयोग किया जा सकता है और उसमें उन्हें उससे कहीं अधिक प्रभाव प्रदान किया जा सकता है जो अन्य किसी संगठन में सम्भव है।"

स्पष्ट है कि मिल राज्य के रचनात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के कार्यों की व्याख्या करता है। राज्य का रचनात्मक कार्य यह है कि वह ऐसे स्वतन्त्र वातावरण का निर्माण करे जिसमें विचार-मंथन, सत्यान्वेषण, अनुभव-वृद्धि, चरित्र-निर्माण आदि सम्भव हो सके। व्यक्ति अथवा समाज पर प्रतिबन्ध लगाना राज्य का निषेधात्मक कार्य है। मिल सामाजिक अव्यवस्था, अराजकता, अशान्ति आदि के समय राज्य के हस्तक्षेप को न्यायपूर्ण और समाज-हित में मानता है। वह व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्यों की मर्यादा भंग होने पर भी राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मध्य रात्रि में माइक्रोफोन पर गाना चालू कर दे या ऐसी ही कोई अन्य हरकत करे जिससे छात्रों की पढ़ाई में बाधा उपस्थित हो, तो राज्य का कर्त्तव्य है कि वह उस व्यक्ति को ऐसा कार्य करने से रोके। युद्ध, उपद्रव, आर्थिक, राजनीतिक संकट अथवा किसी आपात् स्थिति में लगाए जाने वाले राजकीय प्रबन्धों को भी मिल उचित मानता है।

संक्षेप में, मिल के अनुसार राज्य को यथासम्भव केवल निम्नलिखित कार्यों से अपना सम्बन्ध रखना चाहिए—

(1) राज्य बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति से देश की रक्षा के लिए सेना की व्यवस्था करे।
(2) सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए पुलिस का प्रबन्ध करे।
(3) अत्यन्त उपयोगी एवं कम से कम कानून बनाने के लिए विधान-मण्डल का निर्माण करे।
(4) कानून के विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्डित करने के लिए न्यायालयों की स्थापना करे।
(5) व्यक्ति को उसका महत्त्व बतलाए और इसके लिए प्रचार करे।
(6) चेतावनी देने का काम करे और इस तरह सम्भावित दुष्परिणामों की ओर संकेत करे।

मिल के मतानुसार उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त शेष कार्य व्यक्ति अपेक्षाकृत भली प्रकार कर सकता है। मिल का यह विवेचन राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत सीमित बना देता है जबकि वर्तमान युग में राज्य के कार्यों की सीमा का इतना विस्तार हो गया है कि शायद ही कोई कार्य उसके कार्यक्षेत्र से बाहर हो और विस्तार की इस प्रक्रिया में सतत् वृद्धि होती जा रही है।

शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली
(Best Form of Government)

मिल के अनुसार शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली वह नहीं है जो अत्यधिक कुशल हो, अपितु वह है जो नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हो और सर्वसाधारण को नागरिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती हो। श्रेष्ठ शासन की प्रथम विशेषता यह है कि वह जनता के गुणों और बुद्धि का विकास करने वाली हो। शासन सार्वजनिक कार्य के लिए संगठित व्यवस्था का नाम ही नहीं है, वरन् इसका मानव-मस्तिष्क पर उत्तम और गहरा प्रभाव भी होना चाहिए। शासन का मूल्य उसके कार्यों द्वारा आँका जाना चाहिए। शासन की सार्थकता मनुष्यों एवं अन्य वस्तुओं पर पड़ने वाले प्रभाव से मापी जानी चाहिए। शासन की उत्तमता की प्रथम कसौटी यह जाँचना है कि वह नागरिकों में मानसिक एवं नैतिक गुणों का कहाँ तक संचार करती है, उनके चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास के लिए कितना प्रयास करती है। इन बातों को सर्वश्रेष्ठ रूप में क्रियान्वित करने वाली शासन

प्रणाली ही 'शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली' मानी जाएगी। उत्तम शासन की एक ही कसौटी है कि उसके द्वारा शासितो मे किस मात्रा तक वैयक्तिक एव सामूहिक रूप से गुणो की वृद्धि होती है। केवल प्रशासन के क्षेत्र मे शासन की सफलता उसकी उत्तमता का चिह्न नही है।

सभी शासन-प्रणालियो का निर्माण और सचालन व्यक्तियो द्वारा होता है। प्रत्येक दिशा मे इनकी सफलता उन व्यक्तियो की योग्यता एव भावनाओ पर निर्भर करती है जो उन्हे क्रियान्वित करते है। प्रत्येक समाज के लिए विभिन्न प्रकार का शासन उपयुक्त हो सकता है। हम किसी एक ही प्रकार के शासन को सर्वोत्तम नहीं कह सकते। स्वयं मिल के शब्दो मे, "ऐसा कहने का अर्थ है कि सब प्रकार के समाजो के लिए किसी एक प्रकार की शासन-प्रणाली उपयुक्त होगी, यह होगा कि राजनीतिक विज्ञान पर एक विशद शास्त्र लिखा जाए।"

मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन सम्बन्धी धारणा (Mill's Conception of Representative Government)

मिल के समय प्रजातन्त्रवाद प्रगति पर था, किन्तु शासन की गम्भीर त्रुटियाँ तथा ससद का उच्चवर्गीय अधिनायकत्व चिन्ता के विषय थे। व्यक्ति स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थन करने के बाद मिल ने अपना ध्यान ऐसे शासन की ओर केन्द्रित किया जिसमे व्यक्ति का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव हो और प्रजातान्त्रिक नियमो के अनुसार प्रत्येक योग्यता प्राप्त व्यक्ति इसका अवसर प्राप्त कर सके।

मिल ने कहा कि सच्चा प्रजातन्त्र वह है जिसमे सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्य मे भाग लें। सर्वोत्तम आदर्श शासन वह है जिसमे सर्वोच्च नियन्त्रण शक्ति या सम्प्रभुता पूरे समाज की योग्यतायुक्त इकाई मे निहित हो और प्रत्येक व्यक्ति इस सम्प्रभुता के निर्माण में केवल योग ही न दे वरन् समय आने पर सार्वजनिक पद ग्रहण कर तथा शासन में भाग लेकर अपना कर्त्तव्य पूरा करे। पर चूँकि यह प्रयोग सम्भव नही है और आज के विशाल जनसंख्या वाले राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र नही चल सकता, अत मिल की दृष्टि मे सर्वोत्तम शासन अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अथवा प्रतिनिधि शासन (Representative Government) ही होना चाहिए। यद्यपि प्रजातन्त्र का यह रूप दोषमुक्त नही है, पर मिल का विश्वास है कि शासन का स्वरूप मनुष्य द्वारा ही निर्धारित होता है, अत "मनुष्य द्वारा निर्धारित अन्य चीजो की भाँति इसको अच्छा भी बनाया जा सकता है और बुरा भी।" प्रजातन्त्र मे दोष का उपचार अधिकाधिक प्रजातान्त्रिक है, इसलिए प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी वर्तमान प्रजातन्त्र के दोषो की कटु आलोचना करता हुआ वह सुधार के उपाय बतलाता है। उसके अनुसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अनिवार्य परिणाम प्रतिनिधि शासन है और इसी के द्वारा राजनीतिक जीवन के दोषो का दूर होना सम्भव है। राज्य का शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

प्रतिनिधि शासन का सिद्धान्त—मिल के अनुसार प्रतिनिध्यात्मक सरकार वह है जो निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा करे—

1. वे लोग जिनके लिए ऐसी सरकार का निर्माण किया जाय, ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक हो या इतने अनिच्छुक न हों कि इसकी स्थापना मे बाधा पैदा करें।

2. ऐसी सरकार के स्थायित्व के लिए जो कुछ भी करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए वे इच्छुक और योग्य हों।

3. ऐसी सरकार के उद्देश्यो को पूरा करने के लिए ऐसे लोगो से, जो कुछ सरकार चाहे वह करने के लिए वे तत्पर और योग्य हो। शासन की जो आवश्यक शर्तें हो वे उन्हे भी पूरा करने के लिए तैयार हो।

प्रतिनिध्यात्मक-सरकार में उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त कुछ और भी तत्त्व होते हैं। मिल के

पर अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन संचालन करते है और शासन की अन्तिम सत्ता को जिसका प्रत्येक शासन मे कहीं न कहीं अस्तित्व अनिवार्य है, अपने नियन्त्रण मे रखते हैं।"[1]

इस परिभाषा के अनुसार मिल की प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के प्रमुख तत्त्व ये हैं—

(1) सम्पूर्ण या उनकी सख्या के बहुत बडे भाग के लोगो का सरकार के कार्यो मे सहयोग।

(2) सम्पूर्ण या उनकी सख्या के बहुत बडे भाग के लोगो के हाथ मे नियन्त्रण शक्ति।

(3) समय-समय पर चुने गए प्रतिनिधियो द्वारा लोगो का प्रतिनिधित्व।

(4) अन्तिम नियन्त्रण शक्ति का सविधान मे स्थान और यदि सविधान लिखित न हो तो व्यावहारिक रूप से जनता द्वारा उसका प्रयोग।

मिल ने इन तत्त्वो मे कुछ और भी तत्त्व जोड़े हैं जो इस प्रकार हैं—

(5) राज्य की सक्रिय राजनीति मे नैतिकता या स्वस्थ परम्पराएँ।

(6) वे सभी तत्त्व जो एक अच्छी सरकार के लिए आवश्यक होते है जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

(7) सरकार के अगो मे कार्यों का निश्चित बँटवारा।

(8) एक सगठित विरोधी दल।

(9) आनुपातिक प्रतिनिधित्व।

(10) सार्वजनिक मताधिकार।

(11) निष्पक्ष न्यायपालिका।

(12) अल्पसख्यको की रक्षा।

सही रूप मे प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार को स्थिर रखने के लिए मिल ने उसके पीछे उदारवादी समाज के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया है। यदि जनता लापरवाह है और अपनी भूमिका के प्रति उदासीन है तो सर्वोत्तम प्रशासकीय यन्त्र भी सम्भवत उपयोगी नही होगा। इसलिए जनमत को हमेशा सतर्क रहना चाहिए तथा सरकार पर अपना नियन्त्रण कायम रखना चाहिए। सेवाइन के अनुसार, "व्यक्ति और सरकार के बीच एक उदारवादी समाज के निर्माण की सूझ वास्तव मे मिल की अपनी खोज थी। मिल ने ऐसी प्रतिनिधि सरकार के निर्माण मे विश्वास प्रकट किया जिसमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके। उसकी मान्यता थी कि केवल ससद मे सही प्रतिनिधित्व से ही काम नही चलता, उसमे बहुमत की निरकुशता का भय विद्यमान रहता है। इसलिए अल्पसख्यको के सरक्षण के लिए वह पूर्ण सावधानी बरतना चाहता है और सरकार पर एक उदारवादी समाज का नियन्त्रण आवश्यक समझता है। वह प्रतिनिधित्व के बारे मे भी निश्चित हो जाना चाहता है और सही रूप मे समाज के प्रत्येक अग व व्यवसाय के प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है। वह अल्पमत के सुझावो को केवल इसीलिए अस्वीकार करने के पक्ष मे है कि उनके सुझाव यथार्थ मे जनता का प्रतिनिधित्व नही करते। मिल ससद मे सगठित विरोध के पक्ष मे है क्योंकि ऐसा न होने पर सरकार सही रूप मे प्रतिनिधित्व न कर केवल निरकुश बहुमत पर आश्रित हो जाएगी। प्रशासकीय अग अथवा कार्यपालिका की निरकुशता पर अकुश रखने के लिए वह एक सजग एव सतर्क व्यवस्थापिका चाहता है जो कार्यपालिका के कार्यों की खुलकर आलोचना करे और जरूरत पड़ने पर अविश्वास प्रस्ताव पास कर उसे भग करने मे भी सक्षम हो।" मिल ने लिखा है—

"प्रतिनिधि सभा (पार्लियामेण्ट) वह है जिसमे राष्ट्र के सामान्य मत का ही प्रतिनिधित्व नही, बल्कि उसके प्रत्येक अग के मत का प्रतिनिधित्व हो, सम्भवत. राष्ट्र के प्रत्येक वरिष्ठ और योग्य

1 Everyman's Library, p. 228

व्यक्ति के विचारों का भी प्रतिनिधित्व हो, जहाँ विचारों पर स्वच्छन्द वाद-विवाद और उनका न
हो, जहाँ देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों के सही प्रतिनिधित्व के लिए उपयुक्त वक्ता प्राप्त कर स
जहाँ लोगों के विरोधों को केवल अनिच्छा के कारण न ठुकरा कर विवेक और तर्क तथा सत्यता
आधार पर चुनौती दी जाए, जहाँ राष्ट्र का प्रत्येक दल या जनमत अपनी-अपनी शक्ति का पूर्ण उपयो
कर सके और सही या गलत विचारों की परख करने का अवसर प्राप्त कर सकें, जहाँ राष्ट्र के मा
विचारों की प्रत्यक्ष रूप में सरकार के सम्मुख अभिव्यक्ति हो सके, जहाँ सरकार को उसकी त्रुटियों
लिए झुकाया जा सके और सरकार बिना शक्ति प्रयोग किए अपदस्थ होना स्वीकार करे तथा जिस
प्रत्येक प्रतिनिधि सही रूप में ईमानदारी के साथ चुना गया हो।"

संसद् में प्रतिनिधियों की स्थिति के बारे में मिल के विचार बर्क से मिलते-जुलते हैं। व
प्रतिनिधियों को जनता का प्रत्यायुक्त (Delegate) मात्र नहीं मानता वरन् उसकी राय में वह ए
स्वतन्त्र पथ-प्रदर्शक और शिक्षाप्रद व्यक्ति होना चाहिए। यदि उसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं प
विचार करने के लिए किन्हीं छोटी-छोटी समस्याओं पर समझौता करना पड़े तो उसे निर्भीक रूप
अपनी सम्मति प्रकट कर देनी चाहिए। प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली का प्रमुख दोष झूठी प्रतिज्ञाएँ करन
है और मिल इस दोष को दूर करना चाहता था।

मिल की मान्यता है कि व्यक्ति ही राज्य की जीवन शक्ति होते हैं और जिस शासन
व्यवस्था ने व्यक्तियों के विकास के समुचित अवसर उपलब्ध नहीं हैं वह शासन-व्यवस्था उपयुक्त नहीं
कही जा सकती चाहे प्रशासनिक दृष्टि से वह कितनी ही सक्षम और कुशल क्यों न हो। निरंकुश
राजतन्त्र शक्ति सम्पन्न और क्षमतापूर्ण होने पर भी इसीलिए आदर्श नहीं माना जा सकता है कि उसमें
व्यक्तियों के चारित्रिक विकास की उपेक्षा की जाती है। प्रतिनिधि-शासन वाला लोकतन्त्र श्रेष्ठ इसलिए
है क्योंकि अन्य किसी भी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा उसमें व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक विकास की
अधिक सम्भावना होती है।

प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के कार्य

मिल के अनुसार, "निर्वाचित प्रतिनिधि-परिषद् का कार्य शासन का नियन्त्रण और निरीक्षण
करना मात्र है। इस परिषद् को सक्रिय रूप में कानून-निर्माण अथवा शासन-कार्य नहीं करने चाहिए।"
मिल ने प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के जिन मुख्य कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—

1. प्रतिनिधि-शासन व्यक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे जिसमें
व्यक्ति सत्य की खोज करके तदनुसार अपने विचारों का निर्माण कर सके।

2. शासन ऐसे कानूनों का निर्माण करे जिससे व्यक्तियों के चारित्रिक विकास के योग्य
वातावरण बन सके।

3. इस सम्बन्ध में राज्य द्वारा कानूनों का निर्माण कम से कम किया जाए क्योंकि कानून
व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। शासन को अधिक कानून बनाकर नागरिकों के वैयक्तिक जीवन में
अनावश्यक तथा अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जीवन के अधिकांश पहलू सरकार के विनियमों
से मुक्त ही रहने चाहिए। कानून-निर्माण का कार्य विधायिका-सभा को दिया जाना चाहिए।

4. प्रतिनिधि-सभा को इन महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना चाहिए—सरकार पर दृष्टि
रखकर उस पर पूर्ण नियन्त्रण रखना, सरकार के कार्यों पर प्रकाश डालना, उसके आपत्तिजनक कार्यों
की समीक्षा करना एवं उनका औचित्य सिद्ध करना, विश्वासघाती शासकों को पदच्युत कर उनके उत्तरा-
धिकारियों को नियुक्त करना, सरकार के हेय कार्यों की निन्दा करना, आदि। संसद् में जनता की या
उसके किसी वर्ग की शिकायतों पर विचार विमर्श एवं वाद-विवाद भी होना उपयोगी है। सार रूप में
मिल के अनुसार संसद् का कार्य है—वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा शासन को जनमत से अवगत
कराना। मिल के ही शब्दों में, "प्रशासकीय कार्यों में प्रतिनिधि-सभा का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह

स्वयं निर्णय करे, बल्कि वह सावधानी रखता है कि जो व्यक्ति किसी भी बात का निर्णय करे, वह योग्य हो।" मिल को आशा थी कि इस प्रकार नौकरशाही द्वारा शक्ति के दुरुपयोग को रोका जा सकता है।

5. मिल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन किया कि निर्वाचित संसद् का प्रशासन पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण होना चाहिए। वह एक ओर कुशलता और क्षमता चाहता है और दूसरी ओर जन-आलोचना का आकांक्षी है। इसलिए प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार संसद् को देकर और स्थायी कर्मचारियों को मन्त्रियों के अधीन रखकर वह लोकतन्त्र एवं शासन-कुशलता का सम्मिश्रण करना चाहता है। उसके अनुसार, "प्रतिनिधि-निकायों के कार्य को इन विवेकसम्मत सीमाओं के अन्तर्गत रखकर लोकप्रिय नियन्त्रण का लाभ उठाया जा सकता है और साथ ही उतना ही महत्त्वपूर्ण कुशल व्यवस्थापन तथा प्रशासन भी प्राप्त हो सकता है। इन दोनों को मिलाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि नियन्त्रण एवं आलोचना यन्त्र को वास्तविक प्रशासन यन्त्र से अलग रखा जाए, पहले को जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाए तथा दूसरे को विशेष ज्ञान एवं कुशलता-प्राप्त थोड़े से व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखा जाए—जो राष्ट्र के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी हों।"

निर्वाचन के सम्बन्ध में मिल के विचार

प्रतिनिधि-शासन का निर्माण निर्वाचनों द्वारा होता है। अतः मिल ने प्रतिनिधि-शासन पर विचार व्यक्त करते समय निर्वाचनों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उसने कहा कि निर्वाचित-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे सरकार के संचालन के लिए सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान और क्षमतावान व्यक्ति ही पहुँच सकें। योग्य व्यक्ति ही शासन का संचालन भली प्रकार कर सकते हैं। मिल ने एक स्थान पर लिखा है, "क्योंकि किसी भी सरकार का सर्वोत्तम गुण यह है कि वह अपने नागरिकों के बौद्धिक तथा नैतिक विकास में सहायक हो, इसलिए एक अच्छी और कुशल सरकार को इस बात का पूर्ण प्रयास करना चाहिए कि सामाजिक जीवन के संचालन पर उसके सबसे अधिक बुद्धिमान सदस्यों की बुद्धि और सदाचार का प्रभाव पड़े।"

मिल ने बेन्थम के इस विचार से असहमति प्रकट की है कि निर्वाचन वार्षिक होने चाहिए और संसद् के सदस्यों को जनता का प्रत्यायुक्त (Delegate) समझा जाना चाहिए। मिल की मान्यता है कि श्रेष्ठतर बुद्धि के लोगों को कम प्रतिभाशाली जनता के अधीन रखा जाना उचित नहीं है। डॉयल के शब्दों में, "उसका (मिल का) राजनीतिक सिद्धान्त हर जगह मानव विषमता एवं योग्यता की विविधता से प्रभावित था। हर जगह वह व्यक्तियों की अज्ञात शक्तियों के विकास की पुकार करता था। वह स्थानीय शासन के प्रसार की माँग करता था ताकि अधिकाधिक व्यक्तियों पर उत्तरदायित्व आ सके, वे नवीन विचारों को ग्रहण कर सकें और उनकी अतिरिक्त शक्तियों का विकास सम्भव हो सके। बेन्थम की आधारभूत धारणाओं और उसके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त से उसका मूलतः मतभेद था।"[1]

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए जिनसे शासकों का चुनाव अज्ञानी एवं विवेकहीन जनता के हाथों में न पड़ सके और जिनसे सामूहिक सामान्य बुद्धि द्वारा शासक के दोष भी कम हो जाएँ। मिल ने इन्हीं उद्देश्यों को सामने रखकर आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) और बहुल मतदान (Plural Voting) का सुझाव दिया। मिल को आशा थी कि "आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा एक उम्मीदवार के लिए आवश्यक गुणों को समुचित महत्त्व मिल सकेगा और विवेकहीन जनता के बहुमत के कुछ दोष दूर हो सकेंगे।" आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लिए मिल ने सुझाव दिया कि कुल मतदाताओं की संख्या में संसद् की प्रतिनिधि संख्या का भाग देकर मतों की औसत संख्या निकाल लेनी चाहिए और मतों की एक ऐसी संख्या निर्धारित कर देनी चाहिए जिसको प्राप्त करने के बाद ही कोई प्रत्याशी संसद् की सदस्यता प्राप्त कर सके।

1 *Doyle*. A History of Political Thought, p 262.

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं, उन्हे निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है—

1 मताधिकार एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अधिकार है जो सभी को नही दिया जाना चाहिए। प्रजातन्त्र को सबसे बडा खतरा अनपढ और मूर्ख व्यक्तियो से है, अतः आवश्यक है कि मताधिकार उन्ही लोगो को प्राप्त हो जो एक निश्चित शैक्षणिक योग्यता रखते हो। केवल वयस्क हो जाने से ही कोई मत देने का अधिकारी नही हो सकता। मिल के ही शब्दो मे, "मैं इस बात को कभी स्वीकार नही कर सकता कि किसी ऐसे व्यक्ति का मताधिकार प्राप्त हो जो लिखना, पढना और सामान्य गणित भी न जानता हो।" मिल का तो यहाँ तक कहना था कि "उचित तो यही होगा कि लिखने-पढने और साधारण ज्ञान के अतिरिक्त मतदाता को भूगोल, इतिहास और राजनीति का थोडा-बहुत ज्ञान भी अवश्य हो।"

2 मताधिकार प्रदान करने में लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाना चाहिए। मिल महिला-मताधिकार (Right of Vote to Women) की वकालत करने वाले प्रथम कोटि के विचारकों में से है। उसे यह बहुत अन्यायपूर्ण प्रतीत होता था कि महिलाओ को मतदान अधिकार से वचित रखा जाए। उन दिनो ग्रेट-ब्रिटेन मे नारी का स्थान घर की चाहरदीवारी तक ही सीमित था। मिल नारी को समाज मे वही स्थान प्रदान कराना चाहता था जो पुरुषो को प्राप्त था। उसने कहा कि "महिलाओ की अयोग्यता किसी भी प्रकार उनकी बौद्धिक प्रतिभा की कमी का लक्षण नही है बल्कि यह उनकी सदियों की दासता का परिणाम है। यदि नारी और पुरुष में कोई अन्तर है तो भी पुरुष की अपेक्षा नारी को मतदान के अधिकार की आवश्यकता अधिक है क्योकि शारीरिक दृष्टि से पुरुष की तुलना मे निर्बल होने के कारण उसे अपनी सुरक्षा के लिए कानून और समाज पर निर्भर रहना पडता है।" मिल के इन विचारो पर मिसेज टेलर का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मिल के तर्क अकाट्य थे और इस कारण उनका पर्याप्त असर हुआ।

3 निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व एव बहुल मतदान के आधार पर होना चाहिए। बहुल मतदान (Plural Voting) की सिफारिश मिल ने इसलिए की क्योकि शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियो की तुलना मे यदि अधिक नही तो कम से कम बराबर का अनुपात तो मिल ही सके।

4 विद्वान को मूर्ख से अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पाँच मत देने का अधिकार उचित है। मिल ने समाज को वर्गों में विभक्त कर यह भी निश्चित कर दिया कि किस वर्ग को कितने अधिक मत देने का अधिकार मिलना चाहिए।

5. मिल ने गुप्त मतदान का विरोध करते हुए खुले मतदान को उचित ठहराया। मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसका प्रयोग बडी बुद्धिमत्ता एव समझदारी से किया जाना चाहिए। जब यह बुद्धिमत्ता और समझदारी से किया जाने वाला एक पवित्र कार्य है, तो इसमें गोपनीयता रखना 'किसी गुप-चुप किए जाते वाले अनुचित कार्य' के समान है।

6. मिल ने सुझाव दिया कि ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जो बौद्धिक दृष्टि से योग्य हो, अच्छे लेखक या सामाजिक कार्यकर्ता हो, जिन्होने अपने कार्यों के कारण हर जिले मे थोडी-बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर ली हो पर जो किसी राजनीतिक दल के सदस्य न हो, यदि एक ही क्षेत्र मे चुनाव लडने के लिए असमर्थ हो तो उनका चुनाव पूरे राज्य मे होना चाहिए और यदि राज्य भर में मतो की सख्या प्रतिनिधित्व की आवश्यक मत-सख्या के बराबर हो जाए तो उनका चुनाव कर लिया जाना चाहिए। इस व्यवस्था मे मतदाताओ को ऐसा व्यक्ति चुनने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा जिसे किसी राजनीतिक दल ने अपने प्रत्याशी के रूप मे खडा किया हो और वह प्रतिनिधित्व योग्य न हो। मिल का यह आक्षेप था कि ससद

का बहुमत स्थानीय प्रतिनिधियों का बहुमत और देश के योग्य व्यक्तियों का अल्पमत होता है, अतः मतों की केवल गणना ही नहीं होनी चाहिए, उनका वजन भी होना चाहिए।

7. संसद् की तानाशाही प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने की दृष्टि से द्वि-सदनीय संसद उपयोगी होती है। इसके अतिरिक्त समयाभाव के कारण निम्न सदन पर जो कार्यभार होता है वह उच्च सदन द्वारा हल्का किया जा सकता है। मिल द्वितीय सदन में कुछ सुधार चाहता था।

8. उसका विचार था कि मतदाताओं के लिए शिक्षा की योग्यता के साथ-साथ सरकारी सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualification) भी निर्धारित होनी चाहिए क्योंकि सम्पत्तिवान मतदाता सम्पत्तिहीन मतदाताओं से अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने मत का प्रयोग करेंगे। मिल के अनुसार, "यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जो सभा कर लगाती है वह केवल उन्हीं लोगों की बनी होनी चाहिए जो इन करों का भार वहन करेंगे। जो लोग कर नहीं देते और अपने मतदान द्वारा अन्य नागरिकों का धन कम करते हैं उनका अपव्ययी होना स्वाभाविक है, उनके मितव्ययी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में मतदान की शक्ति देना मौलिक सिद्धान्त का हनन तथा स्वतन्त्रता का विरोध होगा।"

मिल के इन विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसने प्रजातन्त्र के दोषों को दूर करने का अथक प्रयत्न किया और उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाने के सुझाव दिए। वह प्रतिनिधि-शासन की दुर्बलताओं और खतरों से परिचित था। प्रथम महायुद्ध के बाद से लगभग प्रत्येक देश में प्रजातन्त्र जिस प्रकार कार्य कर रहा है वह मिल के विचारों की सत्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि हम मिल में प्रजातन्त्र के प्रति इतना अविश्वास पाते हैं और उसका यह आग्रह भी था कि स्वतन्त्रता की भाँति ही प्रजातन्त्र सभी लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है तथापि उसका यह विश्वास उसे प्रजातन्त्रवादी घोषित करता है कि जहाँ भी सम्भव हो सके प्रजातन्त्र ही शासन का सर्वोत्तम रूप है। मिल प्रजातन्त्रवादी था क्योंकि वह उसी शासन को सर्वोत्तम समझता था जिसमें सम्प्रभुता अन्तिम रूप से पूर्ण समाज में निहित हो और जिसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छा व्यक्त करने तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार हो। मिल की मान्यता थी कि प्रजातन्त्र से मनुष्य न केवल अधिक सुखी, बल्कि अधिक अच्छा भी बनता है।

अपने प्रतिनिधित्व-प्रणाली सम्बन्धी विचारों के लिए मिल का राजदर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मिल के प्रतिनिधि-शासन में विचारों की आलोचना

1. मिल द्वारा प्रस्तुत मतदाताओं की योग्यता से मापदण्ड को यदि लागू किया जाए तो भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में भी कुछ ही हजार व्यक्तियों को मतदान का अधिकार मिल सकेगा। यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इतिहास, भूगोल एवं गणित आदि विषयों का आवश्यक ज्ञान रखता हो।

2. मिल शिक्षा को ही योग्यता की एकमात्र कसौटी मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा योग्यता के विकास का एक श्रेष्ठ माध्यम है, तथापि यह अव्यावहारिक है कि अनुभवजन्य योग्यता को कोई महत्त्व ही न दिया जाए। अनुभवजन्य योग्यता तो जीवन में सफलता की अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ कुञ्जी है। सूर, तुलसी और कबीर को आज के पण्डितों की सी शैक्षणिक डिग्रियाँ प्राप्त नहीं थीं। उनका समस्त ज्ञान अनुभवजन्य था, तथापि आज के साहित्यकार उनकी रचनाओं के विशाल ज्ञान-सागर में गोता लगाकर भी उनके ज्ञान और पाण्डित्य की पूर्ण थाह नहीं पा सके हैं।

3. मिल ने अल्पसंख्यकों के हितार्थ आनुपातिक प्रणाली का प्रतिपादन किया है, पर अधिकांशतः एक संक्रमणीय मत द्वारा ही आनुपातिक प्रतिनिधित्व सम्भव है और इस विधि को ग्रहण करना सामान्य मतदाता के वश की बात नहीं है फिर, इस प्रणाली के अन्तर्गत छोटे-छोटे राजनीतिक दलों को अवांछनीय

प्रोत्साहन मिलने मे देश मे राजनीतिक दलो की संख्या में अनावश्यक वृद्धि और देश के राजनीतिक वातावरण के दूषित होने का भय रहता है।

4 मिल द्वारा खुले मतदान का समर्थन किया जाना उचित नही है। खुले मतदान के कारण प्रतिरोधी व्यक्तियो में अनावश्यक तीव्र संघर्ष और विरोध उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य स्वभावत खुले रूप में अपना विरोध सह नही पाता। सत्तारूढ दल के विरुद्ध खुला मत-प्रयोग तो निश्चय ही आपत्ति को निमन्त्रण देना है। प्रत्यक्ष मतदान मे अनैतिक सौदेबाजी को भी प्रोत्साहन मिलेगा क्योकि लोग जिधर से प्रलोभन पाएंगे उधर ही हाथ उठाएंगे।

5 मिल द्वारा प्रस्तावित आनुपातिक प्रतिनिधि-प्रणाली इतनी पेचीदा है कि साधारण जनता उसे समझ नही सकती। किसी भी बड़े देश मे आनुपातिक प्रतिनिधित्व के न्यायोचित होने पर भी उसको व्यावहारिक रूप देना बहुत कठिन है। मिल ने प्रतिनिधि-शासन के नियन्त्रण के लिए एक उत्तरदायी समाज का निर्माण चाहा है, पर इसका निर्माण कैसे किया जाए, यह स्पष्ट नहीं किया है। संसद् मे बहुमत की निरकुशता को नियन्त्रित करने के लिए अनुदेशित अल्पमत (Instructed Minority) के प्रशिक्षण की बात भी समझ मे नही आती।

6 मिल का यह विचार कि मतो की केवल गणना ही नही की जाए उनका वजन भी किया जाए; बडा उचित मालूम होता है। पर यह तभी सम्भव है जब जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा हो, वे स्वार्थी न हो तथा राजनीतिक दलो को समाप्त कर दिया जाए। मिल विरोधी दल के संगठन के लिए स्वयं भी राजनीतिक दलो की उपयोगिता को स्वीकार करता है।

7 मिल ने ससद् के कार्यों को सीमित करके उसके कानून बनाने और प्रशासन करने के अधिकारो को नगण्य बना दिया है। ससद् को केवल 'वाद-विवाद' समिति (Talking Shop) बना देना उचित नही कहा जा सकता।

8 मिल प्रजातान्त्रिक विचारो मे असमानता के गीत गाता है। धनी व्यक्तियो को अनेक मत का अधिकार देने और शिक्षितो को मूर्ख की अपेक्षा अधिक मतदान का अधिकारी बनाने की बात अप्रजातान्त्रिक है। मिल भूल जाता है कि प्रजातन्त्र का आधार ही 'समानता' है और वह इसी पर कुठाराघात कर रहा है।

यद्यपि मिल की प्रतिनिध्यात्मक-शासन-प्रणाली कई दृष्टियो से त्रुटिपूर्ण और अप्रजातान्त्रिक है तथापि उसमे अनेक प्रजातान्त्रिक सुधार भी निहित हैं। मिल द्वारा स्त्री-मताधिकार का समर्थन दूरदृष्टि का परिचायक है। मिल का यह विचार भी उचित है कि शासन में क्षमता और प्रजातन्त्र का सम्मिश्रण किया जाना चाहिए तथा योग्य व्यक्तियो को शासनाधिकार दिया जाना चाहिए। मैक्सी ने ठीक ही कहा है कि "गत पचास वर्षों के इतिहास का सन्देश यही है कि प्रजातान्त्रिक देशो में कुछ सुधार आवश्यक है।" मिल द्वारा प्रतिपादित यथार्थ को ही अब प्रजातन्त्र का आधार बनाना चाहिए।

जॉन स्टुअर्ट मिल एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी के रूप में-वेपर के विचार
(John Stuart Mill as the Reluctant Democrat--Wayper's Views)

जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रतिनिधि-शासन सम्बन्धी विचारो को हम देख चुके हैं और उसके प्रजातन्त्रवादी स्वरूप का विवेचन भी हुआ है, तथापि सुविख्यात राजनीतिशास्त्री सी. एल. वेपर ने मिल का 'एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी' के रूप मे जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है उसे जानना राजनीतिक चिन्तन के प्रवुद्ध पाठक वर्ग के लिए मूल्यवान है।

वेपर के अनुसार, "यद्यपि 'लिबर्टी तथा रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट' में मिल ने अपनी अनास्था ही प्रदर्शित की है, तथापि वह प्रजातन्त्रवादियो और प्रजातन्त्रवाद का महानतम वक्ता है और प्रजातन्त्र मे उससे कम दोष देखने वाला अन्य कोई नही दिखाई देता। साथ ही उससे अधिक जोरदार शब्दो में यह भी किसी ने नही कहा कि प्रजातन्त्र हर प्रकार के लोगो के लिए उपयुक्त नहीं है। फिर उसमे अधिक

शक्ति के साथ यह भी किसी ने नहीं कहा कि जहाँ प्रजातन्त्र सम्भव है, वहाँ उससे अच्छी सरकार सम्भव नहीं।"

मिल प्रजातन्त्रवादी था और बेन्थम की भांति उसका विश्वास था कि मनुष्य अपने अधिकार और हितों को स्वयं ही सबसे अच्छे ढंग से सुरक्षित रख सकता है। मिल का मत था कि अल्पसंख्यकों के हित-साधन के लिए बहुसंख्यक की सद्भावना आवश्यक है। उसने इस बात से सहमति प्रकट की कि शासक अपने पद की प्रथाओं और अपने वर्ग की भावनाओं द्वारा प्राय: उतने ही शासित होते हैं जितने अपने व्यक्तिगत हितों द्वारा। बेन्थम की भांति मिल ने भी यह स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता सम्पन्नता का साधन है और बिना सम्पन्नता के समाज सुखी नहीं रह सकता। यह विचार भी उसे प्रजातन्त्रवादी के रूप में मान्यता देता है। मिल प्रजातन्त्रवादी इसलिए ही नहीं था कि वह प्रजातन्त्र को मनुष्य को सुखी बनाने वाली शासन-व्यवस्था मानता था, बल्कि वह इसलिए भी कि उसकी दृष्टि में प्रजातन्त्र मनुष्य को उत्तम बनाता है। स्वयं मिल ही के शब्दों में, "प्रजातन्त्र का एक लाभ यह भी है कि इसमें शासक जनता के मस्तिष्क से दूर नहीं रह सकता और उसमें परिवर्तन लाए बिना वह उसके कार्यों में भी अन्तर नहीं ला सकता। वह जानता है कि चरित्र का विकास चरित्र के अभ्यास पर अवलम्बित है और नागरिकों पर नागरिकता के उपयोगी प्रभाव के कारण ही ऐसा होता है। नागरिकता की मात्र शिक्षा नागरिक बनाना है।" वेपर के अनुसार मिल की मान्यता थी कि प्राकृतिक पशु के लिए सांस लेना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक राजनीतिक पशु के लिए मतदान का अधिकार है। वेपर का विचार है कि राजनीतिक चिन्तन के लिए सम्पूर्ण इतिहास में मतदान के सम्बन्ध में जॉन स्टुअर्ट मिल से बढ़कर उत्तम विचार और किसी भी विद्वान् के नहीं हैं। मिल के इस मत से असहमत होना कठिन है कि किसी भी राजनीतिक चुनाव के समय मतदान पर एक नैतिक बन्धन होता है कि वह अपने हितों की तुलना में जनहित को ध्यान में रखे और अपना वोट अपने विवेकानुसार सर्वश्रेष्ठ उम्मीदवार को ही दे। मतदाता को इस प्रकार सोचना चाहिए मानो सम्पूर्ण निर्वाचन उस अकेले पर ही आधारित है और अकेला वही मतदाता है तथा उसका कर्त्तव्य है कि वह खूब सोच-विचार कर और जन-कल्याण को ध्यान में रखकर अपना मत दे।

वेपर की टिप्पणी के अनुसार, "मिल की यह निश्चित धारणा थी कि प्रजातन्त्र के लिए लोग चाहे कितने ही कम उपयुक्त क्यों न हों, फिर भी वे पानी में तैरना सीख सकते हैं। यह विचार अपने मूल रूप में उपयोगितावादी विचार ही है। मिल के विषय में यह कहना उचित ही है कि पानी में डूबते हुए को बचाने के लिए उसके पास पर्याप्त सामान्य ज्ञान है। यदि उसके मतानुसार सभी स्थानों (जनसमूहों) के लिए प्रजातन्त्र उपयुक्त नहीं है, तो भी यदि समाज प्रजातन्त्र को अपनाने के लिए तैयार है, तो वहाँ समाज के सभी वयस्क स्त्री और पुरुषों को इसमें भाग लेना ही चाहिए। मिल का ध्यान नारी-समाज की यातना की ओर भी था। स्त्रियों के हित के लिए संसद् में सर्वप्रथम उसने ही आवाज उठाई थी, अतः मिल को प्रजातन्त्रवादी कहना हर दृष्टि से उचित है।"

जॉन स्टुअर्ट मिल डी. टोक्यूविले की पुस्तक 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' से, जिसका प्रथम भाग सन् 1835 में और द्वितीय भाग 1847 में प्रकाशित हुआ था, बहुत अधिक प्रभावित हुआ था और उसने इसे 'प्रजातन्त्र के प्रभाव की प्रथम विश्लेषणात्मक जानकारी' बताया था। डी. टोक्यूविले का विचार था कि प्रजातन्त्र का प्रादुर्भाव अनिवार्य है, यह दुनिया में अवश्य प्रचलित होगा, किन्तु इसको अच्छा और बुरा बनाना नागरिकों पर निर्भर है। जॉन स्टुअर्ट मिल, जैसा कि वेपर ने लिखा है, डी टोक्यूविले के सामान्य परिणामों से सहमत दिखाई देता है जिनके अनुसार, "मानव-जाति ज्यों-ज्यों प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर होगी, त्यों-त्यों वहाँ महान् स्वतन्त्रता के स्थान पर समर्पण अराजकता के स्थान पर सेवा तथा शीघ्र परिवर्तन के स्थान पर स्थायित्व की स्थापना होगी। खतरा यह है कि कहीं मनुष्य अपना नैतिक साहस तथा स्वतन्त्रता-अभियान त्याग न दे। वह राज्य की अत्यधिक-शक्ति के पक्ष में नहीं होगा। वह राज्य को विचार और भावना की सामान्य दृष्टि का अंग मानव-जाति का

दुःख-निवारक तथा मानव के मूल अधिकारो का रक्षक मानेगा। वास्तव में प्रजातन्त्र एक नवीन दास-युग की भूमिका है।"

डी. टोक्यूविले ने लिखा था कि अमेरिका मे प्रजातन्त्र ने बहुसख्यकों के हितो की रक्षा की है, उनकी अनाचारी प्रवृत्ति को बढावा दिया है और जन-कार्यकारिणियो के कार्य-सचालन में बाधाएँ प्रस्तुत की हैं। विख्यात उपन्यासकार डिकेंस (Dickens) ने भी अमेरिकी प्रजातन्त्र की आलोचना की और कहा कि प्रजातन्त्र मे प्राय. "स्वतन्त्रता अपना आँचल अपनी आँखो पर डाल लेती है तथा अपनी सहोदरा दासता को स्वच्छन्द आचरण की अनुमति प्रदान कर देती है।" जॉन स्टुअर्ट मिल का भी विचार था कि अमेरिका के बारे मे जो सत्य है वह इग्लैण्ड के विषय में भी उतना ही सत्य है। वेपर के अनुसार मिल का विश्वास था कि मानव-प्रकृति अत्यन्त अकिंचन होती है।" 'Essay on the Subjection of Women' मे मिल ने लिखा है कि "दुनिया मे ऐसे लोगो की संख्या बहुत है जो पशुओ से कुछ ही बेहतर है।" मिल ने अपने निबन्ध मे बताया कि सम्पूर्ण मानव-जाति के निर्माता पुरुष और स्त्री वर्ग मे से एक मे शासक के गुण विद्यमान हैं तो दूसरे मे दासता के। मिल के अनुसार इग्लैण्ड मे पूँजीवादी वर्ग तथा मजदूर वर्ग की भावनाएँ भी शासक और दास की भावनाएँ हैं।

वेपर के अनुसार जॉन स्टुअर्ट मिल लोकमत के दमघोटू प्रभाव से भयभीत था। उसका कहना था कि आज के लोकमत का आदर्श चरित्रहीनता है और इग्लैण्ड अब महान् व्यक्ति उत्पन्न नही कर रहा था बल्कि समाज के दबाव से अमानवीय बनता जा रहा था। मिल ने दुख प्रकट किया कि "इग्लैण्ड की जनता के पास कोई भी स्वाभाविक आदर्श नही हैं क्योंकि वह अपनी प्रकृति के अनुसार नही चल रही है। उसकी मानवीय शक्ति भूख से तडप रही है, उनकी भावनाएँ रुदन कर रही हैं और उसकी आनन्द की इच्छाएँ प्यास से व्याकुल हैं।" डी. टोक्यूविले की चेतावनियो से उत्पन्न भय को मिल ने और अधिक बढा दिया।

मिल ने इस बात पर विचार किया कि प्रजातन्त्र को विश्व के लिए सुरक्षित कैसे रखा जा सकता है और कैसे इस बात के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है कि प्रजातन्त्र की प्रणाली मानव-जाति के लिए घातक सिद्ध न होकर सुखदायक ही सिद्ध होगी। वेपर ने लिखा है कि मिल की इस प्रकार की भावना लोथिअन (Loathian) के इन शब्दो में निहित है जो एक भारतीय से कहे गए थे—"प्रजातन्त्र वह उपहार नही जो किसी को प्रदान किया जा सके, यह तो एक आदत है जो स्वय डाली जाती है और यह तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि यह कुलीनतन्त्रियो का एक वर्ग उत्पन्न नही कर लेती—और कुलीनतन्त्री वही है जो जीवन से लेने की अपेक्षा जीवन को देना अधिक है।" वेपर के अनुसार, "मिल का निश्चित विचार था कि प्रजातन्त्र इस प्रकार के कुलीनतन्त्रियो को अवश्य उत्पन्न करेगा। उसका विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ही मनुष्यो का निर्माण होता है, और उचित शिक्षा कुलीनतन्त्री मे सक्षम है। मिल औद्योगिक और राजनीतिक दोनो प्रकार के प्रजातन्त्रो का समर्थक था और शिक्षा के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों मे भी उसकी आस्था थी।" यह बात सच है कि यदि मनुष्य प्रजातन्त्र का सम्मान करेगा तो प्रजातन्त्र मनुष्य का सम्मान करेगा। प्रजातन्त्र उन नेताओ के बिना जीवित नही रह सकता जिनके मार्गदर्शन अथवा नेतृत्व के बिना कोई भी जनसमूह या सरकार नाश के गर्त मे जा सकती है। मिल के अनुसार ऐसे कुलीनतन्त्रियो को महत्त्व तभी मिलेगा जब जनता झूठे और सच्चे प्रजातन्त्र के बीच अन्तर स्थापित कर सकेगी। सख्या पर आधारित प्रजातन्त्र झूठा प्रजातन्त्र होता है जिसमे 'एक व्यक्ति एक के लिए' वाला सिद्धान्त अपनाया जाता है। यह मिल के मतानुसार नकली प्रजातन्त्र है क्योकि इसका परिणाम यही होगा कि एक व्यक्ति उतना ही अच्छा होगा जितना दूसरा। इसमे गुण और प्रतिभा के बीच अन्तर कर सकना असम्भव हो जाएगा। वर्ग-प्रथा पर अत्यधिक आश्रित प्रजातन्त्र अयथार्थ होना है। यह व्यक्ति या एक मत को मानने वाले सिद्धान्त के अनुसरण का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि अशिक्षित तथा शारीरिक श्रमिको की सरकार कायम होगी।

सच्चा प्रजातन्त्र समाज के सभी तत्वों को उचित महत्व प्रदान करेगा। यह योग्य व्यक्तियों को मतदान का अधिकार प्रदान करेगा। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सूत्रपात करेगा और 'बैलट वोट' प्रथा को समाप्त करेगा क्योंकि ईर्ष्या, द्वेष तथा व्यक्तिगत शत्रुता के कारण इस प्रकार से मतदाता बेईमानी करेंगे उसका एक दूसरा सदन भी होगा जो राष्ट्रीय जीवन के उन तत्वों का प्रतिनिधित्व करेगा जिनका प्रतिनिधित्व प्रथम सदन में सम्भव नहीं होगा। सच्चा प्रजातन्त्र संसद् के सदस्यों को कोष संचित करने की आज्ञा नहीं देगा क्योंकि उसके मतानुसार उसके प्रतिनिधि सच्चे प्रतिनिधि होंगे प्रत्यायुक्त प्रतिनिधि (Delegates) नहीं। उसके अनुसार संसद् का कर्त्तव्य प्रशासन करना नहीं वरन् निरीक्षण तथा प्रबन्ध करना होगा। यह राज्य की शक्तियों को सीमित करना पसन्द करेगा और व्यक्तियों को उन कार्यों के करने की स्वतन्त्रता देगा जिन्हें वे राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। यह नौकरशाही (Bureaucracy) के खतरे के प्रति कभी अन्धा नहीं होगा। यह इस बात का ध्यान रखेगा कि "शासक अपने संगठन के उतने ही दास होते हैं जितने कि शासित शासकों के।"

सन् 1832 के पूर्व प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड का सिद्धान्त यह था कि प्रतिनिधित्व संख्या का न होकर हितों का होना चाहिए। 18वीं शताब्दी के अंग्रेज प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त से बहुत असन्तुष्ट थे। वे इसे बदलना चाहते थे। बर्क, कॉलरिज, केनिंग फ्रांसिस हार्नर ने रिफार्म बिल के उन प्रतिपादकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की जिन्होंने प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त को परिवर्तित कर दिया "मिल रिफार्म-बिल का समर्थन करते समय प्रतिनिधित्व के पुराने सिद्धान्त को समाप्त कर देना चाहता था। इसके बिना वह कभी भी प्रजातन्त्रवादी नहीं कहा जा सकता था। उसको झूठे तथा सच्चे प्रजातन्त्र के बीच अन्तर करने के कारण भी 20वीं शताब्दी का मापदण्ड उसे असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी की संज्ञा देता है।"

जॉन स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त
(John Stuart Mill's Political Economy)

जॉन स्टुअर्ट मिल के आर्थिक विचारों का विश्लेषण करने पर एक विचित्र स्थिति प्रकट होती है कि उसके व्यक्तिवाद ने आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद का रूप ले लिया है। उसके आर्थिक व्यक्तिवाद ने क्रमिक विकास अर्थात् सीमित व्यक्तिवाद से सीमित समाजवाद में रूपान्तरण दिखाई देता है। प्रारम्भ में मिल ने श्रमिकों की शिक्षा, ईमानदारी, उनके अधिक अच्छे निवास और अधिक अच्छे जीवन-स्तर आदि के बारे में अपने विचार व्यक्त किए थे, किन्तु कुछ इस तरह कि उससे पूंजीवादियों के हितों पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। तत्पश्चात् मिल पर कूलरिज और कॉम्टे का प्रभाव दिखाई देता है और समाजवाद को सिद्धान्ततः अस्वीकार करते हुए भी वह उसके कुछ तत्वों को स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार उसके व्यक्तिवाद पर समाजवादी छाप दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए बार्कर ने स्टुअर्ट मिल को 'व्यक्तिवादी और समाजवादी युग को जोड़ने वाली कड़ी' कहा है।

मिल ने निजी सम्पत्ति, उत्तराधिकार, भूमि पर स्वामित्व आदि पर विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्ति को अपनी स्वयं की क्षमताओं का उपयोग करने और इच्छानुकूल उत्पादन करने का अधिकार है। व्यक्ति को दूसरे के नाम अपनी स्वयं की सम्पत्ति की वसीयत करने या उसे देने का अधिकार (Right to Bequeath) है और उस दूसरे व्यक्ति को अधिकार है कि वह उसे स्वीकार कर उसका उपभोग करे। सम्पत्ति (Property) एक सामाजिक संस्था है तथा मानव-जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है। व्यक्तियों की क्षमताएं भिन्न-भिन्न होती हैं, अतः असमानता एक सामाजिक आवश्यकता है, किन्तु, सम्पत्ति पर अधिकार अनेक सीमाओं से आबद्ध है जैसे सन्तान की उत्पत्ति जिनका पालन पिता को करना पड़ता है।[1]

1 *V Venkataraq* A History of Political Theories, p. 426.

मिल कुछ शर्तों के साथ भू-सम्पत्ति को न्यायोचित ठहराता है। चूंकि भूमि को उत्पादक बनाने के लिए जोतना पड़ता है, उस पर जो राशि व्यय की जाती है उसका प्रतिदान भी तुरन्त न मिल कर एक निश्चित समय के बाद ही मिलता है, अत यदि पूंजीपतियो को समुचित समय के लिए भूमि पर स्वामित्व का आश्वासन नही होगा तो उनमे भूमि के सुधार के लिए व्यय करने की कोई प्रेरणा उत्पन्न नही होगी। मिल ने राष्ट्रीयकरण का, विशेषकर भू-सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण का समर्थन नही किया, हालांकि यह अवश्य स्वीकार किया कि भूमि एक ऐसी चीज है जिसका समाज के हित से सम्बन्ध है, अतः राज्य कानून बनाकर व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति को सार्वजनिक प्रयोग के लिए हस्तगत कर सकता है जैसे किसी सड़क अथवा रेल्वे लाइन के निर्माण के लिए या सार्वजनिक सेवा की कोई अन्य चीज खड़ी करने के लिए।[1] मिल ने आगे चलकर ऐसे समाजवाद में सहमति प्रकट की जो व्यक्तियो के हितों को क्षति पहुँचाए बिना सामाजिक हितो को प्रोत्साहित करे। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे मिल ने यह भी कहा कि राज्य को भूमि का सम्पूर्ण स्वामित्व अपने हाथो मे ले लेना चाहिए।[2]

मिल ने पूंजीवादियो और श्रमिको के हितों के बीच सामञ्जस्य पैदा करने का प्रयत्न किया। उसने प्रतिस्पर्द्धी व्यापार (Competitive Trade) का समर्थन किया। उसका तर्क था कि प्रतिस्पर्द्धा से अनेक उपयोगी वस्तुओं पर स्वार्थी व्यापारियो का एकाधिकार समाप्त हो जाएगा और बाजार मे वस्तुएँ न केवल सस्ती बिकेंगी बल्कि उनकी किस्म भी अच्छी होगी। मिल सार्वजनिक स्वास्थ्य और कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगो पर सरकार के व्यापक नियन्त्रण के लिए तैयार था, यद्यपि उसने इस नियन्त्रण की ठीक-ठीक सीमाएँ नही बताई। यद्यपि मिल ने आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के कम-से कम नियन्त्रण की बात कही और यह चाहा कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा को प्रतिबन्धित नही करना चाहिए और व्यापार में एकरूपता लाने या अन्य प्रकार से नियन्त्रित करने का उसे तब तक कोई अधिकार नही होना चाहिए जब तक कि उस कार्य से कोई बहुत बड़ा कल्याण होने वाला न हो, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि उसकी आर्थिक निर्हस्तक्षेप सम्बन्धी धारणा उतनी अटल नही रही। यद्यपि उसका सर्वमान्य सिद्धान्त यही रहा कि "लोगो को अपने व्यापार की देखभाल स्वय ही करने दो।" तथापि, जैसा कि सेबाइन ने लिखा है—उसने आर्थिक निर्हस्तक्षेप को त्याग दिया। मिल ने आरम्भिक उदारवाद के इस सिद्धान्त को छोड़ दिया कि अधिकतम स्वतन्त्रता तभी सम्भव हो सकती है जब विधान न हो।[3] मिल के आर्थिक सिद्धान्त को उसकी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की 'विरोधी अभिधारणा' (Anti-thesis) कहा जा सकता है।

जॉन स्टुअर्ट मिल के आर्थिक चिन्तन पर सेबाइन ने उदारवाद के सन्दर्भ मे जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है वह पठनीय है। सेबाइन ने लिखा है—

"मिल के आर्थिक सिद्धान्तो मे तार्किक स्पष्टता का दोष है और इसलिए उनकी आलोचना की जा सकती है। मिल ने रिकार्डो के अर्थशास्त्र और प्राचीन अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्तों से विचार शुरू किया था। सिद्धान्तत उसने अपने बुनियादी दृष्टिकोण को कभी नहीं त्यागा। लेकिन उसे यह विश्वास हो गया था कि परम्परागत अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन की कुछ अनिवार्य परिस्थितियो को गलती से वितरण की वे परिस्थितियां मान लिया था जो आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। मिल इन परिस्थितियो को सार्वजनिक नीति का विषय मानता था और उसका विश्वास था कि इन पर विधायी नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। परम्परागत अर्थशास्त्र की इस आलोचना के लिए मिल प्रारम्भिक उदारवादियो के सामाजिक दर्शन को दोषी ठहराता था। प्रारम्भिक उदारवादियो ने समाज के सस्थागत स्वरूप और सस्थाओ के ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा की थी। परम्परागत अर्थशास्त्र के बारे मे मिल की यह आलोचना सही थी कि उसमे समस्त आर्थिक

1 *Davidson* op cit, pp 132–33.
2 *V. Venkatarao*. op. cit., p. 477.
3—4 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 668.

सकल्पनाओ को बिल्कुल सामान्य माना गया था और ऐतिहासिक आधार की उपेक्षा की गई। प्रारम्भिक उदारवादियो ने इन सकल्पनाओ मे मानव-प्रकृति की सार्वभौम विशेषताओ और मानव-जीवन के सामान्य मनोवैज्ञानिक नियमो के बीच अथवा संस्थाओ और परिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियो के बीच भेद किया था। वह उत्पादन और वितरण के आर्थिक अन्तर से साम्य नही रखता था। फलत: उसने उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था को वितरण की समाजवादी व्यवस्था के साथ सयुक्त करने की कठिनाइयो पर विचार नही किया। मिल के अर्थशास्त्र की मुख्य विशेषता यह थी कि उसने प्राकृतिक एव आर्थिक नियमो की संकल्पना को और इसके परिणामस्वरूप स्वनियन्त्रित प्रतियोगी आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त को त्याग दिया था। इस प्रकार उसने विधान और अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध को एक स्वतन्त्र बाजार के सरक्षण के साथ खोज लिया लेकिन इस परिवर्तन के व्यावहारिक निष्कर्ष स्पष्ट नही थे। सामान्य रूप से उदारवादियो की भाँति मिल शासन और उसकी रीतियो को सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसका विचार था शासन जो भी कार्य करेगा, खराब करेगा इसीलिए वह व्यक्तिगत उद्यम को पसन्द करता था। उसे राज्य के अभिभावकत्व से भी भय लगता था यद्यपि इस सम्बन्ध मे उसकी आपत्ति आर्थिक न होकर नैतिक थी। सामाजिक दर्शन की भाँति मिल के आर्थिक चिन्तन पर भी नैतिकता का प्रभाव था। पूँजीवादी समाज के अन्यायो के प्रति उसके मन मे नैतिक रोष की भावना थी। उसका विचार था कि पूँजीवादी 'समाज श्रम के उत्पादन का' 'वितरण, श्रम के उल्टे अनुपात मे करता है।"

मिल का योगदान (देन) और स्थान

(Mill's Contribution and Place)

राजनीतिक चिन्तन के जगत् मे मिल का मिश्रित स्वागत हुआ है। एक ओर उसकी प्रशसा के गीत गाए गए हैं, उसकी पुस्तकें पाठ्यक्रम मे रखी गई हैं, उसे एक दार्शनिक, न्यायशास्त्री और अर्थशास्त्री का दर्जा दिया गया है तो दूसरी ओर उसकी भर्त्सना की गई है और यह आरोप लगाया है कि उपयोगितावादी के सरक्षक के रूप मे उसने उपयोगितावाद की हत्या ही कर डाली है तथा प्रजातन्त्र मे दोषो और कमियो के सिवाय उसने और कुछ नही देखा है। वेपर और डनिंग जैसे विद्वानो ने उसके 'नारी स्वतन्त्रता' सम्बन्धी विचारो का भी विरोध किया है।

यह बहुत कुछ सत्य है कि मिल ने किसी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया। उसके सिद्धान्त मे बहुत अधिक सगति नही है और उसके चिन्तन मे अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वो का मिश्रण है पर केवल इन्ही आधारो पर हम उसकी उपेक्षा नही कर सकते। यह देखना अधिक शिक्षाप्रद होगा कि उसने जो कुछ लिखा है उसमे सत्य कितना है, उसकी विधेयात्मक देन क्या है और अपने युग को उसने किस प्रकार प्रभावित किया है। "और यदि लेखको की योग्यता का निर्णय इस बात से होता है कि नीति पर उनका क्या प्रभाव पडा है तो मिल का स्थान निश्चित रूप से ऊँचा है। एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक के रूप मे उसे उसके समय मे एक अवतार समझा जाता था।"

मिल ने एक पीढ़ी से भी अधिक समय तक राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र को प्रभावित रखा और उसके ग्रन्थो को विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे स्थान प्राप्त हुआ। मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) की त्रुटियाँ दूर की। बेन्थम के उपरान्त उपयोगितावाद के बहुत से आलोचक उत्पन्न हुए और इस विचारधारा के सम्बन्ध मे तरह-तरह के भ्रम पैदा हुए। मिल ने उन सब आलोचको को निरुत्तर किया तथा उनके द्वारा फैलाये गये भ्रमो का अन्त किया। आज उपयोगितावादी अर्थशास्त्र अलग विषय बन गया है। मिल ने उपयोगितावाद की एक बहुत बडी त्रुटि को दूर किया। बेन्थम ने सुख को गुणात्मक नही केवल मात्रात्मक बतलाया था। मिल ने कहा कि सुखो मे गुणात्मक अन्तर भी होता है। उपयोगितावादी विचारधारा को मिल की यह एक जबर्दस्त देन थी। वेपर के शब्दो मे—

"जब हम मिल की आलोचनाओं का विवेचन करते हैं तो हमे ज्ञात होता है कि वह उपयोगितावादियों मे सर्वाधिक सन्तोषजनक था। वह उस गहराई तक पहुँचा जिससे उसके पिता बेन्थम सर्वथा अपरिचित रहे। उसके पास अपनी निजी कल्पना थी परन्तु वह उन लोगो की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट है। वह उपयोगितावादी की अपर्याप्तता, अपूर्णता, नैतिक दुरूहता तथा इससे सम्बन्धित भावनाओं के प्रति पाए जाने वाले अज्ञान को मिटाता है।"

"वह उपयोगितावाद की वास्तविक शक्ति को भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। राज्य के निर्माता नर और नारियो को वह सदैव ध्यान मे रखता है। राज्य के सावयव तथा सामाजिक सिद्धान्त उसके लिए व्यर्थ है। वह एक अंग्रेज की भाँति अर्थात् हॉब्स की भाँति ही अंग्रेज है और उसकी दृष्टि मे अतिशयोक्तिपूर्ण कृत्रिम व्यक्ति सच्चे अंग्रेज हैं। जिन समस्याओं से वे सम्बन्धित हैं, वे आधुनिक समस्यायें हैं। वह सामूहिक नियन्त्रण की सीमा निर्धारित करना चाहता है। उसका कार्यों का स्व-सम्बन्धी तथा पर-सम्बन्धी विभाजन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह हमारी भाँति ही व्यक्ति के विकास तथा सुरक्षा को भी महत्त्व देता है। Ritchine अपने सन् 1891 वाले लेख मे मिल को अतिशयोक्तिपूर्ण या अतिशयवादी बताया गया है, परन्तु हम सब रेडियो और सिनेमा का महत्त्व समझ चुके हैं। हमने नीत्शे के शब्दो मे, समाचार-पत्रो को अपनी नित्यप्रति की प्रार्थना बना लिया है और हम मशीन की महत्ता समझते है, अत मिल हमारे लिए अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। मिल प्रजातन्त्र की बुराइयो से उसकी रक्षा करना चाहता था क्योकि यह तत्कालीन आवश्यकता थी और ऐसा करने मे वह पूर्ण सफल हुआ है। उसका महत्त्व चिरस्थायी और उसका व्यक्तित्व चिरस्मरणीय है।"

(2) मिल इस बात के लिए प्रशंसा का पात्र है कि उसने स्वतन्त्रता की उपयोगितावादी कल्पना प्रस्तुत की। प्रजातन्त्र सम्बन्धी मिल के आलोचनात्मक विचारो का महत्त्व आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशो में वे दोष पाए जाते है जिनकी ओर मिल ने सकेत किया था। मिल के इस कथन को भी चुनौती देना कठिन है कि "सुदृढ आधार के बिना प्रजातन्त्र का भवन अधिक दिन खडा नही रह सकता तथा सार्वजनिक शिक्षा के बिना सबके लिए मताधिकार निरर्थक है।" प्रजातन्त्र की सफलता के लिए दिए गए उसके सुझाव निश्चय ही प्रशंसनीय हैं क्योकि उनका व्यावहारिक पक्ष सबल है। प्रजातन्त्र की प्रयोगात्मक दिशा मे मिल ने बहुमूल्य योगदान किया है।

(4) इसी प्रकार नारी-स्वतन्त्रता सम्बन्धी उसके विचारों की सत्यता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि लगभग सभी देशों ने उसके विचारो पर स्वीकृति की मोहर लगा दी है।

(5) राजनीतिक चिन्तन को मिल की सर्वोच्च देन उसका व्यक्तिवाद है जिसे उदारवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। वॉन हम्बोल्ट (Von Humboldt) के ये शब्द मिल के मूल विश्वास को व्यक्त करते है—"इन पृष्ठों में विकसित प्रत्येक युक्ति एक ही महान् और प्रधान सिद्धान्त की ओर प्रत्यक्ष रूप से सकेत करती है और वह है अपनी विविधता के साथ मानव-विकास का महत्त्व।" मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन में जो कुछ लिखा है, वह इस विषय पर सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मिल का यह विश्वास भी सही था कि कुछ ही ऐसे प्रतिभाशाली एव तेजस्वी व्यक्ति होते हैं जो समय-समय पर मानव सभ्यता को प्रगतिशील बनाते हैं। उसके इस कथन में छिपे सार की हम उपेक्षा नही कर सकते कि, "ये थोड़े से लोग पृथ्वी के लवण हैं, इनके बिना मानव-जीवन गतिहीन हो जाएगा।"

इसमे सन्देह नहीं कि प्रजातन्त्रवाद, प्रतिनिधि-शासन और महिला-स्वतन्त्रता के वर्तमान स्वरूप पर मिल का काफी प्रभाव है।

अन्त मे, उदारवादी के रूप मे मिल के मूल्यांकन पर हम जॉर्ज एच. सेबाइन के विचारो का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकते जो एक प्रकार से मिल की देन का निचोड़ है। उसने लिखा है—

"मिल के उदारवाद का न्यायपूर्ण और इसके साथ ही सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन बहुत कठिन है। यह कह देना सचमुच बहुत आसान होगा कि मिल ने नई शराब को पुरानी बोतलों में रखकर

प्रस्तुत किया। मिल के मानव-प्रकृति, सदाचार, समाज और उदारवादी समाज मे शासन के कार्यों से सम्बन्धित समस्त सिद्धान्त उस भार को वहन करने के लिए अनुपयुक्त थे जो मिल ने उनके सिर पर डाल दिया था। लेकिन इस तरह का भावपरक विश्लेषण और आलोचना न तो सहानुभूतिपूर्ण है और न ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है। मिल की रचनाओ मे एक अस्पष्टता पाई जाती है। मिल की उदारता और भावप्रवणता उसकी बहुत-सी कमियों को छिपा लेती है। मिल उदारवादियों की पहली पीढी का स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। इन्ही सब बातो ने उसके विचारो को काफी महत्त्व और प्रभाव प्रदान किया था, तथापि मिल अपने तर्कों के पक्ष मे इस प्रभाव के अनुपात में दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत नही कर सका। मिल सदैव ही साक्ष्य के महत्त्व पर जोर देता था; किन्तु व्यवहार मे वह नैतिक अन्तर्दृष्टि पर बहुत अधिक निर्भर रहता था। मिल की नैतिक सवेदना बहुत व्यापक थी। सामाजिक दायित्व के प्रति भी उसके मन मे गहरी चेतना थी। यद्यपि मिल के चिन्तन मे व्यवस्था और सगति का अभाव है, तथापि उदारवादी दर्शन के प्रति उसकी देन को चार आदर्शों के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है—(1) मिल ने उपयोगितावाद मे महत्त्वपूर्ण सशोधन किया। उसके पूर्व उपयोगितावाद का नैतिक दर्शन केवल सुख और दुःख की तराजू से बंधा हुआ था। मिल ने उसे इस बन्धन से मुक्त किया। कॉण्ट की भांति ही मिल का नीतिशास्त्र सम्बन्धी मुख्य विचार भी मानव-जाति के प्रति सम्मानपूर्ण था। मिल का कहना था कि हमे मनुष्य के प्रति प्रतिष्ठा का भाव रखना चाहिए, तभी हम उससे नैतिक उत्तर-दायित्व की अपेक्षा कर सकते हैं। मिल का नीतिशास्त्र इस अर्थ मे उपयोगितावादी था कि वह व्यक्ति के प्रश्न को आध्यात्मिक रूढि के रूप मे नही देखता था। उसका विचार था कि व्यक्तित्व को स्वतन्त्र समाज की वास्तविक परिस्थितियों मे सिद्ध किया जा सकता है। (2) मिल ने उदारवाद की राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को अपने मे ही एक सिद्धि माना था। मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्त्व इसीलिए नही है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ की सिद्धि करती है, बल्कि इसीलिए है कि उत्तर-दायित्व मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढग से जीवन व्यतीत करना, अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख प्राप्त करने का साधन नही है, वह खुद सुख का एक अग है। इसीलिए एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता का वातावरण स्थापित करता है तथा विविध जीवन-पद्धतियों के निर्वाह के उचित अवसर प्रदान करता है। (3) स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्तिगत हित नहीं है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार-विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुँचता है। यदि किसी मत को बलपूर्वक दबा दिया जाता है तो इससे व्यक्ति को तो नुकसान पहुँचता ही है, इससे समाज का भी अपकार होता है। जिस समाज मे विचार स्वतन्त्र चर्चा की प्रक्रिया के द्वारा जीवित रहते हैं और मरते हैं वह समाज न केवल एक एक प्रगतिशील समाज है, बल्कि ऐसा समाज भी है जो स्वतन्त्र विचार का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को भी पैदा करता है। (4) स्वतन्त्र समाज मे उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नही बल्कि सकारात्मक है। वह विधि-निर्माण से विरत रहकर या यह मानकर कि चूँकि कानूनी प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है, इसीलिए स्वतन्त्रता की अवस्थाएँ विद्यमान हैं, नागरिकों को स्वतन्त्र नही बना सकता। विधि द्वारा अवसरो का निर्माण किया जा सकता है, उनका विकास किया जा सकता है और समानता की स्थापना की जा सकती है। उदारवाद उसके उपयोग पर मनमाने नियन्त्रण नही लगा सकता। उसकी सीमाएँ सिर्फ एक आधार पर निश्चित की जा सकती हैं कि वह इस तरह के अवसरो को कहाँ तक जुटा पाता है और उसके पास उसके लिए कहाँ तक साधन हैं जिनसे व्यक्ति अधिक मानवोचित जीवन व्यतीत कर सके एव उन्हें विवशता से मुक्ति मिल सके।"[1]

---

1 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 669-70.

27 आदर्शवादी परम्परा : इमेनुअल कॉण्ट

(Idealist Tradition : Immanual Kant)

उपयोगितावाद इग्लैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न स्थिति का सामना करने मे असमर्थ रहा। अब प्रवृत्ति समष्टिवाद की ओर थी और इसका कोई समाधान उपयोगितावाद के पास न था। परिवर्तित परिस्थितियो मे उपयोगितावाद राजनीतिक दृष्टि से विफल हो चुका था। विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करने लगे थे कि राज्य के स्वरूप और उससे व्यक्ति के सम्बन्ध विषयक कोई उपयुक्त सिद्धान्त प्रतिपादित करने से पूर्व नए सिरे से शुरूआत करनी होगी। उन्हे विश्वास हो चला था कि मानव-स्वभाव की बेन्थमवादी खोखली धारणा की जगह एक अधिक सच्ची और समुचित धारणा प्रस्थापित करनी होगी। यह कार्य टॉमस हिल ग्रीन (T H Green) ने 'राजनीतिक कर्त्तव्य' (Political Obligation) पर अपने भाषणो द्वारा सम्पन्न करने का प्रयत्न किया। ग्रीन ऑक्सफोर्ड का एक महत्त्वपूर्ण आदर्शवादी (Idealist) था।

तात्कालिक रूप से ऑक्सफोर्ड में आदर्शवादी विचारधारा का प्रवाह जर्मन आदर्शवाद के आगमन के कारण हुआ था। जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात इमेनुअल कॉण्ट (Immanual Kant) से हुआ और इसकी चरम परिणति हीगल (Hegel) मे देखने को मिली। इग्लैण्ड मे यद्यपि आदर्शवादी धारा को प्रवाहित होने का एक मूल कारण जर्मन आदर्शवाद था, तथापि यह मान लेना भूल होगी कि अंग्रेजी आदर्शवादी आन्दोलन पूर्णत जर्मन आदर्शवाद की ही देन थी। ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियो ने अरस्तू और प्लेटो की दार्शनिकता से कम प्रेरणा ग्रहण नही की थी।

आदर्शवाद का अभिप्राय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा
(Meaning and History of Idealism)

राजनीति के इतिहास मे आदर्शवाद का सिद्धान्त अनेक नामो से विख्यात है। चरमतावादी सिद्धान्त (Absolutist Theory), दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory), तात्त्विक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) और मैकाइवर के शब्दो में 'रहस्यवादी सिद्धान्त' (Mystrical Theory) आदि एक ही आदर्शवादी सिद्धान्त के विभिन्न नाम है। यथार्थ मे ये अनेक नाम आदर्शवादी विचार के धरातल के नीचे बहने वाली उन धाराओं की ओर सकेत करते हैं जो जर्मन तथा अंग्रेजी विचारक हीगल, कॉण्ट, ग्रीन, बोसांके आदि राजनीतिक दर्शनो मे प्रवाहित होकर आदर्शवाद रूपी सरिता को जन्म देती हैं। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य तथा समाज का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत करता है जो व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयो से पूर्ण होते हुए भी दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक (Abstract) तथा तर्कपूर्ण (Logical) है। राज्य को एक वास्तविक तथ्य (Actual Fact) न मानकर यह उसे एक आदर्श (Ideal) अथवा पूर्ण (Perfect) वस्तु मानकर चलता है जिससे इसके परिणामो का आधार अनुभव तथा निरीक्षण न होकर शुष्क तर्क है और आध्यात्मिक बन जाता है। आदर्शवादियो को इस बात की चिन्ता नही है कि वर्तमान राज्य का स्वरूप क्या है ? वे उसे उसकी यथार्थताओ (Realities) से अलग रख कर केवल इस बात पर विचार करते है कि आदर्श राज्य को कैसा होना चाहिए। इसीलिए उनके दर्शन मे राज्य का स्थान दैविक महत्ता तक पहुँच गया है और व्यक्ति एव उसकी स्वतन्त्रता की निर्मम उपेक्षा कर दी गई है।

राजनीति मे आदर्शवादी परम्परा का इतिहास कही-कही पर खण्डित होते हुए भी बहुत प्राचीन और लम्बा है जो यूनानियो से लेकर आज तक शृंखलाबद्ध रूप मे ढूँढा जा सकता है। राजनीतिक आदर्शवाद के अनेक तत्त्व अरस्तू (Aristotle) और प्लेटो (Plato) के दर्शन मे उपलब्ध है। अरस्तू का यह सूत्र कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' आदर्शवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त है। अरस्तू ने राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए स्वीकार की है। अरस्तू की भाँति ही प्लेटो ने भी नैतिक प्रणाली मे विश्वास प्रकट किया है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिको की राज्य के सम्बन्ध मे नैतिक पुरुष की धारणा मध्य-युग मे चर्च और राज्य के सघर्ष के फलस्वरूप लम्बे अर्से तक लुप्त रही। 17वी शताब्दी के पुनर्जागरण काल मे एक बार फिर यूनानी दर्शन के प्रति विद्वानो ने जिज्ञासा उत्पन्न की। टॉमस मूर ने प्लेटो के आदर्शवादी राज्य की कल्पना मे प्रभावित होकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (Utopia) की रचना की। "यद्यपि उस समय तक व्यक्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था जो आगे चलकर आदर्शवादी विचारधारा की आधारशिला बना, तथापि यह काल आदर्शवादी परम्परा के लिए अधिक शुभ सिद्ध नही हुआ।"

आधुनिक युग मे यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान रूसो द्वारा हुआ। उसकी 'सामान्य इच्छा' (General Will) इसी दर्शन अर्थात् आदर्शवाद पर आधारित है। रूसा के उपरान्त जर्मनी आदशवाद का गढ बन गया और इस दर्शन का विकास मुख्यत 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ। वास्तव मे "फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रभावित जर्मन जनता के केन्द्रीय व्यवस्था सम्बन्धी विचारो को केवल आदर्शवादी दार्शनिको के विचार ही सन्तुष्ट कर सकते थे।" जर्मनी के आदर्शवादी लेखको मे कॉण्ट (Kant), फिक्टे (Fichte) तथा हीगल (Hegel) के नाम उल्लेखनीय हैं। कॉण्ट को इस दर्शन का वर्तमानयुगीन जनक कहा जा सकता है। उसका आदर्शवाद उदारवादी था। यह उदारवादी तत्त्व फिक्टे मे कम होकर हीगल मे पूर्णतया समाप्त हो गया। आदर्शवादी जर्मन स्कूल के साथ इग्लैण्ड मे भी आदर्शवादी विचारधारा विकसित हुई। इग्लैण्ड के आदर्शवादी लेखको मे ग्रीन, ब्रे डले, वोसाँके आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। यदि जर्मनी का आदर्शवाद उग्रवादी था तो इग्लैण्ड का उदारवादी।

आदर्शवाद का सिद्धान्त
(Principle of Idealism)

राज्य एक नैतिक संस्था है—आदर्शवादियो के अनुसार राज्य एक नैतिक सस्था (An ethical institution) है और राजकीय सगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकशील तथा नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते है। अरस्तू के इस मत से आदर्शवादी सहमत है कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और केवल पशुओ अथवा देवताओ को ही राज्य की आवश्यकता नही होती।" आदर्शवादियो के अनुसार राज्य का उद्देश्य सुख-वृद्धि न होकर उन परिस्थितियो को कायम रखना है जो नागरिको के श्रेष्ठतम जीवन के लिए आवश्यक है। वोसाँके राज्य को 'नैतिक विचारक का मूर्तरूप' (An embodiment of ethical idea) मानता है। एक स्थल पर वह कहता है "राज्य विश्वव्यापी सगठन का अग न होकर समस्त नैतिक ससार का अभिभावक (The guardian of whole moral world) है।" आदर्शवादियो की मान्यता है कि राज्य का जन्म कही बाहर से नही हुआ है अपितु वह हमारे नैतिक विचार की ही अनुभूति (Realization of moral idea) है जो हमारे पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक है। कॉण्ट के विचारो को विकसित करते हुए हीगल भी इसी परिणाम पर पहुँचा कि राज्य सामाजिक सदाचार की वृद्धि के लिए कायम है। हीगल के ही शब्दो मे, "सामाजिक आचरण की उच्चतम कला राज्य मे व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थ का सरक्षक है।"

राज्य एक अनिवार्य संस्था है—आदर्शवादियो के अनुसार नैतिक सस्था होने के कारण राज्य का समाज मे अस्तित्व आवश्यक ही नही अनिवार्य है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" इसलिए वह

समाज अथवा राज्य से पृथक् रहकर कभी शान्ति प्राप्त नही कर सकता। हॉब्स, लॉक आदि की भाँति आदर्शवादी यह नही मानते कि समाज के विकास मे कोई प्राकृतिक दशा जैसा राज्यविहीन काल भी रहा होगा, राज्य से पृथक् मनुष्य स्वय अपने मे एक विरोध (Contradiction in himself) है। राज्य-विहीन अवस्था मे अथवा राज्य की अनुपस्थिति मे न केवल समाज अव्यवस्थित एव कानून रहित होगा बल्कि राज्यविहीन समुदाय के लोग अत्यन्त चरित्रहीन एव जघन्य आचरण करने वाले होंगे। अत. आदर्शवादियो की निश्चित धारणा है कि "एक सभ्य, सुसस्कृत, नैतिक एव परिपूर्ण रूप से विकसित समाज की सद्भावना के बिना राज्य एक विचारशून्य कल्पना है।"

राज्य सर्वशक्तिमान है—राज्य के सम्बन्ध मे आदर्शवादियो की कल्पना सर्व-सत्तावादी है। उग्र आदर्शवादी हीगल के शब्दो मे, "राज्य स्वय ईश्वर है, वह पृथ्वी पर स्थित दैवी विचार (Divine Idea) है।" पुनः हीगल के ही कथनानुसार "राज्य पृथ्वी पर साक्षात् ईश्वर का आगमन है। वह एक ऐसी दैवी इच्छा है जो विश्वव्यापी व्यवस्था मे वास्तविक रूप मे प्रकट होती है।"[1] इस प्रकार राजसत्ता की चरम सीमा को निरकुशता तथा असीमितता की समर्थक होने के कारण आदर्शवादी राज्य की कल्पना पूर्णतः एक सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) की कल्पना है जिसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार किसी को नही हो सकता। ग्रीन जैसे उदार आदर्शवादी ने व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियो मे राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार प्रदान किया है।

राज्य और व्यक्ति में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है—आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य मे कोई विरोध नही मानता। राज्य बनाम व्यक्ति (State versus Individual) जैसे किसी भी सम्भावित विवाद को वह एक भ्रान्त धारणा मानता है। राज्य का उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास करना है, अत राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारो और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार को ही त्याग देना चाहिए। आदर्शवादियो की मान्यता है कि राज्य की सच्ची जड़ें व्यक्ति के हृदय मे हैं और एक असभ्य, बर्बर एव मूर्ख पशुवत् आचरण करने वाले मनुष्य को सुसंस्कृत मानव एवं दिव्य बनाने वाली यह सस्था निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है। व्यक्ति का सदाचार भी इसी बात मे निहित है कि वह अपने सामाजिक कर्त्तव्य के पालन से विमुख न हो। इसमे सन्देह नही कि दो आदर्शवादी धारणाएँ विचार जगत् में क्रान्ति की द्योतक हैं। बार्कर के कथनानुसार—"एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति मे आरम्भ करने के स्थान मे, जिसके लिए सामाजिक सगठन ढाला हुआ माना जाता है, आदर्शवादी एक केन्द्रीय सामाजिक सगठन से प्रारम्भ करता है जिसमे व्यक्ति को अपना निर्धारित कर्त्तव्य-क्षेत्र खोजना चाहिए।"[2]

राज्य का अपना उद्देश्य तथा व्यक्तित्व है—व्यक्तिवादियो के विपरीत आदर्शवादियो की मान्यता है कि राज्य का अपना पृथक् एव स्वतन्त्र व्यक्तित्व तथा अस्तित्व होता है। राज्य के सदस्यो से पृथक् राज्य की अपनी एक इच्छा होती है जो नागरिको की सामूहिक इच्छा से स्वतन्त्र होते हुए भी उससे भिन्न नहीं होती। राज्य के व्यक्तित्व की धारणा की पूर्ण अभिव्यक्ति हीगल मे हुई है जो राज्य को "एक आत्म-चेतन नैतिक तत्त्व, आत्मज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति' मानता है। राज्य अपने घटको के योग से कुछ अधिक है और उसकी अपनी आत्मा है।" आदर्शवादी विचार की यह एक आधारभूत विशेषता है।

राज्य मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आदर्शवादी दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। आदर्शवादियो के अनुसार विभिन्न सघ, सस्थान एव सस्थाएँ, जिनका निर्माण सामान्य रुचियो की पूर्ति हेतु किया जाता है, सामूहिक मस्तिष्क का

1 "The state is the march of God on earth. It is the Divine Will unfolding itself to the actual shape and organisation of the world."

2 *Barker* Political Thought in England, p. 11.

प्रतिनिधित्व करते है, परन्तु इन सबके बीच सामञ्जस्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है। राज्य हमारी अन्तःचेतना अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक है। राज्य वही कार्य करता है जो हमारा शुद्ध अन्तःकरण चाहता है अथवा जो हमें सामाजिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए। व्यक्तिगत विकास की परिपक्वता एवं परिपूर्णता का ही दूसरा नाम राज्य है।

राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है—आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा बल-प्रयोग का पूर्ण निषेध नहीं है। इसका अर्थ यह है कि शक्ति-प्रयोग करने का अधिकार राज्य का मौलिक गुण है जैसी कि बेन्थम, ऑस्टिन आदि की मान्यता थी। विख्यात आदर्शवादी टी एच ग्रीन के अनुसार राज्य के विशाल ढाँचे को स्थिर रखने वाला स्तम्भ तथा राज्य के जीवन का नक्शा और वास्तविक आधार बल या शक्ति (Forces) न होकर इच्छा (Will) है। यदि राज्य भय उत्पन्न करके अपनी आज्ञाओं का पालन कराता है तो वह राज्य कभी भी स्थायी नहीं हो सकता। राज्य की सेवा करने से हम अपनी उच्चतर आत्मा के आदेश का ही पालन करते हैं। हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि राज्य हमारी सच्ची और उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधि है और इसके द्वारा ही वह सामान्य-हित प्राप्त किया जा सकता है, हमारा स्वय का हित जिसका एक अभिन्न अंग है।

राज्य की आज्ञा-पालन करना ही स्वतन्त्रता है—आदर्शवादी स्वतन्त्रता का रूप सकारात्मक है। राज्य के सभी कानून व्यक्ति की पूर्णता के लिए एक वातावरण का सृजन करते हैं जिसके अन्तर्गत वह स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है इसलिए राज्य के किसी भी कानून की अवज्ञा करना अपनी ही स्वतन्त्रता के मार्ग को अवरुद्ध करना है। आदर्शवादी पूर्ण स्वतन्त्रता के उपासक नहीं हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वाधीनता का निषेध (Negation of Liberty) मानते हैं। बन्धनों की अनुपस्थिति मे स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली व्यक्तियों का ही विशेषाधिकार रह जाती है। आदर्शवादियों का कहना है कि राजकीय आज्ञाओं का पालन करते समय हम किसी बाह्य का नहीं अपितु स्वय की ही मूर्तिमान इच्छा के आदेश का पालन करते हैं। जोजफ ब्रेडले (Bradley) के शब्दों मे, "मनुष्य की स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय उस समाज के प्रति कर्त्तव्यों के पालन से है जिनके द्वारा व्यक्ति समाज मे अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकता है।" आदर्शवाद के अनुसार स्वतन्त्रता एक निश्चित वस्तु है। स्वयं बार्कर के मत मे, "चेतना मे स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है, स्वतन्त्रता अपने उपभोग के लिए कुछ अधिकार चाहती है और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"

राज्य अधिकारों का जन्मदाता है—आदर्शवादी व्यक्तिवादियो एवं सामाजिक समझौतावादियो की भाँति किन्ही प्राकृतिक प्राक्-राजनीतिक (Pre-political) अधिकारों मे विश्वास नहीं करते। उनकी परिभाषा के अनुसार, 'अधिकार कुछ ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक है।" राज्य ही व्यक्ति के अधिकारों का नैतिक अभिभावक और सरक्षक है।

राज्य साध्य है, साधन नहीं—जहाँ व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनो ही मे राज्य को व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का साधन माना गया है, वहाँ आदर्शवादी राज्य को साध्य मानते हैं। सावयवी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए वे व्यक्ति और राज्य की परस्पर निर्भरता पर बल देते हैं। वे राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं मानते। फिक्टे (Fichte) के शब्दों मे, "एक तैलचित्र केवल तेल-कणों का समूह नहीं है, वह उससे अधिक है। जिस प्रकार एक पत्थर की मूर्ति सगमरमर के टुकडों की समूह मात्र नहीं है और जिस प्रकार एक मनुष्य घटकों तथा रक्त-धमनियों का समूह-मात्र न होकर उससे कहीं अधिक है, ठीक उसी प्रकार एक राज्य बाह्य नियमों का समूह-मात्र न होकर इससे अधिक है।" आदर्शवादियों के अनुसार, "व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए।" राज्य व्यक्ति की

नैतिक सस्था है। व्यक्ति के नैतिक जीवन का राज्य न केवल माध्यम है बलिक संरक्षण भी है। राज्य से पृथक् व्यक्ति केवल भावात्मक वस्तु है।

राज्य और समाज मे कोई अन्तर नहीं है—आदर्शवादी राज्य और समाज मे कोई अन्तर नही मानते। वे मानव-कर्त्तव्यो को सामाजिक एव राजनीतिक क्षेत्र के अन्तर्गत विभाजित नही करते। राज्य एव समाज के कार्य क्षेत्रो मे अनुरूपता स्वीकार करते हुए उनका मत है कि राज्य सामाजिक अस्तित्व का आधार है। सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ अभिन्न है। राज्य एवं समाज दोनो का लक्ष्य एक है—मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना।

आदर्शवादी अग्रेज विचारक मानते है कि नैतिकता एक आन्तरिक वस्तु है जिसे राज्य न लागू करता है और न कभी लागू की जानी चाहिए। आदर्शवादी राज्य में व्यक्ति एक साथ ही अधिपति भी है और प्रजा भी। इसलिए यदि राज्य सामान्य इच्छा की अवहेलना पर परिपूर्ण जीवन के मार्ग की बाधाओ को दूर नही करता तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने व्यक्तिगत क्षेत्र का अतिक्रमण होने पर उसके विरुद्ध विद्रोह करे। जर्मन दार्शनिक हीगल आदि व्यक्ति को यह अधिकार नही देते। जो भी हो, इस विषय मे सभी आदर्शवादी एकमत हैं कि राज्य का सच्चा कर्त्तव्य नागरिक के जीवन को विकसित कर उसे परिपूर्ण बनाना है।

प्रचलित राजनीतिक विचारधाराओ मे आदर्शवाद की कटु आलोचना की गई है। अवश्य ही आदर्शवाद के उग्ररूप की जितनी आलोचना हुई है, उतनी उसके उदार रूप की नही हुई है। बहुत से राजनीतिज्ञ तो हीगल के नाम तक से घृणा करते हैं। राजनीति-शास्त्र के लगभग सभी लेखक प्रत्यक्ष रूप से हीगल के विचार और विशेषत उसके राज्य के निरकुश सिद्धान्त का तथा राज्य के अन्धानुकरण सम्बन्धी विचार का तिरस्कार करते है। वे इस बात से सहमत है कि राज्य स्वय मे एक साध्य है, एक सर्वोत्तम संस्था और ईश्वर की देन है, जिसके अधिकार और उद्देश्य नागरिको के अधिकार और उद्देश्यो से भिन्न हैं।

जर्मन आदर्शवादी कॉण्ट
(German Idealist Kant, 1724–1804)

जीवन-परिचय

जर्मन आदर्शवादी दर्शन के पिता इमेनुअल कॉण्ट का जन्म 1724 ई. मे जर्मनी के कोनिग्सवर्ग प्रदेश मे हुआ था और सन् 1804 मे उसका देहान्त हो गया था। जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहकर उसने अपनी आयु दर्शन, गणित और नीति-शास्त्र के गहन अनुसधान मे व्यतीत की। उसका जीवन ऋषियो के समान था। वह प्रत्येक कार्य को निश्चित समय पर करने का अभ्यस्त था। हीन (Heine) के शब्दो मे, "उसके जीवन का इतिहास लिखना बडा कठिन है क्योकि न तो उसका जीवन था न इतिहास। वह जर्मनी की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर कोनिग्सवर्ग नामक एक पुराने कस्बे की शान्त गली मे एक यान्त्रिक रूप मे व्यवस्थित और कौमार्य जीवन व्यतीत करता था। मुझे विश्वास नही कि गिरजाघर का महान् घण्टा भी अपना कार्य इमेनुअल कॉण्ट की अपेक्षा अधिक निष्काम भाव तथा नियमित रूप से करता हो। सोकर उठना, कॉफी पीना, लिखना-पढना, कॉलेज मे व्याख्यान देना, खाना, पीना, घूमना सबका एक निश्चित समय था और इमेनुअल कॉण्ट जब अपना खाकी रग का कोट पहन कर मनीला छड़ी हाथ मे लिए अपने घर से लाइम ट्री नामक सडक के लिए रवाना हो जाता था, तो पडोसी समझ जाते थे कि इस समय ठीक साढ़े तीन बजे हैं.......और जब निश्चित समय पर गुजरता था तो वे मित्रतापूर्ण भाव से उसका अभिवादन करते और उससे अपनी घड़ी मिलाते थे।"

बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि कॉण्ट केवल एक सैद्धान्तिक राजनीतिज्ञ था जिसने राजनीति मे कभी भाग नही लिया। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय मे कॉण्ट की प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई और वही पर बाद मे उसने आचार्य का पद संभाला। उसने अपने

जन्म-स्थान से बाहर कभी भ्रमण नही किया। वह 30 वर्ष से भी अधिक समय तक कोनिंग्सबर्ग के विश्वविद्यालय मे ही न्याय-शास्त्र और आध्यात्म-शास्त्र का शिक्षक रहा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वाधीनता सग्राम ने कॉण्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था। तत्कालीन इग्लैण्ड की स्थिति का भी उसे प्रचुर ज्ञान था। कॉण्ट ने मौलिकता के नाम पर अपने दर्शन मे कोई नवीनता व्यक्त नही की। रूसो एव मॉण्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा ग्रहण की और उनके विचारो को ही उसने अपने ढग से क्रमबद्ध किया। प्रसिद्ध इतिहासकार डनिंग के शब्दो मे—"राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध मे कॉण्ट का सिद्धान्त ठीक वही था कि जो रूसो का था और उसी को उसने अपनी तर्क शैली से अपने शब्दो मे व्यक्त किया है। इसी प्रकार सरकार का विवेचन करने मे उसने मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण किया है।" कॉण्ट को साधारण मनुष्यो की नैतिक गरिमा का सन्देश रूसो के ग्रन्थो के अध्ययन से प्राप्त हुआ था और इस कारण उसने रूसो को 'नैतिक जगत् का न्यूटन' कहकर सम्बोधित किया। मानव स्वभाव का सम्मान करने मे वह रूसो से कितना प्रभावित था इसका आभास उसकी निम्नलिखित टिप्पणी से मिलता है जो उसने एक निबन्ध के हाशिए पर लिखी थी—

"एक समय था जब मैं यह सोचता था कि केवल यही (ज्ञान के लिए तीव्र प्यास और उसमे वृद्धि करने की अभिभ्रान्त भावना) मानव-जाति के लिए सम्मान-प्रद हो सकती है और मैं उस साधारण मनुष्य से घृणा करता था जो कुछ नही जानता। रूसो ने मुझे सही मार्ग का दर्शन कराया। मेरा यह अन्धविश्वास मिट गया। मैंने मानव-स्वभाव का सम्मान करना सीखा और यदि मुझे यह विश्वास न होता कि मानव-अधिकारो को प्रतिष्ठित करने के लिए इस विचार से दूसरो का भी मूल्य बढ सकता है तो मैं अपने आपको एक साधारण श्रमिक से भी कही अधिक बेकार समझता।"

कॉण्ट ने यह घोषणा की कि मानव कदापि साधन नही हो सकता, उसे सर्वथा साध्य ही रहता है। यह घोषणा प्रजातान्त्रिक आदर्शवाद की आधारशिला है। कॉण्ट ने भौतिक सुखो को मान्यता न देकर आत्मिक शान्ति की महत्ता पर बल दिया।

कॉण्ट की रचनाएँ

कॉण्ट ने सन् 1745 से अपनी मृत्यु-पर्यन्त 40 से भी अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। यद्यपि कॉण्ट की वैधानिक रचनाएँ विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो चुकी है, तथापि उसकी दार्शनिक कृतियो को अब भी बडे सम्मान के साथ पढा जाता है।

कॉण्ट की वे महान् कृतियाँ, जिनके कारण उसे इतनी ख्याति प्राप्त हुई, तीन है—

1. शुद्ध-बुद्धि मीमांसा (The Critique of Pure Reason) (1781)—इसमे कॉण्ट ने तत्त्व-ज्ञान और बौद्धिक सवित-शास्त्र की विवेचना की है। कॉण्ट की यह सम्भवत सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। 15 वर्ष के कठोर परिश्रम से प्रस्तुत इस रचना के सन् 1781 मे प्रकाशित होते ही सम्पूर्ण दार्शनिक जगत् मे हलचल मच गई। इस ग्रन्थ मे कॉण्ट ने यह सिद्ध किया कि इन्द्रियो से प्रतीत होने वाले दृश्य-जगत् (Phenomenon) के अतिरिक्त एक वास्तविक जगत् भी है जिसे इन्द्रियो से नही, बल्कि, शुद्ध-बुद्धि (Pure Reason) से ही समझा जा सकता है। मनुष्य, प्रकृति, ईश्वर, आत्मा, स्वतन्त्र इच्छा आदि सभी विचार हमारे इन्द्रिय-जनित ज्ञान का परिणाम हैं, अत इन विचारो का सम्बन्ध वास्तविक जगत् से नही है। कॉण्ट ने कहा कि शुद्ध-बुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। उसने ईश्वर और धर्म सम्बन्धी सभी प्रचलित मान्यताओ का खण्डन किया। इससे तत्कालीन पादरी इतने रुष्ट हो गए कि वे कॉण्ट को कुत्ते की गाली देने लगे और कुत्तो का नाम भी कॉण्ट रखने लगे।

2 व्यावहारिक बुद्धि-मीमांसा (The Critique of Practical Reason) (1788)—इस ग्रन्थ मे कॉण्ट ने नीतिशास्त्र का विवेचन किया है। अपनी पहली रचना मे ईश्वर का खण्डन

करने के बाद इस कृति मे कॉण्ट ने ईश्वर को व्यावहारिक आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयास किया इस ग्रन्थ मे यह प्रतिपादन किया गया है कि धर्म और ईश्वर की सत्ता का आधार नैतिक भावना (Moral) है, बुद्धि नही। इस जगत् मे यदि कोई वास्तविक सत्ता है तो वह नैतिक भावना और नैतिक कर्त्तव्य की ही सत्ता है। कॉण्ट ने इस नैतिक भावना और नैतिक कर्त्तव्य की सत्ता को 'निरपवाद नैतिक कर्त्तव्यादेश' (Categorical Imperative) की संज्ञा दी। कॉण्ट के अनुसार यही नैतिक भावना हमे सत् और असत् का विवेक करने मे समर्थ बनाती है। हमारा अन्तःकरण अथवा हमारी नैतिक भावना व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) का विषय है, विशुद्ध बुद्धि (Pure Reason) का नही। हमारी नैतिक भावना हमको हमारे अन्त करण के पथ-प्रदर्शक भगवान् का बोध कराती है। यही भावना स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) की सत्ता सिद्ध करती है। यदि हममे स्वतन्त्र इच्छा न हो तो नैतिक कर्त्तव्य सम्पादित करने का अर्थात् सत् का अनुसरण करते हुए असत् का परित्याग करने का कोई अर्थ नही रह जाएगा। कॉण्ट के अनुसार "व्यक्ति की नैतिक भावना यह भी सिद्ध करती है कि मृत्यु के बाद भी जीवन की सत्ता कायम रहती है। मनुष्य अपने अन्त करण की प्रेरणा से ऐसे कार्य भी करता है जिनका फल इहलोक मे पाने की आशा नही की जा सकती।"

3. निर्णय मीमांसा (The Critique of Judgement)—इस ग्रन्थ मे कॉण्ट ने इन्द्रियजन्य शास्त्र का विश्लेषण कर प्रयोजन-ग्राह्य शक्ति का रहस्योद्घाटन किया है। अपनी प्रथम रचना शुद्ध बुद्धि की मीमांसा (Critique of Pure Reason) मे कॉण्ट ने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया था, अपनी दूसरी रचना व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा (Critique of Practical Reason) में उसने ईश्वर की सत्ता को व्यावहारिक आवश्यकता के आधार पर सिद्ध किया था और अपनी इस तीसरी रचना मे उसने प्रकृति की सुन्दर योजना मे ईश्वर के दर्शन किए है। कॉण्ट के अनुसार किसी भी कलाकृति के लिए उसके निर्माता ईश्वर की सत्ता का प्रबल प्रमाण है। कॉण्ट के मतानुसार, "ईश्वर की सत्ता दो महान् व्यावहारिक वस्तुओ से स्पष्टतः सिद्ध हो रही है—प्रथम, तारागणों से परिपूर्ण गगनमण्डल (Starry Heavens Above) है और द्वितीय, मानव अन्तःकरण के भीतर पाए जाने वाले नैतिक नियम (Moral Laws Within) हैं।"

कॉण्ट की दो अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ ये है—

4 कानून के सिद्धान्त की प्रथम तात्विक मीमांसा (Metaphysical First Principal of the Theory of Law) (1799)—इसमे कॉण्ट ने कानून तथा सरकार सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं। इस ग्रन्थ की रचना उसने 70 वर्ष से भी अधिक की अवस्था मे की थी।

5. अनन्त शान्ति (Eternal Peace) (1696)—इसमे कॉण्ट के शान्ति और युद्ध सम्बन्धी विचारो का संग्रह है।

कॉण्ट से पूर्ववर्ती विचारधारा

कॉण्ट के दार्शनिक और राजनीतिक विचारो के विवेचन से पूर्व उन परस्पर विरोधी विचारधाराओ का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उपयुक्त होगा जो कॉण्ट से पूर्व प्रचलित थी और दार्शनिक जगत् मे बडी अव्यवस्था और उलझनपूर्ण स्थिति पैदा कर रही थी। इन विचारधाराओ मे ये पाँच प्रमुख थी—(i) लॉक का अनुभववाद (Empiricism), (ii) बर्कले का आदर्शवाद या आध्यात्मवाद (Idealism), (iii) ह्यूम का भौतिकवाद (Materialism), (iv) वाल्टेयर का बुद्धिवाद (Rationalism) एवं (v) रूसो का भावप्रवणतावाद (Emotionalism)। इन दार्शनिको के सम्मुख विचारणीय प्रश्न थे कि—"ज्ञान का उदय किस प्रकार होता है, संसार मे वास्तविक सत्ता क्या है और उसका स्वरूप कैसा है?"

लॉक (1632–1704) अनुभववाद का समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियो द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवो पर आश्रित है। प्रारम्भ मे हमारा मन बिल्कुल कोरी

स्लेट (Tabular Raso) की भाँति होता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों से हम इस स्लेट पर हजारों बातें लिखते चले जाते है। इस प्रक्रिया से स्मृति का उदय होता है और स्मृति विचारों का सूत्रपात करती है। चूँकि हमारा इन्द्रियों पर ये प्रभाव प्रकृति के पदार्थों (Matter) से पडते है, अत मन की पट्टी अथवा स्लेट पर अंकित होने वाले सभी विचारो का मूल भौतिक पदार्थ (Matter) होते है। लॉक के अनुसार, इस प्रकृति द्वारा मन के भावों को विविध रूप प्राप्त होते हैं, अत अनुभववाद के आधार पर इसी को वास्तविक समझा जाना चाहिए।

आयरलैण्ड के बिशप जार्ज बर्कले (1684–1753) ने आदर्शवाद या आध्यात्मवाद (Idealism) का प्रतिपादन किया। उसने लॉक के अनुभववाद को अस्वीकार करते हुए उससे भिन्न और विरोधी दार्शनिक मत प्रकट किया। बर्कले ने कहा कि ज्ञान का स्रोत बाहर का जड़-जगत् नही है वरन् हमारा आन्तरिक मन है। मन के बिना हम किसी भी पदार्थ को नही समझ सकते, अत वास्तविक सत्ता वाह्य पदार्थ (Matter) नही है, बल्कि मन है।

स्कॉटिश विचार डेविस ह्यूम (1711–76) ने भौतिकवाद (Materialism) का प्रतिपादन किया। बर्कले ने जड-प्रकृति (Matter) का खण्डन करके मन (Mind) का समर्थन किया था। ह्यूम ने बर्कले की खण्डन प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए मन का भी खण्डन किया। ह्यूम ने कहा कि मन हमारे विचारो, स्मृतियों और अनुभवो से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। इसके विपरीत मन तो विचारवान काल्पनिक सत्ता है। वास्तव मे हमारे विचार, हमारी स्मृतियाँ और हमारे अनुभव ही मन हैं। इनसे पृथक् सत्ता रखने वाली कोई आत्मा नही है। ह्यूम ने केवल मन का ही खण्डन नही किया वल्कि विज्ञान पर भी कुठाराघात किया। उसने कहा कि हम कारणों अथवा नियमो को कभी नही देखते। हम तो केवल घटनाओ और उनके क्रम को देखते है और उससे कारण का अनुमान कर लेते हैं, अत वैज्ञानिक नियम कोई शाश्वत् सत्य नहीं है। वे हमारे मानसिक अनुभवो का सक्षिप्त रूप मात्र हैं। केवल गणितशास्त्रीय नियम और सूत्र ही शाश्वत् सत्य है। उदाहरणार्थ, यह कभी असत्य नही हो सकता कि दो और दो चार होते हैं। गणितशास्त्रीय नियमो और सूत्रों के अतिरिक्त हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनिश्चित है। ह्यूम के इन विचारो ने दार्शनिक जगत् मे भारी हलचल मचा दी। उसने धर्म और विज्ञान के मौलिक आधारों पर कुठाराघात कर उग्र सशयवाद (Agnosticism) का प्रतिपादन किया। कॉण्ट ने जब ह्यूम की पुस्तक 'Treatise on Human Nature' का जर्मन अनुवाद पढा तो उसने वडी उत्कण्ठता से यह अनुभव किया कि ह्यूम द्वारा ध्वस्त किए गए धर्म और विज्ञान की पुनर्स्थापना की जानी चाहिए।

वाल्टेयर ने बुद्धिवाद (Rationalism) और नास्तिकता की विचारधारा प्रतिपादित की उसने धर्म का उपहास करते हुए नास्तिकता का प्रचार किया। उसने बतलाया कि मनुष्य बुद्धि और विज्ञान द्वारा सभी समस्याओ का समाधान कर अनन्त प्रगति कर सकता है।

पाँचवी विचारधारा रूसो (1712–1779) के भावप्रवणतावाद (Emotionalism) की थी। रूसो ने बुद्धिवाद के प्रवल प्रवाह का तीव्र विरोध कर यह प्रतिपादित किया कि केवल बुद्धि को ही अन्तिम प्रमाण एव पथ प्रदर्शक मान लेना अनुचित है। मानव-जीवन मे ऐसे अनेक सकट उपस्थित होते है जब बुद्धि कुछ नही कर पाती, वह किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाती है। ऐसे सकटो के समय मनुष्य अपनी भावनाओ से ही पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है। रूसो ने बुद्धिवाद और नास्तिकता का प्रबल खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ मनुष्य का पतन होने लगता है। शिक्षा मनुष्य को नैतिक दृष्टि से उत्तम न बना कर धूर्त और चालाक बना देती है। बुद्धिवाद के आधार पर धर्म का विरोध करने वालो को चुनौती देते हुए रूसो ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'Emile' मे लिखा—"चाहे बुद्धि ईश्वर और अमरता के विचारो का खण्डन करे, लेकिन अनुभूति (Feeling)

इनका प्रबल समर्थन करती है। हमें इस विषय मे बुद्धि पर नही वरन् अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास करना चाहिए।"

रूसो के विचारों ने कॉण्ट को प्रभावित किया। 'Emile' ग्रन्थ मे उसे अपनी आशंकाओ का उत्तर मिला कि बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्त्व देकर नास्तिकता के प्रवाह से धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाए। बुद्धिवाद से धर्म को बचाने के लिए, सशयवाद से विज्ञान की रक्षा करने के लिए और बर्कले तथा ह्यूम के विचारो का रूसो के विचारो से समन्वय करने के लिए कॉण्ट ने अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचार प्रकट किए।

कॉण्ट के दार्शनिक विचार
(Philosophical Ideas of Kant)

कॉण्ट ने लॉक और ह्यूम के विचारो को अपने ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (Critique of Pure Reasons) मे अमान्य ठहराया है। लॉक ने सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत इन्द्रियजन्य अनुभवो को बताया और ह्यूम ने मन, आत्मा तथा विज्ञान का खण्डन किया था। कॉण्ट ने इन धारणाओ को भ्रान्त कल्पनाओ पर आधारित बतलाते हुए कहा कि हमे ज्ञान प्राप्ति के साधनो तथा स्वरूप का यथार्थ परिचय प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध बुद्धि का परिचय उस ज्ञान से है जो मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण प्राप्त होता है, इन्द्रियो द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवो से नही। अनुभवो से दूषित न होने के कारण ही इसे शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) कहा जाता है। अपने ग्रन्थ मे कॉण्ट ने ज्ञान प्राप्ति के दो साधनो का उल्लेख किया है—(i) इन्द्रियाँ, एव (ii) मन (Mind) या बुद्धि। कॉण्ट के अनुसार इन्द्रियो का कार्य है विभिन्न प्रकार के सवेदन (Sensation) प्रस्तुत करना। मन का कार्य है इन सवेदनो मे सम्बन्ध स्थापित करना और उन्हे व्यवस्थित करना। उसने अपनी बात को एक सेनापति के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। युद्ध-क्षेत्र मे सेनापति के पास विभिन्न स्थानो से विभिन्न प्रकार के समाचार पहुँचते रहते है। सेनापति इन सब समाचारो को एकत्र कर इनमें समन्वय स्थापित करता है और अपने आदेश प्रसारित करता है। ठीक यही बात इन्द्रियो और मन के साथ है। इन्द्रियाँ विभिन्न अनुभवो को प्रस्तुत करती है जिनमे मन समन्वय स्थापित करता है। दूसरे शब्दो में विभिन्न अनुभवो को विशेष उद्देश्य के साथ व्यवस्थित किया जाता है और इसी उद्देश्य के कारण अनन्त अनुभवो मे व्यवस्था स्थापित होती है।

कॉण्ट की मान्यता है कि मानव-बुद्धि की कुछ मर्यादाएँ हैं। उस पर देश (Space), काल (Time) तथा कारण-कार्य सम्बन्ध (Causation) का प्रभाव पडता है। इन तत्त्वो की मर्यादाओ मे रहते हुए ही हमको वस्तु का ज्ञान होना है। अत ये तत्त्व (Space, Time and Causation) हमारे लिए नित्य सत्य है, इन्द्रियजन्य ज्ञान से इनकी पुष्टि होना आवश्यक नही है।[1] जिस प्रकार लोटे में भरे पानी का लोटे का आकार धारण कर लेना नितान्त स्वाभाविक है, उसी प्रकार हमारे बुद्धिजन्य विचारो मे उपर्युक्त तत्त्वो (Space, Time and Causation) का समावेश अवश्यम्भावी है। यहाँ ह्यूम की सशयात्मकता की कोई गुँजाइश नही है। इन तत्त्वो के आधार पर हमारा ज्ञान हर प्रकार के सन्देह और अस्थिरता से मुक्त होता है। वह सत्य और नित्य बन जाता है। इन्द्रियजन्य अनुभवो के आधार पर वस्तुसत्ता का जो ज्ञान हमे प्राप्त होता है, वह 'अनुभव-निरपेक्ष' (A posteriori) कहलाता है, पर दूसरे प्रकार का ज्ञान 'अनुभव-निरपेक्ष' (A priori) होता है जिसमे किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नही होती।

कॉण्ट के अनुसार इस दृश्य जगत् (Phenomenon) के इन्द्रिगोचर बाह्य रूप को ही जानना सम्भव है। हम मूल अथवा वास्तविक रूप (Thing in itself) का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते क्योंकि

1 *Mc Govern* : From Luther to Hitler, p. 146.

यह अनुभव-निरपेक्ष है और इसलिए यह हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ, हम यह नहीं जानते कि मनुष्य वास्तव में क्या है। हम मनुष्य के बारे में केवल इतना ही जानते हैं कि उसके सम्बन्ध में हमारी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभवों के आधार पर हमारे मन ने क्या कल्पना की है। कॉण्ट ह्यूम की तरह बाह्य जगत् की सत्ता को अमान्य नहीं ठहराता, वरन् यह कहता है कि हम बाह्य जगत् के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं जानते कि उसकी सत्ता है। कॉण्ट के आदर्शवाद या आध्यात्मवाद का आशय यह है कि बाह्य जगत् की वास्तविक सत्ता से नव परिचित है। हमें तो उसका केवल वही रूप ज्ञात है जो उसके द्वारा प्राप्त अनुभवों से हमारे मन पर अंकित हुआ है। उदाहरणार्थ, एक पुस्तक का ज्ञान हमको उसकी वास्तविक बनावट से नहीं हो सकता, बल्कि उस विचार (Idea) से होता है जो हमारे मन में उस पुस्तक को देखकर बनता है।

कॉण्ट के अनुसार बुद्धि में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह उस बाह्य जगत् के मूल तत्त्व को प्रकट कर सके। बुद्धि तो केवल उसी बात को प्रकट करती है जिसका उसे अनुभव होता है। लेकिन ईश्वर, आत्मा, भावी जीवन आदि कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अनुभवातीत हैं। बुद्धि केवल अनुभवजन्य ज्ञान तक सीमित है, अतः वह उन अनुभवातीत पदार्थों के बारे में कुछ नहीं कह सकती। वास्तव में वाल्टेयर जैसे बुद्धिवादियों को कॉण्ट का यह अकाट्य उत्तर था। वाल्टेयर ने बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन किया था जबकि कॉण्ट का मुँह तोड़ जवाब यह था कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर तो बुद्धि से परे है। ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु श्रद्धागम्य है। कॉण्ट ने अपने मत द्वारा उन प्रबलतम युक्तियों को खोखला सिद्ध कर दिया जो धर्मशास्त्र द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रस्तुत की जा रही थीं। अतः पादरी और पुरोहित उससे अत्यधिक रुष्ट हो गए और खिसिया कर उसका अपमान करने की दृष्टि से ही अपने कुत्तों का नाम कॉण्ट रखने लगे।

यद्यपि कॉण्ट ईश्वर को बुद्धिगम्य नहीं मानता, तथापि वह ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है। कॉण्ट का यह आधार उन नैतिक नियमों पर आश्रित है जो उसके अनुसार गणितशास्त्रीय नियमों की भाँति पूर्ण (Absolute) एवं शाश्वत् सत्य हैं। कॉण्ट का कहना है कि नैतिक कर्त्तव्यों की भावना मानव अन्तःकरण में जन्म से ही इतनी सुदृढ़ होती है कि इसे सिद्ध करने के लिए तर्क अथवा बुद्धि का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों को इस नैतिक भावना का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही नैतिक भावना मनुष्यों को सदैव कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रेरित करती है और उन्हें अच्छे-बुरे तथा सत्-असत् का बोध कराती है। यदि कोई व्यक्ति अन्तःकरण के आदेश की अवहेलना कर बुरा काम करता है तो उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती है और कहती है कि वह कार्य अनुचित था और उसे नहीं करना चाहिए था। नैतिक भावना तो सदैव सद्-कर्त्तव्य और सत्कार्य को प्रेरित करती है। नैतिक भावना का मानव अन्तःकरण के लिए आदेश, निरपेक्ष या परम (Absolute) होता है। मनुष्य नैतिक भावनाओं का पालन इसलिए करता है कि ये उसके अन्तःकरण की आवाजें होती हैं। नैतिक भावना का आदेश सब परिस्थितियों के समान होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक परिस्थितियों में नैतिक भावना निरपवाद रूप से सत्य बोलने का आदेश देती है। हो सकता है कि व्यक्ति झूठ बोलने की इच्छा करे अथवा झूठ बोले, लेकिन वह यह कभी नहीं चाहता कि झूठ बोलना एक सार्वभौम नियम बन जाय। कहने का आशय यह है कि नैतिक नियमों का पालन न कर सकने पर भी व्यक्ति इसके अस्तित्व को स्वीकार करता है। नैतिक नियम मनुष्य के हृदय में इस रूप में अंकित रहते हैं कि इनका सभी अवस्थाओं में पूर्णतः पालन किया जाना चाहिए। इसीलिए ये नैतिक नियम निरपवाद नैतिक कर्त्तव्यादेश या 'परमादेश' (Categorical Imperative) कहे जाते हैं। कॉण्ट का कहना है कि इस आदेश को और इस नैतिक भावना को मानव अन्तःकरण में उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। यह आदेश ईश्वर और धर्म की सत्ता का अकाट्य प्रमाण एवं सुदृढ़ आधार है जिसमें व्यक्ति को अटूट आस्था रखनी चाहिए।

o

कॉण्ट ने नैतिक भावनापरक आदेशो और कर्त्तव्यों की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया। सर्वोपरि विशेषता यह है कि कर्त्तव्य-बुद्धि से किए जाने वाले कार्य इसलिए श्रेष्ठ नही होते कि इनके अच्छे परिणाम निकलेंगे वरन् इसलिए कि अन्तःकरण की नैतिक भावना के आदेशानुसार किए जाते हैं। इस प्रकार की नैतिक भावना किसी वैज्ञानिक अनुभव का परिणाम नही होती । यह तो अनुभव-निरपेक्ष (A priori) है जो सभी कालो मे समान रूप से हमे आदेश प्रदान करती है और हमे हमारे कर्त्तव्यो का बोध कराती है । ससार मे उत्तम बात यही है कि हम हानि अथवा लाभ की चिन्ता किए बिना सदैव नैतिक भावना का अनुसरण करें । नैतिक भावना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह सिद्ध करने मे है कि मनुष्य मे स्वतन्त्र इच्छा (Freedom of Will) की सत्ता है । यदि हम मे स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता न होती तो हम कर्त्तव्य-भावना की कल्पना भी नही कर सकते थे । स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता को बुद्धि अथवा तर्क से नही वरन् व्यावहारिक अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है । जब मनुष्य किसी कार्य मे किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है और यह नही समझ पाता कि उसे क्या करना चाहिए तो उसके सामने विभिन्न मार्ग खुले होते हैं और उसे किसी भी मार्ग को चुनने की स्वतन्त्रता होती है । ऐसे समय उसे कर्त्तव्य का ज्ञान बुद्धि अथवा मस्तिष्क द्वारा नही बल्कि अन्तःकरण मे निहित नैतिक भावना से अर्थात् हृदय से प्राप्त होता है । स्पष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार, "हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वही मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है ।"

कॉण्ट के मतानुसार राजनीति का अध्ययन नैतिक दृष्टिकोण से ही किया जाना चाहिए । इसलिए राजनीति का नैतिकतापूर्ण अध्ययन ही 'कॉण्ट-प्रणाली' कही जाती है । कॉण्ट के अनुसार नैतिकता मनुष्य की पूर्णता का मापदण्ड है, नैतिकता से पृथक् राजनीति सर्वथा मूल्यहीन रहती है जबकि नैतिक आदेशो के आधार पर ही राजनीति का अध्ययन पूर्णतया उपयोगी एव सार्थक होता है ।

कॉण्ट के दार्शनिक विचारो की इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम कॉण्ट की नैतिक इच्छा तथा नैतिक स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक विचारो पर विस्तार से चर्चा करेंगे ।

कॉण्ट की नैतिक इच्छा तथा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार
(Kant's Conception of Moral Will and Moral Liberty)

कॉण्ट की विचारधारा मे उसकी नैतिक इच्छा तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इन्ही के आधार पर उसने अपने सभी विचारो को निरूपित किया है । वह रूसो के 'नैतिक इच्छा' तथा 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त मे पूर्ण विश्वास रखकर आगे बढता है । ये सिद्धान्त ही उसके समूचे दर्शन की आधारशिला है । कॉण्ट के अनुसार सच्चे अर्थों मे केवल वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक रूप से स्वाधीन है । स्वतन्त्रता का अर्थ वह मनमानी तथा अनियन्त्रित कार्य करने की स्वच्छन्दता नही मानता । एक व्यक्ति के उपभोग योग्य सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो दूसरो के समान तथा सार्वदेशिक कानून द्वारा मर्यादित है । स्वतन्त्रता अधिकारो के साथ सम्बद्ध है । स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा का अधिकार है जिसे स्व-आरोपित आदेशात्मक कर्त्तव्य (A Self-imposed imperative duty) भी कहा जा सकता है । इस प्रकार अधिकार और स्वतन्त्रता के मध्य एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर कॉण्ट नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता पर बल देता है ।

कॉण्ट मानवीय इच्छाओ को दो भागो मे विभाजित करता है— (1) वे इच्छाएँ जिनके द्वारा मनुष्य वासना की प्रवृत्ति की ओर झुकता है । वे वासनापूर्ण इच्छाएँ अनैतिक होती है और मनुष्य की यथार्थ इच्छाओ का प्रतिनिधित्व नही करती, एव (2) वे इच्छाएँ जो विवेक पर आधारित होती हैं । इनका आधार नैतिकता होती है और ये मनुष्य की यथार्थ इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करती है । कॉण्ट का कहना है कि स्वतन्त्रता इसी नैतिक या यथार्थ इच्छा का गुण है । रूसो ने नैतिक इच्छा को 'शुभ इच्छा' (Good Will) के नाम से पुकारा है । कॉण्ट ने 'शुभ इच्छा' का प्रयोग आचारिक (Ethical) के रूप मे किया है और बतलाया है कि नैतिक स्वतन्त्रता इसी बात मे निहित है कि मनुष्य अपनी 'शुभ इच्छा' के ही अनुकूल कार्य करे ।

कॉण्ट नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मनुष्य कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है जो बुद्धि-प्रधान और अन्तःकरण से सम्बन्धित हैं। वे स्वतन्त्र इसलिए हैं कि इनके पालन में व्यक्ति किसी बाहरी नियम का पालन न करके उन नियमों का पालन करता है जो स्वयं उसके अन्तःकरण से आता है। कॉण्ट ने इस प्रकार के नियमों को 'कर्त्तव्य के अटल आदेश' (Categorical Imperative of Duty) की संज्ञा दी है। कर्त्तव्य के अटल आदेश की व्याख्या से कॉण्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा और स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हमारे अधिकांश कार्यों में प्रायः सदैव ही 'यदि' की शर्त लगी रहती है। उदाहरणार्थ, हम कहते रहते हैं कि 'यदि मैं प्रथम श्रेणी में पास होना चाहता हूँ तो मुझे परिश्रम करना चाहिए।' यदि 'मैं चाहता हूँ कि मुझे प्रार्थना और व्यायाम दोनों के लिए समय मिले, तो मुझे प्रातः उठना चाहिए' आदि। स्पष्ट है कि परिश्रम करना और प्रातः उठना मेरे लिए तभी आवश्यक होंगे जब 'मैं' प्रथम श्रेणी में पास होने एवं प्रार्थना तथा व्यायाम दोनों के लिए समय चाहूँ। यदि एक समय में कर्त्तव्य के ये दोनों तत्त्व उपस्थित न हों तो मेरे परिश्रम करने और प्रातः उठने का कोई मूल्य नहीं होगा। चूँकि यह आदेश मेरी अन्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए अभीष्ट है, अतः इन्हें सापेक्ष आदेश (Hypothetical Imperative) कहा जा सकता है। कॉण्ट का कथन है कि कर्त्तव्य भी एक आदेश है जो एक विशेष प्रकार के कार्य की माँग करता है, लेकिन 'सशर्त' की अपेक्षा यह 'निरपेक्ष' (Categorical) है। वास्तव में हमारे कर्त्तव्य-पालन का कर्त्तव्य न तो किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर करता है और न किसी 'यदि' की शर्त से ही प्रतिबन्धित होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्य का नैतिक नियम के अनुसार पालन करे। ऐसा उसे इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह स्वास्थ्य, धन, यश अथवा शक्ति आदि की कामना करता है बल्कि केवल इसलिए कि यह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत् सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उस हद तक शुभ है जहाँ तक हमारे 'कर्त्तव्य के सापेक्ष आदेश' से निर्धारित होती है, इसलिए नहीं कि वह क्या करती है या क्या प्राप्त करती है। कॉण्ट के शब्दों में, "संसार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो निरपेक्ष रूप की अपेक्षा अच्छी हो। निरपेक्ष रूप की अपेक्षा केवल सद्भावना ही शुभ होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्णय-शक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत-सी बातों में शुभ और वांछनीय होते हैं, परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र शुभ नहीं है तो प्रकृति के ये उपहार अत्यन्त अशुभ और आपत्तिजनक हो जाते हैं।"

स्पष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार, "मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का आशय यह है कि नैतिकता-पूर्ण आचरण से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है क्योंकि नैतिकता व्यक्ति पर बाहर से थोपी गई वस्तु न होकर उसके स्वयं के अन्तःकरण का ही आदेश है।"

कॉण्ट की सम्पूर्ण धारणा का बल इस बात पर है कि मानव-जीवन का मूल तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है जो नैतिक नियम का पालन करने में निहित है। अतः प्रश्न उठता है कि "इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिए।" कॉण्ट की मान्यतानुसार इसका निगमन विशुद्ध बुद्धि से हुआ है, इसका कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार का कोई विशिष्ट तत्त्व होता तो वह सार्वभौमिक और परमादेश नहीं हो सकता था। इसलिए नैतिक नियम की माँग केवल यही हो सकती है कि हम बिना किन्हीं बाहरी बातों पर विचार किए सदैव अपने कर्त्तव्य-पालन में संलग्न रहें। हम स्वयं में एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करें जो अपने आप में स्वयं शुभ हो। कॉण्ट ने नैतिक नियम के पालनार्थ कुछ सूक्तियाँ निगमित की हैं जो एक बड़ी सीमा तक हमारे आचरण का पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। ये इस प्रकार हैं—

1. व्यवहार सार्वभौमिक होना चाहिए। मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे सब कर सकें जो सबके लिए उचित हो।

2 अपने मे अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति मे जो मानवता है, उसे सदैव साध्य समझते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह साधन कभी नही बनती। इस प्रकार के आचरण से मानवता उच्चत्तर बनती जाती है।

3. आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साध्यो के राज्य का सदस्य बना रहे। आचरण के समय हमे मानव-जाति के प्रति भ्रातृत्व की भावना रखनी चाहिए।

इन सूक्तियों का सम्मिलित भाव यही है कि वही कार्य पूर्ण शुभ है जिसका कर्त्ता (Doer) यह इच्छा प्रकट कर सके कि समस्त मनुष्य उसी सिद्धान्त पर चलें जिस पर वह आधारित है। साथ ही सभी मनुष्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए साधन बनाने की कामना का परित्याग कर सम्पूर्ण मानव-जाति को एक महान् भ्रातृत्व के रूप मे स्वीकार करें।

कॉण्ट के राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Kant)

कॉण्ट का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण (Kant as an Individualist)—आदर्शवादी होने के साथ ही कॉण्ट व्यक्तिवादी भी था। उसने व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर बार-बार बल दिया। हीगल के सर्वथा विपरीत उसने व्यक्ति की गरिमा एव महत्ता को पर्याप्त सम्मान की दृष्टि से देखा। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा ही उसके दर्शन का केन्द्र-बिन्दु तथा आरम्भ-स्थल है। कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वय है और कभी भी किसी अन्य साध्य का साधन नही माना जा सकता। कॉण्ट ने यहाँ परम्परागत आदर्शवादी दर्शन (Classical Idealism) से कुछ असहमति प्रकट की है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ-साधन तक ही सीमित रहे। कॉण्ट ने व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा है। वह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज की सर्वथा उपेक्षा कर केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करे अथवा निजी स्वार्थ ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो। उसके अपने शब्दो मे—"सदेच्छा के अतिरिक्त संसार मे या उससे बाहर किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नही की जा सकती जिसे निर्बाध इच्छा कहा जा सके।"

कॉण्ट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जब व्यक्तिवाद पूर्णत लुप्त नहीं हो पाया था। वह स्वतन्त्रता को इतना बहुमूल्य समझता है कि राज्य की वेदी पर उसका बलिदान नही करना चाहता। व्यक्ति पर राज्य का नियन्त्रण उसे पसन्द नहीं, यद्यपि यह मानता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक अथवा सार्वजनिक हित के अधीन माननी चाहिए, किन्तु हीगल की भाँति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नही है। वाहन (Vaughan) के अनुसार, "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसके मस्तिष्क मे स्पष्टत एक मानसिक सघर्ष चल रहा है और उसे दोनों मे समन्वय स्थापित करने का कोई मार्ग नही सूझता। वह इतना अधिक ईमानदार है कि दोनो मे से किसी एक का भी बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं है।"

राज्य की आवश्यकता के बारे में कॉण्ट के विचार (Kant's ideas about the necessity of the State)—कॉण्ट ने व्यक्ति के स्वशासन पर जो इतना बल दिया है, उसका व्यक्ति की राज्य की सदस्यता के साथ सामजस्य स्थापित करना प्रथम दृष्टि मे विचित्र लगता है क्योंकि यदि नैतिक नियम के अनुसार आचरण करके ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है तो उसके जीवन मे स्पष्ट ही राज्य के लिए कोई स्थान नही रह जाता, तो फिर राज्य की आवश्यकता क्यो है? कॉण्ट का उत्तर है कि मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति पाई जाती है वह सदैव स्वय को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है चाहे इससे दूसरों को हानि ही क्यो न हो? बाह्य रूप से मनुष्य समान है किन्तु उनकी

प्रवृत्तियों मे बहुत अधिक असमानता है । राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्नति करने की अवस्थाएँ प्रदान करती है । इसके लिए राज्य प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्रदान करता है ।

कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के प्रस्फुटन एव कार्यरूप मे परिणत होने के लिए कुछ विशेष अवस्थाओ की आवश्यकता होती है । यह आवश्यक है कि दूसरे नागरिको के कार्यो के कुप्रभाव से मनुष्यो की रक्षा की जाए । राज्य इस माँग की पूर्ति करता है । राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है—उस स्वतन्त्रता का जो नैतिकता और कर्त्तव्य-पालन के लिए आवश्यक है । कॉण्ट राज्य के अस्तित्व मे जन-इच्छा को महत्त्व देता है । जनता द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह उसे नियन्त्रित और व्यवस्थित रखे । पर जनता को विद्रोह या विरोध करने का अधिकार नही है क्योकि जनता की कोई एकीकृत इच्छा नही होती, बल्कि विभिन्न और विरोधी इच्छाएँ होती हैं । राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा है जिसके समक्ष जनता को अपना समर्पण करना चाहिए ।

कॉण्ट की मान्यता है कि व्यक्ति जिस वस्तु की कामना करे वह यथासम्भव ऐसी होनी चाहिए जिसे सार्वभौमिक नियम का रूप दिया जा सके । बार्कर के शब्दो मे, "जब वह यह नियम प्रतिपादित करता है कि तू चोरी नही करेगा' तब वह वास्तव मे एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है और अन्ततः सम्पूर्ण प्रणाली का निर्माण कर एक ऐसे कानून को जन्म देता है जो अनिवार्यतः राज्य मे प्रतिष्ठित होना चाहिए एव राज्य द्वारा लागू किया जाना चाहिए ।"[1]

स्पष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए एक आवश्यक शर्त है । नैतिक नियम से नियमित किए जा सकने वाले सर्वव्यापक कानूनो को राज्य ही भली प्रकार कार्यान्वित कर सकता है और इसीलिए वह निश्चित रूप से एक सकारात्मक अच्छाई (Positive Good) है न कि एक आवश्यक बुराई (Necessary Evil) कॉण्ट ने व्यक्ति और राज्य दोनो को ही महत्त्व दिया है और वाहन का यह कथन दोहराना उपयुक्त है कि "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसके मस्तिष्क में स्पष्टतः एक मानसिक सघर्ष होता है और इन दोनो मे समन्वय स्थापित करने का उसे कोई मार्ग नही सूझता । वह इतना ईमानदार है कि दोनो मे से एक का भी बलिदान करने को तैयार नही ।"

कॉण्ट और सामाजिक समझौता (Kant and Social Contract)—व्यक्तिवादी धारणा से प्रभावित कॉण्ट ने राज्य के सावयवी रूप (Organic Nature) पर अधिक बल नही दिया है । उसने राज्य की उत्पत्ति की विवेचना न कर उसका स्वरूप 'संविदात्मक' (Contractual) माना है । संविदा अथवा सामान्य समझौते का यह विचार उसने रूसो से लिया है, क्योकि उसके अनुसार, "न्याय की दृष्टि से राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई भी ऐसा कानून मानने के लिए बाध्य नही कर सकता जिसके लिए उसने पहले सहमति (Consent) न दे दी हो ।" रूसो की भाँति कॉण्ट भी संविदा की धारणा को एक विवेक सम्मत विचार के रूप मे स्वीकार करता है । उसके अनुसार संविदा द्वारा ही "यह समझा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य स्वतन्त्रता का समर्पण कर देते है, लेकिन राज्य के घटक अथवा सदस्य का रूप मे वे उसे तुरन्त ही वापस भी कर लेते है । पूर्ण स्वतन्त्रता एक ऐसी स्वतन्त्रता है जिसे प्राप्त करने के लिए वे अपनी जगली कानूनहीन स्वतन्त्रता का परित्याग कर देते है । ऐसा करने से उनकी स्वतन्त्रता कम नही होती क्योकि यह परिवर्तन उनकी स्वय की इच्छानुसार होता है, वरन् यह स्वतन्त्रता एक वैधानिक परतन्त्रता का रूप ले लेती है क्योकि यह अधिकारो तथा कानूनो के दायरे मे आ जाता है ।" कॉण्ट के अनुसार "राज्य व्यक्तियो का एक समूह है जो कुछ कानूनो द्वारा एकता के सूत्र मे बंध जाता है । राज्य एक प्राकृतिक अनुबन्ध है जिसमे उसका प्रत्येक सदस्य अपनी बाह्य स्वतन्त्रता त्याग देता है और तुरन्त ही सम्पूर्ण सावयवी रूप से सामूहिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है । ऐसा समुदाय 'राज्य' कहलाता है ।"

1 *Barker*. Political Thought in England, p 26.

कॉण्ट सविदा सिद्धान्त को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में न मानकर दार्शनिक रूप मे स्वीकार करता है। उनका विश्वास है कि समझौते की धारणा ही व्यक्ति और राज्य को एकता के सूत्र में बांध सकती है। कॉण्ट की सामाजिक सविदा एक सांविधानिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार शासन का स्वरूप और शासन एव जनता के मध्य सम्बन्ध स्थापित होते है। यह सविदा प्राकृतिक अवस्था को सगठित राज्य मे परिवर्तित नही करती। सामाजिक सविदा एक ऐसा नैतिक समझौता है जिससे राज्य का निर्माण नही होता अपितु 'सामाजिक जीवन की एक कम सगठित स्थिति से अधिक संगठित स्थिति मे विकसित होना प्रकट होता है।' दूसरे शब्दो मे व्यक्ति एक कानूनहीन स्वाधीनता को छोडकर एक उच्चतर स्वाधीनता को प्राप्त करते है। जिस मौलिक राजनीतिक प्रश्न ने कॉण्ट को आकर्षित किया, वह यह था कि, 'व्यक्तिगत इच्छाओ को एक सामान्य (General Will) मे किस प्रकार संगठित किया जाए, ताकि पृथक् इच्छाओ की स्वाधीनता नष्ट न होकर उसका प्रभाव पूर्वापेक्षा अधिक बढ़ जाए तथा उसे एक नए रूप मे मान्यता प्राप्त हो जाए। कॉण्ट के अनुसार, "समस्त व्यक्तियो की इच्छा पूर्ण न्याय का स्रोत है और न्याय का अर्थ सब व्यक्तियो की स्वतन्त्रता पर इस सीमा तक प्रतिबन्ध है कि वह स्वतन्त्रता सामान्य नियमो के अन्तर्गत आ सके।"

सम्पत्ति पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Property)—सामान्य आदर्शवादियों की भाँति कॉण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विपय मे उसके विचार पूर्ण व्यक्तिवादी हैं। उसकी मान्यता है "कि सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता क्योंकि सम्पत्ति उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।" फिर भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पडोसी के अधिकारो के सम्मान का बन्धन अवश्य लगाता है। इस विचार के मूल मे उसकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति का अधिकार वस्तुत प्राकृतिक न होकर समाज-प्रदत्त है।[1] व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति को दूसरे के अधिकारो का हनन नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिए उन समस्त व्यक्तियो की आवश्यकता होनी चाहिए जिनकी उसमे रुचि हो सकती है।

कॉण्ट का दण्ड सम्बन्धी विचार (Kant's Views on Punishment)—कॉण्ट समाज में शान्ति व्यवस्था स्थापित रखने और कानून के समुचित पालन के लिए दण्ड-व्यवस्था को आवश्यक मानता है। कानून तभी भली प्रकार लागू किए जा सकते है। जब उनके पीछे एक बाध्यकारी शक्ति हो। "सांविधानिक व्यवस्था (Constitutional Order) की स्थापना के लिए स्वतन्त्रता और कानून (Freedom and Law) के साथ; जो विधायन (Legislation) के दो साधन हैं, शक्ति (Force) का सम्मिश्रण होना चाहिए। यदि कानून और शक्ति न हो तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा अराजकता (Anarchism) और स्वतन्त्रता के अभाव मे शक्ति का फल होगा बर्बरता (Barbarism) इसलिए शक्ति, स्वतन्त्रता और कानून का सम्मिश्रण ही समाज का आधार बन सकता है। कॉण्ट शक्ति को राज्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए राज्य द्वारा अपराधियो को दण्ड देना उचित समझता है। उसके लिए दण्ड का उद्देश्य केवल दण्ड है। दण्ड अपराधी को डराने और सुधारने के लिए नही बल्कि अपराधी को दण्डित करने के लिए दिया जाता है ताकि समाज मे न्याय की महत्ता बनी रहे और नियम तथा मर्यादाओं को भग करने वालो को अपनी किए का फल मिल जाए। दण्ड का औचित्य इस बात मे नही है कि दण्ड से अपराधी मे कोई सुधार हो जाएगा अथवा भविष्य मे अपराधों की सख्या मे कोई कमी आ जाएगी या अपराध की पुनरावृत्ति नही होगी। दण्ड तो अपराध करने वाले व्यक्ति के पाप का फल है। स्पष्ट है कि दण्ड सम्बन्धी सुधारवादी (Reformative) तथा निरोधात्मक (Reterent) दोनो ही सिद्धान्त कॉण्ट को अस्वीकार हैं। उसके अनुसार तो दण्ड न्याय की रक्षा के लिए आवश्यक है। उसका विश्वास दण्ड के प्रतिशोधात्मक (Retributive) सिद्धान्त मे है।

1 *McGovern*: Op. cit., p 146.

कॉण्ट के अधिकार और कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार (Kant's Views on Rights and Duties)—कॉण्ट के अनुसार अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द (Synonymous terms) है। उसके ही शब्दो मे, "मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है वह है स्वाधीनता।" इसी स्वाधीनता की परिभाषा करते हुए एक अन्य स्थल पर उसने लिखा है—"स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने का अधिकार जिससे पडौसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।"

इस तरह कॉण्ट अधिकारो को उसके अनुरूप कर्त्तव्यो से संयुक्त मानता है। अधिकारो और कर्त्तव्यो के बिना एक सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना भी नही की जा सकती। अधिकार व्यक्ति के विकास का एक साधन है और मूल अधिकार स्वतन्त्रता है। अधिकारो की अपेक्षा कर्त्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि व्यक्ति यदि अपने कर्त्तव्यो का पालन करेंगे तो अधिकार स्वत ही प्राप्त हो जाएँगे। अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्त्तव्य एक आत्मारोपित वस्तु (Self-imposed) है जिसे स्वीकार करने के लिए मनुष्य की आन्तरिक चेतना उसे विवश करती है। दूसरे शब्दो मे, कर्त्तव्य उसकी आन्तरिक चेतना के फलस्वरूप अपने आप मनुष्य पर लागू होता है। कॉण्ट ने व्यक्ति के कर्त्तव्यो को तीन भागो मे विभाजित किया है—स्वय के प्रति कर्त्तव्य, अन्य नागरिको के प्रति कर्त्तव्य, एव राज्य के प्रति कर्त्तव्य।

कॉण्ट ने विशेष अवस्थाओ मे उपलब्ध कुछ निश्चित कर्त्तव्यो का निर्देश नही किया है, अत आलोचको ने उसकी धारणा को 'एक आधारहीन धारणा' (Concept within Content) बताया है। कॉण्ट ने व्यक्ति को कर्त्तव्यो के साथ अधिकार प्रदान नही किए हैं। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का भी अधिकार नही दिया है चाहे शासनतन्त्र कितना ही अत्याचारी क्यो न हो।[1] विधान मे परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है।[2] जनता को नही। वह जन-क्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वाँछनीय नही मानता। व्यक्ति को राज्य का दास न बनाने का विचार प्रकट करके और व्यक्ति के स्वशासन पर बल देकर एक ओर उसने स्वय को व्यक्तिवादियो की श्रेणी मे ला खडा किया है और दसरी ओर राज्य को सर्वशक्तिमान भी बना दिया है। हॉब्स एव रूसो के इस विचार से वह सहमत है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्यो ने अपने समस्त अधिकार राज्य को समर्पित कर दिए थे जिससे राज्य के अधिकार निरपेक्ष एव निरकुश बन गए थे। अपने ग्रन्थ Philosophy of Law' मे कॉण्ट ने लिखा है कि "जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती हैं, अत परिणामस्वरूप यह कानून-सम्मत नही होती है।" कानून द्वारा समस्त विशिष्ट इच्छाओ को एकीकृत करने वाली एक सर्वोच्च इच्छा के सम्मुख उसका बिना शर्त समर्पण एक ऐसा तथ्य है जिसका जन्म केवल सर्वोच्च शक्तिपूर्ण सस्था मे ही हो सकता है और इस प्रकार 'सार्वजनिक अधिकार' की नीव रखी जाती है। अत विरोध का अधिकार प्रदान करना और उसकी शक्ति को सीमित कर देना परस्पर विरोधी बातें है।

एक अन्य स्थल पर कॉण्ट ने यह भी घोषित किया है कि नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए राज्य परमावश्यक है और इसलिए उसके विरुद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार मान्य नही हो सकता। राज्य के आदेशो का पालन करना ही उचित है। क्योकि ऐसा करने मे व्यक्ति किन्ही दूसरे आदेशो का पालन न कर अपनी स्वेच्छाओ का ही पालन करते है।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे मे कॉण्ट के विचार (Kant's Views on the Sphere of the State)—राज्य को सर्वशक्तिमान एव अपरिहार्य बतलाते हुए और राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार का निषेध करते हुए भी कॉण्ट राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत असीमित नही करता। अपने विचारो

1 *Kant* Philosophy of Law, p. 176.

मे कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण वह राज्य को अधिक कार्य सौपना नही चाहता। उसके अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत सकुचित तथा निषेधात्मक (Negative) है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से 'नैतिक स्वाधीनता के विकास तथा प्रसार' के लिए कुछ नही कर सकता। यह काम तो व्यक्तियो को स्वय ही करना होगा। राज्य का कर्त्तव्य तो इतना ही है कि वह व्यक्ति की स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओ पर रोक लगाए (To hinder the hinderances of freedom) तथा ऐसी बाह्य सामाजिक परिस्थितियो की स्थापना करे जिसमे नैतिक विकास सम्भव हो सके। नैतिकता कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित कर्म करने एवं नीति का पालन करने मे निहित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी वृद्धि राज्य द्वारा नही की जा सकती। इस विचार को कि राज्य का प्रमुख कार्य शुभ जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को दूर करना है, ग्रीन एवं बोसांके ने ही अपनाया, हीगल ने नही।

शासनतन्त्र के विवेचन मे मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण करते हुए कॉण्ट ने शासन-कार्यों को तीन भागो मे विभक्त किया है—विधायी, कार्यकारी एव न्यायिक। व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका विभाग एक-दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र रहे। लॉक और मॉण्टेस्क्यू की भाँति कॉण्ट भी शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त मे विश्वास करता था। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन रखने का समर्थक था। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को वह तीन स्वतत्र इकाइयाँ मानते हुए कहता था कि तीनो मे कोई भी एक-दूसरे की शक्ति नही हड़प सकता।

शासन के विभेद (Forms of Government)—कॉण्ट ने राज्य के तीन प्रकार बतलाए है—(1) राजतत्र (Autocracy), (2) कुलीनतत्र (Aristocracy) एव (3) प्रजातन्त्र (Democracy)। इसी प्रकार वह सरकार को भी दो भागो मे विभाजित करता है—(1) गणतत्रात्मक (Republican), और (2) निरकुश (Despotic)।

कॉण्ट ने सरकार के दो विभेद इस आधार पर किए थे कि सरकार मे विधायिका तथा कार्यपालिका अलग-अलग है या नही। शासन के स्वरूपो के विषय मे कॉण्ट के विचारो मे कोई नवीनता नहीं थी। शासन के इस वर्गीकरण को अरस्तू भी बहुत पहले ही प्रकट कर चुका था।

वस्तुत कॉण्ट को शासनतन्त्र के किसी भी स्वरूप से प्रेम नही था। उसका कहना था कि शासनतत्र का चाहे कोई भी स्वरूप हो, उसके द्वारा जनता की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए। जनता की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते हैं। प्रकट है कि शासनतत्र से अपने अभीष्ट की पूर्ति चाहता था, उसे उसके स्वरूप से कोई सरोकार नही था। शासन का अभीष्ट यही था कि वह व्यक्ति को राज्य मे नैतिक स्वतत्रता प्रदान करे। कॉण्ट ने प्रतिनिध्यात्मक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का प्रतिनिधि माना है। इससे उसके राजतत्रवादी होने का स्पष्ट आभास मिलता है। इस सम्बन्ध मे प्रो. डनिंग ने लिखा है कि "प्रशिया राज्य के एक राजकीय विश्वविद्यालय मे वयोवृद्ध प्रोफेसर होने के नाते वह राजतंत्र के प्रति अपनी अन्ध-श्रद्धा त्यागने मे असमर्थ था।"

क्रान्ति पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Revolution)—क्रान्ति के बारे मे कॉण्ट के विचारो पर प्रकाश 'अधिकारो एव कर्त्तव्यो' के प्रसग मे डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि क्रान्ति से उसे घृणा थी, अतः "उसने एक ऐसी परिवर्तनशीलता (Stagnation) का उपदेश दिया जिसे बर्क भी घृणा की दृष्टि से देखता था।" नैतिक विकास के लिए राज्य की अनिवार्यता होने के कारण उसके प्रति विद्रोह को वह 'धर्मशास्त्र पर आधारित पवित्र कार्य के प्रति विश्वासघात' के समान समझता था जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनो में क्षमा नही मिल सकती। यहाँ कॉण्ट जर्मन आदर्शवादी परम्पराओ का अनुसरण करते हुए कहता है कि "यदि विधान मे कोई परिवर्तन होना है तो वह केवल शासन द्वारा ही हो सकता है, जन-क्रान्तियो द्वारा नही।"

वास्तव मे यह आश्चर्यजनक बात है कि फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का उग्र समर्थक कॉण्ट जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का इतना तीव्र विरोध करता था। डनिंग (Dunning) ने इसके मूल मे दो कारणो का उल्लेख किया है। प्रथम कारण तो जर्मनी की तात्कालिक परिस्थिति थी। "वह प्रशिया मे एक राजकीय विश्वविद्यालय मे बूढा प्रोफेसर था। महान् फ्रेडरिक और उसके उत्तराधिकारियो के शासनकाल में कोई राजभक्त प्रजाजन जनता द्वारा विद्रोह की कल्पना भी नही कर सकता था। जनता और राष्ट्र या राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल समर्थन करने वाले दार्शनिक भी स्वय को इस विचार से सर्वथा मुक्त नही कर सकते है कि प्रभुसत्ता राज्य में ही निहित होती है।" दूसरा कारण यह था कि कॉण्ट मे उपद्रवो और अव्यवस्था के प्रति स्वाभाविक घृणा थी।

सम्प्रभुता और कानून पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Sovereignty and Law)—राज्य का अस्तित्व प्रभुसत्ता के बिना सम्भव नही है—इसे कॉण्ट स्वीकार करता था। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त होने वाली जनता की इच्छा को सम्प्रभुता की मान्यता देता है; पर चूँकि सामान्य इच्छा काल्पनिक होती है, अत. उसका कोई न कोई भौतिक स्वरूप अवश्य होना चाहिए। कॉण्ट के मतानुसार, "सामान्य इच्छा को एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के समूह या बहुत से व्यक्तियो द्वारा प्रकट किया जा सकता है।"[1] सामान्य इच्छा-जन्य सम्प्रभुता को वह किसी एक स्थान पर स्थिर नही मानता।

कॉण्ट की कानून सम्बन्धी धारणा मध्यकाल की नैसर्गिक विधि की धारणा के अनुरूप है। वह इस विचार का तिरस्कार करता था कि कानून सम्प्रभु का आदेशमात्र है। वह कानून को राज्य से ऊपर मानता था, किन्तु दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति न मानकर विशुद्ध बुद्धि की उपज समझता था। उसके अनुसार केवल वही कानून सच्चे है और नागरिको की भक्ति का दावा कर सकते हैं जो विशुद्ध बुद्धि के अनुकूल हो। यहाँ काण्ट अरस्तू के निकट आ जाता है। विधियो अथवा कानूनो का स्रोत जनता को मानते हुए वह कहता है कि जनता ही वस्तुतः सम्प्रभु होती है, इसलिए वही सर्वोच्च विधायिका-शक्ति का भी प्रयोग कर सकती है। सामान्यतया व्यक्तियो के किसी एक सगठन का समूहों से अधिक मूल्य नही होता, लेकिन सविधान व्यक्ति-समूह को राष्ट्र की सज्ञा देता है। राज्य की सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति को सविधान द्वारा ही प्राप्त होती है। कॉण्ट के अनुसार विधि का लक्ष्य राज्य के प्रत्येक सदस्य की स्वतन्त्रता के बीच समन्वय स्थापित करना है। व्यक्ति को सदैव विधि के अनुकूल ही कार्य करना चाहिए क्योकि विधि मनुष्य की स्वतन्त्रता मे सहायक होती है।

विश्व-शान्ति और प्रगति के विषय मे कॉण्ट के विचार (Kant's Views on World Peace and the Law of Progress)—कॉण्ट ने स्थाई शान्ति और प्रगति नियम को राजनीतिक रूप देते हुए उस पर विशेष प्रकाश डाला है। स्थाई शान्ति एव प्रगति के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले बोदाँ (Bodin) ने किया था। उसने कहा था कि "मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का नही।" 18वी सदी मे टर्गो एव कॉडोरे (Turgot and Condorcet) नामक दो फ्रांसीसी लेखको ने भी इस विषय पर बल दिया था, किन्तु इसे एक निश्चित तथा बुद्धि-सम्मत रूप देने एव राजनीतिक विचार के इतिहास मे इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का श्रेय कॉण्ट को ही है। हीगल से विकसित होकर यह विचार बाद मे मार्क्स की शिक्षाओ की आधारशिला बन गया।

कॉण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता का विश्लेषण करने से उसके प्रवाह मे एक नियमित धारा दृष्टिगोचर होती है। प्रगति का नियम (Law of Progress) एक ऐसी शक्ति है जो इस विश्व की समस्त घटनाओ को नियन्त्रित करता है। यह शक्ति मानव की उत्तरोत्तर प्रगति मे सहायक होती है। प्राकृतिक अविकसित-अवस्था मे मनुष्य सघर्षरत रहता था। उस स्थिति से त्रस्त होकर उसके मानस मे

1 *Dunning* : History of Political Theories, Vol. III, p. 134.

विवेक का विकास हुआ जिसने नैतिकता को जन्म दिया। इस विवेक और नैतिकता के कारण मनुष्य ने कानून बनाए थे और उसके अनुपालन में ही सुख-शान्ति के दर्शन किए। प्रगति के नियम का सुन्दर वर्णन कॉण्ट ने इन शब्दों में किया—

"जब मानव-स्वतन्त्रता की क्रीड़ा का मानव-इतिहास मे बड़े पैमाने पर परीक्षण किया जाता है तो उसकी गतियों में एक नियमित धारा के दर्शन होते हैं और इस प्रकार जो चीज व्यक्तियों की स्थिति में उलझी हुई और अनियमित दिखाई पड़ती है, वही चीज सम्पूर्ण इतिहास में अपनी मूल शक्तियों की निरन्तर प्रगति के रूप में जानी जाएगी यद्यपि इसका विकास मन्थर गति से होता है। व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति और राष्ट्र अपने निजी उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न एक निश्चित दिशा मे और प्राय: एक-दूसरे की विरोधी दिशा में अग्रसर होते हुए यह नहीं सोचते कि वे सब अनजाने ही प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो रहे हैं, और एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य कर रहे हैं जो यदि उन्हें ज्ञात हो जाता तो भी उनका कोई विशेष महत्त्व न होता।"

कॉण्ट के प्रगति के नियम का सार रूप मे अर्थ यह है कि एक ऐसी अदृश्य शक्ति विद्यमान है, चाहे उसे हम परमात्मा कहें या प्रकृति, जो इस संसार के घटना-चक्र को नियन्त्रित करती है और यह देखती है कि व्यक्तियों की विभिन्न शक्तियों का निरन्तर विकास होता रहे तथा मानव-जाति उन्नति द्वारा उच्चतर-स्तर पर पहुँचती जाए। सम्पूर्ण प्रकृति मानव-शक्तियों के प्रस्फुटन की दिशा में ही अग्रसर है।

कॉण्ट का विश्वास था कि "प्रकृति द्वारा मानव मे अन्तर्हित समस्त शक्तियाँ कालान्तर में अपने उद्देश्य के अनुसार अपना पूर्ण विकास कर लेंगी। मानव विवेकशील प्राणी है और समष्टि मे ही उसका पूर्णतम विकास सम्भव है। समाज मे स्वाभाविक संघर्ष की प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है किन्तु इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम शुभ ही होता है क्योंकि इस कारण मानव अपनी शक्तियों का विकास करता है और अन्ततोगत्वा इस संघर्ष का दमन करने के लिए विधि द्वारा नियन्त्रित व्यवस्था की रचना होती है। मानव-जाति के सामने सबसे बड़ा और सबसे कठिन प्रश्न यही है कि ऐसे नागरिक-समाज की व्यवस्था किस प्रकार हो जिसमे विश्वस्त रूप से विधि-सम्मत अधिकारों का प्रशासन हो। किन्तु आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण नागरिक-समाज की व्यवस्था हो ही नहीं सकती जब तक राष्ट्रों के बाह्य सम्बन्ध विधि-सम्मत नहीं होते। मानव-जाति के इतिहास पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति आन्तरिक और बाह्य दृष्टियों से पूर्ण एक राजनीतिक संविधान के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है जिसमें मनुष्य की समस्त शक्तियों का विशेष रूप से विकास हो सके।"

कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति अकेला ठीक तरह नहीं रह सकता। यह प्रकृति के विरुद्ध है। अकेले में वह झूठ बोलता है और धोखा देने की कोशिश करता है। किन्तु समाज में रहकर वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उसे सामाजिक निन्दा का भय बना रहता है। मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है, फिर भी एकाकीपन में वह बुराई की ओर उन्मुख होता है। सबके बीच वह भलाई के पथ पर अग्रसर होता है। इस तरह समाज में रहकर उसमे नैतिकता का विकास हो जाता है।

कॉण्ट ने विश्व-शान्ति और उसके मार्ग की बाधाओं पर भी प्रकाश डाला है। अपने इतिहास-दर्शन द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व का विकास शान्ति की दिशा में ही हो रहा है। कॉण्ट का विचार था कि यूरोपीय राज्य-व्यवस्था शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त पर आधारित है, अत: इसमें स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

कॉण्ट विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त का उपासक था और समूची मानवता को एक इकाई के रूप में देखता था। उसने बहुत पहले से ही एक संघात्मक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की कल्पना की थी जिसे वह 'ईश्वरीय इच्छा' का नाम देता था और यह कामना करता था कि समस्त मानव-जाति इस संयुक्त विश्व-राज्य के अन्तर्गत सुख-शान्ति से रहे। कॉण्ट की मान्यता थी कि जिस प्रकार अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से

व्यक्तिगत जीवन में बुराइयाँ उत्पन्न होती है, उसी प्रकार राज्यों के लिए भी अनियन्त्रित स्वतन्त्रता बुराई की जड़ है। जिस प्रकार व्यक्ति में स्वार्थी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यह भावना राज्यों मे छिपी रहती है। किसी राज्य के नागरिकों का भाग्य उसके आन्तरिक सगठन पर ही निर्भर नहीं रहता, वरन् दूसरे राज्यो के साथ पारस्परिक सम्बन्धो पर भी निर्भर करता है। जो राज्य सदैव अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने मे लगा रहता है, वहाँ नैतिकता का अभाव रहता है। राज्य एक अलग सावयव सस्थान नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध अन्य राज्यो के साथ भी है, जो उसकी आन्तरिक और बाह्य नीति पर प्रभाव डालते है। कॉण्ट के अनुसार सबसे शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक राज्य है। इन देशो मे युद्ध तभी हो सकता है, जब जनता उसके लिए उद्यत हो। बिना जनता की राय के युद्ध नहीं किया जा सकता।

कॉण्ट के अनुसार विश्व-शान्ति तीन प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—

(1) किसी आकस्मिक घटना से, किन्तु इस प्रकार की आशा दुराशा मात्र है,

(2) प्रकृति के स्वाभाविक विकास-उद्देश्य के व्यावहारिक क्रियान्वयन से,

अथवा

(3) यदि वर्तमान झगड़ो के कारण समस्त राष्ट्र एक विश्व व्यापक निरकुश बर्बर शासन के अधीन हो जाएँ।

चिरस्थायी शान्ति (Perpetual or Permanent Peace) की स्थापना के मूल स्रोतों की विवेचना करते हुए कॉण्ट का कथन है कि कोई भी सन्धि वैध (Legal) नहीं मानी जानी चाहिए यदि इसमें भावी युद्ध छेड़ने की सामग्री भी गुप्त रूप से सुरक्षित की जा रही हो। विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी स्वतन्त्र राज्य को कोई अन्य राज्य दायभाग, विनिमय अथवा दान के रूप मे प्राप्त न कर सके क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यो की स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाएगी। विश्व-शान्ति को स्थाई बनाने की दिशा मे यह भी आवश्यक होगा कि स्थिर सेना (Standing Army) को हटा दिया जाए। स्थिर सेना से व्यापक युद्ध को उत्तेजना मिलती है। राज्यो द्वारा बाह्य सम्बन्धो (External Affairs) के सम्बन्ध मे बाहरी शक्तियो से राष्ट्रीय ऋण लेना भी कॉण्ट के अनुसार चिरस्थायी शान्ति के लिए घातक है। यह ससार सुख और शान्ति की नीद ले सके, इसके लिए आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलो मे हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के सविधान तत्र शासन मे हिंसात्मक हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित कर दिया जाए। शान्ति की दिशा मे यह भी एक सहयोगी कदम होगा कि युद्ध-काल मे भी नृशसता और विश्वासघात का प्रयोग न हो। ये बातें शान्ति की स्थापना मे बाधा डालती है। शाश्वत् शान्ति का एक अन्य मूल सूत्र यह है कि प्रत्येक देश का सविधान गणतन्त्रात्मक हो और स्वतन्त्र राज्यो का एक विशाल सघ बने जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून कार्यान्वित हो।

स्पष्ट है कि कॉण्ट ने शाश्वत् शान्ति (Permanent Peace) के सांविधानिक और भावात्मक आधारो की अति सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है।

कॉण्ट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन
(Criticism of Kantian Philosophy and his Estimate)

आलोचक कॉण्ट के आदर्श को काल्पनिक तथा अव्यावहारिक मानते हैं। केवल काल्पनिक अधिकारो और कर्त्तव्यो का जीवन मे कोई विशेष महत्त्व नही है। उनसे समाज का कोई विकास नही होता। कॉण्ट इस बारे मे कोई निश्चय नही कर सका कि साधारण रूप से व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए अथवा मानव को उच्च प्रवृत्तियो के विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

कॉण्ट के विचारो मे व्यक्तिवाद और आदर्शवाद दोनो का ही पुट है, अतः उसके चिन्तन मे अनेक विरोधाभास प्रवेश कर गए हैं और अनेक असगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। कॉण्ट के दर्शन मे स्थान-

स्थान पर ऐसी मान्यताएँ प्रकट हुई हैं जो परस्पर विरोधी हैं और जिनमे सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'स्वाधीनता' की परिभाषा करते समय कभी वह व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होता है तो कभी उसे 'उच्चतर व्यक्तियो के नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ' कहने लगता है। इसी तरह एक ओर तो वह जनता की सम्प्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर भी ऐसे शासक को उचित मानता है कि जिस पर किसी भी प्रकार का वैधानिक नियन्त्रण न हो। सम्पत्ति दण्ड, राज्य का कार्य-क्षेत्र आदि, सभी विषयो पर उसके विचार परस्पर टकराते हैं। वाहन ने ठीक लिखा है कि "कॉण्ट इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो पृथक् धारणाओं के बीच चक्कर काटता रहा।" राज्य को एक नैतिक संस्था समझते हुए कॉण्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति ईर्ष्यापूर्ण ही रहा। वह राज्य के सावयवी रूप पर पूरी तरह नही टिक सका।

कॉण्ट के शासन सम्बन्धी विचारो मे कोई नवीनता नही है। उसकी सामान्य और शुभ इच्छा का वर्णन भी भ्रमपूर्ण है। विशेष रूप से उसका यह कहना कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है, गलत है। कॉण्ट अनुबन्ध की कल्पना को स्पष्ट करने मे भी असफल रहा। एक ओर तो वह यह कहता है कि शासन जनता की सहमति पर निर्भर है और दूसरी ओर यह भी मानता है कि जो शासन जनता की अनुमति के बिना चलाया जाता है उसमे जनता की नैतिक स्वतन्त्रता खतरे मे रहती है।

आलोचको के अनुसार कॉण्ट का दर्शन एक अनुभवहीन तर्कवादी दार्शनिक का दर्शन है जिसने व्यावहारिक राजनीति का न तो अध्ययन किया और न उससे कोई लाभ उठाया। उसके दर्शन मे अव्यावहारिकता है जो उसे यथार्थ से दूर कर देती है। डेवी (Dewy) के अनुसार, "ऐहिक उद्देश्यो और परिणामो से पृथक् कर्त्तव्य का उद्देश्य बुद्धि को कुण्ठित करता है।"

अन्य जर्मन दार्शनिको की भाँति कॉण्ट भी राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिससे जन-भावना मूर्त होती है। आगे चलकर हीगल आदि के दर्शन मे राज्य की यही परिभाषा उसे सर्वशक्तिमान (Omnipotent) बना देती है, अतः यह एक घातक परिभाषा है। पुनश्च, जो आदर्शवादी विचारधारा यूरोप मे फैली वह व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी, लेकिन 'सामूहिक जीवन' (Corporate Life) का अनुभव न होने तथा स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिए जाने के कारण कॉण्ट का दर्शन व्यक्तिवाद की तरफ ही झुक गया था।

कॉण्ट की बहुत अधिक आलोचना की गई है, पर उसके सिद्धान्तो मे अच्छे तत्त्व भी विद्यमान है। कॉण्ट जैसे तार्किक विचारक के दर्शन मे कुछ दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग मे एक संक्रान्ति काल (Transitional Stage) था। रसेल (Russell) जैसे विचारक कॉण्ट के उदय को चाहे 'एक दुर्भाग्य' (A more misfortune) माने, किन्तु राजनीति का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी यह स्वीकार नही कर सकता कि वह आदर्शवाद का एक सच्चा संस्थापक था।

कॉण्ट के विचार मौलिक नही थे; परन्तु उसने जो कुछ भी किया उसके कारण उसका दर्शन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ. क्लिंक (Klinke) का मत है कि "कॉण्ट ने एक नए दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास मे उसकी दार्शनिक रचनाओ ने मील का पत्थर रखा। वह उन महान् एवं गम्भीर विचारको मे से था जिन्होंने न केवल अपनी रचनाओ से ही बल्कि अपने जीवन से भी समकालीन बुद्धिजीवियो और भावी पीढ़ियो को प्रभावित किया।" उसकी विशुद्ध बुद्धि मीमांसा (Critique of Pure Reason) दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र मे एक महान् देन है।

काण्ट के दार्शनिक और नैतिक विचारो का बहुत व्यापक प्रभाव पडा। अनुभववाद और संशयवाद का निराकरण करके उसने समीक्षावाद की पुष्टि की। दृश्य-जगत् और वस्तु-तत्त्व मे जिस द्वैत की कॉण्ट ने कल्पना की थी उसका परिहास कर हीगल ने विज्ञानवादी अद्वैतवाद का खण्डन किया।

कॉण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण और सश्लेषण मे पार्थक्य (Separation) का फिक्टे (Fichte) की दर्शन-पद्धति पर भी प्रभाव पडा। शॉपनहोवर के सकल्पवाद और लाट्स के प्रयोजनमूलक विज्ञानवाद पर भी कॉण्ट के विचारो का प्रभाव है। फ्रीस जॉर्ज सिमेल भी कुछ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए कॉण्ट का ऋणी है। सीमित अर्थ मे यद्यपि कॉण्ट राजनीतिशास्त्री नही था, तथापि उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तो का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ा।

कॉण्ट की राजनीतिक देन को फूंक से नही उडाया जा सकता। उसने सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा प्रसारित नैतिकवाद का विरोध किया और भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया। उसने विवेक को अनुभूति से उच्च बतलाया और विशुद्ध विवेक को सत्य तथा असत्य अनुभूतियो को पहचानने का साधन माना। कॉण्ट ने सार्वभौमिक नैतिक विधि एवं स्वतन्त्रता की कल्पना की। आधुनिक युग का वही पहला विचारक था जिसने विश्व-राज्य की कल्पना की। कॉण्ट के राजनीतिक विचारो के कारण जर्मनी मे उदारवादी विचारो की उन्नति हुई, सामन्तवाद को आघात पहुँचा और राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। राइट (Wright) के इस कथन मे कोई अतिशयोक्ति दिखाई नही देती कि "सन् 1781 से अब तक प्रत्येक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक किसी न किसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप से अथवा नकारात्मक रूप से, जाने-अनजाने कॉण्ट और उसके उत्तराधिकारियो के ऋणी रहे है।"

28 जोहान गोटीलेब फिक्टे

(Johann Gottileb Fichte, 1752–1814)

जीवन-परिचय और कृतियाँ

जर्मनी के आदर्शवादी राजनीतिक विचारों की शृंखला में जोहान गोटीलेब फिक्टे दूसरा विचारक है जो प्रारम्भ मे उदार आदर्शवादी थी, किन्तु अपनी जीवन-सध्या मे उग्र आदर्शवादी बन गया। फिक्टे एक व्यावहारिक जर्मन आदर्शवादी के रूप मे ही विख्यात है।[1] इमेनुअल कॉण्ट से प्रभावित होकर उसने अपना लक्ष्य विश्व-बधुत्व से आरम्भ किया, किन्तु बाद मे नेपोलियन के युद्धो से उत्पन्न विपत्तियो के कारण वह एक चरम राष्ट्रवादी (Nationalist) बन गया। नेपोलियन के युद्धो ने जर्मनी को छिन्न-भिन्न कर दिया, इससे राष्ट्रप्रेमी फिक्टे के हृदय को गहरा आघात लगा और वह जर्मनी को एक संयुक्त राजनीतिक राष्ट्र के रूप मे सगठित देखने की कामना करने लगा।

फिक्टे का जन्म एक साधारण जुलाहे के घर मे हुआ था, किन्तु अध्ययन-अध्यापन कार्य मे अतिशय रुचि होने के कारण वह जीव विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक बन गया। धर्म और राजनीति के सम्बन्ध मे उसके विचार उग्र थे। विचारो की अनुदारता के कारण वह पदच्युत कर दिया गया। सन् 1810 में बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और सन् 1811–12 मे फिक्टे वहाँ का रैक्टर नियुक्त हुआ। फिक्टे ने राजनीतिशास्त्र पर अनेक ग्रन्थो की रचना की यद्यपि उसके अनुसन्धान का व्यापक क्षेत्र तत्त्व-ज्ञान था। अपनी रचनाओ और व्याख्यानो द्वारा उसने जनता में उन राजनीतिक भावनाओ और प्रेरणाओ को विकसित करने का प्रयास किया जिनके द्वारा जर्मन जाति एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप मे उठ सकी। फिक्टे के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के नाम ये हैं—

1. Contribution to the Justification of the Opinion of the Public on the French Revolution (1793).
2. Foundations of Natural Law according to the Principles of Scientific Theory (1796--97)
3. The Self contained Commercial State (1800).
4. Address to the German Nation (1808).
5. The Theory of the State or the Relation of the Primitive State to the Law of Reason.
6. A System of Jurisprudence (1834) (ग्रन्थकार के मरने के बाद प्रकाशित)

फिक्टे का व्यक्तित्व प्रभावशाली था और तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ बड़ी भावपूर्ण थी। "उसका बौद्धिक जीवन स्वतन्त्रता और उदारवाद से

1 *Dunning : op. cit., p. 167.*

प्रारम्भ हुआ, पर अन्त में उसने सशक्त उग्र राष्ट्रवाद और आर्थिक आत्मनिर्भरता को महत्त्व देकर उस दानवी जर्मनवाद का प्रतिपादन किया जिसकी वीभत्सता नात्सीवाद के विस्फोट में प्रकट हुई।" हिटलर ने इसी राष्ट्रवाद का अनुसरण कर पड़ोसी राज्यों में बसने वाली जर्मन जाति को उन राज्यों के विरुद्ध आक्रामक बनने को प्रेरित किया।

फिक्टे के राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Fichte)

जोहान गोटीलेब फिक्टे में एक स्थिर और निश्चित विचारधारा का अभाव रहा। कई बार उसने अपना मत परिवर्तन किया। अपनी कृतियों में कभी उसने अनुबन्धवाद का समर्थन किया, तो कभी रोमांटिक सम्प्रदायवाद का। प्रारम्भिक कृतियों में उसने पूर्ण व्यक्तिवाद का पक्ष लिया और फिर राज्य को "सम्पत्ति का संरक्षक बतलाकर समन्वित नीतिशास्त्र का समर्थन किया।" कुछ समय तक वैयक्तिक नीतिशास्त्र की जगह जाति-नीतिशास्त्र में उसकी अधिक रुचि रही और अन्त में राज्य की निरपेक्ष सत्ता में ही उसने राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के दर्शन किए। वास्तव में उसका चिन्तन 'लुढ़कते लोटे' के समान रहा जिसमें मौलिकता का अभाव था। केवल तत्त्वज्ञान पर लिखित पुस्तक 'विशेनशाफ्ट्स लेहरे' में ही वह मौलिकता प्रदर्शित कर सका, अन्यथा राजदर्शन में उसने रूसो, कॉण्ट आदि के विचारों को ही परिवर्तित-परिवर्धित किया। उसके विचारों से उग्र-राष्ट्रवाद तथा अखिल-जर्मनवाद (Pan-Germanism) को प्रोत्साहन मिला। जॉर्ज कैटेलिन (George Catlin) ने फिक्टे की गणना फासीवाद के जनक के रूप में की है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक चेतना

फिक्टे की राज्य सम्बन्धी धारणा रूसो की सामान्य इच्छा और कॉण्ट की नैतिक स्वतन्त्र इच्छा की धारणाओं से प्रभावित थी। कॉण्ट की भाँति उसने भी यह स्वीकार किया कि व्यक्ति का नैतिक जीवन सार्वभौम मानवीय कानूनों द्वारा नियन्त्रित होता है जो मानवीय इच्छा की एकमात्र सत्ता से उद्भूत होते हैं। व्यक्ति में विवेकशील आत्मचेतना (Rational Self-consciousness) होती है और विभिन्न व्यक्तियों की ऐसी आत्म-चेतनाओं के बीच परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हमारा समाज इसी सम्बन्ध की परिणति है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की विवेकशील अथवा बौद्धिक चेतना का सम्मान करता है और ऐसा करने में ही वह अपनी नैतिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। फिक्टे ने व्यक्ति की नैतिक इच्छा को सर्वोपरि स्थान दिया। उसकी यह मान्यता थी कि व्यक्ति से विकास तथा समाज में उसके आचरण और स्थान को निर्धारित करने में यह एक अनिवार्य तत्त्व है। विभिन्न व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र नैतिक इच्छाओं को सामान्य इच्छा से संयुक्त करके सामाजिक जीवन के लाभों का उपभोग करते हैं।

सामाजिक संविदा की धारणा

फिक्टे के मतानुसार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अपनी स्वतन्त्र नैतिक इच्छाओं को सामान्य इच्छा से संयुक्त करने की प्रक्रिया एक समझौते के रूप में सम्पन्न होती है। फिक्टे ने समझौतावादियों की तरह किसी प्राकृतिक अवस्था में विश्वास नहीं किया, किन्तु उसने एक त्रि-सूत्री समझौते यथा सम्पत्ति अनुबन्ध, सुरक्षा अनुबन्ध और संगठन अनुबंध का अपने ग्रन्थ 'फाउण्डेशन ऑफ नेचुरल लॉ' (Foundation of Natural Law) में उल्लेख किया है।

1 **सम्पत्ति अनुबन्ध (Property Contract)**—इस समझौते से राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता को निर्धारित कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में लोग 'व्यावहारिक विवेक के बाह्य जगत् में स्वतन्त्र कार्य के अधिकारों' (Rights of free action in the external world of sense) को मर्यादित करने के बारे में समझौता करते हैं जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार का वचन देता है कि वह एक निर्धारित सीमा से बाहर अपनी सम्पत्ति के विस्तार का दावा नहीं

करेगा। बशर्ते कि दूसरे व्यक्ति भी ऐसा ही स्वीकार करें। इस प्रकार यह अनुबन्ध व्यक्तिगत रूप में अन्य सबके साथ किया जाता है।

2. सुरक्षा या संरक्षण अनुबन्ध (Protection Contract)—सम्पत्ति-संविदा सम्पन्न हो जाने के बाद यह आवश्यक है कि इनके संरक्षण या सुरक्षा की व्यवस्था हो। अतः इस दूसरे अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से उनकी निश्चित सम्पत्ति और अधिकारों के संरक्षण का वचन देता है, यदि वे भी उसकी सम्पत्ति और अधिकार का संरक्षण करें।

3. संगठन अनुबन्ध (Union Contract)—इस अनुबन्ध के द्वारा सम्पत्ति अनुबन्ध और संरक्षण की रक्षा करने हेतु एक शक्ति-केन्द्र की स्थापना होती है। इस प्रकार अन्य दो अनुबन्धों के साथ यह अनुबन्ध राज्य की व्यवस्था का आधारभूत अनुबन्ध है। "इस संविदा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति एक संगठित समूह का अंग बन जाता है और उसमें एकीकृत हो जाता है। किन्तु फिक्टे का स्पष्ट मत है कि मानव के व्यक्तित्व का कुछ अंश राज्य में किसी प्रकार घुल-मिल जाता है अन्यथा वह स्वतन्त्र हीं रहता है।"

फिक्टे के विचार उसकी बौद्धिक चंचलता के कारण हैं: जहाँ सन् 1796 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Foundation of Natural Law' में उसने तीन प्रकार के अनुबन्धों का विस्तृत विवेचन किया, वहाँ सन् 7813 में प्रकाशित 'राज्य-शास्त्र' पुस्तक में उसने अनुबन्ध को सर्वथा हटा दिया। यह उल्लेखनीय है कि रूसो का अनुसरण करते हुए भी फिक्टे का त्रि-सूत्रीय समझौता मौलिक है क्योंकि इसमें जो बारीकियाँ हैं वे रूसो के समझौते में दिखाई नहीं देतीं। पहली बड़ी बारीकी तो यह है कि इसमें सम्पत्ति और अधिकारों का समर्पण एक सीमा के बाहर किया जाता है अर्थात् जीवनवृत्ति, अतिआवश्यक वस्तुओं और अधिकारों को पहले ही सार्वजनिक अधिकार से अलग रख लिया जाता है तथा सम्पत्ति के संरक्षण के लिए सामूहिक शक्ति में प्रत्येक व्यक्ति से केवल उतनी ही शक्ति सम्मिलित की जाती है जितना उसके हिस्से में संरक्षण का उत्तरदायित्व है। हॉब्स अथवा रूसो की भाँति सम्पूर्ण शक्ति सरकार को नहीं सौंपी जाती। दूसरी बारीकी यह है कि समझौते में यह प्रयत्न किया गया है कि व्यक्ति की इकाई का सम्भ्रम राज्य में लोप न हो जाए। जहाँ रूसो के समझौते के अनुसार, "प्रत्येक स्वयं को तथा अपनी पूरी सम्पत्ति को पूरे समुदाय को समर्पित कर देता है" वहाँ फिक्टे के राज्य में व्यक्ति की सीमित स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है। इन बारीकियों पर टिप्पणी करते हुए ही डनिंग ने लिखा है कि "यदि रूसो ने फिक्टे के समझौते को देखा होता तो वह इसे देख कर लम्बी साँसें खींचने लगता।" जो भी हो, फिक्टे रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को अपना आधार मानकर चला था और उसने एक स्थल पर स्वीकार किया है कि "रूसो की भस्म पर शान्ति तथा उसकी स्मृति पर प्रसन्नता स्थापित की जानी चाहिए क्योंकि उसने अनेकों आत्माओं में ज्वाला प्रज्वलित की है। मेरी व्यवस्था में आदि से अन्त तक उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का ही विश्लेषण है।"

राज्य-संगठन और राज्य के कार्य

फिक्टे ने राज्य और सरकार के बीच स्पष्ट अन्तर किया है। अपनी संविदा के आधार पर तो वह हमें लोकतन्त्र का समर्थक प्रतीत होता है, लेकिन वास्तव में उसकी शासन सम्बन्धी धारणा लोकतन्त्र-विरोधी है। उसका मत है कि शासन या सरकार का रूप राजतन्त्रीय अथवा कुलीनतन्त्रीय हो सकता है, किन्तु लोकतन्त्रीय नहीं क्योंकि शासन-संचालन में सम्पूर्ण जनता को सक्रिय रूप में भाग ले सकना सम्भव नहीं होता। फिक्टे के अनुसार सरकार के दो अंग होने चाहिए—एक कार्यपालिका जिसके अन्तर्गत न्यायपालिका भी शामिल है और दूसरी व्यवस्थापिका। व्यवस्थापिका का कार्य सम्पूर्ण-जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करना और जन-इच्छा की अवहेलना करने वाली सरकार पर अंकुश रखना होना चाहिए। एक विशुद्ध बौद्धिक अर्थात् सामान्य इच्छा वाले संविधान में सरकार

[illegible] इसलिए फिक्टे ने सरकार तथा जनता के बीच 'एफोरेट' नामक एक संस्था का प्रस्ताव किया। उसके अनुसार इस संस्था के पास ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि वह जाँच कर सके कि शासन-संचालन का नियम सामान्य इच्छा के अनुरूप होता है या नहीं। इस संस्था [illegible] शासन पर [illegible]। फिक्टे चाहता था कि सरकार का [illegible] संविधान के द्वारा अनुकूल [illegible] 'एफोरेट' (Ephorate) [illegible] प्राचीन [illegible] से ग्रहण की [illegible] व्यवस्थापिका से [illegible]। फिक्टे के विचार में [illegible] और तब उसने यह कल्पना की कि [illegible] चाहिए।

फिक्टे के अनुसार राज्य का कार्य लोगों को सुखी एवं समृद्ध अथवा स्वस्थ या गुणी बनाना नहीं है, और न केवल यह है कि वह प्रत्येक की सम्पत्ति और अधिकारों की रक्षा करे। यद्यपि आरम्भ में उसने इन्हीं बातों पर बल दिया था किन्तु बाद में उसने कहा कि—"सर्वप्रथम जो जिसका है राज्य वह उसे दे, प्रत्येक को पहली बार उसकी सम्पत्ति में प्रतिष्ठित करे, और तब सबसे पहले उसकी उस स्थिति की रक्षा करे।"[1]

फिक्टे के राज्य सम्बन्धी विचार आर्थिक [illegible] से भी सम्बद्ध है। फिक्टे ने उत्पादकों को तीन वर्गों में बाँटा है—कृषक, दस्तकार और व्यापारी। उसने यह स्वीकार किया है कि गणित ने इन तीनों के बीच कार्यक्षेत्र का विभाजन भी हो जाता है जिसमें प्रत्येक वर्ग को पुनः लोगों में बाँट लेता है। इस तरह प्रत्येक के [illegible] में जो सम्पत्ति या कार्य सम्मिलित है, वह प्रत्येक की अपनी सम्पत्ति है जो उसे इस व्यावसायिक गणित द्वारा प्राप्त हुई है। अब राज्य का उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह यह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निर्धारित कार्यक्षेत्र अथवा अधिकार की सीमा में रहे, दूसरों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में सम्पत्ति और अधिकारों का उतना ही भाग होना चाहिए जिससे प्रत्येक को समान सन्तोष प्राप्त हो अर्थात् यह आवश्यक है कि सभी के व्यवसायों का विभाजन सन्तोष का मूल्यांकन करके हो। सन्तोष का मूल्यांकन करने के लिए पहले सभी उत्पादनों का पैसों में मूल्यांकन करना होगा।

स्पष्ट है कि फिक्टे के श्रम-विभाजन में जहाँ प्लेटोवादी कल्पना निहित है वहाँ बेन्थम का कुछ गणित भी शामिल है। फिक्टे ने यह विचार भी प्रस्तुत किया कि राज्य की सीमाओं का निर्धारण प्राकृतिक सीमाओं के आधार पर किया जाना चाहिए। प्राकृतिक सीमाओं का अभिप्राय भौगोलिक सीमाओं से ही नहीं, वरन् आत्म-निर्भर क्षेत्रों से भी है और इस सन्दर्भ में उसने 'Closed Commercial State' शब्दों का प्रयोग किया है। वास्तव में फिक्टे चाहता था कि प्रत्येक राज्य को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए। उसकी दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और व्यावसायिक क्षेत्र की प्रतिस्पर्द्धा राज्यों के बीच युद्धों का एक बड़ा कारण है, अतः यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता न रहे तो युद्धों को रोकने में सहायता मिलेगी। फिक्टे का मत था कि सभी विदेशी व्यापार व्यक्तिगत प्रयास द्वारा सचालित न होकर पूरी तरह राज्य द्वारा सचालित होने चाहिए।

उग्र राष्ट्रवाद और अधिनायकवाद

फिक्टे ने 'Addresses to the German Nation' नामक पुस्तक में उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया है, किन्तु एक प्रकार से राष्ट्र का आध्यात्मिक महत्त्व नष्ट कर दिया है। उसके

1 "State should give each for the first time his own install for the first time in his property and then first protect him in it."

मतानुसार राज्य राष्ट्र का निर्माता है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय यह कहा गया था कि राष्ट्र द्वारा राज्य का निर्माण होता है, लेकिन फिक्टे ने इस स्थापना को उलट दिया और इस तरह राष्ट्र के नैसर्गिक (Natural), आध्यात्मिक (Spiritual) एवं नैतिक (Moral) रूप को क्षीण कर दिया। फिक्टे के चिन्तन का अन्तिम विश्लेषण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उसने प्रारम्भिक संविधानवादी विचारों का परित्याग कर अपने परवर्ती चिन्तन मे राज्य की उत्पत्ति विषयक शक्ति के तत्त्व को प्रमुखता दी और उसकी यह धारणा बन गई कि राज्य की सुरक्षा और उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि राज्य का संचालन एक अधिनायक द्वारा किया जाए। सत्ता को फिक्टे ने दैवी शक्ति का रूप प्रदान किया। उसकी दृष्टि मे राज्य साध्य और व्यक्ति साधन बन गया। फिक्टे के उत्कट राष्ट्र-प्रेम ने उसे समष्टिवादी और अधिनायकवादी बना दिया।

फिक्टे का सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन अस्पष्ट और विरोधाभासी है। लोगों की सम्प्रभुता को स्वीकार करके भी वह राजा की सम्प्रभुता को अस्वीकार नही करता। यह कोरी कल्पना है कि राजा के सर्वोच्च अधिकारी बने रहने के साथ-साथ जन-सम्प्रभुता भी स्थापित रहे। फिक्टे के राजनीतिक विचारो मे कोई स्थायित्व नही है और उसको कॉण्टियन दर्शन के आधार पर बिलकुल भिन्न ढग से प्रस्तुत किया गया है। डेवी के अनुसार, "कॉण्ट का नैतिक व्यक्तिवाद फिक्टे से आकर आचारात्मक समाजवाद बन जाता है।" फिक्टे के दर्शन मे रूसो की जो छाप है उस पर कैटलिन की टिप्पणी है कि "फिक्टे एक प्रकार से रूसो का ही अधिक मानवीय, विश्ववादी, उदार-अराजकतावादी, सामूहिक राष्ट्रीयतावादी तथा राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन सस्करण था।" कैटलिन ने उसे फासिस्टो का जनक कहा है।

29 जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हीगल

(George Wilhelm Friedrich Hegel, 1770--1831)

जीवन-परिचय

जर्मन आदर्शवादियों मे राजनीतिक विचारधारा को सबसे अधिक प्रभावित करने वालो मे हीगल का नाम शीर्षस्थ है। वह राज्य के सावयव-सिद्धान्त का प्रबल समर्थक और वर्तमान इतिहास का उत्कृष्ट विद्वान् था।[1] सन् 1770 मे दक्षिण जर्मनी मे वर्टमबर्ग (Wurtemberg) मे उसका जन्म हुआ और उसकी युवावस्था फ्रांसीसी क्रान्ति के तूफानी दौर मे बीती। फ्रांस की क्रान्ति के प्रति उसमे गहरी सहानुभूति थी, किन्तु अन्त मे वह उसके विरुद्ध हो गया। हीगल बचपन से ही बहुत कुशाग्र-बुद्धि था, अत: परिवार मे बडी सावधानी से उसका पालन-पोषण हुआ। स्कूल मे बालक हीगल ने अपने पारितोषिक जीते और भावी जीवन में भी वह उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। "एक सामान्य शिक्षक, जीन-यूनिवर्सिटी का अध्यापक तथा न्यूरेमबर्ग का प्रधानाध्यापक विज्ञान तथा तर्कशास्त्र पर लिखे गए अपने तीन ग्रन्थो के प्रकाशन के बाद जर्मनी का महान् दार्शनिक समझा जाने लगा। हीडेलबर्ग मे प्रोफेसर के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् उसने अपना ग्रन्थ 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दी फिलॉसाफिकल साइंसेज' (Encyclopaedia of the Philosophical Sciences) की रचना की। इसके बाद वह बर्लिन यूनिवर्सिटी मे दर्शन-विभाग का अध्यक्ष बन गया तथा प्रशिया के दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित पद पर भी उसने काम किया। प्रशिया मे दर्शन की वह ऐसी महान् तथा प्रसिद्ध वाणी बन गया जैसी की वॉन रून तथा वॉन मॉल्टे (Moltte) सेना की वाणी थे, या बिस्मार्क (Bismarck) राजनीति की वाणी था। यहाँ उसने 'अधिकार-दर्शन' (Philosophy of Right) तथा 'इतिहास-दर्शन' (Philosophy of History) की रचना की। दूसरे ग्रन्थ मे उसने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला।'[2]

हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को एक व्यापक दर्शन-प्रणाली के अग के रूप में विकसित किया'। उसने एक यथार्थवादी दार्शनिक के रूप मे बिलकुल नवीन ढग से विश्व इतिहास का अध्ययन किया जिसकी चरम परिणति होहनजोलर्न प्रशिया मे मानी जाती है। हीगल केवल दार्शनिको का ही राजा नही बल्कि राजाओं का दार्शनिक भी था और इसी कारण उसका प्रभाव व्यावहारिक राजनीति पर बहुत अधिक पडा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बिस्मार्क (Bismarck) ने हीगल के सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। मैक-गवर्न (Mc Govern) ने लिखा है—"बिस्मार्क का शक्ति पर आधारित मानव-क्रिया के उच्चतम लक्ष्य के रूप मे राष्ट्रीय-राज्य पर बल देना, उसका यह विश्वास कि राज्य केवल व्यक्तियो का एक समूह मात्र नही है अपितु एक सावयवी पूर्णता है, उसका लोकतन्त्र के विरुद्ध एक सर्वशक्तिमान राजतन्त्र तथा नौकरशाही का समर्थन, इन सबका मूल

1--2 वेपर : वही, पृ 178.

हीगल के सिद्धान्तों में निहित था।"[1] हीगल राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत-प्रोत था। वह अपने समय के जर्मन एकीकरण आन्दोलन (Unification Movement) से इतना अधिक प्रभावित था कि राज्य को ईश्वरीय अर्थात् दैवी प्रतिरूप तक मान बैठा। निःसन्देह हीगल के युग में वास्तविक राजनीतिक समस्या पर सुदृढ़ एवं सर्वशक्तिमान राज्य की स्थापना की थी और उसी के प्रतिपादन के लिए उसने अपने राजनीतिक दर्शन का उपयोग किया। इस प्रकार हीगल अपने युग का दार्शनिक प्रतिनिधि था और दर्शन राज्य की प्रतिष्ठित महत्ता तथा शक्ति को सर्वत्र प्रतिष्ठित करने के लिए उसने ऐसे दार्शनिक तर्क का आधार लिया जिसके अनुसार राज्य एक रहस्यमय उच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

हीगल ने अपने समय की राजनीतिक वास्तविकताओं को प्रस्तुत किया, अतः न केवल उसके समकालीन नेता बल्कि उसके बाद के राजनेता और दार्शनिक भी उसके ऋणी रहे। वेपर के अनुसार, बिस्मार्क की शक्ति-प्रदायिनी रचनाएँ राज्य के सावयव-सिद्धान्त पर हीगल की रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। नाजीवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद भी हीगल से प्रभावित है। उनका अतिराष्ट्रवाद, उनकी युद्ध-प्रियता, उनकी राज्य-शक्ति की मान्यता, उनका शक्तिवाद, उनकी राजनेता या राजा को अत्यधिक मान देने की भावना, उनका समूहों तथा समुदायों को महत्त्वदान तथा उनके द्वारा हिटलर एवं मुसोलिनी की प्रशंसा, आदि सभी भावनाओं का जन्म प्रत्यक्ष ही हीगल के विचारों से हुआ है। हीगल का प्रभाव बिस्मार्क तथा सावयव-राष्ट्रवाद के स्रोत से नाजीवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद की धाराओं में होता हुआ मार्क्स तथा एंजिल्स की सहायक विचारधाराओं को अपने में समाहित करता हुआ लेनिन, स्टॉलिन तथा रूस के कम्युनिज्म के संगम पर पर आ मिलता है। मार्क्स हीगल के दर्शन को "अत्यधिक तार्किक तथा सर्वाधिक समृद्ध मानता है। जर्मनी, इटली और जापान के बाद वर्तमान रूस हीगल के सावयव-सिद्धान्त का सजीव उदाहरण है।"

हीगल ने अपनी विधि को सदा वैज्ञानिक माना और इसीलिए यहाँ तक लिख दिया कि "यदि कोई विधि मेरी विधि नहीं है तो वह वैज्ञानिक विधि नहीं है।" हीगल का विश्वास था कि उसने विश्व की सभी समस्याओं को सुलझा दिया है। उसकी मृत्यु के बाद उसका दर्शन महान् सिद्ध हुआ और अंग्रेजी दर्शन भी जिससे वह घृणा करता था और जिसे वह केवल दुकानदारों के राष्ट्र के लायक समझता था, उसके दर्शन से प्रभावित हुआ। ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके सदैव इस कठिन समस्या में उलझे रहे कि हीगल के दर्शन को अंग्रेजी दर्शन में कैसे पिरोया जाए। वास्तव में हीगल के दर्शन के महान् प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता पर दुर्भाग्यवश वह बहुत क्लिष्ट है और उसकी भाषा भ्रामक बातों के साथ-साथ दम्भपूर्ण है। उसके विचार और भाषा दोनों ही गहन हैं। उसकी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ राइट्स' अत्यन्त क्लिष्ट पुस्तकों की श्रेणी में मानी जाती है।

हीगल दार्शनिक रूप में इतना विख्यात हो गया था कि बहुत से शासक तथा नरेश राजनीतिक मामलों में उससे परामर्श लेने आते थे। वह अब तक उत्पन्न हुए दार्शनिकों में सबसे अधिक आत्मविश्वासी था। उसने कभी भी अपने विषय में चर्चा नहीं की तथा व्यक्तिगत धारणाओं और भावनाओं को दूर रखकर निर्लेप भाव से अपने विचारानुसार सत्य का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया। उसके प्रशंसक आज भी यह विश्वास करते हैं कि वह दार्शनिक विचारों की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। मानव इतिहास में पहली बार उसने सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। हीगल ने प्रत्येक विषय को तर्क के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। उसने विवेक और ज्ञान (Reason and Reality) को बहुत महत्त्व प्रदान किया। उसके दर्शन का महत्त्व दो ही बातों पर निर्भर करता है—प्रथम, द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method) और द्वितीय, राज्य का आदर्शीकरण (Idealisation)। इन्हीं दो बातों को बाद के दार्शनिकों ने भी अपनाकर अपने दर्शन का आधार बनाया।

1 Mc Govern : op. cit., p. 265.

सन् 1831 में इस महान् आदर्शवादी की हैजे की बीमारी से बर्लिन मे मृत्यु हो गई।

रचनाएँ

हीगल के दर्शन का ज्ञान उसके निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो से होता है—

1. The Phenomenology of Spirit, 1807.
2. Encyclopaedia of Philosophical Sciences.
3. Logic, 1816.
4. The Philosophy of Rights, 1821
5. The Philosophy of History, 1836 (मृत्यु के बाद प्रकाशित व्याख्यान)

हीगल की राजनीतिक विचारधारा की कुञ्जी उसके ग्रन्थ 'The Phenomenology of Spirit' मे है जो कोई राजनीतिक ग्रन्थ न होकर 'सार्वभौमिक सत्य की खोज' अधिक है। हीगल के विचारो की दुरूहता से आलोचको को सन्देह है कि कदाचित् वह स्वयं भी अपने दर्शन को अच्छी तरह नही समझता था। हीगल ने अपनी कृतियो मे अनेक वैज्ञानिक समस्याओं का विश्लेषण किया और दर्शनशास्त्र को अपने युग का 'आध्यात्मिक मर्म' माना। डॉ. ई फ्रोलोव ने हीगल की 200वी वर्षगाँठ पर 'सोवियत पत्रिका' मे लिखा था कि "हीगल ने महान् दर्शनशास्त्री होने के नाते आध्यात्मिक जगत् मे अनेक प्रबल शक्तियो को उन्मुक्त किया।" पुनश्च, "आज भी हीगल की कृतियो के अध्ययन से हमे उनसे बहुत-सी वैज्ञानिक समस्याओ के प्रस्तुतीकरण की विधि, गहन और सुसगत विश्लेषण तथा व्यापक सामान्यीकरण के उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं। निर्भीक, नवीनतावादी की खोज और निष्कर्ष निकालने मे उसका आग्रहपूर्ण एव सावधानीपूर्ण दृष्टिकोण, हीगल की चिन्तन-क्रिया-शैली: ये सब उसके (हीगल के) हरेक पाठक को आज भी मुग्ध कर लेते हैं।"

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति
(Hegelian Dialectical Method)

द्वन्द्वात्मक प्रणाली से अभिप्राय (The Meaning of Dialectical System)—हीगल के मतानुसार मानव सभ्यता का विकास कभी भी एक सीधी रेखा मे नही होता। जिस प्रकार एक प्रचण्ड तूफान से थपेडे खाता हुआ एक जहाज अपना मार्ग बनाता है उसी प्रकार सभ्यता भी अनेक टेढ़े-मेढे रास्तों से होती हुई आगे बढती है।

हीगल मानता है कि यह विश्व एक स्थाई वस्तु (Static) न होकर गतिशील (Dynamic) क्रिया है, अत उसका अध्ययन सदैव एक विकासवादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। विश्व के समस्त पदार्थों का विकास अविकसित तथा एकतापूर्ण स्थिति की ओर होता है जिसके कारण विरोधी वस्तुओ (Contradictory Forms) की स्थापना होती है। विकासवाद की इस क्रिया मे निम्नकोटि की वस्तुओ ने उच्चकोटि की वस्तुओ मे विकसित होकर पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस प्रक्रिया में वस्तुओं की निम्नता नष्ट होकर उच्चता ग्रहण कर लेती है। विकसित होने के बाद कोई भी वस्तु वह नही रहती जो पहले थी, वह कुछ उन्नत हो जाती है। इस विकासवादी क्रिया को हीगल ने 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (Dialectic Process) का नाम दिया है। वस्तुत इस 'द्वन्द्वात्मक' या 'द्वन्द्ववाद' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'Dialego' से हुई है जिसका अर्थ वाद-विवाद करना होता है। इसमे सत्य तक पहुँचने के लिए तर्क-वितर्क की प्रक्रिया अपनानी पडती है। यूनानी लोगों ने अपने विचार-विमर्श मे सर्वप्रथम इस तर्क-वितर्क प्रणाली (Dialectic) को अपनाया था। इस प्रणाली से आपसी कथोपकथन, तर्क और वितर्क द्वारा ये सत्य को केवल प्रमाणित ही नही करते थे बल्कि सत्य की नई खोज भी करते थे। हीगल इस प्रणाली को विचारो पर भी लागू करता है। उसके अनुसार समस्त द्वन्द्वात्मक (Dialectic) प्रणाली इस प्रकार है—"सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप (Thesis) होता है। विकासवाद के अनुसार यह बढ़ती है और इसका विकसित रूप कालान्तर मे

इससे मौलिक रूप में बिलकुल विपरीत हो जाता है जिसे विपरीत रूप (Antithesis) कहते हैं। कालान्तर में विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार ये मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिलते हैं और इन दोनों के मेल से वस्तु का नया सामंजस्य (Synthesis) स्थापित होता है। यह सामंजस्यपूर्ण रूप कुछ दिन में फिर मौलिक रूप बन जाता है और फिर वही क्रिया आवृत्त होने लगती है।" उदाहरण के लिए, दृश्य या वाह्य जगत् में यह विकासवादी क्रिया एक अण्डे (Egg) में देखी जा सकती है। अण्डे में एक जीव होता है। यह जीव मौलिक रूप (Thesis) है। धीरे-धीरे गर्भाधान (Fertilization) के पश्चात् इसके निषेधात्मक गुण (Negative Property) नष्ट हो जाते हैं। यह उसका विपरीत रूप (Antithesis) है, किन्तु इन गुणों के नष्ट हो जाने से अण्डे के जीव की मृत्यु नहीं होती बल्कि एक नए प्रकार के जीव का जन्म होता है जो पहले के दोनों रूपों से भिन्न है। यह इसका सामंजस्य रूप (Synthesis) है।

विचार-जगत् में 'Thesis, Antithesis and Synthesis' को हिन्दी में वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण या समन्वय कहा जाता है। कोई भी वस्तु जो जन्म लेती है, 'वाद' है और उसकी विरोधी बात 'प्रतिवाद' होती है। वाद तथा प्रतिवाद दोनों में ही गुण और दोष होते हैं और दोनों परस्पर-विरोधी होते हैं, अतः उनमें संघर्ष होता है जिनके परिणामस्वरूप 'संश्लेषण' या 'समन्वय' के रूप में एक नई तीसरी चीज जन्म लेती है। विचार-जगत् में सत्य की खोज इस प्रक्रिया द्वारा इस तरह होती है—मान लीजिए आरम्भ में जीवन व्यतीत करने के कोई नियम नहीं थे। ऐसी स्थिति में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि जीवन व्यतीत करने के लिए नियम होने चाहिए। इस अनुभूति के साथ अनेक नियम बने जैसे सत्य बोलो, दया करो, आदि। जीवनयापन के लिए नियम होना चाहिए—यह 'वाद' (Thesis) हुआ। परन्तु कालान्तर में ये नियम अपूर्ण प्रतीत होने लगे और इनमें परस्पर-विरोध दिखाई देने लगा। एक नियम का पालन करने पर स्वतः ही दूसरे नियम के उल्लघन और दूसरे नियम का पालन करने पर स्वतः ही पहले नियम के उल्लघन की स्थिति उत्पन्न हो गई तब लोगों में यह भावना जाग्रत हुई कि नियम आदि व्यर्थ हैं, जैसा उचित मालूम हो, वैसा करना चाहिए। यह दशा या स्थिति पहली स्थिति की ठीक उलटी हुई। अतः यह प्रतिवाद (Antithesis) है लेकिन नियमहीन (Lawless) अवस्था बड़ी भयंकर होती है जिसमें दुष्टों को मनमानी करने का अवसर मिलता है। इस परिस्थिति में प्रतिवाद की आलोचना होने लगती है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। लोग सोचते हैं कि नियम होने चाहिए, लेकिन नियमों का अक्षरशः पालन करने की जगह उनकी भावना की रक्षा करनी चाहिए। यह 'संश्लेषण' या 'समन्वय' (Synthesis) हुआ। यह संश्लेषण प्रतिवाद का उलटा है और ऐसा लगता है कि हम फिर वाद पर पहुँच गए लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें वाद और प्रतिवाद दोनों का सामंजस्य हो गया है और यह उन दोनों से उच्च सत्य है। इसमें नियमों की आवश्यकता (वाद) और इसके साथ ही विवेक (प्रतिवाद) दोनों विद्यमान हैं। इस तरह हम सत्य की खोज में चक्कर काट कर वहीं नहीं पहुँच जाते जहाँ से चले थे, बल्कि वाद और प्रतिवाद में से होते हुए भी संश्लेषण पर पहुँचने पर हम एक उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं। जो संवाद या संश्लेषण है वह फिर वाद बन जाता है, उसका प्रतिवाद होता है और फिर दोनों के सत्यांशों को लेकर नया संवाद या संश्लेषण बनता है। इस प्रकार विकास-क्रम चलता रहता है और उन्नति होती रहती है। यह विकास-क्रम दृश्य या वाह्य जगत और विचार-जगत् दोनों में चलता है।

हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को राइट (Wright) ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'द्वन्द्वात्मक विशुद्ध तर्क की अत्यन्त निराकार धारणा से प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति विचार के अत्यन्त साकार रूप अर्थात् अपनी पूर्ण व्यापकता तथा साकारता के साथ निरपेक्ष बुद्धि के दर्शन में होती है।"[1]

1 Wright : A History of Modern Philosophy, p. 328

डॉयल ने द्वन्द्ववाद को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—"द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा हीगल ने ऐसी व्यवस्था लागू की जिसके द्वारा मस्तिष्क विकास की प्रक्रिया का अध्ययन कर सकता है। हीगल ने ही वतलाया कि किसी भी वस्तु की वास्तविकता एक वस्तु की उसकी प्रतिकूल वस्तु से तुलना द्वारा ही ज्ञात की जा सकती है अतः भलाई का अस्तित्व इसलिए है क्योकि बुराई का अस्तित्व है, गर्मी का इसलिए क्योकि सर्दी का अस्तित्व है, एव माँग का अस्तित्व सतोप के कारण है। हीगल प्रथम को वाद तथा दूसरे को प्रतिवाद मानता है। यह प्रतिकूलता ही प्रगति का नियम है। वह यह भी कहता है कि एक बार मस्तिष्क मे जब वाद तथा प्रतिवाद का अभाव हो जाता है तो उसका भी प्रभाव अनिवार्य रूप से होता है। इन दोनो के सघर्ष के परिणामस्वरूप उसे सश्लेषण का ज्ञान होता है और फिर यह क्रिया इसी प्रकार दोहराती रहती है।"

ब्रह्माण्ड काल और स्थान मे फैला हुआ है। इसी प्रकार मानव विवेक भी विस्तृत है। हीगल के दर्शन मे असख्य त्रिकोणात्मक तर्क हैं। इन्ही के द्वारा अन्तिम सत्य तक पहुँचा जा सकता है। अन्तिम केवल एक विचार (Idea) है। ब्रह्माण्ड भी स्वतः एक विचार के अतिरिक्त और कुछ नही है। ब्रह्माण्ड के विकास मे (In cosmic development) त्रिकार (Triads) एक सीधी दिशा मे एक के बाद एक (One another in a simple linear series) के रूप मे आते है। "ये समस्त त्रिकार अपने से बडे त्रिकारो के अन्तर्गत होते हुए भी अपने से छोटो के अन्दर होते है। हीगल के अनुसार, अनेको त्रिकार मिलकर श्रेणियो अथवा धारणाओ का एक क्षेत्र बनाते हैं यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिसमे बहुत से वाद-प्रतिवाद और सश्लेषण होते है, स्वय एक वाद समझा जाता है। इसके प्रतिवाद तथा सश्लेषण स्वय श्रेणियो के क्षेत्र होगे जिनके अन्तर्गत छोटे त्रिकार होते हैं। सम्पूर्ण प्रणाली का एक त्रिकार, विचार, प्रकृति तथा आत्मा होती है। न्यायशास्त्र विचार का अपने विशुद्ध रूप मे अध्ययन करता है। प्रकृति विचार का दूसरा रूप है। यही विचार के विशुद्ध रूप का विलोम है। यह प्रतिवाद है। आत्मा विचार तथा प्रकृति का सयुक्त रूप है। यह सश्लेषण है।"[1]

हीगल द्वारा समाज तथा राज्य के विकास का द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा अध्ययन (Hegelian Study of the State by Dialectical Method)—इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा ही हीगल समाज और राज्य के विकास का अध्ययन करता है। हीगल की मान्यता है कि—(1) चेतन मस्तिष्क की सारी गतिविधियाँ द्वन्द्वात्मक होती है, (2) यथार्थता स्वय चेतन मस्तिष्क की एक प्रणाली है, और (3) यथार्थता केवल एक विचार है। यथार्थ सत्य की प्राप्ति केवल आत्मा (Spirit) से ही हो सकती है। आत्मा का एक वाह्य रूप भी होता है। वह बाह्य रूप भौतिक होता है, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य करता है।[2]

हीगल द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा राज्य के विकास का अध्ययन करते समय यह मानता है कि यूनानी राज्य मौलिक रूप (Thesis) थे, धर्मराज्य उसके विपरीत रूप (Antithesis), इसलिए राष्ट्रीय राज्य उनका एक सामजस्यपूर्ण रूप (Synthesis) होगा। कला, धर्म तथा दर्शन को भी वह इसी प्रकार मूल रूप, विपरीत रूप तथा सामजस्यपूर्ण रूप मानता है। इन तीनो अवस्थाओ को एक-दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण तथा बाह्य परिस्थितियो द्वारा प्रभावित होने के कारण कुछ आलोचक इस प्रणाली को सामाजिक विज्ञानो (Social Sciences) के क्षेत्र मे अनुपयुक्त समझते हैं, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यह प्रणाली विकासवादी अध्ययन के लिए बहुत ठोस तथा सही प्रतीत होती है। कार्ल मार्क्स ने अपनी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते समय हीगल की इसी प्रणाली का अनुसरण किया है।

1 *Stace* The Philosophy of Hegel, p. 115.

2 *Hegel* The Philosophy of Rights, Sec. 270, note

हीगल के समय मे जर्मनी अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त था और राष्ट्रीय भावनाओ का लोप होता जा रहा था। हीगल की कामना थी कि जर्मन जाति (जो उसके अनुसार विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति थी) एक सुदृढ राष्ट्र के रूप मे सगठित हो जाए--एक ऐसे राष्ट्र के रूप में उसका सगठन हो, जो विश्व मे अद्वितीय हो और जिसे भगवान् की इच्छा का प्रतीक कहा जा सके। हीगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ससार के विकास मे जर्मनी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है और प्रकृति की समस्त शक्तियाँ जर्मन राष्ट्र के उत्कर्ष के पक्ष मे है। पर चूँकि जर्मनी की तत्कालीन दशा शोचनीय थी, जिसके कारण उसका ऐतिहासिक दर्शन युक्तिसगत प्रतीत नही होता था, अत उस शोचनीय परिस्थिति को विकास की धारा मे उचित स्थान देने के लिए ही सम्भवत हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को अपनाया। द्वन्द्वात्मक (Dialectic) द्वारा हीगल ने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की कि जर्मनी की तात्कालिक दशा ऐतिहासिक विकास मे 'प्रतिवाद' (Antithesis) थी। वास्तव मे हीगल और उस जैसे अन्य विचारको का विश्वास था कि राष्ट्र का पुनर्निर्माण उसी समय हो सकता है जब राष्ट्रीय संस्थाओ की निरन्तरताओ को कायम रखा जाए, राष्ट्रीय सगठन के भूतकालीन ससाधनो का प्रयोग किया जाय और व्यक्ति को राष्ट्रीय सस्कृति की परम्परा पर आधारित बतलाया जाए। हीगल के दर्शन मे यह प्रवृत्ति केवल प्रतिक्रियावादी ही नही थी, अपितु क्रान्ति के बाद जो मध्ययुगीन स्वच्छन्दतावाद की लहर उठी थी उसमे इस प्रवृत्ति का स्वरूप ऐसा ही था। हीगल के दर्शन का प्रयोजन रचनात्मक था। वह पूर्ण रूप से अनुदार था। उसे एक प्रकार से क्रान्ति-विरोधी भी कहा जा सकता है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method) क्रान्ति और पुनरुद्धार की प्रतीक है। इस पद्धति के अनुसार समाज की जीवन शक्तियाँ पुरानी सस्थाओ को नष्ट कर देती हैं, किन्तु राष्ट्र की सृजनात्मक शक्तियाँ स्थिरता कायम रखती हैं। हीगल ने प्राचीन के विनाश और नवीन के निर्माण मे व्यक्तियो को कोई महत्त्व नही दिया है। उसका विश्वास था कि समाज मे निर्वैयक्तिक तत्त्व अपनी नियति का स्वय ही निर्माण करते हैं।

सेबाइन के अनुसार, "हीगल ने राष्ट्रीय राज्य को बहुत महत्त्व दिया है। उसने इतिहास की जो व्याख्या की उसमे मुख्य इकाई व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का कोई समुदाय न होकर राज्य था। हीगल के दर्शन का उद्देश्य द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व-सभ्यता के विकास में प्रत्येक राज्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत करना था।"[1]

हीगल के राज्य-दर्शन मे दो ही तत्त्व सबसे महत्त्वपूर्ण थे--एक तत्त्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का था और दूसरा तत्त्व राष्ट्रीय राज्य का। हीगल के चिन्तन मे ये दोनों सिद्धान्त अभिन्न थे। हीगल द्वन्द्वात्मक चिन्तन द्वारा राष्ट्रीय राज्य के महत्त्व का प्रतिपादन करता था लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि इन दोनो मे कोई तर्कयुक्त सम्बन्ध नही था। यदि द्वन्द्वात्मक पद्धति को एक शक्तिशाली बौद्धिक उपकरण भी मान लिया जाए तो यह समझ मे नही आता कि समस्त राजनीतिक और सामाजिक समुदायो मे राष्ट्र को ही ऐसा समुदाय क्यो माना जाए जिसमे इतिहास की परिणति हुई है। दूसरे शब्दो मे, आधुनिक राजनीतिक इतिहास मे राज्यो के पारस्परिक तनाव को ही मुख्य प्रेरक शक्ति क्यो माना जाए ? हीगल के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारो का मुख्य कारण उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति नही थी, बल्कि उसकी जर्मन राष्ट्रीयता की भावना थी।

हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग समाज और सामाजिक सस्थाओ के विकास मे भी किया। कुटुम्ब को सामाजिक विकास का प्रारम्भिक रूप मानकर उसने राज्य को सामाजिक विकास का सर्वोच्च रूप बतलाया। उसने कहा कि जब कुटुम्ब विस्तृत होता है तो वह विकास-क्रम मे आगे बढता है। कुटुम्ब के सभी सदस्यो मे यह भावना विद्यमान रहती है कि 'हम सब एक है'। व्यक्ति का नैतिक विकास कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। इस प्रकार की प्रारम्भिक स्थिति 'वाद' (Thesis) है, लेकिन

1. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 584.

यही वाद आगे चलकर 'प्रतिवाद' (Antithesis) की रचना कर लेता है। कोई भी मनुष्य अपने दृष्टिकोण में एक ही स्थान पर टिक कर या कुटुम्ब पर ही आश्रित होकर प्रगति नहीं कर सकता। केवल अपने ही कुटुम्ब के पोषण की भावना, जो पहले होती भी, बाद में मोह बन जाती है और तेरे-मेरे का भाव उत्पन्न कर देती है। इस तरह का अन्तर में फिर समाज का निर्माण होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए संघर्ष करता है। इस प्रतियोगी संघर्ष में प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रवृत्ति को व्यापक बनाता है। यह समाज 'प्रतिवाद' का रूप लेता है, लेकिन वाद और प्रतिवाद का समन्वय होना भी अवश्यम्भावी है। समाज में अव्यवस्था, अशान्ति, अनाचार आदि व्यक्तियों की नैतिकता को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। विकास का क्रम शान्ति में ही सम्भव है। शान्ति में निर्माण होता है और संघर्ष में विनाश। अतः समाज में शान्तिमय वातावरण उत्पन्न करने पर राज्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् राज्य विवेक का परिणाम है। यह राज्य कुटुम्ब और समाज का अर्थात् वाद और प्रतिवाद का सामञ्जस्यपूर्ण रूप या संश्लेषण (Synthesis) हुआ। राज्य के अन्दर भी मनुष्य जीवन के लिए संघर्ष करता है, लेकिन यह संघर्ष सृजनात्मक होता है। इससे उसकी शक्तियों का विकास होता है।

हीगल ने जिस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसे शासन के स्वरूप पर भी लागू किया जा सकता है। निरंकुशतन्त्र (Despotism) का वाद (Thesis) अपने प्रतिवाद (Antithesis) प्रजातन्त्र को जन्म देता है। निरंकुशतन्त्र और प्रजातन्त्र के समन्वय से एक सांविधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) की उत्पत्ति होती है जो संवाद या संश्लेषण (Synthesis) है।

द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक आवश्यकता (Dialectical and Historical Necessity)—हीगल के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु इतिहास तथा इतिहास का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध था। हीगल ने अपने दर्शन में ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया और अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा उसे एक शक्तिशाली उपकरण का रूप दिया। हीगल ने इतिहास में 'आवश्यकता' के एक तत्त्व का समावेश कर दिया जो कार्यकारण सम्बन्ध और विकासशील प्रयोजन का संश्लेषण था। इतिहास का उचित रीति से अध्ययन करने पर उससे वस्तुपरक आलोचना के कुछ सिद्धान्त निकलते हैं। वह वस्तुपरक समीक्षा विकास में स्वयं अन्तर्निहित है। यह सत्य को असत्य से, महत्त्वपूर्ण को महत्त्वहीन से और स्थाई को अस्थाई से पृथक् करती है। इतिहास के इस ढंग के अध्ययन के लिए एक विशेष उपकरण की आवश्यकता होती है और हीगल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा इसी उपकरण की सृष्टि की है। इस सम्बन्ध में सेबाइन के निम्न विचार उल्लेखनीय हैं—

"उसके (हीगल के) दर्शन का आलोचनात्मक बोध और मूल्यांकन दो बातों पर निर्भर है। सर्वप्रथम, उसके इस दावे के बारे में निर्णय की आवश्यकता है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति एक ऐसी नूतन पद्धति है जिससे इतिहास तथा समाज में पारस्परिक निर्भरताओं और सम्बन्धों का ज्ञान होता है जो अन्य प्रकार में सम्भव नहीं है। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति को कार्ल मार्क्स ने अपनया था। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के आध्यात्मिक आधार में कुछ परिवर्तन अवश्य किया था, लेकिन उसकी तर्क-पद्धति को यथावत् स्वीकार किया था। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक पद्धति मार्क्सवादी समाजवाद अथवा साम्यवाद का एक अन्तर्भूत भाग बन गई। मार्क्सवादी उसके आधार पर ही अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता का दावा करता है। दूसरे, हीगल के राजनीतिक दर्शन में मार्क्सवाद को एक ऐसे रूप में व्यक्त किया गया है जिसने व्यक्तिवाद तथा मनुष्यों के अधिकारों की सार्वभौमिकता की सदैव उपेक्षा की है। उसने राज्य की संकल्पना को एक ऐसा शिष्ट अर्थ दिया जो 19वीं शताब्दी के अन्त तक जर्मनी के राजनीतिक-दर्शन की विशेषता बना रहा।"

पुनश्च, "चूँकि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोजन एक ऐसे तार्किक उपकरण की रचना करना था जिसके द्वारा इतिहास की 'आवश्यकता' का ज्ञान हो जाए, अत द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभिप्राय हीगल प्रदत्त ऐतिहासिक आवश्यकता के जटिल अर्थ पर निर्भर है। इस विषय पर उसका विचार इस विश्वास

के साथ आरम्भ हुआ कि राष्ट्र के इतिहास में एक राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विकास का लेखा-जोखा होता है। यह उसने अपने जीवन के आरम्भ मे ही अर्जित कर लिया था। यह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उसकी सस्कृति के समस्त पक्षो मे व्यक्त होती है। इतिहास के इस दृष्टिकोण के विरोध मे हीगल ने एक दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो ज्ञानयुग के दृष्टिकोण के निकट था कि दर्शन, धर्म और सस्थायें व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए जानबूझ कर आविष्कृत की गई चीजें हैं। उसका विश्वास था कि यह भ्रम केवल इस कारण पैदा हुआ क्योकि इतिहास को राजवेत्ता की एक सहायक कला माना जाता रहा है।"[1]

"हीगल इतिहास को मूलतः रहस्यात्मक अथवा विवेक-निरपेक्ष नही मानता था। इसके विचार से इतिहास में अविवेक का नही, बल्कि विश्लेषणात्मक विवेक से ऊँचे विवेक के एक नए रूप का निवास होता है। "वास्तविक ही विवेकसम्मत है और विवेक-सम्मत ही वास्तविक है।" इतिहास के सम्बन्ध मे हीगल की एक विशिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह अस्त-व्यस्त खण्डो का विकास नही बल्कि एक सक्रम विकास मानता था। इस दृष्टि से इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिए एक भिन्न तर्क-पद्धति की आवश्यकता महसूस हुई। द्वन्द्वात्मक पद्धति इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थी। भाव-परक दृष्टि से यह एक अत्यधिक जटिल प्रश्न का समाधान करने के लिए अत्यधिक सरल रीति थी। हीगल ने जिस विचार-सूत्र को ग्रहण किया था वह बहुत पुराना था। उसने 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' शब्द प्लेटो से ग्रहण किया था।"

हीगल के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति केवल दर्शन के विकास पर ही लागू नही होती, बल्कि वह ऐसी प्रत्येक विषय वस्तु पर लागू हो सकती है जिसमे प्रगतिशील परिवर्तन और विकास की सकल्पनाये निहित होती है। यह पद्धति सामाजिक शास्त्रो पर बहुत अच्छी तरह लागू हो सकती है। "द्वन्द्वात्मक पद्धति को जब सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का सूत्र माना जाता है, तब इसकी दो व्याख्यायें निकलती हैं और ये व्याख्याये एक-दूसरे की विरोधी हो सकती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के विचार से प्रत्येक कार्य मे दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक ओर तो वह नकारात्मक होता है और प्रत्येक समय मे कुछ ऐसे अन्तर्विरोध निहित होते है जो स्पष्ट हो जाते है और स्पष्ट होने पर मूलवाद को नष्ट कर देते है। दूसरी ओर वह सकारात्मक और रचनात्मक भी होती है। वह एक उच्च धरातल पर वाद का पुनर्कथन होती है— ऐसा पुनर्कथन जिसमे अन्तर्विरोधो को उदात्त रूप दे दिया जाता है और वे एक नए सश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। चूँकि हीगल सम्पूर्ण सामाजिक विकास को 'विचार' का विकास समझता था, इसलिए द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह द्विमुखी विशेषता सामाजिक सस्थाओ मे होने वाले प्रगतिशील परिवर्तनो मे भी दिखाई देती है। प्रत्येक परिवर्तन अविच्छिन्न भी है और विच्छिन्न भी। यह भूतकाल को आगे भी ले जाता है और नई चीज को बनाने के लिए उससे सम्बन्ध-विच्छेद भी करता है।.......कोई विचारक द्वन्द्वात्मक पद्धति के किस पहलू पर जोर देता है, वह उसकी सम्पूर्ण विचार-पद्धति और विशेषकर उसकी मनोवृत्ति पर निर्भर है। हीगल और उसके पुरातनवादी अनुयायियो ने अविभिन्नता पर जोर दिया था। हीगल का विचार था कि परिवर्तन भूतकाल मे हुए हैं। कार्ल मार्क्स ने दूसरे पहलू पर जोर दिया था। उसका विचार था कि परिवर्तन भविष्य मे होगे।"

द्वन्द्वात्मक पद्धति का मूल्यांकन (Estimate of Dialectic Method)—हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की परीक्षा करने पर पहली बार यही प्रकट होता है कि वह अत्यधिक अस्पष्ट है। हीगल की इस पद्धति की अस्पष्टता विशेषत दो बातो से प्रकट होती है—

(1) प्रथम, हीगल ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दो का बडी अस्पष्टता से प्रयोग किया है। इन शब्दो की परिभाषा करना कठिन है। उदाहरण के लिए दो शब्दो 'विचार' और 'अन्तर्विरोध' को लिया

1 सेबाइन. राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 599-600.

जा सकता है। हीगल का कहना है कि प्रत्येक प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन वैचारिक उन्नति के कारण होता है। समस्त परिवर्तन विचार की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं और उनका उद्देश्य अन्तर्निहित अन्तर्विरोधों का निवारण करना होता है। यदि इन शब्दों का सही अर्थ लगाया जाय तो फिर सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। विज्ञान अथवा दर्शन में होने वाले नित्य नए परिवर्तनों का कारण यह नहीं होता कि वे आरम्भिक सिद्धान्तों के अन्तर्विरोधों के कारण ही सम्भव हुए हैं। जब विज्ञान और दर्शन पर यह बात लागू होती है तो अन्य सामाजिक शास्त्रों के बारे में क्या कहा जा सकता है। हीगल ने विचार को सार्वभौम रूप देने की जो कोशिश की उसका उसकी शैली के इतिहास-लेखन पर दो तरह से प्रभाव पड़ा—या तो असंगत तथ्यों को मनमाने ढंग से तर्कसम्मत माना गया या सामंजस्य या सुसंगत जैसे शब्दों का ऐसा अस्पष्ट अर्थ दिया गया कि उनका कोई उपयोग ही नहीं रहा। ठीक इसी तरह हीगल द्वारा प्रयुक्त 'अन्तर्विरोध' शब्द का भी कोई निश्चित अर्थ नहीं है। इस शब्द का बड़ी अस्पष्ट रीति से विरोध अथवा प्रयोग किया गया है। कभी-कभी इसका अर्थ ऐसी भौतिक शक्तियाँ हैं जो विरोधी दिशाओं अथवा कारणों की ओर संचालित होती हैं और जिनके कारण विरोधी परिणाम प्रकट होते हैं। कभी-कभी विरोध का अभिप्राय नैतिक गुणावगुण होता है। वास्तविक व्यवहार में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया गया है। वह किसी भी प्रकार से कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। हीगल के हाथों में पहुँचकर द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जिन तक वह उसके बिना भी पहुँच गया था। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने उनका कोई प्रमाण नहीं दिया।[1]

(2) द्वितीय, द्वन्द्वात्मक पद्धति को ऐतिहासिक विकास की आवश्यकता को स्पष्ट करने वाला उपकरण माना जाता था, लेकिन 'आवश्यकता' शब्द उतना ही अस्पष्ट बना रहा जितना कि ह्यूम ने उसे प्रमाणित कर दिया था। हीगल ने इतिहास में जिस आवश्यकता का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिकता भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनी को एक राज्य बनाना आवश्यक है तो उसका तात्पर्य यह था कि उसे ऐसा करना चाहिए। सभ्यता और उसके राष्ट्रीय जीवन के हितों की दृष्टि से यह अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियाँ भी हैं जो उसे इस दिशा में प्रेरित कर रही हैं अतः द्वन्द्वात्मक पद्धति में नैतिक निर्णय भी सम्मिलित है और ऐतिहासिक विकास का एक आकस्मिक नियम भी। नैतिक निर्णय, आवश्यकता और आकस्मिक नियम का आधार अस्पष्ट है। द्वन्द्वात्मक पद्धति का एक विशिष्ट दावा यह है कि वह बुद्धि और इच्छा को एक कर देती है। इस पर टिप्पणी करते हुए जोशिया रोयेस ने ठीक ही कहा है कि यह आवेग का तर्क शास्त्र तथा विज्ञान एवं काव्य का समन्वय है। वास्तव में द्वन्द्वात्मक पद्धति को तर्कशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र के रूप में समझना अधिक आसान था। उसमें स्पष्ट उद्देश्य की भावना नहीं थी। यह एक सूक्ष्म और प्रभावी नैतिक अपील के रूप में थी।

आलोचकों ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को सफलताओं की सम्पूर्ण शृंखला का गौरवगान कहा है। इसका कारण यह है कि इस पद्धति में एक ऐसा नैतिक दृष्टिकोण निहित है जो बिलकुल कठोर भी है और लचीला भी। वह न्याय को केवल एक ही कसौटी प्रदान करता है और वह है सफलता।

द्वन्द्वात्मक पद्धति में कर्त्तव्य की कुछ विचित्र व्यवस्था की गई है। वाद और प्रतिवाद प्रतिकूल हितों और मूल्यों को प्रकट करते हैं। उनमें संघर्ष और विरोध का सम्बन्ध होता है। वाद तथा प्रतिवाद का चरम विकास होने पर ही अन्तर्विरोध संश्लेषण के रूप में विकसित हो सकते हैं। ससाधन और समझौते निश्चित रूप से होते हैं। वे विचार के विकास के साथ ही उजागर होते हैं, लेकिन यदि मनुष्य उनकी कल्पना पहले से कर ले और उनके लिए प्रयत्न करे तो यह भावात्मक कमजोरी और

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 606

अस्थिरता है। यह निरपेक्ष की महत्ता के विरोध मे एक प्रकार का राजद्रोह है। इसके फलस्वरूप समाज को ऐसे मानव सम्बन्धो के एक समुदाय के रूप मे जिनमे ससाधन और समन्वय स्थापित किया जाए, ऐसी विरोधी शक्तियो को प्रकट न कर एक सगम के रूप मे प्रकट किया गया है जो स्वय ही एक अपरिहार्य परिणति मे पहुँच जाती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर सम्प्रेषण बहुत कठिन हो जाता है क्योकि कोई भी प्रस्थापना न तो पूर्ण रूप से सही होती है और न गलत। उसका अर्थ जितना मालूम पडता है उससे वह सदैव ही अधिक अथवा कम होता है।

डॉ. मैक्टैगर्ट (Dr. McTaggart) के अनुसार, "यद्यपि द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया सिद्धान्त रूप से ठीक है, परन्तु विभिन्न प्रक्रियाओ के स्पष्टीकरण मे इस सिद्धान्त को लागू करने मे बहुत अनुभव की आवश्यकता होती हे। इस सिद्धान्त के क्रियान्वयन मे तीन कठिनाइयाँ उपस्थित होती है—(1) वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण एक दूसरे के सम्बन्ध के सिवाय किसी अन्य प्रकार से नहीं पहचाने जा सकते, (2) धर्म, इतिहास, कानून तथा दर्शन मे द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पडता है, और (3) प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान के विषय मे द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया को लागू करने मे वडे अव्यवस्थित और जटिल विषयो के साथ उलझना पडेगा। इन तीन कठिनाइयो के कारण द्वन्द्ववाद प्रक्रिया व्यवहार मे अधिक सफल सिद्ध नही होगी।

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने लिखा है—

"हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मे ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्श और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से वह विवेक-सम्मत था और तार्किक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नही किया जा सकता था। व्यवहार मे उसने वास्तविक और आभासी-आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दो का मनमाने अर्थ मे प्रयोग किया। हीगल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियो से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते। द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल के निष्कर्षों को कोई वस्तुपरक आधार नही दे सकती थी। इतने विभिन्न तत्त्वो और प्रयोजनो का एक साँगोपाँग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपलब्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयो को एक तार्किक रूप प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हो, तो इन्हे व्यावहारिक लक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने नैतिक निर्णयो को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते है जो हरेक के लिए खुली होती है। इन दोनो को सयुक्त करने की कोशिश मे द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी अर्थ को स्पष्ट न कर सकी बल्कि इन दोनो के अर्थ को उलझा दिया।"

अस्पष्टता, दुर्बोधता और दोषो से बोझिल होते हुए भी हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का भारी प्रभाव और उच्च महत्त्व है। यह पद्धति वस्तुओ का स्वरूप स्पष्ट करने मे बहुत सहायक है। सुख की यथार्थ अनुभूति दुख से, प्रकाश की अनुभूति अन्धकार से और समृद्धि की जानकारी गरीबी भोगने से ही हो सकती है। विरोधी तत्त्वो को जाने बिना हम सत्य को ठीक-ठीक नही पहचान सकते। जीवन सघर्षो का रगमच है और इन सघर्षों तथा विरोधो मे समन्वय का कितना महत्त्व है, यह लिखने की आवश्यकता नही। हीगल का द्वन्द्ववाद इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। हीगल का यह विचार भी विशेष प्रेरणादायक है कि प्रगति कठिन और जटिल होते हुए भी विकासमान है, ऊर्ध्वमुखी है। हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मानव-मन की कार्य-प्रणाली को चित्रित करती है। मानव-मन विरोधी मार्ग से आगे वढने को लालायित रहता है।[1]

1 *Bertrand Russell*. Wisdom of the West, p 51.

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के महत्त्व और प्रभाव को उसकी 200वीं वर्षगांठ के अवसर पर डॉ ई. फ्रोलोव ने 'सोवियत भूमि' मे इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

"द्वन्द्वात्मक विधि हीगल के दर्शनशास्त्र की अमूल्य उपलब्धि है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक चिंतन के जिन नियमो को निर्धारित किया और उन्हे सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया उनसे वैज्ञानिक ज्ञान के सारे आगामी विकास पर और इसी के माध्यम से सारे व्यवहार पर, विशेषकर सामाजिक पुर्ननिर्माण सम्बन्धी कार्यो पर क्रान्तिकारी प्रभाव पडा। खुद हीगल ने भी नही सोचा था कि उसकी खोजो का इतना व्यापक व्यावहारिक उपयोग हो सकता है। हीगल के द्वन्द्वात्मक नियमो की भौतिकवादी व्याख्या के साथ-साथ उनका व्यावहारिक स्वरूप भी वरबस खुलता जा रहा था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद की कृतियो मे विस्तारपूर्वक उपयोग किया गया है।

"यह सच है कि ऐसी व्यवस्था हीगल की तरह अवधारणा जगत् मे नही, बल्कि वास्तविक जगत् मे उन नियमो को खोज निकालने के समान थी। लेनिन के कथनानुसार, "हीगल ने सभी अवधारणाओ और सज्ञाओ के अन्तःपरिवर्तन और उनकी अन्योन्याश्रितता मे, अन्तर्विरोधो की समानता मे, एक अवधारणा से दूसरी अवधारणा मे परिवर्तन तथा अवधारणा के चिन्तन, परिवर्तन और उसकी गति मे—वस्तुओ, प्रकृति के ऐसे ही सम्बन्धो का अत्यन्त प्रभावशाली ढग से अध्ययन किया था। द्वन्द्ववाद को वैज्ञानिक ज्ञान क्रान्तिकारी व्यव्हार का वास्तविक आधार और साधन बनाने के लिए सही आधार पर खड़ा करना और भौतिक पृष्ठभूमि पर विकसित करना जरूरी था।"

हीगल का व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त
(Hegelian Individualism and the Theory of the State)

हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तो को एक व्यापक प्रदर्शन-प्रणाली के अग के रूप मे विकसित किया है। उसके राजनीतिक विचार मुख्यत: उसकी रचना 'Philosophy of Right' मे उपलब्ध हैं जो सन् 1821 मे प्रकाशित हुई थी। राजदर्शन के विद्यार्थी के लिए उसका ग्रन्थ इतिहास-दर्शन (The Philosophy of History) भी महत्त्वपूर्ण है। 'फिलॉसॉफी ऑफ राइट्स' ग्रन्थ का यथार्थ महत्त्व 'राजनीतिक वास्तविकताओ' के निर्देश पर निर्भर है। इसमे मूल महत्त्व के दो विषयो व्यक्ति एव सामाजिक तथा आर्थिक सस्थाओ के सम्बन्ध, तथा इन सस्थाओ एव राज्य के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। हीगल राज्य को सब सस्थाओ के अनुरूप मानता है। उसके राजदर्शन का सीमित अर्थ मे प्रयोजन यह है कि वह सांविधानिक इतिहास के माध्यम से राजनीतिक सिद्धान्त की परीक्षा करना चाहता है। व्यापक अर्थ मे वह व्यक्तिवाद का दार्शनिक विश्लेषण करता है और राज्य के सिद्धान्त के रूप मे उसकी वैधता की परीक्षा करता है। सामाजिक दर्शन मे जो भी मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याएँ आती हैं, हीगल के दर्शन मे उन सबको शामिल करने का प्रयास किया गया है।

राज्य का उद्भव (Evolution of State)

हीगल के अनुसार सब वस्तुएँ, आत्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग मे अगसर आत्मा द्वारा धारण किए गए अनेक रूप है। ये अभौतिक ससार से वनस्पति और पशुओ के भौतिक ससार मे प्रगति करती हुई आती है और यह प्रगति उस समय तक निरन्तर चलती है जब तक आत्मा मानव-जीवन की अपूर्ण चेतना की स्थिति मे नही पहुँचती है। मानव-जीवन मे आत्मा की शारीरिक और पाशविक शक्तियो का चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है, वाह्य जगत् मे विकास के अनेक स्तरो को पार करते हुए आत्मा सामाजिक आचार (Social Morality) की सस्थाओं मे प्रकट होती है। इन सस्थाओ मे कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरो के लिए आत्म-बलिदान की भावना है। कुटुम्ब अर्थात् वाद (Thesis) की वृद्धि के साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब का प्रतिवाद (Antithesis) है। कुटुम्ब मे तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण का काम करते

हैं, किन्तु समाज मे प्रतियोगिता और सघर्ष दिखाई देते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचत है और इस तरह सघर्ष जन्म लेते है। सामाजिक सघर्ष मे व्यक्तियो को आत्म-निर्भर रहना पडता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है। लेकिन यह निरन्तर और असीमित सघर्ष अन्तत. व्यक्ति के विकास के मार्ग मे बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था मे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सघर्ष की मर्याद स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एव सहानुभूति का जीवन-सग्राम मे स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब और समाज का 'सश्लेषण' (Synthesis) है। राज्य कुटुम्ब और समाज दोनो के गुणो का सामजस्य है। राज्य के रूप मे आत्मा का वाह्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसलिए हीगल ने राज्य को अनेक विशेषणो से अलंकृत किया है—राज्य विश्वात्मा अर्थात् ईश्वर का पार्थिव रूप है, वह पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वरीय विचार है; ससार के सगठन मे व्यक्त ईश्वरीय इच्छा है, वह पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है, आदि। परिवार की पूर्ति समाज द्वारा करने और दोनो को राज्य मे समन्वित कर देने के कारण को वेपर (Wayper) ने निम्नलिखित शब्दो में व्यक्त किया है—

"परिवार की विशेषता पारस्परिक प्रेम है, किन्तु पूंजीवादी अथवा बुर्जुआ समाज की विशेषता सार्वभौमिक प्रतिस्पर्द्धा है परिवार की तुलना मे पूंजीवादी समाज चाहे कितना भी शिथिल एव अनाकर्षक क्यो न दिखाई दे, फिर भी उसमे एव परिवार दोनो मे कुछ-न-कुछ सार अवश्य है। पूंजीवादी समाज मे व्यापार एव उद्योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए एक नवीन सगठन बन जाती है, अत उस समाज मे व्यक्ति परिवार के लिए ही उत्पादन करता है। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति के साथ ही मानव-सेवा भी करता है जिससे पूंजीवादी समाज बुद्धि-सगत हो जाता है और उसका सार्वभौमिक महत्त्व हो जाता है इसके अलावा पूंजीवादी समाज कानूनो का निर्माण करता है, यद्यपि यह आवश्यक नही कि न्यायसगत ही हो। वह पुलिस का सगठन करता है और उसका रूप अधिकाधिक राज्य जैसा हो जाता है। ज्यो-ज्यो इसका विकास होता जाता है गिल्ड और निगमो की स्थापना होती है जो अपने घटको को निजी स्वार्थों के परित्याग द्वारा उस सम्पूर्ण समुदाय के बारे मे सोचना सिखाते है जिनके वे घटक होते हैं और जो प्रतिस्पर्द्धात्मक सामाजिक भावना को नही बल्कि राज्य की सहयोगी भावना को अभिव्यक्त करते है। प्रेम के धागे मे आबद्ध और सब प्रकार के भेदों से मुक्त इस परिवार रूपी वाद (Thesis) के सम्मुख पूंजीवादी समाज का प्रतिवाद (Anti-thesis) उपस्थित हो जाता है जो अलग-अलग व्यक्तियो का योगमात्र होता है। वे व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा के कारण पृथक् रहते हैं और इनमे कोई एकता नही होती, यद्यपि इस प्रतिवाद मे अभी तक अप्राप्त एक महानतर एकता के लिए सघर्ष होता है. वह सवाद या सश्लेषण (Synthesis) जो वाद और प्रतिवाद दोनो के सर्वोत्तम तत्त्वो को सुरक्षित रखता है, जो न तो परिवार को नष्ट करता है और न पूंजीवादी समाज को, बल्कि जो उन्हे एकता और सामजस्य प्रदान करता है, वह राज्य है। यह उल्लेखनीय है कि आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए परिवार के लोग जिस विशाल समाज मे सम्मिलित होते हैं उस समाज या ससार को ही हीगल ने पूंजीवादी या बुर्जुआ समाज (Bourgeois Society) कहा है।

राज्य के उद्भव विषयक हीगल के इन विचारो से स्पष्ट है कि राज्य एक उच्च प्रकार का भौतिक शरीर है जो समाज और परिवार को सगठित कर इन्हे ऐसे उच्च स्तर पर उठा देता है जिसमे प्रत्येक इकाई समूह के हित को अपना हित मानकर व्यवहार करती है। हीगल की विकासवादी प्रक्रिया मे राज्य से परे तथा राज्य से उच्चतर और अधिक पूर्ण अन्य कोई वस्तु नही है। वह राज्य को बुद्धि के द्वन्द्वात्मक विकास (Dialectical Evolution of Mind) की चरम सीमा समझता है ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि भौतिक अथवा जैविक रूप मे (On the Physical or Organic side) मनुष्य है। यहाँ आकार विकास समाप्त हो जाता है।

राज्य दैविक (Divine) है

हीगल के मतानुसार राज्य आत्मा के उच्चतम विकास का प्रतीक है, ईश्वर ही महायात्रा का अन्तिम पडाव है, अब इससे आगे कोई विकास नही है। हीगल ने राज्य को 'पृथ्वी पर 'परमात्मा का अवतरण' कहा है।[1] जैसा कि गार्नर ने लिखा है, "हीगल की दृष्टि मे राज्य ईश्वरीय है जो कोई गलती नही कर सकता, जो सर्वथा शक्तिशाली और अभ्रान्त है तथा नागरिको के अपने हित मे प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग एव बलिदान के लिए राज्य अपने नागरिको को आदेश देता है उसके फलस्वरूप वह न केवल व्यक्ति का उत्थान करता है बल्कि उसे श्रेष्ठत्व भी प्रदान करता है।" हॉबहाउस के शब्दो मे, "हीगल का राज्य-सिद्धान्त राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्मा और एक अभिव्यक्त सत्ता मानता है जिसमे व्यक्ति, उनके अन्तःकरण, उनके दावे तथा अधिकार उनके हर्ष और दु ख—ये सब केवल गौण तत्त्व है।"[2] वेपर की व्याख्या के अनुसार हीगल ने राज्य की कई विशेषताएँ हैं जिनमे एक यह है कि "राज्य दैवी है। यह आत्मा-विकास के उच्चतम शिखर की की प्राप्ति है। यह पृथ्वी पर विद्यमान दैवी अवधारणा है।"[3] अपने इन्ही विचारो के कारण हीगल ने रूसो के सामाजिक समझौते को कोई महत्त्व नही दिया।

राज्य और व्यक्ति के हितो मे कोई विरोध नही
(No opposition between the interests of individual and those of the State)

हीगल की स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा जिन सस्थाओ के रूप मे प्रकट होती है, उनमे राज्य सर्वोच्च है और राज्य तथा व्यक्ति के हितो मे परस्पर कोई विरोध नही है। "इतिहास की दृष्टि से राज्य ही व्यक्ति है और जीवन-चरित्र मे व्यक्ति का जो स्थान है, इतिहास मे वही स्थान राज्य का है।" राज्य परिवार एव समाज की सुरक्षा तथा पूर्णता के लिए अनिवार्य है। राज्य हमारी स्वाधीनता का प्रत्यक्षीकरण है, हमारी विवेकशीलता का मूर्त रूप है और हमारे पूर्ण ज्ञान की साकार प्रतिमा है, अतः स्वभावत: राज्य तथा व्यक्ति मे कोई विरोध नही हो सकता, दोनो के हित एक हैं। राज्य हमारी सच्ची निष्पक्ष एव नि स्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की पूर्ण आत्मानुभूति राज्य के घटक के रूप से ही सम्भव है।

चूंकि राज्य और व्यक्ति के हितो मे किसी पारस्परिक विरोध की कल्पना नही की जा सकती अत व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञा का पालन करने मे ही निहित है। 'राज्य ही स्वतन्त्रता का अभिभावक है।' राज्य के अभाव मे व्यक्ति दासवत् है। जैसा कि वेपर ने लिखा है, "यह राज्य जो दैवी है, जो स्वय साध्य है, जो अपने अशो की अपेक्षा पूर्ण रूप मे महान् है तथा जो नैतिकता का नियन्ता है, हीगल के मतानुसार स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने का नही बल्कि इसकी वृद्धि का साधन है। उसका कथन है कि केवल राज्य मे ही मनुष्य स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। स्वतन्त्रता वर्तमान राज्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। हीगल यूनानियो की आलोचना करता है क्योंकि वे व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्व नही देते। दासता की स्वीकृति उनकी असफलता का प्रमाण है। हीगल कहता है कि आत्मा स्वतन्त्र होती है क्योकि इसका केन्द्र-बिन्दु स्वतन्त्रता ही है। आत्मा का विकास स्वतन्त्रता का विकास है और इस प्रकार मानव-इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है। अत पूर्ण राज्य वास्तव मे स्वतन्त्र राज्य ही है तथा जो नागरिक पूर्ण राज्य के पूर्ण कानूनो के पालन के इच्छुक हैं, वे स्वतन्त्रता का उपभोग करते है।"

1 *Hegel* Philosophy of Right, p. 247
2 *Hobhouse*. Metaphysical Theory of the State, p 27
3 वेपर. वही, पृ 185

व्यक्ति और राज्य के हितो मे किसी भी विरोध का जो निषेध हीगल ने किया है, उसे स्पष्ट करते हुए प्रो. स्टेक (Stace) का कथन है—

"इस प्रकार राज्य स्वय एक व्यक्तित्व है जिसके सयोगात्मक और अनित्य गुणो के स्थान पर शाश्वत गुणो का समावेश कर उसका निर्माण किया गया है। व्यक्ति मूलरूप से सर्वव्यापक है। राज्य यथार्थ रूप मे सर्वव्यापक (The actual universal) है और इस प्रकार राज्य व्यक्ति का ही यथार्थ एव साकार रूप है। यह कोई वाह्य शक्ति नही है जो वाहर से व्यक्ति पर थोपी गई हो और उसके व्यक्तित्व को कुचलती हो। इसके विपरीत उसके व्यक्तित्व की अनुभूति केवल राज्य मे रहकर ही हो पाती है।""राज्य द्वारा व्यक्ति अन्तिम रूप से अपनी ही आत्मा की अनुभूति प्राप्त करता है। नागरिक समाज के सदस्य के रूप मे व्यक्ति के हित सामाजिक हित के विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु जव व्यक्ति अपनी निम्न-आत्मा का लोप कर उच्च-आत्मा को प्राप्त करता है तो उसके और राज्य के हितो मे कोई विरोध नही रह जाता।"[1]

राज्य व्यक्ति से उच्च एवं सर्वोच्च नैतिक समुदाय है
(The State is higher than the individual and is supreme ethical institution)

व्यक्ति और राज्य के हितो मे किसी विरोध का अनुभव न करते हुए हीगल राज्य को सर्वोच्च नैतिक और व्यक्ति से उच्चतर मानता है। समस्त नैतिकता, कानून आदि राज्य के अन्तर्गत हैं। उस पर किसी कानून अथवा नैतिकता का नियमन नही हो सकता। नैतिकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य मे ही होती है और राज्य ही नैतिक मानदण्ड का सरक्षक है। वह स्वतन्त्र है, प्रतिबन्धो से पूर्णतया मुक्त है और स्वय अपना नियामक है। वह अपने नागरिको की सामाजिक नैतिकता को अपने मे समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है। वह दूसरो के लिए नैतिकता के मानदण्ड स्थिर करता है, स्वय उसके कार्य उन मानदण्डो से नही मापे जा सकते। उसकी नैतिकता का स्वय अपना मानदण्ड है, अर्थात् वह अपने ही सदाचार के आदर्श का पालन करता है। श्रेष्ठ या निकृष्ट—इन नैतिक शब्दो का प्रयोग साधारण अर्थ में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे नही किया जा सकता। राज्य को नैतिक बन्धनो से पूर्ण मुक्त मानने मे हीगल मेकियावली से भी आगे वढ गया है और उसने शक्ति तथा नैतिकता को अभिन्न बना दिया है।[2] राज्य को नैतिकता का पाठ कोई नही पढा सकता। राज्य किसी नैतिक नियम या कानून से बाधित नही हो सकता वरन् राज्य ही नागरिको के लिए सभी प्रकार के नैतिक नियमो, सामाजिक रीति-रिवाजो, प्रथाओ और परम्पराओ का निर्धारण करता है और समय-समय पर उनका स्पष्टीकरण करता है।[3]

हीगल के अनुसार "राज्य आध्यात्मिक जगत् और भौतिक जगत् दोनो ही का केन्द्र है" अर्थात् राज्य के द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक और अभौतिक दोनो ही उद्देश्यो को प्राप्त करता है। राज्य की सदस्यता प्राप्त कर वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। मनुष्य के अन्तर मे उसका आध्यात्मिक स्वरूप विद्यमान है। इस आध्यात्मिक स्वरूप का विकास ही उसका उद्देश्य है। उसकी उपलब्धि या आत्मोपलब्धि के लिए मनुष्य को बाह्य कार्य करने पडते हैं। उसकी इस उपलब्धि मे उसकी अपूर्णताएं और उसका अज्ञान वाधक बनते है। आन्तरिक विकास यदि 'वाद' (Thesis) है तो व्यक्ति की वाह्य सीमाएँ उसके विकास मे 'प्रतिवाद' (Antithesis) हैं। राज्य 'सवाद' या 'सश्लेषण' (Synthesis) है क्योकि यह व्यक्ति की पाशविक चेतना, अज्ञानता और अपूर्णता को नियन्त्रित कर सही रूप मे उसे स्वतन्त्र कर देता है। राज्य स्वतन्त्रता का प्रतीक है क्योकि व्यक्ति के लिए आत्मोपलब्धि सवसे वडी स्वतन्त्रता है। राज्य व्यक्ति की अपूर्णताओ और स्वेच्छाचारिताओ का दमन कर उन्हे नियन्त्रित कर

1 *Stace* · The Philosophy of Hegel, p. 415
2 *Spahr* : Readings in Recent Political Philosophy, p. 18!
3 *Ebenstein* Great Political Thinkers, p. 295

देता है। इस तरह वह व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनसे उसका आध्यात्मिक विकास सम्भव हो जाता है। इस तरह राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठतर और उच्चतर है।

हीगल की मान्यता है कि राज्य स्वयं में एक साध्य है, उसे किसी साध्य के लिए साधन मानना एक आधारभूत गलती है। "वह व्यक्ति से उच्चतर है क्योंकि वह व्यक्ति के विशुद्ध और सार्वभौम तत्त्व का साकार रूप है जिससे व्यक्ति के अनित्य गुण निकाल दिए गए हैं।" व्यक्ति पर राज्य का सर्वोच्च अधिकार है और व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का घटक बनना है।

हीगल की दृष्टि में एक नैतिक सस्था होने के नाते राज्य अधिकारों का जन्मदाता भी है। व्यक्ति राज्य के लिए जीता है, अतः वह राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं माँग सकता। राज्य एक स्थाई संस्था है जो अपने नैतिक गुणों के कारण व्यक्तियों के भाग्य की सच्ची निर्णायक है। व्यक्ति को राज्य की आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के किसी प्रकार के अधिकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्य पूर्ण विकसित सामाजिक आचार(Social Ethics) का मूर्तिमान रूप (Embodiment) है, वह स्वयं-साध्य है, उसके अपने अधिकार हैं, कोई कर्त्तव्य नहीं। यदि व्यक्तियों के तथा उसके अधिकारों में संघर्ष होता हो तो वह व्यक्तियों के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता है, पर ऐसा संघर्ष हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति के अधिकार वही हो सकते हैं जो राज्य उसे प्रदान करता है।

हीगल के अनुसार आत्मा जिन संस्थाओं के रूप मे प्रकट होती है उनमें राज्य का स्थान सर्वोपरि है। इस आत्मा का दूसरा नाम इच्छा भी है जो स्वतन्त्र है अतः राज्य मूर्तिमान स्वतन्त्रता है। उसकी इच्छा सामान्य इच्छा है जो विवेकपूर्ण है और वह कभी भ्रान्त नहीं हो सकती। उसकी इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। जहाँ तक व्यक्ति की इच्छा दूसरों की इच्छा के अनुरूप है वह सबके हित की इच्छा करती है। इसी कारण उसकी इच्छा का अर्थात् उसके आदेशों (कानूनों) का पालन करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। उसका विरोध कभी उचित नहीं हो सकता। वह हमारी परम श्रद्धा का पात्र है। यह सार्वजनिक और व्यक्तिगत इच्छा का एकीकरण है और स्वयं में ही एक स्थिर लक्ष्य है। हीगल नागरिकों को विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता, प्रत्युत् वह तो विद्रोह या क्रान्ति की निन्दा करता है। हीगल द्वारा इस प्रकार व्यक्तिगत अधिकारों और क्रान्ति के निषेध की पृष्ठभूमि को चित्रित करते हुए इस विषय में प्रो. सेबाइन का कहना है कि—

"जर्मनी की राजनीति में ऐसी चीजें बहुत कम थीं जो जर्मनी को व्यक्तिगत अधिकारों के विचारों के प्रति आकृष्ट करतीं। एक सिद्धान्त के रूप में प्राकृतिक अधिकारों का दर्शन जर्मनवासियों को अच्छी तरह ज्ञात था, लेकिन उनके लिए वह बुद्धि-विलास की ही वस्तु थी, प्रायः उसी तरह जैसे कि सन् 1848 मे जर्मन उदारवाद रहा था। फ्रांस और इग्लैण्ड ने इस सिद्धान्त का निर्माण अल्पसंख्यक वर्गों के इस दावे के आधार पर हुआ था कि बहुमत के विरोध में उन्हे भी धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त होनी चाहिए। इसके विपरीत जर्मन एक ऐसा देश था जिसमे धार्मिक मतभेद राजनीतिक सीमाओं के साथ-साथ चल सकते थे। फ्रांस और इंग्लैण्ड मे प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर राजतन्त्र के विरोध ने राष्ट्रीय क्रान्ति का समर्थन किया गया था, लेकिन जर्मनी मे कोई क्रान्ति नहीं हुई थी। जर्मनों को इस बात की कभी आवश्यकता महसूस नहीं हुई थी कि वे राज्य के विरोध में निजी निर्णय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना पर जोर देते। इसे वे राष्ट्र के लिए कोई विशेष हितकारी नहीं समझते थे।"[1] पुनश्च, हीगल के दर्शन ने 'राज्य' शब्द को पवित्र बना दिया था। अंग्रेजों को यह बात कोरी भावुकता प्रतीत हो सकती थी, लेकिन जर्मनों की दृष्टि में यह वास्तविक और विघटनकारी राजनीतिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाली थी।[2]

1-2 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 610.

व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध मे हीगल के विचारो से प्रो. जोड (Joad) ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

1 राज्य कभी प्रतिनिधित्वरहित रूप से कार्य नही करता अर्थात् यदि पुलिस किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी करती है और न्यायाधीश उसे सजा देता है तो कारण यह है कि उस व्यक्ति की यथार्थ इच्छा यही है कि उसे सजा मिले।

2 व्यक्ति एक एकाकी इकाई नही है अर्थात् वह जिस समाज मे रहता है उसका एक अविभाज्य अग है।

3. राज्य अपने नागरिको की सामाजिक नैतिकता को अपने मे समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है, अर्थात् राज्य नैतिकता से ऊपर है।

इस प्रकार हीगल अभ्रान्त के राज्य की कल्पना एक निरकुश, सर्वशक्तिमान, चरम सत्तावादी तथा अभ्रान्त राज्य की कल्पना है जिसमे उसने 'पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन' (March of God on Earth) की सज्ञा दी है।

आलोचको का विचार है कि हीगल के सिद्धान्त मे व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन कर दिया गया है। हॉबहाउस (Hobhouse) के अनुसार हीगल का राज्य-सिद्धान्त "राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्मक तथा एक अभिव्यक्त सत्ता मानता है जिसमे व्यक्ति, उनके अन्त करण, उनके दावे तथा अधिकार, उनका हर्ष, उनका दु:ख ये सब गौण तत्त्व हैं।"[1] इसी तरह प्रो. जोड (Joad) ने लिखा है कि—"स्पष्टत राज्य को एक वास्तविक व्यक्ति होने के कारण अपने मे ही एक साध्य समझा जा सकता है जिसके अपने अधिकार है और जो व्यक्ति के तथाकथित अधिकारो के साथ होने वाले सघर्ष मे विजयी होता है। सिद्धान्तत हर समय और व्यवहारत युद्ध के समय वह अपने नागरिको के जीवन पर पूर्ण अधिकार का प्रयोग कर सकता है और उसका ऐसा करना विधि-सम्मत होगा। सिद्धान्त अथवा कानूनी रूप से राज्य के आदेशो अथवा विधियो के विरोध के लिए कोई औचित्य नही हो सकता क्योकि जिनके ऊपर राजसत्ता का प्रयोग किया जाता है और जो लोग राजसत्ता का प्रयोग करते हैं, उसमे कोई भेद नही है।"[2]

प्रो मेक्गवर्न के अनुसार "पुरातन विचारवादियो का आग्रह इस बात पर है कि राज्य स्वय-साध्य नही है अपितु एक साध्य के लिए साधन मात्र है, साध्य है जनता की भलाई और कल्याण। इसके विपरीत हीगल ने यह घोषित किया कि राज्य स्वय एक साध्य है और व्यक्ति इस साध्य के लिए साधन मात्र है।"[3]

स्पष्ट है कि हीगल के लिए राज्य व्यक्ति की सुरक्षा एव भलाई का केवल साधन न होकर स्वय एक साध्य है। हीगल के स्वय के शब्दो मे, "व्यक्ति अपने सत्य, अपने वास्तविक अस्तित्व और नैतिक पद की प्राप्ति राज्य का घटक होकर ही कर सकता है।" आदर्शवादी सिद्धान्त के इस उग्र रूप का स्रोत प्लेटो और अरस्तू के इस मत मे है कि राज्य स्वाश्रयी सस्था है। यदि राज्य स्वाश्रयी है तो वह अपने नागरिको के लिए समस्त मानव-समाज के बराबर हो जाता है। इस मत का स्वाभाविक परिणाम व्यक्ति के नागरिक के रूप मे राज्य के प्रति सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप मे समस्त मानव-समाज के प्रति सम्बन्ध—इन दोनो प्रकार के विभिन्न सम्बन्धो को बराबर एकरूप कर देता है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओ और सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अलावा और कोई वस्तु नही है जिसकी व्यक्ति आकांक्षा कर सके। इस स्थिति से निरकुशता के सिद्धान्त पर पहुँच जाना सरल है। चूँकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है,

1 *Hobhouse* Metaphysical Theory of the State, p. 27.
2 *Joad* Introduction to Modern Political Theory
3 *Mc Govern* From Luther to Hitler, p. 299.

इसलिए वह निरपेक्ष सत्ता के प्रति नागरिकों की पूर्ण भक्ति की माँग कर सकता है। राज्य सैद्धान्तिक रूप से नागरिकों पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है। हीगल की दृष्टि में इस स्थिति से व्यक्ति को जितनी हानि होती है, उससे कहीं अधिक लाभ होता है क्योंकि उसे केवल राज्य में ही सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी में वह नैतिकता और अपने अधिकारों को प्राप्त करता है।

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों में यह भ्रान्ति हो गई है कि वह व्यक्ति को राज्य का दास बना देना चाहता है। हीगल पर यह आरोप लगाना एक सीमा तक न्यायसगत नहीं होगा कि वह व्यक्ति पर राज्य के सार्वभौम नियन्त्रण को लाद देता है अथवा वह व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर देता हैं क्योंकि हीगल के मतानुसार राज्य व्यक्ति पर कोई बाहर से थोपी हुई सत्ता नहीं है, वह तो व्यक्ति की आत्मा है और व्यक्ति के सर्वोत्तम भाग की अभिव्यक्ति है। हीगल का कथन है कि राज्य कैसा भी अपूर्ण क्यों न हो किन्तु वह व्यक्ति की बुद्धि से श्रेष्ठ अवश्य होता है क्योंकि वह व्यक्ति की बुद्धि का विकसित रूप है। इस प्रकार उसने राज्य का आदर्श रूप प्रकट किया है तथा व्यक्ति और राज्य के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं माना है। ऐसी दशा में व्यक्ति को अपने विकसित रूप को राज्य के सामने आपत्ति करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। उसने तो राज्य में सर्वोच्च नैतिकता को निहित किया है और यह स्पष्ट किया है कि राजाज्ञा पालन करने में व्यक्ति स्वयं अपनी आत्मा की आज्ञा का पालन करता है, वह राज्य में और राज्य द्वारा अपनी ही आत्मा की अनुभूति करता है तथा राज्य की अधीनता स्वीकार करने में अपनी ही आत्मा का आधिपत्य मानता है। अतः इस विचार को स्वीकार करने पर यह मानने का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए कि हीगल व्यक्ति को दास बना देता है। राज्य को व्यक्ति से ऊँचा साध्य मान लेने का अर्थ यह नहीं हो जाता कि व्यक्ति राज्य रूपी साध्य के लिए एक साधन-मात्र बन कर रह गया है।

हीगल का राज्य विषयक सिद्धान्त कहाँ तक उचित है और कहाँ तक नहीं, इस पर विस्तार से विवेचन अग्रिम पृष्ठों में हीगल के राज्य-दर्शन की आलोचनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत किया जाएगा।

राज्य और नागरिक समाज में अन्तर
(Distinction between Civil Society and State)

हीगल राज्य और नागरिक समाज में अन्तर करता है। यह विभेद हीगल के सिद्धान्त का एक मुख्य अंग है। हीगल का विचार है कि विचार-क्रम में नागरिक समाज की गणना राज्य से पहले होते हुए भी कालक्रम में उसकी गणना राज्य के बाद है।

हीगल के अनुसार नागरिक समाज की तीन अवस्थायें होती हैं—(क) न्याय-प्रशासन, (ख) पुलिस, एवं (ग) निगम। इनमें अन्तिम दो अर्थात् पुलिस एवं निगम का राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हीगल समाज को राज्य पर आधारित और निर्विकल्प तत्त्व मानता है अर्थात् उसका मत है कि नागरिक समाज राज्य के बिना जीवित नहीं रह सकता। वह एक क्षण के लिए भी यह स्वीकार नहीं करता कि न्यायालय, पुलिस, जेल और नागरिक समाज की अन्य संस्थायें राज्य के अस्तित्व के अभाव में सम्भव हैं। नागरिक समाज राज्य के बिना जीवित नहीं रह सकता।

नागरिक समाज चिन्तन-क्रम में राज्य से पहले प्रतीत होता है किन्तु कालक्रम में (In time) वह राज्य के बाद है। यह "राज्य का वह स्वरूप है जिसमें समाज को ऐसे स्वाधीन व्यक्तियों का समूह माना जाता है जो सम्पूर्ण समाज के अन्य घटकों की सहायता से अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में संलग्न है। नागरिक समाज में एक व्यक्ति दूसरों के साथ आवश्यकताओं के सूत्र में बँधा होता है। वह उद्योग तथा व्यापार प्रणाली द्वारा कार्य करता है। राज्य में उसका दूसरों से सम्बन्ध सावयवी हो जाता है। वह फिर अपने लिए कार्य नहीं करता बल्कि राज्य के सर्वव्यापी जीवन में विलीन हो जाता है। उसकी

स्वार्थ-भावना का स्थान सामान्य हित ले लेता है। इस प्रकार नागरिक समाज एक पूर्ण विकसित राज्य के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।"

वास्तव मे हीगल का राज्य-सिद्धान्त राज्य और नागरिक समाज के सम्बन्धों के विशिष्ट रूप पर आधारित है। यह सम्बन्ध विरोध का भी है और परस्पर निर्भरता का भी। सेबाइन के अनुसार, "हीगल के विचार से राज्य कोई ऐसी उपयोगितावादी संस्था नहीं है जो सार्वजनिक सेवाओं, सिविल प्रशासन, पुलिस-कर्त्तव्यों के पालन और औद्योगिक तथा आर्थिक हितों के सामंजस्य मे रत हो। ये सारे कार्य नागरिक-समाज के हैं। राज्य आवश्यकतानुसार उनका निर्देशन और नियमन कर सकता है, लेकिन वह खुद इन कार्यों को नही करता। नागरिक समाज बुद्धिमत्तापूर्ण पर्यवेक्षण और नैतिक महत्त्व के लिए राज्य पर निर्भर रहता है। यदि हम समाज पर पृथक् रूप से विचार करें तो ज्ञात होगा कि समाज कुछ उन यांत्रिक नियमों द्वारा शासित होता है जो बहुत से व्यक्तियों के अर्जनशील और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं, लेकिन राज्य अपने नैतिक प्रयोजनों की पूर्ति के साधनों के लिए नागरिक समाज पर निर्भर रहता है। यद्यपि नागरिक समाज और राज्य दोनों पर निर्भर है, फिर भी वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। राज्य साधन न होकर साध्य है। वह विकास में विवेक-युक्त आदर्श को और सभ्यता में आध्यात्मिक तथ्य को प्रकट करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक समाज का प्रयोग करता है या एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ मे उसका निर्माण करता है।"[1]

पुनश्च, सेबाइन के ही शब्दों मे, "यदि हीगल ने राज्य को नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उच्च माना तो उसका यह अभिप्राय नही है कि उसे नागरिक समाज अथवा उसकी संस्थाओं से घृणा थी। वस्तुस्थिति इससे उल्टी थी। हीगल अपने व्यक्तिगत चरित्र और राजनीतिक चिन्तन दोनों ही दृष्टि से बुर्जुआ था। स्थिरता और सुरक्षा के प्रति उसके मन मे बहुत सम्मान था। उसका विचार था कि राज्य और नागरिक सत्ता के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि यह सम्बन्ध उच्च स्थिति और निम्न स्थिति का है और राज्य की सत्ता निरपेक्ष है। राज्य और उसका सांस्कृतिक मिशन समाज पर निर्भर है। इससे समाज के आर्थिक जीवन का नैतिक महत्त्व बढ़ जाता है।....हीगल ने नागरिक समाज का जो विवरण दिया है, उसमे गिल्डों और निगमों, एस्टेटों और वर्गों, संस्थाओं और स्थानीय समुदायों का विस्तार से वर्णन किया गया है। हीगल इन संस्थाओं को या इनसे मिलती-जुलती कुछ अन्य संस्थाओं को मानवीय दृष्टि से अत्यावश्यक समझता था। उसका विश्वास था कि इन संस्थाओं के बिना लोग मूक भेड़ मात्र बन जायेंगे तथा व्यक्ति की स्थिति एक एटम की भाँति होगी। इसका कारण यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल आर्थिक और संस्थागत जीवन के सन्दर्भ में ही सार्थक होता है इसलिए हीगल के दृष्टिकोण से राज्य का निर्माण मुख्यतः व्यक्तिगत नागरिकों से मिलकर नहीं होता। उनको विभिन्न निगमों और समुदायों का सदस्य होना चाहिए। इसके बाद ही वह राज्य की गौरवपूर्ण नागरिकता प्राप्त कर सकता है।"[2]

राज्य में परिवार एवं समाज का विलीनीकरण किस भाँति होता है इसकी व्याख्या करते हुए प्रो बोसाके ने लिखा है कि, "आधार के रूप मे राज्य की पारिवारिक मनोवृत्ति और नैतिक प्रकृति व्याप्त है जिसमे व्यापार-जगत् की स्पष्ट चेतना और उद्देश्य समाविष्ट होते हैं। राज्य के अवयव में, अर्थात् जहाँ तक हम नागरिकों की भाँति महसूस करते और सोचते हैं, वहाँ भावना, स्नेहपूर्ण भक्ति और स्पष्ट चेतना तथा राजनीतिक सूझ बन जाती है। नागरिकों के नाते हम यह अनुभव करते और देखते हैं कि राज्य हमारे स्नेहपूर्ण और रुचिकर पदार्थों को प्राप्त करता है और उन्हे कायम रखता है। ऐसा वह संयोग द्वारा एक फेंकी हुई अलग-अलग वस्तुओं के रूप में न कर सामान्य शुभ के साथ अपने

1-2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 619.

सम्बन्धो द्वारा निर्मित उद्देश्यो के रूप मे करता है। यही भावना और बुद्धि देश-भक्ति का सच्चा सार है।"[1]

नागरिक समाज एव राज्य के मूलभूत अन्तर को व्यक्त करते हुए प्रो. स्टैक (Prof Stace) का कथन है कि "नागरिक समाज मे व्यक्ति केवल अपने हित-साधन का इच्छुक होता है, अतः उसका यह हित एक विशेष हित है। इसके विपरीत राज्य के हित एव लक्ष्य बहुत ऊँचे होते है और इन्ही की प्राप्ति के लिए सब निवासी प्रयास करते है, अतः इसमे एक नागरिक के विशेष हित सार्वजनिक हित होते हैं।"[2]

हीगल के अनुसार नागरिक समाज एकपक्षीय है। राज्य मे उसका समन्वय होता है। हॉब्स तथा लॉक का यह सिद्धान्त कि राज्य व्यक्ति की सबसे अधिक भलाई कर सकता है, अपूर्ण है। हीगल के सिद्धान्त द्वारा हम इसे अच्छी तरह समझ पाते हैं। हॉब्स और लॉक जिस राज्य की कल्पना करते है, उसे हीगल राजनीतिक समाज कहता है। हॉब्स और लॉक राज्य तथा व्यक्ति को विरोधी मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य का कोई सामान्य हित नही होता। प्रत्येक व्यक्ति का हित पृथक्-पृथक् होता है और राज्य का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति का हित करना होता है किन्तु हीगल राज्य से अलग व्यक्ति के किसी भी हित को स्वीकार नही करता है। वह व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक हितो मे किसी विरोध की कल्पना नही करता। वह तो कहता है कि राज्य के अभाव मे व्यक्ति कुछ नही कर सकता।

हीगल के अनुसार राज्य ब्रह्म का विकसित रूप है जो चरम-विचार है। राज्य उसी की अभिव्यक्ति है। परिवार और नागरिक समाज राज्य मे ही सफलता एव पूर्णता प्राप्त करते है क्योकि वही सब समुदायो का समुदाय (An association of associations) है।

हीगल ने नागरिक समाज का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उससे ही उसके सांविधानिक शासन के स्वरूप का निर्धारण होता है। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति-निरपेक्ष तो है, किन्तु स्वेच्छाचारी नही। राज्य को अपनी नियामक शक्ति का विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। नागरिक समाज का नौकरशाही सगठन शीर्षस्थ होता है। इस स्तर पर समाज राज्य की उच्चतर सस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। हीगल राज्य-क्षेत्र और जनसख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व को इसलिए एकदम निरर्थक मानता है कि व्यक्ति पहले नागरिक समाज द्वारा समर्पित एक या एक से अधिक सस्थाओं का सदस्य होता है और इसके बाद ही उसका राज्य से सम्बन्ध स्थापित होता है। विधान-मण्डल ही वह स्थल है जहाँ ये सस्थायें राज्य से मिलती है। हीगल का स्पष्ट मत था कि नागरिक समाज की ओर से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो अथवा व्यावसायिक इकाइयो का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

राष्ट्रीय-राज्य, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और युद्ध
(Nations-State, Internationalism and War)

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारो से स्पष्ट है कि वह राष्ट्रीय राज्य (Nation-State) का समर्थन करते हुए उसे मानव-सगठन का सर्वोच्च रूप मानता है। वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व-व्यापी सगठन के राष्ट्रीय-राज्य के ऊपर होने की कल्पना नही करता। हीगल के इस प्रकार के विचार निश्चय ही प्रतिक्रियावादी और भयकर परिणामो को जन्म दे सकते हैं क्योकि इनसे राष्ट्रीय राज्य पारस्परिक सम्बन्धो मे मनचाहा आचरण कर विश्व मे अव्यवस्था और अशान्ति का प्रसार कर सकते है।

1 *Bosanquet* Philosophical Theory of the State, p 261—62

2 *Stace* The Philosophy of Hegel, p. 414

हीगल की दृष्टि मे राज्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न आत्म-रक्षा का है, अत. अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए राज्य कोई भी कार्य करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलिए हीगल के शब्दो मे, "राज्य स्वय पूर्ण मस्तिष्क है जो अच्छाई और बुराई, लज्जा और तुच्छता, लम्पटता और धोखेबाजी आदि के भावात्मक नियमो को स्वीकार नही करता।"[1] राज्य को अन्य राज्यो से सम्बन्ध स्थापित करने मे कोई आपत्ति नही होती बशर्ते कि उससे उसकी सुरक्षा क़ायम रहती हो।[2] अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे प्रभुसम्पन्न राज्यो के साथ होते हैं जो यह विश्वास करते है कि अपना हित ही उचित है तथा अपने हित के विरुद्ध कार्य करना पाप है, अर्थात् जब राज्यों की विशेष इच्छाएँ आपसी समझौते से पूर्ण नही हो पाती तो विवाद को केवल युद्ध द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

हीगल का मत है कि युद्ध को एक पूर्ण बुराई नही मानना चाहिए। 'मानव-जाति का विश्व-व्यापी प्रेम' तो एक 'मूर्खतापूर्ण आविष्कार' है। युद्ध स्वय एक गुणात्मक कार्य है और यदि एक्टन (Acton) के उद्धरण का दुरुपयोग किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि "हीगल की शान्ति समाज को पथ-भ्रष्ट करती है तथा चिरकालिक शान्ति उसे सदा पथ-भ्रष्ट करती रहेगी।"[3] हीगल शान्तिपूर्ण उपायों और समझौतो को अस्वीकार करता है। वह युद्धवादी होकर स्थायी शान्ति का विरोधी बन गया है। दुनिया चाहे युद्ध को सदैव हेय समझती रहे, किन्तु हीगल के विचार से युद्ध के अनेक लाभदायक परिणाम होते हैं। युद्ध व्यक्ति के अहम् का नाश करता है और मानव-जाति की पतन से रक्षा कर उसमे क्रियाशीलता का सचार करता है। हीगल के अनुसार, "एक समय मे केवल एक ही जाति मे परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है, इसलिए युद्ध मे किसी राज्य की सफलता दैवी योजना के व्यग (Irony of divine idea) को व्यक्त करती है।" इसका अर्थ यह है कि विजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपापात्र सिद्ध हो जाता है। युद्ध राज्य की शक्ति का द्योतक है।

हीगल का विश्वास है कि युद्ध को घोर दुष्कर्म नही मानना चाहिए। मानव के विश्व-प्रेम की भावना एक निर्जीव आविष्कार है। युद्ध स्वयमेव एक नैतिक कार्य है। शान्ति भ्रष्टाचार का प्रसार करती है और अनन्त शान्ति अनन्त भ्रष्टाचार फैलाएगी। युद्ध वह अवस्था है जो इहलौकिक स्वार्थों और अभिमान को व्यवस्थित करती है। युद्ध द्वारा लोगो का धार्मिक स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और वे इहलौकिक व्यवस्थाओ की सुरक्षा के प्रति उदासीन हो जाते है। जिस प्रकार वायु के प्रवाह से समुद्र के शान्त वातावरण से उत्पन्न गन्दगी दूर होती है, उसी प्रकार गतिहीन अनन्त शान्ति से राष्ट्रो मे फैले भ्रष्टाचार को युद्ध दूर करता है। सफल युद्धो ने नागरिक विद्रोहो को रोककर राज्यो की आन्तरिक शान्ति को सगठित और बलशाली बनाया है। तोप कोई आकस्मिक आविष्कार नही है और यही तथ्य बारूद पर भी लागू होता है। "मानव-जाति को इसकी आवश्यकता थी और इसका तुरन्त-प्रादुर्भाव हुआ। तोपो और बारूद पर सभ्यता की छाप है। असभ्य जातियो के अधिकार केवल औपचारिकता मात्र है। सभ्य राष्ट्र यह भली प्रकार समझते हैं कि बर्बर जातियो के अधिकार उनके समान नही है और वे इनकी स्वायत्तता (Autonomy) को केवल एक औपचारिता (Formality) मानते हैं।"

हीगल अतिराष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एव कानून का समर्थन नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून परम्परा मात्र हैं जिन्हे कोई भी प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस बात की चिन्ता नही करनी चाहिए कि एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ नैतिक व्यवहार हो। अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना राज्य का सर्वोपरि दायित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नैतिकता के आधार पर राज्य पर कोई बन्धन नही लगाया जा सकता।

1–2 वेपर वही, पृष्ठ 186

3 Op cit, p 186 (Lord Acton's famous aphorism was "Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely", Here to misquote him "Peace corrupts and everlasting peace corrupts everlastingly")

राज्य की इच्छा को सीमित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसे किसी तत्त्व का कोई अस्तित्व नही हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल उन कतिपय उत्तेजनाओ का उस समय तक प्रतिनिधित्व करते है जब तक कि वे राज्य की सर्वशक्तिमत्ता (Supreme Performance) मे हस्तक्षेप नही करते। वर्तमान विश्व-आत्मा के दावेदार राज्य के अक्षुण्ण अधिकारो के समक्ष अन्य राज्यो को कोई अधिकार प्राप्त नही होते। जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बन जाते है वे अल्पकालीन होते हैं, यहाँ तक कि सन्धियाँ भी परिवर्तनशील होती हैं।

हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विचारो पर अराजकता की छाप है। उसका स्पष्ट मत है कि राज्य की सम्पूर्णता के समक्ष (The absoluteness of the State) कोई भी अन्य वस्तु अधिक सम्पूर्ण (More absolute) नही है। स्वय उसके शब्दो मे, "राज्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नही है वरन् स्वय मे ही पूर्ण स्वतन्त्र सम्पूर्णता है, अत राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध निजी अथवा नैतिकता मात्र नही है। बहुधा ऐसा सोचा जाता है कि राज्य को नैतिकता और निजी अधिकारो के दृष्टिकोण से देखा जाए पर व्यक्तियो की स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि उनसे सम्बन्धित न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि उनके कौनसे कार्य यथार्थ रूप से उचित है। राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को भी यथार्थ रूप से ठीक होना चाहिए, लेकिन राज्य के सम्बन्ध मे ऐसी कोई भी शक्ति नही है जो एक तो इस बात का निर्णय कर सके कि यथार्थत क्या ठीक है तथा दूसरे अपने निर्णय को क्रियान्वित कर सके। अत राज्य पूर्ण अधिकार-सम्पन्न है, किसी अन्य शक्ति को राज्य पर कोई अधिकार प्राप्त नही है। राज्य पारस्परिक सम्बन्धो मे पूर्णत. स्वतन्त्र है और पारस्परिक निर्णयो को केवल सामयिक और अस्थायी मानते है।"

हीगल के इस कथन के सम्बन्ध मे दो मत नही है कि राज्य एव जातियाँ विश्व-आत्मा (World-spirit) के हाथो मे अज्ञात रूप से खिलौने और उसके अग बने हुए है तथा राज्य के कार्यों का अन्तिम निर्णय केवल विश्व के न्यायालयो मे ही हो सकता है।

दण्ड तथा सम्पत्ति
(Punishment and Property)

कॉण्ट की भाँति हीगल भी दण्ड के प्रश्न को नैतिक दृष्टि से देखता है। उसकी मान्यता है कि किसी भी अधिकार के उल्लघन होने पर राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपराधी को दण्डित करे। उसकी दृष्टि मे दण्ड का उद्देश्य सार्वजनिक सुरक्षा नही है बल्कि दण्ड का अभिप्राय केवल यही है कि जिस अधिकार की अवज्ञा द्वारा जिस व्यक्ति के प्रति तथा समाज एव न्याय-विधान के प्रति अत्याचार हुआ है, उसका बदला लिया जा सके। दण्ड समाज और अपराधी दोनो का समान अधिकार है और इसी के द्वारा दोनो को अपना उचित न्याय मिल जाता है। हीगल के अनुसार जब किसी अधिकार का अतिक्रमण हो, तो उस अधिकार की 'स्थापना का एकमात्र उपाय है—"प्रथम, पीडित व्यक्ति पर किए गए अत्याचार का 'सार्वजनिक निराकरण और द्वितीय, उनके माध्यम से समाज और न्याय के नियमो पर अनाधिकार चेष्टा का निराकरण।"[1]

सम्पत्ति के विषय मे हीगल की मान्यता थी कि व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए इसकी आवश्यकता है क्योकि इसके द्वारा ही व्यक्ति की इच्छा क्रियाशील रह सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव मे व्यक्तित्व का विकास सम्भव नही है। हीगल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य अथवा समाज नही करता प्रत्युत् वह मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य अवस्था है।

1 "Public redressal of the outrage done to the individual in the first place and, through him, to the community and the Law of Justice in the second "

संविधान पर हीगल के विचार
(Hegel on Constitution)

हीगल के अनुसार संविधान कोई आकस्मिक कृति नहीं होती, बल्कि उसका निर्माण समान सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के भीतर अनेक पीढियों तक निवास करने वाले जनसमूहों की आदतों के अनुपालन से होता है। अपने पूर्ववर्तियों की भाँति राज्य की सांविधानिक शक्तियों को हीगल ने भी तीन भागों में ही विभाजित किया है, पर यह विभाजन कुछ मौलिक अन्तर लिए हुए है। प्रथम, मूलभूत अन्तर यह है कि मॉण्टेस्क्यू आदि ने राज्य की तीन शक्तियाँ—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका बताई थीं जबकि हीगल के अनुसार ये तीन शक्तियाँ हैं—विधायी (Legislative), प्रशासनिक (Executive) तथा राजतन्त्रात्मक (Monarchic)। उसने अपनी व्यवस्था मे न्यायपालिका को कार्यपालिका की शाखा मानते हुए उसके स्थान पर राजतान्त्रिक शक्ति का उल्लेख किया है। दूसरा मौलिक अन्तर यह है कि हीगल ने तीनो शक्तियों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र और एक-दूसरे को नियन्त्रित करने वाली न मानते हुए उन्हे परस्पर पूरक और एक महान् समष्टि के अभिन्न अंग के रूप मे माना है।

हीगल ने राज्य की तीनों शक्तियो में राजतन्त्रात्मक शक्ति को प्रमुख माना है क्योकि वह राज्य मे एकता उत्पन्न करती है। फ्राँस के प्राचीन राजतन्त्र के पतन तथा राज्य-क्रान्ति का सबसे बड़ा कारण यही था कि प्रशासकीय और विधायी शक्तियाँ पृथक्-पृथक् थीं। यदि व्यवस्था-शक्ति कार्यपालिका की शाखा के रूप मे होती और राजतन्त्रात्मक शक्ति यथार्थ में सर्वोच्च होती तो फ्राँस राज्य-क्रान्ति के पथ-पर अग्रसर न होता। हीगल का विश्वास है कि सांविधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) में ही पूर्ण विवेकशीलता (Perfect Rationality) उपलब्ध हो सकती है क्योंकि इसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र तीनो के तत्त्व निहित होते हैं। इस व्यवस्था मे राजा एक, प्रशासन कुछ और विधान-मण्डल बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है।

हीगल के अनुसार प्रभुसत्ता (Sovereignty) जनसाधारण को न दी जाकर राजा के हाथो मे रहनी चाहिए। विधान-मण्डल मे चाहे जनता का प्रतिनिधित्व हो और उसके द्वारा निर्मित कानूनो को कार्यपालिका देश में लागू करे, लेकिन उन्हें अन्तिम रूप देने का अधिकार राजा को होना चाहिए ताकि देश में एकता कायम रह सके। दार्शनिक धारणा के अनुसार सर्वाधिकार-सम्पन्नता सम्पूर्ण राज्य की सम्पत्ति है, किन्तु कार्य-रूप मे इसका आशय किसी एक व्यक्ति का दृढ निश्चय होता है और यह व्यक्ति राजा ही हो सकता है। विधान-मण्डल मे राजा, प्रशासन और प्रजा सभी सम्मिलित हैं। राजा और प्रशासन के अभाव से राज्य की एकता नहीं रह सकती।

हीगल राज्य-क्षेत्र और जनसंख्या के आधार पर विधान-मण्डल में प्रतिनिधित्व को निरर्थक समझता है, क्योंकि व्यक्ति पहले नागरिक-समाज द्वारा समर्थित एक अथवा एक से अधिक संस्थाओं का सदस्य होता है और उसके बाद ही उसका राज्य से सम्बन्ध स्थापित हो पाता है। विधान-मण्डल ही वह स्थल है जहाँ ये संस्थाएँ राज्य मे संयुक्त होती हैं। हीगल का मत है कि नागरिक समाज की ओर से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो अथवा व्यावसायिक इकाइयो का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। दूसरे शब्दो में, विधान-मण्डल मे जनता का प्रतिनिधित्व राज्य के विविध वर्गों एवं व्यावसायियो द्वारा होना चाहिए, सीधे व्यक्तियों द्वारा नही। हीगल ने अपने विधान-मण्डल के एक सदन का निर्माण जमींदारों के वर्ग से किया है और दूसरे सदन का निर्माण राजा के आदेश से विविध व्यवसायों और संगठनों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों से किया है। लंकास्टर का कथन है कि हीगल की यह व्यवस्था मध्ययुगीन ब्रिटिश संसद् की व्यवस्था से मिलती-जुलती है क्योंकि उस समय लॉर्डसभा के सदस्य बड़े जमीदार और पादरी होते थे जबकि लोकसभा मे नगरो के व्यापारी, अन्य नगर-निवासी और जिलों तथा देहातों के नाइट(Knight) सम्मिलित होते थे।[1] कार्यपालिका पर हीगल ने बहुत बल दिया है। सेबाइन के शब्दों में, "वह यह

[1] *Lancaster*: Masters of Political Thought, Vol III, p. 54

आवश्यक समझता था कि विधान-मण्डल मे मन्त्रियो को राज्य कर्मचारी वर्ग का, जो नागरिक समाज का नियमन करना है, प्रतिनिधित्व करना चाहिए लेकिन उसने मन्त्रियो को विधानमण्डल के उत्तरदायी बिल्कुल नही माना है। हीगल के मत से विधानमण्डल का कार्य मन्त्रिमण्डल को परामर्श देना होना चाहिए और मन्त्रिमण्डल राजा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। हीगल के अनुसार राजा को कोई विशेष शक्ति प्राप्त नही है। उसे जो भी शक्ति प्राप्त है, वह राज्य के अध्यक्ष की अपनी वैधानिक स्थिति के कारण प्राप्त है।"[1]

यह उल्लेखनीय है कि हीगल ने नागरिक समाज का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया था और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध निर्धारित किया था, उससे ही उसके सांविधानिक शासन के स्वरूप का निरूपण हुआ है। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति निरपेक्ष अवश्य है, लेकिन स्वेच्छाचारी नही। राज्य को अपनी नियामक शक्ति को विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। "राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होनी है। हीगल के लिए इसका अभिप्राय यह था कि सार्वजनिक सत्ता के कार्यों के बारे मे पहले से भविष्यवाणी की जा सकती है क्योकि ज्ञात नियमो के अनुसार सचालित होते हैं। नियम अधिकारियो की स्वविवेकी शक्तियो को मर्यादित करते हैं और अधिकारियो के पद की सत्ता को व्यक्त करते हैं, पदाधिकारी की व्यक्तिगत इच्छा अथवा निर्णय को नही। विधि का व्यवहार सब व्यक्तियो के साथ समान होना चाहिए। चूंकि विधि का रूप सामान्य होता है इसलिए व्यक्तिगत विशेषताओ की ओर ध्यान नही दे सकती। निरकुशता का तत्त्व विधि-विहीनता है और स्वतत्र तथा सांविधानिक शासन का तत्त्व विधि-विहीनता को दूर करता है और सुरक्षा को जन्म देता है।"[2] हीगल के स्वय के कथनानुसार, "निरकुशता विधि-विहीनता की वह स्थिति है जिसमे राजा अथवा जनता की निजी इच्छा विधि का रूप धारण करती है अथवा वह विधि के बावजूद महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। यह तथ्य कि राज्य मे प्रत्येक वस्तु दृढ और सुरक्षित है, अस्थिरता तथा राजनीतिक मत के विपरीत एक तरह की प्राचीर है।"[3]

सेबाइन ने अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिए हैं कि "हीगल का राज्य वाद की जर्मन न्यायशास्त्र की शब्दावली मे एक प्रकार का रीश्टाट था। उसे अपना आन्तरिक शासन बडा दृढ और कुशल रखना था, उसकी न्याय-व्यवस्था काफी मजबूत होनी थी, उसे जीवन तथा सम्पत्ति के अधिकारो की रक्षा करनी थी क्योकि हीगल इन अधिकारो को नागरिक समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक समझता था। इस प्रकार हीगल के सांविधानिक शासन मे उदारवाद की भाँति ही वैधानिक सत्ता तथा व्यक्तिगत सत्ता मे भेद किया गया था, लेकिन उसने विधि, शासन तथा लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक प्रक्रियाओ के सम्बन्ध को कोई मान्यता नहीं दी।"[4]

हीगल के इतिहास पर विचार (Hegal's Ideas on History)

हीगल के शब्दो मे, "इतिहास मानव-आत्मा के आत्मशोध के लिए की गई एक तीर्थयात्रा (The pilgrimage of the spirit in search of itself) है।" इतिहास का मार्ग मानव-विवेक द्वारा प्रशस्त होता रहता है और "विश्व इतिहास विश्व का निर्णय है।" (World History is the world judgement)। निर्णय से यहाँ अर्थ है एक जाति को दूसरी जाति पर विजय जो एक जाति से दूसरी जाति मे 'विश्वचेतना' के स्थानान्तरित होने का प्रमाण है। हीगल ने विश्व इतिहास को स्वाधीनता की अनुभूति के आधार पर चार अवस्थाओ मे विभक्त किया है—

1 पौर्वात्य (Orientals) 2 यूनानी (Greeks)
3 रोमन (Romans) 4. जर्मनी (Germans)

1–3 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास', खण्ड 2, पृष्ठ 624.
4 Philosophy of the Right, Sec 579, note 570.

हीगल के अनुसार इतिहास की अपनी समस्याएँ होती हैं जिनके लिए उसके अपने समाधन होते हैं। बुद्धिमान लोग न इतिहास का निर्माण करते हैं और न निर्देशन, बल्कि अवश्यम्भावी घटनाओ के औचित्य के सम्मुख उन्हे भी झुकना पडता है। वे केवल यह समझने का प्रयास करते हैं कि कौन-सी व्यवस्था विनाशकारी है। हीगल के ही शब्दो मे, "इतिहास बुद्धिमानो का पथ-प्रदर्शन करता है तथा मूर्खों को घसीटता है।"[1] इतिहास का मार्ग तथा मानव-संस्थाओ का विकास स्थायी परिवर्तनो द्वारा निश्चित होता है। सत्य और वास्तविकता के दर्शन किसी एक निश्चित घटना में उपलब्ध नही होते वरन् घटनाओ की एक-दूसरे के साथ प्रतिक्रिया तथा समन्वय मे प्राप्त होते हैं, इतिहास का विकास केवल सयोग का परिणाम नही है और न ही मानव-बुद्धि द्वारा उसका मार्ग-निर्देशन हुआ था, अपितु वह तो स्थायी रूप से घटना की प्रतिक्रिया तथा समन्वय का परिणाम था।

हीगल के मतानुसार इतिहास का प्रवाह और मानव-समाज की व्यवस्थाओ का विकास निश्चित नियमो के अनुसार होता है। प्रकृति मे जो परिवर्तन होते हैं, चाहे उनकी सख्या कितनी ही अधिक क्यो न हो, उनका भी एक चक्र (Cycle) होता है जो निरन्तर चलता रहा है। कोई विकास कब पूर्ण होगा, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। विकास का निर्माण अनन्त परिवर्तन और क्रम के अनुसार होता है। सत्य और तथ्य किसी वस्तु विशेष मे प्राप्त नही होते, अपितु इनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओ के द्वारा क्रम, व्यतिक्रम और सम्मेलन अथवा वाद, प्रतिवाद और सवाद (Thesis, Antithesis and Synthesis) के क्रम से निर्धारित मार्ग पर अकित होते हैं।[2]

इच्छा के विषय मे हीगल की कल्पना (Hegal's Conception of Will)

हीगल ने इच्छा-सिद्धान्त रूसो से ग्रहण किया है। वह कॉण्ट की भाँति मनुष्य की इच्छा को स्वाधीन मानता है जो शुद्ध सूक्ष्म ज्ञान का एक पक्ष होने के कारण शाश्वत, सर्वव्यापी, स्वय-चेतन तथा आत्म निर्णायक (Eternal, Universal, Self-conscious and Self-determining) है। यही स्वतन्त्रता तथा पूर्ण इच्छा नाना प्रकार के विचारो मे अभिव्यक्त होती है। इसका प्रथम रूप कानून (Law), दूसरा आन्तरिक सदाचार (Inward Morality) है और तीसरा रूप है "उन व्यवस्थाओ और प्रभावो का समूचा क्रम जिससे राज्य मे न्याय प्रसारित होता है।"[3] हीगल कानून के अन्तर्गत व्यक्तित्व (Personality), सम्पत्ति (Property) तथा सविदा (Contract) को सम्मिलित करता है। ये समस्त सस्थाएँ स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) के ही प्रदर्शन के प्रकट रूप है। हीगल कानूनो और अधिकारो का निर्णय किसी एक निश्चित माप या स्थिर सिद्धान्त से नही करता वरन् इतिहास द्वारा प्रदर्शित सस्कृति और आत्म-ज्ञान के आधार पर उनकी तुलना करता है। आन्तरिक सदाचार और नैतिकता के अन्तर्गत हीगल ने "आत्म-निर्णय के उन पहलुओ पर विचार किया है जिनमे कोई व्यक्ति अपने जैसे अन्य व्यक्तियो की जागृति से प्रभावित होता है।" इच्छा को तीसरे रूप मे हीगल ने 'Sittlichkeit' के नाम से पुकारा है, जिसका अभिप्राय है सामाजिक नैतिकता (Social Ethics)। धार्मिक व्यवस्था, सदाचारी जीवन, रूढिगत नैतिकता आदि भी कहा जा सकता है। इस पहलू के अन्तर्गत हीगल ने 'सदाचार की आन्तरिकता' (Inwardness of Morality) और 'कानून की वाह्यता' (Externality of Law) का सम्मेलन किया है। इसमे प्रचलित नैतिक प्रथायें, रीति-रिवाज, कानून, सामाजिक स्वतन्त्रता और नैतिक इच्छा निहित है। 'Sittlichkeit' के क्रमानुगत पहलू परिवार, नागरिक-समाज और राज्य है।

1 "History leads wise men and drags the fools."
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास खण्ड 2, पृष्ठ 621–22.
3 "The whole system of institutions and influences that make for righteousness in the State."

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा
(Hegal's Conception of Freedom)

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक विवादास्पद विषय उसका वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार है। उसकी समीक्षा करते समय पृष्ठभूमि के रूप में यह नहीं भूलना चाहिए कि जब वह अपने राजनीतिक दर्शन का निर्माण कर रहा था तब जर्मनी अनेक भागों में विभक्त था और बिखरा हुआ था। इस कारण उसने बड़े दुःखपूर्ण शब्दों में जर्मनी की राजनीतिक कमजोरी का उल्लेख किया है और इसका मस्तिष्क जर्मनी को संगठित करने की बलवती भावना से भर गया। इसी कारण व्यक्ति को राज्य में आत्मसात् कर देने में तनिक भी संकोच नहीं किया। हीगल इस तथ्य से पूरी तरह अवगत था कि यद्यपि जर्मनी की जनता एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनना चाहती थी, तथापि उसने (जनता ने) यह कभी भी अनुभव नहीं किया कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राज्य का निर्माण सर्वप्रथम आवश्यकता है। आधुनिक मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता केवल राष्ट्रीय राज्य में ही स्थित रह सकती है और केवल राज्य ही पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है। इसीलिए हीगल ने राज्य का महत्त्व जोरदार शब्दों में घोषित किया ताकि जर्मनी एकीकृत हो सके। उसके द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के सिद्धान्त में यही मूल विचार निहित था।

हीगल स्वीकार करता था कि स्वतन्त्रता का नारा आधुनिक जगत् का मूल मन्त्र है। अपनी किशोरावस्था में वह फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा हुई भावात्मक उन्नति का भी अनुभव कर चुका था, उसकी मान्यता थी कि कर्त्तव्यों का पालन किए बिना आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। फिर भी अपने "राज्य दर्शन द्वारा उसने उस मानव-स्वतन्त्रता का सर्वथा हनन ही किया जिसका प्रवर्तन मिल्टन, लॉक आदि ने किया था।"

हीगल का कहना था कि पूर्व में एक सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य ही स्वतन्त्र था। पूर्व के लोग इस बात से अनभिज्ञ थे कि मनुष्य या आत्मा स्वतन्त्र है। यूनान में आत्मनिष्ठ स्वतन्त्रता का उदय हुआ और रोम में अमूर्त मान्यता की प्रधानता हुई। यूनान और रोम में कुछ ही व्यक्ति स्वतन्त्र थे क्योंकि वहाँ दास-प्रथा विद्यमान थी, किन्तु मानव-स्वतन्त्रता का उदय जर्मनी में ही हुआ। जर्मन राष्ट्रों ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि मनुष्य-मनुष्य के नाते स्वतन्त्र हैं।

हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ और कॉण्ट की स्वातन्त्र्य-धारणा की आलोचना—हीगल ने स्वतन्त्रता को व्यक्ति के 'जीवन का सार' मानते हुए कहा था कि—"स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करना है। इसलिए स्वाधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को तिलाँजलि दे देना क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रतीक नहीं हो सकती।"

हीगल के अनुसार राज्य स्वयं में एक साध्य होते हुए भी स्वतन्त्रता को प्रसारित करने का एक साधन है। विश्वात्मा का सार तत्त्व स्वतन्त्रता ही है और स्वतन्त्र चेतना की प्रगति ही विश्व का इतिहास है। जर्मन जाति को ही सर्वप्रथम इस चेतना की अनुभूति हुई कि मनुष्य एक मनुष्य के नाते स्वतन्त्र है।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा को हीगल ने रूसो (Rousseau) और कॉण्ट (Kant) से ग्रहण किया था, किन्तु उसका रूप बहुत कुछ मौलिक है। उसने कॉण्ट की स्वतन्त्रता को नकारात्मक, सीमित और आत्मपरक (Negative, Limited and Subjective) मानते हुए यह भी स्वीकार किया है कि राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी सिद्धान्त श्रेष्ठ है। राज्य आन्तरिक रूप से व्यक्तिवादी नहीं है। स्वतन्त्रता अधिक विधेयात्मक और वस्तुपरक (More Positive and Objective) है।

हीगल के मतानुसार कॉण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा नकारात्मक इसलिए है, क्योंकि उसमें आचरण की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। कांट के लिए स्वतन्त्रता बुद्धि के नियम का

पालन करने मे है। बुद्धि का नियम मनुष्य के अन्तर्जगत् मे विद्यमान रहता है, अतः स्वतन्त्रता एक मनोदशा है जिसकी अभिव्यक्ति यथार्थ जीवन मे नही होती। सच्ची स्वतत्रता विधेयात्मक होती है। सच्ची स्वतत्रता का उपभोग करते समय व्यक्ति यह अनुभव करता है कि आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो रही है।

हीगल कॉण्ट की स्वतत्रता सम्बन्धी विचारधारा को व्यक्तिवादी एव सीमित मानता है। कॉण्ट की स्वतत्रता व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धो को कोई महत्त्व नही देती। कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति स्वतत्रता का उपभोग समाज के बाहर रहकर ही कर सकता है। वह व्यक्ति को साध्य मानता है। किन्तु हीगल इससे असहमत होते हुए कहता है कि "सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति समाज की भौतिक और कानूनी सस्थाओ मे भाग लेने से ही हो सकती है. जबकि हीगल की मान्यता है कि स्वतत्रता की प्राप्ति समाज के नैतिक जीवन मे भाग लेने से ही सम्भव है।" वह व्यक्ति एव समाज मे समन्वय स्थापित करता है। उसकी मान्यता के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे कोई स्वतत्रता नही हो सकती। इस सम्बन्ध मे सेबाइन (Sabine) का कथन है—

"हीगल की रचनाओ का थोडा-बहुत अश ही इतना ज्ञानवर्धक है जितना उसका यह प्रमाण कि आर्थिक आवश्यकताएँ सामाजिक होती हैं, उनमे और केवल शारीरिक आवश्यकताओ मे विभेद होता है, प्रथा और कानून स्पष्ट रूप से मानवीय तथा सामाजिक होते है और अधिकार एव कर्त्तव्य एक-दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा वे वैधानिक प्रणाली के अन्तर्गत हैं। हीगल की स्वतत्रता सम्बन्धी धारणा मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभ्यता व्यक्ति की आत्म अभिव्यक्ति को दमन करने वाली नही है। सामाजिक शक्तियाँ वे माध्यम है जिनके द्वारा उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्ति के विकास के लिए किसी न किसी प्रकार के सामुदायिक जीवन मे भाग लेना आवश्यक है और शिक्षा एव सस्कृति सामान्यतया स्वतत्रता के साधन हैं।"

'स्वतत्रता' के बारे मे हीगल और कॉट की तुलना से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) हीगल स्वतत्रता की एक अधिक विधेयात्मक एव तथ्य-प्रधान परिभाषा प्रस्तुत करता है जो कॉट से अधिक सामाजिक है।

(ख) कॉण्ट के अनुसार स्वतत्रता एक मनोदशा है जिसका तथ्य-प्रधान सामाजिक जगत् से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। इसकी स्वतत्र अभिव्यक्ति यथार्थ जीवन मे नही होती। हीगल के अनुसार स्वतत्रता का उपभोग करते समय मनुष्य यह समझता है कि वह आत्म-ज्ञान प्राप्त कर रहा है। उसके मत मे स्वतत्रता का मूल तत्त्व मनुष्य के अन्तःकरण मे न होकर सामाजिक सस्थाओ मे रहता है। उसकी स्वतत्रता की अभिव्यक्ति यथार्थ जीवन मे होती है।

कॉण्ट के विरुद्ध हीगल इस तथ्य पर बल देता है कि वैयक्तिक स्वतत्रता की अनुभूति सामाजिक क्षेत्र मे भाग लेने पर ही हो सकती है।

कॉण्ट और हीगल की स्वतत्रता सम्बन्धी धारणा मे मूलभूत अन्तर यही है कि कॉण्ट के लिए विवेक व्यक्ति के अन्तःकरण मे निहित है और हीगल के लिए इसका साकार रूप राज्य है और यह उसके कानूनो के रूप मे अभिव्यक्त होता है। वैसे दोनो ही इस बात पर पूर्ण रूप से सहमत है कि स्वतत्रता केवल बन्धन का अभाव नही है अपितु स्व-निर्णय की शक्ति है और उसकी स्थिति (स्वतत्रता) बुद्धि अथवा उच्चतर आत्मा द्वारा नियन्त्रित होने मे है।

हीगल की स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन मे सम्भव है—हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक है जिसकी प्राप्ति सामाजिक कार्यो मे भाग लेने से होती है। समाज और व्यक्ति के सहयोग के बिना कोई स्वतत्रता सम्भव नही है। सेबाइन (Sabine) के शब्दो मे, "हीगल का विश्वास था कि स्वतत्रता को एक सामाजिक व्यवहार समझना चाहिए। वह उस सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता है जो समुदाय के नैतिक विकास के आधार पर उत्पन्न होती है। वह व्यक्तिगत प्रतिभा की चीज नही है।" वह तो एक प्रकार की स्थिति है जो व्यक्ति को समुदाय की नैतिक और वैधानिक सस्थाओ के माध्यम से

प्राप्त होती है, पर उसे स्वेच्छा या व्यक्तिगत प्रवृत्ति नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत और अतिशय क्षमता को महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य के निष्पादन में लगा देने में है।"[1] प्लेटो और अरस्तू की भाँति हीगल का भी स्वतन्त्र नागरिक विषयक सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकारों पर नहीं, बल्कि सामाजिक कार्य पर आधारित था। हीगल का विचार था कि 'आधुनिक राज्य में ईसाई आचार से नागरिकता के विकास से व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक कर्तव्य के बीच ऐसा पूर्ण संश्लेषण स्थापित हो जाता है जैसा दासता पर आधारित समाज में कभी सम्भव नहीं था। आधुनिक राज्य में सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। राज्य की सेवा करके वे उच्चतम आत्मसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। व्यक्तिगत नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर राज्य में नागरिकता की वास्तविक स्वतन्त्रता स्थापित होती है।"

हीगल का मत है कि आदर्श राज्य के आदर्श कानूनों का पालन करने में ही स्वतन्त्रता निहित है क्योंकि राज्य स्वतन्त्रता की सर्वोच्च और सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। स्वतन्त्रता का विकास आत्मा का विकास है और आत्म-चेतना की प्राप्ति राज्य में ही सम्भव है, इसीलिए राज्य स्वतन्त्रता की उच्चतम अभिव्यक्ति होना चाहिए। राज्य पूर्णतः विवेकशील है। इसकी एकता, इसकी प्रेरणा और ध्येय है। इसी ध्येय में स्वतन्त्रता उच्चतम अधिकार प्राप्त करती है। व्यक्ति पर उस ध्येय का उच्चतम अधिकार होता है और व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य राज्य का सदस्य होना है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक हितों में कोई अन्तर नहीं है। व्यक्ति स्वतन्त्रता को तभी प्राप्त करता है जब वह आदर्श राज्य के आदर्श नियमों का पालन करे। वह उसी सीमा तक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर सकता है जिस सीमा तक वह अपने आपको राज्य और उसकी संस्थाओं में अभिव्यक्त आत्मा के साथ एकरूप कर लेता है। इस तरह व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के उद्देश्य को ही अपना उद्देश्य समझने में है। इसी प्रकार व्यक्ति नैतिक गरिमा और स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। राज्य की सेवा में स्वयं को लगा देने पर और राज्य के उद्देश्य को अपना उद्देश्य समझने पर ही व्यक्ति को विश्वास हो सकता है कि उसकी इच्छा विवेकपूर्ण है। व्यक्ति की बुद्धि अपूर्ण और उसकी वासनाओं और भावनाओं में पराभूत हो सकती है। विवेकहीन वासनाओं और कामनाओं की दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का केवल एक ही मार्ग है और वह है राज्य के सामने स्वेच्छापूर्वक आत्म समर्पण कर देना जिसमें विशुद्ध बुद्धि की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।[2]

हीगल की मान्यता है कि 'मानव हृदय में स्वतन्त्रता की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना है, उसी का साकार रूप राज्य है।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की भावना कभी सिद्ध नहीं होगी। हीगल का तर्क इस प्रकार है—"स्वतन्त्रता विवेकयुक्त आदेश का पालन करने में है, पर एक व्यक्ति का विवेक सदा ही विश्वसनीय नहीं होता। कभी कभी वह तत्कालीन और अस्थाई कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी विशिष्ट हित की ओर झुक जाता है किन्तु राज्य के कानूनों द्वारा व्यक्त विवेक में ये दोष नहीं होते। वह सार्वभौम होता है, विशिष्ट नहीं। अतः सच्ची स्वतन्त्रता राजकीय कानूनों का पालन करने में ही है। व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कल्पित प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा राज्य के सदस्य के रूप में अधिक वास्तविक रूप में करता है।" राज्य कभी अप्रतिनिध्यात्मक रूप में कार्य नहीं कर सकता। राज्य जो कुछ भी करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक इच्छा के अनुकूल होती है, यहाँ तक कि जब चोर जेल की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी वास्तविक इच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने से अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। स्वतन्त्रता राज्य के नियमों का पालन करने में है। स्वतन्त्रता और कानून एकरूप हैं।

क्या हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा भ्रान्ति है ?

हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से यह धारणा उत्पन्न हुई है कि हीगल के हाथ में पड़कर स्वतन्त्रता एक भ्रान्ति मात्र रह गई है क्योंकि उसके द्वारा प्रतिपादित राज्य में व्यक्ति वस्तुतः

1–2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 616

स्वतन्त्र नहीं, अपितु दास है। हीगल व्यक्ति पर राज्य के सार्वभौम नियन्त्रण को लाद देता है और अन्तत उसका सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विपरीत हो जाता है। इस धारणा के पीछे, कि हीगल व्यक्ति को राज्य का दास बना देता है, निम्नलिखित कारण हैं—

1. हीगल के अनुसार राज्य एक सर्वशक्तिमान समुदाय है और कोई भी व्यवस्था राज्य की शक्ति को मर्यादित नहीं कर सकती यहाँ तक कि विधि द्वारा शासन की स्थापना करने वाला संविधान भी राज्य की सर्वोच्च शक्ति को अल्पमात्र भी सीमित नहीं कर सकता।

2. हीगल राज्य के विरुद्ध नागरिकों के किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं करता और राज्य को सदैव व्यक्ति की यथार्थ इच्छाओं के ऊपर मानता है। भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता, जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन और स्वयं विधि-निर्माण के अधिकारों का आज स्वतन्त्रता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता है, लेकिन हीगल इन अधिकारों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार तो राज्य के कानून प्रत्येक दशा, प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक रूप में वैयक्तिक बुद्धि से उच्चतर है तथा व्यक्तियों के सामने इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि वे उन कानूनों का पालन करें और राज्य के आदेश के समक्ष अपना पूर्ण आत्म-समर्पण कर दें। हीगल राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार को अस्वीकार करता है और ऐसी किसी भी परिस्थिति का उल्लेख नहीं करता जिसमें राज्य की अवज्ञा करना उचित हो।

3 हीगल ने राज्य और उसके सदस्यों के हितों में विरोध की किसी भी कल्पना को अपनी विचारधारा में स्थान नहीं दिया है।

4. हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में 'व्यक्ति' शब्द के अर्थ को समझने में भूल की गई है।

5. राज्य में व्यक्ति को अत्यन्त हीन स्थान देने के आरोप के पीछे एक कारण हीगल की यह मान्यता है कि व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों के पालन में है। जनता कानूनों का निर्माण नहीं करती बल्कि उन्हें गत पीढ़ियों से प्राप्त करती है।

आलोचकों ने उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही हीगल की स्वतन्त्रता को एक भ्रांति माना है। उनका आरोप है कि हीगल ने आदर्श एवं यथार्थ राज्य के भेद को ठीक तरह से न समझ कर राज्य के कानूनों और स्वतन्त्रता को एक मान लिया है। हीगल कानूनों को जनता की अभिव्यक्ति नहीं मानता जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि बलपूर्वक लादे गए कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते।

किन्तु ये सब आरोप लगाते समय आलोचक भूल जाते हैं कि हीगल राज्य को व्यक्ति पर ऊपर से थोपी हुई सत्ता नहीं समझता, वरन् उसका विश्वास है कि राज्य स्वयं 'व्यक्ति' के ही सर्वोत्तम रूप को व्यक्त करता है। 'व्यक्ति' की सच्ची आत्मा ही राज्य के रूप में प्रकट होती है और राज्य की अधीनता स्वीकार करने में वह अपनी ही आत्मा की अधीनता स्वीकार करता है। हीगल ने राज्य की आत्मा में व्यक्ति की उच्चतर इच्छाओं के दर्शन किए हैं। व्यक्ति की इच्छाओं तथा राज्य की इच्छाओं में संघर्ष नहीं है क्योंकि दोनों में एक ही आत्मा का निवास है। एक का विकसित रूप दूसरे में निहित है। अत इस दृष्टि से यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि हीगल के विरुद्ध यह आरोप कि वह व्यक्ति को राज्य का पूर्ण दास बना देता है, उचित नहीं है। उसके सिद्धान्त को समझने में भ्रांति होने के कारण ही उसके विरुद्ध ऐसा आक्षेप लगाया जाता है। लेकिन जब यह समझ लिया जाता है कि राज्य व्यक्ति के सर्वोत्तम रूप को ही अभिव्यक्त करता है और राज्य के समक्ष जिस चीज का बलिदान किया जाता है वह व्यक्ति का मात्र स्वार्थपूर्ण एवं क्षणिक तत्त्व है तो आलोचना शिथिल पड़ जाती है फिर यह भी उल्लेखनीय है कि "वह राज्य जिसे हीगल ने 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण' कहा है कोई यथार्थ जर्मनी या इटली का राज्य, अथवा और कोई विशिष्ट ऐतिहासिक राज्य नहीं है,

बल्कि यह एक विचार-जगत् का राज्य है जिसका किसी देश और काल मे कही अस्तित्व नही था। ऐसे पूर्ण राज्य मे व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान किए जाने का प्रश्न ही नही उठता।" हीगल जैसा आदर्श राज्य इस यथार्थवादी विश्व मे उपलब्ध नही है। पुनश्च, इस तथ्य को ओझल कर देना हीगल के प्रति अन्याय होगा कि राज्यविहीन दशा मे स्वतन्त्रता की कल्पना करना कठिन है। राज्यविहीन दशा अराजकता की दशा होगी। जिसमे स्वतन्त्रता के स्थान पर उच्छृङ्खलता का साम्राज्य होगा। व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता तो राज्य ही प्रदान करता है। हीगल के लिए राज्य का उद्देश्य मूल रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र विस्तृत करना है, न कि उसे सीमित करना।

हीगल के बचाव पक्ष मे इतना कहने पर भी यह नही भुलाया जा सकता कि हीगल के राज्य की कल्पना एक निरंकुश, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक राज्य की कल्पना है जिसमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व तभी सम्भव होगा जब वह राज्य के आदेशो का आँख मीच कर पालन करे। हीगल व्यक्तिगत निर्णय को कोई महत्त्व नही देता, चाहे वह कितना ही समझ बूझकर किया गया हो। वह कर्त्तव्य को केवल आज्ञा-पालन मात्र समझता है। उसके लिए श्रेष्ठ नागरिकता का अभिप्राय वर्तमान स्थिति को स्वीकार करना अर्थात् सरकार द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करता है। अपने अधिकार-दर्शन ग्रन्थ (Philosophy of Right) की भूमिका मे हीगल ने राज्य की आलोचना को राजनीतिक दर्शन का अधिकार-क्षेत्र नही माना है। सेबाइन के मतानुसार "हीगल द्वारा प्रदत्त राज्य की आध्यात्मिक सर्वोच्चता तथा वास्तविक सरकार के राजनीतिक कार्यों मे किसी प्रकार का उचित तारतम्य नही मालूम पडता। हीगल के स्वतन्त्रता-सिद्धान्त मे किसी भी प्रकार की नागरिक अथवा राजनीतिक स्वतन्त्राओ का समावेश नही है।"[1]

हीगल के राज्य और स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार उसके दर्शन की आलोचना के प्रसग मे और भी अधिक स्पष्ट हो सकेंगे।

हीगल के दर्शन की आलोचना
(Criticism of Hegelian Philosophy)

हीगल ससार का महानतम् दार्शनिक माना जाता है और कहा जाता है कि अपने दार्शनिक चिन्तन मे उसने अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लिया था, किन्तु कुछ अन्य विचारको द्वारा उसके दर्शन की कटुतम आलोचना की गई है।

1 हीगल का द्वन्द्ववाद बहुत अस्पष्ट है। उसकी तर्क प्रणाली दूषित और अत्यन्त दुरूह है। असगत तथ्यो को मनमाने ढग से तर्क सम्मत बताया गया है और अनेक पारिभाषिक शब्दो का ऐसा अस्पष्ट प्रयोग किया गया है कि उनका कोई उपयोग ही नही रहा है। उसकी स्वेच्छाचारिता तथा अवैज्ञानिकता ने हीगल की पद्धति को बहुत ही बोझिल और क्लिष्ट बना दिया है। उसके द्वन्द्ववाद के प्रमुख उपकरण 'ऐतिहासिक आवश्यकता' को पूर्णत स्वीकार करना कठिन है क्योकि उसने इतिहास मे जिस आवश्यकता का दर्शन किया है, वह भौतिक व्यवस्था भी है और नैतिकता भी। जब उसने कहा कि जर्मनी के लिए एक राज्य का रूप ग्रहण करना आवश्यक है तो उसका आशय था कि सभ्यता और राष्ट्रीय जीवन के हितो की दृष्टि से यह अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियाँ भी हैं जो उसे इस ओर प्रेरित कर रही है। द्वन्द्वात्मक-पद्धति मे इस प्रकार नैतिक निर्णय तथा ऐतिहासिक विकास के आकस्मिक नियम की सम्मिलित खिचडी पकाई गई है। नैतिक निर्णय, आवश्यकता और भेद का आधार अस्पष्ट है।

2 हीगल के द्वारा समाज और उसकी व्यवस्थाओ की व्याख्या करने के लिए द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग अनुपयुक्त और असफल सिद्ध हुआ। आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक विचारधारा मे उसने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 619.

कला को 'वाद', धर्म को 'प्रतिवाद' और दर्शन को 'सवाद' या 'सश्लेषण' माना है। पर धर्म को कला के विरुद्ध मानने और कला तथा दर्शन के सम्बन्ध को जीवाणु और जाति के सम्बन्ध जैसा बताने की बात समझ मे नही आती। केटलिन (Catlin) के अनुसार, "जीवन के अनुभवों को वाद, प्रतिवाद और सवाद के अनुसार वर्गीकृत करना एक मनोरजक मानसिक व्यायाम है। द्वन्द्ववाद मानसिक व्यायाम के रूप से महत्त्वहीन नही है, किन्तु विवेचन-सिद्धान्त (Interpretative Principles) के रूप मे अविश्वसनीय है।"[1]

3. हीगल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा राज्य की निरकुशता को प्रकट किया है। इस पद्धति का प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि राज्य दैविक प्रज्ञा (Divine Reason) की सर्वोच्च और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है, अत इसे सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास का उद्देश्य माना जाना चाहिए। हीगल ने तो द्वन्द्व और राज्य आदर्शीकरण मे एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, लेकिन बाद मे कार्ल मार्क्स ने दोनो को पृथक् कर दिया। उसने द्वन्द्ववाद को अपनाते हुए हीगल से एक सर्वथा भिन्न परिणाम निकाला। मार्क्स के हाथो मे यह समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण और दास बनाने के यन्त्र मे राष्ट्रीय राज्य के विरोध का आधार बन गया।

4. हीगल चरम राष्ट्रीयतावादी दार्शनिक था जिसने व्यक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का राज्य की वेदी पर बलिदान कर दिया। वह एक सर्वशक्तिमान निरकुश राज्य का पुजारी था। बार्कर के शब्दो मे उसने "राष्ट्रीय राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर (To a mystical height) तक पहुँचा दिया है।"[2] सत्रहवी शताब्दी के दार्शनिको ने राजाओ के दैवी अधिकार की बात कही थी, लेकिन हीगल ने राज्य के दैवी अधिकार की स्थापना की। हीगल का सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) जनतन्त्र के साथ मेल नही खाता। आइवर ब्राउन (Ivor Brown) के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से हीगल के सिद्धान्त का आशय है आत्मिक दासता, दैहिक अधीनता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितो के लिए युद्ध, शान्तिकाल मे लेवियाथन दैत्य की और युद्ध-काल मे 'मलोक' (Maloch) की उपासना।[3] आलोचको ने हीगल को 20वी शताब्दी की दो बडी सर्वाधिकारवादी विचारधाराओ-फासीवाद और साम्यवाद का मूल स्रोत माना है। ऐबेंसटीन (Ebenstein) का आरोप है कि "हीगल ने शक्ति और नैतिकता को अभिन्न बना दिया है।"[4]

5. हीगल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को तोड़-मरोड कर 'स्वतन्त्रता' को 'आज्ञाकारिता' का रूप दे दिया है और इसी प्रकार समानता के सिद्धान्त को विकृत कर 'अनुशासन' का पर्यायवाची बना दिया है। उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व के सिद्धान्त को परिवर्तित कर मनुष्यो को दैवी शक्ति की प्रवाहिका नलिका बनाकर उन्हे राज्य मे आत्मसात् कर दिया है। जोड (Joad) के शब्दो मे, 'राज्य का निरपेक्ष सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है क्योंकि जब भी व्यक्ति और राज्य मे कोई संघर्ष होता है तो इसके अनुसार राज्य ही सही होना चाहिए।" हीगल किसी भी दशा मे राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार प्रदान नही करता।

राज्य और स्वतन्त्रता के बारे मे हीगल पर आरोपो की जो बौछार की गई है; उसके बावजूद हीगल के बचाव मे यह कहा जा सकता है कि उसने राज्य और व्यक्ति को एक-दूसरे के विरुद्ध खडा नही किया है बल्कि राज्य की आत्मा मे व्यक्ति की उच्चतर इच्छाओ के दर्शन किए है। एक का विकसित रूप दूसरे में निहित है; अत यह प्रश्न ही नही उठता कि व्यक्ति राज्य का दास है। हीगल के अनुसार राज्य की शक्ति निरपेक्ष तो है लेकिन मनमानी नही है। राज्य विवेक का प्रतीक है। उसके

1 *George Catlin* A History of the Political Philosophies
2 *Barker*. Political Thought in England p 20-21.
3 *Ivor Brown* English Political Theory p 145,
4 *Ebenstein* Great Political Thinkers, p 595

कानून विवेकपूर्ण होते हैं। नियम राज्य के अधिकारियों की स्वविवेक पर आधारित शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकारियों के पद की सत्ता को व्यक्त करते है, न कि उनकी व्यक्तिगत इच्छा अथवा निर्णय को। निरकुशता का तत्त्व विधि-विहीनता और हीगल के स्वतन्त्र एव सांविधानिक शासन का तत्त्व इस विधि-विहीनता को दूर कर सुरक्षा को जन्म देता है। हीगल की दृष्टि मे राज्य व्यक्ति पर कोई बाहर से थोपी हुई सत्ता नही है बल्कि व्यक्ति की आत्मा है। राज्य व्यक्ति के सर्वोत्तम रूप की अभिव्यक्ति है। राजाज्ञा पालन करने मे व्यक्ति स्वय अपनी ही आज्ञा का पालन करता है। हीगल की दृष्टि मे राज्य मूल रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र विस्तृत करने के लिए है, सीमित करने के लिए नही। हीगल के सिद्धान्त के सत्य को यह कहकर ठुकरा देना उचित नही है कि यथार्थ राज्य हीगल के आदर्श राज्य से बहुत दूर है और हीगल का सिद्धान्त कल्पना-जगत् मे ही सही हो सकता है, व्यावहारिक जगत् मे उसे लागू नहीं किया जा सकता। हमे यह ध्यान मे रखना होगा कि किसी भी विचार अथवा नियम को इसी आधार पर गलत नही कहा जा सकता कि यथार्थ जीवन मे दिखाई नही देता। गति के प्रथम नियम को किसी ने इस आधार पर नही ठुकराया कि वास्तविक जीवन मे उसका पूर्ण रूप दृष्टिगोचर नही होता। हीगल का सिद्धान्त इस आधारभूत सत्य की ओर सकेत करता है कि मनुष्य की सामाजिक नैतिकता, जिसकी अभिव्यक्ति राज्य की विधियो द्वारा होती है, राज्य की विधि के अनुकूल आचरण मे है। यह भी स्मरणीय है कि हीगल राज्य के कानूनो का निष्कर्ष रूप से पालन करने को स्वतन्त्रता नही मानता बल्कि वह कहता है कि अपनी स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए उन्हे स्वेच्छा से राजाज्ञाओ का पालन करना चाहिए, अन्यथा यह आत्म-निर्णय नही होगा। हीगल का दोष यही है कि वह व्यक्ति के राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार नही करता और उसका सिद्धान्त जीवन के तथ्यो पर लागू नहीं होता।

सेबाइन ने अपने ग्रन्थ 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास' मे एक स्थान पर लिखा है कि—

"हीगल का विश्वास था (यद्यपि उसने अपने इस विश्वास को कही स्पष्ट रूप से व्यक्त नही किया है) आधुनिक सांविधानिक शासन भूतकाल के किसी भी शासन की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिक आदर करता है और वह व्यक्ति के आत्म-निर्णय के अधिकार को अधिक महत्त्व देता है। इसका अभिप्राय यह भी निकलता है कि मनुष्य के अधिकारो का सम्मान किया जाना चाहिए। लेकिन यह विश्वास कि मनुष्य का मनुष्य के नाते मूल्य है, इस विश्वास से मेल नही खाता कि उसके नैतिक निर्णय केवल मन की तरगे है अथवा उसका महत्त्व समाज मे उसकी स्थिति के कारण है तथा ऐसे समाज का नैतिक माध्य राष्ट्रीय राज्य द्वारा प्राप्त किया जाता है।"

पुनश्च, "इसी प्रकार का अनिश्चय और भ्रम हीगल के इस विश्वास मे निहित है कि राज्य उच्चतम नैतिक मूल्यो को व्यक्त करता है। हीगल ने इस प्रश्न का आध्यात्मिक आधार पर समाधान करने का प्रयास किया था। यह बात आध्यात्मिक आधार भी स्पष्ट नही है कि एक राज्य, जो विश्वात्मा की केवल एक अभिव्यक्ति है, कला और धर्म के समस्त मूल्यो को किस प्रकार व्यक्त कर सकता है अथवा इन मूल्यो के एक राष्ट्रीय सस्कृति से दूसरी राष्ट्रीय सस्कृति मे स्थानान्तर की किस प्रकार व्याख्या कर सकता है। हीगल के कला और धर्म के बारे मे वक्तव्य बडे असगत थे। कभी-कभी वह उन्हें राष्ट्रीय अन्तरात्मा की सृष्टि मानता था, किन्तु वह ईसाई धर्म को न तो किसी एक राष्ट्र का परमाधिकार समझता था, न उसका यह विश्वास था कि कला और साहित्य सदैव राष्ट्रीय ही होते है। दूसरी ओर उसके दृष्टिकोण मे ऐसा कोई सामान्य यूरोपीय या मानव समाज भी नही था जिससे उनका सम्बन्ध हो सकता था, क्योंकि राज्य के बिना आधुनिक सस्कृति व परम्परा विरोधाभास मात्र है। इस भ्रम का कारण शायद यह है कि हीगल के पास विशुद्ध राजनीतिक धरातल पर और चर्चों के सम्बन्धो के बारे मे अथवा अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के बारे मे कहने के लिए कोई खास बात नही थी।'[1]

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 668.

6 हीगल ने विश्व-इतिहास एव दैवी-शक्ति दोनो की ही व्याख्याएँ किसी एक विशिष्ट उद्देश्य के समर्थन के लिए की है, अत- इन्हें निष्पक्ष व्याख्या नही माना जा सकता। हीगल अपनी व्याख्याओ द्वारा जर्मनी के गौरव मे अभिवृद्धि करना चाहता था।

7 हीगल राज्य एव समाज मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानता। राज्य की निरंकुशता का प्रतिपादन करने की झोंक मे वह दोनों को एक मानने की भूल कर बैठा है। उसने यह समझने का प्रयत्न ही नही किया है कि राज्य और समाज दो भिन्न इकाइयां है और उनमे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि दोनो मे यह भेद न रहे तो जनता का निकृष्ट प्रकार के राज्य की स्वेच्छाचारिता से दमन हो जाना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जाना और राज्य को मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाना अवश्यम्भावी है।

8. हीगल का राष्ट्रीय-राज्य का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय आचार (International Ethics) की सीमा का उल्लघन है। हीगल की दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल परम्परा मात्र हैं जिन्हे कोई प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य पर वह किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि जो भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, वे अल्पकालीन होते हैं, यहाँ तक कि सन्धियाँ तक परिवर्तनशील होती है। जोड (Joad) के अनुसार, "हीगल का राज्य-सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से गलत और तथ्यो के विपरीत है एव परराष्ट्र नीति के क्षेत्र मे वर्तमान राज्यो के सिद्धान्त-विहीन कार्यो को इससे मान्यता मिल सकती है।"[1]

वास्तव मे हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विचार अराजकता की सीमा को छूते हैं। हीगल की विचारधारा के आधार पर राज्य अपने अनैतिक एवं सिद्धान्तहीन कार्यो को भी नैतिकता और औचित्य का बाना पहना सकते है। परराष्ट्र नीति के क्षेत्र मे राज्यो के सिद्धान्तहीन कार्यों को मान्यता मिलने का अनिवार्य परिणाम विश्व-शान्ति और सहयोग का गला घोट देना है। ऐसी किसी भी धारणा को स्वीकार करने का अर्थ स्पष्ट ही विनाश और अशान्ति को निमन्त्रण देना है। यह ठीक है कि राज्य की सुरक्षा सर्वोच्च है, लेकिन इसका समर्थन करने के लिए ऐसी धारणा को जन्म देना उचित नहीं कहा जा सकता, जिससे राज्य की इच्छा को सीमित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सदाचार आदि के अस्तित्व को ही चुनौती दे दी जाए। हीगल युद्ध का पुजारी है और युद्ध को एक अनिवार्यता मानता है। वह युद्ध को मानव सभ्यता के विकास एव राज्य की सर्वोच्च शक्ति का परिचय देने के लिए एक परम उपयोगी साधन बतलाता है। उसका युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा की शिक्षा देने वाला सिद्धान्त मृत्यु, विनाश एव सहार की ओर ले जाने वाला है। सच्चाई तो यह है कि उसका सिद्धान्त जीवन की यथार्थताओं से बहुत दूर दार्शनिक कल्पना का एक अंश है।

9. "बोसांके तथा ब्रैडले को छोडकर अन्य अंग्रेजी विचारको पर हीगलवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। यह वाद उनके राजचिन्तन की पद्धति का खण्डन करता है और उनके अत्यधिक प्रसिद्ध राज्य सम्बन्धी प्रयोगो को हेय दृष्टि से देखता है। वे इसे व्यर्थ तथा घातक मानते है। कुछ अंग्रेजो का विचार है कि इसका अन्त कर देना चाहिए। हॉबहाउस ने अपनी पुस्तक 'दी मैटाफिजिकल थ्योरी ऑफ दी स्टेट' (The Metaphysical of the State) मे हीगलवाद को जर्मनी का लन्दन की विजय के लिए जैपलिन्स (Zeppelins) द्वारा फैका गया बम मानना है। उसके अनुसार यह कुछ ऐसी चीज है जिसका प्रभाव युद्ध मे कहीं अधिक होता है।"[2]

10. हीगल के कानून तथा तर्क सम्बन्धी विचार उलझे हुए हैं। उसका तर्क-सिद्धान्त तर्कशास्त्र का कोई नया सिद्धान्त नही है। उनके तर्क सम्बन्धी मतभेद एक-दूसरे के उतने ही विरोधी हैं

1 *Joad* Modern Political Thought, p 17.
2 वेपर : वही, पृष्ठ 190 92.

जितने दण्ड और अपराध। जो सिद्धान्त हीगल के अनुसार राज्य को देवता बताता है, और मार्क्स के अनुसार उसी राज्य को राक्षस, वह अधिक मूल्यवान नहीं हो सकता। हम यह कह सकते है कि जिस प्रकार 18वीं शताब्दी मे प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त इसलिए प्रसिद्ध हुआ कि वह सभी मनुष्यों को प्रकृति द्वारा मनमाने न्याय के सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने (Deduce) की आज्ञा देता था, उसी प्रकार 19वीं तथा 20वीं शताब्दी मे तर्कवाद या हीगलवाद इसलिए लोकप्रिय हुआ कि इसने मनुष्यों को इतिहास मे राज्य के मानव-सम्बन्धी सामान्यतया स्वीकृत सिद्धान्तों के उल्लंघन की अनुमति दे दी।"[1]

11 हीगल एक जादूगर की भांति अपने जादुई डण्डे से चीजों को देखते-देखते बदल देता है। वह कहता है कि विज्ञान का उद्देश्य वस्तुपरक (Objective) है और बाद मे फिर कहता है 'राज्य को बाह्य राज्य की रक्षा करनी चाहिए।' इसके अतिरिक्त वह स्वतन्त्रता तथा आज्ञा-पालन मे समानता स्थापित करता है। साथ ही वह समानता का तादात्म्य अनुशासन मे भी करता है। व्यक्तियो को वह दैवी शक्ति के हाथ की कठपुतली मानता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता, समानता तथा व्यक्ति, सभी का उसके जादुई डण्डे ने तिरोप कर दिया।[2]

12. हीगल का राजदर्शन आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है। वह एक अनुभवशून्य और शुष्क दार्शनिक के रूप मे प्रकट होता है। भ्रमवश वह यह मान बैठा है कि विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है' (Rational is real and real is rational)। अति दार्शनिकता के कारण हीगल का दर्शन कल्पना मात्र रह गया है। वॉहन के मत मे हीगल की इस दार्शनिकता का प्रमुख कारण स्थापित व्यवस्था के प्रति उसका एक अन्धविश्वासपूर्ण सम्मान तथा परिवर्तन अथवा संशोधन करने वाली प्रत्येक इकाई के प्रति अविश्वास था।

13. हीगल तत्कालीन अवस्था की प्रशंसा के आवेश मे इतनी अधिक सीमाएँ लाँघ गया है कि उसका आदर्शवाद क्रूरतावाद या पशुवाद बन गया है। हीगल ने अपनी बर्बरता को इसीलिए दैवी रूप दिया क्योंकि वह सफल हो गई थी। जर्मन निरंकुशता एवं बर्बरतावाद हीगल के सिद्धान्त का ही एक परिणाम था—यह कहना अनुचित न होगा।

पर इन सब आलोचकों के साथ ही सेबाइन के इस सन्तुलित विचार को ध्यान मे रखना चाहिए कि—"हीगल का दर्शन एक प्रकार से शक्ति के आदर्शीकरण का दर्शन था। इसमे शक्ति से पृथक् अन्य किसी भी आदर्श के प्रति एक प्रकार की अवज्ञा का भाव था। इसमे शक्ति को एक प्रकार का नैतिक और न्याययुक्त आदर्श माना गया था। उसने राष्ट्र को एक ऐसे आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियन्त्रण के परे था और जिसकी नैतिक दृष्टि से भी आलोचना नहीं हो सकती थी। राजनीतिक निष्कर्षों की दृष्टि से हीगल का राज्य-सिद्धान्त उदारता विरोधी था। उसमे स्वतन्त्र सत्तावाद को उदात्त रूप दे दिया गया था तथा राष्ट्रवाद ने राजवंशीय और राजसत्ता का रूप धारण कर लिया था। लेकिन वह संविधान-विरोधी नहीं था। उसने संविधानवाद के बारे में एक ऐसे ढंग से विचार किया था जो उन देशों के ढंग से भिन्न था जहाँ उदारवाद तथा संविधानवाद एक ही राजनीतिक आन्दोलन के पहलू थे। इसका अर्थ था 'मनुष्यों का नहीं, बल्कि विधि का शासन।' हीगल के संविधान मे लोकतन्त्रात्मक प्रक्रियाओं के स्थान पर सुव्यवस्थित नौकरशाही शासन का भाव निहित था। उसने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का आश्वासन दिया था तथा इस बात पर भी जोर दिया था कि शासन मे लोक-कल्याण की व्यवस्था होनी चाहिए, लेकिन इस बात के लिए यह आवश्यक नहीं है कि शासन लोकमत के प्रति उत्तरदायी हो। यह कार्य एक ऐसा राजकर्मचारी वर्ग कर सकता है जो सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित हो और जो आर्थिक तथा सामाजिक हितों के संघर्ष से ऊपर हो। इसका व्यावहारिक अर्थ यह था कि राजनीति को ऐसे लोगों के हाथ से जोड दिया जाना चाहिए

1-2 वेपर : वही, पृष्ठ 190–93.

जो कुल तथा व्यावसायिक दक्षता द्वारा शासन करने योग्य है। यह प्रयत्न एक ऐसे समाज की समझ में आ सकता था जिसमें राजनीतिक एकता के निर्माण और राजनीतिक शक्ति के विस्तार की चिन्ता ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना को ग्रस्त कर रखा था।"[1]

हीगल का प्रभाव एवं मूल्यांकन
(Hegel's Influence and Estimate)

विभिन्न त्रुटियों और दुर्बलताओं के बावजूद हीगल की युग-परिवर्तनकारी विचारधारा का अग्रलिखित कारणों से विशेष महत्त्व है—

1. राजनीति तथा नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों को हीगल ने सर्वाधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म रूप से समझा था।

2. 'राज्य व्यक्ति की उन्नति के लिए अनिवार्य है तथा व्यक्ति राज्य का एक अविभाज्य अंग है' हीगल ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके राजदर्शन को एक महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

3. हीगल ही वह पहला विचारक था जिसने ऐतिहासिक प्रणाली को भली-भाँति समझा।

4. हीगल ने अपने दर्शन में इस अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि विवेक द्वारा प्रगति' (Progress by Reason) होती है।

5 हीगल ने व्यक्ति की चेतना पर समाज की प्रेरणामूलक बुद्धि के ऋण को समझने और स्वीकार करने का बहुमूल्य प्रयास किया है।

6. हीगल की शिक्षा मूल्यवान है क्योंकि इससे मानव की सामाजिक स्वतन्त्रता को विशेष बल मिलता है। व्यक्तिवाद मनुष्य के सामाजिक चरित्र का परित्याग कर देता है। व्यक्तिवादियों के लिए व्यक्तियों से बने छोटे छोटे समुदाय रूपी उन कक्षों का महत्त्व अधिक है जो राज्यरूपी भवन का निर्माण करते हैं, परन्तु हीगल सन्तुलनवादी है। वह यह भी प्रतिपादित करता है कि मनुष्य समाज से कितना प्रभावित रहता है। उसने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार को कहीं अधिक गौरवान्वित किया। उसका आदर्शवाद वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक था। उसने राजनीति को उसके हितों के समझौते से कुछ ऊँचा और कानून को आदेश मात्र से कुछ अधिक स्थान दिया। यह कोई साधारण विचार नहीं है कि पुलिस-राज्य पर्याप्त होता है और राज्य को मनुष्य के नैतिक उद्देश्य का एक अंग माना जाना चाहिए।[2]

हीगल के विचार के मूल तत्त्व तीन हैं—(1) द्वन्द्ववाद, (2) राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त, (3) प्रगति की धारणा। ये तीनों बातें हीगल की विचारधारा में परस्पर-सम्बद्ध थीं, किन्तु बाद के विचारकों ने हीगल की इन तीन बातों को पृथक् कर दिया। हीगल के द्वन्द्ववाद को भौतिकवादी रूप प्रदान कर कार्ल मार्क्स ने मार्क्सवादी समाजवाद के दर्शन का विकास किया और हीगल के राष्ट्रीय-राज्य के सिद्धान्त के आधार पर मुसोलिनी ने फासीवादी दर्शन को विकसित किया। हीगल के प्रभाव को इंगित करते हुए प्रो. सेबाइन ने लिखा है कि—

"हीगल के चिन्तन के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त में जिन विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनमें से तीन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विकास की सीधी रेखा असंदिग्ध रूप में हीगल से मार्क्स और बाद के साम्यवादी सिद्धान्त की थी। यही द्वन्द्वात्मक पद्धति को जोड़ने वाली कड़ी थी। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को हीगल के दर्शन की युगान्तरकारी खोज कहा था। मार्क्स हीगल के राष्ट्रवाद और राज्य के आदर्शीकरण को केवल ऐसी 'रहस्यात्मकता' मानता था जिसने द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपने आध्यात्मिक आदर्शवाद से अनुप्राणित किया था। मार्क्स का विचार था कि वह

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 626.
2 बेपर : वही, पृष्ठ 191

ऐतिहासिक भौतिकवाद का रूप देकर और उसके आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या कर सामाजिक विकास को वैज्ञानिक तरीके से व्याख्या करने का यत्न किया है। नागरिक समाज राज्य से पृथक् एक संगठन है, मार्क्स यह विचार और हीगल से ग्रहण कर सकता था। दूसरे, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आदर्शवादियों ने इंग्लैण्ड के उदारवाद में जो संशोधन किया था, उसमें भी हीगल की विचारधारा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व थी। यहाँ इंग्लैण्ड पर हीगल का कोई विशेष महत्त्व नहीं था वरन् यहाँ हीगल की [illegible] और व्यक्तिवाद की [illegible] का समन्वयपूर्ण प्रभाव था। औद्योगिक उन्नति ने इस प्रश्न को आवश्यक बना दिया था। हीगल के राजनीतिक सिद्धान्त का उदारवाद-विरोधी स्वर ब्रिटिश राजनीति की आवश्यकताओं से इतना दूर था कि उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। अन्त में इटली में फासिज्म ने अपने दार्शनिक पक्षों में हीगलवाद से दार्शनिक आधार ग्रहण किया यद्यपि फासिज्म ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए हीगल के कुछ सिद्धान्तों का अपने अनुकूल अर्थ कर दिया था।"[1]

हीगल का [illegible] किया है और उसमें [illegible] के सामान्यीकरण और निष्कर्षों के समन्वय का विशद् प्रयत्न किया गया है। हीगल ने बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक के रूप में बहुत ख्याति अर्जित की थी। 19वीं शताब्दी में हीगल का नाम तत्कालीन विश्व-विद्यालयों में उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गया जिस प्रकार अरस्तू (Aristotle) तथा सन्त टामस एक्वीनास (St Thomas Aquinas) के नाम उनके समय में प्रसिद्ध हो गए थे। हीगल ने अरस्तू और एक्वीनास के समान सम्पूर्ण ज्ञान का विश्लेषण करने की चेष्टा की और मौलिक नियमों की खोज की। वह बौद्धिक जगत के प्रतिभा के सम्राट् का प्रतिरूप बना रहा था और उसके शिष्यों ने जो विचार व्यक्त किए और जिस ज्ञान को मान्यता दी उन बिस्मार्क ने क्रियान्वित किया।[2]

हीगल के सिद्धान्तों का न केवल बिस्मार्क की नीति पर ही प्रभाव पड़ा, बल्कि ट्रीटस्के (Treitske) तथा ड्रॉयसन (Droysen) जैसे महान् इतिहासकार भी उसके विचार-दर्शन से प्रभावित हुए, यद्यपि इतिहास की व्याख्या में वे उससे सहमत नहीं थे। विधि और विधिशास्त्र के लेखक भी हीगल से प्रभावित हुए थे। बर्लिन विश्वविद्यालय में हीगल के साथी और विधिशास्त्र की ऐतिहासिक प्रणाली के प्रवर्तक सेविग्नी (Savigny) ने अपने अनेक विचार हीगल के राज्य-सिद्धान्त से ही ग्रहण किए थे। उसके ग्रन्थों का अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। उसने जिस विचार-पद्धति को अपनाया, वह उसी के नाम से 'हीगलवादी विचारधारा' कहलाई। ग्रीन, बोसांके, ब्रैडले उससे बहुत प्रभावित थे। इटली तथा यूरोप के अन्य देशों में भी हीगल का प्रभाव पड़ा था। इतना ही नहीं, महाद्वीप के बाहर भी अनेक देशों ने उसकी महत्ता को स्वीकार किया।

यह सच है कि हीगल का दर्शन अनेक बातों में जर्मनी के द्वितीय साम्राज्य की अवस्था का आश्चर्यजनक रूप से यथातथ्य चित्रण था तथापि अकेले जर्मनी के सन्दर्भ में हीगल के राजदर्शन पर विचार करना उसके महत्त्व को कम करके आँकना होगा। हीगल का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उसके दर्शन में न केवल आधुनिक चिन्तन पूरी तरह ओतप्रोत था, अपितु वह आधुनिक चिन्तन का समाकलन भी था और समिद्धि भी। सेबाइन के अनुसार, "हीगल के चिन्तन को यद्यपि स्वच्छन्द कल्पना कहकर तिरस्कृत कर देना बहुत आसान है, तथापि वह एक ऐसा बीज था जिसने आगे चलकर 19वीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया अच्छे रूप में भी और बुरे रूप में भी। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि हीगल की उन्मेषकारी सार्वभौम शक्ति जिसे उसने ज्ञान-युग के दार्शनिकों की भाँति विवेक का नाम दिया था, व्यक्तियों में नहीं प्रत्युत् सामाजिक समुदायों, राष्ट्रों, राष्ट्रीय संस्कृतियों और संस्थाओं में व्यक्त होती है। यदि हीगल के 'विश्वात्मा' शब्द के स्थान पर

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 627.
2 *McGovern* : From Luther to Hitler, p. 205.

'उत्पादन की शक्तियाँ' शब्दो का प्रयोग किया जाए तो परिणाम वही निकलेगा। दोनो ही अवस्थाओ में समाज शक्तियो का समुदाय नही रहता, बल्कि वह शक्तियो की एक व्यवस्था हो जाता है। उसका इतिहास उन सस्थाओ के विकास का इतिहास बन जाता है जो सामूहिक रूप से समुदाय की सस्थाएँ होती हैं। ये शक्तियाँ और सस्थाएँ अपने स्वरूप मे निहित प्रवृत्तियो का अनुसरण करती है। विधियो, आचारों, सविधानो, दर्शन और धर्मों का सस्थागत इतिहास सामाजिक शास्त्रो के अध्ययन का एक प्रमुख और स्थायी अग बन गया। इन सामाजिक शक्तियो के कार्य और विकास के लिए व्यक्ति के नैतिक निर्णय और व्यक्तिगत रुचियाँ बिल्कुल असम्बद्ध हो गई क्योकि समाज मे वास्तविक साधन शक्तियाँ हैं जो अपने आप मे ही सार्थक हैं क्योकि उनका मार्ग निश्चित होता है। इस तरह के विचार, जिनमे एक सच्चाई भी थी और अतिशयोक्ति भी, उन्नीसवी शताब्दी के सामाजिक दर्शन पर पूरी तरह छा गए। उन्होने राजनीति के अध्ययन को समृद्ध भी बनाया और दरिद्र भी। जब विधिवाद तथा व्यक्तिवाद के स्थान पर सस्थाओ का ऐतिहासिक अध्ययन आरम्भ हुआ तथा शासन और मनोविज्ञान मे निहित सामाजिक एव आर्थिक तत्वो का अधिक ठोस अध्ययन होने लगा, तो राजनीति समृद्ध होकर कही अधिक यथार्थपरक हो गई।"[1]

"हीगल की अपनी समकालीन राजनीतिक वास्तविकताओ मे असाधारण अन्तर्दृष्टि थी। उसने उस समय जीवन-संघर्ष मे उलझे हुए औद्योगिक और वैज्ञानिक राज्य के भावी उद्भव का पहले ही अनुमान लगा लिया था। हीगल का उद्देश्य जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग मे आने वाली बौद्धिक बाधाओ का निराकरण करना था, लेकिन उसने इससे भी अधिक प्रभावकारी कार्य किया। उसने ऐसे दर्शन अथवा सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा राष्ट्रवाद जर्मनी मे ही नही बल्कि प्रत्येक दूसरे देश मे भी धार्मिक स्तर तक पहुँच गया। उसके विचारो ने महान् शक्तिशाली राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया और यह उसके दर्शन का बहुत बडा महत्त्व है।"[2]

निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है कि हीगल का सिद्धान्त नि सन्देह अत्यन्त उच्च है और अधिकतर आलोचनाएँ उसे ठीक तरह न समझने के कारण हुई हैं। उसका सिद्धान्त इतना उच्च है कि सबकी बुद्धि वहाँ तक नही पहुँच पाती। उसमे व्यावहारिकता की अतिशय कमी है और वह इतना क्लिष्ट एव गूढ है कि जनसाधारण के लिए उसे समझना असम्भव-सा बन गया। हीगल आदर्शवाद के प्रसार से स्वय को कल्पनावाद की चरम सीमा मे भुला बैठा है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 626

2 *Maxey*. Political Philosophies, p. 593–94.

30

टॉमस हिल ग्रीन

(Thomas Hill Green, 1836–1882)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)—जर्मन आदर्शवाद पर पिछले दो अध्यायो मे विचार किया जा चुका है। आदर्शवाद वास्तव मे राजनीति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो राज्य के नैतिक आधारो का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन की उपयोगिता के साथ समन्वय करता है। इसमे एक ओर बढते हुए व्यक्तिवाद के विरुद्ध जो चरम स्वार्थ का पर्याय माना जाता है, और दूसरी ओर शुष्क उपयोगितावाद के विरुद्ध जो स्थूल सुखवाद या निकृष्ट भौतिकता का प्रतीक है, प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

जर्मन आदर्शवादी दर्शनशास्त्र का उदय 18वी शताब्दी के प्रकृतिवादी बुद्धिवाद के सामान्य खण्डन के रूप मे हुआ था। अग्रेजी आदर्शवाद का उदय भी 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अंग्रेजी कृतियो मे प्रचलित आर्थिक व्यक्तिवाद तथा अनुभवपरक उपयोगितावाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ जो राज्य को एक ऐसी सस्था मानता है जिसकी सच्ची प्रकृति का ज्ञान हमे वास्तविक राजनीतिक सस्थाओ के पर्यवेक्षण द्वारा न होकर राजनीतिक विचारो के अमूर्त विश्लेषण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।[1]

19वी शताब्दी की अग्रेजी आदर्शवादी विचारधारा अथवा इग्लैण्ड के आदर्शवादी दर्शन का प्रतिपादन मुख्य रूप से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापको और छात्रो द्वारा हुआ। इसीलिए इग्लैण्ड की आदर्शवादी विचारधारा को ऑक्सफोर्ड-दर्शन भी कहा जाता है। विश्वविद्यालय के अध्यापको और स्वतन्त्र दार्शनिको ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिए किया कि वे उपयोगितावादी अतिशय वैयक्तिकता, नास्तिकता और अनास्था, आर्थिक अराजकता, दमनकारी कानून, सावन के सम्बन्ध मे अवसरवादिता आदि परिणामो से तग आ चुके थे। वे एक नई व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा करना चाहते थे। वे सामाजिक अनुबन्ध या समझौते के सिद्धान्त का भी विरोध करते थे क्योकि उसमे कृत्रिमता और अस्वाभाविकता थी।

अग्रेजी आदर्शवादी दर्शन को प्राचीन यूनानी दर्शन और जर्मनी के अभिनव आदर्शवाद से अत्यधिक प्रेरणा मिली। जब से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे प्लेटो और अरस्तू की पुस्तको का पठन-पाठन आरम्भ हुआ, तभी से वहाँ आदर्शवाद के विचारो का उदय होने लगा। यूनानी दार्शनिको के इस विचार का कि "मनुष्य स्वभावत राजनीतिक समुदाय का सदस्य है और राज्य एक ऐसा अवयवी सस्थान है जिसमे इच्छा-शक्ति विद्यमान है और जिसका अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन की प्रगति के लिए है" इग्लैण्ड के दार्शनिको पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होने इन्ही विचारो को अपने सिद्धान्त का मूलभूत आधार बनाया।

1 कोकर; आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 410.

ऑक्सफोर्ड में आदर्शवादी दर्शन व्यवस्थित विकास के पूर्व ही कॉलरिज और कार्लाइल द्वारा इंग्लैण्ड की विचारधारा पर जर्मन आदर्शवादी दर्शन का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। आदर्शवादी अंग्रेज विचारकों ने बाद में विस्तारपूर्वक जर्मन आदर्शवादी दर्शन का अध्ययन किया। प्राचीन यूनानी सिद्धान्त में राज्य को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन माना गया था और उसका नैतिक महत्त्व उसके आर्थिक, कानूनी और राजनीतिक पक्षों की तुलना में बहुत अधिक दर्शाया गया था। इस सिद्धान्त ने 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जर्मन दर्शनशास्त्र का पुनरुद्धार किया और ऑक्सफोर्ड के दार्शनिकों की शब्दावली, पद्धति और उनके विचारों में जर्मन दार्शनिक कॉण्ट और हीगल के प्रभाव की स्पष्ट छाप दिखाई दी। जर्मन आदर्शवादी सिद्धान्त में कुछ संशोधन द्वारा उसे अपने अनुकूल बनाकर अंग्रेज आदर्शवादियों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। जर्मन आदर्शवादी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र में विश्वास करते थे, लेकिन अंग्रेजी आदर्शवाद में वैधानिक राजतन्त्र पर बल दिया गया। जर्मन आदर्शवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवहेलना की थी, किन्तु अंग्रेजी आदर्शवाद में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा गया और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन मान्य ठहराया गया। 16वीं शताब्दी की इंग्लैण्ड की आर्थिक दशा और भौतिकवादी सभ्यता ने भी वहाँ के आदर्शवाद को काफी प्रभावित किया।

इन सब प्रभावों के फलस्वरूप ऑक्सफोर्ड के आदर्शवाद का सूत्रपात हुआ। उससे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक सुधार, उदारवाद, राष्ट्रीयता, विधि-प्रियता, संवैधानिक मर्यादा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि के नूतन युग का प्रादुर्भाव हुआ जिनके प्रकाश में वहाँ की न्यायप्रिय जनता ने अपने जनतान्त्रिक स्वरूप की न केवल रक्षा की बल्कि उसे और आगे बढ़ाया।

प्लेटो और अरस्तू के राजदर्शन, कॉण्ट और हीगल के दर्शन तथा सामाजिक अनुबन्ध के विचारकों के दर्शन से इंग्लैण्ड में जो आदर्शवादी विचारधारा अनुप्राणित हुई, उसके दार्शनिकों की परम्परा में सबसे पहला नाम टॉमस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) का लिया जाता है। ब्रैडले (F. H. Bradley) तथा बोसांके (Bosanquet) उसके अनुयायी थे। आधुनिक युग में इस परम्परा का प्रतिनिधित्व ए. डी. लिण्डसे (A. D Lindsey), अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) आदि ने किया। ग्रीन का दर्शन अभिनव व्यक्तिवाद या नवीन आदर्शवाद के नाम से विख्यात है।

टॉमस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green, 1836–1882)

संक्षिप्त जीवन-परिचय

ब्रिटेन के आदर्शवादी दार्शनिक टॉमस हिल ग्रीन का जन्म यॉर्कशायर (Yorkshire) के एक मध्यवर्गीय पादरी परिवार में हुआ और सन् 1882 ई. में केवल 46 वर्ष की अल्पायु में ही वह इस संसार से चल बसा। 14 वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर पर ही विद्योपार्जन किया। तत्पश्चात् पाँच वर्ष उसने रग्बी (Rugby) में व्यतीत किए। सन् 1855 में ग्रीन ऑक्सफोर्ड के बेलियोल कॉलेज में भर्ती हो गया जहाँ वह महान् बेंजामिन जोवेट (Benjamin Jowett) के सम्पर्क में आया। इस महान् विद्वान् के प्रभाव से ग्रीन को बौद्धिक क्षेत्र में पदार्पण करने की प्रेरणा मिली। बेलियोल में ग्रीन सन् 1860 में फैलो (Fellow) निर्वाचित हुआ और सन् 1866 में ट्यूटर (Tutor) नियुक्त हुआ। इस पद पर उसने सन् 1878 तक कार्य किया। तत्पश्चात् ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पद (Whyte Professor of Moral Philosophy) पर उसकी नियुक्ति हुई। इस पद पर वह मृत्युपर्यन्त रहा। सन् 1871 में ग्रीन ने प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि जॉन ऐडिंग्टन सायमण्ड्स (John Addington Symonds) की बहन कुमारी शार्लट सायमण्ड्स (Miss Charlotte Symonds) के साथ विवाह किया। अध्यापन-कार्य में ग्रीन ने अत्यन्त ख्याति अर्जित की। उसने इतिहास, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विषयों का सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य किया।

एक प्रोफेसर का जीवन सामान्यतः सैद्धान्तिक एवं बौद्धिक जटिलताओं से आक्रान्त रहने के कारण एकांगी होता है, किन्तु ग्रीन इसका अपवाद था। विश्वविद्यालय के स्वस्थ एवं स्वतन्त्र वातावरण में ग्रीन ने सार्वजनिक कार्यों का श्रीगणेश किया और व्यावहारिक राजनीति के कार्यों में सक्रिय भाग लिया। वह अनेक वर्ष तक ऑक्सफोर्ड टाउन-कौंसिल का सदस्य रहा। वह स्वयं संसद के लिए चुनाव में खड़ा नहीं हुआ, किन्तु उदार दल (Liberal Party) का एक प्रभावशाली सदस्य रहा। उसने दल के निर्वाचन सम्बन्धी प्रचार-कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया और दल को विजयी बनाने के लिए अनेक प्रभावशाली भाषण दिए। वह कई महत्त्वपूर्ण आयोगों का सदस्य भी रहा। सन् 1876 ई. में ग्रीन को 'ऑक्सफोर्ड बैण्ड ऑफ टेम्परांस यूनियन' (Oxford Band of Temperance Union) के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

ग्रीन अपने विचारों द्वारा अपने समय की राजनीति और राजनीतिक विचारधारा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका, पर उसकी मृत्यु के बाद यूरोप में विशेष रूप से ब्रिटेन में, स्पष्टतः उसका प्रभाव विस्तृत होने लगा। वर्तमान काल के अनेक विचारक भी ग्रीन के दर्शन से प्रभावित हैं।

रचनाएँ (Works)

कोकर के अनुसार, "ग्रीन ऐसा दार्शनिक था जिसने अपने लेखों, ग्रन्थों और व्याख्यानों द्वारा उस समाज की, जिसमें वह रहता था, निकटस्थ नैतिक तथा राजनीतिक समस्याओं में अगाध अभिरुचि प्रदर्शित की और अस्वस्थता तथा वक्तृत्वशक्ति की सीमितता के कारण जहाँ तक सम्भव हो सका, उसने अनेक रूपों में अपने उस लक्ष्य के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की, जिसने उसके राजनीतिक तथा नैतिक सिद्धान्त का निर्धारण किया, अर्थात् उन समस्त बाधाओं का निवारण किया जिन्हें अंग्रेज नागरिक के स्वतन्त्र विकास के मार्ग से कानून हटा सकता है।"[1] ग्रीन के व्याख्यानों को मरणोपरान्त प्रकाशित किया गया। ग्रीन ने कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी जिससे उसकी विचारधारा का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त हो सके। उसने समय-समय पर जो अनेक भाषण दिए उन्हीं का संग्रह तीन ग्रन्थों में किया गया। कुछ पुस्तकें भी उसने लिखी जिनमें महत्त्वपूर्ण हैं—

(1) राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्तों पर भाषण (Lectures on the Principles of Political Obligation, 1882)

(2) आचार शास्त्र की भूमिका (Prolegomena to Ethics, 1883) (मृत्यु के बाद प्रकाशित)

(3) उदार व्यवस्थापन और अनुबन्धीय स्वतन्त्रता पर भाषण (Lectures on Liberal Legislation and Freedom of Contract)

(4) अंग्रेजी क्रान्ति पर भाषण (Lectures on the English Revolution)

(5) ह्यूम पर प्रतिबन्ध (Hume's Treatise, 1874)

ग्रीन के राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्त (Principles of Political Obligation) के व्याख्यानों का उद्देश्य था राज्य, समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए जन-स्वीकृति के सिद्धान्त का समर्थन करना। दूसरे ग्रन्थ उदार व्यवस्थापन और अनुबन्धीय स्वतन्त्रता (Liberal Legislation and Freedom of Contract) में उन व्याख्यानों का समावेश है जो ग्रीन द्वारा सन् 1881 में दिए गए और जो उदारवादी परम्परा के अनुरूप अनुबन्ध की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। इस ग्रन्थ में यह प्रश्न उठाया गया कि वर्तमान युग में विधि-निर्माण-प्रक्रिया से कहाँ तक अनुबन्धों की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। अपने तीसरे ग्रन्थ आचार शास्त्र की भूमिका (Prolegomena to Ethics) में, जिसका प्रकाशन सन् 1883 में हुआ था, ग्रीन ने आचारशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या की है।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 442.

जनता से आज्ञापालन कराने की शक्ति प्राप्त है, पर साथ ही वह रूसो के उन विचारों का खण्डन करता है जो निरंकुश राज्य की स्थापना की ओर संकेत करते हैं।

3 जर्मन आदर्शवाद—तृतीय स्रोत, जिससे ग्रीन ने प्रेरणा ग्रहण की है, जर्मन आदर्शवाद है जिसका प्रतिनिधित्व कांट, फिक्टे और हीगल करते हैं। विशुद्ध आध्यात्मशास्त्रीय क्षेत्र (The purely metaphysical field) में ग्रीन ने फिक्टे और हीगल की विचारधारा को स्वीकार किया है, किन्तु आचारशास्त्रीय और राजनीतिक क्षेत्रों (The Ethical and Political Fields) में ग्रीन का मुख्य प्रेरणास्रोत काण्ट ही उसके विचार-दर्शन का आरम्भ बिन्दु है। कांट की भांति ग्रीन का विश्वास है कि स्वेच्छा ही एक मात्र भलाई है। व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विवेचन में भी ग्रीन हीगल की अपेक्षा कांट के अधिक निकट है। प्रतिनिधि शासन के महत्त्व, संविधान में राजा का स्थान, तर्कयुक्त संगति (The rational of punishment) आदि पर वह कांट और हीगल से भिन्न है लेकिन राज्य के गौरव की नैतिक महत्ता पर बल देकर वह हीगल का अनुसरण करता है। ग्रीन के दर्शन को निश्चितता प्रदान करने में हीगल का निर्णायक हाथ रहा है। उसने हीगल के इस विचार को भी स्वीकार किया है कि राज्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, पर ऐसा करते समय उसने कुछ सीमायें लगाई हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में उसने हीगल के दर्शन को अपनाया है, लेकिन हीगल के द्वन्द्ववाद को मान्यता नहीं दी है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ग्रीन यद्यपि कांटवादी है, पर उसने कांट को हीगलवादी ऐनक से देखा है।

ग्रीन में हीगलवाद (The Hegelian Green) की स्पष्ट और मार्मिक व्याख्या करते हुए वेपर (Wayper) का कथन है कि—

"ग्रीन की रचनायें हीगलवाद से ओतप्रोत हैं। ग्रीन हीगल की दैवी आत्मा अथवा तर्क के अस्तित्व में पूर्णरूपेण विश्वास करता था, अतः हीगल की भांति ग्रीन के लिए भी इतिहास एक निरन्तर विकासशील प्रक्रिया है जो 'अनन्त चेतना' को जन्म देती है। हीगल की भांति उसने भी कहा है कि सभी समुदाय, संस्थायें तथा संगठन दैवी-आत्मा के ही साकार रूप हैं। वह हीगल के इस विचार को भी स्वीकार करता है कि दैवी-आत्मा का प्रत्येक नवीन अवतार पहले अवतार की अपेक्षा अधिक पूर्ण था तथा विकास-मार्ग पर दैवी-आत्मा द्वारा उठाया गया प्रत्येक पग पहले से अधिक वास्तविक था। समिति परिवार से अधिक वास्तविक थी। परन्तु राज्य समिति से भी अधिक वास्तविक है। उसने यह भी स्वीकार किया कि मनुष्य आंशिक रूप में इस दैवी आत्मा का ही अवतार है। ग्रीन के मतानुसार राज्य के अभाव में मानव वास्तविक मानव नहीं बन सकता। केवल राज्य में ही वह स्वयं को पूरी तरह व्यक्त कर सकता है तथा अपनी प्रकृति का पूर्ण विकास करने में समर्थ हो सकता है। अतः वह राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर अच्छाई मानता है। उसके लिए राज्य राक्षस का जाल नहीं, वरन् देवता द्वारा दी गई मुक्ति है। हीगल के विचार को ही वह अपने शब्दों में पुनः व्यक्त करते हुए कहता है कि मनुष्य का राजनीतिक जीवन दैवी विचार का प्रतिरूप है।"

ग्रीन अथवा हीगल दोनों ही राज्य की श्रेष्ठता तथा शक्ति को स्वीकार करते हैं। ग्रीन के अनुसार केवल राज्य ही वास्तविक अधिकारों का स्रोत है। राज्य से बाहर "आदर्श अधिकारों का ही चिन्तन किया जा सकता है, परन्तु राज्य में समाविष्ट होकर वे अधिकार बन जाते हैं।" हीगल की भांति, ग्रीन का राज्य भी समुदायों का समुदाय है तथा सभी समुदायों में सर्वोच्च है। हीगल की भांति स्वतन्त्रता की समस्या से ग्रीन भी अत्यधिक सम्बन्धित है। उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार हीगल के विचारों के समान ही हैं। दोनों के अनुसार मनुष्य तभी अत्यधिक स्वतन्त्र होता है जब वह दैवी-आत्मा से तादात्म्य स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य तभी स्वतन्त्र होता है जब वह वास्तविक कल्याण पथ का अनुगमन करता है। वास्तविक कल्याण समाज-कल्याण है, अतः इसकी सिद्धि तभी हो सकती है जब दूसरों के कल्याण

को ध्यान मे रखा जाए। इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार स्वतंत्रता एक सकारात्मक शक्ति है और समाज कल्याण के लिए मनुष्यो की सभी शक्तियो की मुक्ति है।[1] परन्तु केवल दैवी-आत्मा के कारण ही मनुष्य समाज-कल्याण का अनुगमन करने में समर्थ है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की दैवी-आत्मा से तादात्म्य स्थापित करती है। चूंकि ग्रीन यह मानता है कि दैवी-आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति राज्य में ही होती है, अतः यह स्पष्ट है कि वह हीगलवाद के इस सिद्धान्त से प्रभावित है कि "वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य मे ही प्राप्त होती है।"

ग्रीन के समाज को महत्त्व देने वाले विचार भी हीगल से मिलते-जुलते हैं। उसने लिखा है कि "समाज के बिना मनुष्य नही। हीगल की भाँति उसका भी विश्वास है कि प्रत्येक समाज का अपना-अपना नैतिक स्तर होता है।" एक चीनी के लिए जो कार्य नैतिक है, वही एक अंग्रेज के लिए अनैतिक हो सकता है। अतः यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि ग्रीन के समाज सम्बन्धी विचारो में निश्चय ही हीगल के रहस्यवाद की गूंज है। ग्रीन अपने इतिहास, मानव-समाज तथा राज्य सम्बन्धी विचारों मे हीगल से ही पूर्णतया प्रभावित नहीं है वरन् उसके हीगलवाद मे ऐरिस्टाटिलवाद ओत-प्रोत है।[1]

4. **परम्परा विरोधियो के विचार**—ग्रीन के राजनीतिक दर्शन का चौथा और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत परम्परा-विरोधियो (Non-conformists) के विचार है। यदि हीगल ने ग्रीन के दार्शनिक आदर्शवाद (Philosophical Idealism) को और कॉण्ट ने उसके नैतिक (Ethical Thought) को आधार प्रदान किया है तो परम्परा-विरोधियों ने उसके राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला है। 'स्वतन्त्रता' (Freedom) तथा 'नैतिकता' (Morality), इन दो शब्दो के लिए ग्रीन के हृदय मे प्रेम परम्परावादियो ने ही जाग्रत किया था। ये लोग अपने चर्चों को स्वतन्त्र चर्च (The Free Churches) कहते थे और इस प्रकार मानते थे कि आध्यात्मिक एवं राजनीतिक जीवन में स्वतन्त्रता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चीज है। परम्परावादियो ने शासन से यह माँग की थी कि शराब, जुआ घुड़-दौड आदि व्यसनो पर रोक लगाई जानी चाहिए। पक्का परम्परावादी होने और नैतिकता को बहुत महत्त्व देने के कारण ग्रीन चाहता था कि राज्य को उन संस्थाओ और दशाओं को समाप्त कर देना चाहिए जो अनैतिकता को बढ़ावा देती हैं। उसका कहना था कि राज्य चाहे किसी व्यक्ति पर नैतिकता लाद न सके, किन्तु वह उन दशाओ को मिटा सकता है जो व्यक्तियो को अनैतिक बनने के लिए आकर्षित करती हैं। परम्परावादी भू-सम्पत्ति पर विश्वास नही करते थे पर व्यक्तिगत पूंजी एकत्र करने के भी विरोधी नहीं थे। ग्रीन ने भी भू-सम्पत्ति का विरोध किया यद्यपि उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति प्राप्त करने के सिद्धान्त को भी मान्यता दी है।

5 ग्रीन पर बर्क, कॉलरिज, ऑक्सफोर्ड के बौद्धिक आन्दोलन, टायमैन, मैकियावली आदि का भी प्रभाव था।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त
(Green's Metaphysical Theory)

ग्रीन के आध्यात्मिक विचारो पर कॉण्ट की स्पष्ट छाप है। उसके इस सिद्धान्त का प्रारम्भ-बिन्दु ही कॉण्ट का यह विश्वास था कि विशुद्ध बुद्धि (Pure reason) एवं यदाकदा आत्मानुभूति (Occasional flashes of intuition) द्वारा अन्तिम अथवा चरम सत्य (Ultimate truth) को जाना जा सकता है। अनुभव प्रधान अथवा आगमनात्मक पद्धति (Empirical or Inductive Method) द्वारा इस सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। ग्रीन ह्यूम के अनुभववादी (Empirical) और स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त (Spencerian Evolutionary Approach) का विरोधी है। ग्रीन मनुष्य को

1 *Wayper*: Op. cit (Hindi ed) p 194.
2 *Mc Govern*: From Luther to Hitler, p. 158-59.

भौतिक प्रकृति (Physical Nature) का एक अंश मानकर तथा उसकी अन्य क्रियाओं को केवल प्राकृतिक घटनाएँ (Natural Phenomena) मानकर उसके विश्व (जिसका वह एक अंश है) के वास्तविक स्वरूप (True Nature) को नहीं जान सकते। वह आधारभूत बिन्दु जिससे ग्रीन मानव-स्वभाव का विश्लेषण आरम्भ करता है, मनुष्य की आत्म-चेतना (Self-consciousness) है। मनुष्य में आत्म-चेतना विद्यमान है जबकि निम्नकोटि के प्राणियों में केवल 'चेतना' (Consciousness) ही होती है। मनुष्य में विचार-शक्ति होती है। वह सोचने और अनुभव करने के समय यह बात जानता है कि वह कुछ सोच रहा है और अनुभव कर रहा है। निम्न कोटि के प्राणी जिनमें केवल चेतना होती है, दुःख, सुख, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि का अनुभव तो करते हैं और उन पर इन बाहरी बातों की प्रतिक्रिया भी होती है, लेकिन इस तथ्य से वे अपरिचित ही रहते हैं कि वे सुखी हैं अथवा दुःखी। उन्हें अपने सुख, दुःख, भूख आदि का विचारात्मक ज्ञान नहीं होता। इस सृष्टि में आत्म चेतना प्राप्त करने का गौरव केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। हमारी मानव आत्मा इसी गुण की सहायता से दूसरों के अनुभवों और विचारों को अपने अनुभवों और विचारों से संयुक्त करती है। "आत्म-चेतना में यह बात निहित है कि मानव-अनुभव में एक आत्मा होती है जिसे चेतना की क्षणिक स्थितियों से एकाकार नहीं किया जा सकता। यह वह केन्द्र है जो चेतना की प्रत्येक स्थिति का आधार है। मैं सोचता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मैं निर्णय करता हूँ, आदि वाक्यों में 'मैं' का अभिप्राय इसी केन्द्र से होता है। यही वह तत्त्व है जो सोचता है, अनुभव करता है निर्णय करता है और इन सब में विद्यमान रहते हुए इन सबको एक इकाई के रूप में एकीकृत करता है। इस 'मैं' की संश्लेषणात्मक क्रिया (Synthesising Activity) के अभाव में किसी भी वस्तु का एक एकीकृत सम्पूर्ण इकाई (A Unified Whole) के रूप में, जिसका कि ज्ञान-आत्मा तथा ज्ञात-जगत् (The Knowing self and the Known world) की अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है, कोई ज्ञान नहीं हो सकता है। हमारे अनुभवों को एक-दूसरे में आत्मसात् कर संगठित करने का श्रेय आत्मा को ही है। जिस प्रकार एक धागे में अनेक गुरियाँ पिरोयी होती हैं उसी प्रकार आत्मा में भी अनेक अनुभव होते हैं। इस संश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Synthesising Principle) को ग्रीन आध्यात्मिक (Spiritual) बतलाता है क्योंकि यह सम्बन्ध हमारे विचारों को पारस्परिक सम्बन्धों से जोड़ देता है।" इससे स्पष्ट है कि अनुभवकर्ता के रूप में ग्रीन की आत्मा की कल्पना कॉण्ट की ज्ञानमय आत्मा की धारणा से मूलत भिन्न नहीं है।

हीगल तथा फिक्टे की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि संसार और आत्मा में एक ही तत्त्व व्याप्त है। यह तत्त्व बुद्धिगम्य होता है। इस बुद्धिगम्यता के कारण ही ज्ञान हो पाता है। यदि संसार की कोई वस्तु बुद्धिगम्य नहीं होगी तो उसे नहीं जाना जा सकता। इसलिए ग्रीन मानता है कि संसार की सभी वस्तुयें तथा आत्मा बुद्धिगम्य होती है अथवा दूसरे शब्दों में हमारे चारों ओर का ब्रह्माण्ड (The cosmos or the real universe around us) एक बुद्धिगम्य (Intelligible) अथवा आदर्श तथ्य (Ideal Reality) है, इसीलिए इसका स्वरूप (Nature) आध्यात्मिक (Spiritual) होना चाहिए। ब्रह्माण्ड का ज्ञान बुद्धि द्वारा हो सकता है। मनुष्य विशेष का मस्तिष्क इस कार्य में समर्थ नहीं है, लेकिन जिस परम बुद्धि ने संसार की वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है, वह मानव-बुद्धि के अनुरूप होती है। तभी तो हम वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ पाने में समर्थ होते हैं।

इस परम विवेक या बुद्धि (The Supreme Intelligence) को ही जिसके द्वारा सांसारिक वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित होता है, परमात्मा का नाम दिया जाता है। ग्रीन ने इसे शाश्वत् चेतना (Eternal Consciousness) की संज्ञा दी है। चूँकि यह ब्रह्माण्ड की सत्ता है और इसको जाना जा सकता है, इसीलिए यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त और इसकी चेतना सबमें विद्यमान रहती है। एकता और व्यवस्था स्थापित करने वाला यह एक क्रमबद्ध सिद्धान्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु इसी शाश्वत् चेतना की ओर बढ़ने का प्रयास करती है। इस विषय में मेज (Metz) ने लिखा है—

"यह वह क्रमवद्ध सिद्धान्त है जो एकता और व्यवस्था स्थापित करता है, यह वह सम्पूर्णता है जिसमे प्रत्येक भाग को अपना युक्तियुक्त स्थान प्राप्त होता है। यह सार्वभौम अथवा विश्वव्यापी है जिसकी ओर बढने का प्रत्येक विशिष्ट वस्तु प्रयास करती है, जिसकी उसे स्वय को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यकता है और जिसके अभाव मे वह कुछ नही है। यह एक ऐसी दैविक सत्ता है जिसमे प्रत्येक वस्तु का निवास तथा अपनी सत्ता है।"[1]

ग्रीन की आत्म-चेतना का कॉण्ट के आत्म-ज्ञान से पर्याप्त साम्य है तो उसकी शाश्वत् चेतना हीगल के परम विवेक (Absolute Reasons or Ideal) से मेल खाती है। हीगल के समान ग्रीन का विश्वास विवेक और आदर्श मे ही है। हीगल के इस मत से भी ग्रीन सहमत है कि विश्व मे समस्त समुदायो और सस्थाओ मे आत्मा की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रीन के अनुसार ससार मे तीन तत्त्वो की महत्ता है, मनुष्य तत्त्व या मानव-आत्मा (The Human Self); जगत्-तत्त्व (The World) और परम तत्त्व (The God)। इन तीनो तत्त्वो से मिलकर एक इकाई बनती है। इनका सम्बन्ध यौगिक न होकर सावयविक होता है, वल्कि इससे भी वढकर होता है। इसको स्पष्ट करते हुए मेज (Metz) का कथन है कि—

"वैयक्तिक अन्तरात्मा को सार्वभौमिक अन्तरात्मा का माध्यम बनाया गया है और वह इसके विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान करती है, पर यह योगदान किस प्रकार का होना है (अर्थात् दोनो के बीच मे यह सम्पर्क कैसे स्थापित होता है) इस बारे मे हमे केवल इतना ही ज्ञात है कि प्रत्येक शरीर के अन्तर्गत शाश्वत् अन्तरात्मा या चेतना विद्यमान रहती है।"

ग्रीन का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य मे शाश्वत् चेतना का निवास रहता है। यही विश्वास उसके राजनीतिक एव नैतिक विचारो का जन्मदाता है। मनुष्य की अपनी वुद्धि तथा चेतना भी होती है जो विश्व-चेतना के साथ मिलकर कार्य करती है। मनुष्य शाश्वत् चेतना मे विचरण करना और दैवी तत्त्वों का साक्षात्कार करना चाहता है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य का कल्याण केवल सुखदायी विचारधारा को अपनाने से ही नही होता। वह केवल सुख की कामना नही करता, बल्कि वह परम् सुख का इच्छुक होता है। वह नैतिक जीवन मे अनेक संघर्षों को पार करते हुए एक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और इस पूर्णता को प्राप्त करने की धुन में भौतिक सुख को भी भूल जाता है। मनुष्य यदि अपने जीवन को वास्तव मे सुखी बनाना चाहता है तो उसे पूर्णता की प्राप्ति का लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। स्पष्ट है कि ग्रीन सुखवाद (Hedonism) की धारणा का खण्डन कर नैतिकता का समर्थन करता है।

ग्रीन के अनुसार मनुष्य स्वतत्र शाश्वत् चेतना का अश है, अत स्वाभाविक रूप से वह भी स्वतंत्र है। शाश्वत् चेतना के कारण ही वह सामाजिक कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होता है। यह चेतना ही मानव-आत्मा मे परहित और सामाजिक कल्याण की भावना जागृत करती है। लेकिन मनुष्य का स्वयं के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है। मानव जीवन का एक लक्ष्य यह भी है कि वह अपना कल्याण करे। ग्रीन यह बतलाना चाहता है कि मनुष्य के अपने कल्याण मे समाज का कल्याण भी निहित है। यही धारणा ग्रीन और हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारो मे भिन्नता उत्पन्न करती है। ग्रीन के अनुसार राज्य साध्य (End) न होकर साधन (Means) है जबकि हीगल की दृष्टि मे राज्य स्वयं मे एक साध्य है। ग्रीन ने व्यक्ति के मूल्य को स्वीकार करते हुए राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास माना है। व्यक्ति को गौरवान्वित करने के कारण उसके विचार काण्ट और अरस्तू से मिलते हैं। ग्रीन मनुष्य का यह नैतिक कर्त्तव्य मानता है कि वह दूसरो के व्यक्तित्व को सम्मान दे अर्थात् स्वय के हित के लिए दूसरो के

1 *Metz* · A Hundred Years of British Philosophy, p. 276–77.

हितों पर कुठाराघात न करे। शाश्वत् चेतना का अंश होने के कारण उसे कभी अनैतिक कार्यों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। उसके निजी मूल्य की माँग है कि वह समता और भ्रातृत्व की भावना का अनुसरण करे। इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर ग्रीन ने राज्य के कार्यों को नकारात्मक रूप में स्वीकार किया है वह चाहता है कि राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर उसे उचित और श्रेष्ठ कार्यों के लिए अवसर प्रदान करे। राज्य कानूनों के बल पर मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता। उसका कार्य तो नैतिक जीवन के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करना है अर्थात् ऐसी अवस्थायें उत्पन्न करना है जिनके अन्तर्गत नागरिक अपने नैतिक विकास के लिए अग्रसर हो सकें।

ग्रीन के उपर्युक्त विचार का आशय राज्य को व्यक्ति के लिए अनावश्यक ठहराना नहीं है, प्रत्युत् वह तो राज्य को व्यक्ति के लिए आवश्यक मानता है क्योंकि उसके अभाव में व्यक्ति उच्च नैतिकता प्राप्त नहीं कर सकता। राज्य अन्य सभी संस्थाओं में श्रेष्ठतम है और नैतिक जीवनयापन के लिए समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में परम सहायक है। ग्रीन के ये विचार हीगल के समान हैं। लेकिन व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्व देने वाली उसकी धारणा अवश्य ही हीगल के विपरीत है। यह विचार इंग्लैण्ड के प्रभाव के कारण बन गया प्रतीत होता है। ग्रीन के नैतिक आदर्श के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि नैतिक आदर्श आत्मानुभूति का विषय होने पर भी सामाजिक होता है। उसकी यही धारणा आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र में समाविष्ट करती है।

(2) ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त
(Green's Theory of Freedom)

ग्रीन ने भी रूसो एवं काण्ट की भाँति अपने सम्पूर्ण व्यावहारिक दर्शन को 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' पर आधारित किया है। उसने स्वतन्त्रता को महानतम् वरदान माना है जिसकी प्राप्ति एवं अनुभूति ही नागरिकों के सम्पूर्ण प्रयत्नों का अन्तिम ध्येय होना चाहिए। ग्रीन के अनुसार मानव का चरम लक्ष्य परमात्मा में आत्म-दर्शन करना है। जब मनुष्य अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करते हैं तो वे परमात्म-चेतना की अवस्था में प्रवेश करते हैं और इस अवस्था में उनको यह बोध होता है कि हम सब समान स्वभाव वाले हैं, हमारी सबकी समान शुभेच्छायें हैं और सबका एक ही लक्ष्य है, परमात्मा में आत्मदर्शन। इस प्रकार मानव-चेतना अर्थात् आत्मा को सामाजिक कल्याण का बोध होता है जिसमें स्वयं उसका भी कल्याण निहित है। जब वह इस सामाजिक कल्याण की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसको आत्म-बोध हो जाता है। इस आत्म-बोध के निमित्त मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है (1) प्रथम, आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है अपनी मनोवृत्तियों को वश में रखना जो आचारशास्त्र का विषय है (2) द्वितीय, बाह्य स्वतन्त्रता जिसका अर्थ ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिनमें व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने वास्तविक हित के निमित्त क्रियाशील हो सकें। यह राज्य शास्त्र का विषय है। ग्रीन के मानव चेतना सम्बन्धी विचार नैतिक और आध्यात्मिक हैं। स्वतन्त्रता सिद्धान्त राजनीतिक होने के कारण हमारे अध्ययन का विषय है।

ग्रीन ने पूर्व की व्यवस्था कांण्ट और हीगल द्वारा की जा चुकी स्वतंत्रता थी। कॉण्ट ने स्वतन्त्रता को स्वय निर्मित सर्वमान्य कर्त्तव्यों का पालन बनाया था और कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा के सर्वमान्य आदेशों का पालन करते हुए स्वयं को साध्य बना लेना चाहिए। हीगल ने इस व्याख्या को नकारात्मक, सीमित और आत्मगत माना क्योंकि उसके अनुसार कर्त्तव्य का पालन किए बिना व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यह स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को अपने-आप में साध्य बनाने के कारण सीमित है, चेतना में निहित होने के कारण आत्मगत है। हीगल ने स्वतन्त्रता को सकारात्मक और बाह्य बतलाया जिसे राज्य में रहकर और उसके साथ पूर्ण एकता स्थापित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु ग्रीन ने कहा कि "स्वतन्त्रता किसी कार्य के करने की क्षमता की शक्ति (positive power or capacity of doing or enjoying something) है।" ग्रीन के अनुसार

व्यक्ति के नैतिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्यों को सम्पन्न करना है और राज्य का कर्त्तव्य व्यक्ति के आत्मनिर्णय की स्वतत्रता तथा आदर्श चरित्र के निर्माण के मार्ग मे बाधा उत्पन्न न कर उसके व्यक्तित्व के विकास की बाधाओ को दूर करना है।

ग्रीन ने जिस स्वतत्रता का प्रतिपादन किया है उसके प्रधान लक्षण ये हैं—

1. **स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों की ही होती है**—ग्रीन के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए बार्कर का कथन है कि "मानव-चेतना मे स्वतन्त्रता निहित है, स्वतंत्रता मे अधिकार निहित हैं और अधिकारो के लिए राज्य आवश्यक है।"[1] ग्रीन का विश्वास है कि स्वतन्त्रता का अर्थ केवल शुभ इच्छा की स्वतत्रता ही हो सकती है। वह केवल उन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की स्वतत्रता हो सकती है जो स्वय ऐसी इच्छा प्रस्तुत करती है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वतत्रता न तो केवल प्रतिबन्धों का अभाव ही है और न ही इसका अर्थ नियन्त्रण अथवा अनुशासन से मुक्ति प्राप्त करना मात्र माना जा सकता है। जिस तरह कुरूपता का अभाव सौन्दर्य नही होता, उसी तरह प्रतिबन्धो का अभाव स्वतत्रता नही कहा जा सकता। हम उसे भी स्वतंत्रता नही कह सकते जब कोई व्यक्ति अथवा वर्ग दूसरो की स्वतत्रता की कीमत पर खुद की स्वतत्रता का उपभोग करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसके कार्य समाज के दूसरे लोगो से सम्बन्धित हैं। अत. स्वतत्रता इसी बात मे निहित है कि हमे उन्ही कार्यों को करने की छूट हो जिनके द्वारा हम उस सुख अथवा वस्तु को प्राप्त कर सकें जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से प्राप्त करने योग्य हो तथा जिसकी प्राप्ति हम समाज के अन्य व्यक्तियो के साथ मिलकर करें। हमे कुछ बुरे कार्य करने से भी क्षणिक सुख मिल सकता है, लेकिन इन कार्यों को करने की छूट देना स्वतंत्रता नही कही जा सकती। ये कार्य आत्मा के विकास मे बाधक होते है क्योंकि ये शुभ-इच्छा से उत्पन्न नही होते। अत ऐसे कार्यो को न करने देना स्वतंत्रता है जबकि करने देना परतत्रता होगी। वास्तविक स्वतन्त्रता तो उन कार्यो को करने या आनन्द प्राप्त करने की सकारात्मक शक्ति है जो किए जाने अथवा आनन्द-लाभ करने योग्य हों।

बार्कर ने ग्रीन द्वारा अभिव्यक्त इस स्वतत्रता के दो लक्षणो का उल्लेख किया है—

(क) सकारात्मक या यथार्थ स्वतन्त्रता (Positive Liberty)—सर्वप्रथम स्वतत्रता सकारात्मक होती है। यह हस्तक्षेप का अभाव मात्र नही है। इसका सच्चा अर्थ है वांछित कार्यों को करने की सुविधा ताकि व्यक्ति अपना नैतिक विकास कर सकने मे सक्षम हो। ग्रीन से पूर्व उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारक राज्य के कानूनो तथा व्यक्ति की स्वतत्रता को परस्पर विरोधी मानते थे। उनका कहना था कि वैयक्तिक स्वतत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने वाले राजकीय कानून समाप्त कर दिए जाने चाहिए। चूंकि इन विचारो का बल प्रतिबन्धो अथवा कानूनो के अभाव को दूर करने पर था, अत. ऐसी स्वतंत्रता को 'नकारात्मक स्वतंत्रता' कहा गया। ग्रीन ने स्वतत्रता की इस धारणा को स्वीकार न कर यह स्वीकार किया कि राज्य की शक्ति का प्रयोग व्यक्तियो की योग्यता और उनके गुणो के विकास के लिए किया जा सकता है, अतः व्यक्ति की स्वतत्रता और राज्य मे कोई विरोध नही होता। राज्य को व्यक्ति स्वतंत्रता का पोषक मानना चाहिए। यदि प्रत्येक कार्य करने की छूट दे दी जाए तो स्वतत्रता उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता मे परिणत हो जाएगी। स्वतत्रता आत्म-सन्तुष्टि मे ही निहित नही है। स्वतत्रता और आत्म-सन्तुष्टि दोनो एकदम भिन्न हैं। स्वतन्त्रता बन्धन का अभाव नही है, वह तो राज्य के नियन्त्रण मे ही कायम रह सकती है। कानून व्यक्तिगत स्वतत्रता का भक्षक नहीं बल्कि रक्षक है, केवल वाञ्छनीय यह है कि इस दृष्टि से राज्य का हस्तक्षेप कम से कम हो। स्पष्ट है कि ग्रीन की स्वतत्रता आत्मपरक एवं आन्तरिक होने के साथ-साथ वास्तविक और सकारात्मक भी है। स्वतत्रता एक साधन है और सामाजिक कल्याण मे योग देने वाली सबकी शक्तियो को मुक्त करना साध्य है। राज्य की उन्नति

1 *Barker* · Political Thought in England, p. 33.

सामाजिक विधियाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करता बल्कि उसे अपनी शक्ति के प्रयोग की सुविधा देकर स्वतंत्रता प्रदान करती हैं। ग्रीन के ही शब्दों में, "हमारा आधुनिक कानून जो श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्ध रखता है और जिसके कारण हमारी स्वतन्त्रता में अधिकाधिक हस्तक्षेप प्रतीत होता है, इस आधार पर न्यायोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक भलाई में वृद्धि करना नहीं है तथापि उन परिस्थितियों का निर्माण करना है जिनके बिना मानव-शक्तियों का स्वतन्त्र रूप में कार्य करना असम्भव है।" राज्य को चाहिए कि वह उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करे (Hindering hinderances to good life)।

(ख) निश्चयात्मक स्वतन्त्रता (Determinate Liberty)—स्वतन्त्रता कार्य करने का अवसर प्रदान करती है, लेकिन इन कार्यों का स्वरूप निश्चयात्मक होता है अर्थात् निश्चित कार्य करने की स्वतन्त्रता—ऐसे कार्य जो किए जाने योग्य हैं, न कि प्रत्येक कार्य। कार्यों का अभिप्राय यह नहीं होता कि व्यक्ति अच्छे-बुरे सभी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। जुआ खेलना, शराब पीना, चोरी करना आदि के लिए छूट देना स्वतन्त्रता नहीं है। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। केवल उचित कार्यों को, ऐसे कार्यों को जो हमारे आत्म-बोध में सहायक हों, करने की स्वतन्त्रता हो सकती है। ऐसे कार्य करने की एक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि सबका लक्ष्य एक ही है। अतः यह स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार—"स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कार्यों को करने का निश्चयात्मक अधिकार है।"[2]

2 स्वतन्त्रता मानव-चेतना की एक विशेषता—ग्रीन के अनुसार मनुष्य की आत्म-चेतना के विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। मानव-चेतना विश्व-चेतना का एक अंश है और विश्व-चेतना का सार स्वतंत्रता है, इसलिए आत्म-चेतना भी स्वतन्त्र होती है। यह मानव-चेतना स्वतन्त्रता के लिए राज्य की माँग करती है। बार्कर के शब्दों में "मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"[3]

3 स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं—स्वतन्त्रता की भावना स्वयं अधिकारयुक्त होती है। एक व्यक्ति जिस कार्य को अपने लिए अच्छा समझता है, अन्य मनुष्य भी उसे अपनी पूर्णता के लिए उपयोगी समझते हैं और इस तरह सम्पूर्ण समाज ही उन्हें अपने विकास में सहायक समझने लगता है जिसका परिणाम यह होता है कि सामाजिकता की भावना पैदा होती है। "एक व्यक्ति का अपनी भलाई की आकांक्षा के साथ अन्य व्यक्तियों की भलाई की कामना करना समाज की भलाई की इच्छा होती है। ऐसा सम्बन्ध समाज की रचना करता है जिसका अर्थ अधिकार होता है।" इस तरह स्वतन्त्रता में अधिकार निहित होते हैं।

स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि कोई व्यक्ति प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करे। स्वतन्त्रता शब्द अपने आप में भी स्वतन्त्र है और दूसरों को भी उतनी स्वतन्त्रता प्रदान करता है जितना वह स्वयं स्वतन्त्र है। स्वतंत्रता का वास्तविक उपभोग तभी किया जा सकता है जब वह अधिकार-युक्त हो। अधिकारविहीन स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में परिणत हो जाती है। यदि हमें व्यक्तित्व की उन्नति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की अपेक्षा है तो यह स्वाभाविक है कि हमें जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण का अधिकार, व्यवसाय, शिक्षा एवं कार्य का अधिकार आदि प्राप्त हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम अपने मार्ग में आने वाली बाधाओं को इस रूप में हटाने

1 *Lancaster* : Masters of Political Thought, p. 205.
2-3 *Barker* op cit, p 24.

को प्रयत्नशील हो जाएँ जिससे दूसरे लोगो के अधिकारों का हनन हो। इस प्रकार स्वतन्त्रता के साथ जुड़ा होता है। स्वतन्त्रता शब्द मे ही अधिकार निहित होते हैं। अधिकार रहित स्वतन्त्रता की कल्पना करना मूर्खों के ससार मे रहना है।

कॉण्ट, हीगल और ग्रीन :

कॉण्ट की भाँति ग्रीन की मान्यता है कि संसार मे निरपेक्ष सद्भावना ही श्रेष्ठ होती है। मनुष्य के दैनिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्य करना है, न कि साँसारिक भोग-विलास मे फँसना। व्यक्तित्व का विकास नैतिक कार्यों के करने से ही हो सकता है, अतः स्वतन्त्रता केवल नैतिक कार्यों के सम्पादन मे ही निहित हो सकती है। अनैतिक कार्य करने की छूट स्वतन्त्रता न होकर स्वेच्छाचारिता है। ग्रीन की नैतिक स्वतंत्रता की धारणा कॉण्ट से मिलती-जुलती अवश्य है, किन्तु एक बात मे उससे बहुत भिन्न है। कॉण्ट ने कहा था कि नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य के अन्तर्जगत मे ही निवास करती है जबकि ग्रीन की मान्यता है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता की अनुभूति बाह्य जगत् में ही हो सकती है। कॉण्ट का विश्वास था कि राज्य से पृथक् रहकर अन्तःकरण के आदेशों के अनुसार कार्य करने मे ही मनुष्य स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है जबकि ग्रीन के अनुसार राज्य के अभाव मे स्वतन्त्रता सम्भव नही है, क्योकि नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो का निर्माण राज्य के कानूनो द्वारा ही सम्भव है। स्पष्ट है कि कॉण्ट की स्वतन्त्रता सीमित और भावुकतापूर्ण है जबकि ग्रीन की स्वतन्त्रता वस्तु-प्रधान और विधेयात्मक है।

हीगल और ग्रीन मे भी इस विषय मे समानता और विभिन्नता दोनो है। ग्रीन हीगल से सहमति प्रकट कर कहता है कि स्वतन्त्रता राज्य मे ही सम्भव है और व्यक्ति के हित तथा समाज के हित में परस्पर कोई विरोध नही है पर हीगल का कहना है कि स्वतन्त्रता तथा राजाज्ञा को पर्यायवाची नही माना जाना चाहिए। राज्य का प्रत्येक कार्य और कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे अनिवार्यत वृद्धि करने वाला नही होता। ग्रीन का विचार है कि हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी आदर्श की पूर्ति केवल आदर्श राज्य मे ही हो सकती है, यथार्थ राज्य मे नही। ग्रीन की मान्यता है कि आत्मानुभूति के सिद्धान्त और राज्य द्वारा विवेक के आधार पर निर्मित कानून समान होते हैं, क्योकि दोनों ही विश्व-चेतना के अग हैं। व्यक्ति और राज्य मे मूलत कोई विरोध नही है किन्तु राज्य यदि अपने कर्त्तव्यो से भ्रष्ट हो जाता है तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह उसकी आज्ञा का उल्लघन कर दे। हीगल ग्रीन के इस विचार से सहमत नही है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता तथा राजाज्ञा का चुपचाप पालन एकरूप समझा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप मे ग्रीन ने हीगल और कॉण्ट दोनो के बीच का मार्ग अपनाया है। ग्रीन ने एक ओर तो कॉण्ट के औपचारिकतावाद एव भावुकतावाद को छोडा है तथा दूसरी ओर हीगल पर लगाए जाने वाले इस आरोप से स्वयं को बचाया है कि उसने स्वतन्त्रता को राजाज्ञा-पालन से सयुक्त करके उसे निरर्थक बना दिया है।

ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा
(Green's Conception of Rights)

ग्रीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सदस्यो को आत्मानुभूति (Self-realization) में सहायता पहुँचाने का सर्वोत्तम साधन यह है कि उनके लिए वह निष्पक्ष और सार्वभौमिक अधिकारो की व्यवस्था करे। अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का सर्वोच्च अधिकार यह है कि वह स्वय वैसा बन सके जैसा मनुष्य को होना चाहिए, अपने अस्तित्व के विधान को पूरा करते हुए उसे जो कुछ बनना है, वह बन सके। अन्य सभी अधिकार इसी अधिकार से प्राप्त होते हैं। "समाज के पूर्व व्यवस्थित अधिकारो के अर्थ में प्राकृतिक अधिकारो की कल्पना एक अर्थहीन धारणा है, पर नैतिक अथवा आदर्श अधिकारो के रूप मे प्राकृतिक अधिकार सारपूर्ण हैं। "जिस उद्देश्य की पूर्ति मानव-समाज का लक्ष्य है, उसके लिए यह आवश्यक है

अधिकारो का आधार केवल वैधानिक स्वीकृति नही है। यह सार्वजनिक नैतिक चेतना है। अधिकार विधान सापेक्ष न होकर नैतिकता से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य के नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए अधिकार आवश्यक शर्त है।"[1]

ग्रीन की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित कार्य करने की स्वतन्त्रता चाहता है और इस दृष्टि से उसे कुछ अवस्थाओ की अपेक्षा होती है। इन अवस्थाओ और सुविधाओ के द्वारा ही वह आत्मानुभूति प्राप्त कर सकता है, आत्मबोध की अवस्था मे पहुँच सकता है। ये परिस्थितियाँ और सुविधाएँ ही अधिकार हैं। इन अधिकारो की सृष्टि तब होती है जब प्रथम तो व्यक्ति एक नैतिक प्राणी होने के नाते अपना नैतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सुविधाओ की माँग करता है और साथ ही विवेकशील होने के कारण यह भी स्वीकार करता है कि जिस तरह उसे इन सुविधाओ की आवश्यकता है, उसी तरह दूसरे लोगो को भी उनकी आवश्यकता है और उन्हे भी वे प्राप्त होनी चाहिए, तथा द्वितीय, जब समाज इन माँगो को स्वीकार कर लेता है। इस तरह अधिकार का निर्माण दो तत्त्वो से मिलकर होता है—(1) व्यक्ति की माँग, और (2) समाज की स्वीकृति। इनमे से किसी भी एक तत्त्व के न होने पर अधिकार का अस्तित्व नही हो सकता। सेबाइन ने ग्रीन के इस विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

"उसका (ग्रीन का) कहना था कि अधिकार मे दो तत्त्व होते हैं। सर्वप्रथम, वह कार्य की स्वतन्त्रता के प्रति एक प्रकार का दावा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति की इस प्रवृत्ति का आग्रह होता है कि व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियो और क्षमताओ का विकास करना चाहता है। उसका तर्क था कि सुखवादी दर्शन मूलत. झूठा होता है क्योकि मानव-प्रकृति ऐसी इच्छाओ और प्रवृत्तियो की प्रतीक होती है जो सुख की भावना से प्रेरित न होकर ठोस तुष्टि की भावना से कार्य की ओर उन्मुख होती है, किन्तु यह दावा नैतिक रूप से केवल इच्छा के आधार पर ही सार्थक नही है। यह तो विवेकपूर्ण इच्छा के आधार पर ही सार्थक होता है। यह विवेकपूर्ण इच्छा दूसरे व्यक्तियो के दावो को भी अपने ध्यान मे रखती है। उसकी सार्थकता को प्रमाणित करने वाला तत्त्व यह तथ्य है कि सामान्य हित इस प्रकार की कार्य-स्वतन्त्रता की अनुमति देता है। यह भाग लेने और अशदान देने का दावा है। परिणामत अधिकार मे दूसरा तत्त्व वह सामान्य स्वीकृति है कि यह दावा आवश्यक होता है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वास्तव मे समान हित के प्रति योगदान करती है। इसलिए ग्रीन के अनुसार नैतिक समुदाय वह है जिसमे व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के दावे को सामाजिक हितो को ध्यान मे रखकर दायित्वपूर्ण ढग से सीमित कर देता है और जिसमे समुदाय उसके दावे का इसलिए समर्थन करता है कि उसके प्रयास और स्वतन्त्रता के द्वारा ही सामान्य हित की सिद्धि हो सकती है।"[2]

स्वय ग्रीन के शब्दो मे—

"किसी भी व्यक्ति को समाज-कल्याण को महत्त्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारो के अलावा दूसरे कोई अधिकार प्राप्त नही हैं। प्राकृतिक अधिकार अर्थात् प्राकृतिक स्थिति मे अधिकार, व्यवस्थित अधिकारो के विपरीत हैं क्योकि प्राकृतिक स्थिति व्यवस्थित समाज की स्थिति नही है। समाज के सदस्यो द्वारा सार्वजनिक कल्याण की भावना के अभाव मे अधिकार का अस्तित्व नही हो सकता।"

प्रत्येक सदाचारी व्यक्ति अधिकार प्राप्त करने का अधिकारी है अर्थात् समाज के दूसरे सदस्य उसके अधिकारो को मान्यता देते हैं क्योकि एक सदस्य द्वारा प्राप्त अधिकारो के समान ही अन्य सदस्यो को भी वे अधिकार प्राप्त होते हैं। व्यक्ति अधिकार-प्राप्ति के योग्य है—इस कथन का आशय यह है कि

1 *Barker* op cit, p 37.

2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 685.

उसे अनिवार्य रूप से अधिकार मिलने चाहिए। अधिकारों के कारण ही व्यक्तियों की शक्तियों का इस प्रकार विकास सम्भव है कि वे जन-साधारण के हित को अपना हित समझें।"

वास्तव मे ग्रीन के नीतिशास्त्र का मूल उदारवादी तत्त्व यह है कि वह ऐसे किसी भी सामाजिक हित को अस्वीकार कर देता है जो उसका समर्थन करने वाले व्यक्तियो से आत्म-त्याग की माँग करता है। समुदाय का दायित्व और अधिकार व्यक्ति के दायित्व और अधिकार से सम्बन्धित होता है।

ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा से स्पष्ट है कि "केवल ऐसे मनुष्यो के लिए ही अधिकारो की स्वीकृति हो सकती है जो नैतिक दृष्टि से मनुष्य हो। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकार प्राप्त करके सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण बना लेता है। अधिकारो का नियम पारस्परिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिए।"

जब ग्रीन समाज की स्वीकृति की चर्चा करता है तो उसका अर्थ समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति होता है, राज्य या कानून की स्वीकृति नही। ऐसे अधिकार जिन्हे समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है, लेकिन जिन्हे राज्य की स्वीकृति प्राप्त नही है, प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। वे प्राकृतिक इस अर्थ मे नही हैं कि मनुष्य को वे प्राकृतिक अवस्था मे प्राप्त थे जैसा कि अनुबन्ध-सिद्धान्त के प्रतिपादको का मत है। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (Social Contract Theory) की प्राकृतिक अधिकारो की धारणा ग्रीन के लिए एक निरर्थक प्रलाप है। कोकर के अनुसार "ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का अर्थात् इस कल्पना का खण्डन किया है कि मनुष्य कार्य की कुछ स्वतन्त्रताओ तथा अपने उपयोग की वस्तुओ मे कुछ स्थापित स्वार्थों को लेकर जन्म लेता है, अथवा 'समाज' मे प्रवेश करने से पूर्व की अवस्था मे उसकी कुछ ऐसी स्वतन्त्रताएँ और कुछ ऐसे दावे थे जो संगठित समाज मे प्रवेश करने के बाद भी कानूनी नैतिक अधिकारो के रूप मे कायम हैं तथा समाज मे मनुष्य के अधिकार उसी सीमा तक वैध या उचित हैं जिस सीमा तक वे समाज से पूर्व की अवस्था मे प्राकृतिक अधिकारो के अनुकूल समझे जाते थे। ग्रीन इस बात को स्वीकार नही करता कि समाज से पूर्व के और समाज से स्वतन्त्र कोई अधिकार है।"[1]

ग्रीन के मतानुसार अधिकार प्राकृतिक इस अर्थ मे हैं कि उनके बिना मनुष्य की पूर्ण उन्नति अर्थात् आत्मानुभूति, जो उसकी नैतिक प्रकृति की अनिवार्य माँग है, सम्भव नहीं है। ये अधिकार नैतिक हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होती है। जब इन अधिकारो को राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उन्हे कानून का सरक्षण मिल जाता है तो वे कानूनी अधिकारो का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिए काम मिलना चाहिए, लेकिन जब तक यह माँग राज्य द्वारा स्वीकार नही की जाती तब तक वह हमारा प्राकृतिक अर्थात् नैतिक अधिकार ही रहेगा, कानूनी अधिकार नही कहला सकता। इस तरह ग्रीन 'प्राकृतिक अधिकार' शब्दो की दूसरी व्याख्या देता है। ये अधिकार (स्वाभाविक) इसलिए है क्योकि वे उस उद्देश्य के लिए आवश्यक तथा अपरिहार्य है जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।

प्रो. सेवाइन का कथन है कि "ग्रीन के लिए व्यक्तिगत दावे और सामाजिक स्वीकृति की यह पारस्परिक अन्तर्निर्भरता एक न्यायिक सकल्पना नही, प्रत्युत नैतिक धारणा थी। वह अधिकारो के सम्बन्ध में बेन्थम की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करता कि वे 'विधि' (कानून) की सृष्टि है।" इसका कारण ग्रीन का यह विश्वास था कि "उदारवादी शासन केवल ऐसे समाज मे ही सम्भव हो सकता है जहाँ विधान और सार्वजनिक नैतिकता लोकमत के प्रति निरन्तर सजग हो। यह लोकमत प्रबुद्ध

1 *Coker* : Recent Political Thought, p. 429.

भी होना चाहिए और नैतिक दृष्टि से सम्वेदनापूर्ण भी। उसके विचार से प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त मे यही यथार्थ थी।"[1]

ग्रीन के मतानुसार अधिकार स्वाभाविक (Natural) उस अर्थ मे है जिस अर्थ मे अरस्तू राज्य को स्वाभाविक समझता था। उन्हे आदर्श अधिकार कहना अधिक श्रेष्ठ होगा। इन अधिकारो को सद्भावना के आधार पर सुसगठित समाज द्वारा अपने सदस्यो को प्रदान करना चाहिए और वह प्रदान करेगा भी। ये आदर्श अधिकार समय विशेष पर राज्य द्वारा स्वीकृत यथार्थ अधिकारो (Actual Rights) की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक व्यापक और विशद हैं क्योकि वे यथार्थ अधिकारो के अग्रगामी हैं। बार्कर (Barker) के अनुसार, "किसी समाज के वास्तविक कानून द्वारा प्रतिष्ठिक यथार्थ अधिकार एक आदर्श प्रणाली के कभी अनुकूल नही होते।"[2] स्वाभाविक या आदर्श अधिकार (Natural or Ideal Rights) हमारे समक्ष वह मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं जिसकी कसोटी पर यथार्थ अधिकारो को परखा जा सकता है। वे एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करते हैं कि यथार्थ अधिकार उनके अनुकूल हो। आदर्श अधिकार कानूनी अधिकारो से इसलिए भी भिन्न है कि उनका नैतिकता से निकट सम्बन्ध होता है। ग्रीन जब समाज द्वारा अधिकारो की मान्यता की बात करता है तो उसका अभिप्राय समाज की नैतिक भावना द्वारा मान्यता से है, न कि कानून द्वारा मान्यता से।

ग्रीन यह नही कहता कि अधिकार का कानून से कोई सम्बन्ध नही है। "समाज द्वारा क्रियान्वित होने के लिए उसका कानूनी रूप ग्रहण करना आवश्यक है। प्रत्येक समाज को अपने कानूनो को अधिकाधिक आदर्श अधिकारो के अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। एक समाज की प्रगति का मापदण्ड यह है कि उसके कानून आदर्श अधिकारो के कहाँ तक अनुकूल है।" अधिकारो की प्राप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता है। कुछ सामाजिक बन्धन स्वीकार करने पर ही अधिकार प्राप्त होते है। अधिकारो के दुरुपयोग के लिए एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो यह देखे कि कहीं व्यक्ति अपने अधिकारो की आड मे दूसरो के अधिकारो का अतिक्रमण तो नही कर रहे हैं। इसीलिए अधिकारो की प्राप्ति के साथ ही राज्य की आवश्यकता भी हमारे सामने उपस्थित है जिसके बिना अधिकारो का मूल्य नही रह जाता। अधिकारो का उपभोग तभी हो सकता है जब राज्य उनकी रक्षा करे और उनका उल्लघन करने वालो को दण्ड दे। व्यक्ति प्राय अपनी अविवेकपूर्ण तात्कालिक इच्छा के प्रभाव मे काम करते हैं और उचित-अनुचित का ध्यान न रखकर दूसरो का अहित करने लगते हैं। ऐसी अवस्था मे किसी ऐसी निष्पक्ष सस्था का होना आवश्यक है जो सबके अधिकारो की रक्षा का दायित्व वहन करे। ऐसी सस्था राज्य है जो सबके लिए निष्पक्षता के साथ समान अधिकारों की व्यवस्था करके और उनको कार्यरूप मे परिणत कर व्यक्तियो को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करता है। समाज द्वारा व्यक्ति की माँग को मान्यता प्रदान करने के बाद उसे क्रियान्वित कराने वाली एक शक्ति की आवश्यकता को राज्य पूरा करता है। यह नही भूलना चाहिए कि जब हम अधिकारो की बात करते है तो 'कर्त्तव्य' शब्द स्वत. ही सम्मिलित हो जाता है। अधिकार और कर्त्तव्य एक नदी के दो किनारे हैं। जो एक व्यक्ति का अधिकार है वही दूसरे का कर्त्तव्य है। दोनो परस्पर अन्योन्याश्रित तथा एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यो से इस बात की आशा करते हैं कि हमें अपने अधिकारो का उपभोग शान्तिपूर्वक करने दें तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि उन व्यक्तियो के अधिकारो की रक्षा मे हम सहायक सिद्ध हो। किन्तु अधिकारो और कर्त्तव्यो की यह व्यवस्था तभी चल सकती है जब उन पर नियन्त्रण रखने वाली एक सर्वोपरि शक्ति विद्यमान हो। इस प्रकार की व्यवस्था ही हमारा सही पथ-प्रदर्शन कर सकती है और हमे आपसी टकराव से बचा सकती है। यह शक्ति स्वभावत: राज्य ही हो सकता है। बिना सगठित समाज और राज्य के हम अपने अधिकारो की कल्पना भी नही कर सकते। स्वतन्त्रता को अधिकारविहीन होकर उच्छृङ्खलता मे परिणत होने से रोकने वाली शक्ति राज्य ही है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 687.
2 *Barker* · Political Thought in England.

ग्रीन जहाँ अधिकारों की क्रियान्विति के लिए राज्य के उचित हस्तक्षेप की बात करता है, वहाँ व्यक्तियों को कुछ दशाओं में राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार भी देता है। यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिकों की आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नहीं करता जिसके लिए वह विद्यमान है, तो वह नागरिकों की राज्य-भक्ति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में नागरिकों को राज्य का विरोध या कम से कम उस सरकार के आदेशों का विरोध करने का अधिकार है किन्तु "ग्रीन ने यह चेतावनी दी है कि राज्य के विरुद्ध अधिकारों का दावा बहुत सोच-विचार के बाद किया जाना चाहिए। नागरिक उसके विरुद्ध ऐसे किन्हीं अधिकारों का दावा नहीं कर सकते जो कल्पित राज्य-हीन प्रकृति की अवस्था या किसी दूसरी कल्पित अवस्था में विद्यमान थे जिसमें ऐसा माना जाता था कि व्यक्ति एक दूसरे का विचार किए बिना काम कर सकते थे; और न वह प्रत्येक परम्परागत विशेषाधिकार या सत्ता को ही ऐसा अधिकार या ऐसी स्वतन्त्रता मान सकते हैं जिसे वे भोगते आ रहे हैं और आगे भी भोगते रहना चाहते हैं। जहाँ नवीन अवस्थाएँ उसके कार्यों के नियमन के लिए नूतन आवश्यकताओं को जन्म देती हैं, वहाँ इस प्रकार के नियमन के विरुद्ध परम्परागत अधिकार का तर्क नहीं दिया जा सकता और न इसका निर्णय करने के लिए अपने व्यक्तिगत विचार को ही सर्वोच्च महत्त्व दिया जा सकता है कि किस मामले में आदेश-पालन उसका कर्त्तव्य है और किस मामले में उसको उल्लंघन करने का अधिकार है। किसी को कानून का प्रतिरोध करने का इस आधार पर अधिकार नहीं है कि वह कानून उसे कोई ऐसा काम करने के लिए बाध्य करता है जो उसकी इच्छा या बुद्धि के विरुद्ध है।"[1] स्पष्ट है कि एक व्यक्ति को सामान्यतया राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उसके सभी अधिकारों का स्रोत राज्य है। राज्य के कानून समाज की नैतिक चेतना (Moral Consciousness of the Community) का प्रतिनिधित्व करते हैं। "जब कानून कहीं भी और किसी भी समय राज्य के सही विचार की पूर्ति करते हैं उनकी अवज्ञा करने का अधिकार नहीं मिल सकता।" व्यक्ति का राज्य के प्रति विरोध उसी दशा में न्यायोचित हो सकता है जब किसी कानून का उल्लंघन करने से सार्वजनिक कल्याण की अभिवृद्धि अथवा पूर्ति होती हो। इस प्रकार ग्रीन के आदर्श अधिकारों के सिद्धान्त का अन्तिम सार इस कथन में है कि "समाज में एक ऐसी नैतिक प्रणाली विद्यमान रहती है जो राज्य से स्वतन्त्र होती है और जो व्यक्ति को एक ऐसा मापदण्ड प्रदान करती है जिसके द्वारा वह राज्य को भी परख सकता है।"[2]

(५) प्राकृतिक कानून पर ग्रीन के विचार
(Green on Natural Law)

ग्रीन के राज्य-सिद्धान्त पर चर्चा से पहले प्राकृतिक कानून के प्रति उसके दृष्टिकोण को जान लेना आवश्यक है। अब तक प्राकृतिक कानून की जो व्याख्या की गई थी ग्रीन ने उसकी आलोचना की। पहले प्राकृतिक कानून ऐसे माने जाते थे जिनके द्वारा अन्य कानूनों की परीक्षा की जाती थी लेकिन ग्रीन ने प्राकृतिक कानूनों को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया जिसमें हॉब्स, लॉक आदि समझौता-वादियों ने किया था। उसने 17वीं शताब्दी के प्राकृतिक कानून के इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि प्राकृतिक कानून का सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्व है। ग्रीन ने 'प्राकृतिक कानून' शब्दों की पुनः परिभाषा करते हुए कहा कि "यह वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए चाहे वह राज्य के यथार्थ कानून के अनुकूल हो या न हो।" प्राकृतिक कानून विवेक पर आधारित होते हैं। इनको खोज अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती। ग्रीन के अनुसार कानून इस दृष्टि से प्राकृतिक कहे जाते हैं कि वे सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ प्राकृतिक कानूनों में भी परिवर्तन हुआ करता है। प्राकृतिक न्यायशास्त्र

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 451-452
2 *Wayper* : Political Thought, p. 185.

(Natural Jurisprudence) को ही इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किन कानूनो को प्राकृतिक समझा जाए। तभी वे मान्य होगे और लागू करने योग्य होगे, फिर चाहे वे राज्य द्वारा निर्मित कानूनो का अंग हो अथवा न हो।

ग्रीन का यह भी कथन है कि नैतिकता या आध्यात्मिकता आन्तरिक मानसिक अवस्था है और स्वतन्त्रता उसका मुख्य लक्षण है। नैतिकता को बाह्य दबाव द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता। शक्ति का प्रयोग करते ही इसका मुख्य लक्षण 'सदाचार' नष्ट हो जाता है और यह (नैतिकता) उस प्राकृतिक कानून की श्रेणी मे आ जाती है जिससे मनुष्य के बाह्य कार्य नियन्त्रित होते हैं। वास्तविक कानून से यह ज्ञात होता है कि कौन से कार्यों पर राज्य का नियन्त्रण है। अत. आध्यात्मिक कर्त्तव्य है जो 'होने चाहिए', किन्तु उनमे बाहरी दबाव नही होता। प्राकृतिक कानून मे 'जो कार्य होने चाहिए' सम्मिलित हैं, किन्तु इन्हे शक्ति द्वारा लागू किया जाता है तथा वास्तविक कानून से उसके अस्तित्व और उनकी क्रियान्विति का पता लगता है।

ग्रीन ने स्वय प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्त्तव्य का भेद इन शब्दो मे प्रकट किया है—"प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्त्तव्य मे अन्तर है क्योंकि प्राकृतिक कानून और विधि पारित कानून मे शक्ति-तत्त्व निहित है तथा नैतिक कर्त्तव्यो मे किसी बाह्य शक्ति का दबाव नही होता।" कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या नैतिकता को कानून द्वारा लागू किया जाना चाहिए। ऐसा प्रश्न निरर्थक है क्योकि इनको वास्तव मे बलपूर्वक लागू नही किया जा सकता। नैतिक कर्त्तव्यो की पूर्ति के लिए बाहरी दबाव, जिसकी नींव कतिपय लक्ष्यो की पूर्ति पर निर्भर है, उन लक्ष्यो की पूर्ति असम्भव कर देता है और इसी कारण राज्य द्वारा लागू किए गए कानूनो की सीमा निर्धारित होती है। अत प्राकृतिक कानून, अधिकार और कर्त्तव्यो का अनुबन्ध वास्तविक नैतिकता से भिन्न है, किन्तु यह इससे सम्बन्धित अवश्य है।[1] इस सम्बन्ध मे प्रो. सेबाइन के विचार विषय की स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—

"ग्रीन द्वारा प्राकृतिक विधि की पुनर्व्याख्या का अभिप्राय यह नही था कि वह विधि के दो भेदो पर जोर देना चाहता था। उसका अभिप्राय सिर्फ यह था कि वह विधि की प्रकृति-सापेक्षता पर, उसके सामाजिक महत्त्व पर तथा आचारो के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धो पर जोर देना चाहता था। बेन्थम के समान ग्रीन का यह विचार भी नही था कि विधि को सुख-दुःख की कसौटी पर कसा जा सकता है अथवा विधि तथा आचारो के बीच मूल भेद यह है कि विधि के उल्लंघन पर दण्ड मिलता है और आचारो के उल्लंघन पर कोई दण्ड नही मिलता। ग्रीन के विचार से विधि तथा आचारो का अन्तर दो ऐसी सामाजिक संस्थाओं का अन्तर है जो एक-दूसरे से मूलत भिन्न है। एक ओर तो चरित्र, नैतिक भावना और सामाजिक दृष्टिकोण है जो शिक्षित और सभ्य मानव प्रकृति का अंग हैं, दूसरी ओर व्यवहार से कुछ निश्चित और स्थिर पहलू हैं। इस व्यवहार को लागू किया जा सकता है और वह व्यक्तिगत अभिरुचि की सीमाएँ निर्धारित करता है। ग्रीन की सकारात्मक स्वतन्त्रता मे ये दोनो चीजें निहित हैं।"

सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार
(Green on Sovereignty)

राज्य अधिकारो को क्रियान्वित करने वाली सर्वोच्च संस्था है। इसके पास बाध्यकारी शक्ति है जिसके माध्यम से राज्य समाज मे अधिकारो एव कर्त्तव्यो की व्यवस्था कायम रखता है। इस बाध्यकारी शक्ति को राज-दर्शन मे राज्य की 'सर्वोच्च सत्ता', 'परम सत्ता', 'सम्प्रभुता', 'राजसत्ता' आदि नामो से सम्बोधित किया गया है। यही सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है जो उसे अन्य मानव-समुदायो से पृथक् करता है और उच्चतर स्थान प्रदान करता है।

1 *Green*. Lectures on the Principles of Political Obligation, p 34.

ग्रीन से पूर्व रूसो एवं ऑस्टिन द्वारा सम्प्रभुता की विशद व्याख्या की गई थी। रूसो ने सम्प्रभुता का निवास 'सामान्य इच्छा' (General Will) में बतलाया था। ऑस्टिन ने सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति 'किसी ऐसे निश्चित मानव श्रेष्ठ' (Determinate Human Superior) में की थी जिसकी आज्ञा का पालन समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वाभाविक रूप से करते हैं और जिसे किसी अन्य श्रेष्ठ मानव की आज्ञापालन की आदत नहीं होती। यद्यपि ये दोनों धारणाएँ एक दूसरे से विपरीत हैं, किन्तु ग्रीन के अनुसार ये दोनों ही विचार सम्प्रभुता की पूर्ण धारणा को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। ग्रीन का विश्वास है कि दोनों धारणाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारों को स्वीकार करती है और इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न राज्य का निर्माण होता है। इस तरह राज्य का निर्माण ही सामान्य हित की अभिव्यक्ति करने वाली सामान्य इच्छा पर आधारित है। साथ ही कानून यदि सच्चा कानून है तो उसे एक विधिवत् निर्मित एवं सामान्य मान्यता प्राप्त सरकार के किसी अंग द्वारा निर्मित और क्रियान्वित किया जाना चाहिए। ग्रीन ऑस्टिन के सिद्धान्त के इस सत्य को स्वीकार करता है कि एक पूर्ण रूप से विकसित समाज में कोई ऐसा निश्चित मानव या मानव-समूह होना चाहिए जिसके पास अन्ततोगत्वा कानूनों को लागू करने और मनवाने की शक्ति हो। उस पर किसी तरह का कानूनी नियन्त्रण स्थापित नहीं हो सकता।

राज्य की सम्प्रभुता के तत्त्व में ग्रीन के विश्वास की सीमा और राज्य का आधार—ग्रीन यह स्वीकार करता है कि सम्प्रभुता राज्य का एक आवश्यक तत्त्व एवं गुण है, यह उसकी सर्वोच्च दमनकारी सत्ता है। सामान्य अधिकारों की रक्षा समुचित रूप से तभी सम्भव है जब राज्य शक्ति का आश्रय ले और कुछ कार्यों में हस्तक्षेप करे। प्रत्येक समाज में ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकारों को लागू कर सके जो अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को मानने से न केवल इन्कार ही करते हैं बल्कि उनके उपभोग के मार्ग में बाधाएँ भी उत्पन्न करते हैं। यदि अधिकार को क्रियान्वित न किया जा सके तो वह अधिकार नहीं है, वह तो केवल एक नैतिक दावा मात्र है। इस विचार का यह स्वाभाविक अभिप्राय है कि अधिकार राज्य की माँग करते हैं—उस राज्य की जो इन्हें मनवाने का एकमात्र सर्वोच्च अधिकारी है। बार्कर (Barker) के अनुसार, "यहीं वह विरोधाभास उत्पन्न होता है जिसे हम टाल नहीं सकते। वह विरोधाभास है राज्य का कार्य। यह स्वतन्त्रता के लिए शक्ति का प्रयोग करता है। इस विरोधाभास का सामना करने के लिए पहले तो हमें यह जानना चाहिए कि शक्ति का प्रयोग करने वाली संस्था क्या है और दूसरे यह कि उसके कार्य को समाज के सदस्यों की सक्रिय इच्छा का समर्थन कहाँ तक प्राप्त है।"[1] इन विरोधाभासों का जो उत्तर ग्रीन प्रस्तुत करता है, वह उसके राजदर्शन का केन्द्र बिन्दु है।

ग्रीन का मत है कि राज्य की बाध्यकारी शक्ति उन नागरिकों को संयत रखने के लिए आवश्यक हो सकती है जिनमें किसी कारणवश नागरिक भावना का समुचित विकास नहीं हुआ है। इसी भाँति कभी कभी दूसरों में कानून पालन की भावना को दृढ़ बनाने के लिए भी यह आवश्यक हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए तत्पर रहे और उनमें बाधक न बने। किन्तु क्षणिक भावनाओं के आवेश में आकर कुछ व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को भूल बैठते हैं। ऐसे व्यक्तियों को राज्य अपनी सम्प्रभु शक्ति द्वारा ही नियन्त्रण में रखता है। अतः सम्प्रभुता वह शक्ति है जो कानूनों का निर्माण करती है और उनके पालन के लिए जनता को बाध्य करती है।

जब ग्रीन यह स्वीकार करता है कि राज्य का यह आवश्यक गुण उसकी सर्वोच्च दमनकारी सत्ता है और सामान्य अधिकारों की रक्षा हेतु राज्य द्वारा बल-प्रयोग जरूरी है तो उसके सिद्धान्त के

1 *Barker* : Political Thought in England, p. 37.

अनुसार दमन राज्य का रचनात्मक तत्व नहीं है और न ही राज्य प्राथमिक रूप से उस पर निर्भर है। बल अधिकारो का समर्थन करता है, उनकी सृष्टि नहीं। सर्वोच्च दमनकारी सत्ता का होना इसलिए अनिवार्य है कि वह राज्य के अस्तित्व को कायम रखने वाला आधार-स्तम्भ है और उसके कर्त्तव्यो के प्रभावकारी पालन के लिए अत्याज्य तत्व है लेकिन इससे राज्य का निर्माण नही होता। "सगठित बल अपनी प्रकृति मे उसी समय राजनीतिक होता है जब उसका प्रयोग कानून के अनुसार अधिकारो की रक्षा के लिए किया जाता है और जनता सामान्यतया यह समझती है कि उसका प्रयोग उचित है। राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमे सामान्य हितो तथा अधिकारो को लोग परस्पर स्वीकार करते हैं। समाज एक राजनीतिक समाज के रूप मे उस समय तक अपना अस्तित्व कायम नही रख सकता, जब तक ये अधिकार एव हित बिना राज्य के बलपूर्वक हस्तक्षेप के स्वभावतः स्वीकार नही किए जाते। राज्य मे भय उन अल्पसख्यक नागरिको के नियन्त्रण के लिए, जिनमे नागरिक भावना का अभाव है, और कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों मे कानून के पालन की भावना को दृढ़ बनाने के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार शासन का औचित्य उन प्रयोजनो में खोजना चाहिए जो लोगो को उसके प्रति सामान्य आज्ञा-पालन की ओर प्रेरित करते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि राज्य के बल-प्रयोग की वकालत करते हुए ग्रीन यह नही कहता कि बल ही राज्य का आधार है। "जब एक बार बाध्यकारी शक्ति जो सम्प्रभुता का एक प्रत्यय मात्र है, नागरिको के साथ अपने आचरण मे राज्य की एक विशेषता बन जाती है तो समझना चाहिए कि राज्य ने जनता के हृदय पर से अपना अधिकार खो दिया है और उनका अन्त निकट है।" साराँश यह है कि ग्रीन के अनुसार सम्प्रभुता एव सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति को तद्रूप समझना एक बुनियादी भूल है। सम्प्रभुता का मूल तो सामान्य इच्छा है। ग्रीन लिखता है कि—"हमे सम्प्रभु को बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करने वाली एक अमूर्त वस्तु नही समझना चाहिए, बल्कि राजनीतिक समाज की सस्थाओ की सम्पूर्ण जटिलता के सम्बन्ध में ही उस पर विचार किया जाना चाहिए। यह उनका पोषक है और इस प्रकार सामान्य इच्छा का अभिकर्ता है।" स्वभावत. बलात् आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए सम्प्रभु-शक्ति का जनता के हृदयो पर अधिकार होना चाहिए। आज्ञाकारिता यदि निष्ठाशून्य होकर बलपूर्वक लादी गई है तो वह स्वाभाविक नही हो सकती। राज्य की बल-प्रयोग की शक्ति का मूलभाव प्रकट करते हुए ग्रीन पुन कहता है कि "स्वेच्छापूर्वक आज्ञापालन होने पर भी यदि राज्य नागरिको पर बल-प्रयोग करता है तो केवल इसलिए कि वे अपने पडौसियो के अधिकारों तथा हितो के लिए आवश्यक अवस्थाओ को, जिन्हें राज्य भलीभाँति समझता है, बनाए रखना नही चाहते।"

इस तरह हम देखते हैं कि ग्रीन के अनुसार राज्य का मूल उसकी बाध्यकारी शक्ति नही है। उसकी वास्तविक मूल शक्ति तो सामान्य इच्छा है—वह सामान्य इच्छा जिसके द्वारा अधिकार उत्पन्न होते हैं और जो 'सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना है जिससे समाज का निर्माण होता है।' शक्ति राज्य का मूल तत्त्व नही हो सकती। 'राज्य का आधार शक्ति नही, इच्छा है।'[2] (Will, not force, is the basis of the State)। राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नैतिक कार्य ही है। उसके कानूनो और उसकी सस्थाओ का सतत् उद्देश्य शक्ति को ऐसे समुदाय के सदस्य की हैसियत से, जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे समस्त सदस्यो के अच्छे जीवन मे सहायक होता है, अपनी आत्मपूर्णता की सिद्धि मे सहायता देना है। राज्य का कार्य उसी सीमा तक उचित है जिस सीमा तक वह विवेकपूर्ण लक्ष्यो की ओर प्रेरित स्व-निर्धारित आचरण के अर्थ मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अभिवृद्धि करता है। जो कार्य किसी प्रकार के बाहरी दबाव के वशीभूत किए जाते हैं उनमे नैतिक कार्यों के गुणो का अभाव होता है।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 447.
2 *Green* : Principles of Political Obligation (Hindi ed.), p. 116.

ग्रीन का मत है कि निरकुश शासन का आधार भी अन्ततः सामान्य इच्छा होती है। जब राज्य या सम्प्रभु का आधार सामान्य इच्छा न होकर शक्ति हो जाता है तो उस राज्य का अन्त निकट आ जाता है। शक्ति के आधार पर कोई भी राज्य स्थाई नही हो सकता। सम्प्रभु की आज्ञा व्यक्ति उसकी बाध्यकारी शक्ति मात्र के कारण नही मानता। वह सम्प्रभु की आज्ञा का पालन क्यो करता है अथवा उसे सम्प्रभु की आज्ञापालन क्यो करनी चाहिए, इसका कारण बतलाते हुए ग्रीन का कथन है कि "यह पूछना कि मै राज्य की शक्ति के सामने क्यो झुकूँ, यह पूछना है कि मैं अपने जीवन को उन संस्थाओ द्वारा विनियमित क्यो होने देता हूँ जिनके बिना अपना कहने के लिए मेरा अस्तित्व ही न होता और न ही जो कुछ मुझसे करने के लिए कहा जाता है उसका मैं औचित्य पूछ सकता। इस बात के लिए कि मेरा एक जीवन हो जिसे मैं अपना कह सकूँ, मुझे न केवल अपनी और अपने उद्देश्य की चेतना होनी चाहिए बल्कि उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मुझे कर्म और संचय की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए और उसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब समाज के सदस्य एक-दूसरे की स्वतन्त्रता को मान्यता दें क्योकि यह सामान्य हित के लिए आवश्यक है।"

6 प्रतिरोध का अधिकार
(Right of Resistance)

the basis of State is will

राज्य के प्रतिरोध के अधिकार की चर्चा 'राज्य का अधिकार शक्ति नही, इच्छा है'—शीर्षक के अन्तर्गत प्रासंगिक रूप से की जा चुकी है। ग्रीन के अनुसार नागरिकों द्वारा राज्य के कानूनो का विरोध करने का अवसर इसलिए उत्पन्न होता है, क्योकि कभी-कभी समाज और राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारो मे कुछ असगति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए एक नागरिक दास-प्रथा का विरोधी है, वह यह अनुभव करता है कि यद्यपि राज्य के कानूनो के अन्तर्गत दास-प्रथा वैधानिक है, तथापि समाज की चेतना इसे स्वीकार नही करती। इस असगति के कारण राज्य और नागरिको मे विरोध उत्पन्न होता है। ग्रीन की मान्यता है कि समाज की सच्ची चेतना यदि राज्य द्वारा मान्य किसी कानून अथवा प्रथा को अनुचित एव हानिकारक समझती है तो नागरिकों को राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार है। कोकर के शब्दो में, "यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिको को आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नही करता जिसके लिए वह अस्तित्व मे है तो वह नागरिको की राजभक्ति का दावा नही कर सकता। ऐसी दशा मे नागरिको को राज्य या कम से कम उस सरकार के आदेशो की अवज्ञा या विरोध करने का अधिकार है जिसमे राज्य का अपूर्ण रूप प्रकट होता है। अपनी इस विचार-धारा मे ग्रीन हीगेलियन न होकर कुछ व्यक्तिवादी है तथा उसके दर्शन पर इगलिश उदारवाद (English Liberalism) की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।"

ग्रीन राज्य का विरोध करने के विपक्ष मे नागरिको को कई प्रकार की चेतावनी देता है। वह इस बात पर बल देता है कि राज्य का विरोध करने का अधिकार किसी को नहीं है क्योकि राज्य स्वयं अधिकारो का स्रोत है। वह इस सम्बन्ध मे भी दृढ निश्चयी है कि विरोध केवल इस बात पर नही किया जा सकता कि राज्य की विधियाँ किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुकूल नही हैं। राज्य की आज्ञा न मानने या विधि का उल्लघन करने का अधिकार केवल इस आधार पर प्राप्त नही हो सकता कि उससे किसी व्यक्ति के कार्य करने की स्वतन्त्रता मे या उसके बच्चो की व्यवस्था करने के अधिकार में हस्तक्षेप होता है। समाज मे नवीन परिस्थितियो के उत्पन्न होने के कारण या समाज-हित की आवश्यकता के कारण, यदि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण कडा कर दे तब भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्राप्त नही हो जाता क्योकि जितने भी अधिकार प्रदान किए गए हैं वे इस सामाजिक निर्णय पर आधारित हैं कि वे सामान्य हित के लिए उपयोगी है। ग्रीन सावधान करता है कि राज्य का विरोध करने वाला व्यक्ति गलत हो सकता है, क्योकि राज्य युगान्तर के अनुभव और बुद्धिमत्ता के द्वारा ही कार्य करता है। राज्य की बुद्धि कुछ व्यक्तियो की बुद्धि से निश्चय ही अच्छी है।

करते समय तुम सही हो और यदि तुम सही हो तो प्रतिरोध करना तुम्हारा कर्त्तव्य होगा और यदि तुम इस स्थिति में प्रतिरोध नहीं करोगे तो तुम सच्चे नागरिक नहीं होगे।"

'सामान्य इच्छा' पर ग्रीन के विचार
(Green on General Will)

सामान्य इच्छा की धारणा के सम्बन्ध में ग्रीन हॉब्स, लॉक तथा रूसो से बहुत प्रभावित है तथापि उसके मतानुसार इनके सिद्धान्तों में एक गम्भीर दोष यह है कि वे सम्प्रभु और प्रजा को अमूर्त मानने के कारण यथार्थता से दूर चले जाते हैं। प्रजा के सम्बन्ध में प्राकृतिक अधिकारों की उनकी धारणा दोषपूर्ण है क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों का अस्तित्व समाज के अभाव में नहीं रह सकता। सर्वोच्च अधिकारी शक्ति को समझौते की बाह्य वस्तु बतलाते हैं। सम्प्रभु और प्रजा के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के लिए अथवा दूसरे शब्दों में, "राज्य के अपने प्रति आज्ञाकारिता के अधिकार और प्रजा की आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य को उचित सिद्ध करने" की समस्या को सुलझाने के प्रयत्नस्वरूप उन्होंने संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की रचना की है, पर उनकी मान्यताएँ एवं प्रणालियाँ भ्रमपूर्ण हैं क्योंकि समाज के बिना अधिकार की धारणा निराधार है।

ग्रीन का विश्वास है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसको ग्रीन 'सामान्य इच्छा' (General Will) की संज्ञा देता है। सामान्य चेतना अधिकारों और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी संरक्षक संस्थाओं की भी स्थापना करती है। राज्य मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक संस्था है और सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। सामान्य इच्छा ही राज्य की सत्ता का प्राण है। यही उस सम्प्रभुता की सृष्टि करती है जिसका ध्येय अधिकारों को क्रियान्वित करना एवं उन संस्थाओं को पूर्ण स्वस्थ अवस्था में रखना है जो अधिकारों और कानूनों के मूर्तरूप हैं। ग्रीन के अनुसार राज्य का जन्म सामाजिक समझौते द्वारा न होकर मनुष्यों के सामान्य हित की सिद्धि के लिए होता है। राज्य के बिना सामान्य हित की प्राप्ति नहीं की जा सकती और रूसो के सिद्धान्त में सत्य का इतना ही अंश है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं, बल्कि सामान्य इच्छा है।

ग्रीन ने भी इच्छा के दो रूप माने हैं—(1) वास्तविक इच्छा (Actual Will) एवं (2) यथार्थ इच्छा (Real Will)। वास्तविक इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है। इसका निर्माण मनुष्य की काम, क्रोध, मद, मोह आदि भावनाओं के वशीभूत होता है। यह इच्छा विवेकहीन होती है और यथार्थ इच्छा अर्थात् सदेच्छा (Real Will or Good Will) के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करती है। इसके विपरीत यथार्थ इच्छा अथवा सदेच्छा व्यक्ति के अन्तःकरण की ध्वनि को प्रकट करती है। इन सदेच्छाओं के सामूहिक रूप को ही ग्रीन ने 'सामान्य इच्छा' की संज्ञा दी है। ये सद्-इच्छाएँ ही राज्य का वास्तविक आधार हैं और राज्य इनका प्रतिनिधित्व करता है। यदि वास्तविक इच्छाओं (Actual Wills) अर्थात् भावनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य को आचरण करने दिया जाए तो मानव के नैतिक विकास के वातावरण का निर्माण कभी नहीं होगा। यही कारण है कि सामान्य चेतना (Common Consciousness) किसी ऐसी नैतिक संस्था को आवश्यक समझती है जो स्वतन्त्र कार्यों के लिए आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इस नैतिक संस्था का नाम ही राज्य है। ग्रीन लिखता है कि—"नागरिक जीवन के सहवास का मूल इस बात में निहित है कि मानवीय इच्छा और विवेक की नैतिक संस्थाओं को यथार्थ रूप दे दिया जाए।"

'राज्य सामान्य इच्छा का अभिव्यक्तिकरण है'—इस परिणाम पर ग्रीन जिस तरह पहुँचा उस पर पूर्ववर्ती पृष्ठों में काफी कुछ कहा जा चुका है। उसे दुहराते हुए संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ग्रीन का यह मूल विश्वास है कि संसार में एक चेतना व्याप्त है जिसका लक्ष्य स्वतन्त्रता है। मानव-चेतना इस चेतना का ही एक अंश है। मानव-चेतना का लक्ष्य है कि आत्म-विकास द्वारा

विश्व-चेतना के साथ एकाकार हो जाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब मानव का नैतिक विकास हो क्योकि मानव-चेतना बुद्धि के आधार पर ही विश्व-चेतना का एक अंग बन सकती है। मानव-चेतना विश्व-चेतना का ही एक अश होने के कारण यह अनुभव करती है कि वह दूसरो के साथ रहकर ही अपना विकास करती है। इस भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो के सम्पर्क मे आते हैं। व्यक्तियो के विकास के लिए कुछ सुविधाओ की आवश्यकता होती है जिन्हे प्रदान करने के लिए और उनकी दुष्ट व्यक्तियो से रक्षा करने के लिए विधि-प्रणाली की जरूरत पडती है। इस प्रकार की विधि-प्रणाली राज्य ही प्रदान कर सकता है। अतः यह सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य की यथार्थ इच्छा के कारण ही अस्तित्व मे आता है।

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन क्यो करते है—शक्ति से भयभीत होकर अथवा सामान्य हित की आकांक्षा से? ग्रीन का उत्तर है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन सामान्य हित की आकांक्षा से ही करते हैं। राज्य व्यक्तियो की सामान्य हित-कामना का ही फल है। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता उनका पालन इसलिए नही करती कि उल्लघन करने पर दण्ड का भय होता है वरन् इस अनुभूति के फलस्वरूप करती है कि राज्य और उसके कानून सामान्य हित की सामान्य इच्छा पर आधारित हैं। प्रत्येक कानून अधिकारो की रक्षा से एक कडी का कार्य करता है। अत राज्य शक्ति का नही, इच्छा का प्रतीक है। ग्रीन राज्य को बल-प्रयोग का अधिकार इसलिए देता है कि राज्य मे सामान्य इच्छा का निवास होता है। ग्रीन की सामान्य इच्छा 'राज्य की इच्छा' नही अपितु 'राज्य के लिए इच्छा' है। सामान्य इच्छा वह इच्छा नही है जिसके नाम पर शासक जनता पर अत्याचार करते आए हैं। बार्कर के शब्दो मे—"सामान्य इच्छा का दावा है कि राजनीतिक कार्य को प्रेरित एव नियन्त्रित करने वाली शक्ति अन्तिम रूप मे एक आत्मिक शक्ति है। वह एक सामान्य विश्वास है जिससे सदाचरण का उदय होता है। वह एक सामान्य अन्त.करण है जो समाज के मन्त्रियो एव अभिकर्त्ताओ को शक्ति प्रदान कर सकता है ... "वह उस सम्प्रभु की सृष्टि करता है जिसका कार्य उन सब सस्थाओ को पूर्ण स्फूर्ति एव सामञ्जस्य के साथ कायम रखना है जो अधिकारो और विधियो के साकार रूप हैं।"[1]

ग्रीन का यद्यपि यह विश्वास है कि इच्छा ही राज्य का आधार है, बल नही, तथापि उसके समक्ष ऐसे भी राज्य थे जहाँ पर इच्छा के स्थान पर बल प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया जाता था और इसी कारण ग्रीन "राज्य को ईश्वरीय आत्मा (Divine Spirit) की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानते हुए भी यह स्वीकार करता है कि राज्य वास्तविक रूप मे अपने निर्दिष्ट आदर्शो को केवल आँशिक रूप से ही पूर्ण करते हैं।"

'सामान्य इच्छा' पर विचार करते समय एक प्रश्न यह उठता है कि क्या निरकुश एवं अत्याचारी राज्यो का आधार भी सामान्य इच्छा ही होती है। ग्रीन इसके उत्तर मे तीन बातें प्रस्तुत करता है—(i) इन राज्यो को विकृत राज्य की सज्ञा देनी चाहिए, (ii) इन राज्यो को जो कुछ भी सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है, उसे जनता के आलस्य के कारण प्राप्त हुआ समझा जाना चाहिए, एव (iii) व्यक्ति स्वय ईश्वरीय आत्मा के प्रतिरूप होते हैं, अतः बुराइयो के होते हुए भी उनमे विद्यमान ईश्वरीय आत्मा उनकी बुराइयो मे से अच्छाइयाँ निकाल लेती है। उदाहरणार्थ सीजर ने ससार को रोमन विधि (Roman Law) की महान् देन दी चाहे वह शक्ति का प्रदर्शक और आकांक्षी ही क्यो न रहा हो। ग्रीन की इस धारणा से यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के राज्य अथवा शासन मे किसी न किसी अश मे सामान्य इच्छा का निवास अवश्य रहता है। वेपर (Wayper) के अनुसार, "ग्रीन जब रूसो के इस विचार का खण्डन करता है कि विद्यमान राज्यो मे सामान्य इच्छा पूर्णतया लुप्त है तो साथ

1 *Barker*. Political Thought in England, p. 38

ही हीगल के इस विचार का भी खण्डन करता है कि विद्यमान राज्यों मे विधियाँ सामान्य इच्छा की पर्यायवाची हैं।" पुनश्च, वेपर ही के शब्दों में, "इस प्रकार हम हीगल की तरह ग्रीन पर व्यक्ति को राज्य पर बलिदान कर देने का आरोप नही लगा सकते।"

(3) सामान्य इच्छा पर विचार करते समय एक अन्य प्रश्न यह भी उठता है कि सामान्य हित की चेतना क्या समाज के प्रत्येक सदस्य मे विद्यमान रहती है। ग्रीन के अनुसार सामान्य हित की सामान्य चेतना गरीबो, अशिक्षितों और दैनिक कार्यों मे फँसे हुए व्यक्तियों में प्रायः नही पाई जाती जबकि शिक्षितो, वकीलो, डॉक्टरों और राजकीय कार्यकर्त्ताओं मे सामान्य हित का आंशिक ज्ञान पाया जाता है। सामान्य हित की पूर्ण चेतना का पाया जाना व्यक्तियों मे दुर्लभ है, पर इसका अर्थ यह नही लेना चाहिए कि सामान्य हित का व्यक्ति को कोई आभास ही नही होता। यह अपने प्रारम्भिक रूप में सभी नागरिकों मे पाया जाता है और इसलिए राज्य का अस्तित्व कायम रहता है। यदि इसका सर्वथा अभाव होता तो राज्य का अस्तित्व ही सम्भव न होता। यह कहा जाता है कि सामान्य हित की भावना नैतिक कर्त्तव्य के विचार के समान ही लोगों मे क्रियाशील रहती है यद्यपि इसकी पूर्ण चेतना अथवा अभिव्यक्ति केवल कुछ ही व्यक्तियों मे यदाकदा देखी जाती है।

राज्य के कार्यों पर ग्रीन के विचार
(Green on the Functions of the State)

ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचार पूर्णतया मौलिक हैं। उसने राज्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए रचनात्मक तथ्यों पर बल दिया है। उसने यद्यपि एक आदर्श राज्य [illegible] की कल्पना की है पर राज्य के जिन कार्यों का उल्लेख किया है वे यथार्थ राज्यों के ही कार्य हैं। हीगल का एक बड़ा दोष यह था कि वह यथार्थ राज्य के विवेचन से दूर रहा। ग्रीन का विश्वास था कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है, अतः उसके कार्य इसी उद्देश्य से प्रेरित होने चाहिए। प्रो. बार्कर के शब्दों मे—"राज्य का अन्तिम लक्ष्य नैतिक मूल्य होता है और यह एक अत्यन्त गौरवपूर्ण मूल्य है। यह एक नैतिक प्राणी है जिसे इसके नैतिक उद्देश्य ही जीवित रखते है।"

ग्रीन चरमतावादी राज्य (Absolute State) का चित्र नही खींचता। वह राज्य को वाह्य तथा आन्तरिक दोनो दृष्टियो से सीमित मानता है। राज्य के कार्य सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative) दोनो प्रकार के होने चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे जो कार्य करने योग्य है और इनके करने मे जहाँ वह बाधाओं के कारण असमर्थ हो, उन बाधाओं को दूर करे। ग्रीन राज्य को अधिकार देता है कि नैतिकता के विकास के लिए उचित होने पर वह नागरिको के कार्य में हस्तक्षेप करे तथा आवश्यक होने पर बल-प्रयोग से भी न हिचके।

नकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार ग्रीन के मत से राज्य का यह कर्त्तव्य किसी भी व्यक्ति को आन्तरिक अथवा नैतिक सहायता प्रदान करना नहीं है, अपितु उसका कार्य तो बाह्य-हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिससे व्यक्ति मे अधिक से अधिक सामाजिक अथवा नैतिक चेतना उत्पन्न हो। राज्य ऐसे व्यक्तियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करे जो सामाजिक उन्नति के मार्ग मे बाधक हों। राज्य उन सब स्थितियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील हो, जो नैतिकता के विकास मे बाधक हो। राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन-निर्वाह की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन की मान्यता है कि राज्य नैतिकता को लागू नही कर सकता। वह तो व्यक्ति के अन्तःकरण से सम्बन्धित वस्तु है जो व्यक्ति द्वारा आत्मारोपित कर्त्तव्यों के निष्पक्ष सम्पादन में ही निहित है। नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे बाह्य साधनो द्वारा स्थापित नही किया जा सकता। राज्य व्यक्तियो को कानून द्वारा अथवा बलपूर्वक नैतिक नही बना सकता। सामान्य हित की सामान्य चेतना को विधि के द्वारा प्रोत्साहित नही किया जा सकता। राज्य के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध से ग्रीन प्रस्तुत

प्रदर्शन का विरोधी है। शक्ति के प्रयोग से धार्मिक और नैतिक भावनाओं की अभिवृद्धि में कोई सहायता नहीं मिलती, उलटे हानि ही होती है। कोकर के अनुसार, "ग्रीन बड़ी दृढ़ता के साथ इस सिद्धान्त को मानता था कि राज्य का कार्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव कर देना है कि वह स्वयं श्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सके, परन्तु शासन किसी व्यक्ति को जीवन यापन के निकृष्ट ढंगों की अपेक्षा श्रेष्ठ ढंगों को पसन्द करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।" ग्रीन के शब्दों में, "व्यक्ति के बाहरी आचार-व्यवहार पर प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार के दण्ड की धमकी देकर कोई प्रतिबन्ध लगाना सामान्य हित के विरुद्ध है। व्यक्ति के आचरण की सारी क्रियाएँ सामान्य हित की दृष्टि से स्वाभाविक रूप से चलनी चाहिए। सरकारी प्रतिबन्ध सामान्य हित के स्वाभाविक संचालन में हस्तक्षेप है और उस क्षमता के विकास में रुकावट है जो अधिकारों के लाभकारी प्रयोग की आवश्यक शर्त है।......अतः राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप रुकावटें दूर करने तक ही सीमित रहना चाहिए।" कोकर का मत है कि "ग्रीन के विचार से इस सिद्धान्त के निर्हस्तक्षेप के पक्ष में कोई तर्क नहीं मिलता। ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें बहुत से व्यक्ति राज्य के हस्तक्षेप के बिना कोई विवेकपूर्ण लक्ष्य नहीं चुन सकते जिससे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो सके जिसमें उन्हें बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिकतम उन्नति करने का अवसर प्राप्त हो सके। एक ऐसे व्यक्ति के सामने जिसमें उच्चकोटि की सहज प्रतिभा है, उसकी पूर्ण आत्मोन्नति के मार्ग में अनेक प्रकार की ऐसी बाधाएँ आ सकती हैं जो उसकी अज्ञानता तथा उसके निवारण के साधनों के अभाव के कारण या दूसरों के छल या लापरवाही के कारण उत्पन्न होती हैं। अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, कारखानों का निर्माण तथा प्रबन्ध का नियमन, मालगुजारी की शर्तों की परिभाषा करने में तथा खाद्य-पदार्थों में मिलावट पर प्रतिबन्ध लगाने में राज्य माता-पिताओं, कारखानों के मालिकों, जमींदारों तथा भोजन-सामग्री का प्रबन्ध करने वालों में बलपूर्वक नागरिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करता; वह तो बालकों, कारखानों के मजदूरों, किसानों तथा उपभोक्ताओं में नागरिक चेतना की सम्भावनाओं को उन्मुक्त करने की चेष्टा करता है।"[1]

राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में कहाँ तक होगा तथा बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा, ग्रीन ने इसकी कोई निश्चित सीमाएँ निर्धारित नहीं की है, किन्तु उसने अपनी समकालीन व्यावहारिक परिस्थितियों को देखते हुए कुछ उदाहरणों द्वारा इस ओर संकेत अवश्य किया है। नकारात्मक दृष्टि से वह मानता है कि अज्ञानता, बर्बरता आदि के निराकरण द्वारा राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए, राज्य को भूमि-व्यवस्था का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए, व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करनी चाहिए, मद्यपान का निषेध करना चाहिए, भिक्षावृत्ति को मिटाना चाहिए, आदि। ग्रीन इन्हें मानव-विकास के मार्ग की बाधाएँ मानता है और इसलिए इन्हें दूर करने के लिए राज्य के प्रयत्नों की वकालत करता है। बार्कर के अनुसार, "ग्रीन स्वाधीनता की सृष्टि के लिए बल का प्रयोग करता है।"

ग्रीन का यह दृष्टिकोण कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को प्रतिबन्धित करना है, नकारात्मक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में बार्कर का मत है कि "ग्रीन की धारणा के अनुसार राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है। वह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो मानवीय क्षमता को करणीय कार्य करने से रोकती है। राज्य का अपने सदस्यों को श्रेष्ठतर बनाने का कोई सकारात्मक नैतिक कार्य नहीं है। उसका कार्य तो उन बाधाओं को दूर करने का है जो व्यक्ति को श्रेष्ठतर बनने से रोकती है और यह एक नकारात्मक कार्य है।"[2] ग्रीन के विचारों से प्रकट है कि "राज्य अपने किसी कार्य द्वारा यह निश्चित नहीं कर सकता कि कार्य कर्त्तव्य की भावना से किए जाएँ। वह केवल कर्त्तव्यशील कार्यों को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। फलतः वह

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 448-49
2 *Barker* op. cit., p 36

कर्त्तव्य की भावना से किए-जाने वाले कार्यों का क्षेत्र सीमित कर देता है। इसलिए नैतिक कार्य के क्षेत्र को सुरक्षित छोड़ देने तथा उसकी वृद्धि करने के लिए राज्य को स्वतन्त्र इच्छा मे हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, वरन् उसके मार्ग को सरल बनाना चाहिए।"

चाहे वाह्य रूप से देखने पर राज्य के ये कार्य नकारात्मक प्रतीत हों, लेकिन वास्तव में ऐसा है नही। ऐसा करने के लिए राज्य को सकारात्मक कार्य करने ही पडते हैं। बार्कर के अनुसार राज्य के कार्यों का उपर्युक्त दृष्टिकोण दो कारणो से सकारात्मक है। प्रथम, परिस्थितियो के निर्माण और बाधाओं को दूर करने के लिए। इनके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बात के सम्बन्ध में राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप आवश्यक है तथा राज्य को बल-प्रयोग द्वारा स्वतन्त्रता विरोधी शक्ति का प्रतिकार करना चाहिए। दूसरे राज्य का सर्वोपरि उद्देश्य सदा सकारात्मक होता है। जो सामान्य हित की प्राप्ति हेतु आत्म-निर्णय करने के लिए मानव-प्रतिभा को स्वतन्त्र करना है इससे बढ़कर और कोई सकारात्मक लक्ष्य नही हो सकता।"

बार्कर की मीमांसा का सार यह है कि नैतिकता के सम्बन्ध मे राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह नैतिकता के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करे, बलात् नैतिकता किसी पर लादी नहीं जा सकती। ग्रीन के अनुसार शासन को ऐसी व्यवस्था करनी है जिसमे मनुष्य नैतिकता के सिद्धान्तो पर चलता हुआ अपने कर्त्तव्यो का निष्काम भावना से पालन कर सके। इन कर्त्तव्यो को निभाने के लिए उपयुक्त अवस्था का निर्माण ही अधिकार है। राज्य के इस प्रकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता मे कमी न होकर वृद्धि होती है क्योंकि इस हस्तक्षेप में ही समाज का हित निहित है—"स्वतन्त्रता-विरोधी शक्तियों को दबाने के लिए राज्य को बल-प्रयोग अवश्य करना होगा।"

ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य विभिन्न सघो के पारस्परिक सम्बन्धो को सुव्यवस्थित करना भी है। वह प्रत्येक सघ की आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था का सन्तुलन करता है और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओ के साथ बाह्य समन्वय करता है। समन्वय स्थापित करने के अधिकार के कारण राज्य को अन्तिम सत्ता प्राप्त है। बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्णरूप से न अपनाने के कारण मैकाइवर ने ग्रीन की आलोचना करते हुए लिखा है—

"प्रारम्भ से अन्त तक वह इसी बात का विवेचन करता है कि जिन परिस्थितियों मे व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप मे कार्य कर सकता है उन परिस्थितियो को सुलभ बनाने के लिए राज्य क्या कर सकता है और इसके लिए उसे क्या करना चाहिए। पर उसके चिन्तन के आधार-स्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नहीं करता कि राजनीतिक विधान से भिन्न अन्य साधन सम्पन्न सघो के अस्तित्व का व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उसने इसका विचार किया होता तो उसे यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल यही नही है कि राज्य को क्या करना चाहिए, बल्कि यह भी है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है, क्योंकि राज्य अन्य शक्तियो से परावृत्त है, दूसरी कोटि के संगठनो से सीमित है जो अपने ढग से अपने उद्देश्यों को पूरा कर रहे हैं। ग्रीन प्रभुसत्ता की आधुनिक समस्या के किनारे तक पहुँचकर उसे छूकर ही रह जाता है, उसका हल नहीं दे पाता।"[1]

ग्रीन द्वारा निर्धारित राज्य के कार्य निष्कर्ष रूप मे इस प्रकार हैं—

1. नैतिकता मे बाधा उपस्थित करने वाली परिस्थितियो का दमन करना।
2. सदाचरण, पवित्रता तथा सयम को प्रोत्साहित करना।
3. उन साधनो की व्याख्या करना जिनसे नागरिको मे अधिकाधिक नैतिक भावनाओं एव चरित्र का विकास हो

1 *Maciver* : The Modern State, p. 471.

4. ऐसे लोगो के लिए दण्ड की व्यवस्था करना जो नैतिक नियमो मे बाधक हो।

5. शिक्षा-प्रसार द्वारा अज्ञानता रूपी सामाजिक अभिशाप को समाप्त करना।

6. सामान्य इच्छा एव जन-कल्याण मे प्रतिरोध उपस्थित करने वाले मद्य-निषेध हेतु कानून लागू करना। राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने नागरिको की मादक वस्तुओ के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करदे अथवा पूर्णरूप से समाप्त करदे।

7 व्यक्तिगत-सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारो की रक्षा करना एव भूमि-नियन्त्रण लागू करना।

8 विभिन्न वर्गों एव स्वार्थों मे सामजस्य स्थापित करना और बहुसख्यक वर्ग के लाभ के कार्य करना।

9 नैतिकता की अभिवृद्धि के लिए प्रत्यक्ष रूप मे बल-प्रयोग न करना।

10. अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना मे सहायक बनना। युद्ध का विरोध करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य है।

राज्य के ये कार्य केवल निषेधात्मक ही प्रतीत नही होते, अपितु व्यावहारिक रूप मे ग्रीन ने राज्य के विधेयात्मक कार्यों पर भी बहुत बल दिया है। अपने सम्पत्ति सम्बन्धी विचारो के कारण वह पूँजीवाद और समाजवाद के मध्यवर्ती काल का विचारक सिद्ध होता है।

राज्य और समाज
(State and Society)

ग्रीन ने राज्य को समाजो का समाज माना है। इन समाजो का निर्माणकर्ता राज्य नही है किन्तु इन सबके बीच एक निश्चित समन्वय स्थापित करने का राज्य को अधिकार (Right of Adjustment) है। बार्कर के शब्दो मे, "राज्य प्रत्येक सघ की आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था का सन्तुलन और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओ के साथ समन्वय करता है।" 'इसी समन्वय स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण राज्य एक अन्तिम राजसत्ता प्राप्त सस्था है। स्पष्ट है कि ग्रीन का सिद्धान्त बहुत कुछ बहुलवादी (Pluralistic) है। लेकिन बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्णतः न अपना सकने के कारण ही वह मैकाइवर की उस आलोचना का शिकार बना है जिसका पूर्व पृष्ठो मे उल्लेख किया जा चुका है।

प्राचीन काल मे अरस्तू ने राज्य को अनिवार्य एव स्वाभाविक बतलाये हुए उसे 'समुदायो का समुदाय' (Association of Associations) कहा था। ये समुदाय जिनसे अभिप्राय है विशिष्ठ उद्देश्य तथा लक्ष्य के आधार पर व्यक्ति का क्रमबद्ध रीति से चलने वाला सामूहीकरण—राज्य के पूर्व बने थे। चाहे ये राज्य के कारण न बने हो, लेकिन इनके सरक्षण मे राज्य का योगदान अवश्य रहा था और रहता है। कॉम्ट ने राज्य को आवश्यक, लाभदायक तथा नैतिकता एव सुरक्षा मे सहायक सस्था माना था। कॉम्ट के विचारो के आधार पर ग्रीन ने भी राज्य को लोकमत पर आधारित मौलिक समुदाय माना है और उसे व्यक्ति एव समाज के बीच की महत्वपूर्ण कडी के रूप मे स्वीकार किया है।

ग्रीन ने अन्य अनेक विचारको की भाँति राज्य और समाज के बीच भ्रांति उत्पन्न नही की है, प्रत्युत दोनो को भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे ग्रहण किया है। उसने यह प्रस्थापित करने की चेष्टा की है कि राज्य और समाज परस्पर विरोधी न होकर भी एक दूसरे से भिन्न हैं—

(1) राज्य सगठित शक्ति (चाहे वह समाज या बहुसख्यक समाज की हो) का प्रतीक है, शक्तिसम्पन्न होने से वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसके विपरीत समाज शक्तिहीनता का द्योतक है क्योंकि समाज की रचना विविध और विभिन्न वर्गों, तत्त्वो, स्वार्थों और व्यक्ति (Heterogeneous Elements) से होती है।

(ii) समाज मे व्यक्ति और राज्य के मध्य परिवार, धर्म-संघ, आर्थिक-संघ, व्यावसायिक एवं औद्योगिक संघ, शिक्षण संघ आदि अनेक उपयोगी समुदाय होते हैं जिनकी सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है, लेकिन राज्य की सदस्यता सर्वोच्च मानी जाती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायो मे नियन्त्रण तथा सामंजस्य कायम रखना है, इन्हे मिटाना या छीनना राज्य का उद्देश्य नहीं होता।

(iii) समाज के सम्मुख एक व्यापक उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य सदस्यो का सामाजिक जीवन में आत्म-विकास के लिए पूरी तरह से नैतिक भाग लेना है किन्तु इस उद्देश्य की घोषणा मात्र ही काफी नही होती। इसके अनुकूल वातावरण एवं साधनो का निर्माण करना राज्य का ही काम है इसलिए समुदायो की तुलना मे राज्य को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(iv) समाज मे बाध्यकारी शक्ति नही होती। समाज व्यक्ति के मार्ग के अवरोधो को दूर करने मे भी अक्षम है। इसमे यह कार्य करने के लिए आन्तरिक शक्ति स्वतः नही है। राज्य के माध्यम से ही समाज के उद्देश्यो की पूर्ति होती है। राज्य ही सब तरह के अधिकारो, विधियों, नियमों आदि का स्रोत है।

ग्रीन राज्य और समाज का भेद करते समय भी यह मान कर चलता है कि वे व्यक्ति की नैतिक और भौतिक समृद्धि में सहायक होते हैं। समुदाय महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे मानव को पूर्णता प्रदान करते हैं।

विश्व-बन्धुत्व एव युद्ध पर ग्रीन के विचार
(Green on Universal Brotherhood and War)

ग्रीन विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-शान्ति के समर्थको में है। उनकी विश्व-भ्रातृत्व की धारणा ईस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। वह युद्ध की निन्दा और विश्व-शान्ति की प्रशसा करता है क्योकि युद्ध एवं सघर्ष जीवन के अधिकार में बाधक हैं। जीवन के अधिकार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय जागृति ही विश्व-समाज का निर्माण करती है। ग्रीन के अनुसार मानवता के सामूहिक हित में ही व्यक्ति का हित निहित है और इसलिए कॉण्ट की भाँति वह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थक है और चाहता है कि वह समाज स्वतन्त्र राष्ट्रो की ऐच्छिक स्वीकृति पर आधारित हो। हीगल के सर्वथा विपरीत ग्रीन का विश्वास है कि राज्यो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता (International Code of Morality) सम्भव है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की धारणा कोरी कल्पना नही है। राष्ट्रीय ईर्ष्याओ मे कमी और युद्ध के गम्भीर कारणो के दूर हो जाने से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न साकार हो सकता है जिसकी शक्ति स्वतन्त्र राज्यो की स्वीकृति पर निर्भर हो। वर्ण या रंग-भेद की नीति विश्व-शान्ति के लिए घातक सिद्ध होती है। ग्रीन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व का आशय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को पूरी मान्यता दी जाए और क्षेत्रीय सम्प्रभुता (Territorial Sovereignty) की सीमा स्वीकार की जाए। दूसरे शब्दों में, बाह्य रूप में (Externally) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के क्षेत्र में मर्यादित रहे। यहाँ ग्रीन स्पष्टतः हीगल से सर्वथा भिन्न है और मानव-जाति के सार्वभौम बन्धुत्व पर विश्वास करने के कारण कॉण्ट के निकट है। वेपर के शब्दो में ग्रीन के सार्वभौम बन्धुत्व का अभिप्राय यह है कि "यदि ग्रीन का राज्य अपने अन्तर्गत कम बडे समाजो के अधिकारो की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर के बडे समाजो के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए।"[1] अर्थात् ग्रीन के अनुसार राज्य न तो पूर्ण है और न सर्वशक्तिमान। वह बाह्य तथा आन्तरिक दोनो रूप में सीमित है।

1 *Wayper* : Political Thought, p 186.

इस दृष्टिकोण मे आस्था के कारण ही युद्ध के प्रति ग्रीन के विचार हीगल और उसके जर्मन शिष्यों की धारणा से बिल्कुल भिन्न हैं। ग्रीन के मतानुसार "युद्ध कभी भी पूर्ण अधिकार (Absolute Right) नहीं हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार (Relative Right) हो सकता है। युद्ध मनुष्य के स्वाधीन जीवन-यापन के अधिकार का अतिक्रमण करता है। पहले की (Previous) किसी बुराई या अपराध को सुधारने के लिए एक दूसरी बुराई के रूप मे उसका औचित्य माना जा सकता है, अर्थात् युद्ध एक निर्दय आवश्यकता (Cruel necessity) के रूप में ही उचित माना जा सकता है, तथापि वह एक अपराध ही है।"

ग्रीन के अनुसार युद्ध एक नैतिक अपराध है। युद्ध कभी भी एक सही नही हो सकता। वह अपूर्ण राज्य (Imperfect State) का प्रतीक है। "हमारा निष्कर्ष यह है कि युद्ध मे जीवन का विनाश सदैव निन्दनीय कार्य है (अनेक अन्य अनिष्टो से जो युद्ध के प्रसग में होते हैं, यहाँ उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नही है), इसका दोषी चाहे जो कोई हो। इस बुराई में भागीदारी से युद्ध के केवल वे ही पक्ष मुक्त कहे जा सकते हैं जो सच्चाई से यह महसूस करते हो कि उनके लिए मनुष्य के नैतिक विकास की सामाजिक स्थितियों को कायम रखने का एकमात्र साधन युद्ध है। परन्तु ऐसी बहुत कम स्थितियाँ सामने आई है जिनमें यह धारणा सत्य सिद्ध हुई हो। इस धारणा मे यह नही भुलाया गया है कि केवल युद्ध के कारण अनेक सद्गुणों का प्रयोग होता है, अर्थात् युद्धो के कारण वे साधन प्राप्त होते है जिनसे मानव का विकास होता है, जो उत्तम हित के प्रति उन्नति का कारण माना जा सकता है। ये तथ्य उस कार्य की बुराई को कम नही करते जो युद्ध में निहित है।"[1]

ग्रीन का विश्वास है कि सभ्यता के विकास के साथ युद्ध जैसी घृणित वस्तु स्वतः ही लुप्त हो जाएगी। वह हीगल की युद्ध सम्बन्धी धारणा का कटु आलोचक है और युद्ध की आवश्यकता के प्रतिपादन में वह उसके (हीगल के) एक-एक तर्क का उत्तर देता हुआ यह निष्कर्ष निकालता है कि युद्ध प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने के मूल्यवान अधिकार पर आघात है, अत. वह किसी भी दृष्टि से न्यायसगत नहीं है। युद्धों के लाभों के खण्डन में ग्रीन ने हीगल के तर्कों का इस प्रकार उत्तर दिया है—

1. यद्यपि हीगल के कथनानुसार सिपाही हत्यारे से भिन्न हैं, फिर भी युद्ध एक सामूहिक हत्या के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता।

2 यद्यपि युद्ध-भूमि में कोई व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति को मारने के लिए सामान्यत शस्त्र नही चलाता, फिर भी युद्ध-क्षेत्र की हत्याओं का जिम्मेदार कोई न कोई व्यक्ति ही होता है।

3 हीगल का यह कथन असत्य है कि युद्ध में सिपाही स्वेच्छा से स्वय सेवक की भाँति प्राणों का बलिदान करते हैं। यह हो सकता है कि लोग सेना में स्वेच्छा से भर्ती होते हो, किन्तु इसका यह अर्थ नही होता कि उन्होने मरने के लिए ही सेना में प्रवेश लिया है। राज्य तो सभी की भलाई चाहता है। सैनिको को भी स्वतन्त्र जीवन का अधिकार है। अत यदि राज्य सैनिकों को खतरे में डालता है तो वह उनके जीवित रहने के अधिकार का उल्लघन करता है। इस दृष्टि से युद्ध मे मृत्यु हत्या के ही समान है, क्योंकि यह कोई आकस्मिक दुर्घटना नही हो बल्कि इसमें तो जानबूझ कर व्यक्तियो को मृत्यु के मुख में ढकेला जाता है।

4. युद्ध के समर्थन में यह तर्क खोखला है कि इसके द्वारा मनुष्यो मे वीरता और आत्म-बलिदान जैसे कुछ विशिष्ट गुणों का विकास होता है तथा यह मनुष्य के नैतिक विकास के उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियो के कायम रखने का (युद्ध) एकमात्र साधन है। युद्ध प्राय. उच्च आदर्शों की अपेक्षा तुच्छ स्वार्थों के लिए ही लड़े जाते है और युद्ध में जीवन का सहार सदा ही एक अपराध-कार्य है। मानव-जीवन को नष्ट करना सब परिस्थितियो में दुष्कर्म है। यह सच है कि फ्रांस मे सीजर के

1 *Green* Principles of Political Obligation (Hindi ed), p. 160.

विजय-अभियानो और भारत मे अंग्रेजी-युद्धो के बाद निश्चय ही लाभदायक परिवर्तन हुए, लेकिन ग्रीन का तर्क है कि ये परिवर्तन अन्य साधनो से भी ठीक उसी रूप मे लाए जा सकते थे। युद्ध तो मनुष्य की दुष्ट-प्रकृति की उपज है। मानव-स्वार्थ की वृद्धि ही युद्ध का उद्गम स्थान है।

5 युद्ध कभी अपरिहार्य नही हो सकते। गत युद्ध इसलिए हुआ कि सरकारो ने अपने कर्त्तव्यो का पालन ठीक ढंग मे नही किया।

6. हीगल के अनुसार एक राज्य की विजय अनिवार्य रूप से दूसरे राज्य की हानि नहीं होती। युद्धों का अस्तित्व तो इसलिए है कि इनसे राज्यों का अस्तित्व स्थिर रहता है। युद्धों का अस्तित्व इसलिए है कि राज्य सर्वसाधारण के अधिकारो की सुरक्षा नही करते। कोई भी राज्य युद्ध द्वारा मानवता के साथ बुराई करने में न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता। किन्ही विशेप परिस्थितियो मे ही किसी राज्य विशेप का यह कार्य न्यायपूर्ण भले ही माना जा सके।

7. "युद्ध की स्थिति राज्य की सर्व-शक्तिमानता की द्योतक नहीं है" वरन् वह उग्र राष्ट्रीयता और निकृष्ट कोटि की देशभक्ति (Chauvanism) को प्रोत्साहित करती है। वास्तविक राष्ट्रीयता 'विश्व-व्यापक राष्ट्रीयता' है। विश्व-बन्धुत्व के भाव जागत होने पर ही उचित राष्ट्रीय उन्नति हो सकती है। देश-भक्ति अन्य राज्यो के प्रति ईर्ष्या-भावना या उनके विरुद्ध लड़ने की भावना नहीं होती। देश भक्ति को सैनिक रूप देने की कोई आवश्यकता नही है। युद्धो से कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इनसे केवल विनाश और दैन्य की ही वृद्धि होती है।

ग्रीन के विचारो का सार यही है कि यदि राज्य अपने सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान है तो वह दूसरे राज्यो के साथ संघर्ष कर मनुष्य के मानवीय अधिकारो का उल्लघन नही कर सकता। राज्य की पूर्ण स्थिति मे युद्ध उसका आवश्यक गुण नहीं है।

नि.सन्देह ग्रीन के युद्ध-विरोधी विचार अत्यन्त श्रेष्ठ एवं पूर्ण तर्क-सम्मत हैं। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि ग्रीन द्वारा युद्ध की निन्दा उसके व्याख्यानो का सर्वश्रेष्ठ और ओजपूर्ण अंश है।[1]

दण्ड पर ग्रीन के विचार
(Green on Punishment)

ग्रीन का दण्ड सम्बन्धी विचार उसके राज्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त का एक अभिन्न अंग है। अपराधी की समाज-विरोधी इच्छा स्वतन्त्रता-विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थिति मे दण्ड उस शक्ति का विरोध करने वाली शक्ति बन जाता है। अधिकारों का उपयुक्त प्रयोग सम्भव बनाने के लिए ही दण्ड-विधान आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यो के उचित अधिकारों पर आघात करता है तो राज्य को दण्ड द्वारा ऐसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। वस्तुतः "समूह मे रहने का अधिकार इस योग्यता पर प्राप्त होता है कि मनुष्य सामान्य हित के लिए कार्य करेगा तथा इसमे यह अधिकार निहित है कि विघ्नो और बाधाओं से उसकी रक्षा की जाएगी।"[2] ग्रीन के अनुसार दण्ड-विधान का महत्त्व यह है कि यदि व्यक्ति स्वेच्छा से कभी समाज के विनाश पर उतारू हो जाए तो समाज का अन्त करने से पूर्व ही उस व्यक्ति को फाँसी पर चढा देना चाहिए।

दण्ड आवश्यक है, इस बात से तो कोई इन्कार नही करता, किन्तु दण्ड के स्वरूप और उद्देश्य के बारे में राजदर्शन-वेत्ताओ मे मतभेद है। कुछ दण्ड को प्रतिशोधात्मक (Retributive) मानते हैं, तो कुछ प्रतिरोधात्मक (Deterrent or Preventive) और कुछ सुधारात्मक (Reformative) मानते हैं। ग्रीन के दण्ड-सिद्धान्त मे प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक और सुधारात्मक तीनो ही तत्त्वों का समावेश है। प्रतिशोधात्मक तत्त्व इस रूप में विद्यमान है कि दण्ड द्वारा अपराधी

1 *Barker :* Political Thought in England, p 36.
2 *Green* · op cit., p. 172.

के मन मे यह भावना उत्पन्न होती है कि दण्ड उसके किए हुए कर्म का ही प्रतिफल है । प्रतिरोधात्मक तत्त्व का समावेश इस रूप मे है कि दण्ड का उद्देश्य समाज मे अपराध के प्रति भय का सचार करना है ताकि मनुष्य अपराधी मनोवृत्ति का परित्याग कर दे । सुधारात्मक तत्व का उद्देश्य है कि दण्ड द्वारा अपराधी मे आन्तरिक सुधार की भावना जागृत होनी चाहिए । ग्रीन ने इन तीनो ही तत्वो पर न्यूनाधिक बल दिया है, किन्तु सर्वाधिक मान्यता प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक (Deterrent or Preventive) सिद्धान्त को ही दी गई है ।

(i) प्रतिशोधात्मक तत्त्व—इस सिद्धान्त का अभिप्राय अपराधी से अपराध का बदला लेना है, किन्तु ग्रीन के अनुसार यह विचार त्रुटिपूर्ण है । बदला एक विशेष स्थिति है जबकि विधि एक सार्वजनिक वस्तु है । जब व्यक्ति अपराध करता है तो उसके प्रति प्रतिशोध जैसे निम्न स्तर की भावना उचित नही है । प्रतिशोध मे वैर-भाव निहित है, किन्तु जब राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है तो उसमे अपराधी के प्रति कोई वैर-भावना निहित नही होती । राज्य वैर-भाव से कभी दण्ड नही देता । राज्य का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक न होकर केवल अधिकारो को भग होने से रोकना है । "दण्ड-विधान का न्यायपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि दण्ड द्वारा अपराधी को इस बात का भान होता है कि अधिकार क्या है और उसने कौनसे अधिकार का उल्लघन किया है जिसके कारण उसे दण्ड मिला है ।" आवश्यक केवल यह है कि अधिकार सामान्य हित पर आधारित हो । यदि ऐसा है तो अपराधी को स्वय ही यह भान हो जाएगा कि दण्ड उसके कार्यों का ही प्रतिफल है और इस रूप मे दण्ड प्रतिशोधात्मक कहा जा सकता है, न कि इस बदले के विचार से कि 'आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' (An eye for an eye and a tooth for a tooth) निकाल लो । दण्ड का यह तरीका एकदम असभ्य और जगली है । दण्ड के इस तरीके का प्रतिपादन इसलिए किया जाता है कि अपराधी को अपराध की तीव्रता के अनुपात मे पीडा देनी चाहिए लेकिन इस दृष्टिकोण से भी यह बात गलत है । दण्ड की नाप-तौल नैतिक अपराध के अनुसार करना एक असम्भव कार्य है । विभिन्न व्यक्तियों में पीड़ा का परिणाम नापा नही जा सकता । उदाहरणार्थ, एक पहलवान को घूंसा मारने से उतनी पीड़ा नही होती जितनी एक साधारण व्यक्ति को । राज्य न तो दण्ड द्वारा होने वाले कष्ट को माप सकता है और न अपराध के नैतिक दोष को ही । यदि दण्ड से होने वाली पीडा और अपराध के नैतिक दोष के मध्य कोई अनुपात स्थिर करना राज्य के लिए सम्भव भी हो तो प्रत्येक अपराध के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्डो की व्यवस्था करनी होगी और इसका स्वाभाविक अर्थ होगा दण्ड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमो की समाप्ति ।

(ii) प्रतिरोधात्मक या निवारणात्मक तत्त्व—ग्रीन ने इसी तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया है क्योकि इस सिद्धान्त के आधार पर दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पीडा के लिए पीडा देना नही है और न ही मुख्यत. भविष्य मे उसको फिर से अपराध करने से रोकना है, वरन् उन व्यक्तियो के मस्तिष्क मे भय का सचार करना है जो अपराध के लिए उद्यत हैं । दण्ड का उद्देश्य उन बाह्य स्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कार्यों के लिए आवश्यक है । ग्रीन के अनुसार दण्ड की धारणा मे निहित बात यह है कि दण्डित व्यक्ति मे अपने कार्यो को सामान्य हित की भावना पर निर्धारित करने की सामर्थ्य है और दण्ड देने वाले अधिकारी के दिल मे जनहित पर आधारित अधिकार का विचार है । उस स्थिति मे भी दण्डित करना न्यायोचित नही हो सकता जब व्यक्ति किसी मान्य अधिकार को भग न करता हो । दण्ड का मुख्य रूप तो प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक है, अर्थात् समाज मे दण्ड से भय का ऐसा सचार कर देना है कि दूसरे व्यक्ति जो अपराध करने को उद्यत हो, रुक जाएँ । दण्ड प्रतिशोधात्मक केवल इसी अर्थ मे है कि अपराधी को यह अनुभव हो जाए कि उसे दण्ड के रूप में जो कष्ट मिला है उसका वह पात्र है और दण्ड उसके ही कर्म का प्रतिफल है ।

ग्रीन के मतानुसार प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त मे एक बुराई है । इससे किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियो को शिक्षा देने का साधन बना लिया जाता है जबकि वास्तव मे व्यक्ति स्वय साध्य है, साधन

नही। पर इस कमी के बावजूद प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त का महत्त्व कम नही है। दण्ड-विधान के इस सिद्धान्त को न्यायपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अपराधी को जिस अधिकार का उल्लंघन करने के लिए दण्डित किया जा रहा है वह काल्पनिक न होकर वास्तविक हो। यह भी आवश्यक है कि केवल उतना ही दण्ड दिया जाए जितना पर्याप्त हो। उदाहरण के लिए एक बकरी चुराने के अपराध मे मृत्यु-दण्ड देना न्यायपूर्ण नहीं है। प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के अनुसार कठोर दण्ड का अर्थ ऐसा दण्ड होगा जिससे अन्य लोगो के मन मे अधिक भय उत्पन्न हो। अपराध की गम्भीरता इस बात पर निर्भर होगी कि जिस अधिकार का उल्लंघन किया गया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है। इसी अनुपात में भय का सचार किया जाना चाहिए। दण्ड देने का और उसके द्वारा भय उत्पन्न करने का उद्देश्य अपराध को सार्वजनिक बनाने से रोकना है। राज्य का कार्य नकारात्मक है, अतः दण्ड का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त ही सबसे अधिक उपयुक्त है।

(iii) सुधारात्मक तत्त्व—सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य अपराधी में सुधार करना होता है, क्योकि सुधार भी अपराधो को रोकने मे अत्यधिक सहायक होता है, अतः इस सिद्धान्त का प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त के साथ सम्बन्ध है। जहाँ तक दण्डित व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जो दण्ड उसे दिया गया है उसका वह पात्र था और वह अपने कार्य से समाज-विरोधी रूप को समझकर तदनुसार पश्चाताप करता है, वहाँ तक दण्ड का प्रभाव सुधारात्मक हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, "वह सुधारात्मक उसी सीमा तक होता है जहाँ तक वह वास्तव मे प्रतिरोधात्मक होता है।" स्पष्ट है कि दण्ड का सुधारात्मक प्रभाव उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही सुफल है। इस प्रकार अपराधी अपराध करने की अपनी आदत से मुक्त हो जाता है अपराधी मे भी सुधार की क्षमता होती है, इसीलिए ग्रीन मृत्यु-दण्ड या आजीवन कारावास को उचित नही मानता। मृत्यु-दण्ड केवल उन्ही परिस्थितियो मे दिया जाना चाहिए जब राज्य यह निश्चय करले कि अमुक व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड देना समाज हित की दृष्टि से उचित है और उस अपराधी मे सुधार की कोई सम्भावना नहीं है।

दण्ड सुधारात्मक इस अर्थ में नही होता कि इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अपराधी का नैतिक सुधार करना हो। दण्ड का उद्देश्य अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक होता है क्योकि यह अप्रत्यक्ष रूप से अपराधी की इच्छा मे सुधार करता है। दण्ड के पीछे राज्य का पशुबल नही, अपितु समाज का नैतिक बल होता है। राज्य का न्यायिक कार्य अपराधी के नैतिक पतन को न तो देखता है और न देख ही सकता है। "अपराध मे निहित नैतिक पतन की मात्रा का सम्बन्ध अपराधी के ध्येय और चरित्र से होता है जिसे न्यायकर्त्ता नही जान सकता।" राज्य को अपराधी के नैतिक पतन पर ध्यान भी नही देना चाहिए क्योकि उसका कार्य दुष्टता को दण्डित करना नहीं है, अपितु अधिकारो के उल्लंघन को रोकना है, एव उन स्वस्थ बाह्य स्थितियो को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कार्य के लिए आवश्यक हैं। ग्रीन ही के शब्दो मे—

> "राज्य की दृष्टि पुण्य और पाप पर नही, बल्कि अधिकारो और अपराधो पर रहती है। जिस अपराध के लिए वह दण्ड देता है वह उनमे निहित गलती को देखता है, किन्तु बदला लेने के लिए नही अपितु भविष्य मे अधिकारो की रक्षा करने के लिए तथा गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को सम्बद्ध करने के लिए।"

सारांशतः ग्रीन के अनुसार दण्ड का प्रधान उद्देश्य भविष्य मे अपराध का निवारण है और इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए साधन यह है कि सार्वजनिक जनता मे अपराध के साथ इतना भय स्थापित कर दिया जाए जितना कि उस अपराध-निवारण के लिए आवश्यक हो। दण्ड के प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं जो अपने आप मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। बार्कर के कथनानुसार—"प्रत्यक्ष दण्ड अधिकार विरोधी शक्ति को रोकने वाली एक ऐसी शक्ति है जिसकी मात्रा दूसरी शक्ति के अनुपात मे होनी चाहिए जिसका मापदण्ड उन अधिकारो का विनाश है जिन्हे वह सुरक्षित रखता है और जिसका उद्देश्य

उसका अन्त करना तथा उसके अन्त द्वारा उस अधिकार-योजना को पुन प्रतिष्ठित करना होना चाहिए जिसका विरोध किया गया हो। अप्रत्यक्ष रूप से दण्ड इच्छा मे सुधार है और प्रभावशाली रूप से प्रतिरोधात्मक होने के लिए उसे ऐसा होना भी चाहिए, अथवा क्योकि इच्छा मे सुधार अभ्यन्तर से ही किया जा सकता है वह एक ऐसा आघात है जो अपराधी की इच्छा मे सुधार करना सम्भव बनाता है। अपने एक दूसरे रूप मे भी दण्ड बाधाओ को दूर करता है क्योकि वह बाधा, जिसका अपराधी विरोध करता है, केवल शक्ति ही नही, इच्छा भी है।"[1]

सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार
(Green on Property)

सम्पत्ति पर भी ग्रीन ने अपने युग की तुलना मे एक उदारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। न तो वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से समर्थन करता है और न ही प्रारम्भ से अन्त तक उसकी आलोचना करता है। इस प्रकार न तो वह व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। उसने सामान्यत: सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर किया है कि वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए अनिवार्य है। सम्पत्ति मनुष्य के स्वाधीन जीवन के अधिकार की एक उपसिद्धि (Corollary) है अर्थात् सम्पत्ति का अधिकार स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का ही एक उपसिद्धान्त है जो अवश्य ही उससे उत्पन्न होता है। सम्पत्ति के स्वामित्व से नैतिक व्यक्ति की सामान्य हित के लिए जीवित रहने की और अपने सामाजिक कार्यों को पूरा करने की शक्ति बढती है। सम्पत्ति-अर्जन को व्यक्तिगत विकास का आधार मानते हुए भी एक सच्चे आदर्शवादी की भाँति ग्रीन ने इस सम्बन्ध मे सामाजिक हित पर आघात नही किया है। उसके मत से सम्पत्ति की सर्वोत्तम परिभाषा यह होगी कि "सम्पत्ति उन समस्त साधनो का योग है जो मनुष्य मे आत्मानुभूति के सिद्धान्त को स्वतन्त्र विकास और सामान्य हित मे योग देने के लिए आवश्यक है। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की माँग करते हुए चिरस्थायी आत्मा ने जिन वस्तुओ को प्राप्त कर लिया है, वह उसी का फल है।"

ग्रीन की सम्पत्ति-विषयक धारणा के बारे मे तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(1) ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति पर इसलिए बल नही देता कि उसका प्रयोग सदैव सामान्य हित के लिए ही किया जाए, (2) वह सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करता है, एव (3) सम्पत्ति की असमानता को अस्वीकार करते हुए भी वह अनिश्चित धन-सचय को उचित नही समझता।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते हुए ग्रीन यह स्वीकार करता है कि सम्पत्ति मानव-योग्यता की सिद्धि का प्राकृतिक साधन है, स्वतन्त्र जीवन का एक आवश्यक आधार है और यह अनिवार्य नही है कि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को सदैव ही सामान्य हित के लिए प्रयुक्त करे। ग्रीन केवल इस बात पर बल देता है कि सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य सामाजिक हित होना चाहिए। उसका विश्वास था कि सम्पत्ति के माध्यम से वस्तुओ को अपने अधिकार मे कर एव उन्हे मानव की आवश्यकताओ के अनुकूल रूप देकर मनुष्य जहाँ एक ओर अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान उत्तम मनोभावों को भी व्यक्त कर सकता है। "सम्पत्ति का औचित्य इस बात मे है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति के लिए आवश्यक साधनो को प्राप्त करने और उन्हे अपने अधिकार मे रखने की शक्ति जिससे सामाजिक हित-साधन की सम्भावना हो समाज द्वारा सुरक्षित होनी चाहिए। व्यक्ति की इच्छा निश्चित रूप से इस लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है या नही—इससे उसके अधिकार पर कोई प्रभाव नही पडता। प्रत्येक व्यक्ति को यह शक्ति तो उस समय तक सुरक्षित होनी ही चाहिए जब तक वह अन्य व्यक्तियो द्वारा इसी प्रकार शक्ति के प्रयोग मे हस्तक्षेप न करे चाहे

1 *Barker* : Political Thought in England, p 50.

व्यवहार मे वह उसका कुछ भी प्रयोग क्यो न करे। इसका आधार यह है कि इसका अनियन्त्रित प्रयोग मनुष्य द्वारा उस स्वतन्त्र नैतिकता की प्राप्ति की शर्त है जो कि सर्वोच्च शुभ है।"[1]

इस बात पर विचार व्यक्त करते हुए कि सम्पत्ति की असमानता सम्भव और उचित है, ग्रीन ने लिखा है कि—"सामाजिक हित के लिए यह आवश्यक है कि समाज मे भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थितियो मे रहे। विभिन्न स्थितियो के लिए विभिन्न साधन आवश्यक हैं। इस प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताएँ सामान्य रूप से समाज के हित मे हैं चाहे वास्तविक रूप से ऐसा न हो।"[2]

ग्रीन की मान्यता है कि सामाजिक हित की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियो की आवश्यकता पड़ती है, सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन कोई अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता। यह भी सर्वथा स्वाभाविक है कि विभिन्न व्यक्ति किसी एक ही परिस्थिति में न रहकर भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे रहते हैं और इसोलिए उनके साधन भी भिन्न-भिन्न होते है। वे अपने विभिन्न साधनो के अनुरूप ही सामाजिक हित की क्षमता रख सकते हैं। अतः सम्पत्ति की विषमता उचित ही है। इस विषय मे प्रो. बार्कर का कथन है कि—"सम्पत्तिवान् स्वतन्त्र एव बुद्धिमान नागरिको की सहायता से हम प्रकृति पर भी विजय पा सकते है। ऐसी परिस्थितियो मे विभिन्न नागरिको के पास विभिन्न मात्रा मे सम्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु यह इतनी अवश्य होनी चाहिए जिससे इसका स्वामी राज्य में अपने कर्त्तव्यो का पालन भली-भाँति कर सके।"[3]

ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का आदर करते हुए और सम्पत्ति की असमानता को व्यक्ति एव समाज-हित की दृष्टि से उचित बताते हुए भी किसी भी स्थिति मे अनियन्त्रित धन-सचय को उचित नही ठहराता। उसका यह मत है कि यदि समाज के व्यक्तियो की स्वतन्त्र-इच्छा की पूर्ति मे बाधा पहुँचे, तो व्यक्तियो द्वारा धन-सचय पर रोक लगनी चाहिए। यदि कोई किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार मे बाधा पहुँचाता है तो उसे ऐसा करने से रोकना उचित ही है। "राज्य का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह यथासम्भव उसके दुरुपयोग को रोके। जहाँ कुछ स्वामी अपनी सम्पत्ति का निरन्तर ऐसा उपयोग करते हैं जिससे दूसरो की सम्पत्ति के स्वामित्व मे हस्तक्षेप होता है, वहाँ सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसके वितरण अथवा परित्याग पर सरकार मर्यादाएँ स्थापित कर सकती है।"

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों के प्रति उदासीनता नही दिखाई। उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषो का मुख्य स्रोत भूमि-स्वामित्व की उत्पत्ति तथा भू-स्वामियो को प्राप्त स्वतन्त्रताओं में देखा। ग्रीन ने यद्यपि भूमि-सुधारों के लिए कोई पूर्ण एवं विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नही किया और न ही भूमि की आय में अनार्जित वृद्धि की जब्ती का ही समर्थन किया, तथापि उसने निम्नलिखित प्रकार के कानूनों के निर्माण का प्रस्ताव किया—

(i) "जमीदारो तथा किसानो के ऐसे समझौतो पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए जिससे जमींदारो के लिए शिकार करने का अधिकार सुरक्षित रहे।

(ii) ऐसे बन्दोबस्तो (Settlements) को कानूनी स्वीकृति नही देनी चाहिए जो भविष्य मे भूमि-वितरण या भूमि-सुधार मे बाधक हो या जो किसान को अपनी भूमि को धन के रूप मे परिवर्तित करने या अपनी सन्तान में वितरण करने से रोके।

(iii) जो किसान अपनी भूमि का परित्याग करें, उन्हे उनके द्वारा किए गए भूमि के उन सुधारो के मूल्य की गारण्टी मिलनी चाहिए जिनका लाभ उनके भूमि-त्याग तक समाप्त न हुआ हो।"

"यदि मनुष्य को नैतिक बनाने के लिए स्वामित्व की आवश्यकता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि राज्य को सम्पत्ति के ऐसे उपयोगो को बर्दाश्त करना चाहिए जिससे एक बड़ा भूमिहीन

1 *Green* : Lectures on the Principles of Political Obligation, p. 220.
2 *Barker* . Political Thought in England, p. 55.
3 *Green* . Lectures on Political Obligation, p. 221.

सर्वहारा-वर्ग उत्पन्न होता हो ? इस वर्ग की वृद्धि तथा दुर्दशा के कारण उत्पादनकारी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाजवादी मान्यता नहीं देते, किन्तु ग्रीन के विचार से उसका कारण स्वामित्व का दुरुपयोग है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त किए बिना ही सरकारी नियमन द्वारा दूर हो सकता है।"[1]

ग्रीन सम्पत्ति विषयक अपनी धारणा मे वास्तव मे उदार था।

ग्रीन के दर्शन का मूल्यांकन
(Estimate of Green's Philosophy)

1 जिन लोगो ने आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया है, ग्रीन उन सबसे सर्वाधिक गम्भीर है। उसका दर्शन भी गुणो और दोषो का सम्मिश्रण है क्योकि वह हीगलवाद, व्यक्तिवाद एव उदारवाद का मिश्रित-रूप है। अपने सामान्य दर्शन मे वह हीगलवादी है तो राजनीति में उदारवादी। एक ओर तो ससार मे एक दैविक आत्मा अथवा बुद्धि (Divine Spirit or Reason) के अस्तित्व को हीगलवादी कल्पना मे उसका विश्वास है, दूसरी ओर उसमे "सभी अग्रेजो मे पाया जाने वाला प्रजा की स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग एव राज्य के विवेक के प्रति गहन विश्वास" विद्यमान है। एक आदर्शवादी के रूप मे वह राज्य की सविदा व यान्त्रिक एव शक्ति-सिद्धान्तो को अमान्य ठहराते हुए राज्य के सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) को स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही राज्य को स्वय साध्य मानने से इन्कार करता है। व्यक्तिवादी धारणा का कारण उसके लिए राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधन है और साध्य उस राज्य के रचयिता व्यक्तियो का पूर्ण नैतिक विकास है। उसका यह कथन कि अपने घटको के जीवन के अतिरिक्त राष्ट्र के जीवन का कोई वास्तविक अस्तित्व नही हो सकता, उसे हीगल की अपेक्षा कॉण्ट के अधिक निकट ला देता है। एक तरफ राज्य के सावयव सिद्धान्त मे विश्वास एव दूसरी तरफ व्यक्ति के मूल्य तथा सम्मान के प्रति गहरी श्रद्धा—ग्रीन के दर्शन में ये दोनो ही विपरीत बातें देखने को मिलती है जिनमें समन्वय करना बडा कठिन है। इन विचारो के कारण ही ग्रीन जहाँ राज्य को एक निश्चित शुभ (A positive good) मानते हुए उसके कार्य-क्षेत्र के विस्तार का पक्षपाती है, वहाँ राज्य के कार्यों का निषेधात्मक-रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ का निषेध करना है। पर वास्तविकता यह है कि बाधाओ को दूर करने मे राज्य को सकारात्मक रूप मे ही सब कुछ करना पडता है। अशिक्षा की बाधा को दूर करने के लिए राज्य विद्यालय खोलता है, अपराध की बाधा को दूर करने के लिए राज्य न्यायालयो और जेलो की व्यवस्था करता है तथा अरक्षा की बाधा दूर करने के लिए उसे पुलिस एव अन्य सेवाओ की व्यवस्था करनी पड़ती है। ये सभी कार्य सकारात्मक हैं, फिर राज्य के कार्य निषेधात्मक कैसे माने जाएँ ? राज्य की महान् देन को देखते हुए और उसके वर्तमान कल्याणकारी स्वरूप को ध्यान मे रखते हुए बडा असगत प्रतीत होता है कि राज्य के कार्यों को नकारात्मक माना जाए। ज्ञान, स्वास्थ्य, भौतिक सम्पन्नता आदि तो शुभ एव नैतिक जीवन की अनिवार्यताएँ हैं। चूंकि राज्य इनकी व्यवस्था मे योग देता है, अत उसका योगदान वास्तव मे सकारात्मक है लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि ग्रीन ने केवल 'निषेधात्मक' शब्द का नहीं अपितु 'निषेधात्मक नैतिक कार्य' (Negative Moral Functions) शब्दो का प्रयोग किया है। राज्य सकारात्मक कार्य करेगा, किन्तु नैतिक क्षेत्र में वह सकारात्मक दृष्टि से कुछ भी करने का अधिकारी है। यह व्यक्ति या समाज का अपना क्षेत्र है। एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि नैतिक कार्य क्या है, राज्य उनकी क्रियान्विति मे सकारात्मक रूप से बहुत कुछ करता है और उसके लिए ऐसा करना अपेक्षित भी है।

2. ग्रीन राज्य के कार्य सम्बन्धी विचारो मे स्वय को तत्कालीन विचारो के प्रभाव से मुक्त नही रख सका और इसी कारण वह उस समय के प्रचलित विचारो के अनेक दोषो पर ध्यान नही दे

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 449–51.

पाया है। इसके विपरीत उसने इन दोषो को अपने दर्शन द्वारा उचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अरस्तु दास-प्रथा में कोई अनौचित्य इसलिए नहीं देख पाया था क्योकि वह उस समय प्रचलित थी। इसी प्रकार ग्रीन ने भी पूंजीवाद को केवल इसीलिए समर्थन दिया प्रतीत होता है कि उसके समय में वह प्रचलित था। प्रथम तो समकालीन प्रभाव के कारण और द्वितीय अपने उदारवादी दृष्टिकोण एवं व्यक्ति के गौरव मे विश्वास के कारण वह इन खतरो को नही भांप सका है जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूंजी के एकत्रीकरण से उत्पन्न हो सकते हैं उसके आर्थिक विचार अपूर्ण एवं असन्तोषजनक हैं क्योकि वह कृषि-भूमि के सुधारों से ही सन्तुष्ट हो गया और पूंजी के कुछ मुट्ठी भर हाथो में संग्रह होने में उसे किसी विशेष खतरे का अहसास नही हुआ। उसने भूमि-अधिकरण व्यवस्था मे सुधार की माँग तो अवश्य की, लेकिन उसने पूंजीवाद को नियन्त्रित करने का कोई प्रस्ताव नही किया। उसने भूमि-सुधार के लिए भी कोई पूर्ण एवं विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नही किया और न ही भूमि की आय से अनार्जित वृद्धि की जब्ती का समर्थन किया। वह यह मानकर ही सन्तुष्ट हो गया कि यह मामला इतना जटिल था कि उसकी व्यवस्था इस प्रकार के व्यापक ढग से नहीं हो सकती थी। ग्रीन ने केवल पूंजीवाद का समर्थन ही नही किया, वल्कि अपनी नैतिक धारणा का पुट देकर यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि पूंजीवाद एक आदर्श स्थिति है। इस सम्बन्ध मे ग्रीन के बचाव में यह कहा जा सकता है कि उसके अनुसार राज्य का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह यथासम्भव सम्पत्ति के स्वामित्व के दुरुपयोग को रोके या उसे समाप्त कर दे लेकिन बचाव का यह एक निरर्थक तर्क है जिसके पीछे यथार्थ का वल नहीं है।

3 मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे ग्रीन अतिशय आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील एवं सदेच्छा से विभूषित प्राणी है। ग्रीन का यह विचार एकांगी है। मनुष्य में यदि बौद्धिक तत्त्व विद्यमान हैं तो साथ ही मानव-मस्तिष्क काम, क्रोध, घृणा, छल-कपट आदि अबौद्धिक तत्त्वो की भी रंग-स्थली है। यदि मनुष्य के राजनीतिक कार्य-कलापों पर दृष्टि डालें तो अबौद्धिक तत्त्वो का ताण्डव नृत्य स्वयंसिद्ध है। वेपर (Wayper) के अनुसार, "ग्रीन द्वारा चित्रित प्रायः विशुद्ध चेतना के रूप मे मनुष्य उतना ही स्वाभाविक है जितना उपयोगितावादियो का सुखाभिलाषी मनुष्य अथवा पुराने अर्थशास्त्रियों का आर्थिक मनुष्य।" डॉ. लंकास्टर (Dr. Lancaster) ने इस सम्बन्ध मे बड़ी ही तार्किक आलोचना प्रस्तुत की है। उनके शब्दों में—"ग्रीन की यह धारणा कि मनुष्य एक ऐसा नैतिक प्राणी है जो हमेशा आध्यात्मिक पूर्णता की खोज में व्यस्त रहता है, एक ऐसा भ्रामक विचार है जिसके लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है और जिसका वर्णन इस तरह किया गया है कि हम इसे अस्पष्ट एवं अवास्तविक कह सकते हैं। उसके विचारों को यदि अनुभव सिद्ध तत्त्वो की कसौटी पर परखा जाता तो तथ्य आसानी से उजागर हो सकता था। प्रत्येक परिस्थिति में यदि कोई मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति ऐसी भावना रखता है तो स्पष्ट है कि उसे इस मत से पर्याप्त सहानुभूति है कि राज्य (या समाज या जाति) ही व्यक्ति की सच्ची इच्छा व्यक्त करता है। ग्रीन किन्हीं अंशो मे यह विचार स्वीकार करता है, लेकिन वह ऐसे तर्क के परिणामो से यह कहकर बच निकलना चाहता है कि व्यक्ति की वास्तविक एवं सच्ची इच्छा प्रायः एक ही होती है। उसका विश्वास है कि आध्यात्मिक पूर्णता का प्रयास करने वाले व्यक्ति 'समाज' के सदस्य होने के नाते यह प्रयास करते हैं। अनेक युगो के बाद समाज ने एक जटिल सम्बन्ध का निर्माण किया है जो समष्टि रूप में 'सुखद जीवन' का परिचायक है और इस प्रकार के व्यावहारिक आदेशो का निर्माता है कि व्यक्तियो की इच्छा स्वयमेव इनके अनुकूल बन जाती है।"[1]

पुनश्च, डॉ. लंकास्टर के अनुसार ही "वास्तविक सत्य यह है कि मानव प्रकृति के बारे में ग्रीन की आशावादी धारणा ठीक वैसी ही कठिनाइयों में से निकलने का एक मार्ग है जैसी जॉन स्टुअर्ट

1 Masters of Political Thought, Vol. III, p. 219-20.

मिल ने अनुभव की थी कि यदि मनुष्य वस्तुतः स्वतन्त्र हो जाएँ तो वे दुष्कर्म करने लग जाएँगे। इस प्रकार की परिस्थितियों मे थोडी-सी स्वतन्त्रता और सदाचार के मेल के रूप मे समाज-विरोधी कार्यों को रोकने के अधिकारो को सम्मिलित करके कोई उपाय खोजना चाहिए। ग्रीन की तुलना मे मिल मानव-स्वभाव के बारे मे अधिक निराशावादी था जिसके फलस्वरूप उसने कुछ परिस्थितियो मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप के विषय मे आपत्ति नही की। उसने वास्तविक इच्छा और सच्ची इच्छा के बारे मे भी कल्पना नही की। ग्रीन ने तो यह कल्पना की है कि मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की खोज करता है और यह भी माना है कि व्यक्ति की आध्यात्मिक पूर्णता का आशय अन्य लोगो की आध्यात्मिक पूर्णता भी है। इस प्रकार उसके लिए सर्वसाधारण की और व्यक्ति की इच्छा का एकीकरण शासन की शक्ति का समर्थन किए बिना ही सरल हो गया है।"

4 ग्रीन के विचारो मे तार्किक असगतियाँ हैं। वह मनोवैज्ञानिक सत्य और यथार्थवाद से दूर है। उसे समाज की वास्तविक स्थिति का व्यावहारिक ज्ञान नही है और अपनी समकालीन अवस्था को ही वह कुछ सशोधन के साथ स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार यह यथास्थितिवादी है। आध्यात्मिक तत्त्वो की खोज मे नैतिकता के आत्मजाल मे भटकता हुआ ग्रीन भौतिक समृद्धि की पूरी विवेचना नही कर पाता। हीगल के समान ही उसका दर्शन भी सूक्ष्म और क्लिष्ट है। उसके 'सदेच्छा', 'शाश्वत् आत्म-चेतना', 'सामान्य इच्छा की सामान्य चेतना' आदि के विचार इतने अधिक कल्पनात्मक है कि उन्हे ठीक प्रकार समझना कठिन है। इनके कारण ग्रीन का दर्शन बहुत बोझिल बन गया है। इच्छा सम्बन्धी ग्रीन के विचार की आलोचना मे हॉबहाउस (Hobhouse) का कथन है कि "जहाँ तक इच्छा का सम्बन्ध है, यह सार्वजनिक नही होती, और जहाँ तक सार्वजनिक होती है वह इच्छा नही रह जाती।"[1] ग्रीन ने रूसो और ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारो मे सुधारात्मक सशोधन करने का प्रयत्न तो किया है किन्तु 'सामान्य इच्छा' सम्बन्धी व्यावहारिक समस्याओ का वह कोई समाधान नही कर सका है। पुन: सामान्य इच्छा को इतना अधिक महत्त्व देने के बाद ग्रीन यह कह कर कि "महान् व्यक्तियो मे बुराइयो के होते हुए भी ईश्वरीय आत्मा उनके कुकृत्यो से भी अच्छाई निकलवा लेती है" सामान्य इच्छा का महत्त्व नगण्य कर देता है। ग्रीन की इस धारणा को स्वीकार नही किया जा सकता कि महापुरुषों के गुणो के सामने उनके अवगुणो को भूल जाना चाहिए। यह तो फ्रेडरिक महान् के इन वचनो की पुनरावृत्ति है कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति अथवा किसी कार्य की पूर्ति के लिए चाहे कितने भी अनैतिक साधनो का उपयोग क्यो न किया जाए, लेकिन कोई न कोई ऐसा दार्शनिक अवश्य पैदा होगा जो इन पर पर्दा डाल देगा।

5 ग्रीन शासन मे जनता के सक्रिय रूप से भाग लेने का समर्थक है, तथापि हॉबहाउस जैसे आलोचको के अनुसार उसके सिद्धान्त मे निरकुश स्वेच्छाचारी शासन के बीज विद्यमान हैं। ग्रीन के दर्शन मे ऐसा कोई मौलिक क्रान्तिकारी तत्त्व नही है जो राज्य की बढती हुई स्वेच्छाचारिता को रोकने का प्रभावकारी साधन प्रस्तुत कर सके। ग्रीन यह आवश्यक नही समझता कि उत्तम शासन के लिए लोकशासन होना चाहिए। इसके विपरीत उसे यह मान्य है कि निरकुश शासन भी सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता है क्योकि राज्य का उद्देश्य तो 'सामान्य हित' की प्राप्ति है और इस उद्देश्य की सिद्धि निरकुश या सांविधानिक दोनो ही प्रकार के शासनो द्वारा की जा सकती है।

6. ग्रीन के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त ने उसे कठिनाइयो मे फँसा दिया है। उसने एक हाथ से अधिकार देकर दूसरे हाथ से वापस ले लिए हैं। उसने केवल यह स्वीकार नही किया है कि आत्मा द्वारा किया हुआ न्याय ही नैतिक रूप से कानून का न्यायालय है, बल्कि इस बात पर भी बल दिया है कि व्यक्ति को समाज के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नही है और व्यक्ति का कर्त्तव्य समाज

1 *Hobhouse* : The Metaphysical Theory of the State.

की उन्नति करना है। वह एक तरफ तो कहता है कि अधिकार स्वीकृति द्वारा निर्मित हैं और दूसरी तरफ मानता है कि ऐसे भी कुछ अधिकार हैं जिनकी स्वीकृति अवश्य ही मिलनी चाहिए। ये दोनों ही कथन परस्पर असंगत हैं। यदि अधिकारों के पीछे आधारभूत तत्त्व राज्य की स्वीकृति है तो व्यक्तियों के समाज के ऐसे दावे को अधिकार कहना भ्रमात्मक है जिसको राज्य की स्वीकृति प्राप्त नहीं है।

7. दण्ड का सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय भी ग्रीन मानव-भावनाओं की अवहेलना करता है। मनुष्य का यह चित्रण अवास्तविक है कि वह लगभग पवित्र चेतना का स्वरूप है।

8. ग्रीन विशेष परिस्थिति में व्यक्तियों द्वारा राज्य का प्रतिरोध करने के अधिकार को मान्य ठहराता है, पर साथ ही इसमें इतने प्रतिबन्ध लगा देता है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिरोध का यह अधिकार व्यर्थ-सा हो गया है। ग्रीन हमें कोई ऐसा स्पष्ट आधार नहीं बतलाता जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि अमुक स्थिति में राज्य का विरोध करने में कार्य सामान्य हित के निमित्त होते हैं।

9. ग्रीन के अनुसार राज्य सर्वशक्तिमान न होकर आन्तरिक और बाह्य दोनों रूप से सीमित है। समाज के भीतर विभिन्न स्थायी संघों की अपनी एक आन्तरिक अधिकार व्यवस्था होती है और राज्य का अधिकार उनमें केवल समन्वय स्थापित करने का है। अपने इसी अधिकार के फलस्वरूप राज्य को अन्तिम सत्ता प्राप्त है। बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्ण रूप से न अपनाने के कारण मैकाइवर ने ग्रीन की आलोचना करते हुए कहा है कि "प्रारम्भ से अन्त तक ग्रीन यही विवेचना करता है कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप में कार्य कर सकता है उन परिस्थितियों को सुलभ बनाने के लिए राज्य क्या कर सकता है और इसलिए उसे क्या करना चाहिए। पर उसके चिन्तन के आधार स्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नहीं करता कि राजनीतिक विधान से भिन्न अन्य साधनों से सम्पन्न दूसरे संघों के अस्तित्व का व्यक्ति और समाज पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। यदि वह इस पर विचार करता तो उसे स्पष्ट हो जाता कि प्रश्न केवल यही नहीं है कि राज्य को क्या करना चाहिए बल्कि यह भी है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है क्योंकि राज्य दूसरी शक्तियों से घिरा हुआ है तथा दूसरी श्रेणी के संगठनों से सीमित है, जो अपने ढंग से अपने उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न हैं। ग्रीन प्रभुसत्ता की आधुनिक समस्या के छोर तक पहुँच कर उसे छूकर ही रह जाता है, उसका हल नहीं दे पाता।"[1]

10. ग्रीन अत्यधिक-बुद्धिवादी दृष्टि से सब समस्याओं का समाधान करता है। वह भूल जाता है कि व्यक्ति अपने अधिकांश कार्य अचेतन मन और मनोभावनाओं के प्रबल आवेगों में बहकर करता है।

ग्रीन का दर्शन यद्यपि गम्भीर दोषों से ग्रस्त है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि मूल रूप से उसके सिद्धान्त आज भी ठीक मालूम पड़ते हैं। उदारवादी सिद्धान्त का जो नवोद्धन ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियों ने किया था उनमें ग्रीन सबसे प्रमुख था—कम से कम राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में।[2] हम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि व्यक्ति के मूल, समाज के महत्त्व, स्वाधीनता के सम्मान और अन्तर्राष्ट्रीयता की उपयोगिता को ग्रीन ने शुष्क काल्पनिक दार्शनिक दृष्टि से नहीं बल्कि एक अनुभवी, व्यावहारिक तथा गम्भीर विचारक की सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। उसके सम्पत्ति के अधिकार तथा निरंकुश राज्य विरोधी विचार भी उदार और ठोस हैं। पूँजीवादी सम्पत्ति के समर्थन राज्य द्वारा अनार्जित वृद्धि के विनियोग का विरोध दण्ड के प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त आदि पर आग्रह आज भी सम्भव है। बार्कर के अनुसार, "चाहे हमें उचित प्रतीत न हो, पर किन्हीं विशेष परिस्थितियों का जो विश्लेषण उसने किया अथवा किसी नीति विशेष के जो सुझाव उसने दिए, उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण वे सिद्धान्त हैं जिनकी उसने स्थापना की। यदि उसके सिद्धान्त सत्य हैं तो प्रत्येक युग अपनी

1 Mciver The Modern State, p 471
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 680.

आवश्यकताओं के अनुकूल उनकी प्रगतिशील व्याख्या कर सकता है। व्यक्ति के महत्त्व पर उसका दृढ़ विश्वास, व्यक्ति की स्वाधीनता पर उसकी गहरी आस्था, उसका यह विश्वास कि व्यक्ति का कल्याण सामाजिक कल्याण का एक अंग है, राज्य को रहस्यवादी शिखर पर पहुँचाने की उसकी अस्वीकृति, एक सार्वभौम भ्रातृत्व और अन्तर्राष्ट्रीय विधान की स्वीकृति, नैतिक कार्यों की आत्म-प्रेरणा को जीवित रखने के उद्देश्य से राज्य की शक्ति का परिसीमन करने की उसकी उत्सुकता, अधिकारों पर उसका बल, उसका यह विचार कि व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और उसकी यह मान्यता है कि कठिन परिस्थितियों में व्यक्ति को राज्य की शक्ति का प्रतिरोध करने का अधिकार है—यह सब आज भी उतने ही सही हैं जितने सन् 1879-80 में उस समय थे जब ग्रीन ने इनका प्रतिपादन किया था।" डा. लकास्टर के अनुसार ग्रीन ने इस तत्त्व का दर्शन किया है कि "राजनीतिक प्रजातन्त्र के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र का होना भी उसी प्रकार अत्यावश्यक है जिस प्रकार राजनीतिक प्रजातन्त्र-पद्धति में सर्वसाधारण के लिए समान अवसर की प्राप्ति एक प्रमुख सिद्धान्त है। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को भावनाओं के आधार पर हल करने के प्रयत्न में ग्रीन ने कम से कम उन प्रकार की बातों का भी अनुभव किया है जिनका प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्र समाज की दृढ़ता के लिए ध्यान रखना चाहिए।"[1]

राजदर्शन को ग्रीन की महत्त्वपूर्ण देन संक्षेप में निम्नानुसार प्रस्तुत की जा सकती है—

प्रथम, ग्रीन ने उपयोगितावाद और उदारवाद में समयानुकूल संशोधन कर उसमें नवजीवन का संचार किया और जो उपयोगितावाद मिल के समय तक निष्प्राण हो चुका था, उसे अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा शक्तिशाली बनाया। उसने इस उपयोगी धारणा की पुष्टि की कि मनुष्य कोरे भौतिक सुख का अन्वेषणकर्त्ता नहीं बल्कि अपनी आत्मा के विकास का इच्छुक और समाज का हितैषी है।

दूसरे, ग्रीन ने बहुत ही सुन्दर ढंग से जर्मन आदर्शवाद को व्यक्तिवाद के साथ सम्बद्ध किया। हीगल ने व्यक्ति को साधन बनाकर उसके हितों को राज्य की बलिवेदी पर चढ़ा दिया था जबकि ग्रीन ने राज्य को आदर्श बतलाते हुए भी व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व दिया और उसे व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए एक साधन माना। हीगल ने युद्ध का समर्थन किया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों पर कोई नैतिक बन्धन न मानकर उन्हें मनमाना कार्य करने की छूट दे दी थी। ग्रीन ने इन दूषित विचारों में संशोधन किया। उसने इस बात पर बल दिया कि राज्यों को परस्पर युद्धों में नहीं उलझना चाहिए। उसने युद्ध को प्रत्येक दशा में अनैतिक माना और अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के संघर्षों का अन्त करने की आशा की।

तीसरे, ग्रीन ने राज्य के कार्यों का निर्धारण उपयोगितावादियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से किया। राज्य के कार्यों को नैतिक आधार प्रदान कर उसने उदारवाद को नैतिकता और सामाजिकता का बाना पहना दिया और नैतिकता को इतना व्यापक बना दिया कि सामाजिक सद्भावना सभी युगों के व्यक्तियों के लिए उपयोगी हो सकती है। वेपर के शब्दों में—"ग्रीन ने उदारवाद को एक रुचिकर विषय की अपेक्षा एक विश्वास में परिवर्तित कर दिया। उसने व्यक्तिवाद को मानसिक तथा सामाजिक रूप प्रदान किया और आदर्शवाद को सभ्य एवं सुरक्षित समाज में परिवर्तित कर दिया। कम से कम अंग्रेज उसकी इस देन को तुच्छ नहीं समझ सकते।" पुनश्च 'ग्रीन की महानता इसमें है कि उसने अंग्रेजों को एक ऐसी वस्तु प्रदान की जो बेन्थमवाद से अधिक सन्तोषप्रद है। उसने उदारवाद (Liberalism) को एक हित के बजाय एक विश्वास का रूप दिया है। उसने व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक एवं आदर्शवाद को सभ्य तथा सुरक्षित बनाया है। अंग्रेजों के लिए उसके कार्य का बड़ा महत्त्व है।"[2]

1 Masters of Political Thought, Vol. III, p 228.
2 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 453.

अन्त में हम ग्रीन के मूल्यांकन में मैकन (Macunn) के इस विचार से सहमत हैं कि "यदि प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन मे मानव-हित को महत्त्व देना और संस्थाओं सम्बन्धी वाद-विवाद मे नागरिको के सुख-दुःख के आधार पर निर्णय करना ही व्यक्तिवाद है तो राजनीतिक दर्शन में बहुत कम व्यक्तिवादी ऐसे होगे जो ग्रीन से अधिक प्रसिद्ध हो।" कोकर के शब्दो मे, "ग्रीन के अधिक मर्यादित विचारो का अनेक वर्तमानकालीन प्रसिद्ध लेखको, मुख्यतया इटली मे बेनेदेतो क्रोस (Benedetto Croce), इग्लैण्ड में सर हेनरी जोन्स, जॉन वाटसन, जे. एम मैकेंजी, अर्नेस्ट बार्कर, हैदरिंगदन, हर्नले तथा फिशर और संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रो विलियम, ई. हाकिंग तथा नार्मन वाइल्ड (Norman Wilde) ने अनुसरण किया है। ये विद्वान् ग्रीन के समान साधारणतया यह मानते हैं कि—(i) मनुष्य केवल राजनीतिक समाज का सदस्य होने के कारण ही सबसे सच्चे अर्थ मे मनुष्य अर्थात् ऐसा प्राणी है जिसका आचरण, पशु-जगत् के आचरण को निर्धारित करने वाली शारीरिक प्रवृत्तियों या इच्छाओ से भिन्न विवेकपूर्ण तथा नैतिक आदर्शों पर निर्धारित होता है, (ii) वे साधारणतया इस बात से भी सहमत है कि यद्यपि राज्य के लक्ष्य केवल नैतिक है और अपनी शक्ति के लिए वह अपने सदस्यो मे नैतिक आदर्शों की किसी प्रकार की एकता पर निर्भर रहता है, तथापि उसे अब अनेक, विशेषकर आर्थिक, कार्य भी करने होते हैं—उसे अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न भयंकर आर्थिक असमानताओ को दूर कर स्वतन्त्र नैतिक जीवन को सम्भव बनाना है, एव (iii) वे यह मानते हैं कि राज्य का लक्ष्य ऐसी सामाजिक अवस्थाओं को कायम रखना है जिनमें अच्छे स्वभाव वाले व्यक्ति तथा बौद्धिक उन्नति मे कम से कम बाधाएँ उपस्थित हो।"

31 ब्रैडले एवं बोसाँके

(Bradley and Bosanquet)

टॉमस हिल ग्रीन ने आदर्शवाद एव उदारवाद मे जो समन्वय स्थापित किया, वह अधिक समय तक नही चल सका क्योकि ग्रीन के परवर्ती आदर्शवादी विचारको ने उसके दर्शन के उदारवादी तत्त्व को पृष्ठभूमि मे डाल दिया एव आदर्शवादी तत्त्व को अग्रसर कर वे हीगलवाद की दशा मे अग्रसर हुए। फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले तथा बर्नार्ड बोसाँके नामक दो प्रमुख अग्रेज विचारको ने इस दिशा मे उल्लेखनीय योग दिया। मेज (Matz) के कथनानुसार—"ब्रैडले के साथ ब्रिटिश हीगलवाद पूर्णत: पुष्ट हुआ और उसमे स्वतन्त्र उडान के लिए पख उड गए।"

फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले

(Francis Herbert Bradley, 1846–1924)

ब्रैडले वेस्ट मिनस्टर के एक उच्च पादरी (Dean) का पुत्र था। उसका जन्म सन् 1846 मे हुआ था। तत्पश्चात् वह मैरटन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड का फैलो निर्वाचित हुआ। उसका दर्शन ग्रन्थ 'आचारिक अध्ययन' (Ethical Studies) सन् 1876 मे प्रकाशित हुआ था। अपने इस ग्रन्थ 'My Station and its Duties' के अध्याय मे ब्रैडले ने राज्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है।

ब्रैडले ने राज्य की धारणा को एक नैतिक सावयवी के रूप मे विकसित किया है। यही राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे उसकी प्रमुख देन है। राज्यनैतिक प्राणी अथवा सावयवी (Moral Organism) है क्योकि प्रथम तो वह नैतिक उन्नति के आकांक्षी व्यक्तियो का समुदाय है और दूसरे, व्यक्तियो के नैतिक विकास का मुख्य साधन है। ब्रैडले पर हीगल का बहुत अधिक प्रभाव है, किन्तु उसने अपने दर्शन की व्याख्या बहुत ही अव्यवस्थित ढग से की है। प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त भी उसके दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

ब्रैडले के राजनीतिक विचार

ब्रैडले के अनुसार मनुष्य समाज के सन्दर्भ मे ही नैतिक है। नैतिक बनने के लिए आवश्यक है कि हम अपने देश और समाज की नैतिक परम्पराओ का अनुकरण करें। समाज के कर्त्तव्यो को पूरा करना प्रत्येक है। इस कर्त्तव्य-पालन मे वह अपने अस्तित्व के विधान का ही पालन करता है। कोई भी व्यक्ति अकेला नही रह सकता। वह समाज के एक सदस्य के रूप मे जन्म लेता है और पग-पग पर समाज उसे प्रभावित करता है। "जिस वातावरण मे व्यक्ति सांस लेता है, वह आदि से अन्त तक सर्वथा सामाजिक है।" व्यक्ति के आचरण के प्रत्येक अश मे समाज का सम्बन्ध निहित है। वह जो कुछ भी है, स्वय मे सामाजिक तत्त्व के समावेश के कारण ही है और यदि नैतिकता का अभिप्राय आत्मा की पूर्णता है तो उस सामाजिक सम्बन्धो की पूर्णता है तो उस सामाजिक सम्बन्धो की पूर्णता

ही नैतिकता है। ब्रैडले की मान्यता है कि "व्यक्ति जन्म से ही किसी राष्ट्र का सदस्य होता हे अर्थात् एक अग्रेज के घर पैदा होने वाला बच्चा परिवार के साथ ब्रिटिश राष्ट्र का एक जन्मजात सदस्य होता है।"

ब्रैडले का विश्वास है कि व्यक्ति के विकास के लिए यह अपरिहार्य है कि व्यक्ति राज्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति रखे। राज्य एक नैतिक प्राणी (Moral Organism) है जिसमे समाज की दूसरी सभी इकाइयाँ अथवा सस्थाएँ सम्मिलित हैं। राज्य एक व्यवस्थित समष्टि है जो समान उद्देश्य और कर्त्तव्य से अनुप्राणित है। ब्रैडले ने राज्य के बाह्य और आन्तरिक दो रूपो की कल्पना की है। बाह्य रूप से राज्य सस्थाओ का निकाय (Body of Institutions) है, किन्तु आन्तरिक रूप से उसकी एक आत्मा है जो उस निकाय को जीवित रखती है। इस नैतिक सगठन के प्रत्येक अग की अपनी पृथक् आत्मा और चेतना है। राज्य की भी अपनी इच्छा और चेतना है जो उसके अगो की इच्छाओ तथा चेतनाओ को धारण करती हैं। इस दृष्टि से राज्य का अपना जीवन है, अपना प्रवाह है। इस नैतिक सगठन मे विशेष स्थान प्राप्त करने पर ही व्यक्ति पूर्णता का जीवन बिता सकता है। पूर्णता का यह जीवन उसी सीमा तक बिताया जा सकता है जिस सीमा तक व्यक्ति राज्य रूपी नैतिक सगठन मे अपना विशिष्टि क्षेत्र तैयार कर लेता है।

ब्रैडले के अनुसार पुलिस, न्याय आदि विभाग राज्य के विभिन्न अग हैं जो पूर्ण रूप से जानते हैं कि उन्हे क्या कार्य करना है, ज्ञान और इच्छा से सम्पन्न इन अगो के कारण ही राज्य 'चेतनायुक्त और स्वेच्छापूर्वक' कार्य करने वाली सस्था है। राज्य का इच्छा सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करती है। नागरिको के व्यक्तित्व का विकास उन समुदायो और वातावरण की उन वस्तुओ पर निर्भर करता है जो राज्य अपने सदस्यो को प्रदान करता है। ब्रैडले पर हीगल की छाप स्पष्ट है। हीगल का विचार था कि राज्य एक 'आत्मचेतना-सम्पन्न नैतिक पदार्थ तथा आत्मज्ञानी (Self-knowing) और आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने वाला व्यक्ति' (Self-actualising Individual) है जिसकी इच्छा और ज्ञान उसके (राज्य के) निवासियों की इच्छा और ज्ञान है। व्यक्ति सदैव यही अनुभव करता है कि राज्य का सब कार्य वह स्वय कर रहा है। वह राज्य को ही अपना लक्ष्य मान लेता है और कार्य करने मे उसे किसी प्रकार की आपत्ति नही होती। ब्रैडले ने हीगल के इन्ही विचारो का अनुमोदन किया हे। उसका विश्वास हैं कि राष्ट्र की आत्मा को स्पष्ट करने के लिए हमे सावयवी यथार्थता की किसी नैतिक व्यवस्था को अवश्य स्वीकार करना होगा। इसी नैतिक व्यवस्था को यह राज्य की नैतिक सावयवता (Moral Organism) मानता है। हीगल की भाँति उसकी निष्ठा राज्य के सर्वशक्तिमान स्वरूप मे है। जीवन के सभी पहलुओ और समाज की सभी सस्थाओ पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है। ब्रैडले हीगल का कट्टर अनुयायी था और उसने अपने ग्रन्थ Ethical Studies' में हीगल की पुस्तको से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए है।

ब्रैडले यह भी अनुभव करता है कि जिस आदर्श की रूपरेखा उसने बनाई है उसको उसके आदर्श का पूर्ण मूर्तरूप नही कहा जा सकता। किसी भी निश्चित समय मे राज्य की नैतिकता लोगो की जन-चेतना अथवा आदर्श नैतिकता की अपेक्षा एक निम्नस्तर पर हो सकती है। फिर भी सम्भवतः व्यक्ति समाज मे अपनी सकीर्ण स्थिति से ऊपर उठकर विश्व-बन्धुत्व की नैतिक भावना प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसका यह परिणाम हो सकता है कि "सम्पूर्ण मानवता एक समग्र 'दैवी' सगठन का रूप प्राप्त करले।"

ब्रैडले के विचारों की आलोचना

ब्रैडले मूल रूप से एक राजनीतिक विचारक न होकर एक आचारशास्त्री और आध्यात्मवादी था, अत कोई आश्चर्य नही कि उसके राजनीतिक चिन्तन मे परिपक्वता नही थी। आलोचकों ने ब्रैडले के राजनीतिक विचारो पर मुख्यतः अग्रलिखित आक्षेप किए हैं—

1 सबसे बडी दुर्बलता यह है कि ब्रैडले राज्य और समाज मे कोई भेद नही करता। इस तरह उसने हीगलवादी परम्परा को अपनाकर राज्य को सर्वोच्च स्थिति मे रख दिया है। राज्य को समाज से पृथक् न करने का परिणाम यह होगा कि राज्य का व्यक्ति पर असीमित नियन्त्रण हो जाएगा, वह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का नियामक बन जाएगा। बार्कर का कहना है कि ब्रैडले की धारणा जर्मन दार्शनिको को मान्य हो सकती है, किन्तु इग्लैण्ड को मान्य नही हो सकती जहाँ राज्य और समाज के बीच सदैव अन्तर किया जाता रहा है। ब्रिटिश मान्यता के अनुसार समाज की अपनी 'सामाजिक सस्थाएँ' होती हैं, उसका अपना 'सामाजिक वातावरण' होता है जबकि राज्य की अपनी 'राजनीतिक संस्थाएँ' होती है और उसी तरह उसके अपने कानून तथा अधिकार होते हैं। राज्य और समाज दोनो बहुत कुछ समान नैतिक उद्देश्य रखते हुए और परस्पर घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित होते हुए भी एक दूसरे से पृथक् हैं। बार्कर के ही शब्दो मे, "मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है जबकि राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक कार्यवाही है। इसी प्रकार समाज की शक्ति सद्भावना और पद्धति लचीली है जबकि राज्य की शक्ति बल प्रयोग की और पद्धति कठोरता की है।"[1] ब्रैडले ने दोनो के बीच के अ तर पर ध्यान न देकर राज्य को इतनी सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर दी है कि वह राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रो मे सर्वोपरि स्थिति प्राप्त कर जीवन के सभी व्यापारो अथवा कार्य-कलापो का नियामक बन जाता है।

2. ब्रैडले ने व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह भी भ्रामक है। उसने व्यक्तिगत नैतिकता को राज्य की नैतिकता मे विलीन कर दिया है और इस तरह समाज से पृथक् व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व नही रहता। यद्यपि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है जिसमे सदैव यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक नैतिकता की अवहेलना नही करेगा तथापि 'सामाजिक' होने के साथ वह 'व्यक्ति' भी है। व्यक्ति को हम जैसा भी पाते हैं उसके मूल मे केवल समाज का ही हाथ नही है, अपितु जन्मजात वैयक्तिक मौलिक शक्तियो का भी हाथ है, अत सामाजिक राज्य के अन्तर्गत व्यक्तित्व को इस तरह विलीन कर देना कि उसका कोई पृथक् अस्तित्व ही न रहे, अनुचित है।

3 ब्रैडले का यह वाक्य कि "सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए मुझे अपना स्थान और इसके कर्त्तव्यो (My station and its duties) का ध्यान रखना चाहिए' बडा अस्पष्ट है। इसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना बडा कठिन है। यह एक ऐसा अस्पष्ट वाक्य है जिसकी अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, इसका अर्थ 'व्यक्ति की अपने भाग्य की सन्तुष्टि' भी लिया जा सकता है और ऐसी कोई भी व्याख्या आदर्शवाद को 'अवरोधक रूढिवाद' (Hide-bound Conservatism) का समानार्थक बना देगी।

4 ब्रैडले का यह विचार भी उपयुक्त नही है कि समाज सदैव सही होता है, व्यक्ति गलत हो सकता है। ब्रैडले का आग्रह है कि व्यक्ति यदि पूरी तरह नैतिक और विकसित बन जाए तो उसकी इच्छा समाज की इच्छा के साथ एकाकार हो जाएगी। इस आग्रह की मान्यता का अर्थ है कि व्यक्ति सदैव समाज की इच्छानुसार कार्य करे क्योकि समाज की इच्छा के समक्ष व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व और उसकी अपनी इच्छा अपूर्ण है व्यक्ति को इतना गौण स्थान देना सर्वथा अनुपयुक्त है क्योकि अन्ततोगत्वा व्यक्ति ही वह शक्ति है जिससे समाज का निर्माण होता है। स्वय राज्य की अपनी कोई पृथक् चेतना अथवा इच्छा नही हो सकती। उसकी चेतना और इच्छा तो उसके निर्माणक अगो की चेतना और इच्छाओ का ही योग है। दूसरे शब्दो मे, यदि हम राज्य को नैतिक कहते हैं तो इसका स्वाभाविक अर्थ है कि उसकी यह नैतिकता उसके निर्माणक अगो अर्थात् व्यक्तियो की नैतिकता का ही योग है।

1 *Barker* : op. cit , p. 24.

अपरिपक्व विचारो के कारण ही ब्रैडले ग्रीन और बोसाँके की तुलना मे ब्रिटिश जनता पर बहुत कम प्रभाव डाल सका। विचारो मे मौलिकता और प्रौढता के न होने से ही सम्भवत. उसने अपनी पुस्तक (Ethical Studies) को सन् 1876 के बाद पुन. प्रकाशित नही कराया। उसके विचारो का प्रचार इतना कम हुआ कि 76 वर्ष की आयु होने पर जब उसका नाम लॉर्ड हाल्डेन द्वारा इस बात के लिए प्रस्तावित किया गया कि उसे ब्रिटिश सम्राट 'Order of Merit' की उपाधि से सम्मानित करें तो प्रधान मन्त्री और सम्राट ने आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि उन्होने ब्रैडले का नाम पहली बार सुना है।[1]

बर्नार्ड बोसाँके
(Bernard Bosanquet, 1848–1933)

संक्षिप्त जीवन-परिचय और रचनाएँ

जून, 1848 मे इग्लैंड मे उत्पन्न बोसाँके ने ऑक्सफोर्ड और हैरो मे शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् सन् 1871 से 1881 तक वह विश्वविद्यालय कॉलेज मे फैलो और शिक्षक रहा। इसके बाद वह सेंट एन्ड्रूज कॉलेज, लन्दन मे दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक बन गया और सन् 1908 तक इसी पद पर रहा। उपन्यासो के शौकीन दार्शनिक बोसाँके ने सन् 1911 और 1912 मे एडिनबरा विश्वविद्यालय मे 'Principles of Individuality and Value' तथा 'Value and Destiny of the Individual' नामक दो प्रसिद्ध भाषण दिए।

बोसाँके रूसो, कॉण्ट, हीगल और ग्रीन से बहुत प्रभावित था। उसने प्लेटो के दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया था। यह कहा जाता है कि उसके दर्शन का आरम्भ ग्रीन और रूसो से हुआ तथा परिणति हीगल मे हुई। अपने जटिल और शुष्क दार्शनिक सिद्धान्तो को उसने उपन्यासो और काव्यो के उदाहरणो से सरस बनाया तथा सामाजिक अनुभूतियो और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानो का पर्याप्त आश्रय लिया। आदर्शवादी होने के नाते इसने ग्रीन के सिद्धान्तो को ग्रहण किया, लेकिन वह उसके उदारवाद से दूर रहा। ग्रीन ने राज्य पर जो सीमाएँ लगादी थी उन्हे बोसाँके ने एकदम हटा दिया। उसने ग्रीन के दर्शन को ऐसे स्थल पर ला पटका जहाँ वह राज्य की हीगलवादी धारणा के सन्निकट आ गया।

बोसाँके की लन्दन मे सन् 1933 मे मृत्यु हो गई, किन्तु न्यायशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, आध्यात्म शास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि पर लिखित उसके ग्रन्थ आज भी उसे अमर बनाए हुए है। उसकी कुछ प्रमुख रचनाएँ ये हैं—

(1) ज्ञान और वास्तविकता (Knowledge and Reality) (1885),
(2) तर्कशास्त्र (Logic) (1888),
(3) सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास (History of Asthetics) (1892),
(4) राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory of the State) (1899),
(5) वैयक्तिकता और मूल्य के सिद्धान्त (Principles of Individuality and Value), (1911),
(6) व्यक्ति का मूल्य तथा उसकी नियति (Value and Destiny of the Individual) (1912),
(7) सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श (Social and International Ideals) (1917)

बोसाँके के राजनीतिक विचार उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Philosophical Theory of the State' मे मिलते हैं। उसने अपने 'राज-सिद्धान्त' को 'दार्शनिक' (Philosophical) कहा है। यहाँ हम उसके विशिष्ट सिद्धान्तो का परिचय देंगे।

1 *Catlin* · A History of the Political Philosophies, p. 514.

बोसांके का इच्छा सिद्धान्त
(Bosanquet's Doctrine of Will)

बोसांके के आदर्शवादी सिद्धान्त का आधार रूसो का 'इच्छा सिद्धान्त' है। उसने अपने सिद्धान्त में रूसो की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा की व्याख्या की है और इसी आधार पर अपने आदर्शवादी सिद्धान्त की स्थापना की है। बोसांके के आदर्शवादी दर्शन को भली प्रकार समझने के लिए उसके इच्छा सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

बोसांके के अनुसार अन्य संस्थाओं की भाँति राज्य भी एक संस्था है, अतः इसका एक मौलिक विचार अवश्य होना चाहिए। यह विचार सब लोगों की वास्तविक इच्छा (Real Will) अथवा सामान्य इच्छा (General Will) का साकार रूप है। रूसो के अनुसार ही बोसांके का भी विश्वास है कि हमारी इच्छाएँ दो प्रकार की हैं—यथार्थ इच्छा (Actual Will) तथा वास्तविक इच्छा (Real Will)। यथार्थ इच्छा (Actual Will) स्वार्थपूर्ण और क्षणिक होती है जो हमारे स्थायी हितों की अभिव्यक्ति नहीं करती। लोगों की यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण इच्छाओं में समानता नहीं होती। ये इच्छाएँ वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों में संघर्ष उत्पन्न करती हैं। यथार्थ इच्छा व्यक्ति की अविचारित और दुराग्रहपूर्ण इच्छा है जिनसे उसका और समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इसके विपरीत वास्तविक इच्छा (Real Will) व्यक्ति के स्थायी हितों की द्योतक होती है वह समाज-कल्याण की भावना प्रेरित करती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक इच्छाओं में समानता होती है। यह सामाजिक इच्छा है जो विवेक पर आश्रित होती है और जिसमें अन्तर्द्वन्द्व विरोध और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होती।

यथार्थ इच्छा (Actual Will) और वास्तविक इच्छा (Real Will) में संघर्ष चलता रहता है। यथार्थ इच्छा छात्रों को प्रेरित करती है कि वे पढ़ना-लिखना छोड़कर मटरगश्ती करें जबकि वास्तविक इच्छा पढ़ाई-लिखाई का प्रतिपादन करती है। दोनों इच्छाओं के इस संघर्ष में व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वास्तविक इच्छा के अनुसार आचरण करे।[1] वास्तविक इच्छा के अनुरूप कार्य करके ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग और नैतिक-अभिवृद्धि कर सकता है। हम एक चोर को नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं कह सकते क्योंकि चोरी करना वास्तविक इच्छा के अनुकूल नहीं है। यह तो उसकी यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण इच्छा है। व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं का योग ही समाज की सामान्य इच्छा है, अतः स्वाभाविक है कि समाज के प्रतिकूल चलने पर वह कभी भी सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

बोसांके के अनुसार व्यक्ति की वास्तविक इच्छा एकाकी नहीं होती, वह समाज के अन्य व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा से सम्बद्ध होती है और सार्वजनिक इच्छा बन जाती है इसलिए व्यक्ति केवल समाज में रहकर ही अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त कर सकता है। यथार्थ और वास्तविक इच्छा के संघर्ष में यथार्थ इच्छा नष्ट हो जाती है और वास्तविक इच्छा शेष रह जाती है जिसके द्वारा सामाजिक कल्याण का चिन्तन होता है। स्मरणीय है कि 'सामान्य इच्छा' और 'समाज की इच्छा' में भेद है। समाज की इच्छा में यथार्थ इच्छा भी सम्मिलित रहती है। इसी प्रकार इच्छा और जनमत में अन्तर है। जहाँ सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जिसमें बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों ही वर्गों के हित सम्मिलित होते हैं वहाँ जनमत में संख्या को महत्त्व दिया जाता है। सामान्य इच्छा में अहित की गुंजाइश नहीं होती वह तो श्रेष्ठ, शुभ और आदर्श इच्छाओं का सार है।

बोसांके की मान्यता है कि राज्य इसी सामान्य इच्छा का साकार रूप है। वह सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। उसका संचालन सामान्य इच्छा द्वारा ही होता है अतः व्यक्ति को राज्य के

1 *Bosanquet* Social and International Ideals, p 135.

नियमो का निस्सकोच पालन करना चाहिए । राजाज्ञा-पालन में परोक्ष रूप से व्यक्ति की अपनी ही आज्ञा का पालन निहित है ।

— राज्य को सामान्य इच्छा का साकार रूप स्वीकार करने के फलस्वरूप बोसांके ने उसे एक 'नैतिक विचार' (Ethical Idea) माना है और निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं—

1 राज्य का शासन सच्चा स्वशासन (Self Government) है क्योंकि राज्य के सभी कार्यों का सचालन सामान्य इच्छा द्वारा होता है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि हम किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा से नही वरन् अपनी ही इच्छा से शासित होते है ।

2 राज्य और समाज का गहरा सम्बन्ध है । राज्य शक्ति पर आधारित एक राजनीतिक संगठन है जिसे समाज की सभी संस्थाएँ विभिन्न कार्यों मे पूर्ण सहयोग देती हैं । राज्य को यदि समाज के विराट् रूप मे देखा जाए तो कहना होगा कि वह अनेक समूहो का समूह (Group of Groups) और समुदायो का समुदाय (A Community of Communities) है जिसका क्षेत्र सम्पूर्ण मानव-समाज मे व्याप्त है ।

3. राज्य सर्वोच्च अथवा एकमात्र नैतिक विचार और सार्वभौम सस्था है जिसमे समाज की विभिन्न सस्थाओ मे मौलिक विचारो का समन्वय होता है । समाज की विभिन्न सस्थाओ के नैतिक विचार एकांगी अथवा विरोधी हो सकते हैं, लेकिन राज्य सब प्रकार के विरोधों को दूर कर उनमें सामञ्जस्य स्थापित करता है । राज्य का दृष्टिकोण एकांगी नही होता ।

बोसांके ने राज्य की इच्छा के पालन मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को निहित माना है । इस प्रकार ग्रीन के समान वह भी इस सिद्धान्त पर पहुँच गया कि व्यक्ति पूर्ण रूप से सामान्य इच्छा से ओतप्रोत है और अपने सच्चे व्यक्तित्व की पूर्ति समाज का अग बनकर ही कर सकता है जो सावयवी सम्पूर्ण (Organic Whole) है । बोसांके ने सामान्य इच्छा को अधिनायकवादी रूप दे दिया है । उसके अनुसार अधिनायक भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, अत उसकी इच्छा के अनुकूल जीवन-यापन करने के लिए नागरिको को बाध्य किया जा सकता है ताकि वे वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें । अपने इस अर्थ मे बोसांके ने सामान्य इच्छा को विकृत रूप मे प्रस्तुत किया है । इसी आधार पर उग्र आदर्शवाद की रचना की है ।

कोकर ने बोसांके के सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "बोसांके का तर्क कुछ इस प्रकार है कि मनुष्य के सच्चे व्यक्तित्व की सिद्धि उसकी वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति द्वारा ही होती है और उसकी वास्तविक इच्छा आवश्यक रूप मे सामान्य इच्छा से भिन्न है जिसकी सिद्धि केवल राज्य द्वारा ही होती है । दूसरे शब्दो मे मनुष्य, मनुष्य के रूप मे नैतिक प्राणी है और नैतिक प्राणी के रूप मे उसे ऐसी अवस्थाओ की इच्छा करनी चाहिए जिनसे उसका नैतिक जीवन सम्भव हो सके, किन्तु समाज से पृथक् व्यक्ति के लिए नैतिक आचार नाम की कोई चीज नही है । अत राज्य श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक सामाजिक अवस्थाओ को कायम रखकर प्रत्येक नैतिक व्यक्ति की इच्छा की पूर्ति करता है अत बोसांके के विचारो के अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च कर्त्तव्य अपनी सामाजिक योग्यताओ का विकास करना है । किसी व्यक्ति के जीवन या राज्य से छोटी संस्था के कार्य का मूल्य उसमे सामान्य हित के कुछ तत्त्व होने के कारण ही है ।"[1]

बोसांके का सस्था-सिद्धान्त (Bosanquet's Theory of Institution)

बोसांके ने सस्थाओ के नैतिक विचारो का मूर्तरूप (Embodiment) माना है । इस मान्यता के पीछे समाज के सार्वजनिक जीवन की कल्पना निहित है । मानव-जीवन प्रारम्भ से अन्त तक सामाजिक हैं । समाज व्यक्तियो का ऐसा समुदाय है जो किसी सार्वजनिक सामान्य उद्देश्य से सम्बद्ध रहता है । इन सबका अर्थ यह है कि सामान्य चेतना अथवा सार्वजनिक इच्छा का आदर्श एक जीवित यथार्थ है ।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 458.

उदाहरणार्थ, हम किसी स्कूल या सेना या क्रिकेट के खेल को लें तो उनमे से प्रत्येक एक अथवा अनेक मस्तिष्को की क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार सस्थाएँ नैतिक विचारो का ही साकार रूप है। स्वय बोसांके के शब्दों मे, 'एक सस्था मे एक से अधिक मस्तिष्को का उद्देश्य या उनकी भावना निहित रहती है और वह उस भावना या उद्देश्य का न्यूनाधिक एक स्थाई मूर्तरूप होती है। सस्थाओ मे व्यक्तिगत मस्तिष्को का वह सम्मिलन होता है जिसे हम सामाजिक मस्तिष्क (Social Mind) की संज्ञा देते है अथवा यह कहना चाहिए कि सस्थाओ मे हमे आदर्श तत्त्व मिलता है जो अपनी व्यापक सघटना मे सामाजिक है, लेकिन विभक्त रूप मे व्यक्तिगत मस्तिष्क (Individual Mind) है।"[1]

वोसांके के इस कथन से उसके सस्था सम्बन्धी निम्नलिखित सिद्धान्त स्पष्ट होते है—

(i) प्रत्येक सामाजिक सस्था या समुदाय मानव-मस्तिष्क की एक जटिल मिश्रित क्रियाशीलता (Complicated inter-working of the mind of the individual) है।

(ii) समुदाय की सामूहिकता (The totality of the group) व्यक्ति के मस्तिष्क मे प्रतिबिम्बित होती है।

(iii) प्रत्येक सदस्य मे अन्य सदस्यो पर अपने विचारो को लादने की प्रवृत्ति होती है।

बोसांके के अनुसार परिवार, पडोसी, समुदाय, राष्ट्रीय राज्य आदि समाज की विभिन्न सस्थाएँ है। इनमें राज्य सर्वश्रेष्ठ है। यही सस्था वास्तव मे नैतिक आदर्श है। राज्य सब प्रकार के समुदाय का सन्तुलन-स्रोत है और सभी सस्थाओ की एक प्रभावकारी आलोचना है। यह अन्य सब सस्थाओ का सचालन करता है और शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखता है। सकीर्ण अर्थ मे राज्य एक राजनीतिक सगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है एव लाभकारी सामाजिक उद्योगो पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता है। व्यापक अर्थ मे राज्य का उद्देश्य जीवन का सार्वजनिक सगठन एव समन्वय है। राज्य व्यावहारिक रूप मे समाज का पर्याय है।

बोसांके का राज्य-सिद्धान्त (Bosanquet's Theory of State)

बोसांके ने राज्य-सिद्धान्त को 'दार्शनिक' (Philosophical) कहा है। उसके राज्य का अपना निजी स्वरूप है जो स्वय अपने लिए ही विचार का पात्र है। बोसांके का उद्देश्य राज्य का उसके वास्तविक स्वरूप मे अध्ययन करना है, एक आदर्श समाज की रचना करना नही। राज्य की उत्पत्ति और इसके इतिहास की खोज करने मे दार्शनिक सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नही है। अन्य आदर्शवादियो के समान वह भी राज्य को नैतिक एव प्राकृतिक समुदाय मानता है। राज्य एक सर्वोच्च नैतिक सस्था है, एक नैतिक कल्पना का प्रतीक है। "राज्य एक नैतिक सिद्धान्त है, क्योंकि इसी मे मनुष्य व्यावहारिक रूप मे स्वय को उत्थान एव नैतिकता की अन्तिम स्थिति मे पाता है।" बोसांके के अनुसार प्रत्येक सस्था एक निश्चित विचार और उद्देश्य को प्रकट करती है जिसमे उसका सार निहित होता है। उदाहरण के लिए कॉलेज का सार इमारत और फर्नीचर मे नही अपितु एक सामान्य विचार मे होता है। कॉलेज की स्थापना से पूर्व एक निश्चित उद्देश्य का सूत्रपात होता है जिसका मूर्तरूप हमे कॉलेज मे देखने को मिलता है। इसी प्रकार मकान बनाने से पूर्व कारीगर के मस्तिष्क मे एक भावना होती है जिसका मूर्तरूप मकान है। इस विचार को सामान्य भावना या सामान्य मस्तिष्क कहा जा सकता है। इन उदाहरणो से बोसांके स्पष्ट करता है कि राज्य का व्यक्तित्व एक विचार के रूप मे ही होता है।

बोसांके का मत है कि राज्य एक भावना है अथवा समस्त नागरिको के मस्तिष्क का समन्वित रूप है। प्रत्येक सस्था सामूहिक मस्तिष्क (Group Mind) पर आधारित होती है। राज्य सबसे बडी सस्था है, अत. उसके सामूहिक मस्तिष्क का क्षेत्र भी अन्य सस्थाओ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। राज्य

1 *Bosanquet* The Philosophical Theory of the State, p. 277.

में रहने वाले सभी नागरिक उसके सदस्य होते हैं। राज्य एक सर्वोच्च एव सर्वश्रेष्ठ सगठन है जो अन्य सभी समुदायो से उच्च है। राज्य के अन्तर्गत सभी सस्थाएँ समाविष्ट हो जाती है। राज्य का सामूहिक मन सभी सस्थाओ से अधिक व्यापक होता है। राज्य सर्वांगीण है। सकुचित दृष्टि से राज्य ऐसा राजनीतिक सगठन जो शक्ति का प्रयोग करता है। यह समस्त सामाजिक प्रयत्नो को मान्यता प्रदान करता है जो समाज के लिए लाभदायक है। विस्तृत रूप मे राज्य "एक सामान्य सगठन तथा जीवन का सश्लेषण (Synthesis) है जिसमे परिवार से लेकर व्यापार तक और व्यापार से लेकर चर्च तथा विश्वविद्यालय तक वे सभी सस्थाएँ सम्मिलित हैं जो जीवन को निर्धारित करती हैं। इसमे इन सबका सग्रह (Mere Collection) मात्र ही नही होता बल्कि यह एक ऐसी सरचना होती है जो राजनीतिक सगठन को जीवन और अर्थ प्रदान करती है जबकि वह स्वय इससे पारस्परिक सामंजस्य प्राप्त करता है जिनका परिणाम होता है प्रसारण तथा एक अधिक उदार अभिव्यक्ति।"[1] स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव-जीवन राज्य के अन्तर्गत है। राज्य मानव-जीवन का पूर्ण अभिव्यक्तिकरण है। सभ्य जीवन के लिए वह नितान्त आवश्यक है। स्वय बोसाँके के कथनानुसार—

"राज्य से हमारा अभिप्राय समाज की एक ऐसी इकाई से है जो अपने सदस्यो पर निरकुश भौतिक शक्ति द्वारा नियन्त्रण रखती हो। जैसा कि पहले हम कह चुके है राष्ट्रीय राज्य एक वृहद् सगठन है जो सामान्य जीवन के लिए आवश्यक है। एक बड़े समाज के प्रति इसका कोई निश्चित कर्त्तव्य नही है। यह स्वय एक सर्वोच्च समाज है। यह समस्त नैतिक विश्व का रक्षक है, परन्तु एक सगठन नैतिक विश्व का एक अग नही है। नैतिक सम्बन्धो के एक सगठित जीवन की आवश्यकता है। ऐसा जीवन केवल राज्य मे ही सम्भव है, दूसरे समाजो मे नही।"

बोसाँके राज्य को जीवन का व्यावहारिक दर्शन मानता है। राज्य समस्त समुदायो के पारस्परिक सम्बन्धो का पर्यवेक्षण कर उसमे सुधार करता है। वह समुदायो के बीच समन्वय स्थापित करता है और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को निर्धारित करता है। "राज्य समुदायो का समुदाय, संस्थाओ की सस्था तथा सघो का सघ है" इसलिए वह बल-प्रयोग भी कर सकता है। राज्य सगठित शक्ति का प्रतीक है जो सुन्दर जीवन को प्रोत्साहन देता है, किन्तु बुरे एव असद् मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियो को बल-प्रयोग द्वारा सन्मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करता है। राज्य सर्वव्यापक सस्था है। इसका कार्यक्षेत्र सर्वव्यापी है। राज्य शक्तियो की स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है। उसकी उपस्थिति मे ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। राज्य के आदेशो का पालन करने से ही व्यक्ति का कल्याण सम्भव है। राज्य की आज्ञाएँ व्यक्ति की सामान्य इच्छा की प्रतीक होती हैं जिनसे व्यक्तियो की वास्तविक इच्छाएँ व्यक्त होती है।

बोसाँके राज्य को सर्वोच्च नैतिकता का मूर्तिमान स्वरूप मानकर राज्य की तुलना मे व्यक्ति को कम महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उसने हीगल के समान ही राज्य का आदर्शीकरण किया है। व्यक्ति को राज्य की दया पर छोड दिया गया है। राज्य किसी एक व्यक्ति या सस्था का प्रतिनिधित्व न कर समान रूप से सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल की भाँति राज्य को सर्वव्यापी एव सार्वभौम मानते हुए बोसाँके राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार नही देता क्योंकि राज्य के अस्तित्व मे ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व है। बोसाँके के मतानुसार ऐसे किसी भी नैतिक विधान की कल्पना नही की जा सकती जो राज्य के ऊपर हो। ग्रीन इस बात को नही मानता। ग्रीन का राज्य की अवज्ञा करने का व्यक्ति का अधिकार प्राकृतिक कानून की कल्पना पर आधारित था। बोसाँके इस विचार के विपरीत हीगल से सहमत है कि राज्य के कार्यों को किसी प्रकार की नैतिकता की कसौटी पर नही कसा जा सकता। "नैतिक सगठनो के लिए एक सगठित जीवन पूर्ण आवश्यक है, किन्तु इस प्रकार का जीवन केवल राज्य के अन्दर ही सम्भव हो सकता है," उसके और अन्य समुदायो के बीच

1 *Bosanquet*. op. cit., p 139.

सम्बन्धों के रूप में नहीं।" मुरे (Murray) का कथन है कि "राज्य एक प्रकार का मनुष्यों का चर्च बन जाता है और इसकी संरचना एक महान् आध्यात्मिक अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि हीगल की भाँति बोसांके के लिए भी राज्य नागरिक के लिए अन्तिम नैतिक शक्ति है और वह नागरिकों के अन्तःकरण का संरक्षक है।' इस तरह राज्य बोसांके के लिए एक आतंकपूर्ण एवं रहस्यमयी वस्तु है जिसके प्रति हमें निष्ठा रखनी चाहिए, फिर भी वह हीगल की आलोचना इस आधार पर करता है कि उनका राज्य-सिद्धान्त यथार्थ जीवन के तथ्यों के सर्वथा अनुकूल नहीं है। उसका तर्क था कि यदि कोई व्यक्ति एथेन्स के दास से कहता है कि एथेन्स राज्य स्वतन्त्रता की अनुभूति है तो यह एक निर्मम उपहास होगा। ठीक इसी भाँति आधुनिक नगरों की नरक-बस्तियों (Slums) में रहने वाले निरक्षक एवं भूख से पीड़ित मजदूरों को भी राज्य को स्वतन्त्रता की प्रतिमूर्ति मानने के लिए सहमत नहीं किया जा सकता।

बोसांके के राज्य-सिद्धान्त और उसमें निहित उसके वास्तविक मन्तव्य की समीक्षा करते हुए कोकर लिखता है कि—

"बोसांके ने उस सत्ता के महत्त्व पर अधिक जोर देने की आवश्यकता अनुभव की 'जिसमें अन्य सब हितों एवं संस्थाओं का समावेश है और जो उन्हें सम्भव बनाती है।' छोटी संस्थाएं आंशिक हैं जो हमारे जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों और हमारे नागरिकों के समूचे समूह को समाविष्ट नहीं करती। राज्य अपनी सदस्यता तथा योग्यता की दृष्टि से अधिक सर्वांगीण होने के कारण इन छोटी संस्थाओं की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है वह 'सर्वोच्च समाज' (Supreme Community) है। वह समस्त सामाजिक संस्थाओं के ऊपर है और वह केवल भौतिक शक्ति द्वारा ही नियन्त्रण के लिए ही नहीं वरन् नैतिक दृष्टि से भी सर्वोच्च है। राज्य तथा नागरिकों के बीच मतभेद की स्थिति में राज्य को ही आवश्यक रूप से सही माना जाता है। मनुष्य की सच्ची नैतिकता तथा उसका सच्चा सुख मुख्यतः संगठित समाज में अपने नियत कर्त्तव्यों का सन्तोषजनक रूप से पालन करने में ही है। मानवीय श्रेष्ठता इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति एक नागरिक होने के नाते अपना कर्त्तव्य पालन करे। उसकी सफलता नागरिक कर्त्तव्यों के पालन के साथ जुड़ी हुई है और उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य राज्य द्वारा स्वीकृत आचार-पद्धति (Modes of Conduct) के अनुरूप अपना जीवन ढालना है। अत. राज्य समाज के संगठित जीवन की रक्षा एवं सुधार के लिए जो कुछ भी आवश्यक समझे कर सकता है और वही इसकी आवश्यकताओं का एकमात्र निर्णायक है। वह आवश्यकता (जिसका वह स्वयं ही निर्णायक है) पड़ने पर उस समय के प्रति भक्ति के अतिरिक्त, जिसका वह प्रतिनिधि है, किसी भी बाह्य निष्ठा की अभिव्यक्ति पर रोक लगाकर उसका निषेध कर सकता है और वह ऐसा अवश्य करेगा।"[1]

राज्य एवं व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कार्यों पर बोसांके के विचार
(Bonsanquet on State Action and Public and Private Acts)

बोसांके ग्रीन के इस विचार से सहमत है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने तक सीमित है। उसके ही कथनानुसार— 'तब हम कह सकते हैं कि सर्वोत्तम जीवन के लिए राज्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, प्रत्युत् केवल उसके मार्ग की बाधाओं को दूर करता है।"[2] ग्रीन की भाँति ही बोसांके भी आग्रहपूर्वक कहता है कि यद्यपि राज्य के कार्य का तात्कालिक रूप नकारात्मक होता है, तथापि अपनी वास्तविक क्रियाओं एवं अपने अन्तिम उद्देश्यों में वह सकारात्मक होता है। अनिवार्य शिक्षा द्वारा निरक्षरता को समाप्त करना, मदिरा के क्रय विक्रय को नियन्त्रित कर नशेबाजी को रोकना आदि राज्य के सकारात्मक कार्य हैं क्योंकि इनका उद्देश्य अन्तिम रूप में नैतिक है। इनका ध्येय मूलतः चरित्र के उन गुणों को उन्मुक्त करना है जो बाधाओं की अपेक्षा निश्चय ही

1 कोकर · आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 459-60.
2 *Bosanquet* · op cit, p. 183

महानतर हैं। राज्य द्वारा ऐसे कार्यो पर किसी भी उद्देश्य से नियन्त्रण करना बिल्कुल न करने की अपेक्षा तो अच्छा ही है तथापि राज्य द्वारा ऐसे कार्य किए जाना उपयुक्त नही है जिनका मूल्य स्वतन्त्र इच्छा द्वारा निर्धारित होने पर ही होता है। इस तरह राज्य के कार्य-सिद्धान्त मे बोसांके ग्रीन से भिन्न नही है। वह ग्रीन की तरह स्वीकार करता है कि "राज्य के कार्यो का केवल बाह्य पक्ष होता है। वह अपने कार्यों द्वारा मनुष्य के अन्तस्थल को प्रभावित कर प्रत्यक्ष रूप से उसको नैतिक नही बना सकता अपितु अप्रत्यक्ष रूप से ही नैतिकता की वृद्धि के लिए कार्य कर सकता है।"

राज्य के कार्य सम्बन्धी विचार मे ग्रीन से काफी सहमत होते हुए भी बोसांके राज्य के कार्यो की नैतिकता का सीमांकन करते समय हीगल के निकट जा पहुँचता है। वह किसी ऐसी नैतिक प्रणाली की सत्ता मे विश्वास नही करता जिसका समाज मे राज्य से स्वतन्त्र अस्तित्व हो क्योकि राज्य तो एक सम्पूर्ण नैतिक जगत् का सरक्षक है, किसी सगठित नैतिक जगत् का तत्त्व नही है। ग्रीन एक नैसर्गिक कानून की सत्ता में विश्वास करता था जो उसकी दृष्टि मे एक ऐसा आदर्श अथवा कसौटी थी जिसके आधार पर नागरिको द्वारा राज्य की आलोचना की जा सकती है और निर्णय लिया जा सकता है। उसकी मान्यता थी कि समाज मे राज्य से स्वतन्त्र एक नैतिक प्रणाली का अस्तित्व होता है जिसके आधार पर व्यक्ति राज्य के कार्यों की समीक्षा कर सकता है। साथ ही वह राष्ट्रीय विद्वेष से पूर्ण तथा यौद्धिक सेवाओ से सुसज्जित यूरोपीय राज्यो की तुलना मे एक श्रेष्ठतर व्यवस्था का स्वप्न देखता था और राज्यो की अनुमति पर आधारित अधिकारो से सम्पन्न एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना करता था। विश्व-भ्रातृत्व की धारणा ग्रीन के मन मे स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का उपसिद्धान्त और उसके विचारो का सैद्धान्तिक आधार था। लेकिन बोसांके इस विषय मे ग्रीन से सहमत नही था। वह इस बात पर बल देता था कि "नैतिक सम्बन्धो के लिए एक सगठित जीवन की पूर्ण आवश्यकता है, लेकिन ऐसा जीवन केवल राज्य के अन्तर्गत ही उपलब्ध हो सकता है, राज्य तथा अन्य समुदायो के बीच सम्बन्धो मे नही।"[1] उसके विचारो की आधारभूमि तो यही थी कि बडे समुदाय मे राज्य के कोई निश्चित कृत्य नही है। राज्य स्वय सर्वोच्च समुदाय है जो नैतिकता का परम सरक्षक है, किन्तु स्वय सगठित नैतिक विश्व का अंग नही है।

इन्ही विचारो के परिणामस्वरूप बोसांके ने सार्वजनिक और निजी कार्यो (Public and Private Acts) में अन्तर व्यक्त किया है। यदि व्यक्ति हत्या करता है तो यह एक व्यक्तिगत कार्य है। यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से युद्ध छेड देता है या ऋण लौटाने से इन्कार कर देता है तो यह सार्वजनिक कार्य है। इन दोनो स्थितियो मे किए गए अपराधो की मात्रा मे अन्तर है। बोसांके का तर्क है कि व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर नीच कार्य करता है, किन्तु राज्य व्यक्तियो के नैतिक हित के उच्चादर्श को ध्यान मे रखकर कार्य करता है, अत वह युद्ध भी लडता है तो अपराध नही करता। इसी आधार पर बोसांके युद्ध का समर्थन करता है और हीगेलियन विचारधारा के बहुत समीप पहुँच जाता है। बोसांके के व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों के इस अन्तर से स्पष्ट है कि चोरी करना, हत्या करना, झूठ बोलना, व्यक्तिगत द्वेष रखना आदि सार्वजनिक कार्य नही हो सकते क्योकि ऐसे कार्यो मे समाज की कोई रुचि नही हो सकती और न ही ऐसे कार्य करने वाला व्यक्ति इस आधार पर उनको ठीक बता सकता है कि वे उसके कार्य न होकर राज्य के कार्य है किन्तु युद्ध, ऋण के भुगतान से इन्कार आदि सार्वजनिक कार्य हैं जो चोरी तथा हत्या से सर्वथा भिन्न हैं। ये कार्य व्यक्तिगत द्वेष के कारण नहीं किए जाते। इन कार्यों मे नैतिक व्यवस्था को किसी एक व्यक्ति के द्वारा, जो अपने जीवन तथा रक्षा के लिए राज्य पर निर्भर होता है, भग नही किया जाता। सार्वजनिक कार्य राज्य द्वारा होते है जो जनता का रक्षक होता है। राज्य के कार्यों का इस तरह नैतिक निर्णय नही हो सकता जिस तरह व्यक्तिगत कार्यों का होता है। राज्य को व्यक्तिगत अनैतिकता का अपराधी नही ठहराया जा सकता। व्यक्तिगत आधार पर राज्य के

1 *Bosanquet : op cit., p. 302.*

कार्यों की आलोचना करना त्रुटिपूर्ण है। यह अवश्य है कि अपने-उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए राज्य जो कार्य करता है, उनकी आलोचना की जा सकती है। सार्वजनिक कार्य को अनैतिक कार्य तब कहा जा सकता है जब राज्य के अंग अपने सार्वजनिक कार्यों मे स्वार्थ तथा बर्बरता की भावनाएँ प्रदर्शित करें। यदि सार्वजनिक कार्य "समाज के सक्रिय समर्थन के साथ किए जाते हैं और वे अनैतिक होने के कारण निंद्य है तो इसका निर्णय मानवता तथा इतिहास के न्यायालय के सामने हो।" राज्य के कार्यों का निर्णय व्यक्तिगत न्यायालय मे नही हो सकता। राज्य के कार्यों की आलोचना हो सकती है, लेकिन यह स्वीकार्य नही है कि उनका भी उसी प्रकार निर्णय किया जाएगा जिस तरह नागरिको के व्यक्तिगत कार्यों का। सक्षेप मे राज्यो के अधिकारियो या अभिकर्त्ताओ के अनैतिक कृत्यो के लिए राज्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

बोसांके के दण्ड सम्बन्धी विचार (Bosanquet on Punishment)

दण्ड-नीति के सिद्धान्त मे बोसांके का दृष्टिकोण ग्रीन की अपेक्षा अधिक सकारात्मक (Positive) है। ग्रीन के अनुसार दण्ड का मूल स्वरूप प्रतिरोधात्मक (Deterrent) होने के साथ ही प्रतिकारात्मक (Retributive) तथा सुधारात्मक (Reformative) भी है जबकि बोसांके के मतानुसार दण्ड के प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धान्तो मे भेद करना और उसमे से किसी एक को ही सही मान लेना निरर्थक है। "दण्ड आक्रमण के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। आक्रमण एक आघात है और साथ ही एक खतरा भी है तथा आचरण का द्योतक भी है, इसलिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया, अर्थात् दण्ड द्वारा अपराध का प्रतिकार, खतरे का प्रतिरोध तथा आचरण को सुधारने का प्रयास एक ही साथ होना चाहिए।"

बोसांके की मान्यता है कि सस्थाओ द्वारा आलोचना का मार्ग ग्रहण करने की स्थिति मे राज्य के पास प्रचुर शक्ति होती है। यह पहले चेतावनी और समझौते की नीति का आश्रय लेता है किन्तु सफल न होने पर दमन का प्रयोग करता है। दमन और नियन्त्रण अन्तिम अस्त्र है जिनका प्रयोग अन्य साधनो की विफलता के बाद ही किया जाता है। बोसांके के अनुसार ऑस्टिन ने सम्प्रभुता को दण्ड-शक्ति के तद्रूप बना दिया है जबकि वास्तव मे यह समस्त सस्थाओ की क्रियात्मकता मे ही निवास करती है।

बोसांके का विश्वास है कि समाज-विरोधी तत्त्व दण्ड द्वारा ही नियन्त्रित किए जा सकते हैं। दण्ड से अपराधी का सुधार होना चाहिए। वह उसके निषेधात्मक पक्ष से सहमत नहीं है। वह दण्ड के उद्देश्य तथा स्वरूप को सकारात्मक मानता है। उसका दण्ड-सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक धारणा पर आधारित है। व्यक्ति के शरीर के भीतर एक सूक्ष्म गतिशीलता का अस्तित्व होता है। व्यक्ति के शरीर मे जो कार्य अर्द्ध-चेतनावस्था मे हुआ करते हैं उनकी अभिव्यक्ति बाह्य क्षेत्र मे होती है। मान लीजिए कि आप विचारो मे निमग्न किसी रास्ते पर चले जा रहे हैं तभी आपको एक ठोकर लगती है। इस घटना का प्रभाव आपके मस्तिष्क के चेतन भाग पर पडता है। परिणामस्वरूप आप पुन: उस रास्ते पर जाने के पूर्व सावधान हो जाते हैं। दण्ड की भी यही प्रवृत्ति है। वह भी इसी प्रक्रिया को जाग्रत करता है। जब कोई व्यक्ति अपराध करता है या किसी के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है तो उसके परिणामस्वरूप जो दण्ड उसे मिलता है उससे उसके चेतन मस्तिष्क पर एक प्रकार का धक्का लगता है। इस धक्के के लगने से अपराधी का मस्तिष्क ठिकाने पर आ जाता है और वह अपराध की पुनरावृत्ति न करने का निश्चय कर लेता है। स्पष्ट है कि बोसांके के मतानुसार दण्ड इसलिए नही दिया जाता कि दण्डित मनुष्य भविष्य मे वैसी त्रुटियाँ नही करेगा, बल्कि इसलिए कि चेतना के जागरण के कारण मनुष्य पुनः वैसी गलती करने के प्रति सावधान रहेगा।

इस तरह बोसांके ने दण्ड मे विलक्षण रूप से एक सकारात्मक गुण के दर्शन किए हैं; लेकिन इसका कोई कारण नही हो सकता कि राज्य द्वारा किए गए अन्य बाध्यकारी कार्यों में यह गुण मौजूद न हो। बोसांके के कथनानुसार, "यह सोचना भारी भूल है कि राज्य द्वारा प्रयुक्त शक्ति केवल अपराधियो को संयत रखने तक ही सीमित है। इसका उसके घटको के मन पर स्फूर्तिजनक प्रभाव पडता है।" इस भाँति बोसांके राज्यकाल के उस नकारात्मक स्वरूप में सशोधन करता है जिस पर ग्रीन ने इतना बल दिया है।

बोसांके के दर्शन की आलोचना और मूल्यांकन
(Criticism and Estimate of Bonsaquet's Thought)

हॉबहाउस के अनुसार बोसांके की यथार्थ इच्छा एव वास्तविक इच्छा मे कोई स्पष्ट अन्तर नही दिखाई देता।[1] यह यथार्थ को वास्तविक तथा वास्तविक को यथार्थ मानने का दोषी है। बोसांके के अनुसार वैयक्तिक वास्तविक इच्छा सामाजिक इच्छाओं एव शक्ति की एकता मे व्यक्त होती है, किन्तु हॉबहाउस इस मत से सहमत नही है। उसे बोसांके का यह कथन बडा उपहासजनक लगता है कि एक चोर की वास्तविक इच्छा (Actual Will) राज्य-कर्मचारियो के हाथो जेल मे बन्द होने की ही है और उसकी यथार्थ इच्छा (Actual Will) उसे चोरी के लिए प्रेरित करती है। हॉबहाउस के अनुसार स्थिति इससे बिल्कुल उलटी है। चोर की जो इच्छा उसे चोरी करने के लिए प्रेरित करती है वही उसकी पूर्ण इच्छा है, फिर चाहे उसे यथार्थ इच्छा कहा जाए या वास्तविक। इन दोनो इच्छाओ मे कोई भी स्पष्ट विभाजन नही कहा जा सकता। इच्छा को 'यथार्थ' और 'वास्तविक' दो भिन्न-भिन्न रूपों में मानना शब्दो के साथ खिलवाड़ करना है। हॉबहाउस की आलोचना में बल है पर यह पूर्णत: न्यायसंगत नही मानी जा सकती। बोसांके ने इन शब्दो का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ मे किया है। हम जीवन में यह अनुभव करते हैं कि हमारा कोई एक कार्य ठीक वैसा ही नही होता जैसा दूसरा होता है अत बोसांके का भेद उचित ही कहा जा सकता है। अपनी पुस्तक 'The Metaphysical Theory of the State' में स्वयं हॉबहाउस ने अपनी आलोचना मे सशोधन कर बोसांके द्वारा किए गए अन्तर को स्वीकार किया है यद्यपि 'यथार्थ और 'वास्तविक' के स्थान पर 'अस्थायी' और 'स्थायी' (Transitory and Permanent) शब्दो का प्रयोग किया गया है।

बोसांके ने राज्य को सर्वोच्च समुदाय और नैतिकता का पूर्ण सरक्षक मानकर उसे अनुत्तरदायी बना दिया है। उसने राज्य की महत्ता पर इतना बल दिया है कि व्यक्ति एव उसकी स्वतन्त्रता कुचल दी गई है। बोसांके के अनुसार राज्य के अधिकारियो या अभिकर्त्ताओ द्वारा किए गए अनैतिक कार्यों के लिए राज्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, पर वास्तव में राज्य के कार्यों और राज्य के अभिकर्त्ताओ के कार्यों के मध्य भेद करना कठिन और अस्वाभाविक है। निःसन्देह शासन राज्य का अभिकर्त्ता है, किन्तु राज्य अमूर्त संस्था है जबकि शासन वास्तविक सत्य है। इस तरह शासन के कृत्य वस्तुत राज्य के ही कृत्य हैं। अत यदि कोई नागरिक अपने राज्य को व्यक्तिगत हानियो के लिए उत्तरदायी ठहरा सकता है, तो फिर ऐसा राज्य जिस पर वैधिक उत्तरदायित्व प्रभावी है, नैतिक उत्तरदायित्वो से स्वय को अछूता नही रख सकता बशर्ते कि राज्य के नैतिक उत्तरदायित्व स्थापित किए जा सकते हो।[1] बोसांके का राज्य यदि अपने अभिकर्त्ताओ के कृत्यो के लिए उत्तरदायी नहीं है, तो वह अनुत्तरदायी और अत्याचारी हो जाएगा, विशेषकर इसलिए कि बोसांके ने राज्य और समाज के बीच भेद नही किया है। बोसांके के एक ऐसे चरमतावादी राज्य की कल्पना करता है जो व्यक्ति के नैतिक उत्थान के बदले उसके विकास को कुण्ठित कर देता है।

1 *Bosanquet :* Metaphysical Theory of the State, p 48.
2 *Barker* op cit., p. 65

हॉबहाउस के अनुसार बोसांके का यह मत असगत है कि राज्य सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतिरूप है। राज्य व्यक्तियों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधि कभी नही हो सकता। ऐसा समय आ सकता है जबकि वास्तविक इच्छा (Real Will) ही विरोधी बन जाए। बोसांके राज्य और समाज के अन्तर को स्वीकार नही करता तथा उसने व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति को राज्य मे विलीन कर दिया है। यह विचार प्रतिक्रियावादी है और मानव स्वतन्त्रता एव प्रगति-विरोधी है। राज्य और समाज दो भिन्न संस्थाएँ है जिन्हे समानार्थक मानना गलत है।

बोसांके के सामाजिक बुद्धि अथवा सगठन सम्बन्धी विचारो पर आक्षेप करते हुए आइवर ब्राउन (Ivor Brown) का कथन है कि "राज्य को ऐसे सामाजिक सगठन का स्थान देना जो उसका निर्माण करने वाली व्यक्तिगत सस्थाओ से उच्चतर स्थिति मे हो, मूलरूप मे एक अप्रजातन्त्रवादी धारणा है।" इसी लेखक के शब्दो मे "यदि सामाजिक सगठन के सिद्धान्त का दृढतापूर्वक प्रयोग किया जाए तो उसका परिणाम होगा राज्य की अभूतपूर्व दक्षता।" यद्यपि आइवर हावर ब्राउन की आलोचना मे पर्याप्त बल है, यद्यपि बोसांके के विचार इस दृष्टि से अधिक परिपक्व प्रतीत होते हैं कि समाज के व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से पृथक् हैं। वे एक दूसरे से पृथक् है, लेकिन बुद्धि की धारणा को स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है। उसका यह विचार ठीक है कि समाज के बिना मनुष्य महत्तर जीवन प्राप्त नही कर सकता। मानव प्रकृति का निर्माण समाज के अन्तर्गत ही सम्भव है।

बोसांके अन्तर्राष्ट्रीयवाद मे विश्वास व्यक्त नही करता। वह केवल राष्ट्रीय राज्य की कल्पना को अपना उद्देश्य मानकर आगे बढता है जो अनुचित है। राष्ट्रीय राज्य को मानवता का अन्तिम ध्येय (Final Goal of Humanity) नही माना जा सकता। बोसांके भूल जाता है कि सभ्यता के विकास के साथ मानवता को एक दिन अन्तर्राष्ट्रीयता को अपना उद्देश्य बनाना होगा। राष्ट्रसघ, सयुक्त राष्ट्र-सघ मानवता के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रमाण हैं।

इन आलोचनाओ के बावजूद बोसांके का आदर्शवादी दार्शनिको मे अपना विशिष्ट स्थान है। उसके ग्रथ पाडित्य और समन्वयकारी प्रतिभा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अपने ग्रन्थ (The Philosophical Theory of the State) के तृतीय सस्करण मे उसने लीग-ऑफ नेशन्स का महत्त्व स्वीकार कर इस बात का परिचय दिया कि उसका मस्तिष्क नूतन विकासो का महत्त्व समझ सकता था।

बोसांके की सबसे बडी देन एव उसका महत्त्व यह है कि वह काफी हद तक इस बात को स्पष्ट करने मे सफल हो गया कि व्यावहारिक मामलो मे राज्य सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और सामाजिक चेतना केवल व्यक्ति की नैतिक चेतनाओं का सामूहिक स्वरूप है और कुछ नही। बोसांके ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक ऐसा सवास है जो हमको अधिकतम सुरक्षा प्रदान कर सकता है और आदर्शवादी विचारधारा ऐसी मानसिक अभिरुचि है जिसमे हम यह विचार नही करते कि वर्तमान परिस्थितियां और सवास क्या है, बल्कि यह विचार नही करते कि उन्हे कैसा होना चाहिए। आदर्शवादियो के नेता प्लेटो ने यही किया, अरस्तू ने यही किया, हीगल और कॉण्ट ने यही किया तथा ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। बोसांके के दर्शन का महत्त्व इसलिए भी है कि उसने राज्य और समाज मे एक वृहद् अन्तर की स्थापना की है। उसके दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए बार्कर ने लिखा है कि "राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक क्रिया है; उसकी स्फूर्ति का आधार बल है, उसकी कार्य-पद्धति मे कठोरता है, जबकि समाज का क्षेत्र स्वेच्छापूर्वक सहयोग है, उसकी स्फूर्ति का आधार सद्भावना है और उसकी कार्य-पद्धति मे लचीलापन है।"[1] राज्य और समाज को सामान्यतया पर्यायवाची समझते हुए भी बोसांके इन दोनो मे विभेद स्थापित करते हुए हीगल आदि विचारकों की

1 *Ivor Brown* : English Political Theory, p. 144–45.

तरह इधर-उधर भटका नहीं है। वस्तुतः ब्रिटिश आदर्शवादी विचारधारा के विकास में बोसांके का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह ग्रीन के सिद्धान्तों से प्रारम्भ करता है और उन्हें अधिक पूर्ण हीगलवाद की दिशा में विकसित करता है। उसका यह प्रयत्न हॉब्स, लॉक, बेन्थम, मिल तथा स्पेंसर के व्यक्तिवाद और उदारवाद के विरुद्ध राज्य की धारणा को पुनर्जीवित करने का एक संकल्प-बद्ध प्रयास है।

ग्रीन और बोसांके
(Green and Bosanquet)

ग्रीन और बोसांके ये दो अंग्रेज विचारक आदर्शवाद के दो छोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समय की दृष्टि से यद्यपि ग्रीन पहले आता है, पर विचारों की क्रमबद्धता के अनुसार उसका दर्शन बोसांके के हीगलवादी दर्शन से अधिक स्पष्ट, सुन्दर तथा आधुनिकता के अधिक निकट है। इन दोनों आदर्शवादियों में अनेक स्थानों पर कुछ विचार-साम्य हैं, किन्तु ऐसे स्थानों की भी कमी है, जहाँ इनमें तीव्र विरोध दिखाई देता है।

दोनों विचारों में मुख्य समानताएँ संक्षेप में ये हैं—

1 दोनों ही विचारकों ने ग्रीन के दर्शन से प्रेरणा ली है तथा रूसो, काण्ट, हीगल आदि आदर्शवादी पूर्वजों से भी दोनों ही काफी प्रभावित हैं।

2 दोनों ही राज्य को अनिवार्य और स्वाभाविक मानते हैं जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है।

3 राज्य को एक नैतिक संस्था मानने के अतिरिक्त दोनों ही राज्य के निषेधात्मक कार्यों को मान्यता देते हैं जिसके फलस्वरूप दोनों के राज्य का स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र बहुत कुछ भिन्न होते हुए भी काफी समान है।

4 ये दोनों ही जर्मन आदर्शवादियों द्वारा समर्थित निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) के विरोधी हैं। स्वभावतः अंग्रेज होने के नाते दोनों को ही अपनी प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं से प्रेम है।

दोनों के विचारों में मुख्य अन्तर ये है—

1 ग्रीन राज्य के अत्याचारी तथा पथ-भ्रष्ट होने पर नागरिकों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार देता है जिससे उसका राज्य निरंकुश अथवा सर्वसत्तावादी नहीं कहा जा सकता, जबकि बोसांके हीगेलियन विचारधारा में विश्वास करते हुए राज्य को अनियन्त्रित अधिकारों का स्वामी बताता है।

2. दोनों दण्ड के निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) में विश्वास करते हैं, किन्तु बोसांके दण्ड के मनोवैज्ञानिक पक्ष (Psychological Aspect) पर अधिक बल देता है।

3 युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विषय में ग्रीन उदारवादी तथा विश्व-संस्थाओं के अस्तित्व में विश्वास करने वाला है, किन्तु बोसांके हीगल से प्रभावित होने के कारण राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय संघ में शामिल होने की आज्ञा नहीं देता।

4. बोसांके का मत है कि जीवन तथा महत्तर जीवन के मध्य सदैव संघर्ष की भावना विद्यमान रहती है और इस संघर्ष को टालना कोई सरल कार्य नहीं है। मनुष्य किसी निश्चित व्यवस्था में सुगठित होने की अपेक्षा विश्रृंखलित अधिक है, अतः वे किसी विश्व-संघ की स्थापना नहीं कर सकते। ग्रीन का विचार इसके विपरीत है।

1 *Barker* : op cit., p 67.

32

विज्ञानवाद : आगस्ट कॉम्टे, हर्बर्ट स्पेंसर और हक्सले

(The Scientific School : August Comte, Herbert Spencer and Huxley)

उन्नीसवीं सदी के विज्ञानवाद ने भी उपयोगितावादी और आदर्शवादी चिन्तन के समान ही 19वीं शताब्दी मे राजदर्शन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। यहाँ विज्ञानवाद से अभिप्राय वैज्ञानिक विचार-पद्धति (Impericism) से न होकर जीव-विज्ञान सम्बन्धी विचारधाराओं से है जिनका प्रतिनिधित्व सेंट साइमन, आगस्ट कॉम्टे, बेजहॉट, हर्बर्ट स्पेंसर, ग्राहम वैलास, हक्सले, मेकडूगल आदि विचारक करते हैं। इनमे सेंट साइमन और आगस्ट कॉम्टे की—विशेषकर कॉम्टे की–प्रत्यक्षवादियों मे, स्पेंसर तथा हक्सले की जीव-विज्ञानवादियो मे और बेजहॉट, वैलास तथा मैकडूगल की मनोविज्ञानवादियो मे गणना की जाती है। विज्ञानवादी दार्शनिको ने मानव-जीवन की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के रूप में करने का प्रयास किया। उन्होने राजनीति को भिन्न दृष्टिकोणों से देखा। उदाहरणार्थ हर्बर्ट स्पेंसर जीवशास्त्रीय व्याख्या (Biological Explanation) का जनक था तो बेजहॉट मनोवैज्ञानिक व्याख्या (Psychological Explanation) का अग्रदूत था। प्रत्यक्षवादियो ने समाज-विज्ञान को सर्वोच्च माना यद्यपि उन्होने इसे जीव विज्ञान के साथ सम्बन्धित करने का पूर्ण प्रयास किया और कॉम्टे ने एक प्रकार से सम्पूर्ण सामाजिक ज्ञान को एक शरीर मान लिया तथा रसायन, भौतिक एव जीव-विज्ञान को इसी ज्ञान का अलग-अलग अग बताया। प्रत्यक्षवादियो ने विश्वास प्रकट किया कि गणितीय शुद्धता की भाँति यह पहले से ही ज्ञात किया जा सकता है कि विशिष्ट स्थितियो मे समाज का विकास कैसे होगा। कॉम्टे का विश्वास था कि तथ्यो की सही प्रकृति समझने पर वैज्ञानिक नियमो की भाँति सामाजिक विज्ञान के नियम भी निर्धारित किए जा सकते है। हर्बर्ट स्पेंसर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था जिसने आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र को प्राणी-विज्ञान के समान उसका एक अग माना तथा अपने विकासवादी दर्शन द्वारा भौतिकशास्त्र और जीवशास्त्र जैसे दो भिन्न विषयो को एक साथ मिलाकर समन्वित करने की चेष्टा की। बेजहॉट ने सामाजिक और राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनायी जिसे अनेक ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा अमेरिकी विद्वानों ने विकसित किया। वस्तुतः विज्ञानवाद मानव-मूल्यों के प्रति एक आक्रामक लक्ष्य लेकर राजनीति मे प्रविष्ट हुआ किन्तु वह अपने प्रयत्न मे अधिक सफल नही हुआ क्योंकि अन्ततः उसे यह स्वीकार करना पडा कि मनुष्य एक प्राणी ही नही उससे भी ऊपर एक नैतिक मानव है, अतः प्राकृतिक विज्ञान के नियमों को राजनीतिक घटनाओ के अध्ययन में ठीक-ठीक प्रयुक्त नही किया जा सकता। विज्ञानवाद का सबसे गम्भीर दोष यह था कि इसने मानव-मूल्यों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की। प्रस्तुत अध्याय मे हम प्रत्यक्षवाद (Positivism) के प्रतिनिधि आगस्ट कॉम्टे तथा जीव-विज्ञानवाद के प्रतिनिधि हर्बर्ट स्पेंसर और हक्सले पर विचार करेंगे। तत्पश्चात् अगले अध्याय में मनोविज्ञानवादियो यथा बेजहॉट, ग्राहम वैलास और मैकडूगल के विचारो का विवेचन किया जाएगा।

ऑगस्ट कॉम्टे
(August Comte, 1798–1857)

संक्षिप्त जीवन-परिचय

एक प्रत्यक्षवादी (Positivist) विचारक के रूप मे विख्यात आगस्ट कॉम्टे (1798–1857) का जन्म फ्रांस के मॉटपियर नामक नगर मे हुआ था। सन् 1814 से 1816 तक कॉम्टे ने ईकोल पॉलीटेक्निक (Ecole Polytechnique) मे शिक्षा प्राप्त की, किन्तु अनुशासनहीनता और अहकारी प्रवृत्ति के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया गया।[1] बाद के वर्षों मे विभिन्न अवसरो पर पॉलीटेक्निक के साथ उसका सम्पर्क एक शिक्षक या परीक्षक के रूप मे रहा, किन्तु उसे उसकी वास्तविक योग्यताओ के अनुरूप नियुक्ति कभी नही मिल सकी। वास्तव मे कॉम्टे का स्वभाव इतना विलक्षण था कि उसे अपने जीवन मे दु ख भोगने पडे। वह हठी प्रकृति का था और महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा विचारो मे किसी के साथ समझौता नही कर सकता था। "उसे अपने विचारो की सत्यता पर इतना विश्वास था कि वह प्रकाशको और शिष्यो से झगडा कर लेता था। मिल तथा ग्रोट जैसे सहानुभूतिपूर्ण समर्थकों से भी उसकी नही पट सकी, विशेषकर तब जब उसे यह पता लगा कि उनसे उसे जो कुछ भी वित्तीय सहायता मिलती थी वह इसलिए नही मिलती थी कि वे उसका (कॉम्टे का) बौद्धिक प्रभुत्व स्वीकार करते थे।" किन्तु बाधाओ और निराशाओ के बावजूद कॉम्टे अपनी सुधार-योजनाओ के विस्तार कार्य से पीछे नही हटा और जब सन् 1857 मे उसकी मृत्यु हुई तो उसकी अनेक सुधार योजनाएँ निर्माणावस्था मे थी।

पॉलीटेक्निक छोडने के कई वर्ष बाद कॉम्टे ने सेंट साइमन के सेक्रेटरी के रूप मे काम किया और उसके विचारो से कॉम्टे प्रभावित भी हुआ, लेकिन उससे भी उसकी नहीं पटी। कॉम्टे मे कुछ ऐसी प्रतिभाएँ थी जिनका सेंट साइमन मे अभाव था। अन्त मे 'Prospectus of the Work Necessary for Reorganizing Society' का रचयिता होने के प्रश्न पर दोनो मे झगडा हो गया और वे एक-दूसरे के साथ काम कर ही नही सकते थे। सेंट साइमन से सम्बन्ध-विच्छेद के बाद कॉम्टे ने एक सुधारक के रूप मे अपना स्वतन्त्र जीवन आरम्भ किया। उसने तत्कालीन दूषित राज्य-व्यवस्था का सावधानीपूर्वक मनन कर सुधार के लिए अपने बहुमूल्य सुझाव प्रस्तुत किए जिनमे से एक-एक करके अधिकांश को फ्रांसीसी सरकार ने स्वीकार कर लिया। कॉम्टे एक नवीन समाज के वैज्ञानिक आधारों के खोज-कार्य मे लग गया, क्योकि उसे विश्वास था कि जब लोग इन आधारो को एक बार समझ लेंगे तो वे उसकी नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे। सन् 1824 से 1842 के बीच वह इस वृहत् कार्य मे लगा रहा और उसके अथक् परिश्रम के फलस्वरूप 'Course of Positive Philosophy' के छः भाग प्रकाश मे आए। इस विशद् और विख्यात ग्रन्थ मे कॉम्टे ने मानव-समाज के सिद्धान्तो (Laws of Human Society) की अपने ढग से खोज की और मानव-इतिहास की समीक्षा कर अपनी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया। कॉम्टे की नई सामाजिक रचना के विवरण को हेरियट मार्टिन्यू ने 'Positive Philosophy of August Comte' नामक पुस्तक मे संक्षेप मे प्रस्तुत किया है। कॉम्टे की अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक रचनाओ मे 'System of Positive Philosophy' (1851–54) तथा 'Catechism of Positivism' (1852) उल्लेखनीय है।

कॉम्टे का युग विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो के विकास का युग था। उस समय औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जीवन और समाज का ढाँचा बदल रहा था और औद्योगिक वर्ग वैज्ञानिक शोधो को अधिकाधिक प्रोत्साहन दे रहा था। कॉम्टे को यह देख कर बडा क्षोभ होता था कि औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति के इस युग मे भी फ्रांस की राजनीति मे निष्क्रियता छाई हुई थी। कॉम्टे मे औद्योगिक प्रगति और वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रति अत्यधिक आशावाद था। उसे विश्वास था कि औद्योगिक तथा

1 *W Lancaster* · Masters of Political Thought, Vol III, p. 71.

वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप एक नवीन और वैज्ञानिक ईसाइयत का उदय होगा और ज्यो-ज्यो औद्योगिक विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा त्यो-त्यो मानव-विकास भी पूर्णता प्राप्त करता जाएगा। प्राचीन मान्यताओ और परम्पराओ के स्थान पर नवीन मूल्य जन्म लेंगे और एक नए समाज की रचना होगी। इस नवीन समाज के ढाँचे मे राज्य का स्वरूप बदल जाएगा, समूची राजनीतिक तथा सामाजिक रूपरेखा का रूपान्तर हो जाएगा।

कॉम्टे के राजनीतिक विचार
(Political Philosophy of Comte)

लेन लकास्टर ने कॉम्टे के राजनीतिक दर्शन की अनेक शीर्षकों में विस्तार से विवेचना की है। हम कॉम्टे के प्रत्यक्षवादी दर्शन (Philosophy of Positivism) की व्याख्या करते हुए उसके प्रमुख राजनीतिक विचारो—प्रत्यक्षवादी राज्य और कानून, प्रत्यक्षवादी सरकार, प्रत्यक्षवादी धर्म आदि पर विचार करेंगे।

कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद का दर्शन
(Philosophy of Positivism of Comte)

कॉम्टे के बारे मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह कुल मिलाकर एक सुधारक था, न कि तकनीकी अर्थों में एक विद्वान्। कॉम्टे के लिए ज्ञान तभी सार्थक था जब उसे जीवन-व्यवहार में लागू किया जा सकता हो इसीलिए वह तत्कालीन विश्वविद्यालयो मे होने वाले अधिकांश कार्य को व्यर्थ समझता था और उस दिन की प्रतीक्षा करता था जब ये कार्य बन्द हो जाएँ। कॉम्टे का विश्वास था कि उसने मानव-समाज के सिद्धान्तो या नियमो को खोज निकाला है और इन सिद्धान्तो के क्रियान्वित होने पर मानवीय गतिविधियो (Human Affairs) का वैज्ञानिक रूप में व्यवस्थापन या नियमन किया जा सकता है। कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद को सार रूप मे 'समाज का वैज्ञानिक ढग से 'निश्चयात्मक विकास' कहा जा सकता है। कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष या यथार्थ तभी होती है जब उसे इन्द्रिय ज्ञान द्वारा सिद्ध किया जा सके अर्थात् हम उसे देख, सुन या अनुभव कर सकें। किसी भी वैज्ञानिक सत्य की बात तभी की जा सकती है जब उसे प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सके अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित किया जा सके। कॉम्टे ने यह विचार प्रकट किया कि समाज-विज्ञान के नियम प्रत्यक्ष है अर्थात् इन्हे जाना जा सकता है तथा सिद्ध किया जा सकता है। यदि सर्वत्र एक-सी क्रियाएँ हो तो इस एकरूपता अथवा सार्वभौमिकता से हमे किसी प्राकृतिक नियम का सकेत मिलेगा। समाज के निर्माण मे मानव-मन सदैव कार्यरत रहा है और यदि हम यह ज्ञात कर लें कि इतिहास के विकास के साथ मानव-मन कैसे कार्य करता रहा है तो हम सामाजिक विकास के मूल सिद्धान्तो को जान सकते है और इन सिद्धान्तो के आधार पर भावी रूपरेखा की भविष्यवाणी भी कर सकते है। कॉम्टे का सूत्र था—"विज्ञान से सूझ और सूझ से कार्य की प्राप्ति होती है।"[1]

कॉम्टे ने यह मत व्यक्त किया कि मानव-बुद्धि के अनुसार समाज का विकास होता है और इस मानव बुद्धि के विकास की तीन क्रमिक अवस्थाएँ हैं—धर्मभीरु अथवा मिथ्यात्वपूर्ण अवस्था (Theological or Fictitious Stage), आधिभौतिक या सूक्ष्म अवस्था (Metaphysical or Abstract Stage) तथा वैज्ञानिक या प्रत्यक्ष (Scientific or Positive Stage)। हम ऐतिहासिक अनुभव और अपने सगठन के तथ्य—इन दोनो ही के द्वारा इन अवस्थाओं को सिद्ध कर सकते है चूंकि मानव बुद्धि के अनुसार ही समाज का विकास होता है, अतः स्वाभाविक है कि मानव बुद्धि की तरह मानव विकास की भी ये ही तीन अवस्थाएँ है—धर्मभीरु, आधिभौतिक तथा वैज्ञानिक (Theological, Metaphysical and Scientific)। प्रथम अवस्था तो मानव बुद्धि का प्रारम्भ है, तृतीय अवस्था

1 "From Science comes Prevision, from Prevision comes Action." —Ibid, p. 74.

मानव बुद्धि की परिपूर्णता और स्थायित्व ही है, तथा द्वितीय अवस्था दोनो के बीच की अन्तरिम स्थिति या सक्रमण की स्थिति (Stage of Transition) है।

प्रथम, अर्थात् धर्मभीरु अवस्था मे मानव-मन सोचता है कि इस सृष्टि के पीछे अति-प्राकृतिक शक्तियो (Super Natural Beings), जैसे भूत-प्रेत या देवी-देवताओ का हाथ है। द्वितीय, अर्थात् आधिभौतिक अवस्था मे (In the Mtaphysical Stage), जो कि प्रथम अवस्था के विश्वासो का केवल सशोधित रूप है, मानव-मन सोचता है अति-प्राकृतिक प्राणियो के बजाय, इस सृष्टि अथवा घटनाओ के पीछे कुछ सूक्ष्म शक्तियाँ (Abstract Forces) है जिनका अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ मे होता है और जो किसी भी क्रिया को करने मे सक्षम होती है। तृतीय, अर्थात् वैज्ञानिक या प्रत्यक्ष अवस्था मे मानव-मन सृष्टि के विकास, जगत् के निर्माण आदि व्यर्थ की धारणाओ पर विचार न कर विवेक या तर्क-बुद्धि (Reasoning) से व्यावहारिक ज्ञान की बातें सोचता है। विवेक या तर्क-बुद्धि और पर्यवेक्षण (Reasoning and Observation) दोनो अपने सयुक्त रूप मे इस ज्ञान के साधन है। लकास्टर के अनुसार "कॉम्टे के धार्मिक युग की सबसे ऊँची कल्पना सम्भवत इस नतीजे पर पहुँची कि सृष्टि का निर्माण और विकास अगणित शक्तियो द्वारा न होकर एक ही नियन्ता द्वारा (The Providential Action of a Single Being) हुआ है। आधिभौतिक व्यवस्था मे लोगो ने एक नियन्ता के स्थान पर प्रकृति (Nature) को स्थापित कर दिया था और वैज्ञानिक या प्रत्यक्ष व्यवस्था मे प्रकृति के स्थायी नियमो का ज्ञान होने लगा, जैसे गुरुत्वाकर्षण का नियम।"

प्रथम अवस्था को कॉम्टे ने सैनिक अवस्था का नाम भी दिया है क्योकि इसमे शक्ति ही सामाजिक सम्बन्धो का आधार होती थी। सैनिक शक्ति द्वारा विजयें प्राप्त कर राज्यो का निर्माण होता था। द्वितीय, यानी आधिभौतिक अवस्था को वैधानिक अवस्था भी कहा गया है जिसमे यद्यपि सैनिक शक्ति की प्रधानता कायम रही, तथापि औद्योगिक विकास मे अधिक प्रगति हुई। दासो को 'सर्फ' की स्थिति प्रदान की गई और कालान्तर मे उन्हे नागरिक स्थिति प्राप्त हुई। जो औद्योगिक प्रगति हुई वह मुख्यत सैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति की दिशा मे हुई, जिसमे युद्धो को प्रोत्साहन मिला। वैज्ञानिक एव औद्योगिक अवस्था मे उद्योगो को सर्वाधिक प्रधानता प्राप्त हुई और इन्ही के द्वारा समाज व्यवहार के सभी सम्बन्धो का नियन्त्रण होने लगा। कॉम्टे के अनुसार इस युग मे समाज की समूची गतिविधि उत्पादन-वृद्धि की दिशा मे सचालित रहती है और व्यक्ति को सही रूप मे सुख-सुविधा प्राप्त कराने के लिए कार्य किया जाता है। वैज्ञानिक युग की विशेषता प्रकृति के अनुकूल स्वय का ढालना है। यही वह दृष्टिकोण है जिसके द्वारा सही सभ्यता का निर्माण शुरू होता है। लकास्टर का कथन है कि कॉम्टे के तीन अवस्थाओ के सिद्धान्त द्वारा सम्पूर्ण मानव इतिहास की व्याख्या नही की जा सकती क्योकि कॉम्टे ने तो इनके द्वारा केवल यूरोप के इतिहास की व्याख्या की है, स्वय को केवल श्वेत जातियो और मुख्यतः पश्चिमी यूरोप तक ही सीमित रखा है। वास्तव मे कॉम्टे के लिए यह बहुत कठिन था कि वह अपनी योजना मे विश्व के अन्य भागो के सामाजिक अनुभव को फिट करता। आधुनिक मानवशास्त्रीय खोजो से प्रकट होता है कि कॉम्टे प्रारम्भिक समाज के बारे मे वस्तुत बहुत कम जानता था। उसकी अपनी खोज के कई वैज्ञानिक आधार नही हैं।

कॉम्टे ने मानव-समाज के विकास के इतिहास की अपनी व्याख्या को ही, प्रत्यक्षवाद (Positivism) कहा है और अपनी समझ और कल्पना के अनुसार ही उन नियमो, शक्तियो और अवस्थाओ को प्रस्तुत किया है जिनमें होकर मानव विकास आगे बढता है। कॉम्टे ने यह मत व्यक्त किया कि 'प्रत्यक्ष सरकार' (Positive Government) मानव-विकास की अन्तिम व्यवस्था होगी और जितनी जल्दी हम इस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे उतनी ही जल्दी 'धार्मिक और आधिभौतिक अन्ध-विश्वासो की समाप्ति होकर मानव-मन वैज्ञानिक ढग से सोचने की प्रक्रिया अपना लेगा। कॉम्टे ने वह उपाय भी सुझाया है, जिसके द्वारा इस अवस्था को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। कॉम्टे का

कहना है कि यद्यपि विकास मे तीनों अवस्थाएं अवश्य हैं तथापि मनुष्य अपने प्रयत्नो से उनके समय को कम कर सकता है। कॉम्टे का यह विचार मनुष्य को 'विकास का नियन्ता' बना देता है।

कॉम्टे का कानून और राजनीतिक सिद्धान्त
(Comte's Law and the Political Theory)

तीन अवस्थाओं का यह कानून (The Law of Three Stages) कॉम्टे के राजनीतिक सिद्धान्त से दो प्रकार से सम्बन्धित है। प्रथमत. कॉम्टे का विश्वास है कि धर्मभीरु या धार्मिकता-प्रधान अवस्था मे समाज के शासक पुरोहित लोग (Priests) थे। इस प्रकार उस युग मे सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था और कानून धार्मिक भावना के अधीन रहे। इस धार्मिक युग का चरम विकास रोमन कैथोलिक चर्च के मे रूप हुआ जिसने लोगो को न केवल आध्यात्मिक सरकार (Spiritual Govt.) दी बल्कि मध्ययुग मे जीवन के प्रति उन्हे एक दृष्टिकोण भी प्रदान किया। फिर द्वितीय अवस्था अर्थात् आधिभौतिक अवस्था आई जिसमे धर्म का स्थान 'प्राकृतिक अधिकार' (Natural Rights), 'स्वतन्त्रता' (Liberty), 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' (Popular Sovereignty) जैसे सूक्ष्म तत्त्वो की माँग ने ले लिया। इस युग में समाज का नियन्त्रण पुरोहितो के हाथ से निकल कर पत्रकार, राजनीतिज्ञ और वकीलो के हाथो मे चला गया। कॉम्टे के अनुसार यह आधिभौतिक अवस्था (The Metaphysical Stage) पिछले धार्मिकता-प्रधान युग की अपेक्षा अवश्य ही अधिक विकसित है, किन्तु यह सही रूप मे विकसित नहीं है क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र मे लोग अब भी उन प्राचीन मान्यताओ पर विश्वास करते है जिनका अन्य क्षेत्रो मे परित्याग किया जा चुका है। कॉम्टे के अनुसार पुरानी मान्यताओ का परित्याग कर नूतन विकास लाने मे क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। फ्राँस की क्रान्ति ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का जो नारा दिया वह सामाजिक रूढियो को तोडने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण था। यदि क्रान्तियाँ न हो और व्यक्ति रूढियों से ही चिपके रहें तो सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हो जाएगी। क्रान्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे प्राचीनता के स्थान पर नवीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ उत्पन्न करने मे योगदान देती हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अप्रतिबन्धित माँग की जाए क्योंकि ऐसी माँग तो स्वय ही एक अन्धविश्वास है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय कुछ सोचना या करना न होकर वास्तव मे उन नियमो की खोज करना है जिसके अनुसार प्रकृति का सचालन हो रहा है, जिनमे मानव समाज का विकास प्रभावित हो रहा है और विभिन्न घटनाएँ घटित हो रही है। यदि व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता को अप्रतिबन्धित छोड दिया जाए तो ऐसी स्वतन्त्रता समाज के पुनर्निर्माण मे बाधा उत्पन्न करेगी। मनमानी अथवा स्वेच्छाचारिता सही स्थिति को समझने मे बाधक सिद्ध होती है जिसे यदि खुली छूट दे दी जाए तो फिर किसी भी सामाजिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण सम्भव नही हो सकता क्योकि अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता को उपभोग करने वाले लोग स्वेच्छाचारी बन कर अपनी वासनाओ और इच्छाओं की पूर्ति के लिए सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने में सकोच नही करेंगे।[1] कॉम्टे ने अपने समय की 'अराजकता' (Anarchy) का मूल कारण 'निर्णय की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त' (The Principle of Liberty-Judgement) माना था।[2] निर्णय लेने की अबाध अथवा अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता अराजकता को फैलाने वाली हो सकती थी। कॉम्टे ने कहा कि "समानता, अबाध स्वतन्त्रता, लोक-सम्प्रभुता जैसी माँगें अविवेकपूर्ण है जिनके फलस्वरूप कोई भी सरकार सही रूप मे कायम नही की जा सकती। हमारे युग का दुर्भाग्य है कि आधिभौतिक अवस्था की ये माँगें अभी अवशिष्ट हैं और जब तक हम इन्हें समाप्त नही कर देंगे तब तक सही रूप मे राजनीतिक और सामाजिक विकास सम्भव नहीं होगा।" पर साथ ही कॉम्टे ने यह विश्वास प्रकट किया कि समाज मे अपने विकास की शक्ति अन्तर्निहित होती है जो बाधाओ का अन्त करने के लिए स्वय ही आवश्यक

1 *Herrit Martineau* · Positive Philosophy, Vol II, pp. 9, 13.
2 *Lancaster* : op cit, p 85.

परिस्थितियों का निर्माण कर लेती है। इस शक्ति के कारण अराजकता का अन्त निश्चित है, वैज्ञानिक पुनर्गठन की माँग इस अराजकता की स्थिति को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है।

कॉम्टे का विचार था कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा और जीवन का प्रत्येक पक्ष अलग-अलग इन तीन अवस्थाओं से गुजरता है। प्रत्येक ज्ञान की शाखा अन्त में अपने वैज्ञानिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और तभी उसको पूर्णता प्राप्त होती है। कॉम्टे ने यह विश्वास प्रकट किया कि एक बार वैज्ञानिक स्थिति में प्रविष्ट हो जाने के बाद सामाजिक विकास के स्वरूप में आगे परिवर्तन नहीं होगा, हालांकि वह विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जाएगा।

प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त
(Theory of Positive Government)

अब हमें देखना चाहिए कि प्रत्यक्षवादी दर्शन की सार्वभौमिक स्वीकृति के उपरान्त सरकार की कौनसी वैज्ञानिक व्यवस्था स्थापित की जानी है और कॉम्टे ने प्रत्यक्षवादी सरकार की अपनी क्या व्यवस्था दी है। कॉम्टे का प्रत्यक्षवादी सरकार का सिद्धान्त बहुत ही विचित्र है और इस विश्वास पर आधारित है कि औद्योगिक तथा उसका सहायक वैज्ञानिक वर्ग ही मानवता को पूर्णता प्रदान कर सकेगा और प्रारम्भ से मानव जाति का विकास इसी वर्ग को जन्म देने के लिए होता रहा है। कॉम्टे की प्रत्यक्षवादी सरकार (Positive Govt) का संक्षेप में अर्थ है—बैंकरों का अधिनायकवाद जिसे स्त्रियों के प्रभाव से नैतिक बनाया जाना था, तथा मानवता के नवीन धर्म के पुरोहितत्व का अधिनायकवाद जिसका उद्देश्य परम्परागत विश्वासों का स्थान लेना था।[1] मानवता के नवीन धर्म से अभिप्राय ईश्वर की पूजा नहीं है, बल्कि मानवीय उपलब्धियाँ हैं और पुरोहितत्व से वास्तविक आशय कुशल समाजशास्त्रियों से है। कॉम्टे के अनुसार समाज के पूर्ण विकास और कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि शासनसत्ता बैंकरों के हाथ में आ जाए और वे ही सम्पूर्ण राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का निरंकुशता के साथ नियन्त्रण करें। बैंकरों या पूँजीपतियों का निरंकुश शासन इसलिए अपेक्षित है क्योंकि समाज में जो कुछ विकास हुआ वह उद्योगपतियों और वैज्ञानिकों के कारण हुआ है। वैज्ञानिकों ने जो नए विचार प्रस्तुत किए, उद्योगपतियों ने अपनी पूँजी द्वारा उन विचारों को कार्य रूप दिया, इसलिए पूँजीवादी वर्ग को समाज में सर्वप्रथम स्थान दिया जाना चाहिए और यह भार उन्हीं पर डाला जाना चाहिए कि वे सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का नियन्त्रण अपने हाथ में लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक योजनाओं का निर्माण करें। साथ ही कॉम्टे की यह भी आकांक्षा थी कि सरकार विशुद्ध (Clean) और गणित तथा नक्षत्र विद्या की तरह सही होनी चाहिए और यह भी तभी सम्भव है जबकि व्यापारी और हिसाबी बुद्धि वाले व्यक्ति ही शासन-व्यवस्था सम्भालें। राज्य की आबादी, पूँजी, सहयोग, श्रम, कानून, दण्ड आदि बिलकुल नपे-तुले होने चाहिए अर्थात् यह आवश्यक है कि नवीन प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में प्रत्येक चीज सुनियोजित और व्यवस्थित तथा सही और सिद्धान्त के अनुकूल हो। बैंक मालिकों का निरंकुश शासन होना चाहिए और इन बैंकरों या पूँजीवादी वर्ग के सदस्यों में इन तीन को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होना चाहिए—एक कृषि बैंकर, दूसरा उद्योग बैंकर, एवं तीसरा उत्पादन बैंकर। इन तीन प्रधान शाखाओं की अधीनता में अन्य बैंकों और सम्पूर्ण सरकार का कार्य संचालन होना चाहिए। कॉम्टे की व्यवस्था के अनुसार राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति को सुनियोजित और नियन्त्रित करने के लिए एक गणतन्त्र में कुल 30 बैंक होने चाहिए। कॉम्टे यह भी विचित्र व्यवस्था देता है कि इन बैंकरों के निरंकुश शासन को नैतिक बनाने के लिए अथवा नैतिकता के स्तर पर लाने के लिए औरतों और समाजशास्त्रियों (जिन्हें कॉम्टे ने पुरोहितों (Priests) की संज्ञा दी है) का सम्पर्क अनिवार्य है। औरतों

1 "A dictatorship of bankers whose rule was to be moralized by the influence of women, and of the priesthood of the New Religion of Humanity which was intended to replace traditional beliefs"

के सम्पर्क से बैंकरो मे उदारता और नैतिकता की भावना जाग्रत होती रहेगी और समाजशास्त्रियो की भी निरकुश बैंकरो पर प्रभाव पडेगा क्योकि वे समाज के नियमो के कुशल ज्ञाता होगे। बैंकरो के दिल और दिमाग को शान्त रखने में औरतों और पुरोहितों अथवा समाजशास्त्रियो की सेवाओ की महती भूमिका होगी।

कॉम्टे ने अपने प्रत्यक्षवादी राज्य की बडी रोचक और गणितीय रूपरेखा दी है। विस्तृत सीमाओं और विशालकाय आबादी वाले राज्यों का ठीक-ठीक प्रबन्ध नही किया जा सकता। कॉम्टे की नई व्यवस्था मे एक राज्य की आबादी सामान्यतः 10 लाख से 30 लाख के बीच होनी चाहिए। ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी तथा इटली राज्यो को सत्रह गणराज्यो मे विभक्त कर देना चाहिए और अकेले फ्रांस को ही 17 राज्यो मे विभाजित कर दिया जाना चाहिए था। कॉम्टे के अनुसार इन राज्यो मे अव्यवस्था इसलिए रही क्योकि सीमा और आबादी की दृष्टि से ये विशाल थे। कॉम्टे की योजना के अनुसार ससार मे कुल 500 राज्य होने चाहिए और प्रत्येक राज्य की जनसंख्या को दो प्रमुख वर्गो—अभिजात वर्ग (Patricians) और श्रमिक वर्ग (Proletariat) में विभक्त कर देना चाहिए जिसमे अभिजात वर्ग को श्रमिक या सामान्य वर्ग पर नियन्त्रण रखना होगा। अभिजात वर्ग मे सर्वप्रथम स्थान बैंक मालिको का होना चाहिए। अभिजातीय लोगों की संख्या कुल जनसख्या की 1/30 होनी चाहिए जनसख्या का विभाजन इस तरह होना चाहिए कि प्रत्येक अभिजातीय परिवार मे 13 व्यक्ति और प्रत्येक श्रमिक परिवार मे 7 व्यक्ति हों। कॉम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी राज्य की नवीन व्यवस्था मे कुल तीन वर्ग होगे—कृषक वर्ग, उत्पादक वर्ग और औद्योगिक वर्ग तथा इन तीनो वर्गों मे अलग-अलग अभिजातियों और श्रमिको के पुनः दो-दो वर्ग होने चाहिए। गणितीय आधार पर कॉम्टे ने बताया कि एक अभिजात 35 श्रमिको का, एक औद्योगिक अभिजात 60 श्रमिको का और एक उत्पादक अभिजात 70 श्रमिको पर नियन्त्रण रख सकता है।

कॉम्टे लोकतन्त्रीय व्यवस्था का कटु आलोचक था और ससद् के लम्बे-लम्बे भाषणों, वाद-विवादो, नित नए कानून निर्माण आदि पर बड़ा दुखी होता था। कॉम्टे को तो ऐसी व्यवस्था ही पसन्द थी जिसमे सरकार का प्रत्येक कार्य यन्त्रवत् हो। कॉम्टे का कहना था कि समाज का नियन्त्रण पत्रकारो, वकीलो, राजनीतिज्ञो के हाथ मे रखा जाना अनुपयुक्त है क्योकि इससे प्रगति के मार्ग मे बाधाएँ उत्पन्न होगी। यह नियन्त्रण वह वैज्ञानिको और व्यापारियो के हाथ में रखना चाहता था। कॉम्टे यह भी चाहता था कि प्रत्येक वर्ग के लोग नई व्यवस्था मे अपने-अपने काम मे विशेष योग्यता प्राप्त करें, क्योकि सामान्य जनता प्रशासन के लिए योग्य नही हो सकती। प्रशासन के प्रत्यक्ष प्रशिक्षण द्वारा कुशल सदस्यो का एक अल्पसख्यक वर्ग तैयार करना होगा। यहाँ हम कॉम्टे को प्लेटो की तरह ही कल्पनावादी पाते है। वह भी हमारे समने प्लेटो की भाँति ही प्रत्यक्ष प्रशिक्षण की योजना प्रस्तुत करता है।

कॉम्टे की प्रत्यक्षवादी सरकार मे लोक-सम्प्रभुता (Popular Sovereignty) को कोई स्थान नही है। श्रमिक तथा सामान्य वर्ग पूरी तरह अभिजात वर्ग के अधीन और उनके निरीक्षण मे रहेगे। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि श्रमिक या सामान्य जन अपने सगठित लोकमत द्वारा निरंकुश बैंकरों की नीति को कुछ नरम बनाकर नैतिकता का रूप दे दें। लेकिन बैंकरों पर वास्तविक प्रभाव तो समाजशास्त्रियो और स्त्रियों के सम्पर्क का ही पडेगा। कॉम्टे की दृष्टि मे "स्त्रियाँ सर्वोत्कृष्ट प्राणी (Supreme Being) हैं।" औरते स्वर्गीय नैतिकता की प्रतीक हैं जो पुरुषों की परेशानी दूर करती हैं, उन्हे चिन्ताओ और कुप्रवृत्तियो से मुक्त करती हैं और इससे भी बढ़कर सार्वभौमिक प्रेम की वर्षा करती हैं। कॉम्टे ने कहा कि ईसाइयत की धारणा के अनुसार संसार मे प्रेम सबसे ऊपर है और यदि ऐसा है तो औरत ही सर्वोत्कृष्ट प्रेम की वस्तु है। मानवता की श्रेष्ठतम उपलब्धियो मे महिलाएँ पुरुषो से श्रेष्ठ हैं जिनमे पुरुषो को सुधारने तथा उनमे नैतिकता जाग्रत करने की क्षमता होती है।

समाजशास्त्री रूपी नए पुरोहितों की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि वे वैज्ञानिक विकास को जीवित रखने मे सहायक हैं, सामाजिक कानून के ज्ञाता हैं तथा समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करने मे सहयोग करते हैं। कॉम्टे अपनी प्रत्यक्षवादी व्यवस्था मे प्रेस की स्वतन्त्रता को कोई स्थान नही देता। वह प्रेस का स्थान स्वागतकक्षो (Salons) को देता है जिनमें औरते काम करेंगी और अपनी प्यार भरी मीठी बोली से लोगो को नवीन व्यवस्था के बारे मे जानकारी देंगी।

कॉम्टे अपनी प्रत्यक्षवादी व्यवस्था मे अधिकारो के स्थान पर कर्त्तव्यो पर जोर देता है। उसने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त, समझौता सिद्धान्त, शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त, जनमत द्वारा समर्थित सविधान आदि का उपहास किया है, और कहा है कि सरकार का सही मूल्यांकन इस बात पर निर्भर नही है कि वह किस प्रकार के सिद्धान्तों पर चलती है बल्कि इस बात पर निर्भर है कि समाज की सही सामान्य स्थिति के निर्माण मे उसका क्या हाथ है, एक वैज्ञानिक सभ्यता के निर्माण में उसका क्या योगदान है। श्रम-विभाजन और प्रयत्नो के सकलन—इन दोनों के समुचित सामजस्य मे ही सरकार का आदर्श स्वरूप सन्निहित है। कॉम्टे 'शक्ति' को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए यह मानता है कि शक्ति प्रत्येक मानव-समाज और राज्य का आधार है।' इस मान्यता मे वह हॉब्स के निकट जा पहुँचता है जिसके अनुसार जो सरकार शक्ति को अपना आधार नही बनाती वह काल्पनिक है।

प्रत्यक्षवादी धर्म या मानवता का धम
(Positive Religion or Religion of Humanity)

कॉम्टे ने अपनी नवीन प्रत्यक्षवादी व्यवस्था मे प्रत्यक्षवादी धर्म को स्थान दिया। उसने ईसाइयत के अन्धविश्वासो को ठुकरा दिया और कहा कि रोमन कैथोलिक चर्च जिन विश्वासों का पोषण करता रहा है, वे निराधार हैं। उसने समाज विज्ञान को नवीन व्यवस्था का 'विश्वास' माना और कहा कि इसी मे मानव धर्म निहित होगा जिसका अर्थ होगा मानव-मात्र का भौतिक कल्याण। समाज विज्ञान के नियम ही नए मन्त्र होगे और उन नियमो पर चलना ही मानव धर्म होगा। इस मानव धर्म के अनुसार शासक और शासित दोनो अपने को जनता का सेवक मानते हुए सम्पूर्ण मानवता विकास के लिए प्रयत्नशील रहेगे। नवीन समाज मे तीन प्रवृत्तियो को ही प्रमुखता प्राप्त होगी—स्त्री जाति से प्रेम, समाजशास्त्रियो के लिए सम्मान और श्रमिको के प्रति उदारता। कॉम्टे ने अपनी इस नवीन व्यवस्था को 'पवित्र-व्यवस्था' (Holy Order) की सज्ञा दी। उसने सम्पूर्ण ईसाइयत को एक नए वैज्ञानिक पोप की अधीनता मे पुनर्गठित करना चाहा और व्यवस्था दी कि इन नवीन पोप को धार्मिक प्रशासन मे परामर्श देने के लिए इटली, स्पेन ब्रिटेन, जर्मनी तथा तीन पश्चिमी उपनिवेशो अर्थात् 7 राष्ट्रों के राष्ट्रीय निरीक्षक होगे। पोप की यानी उच्च पुरोहित (High Priest) की राजधानी पेरिस निर्धारित की गई। लकास्टर की टिप्पणी है कि सम्भवत इस नवीन व्यवस्था का पोप कॉम्टे को ही बनना था और राजधानी भी सम्भवत कॉम्टे का घर ही होनी थी। कॉम्टे ने कहा कि नवीन प्रत्यक्षवादी धर्म के प्रचार के लिए लगभग 50,000 दार्शनिक आवश्यक होगे जिन्हे नए वैज्ञानिक अथवा मानव धर्म मे पहले भली प्रकार दीक्षित करना होगा। इन दार्शनिको का कर्त्तव्य होगा कि वे पुरातन सामाजिक परम्पराओ और प्रणालियो को भग कर नवीन व्यवस्था के निर्माण मे सहयोग दें।

प्रत्यक्षवादी शिक्षा (Positive Education)

स्वप्नो के ससार मे खोए हुए कॉम्टे ने अपनी नवीन प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में प्रत्यक्षवादी शिक्षा की योजना भी प्रस्तुत की। कॉम्टे का कहना था कि समाज की नवीन व्यवस्था मे मनुष्य की प्रकृति को बदलना आवश्यक होगा और इस प्रकृति को बदलने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा-योजना को क्रियान्वित करना होगा। नवीन प्रत्यक्षवादी सामाजिक व्यवस्था के सदस्य पाप-पुण्य की भावना से मुक्त होगे और भौतिक समृद्धि, प्रशिक्षित पुरोहितो, अभिजात और श्रमिक वर्गों के आदर्श तथा

महिलाओं के सार्वभौमिक प्रेम को मुक्ति का नया सन्देश मानेंगे। किसी भी प्रकार की रहस्यवादी बातों को स्थान नहीं होगा तथा सिद्धान्तों की बजाय कार्यकुशलता पर विश्वास किया जाएगा। ये सभी बातें तभी हो सकेंगी जब नवीन शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था होगी और इस नवीन शिक्षा का भार समाजशास्त्रियों पर होगा क्योंकि वे ही समाज-विज्ञान के ज्ञाता हैं। नवीन शिक्षा व्यवस्था में समाजशास्त्र के ज्ञान पर पूरा बल दिया जाएगा और सामाजिक विकास और नियमों का अध्ययन अनिवार्य होगा जिनकी खोज का दावा कॉम्टे ने किया था। कॉम्टे ने नवीन शिक्षा-योजना की अवधि 29 वर्ष की आयु तक रखी और यह व्यवस्था दी की बच्चों को भावनात्मक शिक्षा 14 वर्ष की आयु तक उनकी माताओं द्वारा दी जाएगी और तत्पश्चात् 14 वर्ष से 29 वर्ष तक के युवकों का प्रशिक्षण पुरोहितों अथवा समाजशास्त्रियों द्वारा होगा। महिलाएँ 'स्वर्ग की परी' और अनुपम देवदूत हैं जिन पर हमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए। वे प्रेम की प्रतिमा हैं, अतः 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों में स्नेह का प्रशिक्षण उन्हीं के द्वारा दिया जाना उचित है। इसके बाद उनके बौद्धिक विकास का भार समाजशास्त्रियों को वहन करना होगा। शिक्षा की इस द्वितीय अवस्था में गणित, भौतिक-शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणी-शास्त्र, समाज-शास्त्र, नक्षत्र-विद्या तथा नैतिकता का प्रशिक्षण व्याख्यानों के रूप में दिया जाना चाहिए। कॉम्टे का उद्देश्य नवीन व्यवस्था में आज्ञाकारी और विनम्र नागरिकों का निर्माण करना था ताकि वे उस व्यवस्था को हृदय में स्वीकार कर सकें। कॉम्टे का कहना था कि आज्ञाकारिता और विनम्रता का प्रशिक्षण केवल माताओं और समाजशास्त्रियों द्वारा ही दिया जा सकता है। वास्तव में कॉम्टे, जो शायद मुहम्मद तुगलक का दूसरा भाई था, पूरी सामाजिक व्यवस्था को ही बदलना चाहता था। वह भूल गया कि समाज का परिवर्तन कोई अल्लादीन का चिराग नहीं है जिसकी सहायता से चटपट योजना बना कर सारा दृश्य परिवर्तन कर दिया जाएगा। कॉम्टे ने अपनी सामाजिक व्यवस्था में प्रत्यक्षवादी परम्पराओं, संस्कारों, रीति-रिवाजों और त्यौहारों तक का निर्माण करना चाहा। उसने वर्ष को 13 महीनों में विभक्त किया और उनके नाम मूसा, होमर, सीजर्स, सेन्टपाल, शार्लमैन, शेक्सपीयर आदि महापुरुषों के नाम पर रखे। इतना ही नहीं उसने स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्धों का कलैण्डर तैयार किया और सारे पारिवारिक जीवन की आचार-संहिता की रचना की। उसने वर्ष में 81 त्यौहारों की सूची दी और उन्हें मानने की विधि का भी उल्लेख किया। कॉम्टे ने सभी व्यवस्थाएँ इस भाँति दीं मानों पहले का समाज ईंट-पत्थर का महल हो जिसकी ईंटों और पत्थरों को तोडकर कारीगर उसे मनचाहा नया रूप दे दे। काश! कॉम्टे ने अपनी प्रतिभा का उपयोग किसी रचनात्मक दिशा में किया होता! यह हमारी आधुनिक शिक्षा की एक बडी कमजोरी है कि ख्याली पुलाव पकाने वालों को हम आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं और इस तरह शक्ति का अपव्यय करते हैं। यह कहना शायद असंगत न होगा कि ऐसे विचार दिमाग को खराब करते हैं तथा अपरिपक्व दिमागों को गलत मोड देते हैं।

कॉम्टे की आलोचना और मूल्यांकन
(Criticism and Evaluation of Comte)

कहते हैं कि कल्पना के पंख होते हैं और इसकी कोई सीमा नहीं होती। यह बात कॉम्टे के ख्याली पुलावों पर अक्षरशः लागू होती है जिन्हें पढकर कभी हमें हँसी आती है और कभी बेचारे कॉम्टे की बुद्धि पर तरस आता है। ऐसा लगता है कि मानो बूढी अम्मा या बूढी दादी परियों की कहानी कह रही है। काश कॉम्टे ने अपने विचारों को गूढ शब्दों में व्यक्त न कर रोचक कहानी के रूप में व्यक्त किया होता तो उसकी रचनाएँ 'अनुपम कहानियों' के रूप में बडी लोकप्रिय होतीं और बच्चों की दुनिया में कॉम्टे अमर हो जाता। कॉम्टे ही नहीं, उसके समान ख्याली घोडे दौडाने वाले और भी विद्वानों पर यह बात लागू होनी है। विचार ऐसे दिए जाने चाहिए जिनसे व्यावहारिक रूप में समाज के निर्माण की दिशा का बोध हो तथा व्यावहारिक रचनात्मक प्रतिभा का विकास हो। गूढ अध्ययन में शेखचिल्ली जैसी कल्पनाएँ प्रस्तुत करने से कोई लाभ नहीं जिन्हें कभी क्रियान्वित करना सम्भव न हो।

जब हम कॉम्टे के कल्पना-महल को देखते हैं तो हमें वर्क के उस कथन की याद आती है कि "मानव समाज युगों के विकास का प्रतिफल है जिसे पूर्णतः बदल देने का काम तो प्रलय भी नहीं कर सकती।" यद्यपि सामाजिक व्यवस्था में गड़बड़ियाँ भी होती हैं और बुराइयाँ भी और समय के साथ उस व्यवस्था में परिवर्तन भी होते रहते हैं। किन्तु यह सम्भव नहीं है कि किसी व्यवस्था का पूर्णतः अन्त कर उसकी जगह अन्य व्यवस्था की स्थापना कर दी जाए। कॉम्टे निराशावादियों और आशावादियों दोनों से ऊपर जा बैठता है— निराशावादियों से ऊपर इसलिए क्योंकि वह बीते हुए युग को पूरी तरह ठुकरा देता है जबकि निराशावादियों के लिए बीता हुआ युग स्वर्णिम होता है, आशावादियों से अधिक इसलिए क्योंकि वह आशावाद की सीमा तोड़ जाता है और एक ऐसे आशावाद का पक्ष ले बैठा है जिसे केवल 'कल्पनातीत स्वप्नवाद' कहा जा सकता है।

कॉम्टे की योजना में औद्योगिक साम्राज्यवाद, पूँजीवादी अधिनायकवाद, अत्यधिक भौतिकवाद की दुर्गन्ध आती है। बैंकरों के रूप में उसने 'स्वर्ण' (Wealth) और औरतों के प्यार के रूप में 'सुन्दरी' (Woman) का सामंजस्यपूर्ण योग कर दिया है, कमी केवल 'सुरा' (Beer) की रह जाती है पर यदि इस 'सुरा' को हम 'स्वर्ण' में ही सम्मिलित मान लें तो कॉम्टे 'स्वर्ण, सुरा और सुन्दरी' की त्रिवेणी बैठा देता है। हम कॉम्टे के विचारों पर हँसें भले ही, लेकिन हम उसकी कल्पना-शक्ति की दाद देनी होगी।

यदि लंकास्टर की आलोचना के अनुसार कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद 'लसेफेयर' (Laissez-faire) के सिद्धान्त का पक्ष लिए दिखाई देता है जिसमें शासकों अथवा राजाओं के सिंहासन पर बैंकरों और उद्योगपतियों को बैठा दिया गया है, सर्वोच्च धर्मगुरु पोप की गद्दी पर शायद कॉम्टे स्वयं बैठना चाहता है, राजधानी भी शायद अपने ही घर को बनाना चाहता है, बिशपों का स्थान अपने शिष्यों को देना चाहता है और सामन्तों का स्थान छोटे-बड़े दूसरे बैंकरों को प्रदान करने का इच्छुक है। इस तरह ऐसा लगता है मानो कॉम्टे का राज्य उसका खुद का परिवार है।

कॉम्टे ने तीन अवस्थाओं का जो कानून (The Law of Three Stages) प्रस्तुत किया है वह भी कॉम्टे की अपनी निराली खोज है। तीन अवस्थाओं का यह कानून या सिद्धान्त सही नहीं है क्योंकि इसमें समाज के विकास का कोई यथार्थ चित्रण नहीं होता। लंकास्टर के अनुसार इस सिद्धान्त से सम्पूर्ण मानव इतिहास की व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि कॉम्टे ने तो इसके द्वारा केवल यूरोप के इतिहास की व्याख्या की है। उसने अपने आप को केवल श्वेत जातियों और मुख्यतः पश्चिमी यूरोप तक ही सीमित रखा है। कॉम्टे के लिए यह अत्यधिक कठिन भी था कि अपनी योजना में विश्व के अन्य भागों के सामाजिक अनुभवों को स्थान देता। इसके अतिरिक्त आधुनिक मानवशास्त्रीय खोजों से ज्ञात होता है कि वस्तुतः प्रारम्भिक समाज के बारे में कॉम्टे का ज्ञान कितना अल्प था।

कॉम्टे का सिद्धान्त उदारवाद का विरोधी है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता और लोकतान्त्रिक परम्परा को ठुकरा कर कॉम्टे युग की आवाज को ही ठुकरा देता है अर्थात् वैज्ञानिक युग की प्रगति में खुद ही बाधा उत्पन्न करता है। कॉम्टे के सिद्धान्त में हमें केवल यान्त्रिकता के दर्शन होते हैं। कॉम्टे इस बात के लिए तो श्रेय का पात्र है कि उसने शुष्क यान्त्रिक व्यवस्था को औरतों के प्यार का रसभरा रूप देकर हमारी 'बोरियत' को एक बड़ी सीमा तक कम कर दिया है। इस दिशा में प्रेरणा कॉम्टे को शायद अपने जीवन की इस घटना से मिली थी कि उसका यद्यपि अपनी पत्नी से तो अलगाव हो चुका था तथापि मैडम डीवाक्स जैसी महिलाओं से मधुर सम्पर्क था जिन्होंने उसकी व्यावसायिक बनिया-बुद्धि में सरसता उत्पन्न की—सूखे रेगिस्तान में 'नखलिस्तान' के बीज बोए।

यदि कॉम्टे की योजना को स्वीकार कर उसको व्यावहारिक रूप देने के प्रयास किए जाएँ तो वे विफल होंगे। निश्चय ही समाज में घोर अव्यवस्था फैल जाएगी, समाज की प्रगति नष्ट हो जाएगी तथा समाज युगों पीछे चला जाएगा पर इन कटु आलोचनाओं के बावजूद हमें कॉम्टे के महत्त्व

को स्वीकार करना होगा क्योंकि उसने एक ऐसे शिल्पी की भूमिका अदा की जो अपनी बुद्धि के अनुसार बुराइयों से मुक्त एक नए भवन का निर्माण करना चाहता था। यह अलग बात है कि शिल्पी अपने भवन के दोषो को न देख सका जो यथार्थ में पुराने भवन की अपेक्षा इस नए भवन में कही अधिक भयकर थे। हमे कॉम्टे की भावना की कद्र करनी चाहिए कि उसने नाना बुराइयों और अव्यवस्थाओ से ग्रस्त इस समाज का पुनर्निर्माण करना चाहा अर्थात् उसके हृदय मे कम से कम यह टीस थी कि समाज का सुधार हो, वह प्रगति की दिशा मे अग्रसर हो। लकास्टर के इस मूल्यांकन से सहमति प्रकट करनी होगी कि कॉम्टे मे हमे एक ऐसे व्यक्ति के दर्शन होते हैं जो सही निष्कर्ष की भावना से काम करने का इच्छुक हो और जो एक ऐसा समाज देखना चाहता हो जिसमे लोग शान्तिपूर्ण, परिश्रमी, सुखी और दयालु किन्तु प्रगतिशील जीवन व्यतीत कर सकें। कॉम्टे का प्रभाव बहुत से विचारको और लेखको पर पडा और उन्होने काम्टे के दृष्टिकोण का न्यूनाधिक अनुसरण किया। कॉम्टे का युग ऐसा युग था जब लोग विज्ञान के पीछे पागल हो रहे थे और इस प्रवाह मे कॉम्टे ने भी विज्ञान को ही जीवन का सबसे बडा पोषक तत्त्व मान लिया और विज्ञान की बुराइयो की उपेक्षा कर दी। डनिंग ने राजदर्शन के क्षेत्र मे प्राणिशास्त्रियो से सिद्धान्तो की तुलना मे कॉम्टे का योगदान स्वीकार किया है। हर्बर्ट स्पेंसर और अनेक प्राणी-शास्त्री कॉम्टे से प्रभावित हैं। उसके प्रत्यक्षवाद का प्रभाव इग्लैंड पर पडा। ऑक्सफोर्ड के रिचर्ड कांग्रीव पेरिस मे कॉम्टे के सम्पर्क मे आकर प्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त से काफी प्रभावित हुए थे। ऑक्सफोर्ड के ही कुछ अन्य विद्वान् भी, जिनमे एडवर्ड बीसली, जॉन हेनरी ब्रिजेल और फ्रेडरिक हैरिसन मुख्य थे, कॉम्टे के प्रत्यक्षवादी दर्शन से प्रभावित थे। किन्तु ब्रिटिश प्रत्यक्षवाद राजनीतिक क्षेत्र की तुलना मे धार्मिक क्षेत्र मे ही अधिक प्रभावी रहा और इस बात पर बल दिया गया कि धर्म मे मानवतावादी दृष्टिकोण को विशेष रूप से अपनाया जाए। मैक्सी के अनुसार सेंट साइमन के विचारो की तरह कॉम्टे के विचारो मे भी कुछ सार्वभौमिक तत्त्वो के दर्शन होते है। कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद ने 19वी शताब्दी की राजनीतिक विचारधाराओ को बहुत प्रभावित किया तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास मे शक्ति के सचार का काम किया। सेबाइन का मत है कि कॉम्टे के योगदान को हमे किसी नूतन खोज के रूप मे न लेकर एक ऐसी आशा के रूप मे लेना चाहिए जिसमे 'अनुमान' को 'विज्ञान' से स्थानापन्न किया जा सके और समाज के विकास सम्बन्धी ऐसे नियमों की खोज की जा सके जो वैज्ञानिक शुद्धता के निकट हो। कॉम्टे सामाजिक अध्ययन को आधुनिक विज्ञान की परिधि मे लाना चाहता था और इस दिशा मे उसने एक नवीन अध्याय का सूत्रपात किया। हमे यह स्वीकार करना होगा कि कॉम्टे के समय से सामाजिक क्षेत्र मे अध्ययन के लिए नई समस्याएँ और नवीन उपकरण उपलब्ध हुए हैं तथा अनेक नई प्रणालियो की खोज की गई है। कॉम्टे ने सरकार या राज्य के लिए 'शक्ति तत्त्व' पर बल दिया उससे भी हम इन्कार नही कर सकते। चाहे हम निरकुश शक्ति की बात से सहमत न हो, तथापि यह मानना होगा कि शक्ति राज्य का एक प्रमुख आधार है और सभी सस्थाओ को इस शक्ति की अधीनता मे रहना पडता है। कॉम्टे न आधुनिक विचारो के लिए प्रेरक शक्ति का कार्य किया और इसीलिए इमाइल फैग्वेट ने लिखा है कि "हम आधुनिक विचार के प्रत्येक कदम पर कॉम्टे का स्मरण करते हैं।"

हर्बर्ट स्पेंसर
(Herbert Spencer, 1820–1903)

संक्षिप्त जीवन-परिचय

मैक्सी (Maxey) ने हर्बर्ट स्पेन्सर को 'विक्टोरियन इग्लैण्ड और विक्टोरियन अमेरिका का अरस्तू'[1] कहा है। यद्यपि उसके दर्शन को आज अधिक नही पढा जाता है और न ही उसे पूर्वानुसार

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 555.

महत्त्व ही दिया जाता है, तथापि वह मृत नही है और तब तक उसमे जीवन सचार होता रहेगा जब तक 'स्वतन्त्रता बनाम सत्ता' (Freedom Versus Authority) की समस्या का समाधान शेष है। ब्रिटन (Brinton) ने स्पेन्सर को 'विचारो का विक्रेता[1] (A Salesman of Ideas) कहा है जिसके सामान को हम अधिक पसन्द नही करते, किन्तु फिर भी जिसका सामान विक्रय के लिए रखा हुआ है। इसमे कोई सन्देह नही कि वह 19वी शताब्दी के विकासवाद (The 19th Century s Evolutionism) क प्रमुख प्रवक्ता था।

हर्बर्ट स्पेन्सर एक अत्यन्त ही हठी अध्यापक का पुत्र था। उसका जन्म 27 अप्रेल, 1820 को हुआ था। उसका जीवन निराला था। उसने जीवन मे कभी प्रेम नही किया और न कभी विवाह ही किया। किसी कॉलेज और विश्वविद्यालय मे नियमित शिक्षा प्राप्त करने से वचित वह एक स्व-शिक्षित और स्व निर्मित मनुष्य था जिसकी शीघ्रग्राही विलक्षण बुद्धि ने जीवन भर उसका साथ दिया। अपने बाल्यकाल मे ही वह मशीनो की ओर आकर्षित हुआ और आविष्कारो के सम्बन्ध मे उसने अनेक अन्वेषण किए। 17 वर्ष की आयु मे वह एक रेल्वे इन्जीनियर बना और लगभग 10 वर्ष तक बडी दक्षतापूर्वक इस कार्य मे सलग्न रहा। इस अवधि मे उसने गहन अध्ययन किया और अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र पत्रिकाओ मे लेख लिखे। सन् 1848 मे वह सुप्रसिद्ध पत्रिका 'Economist' के उप-सम्पादक के पद पर नियुक्त हुआ। इस सुविख्यात पत्रिका मे उस समय के कुछ अति प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो की रचनाएँ प्रकाशित होती थी, अत स्पेंसर को हक्सले (Huxley), टिण्डाल (Tyndall), न्यूमेन (Newman) और इलियट (Elliot) जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ विचार-विमर्श से उसके जिज्ञासु मस्तिष्क को बहुत प्रेरणा मिली। सन् 1853 तक वह इस पत्रिका के उप-सम्पादक के रूप मे कार्य करता रहा। तत्पश्चात् उसने अपना सम्पूर्ण समय एव अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेखन-कार्य और भाषणो मे लगाने का निश्चय किया। उसने अनेक पुस्तको की रचना की और काफी बडी सख्या मे लेख भी लिखे। प्रारम्भ मे उसे कोई विशेष आय नही हुई और वह सम्बन्धियो द्वारा दी गई आर्थिक सहायता एव हितैषियो द्वारा दिए गए उसकी पुस्तको के पेशगी मूल्य पर निर्वाह करता रहा, किन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया उसकी पुस्तको की इग्लैड और अमेरिका मे अच्छी विक्री होने लगी। यद्यपि अब वह आर्थिक सकट से मुक्त था तथापि अजीर्ण व स्नायु-दुर्बलता आदि के कारण उसका स्वास्थ्य बिगडता गया। सन् 1898 मे वह ब्राइटन मे एक सुन्दर सम्मानित मकान मे निवास करने लगा और वही सन् 1903 मे यह बहुमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति इस नश्वर ससार से चल बसा।

रचनाएँ (Works)

स्पेंसर ने जीवन के आरम्भ मे ही उसने भावी जीवन की योजना की रूपरेखा बना ली थी। बाद के जीवन मे उसने इस रूपरेखा मे रग भरा, किन्तु उसने अपने मौलिक सिद्धान्तो मे कभी परिवर्तन नही किया। बौद्धिक दृढता के कारण ही तथ्यो के वर्णन मे कुछ त्रुटियाँ रह गई, तथापि "स्पेंसर का सश्लिष्ट दर्शन 19वी शताब्दी के बुद्धिवाद का एक आश्चर्यजनक चमत्कार था जिसमे भौतिकशास्त्र से लेकर नीतिशास्त्र तक ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट कर लिया गया था। स्पेंसर ने इस दर्शन की रचना दस जिल्दो मे की और यह कार्य पूरा करने मे उसे 35 वर्ष लगे। ग्रन्थ की आरम्भिक रूपरेखा तथा अन्तिम खण्ड मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हुए। तुलना की दृष्टि से 17वीं शताब्दी का प्राकृतिक नियम का दर्शन ही इसके सामने टिक सकता है।"[1]

स्पेंसर ने केवल पुस्तकें ही नही लिखी बल्कि बडी सख्या मे लेख, निबन्ध और पुस्तिकायें भी लिखी। इनमे अग्राङ्कित उल्लेखनीय हैं—

1 *Brinton* Political Thought in the 19th Century, p 239.
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ 677.

1. The Proper Sphere of Government (1852)
2. Social Statics (1850)
3. Theory of Population (1842)
4. Art of Education (1854)
5. Education (1861)
6. The Social Organism (1860)
7. Specialized Administration (1871)
8. Principles of Psychology (1855)
9. Descriptive Sociology
10. Principles of Sociology (1878–80)
11. Sins of Legislators
12. Synthetic Philosophy
13. *Justice (1891)*
14. Principles of Ethics (1891)
15. Man Versus the State (1884)
16. Essay (Three Volumes)
17. Autobiography (Three Volumes)

हर्बर्ट स्पेंसर के राजनीतिक विचार मुख्यत: उसके ग्रंथों 'Social Statistics', 'Man Versus the State', 'The Proper Sphere of Government', तथा 'Principles of Sociology' में मिलते हैं।

संसार की अनेक भाषाओं में स्पेंसर की रचनाओं का अनुवाद हुआ और उसकी ख्याति की दुंदुभी यूरोप और अमेरिका में ही नहीं बल्कि चीन और जापान में भी बजी। यह 'बौद्धिक सावयव' (स्पेंसर) उन गिने-चुने दार्शनिकों में था जिसकी यश पताका उसके जीवनकाल में ही देश-विदेश में फहराने लगी थी, लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि लगभग 50 वर्ष तक स्पेंसर की जो दर्शन-प्रणाली विद्वानों और विचारकों का आकर्षण-केन्द्र बनी रही वह आज अध्ययन की दृष्टि से लोकप्रिय नहीं है। ब्रिंटन (Brinton) के शब्दों में, "टॉमस एक्वीनास के 'सम्मा' (Summa) की अपेक्षा हम इस आधुनिक 'सम्मा' की ओर अधिक उदासीन हैं।"

प्रश्न उठता है कि स्पेंसर की तत्कालीन प्रसिद्धि और उसके प्रति आधुनिक उदासीनता का क्या कारण है। इस प्रश्न का प्रथम उत्तर यह दिया जाता है कि स्पेंसर एक महान् प्रणाली निर्माता (A Great System Builder) था। हॉब्स के बाद इंग्लैण्ड की दार्शनिकता में व्यवस्था स्थापित करने वाला वह पहला दार्शनिक था। "हर्बर्ट स्पेंसर ने दार्शनिक विचारों का वर्गीकरण, संक्षिप्तीकरण और सामान्यीकरण किया तथा इस क्रम का अनुसरण करते हुए वह विचारों के एकीकरण की उस सूक्ष्म स्थिति पर पहुँच गया जहाँ वह सम्पूर्ण विश्व-ज्ञान को एक ही सूत्र में बाँध सकता था। इसके फलस्वरूप एक ऐसी प्रणाली अथवा व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जिसमें प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान था। यह प्रणाली इतनी निर्भीकतापूर्वक आयोजित और कुशलतापूर्वक सुनियोजित की गई थी कि इसके प्रति हमारा चाहे कुछ भी दृष्टिकोण क्यों न हो, हम इसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। स्पेंसर को इतिहास में दार्शनिकता के सर्वश्रेष्ठ भवन-निर्माण-विशारदों का अभूतपूर्व शिरोमणि मानना ही पड़ेगा।"[1] स्पेंसर की महान् रचनाओं के प्रति आज हमारी उदासीनता के मूल में हमारा अभिनव विशाल ज्ञान निहित है और निहित है हमारी यह धारणा कि हम एक ऐसे व्यक्ति के प्रति उत्साहित नहीं होते जिसने

1 *Brinton* English Political Thought in the 19th Century

यह सोचा था कि उसने सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान का निचोड निकाल लिया है। हमारा ज्ञान स्पेंसर के दावे को नगण्य सिद्ध करने की दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत और पूर्ण है[1]।

पूर्वोक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह दिया जाता है कि स्पेंसर ने अपने काल मे अपने विकासवादी सिद्धान्त (The Principle of Evolution) के व्यापक प्रयोग से महान् सम्मान और लोकप्रियता अर्जित की थी। 19वी शताब्दी के इस दार्शनिक ने ज्ञान की प्रत्येक शाखा मे विकासवाद के दर्शन किए जबकि अन्य विकासवादी विचारको ने विकासवादी दर्शन को न्यूनाधिक प्राणिशास्त्र तक ही सीमित रखा। प्रो हर्नशा (Hearnshaw) के अनुसार "स्पेंसर ने केवल इस तारो भरे ब्रह्माण्ड, खगोल व्यवस्था, पृथ्वी की बनावट, विश्व की वनस्पति तथा पशु-पक्षी, सम्पत्ति और मनुष्य के शरीरो सहित ससार की वर्तमान स्थिति एव व्यवस्था का ही वर्णन नही किया, अपितु मानव-मस्तिष्क और मानव-समाज के रूपो का भी वर्णन किया है। नि.सन्देह 'समन्वयवादी' दार्शनिक विचारधारा का मुख्य उद्देश्य प्रकृतिवादी तथा विकासवादी सिद्धान्तो के आधार पर नैतिकता और राजनीति की समस्याओ का समाधान करना था।"[2] परन्तु अपने विकासवादी सिद्धान्त के बल पर स्पेंसर निश्चय ही उस लोकप्रियता और ख्याति को परवर्ती काल मे अर्जित नही कर सका जो अपने समकालीन युग मे उसने प्राप्त की थी। विकासवादी सिद्धान्त का 19वी शताब्दी का चमत्कारी रूप अब फीका पड चुका है स्पेंसर का असाधारण आत्म-विश्वास उसके दर्शन के प्रति हमारे सदेह को दूर नही कर सकता। आधुनिक विद्वानो को उसके विचारो मे अस्पष्टता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। उसकी सम्पूर्ण दार्शनिकता प्राकृतिक अधिकारो और जैविक रूपक के अनमेल मिश्रण (Incongruous Mixture of Natural Rights and Physiological Metaphor) से आरम्भ होकर इनमे ही समाप्त हो गई, अतः इसमे आश्चर्य नही कि उसकी विचारधारा आज नही मानी जाती।

स्पेंसर के विचारों के स्रोत (Sources of Spencer's Thought)

स्पेंसर की दार्शनिकता के उद्गम और विकास का विशुद्ध वर्णन उसकी आत्मकथा मे मिलता है। स्पेंसर को अपने दर्शन मे जिन विभिन्न स्रोतो से प्रेरणा प्राप्त हुई उन्हे चार श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है—प्रारम्भिक पर्यावरण (Early Environment), अंग्रेजी रेडिकलवाद (English Radicalism), शैलिंग और श्लेगल (Schelling and Schlegal) द्वारा प्रतिपादित जर्मन आदर्शवाद (German Idealism) तथा प्राकृतिक विज्ञानो का उसका स्वय का अध्ययन (His Study of Natural Sciences)। यदि उसने अपने प्रारम्भिक पर्यावरण से स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम प्राप्त किया तो उसने जीवन के बाद विकास के प्रति उद्दाम लालसा भी विकसित की। इन दोनो मे (स्वातन्त्र्य-प्रेम तथा विकास के प्रति अनुराग) संघर्ष की दशा मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उसके विकास के प्रति अनुराग पर विजय हुई।

हर्बर्ट स्पेंसर का जन्म उस परिवार मे हुआ था जो धार्मिक क्षेत्र मे विचार-स्वातन्त्र्य का प्रेमी था। "उसे शक्ति के प्रति उपेक्षा और विद्रोह से प्रेम अपने पूर्वजो से विरासत में मिला था जिनका विश्वास था कि प्रकृति के वे नियम जो कारण-कार्य के वैज्ञानिक सिद्धान्तो में पाए जाते हैं, मानव-निर्मित कानूनो से अधिक श्रेष्ठ हैं।" उसकी शिक्षा परम्परागत अर्थात् रूढिगत अनुशासन (Conventional Training) से मुक्त थी। युवावस्था मे उसे जो रूढिवाद-विरोधी शिक्षा प्राप्त हुई उससे उसकी विचारधारा प्रभावित हुई। उसका चाचा टॉमस स्पेंसर (Thomas Spencer) राजनीति मे एक उग्र सुधारवादी या रेडिकल (Radical) था और बरमिंघम के जॉजेफ स्टर्ज (Joseph Sturz of Birmingham) का सहयोगी था जिसने 1841 ई मे 'Non-Conformist' नामक पत्रिका सचालित की। सन् 1842

1 *Metz*. Hundred Years of British Philosophy, p. 102.
2 *Hearnshaw*: Social & Political Ideas of Thinkers of the Victorian Age, p. 80.

मे स्वय हर्बर्ट स्पेंसर ने 'सरकार का उपयुक्त क्षेत्र' विषय पर इस पत्रिका मे अपना लेख प्रकाशित कराया था। बचपन से ही स्पेंसर उग्र दार्शनिक सुधारवाद या रेडिकलवाद (Philosophical Radicalism) के वातावरण मे पोषित हुआ था और जब उसका मस्तिष्क रचनात्मक स्तर (Formative Stage) पर पहुँचा तो वह इस विश्वास से प्रभावित हुआ कि व्यक्तिगत सुख (Individual Happiness) की उपलब्धि सर्वोत्तम रूप से आन्तरिक शक्तियो के उन्मुक्त स्फुरण (Free Exercise of Faculties) द्वारा ही प्राप्त हो सकती है और इसीलिए वह सत्ता के सब रूपो (All Forms of Authority) के विरुद्ध हो गया।

'Economist' के सम्पादक के रूप मे स्पेंसर टॉमस हाग्सकिन (Thomas Hodgskin) के सम्पर्क मे भी आया जिसने उसके दर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया। हाग्सकिन बेन्थम-विरोधी रेडिकल था। वह मानव के प्राकृतिक अधिकारो में विश्वास करता था जबकि बेन्थम ने इन अधिकारो का समर्थन नही किया था। उसका राज्य की हस्तक्षेप नीति या यदभाव्यम् के सिद्धान्त (Theory of Laissez Faire) मे विश्वास था। उसकी मान्यता थी कि समाज एक प्राकृतिक तथ्य (A Natural Phenomenon) और विश्वात्मा या सर्वोच्च नैतिक शक्ति (The Universal Spirit or the Supreme Moral Force) ने इसका सचालन करने के लिए प्राकृतिक नियम (Natural Laws) निर्धारित किए हैं ताकि उसके सदस्य इनकी सहायता से एक उचित व्यवस्था स्थापित कर सके। उसके अनुसार ऐसी दशा मे शासन के कोई सकारात्मक (Positive) कार्य नहीं है। राज्य का कार्य केवल प्राकृतिक कानूनो को भली-भाँति क्रियान्वयन के लिए स्वतन्त्र वातावरण का निर्माण करना है। अन्तिम लक्ष्य तो राज्य-शून्यता है जिसमे प्रशासन लुप्त हो जाएगा। बार्कर के शब्दो मे "हाग्सकिन ने ऐसा कल्पित आदर्श प्रस्तुत किया जो राज्यविहीन है, जिसमे शासन का लोप हो जाता है और जिसमे समस्त व्यक्तियो की भावनाओ का एक-दूसरे से स्वत सामजस्य स्थापित हो जाता है।"[1] स्पेंसर हाग्सकिन के इन विचारों से गम्भीर रूप मे प्रभावित है और सम्भवत यही कारण है कि वह आजीवन वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा अहस्तक्षेप की नीति (Individual Freedom and Laissez Faire) का प्रतिपादक रहा। इस तरह अशत आरम्भिक रेडिकल पर्यावरण (Early Radical Environment) और अशत. हाग्सकिन से अपने सम्पर्क से स्पेंसर को अपने राजदर्शन के मूल प्रेरणा-स्रोत प्राप्त हुए और इसी कारण वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता के महत्त्व मे गहन विश्वास तथा राज्य के अहस्तक्षेप-सिद्धान्त मे दृढ आस्था जीवन भर कायम रख सका।

कॉलरिज (Coleridge) के लेखो के माध्यम से स्पेंसर ने शैलिग (Schelling) और श्लेगल (Schlegel) के जर्मन आदर्शवाद का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। इस अध्ययन ने भी उसके चिन्तन को प्रभावित किया। जर्मन आदर्शवाद (German Idealism) से उसे 'जीवन की धारणा' (Ideas of Life) की प्राप्ति हुई। वह विश्वास करने लगा कि जीवन की प्रकृति का वह तथ्य नहीं है जिसका भौतिक विज्ञान द्वारा निरूपण किया जा सके। इसके विपरीत समस्त प्रकृति मे जीवन की दैवी शक्ति है। "यह एक गूढ सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रकृति और समाज आन्तरिक विकास द्वारा प्रकट होकर पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करते हैं।" दूसरे शब्दो मे, प्रकृति और समाज जीवधारी हैं, और जीवधारी होने के कारण उनका विकास अनिवार्यत. विभिन्न तत्त्वो के सहयोग से होता है। इस तरह जीवन सम्पूर्ण विश्व के विकास का कारण है, यह स्वय विश्व के विकास का। यह विकास व्यक्तिगत निर्माण का एक क्रम है। व्यक्तित्व जितना ऊँचा निखर पाता है उतना ही इनका महत्त्व भी बढ जाता है। हाग्सकिन और शैलिग के विचारो का यह योग वास्तव मे स्पेंसर के चिन्तन का आधार प्रस्तुत करता है।

अन्त मे, प्राकृतिक विज्ञानो के अध्ययन ने भी स्पेंसर के दर्शन को रूप प्रदान किया। अपने बाल्यकाल से ही स्पेंसर भौतिकी (Physics) मे विशेष रुचि रखता था। वह एक इन्जीनियर या और

1 *Barker :* Political Thought in England, p. 87.

उसने विभिन्न परिस्थितियों के विषय में प्रयोग किए थे। उसे प्राकृतिक कार्य-कारण के सिद्धान्त (Causation) एवं प्राकृतिक नियमों के प्रति बहुत आकर्षण था। वह बचपन से ही जीव-विज्ञान (Biology) में पर्याप्त रुचि रखता था। आयु की परिपक्वता के साथ उसने लेमार्क (Lamarck) द्वारा प्रतिपादित जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों को अपनाया। इस जीव-विज्ञान का उसके समाजशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा। लेमार्क के जीव-विज्ञान ने ही मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के क्षेत्र में स्पेंसर का पथ-प्रदर्शन किया। वास्तव में स्पेंसर लेमार्क का शिष्य था, न कि डार्विन का। उसने डार्विन की पुस्तक 'The Origin of Species' के प्रकाशित होने के पहले ही जीवन के उद्गम के विषय में अपने विचार बना लिए थे।

वास्तव में स्पेंसर को प्रोत्साहित करने वाले अनेक विचार थे। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि किसका प्रभाव उस पर सबसे अधिक पड़ा। फिर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके राजनीतिक चिन्तन पर अधिकतर प्रभाव उन्हीं बातों का है जिनमें उसका डार्विन से विरोध था। जैसे सामान्य रूप से उसने सावयवी विकास के इस मूल नियम को स्वीकार किया था कि जीवन-संघर्ष में योग्यता की विजय होती है।

स्पेंसर का विकासवादी सिद्धान्त

(Spencer's Evolutionary Theory)

स्पेंसर को जिस बात ने अपने समकालीन विकासवादी विचारकों में प्रमुख बनाया वह उसका आचारशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र की समस्याओं का विकासवादी सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या करने का प्रयास है। एक वैज्ञानिक होने के कारण स्पेंसर ने यह मत व्यक्त किया कि विश्व में एक नियमित एवं निश्चित विकासवादी सिद्धान्त कार्य करता है और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिकता का विकास कर पूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति करता है। उसकी यह दृढ मान्यता थी कि परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया संसार की प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करती है।

जैसा कि कहा जा चुका है, 19वीं सदी में डार्विन ने अपनी जिस विकासवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया था, उससे स्पेंसर ने कोई सहायता नहीं ली थी और न ही वह उससे प्रभावित हुआ था। वास्तविकता तो यह है कि स्पेंसर अपने विकासवादी सिद्धान्त को डार्विन के ग्रन्थ 'The Origin of Species' के प्रकाशित होने के 6 वर्ष पूर्व ही प्रतिपादित कर चुका था। डार्विन, वैलास, हक्सले, ह्यूम आदि प्राणिशास्त्रियों के निष्कर्षों ने स्पेंसर के परिणामों की सत्यता को स्वीकार किया। उससे प्रभावित होकर स्पेंसर अपने दर्शन के औचित्य को खोजने के लिए जीवशास्त्र की ओर उन्मुख हुआ।

स्पेंसर के विकासवाद की डार्विन के सिद्धान्त से समानता एवं भिन्नता—डार्विन की धारणा थी कि प्रत्येक काल में सर्वत्र एक ही जाति के विभिन्न प्राणियों और प्राणियों की विभिन्न जातियों में निरन्तर घोर संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में केवल योग्यतम प्राणी ही बच पाते हैं। यह संघर्ष जीवन के अस्तित्व के लिए होता है क्योंकि जीविका के साधन सीमित हैं। अधिक बलशाली व्यक्ति अपनी जीवन-सामग्री जुटाकर जीवित रह जाते हैं, जबकि निर्बल प्राणी इस संघर्ष में नष्ट हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक बलशाली इसलिए होते हैं क्योंकि संयोगवश प्राप्त अपने कुछ वंशानुक्रमगत रूप (Inherited Characteristics) के कारण वे स्वयं को परिस्थितियों के अनुरूप अथवा अपने पर्यावरण (Environment) के अनुकूल सरलता से ढाल लेते हैं, किन्तु जिनमें उन गुणों का अभाव होता है वे नष्ट हो जाते हैं। जो व्यक्ति संघर्ष से बच जाते हैं उनके गुण वंशानुक्रमण द्वारा उनकी सन्तान में आ जाते हैं और इन विभिन्नताओं के संचित हो जाने पर नवीन प्रजातियों (New Species) का जन्म होता है।

डार्विन के 'योग्यतम की उत्तरजीविता' (The Survival of the Fittest) के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए स्पेंसर ने अपने ग्रंथ 'Principles of Ethics' मे लिखा है कि "निम्नकोटि के प्राणियो की भाँति मनुष्य के बारे मे वह नियम जिसके अनुसार आचरण करने से एक प्राणिवर्ग जीवित रहता है, यह है, कि वयस्को मे से वे व्यक्ति जो स्वय को अपने पर्यावरण के सबसे अधिक अनुकूल बना लेते है, सबसे अधिक प्रगति करते हैं और जो सबसे कम अनुकूल बना पाते हैं वे सबसे कम प्रगति करते हैं।"

किन्तु उपर्युक्त विचारो के द्वारा स्पेंसर डार्विन के प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) के जीवशास्त्रीय सिद्धान्त को सामान्य रूप में ही स्वीकार करता है। अनेक बातों मे उसका डार्विन से मतभेद है। वह डार्विन की भाँति यह नहीं मानता कि प्राणियो में विभिन्नताएँ संयोगवश आती हैं। इसके विपरीत उसका कहना है कि वह परिवर्तन और अनुकूलन अथवा प्राणियों की ये विभिन्नताएँ उद्देश्यपूर्ण (Purposive) होती हैं। जीवित प्राणी स्वयं को पर्यावरण के अनुकूल बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं और इन प्रयत्नों-द्वारा नवीन कार्यों एवं विशेषताओं को विकसित करते रहते हैं। ये विशेषताएँ वंशानुक्रमण द्वारा एक संतति से दूसरे सतति मे सक्रान्त हो जाती हैं। सारांश मे डार्विन के विपरीत स्पेंसर सोद्देश्य विभिन्नताओ (Purposive Variations) और उनके वंशानुक्रम (Heredity) द्वारा सक्रमण (Transmission) मे विश्वास करता था और इस बात का उसके राजदर्शन पर गहरा प्रभाव पडा। मैक्सी ने लिखा है कि "चूंकि वह आकस्मिक विभिन्नताओं की अपेक्षा सोद्देश्य विभिन्नताओं मे विश्वास करता था, अत उसका यह दृढ विचार था कि अस्तित्व के लिए संघर्ष में राज्य द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा डालना अवैज्ञानिक था। सचित गुणों के संक्रमण मे विश्वास करने के कारण उनकी मान्यता थी कि प्राकृतिक चुनाव के माध्यम से प्राप्त गुणों का संक्रमण मानव द्वारा किए गए प्रयत्नो की अपेक्षा अधिक अच्छे समाज की सृष्टि कर सकता है।"[1]

स्पेंसर के अनुसार विकास की प्रक्रिया—विकास पर प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए स्पेंसर कहता है कि सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति पदार्थ से होती है। पदार्थ और दृश्य-जगत् दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। विकास केवल चेतना जगत् में ही नही होता प्रत्युत् अचेतन अथवा अजैविक जगत् भी विकासशील है। स्पेंसर ने अपने समकालीन वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्रारम्भिक अवस्था में विश्व अविरल रूप से गतिमान गैस से व्याप्त था। धीरे-धीरे विकास की प्रक्रिया-द्वारा उसमें परिवर्तन हुआ और ठण्डा होने पर उसके अनेक टुकड़े हो गए जिनको ग्रह एवं उपग्रह कहा जाने लगा। कालान्तर में गैस का वह अनिश्चित स्वरूप वाला गोला निश्चित स्वरूप वाला एवं ठोस हो गया और तापमान एवं वातावरण सम्बन्धी परिस्थितियों के अनुकूल होने पर उस पर प्राणियों का विकास हुआ। इस भाँति भौतिक जगत् से ही चेतन जगत् का उदय एवं विकास हुआ।

19वी शताब्दी के अनेक वैज्ञानिको ने ईश्वर में विश्वास न रख कर जीवन-शक्ति के विचार का प्रतिपादन किया था। यह शक्ति स्थिर नही अपितु गतिशील मानी गई थी। यह कहा गया था कि मानव-समाज ऊर्ध्व गति से प्रगति करता है, किन्तु इसका लक्ष्य स्पष्ट नहीं किया गया था। स्पेंसर ने निरन्तर विकास के सिद्धान्त को स्वीकार कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार की पुष्टि करने के उद्देश्य से अपने राजदर्शन के सिद्धान्तो पर इसका प्रयोग किया। शक्ति के विनाश में विश्वास न कर उसने हर चेतन एव अचेतन वस्तु मे शक्ति विद्यमान रहती है और इसी कारण उस वस्तु का विकास होता है। इस शक्ति के स्वरूप मे परिवर्तन हो सकता है किन्तु उसका विनाश नही हो सकता। दूसरे शब्दो में उसने बतलाया कि किसी भी पदार्थ को अन्तिम रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता, केवल मात्र उसके रूप में ही परिवर्तन किया जा सकता है।

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 558

स्पेंसर जैविक और अजैविक (चेतन एव अचेतन) जगत् मे विकास-प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए अतिजैविक जगत् के विकास की भी चर्चा करता है। अतिजैविक जगत् से उसका तात्पर्य समाज एव व्यक्ति से है। उसके मतानुसार व्यक्ति का मस्तिष्क शैशवावस्था से वयस्कावस्था तक विकसित होता रहता है। इसी भाँति समाज का भी शनैः-शनैः विकास होता है, यद्यपि इसमे भी 'योग्यतम की विजय' (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त लागू होता है अर्थात् वही समाज जीवित रह पाता है जो स्वय को भौतिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है और ऐसा करने मे असमर्थ रहने वाला समाज विनष्ट हो जाता है। स्पेंसर ने ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि करने का प्रयास किया है।

स्पेंसर द्वारा की गई विकासवाद की परिभाषा एवं अतिजैविक जगत् मे नैतिक आचरण—स्पेंसर ने विकासवाद की परिभाषा करते हुए कहा है कि "यह वह सिद्धान्त है जो अनिश्चितता से निश्चितता की ओर, सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होता है। विकास जातीयता से विजातीयता की ओर होता है।"

स्पेंसर के अनुसार विकासवाद की प्रक्रिया जैविक, अजैविक और अतिजैविक तीनो ही-क्षेत्रो मे होती है। वह प्रक्रिया किस भाँति होती है इसका वर्णन पूर्वोक्त पक्तियो मे किया जा चुका है। यह स्मरणीय है कि स्पेंसर अतिजैविक जगत् (समाज एव व्यक्ति) मे नैतिक आचरण की चर्चा करता है। स्पेंसर की नैतिकता की धारणा भी उसके विकासवाद के सिद्धान्त के अनुकूल है। नैतिक आचरण से उसका तात्पर्य ऐसे आचरण से है जो सामाजिक वातावरण मे हो तथा समाज के जीवन की रक्षा और उसकी दीर्घता मे सहायता प्रदान करता हो। वह उस विधान को नैतिक समझता है जो विकास की प्रक्रिया मे सहायक होता है। नैतिकता को वह कोई निरपेक्ष वस्तु नही मानता और न उसे कोई ऐसी धारणा ही मानता है जिसकी उपयोगिता सब कालो और परिस्थितियो मे रहती हो। स्पेंसर के मतानुसार नैतिक भावना का अन्य वस्तुओ की भाँति स्वय विकास होता है। मानव-जाति की रक्षा को वह एक मापक के रूप मे मानता है जिसके द्वारा नैतिकता एव अनैतिकता का निर्णय किया जा सकता है। जैविक, अजैविक और अतिजैविक जगत् मे विकास के अनुकूल समय-समय पर जिन मापदण्डो की आवश्यकता पडती है, उनको ही अनैतिकता की सज्ञा दे दी जाती है। वही आचरण नैतिक है जो मानव के व्यक्तिगत एव सामूहिक जीवन को दीर्घ, व्यापक तथा पूर्ण बनाए। स्पेंसर के इन विचारो को स्पष्ट करते हुए प्रो सेबाइन (Prof Sabine) ने लिखा है—

"उसने यह आशा की कि समाज की वृद्धि से विकास की निम्नतर और उच्चतर अवस्थाओ की स्पष्ट कसौटी प्राप्त हो जाएगी। इसके आधार पर हम निर्णय कर सकेंगे कि कौनसी चीज पुरानी और कौनसी नई, कौनसी उपयुक्त और कौनसी अनुपयुक्त, कौनसी अच्छी और कौनसी बुरी है, स्पेंसर ने अपनी इस धारणाको सावयव विकास के सिद्धान्त पर आधारित किया था। उसके विचार से नैतिक सुधार अनुकूलन कोजैविक सकल्पना का विस्तारमात्र है। स्पेंसर का मत था कि योग्यतम व्यक्तियो को ही जीवित रहने का अधिकार है और उनके जीवित रहने से ही समाज का कल्याण होता है।"

विकास की चार अवस्थाएँ—स्पेंसर ने विकास-क्रम के सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए लिखा है कि—"विकास गति के निरन्तर विघटन एव द्रव्य के सगठन का एक स्पष्ट रूप है। इस क्रिया मे एक अनिश्चित, अव्यवस्थित एव पृथक् स्थिति से द्रव्य एक निश्चित एव सुव्यवस्थित तथा सयोजित अवस्था मे परिवर्तित होता रहता है। इसके साथ ही उस द्रव्य की अवरुद्ध गति भी समानान्तर रूप से परिवर्तित होती रहती है।" इस व्याख्या से स्पष्ट है कि पदार्थों मे परिवर्तन की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं जिनके द्वारा प्रकृति का विकास होता रहता है—

(1) सरल से जटिल की ओर
(From Simple to Complex)

(ii) अनिश्चित से निश्चित की ओर
(From Indefinite to Definite)

(iii) अशक्त से सशक्त की ओर
(From In-coherent to Coherent)

(iv) सजातीय से विजातीय की ओर
(From Homogeneity to Hetrogeneity)

स्पेंसर के अनुसार इन अवस्थाओं द्वारा ही विकास की प्रक्रिया चलती है। उदाहरणार्थ, सजातीय पदार्थ सदैव एक-सा नहीं रह सकता, वह बाह्य प्रभावों एवं परिस्थितियों के फलस्वरूप अपना रूप निरन्तर परिवर्तित करता रहता है और विजातीयता की ओर अग्रसर होता रहता है। पर्वत श्रेणियाँ, समुद्र, नक्षत्र आदि इसके उदाहरण हैं। स्पेंसर ने कहा कि आदिम युग में मनुष्य और बन्दर की आकृति, रहन-सहन और प्रकृति एक ही प्रकार की थी। उसमें किसी भी प्रकार की विभिन्नता नहीं थी पर व्यक्तियों ने स्वयं को उसी रूप में ढाल लिया जिसकी समय और परिस्थिति के अनुसार आवश्यकता थी। जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अभिनव वस्तुओं का प्रयोग किया जिसके फलस्वरूप उनमें अनेक नवीन गुणों का सूत्रपात हुआ। बन्दरों ने स्वयं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया तथा वे अपने मूल रूप में ही रहे।

स्पष्टतः स्पेंसर विकास की एक सीमा मानता है। विकास उसी समय तक होगा जब प्राणी अपनी बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल सकेगा। जिस दिन उसकी यह शक्ति समाप्त हो जाएगी उसी दिन मानव का विकास रुक जाएगा एवं समस्त विश्व सन्तुलन की अवस्था में आ जाएगा, तब सूर्य की गरमी और प्रकाश, तारों की चमक पृथ्वी का वेग, रक्त की उष्णता आदि समाप्त हो जाएगी। तत्पश्चात् विनाश की अवस्था आ जाएगी, विश्व अन्धकारमय हो जाएगा और समाज छिन्न-भिन्न हो जाएगा। किन्तु कालान्तर में सम्पूर्ण विश्व में पुनः एक विशिष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होगा तथा पृथ्वी पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था प्राप्त कर लेगी। इस विकास और विलयन का आवर्तन और प्रत्यावर्तन युग-युगान्तर तक होता रहेगा।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि विकास की प्रक्रिया में स्पेंसर ने बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इनके द्वारा विकास के स्वरूप का निर्धारण होता है। ठीक प्रकार से विकास होने के लिए आवश्यक है कि बाहरी और आन्तरिक—दोनों दशाओं का सामञ्जस्य हो। बालक का विकास आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण होगा। उसे अच्छा भोजन एवं श्रेष्ठ मनोदशाएँ प्रदान करनी होंगी किन्तु युवक होने के बाद वृद्ध होने तक उसको नाना बाह्य दशाएँ भी निश्चित रूप से प्रभावित करेंगी।

स्पेंसर ने अपने विकास-सिद्धान्त को समाज पर किस भाँति क्रियान्वित किया है इस पर विस्तार से चर्चा अग्रिम शीर्षक 'स्पेंसर के समाज सम्बन्धी सावयवी सिद्धान्त' में की जाएगी। यहाँ इतना और जान लेना उचित है कि स्पेंसर उपयोगितावादियों की इस धारणा से सहमत है कि जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है और इस लक्ष्य की इच्छा जीवन-शक्ति (Life force) ही करती है। सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य स्वयं को वातावरण के अनुकूल निरन्तर परिवर्तित करता रहता है। इस परिवर्तन के लिए मनुष्य को स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है। स्पेंसर ने इस स्वतन्त्रता को स्वतन्त्र शक्ति और क्षमता (Free Energy and Faculty) की संज्ञा दी है। मानव-समाज पर लागू करने पर इसका अभिप्राय एक ऐसे पूर्ण समाज से होता है जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच पूर्ण सामञ्जस्य होगा और इसमें शासन की तरफ से कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। स्पेंसर के अनुसार इस पूर्ण सन्तुलन (Perfect Equilibrium) को प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि शासन की गतिविधियों के क्षेत्र को शनैः-शनैः क्रमशः कम कर दिया जाए और व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के प्रयोग के क्षेत्र में वृद्धि की जाए।

स्पेंसर के पूर्ण आदर्श समाज मे किसी भी प्रकार के शासन का अस्तित्व नही है। व्यक्ति जब तक पूर्ण अथवा अन्तिम सन्तुलन तक नही पहुँच जाता तभी तक शासन की आवश्यकता है। स्पेंसर के अनुसार, "सामञ्जस्य की इस प्रक्रिया के दौरान प्रथम तो मनुष्य को सामाजिक दशाओं म बांधे रखने के लिए और द्वितीय उस दशा के अस्तित्व को खतरा पहुँचाने वाले सभी आचरणो को नियन्त्रित करने के लिए किसी साधन का प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसा साधन शासन या सरकार ही है।"[1] राज्य को इन दो कार्यों से आगे नही बढना चाहिए। स्पष्ट है कि स्पेंसर का विकासवादी सिद्धान्त अन्तत एक राज्य-विहीन समाज (An Anarchic Society) की ओर ले जाता है जिसमे किसी प्रकार के शासन के लिए स्थान नही है और जिसमें मनुष्य मनुष्य के मध्य सामञ्जस्य अथवा सन्तुलन की पूर्ण अवस्था व्याप्त होगी। स्पेंसर के मन मे राज्य-शून्यता ही समाज की प्रगति की पराकाष्ठा है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि स्पेंसर के अन्तिम अथवा पूर्ण सन्तुलन (Final Equilibrium) (जहां पर विकास की प्रक्रिया रुक जाती है) की धारणा आधुनिक विज्ञान को एकदम अस्वीकार्य है। आज विज्ञान हमे यह बतलाता है कि विकास तो कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया है "जिसमे प्रत्येक अनुकूलीकरण (Adaptation) ऐसी नवीन स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनके लिए नवीन अनुकूलीकरण आवश्यक होता है।" इस प्रक्रिया की कोई सीमा-रेखा नही है। "विज्ञान की यह धारणा स्पेसर के समन्वयवादी दर्शन (Synthetic Philosophy) के मूल पर ही कुठाराघात कर उसके राजनीतिक सिद्धान्तो को धराशायी कर देती है।"

स्पेंसर का सामाजिक सावयव का सिद्धान्त
(Spencerian Theory of Social Organism)

स्पेंसर जीवन-पर्यन्त व्यक्ति के अधिकारो और यद् भाव्य (Laissez Faire) नीति का प्रबल समर्थक रहा, पर साथ ही समाज की सावयवी धारणा के प्रति भी उसके मन मे गहरी आस्था रही। यह कहना उपयुक्त होगा कि जिस तरह हॉब्स (Hobbes) ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का राजाओं के निरकुशवाद (Monarchical Absolutism) का समर्थन करने के लिए चातुर्यपूर्ण प्रयोग किया था, ठीक उसी प्रकार स्पेंसर ने विश्व-विकास और सामाजिक सावयव (Universal Evolution and Social Organism) की धारणा की सहायता से रेडिकलवाद (Radicalism) अथवा व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो का समर्थन करने का प्रयत्न किया।

राज्य का सावयव सिद्धान्त स्पेंसर के मस्तिष्क की ही उपज हो, ऐसी बात नही है। यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है जो राज्य एव शरीर का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि राज्य एक व्यक्ति के शारीरिक सगठन की भाँति है। राज्य की प्रकृति मानव-शरीर के समान है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग पारस्परिक सहयोग एव निर्भरता के साथ कार्य करते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अग भी परस्पर निर्भरता एव सहयोग के साथ कार्य करते है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त मौन है। वस्तुत यह सिद्धान्त अपने-आप में उतना ही प्राचीन है जितना राजनीतिक दर्शन। इस सिद्धान्त का उल्लेख प्लेटो के लेखो मे मिलता है जहाँ वह कहता है कि "राज्य एक विस्तृत अर्थात् बडे डील-डौल वाले व्यक्ति के समान है।" उसने गणतन्त्र की तुलना एक महा-मानव से की थी और कहा था कि राज्य एव व्यक्ति के कार्य समानान्तर होते है। उसने इस विभाजन का आधार मनुष्य की आत्मा के तीन नियमो—बुद्धिमत्ता (Wisdom), साहस (Courage) और इच्छा (Appetite) को बनाया था। उसने व्यक्ति को राज्य का सूक्ष्म स्वरूप माना था—"यदि राज्य समस्त विश्व है तो व्यक्ति उसका सूक्ष्म अणु है।" अरस्तू ने भी राज्य और मानव-शरीर मे समानता का प्रतिपादन किया था। उसका दृढ विश्वास था कि व्यक्ति वास्तव मे समाज का एक स्वाभाविक अंग

1 *Spencer*. Social Statics, p 126-27, quoted by Maxey, op. cit, p. 559.

है। रोमन विद्वान सिसरो ने लिखा था कि "राज्य के मुखियों का राज्य में वही स्थान है जो शरीर में आत्मा का होता है।" ईसाई धर्म के प्रसार के प्रारम्भिक दिनों में सन्त पॉल चर्च को ईसा मसीह का जीवित शरीर मानता था। आधुनिक युग में हॉब्स और रूसो ने राज्य के सावयवी स्वरूप (Organic Nature) पर बहुत ध्यान दिया। हॉब्स ने राज्य की तुलना एक कल्पित महामानव या दैत्य (Leviathan) से की। इसने राज्य की कमजोरियों की तुलना मानव-शरीर की बीमारियों से बहुत बारीकी से की थी। रूसो ने, विधान-मण्डल को राज्य का हृदय तथा कार्यपालिका को राज्य का मस्तिष्क बतलाया था। 19वीं शताब्दी में राज्य का यह सावयवी सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हो गया। महान् जर्मन दार्शनिक ब्लंशली (Bluntschli) ने कहा कि "राज्य की व्यवस्था प्राणी-शरीर की व्यवस्था की अनुकृति मात्र है।" उसने तो यहाँ तक लिखा है कि "राज्य नर है और चर्च मादा।" इसी प्रकार और भी अनेक विद्वानों ने राज्य और मानव शरीर के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

स्पेंसर के सामाजिक सावयव सिद्धान्त की व्याख्या
(Explanation of Spencer's Theory of Social Organism)

सावयव-सिद्धान्त का सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रतिपादन जिस व्यक्ति ने किया वह हर्बर्ट स्पेंसर था। सामाजिक सावयव की धारणा उसकी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। स्पेंसर की सावयवी धारणा उसकी पुस्तक 'Social Statics' और उसके निबन्ध 'Social Organism' में प्रमुख रूप से पाई जाती है। 'Principles of Sociology' तथा 'Fact for Comments' नामक पुस्तकों में उसने अपने विचारों को तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। प्लेटो, अरस्तू और हॉब्स आदि में से किसी ने भी राज्य को एक सावयव नहीं बतलाया था। उनके लिए केवल राज्य का स्वरूप सावयवी था अर्थात् उनका कहना था कि "राज्य जीव की तरह है" (The State is like an Organism) किन्तु स्पेंसर ने राज्य को वास्तविक सावयव का स्वरूप दिया। उसने कहा कि "राज्य स्वयं एक जीवधारी है।" स्पेंसर ने बहुत विस्तार से राज्य एवं शरीर में समानता स्थापित करने की चेष्टा की। उसने राज्य और जीवधारी शरीर में जो समानताएँ प्रदर्शित कीं, वे इस प्रकार हैं—

1. प्राणी-शरीर और समाज-शरीर दोनों का आरम्भ सर्वप्रथम कीटाणुओं (Germs) के रूप से हुआ है। इन दोनों में समान रूप से निरन्तर वृद्धि की प्रक्रिया चालू रहती है। ज्यों-ज्यों इनके अंगों का विकास होता है, त्यों-त्यों इनका असादृश्य बढ़ता जाता है और इनकी बनावट में विशेष जटिलता आ जाती है। सबसे क्षुद्र प्राणी के शरीर की बनावट बिल्कुल साधारण होती है। उसमें पेट, श्वास-नली अथवा पसली के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार समाज अपनी अनुन्नत दशा में केवल बहादुरों, शिकारियों और भद्दे औजार बनाने वालों का एक समुदाय था। लेकिन परिवर्तन के साथ समाज का विकास होता गया और उसमें जटिलता बढ़ती गई। जटिलता बढ़ने के साथ-साथ उसमें श्रम-विभाजन होने लगा और औद्योगिक विकास का प्रादुर्भाव होने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य अपनी साधारण प्रारम्भिक अवस्था से शनैः-शनैः विकसित होकर ही आधुनिक जटिल संगठन का रूप ले सका। राज्य के विकास और ह्रास में भी वही नियम लागू होते हैं जो एक सावयव में। सावयव की भाँति ही राज्य की भी किशोर, तरुण एवं वृद्धावस्था होती है और अन्त में सावयव की भाँति ही यह भी एक दिन विनष्ट हो जाता है।

2. स्पेंसर ने कहा कि जिस प्रकार शरीर सावयवों से बना हुआ है जो उसे जीवन प्रदान करते हैं उसी प्रकार राज्य का निर्माण भी व्यक्तियों से होता है जिनसे उसे जीवन प्राप्त होता है। "श्रमिक जो कृषि करते हैं, खानों में काम करते हैं, कारखानों में काम करते हैं और जो घरों में काम करते हैं, समाज के तत्त्व हैं। थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता, महाजन, रेल तथा जहाजरानी आदि में काम करने वाले व्यक्ति इस शरीर के मांस-पेशियों वाले अंग का काम करते हैं। व्यावसायिक जन तथा

डॉक्टर, वकील, इन्जीनियर, शासक, पादरी आदि इस शरीर के मस्तिष्क तथा नाड़ी-संस्थान का काम करते हैं। इस प्रकार ही समाज या राज्य का संगठन एक मानव-शरीर के समान ही है।"[1]

3. शारीरिक स्वास्थ्य शरीर के साधारण अंगों पर निर्भर होता है। यदि किसी भी अवयव में कोई रोग हो जाता है तो सारे शरीर को कष्ट उठाना पड़ता है। इसी भाँति राज्य का स्वास्थ्य नागरिकों के स्वास्थ्य पर निर्भर है। नागरिकों द्वारा कर्तव्य-पालन के अभाव में सम्पूर्ण राज्य की हानि होती है। जिस प्रकार किसी अंग के निर्बल या बीमार होने से उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, ठीक उसी प्रकार यदि राज्य के नागरिक अस्वस्थ या अशिक्षित होते हैं अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों से परिपूर्ण होते हैं, तो सम्पूर्ण राज्य के हितों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

4. शरीर में सदैव परिवर्तन होता रहता है। जीर्ण-शीर्ण अंगों को पौष्टिक भोजन द्वारा नवीन एवं पुष्ट बनाया जाता है। इसी प्रकार राज्य में भी परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार शरीर के स्नायु नष्ट होते रहते हैं और उनके स्थान पर नए स्नायु उत्पन्न होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार राज्य के निर्बल, रोगी एवं वृद्ध मनुष्य नष्ट होते रहते हैं और उनका स्थान नवीन व्यक्ति लेते रहते हैं।

5. शरीर के तीन कार्य मुख्य होते हैं—पोषण, वितरण एवं सुसंचालन। मुख, पेट एवं आँतें पोषण का काम करती हैं। ये अंग भोजन पचाकर शरीर की रक्षा करते हैं। रक्त-नाड़ियाँ, शिराएँ, हृदय, नसें आदि भोजन के वितरण का कार्य करती हैं और मस्तिष्क तथा स्नायु-तन्त्र द्वारा सुसंचालन का कार्य होता है। ठीक इसी प्रकार का संगठन तथा कार्य-प्रणाली राज्य में विद्यमान है। उद्योग एवं कृषि राज्य के पोषक अंग हैं तथा सरकार रूपी मस्तिष्क राज्य संचालन का कार्य करता है।

6. अन्त में, मानव शरीर की भाँति समाज के किसी एक अंग की अधिक वृद्धि का अर्थ होता है दूसरे अंगों की वृद्धि में अवरोध। बड़े-बड़े भूस्वामी और उद्योगपति श्रमिकों के शोषण के आधार पर ही स्थित हैं।

स्पेंसर ने समाज तथा प्राणी में जो समानताएँ देखी हैं वे डॉ. एच आर. मुरे (Dr H R. Murray) के अनुसार संक्षेप में ये हैं—

(i) दोनों ही लघु समूह से आरम्भ होकर आकार में बढ़ते हैं।

(ii) जैसे-जैसे वे बढ़ते जाते हैं उनमें प्रारम्भिक सरलता के स्थान पर जटिलता आती जाती है।

(iii) इस बढ़ती हुई विभिन्नता के साथ उन दोनों के निर्णायक अंगों में परस्पर-निर्भरता बढ़ती है। प्रत्येक अंग का जीवन तथा साधारण कार्य सम्पूर्ण जीवन पर निर्भर हो जाता है।

(iv) सम्पूर्ण का जीवन, अंगों के जीवन की अपेक्षा पहले से कहीं अधिक स्वतन्त्र हो जाता है।

प्राणी और राज्य में विभिन्नताएँ

हर्बर्ट स्पेंसर ने दोनों में असमानता (भेद) की बातों पर भी बल दिया है और यह स्वीकार किया है कि दोनों के बीच की समानता प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण नहीं है। इन दोनों में दो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं।

1. पशु अथवा मानव-शरीर के विभिन्न अंग मिलकर एक सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं। यदि उन्हें शरीर से अलग कर दिया जाए तो वे सजीव नहीं रहते और बेकार हो जाते हैं। अर्थात् जीवधारी रचना का आकार ठोस है, निश्चित है और उसकी इकाइयाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। इसके विपरीत सामाजिक शरीर खण्डित है, उसका पशु या व्यक्ति के समान कोई निश्चित आकार नहीं है। उसकी इकाइयों में परस्पर सम्पर्क तो होता है, पर उनमें उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। वे बिखरी हुई हैं। स्पेंसर के अनुसार सामाजिक शरीर की इकाइयाँ स्वतन्त्र हैं और अधिक या कम विस्तृत रूप में बिखरी हुई हैं।

1 *Murra*, Social and Political Thought of the 19th Century, p. 21

2 एक जीवित शरीर मे चेतना शरीर के एक विशिष्ट भाग में केन्द्रित होती है। शरीर के विभिन्न अंगो की अपनी कोई पृथक्-पृथक् चेतना अथवा इच्छाएँ नही होती। शरीर के केवल एक केन्द्र मे ही चेतना रहती है। परन्तु जीवित शरीर के विपरीत समाज मे चेतना का कोई एक केन्द्र नही होता तथा यह व्यापक रूप से समाज मे फैली हुई होती है। समाज मे प्रत्येक सदस्य की अपनी निजी चेतना होती है। वह स्वैच्छिक कार्य करने मे स्वतन्त्र है जबकि जीव के अग इस दृष्टि से मस्तिष्क के पूरी तरह अधीन होते हैं।

उपर्युक्त भेद स्वीकार करते हुए भी स्पेंसर की यही मान्यता है कि राज्य एक जीवधारी रचना है। इन भेदो के आधार पर ही उसने व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसके मत मे चूँकि राज्य मे चेतना का ऐसा एक केन्द्र नही होता जैसा जीवधारी मे होता है, अतः राज्य को चाहिए कि वह व्यक्तियो को अपने हित-साधन के लिए पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करे। समाज का अस्तित्व सदस्यो के लिए है, सदस्य समाज के लिए नही हैं। इस प्रकार स्पेंसर ने सावयव सिद्धान्त को व्यक्तिवाद का आधार बना कर विरोधाभास को जन्म दिया जो आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। उचित तो यह था कि या तो उसे अपने रेडिकलवाद एवं प्राकृतिक अधिकारो मे विश्वास को तिलांजलि दे देनी चाहिए थी या सामाजिक सावयव के सिद्धान्त का परित्याग कर देना चाहिए था।

स्पेंसर की सामाजिक सावयवी धारणा की आलोचना करने से पूर्व इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को दोहरा देना उचित होगा कि उसके पूर्ववर्ती विचारक प्लेटो, सिसरो आदि ने राज्य और जीवधारी की तुलना करते हुए कहा कि 'राज्य जीव की तरह है' (The state is like an organism)। परन्तु स्पेंसर अपनी विचारधारा को इन लेखको से एक कदम आगे ले जाता है। राज्य और जीवधारी के मध्य समानताओ का प्रदर्शन करने मे वह यह निष्कर्ष निकालता है कि 'राज्य स्वय एक जीवधारी है' (The state is itself an organism)। यह अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि स्पेंसर ने यहाँ समानताओ को एकता (Identities) समझने की भारी भूल की है जिसके फलस्वरूप उसका दर्शन एकाँगी और विरोधी मान्यताओं का गोरख-धन्धा बन गया।

स्पेंसर का राजनीतिक चिन्तन
(Spencer's Political Philosophy)

स्पेंसर की विकासवादी और सामाजिक सावयववादी धारणा के अतिरिक्त राजदर्शन के विद्यार्थी के लिए उसके दर्शन मे रुचिकर विषय—उसका व्यक्तिवादी, राज्य के कार्यक्षेत्र की उसकी धारणा, विशेषत औद्योगिक हस्तक्षेप (Laissez Faire) सम्बन्धी विचार एव अधिकार विषयक उसका चिन्तन हैं। इन पर पृथक् से विचार करने के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि स्पेंसर ने अपने राजनीतिक चिन्तन मे 'सामाजिक सिद्धान्तो को जीवशास्त्रीय विकास से सम्बन्धित किया है'; पर उसने व्यावहारिक तथ्यो को यथास्थित रखा है। इस तरह राज्य के विकास की नवीन धारणा की पुष्टि करते हुए भी उसने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमे कोई नवीनता नही है।

स्पेंसर का व्यक्तिवाद (Spencer's Individualism)

स्पेंसर पर बाल्यावस्था से ही व्यक्तिवादी प्रभाव था और जीवन पर्यन्त वह एक व्यक्तिवादी विचारक रहा। इस विचारधारा का उसके राज्य-सम्बन्धी विचारो पर गहरा प्रभाव पडा। किन्तु विचित्र बात यह है कि अपने सावयवी सिद्धान्त द्वारा भी उसने अपने व्यक्तिवादी विचारो का पोषण करने की चेष्टा की और दोनो में ताल-मेल बैठाने का असफल प्रयत्न किया। चूँकि सावयवी धारणा और व्यक्तिवादी सिद्धान्त ये दोनो ही परस्पर विरोधी बातें हैं अत यही कहा जाता है कि 'स्पेंसर का दर्शन प्राकृतिक अधिकारो और जीवशास्त्रीय रूपक का अद्भुत मिश्रण' (A queer mixture of natural rights and organic allegories of the State) है। स्पेंसर ने व्यक्तिवाद पर अपने जो विचार प्रकट किए, वे मिल के व्यक्तिवादी विचारो से मिलते हैं।

व्यक्तिवाद का समर्थन स्पेंसर ने यह कहकर आरम्भ किया है कि राज्य के अस्तित्व का कारण मनुष्य की बुराइयों से उत्पन्न कुटिलता और अपमानता है। राज्य रक्षक होने की अपेक्षा आक्रान्ता अधिक है। स्वयं उसके शब्दों में, "चाहे यह सत्य हो या नहीं कि मनुष्य का पोषण अनमानता में होता है और पाप के कारण यह जन्म लेता है, लेकिन यह निश्चित रूप से सत्य है कि शासन का जन्म अत्याचार से होता है और अत्याचार से ही यह पनपता है। राज्य का निर्माण लोगों की कुप्रवृत्तियों का दमन करने और अन्य लोगों के अत्याचारों तथा धोखेबाजी से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए किया जाता है। नैतिक रूप से पूर्ण समाज में राज्य के अस्तित्व के लिए कोई ठोस तर्क नहीं रहता।" पुनश्च, "क्या हमने यह सिद्ध नहीं कर दिया है कि शासन या सरकार मौलिक रूप से अनैतिक है? क्या इसका अस्तित्व इस कारण नहीं है कि अपराध का अस्तित्व है अतः अपराधों के समाप्त हो जाने की स्थिति में सरकार को समाप्त नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि उसके कार्यों के लक्ष्य का अभाव हो गया है?" स्पेंसर के अनुसार यह सोचना गलत होगा कि शासन सदा विद्यमान रहेगा। इसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं है अपितु विशेष परिस्थितियों के कारण है। "जिस तरह जंगली जातियों में राज्य प्रशासन का पूर्वगामी है उसी तरह ऐसी परिस्थितियों का प्रादुर्भाव हो सकता है जब राज्य लुप्त हो जाए।"

स्पेंसर के व्यक्तिवादी विचारों का सार यह है कि व्यक्ति का विकास प्राकृतिक ढंग से उसी तरह स्वच्छन्दतापूर्वक होना चाहिए जिस तरह मानव के अतिरिक्त किसी अन्य स्वतन्त्र जीव का होता है। मानव के मार्ग में समाज या राज्य एक प्रमुख बड़ी बाधा है जिसके द्वारा व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं होता, परन्तु रुक जाता है। अतः व्यक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति पर राज्य का किसी भी तरह का नियन्त्रण न हो। एक आदर्श सुख, समृद्धि और आनन्द के लिए राज्य की समाप्ति ही श्रेयस्कर है। राज्य की विधियों, परम्पराओं एवं तथाकथित सामाजिक नैतिकताओं के कारण व्यक्ति का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः कुछ पुलिस एवं न्यायालयों के अतिरिक्त शासन के सभी अंगों को यथाशीघ्र समाप्त कर देना चाहिए। राज्य एवं समाज व्यक्तियों के समूह हैं, अतः उनका अस्तित्व व्यक्ति के अस्तित्व पर आश्रित है। राज्य उन व्यक्तियों का समूह है जो अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास और प्रयोग के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता की माँग करते हैं। प्रत्येक की स्वतन्त्रता दूसरों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए ही शासन का जन्म हुआ है और वही उसका मापदण्ड है। वस्तुतः अपनी इस धारणा में स्पेंसर बेन्थम और मिल के बहुत निकट है। वह उनकी भाँति ही व्यक्तिवादी नहीं, प्रत्युत् वह उनकी अपेक्षा अधिक व्यक्तिवादी है क्योंकि उनके लिए स्वतन्त्रता से प्राकृतिक अधिकार उत्पन्न होते हैं। स्पेंसर के अनुसार व्यक्ति के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। अपने बाह्य अस्तित्व में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए ताकि अपने आस-पास के वातावरण में वह संघर्ष द्वारा अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके। आन्तरिक दृष्टि से व्यक्ति एक चेतना है जिसके विकास के लिए भी स्वतन्त्रता की आवश्यकता है—ऐसी स्वतन्त्रता जिसके द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों की चेतना का उसी प्रकार सम्मान कर सके।

स्पेंसर की मान्यता है कि जिस राज्य में जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी वह राज्य उतना ही अधिक अच्छा होगा। स्पेंसर के अनुसार राज्य एक ऐसी अनैतिक संस्था है जो भूतकालीन अवशेषों पर स्थित है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता में सदैव हस्तक्षेप करती है। राज्य की भाँति ही अन्य अनेक अवशेष हैं और अपने अवशेषों को कायम रखने के लिए वे राज्य की सहायता चाहते हैं और इसीलिए राज्य का समर्थन भी करते हैं। वास्तव में व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या है राज्य का अन्त करना। राज्य को भी यह मान लेना चाहिए कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता के नियम का सम्मान करने के लिए उसका अन्त होना आवश्यक है। अतः राज्य द्वारा व्यक्तियों को यह अधिकार मिलना चाहिए कि "वे राज्य का परित्याग कर सकें और इसकी नागरिकता के भार को उतार फैंकें।" स्पेंसर के मतानुसार व्यक्ति को राज्य की अवहेलना अथवा राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार है। वह राज्य के संरक्षण में रहने से

इन्कार कर सकता है, इससे छुटकारा पा सकता है और अपनी इच्छा से कानून मुक्त जीवन व्यतीत कर सकता है। स्पेंसर ने अनिवार्य सहयोग की अपेक्षा ऐच्छिक सहयोग और सकारात्मक नियन्त्रण (Positive Regulation) की अपेक्षा नकारात्मक नियन्त्रण (Negative Regulation) पर अधिक बल दिया है। सुखों की प्राप्ति राज्य के हस्तक्षेप से प्राप्त न होकर स्वयं के प्रयत्न से प्राप्त होती और शासन का कार्य बुराइयों को रोकना है न कि लोगों को सुखी बनाना अथवा उन कार्यों में सहयोग देना जिन्हें जनता स्वयं कर सकती है।

स्पेंसर के अनुसार राज्य के कार्य (Spencer on State Action)

स्पेंसर ने राज्य के कार्यों का वर्णन निषेधात्मक रूप से किया है। राज्य को चाहिए कि वह स्वयं को (क) विधि-व्यवस्था की रक्षा के लिए पुलिस-व्यवस्था, (ख) बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक शान्ति की रक्षा के लिए सैनिक संगठन और (ग) अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायालय व्यवस्था तक ही सीमित रखे। ये न्यूनतम कार्य हैं। राज्य एक आवश्यक बुराई होते हुए भी ये कार्य उसे करने होंगे। शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि की व्यवस्था व्यक्तियों द्वारा स्वयं की जाएगी।

स्पेंसर के अनुसार राज्य को उद्योगों का संचालन किसी धार्मिक चर्च की स्थापना, गरीबों की सहायता, उपनिवेशों की स्थापना, जनता-स्वास्थ्य के लिए चिकित्सालयों की व्यवस्था और लोगों की शिक्षा का प्रबन्ध आदि नहीं करने चाहिए। "किसी व्यक्ति की सम्पत्ति को छीन कर उसके स्वयं के अथवा अन्य लोगों के बालकों को शिक्षा देना उसके अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक नहीं है, अतः यह त्रुटिपूर्ण है।" राज्य का हस्तक्षेप केवल तभी मान्य है जब किसी बालक को उसके अधिकार से में वंचित किया जाए, अर्थात् जब उसे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त न हो। राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध होने पर रूढ़िवादी हितों की रक्षा होगी जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक सिद्ध होंगे।

स्पेंसर ने विकास का स्पष्टतम लक्ष्य व्यक्तियों के जीवन में चलने वाला संघर्ष माना है जिसके द्वारा शक्तिशाली एवं योग्य व्यक्ति विजयश्री का वरण करते हैं तथा निर्बल एवं अयोग्य प्राणी संसार से विदा हो जाते हैं, इसलिए राज्य अथवा समाज को इस संघर्ष को रोकने अथवा दूसरे शब्दों में सबलों से निर्बलों की रक्षा करने के लिए कुछ नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि राज्य निर्बलों की सहायतार्थ आगे आएगा तो संसार अयोग्य एवं निर्बल व्यक्तियों से भर जाएगा जिससे सम्पूर्ण समाज को हानि उठानी होगी। अतः विकास की स्वाभाविक वृद्धि तथा व्यक्ति एवं पर्यावरण (Environment) में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य मानवीय भावना से अपने को यथासम्भव दूर रखे। राज्य का कार्य केवल समाज के सदस्यों को संगठित रखना और उनके राज्य के अस्तित्व विरोधी आचरण पर अंकुश लगाना है क्योंकि "राज्य को यदि संरक्षक समझा जाए तो देखा जाता है कि जैसे ही वह संरक्षण से अधिक कुछ करता है, वह आक्रान्ता बन जाता है, और यदि उसे अनुकूलीकरण में सहायक समझा जाए तो जब भी वह सामाजिक संगठन को कायम रखने से अधिक कुछ करता है, अनुकूलीकरण की प्रक्रिया रुक जाती है।"

स्पेंसर की मान्यता है कि राज्य में न सिक्कों की व्यवस्था होनी चाहिए, न डाकघरों की। नोटों और सिक्कों के आदान-प्रदान पर प्रतिबन्ध लगाना विनिमय तथा सामाजिक अधिकार के प्राकृतिक नियमों का हनन है। समुद्री जहाजों की कुशल यात्रा के लिए राज्य को प्रकाश-गृहों की भी व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। राज्य को सफाई और जनकल्याण का भी कोई नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the Fittest) के प्राकृतिक सिद्धान्त में बाधा पड़ती है। यदि लोग स्वास्थ्य का महत्त्व समझेंगे तो स्वयं उसकी रक्षा करेंगे। सफाई के प्रति उनकी रुचि होगी तो वे स्वयं सफाई रखेंगे। सरकार को नगरपालिकाओं के संगठन की सहायता करने की आवश्यकता

नहीं है। यदि राज्य से कोई सहायता नहीं मिलेगी तो लोग इन क्षेत्रों मे और भी अधिक उत्साह से काम करेंगे तथा वे जो कुछ भी करेंगे उसका महत्त्व स्वय ही समझेंगे। स्पेंसर का कहना है कि गरीब या तो अपनी दशा मे स्वय सुधार करें या फिर अच्छा है कि वे नष्ट हो जाएँ, क्योंकि यदि उनको जीवित भी रखा जाएगा तो वे समाज के किसी काम नहीं आ सकेंगे। इसके विपरीत गरीबों की मदद करने से उनके समूह सक्षम और स्वस्थ लोगों के लिए तब तक अभिशाप बने रहेंगे जब तक कि राज्य की ओर से उनकी जीविका का प्रबन्ध होता रहेगा। स्पेंसर का राज्य सम्बन्धी यह दर्शन बर्बरतापूर्ण है। इसे स्पेंसर भी स्वीकार करता है, लेकिन उसका तर्क है कि वास्तविकता यही है। प्रकृति हमे स्वय निर्दयी होना सिखाती है। तात्पर्य है कि स्पेंसर के अनुसार व्यक्ति का विकास पेड-पौधों और पशुओं की भाँति स्वाभाविक रूप से होगा। ऐसी स्थिति में दुनिया में अशक्त, रोगी, गरीब, अज्ञानी आदि नष्ट हो जाएँगे और केवल वे ही लोग बचेंगे जो सघर्ष के बल पर अपने प्राकृतिक विकास मे प्रगतिशील होंगे। स्पेंसर ने राज्य द्वारा सार्वजनिक प्रयोग एव देश की सुरक्षा के आवश्यक भवन, सडकें, पुल आदि बनाने के अतिरिक्त अन्य वस्तु-निर्माण के कार्यों की भी निन्दा की।

स्पेंसर राज्य को अन्य उद्योगों की तरह ही एक उद्योग मानता है जिसका एक ही कार्य है—'सुरक्षा'। यह सुरक्षा भी प्राकृतिक सघर्ष को अवरुद्ध करती है, इसलिए वह कहीं तो इस सुरक्षा का समर्थन करता है और कहीं विरोध। राज्य के अहस्तक्षेप को स्पेंसर ने औद्योगिक क्षेत्र मे सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उसको आर्थिक क्षेत्र पर राज्य का कोई भी नियन्त्रण स्वीकार नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए किसी भी साधन को अपनाने का अधिकार है। वह अपनी जीविका अर्जित करने के लिए यदि दूसरे से स्पर्धा या सघर्ष करता है या दूसरों के उद्यम को ठप्प कर देता है अथवा उसमे दूसरों का शोषण होता है तो उसकी राय मे ऐसा होना प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है। कमजोरों या इस स्पर्द्धा मे बराबरी न कर सकने वालों की सहायता के लिए राज्य द्वारा कानूनों के माध्यम से सक्षम एव शक्ति-सम्पन्न लोगों के विकास मे बाधा पहुँचाना अनुचित है। राज्य का यह कार्य प्रकृति के स्वाभाविक सघर्ष के विरुद्ध होगा। मनुष्य का सबसे प्रिय क्षेत्र आर्थिक क्षेत्र है। यदि उस पर से सभी नियन्त्रण हटा लिए जाएँ तो उद्योगों की अत्यधिक उन्नति होगी। औद्योगिक विकास के कारण राज्य मे समृद्धि इतनी बढ जाएगी कि उनकी युद्ध करने की प्रवृत्ति स्वत समाप्त हो जाएगी। स्पेंसर का कहना है कि तात्कालिक शासन का आधार सैनिक शक्ति होने के कारण वह युद्ध-प्रिय है। यदि उसका आधार उद्योग हो जाए तो युद्ध का अपने-आप लोप हो जाएगा। स्पेंसर ने औद्योगिक क्षेत्र मे राज्य के सभी कानूनों का विरोध किया है। डाक सेवा सम्बन्धी राज्य के एकाधिकार का विरोध उसने प्रधानत इसीलिए किया है कि इसके कारण लोगों के पत्र पहुँचाने वाली व्यापारिक सस्थाओं के व्यापार पर रोक लग गई, अत वह राज्य के कर्त्तव्यों मे नहीं मानी जा सकती। वास्तव मे अपने सामाजिक सिद्धान्त मे औद्योगिक अहस्तक्षेप (Laissez Faire in this Social Theory) पर स्पेंसर ने इतना बल दिया है कि उसने राज्य को एक व्यक्तिगत उद्योग से अधिक कुछ नहीं समझा है। स्पेंसर के इन विचारों को प्रो सेबाइन ने सक्षेप मे किन्तु सारगर्भित ढग से इस प्रकार प्रकट किया है—

"स्पेंसर को यह सिद्ध करना था कि वह समाज जो धीरे-धीरे जटिल हुआ है, अधिक से अधिक सरल राज्य का ही समर्थन करेगा। उसने इस विरोधाभास का समाधान इस आधार पर किया था कि शासन के अधिकांश कार्य का सूत्रपात एक सैनिक समाज मे हुआ था और उद्योग-प्रधान समाज मे युद्ध पूर्ण लोप हो जाएगा। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण बढता जाएगा त्यों-त्यों व्यक्तिगत उद्यम का क्षेत्र भी विकसित होगा। स्पेंसर का राज्य-सिद्धान्त मुख्य रूप मे उन कार्यों का उल्लेख करता है जो राज्य को तुरन्त त्याग देने चाहिए। राज्य ने यह कार्य विधायकों के पापों के कारण अपने सिर पर ओढ़ रखे हैं लेकिन विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ ये कार्य अनावश्यक

हो जाएँगे । अधिकांश विधान निकृष्ट होते हैं । प्रकृति केवल योग्यतम व्यक्तियों को ही जीवित रखना चाहती है । विधान के द्वारा प्रकृति की इस प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है । जब विकास द्वारा व्यक्ति और समाज मे पूर्ण सामंजस्य पैदा हो जाएगा तब सम्पूर्ण विधान व्यर्थ हो जाएगा । इसीलिए स्पेंसर ने उद्योगो के विनियमन, स्वच्छता की व्यवस्था, कारखानों में सुरक्षा की व्यवस्था, सार्वजनिक दान के सभी रूपो तथा सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था का कड़ा विरोध किया है । 'सोशियल स्टेटिक्स' ग्रन्थ में उसने यहाँ तक कहा कि राज्य का सिक्के ढालने और डाकखानो का काम व्यक्तिगत उद्यम के अन्तर्गत होना चाहिए ।"[1]

विधायको के पाप (Sins of Legislators)

अपनी पुस्तक 'Sins of Legislators' मे स्पेंसर ने उन त्रुटियो और भयंकर भूलो की ओर संकेत किया है जो सरकार ने भूतकाल मे की थी । उसके अनुसार विभिन्न देशों की कानून-संहिताएँ (The Statute Books) दुःखद अनुमानो के संग्रह (A Record of Unhappy Guesses) हैं । अधिकांश अधिनियम तत्कालीन, प्रचलित अधिनियमो को सुधारने की दृष्टि से निर्धारित किए गए हैं । यह इस बात का प्रमाण है कि जो अधिनियम पहले निर्धारित किए गए थे, अधूरे थे और ठीक नहीं थे । यही कारण है कि इन्हे सुधारने के लिए नवीन कानून का निर्माण करना पड़ा । स्पेंसर का व्यक्ति में पूर्ण विश्वास है और यही विश्वास उसमे संसद् की सम्प्रभुता (Sovereignty of the Parliament) के प्रति असम्मान उत्पन्न करता है । उसका कहना है कि "भूतकाल का महान् राजनीतिक अन्धविश्वास राजाओं का दैवी अधिकार था । वर्तमान काल का महान् राजनीतिक अन्धविश्वास संसदो के दैवी अधिकार हैं ।"[2] पुनश्च, "हम फिर लौटकर उसी बात पर आ जाते हैं कि संसदो (या विधान-मण्डलों) के स्वेच्छिक दैवी अधिकार और बहुमत दल के दैवी अधिकार केवल अन्धविश्वास ही हैं । श्वेतांगों ने राज्य के अधिकार के स्रोत के सम्बन्ध मे प्राचीन धारणाओ को त्याग दिया है किन्तु राज्य की असीमित शक्ति के प्रतिपादन का लक्ष्य अब तक कायम है । असीम शक्ति की धारणा आधुनिक विचारधारा से मेल नही खाती । जनता पर असीमित शक्ति का अधिकार, जो सामान्यत: राजा को उप-ईश्वर की मान्यता देने के कारण उसका स्वाधिकार माना जाता था, आजकल शासन करने वाले नेता का अधिकार माना जाता है यद्यपि आज नेता के देवत्व मे किसी का विश्वास नही है । भूतकाल मे उदारवाद का कार्य राजाओ की शक्तियो को सीमित करना था । भविष्य मे सच्चे उदारवाद का कार्य संसद् अथवा विधान-मण्डल की शक्ति की सीमा निर्धारित माना जाएगा ।"

इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है कि प्रौढावस्था मे स्पेंसर के विचारो मे कुछ परिवर्तन आ गया । जॉन फिस्के (John Fiske) के अनुसार स्पेंसर जब सन् 1892 में अमेरिका गया तो वहाँ औद्योगिक क्षेत्र में घोर प्रतियोगिता देखकर बड़ा दुःखी हुआ जिससे वह राजकीय नियन्त्रण के पक्ष मे कुछ झुक गया ।

अधिकारो पर स्पेंसर के विचार (Spencer on Rights)

स्पेंसर व्यक्तिवादी विचारक था, अत उसने अधिकारो के सम्बन्ध मे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया । उसने कुछ अधिकारो का उल्लेख किया जो व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है । इन्हे उसने प्राकृतिक अधिकारो की संज्ञा दी । प्राकृतिक अधिकार स्पेंसर के विचारों का हृदय है । उसके ग्रंथ 'Principles of Sociology' का आरम्भ सामाजिक सावयव की धारणा से और अन्त प्राकृतिक अधिकारो मे हुआ है । सन् 1824 मे प्राकृतिक 'The Man versus the State' का प्रारम्भ और अन्त भी अधिकारो के साथ ही हुआ है ।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 678-79.
2 *Spencer* The Man versus the State, p. 95.

स्पेंसर के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों द्वारा व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक जीवित रहने का अधिकार प्राप्त हुआ है ताकि वह अपनी नैसर्गिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके। वह स्वतन्त्रता को शासन से पूर्ववर्ती मानता है। स्पेंसर ने प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या जर्मन शब्द 'Naturrecht' से की है जो जर्मन-विधिशास्त्र का आधार है। उसका विश्वास है कि जो ज्ञान जर्मनी जैसे उच्च दार्शनिक देश में प्रचलित है वह अवश्य ही पूर्ण होना चाहिए। किन्तु वह भूल जाता है कि एक सिद्धान्त का किसी देश में व्यापक प्रचलन ही उसकी उपयुक्तता का पूर्ण प्रमाण नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'Naturrecht' का अर्थ प्राकृतिक अधिकार नहीं है।

प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में स्पेंसर और लॉक की तुलना करना स्पष्टता की दृष्टि से उपयुक्त होगा। लॉक के मतानुसार राज्यविहीन प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। किन्तु उस समय इन प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए कोई सर्वमान्य नियम नहीं थे और न ही उनकी व्याख्या करने वाली कोई शक्ति थी। अतः विवाद एवं संघर्षग्रस्त अवस्था से प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया। किन्तु लॉक की तरह स्पेंसर प्राकृतिक अधिकारों को अतीत की वस्तु नहीं मानता। उसका तर्क है कि भविष्य में ये अधिकार व्यक्तियों को औद्योगिक एवं अराजकतावादी समाज से प्राप्त होंगे। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है और प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरों को जीने दे। लेकिन यह अधिकार ऐसा है जो केवल 'औद्योगिक समाज' में ही व्यक्तियों को दिया जा सकता है। इस तरह स्पेंसर ने वर्तमान समाज के लिए प्राकृतिक अधिकारों को स्पष्ट नहीं किया है बल्कि भावी समाज के प्राकृतिक अधिकार निर्धारित किए हैं। वह जीवन, सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के अधिकारों को लॉक की भाँति अतीत के आधार पर व्यक्ति को नहीं देता, प्रत्युत् उन्हें भावी समाज में इन अधिकारों का उपयोग करने के लिए देता है। यहाँ स्पेंसर भूल जाता है कि आज से हजार या दो हजार वर्ष बाद समाज कैसा होगा, उसकी अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्पेंसर लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का इसलिए विरोध करता है कि लॉक के प्राकृतिक अधिकार, स्थायी नियम हैं। वे शाश्वत् हैं जिनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। समाज की प्रगति का प्रभाव इन पर नहीं पड़ता। स्पेंसर इन शाश्वत प्राकृतिक नियमों को स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसका सावयवी (Organic) कारण और विकास में पूर्ण विश्वास है। समाज के परिवर्तन के साथ-साथ नियमों में भी परिवर्तन होना ही चाहिए।

स्पेंसर व्यक्ति के अधिकारों को अपनी तथा अन्तर्वृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए सामान्य अधिकार का कृत्रिम विभाजन मानता है। व्यक्ति के ये अधिकार प्राक्-सामाजिक (Pre Social) तथा स्वाभाविक (Natural) हैं जो ईश्वर-प्रदत्त गुणों की भाँति उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं। उसके अनुसार अधिकार के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष में वे अधिकार सम्मिलित होते हैं जो स्वयं व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित होते हैं। इनका सम्बन्ध व्यक्ति की सम्पत्ति और परिवार से होता है। स्पेंसर भूमि के अधिकार को स्वीकार नहीं करता किन्तु यह मानता है कि भूमि की उपज को व्यक्ति अधिकारपूर्वक अपनी कह सकता है क्योंकि "भूमि पर अपना श्रम लगाने से पूर्व उसने समाज की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।" सार्वजनिक अधिकार राज्य या समाज से सम्बन्धित हैं। इनके अन्तर्गत व्यक्तियों के उन अधिकारों का समावेश होता है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के निजी जीवन से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। स्पेंसर व्यक्ति के लिए तीन वास्तविक अधिकार निर्धारित करता है—(क) जीवन रक्षा का अधिकार, (ख) स्वतन्त्रता का अधिकार, एवं (ग) सुख-सुविधा का अधिकार। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि इन अधिकारों की रक्षा करे। सार्वजनिक अधिकारों के विषय में स्पेंसर की यह धारणा थी कि सरकार एक बुरी और अनैतिक संस्था है जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करती है। राज्य को चाहिए कि वह अपना हस्तक्षेप कम से कम करे। सरकार की उपेक्षा करना भी वह एक अधिकार मानता है। उसके मत से राज्य तो परस्पर आश्वासन के लिए एक साझेदारी की

व्यापारिक सस्था (Joint Stock Protection Company for Mutual Assurance) है। व्यक्ति द्वारा प्राकृतिक अधिकारो का अबाध उपभोग राज्य की शक्ति को सीमित करता है।

अधिकारो पर विचार करते समय स्पेंसर ने समानता पर सर्वाधिक बल दिया है। स्त्री-पुरुषों को समान आधार पर अधिकार दिए जाने चाहिए। स्त्रियो को मतदान का अधिकार देने की वकालत करके स्पेंसर ने इस क्षेत्र मे जॉन स्टुअर्ट मिल का मार्ग प्रशस्त किया है। स्पेंसर की दृष्टि मे समान स्वतन्त्रता के नियम के अनुसार बालको को भी समान स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उन पर अभिभावको का कठोर नियन्त्रण नही होना चाहिए और उन्हे भी वयस्को की तरह अपने अधिकारो का उपभोग करने देना चाहिए। परिवार के सम्बन्ध मे स्पेंसर ने 'नारी की पराधीनता' (Subjugation of Females) की कठोर भर्त्सना की है।

स्पेंसर के दर्शन की आलोचना
(Criticism of Spencerian Philosophy)

यद्यपि स्पेंसर का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर और व्यापक था तथापि वह त्रुटियो और असगतियो से परिपूर्ण है। स्पेंसर के दर्शन की निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की गई है—

1 स्पेंसर का दर्शन असगतियो और प्रवचनाओ का पिटारा है। वह व्यवस्थित एवं सश्लिष्ट नही है। जगह-जगह ऐसी मान्यताएँ हैं जो परस्पर विरोधी हैं। एक ओर तो स्पेंसर उग्रतम व्यक्तिवाद का समर्थन करता है और दूसरी ओर विकास-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सामाजिक सावयव के सिद्धान्त का उपदेश देता है। एक-ही प्रणाली मे इन दो विरोधी धारणाओ को सयुक्त कर देना असम्भव है। पुन स्पेंसर को यह मान्यता है कि ससार मे एक विकास-क्रम कार्य करता है और समाज का कोई भी रूप अन्तिम नही हो सकता, वह निरन्तर विकसित होता रहेगा। किन्तु आगे चलकर यह मानने लगता है कि एक आदर्श समाज मे राज्य नही रहेगा और समाज एक पूर्ण एव अन्तिम स्थिति प्राप्त कर लेगा। यथार्थ मे ये दोनो ही विचार परस्पर विरोधी है और स्पेंसर इनको सगति के लिए कोई बुद्धिसगत तर्क नही देता। डॉ डनिंग (Dunning) के अनुसार, "स्पेंसर के दर्शन मे सामाजिक विकास के सिद्धान्त के साथ-साथ समाज के एक अन्तिम तथा स्थायी रूप की कल्पना भी निहित है जो एक समाधानरहित समस्या है।"

2. स्पेंसर की अन्तिम सन्तुलन (जहाँ पर विकास की प्रक्रिया रुक जाती है) की धारणा आधुनिक विज्ञान को अमान्य है। विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इसमे प्रत्येक अनुकूलीकरण (Adaptation) ऐसी नवीन स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनके लिए नवीन अनुकूलीकरण आवश्यक होता है। इस प्रकिया का कोई अन्त नही है। विज्ञान की यह धारणा स्पेंसर के समन्वयात्मक दर्शन (Synthetic Philosophy) के मूल पर ही कुठाराघात करती है। मैक्सी के अनुसार, 'कोई भी आधुनिक राजनीतिक विचारक स्पेंसर को अपना गुरु नही मानता। आधुनिक आलोचको की दृष्टि मे वह एक नौसिखिया वैज्ञानिक और दार्शनिक है। स्पेंसर के बाद विज्ञान के क्रमिक विकास विषयक ज्ञान मे बहुत वृद्धि हुई है जिससे अत्यधिक विश्वास की उन धारणाओ का खण्डन होता है जिनके आधार पर स्पेंसर ने मानव-समाज की समस्याओ का हल करने का हठपूर्ण प्रयास किया था।'[1]

3. स्पेंसर ने अपने विकासवादी सिद्धान्त के समर्थन मे जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे काल्पनिक प्रतीत होते हैं क्योकि तथ्यो द्वारा उनकी पुष्टि सम्भव नही है। उदाहरणार्थ, स्पेंसर का यह कहना कि मानव शरीर आरम्भ मे अमीवा (Amiba) की भाँति था, सत्य प्रतीत नही होता।

4 स्पेंसर ने विकासवाद के साथ 'अस्तित्व के सघर्ष' तथा 'योग्यतम की उत्तर जीविता' सम्बन्धी सिद्धान्तो को जोडकर एक भयानक विचारधारा का प्रतिपादन किया है। यह निश्चय ही एक

1 *Maxey* · Political Philosophies, p 262.

अमानवीय विचार है कि शक्ति के संघर्ष मे दुर्बल जीवो का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, ऐसा प्राकृतिक
नियम है। वस्तुतः मत्स्य न्याय का यह सिद्धान्त समाज पर लागू नही होता। मनुष्य एक सभ्य प्राणी
है और उसमे परोपकारी तत्त्व विद्यमान हैं। साथ ही राज्य का भी यह कर्त्तव्य है कि वह निर्बलो एव
साधनहीनो की रक्षार्थ विशेष उपाय करे। राज्य अपने सभी घटको को उन्नति एव विकास के समान
अवसर प्रदान करता है।

5 स्पेंसर ने व्यक्तिवाद के समर्थन मे जो सावयवी तर्क दिए हैं, वे भ्रमपूर्ण हैं। आर्थिक
हस्तक्षेप की नीति का औचित्य यह कहकर सिद्ध नही किया जा सकता कि "आर्थिक जीवन-प्राणी सावयव
के पाचनतन्त्र की भाँति मस्तिष्क रूपी शासन-व्यवस्था से मुक्त होना चाहिए।" वास्तव मे पाचन-प्रणाली
मस्तिष्क मे पूर्णत स्वतत्र नही है और यदि उसमे स्वतन्त्रता आ जाती है तो स्वास्थ्य ठीक नही रह
सकता। इसलिए राज्य मे भी आर्थिक व्यवस्था पर मे राज्य के हस्तक्षेप को समाप्त नही किया जा
सकता, क्योकि ऐसा करने से सामाजिक जीवन मे अनेक दोष आ जाएँगे। स्पेंसर ने व्यक्ति और समाज
का तो एकीकरण किया है, पर राज्य को, जो समाज का ही एक अग है, व्यक्ति और समाज दोनो को
पृथक् करने तथा उसे एक-दूसरे से स्वतत्र करने की असफल चेष्टा की है। व्यक्ति तो एक प्राणी है।
स्पेंसर अपने प्राणिशास्त्र के सिद्धान्त को समाज और राज्य पर लागू कर उन्हे भी प्राणी बना देता है।
व्यक्ति के अभाव मे समाज अथवा राज्य का निर्माण नही हो सकता, अत. व्यक्ति को वह समाज रूपी
प्राणी का अंग मान लेता है। समाज का अभिन्न अग होते ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है
और वह राज्यो के प्रति अपने कर्त्तव्यो से अथवा राज्य या समाज के नियन्त्रण से स्वय को मुक्त नही
कर सकता क्योकि स्पेंसर के प्राणिशास्त्र मे राज्य नाडी-सस्थान है जो समाज रूपी प्राणी के बाह्य
नियन्त्रण का केन्द्र है। जब व्यक्ति समाज रूपी प्राणी का अभिन्न अग है तो फिर वह उसके
नियन्त्रण से कैसे बच सकता है ? वह व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध खडा करने की तार्किक असगति का
अपराधी है।

6 स्पेंसर ने अग और शरीर दोनो को प्राणी का रूप देने की गलती की है। व्यक्ति और
समाज दोनो अभिन्न होने के कारण पृथक् पृथक् प्राणी किस प्रकार हो सकते हैं ? शरीर का कोई भी
अग अलग होकर स्वतन्त्र प्राणी नही कहला सकता। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि समाज को यदि वह
एक प्राणी जैसी सस्था का सगठन मानता तो तार्किक असगति पैदा न होती, लेकिन उसने दोनो को जीव
मानकर उन्हे एक दूसरे का अग बना दिया है जो सम्भव नही है। दोनो को अलग-अलग प्राणी मानने
का उद्देश्य व्यक्ति को राज्य से स्वतत्र करना था। पर व्यक्ति राज्य से पृथक् तो है नही, इसलिए उसे
अन्त मे राज्य और व्यक्ति को एक ही प्राणी के अग मानने को बाध्य होना पडा है।

7 यही नही, स्पेंसर समाज रूपी प्राणी के अनेक टुकडे करता है। इसीलिए बार्कर ने अपनी
व्यग्यात्मक भाषा मे कहा है, "स्पेंसर ने अपने सामाजिक प्राणी की हत्या कर उसे अनेक टुकडो मे बाँट-
कर दरवाजे के बाहर फेंक दिया है।"[1] समाज रूपी प्राणी के वह तीन टुकडे करता है—व्यक्ति,
औद्योगिक क्षेत्र और राज्य। औद्योगिक क्षेत्र इस जीव का उदर है क्योंकि उससे सम्पूर्ण समाज का
भरण-पोषण होता है। राज्य इस जीव का नाडी-सस्थान है जिसके द्वारा सम्पूर्ण बाह्य व्यवस्था का
संरक्षण और समाचार सस्थान एव यातायात का प्रबन्ध होता है अर्थात् वह मस्तिष्क है। इसके बाद
मस्तिष्क और उदर को एक-दूसरे से स्वतत्र कर दिया जाता है। उदर पर मस्तिष्क का कोई नियन्त्रण
नही रहता। यह नियन्त्रण उसी तरह नही रहता जिस तरह 'धमनी और शिराओ' अथवा 'रेल की
पटरी या टेलीफोन के तारो मे नही रहता।' स्पेंसर का कथन है कि यद्यपि रेल की पटरी और टेलीफोन
के तार एक-दूसरे के समानान्तर और साथ-साथ चलते हैं, तथापि उनमे परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं

1 *Barker*. op cit, p 101.

होता। ठीक उसी तरह राज्य और औद्योगिक क्षेत्र साथ-साथ चलते हुए भी एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन रहकर अपने अस्तित्व को कायम रख सकते हैं। स्पेंसर के प्राणिशास्त्र की भाषा मे मस्तिष्क और उदर अर्थात् एक ही प्राणी के दो अग अलग-अलग अपना जीवन सचालित रख सकते हैं। उसके सिद्धान्त की यह सबसे बडी विफलता है क्योकि "वह अपने प्राणिशास्त्र के सिद्धान्त की अव्यवस्था के कारण अपने ही सिद्धान्त द्वारा पराजित हो जाता है।"

8 सावयवी सिद्धान्त ही वह धुरी है जिसके चारो ओर स्पेंसर का राजनीतिक चिन्तन चक्कर लगाता है लेकिन आलोचको ने इस धुरी की अच्छी तरह खबर ली है। स्थूल रूप से जीवित शरीर के साथ राज्य की तुलना करना भले ही आपत्तिजनक न हो, किन्तु शरीर के अग-प्रत्यग की राज्य सम्बन्धी बातो से तुलना करने पर कठिनाई पैदा हो जाती है। शरीर एक ठोस वस्तु है जबकि राज्य एक भावात्मक सस्था है। एक शरीर का जन्म, वृद्धि, क्षय और मृत्यु के चक्र से गुजरना अनिवार्य है, किन्तु राज्य का नही। वृद्धि, अवनति और मृत्यु राज्य के जीवन की आवश्यक क्रियाएँ नहीं हैं। शरीर में बाल्यावस्था से यौवन और यौवन से वृद्धावस्था तक क्रम स्वाभाविक रूप से चलता है, किन्तु राज्य के विकास और उसकी रूपरेखा में परिवर्तन सम्भव है। प्राणी के शरीर मे कोष्ठ पदार्थ के यान्त्रिक भाग होते हैं जबकि राज्य की रचना करने वाले व्यक्ति विचारवान् तथा राजतत्र विभिन्न दृष्टिकोणो वाले होते हैं। मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता होता है। शरीर के किसी भी अग की अपनी कोई स्वतत्र इच्छा-शक्ति नही होती और न ही उसका कोई स्वतत्र व्यक्तित्व होता है, किन्तु मनुष्यो का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है और उनकी अपनी इच्छा-शक्ति होती है। शरीर के अंग और जीवकोष सम्पूर्ण शरीर पर निर्भर रहते हैं। यदि उन्हे शरीर से पृथक् कर दिया जाए तो वे मर जाते हैं, किन्तु राज्य के अग व्यक्ति राज्य से पृथक् रहकर भी जीवित रह कर कार्य कर सकते हैं। शरीर मे एक चेतना केन्द्र होता है जो राज्य मे नही होता। उदाहरणार्थ, प्रजातत्र मे चेतना सभी व्यक्तियो मे निहित होती है। पुन जीवांग का विकास स्वय होता है, किन्तु राज्य की वृद्धि को नियन्त्रित और निर्देशित किया जा सकता है। राज्य एक मानव सस्था है जिसका विकास मानव-इच्छा एव उसकी क्रियाओ पर निर्भर है। जीवित जीवांग के जीवकोषो के विपरीत राज्य के सदस्यो का कार्य-क्षेत्र राज्य-क्षेत्र के अतिरिक्त भी है। वे और भी कई प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते हैं जिनसे राज्यो का कोई सम्बन्ध नही होता। प्रत्येक जीवकोष तो जीवांग के जीवन को स्थिर रखने के लिए ही स्वयं को नष्ट कर देता है। शरीर अथवा जीवांग का ज्यो-ज्यो विकास होता है त्यो-त्यो उसके अगो की नियन्त्रण शक्ति बढती जाती है। बच्चों का अपने अंग पर इतना नियन्त्रण नही होता जितना वयस्कों का, लेकिन राज्य के विकास की स्थिति भिन्न है। राज्य के विकास का अर्थ है व्यक्ति की स्वतत्रता मे वृद्धि। इसके अतिरिक्त जीवांगो मे शक्ति होती है, किन्तु राज्य के पास कोई शक्ति नही होती।

9 स्पेंसर का सावयव सिद्धान्त राज्य की निरकुशता का प्रतिपादक है। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाए कि राज्य एक पूर्ण अग है और व्यक्ति इसमे जीवकोष के समान है तो इसका स्वाभाविक अर्थ है कि व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए। हिटलर और मुसोलिनी ने इसी आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का निषेध किया था। जैलिनेक ने इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर कहा है कि "हमारे लिए यह उपयुक्त है कि हम पूर्णतया इस सिद्धान्त को रद्द कर दें, अन्यथा इसकी समता की वृहद् राशि उस थोडी सी अच्छाई को भी नष्ट कर देगी जो इस सिद्धान्त मे है।"

10 स्पेंसर की अधिकार सम्बन्धी धारणा भी बहुत दोषपूर्ण है। एक ओर तो वह प्राकृतिक अधिकारो की कटु आलोचना करता है और दूसरी ओर भविष्य के औद्योगिक समाज में उसकी विद्यमानता को स्वीकार करता है। इस प्रकार उसके सिद्धान्त मे द्वन्द्व खडा हो जाता है। एक ही बात को वह एक बार तो स्वीकार करता है और दूसरी बार अस्वीकार। बार्कर के अनुसार—"उसने पहले मे ही एक धारणा बना ली है जिसके फलस्वरूप उसके विचार परिवर्तन और विकास के साथ-साथ

कार्यान्वित नही हो पाते । वह स्थायी प्राकृतिक अधिकारो का परिवर्तनशील एव विकासमय समाज पर आरोपित कर असगति उत्पन्न कर देता है । इस प्रकार उसका सम्पूर्ण दर्शन नैसर्गिक अधिकारो और सावयविक रचना सम्बन्धी रूपको का एक अनुपयुक्त सम्मिश्रण जैसा होकर सकीर्ण और अस्पष्ट हो जाता है ।"

11. स्पेंसर एक निष्पक्ष राजनीतिक विचारक नही था । राज्य के कार्य तथा उसकी सत्ता के विरुद्ध उसके विचार पहले से ही दोषपूर्ण थे । वह यह मानकर चला है कि राज्य व्यक्ति का कभी कोई भी हित नही कर सकता । इस कारण वह राज्य के वरदानो की तरफ आँख उठाकर देख भी नही पाया और केवल काले पक्ष को अतिरजित करता रहा ।

12 स्पेंसर ने विज्ञान की सहायता से राजनीति को वास्तव मे कोई नवीन वस्तु प्रदान नही की । उसने विज्ञान मे केवल अपनी पूर्व-निर्धारित धारणाओ के उदाहरण खोजने का ही प्रयत्न किया । प्रो बाकर के अनुसार ' जब स्पेंसर ने विज्ञान की ओर ध्यान दिया उस समय वह राजनीतिक पूर्वधारणाओ के वशीभूत था और उसने विज्ञान मे एक पूर्व निर्धारित निष्कर्ष के लिए उदाहरण अथवा सादृश्य खोजने का प्रयास किया तथा एक ऐसी कथा को सजोने सवारने का प्रयत्न किया जिसकी रूपरेखा पहले ही बनाई जा चुकी थी ।"

13 वस्तुत व्यक्तिवाद के विरुद्ध दी जाने वाली सभी आलोचनाएँ स्पेंसर पर लागू हो सकती है। स्पेंसर कहता है कि राज्य नित्य नए नियमो को बनाकर व्यक्ति के आचरण मे हस्तक्षेप करता है। उसके अनुसार राज्य को सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा या व्यवसाय-सचालन सम्बन्धी काय नही करने चाहिए किन्तु आधुनिक युग मे यदि राज्य न करेगा तो समाज मे व्यक्ति का जीवन ही असम्भव हो जाएगा ।

14 स्पेंसर विधान-मण्डल द्वारा निर्मित कानूनो की अत्यन्त कठोर आलोचना करता है । वह कहता है कि विधान मण्डल के नौसिखिए सदस्यो को कानूनो का ज्ञान नही होता । किन्तु जब हम आधुनिक व्यवस्थापिका और विधि निर्माण पर दृष्टिपात करते है तो स्पेंसर का यह कथन अधिकांशत लागू नही होता ।

किन्तु इन सब असगतियो के होते हुए भी स्पेंसर के दर्शन की उपेक्षा नही की जा सकती । एक सीमा तक उसका महत्त्व आज भी है और आगे भी रहेगा ।

स्पेंसर का मूल्यांकन
(Estimate of Spencer)

अनेक कमियो के बावजूद स्पेंसर 19वी शताब्दी के विकासवादी चिन्तन का प्रमुख दार्शनिक था और वैज्ञानिक व्यक्तिवाद का महान् प्रवक्ता था । स्पेंसर का अध्ययन गम्भीर और विशाल था । उसकी मेधा-शक्ति अत्यन्त बलवती थी । समन्वयवादी होने के नाते उसकी तुलना अरस्तू, हीगल और कॉम्टे से की जा सकती है । आज जनता मे मार्क्स की ख्याति स्पेंसर की अपेक्षा अधिक है, लेकिन इसका प्रमुख कारण यह है कि विश्व की दो प्रचण्ड रूसी और चीनी क्रान्तियाँ, मार्क्स को अपना पैगम्बर मानती थी । यदि बौद्धिक विशुद्धता की ओर ध्यान दिया जाए तो सम्भवत स्पेंसर कार्ल मार्क्स की अपेक्षा अधिक विद्वान् था । मार्क्स ने तीन खण्डो मे 'कैपिटल' लिखा है तो स्पेंसर ने तीन खण्डो मे 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' की रचना की है । अपने ग्रन्थो मे समाजशास्त्रीय अनुसधानो मे उसने विकासवाद को अत्यधिक प्रश्रय दिया है ।

स्पेंसर के व्यक्तिवाद को अमेरिका मे सुमनर ने प्रचारित किया । उदारवादी परम्परा मे स्पेंसर का महत्त्व विशेषतः इस बात मे है कि उसने वैज्ञानिको का आधार ग्रहण कर और राज्य की हिंसात्मकता एव पापात्मकता की ओर ध्यान आकर्षित कर उग्र व्यक्तिवाद का पोषण किया । प्रारम्भिक

उदारवाद का सम्बन्ध मानववाद के साथ था, लेकिन स्पेंसर ने उदारवाद को प्रकृतिवाद का वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। इस तरह प्राणिशास्त्र-सम्मत उदारवाद का निर्माण हुआ।

स्पेंसर के जिस सावयवी सिद्धान्त की कटुतम आलोचना की गई है वह अपने आप मे इतना महत्त्वहीन एव अनुपयोगी नही है जितना उसे आलोचकों ने आँका है। राज्य का सावयवी सिद्धान्त राज्य के ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त के महत्त्व पर प्रकाश डालता है, राज्य-संस्था पर पडने वाले प्राकृतिक एव सामाजिक व्यवसाय के प्रभाव को प्रकट करता है, राजनीतिक सस्थाओ और नागरिको की अन्तर्निभरता पर वल देता है, सामाजिक जीवन और इसके समस्त अगो के जटिल सम्बन्धो के आवश्यक तालमेल पर जोर देता है तथा यह बतलाता है कि समाज व्यक्तियों के समूह से कही अधिक है। यह सिद्धान्त व्यक्तियो की मिली-जुली भलाई के नैतिक कर्त्तव्य की ओर सकेत करता है और इस बात पर बल देता है कि राज्य तथा समाज के अन्तर्गत व्यक्ति का कल्याण सम्पूर्ण समाज के कल्याण पर निर्भर करता है।

स्पेंसर के दर्शन के महत्त्व पर अनेक विचारकों ने अपने सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं। सेबाइन ने लिखा है कि "अनेक त्रुटियों के बावजूद उसने सामाजिक शास्त्रो के अध्ययन के क्षेत्र मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। उसने मानव-विज्ञान और जीव-विज्ञान का सम्वन्ध स्थापित किया और इस प्रकार पुराने साहचर्यपरक मनोविज्ञान के रूढ़िवाद को समाप्त किया। उसने राजनीति और नीतिशास्त्र पर समाजशास्त्रीय एव मानवशास्त्रीय अनुसधान और इस तरह सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ मे विचार किया। सश्लिष्ट दर्शन का युग ई बी. टीलर और एल एच. मोरगन के मौलिक तथा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य का युग भी था। मिल की भाँति स्पेंसर ने भी पूर्ववर्ती उपयोगितावादी दर्शन और सामाजिक अध्ययन के बौद्धिक पृथकत्व को समाप्त कर उसे आधुनिक विज्ञान के व्यापक क्षेत्र का एक अग बना दिया। इस रूप मे कॉम्टे के दर्शन का भी बौद्धिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था।"[1]

स्पेंसर के दर्शन का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए फ्लूगल (Flugal) का कथन है—"इसमे कोई सन्देह नहीं कि डार्विन के बाद स्पेंसर ने ही जीव-शास्त्र तथा विज्ञान के विकासवादी सिद्धान्त को कार्यान्वित किया है। वर्तमान युग मे स्पेंसर के विचारो की अत्यधिक उपेक्षा की गई है। उसकी महत्त्व-पूर्ण बातो को चुपचाप लागू कर लिया गया है, लेकिन उसकी त्रुटियो को बढा-चढा कर प्रदर्शित किया गया है। विकास के सम्बन्ध मे स्पेंसर का सिद्धान्त आज भी पर्याप्त मात्रा मे सत्य है। स्पेंसर एक महान् विचारक था तथा जीवन के तथ्यो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी प्रबल आकांक्षा थी। डार्विन के समान वह प्रकृति के निकट सम्पर्क में नही रहा, तथापि उसके विचारों की महानता और उत्कृष्टता की समता आज तक कोई नही कर सका है। यदि पाठक ध्यानपूर्वक उसके सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे तो निश्चय ही उसकी महानता की छाप उन पर पड़े बिना नही रहेगी।"

अन्त मे, मैक्सी के शब्दो मे "हमें स्पेंसर की असफलताओ के कारण उसके प्रभाव के वास्तविक महत्त्व को नही भुला देना चाहिए। उसने राज्य के शरीर सम्बन्धी सिद्धान्त को उच्चता के शिखर तक पहुँचा दिया। यद्यपि वह समाज और शारीरिक जीवन की तुलना को सिद्ध करने मे असफल रहा तथा राजनीतिक-सुधारो का विरोध करने मे उसने अपनी ही धारणाओ अथवा कल्पनाओ का खण्डन किया, तथापि उसने इस तथ्य की पुष्टि करके मानव-समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा की है कि मानव-समाज एक शनै -शनैः जटिलता से उत्पन्न होने वाला तत्त्व है और यह भौतिक शरीर रचना और क्रिया से अधिक भिन्न नहीं है। इस सेवा के समान ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण सेवा उसने इस बात के निरन्तर प्रबल समर्थन द्वारा की है कि सुधार माने जाने वाले कार्य भ्रमपूर्ण हैं और यह भ्रम प्रधानतया अत्यन्त गहरी सामाजिक आदतो और अज्ञान के कारण हैं। उसने कहा कि विधियो अथवा कानूनो द्वारा मानव-चरित्र के परिवर्तन

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 678.

की निर्दयतापूर्ण अनाधिकार चेष्टा से अधिक यातनापूर्ण कार्य कभी भी न सुने गए है और न देखे गए हैं। क्रियात्मक राजनीति क्षेत्र मे स्पेंसर के सिद्धान्त की दृढता से कही अधिक उसका व्यापक प्रभाव रहा है। उसने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त को वैज्ञानिक व्याख्या का आधार प्रदान किया और तत्कालीन वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार इसको सिद्ध कर दिखाया। व्यापारिक सगठनो के युग मे जब औद्योगिक वर्ग बडी लगन से असीम और अबाध व्यक्तिवाद के समर्थन के लिए नवीनतम विचारधारा के निरूपण मे सलग्न था तब स्पेंसर की व्याख्या ने मानव-समाज का महान् कल्याण किया। स्पेंसर द्वारा बौद्धिक विकासवाद के विरोध ने, जिसका केन्द्रीय विकास अहस्तक्षेप (Laissez Faire) का सिद्धान्त था, कॉम्टे द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक अधिकारवाद के विरोध के लिए सम्पूर्ण साधन प्रदान किए थे। स्वतत्र व्यवसाय पर विश्वास रखने वाले निर्विवाद रूप से स्पेंसर के झण्डे के नीचे एकत्र हो गए थे। वे भावी पीढियो की सहायता के लिए यह विचारधारा प्रदान कर गए हैं।"

थॉमस हेनरी हक्सले
(Thomas Henry Huxley, 1825-1892)

स्पेंसर ने जिस वैज्ञानिक सम्प्रदाय की विचारधारा का प्रवर्तन किया, उसे डार्विन और वालेस के अतिरिक्त हक्सले ने विकसित किया। हक्सले का जन्म स्पेंसर की तरह एक अति निर्धन अध्यापक-परिवार मे हुआ था। केवल दो वर्ष तक एक पाठशाला मे पढने के बाद उसने स्वयमेव इतने परिश्रम से अध्ययन किया कि उसने विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षा बडी सरलता से उत्तीर्ण कर ली। विश्व-विद्यालय मे चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के बाद उसकी नियुक्ति ब्रिटिश नौसेना मे एक सर्जन के रूप मे हो गई। इस स्थिति मे उसे उष्ण कटिबन्धो की वनस्पतियो और प्राणियो के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ। उसने मेरुदण्डीय (Vertebrate) एव मेरुदण्डशून्य प्राणियो की शारीरिक रचना के सम्बन्ध मे कुछ नवीन खोजें की। हक्सले उन्नति के शिखर पर चढता गया बाद मे लन्दन विश्व-विद्यालय के प्रध्यापक, एबर्डीन विश्वविद्यालय के लार्ड रेक्टर, रॉयल सोसाइटी के सभापति एव प्रिवि-कौंसिल के सदस्य के रूप मे उसने वैज्ञानिक प्रसार और उन्नति मे अपने पूर्ण प्रभाव और सामर्थ्य का उपयोग किया।

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे हक्सले ने स्पेंसर से दो बातो मे विशेष रूप से मतभेद प्रकट किया—प्रथम, उसने समाज विषयक दार्शनिक सिद्धान्त के क्षेत्र को प्राकृतिक विज्ञानो के क्षेत्र से पृथक् माना, और द्वितीय, उसने राज्य के कार्य क्षेत्र को विस्तृत और व्यापक बनाया।

स्पेंसर ने प्रकृति और मानव-क्षेत्र मे अभिन्नता का प्रतिपादन किया था। उसने इन दोनो क्षेत्रो को अभिन्न मानकर दोनो पर विकासवाद के नियम समान रूप से लागू किए थे। लेकिन स्पेंसर के विपरीत हक्सले ने दोनो क्षेत्रो को सर्वथा पृथक् और भिन्न बतलाया। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि प्रकृति मे केवल शक्ति का साम्राज्य है। प्रकृति के क्षेत्र मे समस्त प्राणियो मे जीवन के लिए रक्त-रजित जीवन-सघर्ष चलता रहता है। इसमे वही विजयी होता है जो भौतिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होता है। प्रकृति के क्षेत्र मे चलने वाले सघर्ष मे नैतिक उत्कृष्टता का कोई महत्त्व नही है। प्रकृति मे किसी नैतिक मापदण्ड का अस्तित्व नही है। प्रकृति मे तो महत्त्व केवल इस बात का है कि स्वय को परिस्थितियो के अनुकूल किस प्रकार ढाल लिया जाए। प्रकृति के क्षेत्र मे योग्यतम की एकमात्र कसौटी स्वय को परिस्थितियो के अनुकूल बना लेना ही है। प्रकृति मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती है। वहाँ किसी के कोई अधिकार नही होते, केवल शक्ति का बोल-बाला होता है। प्रकृति मे पाशविक शक्तियाँ ही अधिकार का रूप ग्रहण कर लेती है। अपनी शक्ति के बल पर जो जितना हस्तगत कर लेते हैं उस पर उनका अधिकार हो जाता है। इस तरह, प्रकृति मे सर्वत्र केवल शक्ति का ही साम्राज्य है, नैतिकता का वहाँ कोई महत्त्व नही है।

प्रकृति के क्षेत्र मे शक्ति का प्रतिपादन करते हुए हक्सले ने स्पष्टत मानव-क्षेत्र मे नैतिकता के साम्राज्य का प्रतिपादन किया है। उसका कथन है कि मानव-समाज के क्षेत्र मे नैतिकता का यह

साम्राज्य है। नैतिकता का यह साम्राज्य मनुष्य-निर्मित कृत्रिम नैतिक जगत् है जिसमे अधिकारो का निर्णय नैतिकता के आधार पर होता है। यद्यपि मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव रहता है, तथापि वह प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध निरन्तर विद्रोह और सघर्ष द्वारा अपनी परिस्थितियो मे सुधार करता रहता है। प्रकृति के क्षेत्र मे मनुष्य को एक ऐसी दुनिया के दर्शन होते हैं जहाँ प्रत्येक प्राणी दूसरे प्राणी को नष्ट कर देने या खा जाने को तत्पर है लेकिन मनुष्य ऐसा वातावरण नही चाहता। मनुष्य स्वभावत एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना का आकांक्षी होता है जिसका उद्देश्य मनुष्यो की भलाई और सुरक्षा हो। मनुष्य बलपूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित करने के स्थान पर नैतिक बल और आत्म-सयम को महत्त्व देता है। वह प्रतिस्पर्द्धा का स्थान सहयोग को देना चाहता है। एक-दूसरे को शक्ति द्वारा कुचलने के बजाय मनुष्य एक-दूसरे की सहायता करने की भावना को आवश्यक समझता है। मनुष्य 'योग्यतम की विजय' (Survival of the Fittest) के सिद्धान्त के स्थान पर अधिकाधिक व्यक्तियो को सहायता देकर जीवित रखने का प्रयास करता है। मानव-समाज मे मनुष्य का प्रयत्न यही रहता है कि नैतिक दृष्टि से उत्तम व्यक्तियो को समाज मे उच्च स्थान प्राप्त हो और बुरे व्यक्तियो को निम्न स्थान मिले। इसी भावना और इसी प्रकार की क्रियाशीलता के कारण मानव-समाज मे नैतिकता का विकास होता है।

पर उक्त सदर्भ मे स्वत यह मौलिक प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्यों मे सद्गुणो के साथ दुर्गुणो का भी वास है, वह अतिशय स्वार्थी भी है, और तब उसमें परमार्थ की प्रवृत्ति का उदय किन कारणो से होता है। हक्सले ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि मनुष्य मे अनुकरण (Imitation) की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मनुष्य अपने साथियो जैसा बनना चाहता है। वह अपने कार्यों के लिए अपने साथियो का समर्थन और उनकी स्वीकृति प्राप्त करना चाहता है। यह तभी प्राप्त हो सकता है जब वह अपने साथियो के हितो का ध्यान रखे इसी कारण स्वार्थपरता के होते हुए भी मनुष्य मे दूसरो के हितो का महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति का *आविर्भाव और नैतिकता का विकास होता है*। बार्कर के शब्दो मे, "हम गिरगिट की तरह आस-पास के वातावरण का और अपने साथियो का रग ग्रहण कर लेते है और पडोसियो के हितों का पूरा ध्यान रखते है। यही हमारे समाज का और हमारी नैतिकता का आधारभूत मौलिक तत्त्व है"

मानव क्षेत्र और प्रकृति के क्षेत्र में विस्तार से भिन्नता प्रकट करते हुए राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे हक्सले राज्य के व्यापक कार्यक्षेत्र का प्रतिपादन करता है। मानव समाज की भलाई करने की दृष्टि से वह राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाता है। उसका विचार है कि मानव-समाज हितो की पूर्ति के लिए राज्य कोई भी कार्य कर सकता है। इस प्रकार हक्सले मानव-समाज के हितो की पूर्ति के मार्ग मे राज्य के कार्यों पर कोई सीमा नही लगता। बार्कर के शब्दो मे, "प्राकृतिक वन को मानव-समाज का सुन्दर उद्यान बनाने के लिए और इसमे शान्ति स्थापित करने के लिए राज्य को सभी प्रकार से प्रयास करने चाहिए। जहाँ स्पेंसर राज्य द्वारा मनुष्य को शिक्षा देने का घोर-विरोध करता है, वहाँ हक्सले राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा का समर्थन करता है। हक्सले की मान्यता है कि समाज मे शान्ति स्थापना और इसकी उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य व्यक्ति को अनिवार्यतः शिक्षा प्रदान करे। स्पेंसर के अराजकतावाद से भी हक्सले सहमत नही है। वह राज्य-सस्था की उपयोगिता और आवश्यकता मे अपना विश्वास व्यक्त करता है।"

33 बेजहॉट, वैलास, मेक्डूगल

(Bagehot, Wallas, McDugal)

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे यदि सामाजिक विज्ञान प्राणिशास्त्र से प्रभावित था तो इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध ने सामाजिक सिद्धान्तवादियो को प्राणिशास्त्र से मनोविज्ञान की ओर प्रवृत्त होते हुए देखा। वस्तुत प्राणिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को सरलता से सम्बद्ध नही किया जा सकता क्योकि प्राकृतिक विश्व की प्रक्रिया और मानव-समाज की नैतिक प्रक्रिया मे आधारभूत अन्तर है। प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) के सिद्धान्त को मानव जगत पर समुचित रूप से लागू नही किया जा सकता। मनुष्य अन्ततोगत्वा एक नैतिक प्राणी है अत उसका शुभ भी स्वभावतया नैतिक (Moral Good) होना चाहिए और मनुष्य के विकास का मापदण्ड उनके नैतिक गुणो का विकास होना चाहिए। प्राकृतिक चुनाव मे न तो नैतिकता का स्थान होता है और न ही वहाँ किसी प्रकार का नैतिक स्तर या मापदण्ड होता है। बार्कर के शब्दो मे, "प्रकृति न तो नैतिकताओ अथवा सदाचार को ही जानती है और न वह किसी नैतिक मापदण्ड से ही परिचित होती है। उसके योग्यतम का मापदण्ड कोई निरपेक्ष मूल्य नही है, प्रत्युत् पर्यावरण से अनुकूलीकरण का सापेक्ष मापदण्ड है और यदि मानव-जीवन की स्थितियाँ निम्नकोटि की है तो प्रकृति के योग्यतम भी निम्नकोटि के ही होगे, चाहे मानव-जीवन के मूल्यो के किसी भी मापदण्ड से उन्हे देखा जाए......प्रकृति के कानून निर्मम तथ्यो के सरल कथन हैं, उसके अधिकार पाशविक शक्तियाँ मात्र हैं। इस क्षेत्र मे स्वतन्त्रता अथवा समानता के नैतिक अधिकारो का प्रवेश निरर्थक है।"[1]

इस आधारभूत दोष के कारण आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के प्रति प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण सफल नही हो सकता। स्पेंसर के बाद के विचारको ने इस तथ्य को समझा। परिणामस्वरूप राजनीति के प्रति प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण मे सशोधन किया गया और अन्त मे उसका परित्याग कर दिया गया। 20वी शताब्दी के सामाजिक सिद्धान्तवादी मनोविज्ञान की ओर प्रवृत्त हुए और वे जन्मजात प्रवृत्ति 'प्रोत्साहन', 'विवेक' और 'इच्छा' (Instinct, Impluse, Reason and Will) पर बल देने लगे। आजकल रीति-रिवाजो, परम्पराओ, सामूहिक मनोविज्ञान और सार्वजनिक मत की प्रकृति (Custom, Tradition, Psychology of Crowds and the Nature of Public Opinion) पर अधिक बल दिया जाता है। आधुनिक काल मे सामाजिक समस्याओ के निवारण के लिए मनोविज्ञान के प्रयोग के इस आन्दोलन का प्रणेता वॉल्टर बेजहॉट (Walter Bagehot) को माना जा सकता है। बार्कर के अनुसार, "जब से बेजहॉट ने 'Physics and Politics' की रचना की, तभी से राजनीतिक सिद्धान्तवादी सामाजिक मनोवैज्ञानिक बन गए। वे सामूहिक जीवन के तथ्यो पर इस धारणा के आधार पर पहुँचे है कि ये तथ्य समूह-चेतना के तथ्य हैं जिनकी व्याख्या करना उनकी समस्या है और यह

1 *Barker* : Political Thought in England, 1818 to 1914, p. 115-116.

व्याख्या उसी प्रकार की जा सकती है जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान पदार्थ के तथ्यों की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त करता है।"[1] मानव-जीवन की समस्याओ के समाधान मे मनोविज्ञान का प्रयोग आज का फैशन बन गया है। यह कहना सही है कि यदि हमारे पिता और पितामह प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से सोचते थे तो हमने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचना आरम्भ कर दिया है। यह मनोविज्ञान का युग है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि राजनीतिशास्त्र मे मनोविज्ञान का प्रयोग पूर्णतः एक नवीन दृष्टिकोण है। इसका प्रयोग पहले भी किसी न किसी रूप मे होता रहा है। यह सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टियो से प्राचीन है। प्लेटो से पूर्व प्रोटेगोरस और जार्जयाक ने इसका प्रयोग किया था। मनोविज्ञान की परम्परा को राजदर्शन मे प्रयोग करते हुए प्लेटो ने कहा था कि मनुष्य का मस्तिष्क विविधांगीय है जिसके तीन पक्ष हैं—विवेक, साहस और क्षुधा। इसी आधार पर प्लेटो ने नागरिको को तीन वर्गों मे विभक्त किया—दार्शनिक, जो बुद्धि के प्रतीक हैं; सैनिक, जो साहस के प्रतीक हैं, और कारीगर, जो क्षुधा प्रतीक है। इसी भाँति अरस्तू ने भी अपने राजदर्शन का निरूपण मनोविज्ञान या मस्तिष्क के अध्ययन से आरम्भ किया, किन्तु मस्तिष्क की विशेषता विविधांगीयता बतलाई। प्लेटो और अरस्तू दोनो ने अपने राज्य-सिद्धान्त की रचना मनोवैज्ञानिक धारणा और मानव-प्रकृति के विश्लेषण के आधार पर की। इनके बाद मध्यकाल तक मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रायः लोप ही रहा। मैकियावली ने इसका पुनरुद्धार किया। तत्पश्चात् हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम और अन्य दार्शनिको ने मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। आधुनिक समय मे इगलैण्ड मे कोल (Cole) और लास्की (Laski) ने भी राजदर्शन के अध्ययन को एक बडी सीमा तक मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित किया। कोल के अनुसार राजदर्शन एव मनोविज्ञान पूरक विधाएँ है क्योकि इन दोनो का ही सम्बन्ध मस्तिष्क की सक्रियता से है। लॉस्की के मतानुसार मानव-व्यक्तित्व के अनेक पहलू इसलिए होते हैं क्योकि मानव मस्तिष्क विभिन्न प्रकार की क्रियाओ का केन्द्र है। अमेरिका मे इस विधि का प्रयोग जी. समतल, रिडिंग्स, रॉस, सी. एच कूली, मेकाइवर, लॉवेल, जे. एल. वाल्डविल आदि ने किया है।

प्रस्तुत अध्याय मे बेजहॉट, ग्राहम वैलास तथा विलियम मेक्डूगल—इन तीन प्रमुख मनोवैज्ञानिक दार्शनिको के चिन्तन पर विचार किया जाएगा।

वॉल्टर बेज़हॉट

(Walter Bagehot, 1826–1877)

सक्षिप्त जीवन-परिचय एव रचनाएँ

वॉल्टर बेज़हॉट एक मेधावी अग्रेज बैंकर, अर्थशास्त्री और सम्पादक था। वह लन्दन विश्वविद्यालय की गौरवपूर्ण देन था। उसने अधिकांश समय या तो एक सफल बैंकर के रूप मे अथवा प्रसिद्ध पत्रिका 'The London Economist' के सम्पादक के रूप मे व्यतीत किया। यद्यपि वह लिबरल पार्टी के कजरवेटिव पक्ष से सम्बन्धित था और लिबरल पार्टी के सदस्य की हैसियत से उसने ससदीय चुनाव (जिसमे वह सफल नही हुआ) भी लडा था, तथापि वह सदैव उदार-मस्तिष्क, सहिष्णु और सार्वजनिक प्रश्नो के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखने वाला था। इस प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का देहावसान सन् 1877 मे हुआ।

बेजहॉट ने अनेक पुस्तकें लिखी और समकालीन विद्वानो को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। उसकी प्रसिद्ध पुस्तकें ये है—

1 Physics and Politics.
2 The English Constitution.
3 Lombard Street

1 *Barker* : op. cit , p. 128–29

बेजहॉट का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
(The Psychological Approach of Bagehot)

बेजहॉट ने राजनीतिक समस्याओ के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान का खुलकर प्रयोग किया है। 'Physics and Politics' की विषयवस्तु मानव-ज्ञान है न कि भौतिक विज्ञान। उसकी पुस्तक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। बेजहॉट के पहले अनेक सामाजिक विचारको ने मानव-स्वभाव एव मानव-शक्तिय' से सम्बन्धित कुछ मान्यताओ पर विचार किया था। बेजहॉट को नवीनता इस बात मे है कि उसने इन मान्यताओ को पृथक् करके उन्हे अपने अध्ययन और विश्लेषण का विषय बनाया। उसने पूर्ववर्ती विचारको की मान्यताओ का नियमबद्ध वर्णन एव अध्ययन किया है। उसने उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट करने की चेष्टा की है जिनके बिना प्रागऐतिहासिक काल से आरम्भिक काल और आरम्भिक काल से आधुनिक काल तक के समाज-विकास का व्यवस्थित रूप से वर्णन नही किया जा सकता।

बेजहॉट के सामने मुख्य समस्या यह थी कि यदि मनुष्य के सम्बन्ध मे प्राकृतिक चुनाव को स्वीकार कर लिया जाए तो पाशविक स्तर से मानवीय स्तर मे मनुष्य किस प्रकार आया ? प्रो हर्नशा ने इस समस्या को, जिसे बेजहॉट हल करना चाहता था, इन शब्दो मे व्यक्त किया है, "यदि हम प्राकृतिक चुनाव को यथार्थ मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि मानव-जीवन सघर्ष के पाशविक स्तर से सामाजिक मनोवैज्ञानिक परम्पराओ पर क्यो आधारित है ?"

राजनीतिक विकास के बारे मे बेजहॉट के विचार
Bagehot on Political Evolution)

आज जो समाज का रूप है उस तक पहुँचने के पूर्व मानव की जो अवस्थाएँ थी, वे बेजहॉट के अनुसार तीन है—समाजविहीन अवस्था (The Stage of Non-polity), स्थिर समाज की अवस्था अथवा सघर्ष युग (The Stage of Fixed Polity or the Fighting Age) एव परिवर्तनशील समाज की अवस्था या विचारविनिमय का युग (The Stage of Flexible Polity or the Age of Discussion)। प्रथम समाजविहीन अवस्था मे मनुष्य एकान्त व्यक्तियो (Isolated Individuals) की तरह या ऐसे छोटे-छोटे कम सगठित परिवार समूहो (Small Loosely Knit Family Groups) मे रहते थे। इस अवस्था मे मानव-जीवन भावात्मक था जिसमे ज्ञान-विज्ञान को स्थान था न कि परम्परा को। मानव जीवन की इस अवस्था की तुलना हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से की जा सकती है। बेजहॉट के अनुसार "दूसरे विभागो मे प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के विरुद्ध चाहे कुछ भी कहा जाए, किन्तु प्रारम्भिक मानव-इतिहास मे इसकी प्रधानता के बारे मे कोई सशय नही है। उस समय शक्ति-सम्पन्न कमजोरो का हनन करते थे।"

प्रारम्भिक आदिम जीवन की भीषणता से मनुष्य को एक अप्रत्यक्ष शिक्षा प्राप्त हुई जिसके परिणामस्वरूप मानव-स्वभाव मे एक सशोधन हुआ। अब मनुष्य मे रक्त के आधार पर सगठित जीवन की एकता का समावेश हुआ और अब मनुष्य पारिवारिक सगठन का अनुभव करने लगे। उनमे यह चेतना जाग्रत हुई कि अस्तित्व के लिए सघर्ष मे वे ही व्यक्ति बचे रहते हैं जो रक्त और नेतृत्व के आधार पर एक सगठित समूह का निर्माण करने के लिए अन्य व्यक्तियो से सहयोग एव सगठन के सूत्र मे बँधे रहते हैं। पर प्रश्न यह है कि अस्तित्व के लिए सघर्ष के पाशविक-स्तर से सामाजिक सगठन और सहयोग के मानवीय-स्तर तक का यह महान् परिवर्तन किस प्रकार हुआ। बेजहॉट के लिए परिवर्तन की यह समस्या आधारभूत थी तथा मानवता के समस्त विकास को समझने की उसके लिए यह कुञ्जी भी थी।[1] बेजहॉट ने इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर दिया है और यह बतलाया है कि मनुष्य के पाशविक-स्तर तक पहुँचने का एक बहुत बडा इतिहास है तथा मानव-स्तर

1 *Bagehot* : Physics and Politics, Works VIII, p. 16.

उनकी निरन्तर विकास की अवस्था का परिणाम है। मनुष्य का विकास इसलिए होता है कि "उसका मस्तिष्क एक अलौकिक ढग से उनके स्नायुओ पर क्रिया करता है और उनके स्नायु उतने ही अलौकिक ढग से परिणामो को एकत्र कर लेते हैं और किसी प्रकार उसके परिणाम सामान्यतः उसकी आने वाली पीढियो मे सक्रान्त हो जाते हैं।"[1] अभिप्राय यह है कि मनुष्य अनुभव द्वारा ज्ञान संचित कर विकास करता है और मनुष्य के विकास से समाज का विकास होता है। लैमार्क और स्पेंसर दोनो वशानुक्रम के विकास को स्वीकार करते हैं। बेजहॉट ने विकास का सिद्धान्त प्राणिशास्त्र से ही ग्रहण किया है जो उस समय विकास के क्षेत्र मे बहुत प्रचलित था। बेजहॉट ने ज्ञात किया कि विकास के परिणामस्वरूप पीढ़ियों मे नवीन गुणो का आविर्भाव होता है अर्थात् प्रत्येक पीढ़ी अपनी पहली पीढी से विरासत मे कुछ गुण प्राप्त करती है। पीढियो मे आने वाले गुणो मे कुछ प्राकृतिक होते हैं तो कुछ मनोवैज्ञानिक। मनोवैज्ञानिक भाग के अन्तर्गत प्रचलित परम्पराएँ और प्रथाएँ, जिनके बीच हमारा विकास होता है, हमें बहुत प्रभावित करती हैं। बेजहॉट ने प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक गुणो (भागो) के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करने और यह बतलाने का प्रयत्न किया कि मानव स्वय अपने लिए किस भाँति परम्परा का निर्माण करता है। उसने यह भी देखा कि आधुनिक राज्य का निर्माण मुख्यतः वही करते हैं। यह अनुभव किया गया कि अस्तित्व के लिए संघर्ष मे परिवारो का वह एक छोटा समूह भी, जो चाहे किसी एक ढीले नेतृत्व मे ही सगठित क्यो न हो, उन अनेक परिवारो के समूहो से अधिक अच्छी स्थिति मे रहेगा जो किसी एक नेता के आज्ञानुवर्ती नही होते बल्कि चारों ओर बिखरे हुए होते हैं और उसी तरह बिखरे हुए सघर्षरत होते है। इस स्थिति से तो होमर के साइक्लोप भी अत्यन्त कमजोर समूह के सामने शक्तिहीन प्रमाणित होगे।[2]

सामाजिक विकास की प्रक्रिया मे द्वितीय अवस्था तब उत्पन्न हुई जब समूहो मे अस्तित्व के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप केवल वे ही समूह बचे एवं समृद्ध हुए जो सर्वाधिक संगठित थे, सर्वोत्तम रूप से अनुशासित थे और जिनके चरित्र अथवा गुणो मे सर्वाधिक साम्य था। इस अवस्था का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, लेकिन बेजहॉट इसे प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) की क्रिया का ही परिणाम मानता है। इस दूसरी अवस्था मे परम्पराओ की प्रधानता थी। व्यक्तियो के जीवन को एक निश्चित ढाँचे मे ढालने के लिए उन पर परम्पराओ को लादा जाता था। इकाई समूह होते थे, व्यक्ति नही। इसी कारण बेजहॉट ने उसे 'स्थिर समाज की अवस्था'[3] (The Stage of Fixed Society) कहा है। चूँकि यह अवस्था सघर्षपूर्ण थी, अतः इसे सघर्ष युग (The Fighting Age) के नाम से सम्बोधित किया गया। इस अवस्था के संगठित और अनुशासित जीवन से ही राजनीतिक जीवन का उदय होता है। इस अवस्था मे समूह के प्रत्येक सदस्य से समूह के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता की अपेक्षा की जाती थी और समूह से असहमति के लिए कोई स्थान नही था। व्यक्ति के जीवन का सूक्ष्मतम आचरण भी समूहगत रिवाज या परम्परा से अनुशासित था। अनुकरण (Imitation) ही उस समय की माँग थी। यह समझ लिया गया था कि यदि समूह के व्यक्ति समूह की आज्ञापालन करेंगे तो समूह शक्तिशाली बना रहेगा। बेजहॉट इस बात पर बल देता है कि संघर्ष मे सगठित और अनुशासित समूह ही बचते और प्रगति करते हैं। उसके स्वय के शब्दो मे, "यदि तुममे एक दृढ सहयोगपूर्ण एकता-सूत्र नही है तो एक ऐसा समाज, जिसमे एक ऐसा एकता सूत्र विद्यमान है, तुम्हारे समाज को परास्त कर समाप्त कर देगा।"[4] प्रश्न उठता है कि समूह के व्यक्ति-समूह अथवा समूह के प्रमुख की आज्ञा क्यो मानते हैं? बेजहॉट का कहना है कि राजनीतिक शक्ति आवश्यक होते हुए भी अपर्याप्त है, अत उसके साथ धार्मिक शक्ति भी संयुक्त की

1 *Hearnshaw* : Social & Political Ideas of Thinkers of the Victorian Age, p. 202.
2 *Bagehot* · Physics and Politics.
3 *Bagehot* · op cit., p. 16.
Bagehot . op cit , p. 38.

जानी चाहिए। आरम्भिक राजनीतिक समुदायों के प्रति व्यक्तियों मे पूर्ण आज्ञापालन का भाव इसलिए था क्योंकि उस समय राज्य और धर्म का पृथक्करण नहीं हुआ था। स्थिरता के लिए दोनो की एकरूपता आवश्यक थी। समूह के परम्परागत कानून (Customary Laws) के प्रति लोगो मे अन्धविश्वास बना रहे, इसलिए उस परम्परागत कानून को राजनीतिक और धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती थी। स्वय बेजहॉट के शब्दो में, "उस आज्ञाकारिता को प्राप्त करने की प्रथम शर्त यह है कि राज्य और धर्म मे एकरूपता हो.......यहाँ सम्पूर्ण मानव-जीवन को विनियमित करने के लिए एक ही शासन की आवश्यकता है। उस समय शक्ति-विभाजन खतरे से खाली नही होता और सम्भवतः विनाश का भी कारण बन सकता है। ऐसा नही होना चाहिए कि धर्म-पुरोहित कुछ शिक्षा दे तथा राजा कुछ और। राजा को धर्म-पुरोहित होना चाहिए और धर्म-पुरोहित को राजा। दोनो को एक ही बात कहनी चाहिए, क्योंकि वे एक ही हैं। आध्यात्मिक और वैधानिक दण्डो के मध्य भेद का विचार कभी नही उठने देना चाहिए। हम आज राजनीतिक दण्ड और धार्मिक निषेध तथा सामाजिक प्रतिबन्ध की चर्चा करते हैं, किन्तु उस समय ये सब बाते एकरूप थी।"[1]

स्पष्ट है कि सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था स्थिरता की थी जिसमे प्रथा की प्रधानता थी और एक सामान्य जीवन-पद्धति को लादा जाता था। इसके बाद विकास की तीसरी अवस्था (जिसमे हम आज रहते है) का सूत्रपात हुआ। यह अवस्था परिवर्तनशीलता की (The Stage of Flexible Society) थी जिसे विचार-विनिमय के युग (The Age of Discussion) के नाम से सम्बोधित किया जाता है इस युग का आगमन कैसे और कहाँ से हुआ, इस बारे मे बेजहॉट मौन है। वह यह स्पष्ट नहीं करता कि स्थिरता की अवस्था से वर्तमान अवस्था के रूप मे एकाएक परिवर्तन कहाँ से आ गया। उसने इसका कारण केवल एक मनोवैज्ञानिक भावना को बताया है जो विचार की भावना है। वह यह मान लेता है कि विकास की प्रक्रिया मे किसी प्रकार विचार-विनिमय की भावना उत्पन्न हो गई। उसका मत है कि जब सगठन की समस्या का अन्त हो जाता है तो यह सन्देह उत्पन्न होने लगता है कि कही प्रचलित परम्परा समाज की गति को अवरुद्ध कर दे और गतिहीन होकर समाज की प्रगति ही न रुक जाए। यह विचार उठने पर समाज परम्परा को तोडना चाहता है, यद्यपि ऐसा करने मे उसे बडी कठिनाई का सामना करना पडता है। परम्परा तोडने के साथ विचार-विनिमय की प्रधानता होती है और प्रचलित प्रथाओ के सम्बन्ध मे विचारो के साथ विवाद-भावना का जन्म होता है। विचार-विनिमय से मानव बुद्धि को रचनात्मक कार्य करने का अवसर मिलता है। यहाँ पर परिवर्तनशील एव अचेतन अनुकरण द्वारा उत्पन्न प्रथा मे समन्वय स्थापित हो जाता है। प्रथा मे परिवर्तन होकर समाज को नया रूप प्राप्त होता है। इससे नवीन विचारो का जन्म होता है और बुद्धि को कार्यान्वित होने का अवसर प्राप्त होता है। विचार-विनिमय से मनुष्य मे सोचने की आदत पैदा होती है और मनुष्य कोई कार्य करने से पूर्व उस पर विचार करने का अभ्यस्त हो जाता है।

बेजहॉट का कहना है कि विकास की गति मे व्यक्ति और राष्ट्र सदा पिछड़ जाते है जो परम्पराओ और प्रथाओ से बँधे रहते हैं। साम्यवादी क्रान्ति से पहले का चीन और 19वी शताब्दी से मध्य का भारत इसके प्रमाण है। ये दोनो राष्ट्र स्वय को अपनी प्रथाओ या रीति-रिवाजो (Customs) से मुक्त नही कर सके और इसीलिए इन्होने बहुत कम उन्नति की। इतिहास साक्षी है कि वे ही राष्ट्र अधिक प्रगतिशील रहे हैं जिन्होने व्यक्तियो को स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने का अवसर प्रदान किया है। बेजहॉट की मान्यता है कि एक बार विचार-विनिमय की प्रक्रिया आरम्भ हो जाने पर विश्व-व्यापक चर्च तथा उपनिवेशीकरण के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है।

बेजहॉट अपने सिद्धान्तो द्वारा यह परिणाम निकालता है कि विचार-विनिमय की प्रक्रिया के फलस्वरूप निरकुश और रूढिवादी शासन के स्थान पर स्वतन्त्र विचार-विमर्श पर आधारित शासन

1 *Bagehot* op cit, p 17-18

(Government by Free Discussion) की स्थापना होती है। इस प्रकार के शासन के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो को वाद-विवाद की स्वतन्त्रता रहनी है। स्पष्ट है कि बेजहॉट के शासन मे प्रजातन्त्र का प्रमुख तत्त्व आ गया है। इस नवीन शासन मे व्यक्ति राजकीय मामलो पर विचार भी कर सकते है और साथ ही उन पर नियन्त्रण भी रख सकते हैं। इस प्रकार बेजहॉट के राजनीतिक सिद्धान्त मे उदारवादी तत्त्व का भी समावेश है। यह उदारवाद केवल उन्ही जातियो के लिए सम्भव है जो पूर्ण अनुशासित हो, अन्य के लिए नही, अतः उसका राजनीतिक सिद्धान्त रूढिवाद से मुक्त नही है। सार रूप मे यह कहना उपयुक्त है कि बेजहॉट मे उदारवादी और रूढिवादी तत्त्वो का सम्मिश्रण (Blending of Liberalism and Conservatism) था।

बेजहॉट का विचार है कि विचार-विनिमय की भावना मानव-प्रकृति मे परिवर्तन ला देगी। यह मनुष्य को जल्दबाजी मे कोई काम करने से रोकने मे सहायक होगी और समस्याओ के समाधान के लिए सघर्ष की अपेक्षा विचार-विमर्श को प्रोत्साहन देगी। सयुक्त राष्ट्रसघ एक ऐसा ही साधन है जिसके द्वारा राष्ट्रो के जल्दबाजी के कार्यो को विलम्बित किया जाता है अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को तलवारो से हल करने की अपेक्षा विचार-विमर्श की तराजू मे तोला जाता है। मनोवैज्ञानिक ढग से बेजहॉट के इस विचार मे निश्चित रूप से सत्यता है। इसमे कोई सन्देह नही कि विचार-विनिमय की आदत का मानव-जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। मानव-सस्थाएँ इससे अप्रभावित नही रहती।

बेजहॉट यह भी मानता है कि मनुष्य जितना बौद्धिक एव तर्कपूर्ण जीवन व्यतीत करेगा उतनी ही उसकी काम-भावना में कमी आएगी। काम-भावना मे ह्रास का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि मनुष्य मे आज जैसी द्रुतगति से सन्तानोत्पत्ति नही करेंगे। बेजहॉट का यह तर्क कहाँ तक सत्य है, इसकी समीक्षा करने की यहाँ कोई आवश्यकता नही है। यह सही है कि विचार-विनिमय से नवीन विचारो का उदय होगा; व्यक्ति के प्राचीन अन्धविश्वास मिटने लगेंगे और मानव-प्रगति का मार्ग प्रशस्त होने मे सहायता मिलेगी।

बेजहॉट और 'अंग्रेजी सविधान'
(Bagehot on English Constitution)

बेजहॉट की अन्य महत्त्वपूर्ण रचना 'The English Constitution' है जो सन् 1896 ई मे प्रकाशित हुई थी और जिसमे उसके कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचार निहित हैं। इस ग्रन्थ मे बेजहॉट ने सविधानो की व्याख्या की है और एक नवीन पद्धति का सूत्रपात किया है। इस ग्रथ-रचना से पूर्व के राजनीतिक विचारक सविधान को केवल एक कानूनी ढाँचा समझते थे और सविधान का अध्ययन विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से करते थे। किन्तु बेजहॉट ने सविधान को जीवन से सम्बन्धित कर उसको जीवित वस्तु की भाँति अध्ययन किए जाने पर बल दिया। उसने न केवल अंग्रेजी सविधान का कानूनी दृष्टिकोण से अध्ययन किया बल्कि उसकी वास्तविक कार्य-पद्धति पर भी मनन किया। साथ ही उसे इंग्लैंड के महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञो के निकट सम्पर्क मे रहने का और उनके विचार जानने का सुयोग भी निरन्तर मिलता रहा। इस सबके परिणामस्वरूप सविधान के बारे मे उसके विचारो मे परिपक्वता और गम्भीरता का समावेश हुआ तथा उसने जो कुछ लिखा उसमे एक बडी सीमा तक यथार्थवादिता आई। उसके विचारो मे उस समय के सविधान-विषयक विचारको मे भी पर्याप्त यथार्थवादिता का सचार हुआ। बेजहॉट ने यहाँ अपनी मनोवैज्ञानिक पद्धति का परित्याग नही किया। उसने अंग्रेजी सविधान (The English Constitution) मे भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी, यद्यपि प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त को उसने अपने इस ग्रन्थ मे यत्र-तत्र वैज्ञानिक ढग से ही प्रस्तुत किया। बेजहॉट ने शासन के ससदीय और अध्यक्षात्मक रूपों का इतना सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया कि वह राजनीतिक विश्लेषण (Political Analysis) का एक अनुपम प्रतीक है जिसने इस विषय पर भावी राजनीतिक

विचारकों को प्रेरणा दी । बेजहॉट के 'English Constitution' के उसके अपने समय के राजनीतिक विचारो की सुन्दर भूमिका उपलब्ध है ।

बेजहॉट का मूल्यॉकन (An Estimate of Bagehot)

बेजहॉट के राजनीतिक विचारो के अध्ययन से विदित होता है कि वह वस्तुत एक विचारोत्तेजक (Suggestive) लेखक था। उसका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Physics and Politics' एक पूर्ण दर्शन-प्रणाली न होकर भावी पीढियो के लिए एक शोध-विवरण पत्रिका 'Research-prospectus' के रूप मे है। बेजहॉट का वास्तविक महत्व इस बात मे है कि राजनीतिक समस्याओ के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने की प्रणाली का वह सच्चे अर्थों मे अग्रदूत था। वही ऐसा प्रथम विचारक था जिसने समाज के विकास मे प्रथा और अनुकरण (Custom and Imitation) की भूमिका का महत्त्व दर्शाया। उसने समाज के विकास के जिन तीन चरणो का विश्लेषण किया वे हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम करते हैं। बेजहॉट के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने अपने बाद के अनेक राजनीतिक विचारकों को आधारभूमि प्रदान की। उनके विचारो के आधार पर ही ग्राहम वैलास, मेक्डूगल, हॉबहाउस, लॉयड मार्गन आदि ने सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र मे ठोस कार्य किया। बेजहॉट का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उसने ससदीय एव अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालियो का अत्यन्त सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और साथ ही राजनीतिक व्यवहार मे निर्धारक शक्ति के रूप मे प्रतीकवाद के महत्त्व को समझा। बेजहॉट के ग्रथो ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। उसकी पुस्तक 'The English Constitution' की सराहना करते हुए डायसी (Dicey) ने लिखा है, "इग्लैण्ड के राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार को स्पष्ट करने के लिए बेजहॉट ने बर्क के पश्चात् अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।" उसके ग्रथ Physics and Politics' के विषय मे मेन (Maine) का कथन है कि "मुझ पर इस पुस्तक से अधिक अन्य किसी पुस्तक का प्रभाव नही पड़ा।" ब्राइस (Bryce) का कथन है कि यदि बेजहॉट अपनी पद्धति को क्रियान्वित करने हेतु जीवित रहता और उसे अपने विचारो को रचनात्मक रूप मे प्रस्तुत करने का अवसर मिला होता तो उसका भी उतना ही महान् प्रभाव पड सकता था जितना मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) और टोक्यूविले (Tocqueville) का पडा था।

ग्राहम वैलास
(Graham Wallas, 1858–1932)

सक्षिप्त जीवन-परिचय और रचनाएँ

ग्राहम वैलास का जन्म सन् 1858 मे एक अग्रेज पादरी परिवार मे हुआ था। उसकी शिक्षा 'श्रीवरी स्कूल' और 'कॉर्पूस क्राइस्ट कॉलेज, ऑक्सफोर्ड' मे हुई थी। प्रारम्भ मे वह एक सामान्य अध्यापक था, किन्तु कालान्तर मे वह एक महान् विद्वान् के रूप मे उजागर हुआ। उसने 'लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स' की स्थापना मे सहयोग दिया और बाद मे इसी सस्था मे उसने लगभग 30 वर्ष तक अध्यापन कार्य किया। वह लगभग 20 वर्ष तक लन्दन विश्वविद्यालय की सीनेट (Senate) का सदस्य रहा। इस हैसियत से उसने लन्दन स्कूल बोर्ड, लन्दन काउण्टी कौसिल तथा रॉयल कमीशन ऑन सिविल के सदस्य के रूप मे इन वैधानिक सस्थाओ की नीति के निर्माण मे भी पर्याप्त योग दिया।

ग्राहम वैलास फैबियन सोसाइटी का एक प्रभावशाली सक्रिय सदस्य भी रहा था। उसने इस विषय मे एक प्रसिद्ध लेख 'Essays on Fabian Socialism' (1889) भी लिखा। वैलास की लेखन-शक्ति बडी प्रबल थी। उसने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथो की रचना की, जिनमें ये प्रमुख हैं—

1. Life of France Place (1898)
2. Human Nature in Politics (1908)
3. The Great Society (1914)
4. Our Social Heritage (1921)
5. Law of Thought (1926)

वैलास की पद्धति (His Method)

ग्राहम वैलास का दृष्टिकोण निश्चित रूप से बुद्धि-विरोधी (Anti-Intellectual) है। राजनीतिक घटना-चक्र की उसने मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। उसके मतानुसार-भावना, आदन, सकेत एव अनुकरण की अचेतन क्रियाएँ ही राजनीति को निर्धारित करती हैं, बुद्धि नही। उसने विचार एव इच्छाओ के समन्वय की विवेचना करके राजनीतिक मनोविज्ञान के बौद्धिक तत्त्व पर बल दिया तथा अनुगमनात्मक शैली (Inductive Method) का अनुसरण किया है। तर्क की गुणात्मक शैली की अपेक्षा उसने सख्यात्मक तर्क-शैली का अनुसरण किया है। यद्यपि उसके विचारो पर मनोविज्ञान के ग्रंथो का प्रभाव है, तथापि उसके निष्कर्ष उसके प्रशासनिक तथा राजनीतिक अनुभवों पर आधारित हैं। ग्राहम के सम्मुख मुख्य समस्या यह थी कि "आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा सचित ज्ञान को एक व्यवसायी विद्वान् के विचारो की प्रक्रिया के परिमार्जन मे किस प्रकार प्रयोग मे लाया जाए।"

ग्राहम वैलास ने लोगों को दैनिक जीवन की कठिनाइयों और निराशाओ से सुरक्षित रखने के लिए राजनीति मे मात्रात्मक पद्धति (The Quantitative Method) अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अनुसार तथ्यो का सकलन तथा उनका विश्लेषण करने के बाद निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए। वह सांख्यिकीय अध्ययन (Statistical Study) पर जोर देता है। उसका कहना था कि राजनीति के छात्र को काल्पनिक व्यक्ति (An Abstract Man) का अध्ययन करने के बजाय ऐसे पूर्ण मनुष्य का अध्ययन करना चाहिए जो भावनाओ (Emotions), उत्तेजनाओ (Impulses) और जन्मजात प्रवृत्तियो (Instincts) तथा प्राकृतिक इच्छाओ से परिपूर्ण हो। उसका आग्रह इस बात पर था कि लोगों को मनुष्य की बौद्धिकता को अनावश्यक महत्त्व देने का अभ्यस्त नही बनना चाहिए और ऐसी आदत को त्याग देना चाहिए।

रोक्को (Rockow) ने ठीक कहा है कि "यदि प्रो. मेक्डूगल प्लेटोवादी है तो प्रो. ग्राहम स्पष्टतया अरस्तूवादी है। उसका दृष्टिकोण संश्लेषणात्मक और अनुगमनात्मक (Synthetic and Inductive) दोनो है।"[1] एक अच्छे डॉक्टर की भाँति वैलास ऐसा चतुर निदानकर्त्ता था जो एक निश्चित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी राजनीतिक बीमारी का निदान कर सकता था। उसने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और इसकी पद्धतियो को राजनीतिक सिद्धान्त एव शासन दोनो पर ही लागू किया। उसने अपने निष्कर्षो को उन तथ्यो पर आधारित किया जो वर्तमान मे हैं, न कि उन पर जो होने चाहिए। अत उसे अरस्तूवादी (Aristotelian) कहना ही उचित है।

मानव क्रियाओ के आधार अथवा प्रेरणा-स्रोत (Basis of Human Action)

वैलास ने अपने तीनो ग्रथो 'ह्यूमन नेचर एण्ड पॉलिटिक्स', 'दि ग्रेट सोसाइटी' तथा आवर सोशल हेरिटेज में राजनीतिक घटनाचक्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है और मानव-कार्य के आधार अथवा प्रेरणा-स्रोतो पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए हैं। वैलास ने अपने ग्रन्थ 'ह्यूमन नेचर एण्ड पॉलिटिक्स' का आरम्भ इन शब्दो से किया था, "राजनीति का अध्ययन अभी आश्चर्यजनक रूप से असन्तोषजनक अवस्था में है।" असन्तोष का कारण उसकी दृष्टि में यह था कि विचारको की लोकतन्त्र मे आशाएँ निष्फल हो चुकी थीं और वे यह मानते थे कि इस निष्फलता का कारण राजनीतिक सस्थाओ के दोष, सीमित मताधिकार की प्रथा और अज्ञानता मे निहित हैं, लेकिन उसका विश्वास था कि वास्तविक कारण कुछ और ही हैं। उसके विचार मे विद्वानो ने मानव-स्वभाव की उपेक्षा करके राजनीति की प्रणाली को दोषपूर्ण बना दिया था। वह यह मानता था कि राजनीतिज्ञ को भावना, भावो तथा बुद्धि से सगठित प्राणी की विवेचना करनी चाहिए, अमूर्त की नही।

1 *Rockow* · Contemporary Political Thought in England, Typed Script, p. 31.

वैलास के पूर्व के राजनीतिज्ञ मानव को पूर्णतया विवेकशील मानते थे जबकि वैलास का विश्वास था कि यदि मानवीय कार्यों का लेखा तैयार किया जाए तो यह प्रमाणित हो जाएगा कि बहुत कम मानव-कार्य बुद्धि से प्रभावित तथा सचालित होते हैं। मनुष्य के कार्य अधिकांशतः या तो आदत के रूप मे होगे या वे भावनात्मक होगे। जहाँ बेन्थम के अनुसार मनुष्य के कार्य-परिणामो का युक्तियुक्त परिकलन (Rational Calculation of the Consequences) से प्रभावित होते है और मेक्डूगल के अनुसार 'मानव-जीवन की दिनचर्या को उसकी नैसर्गिक वृत्तियाँ' (Instinctive Impulses) सचालित करती है तथा जीवन मे विवेक (Reason) का महत्व गौण है, वहाँ वैलास ने इन दोनो सिद्धान्तो मे से किसी का भी अनुसरण न कर मध्यम मार्ग अपनाया।

वैलास के अनुसार मानव-प्रकृति उसकी वशानुगत योग्यताओ की चित्तवृत्तियो (Inherited Dispositions) का योग है। वशानुक्रमगत चित्त-वृत्तियो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—जन्मजात प्रवृत्तियाँ (Instincts) और बुद्धिमत्ता (Intelligence)। इन दोनो को पृथक् करने वाली कोई स्पष्ट रेखा नही है। जिज्ञासा (Curiosity), प्रयत्न और भूल (Trial and Error), विचार और भाषा (Thought and Language), प्रमुख रूप से बुद्धिपूर्ण चित्तवृत्तियाँ हैं और मनुष्य के लिए उसी तरह स्वाभाविक है जैसे उसकी अधिक शक्तिशाली नैसर्गिक चित्तवृत्तियाँ। मनुष्य समुचित दिशाओ मे भय की वृत्ति की भाँति ही सोचने की प्रवृत्ति प्राप्त करता है। सोचना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वैलास के अनुसार सभ्यता का दायित्व है कि वह मनुष्य के स्वभाव और उसके पर्यावरण मे मेल अर्थात् सामञ्जस्य (Harmony) उत्पन्न करे। प्रेम और घृणा दोनो प्राकृतिक चित्तप्रवृत्तियाँ (Natural Dispositions) हैं किन्तु यह सामाजिक आवश्यकता है कि प्रेम अधिक और घृणा कम हो। एक राजनीतिज्ञ के लिए मानव की अधिक महत्त्वपूर्ण भावनाएँ ही आवश्यक हैं, सम्पूर्ण भावनाओ से राजनीतिज्ञ को कोई प्रयोजन नही होना चाहिए। महत्त्वपूर्ण भावो मे प्रेम का प्रथम, भय का द्वितीय तथा सम्पत्ति की इच्छा का तृतीय स्थान है। इसके अतिरिक्त सहकारिता, सन्देह, कौतूहल या जिज्ञासा तथा यश-लिप्सा के भाव भी महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीतिक सिद्धान्तो तथा सगठनो की पुनर्रचना के लिए बुद्धि और सुख की कामना पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योकि मानव-जीवन के निर्माण मे ये मौलिक शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण योग देती हैं।

यह स्मरणीय है कि वैलास ने विवेक को राजनीतिक क्षेत्र से पूर्णत पृथक् नही किया है प्रत्युत् इस बात पर बल दिया है कि राजनीतिक जीवन मे उपचेतन चित्तवृत्तियों (Sub-conscious) का महत्त्वपूर्ण योग है। व्यावहारिक सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब इन उप-चित्तवृत्तियो एव बुद्धिहीन भावनाओ को जाग्रत कर लोकमत का निर्माण किया जाए। अपने बाद के लेखो मे, जबकि वह विचार और इच्छा के सगठन की विवेचना करता है, वैलास मनोवैज्ञानिक राजनीति मे बुद्धि अथवा विवेक तत्त्व पर अधिक ध्यान देता है। मनुष्य का विवेकहीन स्वभाव अस्थिर होता है जो सामाजिक उन्नति के लिए उपयोगी नही है। मानव-समाज के लिए मानव विवेक की विजय ही एकमात्र आशा है। विचार-पूर्णता को उपयुक्त प्रोत्साहन और उसकी प्रगति को प्रयत्नपूर्वक पूर्ण सहायता देने के परिणाम-स्वरूप ही सभ्य समाज का निर्माण सम्भव हो सका है। "विचारपूर्णता की कला की उन्नति होने पर ही हमारे उलझनपूर्ण समाज की बुराइयाँ दूर करने मे मनुष्य की आविष्कारक बुद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।"

वैलास की मान्यता है कि राजनीतिक व्यवहार मे मनोवैज्ञानिक तत्त्वो के अतिरिक्त परिस्थितियो एव पर्यावरण का भी काफी प्रभाव पडता है। यह पर्यावरण (Environment) परिवर्तनशील होता है और प्रत्येक नया पर्यावरण मानव के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करता है। नवीन राजनीतिक व्यवस्थाएँ, आदतें और भावनाएँ परिवर्तनशील राजनीतिक वातावरण की द्योतक होती है।

ध्वज, राष्ट्रीय गान और राजनीतिक दल वे प्रमुख राजनीतिक उपादान हैं जो विचारो और भावनाओ के विकास मे सहयोग देनी हैं। इसका मूलरूप बौद्धिक होता है, किन्तु जनसाधारण के लिए ये भावनात्मक होते हैं और इन भावनाओ को अपील करके ही राजनीतिज्ञ लाभ उठा सकते हैं। राजनीतिज्ञ की कला इसी बात में है कि वह सर्वसाधारण की भावनाओ को उत्तेजित कर उनसे लाभ उठाए। निर्वाचन के समय सभी राजनीतिक दल प्रभावशाली नारे लगाते है और जनता की भावना को अपने पक्ष मे उत्तेजित करने का प्रयत्न करते हैं। निर्वाचन एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अतिरेक (Psychological Orgies) और वशीकरण (Spell Binding) करने का प्रयास बन जाता है। बार्कर के शब्दो मे, "दल के नाम तथा प्रतीक, दल की ध्वजाएँ, नारे तथा गाने निर्वाचक-मण्डल की संकेत-ग्राह्यता को प्रभावित करने के लिए छोड दिए जाते हैं।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त विचारो द्वारा वैलास राजनीतिक जीवन की इस प्रचलित धारणा का खण्डन करता है कि मनुष्यो की प्रवृत्ति अपने-पूर्व-निश्चित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए श्रेष्ठतम साधनो को ध्यान मे रखकर कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। वैलास की धारणा तो यह है कि मनुष्य मे प्रेम और भावना की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जिनके कारण वह अधिकतर सचेतन पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण द्वारा जानने योग्य तथ्यो से भिन्न राजनीतिक प्रतीको की ओर उन्मुख होते हैं।[1] मनुष्य द्वारा अपने कार्यों के परिणामो से सम्बन्धित धारणाएँ किसी बौद्धिक प्रक्रिया का फल नहीं होती बल्कि उनका यह कार्य तो एक बुद्धिशून्य प्रक्रिया होती है। स्वय वैलास के शब्दो मे, "उनके मस्तिष्क एक वीणा की भाँति कार्य करते हैं जिसके समस्त तार एक ही साथ झनझनाते हैं, अतः भावना, अन्तःप्रेरणा आदि प्रायः साथ-साथ चलती है और एक बौद्धिक अनुभव के एक-दूसरे से सयुक्त पहलू होते हैं।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि जब उत्तेजना आदि के वशीभूत होकर व्यक्ति भीड के अग के रूप मे कार्य करता है तो उसकी मानसिक प्रक्रिया का बुद्धिहीन आचरण स्पष्ट हो जाता है। मानसिक और बौद्धिक जीवन के क्षेत्र मे मनुष्य अधिकांशत एक भीड की स्थिति मे रहते हैं और 'बौद्धिक' के स्थान पर निष्कर्ष' की प्रस्थापना करते हे (Substitute non-rational Inference for rational)। नगरीकरण (Urbanisation) द्वारा यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ गई। अब यह आवश्यक नहीं है कि संकेत (Suggestion) का प्रभाव ग्रहण करने के लिए एक स्थान पर एकत्र हुआ जाए। प्रेस, रेडियो, सिनेमाओ आदि के होते हुए भावनाओ के सचालन के लिए किसी एक स्थान पर एकत्र होना आवश्यक नहीं है।

प्रजातन्त्र पर वैलास के विचार (Wallas on Democracy)

वैलास के मतानुसार, '18वीं और 19वी शताब्दी के प्रजातन्त्रवादी दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित प्रजातन्त्र और वास्तविक प्रजातन्त्र मे बडा अन्तर है।" जनसाधारण की अस्थिरता आश्चर्यजनक है और दार्शनिक प्रजातन्त्रवादियों मे जिस प्रजातन्त्र की चर्चा की है वह केवल प्रचार द्वारा भावनाओ पर विजय प्राप्त करना मात्र है। मतदाताओ की उपचेतन मन स्थिति (Sub conscious Mental Life) से अनुचित लाभ उठाकर बहुमत प्राप्त कर लिया जाता है। मतदाताओ को बिना समझे-बूझे किसी विशेष समस्या पर मतदान करने के लिए उकसाया जाता है। यदि व्यक्ति किसी दल को मत देता है तो इसका आशय यह नहीं है कि उसने बडे सोच-विचार के बाद ऐसा किया है, बल्कि वास्तविकता तो यह है कि दल विशेष चालाकी और धोखे से उस व्यक्ति की भावना को अपने पक्ष मे कर लेता है। मतदाताओ को समाचार-पत्रो व विज्ञापनो द्वारा सम्मोहित करके और व्यावसायिक प्रत्याशियो को खडा करके बहरा बना दिया जाता है। मतदाताओ को जनमन पर नियन्त्रण करने वाले सभी साधनो के माध्यम से प्रभावित किया जाता है। उन्हे घृणा तथा उत्तेजना को प्रोत्साहन देने के लिए विवश कर दिया जाता हैं। शक्तिशाली पूँजीपतियो के गुट जनमत पर अपने शक्ति-सम्पन्न साधनो द्वारा अनुचित प्रभाव डालते है। राजनीतिज्ञ जनता के मतो को प्राप्त करने के लिए नामो, चित्रो, चिह्नो आदि का प्रयोग करते है। भारत जैसे देश मे, जहाँ अधिकांश जनता अशिक्षित है, चिह्नो का बहुत अनुचित लाभ

लिप्त रहने से बचना चाहिए और अपने विचारों में मौलिकता लानी चाहिए। वर्तमान वातावरण पदाधिकारियों में मौलिकता की उन्नति में बाधक है और इसमें संकीर्णता की भावना प्रधान है। यही कारण है कि सामान्य बातों के प्रबन्ध में तो अवश्य दक्षता दिखाई पड़ जाती है, लेकिन शासन के मौलिक सिद्धान्तों के आविष्कार में शून्यता ही परिलक्षित होती है। प्रशासन नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार से वंचित रहता है।

अन्त में, वैलास का यह विचार भी उल्लेखनीय है जिसमें वह राज्य की इच्छा को संगठित करने की विधि बतलाता है। उनके अनुसार राज्य की इच्छा का निर्माण व्यक्तिवादी, समाजवादी और श्रम-संघवादी सिद्धान्तों के संश्लेषण द्वारा किया जा सकता है। केवल एक दो सिद्धान्तों की स्वीकृति से ही काम पूरा नहीं होगा, समस्त लोगों के कल्याण को ध्यान में रख कर ही कार्य करना होगा। वैलास का मत था कि लॉर्ड सभा में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

वैलास की आलोचना और उसका मूल्यांकन
(Criticism and Estimate of Wallas)

वैलास राजनीतिक जीवन का अत्यधिक अबुद्धिकरण कर देता है। समाज के निर्माण में चेतन अथवा अचेतन रूप में मानव-बुद्धि अवश्य योग देती है। अचेतन रूप से कार्य करने का यह अर्थ मान लेना एक भूल है कि बुद्धि कोई कार्य ही नहीं करती। मानव का अस्तित्व अनुभूति के निरर्थक प्रभावों पर ही आधारित नहीं है और न ही जीवन केवल आवेगों का पुन्ज है। हर अनुभूति अर्थपूर्ण होती है। मनुष्य का संसार अस्पष्ट उद्देश्यों की माला नहीं है, बल्कि स्पष्ट उद्देश्यों की तुलना है। विवेक अथवा बुद्धि द्वारा ही वह प्रत्यक्ष में मौलिक तत्त्वों का चयन करता है और उन्हें पहचानता है। विवेक के अभाव में व्यवस्थित सामाजिक जीवन की कल्पना करना ही कठिन है। यद्यपि व्यक्ति मिथ्या प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो सकता है, तथापि उस समय भी उसमें यह धारणा मौजूद रहती है कि वह ठीक कार्य कर रहा है।

अन्य मनोवैज्ञानिक विचारों की भाँति वलास भी निम्नतर से उच्चतर की तथा ऐतिहासिक काल से सभ्य जीवन की विवेचना करता है। वह मनुष्य और सृष्टि के अन्य प्राणियों में कोई अन्तर नहीं देखता। वह यह मानता है कि मनुष्य और पशु एक ही श्रेणी के जीवधारी हैं। इस तरह वैलास भी वही गलती करता है जो उसके पूर्ववर्ती मनोवैज्ञानिक दार्शनिकों ने की थी। आलोचकों की दृष्टि में वैलास की शैली भी त्रुटिपूर्ण है। वैलास का विश्वास है कि प्रत्येक समस्या में कुछ बुराई और कुछ अच्छाई होती है, किन्तु इस प्रकार की विचारधारा को अधिक लोग स्वीकार नहीं करते। वैलास का कहना है कि "हतोत्साहित मनोवृत्ति से असंस्कृत मनोवृत्ति के तनाव की उत्पत्ति होती है।" यह धारणा गलत विचार पर आधारित है। यदि मनुष्य ने चिरकाल से कुछ इच्छाओं को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह इन इच्छाओं की पूर्ति वर्तमान समाज में ही करे। कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ चित्तवृत्तियों का दमन किया जाए। "यदि हमें आधुनिक जटिल समाज में जीना है तो हमें अपनी इच्छाओं का परित्याग करना होगा। हमारी आदिमानवीय इच्छाओं की पूर्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इन इच्छाओं की हमें शिष्ट रूप से पूर्ति करनी होगी। श्रेष्ठ वृत्तियों के लिए नीच वृत्तियों का बलिदान करना होगा।"

अनेक त्रुटियों के होते हुए भी वैलास के दर्शन का काफी महत्त्व है। उसने राजनीतिक दर्शन को एक नया मोड़ देकर प्रगतिशील बनाया है। रोक्को (Rockow) के अनुसार, 'ग्राहम वैलास ने मानव प्रकृति और मानव-कार्य में उपचेतना का महत्त्व प्रदर्शित कर, राजनीति-विज्ञान की बहुत सेवा की है। वैलास का महत्त्व इस बात में भी है कि वह अपने समकालीन मनोवैज्ञानिक ज्ञान को प्रजातन्त्र-प्रणाली पर प्रयोग करने के क्षेत्र में अग्रणी था। वैलास ने राजनीति के अध्ययन में अनुमानात्मक शैली

का प्रजातन्त्र मे विज्ञान सामाजिक अनुभव और विशुद्ध मनोविज्ञान का समावेश वेन्थम के अनुयायियो से कही अधिक किया। वास्तविक परिणामो पर अपने वैज्ञानिक विश्लेषण को क्रियान्वित करने मे उसने यह ज्ञात किया कि वास्तविक राजनीति और शिक्षणालयो मे पढाई जाने वाली राजनीति मे बहुत अन्तर है और हमारे राजनीतिज्ञ वेन्थमवादी नही हैं क्योकि हमारे भूतकालीन दार्शनिको की अपेक्षा वे मानव-प्रकृति के अधिक श्रेष्ठ अध्येता हैं। वैलास ने सिद्धान्त और तथ्य के भेद पर पर्याप्त वल दिया है और यह चाहा है कि अन्य लोग भी इस भेद को ध्यान मे रखें। वैलास की तीनो पुस्तको ने राजनीति साहित्य में उसके नाम को अमर वना दिया है। उसकी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि एक ऐसे आकर्षक क्षेत्र को अनावरित करती है जिसमे निश्चित रूप से नवीन खोजें होगी। 'राजनीतिक समस्याओ के प्रति उसने मात्रात्मक दृष्टिकोण (Quantitative Approach) से भविष्य मे अवश्य ही उत्तम परिणाम निकलेंगे।" वैलास ने इस बात पर वल दिया है कि किसी भी समस्या का वास्तविक तथ्यो के आधार पर आलोचनात्मक विचार करने से ही किसी प्रणाली मे सुधार किया जा सकता है, व्यर्थ की परिपाटियो को रटते रहने मे नही।

इसमे कोई सन्देह नही कि राजदर्शन के क्षेत्र मे वैलास का स्थान अनुपेक्षणीय है। राजनीति के बहुत कम ऐसे ग्रन्थ होगे जिनमे वैलास की चर्चा न की गई हो। उसकी प्रतिपादित सॉंख्यिकी-प्रणाली का आजकल सारे ससार मे प्रयोग किया जा रहा है।

विलियम मेक्डूगल
(William McDougall, 1871–1938)

सक्षिप्त जीवन-परिचय एवं रचनाएँ

प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता विलियम मेक्डूगल का जन्म 1871 मे हुआ था। वह ग्राहम वैलास का समकालीन था और उसने वैलास के समान ही राजनीति को अपनी मनोवैज्ञानिक देन द्वारा समृद्ध किया। वह एक उच्च कोटि का विद्वान् था और उसने कैम्ब्रिज, लन्दन, ऑक्सफोर्ड, हार्वर्ड और ड्यूक आदि विभिन्न विश्वविद्यालयो मे सेवा की। इस आँग्ल-अमेरिकी विद्वान् ने अनेक पुस्तको की रचना की जिन्हे राजनीति के विद्यार्थियो द्वारा सदैव वडी रुचि से पढ़ा जाएगा और वे उनसे लाभान्वित होगे। मेक्डूगल की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. Introduction to Social Psychology (1910)
2. The Group Mind (1920)
3. Social Psychology
4. Outline of Psychology (1923)
5. World Chaos (1931)

इस प्रतिभाशाली मनोवैज्ञानिक राजदर्शनशास्त्री का देहान्त 1938 मे हुआ।

मेक्डूगल का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
(His Psychological Theory)

मेक्डूगल ने अपने सम्मानित ग्रन्थ 'सामाजिक मनोविज्ञान की भूमिका' (Introduction to Social Psychology) मे स्पष्ट किया है कि मनोविज्ञान व्यवहार एव आचरण का सामाजिक विज्ञान है जिसकी सहायता से राजनीति विज्ञान उपयोगी एव यथार्थवादी वन सकता है। मनोविज्ञान की खोजो से राजनीति को निश्चय ही लाभान्वित होना चाहिए। मनुष्य भावनाओ का पुञ्ज है और राजनीति शास्त्र को उपयोगी वनाने की दृष्टि से मानवीय भावनाओ, कामनाओ और विचारो का ध्यान रखना चाहिए। मानव बुद्धि भावनाओ की तृप्ति के लिए तत्पर रहती है। मूल प्रवृत्तियों का मानव-व्यवहार मे महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। इसके महत्त्व को वतलाते हुए मेक्डूगल ने लिखा है कि "यदि

मनुष्य में इन शक्तिशाली वृत्तियो को निकाल दिया जाए तो किसी प्रकार की क्रिया के लिए समर्थन हो सकेगा। वह उस घडी के समान स्थिर तथा गतिहीन हो जाएगा जिसकी कमियाँ निकाल दी गई हो, अथवा उस भाग के इजन के समान होगा जिसकी आग बुझा दी गई हो। ये भावनाएँ तथा मानसिक शक्तियाँ है जो मनुष्यो और समाजो के जीवन को कायम रखती हैं और उनके रूप का निर्धारण करती हैं। उनमे जीवन, मृत्यु एव इच्छा का प्रमुख रहस्य निहित रहता है।"

मेक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियो (Instincts) को मानव-व्यवहार की संचालिका शक्ति माना है। मूल प्रवृत्तियाँ, जीवन का प्रथम उद्देश्य और सब क्रियाओ का मूल स्रोत हैं, ये केवल उत्तेजना और किसी क्रिया के बीच की अज्ञात कडी मात्र नही हैं। अपने ग्रन्थ मनोविज्ञान की रूपरेखा (Outline of Psychology) मे मेक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियो की सूचना दी है। उसके अनुसार प्रमुख मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनमे प्रत्येक एक मनोभाव (Emotion) से सम्बद्ध होती है जो मनुष्यो को विशेष रूप से कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। इस मनोभाव को हम सम्बद्ध सवेग (Emotion) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मूल प्रवृत्ति (Instinct) 'पलायन' (Escape) की है तो उसके साथ भय (Fear) का सवेग (Emotion) विद्यमान रहता है। मेक्डूगल ने सम्बद्ध-सवेगो सहित मूल प्रवृत्तियो की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है।

मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts)	सम्बद्ध सवेग (Emotions)
1 पलायन (Escape)	1. भय (Fear)
2 युयुत्सा (Pugnacity)	2 क्रोध (Anger)
3 निवृत्ति (Repulsion)	3. घृणा (Disgust)
4 पुत्र-कामना (Parental Instinct)	4. वात्सल्य (Tender emotion)
5. शरणागति (Appeal)	5. करुणा (Distress)
6 काम (Mating)	6. कामुकता (Lust)
7 जिज्ञासा (Curiosity)	7. आश्चर्य (Wonder)
8 दीनता (Submission)	8. आत्महीनता (Negative Self-feeling)
9. आत्म-प्रकाशन (Self-assertion)	9 आत्माभिमान (Positive self-feeling)
10. सामूहिकता (Gregariousness)	10 एकाकीपन (Loneliness)
11. भोजन की खोज (Food seeking)	11 भूख (Appetite)
12. संग्रह (Acquisition)	12. स्वामित्व (Ownership)
13. रचना (Constructiveness)	13. रचनात्मक आनन्द (Feeling of creativeness)
14. हास (Laughter)	14. प्रसन्नता (Amusement)

उपर्युक्त मूल प्रवृत्तियो के अतिरिक्त अन्य निम्न श्रेणी की प्रवृत्तियाँ भी होती हैं यथा छीकना, खाँसना, मलमूत्र-त्याग करना आदि। इनका यद्यपि कोई सामाजिक महत्त्व नही है तथापि इनका क्षणिक वेग बहुत प्रबल होता है। मेक्डूगल ने उपर्युक्त 14 मूल प्रवृत्तियो के अतिरिक्त 4 सामान्य वृत्तियाँ (Natural Tendencies) का भी उल्लेख किया है—

1 सकेत (Suggestion),
भूति (Sympathy),
mitation), एवं

सामान्य वृत्तियो के साथ कोई सम्बद्ध मवेग (Emotion) नही होता। मेक्डूगल के अनुसार प्रमुख मूल प्रवृत्तियाँ मानव-व्यवहार की सचालिकाएँ हैं। ये परिवार, सामाजिक वर्ग-व्यवस्था, युद्ध, धर्म तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं के लिए आवश्यक उद्देश्य प्रदान करती हैं। मेक्डूगल का कहना है कि ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति द्वारा स्वय अर्जित नही की जाती बल्कि ये जन्मजात होती हैं। ये आदि मानव की प्रथम क्रियाएँ थी। इनके बिना मानसिक और शारीरिक यन्त्र स्पन्दनहीन हो जाते हैं।

आचरण पर मेक्डूगल के विचार (McDougall on Behaviour)

मेक्डूगल के अनुसार आचरण सहज-क्रिया (Reflexes) का परिणाम नही है। सामान्य रूप से आचरण कही जाने वाली क्रियाएँ सहज क्रियाओं से भिन्न होती है। आचरण के स्वय के कुछ लक्षण होते हैं। आचरण कुछ अशो मे स्वत: वृत्ति (Spontaniety) और पर्यावरण से मुक्ति प्रदर्शित करता है, किन्तु यह एक सीमा तक पर्यावरण से प्रभावित भी होता है। क्षणिक उद्दीपन (Momentary Stimulus) से प्रेरित होने के बाद आचरण की क्रियाएँ उद्दीपन समाप्त हो जाने पर भी विशेष दिशा म सतत् रूप मे सचालित रहती है। आचरण की क्रियाओं मे बाधा प्रस्तुत होने पर भी उन बाधाओं को पार करके लक्ष्य तक पहुँच जाना है। विविध प्रकार के प्रयत्न इच्छित परिणाम प्राप्त कर लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं। बहुधा आचरण की क्रियाओं का प्रथम चरण उन मानसिक क्रियाओं का समूह होता है जो द्वितीय चरण के आगमन के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने मे सहायक होते है और यदि आचरण को उत्पन्न करने वाली स्थिति की पुनरावृत्ति बार-बार होती है तो विविध प्रकार का आचरण (The Varied Behaviour) एक अधिक निश्चित आकार ग्रहण कर लेता है।

मानव प्रकृति पर मेक्डूगल के विचार (McDougall on Human Nature)

मेक्डूगल बेन्थम की इस धारणा से असहमत है कि सभी मानव-कार्य स्वार्थ से प्रेरित होते है। उसके मतानुसार, "मानव-स्वभाव कतिपय वृत्तियो का समूह है और ये वृत्तियाँ नि स्वार्थ भावना से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। इन वृत्तियो मे माता का प्रेम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और इसी से उदारता एव विशाल हृदयता के नाना रूपो का प्रादुर्भाव होता है। न केवल परिवार बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन प्रेम-भावनाओ (Sentiments of Love) पर आश्रित है।" रोक्को (Rockow) के अनुसार, "दासता की समाप्ति मे, युद्धो के भय कम करने के प्रयत्नो मे और वृद्धो तथा असहायो के लिए सामूहिक उत्तर-दायित्व के हाल ही मे विकसित विचार के मूल मे यही (मातृ-प्रेम) क्रियात्मक कारण है।"[1]

मेक्डूगल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन किया है कि मनुष्य के सभी कार्य सुख की प्राप्ति और दु ख से बचने की भावना से प्रेरित होते हैं। उसका विचार है कि मानव-प्रकृति आवश्यक रूप से बहुलवादी (Pluralistic) है न कि एकाकी (Monoistic)। मानव कार्य किसी एक ही इच्छा से प्रेरित न होकर अनेक और परस्पर सम्बन्धित प्रवृत्तियो द्वारा प्रेरित होते हैं। जब कोई महिला अपने बच्चे को बचाने के लिए स्वय के जीवन को खतरे में डालती है तो उसका यह कार्य सुखवादी मापक यन्त्र (Hedonistic Calculator) से निर्धारित नही होता बल्कि उसके मातृप्रेम की प्रतिक्रिया होती है। उसके इस कार्य मे सुख प्राप्ति की कोई स्वार्थपूर्ण इच्छा नही होती। इस तरह जब मनुष्य अपने साथियो का साहचर्य प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से नही प्रत्युत् साहचर्य की भावना से प्रेरित होता है। मेक्डूगल के अनुसार सुख और दु ख स्वयमेव कार्यो का मूल स्रोत नही है। इनके द्वारा किसी विशिष्ट क्रिया की अवधि निर्धारित होती है। सुख (Pleasure) आनन्द (Happiness) नही होता। सुख तो क्षणिक होता है जबकि आनन्द (Happiness) उन सब भावनाओ की उत्पत्ति है जिनसे मानव व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

1 *Rockow*. op. cit, p. 15.

सामूहिक मस्तिष्क पर मेक्डूगल के विचार
(McDougall on Group Mind)

अपने ग्रथ समूह-मस्तिष्क (Group Mind) में मेक्डूगल ने मानव आचरण से सम्बन्धित मौलिक सिद्धान्तो के आधार पर विभिन्न समूहो के आचरण का विवेचन किया हैं। जनश्रुति है कि मेक्डूगल का समूह-मस्तिष्क (Group Mind) प्लेटो के गणतन्त्र (Republic) का पुनर्जन्म है। उसके मतानुसार भाव एव भावनाएँ व्यक्तिगल आचरणो की भाँति सामूहिक आचरणो को भी निर्धारित करती हैं। वह सामूहिक चेतना की समीक्षा उसी पद्धति से करता है जिस पद्धति से एक प्राकृतिक वैज्ञानिक प्राकृतिक जगत् की विवेचना करता है। इस विषय मे उसने प्राणिशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र से प्रेरणा ग्रहण की है। वह कहता हे कि सुव्यवस्थित समाज एक सजीव इकाई है जिसका अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व है। प्रत्येक समूह की मानसिक व्यवस्था होती है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति का मन उस समूह की इकाई होता है। सामूहिक मस्तिष्क सोचता है और सजीव प्राणी की तरह कार्य करता है। इसके अस्तित्व के अपने नियम हैं। अपने नियमो के अनुसार ही वह प्रगति करता है। समूह से पृथक् हो जाने पर व्यक्ति के कार्य समूह के कार्यों से भिन्न हो जाते है। मेक्डूगल का विश्वास था कि "सामाजिक व्यवस्था एव ढाँचा हर तरह से उतना ही मानसिक और मनोवैज्ञानिक है जितनी व्यक्ति के मस्तिष्क की बनावट और कार्य-प्रणाली होती है।" राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे समुदाय होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सामूहिक मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

मेक्डूगल जनमत का बहुत गुणगान करता है और उसे एक बुद्धिपूर्ण एवं मान्य मार्गदर्शन समझता है। उसके अनुसार जनमत की सर्वोत्तम व्याख्या ससाज के सर्वोत्तम मस्तिष्को द्वारा ही की जा सकती है। इन्ही विचारो के कारण मेक्डूगल को रोक्को ने प्लेटोवादी (Platonist) कहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि मेक्डूगल और प्लेटो मे बहुत कम साम्य है।

राष्ट्र के विषय मे मेक्डूगल के विचार
(McDougall on the Idea of the Nation)

मेक्डूगल के मतानुसार, "राष्ट्र एक जाति अथवा समूह है जिसे किन्ही अशो मे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त है तथा जिसका अपना विशिष्ट राष्ट्रीय मन अथवा चरित्र होता है। इसका मूल तत्त्व मनोवैज्ञानिक है और इसकी मानसिक व्यवस्था इसे सामूहिक जीवन प्रदान करती है।" राष्ट्रीय मस्तिष्क (विचारधारा) एक व्यक्ति के मस्तिष्क के समान है जिसमे केवल मानसिक चेतना ही नही होती वरन् भावना एव क्रियाशीलता की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। राष्ट्रीय मस्तिष्क एक निश्चित विचारधारा है जो किमी एक व्यक्ति अथवा समस्त व्यक्तियो की विचारधाराओ के योग से भिन्न होती है। इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना अथवा राष्ट्रीय मस्तिष्क का उदय तभी होता है जब राष्ट्र की सम्पूर्ण इकाइयो मे एकरसता (Homogeneity) हो। एकरसता अथवा एकता की यह भावना निम्नलिखित तत्त्वो से मिलकर निर्मित होती है—

(1) सामान्य नस्ल (A Common Race)
(2) सदस्यो के बीच विचारो के आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता
(3) योग्य नेता (Eminent Leaders)
(4) एक स्पष्ट तथा निश्चित सामान्य उद्देश्य, विशेषकर राष्ट्रीय सकट के अवसर प
(5) अस्तित्व की लम्बी अवधि
(6) राष्ट्रीय विचारधारा (National Mind)
(7) राष्ट्रीय आत्म-चेतना (National Self-consciousness)
(8) अन्य राष्ट्रो से स्पर्द्धा (Emulation with other Nations)

मेक्डूगल के अनुसार राष्ट्रीयता की भावना वह शक्तिरूपी माला है जो मनुष्यों को एकता
के सूत्र में पिरोती है। वह केवल भावना तक ही सीमित नहीं है वरन् वह मनोवृत्ति है जिसके भावना-
त्मक और प्रभावात्मक दोनों पहलू होते हैं। एक राष्ट्र के व्यक्ति न केवल राष्ट्रहित के लिए सदैव
क्रियाशील रहते हैं बल्कि राष्ट्र के लाभ के लिए अनेक बलिदान भी करते हैं। मेक्डूगल का कहना है
कि किसी भी राष्ट्र का कोई एक कार्य सुनिश्चित परिपाटी के अनुसार सामूहिक रूप से भली प्रकार
सोच विचार किया हुआ, सबके हित के लिए सबके द्वारा किया गया कार्य होता है। राष्ट्र का जीवन-
काल बहुत लम्बा होता है और उसमे एक दीर्घ भूतकाल तथा दीर्घ भविष्य समाविष्ट रहता है।

मेक्डूगल-दर्शन की आलोचना और महत्त्व
(Criticism and Importance of McDougall's Philosophy)

मेक्डूगल के सिद्धान्तों के प्रति गम्भीर आपत्तियां प्रस्तुत की गई है जो इस प्रकार है—

1 मेक्डूगल का मत है कि भावों का वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों मे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु भावों की अभिव्यक्ति एक निश्चित सामाजिक स्थिति मे होती है और इसी स्थिति के द्वारा उनकी रूपरेखा निश्चित होती है। वे कभी शून्य मे कार्य नही करते। सामाजिक जीवन की रूपरेखा के निर्णायक तत्त्व भूख और प्यास, काम और प्रेम नही है, बल्कि वे ठोस और निश्चित क्रियाएँ है जिनके द्वारा उनकी तुष्टि होती है तथा मनुष्य के अनुभव और विचारो की उत्पत्ति होती है। बार्कर का यह कथन सही है कि "मेक्डूगल भावों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, लेकिन उसने यह स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की कि समाज मे वे भाव किस प्रकार अवतरित होते है। इस प्रकार मेक्डूगल एक ऐसे यात्री की भांति है जो तैयारियाँ करके ही रह जाता है, वास्तविक यात्रा का आरम्भ कभी नहीं करता। बुद्धिवादी चाहे काफी तैयारी न करता हो, लेकिन वह राज्य मे यात्रा और उसकी खोज अवश्य करता है।"

2 मेक्डूगल की आलोचना मे कहा जाता है कि उसकी विवेचना की विधि चरित्र और वातावरण मे तथा प्रकृति और वृत्तियों मे अनावश्यक भेद करती है। सम्पत्ति की भावना पर आधारित परिवार को सगठित करना व्यर्थ है। वास्तविक महत्त्व तो इस बात मे है कि इस प्रकार की नैसर्गिक प्रवृत्तियो (Instincts) का सामाजिक व्यवस्था मे क्या स्थान है। उचित यही है कि व्यक्ति को वातावरण की पृष्ठभूमि मे परखा जाए।

3 मेक्डूगल ने नैसर्गिक प्रवृत्तियो को बहुत अधिक महत्त्व दिया है और नैसर्गिक आवेगो और बुद्धिपूर्ण आवेगो (Instinctive Impulses and Intelligent Impulses) के बीच भी कोई स्पष्ट रेखा नही खीची है। वैलास और हॉबहाउस के कथनानुसार केवल हमारी नैसर्गिक वृत्तियाँ (Instincts) ही नही अपितु हमारी बुद्धिमत्ता भी वशानुक्रमगत (Hereditary) होती है। इस दिशा मे हॉबहाउस के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"हमे अपने माता-पिता से केवल अनुभूति और आवेग ही नही अपितु इनसे अच्छे बुरे की पहचान, विश्लेषण और संगठनात्मक बुद्धि भी प्राप्त होती है· हमने बुद्धिमत्ता को व्यक्ति की उपज मानकर विरोध किया है और नैसर्गिक वृत्ति को पैतृक माना है, किन्तु योग्यता के रूप मे बुद्धिमत्ता पैतृक या वशानुक्रमगत है। उत्सुकता तथा खोज, विश्लेषण तथा तुलना की विधियो मे वशानुक्रमगत ढाँचे का मूल आधार निहित होता है।"

बुद्धि प्रत्येक कार्य में रूढिवादिता को कम करती है और विशिष्ट स्थितियो मे परिवर्तित करती है। यह (बुद्धि) न तो नैसर्गिक वृत्तियो से पृथक् होती है और न उनके अधीन। यह तो इनसे सहयोग करती है, इनका परिमार्जन करती है और अन्त मे हमारी विविध वृत्तियो का एकीकरण कर उनको एक ठोस इकाई बनाती है।

4 एक वर्ग या सगठित समूह अलग-अलग व्यक्तियो के समूह से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है और विशेष व्यक्तियो के परिवर्तन के पश्चात् भी जीवित रह सकता है, परन्तु इसका यह

आशय नहीं है कि मानसिक शक्ति से भी ऊँची कोई शक्ति है। समाज व्यक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही संवेदनशील अथवा मनोवैज्ञानिक है। समाज बहुत दिनों तक जीवित रह सकता है किन्तु उसके समस्त कार्यों का संचालन व्यक्तियों द्वारा ही होता है। इसकी परिपाटियों को व्यक्ति ही पूर्ण कर सकते हैं।

5. मेकडूगल ने राष्ट्रीय आत्मा और राष्ट्रीय-मन या मस्तिष्क (National Soul or National Mind) का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह मान्य नहीं हो सकता। हमारे पास ऐसी कोई कसौटी नहीं है जिसके द्वारा राष्ट्र के उद्देश्यों की एकता तथा ठोसता को मालूम किया जा सके। केवल एक कुशल सेना में ही आदर्श एकता विद्यमान हो सकती है।

6. राष्ट्रीय समूह की व्याख्या करते समय मेकडूगल राष्ट्र और राज्य (Nation and State) के अन्तर को भूल गया प्रतीत होता है। राष्ट्र एक परिपाटी, सभ्यता तथा भावना है, राज्य एक व्यवस्था तथा संगठन है। राज्य इतना पुराना है जितनी सभ्यता, परन्तु राष्ट्र का विकास थोड़े समय से ही हुआ है। मेकडूगल के मतानुसार ब्रिटेन के निवासी राष्ट्रीय संगठन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, किन्तु यह धारणा सही नहीं है क्योंकि ब्रिटिश जनता तीन विभिन्न राष्ट्रीयताओं—अंग्रेजी (The English), स्कॉच (Scotch) तथा वेल्श (Welsh) का समूह है।

यद्यपि मेकडूगल के दर्शन में अनेक त्रुटियाँ हैं, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके दर्शन ने मनोवैज्ञानिक योगदान द्वारा राजनीति-शास्त्र को अधिक सम्पन्न बना दिया है। मेकडूगल ने मानव आचरण के कतिपय अंगों पर, जिनके विषय में पहले ज्ञान नहीं था, पर्याप्त बल दिया है। उसका 'समूह-मस्तिष्क' (Group Mind) का सिद्धान्त वस्तुतः एक अमूल्य देन है, यद्यपि इस सिद्धान्त में समूहों की एकता और संगठन को इतना महत्त्व दिया गया है कि इसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व गौण हो गया है। मेकडूगल के सिद्धान्तों का महत्त्व इस बात में है कि उनके संदर्भ में किसी राजनीतिक प्रक्रिया को अधिक सुन्दरता से समझा जा सकता है।

34

कार्ल मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद तथा मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक

(Karl Marx and Scientific Socialism and his Predecessors)

राजदर्शन के क्षेत्र में उपयोगितावादी, आदर्शवादी, वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं पर चिन्तन के उपरान्त अब हम उस विचारधारा पर विचार करेंगे जिसने न केवल 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक की किसी भी विचारधारा की अपेक्षा अधिक हलचल उत्पन्न की, बल्कि जो 20वीं शताब्दी के चिन्तन को भी उद्वेलित किए हुए है। यह विचारधारा है समाजवाद। आज का युग समाजवाद का युग कहा जाता है। किसी न किसी रूप में यह ससार के करोड़ो व्यक्तियों का एक धर्म-सा बन गया है और उनके विचारो एव कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करता है। दुनिया के लगभग सभी देशों में समाजवादी सिद्धान्तो का बोलबाला है। समाजवाद आज के समाज की पुकार है जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था को आज के वैज्ञानिक आविष्कारो तथा औद्योगिक क्रान्ति ने काया-पलट कर दी है।

यदि समाजवाद का व्यापक अर्थ 'मनुष्य की समानता' से लिया जाए, तो यह विचार उतना ही प्राचीन है जितनी मानव-सभ्यता। लेकिन यदि समाजवाद को केवल एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में देखा जाए तो यह वास्तव में आधुनिक युग की उपज है और इसका आदर्शवादी तथा क्रान्तिकारी रूप आधुनिक वर्ग-भेद तथा आर्थिक असमानताओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। राजनीतिक दृष्टि से यूनानी लोग राज्य को सब कुछ करने का अधिकार देते हुए भी सुकरात तथा एक दास के वैयक्तिक-मूल्य में बहुत अन्तर मानते थे। वे समानता के अधिक प्रेमी न होकर स्वाधीनता के पुजारी थे। मध्य-युग में राज्य का अस्तित्व नहीं के बराबर था। आगामी निरकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) के युग में मनुष्य-मनुष्य की समानता का सिद्धान्त कभी स्वीकार नहीं किया गया। तत्पश्चात् राज्य का हस्तक्षेप चरम सीमा को छूने लगा और व्यक्ति का कल्याण इसी में सम्भव माना जाने लगा कि वह राज्य को एक आवश्यक बुराई मानकर उसे कम से कम कार्य सौंपे। फलत: व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। 18वीं शताब्दी में व्यक्ति की स्वाधीनता को इतना अधिक सम्मान प्रदान किया गया कि राज्य का कार्य-क्षेत्र केवल पुलिस तथा सेना के सगठन तक ही सीमित रह गया। किन्तु 19वीं शताब्दी समाप्त भी नहीं हुई थी कि व्यक्तिवादी व्यवस्था में दरारें दिखाई देने लगी। दो विरोधी वर्ग उत्पन्न हो गए—एक शोषक और दूसरा शोषित। वैज्ञानिक आविष्कारो से उत्पादन बढा, वितरण के साधनो में भी उन्नति हुई, किन्तु यह उन्नति उन्ही लोगो के लिए लाभदायक सिद्ध हुई जो विशाल मिलो और कारखानो के स्वामी थे। गरीब अपनी दरिद्रता से और भी अधिक निस्सहाय बन गए। फलत. समाज एक प्रकार से दो शत्रु वर्गों में बँट गया और यह माँग उठ खडी हुई कि व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो पर राज्य का अकुश हो और उत्पादन तथा वितरण के साधनो का राष्ट्रीयकरण किया जाए। जनता की इसी माँग की अभिव्यक्ति आधुनिक समाजवाद में हुई जो व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध राज्य को एक धनात्मक अच्छाई (Positive Good) मानकर उसे अधिक से अधिक कार्य सौंपना चाहता है ताकि वर्तमान औद्योगिक युग की समस्याओ का समाधान हो सके।

सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यक्तिवाद के विरुद्ध लोहा लेने वाला टॉमस मूर (Thomas Moore) था जिसने अपनी विश्व-विख्यात रचना 'Utopia' मे एक आदर्श समाजवादी व्यवस्था का चित्र अंकित किया । तत्पश्चात् इसके सूत्रधारो मे महान् फ्रांसीसी कल्पनावादी विचारक सेंट साइमन, फोरियर और उनके अंग्रेज समकालीन रॉबर्ट ओवन एवं कुछ अन्य विचारको की गणना की जाती है । इन सबने 18वी शताब्दी मे संसार के समक्ष समाजवाद के विकासवादी (Evolutionary), अहिंसात्मक या शान्तिवादी (Pacific) तथा आदर्शवादी (Utopian) पक्ष पर बल दिया, किन्तु राजनीति में कार्ल मार्क्स के पदार्पण ने शान्तिपूर्ण समाजवादी धारा को वेगवती एवं क्रान्तिकारी नदी मे परिवर्तित कर दिया । साइमन, फोरियर तथा ओवन के समाजवाद को घृणात्मक स्वर मे कल्पनावादी अथवा स्वप्नलोकीय (Utopian) बताकर मार्क्स ने उनके स्थान पर एक क्रान्तिकारी हिंसात्मक प्रणाली का सूत्रपात किया । मार्क्स तथा उसके कट्टर शिष्यो ने इतिहास और समाज का अध्ययन एक नवीन दृष्टिकोण से किया और समाजवाद को स्वप्नलोक से निकाल कर वैज्ञानिक धरातल पर स्थापित किया तथा उस जन-क्रान्ति का रूप दिया । समाजवाद के विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनो ही स्वरूप स्पष्ट रूप से वर्तमान समाज मे देखे जा सकते है ।

मार्क्सीय समाजवाद के वैज्ञानिक प्रतिपादन के फलस्वरूप कल्पनावादी समाजवाद और सेंट साइमन, चार्ल्स फोरियर और रॉबर्ट ओवन जैसे कल्पनावादी समाजवादियो के प्रति कोई विशेष रुचि दिखाई नही देती तथापि आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे इनकी उपेक्षा भी नही की जा सकती । वे 18वी तथा 19वीं शताब्दी के बीच की कड़ी हैं । अतः कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद और उसकी शाखाओ-प्रशाखाओ पर विचार करने से पूर्व संक्षेप मे इन स्वप्नलोकीय या कल्पनावादी विचारको के विचारो को जान लेना उपयोगी होगा ।

कल्पनावादी विचारक
(Utopian Thinkers)

सामान्यतः कल्पनावादी सिद्धान्त वह होता है जो ऐसे आदर्श लोक की कल्पना द्वारा, जिसमे उसके अभीष्ट मूल्यो का साम्राज्य रहता है, वर्तमान समाज के दोषो से बच निकलने का प्रयास करता है । ऐसे आदर्श और पूर्ण समाज कल्पना द्वारा ही खडे किए जाते हैं, उनका इतिहास मे कोई ठोस आधार नहीं होता । कल्पनावादियो का विषय सदैव प्रस्तुत समाज के दोष होते है जिन्हे वे मनुष्य की न्याय एव नैतिक भावना को प्रोत्साहित कर दूर करना चाहते है । प्लेटो ने एथेन्स मे पाए जाने वाले भयकर वर्ग-सघर्ष एव राजनीतिक स्वार्थपूर्ण आचरण से बचने के प्रयास मे दार्शनिक राजाओ द्वारा शासित आदर्श राज्य की कल्पना की थी और उसके बहुत समय बाद 16वी शताब्दी मे इगलैण्ड की दरिद्रता और जन-संकट के विरुद्ध विद्रोह के परिणामस्वरूप सर टॉमस मूर ने अपने 'कल्पनालोक' (Utopian) की रचना की थी । इसमे एक ऐसी आदर्श समाजवादी व्यवस्था का चित्र खीचा गया था जिसमे सभी वस्तुओ पर सभी का स्वत्व था और प्रत्येक व्यक्ति सुखी था । यद्यपि इस प्रकार की आदर्श कल्पनाएँ कभी साकार नही होती तथापि इससे इनका महत्त्व समाप्त नही होता । ये कल्पनाएँ संसार के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करती है, एक उपयोगी उद्देश्य रखती है जिसकी पूर्ति के लिए एक प्रयत्नशील होकर मानव-जाति स्वय को अधिक ऊँचा उठा सकती है । ये कल्पनाएँ मानव-जाति के सामने न्याय के ऐसे आदर्श प्रस्तावित करती हैं जिनके अनुसरण का उसे सतत् प्रयास करना चाहिए ।

मार्क्स के पूर्ववर्ती कल्पनावादी या स्वप्नलोकीय समाजवादियो मे अनेक नाम गिनाए जा सकते है । इनमे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) सर टॉमस मूर (Sir Thomas Moore)
(2) सेंट साइमन (Saint Simon)
(3) चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier)
(4) रॉबर्ट ओवन (Robert Owen)

(1) सर टॉमस मूर
(Sir Thomas Moore)

कल्पनावादी समाजवादियों में सर मूर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार मूर की पुस्तक 'यूटोपिया' (Utopia) विश्व की श्रेष्ठ पुस्तकों में से एक है क्योंकि लेखक ने अपनी रचना में न केवल प्लेटो की पद्धति को पुनर्जीवित किया है, बल्कि भावी युग का दिशा-बोध कराया है।[1] मूर का जन्म सन् 1478 में इंग्लैण्ड में हुआ था। वह यूनानी साहित्य और दर्शन का पण्डित था तथा उसने अपने समय की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का गहन अध्ययन किया था। मूर ने यद्यपि राजकीय सेवा में सम्मानजनक कूटनीतिक कानूनी पद प्राप्त किए, तथापि कैथोलिक धर्म के संरक्षण के कारण उसे राजाज्ञा द्वारा मृत्यु दण्ड भोगना पड़ा। किन्तु मात्र 37 वर्ष की अल्पायु में लिखी गई 'यूटोपिया' ने मूर के नाम को हमेशा के लिए अमर बना दिया। यह पुस्तक मूलतः लेटिन भाषा में लिखी गई थी, तत्पश्चात् उसके जर्मन, फ्रेंच, इटालियन और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद हुए।

'यूटोपिया' का अभिप्राय 'आनन्द या निवास-स्थान' है। पुस्तक में यूटोपस (Utopus) नामक दार्शनिक राजा का उल्लेख है जो एब्राक्षा (Abraxa) नामक एक वीरान क्षेत्र पर अधिकार कर उसे एक सम्पन्न राज्य का रूप देता है और पीड़ित, दरिद्र तथा दुःखी लोगों के लिए समृद्धि के द्वार खोल देता है जिसके फलस्वरूप उन पिछड़े लोगों में कालान्तर में शिष्टाचार और मानवता का संचार होता है। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारण ही यूटोपस के नाम पर इस क्षेत्र को 'यूटोपिया' की संज्ञा दी गई। मूर ने कहा कि एक वीरान क्षेत्र में इस प्रकार महान् परिवर्तन साम्यवाद और शिक्षा के कारण ही सम्पन्न हो सका है।

'यूटोपिया' के दो मुख्य भाग हैं। प्रथम भाग में उस क्षेत्र की तत्कालीन स्थिति का जो वर्णन किया गया है वह यथार्थ में ब्रिटिश सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का चित्रण है। टॉमस मूर ने, वस्तुतः समाज और शासन पर प्रबल प्रहार किया है और बतलाया है कि परिवर्तन से पूर्व के समाज में लोग किस दीन-हीन और भ्रष्ट अवस्था में थे। तत्कालीन समाज का गठन ऐसा था जिसमें सामन्तवादी वर्ग निरंकुश आचरण द्वारा जन-साधारण को अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाता तथा सामान्य अपराधों के लिए भी उन्हें मृत्यु-दण्ड भोगना पड़ता था। मूर ने अपने पात्र राफेल द्वारा सामन्तवादी व्यवस्था के कुत्सित स्वरूप का वर्णन कराया है। यूटोपिया की शैली आंशिक रूप से वार्ता की और आंशिक रूप से वर्णन की है। पुस्तक के दूसरे भाग में मूर ने आदर्श समाजवादी व्यवस्था का चित्र अंकित किया है अर्थात् एक ऐसे आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की है जो साम्यवाद के नियमों पर आधारित है। मूर ने आदर्श समाजवादी समाज का चित्र इस तरह प्रस्तुत किया है जिससे पूर्ववर्ती अर्थात् प्रथम भाग में वर्णित समाज की समस्याओं का समाधान हो जाता है।

मूर के आदर्श समाजवादी समाज की एक झलक देखना उपयुक्त होगा। यूटोपिया राज्य लगभग 34 छोटे-छोटे भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित है। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र एक राजनीतिक इकाई है जिसे मूर ने शायर (Shire) कहा है। यह इकाई प्रशासन, सार्वजनिक शिक्षा, शिल्पकला, विदेशी व्यापार आदि का केन्द्र है और लगभग 20 मील भूमि पर अवस्थित है। प्रत्येक इकाई अथवा शायर लगभग स्वशासी है। एक शायर में 6 हजार के करीब कुटुम्ब हैं जिनके अपने अपने कृषि फार्म हैं। प्रशासन का स्वरूप लोकतन्त्रात्मक है। सभी शायरों से मिलकर एक गणराज्य की स्थापना की गई है जो इन स्वशासित शायरों का लोकतन्त्रात्मक संघ है। गणराज्य की राजधानी में राष्ट्रीय विधान-सभा के अधिवेशन होते हैं। विधान-सभा में प्रत्येक शायर से तीन सदस्य निर्वाचित होकर जाते हैं। केन्द्रीय शक्ति सीनेट के हाथ में है। यूटोपिया-राज्य के सामाजिक जीवन में कोई विषमता नहीं पाई जाती। वहाँ समानता का साम्राज्य है और सब लोग सम्मिलित रूप से एक-सा भोजन करते हैं और उनके लिए

1 *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, p. 61.

विश्राम, अध्ययन, मनोरंजन आदि की समान व्यवस्था है। यूटोपिया राज्य के निवासी विवाह को एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था मान कर एक पत्नी प्रथा का अनुसरण करते हैं। यूटोपिया राज्य में युद्ध एक सामाजिक अपराध है तथापि आत्मरक्षा हेतु नागरिकों को युद्ध-कला में भली प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है। आदर्श समाजवादी व्यवस्था में दुराचारी शासन के लिए कोई स्थान नहीं है. अतः नागरिक अपनी युद्ध-कला का प्रयोग ऐसे शासन से मुक्त होने के लिए कर सकते हैं। इस समाज में समान रूप से रक्तपात के स्थान पर शान्ति और कुशलता पूर्वक विवाद का समाधान कर अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण समझा जाता है। सभी नागरिकों के लिए शिक्षा अनिवार्य है और इस शिक्षा का सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से जोड़ दिया गया है। इस विचार की सर्वोपरि मान्यता है कि मनुष्य का चरम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और इसके लिए श्रेष्ठ कार्य करना अपेक्षित है। संगीत, तर्क, गणित, ज्योतिष आदि के अध्ययन से व्यक्ति आनन्द-प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता है। मूर के अनुसार सच्चा सुख और आनन्द वह है जिससे मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा की तुष्टि हो। आत्मा अमर है और उसका निर्माण आनन्द की प्राप्ति के लिए हुआ है। सद्गुण कभी व्यर्थ नहीं जाते, सदैव पुरस्कृत होते हैं। पाप हर स्थिति में त्याज्य है और पाप-कर्मों का दण्ड मृत्यु के बाद भी मिलता है। परोपकारी कार्यों और सद्गुणों से व्यक्ति को शान्ति तथा आत्मिक बल प्राप्त होता है। मूर के आदर्श समाजवादी समाज में धन, ऐश्वर्य, जुए आदि की भर्त्सना की गई है क्योंकि ये मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले साधन हैं और इनसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह भी मिथ्या और क्षणिक है। आर्थिक दृष्टि से यूटोपिया-राज्य का प्रमुख व्यवसाय कृषि है और प्रत्येक नागरिक से अपेक्षा की जाती है कि वह कृषि में निपुणता प्राप्त करेगा। सादे और सरल जीवन तथा कृषि कार्य में सीधा सम्बन्ध है। शिल्प-कला की उन्नति आनन्ददायक है और यूटोपिया राज्य के नागरिकों से आशा की गई है कि वे कृषि के साथ-साथ शिल्प-कला में भी निपुण होंगे। यूटोपिया-राज्य वैदेशिक व्यापार अपनाएगा, लेकिन इसका उद्देश्य पूंजीवाद को प्रोत्साहन देना या धनी बनना नहीं होगा। मूर के समाज का नागरिक धन की वासना का भूखा नहीं है। "मनुष्यों की मूर्खता ने सोने और चाँदी का मूल्य बढ़ा दिया है और इसलिए इनका अभाव है।" मूर की दृष्टि में सोने, चाँदी जैसे मूल्यवान् पदार्थ हेय हैं, इसीलिए वह यूटोपिया-राज्य में स्वर्ण का प्रयोग अपमानजनक मानता है। मूर पर यूनानी साहित्य और दर्शन का भारी प्रभाव है और वह यूनानियों की तरह दास-प्रथा को महत्त्व देकर अपने आदर्श समाजवादी समाज का चित्र धूमिल कर देता है किन्तु यूटोपिया राज्य में दासत्व का कार्य गरीब विदेशी श्रमिक या अपराधी हो सकते हैं।

यद्यपि सर टॉमस मूर स्वप्नलोकीय विचारक है, तथापि वह पहला समाजवादी है जिसने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर कठोर प्रहार कर राज्य को एक पूंजीवादी संस्था बतलाया तथा लोगों के सामने एक आदर्श समाजवादी राज्य का विचार प्रस्तुत किया। समाजवादी चिन्तन के इतिहास में मूर को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान देना उचित नहीं होगा क्योंकि—(i) मूर ने एक सामाजिक वैज्ञानिक की भाँति न तो समस्या को समझाया, न उसका विश्लेषण किया और न ही उसका समुचित समाधान प्रस्तुत किया। मानव-स्वभाव, सामाजिक संगठन की प्रकृति, आर्थिक एवं राजनीतिक घटनाओं में सामंजस्य आदि मौलिक प्रश्नों पर वह मौन है। उसने वर्तमान समाज के दोषों को स्पष्ट किया किन्तु उसकी 'यूटोपिया' वर्तमान समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करती। (ii) यूटोपिया इस दृष्टि से गम्भीर कृति नहीं ठहरती क्योंकि समाज-परिवर्तन के दो प्रमुख साधन—साम्यवाद और शिक्षा—प्लेटो से उधार लिए गए विचार हैं। (iii) मूर जिस आदर्श राज्य की बात करता है वह स्वप्नलोकीय है, व्यवहार में यह सम्भव नहीं है। (iv) मूर इस बात की कोई वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता कि सामन्तवादी राज्य किस तरह एकाएक आदर्श राज्य में परिवर्तित हो गया। (v) मूर ने आदर्श राज्य के निर्माण की कल्पना तो की है पर यह नहीं बताया है कि इस कार्य की पूर्ति की दिशा में कौन व्यक्ति या वर्ग अगुआ बनेगा। इस परिवर्तन के पीछे आर्थिक शक्तियों की भूमिका क्या होगी, आदि। (vi) आदर्श

समाज में एक ओर तो समानता की बात और दूसरी ओर दास-प्रथा को समर्थन—ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं। एक आदर्श समाज मे नागरिको और गुलामो का विभाजन समझ मे न आने वाली बात है। (vii) यूटोपिया से हमे उत्पादन, वितरण तथा अन्य आर्थिक समस्याओ के बारे मे कोई समाधान प्राप्त नही होता।

पर इन कमियो के बावजूद टॉमस मूर का महत्त्व इसलिए है कि उसने लगभग साढे चार शताब्दी पूर्व अर्थात् 16वी सदी के प्रारम्भ मे ही कतिपय महत्त्वपूर्ण मुद्दो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया। उसने अनुत्पादक वर्गो की बुराइयो, धनिको द्वारा गरीबो के शोषण, धन के त्रुटिपूर्ण उपयोग द्वारा अपव्यय राज्य के वर्गीय स्वरूप, सोने-चांदी के अहितकारी प्रभाव, जुआ आदि सामाजिक बुराइयों पर विचार प्रकट कर सामाजिक सुधार के महत्त्वपूर्ण पक्षो की ओर सकेत किया।

(2) सेंट साइमन
(St. Simon, 1760–1825)

सेंट साइमन का जन्म, जिसने समाजवाद, प्रत्यक्षवाद (Positivism), अन्तर्राष्ट्रीयवाद आदि पर अनेक उल्लेखनीय विचारो का पूर्वाभास दिया, फ्रांस के एक प्राचीनतम सामन्तवादी परिवार में सन् 1760 मे हुआ और 65 वर्ष की अवस्था मे सन् 1825 मे उसकी मृत्यु हुई। साइमन का जीवन बड़ा रोमांचकारी था। झक्की और सनकी साइमन बचपन मे ही अपने पिता से झगड बैठा, जिससे उसे लगभग 5 लाख फ्रांक की आय की जायदाद से हाथ धोना पडा। उसके दिमाग मे यह सनक बैठी हुई थी कि वह एक महान् उद्देश्य के लिए जन्मा है, उसे ससार का एक महानतम् व्यक्ति बनना है और सुकरात की भांति ही मानव-व्यवहार को एक नवीन दिशा देनी है। साइमन को इस बात से दुःख था कि लोगो पर से धर्म का प्रभाव घटता जा रहा है और स्वभावत वे नैतिक सिद्धान्तो से भी विमुख हो जाएँगे। अत. उसकी इच्छा थी कि नैतिक सिद्धान्तो का ईसा की धार्मिक शिक्षाओ के प्रकाश मे नवीनीकरण किया जाए। इस नैतिकता को उसने सकारात्मक अर्थात् रचनात्मक नैतिकता (Positive Morality) की सज्ञा दी। साइमन का विश्वास था कि एक नवीन युग का आविर्भाव होने वाला है और आलोचना तथा विनाश से भरी 18वी शताब्दी के बाद निश्चित रूप से समाज पुनर्रचना के पथ पर अग्रसर होगा। वह एक ऐसी नवीन लौकिक एव आध्यात्मिक शक्ति खोजने के लिए उत्सुक था जो विकास की एक उच्चतर अवस्था के लिए मानव-जाति का मार्गदर्शन कर सके और एक नवीन तथा उत्तम समाज के निर्माण मे सहायक हो सके। साइमन के विचार हमे उसकी निम्नलिखित पुस्तको मे मिलती हैं—

1 Letters of a Resident of Geneva (1802)
2 The Reorganisation of European Society (1814)
3. The Industrial System (1821)
4. The New Christianity (1825)

सेंट साइमन राजनीति को मुख्यत. 'उत्पादन का विज्ञान' (Science of Production) मानता था। उसका यह कहना था कि यदि हम किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना करना चाहते हैं तो हमे उस समय के उत्पादन के साधनो की खोज करनी होगी और उनकी प्रकृति को समझना होगा। उसने यह भी बतलाया कि समस्त राजनीतिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि मे आर्थिक साधनो मे होने वाले परिवर्तन ही कार्य करते हैं। साइमन के इस विचार मे कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पूर्वध्वनि सुनाई पडती है।

साइमन ने एक ओर तो उत्पादक उद्योगो और वर्गो के तथा दूसरी ओर अनुत्पादक उद्योगो या विनाशकारी कार्यो एव वर्ग-भेद को स्पष्ट किया। उसकी दृष्टि मे समाज में केवल उत्पादक वर्ग ही महत्त्वपूर्ण वर्ग है और उसी को अन्तिम रूप से वर्ग के रूप मे रहना चाहिए। इस तरह साइमन वर्गहीन

समाज की कल्पना करता था जिसमे केवल उत्पादक अर्थात् श्रमजीवी वर्ग ही रहेगा और अनुत्पादक वर्ग के लोगों का चाहे वे आभिजात्य वर्ग के हों या पूंजीवाद वर्ग के, बिल्कुल सफाया हो जाएगा। जो परिश्रम करेगा वही जीवित रहेगा। साइमन का कहना था कि वर्तमान समाज से पूंजीवादी, सामन्तवादी और अभिजात्य वर्ग के लोगो को निकाल दिया जाय तो कोई हानि नही है, लेकिन यदि किसी तरह श्रमजीवी अर्थात् उत्पादक वर्ग नष्ट हो जाता है तो सम्पूर्ण समाज ही नष्ट हो जाएगा।

अपने वर्गहीन समाज की शासन-व्यवस्था की रूपरेखा में साइमन शीर्षतम स्थान एक राजा को देना चाहता था, परन्तु विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियो का तीन सदनों में विभाजन चाहता था। उनका मत था कि पहले सदन (First House) का कार्य यह होना चाहिए कि वह विधेयक के रूप में दूसरे सदन के सामने अपनी सिफारिशें रखे। दूसरे सदन (Second House) का कार्य उस विधेयक (Bill) को विधि (Law) का रूप देना होना चाहिए और तीसरे सदन (Third House) का कार्य विधियों को कार्यान्वित करना होना चाहिए। साइमन ने यह भी बतलाया कि इन सदनो का, जो सयुक्त रूप से ससद् (Parliament) कहलायेंगे, संगठन किस प्रकार किया जाए। उसका कहना था कि पहले सदन मे कवि, चित्रकार, शिल्पी, इन्जीनियर आदि रहे, दूसरे सदन में मनोवैज्ञानिक, गणितज्ञ, दार्शनिक आदि तथा तीसरे सदन मे बड़े-बड़े उद्योगो के कर्णधार रहें। साइमन का कहना था कि राज्य का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य प्रजा अर्थात् नागरिको की आर्थिक उन्नति करना है। वह राजनीतिज्ञो को अर्थ के अधीन करने के पक्ष मे था और सरकार के कार्यों को केवल पुलिस कार्य तक सीमित रखना चाहता था। उनकी कल्पना पर आश्रित सामाजिक व्यवस्था मे इस बात का ध्यान रखा गया था कि राज्य का नेतृत्व श्रमजीवियो के ही हाथ मे रहे और सत्ता का उपयोग इस प्रकार किया जाए कि उद्योगों की भलीभांति उन्नति हो सके।

सम्पत्ति के विषय मे साइमन की धारणा थी कि समाज की समूची रूपरेखा का निर्धारण सम्पत्ति से ही होना है। उसके स्वय के शब्दो मे, "सामाजिक व्यवस्था मे सम्पत्ति के परिवर्तन के बिना कोई परिवर्तन नही हो सकता।" वह निष्क्रिय सम्पत्ति का विरोधी था। उसका यह दृढ मत था कि वह सम्पत्ति, जो अनुपार्जित है अर्थात् जो अपने श्रम से उत्पादित नहीं हुई है, शोषण मात्र है। उसने सम्पत्ति में ही वर्ग-सघर्ष की धारणा खोजी थी। उनका कहना था कि जो वर्ग चोरी के श्रम पर जीवित रहेगा, उसका एक न एक दिन श्रमजीवी-वर्ग के साथ अवश्य सघर्ष होगा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति को भी उसने एक ऐसा ही वर्ग-संघर्ष माना था। साइमन ने समाज कल्याण की दृष्टि से उपभोक्ताओं की अपेक्षा उत्पादको को अधिक महत्त्व दिया था। वह वस्तुओं के समान उपभोग के पक्ष मे नहीं था और न ही यह चाहता था कि श्रम-मूल्य की अनदेखी करके हर व्यक्ति को हर वस्तु में समान हिस्सा मिले। उसने सम्पत्ति को विकास की दृष्टि से देखा और कहा कि समय-समय पर सम्पत्ति के ही रूप बदलते रहे हैं। वह चाहता था कि समाज मे श्रम और पूंजी के बीच सहयोग हो जिससे समाज को अधिक लाभ हो सके। अपने समय की आरम्भिक पूंजीवादी व्यवस्था का आलोचक होते हुए भी साइमन ने भूतकाल को अधिक अच्छा नही माना और यह मत व्यक्त किया कि विगत युद्ध स्वर्ण-युग न होकर लौह-युग था। उसका कहना था कि "मनुष्यता का वास्तविक स्वर्ण-युग हमारे पीछे न होकर आगे है।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी साइमन ने एक 'विश्व-संसद' (World Parliament) की स्थापना की थी। लोकप्रिय राजसत्ता (Popular Sovereignty) तथा स्वाधीनता (Liberty) में उसका विश्वास नही था। इनके स्थान पर वह जनता की तानाशाही (Dictatorship of the People) के पक्ष में था। उत्पादन के सम्पूर्ण साधनो पर वह उनके उपयोग करने वालो का अधिकार चाहता था।

सेंट साइमन के दर्शन का सार एक वाक्य में उसी के शब्दों मे इस प्रकार है, "समाज में एक ऐसी व्यवस्था हो जिसमे समाज के सभी सदस्यो को अपनी शक्तियों के अधिकतम विकास के लिए पूर्ण

अवसर प्राप्त हो और प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करे जिसकी योग्यता उसे ईश्वर से मिली है और उसका उसे उतना ही पारिश्रमिक मिले जितनी वह मेहनत करता है।"

साइमन के विचारो को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके कई शिष्यो ने विकसित किया जिनमे उल्लेखनीय एनफटीन (Enfantin) और बजार्ट (Bazart) थे। उन्होने उसके विचारो को समष्टिवाद (Collectivism) की दिशा मे मोडा। इन लोगो ने साइमन के दर्शन का विकास कर एक क्रान्तिकारी सस्था का निर्माण किया जिसे सन् 1831 मे विघटित कर दिया गया क्योंकि इसकी गतिविधियो को फ्रांस की सरकार सहन नही कर सकी।

(3) चार्ल्स फोरियर
(Charles Fourier, 1772–1837)

चार्ल्स फोरियर भी एक ऐसा फ्रांसीसी काल्पनिक विचारक था जिसकी विचारधारा की अन्तर्वृत्तियाँ अराजकतावादी दर्शन की पूर्वध्वनियाँ थी। वह राज्य-सत्ता के केन्द्रीयकरण के बजाय विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे था। फोरियर का जन्म फ्रांस में सन् 1772 में हुआ था और मृत्यु 1837 मे। सन् 1822 और 1829 मे उसकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पहली पुस्तक में उसने कृषि की उपयोगिता पर प्रकाश डाला और दूसरी मे एक आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। साइमन की भांति फोरियर अत्यधिक औद्योगीकरण का समर्थक नही था। वह मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति के लिए छोटे समुदायो को सबसे अधिक उपयुक्त समझता था। उत्पादित वस्तुओ के अपव्यय का वह कटु आलोचक था और कहता था कि उत्पादन उतना ही किया जाना चाहिए जितना आवश्यक हो।

फोरियर समकालीन समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा नैतिक, सब प्रकार की अव्यवस्थाओ का कटु आलोचक था। उसके बाल्यकाल के अनुभवो ने भी उसमे तत्कालीन समाज के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत कर दी थी। जब वह 5 वर्ष का था तो उसे अपने पिता द्वारा इसलिए दण्ड दिया गया था कि उसने सत्य बोलकर एक ग्राहक को व्यापार का गुप्त भेद बतला दिया था। उसे यह अनुभव कर बडी निराशा हुई कि चर्च मे तो उससे सत्य बोलने के लिए कहा जाता है जबकि दुकान पर उसे असत्य भाषण करना पडता है। इसी तरह मार्सिलीज के बन्दरगाह पर उसने देखा कि मालिक लोग चावल को समुद्र मे इसलिए फिकवा रहे थे कि वे मूल्य मे कमी के बजाय चावल को नष्ट कर देना अधिक अच्छा समझते थे। इन और ऐसे ही अन्य कई अनुभवो ने फोरियर को यह सोचने पर विवश कर दिया कि अवश्य ही इस सभ्यता मे कुछ आधारभूत दोष निहित है।

सम्पत्ति, दरिद्रता, सामाजिक असमानता, युद्ध, पारिवारिक जीवन की असफलता आदि समाजगत दुर्गुणो की उसने बडे कठोर शब्दो मे भर्त्सना की। धन के असमान वितरण मे निहित अन्याय और गरीबो के सकट ने उसे बहुत पीडित किया किन्तु सबसे अधिक कष्ट उसे समाज मे विद्यमान स्पर्द्धापूर्ण प्रणाली की व्यवस्था और अपव्यय को देखकर हुआ। अलेक्जेण्डर ग्रे के शब्दो मे, "इस दृश्य ने उसे व्यथित कर दिया कि तीन सौ छोटे-छोटे घरो मे, तीन सौ छोटी-छोटी अग्नियाँ जलाकर, तीन सौ छोटे-छोटे बर्तनो मे अपने काम से लौट कर आने वाले तीन सौ छोटे पुरुषो के लिए तीन सौ स्त्रियां थोडा-थोडा भोजन बनाने मे लगी थी जबकि तीन या चार स्त्रियाँ एक बडे बर्तन की सहायता से और एक बडी अग्नि पर सम्पूर्ण कार्य अधिक अच्छी तरह पूरा कर सकती थी।" फोरियर ने देखा कि प्रतिस्पर्द्धा के दबाव मे अधिकतर मनुष्यो को अपनी शक्ति का अधिकांश भाग ऐसे कार्यो को करने और ऐसी वस्तुओ के निर्माण मे व्यय करना पडता है जिनसे उनके सुख मे कोई वृद्धि नही होती, प्रत्युत उनका जीवन नीरस हो जाता है। फोरियर चाहता था कि क्रय-विक्रय की जटिल प्रणाली को समाप्त कर दिया जाए और उसके स्थान पर उत्पादन तथा उपभोग की ऐसी सरलतम पद्धति प्रस्थापित हो जाए जिससे लोगो को वास्तविक सुख प्राप्त हो।

फोरियर ने अपने जिस नवीन सामाजिक संगठन की रूपरेखा प्रस्तुत की उसके मूल में उसकी यह मान्यता निहित थी कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है। वह कुमार्ग पर स्वेच्छा से नहीं जाता, बल्कि तब जाता है जब समाज उसकी स्वाभाविक इच्छाओं और भावनाओं का दमन करता है। सामाजिक बन्धन मानव जाति के सब रोगों का मूल है। फोरियर चाहता था कि मानव भावनाओं को मुक्त विचरण की छूट दी जानी चाहिए, मानव-सम्बन्धों पर छल-कपट, धोखाधड़ी और असत्य का वातावरण डालना अनुपयुक्त है। यही कारण था कि उसने एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र हो और इस सम्बन्ध मे उस पर कोई बाध्यता न लादी जा सके। उसकी इस योजना का एक आवश्यक तत्त्व यह था कि कोई भी श्रमिक किसी एक ही उद्यम तक सीमित रह कर अनेक कार्यों का सम्पादन करेगा, लेकिन किसी भी कार्य को अधिक समय तक नहीं करेगा क्योंकि अधिक समय तक एक ही कार्य करना नीरस लगने लगता है। फोरियर नीरसता को दूर करने और कार्य को रोचक बनाने के लिए कार्य परिवर्तन को आवश्यक समझता था। उसका विश्वास था कि जब प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से व्यावसायिक समूहों मे स्वयं को सयुक्त करेगा तो समाज में प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति समाप्त हो जाएगी और शान्तिपूर्ण सामजस्य की स्थापना होगी।

फोरियर ने जिस नवीन सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की, उसमे समाज की सर्वाधिक छोटी इकाई एक व्यावसायिक समूह था, जिसमें समान रुचि और हित वाले लगभग 7 व्यक्ति होने थे। पाँच अथवा अधिक समूह मिलकर एक बड़े सगठन अथवा समूह का निर्माण करेंगे जो 'सीरीज' (Series) कहलाएगा और ऐसे 25 से 28 तक सीरीज मिलकर फैलेंक्स (Phalanx) का निर्माण करेंगे। फोरियर के समाज मे फैलेंक्स सबसे बड़ी इकाई थी। पर्याप्त सख्या मे फैलेंक्सो के निर्माण के पश्चात् उन्हे एक सयुक्त शासन के अधीन कर दिया जाना था और उनका संगठन एक लचीला अथवा ढीला-ढाला संघात्मक सगठन होना था।

फोरियर ने जिस नवीन समाज की कल्पना की थी उसका आधार-बिन्दु फैलेंक्स ही था। फैलेंक्स की रचना की मूलभूत बात इसके लघु आकार का होना है। फैलेंक्स मे पुरुषों, स्त्रियों और बालकों को मिलाकर लगभग 1620 से 1800 व्यक्तियों का प्रावधान था। प्लेटो ने जिस तरह अपने आदर्श नगर-राज्य के वयस्क नागरिकों की आदर्श सख्या 5040 मानी थी, इसी तरह फोरियर ने भी फैलेंक्स की आदर्श संख्या 1620 मानी। यह संख्या कोई मनमानी सख्या न थी बल्कि इसका आधार गणित-शास्त्रीय था। इस सख्या का निर्धारण उन सम्भव रीतियो को ध्यान मे रखते हुए किया गया था जिनमे विभिन्न वैयक्तिक इच्छाओं को मिश्रित किया जा सकता था। इस सख्या के मूल में फोरियर का यह विचार निहित था कि इकाई का आकार ऐसा हो जो अपने सदस्यों को व्यवसाय की व्यापक काँट-छाँट प्रदान करने की दृष्टि से पर्याप्त हो, लेकिन साथ ही वह उपयुक्त आकार से बड़ी न हो।

फोरियर ने जिस फैलेंक्स की कल्पना की वह विकेन्द्रित समाज था जिसमे चार-चार व्यक्तियों की पारिवारिक इकाई के रूप मे 400 से 500 परिवारों को रहना था। समुदायों मे श्रमजीवी, उद्योगपति डॉक्टर, इन्जीनियर आदि विभिन्न पेशों के सभी लोग सम्मिलित होने थे। फोरियर की योजना यह थी कि फैलेंक्स के सदस्य आन्तरिक सहकारिता व सहयोग द्वारा एक आत्मनिर्भर इकाई का निर्माण करेंगे और फैलेंक्स के सदस्यों के मुख्य धन्धे कृषि, पशुपालन, भोजन बनाना और सामान तैयार करने होंगे। सदस्य जिस सामान्य भवन अथवा भवन-समूह में रहेंगे वे सामान्य सुविधाओं से परिपूर्ण होंगे। उनमे शिशुगृह भी होंगे जिनमे सामूहिक रूप से बच्चों की देख-रेख की जाएगी। फोरियर ने श्रम के प्रति लोगों मे आकर्षण बनाए रखने की दृष्टि से कार्य के घण्टे तो अपेक्षाकृत सीमित किए ही, यह विचार भी प्रस्तुत किया कि निम्नकोटि के तुच्छ एव अप्रिय कार्यों के लिए अधिक पैसा दिया जाना चाहिए। प्रत्येक परिवार की न्यूनतम आय इतनी होनी चाहिए कि वह आराम से जीवन बिता सके। समुदाय को

भी लाभ हो, वह एक निश्चित अनुपात के अनुसार सब परिवारो के बीच बाँट दिया जाना चाहिए। इन समुदायो की विशेषता यही थी कि ये आत्म-निर्भर और पारस्परिक सहयोग पर आधारित होते थे। इन समुदायो मे सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग फोरियर ने श्रमिक वर्ग को ही माना, इसके बाद पूँजीपतियो का और सबसे अन्त मे व्यापारी वर्ग को स्थान दिया। यह बात लाभाँश-वितरण के अनुपात से सिद्ध हो जाती है। फोरियर का कहना था कि समुदाय के सब परिवारो को निश्चित वेतन दे देन के बाद सम्पूर्ण लाभ को 12 हिस्सो मे बाँट दिया जाना चाहिए और इसके तीन-हिस्से व्यापारी वर्ग को, 4 हिस्से पूँजीपति वर्ग को, और 5 हिस्से श्रमिक वर्ग को दे दिए जाने चाहिए। वेस्टमेयर (Westmeyer) के शब्दो मे—"फैलेन्स के प्रत्येक घटक के लिए सामान्य उत्पादन मे से एक उदारतापूर्ण न्यूनतम भाग अलग रख देने के पश्चात्- शेष को श्रम, पूँजी तथा बुद्धि मे विभाजित कर दिया जाता है। श्रम को 5/12, पूँजी को 1/3 तथा बुद्धि को 1/4 भाग प्राप्त होता है। यह विभाजन फैलेंक्स के अधिकारियों द्वारा किया जाता है। इसमे दिलचस्प बात यह है कि अधिकतम वेतन उन लोगो को मिलता है जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य करते है तथा सबसे कम उन लोगो को, जो विशेष रूप से रुचिकर कार्य मे सलग्न हैं।"

फोरियर का विश्वास था कि फैलेंक्स मे सम्पत्ति के विभाजन के उपर्युक्त अनुपात और फैलेंक्स के सगठन के फलस्वरूप उत्पादकता मे वृद्धि होगी। अनेक स्त्री-पुरुषो को एक साथ योग्यतानुसार तथा इच्छानुकूल कार्य मिलने से उच्चतर एव श्रेष्ठतर उत्पादक श्रम-विभाजन सम्भव हो जाएगा। चूँकि फैलेक्स के घटक शान्तिपूर्ण अवस्थाओ मे कार्य करेंगे और उनमे पूर्ण सामजस्य होगा, अत. उसमे पुलिस, सेना, वकीलो आदि की कोई आवश्यकता नही होगी और न ही विज्ञापन एवं प्रतिस्पर्द्धा मे समय तथा धन का अपव्यय होगा।

फोरियर ने अपने जीवन-काल मे पूँजीपतियो से अपील की थी कि वे उसकी योजना के कार्यान्वयन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करें क्योकि फोरियर फैलेंक्स स्वेच्छापूर्वक स्थापित किए थे, राज्य द्वारा नही। फोरियर के जीवन-काल मे उसकी कल्पनानुसार समाज की स्थापना नही हुई, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद फ्रांस एव अमेरिका मे कुछ फैलेंक्स स्थापित किए गए जो कुछ वर्षों से अधिक न चल सके। अमेरिका मे फोरियरवाद का सबसे अधिक प्रभावशाली प्रचारक अलबर्ट ब्रिस्बेन था। उसने डैना फुलर हाथोर्न तथा इमर्सन को काफी प्रभावित किया।

फोरियर का दृढ विश्वास था कि समाज की समस्त बुराइयो की मुख्य जड़ सम्पत्ति है। समाज मे किसी क्रान्तिकारी कार्य द्वारा या मात्र राजनीतिक कार्य द्वारा ही सुधार नही हो सकता। इसके लिए लोगो के विवेक तथा न्याय-भावना को जाग्रत करना पड़ेगा किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि फोरियर समानता मे विश्वास करता था। वह निश्चित रूप से अव्यवस्था एव अमर्यादित व्यक्तिवाद से उत्पन्न व्यर्थ की बर्बादी के विरुद्ध था तथा सहकारिता-आन्दोलन का प्रबल समर्थक होते हुए भी उत्पादन-कार्यों मे स्त्रियो का सहयोग चाहता था क्योकि उसका विचार था कि इससे स्त्रियाँ भी पुरानी व्यवस्था से मुक्त हो सकेंगी और समाज का महत्त्वपूर्ण अग बन सकेंगी। वह बच्चो को सार्वजनिक शिक्षा दिए जाने का भी समर्थक था।

आमतौर से यह माना जाता है कि चार्ल्स फोरियर ने जो कुछ लिखा वह अधिकांश मे मूर्खतापूर्ण तथा प्रमादपूर्ण था। कोल के अनुसार उसकी सबसे बाद की रचनाओ मे कोरा प्रमाद देखने को मिलता है तो अलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार वह 'मूर्खता से अधिक दूर कभी नहीं था।' चाहे फोरियर के विचार कितने ही प्रमादपूर्ण और मूर्खतापूर्ण क्यो न हो, इससे इन्कार नही किया जा सकता कि उसने समाजवाद और समाजवादी विचारधारा को स्थायी देन दी। उसने इस बात पर बल दिया कि अनियन्त्रित व्यक्तिवाद अवांछनीय है तथा प्रतिस्पर्द्धा के कुपरिणामो को सहकारिता द्वारा ही दूर किया जा सकता है। उसने यह भी बताया कि यदि उत्पादकता को बढाना है तो कार्यों की परिस्थितियो मे

सुधार करना ही होगा। फोरियर की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह सुधार का समर्थक था, क्रान्ति का नहीं।

4 रॉबर्ट ओवन
(Robert Owen, 1771–1858)

रॉबर्ट ओवन का जन्म सन् 1771 में इंग्लैण्ड के एक सम्पन्न परिवार मे हुआ था और उसकी मृत्यु सन् 1858 में हुई थी। ओवन अंग्रेजी समाजवाद का जनक कहा जाता है। आरम्भ मे एक साधारण मजदूर होते हुए भी वह अपनी मेहनत से एक बडा पूँजीपति बन गया था, किन्तु श्रमिक वर्ग के साथ सहानुभूति होने के कारण उसने अपनी सम्पत्ति श्रमिको के कल्याण पर खर्च की। उसका जीवन बडा भव्य और सप्तरगी रहा। वह 'एक दूकान पर नौकर, एक उद्योगपति, कलकारखानों का सुधारक शिक्षाशास्त्री, समाजवादी, सहकारिता आन्दोलन का प्रवर्तक, ट्रेड यूनियन का नेता, धर्म-निरपेक्षवादी, आदर्श समुदायों का मूल प्रवर्तक तथा व्यावहारिक व्यक्ति, सभी कुछ रहा।" कोल के शब्दो मे, "कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्नदृष्टा, इतना लोकप्रिय और साथ काम करने मे इतना असम्भव, इतना उपहास-केन्द्र किन्तु इतना प्रभावशाली नही था जितना कि ओवन।"

ओवन ने दो पुस्तकें लिखीं जो उसके विचारो की जानकारी की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। पहली है 'A New View of Society' (1812) और दूसरी है, 'The Book of the New Moral World' (1820)।

ओवन का कहना था कि मानव-चरित्र बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके निर्माण में भौगोलिक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियो का बहुत हाथ रहता है। किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति धर्म, विवाह आदि के कारण मनुष्य के समुचित विकास मे बाधा आती है। धर्म और सम्पत्ति के उसके विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही ओवन के वर्ग के लोग और पादरी उसके कट्टर शत्रु हो गए और उन्होने ओवन के प्रयोगो को असफल बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किए।

ओवन न केवल यह विश्वास करता था कि बुरी परिस्थितियाँ बुरे चरित्र का तथा अच्छी परिस्थितियाँ अच्छे चरित्र का निर्माण करती हैं, बल्कि उसका यह विचार भी था कि दरिद्रता मानव-जीवन के लिए अभिशाप है और दरिद्रता से ही कायरता, अज्ञानता एव रोगों की उत्पत्ति होती है। ओवन का कहना था कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव-जाति अपने सकटो से मुक्ति पा जाएगी।

सेंट साइमन, फोरियर आदि विचारक व्यावहारिक दृष्टि से असफल केवल कल्पना-जगत् मे विचरने वाले प्राणी थे, किन्तु ओवन एक सफल उद्योगपति बन गया जिसने पहले खूब धन कमाया और बाद मे उसको अपने स्वप्नों को साकार बनाने मे व्यय किया। अपनी असाधारण योग्यता के बल पर उसने अनुपम उन्नति की। 10 वर्ष की आयु मे उसने स्टैम्फोर्ड मे एक बजाज की दूकान पर नौकरी की। यहाँ ओवन ने अपने अवकाश के समय में स्वाध्याय द्वारा अपनी योग्यता में वृद्धि की। तत्पश्चात् वह मेनचेस्टर चला गया जहाँ उसने अनेक पदो पर कार्य किया। 19 वर्ष की आयु मे वह लगभग 500 श्रमिको को काम पर लगाने वाली एक बडी सूत की मिल का व्यवस्थापक नियुक्त हुआ। उसने इतनी कार्यकुशलता का प्रदर्शन किया कि इस मिल का कपडा बाजार की सामान्य दर से 50 प्रतिशत ऊँचा बिकने लगा। सूती उद्योग में ओवन की ख्याति चारो ओर फैल गई। मिल मालिको ने शीघ्र ही उसे मिल मे अपना साझेदार बना लिया, लेकिन कुछ समय बाद ही ओवन एक दूसरी बड़ी मिल में चला गया। सन् 1794 मे उसने स्वय की एक मिल खोल ली। मित्र सम्बन्धी कार्य पर स्कॉटलैण्ड की यात्रा करते हुए उनकी भेंट अपनी भावी पत्नी कुमारी डैल से हुई जिसने उसे न्यु लेनार्क (New Lenark) मे अपने पिता की सूती मिल मे आने का निमन्त्रण दिया। 1799 मे ओवन और उसके साथी हिस्सेदार ने इस मिल को खरीद लिया।

न्यू लेनार्क का परीक्षण—ओवन का विश्वास था कि मनुष्य की उन्नति परिस्थितियो पर निर्भर है। मनुष्य की सामाजिक दशा और उसके वातावरण को जितना अधिक अच्छा बनाया जाएगा, मनुष्य उतना ही अधिक उन्नत बन जाएगा। न्यू लेनार्क (New Lenark) मे ओवन को अपने विचारो को क्रियात्मक रूप देने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। ओवन ने जब इस मिल को खरीदा तो अन्य औद्योगिक बस्तियो की अपेक्षा यह गाँव अधिक गन्दा और भद्दा था। न्यू लेनार्क मे सर्वत्र अस्वास्थ्य-जनक परिस्थितियो का बोलबाला था। गाँव के अधिकांश बालक मजदूर प्रात. 6 बजे से 7 बजे तक कारखानो मे काम करते थे फिर भी उन्हे मजदूरी इतनी कम मिलती थी कि उनका पेट भी नही भरता था। गाँव के दुकानदार हर चीज ऊँचे-से-ऊँचे भाव पर बेचकर उनका शोषण करते थे। न्यू लेनार्क मे शराब, जुए और भ्रष्टाचार का साम्राज्य था, परन्तु ओवन न्यू लेनार्क की इन परिस्थितियो से विचलित नही हुआ। उसने अपने विचारो को साकार रूप देने का प्रयास किया। बडे धैर्य, साहस और लगन के साथ अपना कार्य आरम्भ कर उसने सफलता प्राप्त की। पहले एक छोर से दूसरे छोर तक सफाई की व्यवस्था की गई, गाँव मे नई नालियाँ खुदवाई गईं। श्रमिको के लिए आरामदायक मकानो का निर्माण किया गया। बच्चो के लिए आदर्श विद्यालय खोला गया। शराब का बेचना बन्द कर दिया गया और निजी दुकानो के स्थान पर मिल की ओर से लागत मूल्य पर और अपेक्षाकृत 25 प्रतिशत कम दाम पर सामान बेचने वाली दुकानें खोली गई। इसके अतिरिक्त काम के घण्टे कम किए गए और मजदूरी की दरें बढाई गई। जब सन् 1806 मे अमेरिका द्वारा इंग्लैंड को भेजी जाने वाली रुई पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और न्यू लेनार्क की मिल अन्य सूती मिलो की तरह कुछ काल के लिए बन्द हो गई, तो भी ओवन ने मजदूरो को वेतन देना जारी रखा। ओवन के इन सब महान् प्रयासो और सुधारो के कारण न केवल मिल का बल्कि न्यू लेनार्क की सम्पूर्ण बस्ती का कायाकल्प हो गया। न्यू लेनार्क गाँव साफ-सुथरा बन गया। आदर्श बस्तियाँ और कारखाने एव समाज-शास्त्र की समस्याओ मे रुचि रखने वाले सिद्धान्तो तथा राजनीतिज्ञो के लिए न्यू लेनार्क तीर्थस्थान बन गया। इन सब परिवर्तनो का मिल के उत्पादन और विक्रय पर कोई विपरीत प्रभाव नही पडा।

दुर्भाग्यवश ओवन न्यू लेनार्क की मिल से अधिक समय तक सम्पर्क नही रख सका। सन् 1828 मे धार्मिक मतभेदो के कारण उसे मिल से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना पडा। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि न्यू लेनार्क मे ओवन का परीक्षण आश्चर्यजनक रूप मे सफल हुआ। ओवन विश्व-विख्यात हो गया और विभिन्न देशो के राजनीतिज्ञ तथा उद्योगपति उससे परामर्श माँगने लगे।

सन् 1813 मे ओवन की प्रसिद्ध पुस्तक 'समाज विषयक नवीन दृष्टिकोण' (A New View of Society) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे न्यू लेनार्क के विकास का विस्तृत वर्णन किया गया। ओवन ने औद्योगिक समाज के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध मे भी अपने विचार प्रतिपादित किए। श्रमिको को वृद्धावस्था मे पेंशन देने, उनके लिए मनोरजन की व्यवस्था करने, छोटे बच्चो की शिक्षा के लिए विद्यालय खोलने, श्रमिको के लिए बगीचो वाले सुन्दर और आरामदायक मकान बनाने आदि के विभिन्न प्रस्तावो का इस पुस्तक मे समावेश था।

ओवन की साम्यवादी योजना—न्यू लेनार्क की सफलता के बाद ओवन को निरन्तर असफलताओ का सामना करना पडा। विभिन्न कारणो से उसकी ख्याति कम होती गई और उसका विरोध बढता गया। सन् 1815 मे नेपोलियन के साथ ब्रिटेन का युद्ध समाप्त हो जाने पर युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओ की माँग मे कमी आ गई जिसके फलस्वरूप इंग्लैंड मे भीषण आर्थिक मन्दी छा गई; कारखाने बन्द होने लगे तथा श्रमिको मे व्यापक असन्तोष फैल गया। इस जटिल समस्या पर विचार करने के लिए ब्रिटिश ससद् ने एक समिति नियुक्त की जिसकी रिपोर्ट मे सन् 1817 मे ओवन ने तत्कालीन स्थिति का पूर्ण विश्लेषण करते हुए अपनी आदर्श स्वप्नलोकीय (Utopian) योजनाएँ प्रस्तुत की। ओवन ने कहा कि वर्तमान विषम स्थिति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि शनैः-शनैः साम्यवाद

की स्थापना की जाए। इसका श्रीगणेश बेकार व्यक्तियो के लिए निर्मित गाँवो से हो। इसके साथ एक हजार से पन्द्रह सौ एकड तक की भूमि हो और यहाँ 500 से 2000 तक व्यक्ति निवास कर खेती-बाड़ी एवं उद्योग-धन्धो को कायम करें। इन व्यक्तियो के निवास के लिए प्रत्येक गाँव के बीच मे वर्गाकार आकार के बड़े मकान बनाए जाएँ जिनमे सब लोगो के लिए सामान्य कमरे, पाकशालाएँ, पुस्तकालय, वाचनालय और विद्यालय हो। गाँवो मे खेल के मैदान और सुन्दर उद्यान हो। ओवन ने यह भी प्रस्तावित किया कि ऐसे गाँवो मे बच्चे अपने जन्म के बाद प्रथम तीन वर्ष तक माँ-बाप के पास रहे, बाद मे उन्हे विद्यालय मे पढ़ने के लिए भेज दिया जाए और माँ-बाप उनसे खाने के समय ही मिलें। ओवन ने कहा कि बस्तियो की भूमि-मिलो तथा उत्पादन-साधनो पर सब लोगो का समान अधिकार हो सबका भोजन एक ही चूल्हे पर बने और सब एक साथ मिलकर भोजन करें। गाँव मे कृषि एव उद्योग से होने वाली आय का यद्यपि सब संयुक्त रूप से उपभोग करें तथा कोई बेकार या भूखा न रहे।

ओवन द्वारा प्रस्तावित योजना को कोई समर्थन नही मिल सका। ससद् और मजदूर दोनो ने ही इसे स्वीकार नही किया। मजदूरो ने तो सार्वजनिक सभाओ द्वारा योजना के प्रति विरोध प्रदर्शन किया। इस समय ओवन का विरोध इसलिए भी अधिक होने लगा कि उसने धर्म को सामाजिक प्रगति मे बाधक बताया। ओवन इन सब विरोधो से निरुत्साहित नही हुआ। समाजवादी योजनाएँ बनाने और क्रियान्वित करने के प्रति उसके उत्साह मे कोई कमी नहीं आई। सन् 1821 मे ओवन ने अपनी एक नई पुस्तक सामाजिक पद्धति' (Social System) की रचना की जिसमे उसने पूर्ण साम्यवादी स्थिति को स्वीकार किया। इस पुस्तक मे ओवन द्वारा निजी सम्पत्ति का कटु विरोध किया गया और वितरण मे समानता लाने पर बल दिया गया। ओवन ने विभिन्न व्यक्तियो मे सम्पत्ति के विषमतापूर्ण वितरण को अत्यन्त निरर्थक और हानिप्रद बताया। उसने कहा कि इस प्रकार का वितरण हवा या प्रकाश को असमान हिस्सो मे बाँटने के समान है।

न्यू हार्मनी बस्ती का निर्माण—इंगलैण्ड मे समर्थन न पाकर ओवन ने संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर देखा। अपने स्वप्नो के अनुरूप एक नई आदर्श बस्ती का निर्माण करने के लिए इण्डियाना के नवीन राज्यो मे 1½ लाख डॉलर मूल्य चुका कर तीस हजार एकड का एक भू-खण्ड खरीदा। इस भू-खण्ड पर उसने साम्यवादी सिद्धान्तो के आधार पर न्यू हार्मनी (New Harmony) नामक बस्ती बनाने का निश्चय किया। ओवन जब इस बस्ती की स्थापना के लिए अमेरिका गया तो उसे विभिन्न नगरो मे भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया। वाशिंगटन मे उसके स्वागत-समारोह में राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा सीनेट और प्रतिनिधि सभा के सदस्य सम्मलित हुए। ओवन की नवीन बस्ती मे बसने वाले 100 व्यक्तियों को शिक्षा और योग्यता के आधार पर बडी सावधानी से छाँटा गया और उन्हे बड़े योग्य विद्वानो के निरीक्षण मे रखा गया। ओवन की यह बडी भूल थी क्योकि इससे बस्ती मे काम करने वालो की अपेक्षा आपस मे झगडने वाले विद्वानो की संख्या बढ़ गई। ओवन की उपस्थिति मे तो बस्ती का काम फिर भी सुचारु रूप से चलता रहा, किन्तु उसके इंगलैंड लौटते ही बस्ती मे बौद्धिक और धार्मिक मतभेद इतने बढ़ गए कि केवल तीन वर्ष बाद सन् 1827 में ही इस बस्ती को साम्यवादी आदर्श पर बसाने का परीक्षण विफल हो गया। इस बीच अमेरिका के कई स्थानो पर 'हार्मनी' के आदर्श के अनुरूप अनेक बस्तियाँ बसाई गई, लेकिन वे सफल नहीं हो सकी। इन सब असफलताओ ने ओवन के कार्यक्रम को अव्यावहारिक ही सिद्ध किया।

इस प्रकार अपने जीवन के पूर्वार्द्ध मे आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करने वाला ओवन अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे असफल सिद्ध हुआ। 87 वर्ष की आयु मे सन् 1858 मे उसकी मृत्यु हो गई। ओवन की मृत्यु के बाद उसके द्वारा बसाए गए समुदाय भी छिन्न-भिन्न हो गए। वास्तव मे ओवन की असफलता का एक बड़ा कारण उसकी यह भ्रान्ति थी कि मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ बुद्धि से प्रेरित होती हैं।

ओवन ने लिखा है कि 'स्वप्नलोकीय समाजवाद' (Utopian Socialism) का सितारा उसके समय मे ही आकाश मे ऊँचा चढकर अस्त भी हो गया तथापि विभिन्न दोषो के होते हुए भी ओवन के अनेक सिद्धान्तो ने समाजवाद के भावी विकास पर गहरा प्रभाव डाला। उससे समाज की न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के विचार को बल मिला। बेकारी की समस्या पर पूर्वापेक्षा अधिक ध्यान आकर्षित हुआ। समाज के सुख से मानव जाति की प्रगति का आदर्श मानदण्ड समझने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण मे सब वर्गों के सहयोग पर बल देने की माँग को भी प्रोत्साहन मिला। ओवन के विचारो ने इग्लैण्ड के श्रमिको को सहकारिता-आन्दोलन की ओर मोडा।

ओवन अपनी असफलताओ के बावजूद आदर और सम्मान का पात्र बना, क्योकि उसने अपना सम्पूर्ण जीवन समाजवादी आदर्शों को प्राप्त करने मे लगा दिया। श्रमिको के भाग्य को ऊँचा उठाने के लिए उसने इग्लैण्ड के व्यापार-सघो के आन्दोलन (Trade Union Movement) आदि मे सक्रिय भाग लिया और इस तरह इग्लैण्ड के श्रम-कल्याणकारी कानूनो तथा सामाजिक सुधारो के साथ उसका नाम सदैव के लिए अभिन्न रूप से जुड गया। अपनी पुस्तक 'समाज विषयक नवीन दृष्टिकोण' (A New View of Society) मे ओवन ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान आकर्षित किया कि "सरकार का उद्देश्य शासक तथा शासित दोनो को ही प्रसन्न रखना है।" समाज के उत्पादन के लिए उसने शिक्षा को बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बताया। उसने यह ठीक ही प्रतिपादित किया कि "परिस्थितियाँ मनुष्य को बनाती है, किन्तु मनुष्य चाहे तो उनको बदल भी सकता है।" एक स्थान पर उसने ये उल्लेखनीय शब्द लिखे—"मनुष्य प्रसन्नता लेकर पैदा होता है। मिथ्या विचार उसके लिए दुनिया मे दुख और दुर्गुण उत्पन्न करते है और उनका प्रधान कारण मनुष्य स्वभाव की अज्ञानता है। जनसख्या का अधिकतर भाग श्रमिक वर्ग का ही है और उसी के द्वारा ऊँचे से ऊँचे लोगो की सुख-सुविधा प्रभावित होती है।" सक्षेप मे ओवन ने अपने सम्पूर्ण विचारो का केन्द्र-बिन्दु 'सहयोग' को माना और इसके महत्त्व से कोई भी इन्कार नही कर सकता। अन्त मे यह कहना होगा कि उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ओवन ने जो गहरी निष्ठा प्रदर्शित की और अनथक प्रयत्न किए, वे आज भी बहुतो के लिए प्रेरणा के उज्जवल स्रोत बने हुए है।

इस पृष्ठभूमि के साथ अब हम कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की समीक्षा करेंगे जिसने समाजवाद को स्वप्नलोक से निकाल कर एक जन-क्रान्ति के रूप मे इस प्रकार बदल दिया कि आज का युग समाजवाद का युग कहलाने लगा है।

कार्ल मार्क्स
(Karl Marx, 1818-1883)

जीवन परिचय—आधुनिक समाजवादी विचारधारा के उन्नायक कार्ल मार्क्स का जन्म एक सुखी मध्यवर्गीय यहूदी परिवार मे पश्चिमी एशिया के ट्रीविज (Treves) नगर मे 5 मई, 1818 को हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील और देशभक्त प्रशियन था और माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स जब केवल 6 वर्ष का था, उसके पिता ने कुछ तो फ्रांसीसी प्रचेतनवादी दार्शनिको के प्रभाव मे और कुछ तत्कालीन जर्मनी की असहिष्णुता से बचने के लिए यहूदी मत का परित्याग कर ईसाई धर्म मे दीक्षा ले ली। इस धर्म-परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत् मे एक क्रान्ति का बीज बो दिया। उसने, जो पहले से ही धार्मिक चेतना का विरोधी था, यहूदियो की कटु आलोचना की और अन्तत. धर्म को अफीम और उत्पादन शक्तियो के अनुरूप 'मतवाद' की सज्ञा दे डाली।

मार्क्स बाल्यावस्था से ही बडा प्रतिभाशाली और गहन अध्येता था। सन् 1835 मे मार्क्स को बोन विश्वविद्यालय मे न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। वहाँ एक मेधावी छात्र के रूप मे उसने बहुत ख्याति प्राप्त की लेकिन होनहार विद्यार्थी होते हुए भी वहाँ वह किसी विषय मे मन लगाकर नही जुट पाया। उसने अध्ययन की अपेक्षा एक उच्च परिवार की लड़की जेनी वान वेस्ट-

फ़ेलेन (Janny Von Westphalen) के साथ प्रेमालाप पर अधिक ध्यान दिया। जेनी के माता-पिता अपनी लडकी का विवाह मार्क्स से करने के पक्ष मे नही थे, लेकिन दोनो के दृढ निश्चय के सम्मुख उन्हे झुकना पडा। 7 वर्ष की आशा-निराशा की लहरो को पार करने के पश्चात् उसका विवाह हो गया। सन् 1836 मे मार्क्स ने अपने माता-पिता की इच्छानुसार न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन के विश्वविद्यालय मे प्रवेश ले लिया। इस विषय मे उसका मन नही लगा, अतः उसने इतिहास और अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। यहाँ पर मार्क्स हीगल के दर्शनशास्त्र की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनो जर्मनी के विश्वविद्यालयो मे हीगल के दर्शन का बहुत प्रचार था और जगह-जगह उसके नाम की गोष्ठियाँ (Hegelian Circle) होती थीं। मार्क्स विश्वविद्यालय की 'यंग हिगेलियंस' (Young Hegelians) नामक गोष्ठी का प्रमुख सदस्य बन गया। सन् 1841 में जेना विश्वविद्यालय (Jena University) से उसने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने यहाँ प्राध्यापक बनने का असफल प्रयत्न किया। यदि उसे वह काम मिल जाता तो यह निश्चित था कि मार्क्स एक अत्यन्त मेधावी प्राध्यापक सिद्ध होता और दर्शनशास्त्र पर उच्चतम ग्रन्थो की रचना करता। लेकिन यह भी सत्य है कि तब वह श्रमजीवी समाजवाद के जनक (Father of Proletarian Socialism) के रूप मे उस ऐतिहासिक अमरता को सम्भवत: प्राप्त न कर पाता जो आज उसे निर्विवाद रूप से प्राप्त है और तब वह सम्भवत 'Communist Manifesto' एव 'Das Capital' जैसे ग्रन्थों की रचना भी न कर पाता। प्राध्यापक पद प्राप्त करने मे असफल रहने पर मार्क्स ने एक पत्रकार के रूप मे जर्मनी के सार्वजनिक उदार आन्दोलनो मे भाग लेना आरम्भ कर दिया। अपने सक्रिय जीवन के प्रभातकाल मे ही मार्क्स इस निश्चय पर पहुँच चुका था कि सामाजिक तथा राजनीतिक दूषणो का उपाय न तो कोरे तार्किक वाद-विवाद से होता है और न सुन्दर सामाजिक आदर्शो की काल्पनिक योजनाओ से ही, क्योकि किसी भी समय मे उनका समुचित उपाय प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था की विशिष्ट एव आधारभूत अवस्थाओ पर निर्भर रहता है। तदनुसार उसने आधुनिक औद्योगिक समाज का अध्ययन आरम्भ कर दिया। उसने यान्त्रिक अन्वेषणो की प्रगति का, उसके फलस्वरूप हुई पूँजीवादी व्यवस्था के विकास का तथा उसके मूल्य और वेतन निर्धारित करने के विशेष नियमो का अध्ययन किया तथा इस व्यवस्था के कारण समस्त जनता दो विरोधी वर्गो मे विभाजित हो गई थी—उस स्थिति का भी अध्ययन किया। एक ओर तो यन्त्रो तथा उत्पादन के कच्चे माल के मालिक थे और दूसरी ओर जनता थी जो केवल इन यन्त्रो एवं वस्तुओ की सहायता से मालिको द्वारा निर्धारित अवस्था मे कार्य करके अपना जीवन निर्वाह करती थी। उसने शीघ्र ही समाजवाद के मुख्य सिद्धान्त ढूंढ निकाले और अपना शेष जीवन उनकी सैद्धान्तिक एव ऐतिहासिक मीमांसा करने तथा उसका यूरोप के श्रमिको मे प्रचार करने मे बिताया।[1]

मार्क्स 'रेहनिश टाइम्स' का अग्र लेख लिखने वाला सम्पादक बन गया और बाद मे उसका मुख्य सम्पादक हो गया, किन्तु मालिको की प्रशियन-सरकार के साथ समझौता-नीति से वह सहमत न हो सका और उसने उस पत्र से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उसने 6 वर्ष तक कोलोन, पेरिस, ब्रूसेल्स मे अपने पत्र के सम्पादन और व्यवस्था का कार्य किया। उसे अपना स्थान परिवर्तन इसलिए करना पडता था कि वह राजकीय नीतियो की तीव्र आलोचना करने के कारण राज्य की ओर से निर्वासित कर दिया जाता था।

पेरिस और ब्रूसेल्स मे अपने प्रवास-काल से मार्क्स का अनेक प्रसिद्ध समाजवादियो एव उग्र सुधारवादियों से निकट सम्पर्क स्थापित हुआ जिनमे आदर्श सॉम्यवादी केबेट (Cabet), दार्शनिक अराजकतावादी प्रोधाँ (Proudhon), साम्यवादी अराजकतावादी बैकुनिन (Bakunin), क्रान्तिकारी कवि हीन (Heine), क्रान्तिकारी देशभक्त मैजिनी (Mazzini) का मन्त्री वुल्फ (Wolff) और फ्रेडरिक

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 40

उद्योगपति का पुत्र था जिसके
ऐंजिल्स (Freidrich Engels) मुख्य थे। ऐंजिल्स इगलैंड के एक धनी
1844 मे पेरिस मे हुई
इग्लैण्ड और जर्मनी दोनो मे कारखाने थे। मार्क्स और ऐंजिल्स की भेंट सन्
19वी शताब्दी की सबसे बडी और महत्त्व-
और शीघ्र ही यह प्रगाढ मित्रता मे परिवर्तित हो गई। यह
पूर्ण साहित्यिक मित्रता कही जाती है। इसमे मार्क्स सिद्धान्त-निर्माता था और ऐंजिल्स उनका प्रचारक
तथा संगठनकर्त्ता था। ऐंजिल्स के प्रभाव के कारण ही मार्क्स वामपक्ष की ओर झुकता गया। ऐंजिल्स
ने मार्क्स का ध्यान जर्मनी पर ही केन्द्रित न कर इग्लैंड की ओर भी आकृष्ट किया तथा पूँजीवादी
व्यवस्था के विनाश मे दोनो ने मिलकर कार्य किया। उदारचित्त ऐंजिल्स ने मार्क्स की आर्थिक कठिनाइयो
का सदैव समाधान किया जिसके बिना वह ब्रिटिश म्यूजियम और पुस्तकालयो मे अध्ययन करके अपने
अमर ग्रन्थ 'Das Capital' के लिए सामग्री एकत्रित नही कर सकता था। मार्क्स ने ऐंजिल्स के ऋण
को स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी सिद्धान्त को 'हमारा सिद्धान्त' (Our Theory) की संज्ञा दी
है। इसमे कोई सन्देह नही कि ऐंजिल्स की सहायता के अभाव मे मार्क्स का जीवन सम्भवत: अपनी
आजीविका की समस्याओ मे ही बीत जाता और वह अपने वर्तमान रूप मे ससार के सामने कभी न
आ पाता।

पेरिस मे रहकर मार्क्स ने हीगल के विधिशास्त्र के विरोध मे रचित अपने आलोचनात्मक
निबन्ध मे लिखा कि जर्मनी की मुक्ति मे सर्वहारावर्ग जीवन-रक्त का कार्य करेगा। इससे प्रशिया की
सरकार बडी क्रुद्ध हुई। फ्रांस की सरकार को एक कठोर विरोध-पत्र भेजा गया जिसके परिणामस्वरूप
मार्क्स को पेरिस से निष्कासित कर दिया गया। यहाँ से वह ब्रूसेल्स गया जहाँ वह साम्यवादी लीग
(Communist League) का सदस्य बन गया। यही पर मार्क्स और ऐंजिल्स ने मिलकर सन् 1847-
'48 मे साम्यवादी लीग के कार्य के प्रचार के लिए सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Communist Manifesto' तैयार
किया। उसने कल्पनात्मक, आलोचनात्मक, सामन्तवादी, पुरोहितवादी और पूँजीवाद की भिन्न-भिन्न
शाखाओ की आलोचना कर वर्ग-सघर्ष के सन्दर्भ मे इतिहास की व्याख्या द्वारा क्रान्ति का नारा बुलन्द
किया और यूरोप मे साम्यवादी दलो को हिंसात्मक क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया। सन् 1818 की
क्रान्ति मे मार्क्स ने अपने पत्र के माध्यम से तत्कालीन मध्यवर्गीय राजनीति की आलोचना की और
करबन्दी तथा सैनिक प्रतिरोध का समर्थन किया। वह क्रान्ति मे भाग लेने के लिए स्वय भी पेरिस
गया, लेकिन वह वहाँ देर से पहुँचा और तब तक क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी थी।
फ्रांस का राजनीतिक वातावरण अपने सिद्धान्तो के प्रतिकूल पाकर वह जर्मनी पहुँचा क्योंकि उसका
विचार था कि जर्मनी मे क्रान्ति के लिए अधिक अनुकूल वातावरण है। वहाँ उसने एक अत्यन्त
क्रान्तिकारी पत्र 'The New Rhenish Times' प्रकाशित किया जो केवल 6 मास ही चल पाया।
राजद्रोह के अपराध मे मार्क्स पकडा गया और निर्वासित अवस्था मे पश्चिमी यूरोप मे घूमता हुआ
अन्तत: सन् 1849 मे लन्दन मे बस गया। उसने अपने जीवन मे शेष 34 वर्ष वही बिताए जिसमे
उसका अधिकाँश सयय बडी दरिद्रता मे बीता। 'उसका जीवन अधिकाँशत एक शान्तिप्रिय विद्वान के
समान व्यतीत हुआ यद्यपि सन् 1864 मे जो प्रथम समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ स्थापित हुआ उसकी
प्रमुख प्रेरणा मार्क्स से ही मिली और तब से समाजवादी आन्दोलन का वही प्रमुख नेता रहा। लन्दन
स्थित एकान्त निवास-स्थान से उसने अपने शेष जीवन मे सैद्धान्तिक लेखन, व्यावहारिक मार्गदर्शन, सभा-
सम्मेलन एव पत्र-व्यवहार द्वारा पश्चिमी यूरोप मे समाजवाद आन्दोलन तथा समाजवादी विचारधारा
के अद्वितीय नेता के रूप में अपनी स्थिति कायम रखी।'[1] लन्दन रहकर ही ब्रिटिश म्यूजियम के अनेक
ग्रन्थो का गहन अनुशीलन कर उसने 'Das Capital' के तीन खण्डो और 'अतिरिक्त मूल्य के इतिहास'
के तीन खण्डो की सामग्री एकत्र की।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 41,

मार्क्स समाजवाद पर कार्य करता हुआ लन्दन में ही सन् 1883 में देवलोक सिधार गया। उसका व्यापक प्रभाव उसकी मृत्यु के बाद भी कायम रहा। यह निर्विवाद है कि आज भी जहाँ करोड़ो व्यक्ति उसे देवता की तरह पूजते है वहाँ करोड़ो मनुष्य उसे दानव कहकर उसकी निन्दा करते है। प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप समाजवाद में अनेक स्थायी मतभेदों के उत्पन्न हो जाने पर भी मार्क्सवाद का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद दोनों का अभ्युदय एक ही मूल स्रोत से हुआ।

रचनाएँ (Works)—मार्क्स ने अपने जीवनकाल में प्रचुर समाजवादी साहित्य की रचना की। उसकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं—

1. The Poverty of Philosophy (1847)
2. The Communist Manifesto (1848)
3. The Critique of Political Economy (1859)
4. Inaugural Address to the International Working Men's Association (1864)
5. Value, Price and Profit (1865)
6. Das Capital (1867)
7. The Civil War in France (1870 71)
8. The Gotha Programme
9. Class Struggle in France

मार्क्स के ग्रन्थो मे सर्वाधिक विख्यात 'कैपिटल' है जो पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली तथा उत्पादन व्यवस्था का विस्तृत विश्लेषण करते हुए उसकी अनिवार्य परिणति की ओर सकेत करता है। मार्क्सवाद का पूरा परिचय इसी ग्रन्थ मे मिलता है। इस पुस्तक को 'समाजवादी साहित्य पर सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ, साम्यवादी सिद्धान्तो की आधारशिला, श्रमिकों का धर्म-ग्रन्थ (Bible of the Working Class) तथा धनिको का दिमाग ठण्डा करने वाला नुस्खा (Prescription for Transquillisation of the Bourgeois Mind) कहा जाता है। इस ग्रन्थ का मूल विचार है कि "उत्पादन के साधनो के केन्द्रीयकरण के फलस्वरूप मजदूरो का समाजीकरण उस स्थिति पर पहुँच जाता है कि पूँजीवादी ढांचे से उसका मेल नही बैठता। यह ढाँचा या आवरण तोड दिया जाता है जिससे व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति हो जाती है, शोषण करने वाले खत्म कर दिए जाते हैं, पूँजीवादी युग की जगह औद्योगिक समाज का निर्माण होता है जिसमे भूमि और उत्पत्ति के साधनो पर सामूहिक स्वामित्व रहता है।"

मार्क्स का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Communist Manifesto' साम्यवादी दर्शन और क्रान्ति प्रक्रिया का मूलाधार है जिसमे 'सर्वहारा क्रान्ति' (Proletarian Revolution) की भविष्यवाणी की गई है। इस इतिहास-प्रसिद्ध ग्रन्थ का पहला वाक्य ही यूरोप के शासको मे भय का सचार कर देता है—"साम्यवाद का भूत यूरोप भर मे व्याप्त हो रहा है। इस भूत को भगाने के लिए पोप और जार, मेटरनिख और गीजाट, फ्रांस के क्रान्तिकारी और जासूस सब मिल गए हैं, लेकिन यह बढता ही आ रहा है।" उसके अन्तिम शब्द तो अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए अमर हैं—"दुनिया के मजदूरो, सगठित हो जाओ। अपनी बेडियो और दासता के सिवाय तुम कुछ नही खोओगे। एक नई दुनिया प्राप्त करोगे।" यह ग्रन्थ साम्यवादियो के लिए आज भी प्रामाणिक बना हुआ है।

मार्क्स का 'Critique of Political Economy' आर्थिक सिद्धान्तो का दूसरा ग्रन्थ है। यूरोपीय इतिहास तथा क्रान्ति प्रसगो पर 'Civil War in France', 'Class Struggle in France', 'Revolution and Counter-Revolution' आदि ग्रन्थ है। कार्यक्रम सम्बन्धी ग्रन्थ 'Critique of the Gotha Programme' मे मार्क्स ने यह स्पष्ट लिखा है कि एक दर्जन कार्यक्रम और रूपरेखा रखने की अपेक्षा वास्तविक रूप में आन्दोलन को बढाना अधिक हितकर है।

मार्क्स ने अनेक लेख, सस्मरण, गुप्तपत्र, सवाद, आलोचना, निबन्ध आदि भी लिखे।

मार्क्स के प्रेरणा स्रोत (The Sources of Marx's Thought)—मार्क्स के दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक मूलाधार तीन प्रकार के माने गए हैं, (1) इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (Materialistic or Economic Interpretation of History) जिसके लिए उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) का प्रयोग किया, (2) दूसरा वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle) जो मानव इतिहास का एकमात्र शाश्वत् नियम तथा अनिवार्य परिणाम है, एवं तीसरा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) जो पूँजीवाद की कटुतम आलोचना करने एवं श्रमिकों को उनके वास्तविक अधिकारों से परिचित कराता है। मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तथा विश्लेषण का सहारा ग्रहण करते हुए राज्य के लोप का काल्पनिक आदर्श प्रस्तुत किया है। अपने निष्कर्षों में वह मौलिक तथा प्रभावशाली है, लेकिन आर्थिक, ऐतिहासिक दार्शनिक विचारों में वह अपने युग के अनुकूल दूसरों से प्रभावित हुआ है।

मार्क्स पर सर्वप्रथम दो जर्मन दार्शनिक हीगल और फ्यूरबेक (Fuerbach) का प्रभाव पड़ा। हीगल से मार्क्स ने यह विचार ग्रहण किया कि इतिहास का निरन्तर और युक्तियुक्त विकास हो रहा है, किन्तु उसने इसे एक नया निर्वचन दिया जो हीगल से भिन्न था। हीगल के अनुसार इतिहास 'पूर्ण विचार का ही प्रत्यक्षीकरण' (Realisation of the Absolute Idea) है और इसके विकास में विवेक, स्वतन्त्रता, ईश्वर तथा विश्वात्मा सम्बन्धी विचार प्रधान रहे हैं जिनका वास्तविकता और अनुभव से पृथक् अस्तित्व है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) द्वारा इतिहास का निर्वचन किया है। मार्क्स ने भी इतिहास का निर्वचन किया है और द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाया है, किन्तु दोनों के निर्वचन में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हीगल ने इतिहास का आदर्शात्मक निर्वचन किया है जबकि मार्क्स का निर्वचन भौतिक है अर्थात् आर्थिक शक्तियों द्वारा हुआ है। इस कार्य में उसे मानववादी (Humanist) फ्यूरबेक के दर्शन से बहुत सहायता मिली जहाँ हीगल के अनुयायी अमूर्त विचारों (Abstract Ideas as Subject and Object) का प्रतिपादन करते थे, वहाँ उसने 'मैं' और 'तुम' स्थूल प्राणियों का अर्थात् हीगल के आदर्शवाद के स्थान पर मानववाद का प्रतिपादन किया, किन्तु फ्यूअरबेक ने अपनी विचारधारा को क्रियान्वित नहीं किया। वास्तव में यह कार्ल मार्क्स द्वारा पूरा हुआ जिसने दर्शन के स्थान पर व्यवहार को प्रधानता दी। मार्क्स सामाजिक सिद्धान्तों में दो प्रयोजन स्पष्ट हैं—प्रथम, मार्क्स का दर्शन हीगल के दर्शन की तरह इतिहास का दर्शन है। हीगल यह मानता था कि यूरोपीय इतिहास जर्मन राष्ट्र के उदय द्वारा पराकाष्ठा तक पहुँचेगा। मार्क्स का विश्वास था कि सामाजिक इतिहास सर्वहारा वर्ग के उदय में पराकाष्ठा तक पहुँचेगा। द्वितीय, हीगल के अनुसार उन्नति का साधन राष्ट्रों के बीच युद्ध था, किन्तु मार्क्स के अनुसार यह वर्ग-संघर्ष था। मार्क्स पर हीगल के के प्रभाव को जॉर्ज एच सेबाइन (Sabine) ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"मार्क्स का दर्शन दो दृष्टियों से हीगल के दर्शन से मिलता था। मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को कायम रखा और उसकी आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) के रूप में व्याख्या की। विचार सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, हीगल के चिन्तन में यह धारणा कुछ बिखरे हुए रूप में मिलती है। मार्क्स ने इस धारणा को क्रमबद्ध किया और उसे आधुनिक चिन्तन में प्रतिष्ठित स्थान दिया। हीगल के दर्शन के उदारतावाद-विरोधी तत्त्व मार्क्स के उग्रवाद में समाविष्ट हो गए।"[1]

सेबाइन ने ही एक अन्य स्थल पर लिखा है, "हीगल के विचारों में द्वन्द्वात्मक चिन्तन शीर्षासन कर रहा था, मार्क्स ने आदर्शवादी भ्रान्तियाँ दूर करके उसे प्राकृतिक स्थिति में पैरों के बल

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 703.

पर खड़ा किया। मार्क्स ने अपने ग्रन्थ 'Das Capital' के प्रथम भाग की भूमिका में स्वीकार किया है कि उसका अपना द्वन्द्ववाद 'हीगल से न केवल भिन्न है, बल्कि उसका ठीक उलटा है।' मार्क्स ने निःसन्देह हीगल के चिन्तन से लाभ उठाया, किन्तु हीगल की बातो को उसने ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया। उसने हीगल के चिन्तन का कायाकल्प कर उसके सिद्धान्त से इस धारणा को निकाल दिया कि राष्ट्र के सामाजिक इतिहास की कारगर इकाइयाँ होती है, उसने राष्ट्रों के संघर्ष के स्थान पर वर्ग संघर्ष की धारणा को प्रस्तुत किया। इस प्रकार मार्क्स ने हीगलवाद की विशेषताओं का अपहरण कर लिया। ये विशेषताएं थी—राष्ट्रवाद, अनुदारवाद तथा क्रान्ति विरोधी स्वर। उसने हीगलवाद को क्रान्तिकारी उग्रवाद का एक नया और शक्तिशाली दर्शन बना दिया। मार्क्सवाद 19वीं शताब्दी के दलगत समाजवाद का और फिर कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो सहित आधुनिक साम्यवाद का प्रवर्तक बन गया।"[1]

मार्क्स पर फ्रांसीसी समाजवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पडा। वह सेंट साइमन, चार्ल्स फोरियर प्रूधों आदि की विचारधारा से पूर्ण परिचित था। यद्यपि मार्क्स की भाँति ही सेंट साइमन भी यह अनुभव करता था कि भावी औद्योगिक युग के महत्त्व और उसकी सम्भावनाओं को केवल उसके आर्थिक विश्लेषण द्वारा ही सही रूप मे समझा जा सकता है, और यद्यपि चार्ल्स फोरियर का विश्वास था कि एक नवीन समाज की रचना के लिए मानव स्वभाव मे परिवर्तन के बजाय मनुष्य की आवासीय स्थितियो मे सुधार की आवश्यकता है, तथापि मार्क्स कल्पनावादियों की अपेक्षा 18वीं शताब्दी के फ्रांस की साम्यवादी परम्परा और केबेट (Cabet) के साम्यवाद की ओर अधिक आकर्षित हुआ। वह केबेट के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण था। यह इस बात से स्पष्ट है कि ब्रूसेल्स में स्थापित 'Communist League' को मार्क्स और ऐंजिल्स ने 'समाजवादी' की अपेक्षा 'साम्यवादी' कहना अधिक उपयुक्त समझा। केबेट के अनुरूप ही मार्क्स का भी विश्वास था कि उत्पादन के साधनो पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। सेन्ट साइमन ने श्रम के महत्त्व को स्पष्ट किया था और बतलाया था कि श्रम करने वाले को ही जीवित रहने का अधिकार है और जो श्रम नहीं करते तथा दूसरो के श्रम पर निर्भर रहते हैं उनका विनाश होना चाहिए। वर्गहीन समाज की स्थापना का सिद्धान्त मार्क्स ने इन्ही विचारो के अध्ययन द्वारा प्रतिपादित किया। प्रूधों और विर्टलिंग इन दो सर्वहारा वर्ग के विचारको ने भी मार्क्स को काफी प्रभावित किया था। प्रूधों के ग्रंथ 'Philosophy of Poverty' के प्रत्युत्तर मे मार्क्स ने 'Poverty of Philosophy' ग्रन्थ की रचना की जिसका उद्देश्य तत्कालीन जर्मन विचारधारा को क्रान्तिकारी स्वरूप देना था। मार्क्स पर ब्रिटिश समाजवादियो और अर्थशास्त्रियो ने भी बड़ी सीमा तक अपना प्रभाव डाला। थॉम्पसन, हॉग्सकिन तथा अन्य ब्रिटिश समाजवादियो ने श्रम को मूल्य का एकमात्र स्रोत बताया। इस धारणा का प्रभाव मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के सिद्धान्त पर स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रे (Gray) के अनुसार सामान्य व्यक्ति के लिए मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो के मूल्य-सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। ओवन (Owen) की यह धारणा कि चरित्र पर्यावरण (Environment) की सृष्टि है, मार्क्सवादी सिद्धान्त की एक सुनिश्चित पूर्वसूचना है।

इस प्रकार यह कहना उपयुक्त होगा कि पूंजीवाद की विषम शोषक अवस्था का लोप कर औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामो को दूर करने के लिए मार्क्स ने जिन सिद्धान्तो को 'साम्यवाद' के नए नाम से प्रस्तुत किया, वे हीगल, फ्यूअरबेक, एडम स्मिथ, रिकार्डो, सेन्ट साइमन आदि के विचारो से प्रभावित है। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिए इन विचारों का सार ग्रहण किया और अन्धानुकरण करने के बजाय अपने विचारो को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिए उनका प्रयोग किया। इन बिखरे

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 703.

हुए विचारो को एकत्रित कर उनमे तर्कसगकता (Logical Coherence) उत्पन्न की। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को आक्रामक और यौद्धिक बनाया। प्रो लास्की के शब्दो मे "मार्क्स ने साम्यवाद को अस्त व्यस्त स्थिति मे पाया और उसे एक आन्दोलन का रूप दे दिया। उसके द्वारा उसे एक दर्शन मिला और एक दिशा मिली।" नि:सन्देह मार्क्स के विचारो को एकदम मौलिक नही कहा जा सकता क्योकि "उसके विचारो का आधार बहुत से स्रोतो मे खोजा जा सकता हैं। उसने अपनी ईंटो को अनेक स्थानो से एकत्र किया था।"[1] किन्तु इससे "हम उसे द्वितीय श्रेणी का दार्शनिक नही कह सकते और न ही इससे उसका महत्त्व कम होता है।" मार्क्स की कृतियो का महत्त्व उनकी मौलिकता नही बल्कि सश्लेषणात्मकता है।

मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद
(The Scientific Socialism of Marx)

मार्क्सवादी समाजवाद को प्राय. सर्वहारा समाजवाद (Proletarian Socialism) तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मार्क्स अपने समाजवाद को इसलिए वैज्ञानिक कहता है कि यह इतिहास के अध्ययन पर आधारित है। उसके पहले साइमन, फोरियर तथा ओवन का समाजवाद वैज्ञानिक इसलिए नही था क्योकि वह इतिहास पर आधारित न होकर केवल कल्पना पर आधारित था। वेपर के शब्दो मे, "उन्होने केवल सुन्दर गुलाब के नजारे लिए थे, गुलाब के पौधो के लिए जमीन तैयार नही की थी।"

मार्क्स का दर्शन बडा विराट् तथा सुसम्बद्ध है। केटलिन (Catlin) के अनुसार उसका क्रान्तिकारी कदम वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त पर स्थित है, वर्ग-सघर्ष अतिरिक्त मूल्य के आर्थिक सिद्धान्त पर, आर्थिक सिद्धान्त इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर, व्याख्या मार्क्स-हीगल के द्वन्द्वात्मक पर और द्वन्द्ववाद भौतिकवादी आध्यात्मिक विद्या पर स्थित है। इस तरह स्पष्टत· मार्क्स की विचारधारा के आधार-स्तम्भ चार है—

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)
(2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)
(3) वर्ग सघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle)
(4) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)

ये चारो स्तम्भ, जिन पर मार्क्स ने अपने दर्शन का भवन निर्मित किया है, एक-दूसरे से गुँथे हुए है तथा उसकी विचारधारा की एक अविभाज्य इकाई है।

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन द्वन्द्वात्मक के सिद्धान्त पर आधारित है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने इतिहास के परिवर्तन और अध्ययन का भौतिकवादी दर्शन, वर्ग-सघर्ष और साम्यवाद की स्थापना आदि के विचार निर्धारित किए है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के दर्शन की वह आधारशिला है जिसका आश्रय समस्त साम्यवादी लेते हैं। 'Short History of the Communist Party of the Soviet Union' मे अधिकृत रूप से कहा गया है कि "द्वन्द्ववाद की सहायता से दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओ के आन्तरिक सम्बन्धो को समझ सकता है, उनकी दिशा को जान सकता है और वह न केवल यह जान सकता है कि वे वर्तमान मे किस

1 *Alexander Gray* The Socialist Tradition, p 299

प्रकार और किस दशा मे चल रही हैं, अपितु वह यह भी देख सकता है कि भविष्य मे उनकी दिशा क्या होगी।"[1]

यह दोहराना अप्रासगिक न होगा कि मार्क्स का द्वन्द्ववाद अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हीगल के द्वन्द्ववाद पर आधारित है यद्यपि हीगल के द्वन्द्ववाद को मार्क्स ने बिल्कुल उलटा कर दिया है। हीगल ने समाज को गतिमय तथा परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्वात्मा (World Spirit) या सूक्ष्मतम आत्म-तत्त्व को उसका नियामक कारण माना था। उसके अनुसार सृष्टि के विभिन्न स्थूल पदार्थों का ज्ञान या आभास उस प्रच्छन्न आत्म-शक्ति द्वारा ही सम्भव था। हीगल बुद्धिवादी था और आध्यात्मिक आदर्श उसका लक्ष्य था। परिवर्तन का कारण ढूँढने मे उसने प्रकृति के निरन्तर परिवर्तन का उदाहरण लिया। पुरानी चीजे समय पाकर नष्ट होती हैं और उसकी जगह नई चीजें उत्पन्न होती हैं, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। हीगल ने द्वन्द्वात्मकता के अन्तर्गत होने वाले बौद्धिक क्रम को 'अस्तित्व मे होना' (Being), 'अस्तित्व में न होना' (Non being) और 'अस्तित्व मे आना' (Becoming) के रूप मे 'वाद' (Thesis), 'प्रतिवाद' (Antithesis) और 'सश्लेषण' (Synthesis) की सज्ञा दी। हम किसी भी अमूर्त (Abstract) विचार को 'वाद' से प्रारम्भ करते हैं। स्वाभाविक रूप से विचार में विरोध (Contradiction) उत्पन्न होता है जिसे हम प्रतिवाद' कहते हैं। वाद और प्रतिवाद मे द्वन्द्व के फलस्वरूप समन्वय हो जाता है जिससे एक नवीन विचार की उत्पत्ति होती है। इसे हीगल समन्वय-वाद अथवा सश्लेषण (Synthesis) का नाम देता है—यही सश्लेषण आगे चलकर एक 'वाद' हो जाता है जो फिर 'प्रतिवाद' का रूप ग्रहण करता है तथा उससे संश्लेषण द्वारा पुनः नया विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का निषेध (Negation), तत्पश्चात् निषेध का निषेध (Negation of Negation) होता है जिसके द्वारा एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व मे आती है। "सही अर्थों में द्वन्द्वात्मकता विरोधी तत्त्वो का अध्ययन है। विकास विरोधी तत्त्वो के बीच सघर्ष का परिणाम है।"—हीगल ने ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तनो के प्रति अपने इस नवीन दृष्टिकोण के कारण यह निष्कर्ष निकाला कि इतिहास घटनाओं की केवल शृंखला मात्र नहीं है प्रत्युत् विकास की एक प्रक्रिया है और विरोध उसका मुख्य प्रेरक सिद्धान्त है।

मार्क्स हीगल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित अवश्य हुआ, लेकिन उसने हीगल के आदर्शवाद को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। मार्क्स कट्टर भौतिकवादी था, इसीलिए उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। जहाँ हीगल के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आधार विचार (Idea) है और समस्त जगत् एक निरपेक्ष विचार (Absolute Idea) की अभिव्यक्ति है, वहाँ मार्क्स के अनुसार विचार नही, बल्कि भौतिक पदार्थ ही इस जगत् का आधार है। भौतिक जगत् की वस्तुएँ तथा घटनाएँ परस्पर अवलम्बित हैं। भौतिक जगत् मे परिवर्तन होता रहता है—कुछ प्रवृत्तियाँ विकसित होती है, कुछ नष्ट होती हैं तो कुछ की पुनरावृत्ति होती है। यह विकासक्रम निरन्तर चलता रहता है। मार्क्स यह भी कहता है कि विकास की पृष्ठभूमि मे समस्त प्राकृतिक पदार्थों में एक आभ्यान्तरिक विरोध रहता है जिससे भौतिक जगत् का विकास होता है। इसके तीन अग होते हैं—वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण या सवाद। इस प्रकार मार्क्स का भौतिक द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त विकासवाद का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ, यदि गेहूँ के दाने (पदार्थ) के द्वन्द्व का अध्ययन करें तो विदित होगा कि उसका विकास हो रहा है। उसे जमीन मे गाड देने से उसका वह रूप नष्ट हो जाता है, वह अकुर के रूप मे प्रकट होती है, अकुर भी अपनी स्थिति पर स्थाई नही रहता, उसका विकास एक लहलहाते पौधो के रूप में होता है। इस सघर्षपूर्ण स्थिति का परिणाम यह होता है कि एक गेहूँ के दाने के विकास के द्वारा अनेक दाने उग आते हैं। विकास का यही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त भौतिकवादी है। यदि गेहूँ का बीज 'वाद' है तो पौधा उसका 'प्रतिवाद' है और पौधे का नष्ट होकर नए दानो का जन्म 'सश्लेषण' है। यहाँ तो सघर्ष विकास के सोपान के रूप में चलता रहता है। वह बाह्य न होकर आन्तरिक है।

[1] Quoted in *Carew Hunt*. Theory and Practice of Communism, p. 28.

विशेषतायें

मार्क्स के भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

प्रथम विशेषता यह है कि यह प्रकृति को आकस्मिक एकत्रित की हुई वस्तुओं का समूह नहीं मानता। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध तथा परस्पर निर्भर है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त विश्व में प्राकृतिक सावयविक एकता व्यक्त करता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की दूसरी विशेषता वस्तुओं की गतिशीलता है। भौतिक पदार्थ गतिहीन नहीं है। प्रकृति के प्रत्येक कण, यहाँ तक कि रेत के छोटे से छोटे कण से लेकर सूर्य पिण्ड तक गतिशील है और उनमें परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति में नित्य प्रतिद्वन्द्व के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं और ये परिवर्तन नीचे से ऊपर की ओर उठने वाले होते हैं। प्रकृति के द्वन्द्व के आधार पर पदार्थ विकासोन्मुख है। नवीन पदार्थों का निर्माण और प्राचीन का विनाश विकासक्रम है। अतः मार्क्स का द्वन्द्ववाद चराचर जगत् के सावयवी अध्ययन के साथ जीवन की गतिशीलता का वर्णन भी है। द्वन्द्ववाद की तीसरी विशेषता यह है कि परिवर्तन मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। गेहूँ के एक अंकुर का कई दानों में परिणत हो जाना यदि मात्रात्मक परिवर्तन है तो निषेध के निषेध (Negation of Negation) द्वारा पानी का बर्फ में परिणत होना गुणात्मक परिवर्तन है। प्रकृति में जीवशास्त्रीय, रसायनशास्त्रीय एवं भौतिकशास्त्रीय क्षेत्र में यह परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में यह परिवर्तन द्वन्द्व के कारण होता है तथा मात्रा से गुण की ओर परिवर्तन आकस्मिक होता है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद की चौथी विशेषता प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक विरोध है। प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—उनका सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative) स्वरूप, जिनमें निरन्तर द्वन्द्व या संघर्ष चलता रहता है। पुराना तत्त्व नष्ट होकर नवीन उत्पन्न होना जारी है। इन दोनों का निरन्तर संघर्ष ही विकास का क्रम है। कार्ल मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त से ही यह प्रमाणित करना चाहता है कि पूँजीवाद के शोषक स्वरूप के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना किस प्रकार होगी। उसके लिए पदार्थ (Matter) अन्तिम वास्तविकता थी और एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना जिसमें एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण न हो, विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य था। मार्क्स की धारणा थी कि वह हीगल की विश्वात्मा को एक आत्मिक शक्ति मानकर अपने द्वन्द्ववाद सम्बन्धी विश्वास और अपने भौतिकवाद से संयुक्त कर सकता है। इसके द्वारा उसने केवल उस महान् शक्ति को ही खोज निकाला जो मानवता को निषेध तक संचालित करती रहती है, वल्कि हीगल के द्वन्द्ववाद को भी उलटा खड़ा कर दिया जिसके परिणामस्वरूप उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आविर्भाव हुआ। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में दो या दो से अधिक आर्थिक शक्तियों में विरोध रहा है और इस विरोध के कारण विकास होता रहा है, इस तरह द्वन्द्ववाद के पीछे आर्थिक शक्तियाँ रही हैं। अब वर्तमान युग में पूँजीवाद और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के फलस्वरूप पूँजीवाद का अन्त होगा और साम्यवाद की स्थापना होगी। द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास के कारण ही मार्क्स ने यह परिणाम निकाला कि समाजवाद अथवा साम्यवाद का भवन केवल पूँजीवाद की भस्म पर ही बन सकता है। कोल (Cole) के अनुसार मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का आधार निम्नलिखित है—

इतिहास की प्रत्येक मंजिल अर्थात् युग में उत्पादन शक्तियों से मनुष्यों में इस प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध पैदा होते हैं। मार्क्स का कहना है कि सम्पूर्ण मानव-इतिहास में इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप मनुष्य आर्थिक वर्गों में विभक्त रहे हैं—प्राचीन ग्रीस में स्वतन्त्र नागरिक एवं दास, रोम में पेट्रीशियन तथा प्लीबियन, मध्ययुग में भूमिपति और दास-किसान तथा वर्तमान युग में पूँजीपति और मजदूर वर्ग, और इनके बीच संघर्ष से ही मानव-इतिहास की प्रगति हुई। अस्तु मार्क्स के अनुसार ये वर्ग ही विचार और विरोधी विचार (Thesis and Antithesis) थे और नए वर्ग सश्लेषण (Synthesis) है। इस वर्ग-संघर्ष का अन्त वर्गहीन समाज में होगा। मार्क्स की धारणा थी कि पूँजीवाद में पतन के बीज इसी प्रकार निहित हैं जिस प्रकार हीगल के अस्तित्व (Being) के 'वाद' में उसका 'प्रतिवाद'—अस्तित्वहीनता

(Non-Being)। द्वन्द्ववाद की गतिशीलता के माध्यम से पूँजीवाद के विनाश के इस विचार के पीछे मार्क्स की यही धारणा काम करती रही है कि उत्पादन प्रणाली से जीवन की सामाजिक एव राजनीतिक प्रक्रिया का साधारण स्वरूप निर्धारित होता है। इतिहास का विकास एक के बाद दूसरी मंजिल से होकर गुजरा है और प्रत्येक मंजिल अथवा युग मे एक विशेष प्रकार की उत्पादन व्यवस्था रही है। यह सभी प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, परन्तु द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के पीछे जो आर्थिक शक्तियाँ रही हैं वे ही वास्तविक हैं और विचारात्मक सम्बन्ध (Ideological Relations) केवल ऊपरी अथवा दिखावटी हैं।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद मे तीव्र गुणात्मक परिवर्तन द्वारा क्रान्ति का औचित्य सिद्ध किया था। मार्क्स ने बतलाया कि मन्द गति मात्रात्मक परिवर्तन के स्थान पर तीव्रगति से गुणात्मक परिवर्तन द्वन्द्ववाद की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। शोषित वर्ग शनैः-शनैः उन्नति न कर क्रान्ति के रूप में तीव्रगति से परिवर्तन करेगा। क्रान्ति इस प्रकार पूर्णतया उचित और न्यायसंगत हो जाती है। मार्क्स पूँजीवाद से मुक्ति पाने और और शोषित को उन्नति की ओर बढ़ने के लिए क्रान्ति को अनिवार्य ठहराता है। इसलिए प्रत्येक को नीति मे त्रुटि किए बिना सुधारक न होकर क्रान्तिकारी होना चाहिए।

द्वन्द्ववाद द्वारा मार्क्स वर्ग-सघर्ष को अवश्यम्भावी मानता है। द्वन्द्ववाद प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को आन्तरिक विरोधयुक्त मानता है। आन्तरिक विरोध ही सघर्ष का कारण और उन्नति का मूलमन्त्र है। मार्क्स इसी सिद्धान्त के आधार पर वर्ग संघर्ष को उचित ठहराता है। पूँजीवाद में अन्तर्निहित विरोध सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति वर्ग के साथ सघर्षरत रखता है। सेबाइन के अनुसार, "मार्क्स की ज्यादा दिलचस्पी इस बात मे थी कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति को ठोस परिस्थितियो मे लागू कर, विशेषकर इस उद्देश्य से कि उसके आधार पर क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए किसी कार्यक्रम की खोज की जा सके, सन् 1848 में उसने और एंजिल्स ने कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो में, जो समस्त युगो की एक बड़ी क्रान्तिकारी पुस्तिका बन गई है, वर्ग-संघर्ष को अब तक के समस्त समाजो का मूल मन्त्र माना।"

सार रूप में कहा जा सकता है कि मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण आर्थिक वर्ग हैं, विचार नहीं। जिस लक्ष्य की ओर मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अग्रसर हो रहा है वह ऐसे समाज की स्थापना का लक्ष्य है जिसमें न कोई वर्ग-भेद होगा और न कोई शोषण। यह अन्तिम सश्लेषण (Synthesis) होगा जिसमे 'प्रतिवाद' (Antithesis) का जन्म नहीं होगा। वर्गहीन समाज की स्थापना के साथ वर्ग संघर्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जाएगी।

हीगल और मार्क्स

मार्क्स के द्वन्द्ववाद का वर्णन समाप्त करने से पहले हीगल और मार्क्स के द्वन्द्व के अन्तर और समय पर कुछ और विचार कर लेना उचित होगा। यद्यपि हीगल की भाँति मार्क्स का दर्शन भी सामाजिक दर्शन था और इसमें विकास की उन प्राकृतिक अवस्थाओं का उल्लेख कर दिया गया था जो द्वन्द्वात्मक पद्धति के आन्तरिक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं, तथापि दोनो के विचारों मे बहुत अन्तर था। सेबाइन से शब्दो में—

"हीगल का यह विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्रों के विकास मे हुई है और जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व सम्भालेगा। इसके विपरीत मार्क्स का यह विश्वास था कि सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में हुई और यह वर्ग समाज मे महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा। हीगल के समाज दर्शन में प्रेरक शक्ति एक स्वविकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो बारी-बारी से इतिहास-प्रसिद्ध राष्ट्रों के रूप में व्यक्त होता है। इसके विपरीत मार्क्स के दर्शन मे यह प्रेरक तत्त्व वे स्वविकासशील शक्तियाँ हैं जो आर्थिक वितरण के बुनियादी ढगो मे तथा उनसे सम्बद्ध सामाजिक वर्गों में व्यक्त होती है। हीगल के लिए प्रगति का तत्त्व राष्ट्रों के संघर्ष में निहित था, मार्क्स के लिए वह तत्त्व सामाजिक वर्ग-सघर्ष में निहित था। दोनों व्यक्ति इतिहास के प्रवाह को तर्कसम्मत ढंग से आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि यह प्रवाह एक सुनिश्चित

योजना के अनुसार संचालित होता है और एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढता है।" हीगल के दर्शन की अपेक्षा मार्क्स के दर्शन के विकास-क्रम मे हस्तक्षेप का अधिक भाव था। "मार्क्स के दर्शन मे कार्य करने की अपनी प्रेरणा थी। जहाँ हीगल देशभक्ति के भाव के प्रति अपील करता था, वहाँ मार्क्स मजदूरो की वर्ग-निष्ठा के प्रति अपील करता था। दोनो ही अवस्थाओ मे अपील सामुदायिक थी जो स्वार्थ के प्रति न होकर कर्त्तव्यो के प्रति होती थी, तथापि वह व्यक्तियो को अपनी भावनाओ और कर्त्तव्यो की ओर आकर्षित कर सकती थी। इस अपील मे मनुष्यो से प्रार्थना की जाती थी कि वे अपनी इच्छा अर्थात् अपने स्वार्थ को दबा कर सभ्यता की दुर्निवार यात्रा में अपना उचित स्थान ग्रहण करें। मार्क्स के दर्शन में इस अपील का उद्देश्य मजदूरो को सामाजिक क्रान्ति की योजना समझा कर इसके लिए तैयार करना था।"

मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के महत्त्व को भली-भाँति समझा था। सेबाइन के शब्दो मे, "मार्क्स का मत था कि यद्यपि अनुदार हीगलवादियो ने हीगल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढग से प्रयोग किया है, फिर भी वास्तव मे हीगल का दर्शन क्रान्तिकारी है। हीगल के दर्शन को वास्तविक महत्त्व देने का एकमात्र उपाय यह है कि उसे क्रान्तिकारी दल का बौद्धिक उपकरण बना दिया जाए। हीगल के दर्शन की सबसे क्रान्तिकारी विशेषता यह है कि उसमे धर्म की आलोचना की गई है। द्वन्द्वात्मक पद्धति यह सिद्ध करती है कि समस्त कथित निरपेक्ष सत्य और धार्मिक मूल्य सापेक्ष होते हैं। उनमे से कुछ सामाजिक परिणाम के रूप मे होते है जो किसी समुदाय के लौकिक तथा ऐतिहासिक विकास के दौरान उत्पन्न हो जाते हैं।"[1]

मार्क्स की दृष्टि से द्वन्द्वात्मक पद्धति का पहला उपयोग तो यह था कि उसके आधार पर रूढिवादी तथाकथित निरपेक्ष मूल्यो का खण्डन किया जा सकता था और वास्तविक तथा सम्भावित के बीच हीगल द्वारा प्रतिपादित भेद को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की भौतिकवादी व्याख्या का यह अभिप्राय था कि धार्मिक रूढियो और धार्मिक सत्ता के प्रतीकात्मक अर्थों से मुक्त होकर यह समझा जाए कि धर्म समाज की एक बहुत बडी प्रतिक्रियावादी तथा अनुदार शक्ति रही है।

"मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के व्यावहारिक प्रयोग का केवल यही एक निष्कर्ष नही निकाला कि धर्म को त्याग दिया जाए, उसका यह भी विश्वास था कि हीगल ने फ्राँसीसी क्रान्ति और मनुष्य के क्रान्तिकारी अधिकारो का जिस ढग से निषेध किया था वह भी द्वन्द्वात्मक पद्धति को ध्यान मे रखते हुए सच्चा प्रमाणित होगा क्योकि ये चीजें भी उसी तरह निरपेक्ष नही हो सकती जिस प्रकार धार्मिक विश्वास निरपेक्ष नही होते। ये चीजें भी विकास की किसी विशिष्ट अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। मार्क्स द्वन्द्वात्मक पद्धति को क्रान्तिकारी मानता था, इसलिए उसके लिए हीगल की आलोचना की पुनर्व्याख्या करना जरूरी था। आध्यात्मिक राज्य अन्तिम रूप अथवा अन्तिम सश्लेषण नही हो सकता। द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार यह आवश्यक है कि एक उच्चतर स्तर पर राजनीतिक क्रान्ति के विरोध मे सामाजिक क्रान्ति हो।"[2]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मार्क्स का सारांश
(Marx's Summary of his Dialectical Materialism)

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त उसकी अनेक रचनाओ मे बिखरा हुआ मिलता है। मार्क्स ने एक अवतरण मे अपने निष्कर्षों का सारांश दिया है जो स्पष्टता और शक्ति की दृष्टि से बेजोड है। इसे प्रो सेबाइन ने अपने ग्रन्थ 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास' में न केवल उद्धृत ही किया

1-2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 709.

है प्रत्युत् उसकी विद्वतापूर्ण व्याख्या भी की है। यहाँ मार्क्स के अवतरण और सेबाइन की व्याख्या, दोनों को ही ज्यो का त्यो प्रस्तुत किया जा रहा है—

अवतरण—"मनुष्य सामाजिक उत्पादन-कार्यों के दौरान आपस मे एक निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लेते हैं। इन सम्बन्धो के बिना उनका काम नहीं चल सकता, अतः वे अपरिहार्य और मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर होते है। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादनो के भौतिक तत्त्वो के विकास की विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हुआ करते है। इन उत्पादनो के सम्बन्धो के सम्पूर्ण योग से ही समाज का आर्थिक ढाँचा खडा होता है और वही असली नीव होता है जिस पर विधायी और राजनीतिक, व्यवस्थाओ का निर्माण होता है और इसी ढाँचे के अनुरूप मनुष्यो की सामाजिक चेतना निश्चित रूप धारण करती है। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति से ही जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओ का सामान्य रूप निर्धारित होता है। मनुष्यो का जीवन उनकी चेतना से निर्धारित न होकर उनके सामाजिक जीवन से उनकी चेतना का निर्माण होता है। समाज के विकास मे एक ऐसी अवस्था आती है जब उत्पादन के भौतिक तत्त्वो और तत्कालीन उत्पादन के सम्बन्धो मे अर्थात् सम्पत्ति विषयक सम्बन्धो के बीच जिनके अन्तर्गत वे तत्त्व पहले से कार्यशील रहते आए है, सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दो मे ये सम्बन्ध उत्पादन के तत्त्वो के विकास मे बाधा उत्पन्न करने लगते है। तब सामाजिक क्रान्ति का युग आरम्भ होता है। इस प्रकार, आर्थिक नीव के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था शीघ्र ही बदल जाती है। इस परिवर्तन पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक परिवर्तन जो प्राकृतिक विज्ञान की शुद्धता के साथ निर्धारित हो सकता है और विधायी राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्य सम्बन्धी तथा दार्शनिक रूपो के परिवर्तन के बीच सदैव ही भेद रखना चाहिए जिनमे आदमी इस सघर्ष को समझने लगता है और उनसे सघर्ष करता है।......किन्तु स्मरण चाहिए कि कोई सामाजिक व्यवस्था तब तक विलुप्त नही होती जब तक उत्पादन के तत्त्व, जिनके लिए उसमे गुंजाइश होती है, पूर्णतया विकसित नही हो जाते, और उत्पादन के नए उच्चतर सम्बन्ध तब तक प्रकट नही होते जब तक पुराने समाज की कोख मे ही उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नही हो जाती। इसलिए मनुष्य जाति उन्ही समस्याओ को अपने हाथो मे लेती है जिन्हे वह हल कर सकती है, बल्कि अधिक ध्यान से देखने पर विदित होगा कि कोई समस्या उठती ही तब है जब उसके हल के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकती हैं अथवा उत्पन्न होने लगती हैं।"

मार्क्स के इस अवतरण की व्याख्या सेबाइन ने इन शब्दो मे की है—

"मार्क्स ने उपर्युक्त अवतरण मे सांस्कृतिक विकास के विषय मे जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है उसमे चार मुख्य बातें हैं। प्रथम, यह विभिन्न अवस्थाओ का अनुक्रम है। प्रत्येक अवस्था मे वस्तुओ के उत्पादन और विनिमय की एक विशिष्ट व्यवस्था हुआ करती है। उत्पादन शक्तियों की यह व्यवस्था अपनी विशिष्ट और उपयुक्त विचारधारा का निर्माण करती है। इस विचारधारा में विधि और राजनीति तो शामिल हैं ही, सभ्यता के तथाकथित आध्यात्मिक तत्त्व भी शामिल होते है जैसे आचार, धर्म, कला और दर्शन। एक आदर्श प्रतिमा के रूप मे प्रत्येक अवस्था पूर्ण और व्यवस्थित होती है। वह एक समन्वित इकाई होती है जिसमें वैचारिक तत्त्व उत्पादन की शक्तियो के साथ घुलमिल जाते हैं। वास्तविक व्यवहार में उदाहरण के लिए 'कैपिटल' के विवरणात्मक और ऐतिहासिक अध्यायो में मार्क्स ने अपने सिद्धान्त की तार्किक कठोरता को कम कर दिया है। उत्पादन की शक्तियाँ एक ही समय मे विभिन्न देशो मे विभिन्न तरीके से कार्य करती हैं। ये एक ही देश के विभिन्न उद्योगो में विभिन्न रूपो में होती है। उनमे पुरानी व्यवस्था के स्मारक और नई के अकुर होते हैं। फलत. एक ही जनसख्या के विभिन्न स्तरो की विभिन्न विचारधाराएँ होती हैं। दूसरे, सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है। उत्पादन की नव-विकसित प्रक्रिया तथा पुरानी प्रक्रिया के बीच जो आन्तरिक सघर्ष होते है, वही इसकी प्रेरक शक्ति

होती है। उत्पादन की नई पद्धति स्वयं को एक विपरीत वैचारिक वातवरण में पाती है। नई उत्पादन पद्धति के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी वैचारिक पद्धति नष्ट हो जाए। पुरानी पद्धति की विचारधारा नई पद्धति का अधिकाधिक बहिष्कार करती है। इसके परिणामस्वरूप आन्तरिक खिचाव और तनाव यहाँ तक बढ जाते है कि वे टूटने लगते है। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुरूप ही नया सामाजिक वर्ग पैदा हो जाता है और उसकी अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार अपनी एक नई विचारधारा बन जाती है। इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा के साथ सघर्ष होता है। विकास का सामान्य क्रम यही रहता है। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुरूप ही एक नवीन विचारधारा बनती है जिसका पुरानी विचारधारा के साथ सघर्ष होता है। इस सघर्ष के परिणामस्वरूप एक अन्य विचारधारा का उदय होता है और यह क्रम चालू रहता है। तीसरे, वस्तुओ के उत्पादन और उनके वितरण की पद्धति वैचारिक निष्कर्षों की तुलना मे सदैव महत्त्वपूर्ण होती है। भौतिक अथवा आर्थिक शक्तियाँ सदैव वास्तविक अथवा सार्थक होती हैं। इसके विपरीत वैचारिक सम्बन्ध सदैव प्रतीयमान अथवा सघटनापरक होते हैं। इसका अभिप्राय यह नही होता कि वैचारिक सम्बन्धो का अस्तित्व नही होना अथवा वे वास्तविकता पर कोई प्रभाव नहीं डालते, उनका पारस्परिक सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है, केवल कार्य-कारण सम्बन्धी नही। यह भेद ही हीगल की शब्दावली मे वास्तविकता अथवा महत्ता की श्रेणियो के बीच है। अन्तर सिर्फ यह है कि मार्क्स वैचारिक तत्त्वो के स्थान पर भौतिक तत्त्वो को सार्थक मानता है। चौथे, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया प्रस्फुटित होने की आन्तरिक प्रक्रिया है। समाज की उत्पादक शक्तियाँ पहले पूरी तरह विकसित हो जाती हैं एवं इसके बाद उनमे द्वन्द्वात्मक परिवर्तन होता है। चूँकि विचार सम्बन्धी ऊपरी रचना अन्तरंग आध्यात्मिक तत्त्व के आन्तरिक विकास को ही प्रकट करती है, अतः चेतना के ऊपरी धरातल पर जो समस्या दिखाई देती है उसकी चेतना की और परतें खुलने पर सदैव ही उसका समाधान सम्भव हैं। इस आध्यात्मिक निष्कर्ष का कोई व्यावहारिक प्रमाण नही मिलता।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना
(Criticism of Dialectical Materialism)

मार्क्स का सम्पूर्ण दर्शन यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद रूपी स्तम्भ पर टिका हुआ है, तथापि मार्क्स ने इस सम्बन्ध मे अपने विचारो को स्पष्ट रूप से कही भी व्यक्त नहीं किया है। मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की आलोचना मे प्रायः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

1. वेपर के अनुसार—"द्वन्द्वात्मक की धारणा अत्यन्त गूढ एवं अस्पष्ट है। इसको मार्क्स ने कहीं भी स्पष्ट नही किया है।"[1] उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया है कि पदार्थ किस प्रकार गतिशील होता है। लेनिन ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि हीगल के आदर्शवाद का अध्ययन किए बिना मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को नही समझा जा सकता। वस्तुतः मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है। एँजिल्स तथा अन्य बडे साम्यवादी लेखक अपनी रचनाओ मे इसे अत्यधिक महत्त्व देते हैं तथा सभी स्थानो पर इसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन विस्तृत रूप से वे कही उसकी विवेचना नहीं करते।

2. सामान्य रूप से यह माना जा सकता है कि सघर्ष मानवीय विषयों में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है, किन्तु उसे एक विश्व व्यापी नियम मानना अथवा ऐतिहासिक विकास मे उसे चालक-शक्ति का श्रेय देना न उपयुक्त है और न आवश्यक ही। केरयूहण्ट के अनुसार, "द्वन्द्ववाद यद्यपि हमे मानवविकास के इतिहास मे मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है, तथापि मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसधान करने के लिए यही एकमात्र पद्धति है।"[2]

1 *Wayper* : Political Thought, p. 201.
2 *Carew Hunt* : Theory and Practice of Communism, p 29.

केवल एक पक्का मार्क्सवादी ही गेहूँ के दाने के प्रस्फुटित होने, उसमे उण्ठल उगाने और अन्त मे गेहूँ पैदा होने मे द्वन्द्ववाद की क्रीडा के दर्शन कर सकता है तथा प्रस्फुटन को वह दाने का निषेध और दाने की उत्पत्ति को वह 'निषेध का निषेध' समझ सकता है। लेकिन एक सामान्य व्यक्ति के लिए गेहूँ के पौधो के विकास मे अथवा ऐसी ही किसी अन्य क्रिया मे न तो संघर्ष और न कोई विरोध, इसलिए कोई द्वन्द्व नही है। ऐसी घटनाओं को बिना द्वन्द्व की सहायता के भी भली प्रकार समझा जा सकता है।

3 मार्क्स ने भौतिकवाद को अपनी शक्तियो का आधार माना है, किन्तु समार का विकास उत्पादन शक्तियाँ (Productive Forces) ही है, यह कैसे मान लिया जाए ? यह सही है कि आधुनिक युग मे विकास की गति भौतिकता की ओर उन्मुख है, लेकिन सर्वकालिक विकास को ध्यान मे रखने से विदित होगा कि मनुष्य का उद्देश्य सदैव केवल मात्र भौतिक समृद्धि ही नही रहा है। हीगल ने इन शक्तियो को आध्यात्मिक माना था और यह कहा था कि द्वन्द्ववाद द्वारा ससार का विकास भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर हो रहा है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपनाते हुए आध्यात्मिकता के स्थान पर उसको भौतिकता मे परिवर्तित कर दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नही किया है कि 'आध्यात्मिक शक्तियो' (Spiritual Forces) के स्थान पर उत्पादन शक्तियाँ (Productive Forces) कैसे अधिक सही है। केवल यह कह देने मात्र से तार्किक सगति नही हो जाती कि हीगल गलत था, उसका सिद्धान्त सिर के बल खडा था। इस सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता कि विश्व के भौतिकवादी विकास का रुख एक बार पुन आदर्शवाद अथवा आध्यात्मवाद की ओर उन्मुख हो सकता है। वर्तमान इतिहास के विद्वान् इस सम्भावना से सहमत हैं।

"टायनबी, स्पेंगलर, सोरोकिन और भारत के श्री अरविंद ने द्वन्द्ववाद मे आगे खोज की और ये चारो ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ससार का आधुनिक भौतिकवाद उन तीन या चार तत्त्वो मे से एक है और एक वृत्त मे घूमते है। सोरोकिन इन्हे 'Super System' कहता है जिसके अनुसार विचारवाद (Ideative), आदर्शवाद (Idealistic) और विलासितावाद (Sensate) के युग मे लगातार एक वृत्त में घूमते रहते हैं। जब एक तत्त्व सामने आता है तो बाकी के दो पीछे चले जाते है पर अस्तित्व तीनो का रहता हैं। बारी-बारी से प्रत्येक की प्रधानता का युग आता है और विकास तीनो के योग का परिणाम होता हैं। प्राचीन भारत के साँख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद का सबसे प्राचीन सिद्धान्त इन तीनो को सत्, रज, तम के रूप मे व्यक्त करता है और इन्ही के आधार पर भारतीय दर्शन मे अभी तक चतुर्युग सिद्धान्त की मान्यता है। श्री अरविंद की सृष्टि के विकास मे चार तत्त्वो की खोज इसी आधार पर है। ये है आत्मिक तत्त्व, मानसिक तत्त्व, जीवन तत्त्व और भौतिक तत्त्व (Spirit, Mind, Life and Matter)। ये चारो तत्त्व पुनरावृत्ति करते हुए द्वन्द्वात्मक गति से अग्रसर होते है और विकास की गति एक रेल के पहिए की भाँति हो जाती है जो अपने स्थान पर चक्कर काटती हुई आगे बढती है। जिस प्रकार मार्क्स ने समार के विकास हेतु भौतिकता का विकास और हीगल ने आध्यात्मिकता का विकास आवश्यक माना है। ये चारो ही तत्त्व भागवत् तत्त्व है और पूर्णत्व की अवस्था वह है जिसमे इन चारो का सामजस्य होगा जिसमे आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होगी। भौतिकता तो केवल एक अस्थाई अवस्था है जिसमे उसका अधिक विकास हो रहा है। इसके बाद आत्मिक युग का प्रादुर्भाव होगा और तब उसका अधिक विकास दृष्टिगोचर होगा।"

4 मार्क्स की मान्यता है कि पदार्थ चेतनायुक्त नहीं होता, अपितु एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण उसका विकास स्वय ही होता है और वह अपने विरोधी को जन्म देता है, किन्तु मार्क्स की यह मान्यता ठीक नहीं है। यह नही कहा जा सकता है कि पदार्थ अपनी चेतना के कारण अपने विरोधी तत्त्व को जन्म दे सकता है। वास्तविकता यह है कि पदार्थ मे परिवर्तन बाह्य शक्तियो द्वारा होते है। एक विशेष परिस्थिति के अभाव मे न तो गेहूँ का बीज पौधे के रूप मे परिवर्तित हो सकता है और न पौधा अन्य बीजो मे। इसके अतिरिक्त एक पत्थर सदा पत्थर ही रहता है। अन्तर्निहित गतिशीलता के

कारण उसका परिवर्तन क्यों नहीं होता और यदि एक मिनिट के लिए यह मान भी लिया जाए कि पदार्थों में परिवर्तन आन्तरिक गतिशीलता के कारण होता है तो यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि यह विकास विरोधी तत्वों में सघर्ष के द्वारा होता है।[1]

5 फ्यूअरबेक का कथन है कि भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य परिस्थिति और शिक्षा के अनुसार ढलता है। इस प्रकार मनुष्य में परिवर्तन परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण होते हैं, किन्तु इस कथन की आलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है कि फ्यूअरबेक यह भूल जाता है कि परिस्थितियों में परिवर्तन मनुष्य के द्वारा ही होता है। आगे मार्क्स कहता है कि "मनुष्य अपने इतिहास का स्वय निर्माण करता है यद्यपि वह ऐसा स्वय की चुनी हुई परिस्थितियों के द्वारा नहीं करता।" इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन किया है, तथापि वह स्वय इन विरोधी विचारों में भटक गया है कि मनुष्य परिस्थितियों का निर्माण करता है अथवा परिस्थितियाँ मनुष्य का निर्माण करती हैं।

6 मार्क्स के द्वन्द्ववाद में विकास की शक्ति पशुबल है और क्रान्ति ही विकास का हेतु है। क्रान्ति यदि कृत्रिम तरीकों से भी लाई जाए तो भी समाज अपनी उच्चावस्था को प्राप्त करेगा। लेनिन के अनुसार सघर्ष की शक्तियों को एक बार पहचान लेने के बाद उसे तीव्र करके उस क्रान्ति को जिसे आने में हजारों वर्ष लग जाते हैं, कुछ ही वर्षों में लाया जा सकता है। इस तरह समाज की उच्चतर अवस्था के लिए क्रान्ति की चरम सीमा को आवश्यक मानने का परिणाम शक्ति और हिंसा का अनिवार्य प्रयोग हुआ है। किन्तु क्रान्ति अनिवार्य हो, ऐसी बात नहीं है। श्री अरविंद का विचार है 'प्रतिवाद' (Antithesis) की शक्ति पहचान कर उसका निराकरण करते रहना और 'वाद' (Thesis) का बराबर आह्वान करते रहने से 'सश्लेषण' (Synthesis) की अवस्था स्वत आ सकती है। उन्होंने ससार के विकास को दो भागों में बाँटा है—अचेतन और सचेतन। मनुष्य के नीचे तक का विकास अचेतन है क्योंकि अन्य प्राणी आत्मा के रहस्य से अपरिचित होते हैं। "इसलिए वे अचेतनावस्था में प्रकृति की द्वन्द्वात्मक परिधि में अनजाने घूमते हैं।" किन्तु मनुष्य अपनी आत्मा और विकास के रहस्य से परिचित है, अत उसके विकास के लिए क्रान्ति जरूरी नहीं है। उसके लिए आवश्यक तो यह है कि वह इस क्रान्ति का निराकरण कर स्वय में आत्मिक शक्ति को परिमार्जित करे। "इसी प्रकार सामाजिक जीवन में 'एकता में अनेकता' और 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त के अनुसार इस क्रान्ति को टालकर समाज सचेतन अवस्था में आगे बढ सकता है। क्रान्ति विकास का साधन नहीं है, बल्कि प्राणी की अचेतन अवस्था के कारण वह प्रकृति की 'निर्दय-आवश्यकता' (Cruel Necessity) है और उससे बचा जा सकता है।'

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना के प्रसग में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में अनुराग दर्शन प्रणाली के रूप में नहीं था। उसने उसका केवल इसलिए उपयोग किया क्योंकि उसे अपने कार्यक्रम को प्रस्तुत करने के लिए यह सुविधाजनक मालूम हुआ। उसने इसे अपनाया, लेकिन हीगल की प्रणाली में विद्यमान आदर्शवाद के रूप का परित्याग कर दिया क्योंकि आदर्शवाद के प्रति उसमें कोई आस्था नहीं थी।

(9) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
(Materialistic Interpretation of History)

मार्क्स का द्वितीय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सहायता से अपने समाजवाद को एक वैज्ञानिक निश्चयात्मकता प्रदान की और उसका प्रयोग ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास की व्याख्या करने में किया। इतिहास की द्वन्द्वात्मक

1 *Carew Hunt* Op. cit, p. 33

भौतिकवादी व्याख्या को उसने ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materalism) या 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' (Materialistic Interpretation of History) की संज्ञा दी।

इस सिद्धान्त के नामकरण पर विचार करते हुए प्रो. वेपर ने कहा है कि "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने जो कुछ कहा है उसके लिए यह नाम-भ्रमपूर्ण है। इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'भौतिक' शब्द का अर्थ अचेतन पदार्थ होता है जबकि इस सिद्धान्त मे मार्क्स अचेतन पदार्थ की कोई बात नहीं करता। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है। अत. मार्क्स के सिद्धान्त का नाम इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History) होना चाहिए था।" वस्तुत इतिहास की आर्थिक व्याख्या नामकरण ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि मार्क्स के अनुसार भौतिक वस्तुएँ जो इतिहास के विकास में निर्णायक तत्त्व हैं वे वास्तव मे उत्पादन शक्तियाँ हैं। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य तत्त्व है, 'आर्थिक नियतिवाद' (Economic Determinism) अर्थात् मनुष्य जो कुछ करता है उसका निर्माण आर्थिक या भौतिक कार्यों द्वारा होता है। मनुष्य पूर्ण रूप से आर्थिक शक्तियों का दास है। उत्पादन की शक्तियों मे तीन चीजें सम्मिलित हैं—(1) प्राकृतिक साधन अर्थात् भूमि, जलवायु, भूमि की उर्वरा शक्ति खनिज पदार्थ, जल, विद्युत शक्ति आदि; (2) मशीन, यन्त्र एवं अतीत से विरासत मे मिली हुई उत्पादन कला, तथा (3) युग विशेष मे मनुष्यों के मानसिक तथा नैतिक गुण। सभ्यता के विकास के साथ मानव-बुद्धि से उत्पन्न मशीन यन्त्र और उत्पादन कला मनुष्य को प्रकृति पर विजय प्राप्त कराने मे अधिकाधिक भाग लेते हैं। इन्हें भौतिक वस्तुओं के नाम से सम्बोधित करना और यह कहना कि ऐतिहासिक प्रवाह की स्थिति मे मनुष्य का कोई भाग नहीं होता भाषा का अनुचित प्रयोग है। सम्भवत मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' नाम इसीलिए दिया होगा क्योंकि वह ऐतिहासिक विकास की अपनी धारणा को हीगेलियन धारणा से अधिकाधिक भिन्न रखना चाहता था। हीगेलियन व्याख्या 'आदर्शवादी' थी, जबकि मार्क्स अपनी व्याख्या को 'भौतिकवादी' सिद्ध करना चाहता था। इसी कारण जबकि मार्क्स अपने सिद्धान्त को इस द्वैतवादी (Dualistic) आधार पर अवलम्बित करना चाहता था कि ऐतिहासिक विकास मानव-बुद्धि और भौतिक पर्यावरण की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है, उसने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जिससे यह भ्रम पैदा हो गया कि उसके अनुसार मानव-इतिहास की रूपरेखा को केवल भौतिक पर्यावरण ही निर्धारित करता है। ऐंजिल्स ने इस स्थिति को यह कह कर और भी विकृत कर दिया कि मानव-मानस (The mind of man) भौतिक विश्व का ही एक भाग है क्योंकि वह भौतिक वस्तुओं पर केवल शरीर द्वारा ही क्रिया कर सकता है।

सिद्धान्त की व्याख्या

पूँजीवादी समाज कैसे संगठित हुआ—इसका स्पष्टीकरण मार्क्स ने इतिहास में खोजा। इसीलिए उसने इस सिद्धान्त को इतिहास की भौतिकवादी धारणा या व्याख्या का नाम दिया है जिसके अनुसार समस्त ऐतिहासिक घटनाओं की जीवन की भौतिक अवस्थाओं के सन्दर्भ मे व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स कहता है—"वैध सम्बन्धों और साथ ही राज्य के रूपों को न स्वतः उनके द्वारा समझा जा सकता है, न ही मानव मस्तिष्क की सामान्य प्रगति द्वारा उनकी व्याख्या ही की जा सकती है, बल्कि वह तो जीवन की भौतिक अवस्थाओं के मूल मे स्थिर होती है। भौतिक जीवन मे उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधियों के सामान्य स्वरूप का निश्चय करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती प्रत्युत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निश्चय करता है।" प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाएँ उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके व्यापार उद्योग और कला दर्शन और रीतियाँ, आचरण, परम्पराएँ, नियम, धर्म और नैतिकता, मार्क्स के अनुसार जीवन की भौतिक अवस्थाओं द्वारा प्रभावी रूप ग्रहण करती हैं। जीवन की भौतिक-अवस्थाओं से उसका आशय वातावरण, उत्पादन वितरण और विनिमय से है और उसमें भी उत्पादन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ जीवन की भौतिक अवस्थाओं के

में परिवर्तन के कारण होती है, सत्य तथा न्याय के कारण अर्थात् उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन के कारण नहीं। उनके कारण उनके युग की आर्थिक अवस्था में अमूर्त विचारों या भावना की इच्छा के कारण नहीं। वस्तुतः आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक चरण के अनुक्रमण में एक पाए जा सकते हैं, उनके दर्शन में नहीं। समुचित राजनीतिक स्वरूप और समुचित वर्ग का आधार है।" अतिएव मार्क्स का दर्शन वह ऐतिहासिक सिद्धान्त है जो विकास के स्वाभाविक रूप को प्रतिबिम्बित करता है।

मार्क्स अपने सिद्धान्त को विशेषतः दो क्रान्तियों पर लागू करता है, एक तो भूतकाल की ओर दूसरी भविष्य की। भूतकाल की क्रान्ति सामन्तवादियों के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग की थी। मार्क्स के अनुसार यह फ्रांस की क्रान्ति में दृष्टिगोचर हुई। मार्क्स ने जिस भावी क्रान्ति की भविष्यवाणी की है, वह बुर्जुआ के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की होगी। "यह क्रान्ति समाजवादी कॉमनवेल्थ (Socialist Commonwealth) की स्थापना करेगी।" मार्क्स के अनुसार जिन शस्त्रों से बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तवाद को धराशायी किया था, वही अब बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध प्रयुक्त होने लग गए हैं।

मार्क्स के सिद्धान्त का विश्लेषण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाना उपयोगी होगा—

(i) भोजन की आवश्यकता—मार्क्स अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रारम्भ इस सामान्य तथ्य से करता है कि 'मनुष्य को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता है।' मार्क्स यह मानकर चलता है कि व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भोजन प्राप्त करना चाहिए और इसीलिए मनुष्य का जीवन बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर है कि वह किस प्रकार उन वस्तुओं का उत्पादन करे जिन्हें वह प्रकृति में चाहता है। इस तरह समस्त मानव क्रिया-कलापों की आधारशिला उत्पादन प्रणाली है। मनुष्य का अस्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह प्रकृति में अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन कर पाने में कहाँ तक सफल होता है?

(ii) उत्पादन की शक्तियाँ—प्रश्न यह है कि जब मनुष्य को सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के निर्णायक कारकों की खोज जीवन की भौतिक स्थितियों में करनी चाहिए न कि परमात्मा या विश्वात्मा की क्रीडाओं अथवा शाश्वत् सत्य और न्याय की अमूर्त धारणाओं में, तो फिर जीवन की भौतिक वस्तुओं में मार्क्स का आशय क्या है? वे भौतिक वस्तुएँ जिन्हें मार्क्स ऐतिहासिक विकास के लिए निर्णायक मानता है, उत्पादन की शक्तियाँ हैं। मार्क्स के अनुसार मानव और सामाजिक इतिहास को निर्धारित करने वाली ये शक्तियाँ आर्थिक हैं, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक नहीं। किसी युग की वैधानिक और राजनीतिक संस्थाएं तथा संस्कृति उत्पादन के साधनों की उत्पत्ति होती है। मार्क्स के ये शब्द कि "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की स्थिति निर्धारित करती है, मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उनकी सामाजिक चेतना को निर्धारित करती है," इस बात को व्यक्त करते हैं कि आर्थिक कारक अर्थात् उत्पादन की शक्तियाँ अन्ततः समस्त वस्तुओं का निर्धारण करती हैं। इन्हीं से न केवल सामाजिक ढाँचा बल्कि धार्मिक विश्वासों और दर्शन की रूपरेखा का भी निश्चय होता है। मार्क्स के अनुसार यह विश्वास भ्रामक है कि शाश्वत् सत्य, न्याय प्रेम, मानवता, दानशीलता आदि अमूर्त धारणाएँ सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। सत्यता केवल यह है कि उत्पादन की शक्तियाँ उत्पादन के सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान करती हैं और उत्पादन के सम्बन्धों पर सामाजिक संस्थाओं तथा दर्शन का ढाँचा खड़ा होता है। फ्रेडरिक एंजिल्स के शब्दों में, "इतिहास के प्रत्येक काल में आर्थिक उत्पादन और वितरण की पद्धति तथा तद्जनित सामाजिक संगठन वह आधार स्थापित करते हैं जिस पर उसका निर्माण होता है और केवल इसके द्वारा ही उस युग के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है।" इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिससे यह सिद्ध होता है कि एक युग में उत्पादन और वितरण की प्रणाली में परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हुए हैं।

आर्थिक कारणों मे 'सामाजिक परिवर्तन का चालक सिद्धान्त' बतलाते हुए मार्क्स उत्पादन की शक्तियों (Productive Forces) और उत्पादन के सम्बन्धों (Relations of Productions मे विभेद करता है । उत्पादन की शक्तियों मे प्राकृतिक साधन, मशीन तथा औजार, उत्पादन कला और मनुष्यों की मानसिक तथा नैतिक आदते सम्मिलित है जिन्हे आधुनिक भाषा मे यान्त्रिक तथा वैधानिक ज्ञान कहा जा सकता है । इन 'उत्पादन की शक्तियो' के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा खड़ा किया जाता है । यह सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को निश्चित करता है और इन्ही पारस्परिक सम्बन्धो को मार्क्स ने 'उत्पादन के सम्बन्ध' कह कर पुकारा है प्रो. एबेंसटाइन (Prof Ebenstein) ने अपने ग्रन्थ 'आज का वाद' (Today's Ism) मे यह सुझाव दिया है कि इन उत्पादन के सम्बन्धो को 'सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions) कहा जाना चाहिए।

(iii) **परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियो का सामाजिक सम्बन्धो पर प्रभाव**—मार्क्स के शब्दो मे, "जीवन के भौतिक साधनो की उत्पादन पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण क्रिया निर्धारित करती है ।" निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली उत्पादन और उत्पादन-शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धो मे भी परिवर्तन करती है । यही कारण है कि 'हस्तचालित यन्त्रो के युग मे हमे सामन्तवादी समाज दिखाई देता है और वाष्पचालित यन्त्रो के युग मे औद्योगिक पूँजीवादी समाज की स्थापना होती है ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ हीगल प्रकृति मे समस्त परिवर्तनो के पीछे आत्मा को ही प्रमुख शक्ति मानता था, वहाँ मार्क्स के अनुसार सामाजिक संगठन का एक रूप से दूसरे रूप मे परिवर्तन उत्पादन के साधनो के अनुसार होता है ।

मार्क्स का विश्वास है कि उत्पादन एव उत्पादन-शक्तियों का विकास समानान्तर चलता है और कृत्रिम साधनो द्वारा इस विकास को रोकने का प्रयत्न करने पर स्वाभाविक रूप से सकट उत्पन्न हो जाने का भय रहता है । इस प्रकार का सकट पूँजीवाद से उत्पन्न होता है क्योंकि उत्पादन जब लोगो की क्रय-शक्ति से अधिक हो जाता है तो लाभ की कोई आशा न रहने के कारण पूँजीपति माल को नष्ट कर देते हैं और मजदूरो को पैसा देकर पुन तैयार करवाते है तथा उसे काफी अधिक दामो पर बेचते हैं । मार्क्स की मान्यता है कि ऐसा सकट समाजवादी व्यवस्था में उत्पन्न नही होता क्योकि इस व्यवस्था मे उत्पादन लाभ के लिए नही बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है ।

(iv) **उत्पादन एव उत्पादन शक्ति के विकास की द्वन्द्ववादी भावना**—मार्क्स कहता है कि उत्पादन और उत्पादन-शक्ति के विकास का एक निश्चित नियम है जिसकी प्राप्ति द्वन्द्ववाद से हो सकती है । उत्पादन की अवस्थाओ मे परिवर्तन तब तक चलता रहता है जब तक उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था नही आ जाती । द्वन्द्ववाद के आधार पर मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इतिहास के विकास की दशा निश्चयात्मक रूप से समाजवाद की ओर उन्मुख है । इस तरह मार्क्स का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद वेपर (Wayper) के शब्दो मे, 'एक आशावादी सिद्धान्त है जो मानव की उत्तरोत्तर प्रगति मे विश्वास रखता है जिसमे अन्तिम रूप से मानव की विजय होती है ।"

(v) **आर्थिक व्यवस्था और धर्म**—मार्क्स के अनुसार, "धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र है और यह अफीम के नशे के समान है ।" इसका अभिप्राय है कि ऐसे समाज में जहाँ मनुष्यो की आवश्यकताएँ पूर्ण नही होती और सर्वत्र असन्तोष व्याप्त रहता है वहाँ धर्म ही अन्तिम आश्रय होता है । धर्म के नशे मे वे अपना दुख-दर्द भूल जाते हैं और सुखी संसार की कल्पना करने लगते हैं । मार्क्स धर्म का पूर्णतया खण्डन करते हुए केवल उत्पादन पर ही अत्यधिक बल देता है ।

(vi) **इतिहास की अनिवार्यता मे विश्वास**—हीगल और मार्क्स दोनो ही का इतिहास की अनिवार्यता मे विश्वास है । दोनो ही की मान्यता है कि इतिहास का निर्माण मनुष्यो के प्रयत्नो मे सर्वथा स्वतन्त्र रूप होता है । इतिहास के प्रवाह को मानव-प्रयत्नो द्वारा रोका नही जा सकता । दूसरे शब्दो मे मार्क्स इस बात विश्वास करता है कि 'उत्पादन की शक्तियो के अनुकूल जिस प्रकार के

उत्पादन सम्बन्धों की आवश्यकता होगी, वे स्वयं ही पैदा होंगे। मनुष्य के वश में केवल इतना ही है कि वह उनके आने में कुछ विलम्ब कर दे या प्रसव पीड़ा से उन्हें कुछ शीघ्र ले आए।"

(vii) इतिहास का काल-विभाजन—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार इतिहास की प्राय: प्रत्येक अवस्था वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इतिहास की प्रत्येक घटना, प्रत्येक परिवर्तन आर्थिक शक्तियों का परिणाम है। मार्क्स उत्पादनात्मक व्यवस्था अथवा आर्थिक दशाओं के आधार पर इतिहास को निम्नलिखित पाँच युगों में विभाजित करता है—

(1) आदिम साम्यवाद का युग या प्राचीन साम्यवाद (Primitive Communism)
(2) दास युग (Slave Society)
(3) सामन्तवादी (Feudal Society)
(4) पूँजीवादी युग (Capitalistic Society)
(5) समाजवादी युग (Socialistic Society)

आदिम युग को मार्क्स आदिम साम्यवाद की संज्ञा देता है जिसमें मनुष्य कन्दमूल, फल या शिकार आदि के द्वारा जीवन-निर्वाह करता था। मनुष्य तब कृषि, पशुपालन आदि से परिचित नहीं था। समाज में वर्ग-चेतना नहीं थी। दूसरे शब्दों में आदिम समाज वर्ग संघर्ष से रहित था क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उत्पादन और स्वयं उपभोग करता था।

दास युग में कृषि-सम्बन्धी अनेक अनुसंधान हुए और कृषि-यन्त्रों का विकास होने के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति विकसित होने लगी। कृषि भूमि के स्वामित्व की समस्या ने सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ। इस तरह अब समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग जो भूमि और सम्पत्ति का स्वामी था और दूसरा जिसे उसने अपना दास बना लिया था। दास-वर्ग के श्रम द्वारा जो उत्पादन होता था उसका उपभोग शक्तिशाली वर्ग करने लगा। इस तरह समाज में स्पष्टतः धनी-निर्धन का शोषक और शोषित, अधिकारयुक्त और अधिकारविहीन का वर्ग भेद सामने आया। वर्गों के अस्तित्व में आते ही सघर्ष प्रारम्भ हो गया।

सघर्ष के फलस्वरूप एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के सामन्तवादी युग का जन्म हुआ। अब राजाओं के हाथ में शासन आ गया। उन्होंने अपने अधीनस्थ सामन्तों को भूमि प्रदान की, बदले में सामन्त राजा को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने लगे। छोटे-छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर खेती करते थे और बदले में उनको लगान देते थे। सामन्त-वर्ग स्वयं भी भी कृषकों से अपनी भूमि पर काम लेता था और बदले में उन्हें कुछ वेतन दे देता था। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व सामन्तों के हाथ में था, लेकिन उत्पादन-क्रिया में दासों पर उनका पहले जैसा आधिपत्य नहीं रहा। वे उन्हें खरीद या बेच सकते थे, किन्तु उनका वध नहीं कर सकते थे। सामन्तवादी युग के समाज में शीर्ष पर राजा का स्थान था, उनके नीचे घटते हुए क्रम से सामन्त होते थे और सबसे नीचे किसान होते थे जिन्हें 'सर्फ' कहा जाता था और जिनकी दशा दासों से कोई विशेष अच्छी नहीं थी। इस अवस्था में भी स्थूल रूप से सामन्त और कृषक ये दो वर्ग थे और दोनों का सघर्ष स्वाभाविक था।

सामन्तवादी भग्नावशेषों पर पूँजीवाद का विशाल भवन निर्मित हुआ। यह औद्योगिक युग था। हस्तचालित यन्त्रों का स्थान वाष्पचालित यन्त्रों ने ले लिया। नवीन यन्त्रों के निर्माण के साथ बडे-बडे उद्योग-धन्धों का विकास हुआ और उत्पादन अनेक गुणा बढ गया। विशालकाय यन्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा से न टिक पाने के कारण लघु उद्योग नष्ट हो गए। ये उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे उन व्यक्तियों के नियन्त्रण में आने लगे जिनके पास यन्त्र खरीदने के लिए पूँजी थी। इस प्रकार उत्पादन के साधन पूँजीपति वर्ग के हाथ में चले गए और अब समाज दो भागों में विभक्त हो गया—(1) सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का पूँजीगत वर्ग, और (2) सम्पत्तिविहीन श्रमजीवियों का श्रमिक वर्ग। पूँजीवादी वर्ग ने

श्रमिकों की अवस्था का अनुचित लाभ उठाया और उनका भरपूर शोषण किया जिसके फलस्वरूप पूँजीपति दिन-प्रतिदिन अधिक सम्पत्तिशाली बनते गए और श्रमिक दिन-प्रतिदिन निर्धन होते गए। पूँजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का यह शोषण ही एक नवीन क्रान्ति का आह्वान करता है।

मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीपतियों के अत्यधिक शोषण के फलस्वरूप श्रमिकों में जागरूकता उत्पन्न होगी और तब दोनों वर्गों के बीच संघर्ष एक ऐसी क्रान्ति को जन्म देगा जिसमें पूँजीपति वर्ग की निश्चित रूप से हार होगी और विजयश्री श्रमिक वर्ग का वरण करेगी। इस संघर्ष में पूँजीवाद 'वाद' (Thesis) है और संगठित श्रमजीवी वर्ग 'प्रतिवाद' (Antithesis)। इनके संश्लेषण' (Synthesis) से एक 'वर्ग-विहीन समाज' (Classless Society) अस्तित्व में आएगा किन्तु इस आदर्श स्थिति के आगमन से पूर्व, एक संक्रमणकालीन युग आएगा जिसमें 'श्रमजीवी वर्ग' का अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित होगा। उत्पादन के समस्त साधनों का सामाजीकरण कर दिया जाएगा। श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकत्व और निरंकुश शासन तब तक स्थापित रहेगा जब तक छिपे हुए पूँजीपति तत्त्वों का पूर्ण विनाश नहीं हो जाएगा। इनके विनाश के बाद श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व समाप्त हो जाएगा और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। इस आदर्श समाज में राज्य का लोप हो जाएगा क्योंकि वर्ग-संघर्ष के मिटने के साथ ही राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इस 'राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज' (Stateless and Classless Society) में 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा।' यह अवस्था सोवियत रूस और चीन में अभी तक नहीं आ सकी है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के इस काल-विभाजन के मूल में मार्क्स की यह धारणा निहित है कि जब तक पूर्ण उत्पादन की स्थिति नहीं आती, सभी समाज बदलते रहेंगे। प्रत्येक स्थिति पूर्णता के लिए एक कदम है। प्रत्येक समाज को ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिनके कारण या तो वे समस्याएँ सुलझ जाती हैं अथवा वे समाज हारकर घुटने टेक देते हैं। प्रत्येक स्थिति वर्गहीन समाज के लिए एक आवश्यक कदम है। मार्क्स के शब्दों में—

"यह चित्र का बुरा पहलू है जिसके कारण आन्दोलन गतिशील होता है तथा जिससे इतिहास का निर्माण होता है। इसके कारण संघर्ष तीव्रता प्राप्त करता है। किन्तु यदि जागीरदारी के प्रभुत्व के समय में अपने शूरवीरतापूर्ण गुणों के उत्साह में अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के मध्य सुन्दर एकता के लिए; नगरों के विशेष जीवन के लिए, देश में समृद्धिशाली घरेलू उद्योगों के लिए; निगमों, कम्पनियों तथा मण्डलों के रूप में संगठित उद्योगों के विकास के लिए; एक शब्द में प्रत्येक उस वस्तु के लिए जो जागीरदारी का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है, अर्थशास्त्रियों ने अपने आपको उन सब वस्तुओं के हटाने में प्रवृत्त किया होता, जो उस चित्र पर किसी प्रकार की छाया फेंक सकते—दासवृत्ति, रियायतें, अराजकता तब इन सब की समाप्ति कहाँ होती? उन लोगों ने उन सभी तत्त्वों को नष्ट कर दिया होता जिनके कारण संघर्ष समुपस्थित हुआ। उन लोगों ने मध्य श्रेणी के विकास या मूल में ही उच्छेदन कर दिया होता। उन्होंने अपने आपको हमारे इतिहास कलंकित करने व्यर्थ की समस्याओं में प्रवृत्त किया होता। कोई भी स्थिति समाप्त नहीं होगी, जब तक यह उत्पादन की शक्ति के लिए ऐड़ी (उत्साह) की अपेक्षा बाधा न बन गया हो। व्यक्ति इतिहास में रुकावट नहीं उत्पन्न कर सकते तथा न ही वे विकास की स्वाभाविक स्थितियों का उल्लंघन कर सकते हैं।"

(viii) मानव इतिहास की कुञ्जी वर्ग संघर्ष—मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास के काल-विभाजन में ही यह स्पष्ट है कि समाज का इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है। यद्यपि वर्ग-युद्ध का यह विचार मौलिक नहीं है तथापि कार्ल मार्क्स ने ही इस वर्ग युद्ध अथवा वर्ग संघर्ष के विचार को तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया। हर युग में दो परस्पर विरोधी वर्ग विद्यमान रहे हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष से ही उस युग के इतिहास का निर्माण हुआ है। इतिहास के इस प्रेरक तत्त्व के कारण ही समाज में परिवर्तन

और विकास होता है। सबसे अन्त में पूंजीपति और निम्न मजदूर वर्ग में संघर्ष उत्पन्न होता है। पूंजीवाद पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत होता है तथा सगठित श्रम उत्तरपक्ष का रूप धारण करता है। इन दोनों के मध्य संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्गहीन समाज के रूप में एक समन्वय अथवा एक नई रचना होती है।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(A Critical Estimate of Historical Materialism)

मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी वर्ग-संघर्ष एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सत्य पाया जाता है। यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला जाए कि आर्थिक तथ्य सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारण है तो इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। यह वास्तव में सत्य है कि देश में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक सामाजिक, वैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती है। जलवायु का प्रभाव, मिट्टी, देश की भौगोलिक अवस्था आदि का प्रभाव किसी भी देश की राजनीतिक अवस्था पर पड़ता है। अरस्तू के समय से आज तक राजनीतिक लेखक यह बात स्वीकार करते आ रहे हैं। समाज की आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में इतिहास का अध्ययन किया जाना सभी सामाजिक शास्त्रों के लिए उपादेय है। किसी जाति की सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक समस्याओं के समझने और निराकरण करने में उस जाति की आर्थिक स्थिति का ज्ञान विशेष रूप से सहायक होता है। इतिहास के एक बड़े भाग को हम अर्थशास्त्र की सहायता से ही समझ सकते हैं। यदि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का यही अभिप्राय लिया जाए तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाजशास्त्रीय पद्धतियों में वह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रगति का सूचक है। किन्तु यह कहना अन्याय होगा कि इतिहास में आर्थिक तथ्य ही एकमात्र निर्णायक तथ्य है। आर्थिक स्थितियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देना बड़ा सरल है। मार्क्स इतिहास की अपनी भौतिकवादी व्याख्या करते समय यही गलती कर बैठा है।

1. यह कहना वस्तुतः अतिशयोक्ति है कि परिवर्तन केवल आर्थिक तथ्यों के कारण ही होते हैं और कानून, सदाचार, धर्म आदि जो समाज के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी संस्थाओं का निर्माण करते हैं, समाज के आधारभूत आर्थिक ढांचे के ही परिणाम हैं। मानव-कार्य इतने सरल नहीं हैं कि उनके क्रियान्वयन में कोई एक ही प्रयोजन हो। उन पर मनुष्यों के अच्छे बुरे विचारों, मनोविकारों तथा सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि रसल ने कहा है, "हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी घटनाएँ भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात-प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती हैं। राजप्रासादों में होने वाले षड्यन्त्र, प्रपंच, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा धार्मिक विद्वेष ने अतीत में इतिहास में महान् परिवर्तन किए हैं। मानव-इतिहास में ऐसी असंख्य घटनाएँ हैं जिनकी कोई आर्थिक व्याख्या नहीं की जा सकती।" इतिहास की भौतिक धारणा बुद्ध, लूथर, टॉलस्टाय, ईसा अथवा मुहम्मद की व्याख्या नहीं कर सकती। इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ-साथ इतिहास की अन्य व्याख्याएँ भी हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिक, भाषा विज्ञान सम्बन्धी, धार्मिक, वैज्ञानिक, कानून सम्बन्धी तथा सौन्दर्य सम्बन्धी—ये सभी ऐतिहासिक व्याख्याएँ हैं। आर्थिक व्याख्या से जातिगत पक्षपात, अन्धविश्वास, महत्त्वाकांक्षा, लैंगिक आकर्षण तथा अधिकार, नाम और प्रसिद्धि की आकांक्षा पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि किसी आर्थिक कारण से प्रेरित होकर ही अशोक ने युद्ध का परित्याग किया था। भारत के विभाजन का प्रमुख कारण आर्थिक न होकर धार्मिक ही था। द्वितीय महायुद्ध के अनेक कारणों में एक उग्र राष्ट्रवाद था। मार्क्स इतिहास में केवल आर्थिक तथ्य को ही निर्णायक मानने की धुन में यह भूल बैठा था कि प्रत्येक परिवर्तन में कोई एक कारण कार्य नहीं करता। अनेकों कारणों के योग से एक कारण चिनगारी बन जाता है और व्यवस्था बदल जाती है। उसे इतिहास के निर्माण में अर्थेतर कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिए था।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद पर इस आपत्ति के उत्तर में मार्क्सवादी यही कह सकता है कि सिद्धान्त वास्तव में इतना एकांगी नहीं है जितना इसे बतलाया जाता है। आर्थिक कारणों में विचारों

का योग भी सम्मिलित है। वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान उत्पादन के साधनों का महत्त्वपूर्ण भाग है। सन् 1890 मे ऐंजिल्स ने स्वय एक पत्र मे स्पष्टीकरण करते हुए लिखा था कि मैं और मार्क्स आंशिक रूप से इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि कभी-कभी "हमारे शिष्यों ने आर्थिक कारक पर उचित से अधिक बल दिया है। हमारे जो विरोधी उससे इकार करते थे, उनके विरोध मे हम उनके आधारभूत चरित्र पर बल देने को विवश हो और ऐतिहासिक प्रक्रिया मे अन्य तत्त्वों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की समुचित व्याख्या करने के लिए हमारे पास सदैव न तो समय था न स्थान और न कोई अवसर ही"[1]

ऐंजिल्स ने जिन अन्य कारको का उल्लेख किया है यदि मार्क्सवादी उनमे विविध मानवीय भावनाओ को, चाहे वे निकृष्ट ही हो, सम्मिलित करने के लिए सहमत हो तो मार्क्स की धारणा का विरोध पर्याप्त सीमित हो जाता है। लेकिन जब ऐंजिल्स अपने पत्र मे यह दावा करता है कि 'आर्थिक स्थिति आधार है और अन्य तत्त्व सतही है' तो महत्त्वपूर्ण मतभेद यथावत् विद्यमान रहता है। यह नही माना जा सकता कि मूल शक्ति केवल आर्थिक तत्त्व है और शेष सब तत्त्व निस्रोतात्मक (Derivative) हैं तथा महत्त्व की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी के है और आर्थिक सम्बन्धो के आधार पर आश्रित ऊपरी ढाँचे के भाग है। आलोचको की यह मान्यता बहुत कुछ सही है कि धर्म, नीति, दर्शन, मानवीय भावनाएँ, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धाएँ आदि भी स्वतत्र और समान तत्त्व हैं। यह अवश्य है कि विभिन्न कालो मे उनका प्रभाव एक-दूसरे से घटता-बढ़ता रहा है। जहाँ आर्थिक प्रणालियाँ विचारधाराओ की जनक है, वहाँ विचारधाराएँ भी आर्थिक प्रणालियो की उत्पत्ति के कारण है। उदाहरणार्थ, सन् 1917 की क्रान्ति के बाद रूस मे जन्म लेने वाली सोवियत पद्धति साम्यवादी विचारधारा की सृष्टि थी तो इटली मे जन्म लेने वाली फासिस्ट प्रणाली फासिज्म की उपज थी।

2. मार्क्स का यह कथन कि उत्पादन-शक्तियो से उत्पादन सम्बन्ध निर्धारित होते हैं सही नही है। आज इस वैज्ञानिक युग मे अमेरिका और रूस मे लगभग एक समान उत्पादन यन्त्र और प्राविधिक आधार होने पर भी उत्पादन के सम्बन्धो मे काफी अन्तर है। अमेरिका मे जहाँ बड़े-बड़े उद्योग धन्धे पूँजीपतियो के हाथ मे है वहाँ रूस मे इन पर राज्य का स्वामित्व है।

3. मार्क्स का यह कहना भी सत्य नही है कि जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है, वही राजनीतिक शक्ति का उपभोग करता है। शक्ति प्राप्त करने का साधन केवल आर्थिक नही होता। प्राचीन काल मे भारत में ब्राह्मणों और मध्यकालीन यूरोप मे पोप ने अर्थेतर कारणो से शक्ति प्राप्त की थी तो वर्तमान युग मे अधिनायकवाद की स्थापना मुख्यत सैन्य-शक्ति द्वारा होती है। बुद्धिमत्ता, साहस, छलछद्म आदि तत्त्व भी सत्ता प्राप्त करने मे महत्त्वपूर्ण योग देते है।

4. मार्क्स ने यूरोप के लगभग 2000 वर्षों के इतिहास को ही अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया था। सम्भवत भारत, चीन और मिस्र की प्राचीन सभ्यताओ पर उसकी दृष्टि नही गई। आदिम साम्यवाद आदि का वर्णन उसकी एक कल्पना है जिसके पक्ष मे कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

5. मार्क्स द्वारा इतिहास का मुख्य चार युगो (अर्थात् आदिम युग, दास-युग, सामन्त युग और पूँजीवादी युग) मे विभाजन त्रुटिपूर्ण है। अपने ऐतिहासिक विकास की व्याख्या को युक्तिसगत बनाने के लिए उसने शताब्दियो के इतिहास को तोड-मरोड दिया जो उसके द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के प्रतिकूल दिखायी देता है। मानव शास्त्र (Anthropology) मार्क्स के आदिम साम्यवाद (Primitive Communism) की व्याख्या से सहमत नही है। यदि ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक विकास की अवस्थाओ मे पूँजीवादी अवस्था भी निश्चित है तो इतिहास की भौतिक व्याख्या करने वालो से पूछा जा सकता है कि "पूँजीवाद का विकास विशेष रूप से पश्चिमी देशो मे ही क्यो हुआ ?"

6. मार्क्स ने इतिहास की 'आर्थिक व्याख्या' मे 'धर्म' को बड़ा निम्न स्तर प्रदान किया है। मार्क्स ने धर्म को नशा और एक झूठी साँत्वना माना है और इस प्रकार धर्म के प्रति अविश्वास एव

1 Quoted by *Wayper*. Political Thought, p. 202.

को विदित था, किन्तु उसने सामाजिक वर्ग विभाजन को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अर्थात् बदलती हुई
उत्पादन-क्रिया की पृष्ठभूमि मे देखा और यह भी विशेष रूप से कहा कि सर्वहारा का अधिनायकत्व
पूँजीवादी समाज का नाश करेगा। वर्ग विभाजन के सिद्धान्त का बीज प्लेटो और अरस्तू मे विद्यमान है
तथा त्रिसटानले, उत्रियन और सन्त साइमन के अनुयायियो मे भी पाया जाता है, किन्तु ऐतिहासिक
द्वंद्ववादी दृष्टिकोण अपना कर मार्क्सवादियो द्वारा उत्पादन-क्रिया पर आश्रित वर्गों के समस्त इतिहास
की व्याख्या का प्रयास व्यापक है। उनकी दृष्टि मे समाजवाद का लक्ष्य वर्गों के सिर्फ विशेषाधिकारो
को ही नहीं अपितु समस्त वर्गों का ही मूलोच्छेद करना है।

वर्गों के विरोध आधुनिक समाज मे भी विद्यमान हैं। विशेष बात केवल यह है कि इस युग
में नवीन वर्ग है, दमन के नवीन रूप है और उनकी नवीन प्रणालिया है तथा संघर्ष के नवीन रूप है।
प्राचीन और नवीन वर्गों मे मुख्य अन्तर यह है कि आधुनिक युग मे वर्ग-विरोध पूर्वापेक्षा बहुत सरल हो
गया है। आधुनिक समाज दो बड़े गुटो—पूँजीवाद और श्रमिकवाद मे विभाजित हैं और ये गुट एक-
दूसरे के आमने-सामने पूरी शक्ति से डटे हुए हैं। यह आधुनिकतम संघर्ष अर्थात् शोषक पूँजीपतियो और
शोषित श्रमिको के बीच संघर्ष पाश्चात्य सभ्यता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस संघर्ष का
मार्क्स ने बडा गहन विश्लेषण किया।

मार्क्स का कहना है कि पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग दोनो को एक-दूसरे की आवश्यकता
है। श्रमिकों के अभाव मे पूँजीपतियों के कारखाने बेकार पड़े रहेंगे और यदि पूँजीपति श्रमिको को
कारखानो मे नियुक्त नहीं करेंगे तो वे बेरोजगार हो जाएँगे और भूखों मरने लगेंगे। लेकिन चाहे दोनो
को एक-दूसरे की कितनी भी आवश्यकता हो, दोनो के हितो मे संघर्ष अनिवार्य है जिसमे अन्तिम विजय
श्रमजीवी वर्ग की ही होती है। मार्क्स के अनुसार, "जिन शस्त्रो से बुर्जुआ ने सामन्तवाद का अन्त किया,
वे ही शस्त्र अब सम्पत्तिशाली वर्ग के विरुद्ध प्रयुक्त हो रहे हैं।"

यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने बुर्जुआ (Bourgeois) तथा श्रमजीवी (Proletariat)
शब्दो की स्पष्ट रूप से कहीं भी व्याख्या नहीं की है। श्रमजीवी वर्ग की केवल एक परिभाषा उपलब्ध
है जो ऐंजिल्स की दी हुई है। इसके अनुसार, 'श्रमजीवी वर्ग समाज का वह वर्ग है जो अपने जीविको-
पार्जन के लिए पूर्ण रूप मे अपने श्रम के विक्रय पर निर्भर होता है न कि पूँजी के द्वारा प्राप्त लाभ पर।
उसका सुख-दुःख, जीवन-मरण और उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके श्रम की माँग पर निर्भर होता है।"
जहाँ तक 'बुर्जुआ' का प्रश्न है, सम्भवतया लेनिन ने भी कहा था कि बुर्जुआ उस सम्पत्ति का स्वामी
है जिसका उपयोग वह श्रमजीवी के श्रम से अवैध लाभ प्राप्त करने के लिए करता है अर्थात् वह श्रमिको
से काम लेने के लिए उन्हे अपनी सम्पत्ति पर नियुक्त करता है किन्तु उन्हे उनके श्रम के अनुपात मे
मजदूरी नही देता। मार्क्स कहता है कि पूँजीपति स्वाभाविक रूप से मजदूरो को कम से कम वेतन
देना और उनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहते है। दुर्भाग्यवश इस द्वंद्व मे श्रमिक ही घाटे मे रहते
है। श्रम नाशवान होता है अत उनके श्रम का मूल्य शीघ्रता से मिलना चाहिए, अन्यथा उस श्रम
का संग्रह नहीं किया जा सकता। क्षुधा और अभाव की स्थिति मे श्रमिक लम्बी प्रतीक्षा नही कर
सकता और फलतः पूँजीपति के सामने झुकने को विवश हो जाता है। इस तरह की स्थिति पूँजीपतियो
और मालिको के हाथो मे शोषण का एक महान् अस्त्र सौंप देती है जिसे श्रमिक कभी पसन्द नहीं करते।
शोषण के विरुद्ध चेतना जाग्रत होने पर श्रमिक पूँजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करता है और पूँजीपति उस
विद्रोह के विनाश के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है। इस तरह उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली मे इन दोनो वर्गो
मे एक स्थायी विरोध उत्पन्न हो जाता है। मार्क्स के अनुसार कुछ ऐसे और भी कारण है जो इन दोनो
वर्गो मे संघर्ष को बढ़ावा देते हैं। पूँजीपति जो उत्पादन के साधनो के स्वामी होते हैं, समाज के आर्थिक
जीवन पर तो नियन्त्रण रखते ही है, वे सामाजिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक संस्थाओ को भी अपने
उद्देश्य की पूर्ति के अनुकूल बना लेते है। शासन सत्ता उन्ही के हाथ मे होती है- जिसका वे ऐसे कानून
बनाने मे अनुचित प्रयोग करते हैं जिनमे उनकी स्वार्थ सिद्धि होती हो। मार्क्स की निश्चित धारणा है
कि "इस संघर्ष का अनिवार्य परिणाम पूँजीवाद का विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय के रूप मे
होगा।" पूँजीवाद के अन्दर ही उसके विनाश के बीज छिपे होते है। मार्क्स पूँजीवाद के अवश्यम्भावी
विनाश के अनेक अन्य कारणो पर विस्तार से प्रकाश डालता है जो संक्षेप में ये है—

(i) पूँजीवाद में व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ही उत्पादन—पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन समाज के हित और उपभोग को ध्यान में न रखकर विशेष रूप से व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है जिसके फलस्वरूप समाज की माँग और उत्पादित माल में सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता।

(ii) पूँजीवाद में विशाल उत्पादन तथा एकाधिकार की ओर प्रवृत्ति—पूँजीवादी व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं एकाधिकार की प्रवृत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में पूँजी एकत्र हो जाती है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाती है। इस तरह पूँजीवादी वर्ग अपने विनाश के लिए स्वयं श्रमजीवी वर्ग को शक्ति प्रदान करता है।

(iii) पूँजीवाद आर्थिक संकटों का जन्मदाता—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली समय समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न करती है। बहुधा उत्पादन श्रमिक वर्ग की क्रयशक्ति से अधिक हो जाता है, तब लाभ की कोई आशा न रहने से पूँजीपति उत्पादित माल को नष्ट करके माल का कृत्रिम अभाव पैदा करते हैं और इस तरह अस्थायी आर्थिक संकटों को जन्म देते हैं। पूँजीवाद की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग एवं सामान्य जनता में घोर असन्तोष व्याप्त होता है जो पूँजीवाद द्वारा अपनी मौत को स्वयं आमन्त्रित करता है।

(iv) पूँजीवाद में अतिरिक्त मूल्य पर पूँजीपतियों का अधिकार—पूँजीवाद में उत्पादन वैयक्तिक लाभ के लिए किया जाता है, अतः पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य को अपने पास रख लेता है जबकि न्याय की दृष्टि से यह मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए। अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल की वास्तविक कीमत और उस वस्तु की बाजारू कीमत का अन्तर होता है। पूँजीपति इसे श्रमिकों से छीनकर उनका शोषण करता है।

(v) पूँजीवाद में व्यक्तिगत तत्त्व की समाप्ति—पूँजीवादी प्रणाली में श्रमिक के वैयक्तिक चरित्र का लोप होकर उसका यन्त्रीकरण हो जाता है। इस प्रणाली में श्रमिक स्वाभिमान खोकर यन्त्रों का केवल दास मात्र बन जाता है और इससे सृजनात्मक शक्ति को भी धक्का लगता है। इस पतनावस्था से अन्ततः श्रमिक वर्ग में चेतना का उदय होता है और पूँजीवाद के विनाश के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

(vi) पूँजीवाद श्रमिकों की एकता में सहायक—पूँजीवाद श्रमिकों में असन्तोष फैलाकर उन्हें एकता की ओर अग्रसर करता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली में अनेक उद्योग एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं। जिनमें लाखों श्रमिक काम करते हैं। ये श्रमिक परस्पर मिलते-जुलते हैं जिससे उन्हें पारस्परिक कष्टों को समझने व अपने संगठन को सुदृढ़ बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस तरह पूँजीवादी विकेन्द्रीकरण सुदृढ़ श्रमिक संगठन को जन्म देता है जो पूँजीवाद का प्रबल विरोध करता है।

(vii) पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन का जन्मदाता—पूँजीवाद में होने वाला तीव्र विकास विश्व के अनेक देशों को एक दूसरे के समीप लाता है। जब पूँजीपति उत्पादित माल को अपने देश में नहीं खपा पाते तो वे दूसरे देशों में मण्डियों की खोज करते हैं जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के श्रमिकों को परस्पर सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। इस तरह राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर श्रमिक आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है और तब मार्क्स के साथ विश्व के सभी श्रमिक मिलकर पूँजीवाद के विरुद्ध एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति का सूत्रपात करेंगे जो पूँजीवाद की जड़ें खोखली कर समाजवाद की स्थापना करेगी।

मार्क्स के अनुसार इन सभी कारणों से पूँजीवाद स्वतः अपने विनाश की ओर बढ़ता जाता है। मार्क्स का विश्वास था कि श्रमजीवी वर्ग की क्रान्ति के बाद श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो जाएगा जिसमें शनैः-शनैः सम्पत्तिशाली वर्ग के अन्तिम अवशेष भी समाप्त कर दिए जाएँगे और इसके पश्चात् एक वर्गहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। पूँजीवाद के विनाश के लिए श्रमिक वर्ग किस प्रकार तैयार होगा और किस तरह समाजवाद की स्थापना होगी—इन सब बातों का उल्लेख मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' में किया है। लास्की (Laski) के मतानुसार 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' एक सर्वकालिक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अभिलेख है। लास्की ने इसकी तुलना सन् 1776 के 'अमेरिकी स्वातन्त्र्य घोषणा' (American Declaration of Independence) और सन्

1789 के फ्रांसीसी अधिकारो की घोषणा' (French Declaration of Rights) से की है। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' मे मार्क्स ने वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना आधुनिक रूप मे की है, अतः इस पर पृथक से कुछ लिखना आवश्यक है।

मैनीफस्टो (Manifesto)

मैनीफेस्टो का आरम्भ ही इस सामान्य कथन से होता है कि "आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग-सघर्षो का इतिहास है।" मार्क्स और ऐंजिल्स ने इस घोषणा-पत्र मे वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान समाज के समस्त नियमो को समझने की कुञ्जी के रूप मे किया है। इसम पूँजीपति वर्ग (Bourgeois) तथा सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के बीच 19वी शताब्दी के सघर्ष का सर्वोत्तम वर्णन है। इसमे केवल इस सघर्ष का ही वर्णन नही है, वरन् क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हे पूँजीवादी वर्ग पर अन्तिम विजय का आश्वासन दिया गया है। मैनीफेस्टो मे पर घोषणा की गई है कि वर्तमान युग मे वर्ग-सघर्ष बहुत ही सरल हो गया है। हमारा समाज दो विशाल विरोधी वर्गों मे विभक्त होता जा रहा है—पूँजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग। दोनो वर्ग विकास की विविध अवस्थाओ मे से गुजरते हैं। पूँजीपति वर्ग के उत्थान और पूँजीवादी प्रणाली की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए मार्क्स कहता है कि—

1. पूँजीवादी वर्ग उत्पादन-यन्त्रो मे क्रान्ति लाए बिना और इसके द्वारा उत्पादन के सम्बन्धो व साथ ही समस्त ही सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तन लाए बिना जीवित नही रह सकता।

2. उत्पादन के यन्त्रो मे निरन्तर परिवर्तन लाभ की दृष्टि से किया जाता है। 'लाभ के लिए उत्पादन' पूँजीवादी पद्धति की आधारभूत विशेषता है।

3. अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए पूँजीपति वर्ग बाजारो का विस्तार करने की ओर प्रवृत्त होता है। पूँजीवाद ने दूसरो से कच्चा माल खरीदने और उन्हे तैयार माल बेचने के कारण एक विश्व-व्यापी स्वरूप धारण कर लिया है। प्रतिगामियो के हृदय मे तीव्र रोष उत्पन्न करते हुए इसने उद्योग के नीचे से वह राष्ट्रीय आधार निकाल लिया है जिस पर वह खडा हुआ था। समस्त प्राचीन राष्ट्रीय उद्योग नष्ट कर दिए गए है अथवा नित्य-प्रति नष्ट किए जा रहे है।

4 पूँजीपतियो के उत्पादन के ढग का एक अन्य लक्षण उनकी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है। व्यवसाय की अधिकाधिक वृद्धि के साथ ऐसे व्यक्तियों की सख्या कम होती जाती है जो कारोबार मे काफी पूँजी लगा सकें। इस प्रकार बडे पूँजीपति छोटे पूँजीपतियो को बाहर निकाल फैंकते हैं। फलस्वरूप पूँजी थोड़े से बडे पूँजीपतियो के हाथो मे एकत्र हो जाती है और उद्योग एकाधिपत्य का रूप धारण कर लेते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के कारण ही बडे नगरो मे जनसख्या का केन्द्रीयकरण हुआ है, उद्योगो का केन्द्रीयकरण हुआ है तथा सम्पत्ति का पूर्वापेक्षा कुछ व्यक्तियो के हाथो मे एकत्रीकरण हुआ है।"

5 उत्पादन साधनो मे द्रुत सुधारो एव सन्देशवाहन और यातायात की सुविधाओ के विकास द्वारा पूँजीवाद ने पिछडे राष्ट्रो को सभ्यता की परिधि मे ला दिया है और उन्हे पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति अपनाने को विवश कर दिया है।

6 महान् उत्पादन-शक्ति तथा यान्त्रिक एव वैज्ञानिक विकास को जन्म देने के बावजूद पूँजीवादी प्रणाली की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है। पूँजीवादी समाज की स्थिति आज उस जादूगर के समान है जो उस मायावी ससार की शक्तियो पर नियन्त्रण करने मे स्वय असमर्थ हैं जिन्हे उसने स्वय के जादू द्वारा उत्पन्न किया है। पूँजीवादी समाज अब पतनोन्मुख है, स्वय द्वारा उत्पन्न किए हुए विशाल धन को अपने मे समेट सकने मे असमर्थ है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण बार-बार नवीन संकट उत्पन्न होते हैं। स्वय ही अपने अर्जित धन को विशाल मात्रा मे नष्ट करके इन सकटो को दूर करने का प्रयत्न करता है। लेकिन इन बार-बार आने वाले सकटो का सामना करने के लिए जो भी साधन अपनाए जाते है, वे उन सकटो को और भी अधिक तीव्र तथा भीषण बना देते है। ये लक्षण पूँजीवाद की आन्तरिक अस्थिरता को प्रकट करते हैं। वास्तव मे स्थिति यह है कि पूँजीवादी वर्ग ने जिन शास्त्रो का निर्माण किया है उन्ही से उसका विनाश होगा। "पूँजीवाद ने ऐसे मनुष्यो को जन्म दिया है जो उन शस्त्रो का उपयोग करेंगे और वे मनुष्य हैं आधुनिक श्रमिक।" प्रारम्भ मे सघर्ष

व्यक्तिगत पूँजीपतियो तथा व्यक्तिगत मजदूरो के बीच होता है। परन्तु शीघ्र ही यह दोनो वर्गों के बीच सगठित सघर्ष का रूप धारण कर लेता है।

7. श्रमिक वर्ग भी उसी अनुपात से बढता है जिस अनुपात से पूँजीवादी वर्ग का विकास होता है। पूँजीवादी प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ श्रमिक वर्ग भी सख्या, शक्ति और सगठन की दृष्टि से बलशाली हो जाता है क्योंकि—

(1) पूँजीवादी पद्धति में यन्त्रीकरण मे वृद्धि से कार्यकुशलता की उपेक्षा होती है तथा श्रमिक एक यन्त्र मात्र बन जाता है। शिल्पकार, छोटे दूकानदार एव निम्नतर श्रेणी के मध्य-वर्ग के लोग यन्त्रीकरण से उत्पन्न परिस्थितियो के कारण अपने व्यवसाय छोडने के लिए बाध्य हो जाते हैं और श्रमजीवी वर्ग मे सम्मिलित हो जाते है। खेतिहर श्रमिक भी, जिन्हे भूमि से विलग होना पड़ता है, श्रमजीवी वर्ग की सख्या बढाते हैं।

(ii) अपनी बढती हुई सभ्यता एवं व्यक्तिगत चरित्र के कारण श्रमिको मे वर्ग-चेतना का उदय होता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी शक्ति का विकास होता है।

(iii) पूँजीवादी पद्धति मे उत्पादन का केन्द्रीयकरण होता है, अतः हजारो श्रमिक छोटे-छोटे क्षेत्रो मे एकत्र हो जाते है और इस स्थिति मे उन्हे अपनी कठिनाइयो और आवश्यकताओ का पूर्वापेक्षा अधिक ज्ञान होता है, वे पारस्परिक सहयोग की ओर अग्रसर होते हैं, उनकी वर्ग-चेतना बलवती होती है और इन सब बातो का पूँजीपति स्वामियों के साथ सघर्ष मे प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। श्रमिक सगठित होकर अपने लिए अधिक सुविधाओ और अधिक वेतन की माँग करते हैं। उनके सगठनो का स्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। अब सघर्ष व्यक्तिगत पूँजीपतियो के विरुद्ध न रह कर सम्पूर्ण पूँजीवादी प्रणाली के विरुद्ध हो जाता है। वर्ग-चेतना जिस गति से अथवा जिस अनुपात से विकसित होती है उसी अनुपात मे श्रमिक वर्ग की शक्ति मे भी वृद्धि होती है। उद्योग के केन्द्रीयकरण द्वारा श्रमिक वर्ग मे आम हडताल द्वारा समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को अस्त-व्यस्त करने की सामर्थ्य पैदा हो जाती है।

(iv) निरन्तर बढते हुए बाजारो, सन्देशवाहन और यातायात के साधनो की पूँजीवादी व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व के श्रमिको मे विचार-विनिमय सम्भव बना देती है और श्रमिक आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करती है। जब श्रमिक आन्दोलन पहले राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय राज्य के विधान के अन्तर्गत होता है तो उनका अभिप्राय यही होता है कि यह सघर्ष एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नाटक की भूमिका मात्र है। जो क्रान्ति पहले राष्ट्रीय होती है वही बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है।

मैनीफेस्टो' उपर्युक्त क्रान्ति के परिणामो की भविष्यवाणी करते हुए उद्घोष करता है कि अन्त मे पूँजीपति वर्ग अपने विनाश को प्राप्त होगा तथा सर्वहारा वर्ग का अस्थायी अधिनायकत्व स्थापित होगा जिसका प्रमुख कार्य शेष पूँजीपतियो को उत्पादन के साधनो से वचित कर उन्हे बलपूर्वक सम्पत्तिविहीन कर देना होगा तब उत्पादन के सम्पूर्ण साधन राज्य के नियन्त्रण मे आ जाएँगे और राज्य पर नियन्त्रण केवल एक वर्ग अर्थात् श्रमिक वर्ग का होगा। यह कहना अधिक सत्य होगा कि सर्वहारा क्रान्ति के बाद जिस समाज की स्थापना होगी वह वर्ग-रहित समाज होगा। उस समय समस्त वर्गीय सघर्ष का अन्त हो जाएगा और इसके साथ ही उस दमनकारी राज्य की भी समाप्ति हो जाएगी जिसका हमे अनुभव है।

पूँजीवाद जिस प्रकार उन परिस्थितियो का सृष्टा होता है जो स्वय उसी का विनाश कर देती हैं इसका सारांश कोकर ने इन शब्दो से व्यक्त किया है—

"इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था श्रमिको की सख्या मे वृद्धि करती है, उन्हे समूहो मे सगठित करती है, उन्हें विश्व-व्यापी स्तर पर सहयोग करने तथा परस्पर मिलने-जुलने के साधन प्रदान करती है तथा उनकी क्रिया-शक्ति को कम कर और उनका अधिकाधिक शोषण कर उन्हे सगठित विरोध करने के लिए प्रेरित करती है। पूँजीपति, जो अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओ के अनुसार तथा उस लाभ पर आधारित प्रणाली को कायम रखने के लिए प्रतिक्षण ऐसी परिस्थितियो को जन्म दे रहे है जिनसे एक ऐसे समाज का निर्माण करने के अस्वाभाविक प्रयत्नो को (श्रमिको के) स्फूर्ति तथा बल मिलता है जो एक श्रमिक समाज की आवश्यकताओ के अनुकूल होगा।"

मार्क्स के इस राजनीतिक कार्यक्रम का स्पष्टतम विवरण 'मैनीफैस्टो' में दिया गया है। इसके द्वितीय भाग में समाजवाद की स्थापना के लिए मार्क्स ने एक निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया है जिसे अपनाकर श्रमिक अपनी सम्भावित श्रेष्ठता को वास्तविक श्रेष्ठता में परिवर्तित कर सकते है, अपने आत्म-प्रेरित आर्थिक संघर्ष को जानबूझ कर नियोजित राजनीतिक संघर्ष के रूप में बदलने के लिए अपने आपको तैयार कर सकते हैं और अन्तत पूँजीवादी वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं।

(1) मार्क्स के कार्यक्रम का पहला चरण है श्रमजीवी वर्ग को शासक-वर्ग के पद पर प्रतिष्ठित करना अर्थात् 'प्रजातन्त्र संग्राम में विजयी होना।' अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए श्रमिकों को अपना सगठन एक उत्पीडित वर्ग के रूप में करना चाहिए और स्वय को ऊँचा उठा कर 'शासक वर्ग' की स्थिति में ले जाना चाहिए। हर देश के श्रमिकों को चाहिए कि वे प्रजातन्त्र के विरुद्ध संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए स्वय को शासक वर्ग की स्थिति में पहुँचाने के लिए स्वय को एक राजनीतिक दल में सगठित करें और सामान्य निर्वाचन-पद्धति द्वारा निर्वाचन-मण्डल एव राष्ट्रीय ससद् में बहुमत प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यदि किसी देश में शासक-वर्ग सैनिक बल के आधार पर बहुमत प्राप्त सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक नियन्त्रण का वैध अधिकार प्राप्त करने से वचित करने का प्रयत्न करे तो श्रमिकों को चाहिए कि वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सगठित होकर बल प्रयोग करें। "इस प्रकार शासनतन्त्र पर शान्तिपूर्वक या बल-प्रयोग द्वारा नियन्त्रण प्राप्त करने पर उन्हे अपनी सर्वोच्चता को सुरक्षित करना चाहिए और यह कार्य उन्नत जनतन्त्र के परिचित उपायो द्वारा होना चाहिए जैसे सार्वभौमिक मताधिकार (Universal Sufferage), प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन (Direct Popular Election) और प्रमुख

अधिकारियो (विधानसभा, प्रशासन तथा न्याय-विभाग सम्बन्धी) का जनता द्वारा प्रत्याह्वान (Recall) की प्रस्थापना, स्थायी सेना के स्थान पर 'सशस्त्र जनता का सगठन, स्वतन्त्र सार्वजनिक शिक्षा, राज्याधिकारियो को श्रमिको के समान ही वेतन देना' आदि राजनीतिक 'योजना' की यही समाजवादी विशेषता है।"[1]

अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता सुरक्षित कर लेने के उपरान्त श्रमिको को अपने प्रमुख कार्य पूँजी के सामाजीकरण (Socialization) की ओर उन्मुख होना चाहिए। पूँजी के सामाजीकरण की यह प्रक्रिया क्रमिक होगी क्योकि पूँजीवाद इतना क्षीण नही है कि उसे एक ही चोट मे समाप्त किया जा सके। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत पूँजीवादी राज्यो मे मान्यता प्राप्त एव सरक्षित सम्पत्ति के अधिकारो तथा उत्पादन की पूँजीवादी स्थितियो पर शनैः-शनै नियन्त्रण करना होगा। इसके लिए किए जाने वाले उपाय सभी राज्यो में समान नही हो सकते। 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' के अनुसार 'अत्यन्त उन्नतिशील देशो के लिए तात्कालिक उपाय ये है—(1) भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त एव भूमि के सभी प्रकार के लगान का सार्वजनिक उद्देश्य के लिए प्रयोग, (2) यातायात तथा सचार-साधनो का राज्य द्वारा केन्द्रीकरण, (3) साख (Credit) तथा बैको पर राज्य का एकाधिकार और एक राष्ट्रीय बैक की स्थापना, (4) उत्तराधिकार के अधिकारो का अन्त, (5) उत्तरोत्तर बढता हुआ भारी आयकर, (6) देश से भागे हुए और देशद्रोहियो की सम्पत्ति की जब्ती, (7) कारखानो में बालको को काम मे लगाने पर प्रतिबन्ध एव सब बालको के लिए निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था, (8) सबके लिए समान रूप से काम की व्यवस्था, औद्योगिक सेवाओ विशेषकर कृषि सेवाओ की स्थापना, (9) कृषि का उद्योग के साथ सम्मिश्रण, एव (10) राज्य के कारखानो और उत्पादन के साधनो का विस्तार।

'घोषणा-पत्र' मे कहा गया है कि श्रमिक सामाजिक सुधार का यह कार्यक्रम तभी आरम्भ होगा जब श्रमिको का राज्य पर अधिकार स्थापित हो जाएगा। किन्तु मार्क्स के भाषणो से प्रतीत होता है कि यदि किसी समाजवादी शासन मे सरकार उपर्युक्त कार्यक्रम लागू करे तो उसमे श्रमिक वर्ग सरकार को योग दे सकता है। सन् 1847 के 10 घण्टे काम का ब्रिटिश कानून (British Ten Hours Act) को मार्क्स ने श्रमिको के लिए नैतिकतापूर्ण और आर्थिक रूप से लाभप्रद बतलाया था।

मार्क्स सामान्यतया नीति के सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक वक्तव्य देने के विरुद्ध था। उसका विचार था कि इनसे आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए मजदूरो के व्यापक सहयोग में बाधा पडती है। सन् 1871 मे उसने कहा था कि "मजदूरो के पास कोई ऐसे तैयार आदर्श नही है जिन्हे वे जनता की आज्ञा पर प्रयोग मे ला सके। वे यह जानते है कि उन्हे अपनी मुक्ति प्राप्त करने और इसके साथ समाज को उच्च स्थिति मे लाने के लिए, जिसकी ओर वह दुर्निवार रीति से अपने ही आर्थिक साधनो द्वारा बढ रहा है, दीर्घकालीन सघर्षो परिस्थितियो एव मनुष्यो की अनेक परिवर्तनशील ऐतिहासिक प्रक्रियाओ मे से गुजरना होगा।" चार वर्ष बाद गोथा-प्रोग्राम की आलोचना करते हुए उसने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि "दर्जनो कार्यक्रमो की अपेक्षा यथार्थ आन्दोलन का एक कदम कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

मार्क्स ने अपना कार्यक्रम प्रस्तावित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि समाजवादी क्रान्ति तभी हो सकती है जब उत्पादन की आधुनिक शक्तियो और पूँजीपतियो की उत्पादन-शक्तियो मे विरोध हो अथवा बहुसख्यक सर्वहारा वर्ग के सकटो एव कष्टो के कारण उनमे विरोध उत्पन्न हो जाए। कोकर के अनुसार "मार्क्स के अनेक उत्तरकालीन भाषणो मे गुप्त षड्यन्त्रकारी कार्यों के प्रति सन्देह तथा शिक्षा, आन्दोलन, सहकारिता सगठन और राजनीतिक दलगत कार्यों की सफलता मे आस्था एव विश्वास की भावना प्रकट होती है। इनको वह श्रमजीवियो के लिए राजनीतिक परिपक्वता एव शक्ति प्राप्त कर सकने के श्रेष्ठतर साधन समझने लगा था जिनकी सहायता से वे उपयुक्त समय पर शासनतन्त्र को हस्तगत कर सकेगे।"

मजदूरो द्वारा सर्वोच्चता प्राप्त करने के सम्बन्ध में मार्क्स ने अपने वक्तव्यो लेखो और ग्रन्थो में विभिन्न और कही-कही अस्पष्ट विचार व्यक्त किए है, अत उसके विचारों की एकदम सही अभिव्यक्ति करना कठिन है। वैसे मार्क्स ने साधारणतया यह स्वीकार किया था कि राजसत्ता प्राप्त

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 58

करने के साधन विभिन्न देशो और विभिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । किसी काल और स्थान में
सीधी आर्थिक कार्यवाही तो किसी स्थान मे क्रान्ति और कहीं राजनीतिक आधिपत्य की शनै -शनै प्राप्ति
ही ठीक तरीका हो सकता है । मार्क्स का दृष्टिकोण अनुभव-मूलक था । वह संगठित हिंसा का समर्थन
उस स्थिति मे करता जब समाजवादी लोग हिंसात्मक ढग से राजसत्ता प्राप्त कर सकते हों किन्तु समस्त
प्रचलित सामाजिक अवस्थाओ मे परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक होने पर ही शारीरिक बल प्रयोग द्वारा न
होकर वैध साधनो द्वारा राजनीतिक बहुमत की प्राप्ति से होगा जिसके पश्चात् राजनीतिक (किन्तु
आवश्यक रूप से वैध या कानूनी) साधनों द्वारा पूँजीपति धीरे-धीरे सम्पत्ति से वंचित कर दिए
जाएँगे । मार्क्स की मान्यता थी कि सशस्त्र विद्रोह उसी दिशा मे करना चाहिए जबकि स्थिति उसके
अनुकूल हो और उसकी सफलता की आशा हो । मार्क्स जब क्रान्ति तथा पूँजीवाद का 'बलपूर्वक विनाश'
शब्दो का प्रयोग करता था तब उसका हत्याओ तथा अग्निकाण्डो से आशय कदापि नही था । एक ओर
उसने समय से पूर्व क्रान्ति का विरोध किया और दूसरी ओर जब तक परिस्थिति अनुकूल न हो तब तक
समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का विरोध किया, चाहे वह वैध उपायो से ही क्यो न की जा सकती ।
उसने कहा, "यदि अपने विकास के स्वाभाविक नियमो का आविष्कार करने के लिए समाज बडे साहसिक
कदम उठाकर एक उचित मार्ग पर अग्रसर हो भी गया हो तो भी वह कानूनो द्वारा स्वाभाविक विकास
की अवस्थाओ मे उत्पन्न बाधाओ को दूर नही कर सकता ।"[1]

मार्क्स यद्यपि सिद्धान्तवाद का विरोधी था और अपनी व्यूह-रचना मे अनेक प्रकार के
समझौते करने के लिए भी तैयार था तथापि उसके सिद्धान्त के विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनो
पक्षो मे वर्ग-संघर्ष मूलभूत है । यह वास्तव मे उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो प्रकार की
शिक्षाओ का केन्द्र-बिन्दु है । अन्त मे, यद्यपि मार्क्स का विश्वास था कि श्रमिको को राज्य पर अपना
आधिपत्य जमा लेना चाहिए और 'सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी या वर्गीय अधिनायकत्व' (Revolu-
tionary or Class Dictatorship of the Proletariat) स्थापित कर लेना चाहिए तथापि वह यह
भी मानता था कि अन्ततोगत्वा यह राज्य भी विलुप्त हो जाएगा क्योंकि जब उसके द्वारा समाजवादी
व्यवस्था की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति हो जाएगी तब उसकी सत्ता एवं शक्ति की कोई आवश्यकता
नही रहेगी । यह स्मरणीय है कि 'सर्वहारा-वर्ग का क्रान्तिकारी या वर्गीय अधिनायकत्व' शब्दो के
प्रयोग से मार्क्स का यह अभिप्राय नही था कि निरकुश राजकीय सत्ता का एक अथवा अधिक व्यक्तियो
द्वारा प्रयोग होगा और उसका आधार इतना बल-प्रयोग होगा, जो सब प्रकार से कानूनो की परिधि के
बाहर हो । मार्क्स का अभिप्राय केवल यह था कि नवीन राजनीतिक सत्ता-सम्पन्न वर्ग पर अधिकार
करने पर पदच्युत सत्ता के समय के कानून बाध्यकारी नहीं होंगे ।

यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का कार्यक्रम कुल मिलाकर विकासवादी और क्रान्तिकारी
दोनों है । यह विकासवादी इस रूप मे है कि मार्क्स के अनुसार "पूँजीवादी समाज मे से समाजवादी
समाज का आविर्भाव क्रमिक रूप से और पूँजीवादी समाज के उत्तरोत्तर तथा स्वाभाविक ह्रास के
फलस्वरूप होगा ।" यह इस सीमा तक भी विकासवादी है कि मार्क्स के अनुसार प्रजातान्त्रिक
परम्पराओ वाले देशो मे भी श्रमिक अपने उद्देश्यो की पूर्ति शान्तिमय उपायो से कर सकते हैं । मार्क्स
का कार्यक्रम निश्चित रूप से क्रान्तिकारी इस रूप मे है कि वह वर्तमान प्रणाली के शव पर नवीन
प्रणाली की स्थापना के लिए हिंसा और क्रान्ति को आवश्यक समझता है । उसका विश्वास था कि जिन
देशो मे परिस्थितियाँ अनुकूल नही है, वहाँ वर्ग-युद्ध, हिंसा और क्रान्ति के बिना आधारभूत सामाजिक
तथा आर्थिक परिवर्तन होना असम्भव है । मार्क्स का कार्यक्रम क्रान्तिकारी इसलिए भी था क्योंकि वह
बलपूर्वक प्रस्थापित करता है कि पूँजी और श्रम के हितो मे शाश्वत विरोध है तथा वर्ग-संघर्ष एक
अटल ऐतिहासिक आवश्यकता है । इस दृष्टिकोण से भी यह क्रान्तिकारी है कि यह "अपने आदर्शो के
विरुद्ध विशिष्ट हितो के लिए कोई सम्मान नही रखता और परिस्थिति अनुकूल होने पर अपने उद्देश्य
की सिद्धि के लिए कोई भी कदम उठाने को तत्पर रहता है । औपचारिक अथवा परम्परावादी औचित्य

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 63

की धारणाएँ इसे नहीं रोक सकती।" 'कम्युनिष्ट मैनीफेस्टो' में मार्क्स की यह घोषणा भी इसके क्रान्तिकारी होने की पुष्टि करती है—

"साम्यवादी स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि उनका लक्ष्य समस्त प्रचलित अवस्थाओं को बलपूर्वक उलट देने से ही प्राप्त हो सकेगा। शासक वर्ग साम्यवादी क्रान्ति से कम्पायमान हो। श्रमजीवी वर्ग के पास शृंखलाओं के अतिरिक्त खोने को और कुछ भी नहीं है। सारा विश्व उनकी विजय के लिए है।"

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त काफी वजनदार है। समाज में सामाजिक वर्गों के अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। प्रायः प्रत्येक सभ्य समाज में जन, सम्पत्ति, पद, वर्ण, प्रतिभा आदि के आधार पर भेद विद्यमान रहे हैं। यह भी सत्य है कि राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए विभिन्न वर्ग-संघर्ष ऐतिहासिक घटनाओं के निर्धारण में योग देते रहे हैं। प्राचीन भारत में राजनीतिक प्रभुता की प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विभिन्न वंशों में संघर्ष होता रहता था, प्राचीन यूनान में धनतन्त्रवादियों और जनतन्त्रवादियों में शक्ति के लिए संघर्ष चलता रहता था और प्राचीन रोम तथा अन्य देशों में भी बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं। मार्क्स ने इतिहास में सामाजिक वर्गों के महत्त्व पर बल देकर समाजशास्त्र की एक बहुत बड़ी सेवा की है। वही प्रथम विचारक है जिसने ऐतिहासिक घटनाओं की वर्ग-हित और वर्ग-प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में व्याख्या की है। मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के पक्ष में यह एक बड़ा प्रमाण है कि इतिहास में सम्भवतः ऐसे उदाहरण बहुत कम होंगे जब समाज के शोषित वर्ग की ओर से संघर्ष हुए बिना ही शासक वर्ग ने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया हो। जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्ग ने प्राप्त किए हैं वे उसे कठिन संघर्ष के फलस्वरूप ही मिल पाए हैं।

लेकिन यह सब होते हुए भी मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त कटुतम आलोचना का विषय रहा है। इस सिद्धान्त के विपक्ष में दिए जाने वाले तर्क मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1 समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं हैं। आधुनिक युग में एक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण मध्यमवर्ग का भी विकास हुआ है। इस वर्ग में प्रबन्धक, कुशल कारीगर, अफसर, वकील, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि सम्मिलित हैं। इस तरह मार्क्स की यह घोषणा कि समाज में सदा ही दो वर्ग रहेंगे, गलत सिद्ध हो रही है। सेबाइन ने ठीक ही लिखा है कि—"यदि मार्क्स इंग्लैण्ड को अपना आदर्श मानता (इंग्लैण्ड में पूँजीवादी कृषि-अवस्था और मध्यम वर्ग की प्रधानता रही है) तो सम्भवतः उसका वर्गों का विश्लेषण यह न होता।"[1] चूँकि मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्वात्मक विरोधों में देखा, इस कारण वह केवल दो मुख्य विरोधी वर्गों की स्थिति के लिए बाध्य था परन्तु इसके परिणामस्वरूप उसकी कई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुईं। मार्क्स ने जिन दो वर्गों की चर्चा की है, उनकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है, अतः फ्रांसीसी श्रमिक संघवादी सोरल (Sorel) ने तो मार्क्सवादी वर्ग को 'एक अमूर्त कल्पना' तक की संज्ञा दे दी है।

2 मार्क्स का यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से गलत सिद्ध होता है कि निम्न मध्यवर्गीय और छोटे-छोटे बुर्जुआ अन्त में श्रमजीवी वर्ग के साथ मिल जाएँगे। उद्योग-प्रधान समाजों में वेतनभोगी कर्मचारियों, बिचौलियों, व्यावसायिक लोगों और छोटे दुकानदारों की वृद्धि हुई है जिन्हें मार्क्स की योजना में छोटे बुर्जुआ ही कहा जा सकता है। लेकिन फासिज्म ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस प्रकार के लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल होने का इतना तीव्र विरोध करते हैं जिसकी मार्क्स कल्पना भी नहीं कर सकता था।

3 मार्क्स ने यह भूल की है कि उसने सामाजिक वर्गों और आर्थिक वर्गों को एक ही समझा तथा वर्ग-संघर्ष को शोषक एवं शोषित वर्गों के बीच युद्ध बताया। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, धनतन्त्रवादियों, पेट्रीशियनों और प्लीबियनों को आर्थिक वर्ग मान लेने से पहले वर्ग एवं वर्ग-चेतना की धारणाओं का उससे अधिक स्पष्ट एवं निश्चित विश्लेषण आवश्यक है जितना मार्क्स ने किया है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 719.

वास्तव मे वर्ग-संघर्ष की धारणा मे एकदम लिप्त होने के कारण और अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करने की अधीर उत्सुकता के कारण मार्क्स ने वांछित गम्भीर विश्लेषण नही किया बल्कि इसका अत्यधिक सरल कर दिया। यह नही भूलना चाहिए कि इतिहास मे किसी भी समय सामाजिक वर्गों मे वह दृढता और उद्देश्य की एकता नही रहती जो वर्ग-संघर्ष के लिए आवश्यक है, उसमें आन्तरिक विरोध रहते हैं। पोपर के शब्दो में—

"वास्तव में शासक और शासित वर्गों के हित में आन्तरिक विरोध इतना गहरा है कि मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त को एक खतरनाक एवं अत्यधिक सरलीकरण समझा जाना चाहिए चाहे हम यह मान लें कि अमीर और गरीब के मध्य संघर्ष का हमेशा आधारभूत महत्त्व है। मध्यकालीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण विषय पोप और सम्राटो के बीच युद्ध शासक वर्ग के आन्तरिक विरोधो का एक उदाहरण है। उस संघर्ष को शोषक और शोषित के बीच संघर्ष की संज्ञा देना गलत होगा।"[1]

4. वस्तुतः मानवता का संचालक तत्त्व वर्ग-संघर्ष न होकर सामञ्जस्य की भावना है। समाज के अनेक वर्ग विभिन्नताओ के होते हुए भी एकता के सूत्र मे बँधे रहते है। हर वर्ग मे सामाजिकता की भावना निहित होती है और सभी वर्ग समाज के हित के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हैं। मनुष्य मे सहयोग, त्याग एव सहानुभूति आदि के श्रेष्ठ गुण भी विद्यमान होते हे। इससे इन्कार नही किया जा सकता। अत. समाज का विकास वर्ग-संघर्ष न होकर सामाजिकता, सामञ्जस्य एव एकता की भावना से होता है। मार्क्स ने इस विश्वास की उपेक्षा कर निःसन्देह मानवता के प्रति एक अक्षम्य अपराध किया है।

5 मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिक वर्ग दीन हीन होते जाएँगे जिसके परिणामस्वरूप उनमे चेतना का प्रादुर्भाव होगा। किन्तु इतिहास ने मार्क्स की इस मान्यता को गलत सिद्धकर दिया है। वास्तविकता यह है कि प्रथम महायुद्ध के बाद से इग्लैण्ड में पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिको की समृद्धि मे भी इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि ये आज पूँजीपतियो की समृद्धि मे साझीदार बने हुए है। साथ ही मार्क्स की यह धारणा भी सत्य सिद्ध नही हुई है कि श्रमिक वर्ग मे भी चेतना दृढतर होती जाएगी और समस्त कार्यकारी लोग एक हो जाएँगे। हम स्पष्ट देखते है कि समस्त वेतनभोगी व्यक्तियो मे न तो श्रमिकवर्गीय चेतना ही आई है और न उनमे श्रमिक वर्ग के प्रति कोई सहानुभूति ही उत्पन्न हुई है।

6. वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय मार्क्स सम्भवत यह कल्पना नही कर सका था कि पूँजीवाद स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप ढाल सकेगा। इस भूल के कारण आज मार्क्स की पूँजीवाद के विनाश की धारणा केवल एक मृगतृष्णा बनकर रह गई है। आज पूँजीवाद ने उत्पादन-पद्धति मे सुधार कर स्वय को संकटो से मुक्त कर लिया है और परिस्थितियो के अनुसार स्वय को ढालकर श्रमिको का बहुत कुछ समर्थन प्राप्त कर लिया है।

7. मार्क्स और ऐंजिल्स ने यह विचार प्रकट किया था कि श्रमिक वर्ग की क्रान्ति सन्निकट आ चुकी है क्योंकि पूँजीवाद अपने विनाश के लिए पक चुका है। मार्क्स ने यह भी कहा था कि क्रान्ति सर्वप्रथम सर्वाधिक औद्योगिक-प्रधान देशो मे होगी। किन्तु मार्क्स का यह विश्वास अभी तक तो गलत ही प्रमाणित हुआ है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित किसी भी देश में अभी तक कोई श्रमिक क्रान्ति नही हुई है।

8 मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवादी उत्पादन की विधि से धीरे-धीरे व्यवसायो का रूप विशाल हो जाएगा और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट तथा कार्टेल (Cartel) बन जाएँगे। इस प्रकार पूँजी उत्तरोत्तर थोडे से व्यक्तियो के पास संचित होती जाएगी। इस सिद्धान्त के विरोधियो का कहना है कि इस भविष्यवाणी का प्रथम भाग तो सिद्ध हो चुका है क्योकि आजकल बड़े विशाल औद्योगिक एव व्यापारिक संगठनो का निर्माण हो गया है तथापि पूँजी थोडे व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित नही हो रही है। बडे पूँजीपतियो के साथ-साथ छोटे पूँजीपति भी बने हुए हैं। मध्यम वर्ग का अन्त

1 *Poper* : The Open Society and its Enemies, p 307.

नहीं हो रहा है और इस मध्यम वर्ग के लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल होकर उसका विस्तार नहीं कर रहे हैं, जैसा कि मैनीफेस्टो में उल्लेख है। आधुनिक काल में मध्यम वर्ग सर्वहारा वर्ग की अपेक्षा पूँजीवादी वर्ग की ओर अधिक सहानुभूतिपूर्ण है।

9. मार्क्स की यह धारणा कि समस्त संसार के पूँजीपतियों का समान उद्देश्यों एवं हितों से संचालित होने वाला एक ही वर्ग है, सही नहीं है। सारे विश्व की बात तो छोड़िए, एक ही देश के असंख्य भूमिपतियों, कारखानों के स्वामियों और उद्योगपतियों को एक ऐसा सफल पूँजीवादी वर्ग नहीं समझा जा सकता जो वर्ग-चेतना से पूर्णतः प्रेरित हो और जिसमें वर्ग की एकता की भावना विद्यमान हो। यदि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखा जाए तो ब्रिटेन के पूँजीपतियों और भारत तथा जापान के पूँजीपतियों में कुछ भी हितों की समानता नहीं है, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि उनके हितों में संघर्ष है। पूँजीपतियों की एकता तो सन्देहास्पद है ही, विभिन्न देशों के श्रमिकों के हितों में और भी कम एकता है। एक देश में पुरुष और स्त्री श्रमिकों, कुशल तथा अकुशल श्रमिकों और श्वेत तथा काले श्रमिकों या वर्णभेद के आधार पर श्रमिकों में जो सम्बन्ध पाए जाते हैं वे कार्ल मार्क्स की श्रमिक-एकता की धारणा को गलत सिद्ध करते हैं। स्वयं मार्क्स और ऐंजिल्स और उनके आधुनिक अनुयायियों की श्रमिकों को संगठित होने की बार-बार अपीलें यह सिद्ध करती हैं कि श्रमिकों में कोई स्वाभाविक एकता नहीं है। विश्व के श्रमिकों में अन्तर्राष्ट्रीय एकता की धारणा और 'श्रमिकों का कोई राष्ट्र नहीं होता' की विचारधारा दोनों ही कल्पनाएँ मात्र ही सिद्ध हुई हैं। विगत दोनों विश्व युद्धों में विश्व के सारे श्रमिक तथाकथित वर्ग-चेतना की उपेक्षा कर अपने-अपने राष्ट्रों की रक्षा करने में तत्पर रहे हैं और आज भी वे राष्ट्र की सीमाएँ तोड़ नहीं पा रहे हैं। ये सब कारण हमें मानव-इतिहास को समझने की एक कुञ्जी का काम कर वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को ठुकराने को विवश करते हैं।

10. मार्क्स की इस मान्यता के विरुद्ध गम्भीरतम आक्षेप किया जाता है कि अन्त में श्रमिक वर्ग की पूँजीवादी वर्ग पर विजय होगी और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाएगा। वर्ग-संघर्ष का अन्त निश्चित रूप से पूँजीवाद के विनाश और समाजवाद की स्थापना में होगा। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह धारणा केवल आकांक्षा और आशा की अभिव्यक्ति है, तथ्यों पर आधारित तर्कसम्मत परिणाम नहीं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच वर्ग-संघर्ष होगा और उसकी अन्तिम परिणति पूँजीवाद के उन्मूलन में होगी, तो यह आवश्यक नहीं है कि सत्ता औद्योगिक श्रमिकों के हाथ में पहुँचेगी, फासिस्ट अधिनायकशाही जैसे अन्य विकल्प भी हैं। यह भी हो सकता है कि "पूँजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न होकर अराजकता हो जिसमें से एक ऐसी तानाशाही का जन्म हो जाए जिसमें सैद्धान्तिक रूप में साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"[1] यह मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है कि समस्त देशों में वर्ग-युद्ध के एक से परिणाम ही होते हैं। जो कुछ रूस में सम्भव हुआ वह इंग्लैण्ड या फ्रांस में सम्भव नहीं हो सका है। फासिज्म तथा नात्सीवाद का जन्म मार्क्स और ऐंजिल्स की शिक्षा के विरुद्ध हुआ। साम्यवाद की विजय उतनी निश्चित नहीं है जितनी मार्क्स और उसके साथी सोचते थे। इसके अतिरिक्त मार्क्स यह कहीं भी सिद्ध नहीं करता कि श्रमिक निश्चित रूप से प्रशासन चलाने की योग्यता से सम्पन्न होंगे।

11. वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त एक दूषित और हानिकारक सिद्धान्त है जो सहानुभूति, सहयोग एवं भ्रातृत्व के स्थान पर घृणा के प्रचार की शिक्षा देता है। घृणा विश्व की उन्नायक कभी नहीं बन सकती। केटलिन का तो यहाँ तक कहना है कि "मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही आधुनिक कष्टों, रोगों, यहाँ तक कि फासीवाद का भी जन्मदाता है।" संघर्ष विनाश का लक्षण है, निर्माण का नहीं। यह युद्ध का एक ऐसा नारा है जो एकदम निरुद्देश्य है। यह सिद्धान्त अवश्य आत्महत्या के समान प्रमाणित होगा जैसा कि प्राचीन ग्रीस और साम्यवादी रोम में प्रमाणित हुआ। यह सिद्धान्त रूप में मध्यवर्ग की सार्वजनिक हत्याओं तथा उनकी सम्पत्ति के पूर्ण अपहरण के लिए उत्तरदायी है।

1 *Laski* : Communism, p. 87-88.

प्रो कोल (Cole) का विचार है कि 'मैनीफेस्टो' मे श्रमिक वर्ग की क्रान्ति का मार्ग निर्धारित करते समय मार्क्स पर इग्लैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियो का पर्याप्त प्रभाव पडा था। उस समय इग्लैण्ड मे उत्पादन वृद्धि के कारण पूँजीपति वर्ग समृद्धिशाली और श्रमिक वर्ग दरिद्र होता जा रहा था। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन-शक्ति का विस्तार कर दिया था, तथापि धन की इस वृद्धि ने श्रमिको को सुख-सुविधा देने की अपेक्षा उनके दुःख और उनकी अरक्षा को ही अधिक बढाया था। फलतः श्रमिक अपने संघो का निर्माण करके संकटमुक्त होने का प्रयत्न करने लगे थे। सन् 1845 मे रॉबर्ट ओवन के नेतृत्व मे निर्मित 'Grand National Consolidated Trade Union' की विफलता के बाद उदित होने वाले 'चार्टिस्ट' आन्दोलन मे घोर संकट के कारण भुखमरी के समस्त लक्षण मौजूद थे। ऐसी परिस्थितियो मे मार्क्स की इस धारणा को बल मिलना अथवा उसका इस परिणाम पर पहुँचना स्वाभाविक था कि पूँजीवाद का विकास श्रमिको की दशा को निरन्तर पतनोन्मुख करता है और पूर्णतया असन्तुष्ट श्रमिक कभी न कभी एक ऐसा शक्तिशाली राजनीतिक जन-आन्दोलन करेंगे जो पूँजीवाद को नष्ट कर देगा। यदि 'कम्युनिष्ट मैनीफेस्टो' दस वर्ष बाद की बदलती हुई परिस्थितियो मे तैयार किया जाता अथवा संशोधित हो जाता तो सम्भवतः मार्क्स की धारणा कुछ भिन्न होती।

मार्क्स का मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Marx's Theory of Value and Surplus Value)

'अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) का प्रतिपादन मार्क्स ने यह दिखाने के लिए किया है कि पूँजीवादी प्रणाली मे पूँजीपतियो द्वारा श्रमिको का किस प्रकार शोषण किया जाता है। इस सिद्धान्त का विवेचन 'दास कैपिटल' मे है। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्त मे मार्क्स यह वर्णन नही करता कि वस्तुओ की कीमत क्या होगी या उसमे उतार-चढाव आदि क्या होते है। मार्क्स का मूल्य-सिद्धान्त कीमतो का सिद्धान्त नही है। इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य तो यह प्रकट करना है कि पूँजीपति श्रमिक को यथायोग्य पारिश्रमिक नही देते। वे श्रमिको मे श्रम का मनमाना मूल्य अंकित कर उनका शोषण करते है और स्वयं ऐसा करते हैं!

मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त पर रिकार्डो के सिद्धान्त का प्रभाव है। अपने अर्थशास्त्र की मीमांसा की अमूर्त पद्धति उसने (मार्क्स) रिकार्डो से ग्रहण की। मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) भी रिकार्डो से लेकर उसने उसे समाजवादी रूप दिया। फिर भी अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए मार्क्स कहता था कि रिकार्डो को श्रम के मूल्य के बदले श्रम-शक्ति (Labour Power) के विषय मे विचार करना चाहिए। कोकर ने लिखा है कि, "मार्क्स ने पूँजीवाद के विकास और सामाजिक परिणामो की जो व्याख्या की है, उसका मुख्य तत्त्व उसका अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का सिद्धान्त है जिसे उसके मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) के आधार पर स्थिर किया था। मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि अन्त मे किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन पर श्रम की मात्रा पर निर्भर है। यह सिद्धान्त मार्क्स से बहुत पहले अनुदार तथा उग्र सुधारवादी सिद्धान्त-शास्त्रियो मे प्रचलित था। यह वास्तव मे एक अंग्रेजी सिद्धान्त था जिसका प्रतिपादन 17वी शताब्दी मे सर विलियम पेरी ने किया था। उसके बाद अन्य ख्याति प्राप्त अर्थशास्त्रियो मुख्यकर एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने भी इस पर अनेक प्रकार से जोर दिया और इसमे संशोधन किया।"

मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त पर रिकार्डो के प्रभाव को दर्शाते हुए प्रो वेपर (Wayper) का कथन है कि 'मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमे निहित श्रम की मात्रा के अनुपात मे होता है, बशर्ते कि यह श्रम-उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के तुल्य हो।"

मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए सर्वप्रथम दो शब्दो—प्रयोग-मूल्य (Use Value) तथा विनिमय मूल्य (Exchange Value) का अर्थ जान लेना चाहिए। प्रयोग-मूल्य का अर्थ वस्तु की उपयोगिता से है। किसी वस्तु मे विनिमय मूल्य तब होता है जब उसमे मानव-श्रम की कुछ मात्रा लग जाती है।

मार्क्स का मत है कि प्रत्येक वस्तु का प्रयोग-मूल्य (Use Value) इस बात पर निर्भर नहीं होता कि उस पर कितना मानव-श्रम व्यय होता है। उदाहरण के लिए वायु और जल पर कोई मानव-श्रम खर्च नहीं किया जाता, अतः उनका प्रयोग अथवा उपयोग-मूल्य होता है। किन्तु किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य (Exchange Value) इसलिए होता है क्योंकि उस वस्तु के उत्पादन में मानव-श्रम व्यय होता है। उदाहरण के लिए एक घड़ी बनाने के लिए एक मजदूर को काफी श्रम करना पड़ता है, अतः उसका विनिमय-मूल्य होता है। इन दोनों को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि—"एक वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि उनमें मानव-श्रम का उपयोग हुआ है। तब इस मूल्य की मात्रा को कैसे मापा जाए? स्पष्टतः मूल्य की सृष्टि करने वाले तत्त्व की मात्रा वस्तुओं में निहित श्रम से है। श्रम की मात्रा का माप उसकी अवधि से होता है और श्रम-काल का माप सप्ताहों, दिवसों और घण्टों में होता है। अब यह स्पष्ट है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है, वह श्रम-काल या श्रम की मात्रा है जो उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक वस्तु को उसकी अपनी श्रेणी का औसत नमूना चाहिए। दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उस पर खर्च श्रम-काल के अनुसार होता है।"

मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त के अनुसार श्रम ही वस्तुओं के वास्तविक मूल्य का सृष्टा है।

मार्क्स ने पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग में चलने वाले सतत् संघर्ष का मूल कारण अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को माना है। उसका तर्क है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस पर किए गए श्रम के अनुसार होता है। जिस वस्तु पर हमें जितना कम श्रम करना पड़ता है, वह उतनी ही सस्ती होती है। उदाहरण के लिए एक घड़ी को बनाने में एक मजदूर काफी परिश्रम करता है, इसलिए उसका मूल्य सस्ता नहीं है जबकि एक फाउन्टेन पेन बनाने में उसने कम मेहनत करनी पड़ती है, अतः उसका मूल्य घड़ी से सस्ता होता है। हवा को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती, अतः वह मुफ्त में मिलती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के मूल्य का निर्धारक श्रमिक का श्रम है तथा जिस कीमत पर वह बाजार में बिकती है, इसमें बहुत अन्तर होता है। मार्क्स इस अंतर को वस्तु का अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) मानता है जिसे बिना कुछ किए ही पूँजीपति बीच में ही हड़प जाता है। उदाहरण के लिए फ्लेक्स फैक्ट्री में यदि एक मजदूर एक जूता जोड़ा बनाता है तो उसे 8 मिलते हैं, और मान लो उस जूते-जोड़े में लगने वाली सामग्री की कीमत 10 रुपया है, किन्तु वह जूता बाजार में 25 रुपये का बिकता है, तो इस प्रकार 18 रुपये निकाल देने के बाद 7 रुपये उस जूते का अतिरिक्त मूल्य है जिसे फैक्ट्री का मालिक बिना हाथ-पैर हिलाए हड़प जाता है। ईमानदारी से यह मजदूरों को ही मिलना चाहिए था, किन्तु पूँजीपति मजदूरों की दरिद्रता का अनुचित लाभ उठा कर इस अतिरिक्त मूल्य से अपनी जेबें भरता है और उन्हें दरिद्रता तथा भूख से मुक्ति नहीं पाने देता। यही कारण है कि मालिक और श्रमिक के बीच की खाई बढ़ती जा रही है और निरन्तर वर्ग-युद्ध चलता रहता है। अतिरिक्त मूल्य की परिभाषा में मार्क्स ने लिखा है कि 'यह उन दो मूल्यों का अन्तर है जिन्हें एक मजदूर पैदा करता है जो वह बदले में पाता है।"

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का सार यह है कि प्रत्येक वस्तु का असली मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कितना श्रम व्यय हुआ है और "मार्क्स का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि इन अवस्थाओं (श्रमिकों का शोषण आदि) को समाप्त करने का एकमात्र उपाय व्यक्तिगत भाड़े, ब्याज और मुनाफे के सभी सुयोगों का विनाश है। यह परिणाम केवल समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है जिसमें व्यक्तिगत पूँजी का स्थान सामूहिक पूँजी ले लेगी और तब न कोई पूँजीपति रहेगा और न मजदूर। सब व्यक्ति सरकारी उत्पादक बन जाएँगे।"[1]

1 कोकर: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 48–49.

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स ने इसके द्वारा तीन नियमों का प्रतिपादन किया था—

(i) पूँजी का सनय सिद्धान्त (The Law of Capitalist Accumulation) अर्थात् पूँजीपति सदैव इस बात की ओर प्रयत्नशील रहते है कि मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा श्रम की बचत और उत्पादन की वृद्धि हो।

(ii) पूँजी के केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त (The Law of Concentration of Capital) जिसका आशय है कि प्रतियोगिता द्वारा पूँजीपतियों की सख्या मे कमी होगी, पूँजी का केन्द्रीयकरण होगा जिस पर केवल कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार स्थापित हो जाएगा और इस तरह से पूँजीपतियों का अन्त हो जाएगा।

(iii) कष्टों की वृद्धि का सिद्धान्त (The Law of Increasing Misery) जिसके अनुसार प्रतियोगिता के कारण पूँजीपति श्रमिकों का अत्यधिक शोषण करेंगे जिससे कष्टों मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाएगी, किन्तु इसके साथ-साथ श्रमिक वर्ग की क्रान्ति होगी। पूँजीवादी व्यवस्था मे श्रमिकों की दशा शोचनीय होगी और वे अपनी सुरक्षा के लिए सगठित होकर क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने मे सफल होंगे।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

मार्क्स के मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्त्व आर्थिक सत्य की अपेक्षा एक राजनीतिक तथा सामाजिक नारे के रूप मे अधिक है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त गलत मान्यताओं पर आधारित है। यदि यह सत्य है कि श्रम के बिना पूँजी का उत्पादन नही हो सकता, तो यह बात भी उतनी ही सत्य है कि बिना पूँजी के श्रम भी उत्पादन नही कर सकता। उत्पादन मे श्रम को ही एकमात्र सक्रिय और आवश्यक तत्त्व मानना तथा श्रम की मजदूरी को ही उत्पादन का मूल्य निश्चित करने मे न्यायोचित अग समझना गलत धारणा है। श्रम के अतिरिक्त बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण एक वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है जैसे भूमि, पूँजी तथा सगठन अथवा सस्था। मार्क्स की यह भी गम्भीर भूल है कि उसने केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम माना है और मानसिक श्रम की उपेक्षा की है। गुणात्मक ढग से उत्कृष्ट बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम का गुणनफल मानना हास्यास्पद है। पुनश्च, जब पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव हो तब यह श्रम-मूलक सिद्धान्त क्रियान्वित नही हो सकता। मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार उपयोग-मूल्य को ध्यान मे रखना होगा।

अतिरिक्त-मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना

1. यह सिद्धान्त सभी वस्तुओं पर लागू नही होता। यह यथार्थ और वास्तविक नही है और न ही तथ्यों पर आधारित है। पूँजीवाद मे श्रमिकों के शोषण को प्रदर्शित करने के सिवाय इसकी और कोई उपयोगिता नही है।

2. मार्क्स के सिद्धान्त का यह मौलिक विचार ही गलत है कि वस्तु के मूल्य मे श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के सिवाय सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति द्वारा की जाने वाली चोरी है। मार्क्स भूल जाता है कि श्रम मूल्य को निर्धारित करने वाले अनेक तत्त्वों मे से एक है। बिना पूँजी के श्रम व्यर्थ ही रहता है। श्रम की अपेक्षा यन्त्रों मे पूँजी लगाने से अधिक लाभ होता है। वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजी, मशीन, कच्चा माल, वैज्ञानिक ज्ञान, प्रबन्ध-कौशल, सगठन-क्षमता आदि आवश्यक रूप से अपेक्षित हैं क्योंकि इन सबके सहयोग के अभाव मे श्रमिक केवल अपने श्रम से कोई वस्तु उत्पन्न नही कर सकता। वस्तु के मूल्य-निर्धारण मे श्रम के अलावा ये तत्त्व भी अपना निश्चित प्रभाव डालते है।

3. मार्क्स ने केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम माना है, मानसिक श्रम की उपेक्षा करदी है।

4 वस्तुग्रो के उत्पादन मे श्रमिको को उनका पारिश्रमिक देने के अतिरिक्त पूँजीपति को ग्रन्य बहुत-सी बातो के लिए भी पर्याप्त धनराशि व्यय करनी पडती है जिसकी मार्क्स ने उपेक्षा की है। मार्क्स ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि कारखाने के सुधार, मशीनो की घिसावट, श्रमिको को सुविधाएँ ग्रादि पर पूँजीपतियो को बहुत कुछ व्यय करना पडता है ग्रौर वस्तुग्रो का मूल्य-निर्धारण करते समय इस व्यय को भी ध्यान मे रखना पडता है। यह सारा व्यय मार्क्स के तथाकथित ग्रतिरिक्त मूल्य से ही होता है।

यह कहना भी ठीक नही है कि ग्रतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव नई पूँजी का निर्माण होता है। यदि ऐसा होता तो पूँजी बढाने के लिए नित नई जोखिम उठाने ग्रौर ब्याज, शेयर ग्रादि के ग्राधार पर पूँजी प्राप्त करने का प्रयत्न न करते।

5. मार्क्स की एक ग्रोर तो यह मान्यता है कि पूँजीपति ग्रतिरिक्त मूल्य ग्रथवा मुनाफ़ा बढाने के लालच मे नई मशीने लगाता है ग्रौर दूसरी ग्रोर यह भी कहता है कि मशीनो, कच्चे माल, ग्रादि से कोई ग्रतिरिक्त मूल्य प्राप्त नही होता। ग्रतिरिक्त मूल्य तो केवल परिवर्तनशील पूँजी ग्रथवा श्रमिको से ही मिलता है। मार्क्स के ये दोनो ही कथन परस्पर-विरोधी हैं। इसके ग्रलावा, यदि ग्रतिरिक्त मूल्य श्रमिको से ही मिलता है तो पूँजीपतियो द्वारा मशीने लगाकर श्रम को कम करने का प्रयत्न करना मूर्खता ही कहा जाएगा। वास्तव मे मार्क्स ग्रपने परस्पर-विरोधी कथनो से स्वय ही ग्रसगतियो के जाल मे फँस जाता है।

6 मार्क्स न ग्रपने ग्रथ 'कैपिटल' के प्रथम ग्रौर तृतीय खण्ड मे ग्रतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध मे विरोधी विचार प्रकट किए है। प्रथम खण्ड मे उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस उद्योग में श्रमिको की सख्या ग्रधिक होगी उसमे कम श्रमिको वाले उद्योग की ग्रपेक्षा ग्रधिक लाभ होगा, पर वास्तव मे ऐसा नही होता। सभी उद्योगो मे लाभ की दर लगभग समान होनी है। मार्क्स ने ग्रपने ग्रथ के तीसरे खण्ड (ग्रध्याय 9), मे इस ग्रापत्ति का उत्तर दिया है जो इतना ग्रस्पष्ट है कि उसे पूरी तरह समझना कठिन है। प्रथम खण्ड मे मार्क्स ने पदार्थों के विनिमय-मूल्य को प्रतिपादित किया है जबकि तीसरे खण्ड में वह कहता है कि वस्तुओ का विनिमय-मूल्य उत्पादन के दामों के ग्राधार पर निश्चित होता है। ये दोनो ही विरोधी कथन बहुत ग्रसगति पैदा करते है। इन ग्रसगतियो के फलस्वरूप मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त दूषित हो गया है।

7 मार्क्स ने ग्रपने सिद्धान्त मे मूल्य (Value), दाम (Price) ग्रादि शब्दो का ग्रस्पष्ट ग्रौर ग्रनिश्चित ढग से प्रयोग किया है। उसने सामान्य मजदूरो ग्रौर मिल-मालिको के जिस रूप का वर्णन किया है वह भी काल्पनिक है। उसने सभी महत्त्वपूर्ण ग्रार्थिक शब्दो की मनमानी व्याख्या की है जिससे उसका वास्तविक ग्रभिप्राय समझना कठिन हो गया है।

8. इन ग्रालोचनाग्रो के प्रकाश मे यद्यपि मार्क्स का ग्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ग्राह्य नही है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि यह सिद्धान्त एक ऐसा मूल तत्त्व है जो पूँजीवाद का हृदय हिला देने वाली विभीषिकाग्रो का उद्घाटन करता है। इस बात से इन्कार करना कठिन है कि पूँजीपतियो ने श्रमिको की मेहनत पर ग्रपनी विलासिता के महल खडे किए है। चाहे उन्हे प्राप्त होने वाला सम्पूर्ण लाभ ग्रतिरिक्त मूल्य न हो, परन्तु उनके लाभ का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जिसके वे किसी भी प्रकार के ग्रधिकारी नही है। श्रमिको ग्रौर दरिद्रो की दयनीय ग्रवस्था देखते हुए कहा जा सकता है, कि उनकी इस ग्रवस्था का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व पूँजीपतियो पर है। मार्क्स का ग्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त इस सत्य की पुष्टि करता है। कतिपय ग्रालोचक यह मानते हैं कि मजदूर श्रम करते समय तो शोषित भले ही होता है लेकिन बाद में स्वतन्त्र हो जाता है। इसके उत्तर मे मार्क्स ने कहा है कि शोषण की गति नहीं रुकती। श्रमिको का शोषण उपभोक्ता के रूप मे भी होता है क्योंकि पूँजीपति द्वारा ग्रधिक मूल्य पर बाजारो मे विक्रय की हुई वस्तुएँ मजदूरों को भी खरीदनी पड़ती हैं। इस तरह कारखाने, बाजार ग्रादि सब जगह शोषण क्रम चलता रहता है। मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त को ठुकराते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि पूँजीवादी व्यवस्था मे श्रमिक को ग्रपने श्रम का समुचित मूल्य नही मिल पाता।

मार्क्स का राज्य-सिद्धान्त
(The Marxian Theory of State)

मार्क्स के दर्शन पर अब तक जो कुछ कहा गया है उसमें मार्क्स का राज्य सिद्धान्त बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स का राज्य-सिद्धान्त उसके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की एक उपसिद्धि (Corollary) मात्र है। इस सिद्धान्त द्वारा पूँजीवाद के साम्यवादी व्यवस्था में आने के मूलत क्रान्तिकारी स्वरूप पर और भी अधिक प्रकाश पडता है। मार्क्स इस बारे में मौन हैं कि क्रान्ति के बाद समाज की क्या रचना होगी और राज्य के क्या कार्य होंगे, तथापि उनकी और ऐंजिल की रचनाएँ राज्य सिद्धान्त को अवश्य ही स्पष्ट करती हैं।

राज्य का परम्परागत अथवा प्राचीन सिद्धान्त राज्य को एक निगमात्मक समूह (A Corporate Group) मानता है जिसमे विभिन्न समूह अथवा वर्ग सबके सामान्य कल्याण के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। अरस्तू के बहुचर्चित शब्दों में 'राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और शुभ जीवन के लिए उसका अस्तित्व है।' राज्य उन परिस्थितियों को जन्म देता है जिनमे रहकर प्रत्येक नागरिक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण और स्वतन्त्र विकास करता है। राज्य एक ऐसा धरातल प्रदान करता है जिस पर मनुष्य नागरिको के रूप मे सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिए पारस्परिक सहयोग की ओर उन्मुख होते है तथा जाति, वर्ण, धर्म, वर्ग आदि की सकुचित भावनाओ से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं सारांश मे, राज्य एक 'सार्वत्रिक समुदाय अथवा सर्वव्यापी समूह' (A Universal Association) है जो 'समाज के विभिन्न तत्वो मे उचित सन्तुलन कायम रखने' का प्रयास करता है। लॉस्की (Laski) के शब्दो मे, "राज्य अपनी नीति से नागरिको के सम्बन्धो को इस भाँति सन्तुलित करने का प्रयत्न करता है कि प्रत्येक नागरिक यदि चाहे तो मानव व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सके।"[1]

किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के इस परम्परावादी सिद्धान्त से असहमत है। मार्क्स के अनुसार राज्य सर्व-कल्याण को अपना उद्देश्य समझने वाला समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। "यह तो सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर शासन करता है और उसका शोषण करता है।" पूँजीवादी वर्ग ने वर्तमान प्रतिनिधि-राज्यो मे राजनीतिक शक्ति पर अपना अनन्य अधिकार (Exclusive Sway) स्थापित किया हुआ है। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' मे यह उल्लेख है कि आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूँजीवादियो के सामान्य मामलो के प्रबन्ध के लिए एक समिति मात्र है। ऐंजिल्स के अनुसार राज्य 'एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक तन्त्र मात्र' है। मार्क्स और ऐंजिल्स राज्य को प्लेटो और अरस्तू के समान स्वाभाविक समुदाय (Natural Association) नही मानते। उनके मत मे राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया मे उस समय होता है जब समाज ऐसे दो विरोधी गुटो मे विभक्त हो जाता है जिनके हित परस्पर टकराते हैं और उनमे कोई सामञ्जस्य स्थापित नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे राज्य 'वर्ग-संघर्ष' की उत्पत्ति है। यह 'आधारभूत आर्थिक ढाँचे अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धो पर उत्पादन के भौतिक साधनो के स्वामियो द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए खडा किया हुआ ऊपरी ढाँचा है।' राज्य के उद्देश्य "प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गो का शोषण करने, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और उसे चुनौती देने वाले समस्त विचारो को कुचलने की शक्ति प्रदान करता है। कानून और पुलिस की सारी मशीन और अन्त मे राज्य की सैनिक शक्ति, पूँजीवादी वर्ग के उत्पादन-साधनो पर नियन्त्रण को सुरक्षित रखने के लिए ही है।"

मार्क्स की धारणा है कि शासन द्वारा शासक वर्ग अपनी इच्छाओ को शासितो पर थोपते है। शासन का प्रयोग बुर्जुआ लोग निम्न वर्ग के शोषण के लिए करते आ रहे है। राज्य एक ऐसी संस्था है जो श्रमिको के अतिरिक्त मूल को छीनने मे पूँजीपतियो की सहायक है। पूँजीवाद के हितो की रक्षा के लिए राज्य न केवल पुलिस और सैनिक शक्ति की व्यवस्था करता है बल्कि राज्य की न्याय-प्रणाली भी

1 *Laski* Communism, p. 124.

इसमे सहायक होती है। राज्य के राजद्रोह विषयक कानून ऐसे बनाए जाते हैं जिनमे श्रमिको का पूँजीपतियो के विरुद्ध विद्रोह करना कठिन हो जाता है। और तो और, शिक्षा एव धर्म जैसी सांस्कृतिक सस्थाओ का प्रयोग भी श्रमिको के दमन हेतु किया जाता है। आधुनिक पूँजीवादी राज्य धर्म-सस्थाओ के माध्यम से श्रमिको की चेतना को दबाते हैं और उनके मन मे यह भावना भरने की चेष्टा करते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह ईश्वर के प्रति पाप है। पूँजीवादी राज्य की शैक्षणिक सस्थाएँ श्रमिको मे आज्ञा-पालन और समर्पण की भावना भरने का कार्य करती है।

मार्क्स के इस राज्य-सिद्धान्त के कुछ निम्नलिखित निहितार्थ (Implications) प्रकट होते हैं—

1. राज्य वर्ग-सघर्ष की उत्पत्ति एव अभिव्यक्ति है। यह सदैव ऐसा समुदाय रहा है और रहेगा जिसके द्वारा एक आर्थिक वर्ग का नियन्त्रण और शोषण होता है। "कहाँ, कब और किस हद तक राज्य का जन्म होता है यह प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि कब, कहाँ और किस हद तक एक राज्य विशेष मे विरोधो मे सामञ्जस्य स्थापित नही हो सका, और इसी के व्यतिक्रम से राज्य का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि वर्ग सम्बन्धी विरोधो मे कभी सामञ्जस्य स्थापित नही हो सकता।"[1]

2. वर्तमान पूँजीवादी राज्य मे श्रमजीवी वर्ग कभी आस्था नही रख सकता क्योकि उसमे पूँजीपतियो द्वारा उसका शोषण होता है। ससद् गप्पें मारने की दुकान है और ससद्-सदस्य पूँजीवाद के वकील। ऐसी स्थिति मे श्रमिक तो राज्य के प्रति केवल निरन्तर विरोध का रवैया ही अपना सकते है।

3 राज्य एक दमनकारी समुदाय है जो वर्ग-भेदो को कायम रखकर वर्ग-विशेषाधिकारो का पोषण करता है। वर्तमान पूँजीवादी राज्य मे जनहितकारी प्रतीत होने वाले कार्य, जैसे यातायात, संचार-व्यवस्था मे उन्नति वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से श्रमिको के दमन के लिए ही है। राज्य का यह दमनकारी स्वरूप तब पूर्णत. प्रकट हो जाता है जब वह राजद्रोह का आरोप लगाकर श्रमिको की हड़ताल आदि को कुचलता है।

4. द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने बतलाया है कि भविष्य मे राज्य नही रहेगा और एक वर्ग-विहीन, राज्य-विहिन समाज की स्थापना होगी। जब श्रमजीवी वर्ग की विजय के परिणाम-स्वरूप पूँजीवादी सस्था के रूप में राज्य नष्ट हो जाएगा तो सार्वजनिक कार्यों का "राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा और सच्चे सामाजिक हितो की देखभाल करने के लिए साधारण प्रशासकीय कारण बन जाएँगे।"

5. पूँजीवादी समाज वर्ग-सघर्ष एव श्रमिको के शोषण का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करने के लिए एकमात्र उपाय क्रान्ति है और क्योकि पूँजीवादी व्यवस्था मे राज्य शोषक वर्ग की सहायता करता है और इसके लिए वह भरपूर बल प्रयोग करता है, इसीलिए राज्य का अन्त उससे अधिक बल प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। मार्क्स के अनुसार राज्य को समाप्त करने के लिए पहले उस पर से क्रान्ति द्वारा पूँजीपतियो का आधिपत्य समाप्त किया जाए और फिर जब तक पूँजीवादी तत्वो का पूर्णतया विनाश न हो जाए, राज्य पर श्रमिको का अधिनायकत्व रहे क्योकि शक्ति की रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है।

6 श्रमिको का अधिनायकत्व वर्गविहीन समाज की स्थापना से पूर्व की सक्रान्तिकालीन (Transitional) अवस्था है। मार्क्स ने अपने 'Criticism of the Gotha Programme' मे लिखा है, "पूँजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक का दूसरे मे परिवर्तित होने का क्रान्तिकारी काल रहता है। इसी के अनुरूप एक राजनीतिक सक्रान्तिकाल भी होता है जो केवल क्रान्तिकारी श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है।"

1 *Lenin* : Quoted by Laski in his 'Communism' p. 12.

श्रमजीवी अधिनायकत्व

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत राज्य मे वर्ग-संघर्ष का अन्त हो जाएगा और समाज मे सभी के स्वतन्त्र विकास के लिए शर्त होगी प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास'। इस श्रमजीवी अधिनायकत्व के पक्ष मे मार्क्स यह तर्क देता है कि राजनीतिक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी जब तक उत्पादन के साधनो पर थोडे से ही व्यक्तियो का स्वामित्व रहता है, व्यवहार से एक प्रकार का (वर्गीय) अधिनायकत्व कायम रहता है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक प्रकार से मजदूरो के प्रजातन्त्र का रूप धारण कर लेता है। जहाँ पहले प्रकार के राज्य मे वर्ग-भेद कायम रहते है और पूँजीवादी शासन का स्थायित्व ऐसे ही भेदो पर निर्भर रहता है, वहाँ दूसरे प्रकार के अधिनायकत्व का उद्देश्य सभी वर्गों का उन्मूलन कर अपने अन्त के लिए मार्ग प्रशस्त करना होगा। सर्वहारा-वर्गीय अधिनायकवाद के बारे मे सेबाइन के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"वर्गविहीन समाज से भी ज्यादा महत्त्व का चरण सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद है जो मार्क्स और ऐंजिल्स के अनुसार सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति के तुरन्त बाद स्थापित होता है। इस अवस्था मे यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारा-वर्ग शक्ति हस्तगत कर एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो बल का प्रयोग करता है। इसलिए सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद भी बुर्जुआ राज्य की भाँति ही वर्ग-सत्ता का साधन होता है। उसका कार्य यह होता है कि वह विस्थापित पूँजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप मे परिवर्तित करे और यदि पूँजीपति वर्ग प्रतिक्रान्ति का प्रयत्न करे तो उसे दबा दे। जब ये कार्य हो चुकेंगे, तभी सम्भवत राज्य के लोप होने की प्रक्रिया आरम्भ होगी। सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद कितने समय तक कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड दी गई है। मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व का अपने सामाजिक सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण भाग के रूप मे विकास नही किया। तत्सम्बन्धी मुख्य बातें सन् 1847–50 के फ्रांस के क्रान्तिकारी उपद्रवो से सम्बन्ध रखती हैं तथापि यह बात निश्चित थी कि यदि वर्गविहीन समाज को एक वास्तविकता बनना है, तो यह एक दिन मे नही हो जाएगा। इसके लिए एक संक्रमण काल की आवश्यकता होगी। सन् 1850 के बाद यूरोप की राजनीति मे क्रान्ति का महत्त्व कम हो गया था और वह शान्तिपूर्ण पथ पर अग्रसर होने लगी थी। फलत. इस विषय का आगे विवेचन आवश्यक हो गया था। इस संकल्पना को सन् 1917 मे लेनिन ने ग्रहण किया और उसे क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के पुनरुत्थान का एक साधन बनाया। लेनिन की क्रान्ति की सफलता ने इसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के लिए एक महत्त्वपूर्ण विषय बना दिया है।"[1]

जब राज्य वास्तव मे सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि बन जाएगा और वर्ग-भेद न रहेंगे, तो राज्य अनावश्यक हो जाएगा। इस अवस्था मे 'वाद' और 'प्रतिवाद' का अन्तिम 'समन्वय' और 'आवश्यकता' के राज्य से उठकर मनुष्य समाजवादी स्वतन्त्रता के राज्य मे प्रवेश कर जाएगा।

राज्य-सिद्धान्त की आलोचना

मार्क्स के राज्य-सिद्धान्त का खण्डन उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के खण्डन मे ही निहित है। अत इतना ही लिखना पर्याप्त है कि राज्य-सिद्धान्त की इस मार्क्सवादी धारणा को मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि राज्य वर्ग-प्रभुत्व और दमन का यन्त्र है। मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के अधिक पूर्ण और अधिक सच्चे स्वरूप की उपेक्षा कर केवल एक रोग-ग्रस्त राज्य का अध्ययन करता है। यद्यपि यह सत्य है कि शासक वर्ग सदैव ही संकीर्ण स्वार्थो से मुक्त नही रहा है और अनेक अवसरो पर उसने वर्ग विशेष के हितो की सिद्धि का प्रयास किया है, तथापि इन्ही उदाहरणो का आश्रय लेकर राज्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त का निर्माण कर देना एक ऐसी ही बात है जैसी चोरो, डाकुओ, हत्यारो आदि के अपराधी वृत्ति के आधार पर मानव स्वभाव के सिद्धान्त की रचना करना। अनेक शासक अपनी न्यायप्रियता और उदारता के लिए विश्व मे प्रशंसित हैं। उन्होने अपना समग्र जीवन मानव-समाज के कल्याण में लगा दिया था।

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 746.

मार्क्स का मूल्यांकन
(An Estimate of Marx)

मार्क्स की प्रशसा और आलोचना के पुल बाँधे गए है। साम्यवादियो ने उसे एक अवतार जैसी प्रतिष्ठा दी है तो पूँजीपति गुट ने उसे सभ्यता और मैत्री का शत्रु तक कहा है। लेकिन उसके आलोचक भी यह स्वीकार करते है कि मार्क्स एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा का जनक था जिसने आधुनिक विश्व के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वरूप पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला है, जिसका नाम ससार के करोडो लोगो की जबान पर है, जो ससार की एक बडी जनसख्या का मसीहा है और जिसकी रचनाओ को करोडो लोग श्रद्धा और सम्मान से पढते हैं। इसमे सन्देह नही कि अपने सिद्धान्तो की अस्पष्टताओ और अन्तर्विरोधो के बावजूद मार्क्स 19वी शताब्दी का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। हम अतीत को लें या वर्तमान को, यह स्वीकार करना होगा कि मार्क्स को विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दार्शनिको की पक्ति मे स्थान प्राप्त है जिसने एक नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा के द्वारा विश्व इतिहास की दशा ही बदल दी। मार्क्स को प्रथम वैज्ञानिक समाजवादी होने का श्रेय प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे मार्क्स की दूरदर्शिता और सफलता तथा प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए वेपर के ये विचार उल्लेखनीय है—

"मार्क्स, वास्तव मे, 19वी शताब्दी का सर्वप्रथम समाजवादी लेखक नही था। उससे पूर्व भी सामाजिक विचारो की प्रचुर फसल उग चुकी थी। सेंट साइमन तथा ग्यूजोर (Guizor) वर्गयुद्ध के विचार का प्रचार कर रहे थे। प्रोधाँ (Proudhan) यह बता रहा था कि सम्पत्ति का अतिशय सचय चोरी है। ओवन (Owen) का विश्वास था कि नवीन औद्योगिक युग प्रतियोगिता का नहीं, सहयोग का युग होगा। मार्क्स इन व्यक्तियो को घृणापूर्ण दृष्टि से देखता था। वह इन्हे स्वप्नलोकीय (Utopian) समाजवादी कहता था। उन्होने सुन्दर गुलाबो से सुनहरे सपने तो देखे, परन्तु गुलाब के पौधे उगाने के लिए मिट्टी तैयार नही की। उन्होने पूँजीवाद की त्रुटियो पर ही ध्यान दिया, पूँजीवाद पर नही। उनकी दृष्टि तर्कहीन थी। जो भी हो, इन समाजवादियों ने समाजवाद के भवन-निर्माण के लिए ईंटें तथा गारा जुटाया। उन्होने ही समाजवादी-समाज के विचार को मान्यता दिलवाई। उन्होने मूल्य के श्रमिक सिद्धान्त को विस्तृत किया परन्तु कुल मिलाकर वे असफल रहे, जबकि मार्क्स अपने समाजवाद मे सफल रहा। मार्क्स की सफलता का कारण उसका एक ही साथ हिब्रू-भविष्यदृष्टा तथा राजनीतिक एव अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो का वैज्ञानिक-प्रवक्ता होना है। किसी भी हिब्रू की भाँति उसका दर्शन पाश्चात्य सभ्यता के धार्मिक अपराधो को बुरा ठहराता है। राजनीतिक एव अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रवक्ता के रूप मे वह सामाजिक विकास का दार्शनिक विचार प्रस्तुत करता है। कभी-कभी उसके अन्दर हिब्रू-भविष्य दृष्टा तथा वैज्ञानिक एक-दूसरे का समर्थन करते मिलते है और कभी विरोध।"[1]

"तर्कहीनता सदा ही निर्बलता का स्रोत नही होती। मार्क्स ने धर्म और विज्ञान के सयोग से युग की महान् सेवा की है। पुरातन के प्रेमियो के लिए उसके पास धर्म की तथा नवीनता के पुजारियो के लिए उसके पास विज्ञान की पिटारी है उसका समाजवाद प्रकाश की नवीन किरण है। अपने अनुयायियो के लिए उसने धर्म का नवीन स्तर तथा मुक्ति का आनन्दमय मार्ग सुस्थिर किया है। उसने एक ऐसे स्वर्ग का सृजन किया है जो हमारी पृथ्वी पर ही है।"[2]

मार्क्स यद्यपि पूर्वाग्रहो और पूर्व-धारणाओ से पूर्णतः मुक्त नही था, तथापि उसने वैज्ञानिक ढग से अपने विचारो का प्रतिपादन कर आधुनिक जगत् को एक अमूल्य देन दी। जो समाजवाद मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारो के हाथो मे एक उपहास की वस्तु बन गया था उसे मार्क्स ने एक गम्भीर और सारपूर्ण विषय बनाकर विद्वत्-समाज मे प्रस्थापित किया। मार्क्स के अध्ययन मे हमे क्रमबद्धता के दर्शन होते है और हम इस बात को झुठला नही सकते कि उसने तथ्य को इतिहास से एकत्र कर

1-2 *Wayper* Political Thought (Hindi ed), p 207.

अध्ययन को एक तर्कसंगत, वैज्ञानिक और साथ ही नूतन दिशा प्रदान की। मार्क्स ने भौतिकवाद को चिन्तन का आधार बनाकर सामाजिक जीवन के यथार्थवादी अध्ययन को सामने ला पटका, सामाजिक संस्थाओं के संचालन में आर्थिक कारकों को वास्तविक शक्ति प्रदान कर सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन को सशक्त बना दिया। मार्क्स ने वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली की अन्योन्याश्रितता सिद्ध की और इस तरह स्वयं को प्रभावशाली सामाजिक दार्शनिकों की अग्रिम पंक्ति में ला बैठाया।

मार्क्स के प्रभाव और प्रसार के बारे में विद्वानों ने शक्तिशाली शब्दों को खोज-खोजकर अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं। लास्की ने लिखा है कि मार्क्स ने साम्यवाद को कोलाहल से उठाकर एक सशक्त आन्दोलन का रूप दिया—ऐसे आन्दोलन का जो कि सिद्धान्तों पर आधारित है। मार्क्स ने श्रमिकों को जो असंगठित और बिखरे हुए थे, एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में परिवर्तित कर दिया। हमें मार्क्स के कार्यों का सार किसी विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्त के रूप में न लेकर भावात्मक मानना चाहिए जो उसके जीवन के ध्येय को संजोए हुए है। मार्क्स निस्सन्देह वह प्रथम समाजवादी था जिसने स्वप्नलोकीय संसार को ठुकरा कर यथार्थ के दर्शन किए, जिसने केवल मंजिल के ही दर्शन नहीं कराए बल्कि मंजिल तक पहुँचने का मार्ग भी दिखाया। उसने क्रान्ति का सन्देश देकर, एक कार्यक्रम रखकर और लक्ष्य दिखाकर दलित-पीड़ित, शोषित तथा अभिशप्त जनता में आशा का नया मन्त्र फूंका और उन्हें गतिशील बनाया।

मार्क्स के दर्शन का विश्लेषण यह प्रस्थापित करता है कि उसके विचारों में वैज्ञानिकता और तार्किक विवेचन के समन्वय के साथ-साथ जीवित जागृति और मूर्त विश्वास भी है जो जीवन में स्पन्दन, चेतना व उत्साह भरता है। इसी विश्वास के कारण मार्क्सवाद दुनिया में सफल तथा प्रेरक विचारधारा का रूप ग्रहण कर सका है। मार्क्स के पहले राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट, अमूर्त था और उपदेश व सुधारवाद की गलियों में चक्कर काटता था। मार्क्स के अनुसंधान के फलस्वरूप यह सक्रिय रूप से जनता में प्रभावशाली बन गया। इतिहास की गति को समझने और उसे बदल देने के कष्टसाध्य प्रयास का श्रेय मार्क्स को ही है और इसी ने आज उसे करोड़ों व्यक्तियों का हृदय सम्राट बना दिया है। मार्क्स ने अपनी ऐतिहासिक अमरता उस अथक संघर्ष से प्राप्त की है जो उसने पूँजीवादी के अन्याय और शोषण के विरुद्ध किया था। मार्क्स के हृदय को दलितों, पीड़ितों और शोषितों की सहायता करने की तीव्र इच्छा उद्वेलित कर रही थी और वह केवल बातों से ही नहीं बल्कि व्यवहारिक रूप में उनके लिए कुछ करना चाहता था। अतः उसने अपनी विलक्षण प्रतिभा को उन कोरे सिद्धान्त की रचना के बजाय ऐसी वस्तु की रचना में लगाया जो उसकी दृष्टि में एक ऐसा वैज्ञानिक शस्त्र था जिसकी सहायता से दलित एवं शोषित वर्ग पूँजीवाद को ललकार सकता था, उसके विरुद्ध डट कर खड़ा रह सकता था और इस आशा से लड़ सकता था कि अन्त में निश्चित रूप से पूँजीवाद के शव पर उसका भव्य महल खड़ा होगा।

मार्क्स की इस भविष्यवाणी से चाहे कोई सहमत भले ही न हो कि पूँजीवाद के विनाश से निश्चित रूप से समाजवाद का प्रादुर्भाव होगा, तथापि यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि उसने अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों की अपेक्षा पूँजीवाद के सम्भावित भविष्य और गति का अधिक सही अनुमान लगाया था। उसकी यह धारणा सही थी कि यद्यपि पूँजीवाद में उत्पादन की प्रवृत्ति जारी रहेगी तथापि वह अपने उस रूप में अधिक समय तक नहीं ठहर सकेगा जिसमें कि वह उस समय था। आज यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी का निर्बाध पूँजीवाद अब इतिहास की स्मृति रह गया है। आज बीसवीं शताब्दी का पूँजीवाद उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद से बहुत भिन्न है और आज का कल्याणकारी राज्य श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ करता है। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त ने मजदूरों में वह चेतना फूंकी और शक्ति भर दी जिसका सामना और पूँजीपति वर्ग और राज्य को करना पड़ गया है। आज के मजदूर में उत्साह है, आत्मग्लानि नहीं। आज इंग्लैंड और

अमेरिका जैसे देशों में श्रमिकों का जीवन-स्तर दिन-प्रतिदिन ऊँचा होता जा रहा है और इसके लिए वे हद तक मार्क्स के ऋणी हैं। पूँजीपति इस डर से कि मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार कहीं उनकी दुर्दशा न हो जाए, श्रमिकों को यथासम्भव असन्तुष्ट नहीं होने देते। वर्तमान युग के अविकसित और कम विकसित राष्ट्र, जिनको आर्थिक सहायता के रूप में पूँजीवादी राष्ट्रों से करोड़ों डॉलर प्राप्त हो रहे हैं, अप्रत्यक्ष रूप से मार्क्स के प्रति कृतज्ञ हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि पूँजीवादी राष्ट्रों की दृष्टि में मार्क्सवाद किसी बाढ़ से कम नहीं है। यह दरिद्रता, निरक्षरता और पिछड़ेपन के वातावरण में द्रुतगति से अपना विस्तार कर लेता है और पहले ही भयग्रस्त पूँजीवादी राष्ट्र जानते हैं कि यदि उस बाढ़ को समय रहते न रोका गया तो विश्व के अधिकांश नंगे-भूखे व्यक्ति अवश्य ही इसके शिकार हो जाएँगे और अन्त में पूँजीवादी समाज भी उस महान् शक्ति का सामना न कर सकेगा तथा उसका महल लड़खड़ा कर ढह जाएगा। ऐसे अवसर को टालने के लिए पूँजीवादी राष्ट्र अपनी सुरक्षा इसी में समझते हैं कि विश्व के अविकसित राष्ट्रों का शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक विकास हो। श्रमिक वर्ग और समाजवाद को इतना महत्त्व एवं सम्मान दिला देना मार्क्स की कम सफलता नहीं है।

मार्क्स का महत्त्व इसलिए भी है कि उसने समस्त सामाजिक संस्थाओं में आर्थिक कारकों पर बल देकर समाजशास्त्र की महान् सेवा की है। उसका सामाजिक-शास्त्रों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि मार्क्स पूर्व सामाजिक सिद्धान्त पर लौटने का अब प्रश्न ही नहीं उठता। एक वाक्य में "उसका अर्थवाद, अत्युक्ति के बावजूद सामाजिक विज्ञान प्रणाली में एक मूल्यवान् प्रगति का सूचक है।" कोकर के मूल्यांकन के अनुसार, "मार्क्स के लेखों तथा पुस्तकों में मुख्यतः आर्थिक तथा ऐतिहासिक सिद्धान्तों के प्रश्नों पर तथा आर्थिक और राजनीतिक व्यूह-रचना की व्यावहारिक समस्याओं पर विचार किया गया है, किन्तु उसकी अन्तिम अभिरुचि उन्मुक्त तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों में थी। उसके विचार में समुचित और न्यायपूर्ण उत्पादन तथा आर्थिक व्यवस्था इसलिए परम आवश्यक है ताकि प्रत्येक को अपने स्वतन्त्र बौद्धिक एवं सामाजिक विकास के लिए समय और सुयोग मिल सके। मार्क्स का समाजवाद का लक्ष्य अन्य अनेकों क्रान्तिवादी राजनीतिक सिद्धान्तों की भाँति एक ऐसे समाज की रचना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास ही प्रमुख लक्ष्य होगा।"[1]

मार्क्स की एक महत्त्वपूर्ण देन (Analytical Methodology) उसकी विश्लेषणात्मक पद्धति का विज्ञान है जिसके बल पर राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्त व्याख्या सम्भव है। मार्क्स ने सांस्कृतिक स्वाधीनता, राष्ट्रीयता आदि का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ उनका सामञ्जस्य बैठाया था। इस पक्ष की तर्कपूर्ण व्याख्या स्टालिन ने अपने सिद्धान्तों में की और राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर उसका भाषा, क्षेत्र, आर्थिक जीवन, संस्कृति आदि के साथ स्थायी समन्वय किया। आत्म-निर्णय का सिद्धान्त (Right of Self-determination) इसका स्वाभाविक परिणाम था। मार्क्सवादी व्याख्या के फलस्वरूप संसार की राजनीतिक स्थिति का पर्यालोचन करने में आर्थिक तथा अन्य तत्त्वों का विचार शुरू हो गया।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर मार्क्स ने संसार का सबसे बड़ा उपकार किया। मार्क्स को इस दृष्टि से युद्ध-समर्थक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह युद्ध को प्रचलित प्रणाली का अनिवार्य अभिशाप मानता था और इसलिए उन कारणों को ही समूल नष्ट करना चाहता था जिनसे युद्ध की सम्भावना बनी रहती है। मार्क्स की नई साम्यवादी व्यवस्था जनता के सामने जन-कल्याणकारी रूप में प्रस्तुत होती है, इसलिए प्रगति का साथ देने वाले लोग विकासोन्मुख होकर "पुराने का बहिष्कार और नए का स्वागत करते हैं।"

मार्क्स ने श्रमिक वर्ग के महान् योद्धा के रूप में लोकप्रियता इसलिए भी अर्जित की कि उसमें उत्तेजक वाक्य गढ़ने की विलक्षण शक्ति थी जिनका उसके अनुयायियों ने चतुरता से प्रयोग किया।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 57–58.

दीन के प्रति दया और धनाढ्य की निर्दयता पर अपने नैतिक विक्षोभ के कारण उसने पूँजीपतियो के विरुद्ध आरोप की अग्नि-वर्षा की और दलित वर्ग को पूँजीवाद के विनाश तथा समाजवाद की स्थापना के प्रति धार्मिक विश्वास के समान अटल विश्वास से ओत-प्रोत कर दिया। मार्क्सवाद प्रायः एक धर्म बन गया और उसमे दीक्षित हो जाना एक धर्म-दीक्षा सी हो गई।

पूँजीवाद और सामाजिक प्रक्रियाओ के विश्लेषण ने ऐतिहासिक विकास के नियमो के उद्घाटन ने तथा समाजवाद के उपदेश ने मार्क्स को उतनी महान् सामाजिक शक्ति नही बनाया जितना सामाजिक, वैज्ञानिक तथा उपदेश के सम्मिलित रूप ने।

ए. लैण्डी (A Landy) नामक लेखक ने तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मार्क्सवाद और प्रजातन्त्र की परम्परा मे अन्तर नही है। उसके मतानुसार प्रजातन्त्रात्मक परम्परा का जन्म क्रान्ति मे हुआ (जैसे फ्रांस की क्रान्ति) और इसका विकास जनसाधारण के सघर्षों द्वारा हुआ। प्रजातन्त्रात्मक परम्परा की कुछ विशेषनाएँ रही हैं—स्वभाव मे सैन्यवादी गणतन्त्रात्मक, दृष्टिकोण मे अन्तर्राष्ट्रीय और इससे भी ऊपर प्रगति एव स्वतन्त्रता तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए कार्य और सुख की परम्परा। लैण्डी की दृष्टि मे "मार्क्सवाद 17वी और 18वी शताब्दी मे हुए प्रजातन्त्रात्मक प्रयत्नो का ही ऐतिहासिक क्रम है। यह क्रम स्वप्नलोकीय एव समाजवादियो के मानवतावादी प्रयत्नो को और भी विस्तृत पैमाने पर अग्रसर करता है।"[1]

मार्क्स की महान् देन और उसके विलक्षण प्रभाव के विवेचन के अतिरिक्त चित्र का दूसरा पहलू भी है। मार्क्स के विचारो मे अस्पष्टता, विरोधाभास, उलझनें, भटकाव, अतिरजना और गलत तथा भ्रामक भविष्यवाणियाँ है। मार्क्स के विभिन्न विचारो का विवेचन के प्रसग मे आलोचना पक्ष पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, तथापि सक्षेप मे[2]—(क) मार्क्स का भौतिकवाद शक्तिशाली नही है। आर्थिक शक्तियो का विचार ही उसकी शिक्षा का सार है। जहाँ भी वह उत्पादन की शक्तियो अथवा सामाजिक चेतना की बातें करता है, उसकी भाषा निश्चयवादी हो जाती है; और, जब वह मनुष्यो और विशेष घटनाओ की चर्चा करता है, तब वह सजग मार्ग-प्रदर्शक हो जाता है। अन्त मे वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य के विकास के लिए भौतिकवादी तथा अभौतिक दोनो ही विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। (ख) मार्क्स का वर्ग-सिद्धान्त यद्यपि रुचिकर है, तथा पाश्चात्य सभ्यता इस मत का समर्थन नही करेगी कि आर्थिक दशा ही सदैव सामाजिक स्तर का निर्धारण करती है। मार्क्स के वर्ग-सम्बन्धी स्थायी विचार भी मिथ्यापूर्ण है। वर्ग स्थायी नही, परिवर्तनशील होता है। एक वर्ग का दूसरे वर्ग से परिवर्तन-सम्बन्ध बना रहता है, अत सामाजिक वर्गों की सबसे बडी विशेषता यह है कि व्यक्तिगत रूप से परिवारो का उत्थान-पतन होता रहता है। (ग) मार्क्स ने वैज्ञानिक तरीके से सिद्ध कर दिया है कि पूँजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप दो वर्ग ही शेष रहेंगे परन्तु यह बात सत्य नही है। उसने प्रबन्धक तथा प्रशिक्षण-सलाहकारो के वर्ग को स्वीकार नही किया। इसमे उसका कोई दोष नही, क्योकि उसने यह निर्णय अपने अतीतकालीन अनुभवो के आधार पर ही लिया था। उसका यह कथन कि श्रमिक विकास के अन्तिम दिन तक निर्धनतर होते जाएँगे, सत्य नही है। आज की मजदूरी की असली दरें एक शताब्दी पूर्व की मजदूरी दरो से ऊँची है। उसने कहा था कि शक्ति का सचय कम हाथो मे हो। मार्क्स ने व्यापारिक-सघ तथा समाज-सेवा-राज्य के विकास के विषय की ओर ध्यान नही दिया। उसने लिखा है कि अग्रेज-श्रमिक वर्ग दिन-प्रतिदिन प्रजातन्त्रवादी होता जा रहा है, और श्रमिक इतनी तेजी से पूँजीवादी होते जा रहे हैं कि एक दिन कुलीनतन्त्री पूँजीपति वर्ग और श्रमिक-पूँजीपति वर्ग की स्थापना हो जाएगी। गलती करना शायद अर्थशास्त्रियो के भाग्य मे ही लिखा गया है। इसके विषय मे 'न्यू यार्कर' ने लिखा है—"ये लोग पूर्ण वस्तु को गलत विज्ञान मे रखते हैं। परन्तु मार्क्स की

1 A Landy, Marxism and the Democratic Tradition, pp 24-29.
2 Wayper: op. cit, pp. 220-222.

गल्तियाँ महत्त्वपूर्ण है। उसका विश्वास था कि भविष्य मे एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी क्योंकि वर्गों के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप हुई क्रान्ति मे पूर्व-वर्गीय समाज नष्ट हो जाएगा और चूँकि वर्गों का विनाश कभी नहीं हुआ है, अतः वर्गहीन समाज की कल्पना करना मात्र आशारहित धारणा है। (घ) इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद मे कुछ ऐतिहासिक दोष भी है। मार्क्स के इतिह... चार भागो मे बाँट देना उचित नही है। उसके प्राचीन इतिहास सम्बन्धी विचारो के लिए उसे... नही किया जा सकता। एन्टोनाइस युग की महान् उपलब्धियाँ का ज्ञान मार्क्स के समय प्रत्येक ... को था, अत यह कहना विवेकहीन ही था कि ईसाई मत दुखी और पददलित श्रमिक की आशाओं ... अभिव्यक्ति थी। ऐक्टन के मतानुसार इतिहास का यह दर्शन सन्तोषजनक नहीं हो सकता जो केवल 100 वर्षों के अनुभव पर आधारित है तथा 100 वर्षों की दिशाओं की ओर कोई ध्यान नही देता। यह उक्ति मार्क्स पर भी चरितार्थ होती है। मार्क्स ने इस प्रश्न का उत्तर नही दिया कि पूँजीवाद का विकास केवल पश्चिमी यूरोप मे ही क्यों हुआ। यदि इतिहास का निर्माण केवल भौतिक कारणो से ही होता है तो पूँजीवाद का यह विकास सम्पूर्ण विश्व की सभी सभ्यताओं मे होना चाहिए। परन्तु, वास्तविकता यह है कि पूँजीवाद सम्पूर्ण विश्व मे विकसित नही है। (ङ) मार्क्स द्वारा राजनीति के मनोवैज्ञानिक पक्ष की अवहेलना भी उचित प्रतीत नही होती। मार्क्स राज्य की व्याख्या शक्ति के रूप मे करता है, परन्तु शक्ति की समस्या का पर्याप्त समाधान नही करता। उसकी रचनाओं मे यह कभी भी अनुभव नही किया गया कि मनुष्य अपने अभिमान और आत्म-सन्तुष्टि के लिए शक्ति की अभिलाषा करते हैं और कुछ मनुष्यो के लिए शक्ति स्वय एक साध्य मानी ही जानी चाहिए। वह मानव-प्रकृति के वास्तविक दोषों को कही भी प्रदर्शित नही करता। उसके सबसे पढने योग्य पृष्ठ वे है जिनमें वह भावनापूर्ण भविष्यपूर्ण भविष्य दृष्टा बन जाता है, परन्तु वह मनुष्य की स्वार्थान्विता की ओर कोई ध्यान नही देता। लेनिन ने एक बार लिखा था कि वर्गरहित समाज की कल्पना करने वाले समाजवादी साधारण मनुष्य की ओर ध्यान नही देते। मार्क्स द्वारा मानव-प्रकृति की अवहेलना इस बात का प्रमाण है कि यद्यपि वह एक महान् व्यक्ति था, तो भी उसे सभी वस्तुओं का ज्ञान नही था।

समापन के रूप में, सत्य और असत्य दोनों मिश्रित होकर मार्क्स को वर्तमान इतिहास की एक अद्भुत तथा प्रबल शक्ति प्रमाणित करते है। "अपने युग की घृणा और प्रताडना मार्क्स को मिली, निरकुश और गणतन्त्रीय दोनों सरकारों ने उसे अपनी भूमि से निर्वासित किया, उच्च वर्ग, अनुदार दल, उग्र जनतन्त्रवादी सबने उसके विरुद्ध जहर उगलने में प्रतिस्पर्द्धा की। उसने इन सबको मकड़ी के जालों की तरह झाड कर साफ कर दिया, उनकी उपेक्षा की और उत्तर उन्हें तभी दिया जब जरूरी हो गया। जब वह मरा करोडों क्रान्तिकारी श्रमिकों ने अपना प्रेम, सम्मान, संवेदना सब कुछ उसे लुटाया। साइबेरिया की लदानो से लेकर केलिफोर्निया के ... तक सभी उसके मातम मे दुखी हुए और मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि उसके सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्वी चाहे अनेक रहे, लेकिन व्यक्तिगत शत्रु शायद ही कोई था। उसका नाम और काम सदियो तक अमर रहेगा"—फ्रेंज मेहरिंग के इन शब्दो में मार्क्स की महानता मुखरित हो उठी है।